

आचार्य जिनसेन विरचित

आदिपुराण

[द्वितीय भाग]

(हिन्दी अनुवाद तथा परिशिष्ट आदि सहित)

सम्पादन-अनुवाद

डॉ. पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य



भारतीय ज्ञानपीठ

विषयानुक्रमिका

पृष्ठ

पृष्ठ

षट्त्रिंशत्तम पर्व

चक्रवर्ती भरतने विधिपूर्वक चक्रवर्ती पूजा की और फिर पुत्रीत्वत्तिका उत्सव मनाया। नगरीकी सभाबट की गयी। अनन्तर दिग्विजयके लिए उद्यत हुए। उस समय शरव ऋतुका विस्तृत वर्णन।

दिग्विजयके लिए उद्यत चक्रवर्तीका वर्णन। तत्कालोचित सेनाकी शोभाका वर्णन। पूर्व दिशामें प्रयाणका वर्णन। गंगाका वर्णन।

१-१७

सप्तविंशत्तम पर्व

सारथी-द्वारा गंगा तथा वनकी शोभाका वर्णन। हाथी तथा घोड़ा आदि सेनाके अंगोंका वर्णन।

१८-३२

अष्टाविंशत्तम पर्व

दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही दिग्विजयके लिए आगे प्रयाण किया। चक्रवर्ती उनके आगे-आगे चल रहा था। तात्कालिक सेनाकी शोभाका वर्णन। क्रमशः चलकर वे गंगाद्वारपर पहुँचे। वहाँ वे उपसमुद्रको देखते हुए स्थलमार्गसे गंगाके किनारेके उपवनमें प्रविष्ट हुए। वहीं सेनाको ठहराया। अनन्तर समुद्रके किनारेपर पहुँचे, वहाँ समुद्रका विस्तृत वर्णन।

३३-४४

भरत चक्रवर्ती लवणसमुद्रमें स्थलकी तरह वेगसे आगे बढ़ गये। बारह योजन आगे चलकर उन्होंने अपने नामसे चिह्नित एक बाण छोड़ा, जो कि मागध देवकी सभामें पहुँचा। पहले तो मागधदेव बहुत बिगड़ा पर बादमें बाणपर चक्रवर्तीका नाम देख गर्वरहित हुआ तथा, हार, सिंहासन और कुण्डल साथ लेकर चक्रवर्तीके स्वागतके लिए पहुँचा। चक्रवर्ती उसकी विनयसे बहुत प्रसन्न हुए।

४५-५०

समुद्रका विविध छन्दों-द्वारा विस्तृत वर्णन।

५१-६१

एकोनविंशत्तम पर्व

अनन्तर चक्रवर्ती दक्षिण दिशाकी ओर आगे बढ़े। मार्गमें अनेक राजाओंको वश करते जाते थे। बीचमें मिलनेवाले विविध देशों, नदियों और पर्वतोंका वर्णन।

६२-७१

दक्षिण समुद्रके तटपर चक्रवर्तीने अपनी समस्त सेना ठहरायी। वहाँकी प्राकृतिक शोभाका वर्णन। चक्रवर्तीने रथके द्वारा दक्षिण समुद्रमें प्रवेश कर वहाँके अधिपति व्यन्तरदेवको जीता।

७२-८०

त्रिंशत्तम पर्व

सम्राट् भरत दक्षिण दिशाको विजय कर पश्चिमकी ओर बढ़े। वहाँ विविध वनों, पर्वतों और नदियोंकी प्राकृतिक सुषमा देखते हुए वे बहुत ही प्रसन्न हुए। क्रमशः वे विन्ध्य गिरिपर पहुँचे। उसकी बिखरी हुई शोभा देखकर उनका चित्त बहुत ही प्रसन्न हुआ। वहीं उन्होंने अपनी सेना ठहरायी। अनेक वनोंके स्वामी उनके पास तरह-तरहकी मेंट लेकर मिलनेके लिए आये। भरतने सबका पथोचित सम्मान किया। समुद्रके किनारे-किनारे जाकर वे पश्चिम लवण-समुद्रके तटपर पहुँचे। वहाँ उन्होंने दिव्य वस्त्र धारण कर पश्चिम समुद्रमें बारह योजन प्रवेश किया और व्यन्तराधिपति प्रभास नामक देवको वशमें किया। पुण्यके प्रभावसे क्या नहीं होता ?

८१-९५

एकत्रिंशत्तम पर्व

अनन्तर अठारह करोड़ घोड़ोंके अधिपति भरत चक्रवर्ती उत्तरकी ओर प्रस्थान

किया । क्रमशः चलते हुए विजयार्ध पर्वतकी उपर्यकामें पहुँचे । वहाँ वे अपनी समस्त सेना ठहराकर निश्चिन्त हुए । पता चलने पर विजयार्धदेव अपने समस्त परिकरके साथ इनके पास आया और उनका आज्ञाकारी हुआ । विजयार्धको जोत लेनेसे इनकी दिग्विजयका अर्धभाग पूर्ण हो गया । अनन्तर उन्होंने उत्तरभारतमें प्रवेश करनेके अभिप्रायसे दण्डरत्न-द्वारा विजयार्ध पर्वतके गुहाद्वारका उद्घाटन किया ।

१६-१११

द्वात्रिंशत्तम पर्व

गरमी शान्त होनेपर उन्होंने गुहाके मध्यमें प्रवेश किया । काकिणो रत्नके द्वारा मार्गमें प्रकाश होता जाता था । बीचमें उन्मन्नजला तथा निमन्नजला नामकी नदियाँ मिलीं, उनके तटपर सेनाका विश्राम हुआ । स्थपति-रत्नने अपने बुद्धि-बलसे पुल तैयार किया जिससे समस्त सेना उस पार हुई । गुहागर्भसे निकलकर सेनासहित भरत उत्तर भरत-क्षेत्रमें पहुँचे । चिलात और आवर्त नामके राजा बहुत क्रुपित हुए । वे परस्परमें मिलकर चक्रवर्तीसे युद्ध करनेके लिए उद्यत हुए । नाग जातिके देवोंकी सहायतासे उन दोनोंने चक्रवर्तीकी सेनापर घनघोर वर्षा की जिससे ७ दिन तक चक्रवर्तीकी सेना चर्मरत्नके बीचमें नियन्त्रित रही । अनन्तर जयकुमारके आग्नेय बाणसे नाग जातिके देव भाग खड़े हुए और सब उपद्रव शान्त हुआ । चिलात और आवर्त दोनों ही म्लेच्छ राजा निष्पाप होकर वारणमें आये । क्रमशः भरतने उत्तर-भरतके समक्ष म्लेच्छ खण्डोंपर विजय प्राप्त की ।

११२-१२०

त्रयस्त्रिंशत्तम पर्व

दिग्विजय करनेके बाद चक्रवर्ती सेनासहित अपनी नगरीके प्रति वापस लौटे । मार्गमें अनेक देशों, नदियों और पर्वतोंको उल्लंघित करते हुए कैलास पर्वतके समीप आये । वहाँसे श्री ऋषभ जिनेन्द्रकी पूजा करनेके लिए कैलास पर्वतपर गये । अनेक राजा

उनके साथ थे । पुरोहितके द्वारा कैलास पर्वतका वर्णन ।

१२१-१२६

समवर्णका सशिखर श्रेणित । समवसरणमें स्थित श्री ऋषभ जिनेन्द्रका वर्णन । सम्राट्के द्वारा भगवान्की स्तुतिका वर्णन ।

१२७-१५०

चतुस्त्रिंशत्तम पर्व

कैलाससे उतरकर अयोध्या नगरीकी ओर प्रस्थान । चक्ररत्न अयोध्या नगरीके द्वारपर आकर रुक गया, जिससे सबको आश्चर्य हुआ । चक्रवर्ती स्वयं सोच-विचारमें पड़ गये । निमित्तज्ञानी पुरोहितने बतलाया कि अभी आपके भाइयोंको वश करना बाकी है । पुरोहितकी सम्मतिके अनुसार राजदूत भाइयोंके पास भेजे गये । उन्होंने भरतकी आज्ञामें रहना स्वीकार नहीं किया और श्री ऋषभनाथ स्वामीके पास जाकर दीक्षा ले ली ।

१५१-१७१

पञ्चत्रिंशत्तम पर्व

सब भाई तो दीक्षित हो चुके, परन्तु बाहुबली राजदूतकी बात सुनकर क्षुब्धित हो उठे । उन्होंने कहा कि जब पिताजीने सबको समान रूपसे राजपद दिया है, तब एक सम्राट् हो और दूसरा उसके अधीन रहे यह सम्भव नहीं । उन्होंने दूतकी फटकारकर वापस कर दिया, अन्तमें दोनों ओरसे युद्धकी तैयारियाँ हुई ।

१७२-१९९

षट्त्रिंशत्तम पर्व

युद्धके लिए इस ओरसे भरतकी सेना आगे बढ़ी और उस ओरसे बाहुबलीकी सेना आगे आयी । बुद्धिमान् मन्त्रियोंने विचार किया कि इस भाई-भाईकी लड़ाईमें सेनाका व्यर्थ ही संहार होगा । इसलिए अच्छा हो कि स्वयं ये दोनों भाई ही लड़ें । सबने मिलकर त्रेत्रयुद्ध, जलयुद्ध और मल्लयुद्ध, ये तीन युद्ध निश्चित किये । तीनों ही युद्धोंमें जब बाहुबली विजयी हुए तब भरतने क्रुपित होकर चक्ररत्न चला दिया, परन्तु उससे बाहुबलीकी कुछ भी हानि नहीं हुई । बाहुबली चक्रवर्तीके इस व्यवहारसे बहुत ही विरक्त हुए और जंगलमें आकर उन्होंने

दीक्षा ले ली। वे एक वर्षका प्रतिमायोग के कायोत्सर्ग करते हुए तपश्चरण करते रहे। भरत चक्रवर्तीने उनके चरणोंमें अपना मस्तक टेक दिया। बाहुबली केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्षको प्राप्त हुए। २००-२२०

सप्तत्रिंशत्तम पर्व

चक्रवर्तीने बड़े वैभवके साथ अयोध्या नगरमें प्रवेश किया। उनके वैभवका वर्णन। २२१-२३९

अष्टत्रिंशत्तम पर्व

एक दिन भरतने सोचा कि हमने जो वैभव प्राप्त किया है उसे कहीं खर्च करना चाहिए। जो भुनि है, वे तो धनसे निःस्पृह रहते हैं। अतः अणुवतधारी गृहस्थोंके लिए ही धनादिक देना चाहिए। एक दिन भरत चक्रवर्तीने नगरके सब लोगोंको किसी उत्सवके बहाने अपने घर बुलाया। घरके अन्दर पहुँचनेके लिए जो मार्ग थे वे हरित अंकुरोंसे आच्छादित करा दिये। बहुत-से लोग उन मार्गोंसे चक्रवर्तीके महलके भीतर प्रविष्ट हुए। परन्तु कुछ लोग बाहर खड़े रहे। चक्रवर्तीने उनसे भीतर न आनेका जब कारण पूछा तब उन्होंने कहा कि मार्गमें उत्पन्न हुई हरी घास आदिमें एकेन्द्रिय जीव होते हैं। हम लोगोंके चलनेसे वे सब मर जायेंगे अतः दयाकी रक्षाके लिए हम लोग भीतर आनेमें असमर्थ हैं। चक्रवर्ती उनके इस उत्तरसे बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने उन्हें दूसरे प्रामुख मार्गसे भीतर बुलाया और उन्हें दयालु समझकर व्यावक संज्ञा दी, वही ब्राह्मण कहलायें। इन्हें ब्राह्मणोचित क्रिया-काण्ड आदिका उपदेश दिया। अनेक क्रियाओंका उपदेश दिया। सबसे पहले गभम्बिय क्रियाओंका उपदेश दिया। २४०-२६८

एकोनचत्वारिंशत्तम पर्व

तदनन्तर भरत चक्रवर्तीने दीक्षान्वय क्रियाओंका उपदेश दिया। २६९-२७६ फिर कर्त्तव्य क्रियाओंका निरूपण किया। २७७-२८९

चत्वारिंशत्तम पर्व

षोडश संस्कार तथा हवनके योग्य मन्त्रोंका वर्णन। २९०-३१६

एकचत्वारिंशत्तम पर्व

कुछ समय व्यतीत होनेपर भरत चक्रधरने एक दिन रात्रिके अन्तिम भागमें अद्भुत फल दिखलानेवाले कुछ स्वप्न देखे। स्वप्न देखनेके बाद उनका चित्त कुछ प्रसन्न हुआ। उनका वास्तविक फल जाननेके लिए वे भगवान् आदिनाथके समवसरणमें पहुँचे। वहाँ जिनेन्द्र वन्दनाके अनन्तर उन्होंने श्री बालजिनेन्द्रसे निवेदन किया कि मैंने ब्राह्मण वर्णकी सृष्टि की है। यह लाभप्रद होगी या हानिप्रद। तथा मैंने कुछ स्वप्न देखे हैं उनका फल क्या होगा? भरतके उत्तरमें श्री भगवान्ने कहा कि वरस! यह ब्राह्मण वर्ण आगे चलकर मर्मादाका लोप करनेवाला होगा यह कहकर उन्होंने स्वप्नोंका फल भी बतलाया, जिसे सुनकर चक्रवर्तीने अयोध्या नगरीमें वापस प्रवेश किया। और दुःस्वप्नोंके फलकी शान्तिके लिए जिनाभिषेक आदि कार्य कर सुखसे प्रजाका पालन किया। ३१७-३३०

द्विचत्वारिंशत्तम पर्व

एक दिन भरत सम्राट् राजसभामें बैठे हुए थे। पास ही अनेक अन्य राजा विद्यमान थे। उस समय उन्होंने विविध दृष्टान्तोंके द्वारा राजाओंकी राजनीति तथा वर्णश्रम धर्मका उपदेश दिया। ३३१-३५०

त्रिचत्वारिंशत्तम पर्व

यहाँसे गुणभद्राचार्यकी रचना है। सर्वप्रथम उन्होंने गुहवर जिनसेनके प्रति भक्ति प्रकट कर अपनी लघुता प्रदर्शित की। अनन्तर श्रेणिकने समवसरणसभामें खड़े होकर श्री यौतम गणधरसे प्रार्थना की कि भगवन्! अब मैं श्री जयकुमारका चरित सुनना चाहता हूँ कृपा कर कहिए। उत्तरमें गणधर स्वामी-

पृष्ठ

ने जयकुमारका विस्तृत चरित कहा। काशी-
राज अकम्पनकी सुपुत्री सुलोचनाने स्वयंवर-
मण्डपमें जयकुमारके गलेमें वरमाला
डाल दी।

३५१-३८५

चतुश्चत्वारिंशत्तम पर्व

स्वयंवर समाप्त होते ही चक्रवर्ती भरतके पुत्र
अर्ककीर्ति और जयकुमारके श्रीच घनघोर
युद्ध हुआ। अन्तमें जयकुमार विजयी हुए।
अकम्पन तथा भरतकी दूरदर्शितासे युद्ध
शान्त हुआ तथा दोनोंका मनमुटाव दूर
हुआ।

३८६-४२४

पञ्चचत्वारिंशत्तम पर्व

अकम्पनने पृथ्वीके शील और सन्तोषकी
प्रशंसा की तथा अर्ककीर्तिकी प्रशंसा कर
उन्हें शान्त किया। तथा चक्रवर्ती भरतके
पास दूत भेजकर अपने अपराधके प्रति क्षमा-
याचना की। चक्रवर्तीने उसके उत्तरमें
अकम्पन और जयकुमारकी बहुत ही
प्रशंसा की।

४२५-४३१

जयकुमार और सुलोचनाका प्रेममिलन — जब
जयकुमारने अपने नगरकी ओर वापस आनेका
विचार प्रकट किया तब अकम्पनने उन्हें बड़े
वैभवके साथ बिदा किया। मार्गमें जयकुमार
चक्रवर्ती भरतसे मिलनेके लिए गये। चक्र-
वर्तीने उनका बहुत सत्कार किया।
अयोध्यासे लौटकर जब जयकुमार अपने
पड़ावकी ओर गंगाके मार्गसे जा रहें थे तब
एक देवीने मगरका रूप धरकर उनके
हाथीको घस लिखा जिससे जयकुमार हाथी-
सहित गंगामें डूबने लगे तब सुलोचनाने
पंचनमस्कार मन्त्रकी आराधनासे इस उप-
सर्गको दूर किया।

४३२-४४०

बड़ी धूमधामके साथ जयकुमारने हस्तिनापुर-
में प्रवेश किया। नगरके नर-नारियोंने
सुलोचना और जयकुमारकी देखकर अपने
नेत्र सफल किये। जयकुमारने हेमांगद
आदिके समक्ष ही सुलोचनाको पटरानीका

पृष्ठ

पट्ट बाँधा और बड़े वैभवके साथ सुखसे रहने
लगे।

४४१

इधर किसी कारणवशा सुलोचनाके पिता
अकम्पनको संसारसे विरक्त हो गयी। उन्होंने
वैराग्यभावनाका चिन्तन कर अपनी विरक्ति-
को बढ़ाया तथा रानी सुप्रभाके साथ दीक्षा
धारण कर निर्वाण प्राप्त किया। सुप्रभा
यथायोग्य स्वर्गमें उत्पन्न हुई।

४४२-४४३

जयकुमार और सुलोचनाके विविध भोगोंका
वर्णन।

४४३-४८५

षट्चत्वारिंशत्तम पर्व

किसी एक दिन जयकुमार अपनी प्राणवल्लभा
सुलोचनाके साथ मकानकी छतपर बैठे हुए
थे कि अचानक उनकी दृष्टि आकाशमार्गसे
जाते हुए विद्याधर-दम्पतिपर पड़ी। दृष्टि
पड़ते ही 'हा मेरी प्रभावती' कहकर जय-
कुमार मूर्च्छित हो गये और सुलोचना भी
'हा मेरे रतिवर' कहती हुई मूर्च्छित हो
गयी। उपचारके बाद दोनों सचेत हुए।
जयकुमारने सुलोचनासे मूर्च्छित होनेका
कारण पूछा तब वह पूर्वभवका वृत्तान्त कहने
लगी। विस्तारके साथ दोनोंकी भवावलिका
वर्णन।

४४६-४७९

सप्तचत्वारिंशत्तम पर्व

जयकुमार और सुलोचना पूर्व भवकी चर्चा
कर रहे थे, कि जयकुमारने उससे श्रीपाल
चक्रवर्तीके विषयमें पूछा। सुलोचनाने अपनी
सरस वाणीके द्वारा श्रीपाल चक्रवर्तीका
विस्तृत कथानक प्रकट किया। अनन्तर दोनों
सुखसे अपना समय बिताने लगे।

४८०-५००

देव-द्वारा जयकुमारके शीलकी परीक्षा।
जयकुमारका संसारसे विरक्त होना और
भगवान् ऋषभदेवके समवसरणमें गणधर
पद प्राप्त करना।

५०१-५१२

भरत चक्रवर्तीका दीक्षाग्रहण, केवलज्ञानकी
प्राप्ति, भगवान्का अन्तिम विहार और
निर्वाणप्राप्ति।

५१३-५१५

आदिपुराण भाग दो के सुभाषित

'बहो कष्टा दरिद्रता ।'	२६।४९
'रस्यं हारि न कस्य वा ।'	२७।१९
'नूनं तीक्ष्णप्रतापानां माध्यस्थ्यमपि तापकम् ।'	२७।१००
'महतां चित्रमीहितम् ।'	२८।२७
'बहो स्वर्यं महात्मनाम् ।'	२८।५७
'विभति यः पुमान् प्राणान् परिभूषितमखीमसान् । न गुणैर्लिङ्गमात्रेण पुमानेष प्रतीयते ॥'	२८।१२९
'सच्चित्रपुरुषो वास्तु चञ्च्वापुरुष एव च । यो विनापि गुणैः पौंसैः नाम्नैव पुरुषायते ॥'	२८।१३०
'स पुमान् यः पुनीते स्वं कुलं जन्म च पौरुषैः । भटक्षुब्धो जनो यस्तु तस्यास्त्वभवनिर्भुवि ॥'	२८।१३१
'सत्यं परिभवः सोऽहुमशक्यो मानशालिनाम् । बलवद्भूविरोधस्तु स्वपराभवकारणम् ॥'	२८।१३९
'बलिनामपि सन्त्येव बलीयांसो मनस्विनः । बलवानहमस्मीति नोत्सेक्तव्यमतः परम् ॥'	२८।१४२
'इहामुत्र च जन्तूनामुन्नतैः पूज्यपूजनम् । तापं तत्रानुब्रूयति पूज्यपूजाख्यतिक्रमः ॥'	२८।१५१
'सम्भोगैरतिरसिको न तृप्यतीह'	२८।१९०
'पुण्ये बलीयसि किमस्ति जगत्पञ्चम्यम्'	२८।२१४
'पुण्यात्परं न खलु साधनमिष्टसिद्धयै'	२८।२१५
'पुण्यात्परं न हि वशीकरणं जगत्याम्'	२८।२१६
'पुण्यं जले स्थलमिवाभ्यवपद्यते नृन् पुण्यं स्थले जलमिवाणु नियन्ति तापम् । पुण्यं जलस्थलभये शरणं तृतीयं पुण्यं कुरुष्वमत एव अना जिनोक्तम् ॥'	२८।२१७
'पुण्यं परं शरणमापदि दुर्बिलङ्घ्यं पुण्यं दरिद्रति जने धनदायि पुण्यम् । पुण्यं सुखायिनि जने सुखदायि रत्नं पुण्यं जिनोक्तमतः सुजनादिबन्धुष्वम् ॥'	२८।२१८
'पुण्यं जिनेन्द्रपरिपूजनसाध्यमार्घं पुण्यं सुपात्रगतदानसमुत्थमन्यत् । पुण्यं व्रतानुचरणानुपवासयोगात् पुण्याधिनामिति चतुष्टयमर्जनीयम् ॥'	२८।२१९
'किमु कल्पतरोः सेवास्तथफलाल्पफलापि वा' 'सत्यं बहुनटो नृपः' 'सर्वो हि वाञ्छति जनो विषयं मनोजम्' 'प्रभवो मितभाषिणः'	२९।३३ २९।३७ २९।१५३ ३४।३०

'क्रोधान्धतमसे भग्नं यो नात्मानं समुद्धरेत् ।	
स कृत्यं संशयं द्वैधाश्रोतरीतुमलन्तराम् ॥'	३४।७४
'किं तदा स विजानाति कार्याकार्यमनात्मवित् ।	
यः स्वान्तःप्रभवान् जेतुमरीन्न प्रभवेत् प्रभुः ॥'	३४।७५
'स्थायुकं हि यशो लोके गत्वर्थो ननु सम्पदः ।	३४।८६
'किमस्तद्विरोजान्तस्सुमनोऽप्युत्पन्नः	
तुम्बोवनान्तमध्येति प्राणान्तेऽपि मधुव्रतः'	३४।१०६
'मुक्ताफलाच्छमापाय गगनाम्बुनवाम्बुदात् ।	
शुष्यरसरोऽपि किं वाञ्छेदुदन्यन्नपि च ॥'	३४।१०७
'उन्तिष्ठन्ते स्म मुक्त्यर्थं बद्धकक्षा मुमुक्षवः'	३४।१६७
'सर्वं हि परिकर्मेदं बाह्यमध्यात्मशुद्धये'	३४।२१३
'प्रादुरासन् विशुद्धं हि तपः सूते महत्फलम्'	३४।२१४
'अयं खलु खलाचारो यद् बलात्कारदर्शनम् ।	
स्वगुणोत्कीर्तनं दोषोद्भावनं च परेषु यत् ॥'	३५।९४
'विदूषोति खलोऽन्येषां दोषान् स्वांश्च गुणान् स्वयम् ।	
संवृणोति च दोषान् स्वान् परकीयान्गुणानपि ॥'	३५।९५
'अनिराकृतसंतापा भुवनोभिः समुज्जिताम् ।	
फलहीनां श्रयत्यज्ञः खलतां खलतामिव ॥'	३५।९६
'सतामसम्मतां विष्वग्मात्रितां विरसैः फलैः ।	
मन्ये दुःखलतामेनां खलतां लोकतापिनीम् ॥'	३५।९७
'नैकान्तशमनं साम समाम्नातं सहोष्मणि ।	
स्निग्धेऽपि हि जने तप्ते सर्पिषीवाम्बुसेचनम् ॥'	३५।१००
'उपप्रदानमप्येषं प्रायं मन्ये सहोजसि ।	
समित्सहस्रदानेऽपि दीप्तस्याग्नेः कृतः धामः ॥'	३५।१०१
'लोहस्येवोपतप्तस्य मृदुता न मनस्विनः ।	
दण्डोऽयनुनयग्राह्ये सामजे न मृगद्विषि ॥'	३५।१०२
'जरन्नपि गजः कक्षां ग्राहते किं हरेः शिशोः ।'	३५।१०५
'तेजस्वी भानुरेवैकः किमन्योऽयस्त्यतः परम् ॥'	३५।१०८
'स्वदीर्घमफलं पलाय्यं यत्किञ्चन मनस्विनाम् ।	
न चातुरन्तमप्यैश्वर्यं परञ्जलितिकाफलम् ॥'	३५।११२
'पराजोपहतां लक्ष्मीं यो वाञ्छेरवापिबोऽपि सन् ।	
सोऽपार्ययति तामुक्तिं सपौकितमिव हुण्हुभः ॥'	३५।११३
'पराधमानमलिनां भूतिं धत्ते नृपोऽपि यः ।	
नृपशोस्तस्य नन्वेव भारो राज्यपरिच्छदः ॥'	३५।११४
'मानभङ्गाजितैर्भोगैर्यः प्राणाम्बुर्नुमीहते ।	
तस्य भग्नरदस्येव त्विरदस्य कुतो भिदा ॥'	३५।११५
'छत्रभङ्गाद्विनायस्य छायाभङ्गोऽभिलष्यते ।	
यो मानभङ्गभारेण बिभर्त्यवनतं शिरः ॥'	३५।११६
'मुनयोऽपि समानाश्चेत् त्यक्तभोगपरिच्छदाः ।	
को नाम राज्यभोगार्थी पुमानुज्ज्ञेत्समानताम् ॥'	३५।११७
'वरं वनाधिवासोऽपि वरं प्राणविसर्जनम् ।	
कुलाभिमानिनः पुंसो न पराज्ञाविधेयता ॥'	३५।११८

'मानमेवाभिरक्षन्तु घोरः प्राणैः प्रणश्वरैः ।	
तन्मलंकृष्टे विश्वं शश्वन्मानाजितं यशः ॥'	३५।११९
'वचोभिः पोषयन्त्येव पण्डिताः परिफलवपि ।	
प्रक्रान्तायां स्तुताविष्टः सिंहो ग्राममृगो ननु ॥'	३५।१२१
'ननु सिंहो जयत्येकः संहितानापि दग्धिनः ।'	३६।३०
'को नाम मतिमानीप्सेद् विषयान्विषदारुणान् ।	
येषां वशगतो जन्तुः यात्यनर्थपरम्पराम् ॥'	३६।७३
'करं विषं यदेकस्मिन्भवे हन्ति न हन्ति वा ।	
विषयास्तु पुनर्धनन्ति हन्त जन्तूननन्तशः ॥'	३६।७४
'आपातमात्ररम्भाणां विपाककटुकात्मनाम् ।	
विषयाणां कृते नाशो मात्यनर्थानपार्थकम् ॥'	३६।७५
'अत्यन्तरसिकानादी पर्यन्ते प्राणहारिणः ।	
किपाकपाकविषमान् विषयान् कः कृती भजेत् ॥'	३६।७६
'प्रसह्य पायतन् भूमौ गात्रेषु कृतवेषयुः ।	
जरापातो नृणां कष्टो ज्वरः शीत इवोद्भवन् ॥'	३६।८६
'अङ्गसादं मतिभ्रेषं वाचामस्फुटशब्द-विशेषः ।	
जरा सुरा च निविष्टा घटयत्याशु रेहिनाम् ॥'	३६।८७
'नाम्यं नाम परं तपः'	३६।११७
'ज्ञानशुद्ध्या तपःशुद्धिरस्यासीदतिरेकिणी ।	
ज्ञानं हि तपसो मूलं यद्वन्मूलं महातरोः ॥'	३६।१४८
'सूते हि फलमक्षीणं तपोऽक्षूणमुपासितम् ॥'	३६।१५५
'महतां हि मनोवृत्तिर्नोत्सेकपरिरम्भिणी'	३७।१३
'रत्नानि ननु तान्येव यानि यान्त्युपयोगिताम् ॥'	३७।१९
'तपः श्रुतं च जातिश्च त्रयं ब्राह्मण्यकारणम् ।	
तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः ॥	३८।४३
'क्षत्रियो न्यायजीविकः'	३८।२६२
'प्रजा कामदुष्टा घेनुर्मता न्यायेन योजिता ।'	३८।२६९
'राजवृत्तमिदं विद्धि यन्न्यायेन घनार्जनम् ।	
वर्धनं रक्षणं चास्य तीर्थे च प्रतिपादनम् ॥'	३८।२७०
'अज्ञानकुलधर्मो हि दुर्वृत्तैर्दूषयेत्कुलम्'	३८।२७४
'रक्षितं हि भवेत्सर्वं नृपेणात्मनि रक्षिते'	३८।२७५
'हिसोपदेशि यद्वाक्यं न वेदोऽसौ कृतान्तवाक्'	३९।२२
'पुशणं धर्मशास्त्रं च तत्स्याद् वधनिषेधि प्रत् ।	
वधोपदेशि यत्तत्तु ज्ञेयं धूर्तप्रणेतुकम् ॥'	३९।२३
'मन्त्रास्त एव धर्मास्तु ये क्रियास्तु नियोजिताः ।	
दुर्मन्त्रास्तेऽत्र विज्ञेया ये युक्ताः प्राणिमारणे ॥'	३९।२६
'स्यान्निरामिषभोजित्वं शुद्धिराहारगोचराः ।	
सर्वकषास्तु ते ज्ञेया ये स्युरामिषभोजिनः ॥'	३९।२९
'अहिंसाशुद्धिरेषां स्वाद् ये निःसङ्गा दयालवः ।	
रताः पशुवधे ये तु न ते शुद्धा दुराशयाः ॥'	३९।३०
'न्यायो दयार्द्रवृत्तित्वमन्यायः प्राणिमारणम् ।'	३९।१४१
'को हि नाम तमो नैशं हन्यादन्यत्र भास्करात् ।'	४०।९

'धर्मशीले महोपाले याति तच्छीलतां प्रजाः । अताच्छील्यमतच्छीले यथा राजा तथा प्रजा ॥'	४१।९७
'दानं पूजां च शीलं च दिने पर्वण्युपोषितम् । धर्मश्चतुर्विधः सोऽयमाप्नातो गृहमेधिनम् ॥'	४१।१०४
'धर्मो हि चिन्तिते सर्वं चिन्त्यं स्यादनु चिन्तितम्' 'धर्मो रक्षत्युपायेभ्यो धर्मोऽभीष्टफलप्रदः । धर्मः श्रेयस्करोऽमुत्र धर्मेणेहाभिनन्दयुः ॥'	४१।११४
'धर्मश्रिं ननु केनापि नादशि विरसं क्वचित्' 'दोषान्गुणान् गुणी गृह्णन् गुणान् दोषास्तु दोषवान् । सदसज्ज्ञानयोश्चित्रमत्र माहात्म्यमीदृशम् ॥'	४१।११६
'गुणिनां गुणमादाय गुणी भवतु सज्जनः । असदोषसमादानाद् दोषवान् दुर्जनोऽद्भुतम् ॥'	४३।१६
'कविरेव कवेर्वैति कामं काव्यपरिश्रमम्, बन्ध्या स्तनन्धयोत्पत्तिवेदनामिव नाकविः'	४३।२०
'गुणागुणानभिज्ञेन कृता निन्दायवा स्तुतिः । जात्यन्धस्येव धृष्टस्य रूपे हासाय केवलम् ॥'	४३।२१
'गणयन्ति महान्तः किं क्षुद्रोपद्रवमल्पवत्, दाह्यं तृणान्निना तूलं पत्युस्तापोऽपि नाममसाम् ॥'	४३।२४
'काष्ठजोऽपि दहत्यग्निः काष्ठं तं तत्तु वर्धयेत् । 'हृदि धर्ममहारत्नमागमाम्भोषिसम्भवम् । कौस्तुभादधिकं मत्वा वधातु पुरुषोत्तमः ॥'	४३।२६
'आकरेष्विव रत्नानामूहानां नाशये क्षयः । विचित्रालङ्कृती : कर्तुं दीर्घस्थं किं कवेः कृतीः ॥'	४३।२९
'नार्थिनो विमुखास्तन्तः कुर्वते तद्धि तद्व्रतम्' 'सन्तोऽवसरवादिनः'	४३।३५
'न सहस्ते ननु स्त्रीणां तिर्यक्षोऽपि पराभवम्' 'आभिजात्यं वयोर्कर्म विद्यां वृत्तं यथाऽभियम् । विभुत्वं विक्रमं कान्तिर्महिकं पारलौकिकम् ॥	४३।४२
'प्रीतिमप्रीतिमावेयमनादेयं कृपां क्रपाम् । हानिं वृद्धिं गुणान्दोषागणयन्ति न योषितः ॥'	४३।४३
'वृद्धिचकस्य हि विषं पक्वात्पन्नस्य विषं पुरः । योषितां दूषितेच्छानां विद्वतो विषमं विषम् ॥'	४३।४९
'जालकैरिन्द्रजालेन बञ्ज्या ग्राम्या हि मायया । ताभिः सेन्द्रो गुह्यं च्यस्तन्मयामातरः स्त्रियः ॥'	४३।१०३
'दोषाः किं तन्मयास्तासु दोषाणां किं समुद्भवः । तासां दोषेभ्य इत्यत्र न कस्यापि विनिश्चयः ॥'	४३।१०४
'निर्गुणान्गुणिनो मन्तु गुणिनः क्षलु निर्गुणान् । नाशकत् परमात्मापि मन्यन्ते ता हि हेतव्यः ॥'	४३।१०५
'आर्याणामपि बाम्भूयो विचार्या कार्यवेदिभिः । वज्र्यायाः किं पुनर्नार्याः कामिनां का विचारणा ॥'	४३।११०
'कनीयसोऽपि सम्बन्धं नेच्छन्ति ज्यायसा सह'	४३।११५
	४३।१८८

श्रीमज्जिनसेनाचार्यविरचितम्

आदिपुराणम्

[द्वितीयो भागः]

अथ षड्विंशतितमं पर्व

अथ चक्रधरः पूजां चक्रस्य विधिवन् व्यधात् । सुतोत्पत्तिमपि श्रीमानभ्यनन्ददनुक्रमान् ॥ १ ॥
 'नारिणीजनः' कश्चिद् विभोस्तस्मिन् महोत्सवे । दारिद्र्यमर्थिलाभे^१ तु जातं^२ विश्वाशितमवे ॥ २ ॥
 चतुष्केषु^३ च रथ्यासु^४ पुरस्यान्तर्वहिः^५ पुरम् । पुत्रीकृतानि रत्नानि तदार्थिभ्यो दत्तौ नृपः ॥ ३ ॥
 अभिवारं^६ क्रियेवार्थ्याचक्रपूजास्य विद्विषाम् । जगतः शान्तिकर्मैव जातकर्माप्यभूत्तदा ॥ ४ ॥
 सतोऽस्य दिग्जयोद्योगसमये शरदपतन्^७ । जयलक्ष्मीरिवामुद्य प्रसन्ना विमलाम्बरा^८ ॥ ५ ॥
 अल्का इव स्रग्जुरस्या^९ मधुकरज्वाः । ससकलप्रभुनोत्थरजोभूषितविग्रहाः^{१०} ॥ ६ ॥
 प्रसन्नमभवत्तौयं सरमां सरितामपि । कवीनामिव सत्काव्यं जनताश्चित्तरत्नम् ॥ ७ ॥
 सितच्छदावली^{११} रेजे संपतन्ती समन्ततः । स्थूलमुक्तावली नद्धा कण्ठिकैव शरच्छ्रूयः ॥ ८ ॥

अथानन्तर श्रीमान् चक्रवर्ती भरत महाराजने विधिपूर्वक चक्ररत्नकी पूजा की और फिर अनुक्रमसे पुत्र उत्पन्न होनेका आनन्द मनाया ॥ १ ॥ राजा भरतके उस महोत्सव-के समय संसार-भरमें कोई दरिद्र नहीं रहा था किन्तु दरिद्रता सबको सन्तुष्ट करनेवाले याचकोंके प्राप्त करनेमें रह गयी थी । भावार्थ—महाराज भरतके द्वारा दिये हुए दानसे याचक लोग इतने अधिक सन्तुष्ट हो गये कि उन्होंने हमेशाके लिए याचना करना छोड़ दिया ॥ २ ॥ उस समय राजाने चौराहोंमें, गलियोंमें, नगरके भीतर और बाहर सभी जगह रत्नोंके ढेर किये थे और वे सब याचकोंके लिए दे दिये थे ॥ ३ ॥ उस समय भरतने जो चक्ररत्नकी पूजा की थी वह उसके शत्रुओंके लिए अभिवार क्रिया अर्थात् हिंसाकार्यके समान मालूम हुई थी और पुत्र-जन्मका जो उत्सव किया था वह संसारको शान्ति कर्मके समान जान पड़ा था ॥ ४ ॥ तदनन्तर भरतने दिग्विजयके लिए उद्योग किया, उसी समय शरदऋतु भी आ गयी जो कि भरतकी जयलक्ष्मीके समान प्रसन्न तथा निर्मल अम्बर (आकाश) को धारण करनेवाली थी ॥ ५ ॥ उस समय सप्तपर्ण जातिके फूलोंसे उठी हुई परागसे जिनके शरीर सुशोभित हो रहे हैं ऐसे भ्रमरोंके समूह इस शरदऋतुके अलकों (केशपाश) के समान शोभायमान हो रहे थे ॥ ६ ॥ जिस प्रकार कवियोंका उत्तम काव्य प्रसन्न अर्थात् प्रसाद गुणसे सहित और जनसमूहके चित्तको आनन्दित करनेवाला होता है उसी प्रकार तालाबों और नदियोंका जल भी प्रसन्न अर्थात् स्वच्छ और मनुष्योंके चित्तको आनन्द देनेवाला बन गया था ॥ ७ ॥ चारों ओर उड़ती हुई हंसोंकी पंक्तियाँ ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो शरदऋतु रूपी लक्ष्मी-

१ दरिद्रो नाभूत् । नो दरिद्री जनः ल० । न दरिद्री जनः द०, इ०, अ०, प०, न० । २ याचकजनप्राप्तौ ३ सकलनृप्तिजनके । ४ चतुष्पञ्चकृतमण्डपेषु । ५ वीथिषु । ६ 'वहिः पर्ययां च' इति गमामः । ७ मारणक्रिया । ८ आगता । ९ निर्मलाकाशा निर्मलवसना च । १० शरलक्ष्म्याः । ११ आच्छादित । १२ हंसपङ्क्तिः ।

सरोजलसभूष्कान्तं सरोजरजसा नतम् । सुवर्णरजसाकीर्णमिव कुट्टिमभूतलम् ॥९॥
 मरः सरोजरजसा परितः स्थगिमोदकम् । कादस्य^१ जायाः संप्रेक्ष्य मुहुर्गुहः स्थलशङ्कया ॥१०॥
 कञ्जकिञ्जल्कपुञ्जेन पिञ्जरा वदपदावली । र्गोवर्णमणिहत्त्रे^२ शरदः कण्ठिका^३ र्भर्मा ॥११॥
 सरोजलं ममाद्येदुर्ध्वतराः सितपक्षिणः^४ । वदाम्यकुलमुद्भूतमौगल्यमिव^५ वन्दितः ॥१२॥
 नदीनां पुलिनान्यासन् शुचीनि शरदागमं^६ । कलहंसं^७ रचितान्क^८ कलहंसं^९ विवर्णं^{१०} ॥१३॥
 सरांसि ससरोजानि सांयला^{११} वप्रभूमयः । सहस्रमैकता^{१२} नभो^{१३} जहश्चेतांसि कामिनाम् ॥१४॥
 प्रमत्तमलिला रेजुः सरस्थः सहस्रारसाः । कुजिनैः कलहंसानां जितनूपुरशिञ्जितैः ॥१५॥
 नीलान्वलेक्षण्य रेजे शरच्छ्रीः पङ्कजानना । व्यक्तमाभाप्रमाणेव कलहंसकलस्वनैः ॥१६॥
 पङ्कजालिभुशो नक्तकणिशाः पिञ्जरध्रियः । स्नाना^{१४} हरिदयेवाम्बन् शरत्कालप्रियागमे ॥१७॥
 मन्दसाना^{१५} मदं^{१६} सञ्जुः सहसाना^{१७} मदं जहुः । शरदक्ष्मीं समालोक्य शुद्धयशुद्धधारय^{१८} निजः ॥१८॥

की बड़े-बड़े मोनियोंकी मालासे बनी हुई कण्ठमाल (गलेमें पहननेका हार) ही हों ॥ ८ ॥
 कमलोंकी परागसे व्याप्त हुआ सरोवरका जल ऐसा सुन्दर जान पड़ता था मानो सुवर्णकी धूलिसे व्याप्त हुआ रत्नजटित पृथिवीका तल ही हो ॥९॥ जिसका जल चारों ओरसे कमलोंकी परागसे ढँका हुआ है ऐसे सरोवरको देखकर कादम्ब जातिके हंसोंकी स्त्रियाँ स्थलका सन्देह कर बार-बार मोहमें पड़ जाती थीं अर्थात् सरोवरको स्थल समझने लगती थीं ॥ १० ॥
 जो भ्रमरोंकी पंक्तियाँ कमलोंकी केदारके समूहसे पीली-पीली हो गयी थीं वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो सुवर्णमय मनकाओंमें गुँथा हुआ शरदःऋतुका कण्ठहार ही हो ॥ ११ ॥ जिस प्रकार चारण लोग प्रमिद्ध दान्ती पुरुषके समीप उसकी कीर्ति गाते हुए पहुँचते हैं उसी प्रकार हंस पक्षी भी शब्द करते हुए अतिशय सुगन्धित सरोवरके जलके समीप पहुँच रहे थे ॥ १२ ॥ शरदःऋतुके आते ही नदियोंके किनारे स्वच्छ हो गये थे और ऐसे जान पड़ते थे मानो सफेद वस्त्रोंसे बने हुए हंसोंके विछोने ही हों ॥ १३ ॥ कमलोंसे सहित सरोवर, नील कमलोंसे सहित खेतोंकी भूमियाँ और हंसोंसहित किनारोंसे युक्त नदियाँ ये सब कामी मनुष्योंका चित्त हरण कर रहे थे ॥ १४ ॥ जिनमें स्वच्छ जल भरा हुआ है और जो सारस पक्षियोंके जोड़ोंसे सहित हैं ऐसे छोटे-छोटे तालाब, तूपुरोंके शब्दको जीतनेवाले कलहंस पक्षियोंके सुन्दर शब्दोंसे बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहे थे ॥ १५ ॥ नीलोत्पल ही जिसके नेत्र हैं और कमल ही जिसका मुख है ऐसी शरदःऋतुकी लक्ष्मीरूपी स्त्री कलहंसियोंके मधुर शब्दोंके बहाने वार्तालाप करती हुई-सी जान पड़ती थी ॥१६॥ जिनमें बालें नीचेकी ओर झुक गयी हैं और जिनकी शोभा कुछ-कुछ पीली हो गयी है ऐसी पके चावलोंकी पृथिवियाँ उस समय ऐसी जान पड़ती थीं मानो शरदः कालरूपी पतिके आनेपर हल्दी आदिके उबटन-द्वारा स्नान कर सुसज्जित ही बैठी हों ॥ १७ ॥
 उस शरदःऋतुकी शोभा देखकर हंस हर्षको प्राप्त हुए थे और मयूरोंने अपना हर्ष छोड़ दिया था । सो ठीक ही है क्योंकि शुद्धि और अशुद्धिका वही स्वभाव होता है । भावार्थ—हंस शुद्ध अर्थात् सफेद होते हैं इसलिए उन्हें शरदःऋतुकी शोभा देखकर हर्ष हुआ परन्तु मयूर अशुद्ध अर्थात् नीले होते हैं इसलिए उन्हें उसे देखकर दुःख हुआ । किसीका वैभव देखकर शुद्ध अर्थात् स्वच्छ हृदयवाले पुरुष तो आनन्दका अनुभव करते हैं और अशुद्ध अर्थात् मलिन स्वभाववाले—दुर्जन पुरुष दुःखका अनुभव करते हैं, यह इनका स्वभाव ही है ॥ १८ ॥

१ कलहंसस्त्रियः । 'कादम्बः कलहंसः स्याद्' इत्यभिधानात् । २ मोहयन्ति स्म । ३ रचिता । ४ जगुः । ५ हंसाः । ६ रचागिमपूहम् । ७ मोहार्दम् । ८ केदार । ९ पुलिन । १० अपहरन्ति स्म । ११ रजन्त्या । १२ हंसाः । मन्दमाना ल० । १३ हर्षम् । १४ मयूराः । सहमाना ल० । १५ अयमात्मोद्यगुणो हि ।

कलहंसा हसन्तीव विहृतैः स्म शिखण्डिनः । अहो^१ जडप्रिया यूयमिति निर्मलसूर्यः ॥ १६ ॥
 चित्रवर्णा^२ घनामलकवयो मिरसिश्रयाः । समं^३ शतमुखेष्वासैर्बहिणः स्वीकृतिं जहुः ॥ २० ॥
 बन्धूकैरिन्द्रगोपश्रीरातेने वनराजिषु । शरलक्ष्म्येव निष्ठयूस्ताम्बूलरसविन्दुभिः ॥ २१ ॥
 विकासं बन्धुजीवेषु^४ शरदाविर्मलस्यधात् । सतीव^५ सुप्रसन्नाशा^६ विपट्का^७ दिशदाभ्वरा^८ ॥ २२ ॥
 हंसस्वमानकाकाशकणिशोऽज्ज्वलचामरा । पुण्डरीकातपत्रार्साद्भिज्योत्थेव सा शरत ॥ २३ ॥
 दिशा^९ प्रसाधनायायाद्^{१०} वाणासनपरिच्छदम् । शरत्कालो जिगीषाहिं इलाष्यां वाणासनप्रदः ॥ २४ ॥
 घनावली कृशा पाण्डुरासीदाशा विमुञ्चती । घनामलविद्योगोत्थकिन्तयेवाकुलीकृता ॥ २५ ॥
 नमः सतारमारोजे विहसत्कुमुदाकरम् । कुमुदतीवनं चाभाञ्जयत्तारकितं नमः ॥ २६ ॥

निर्मल शरीरको धारण करनेवाले हंस मधुर शब्द करते हुए ऐसे जान पड़ते थे मानो अहो तुम लोग जडप्रिय — भूर्खप्रिय (पक्षमें जलप्रिय) हो इस प्रकार कहकर मयूरोकी हंसी ही उड़ा रहे हों ॥ १९ ॥ जिनका वर्ण अनेक प्रकारका है, जिनकी रुचि-इच्छा (पक्षमें कान्ति) मेघोंमें लग रही है और जो पर्वतोंके आश्रय हैं ऐसे मयूरोने इन्द्रधनुषोंके साथ-ही-साथ अपनी भी उत्तति छोड़ दी थी । भावार्थ — उस शरदऋतुके समय मयूर और इन्द्रधनुष दोनोंकी शोभा नष्ट हो गयी थी ॥ २० ॥ वन-पक्षियोंमें शरदऋतुरूपी लक्ष्मीके द्वारा थूके हुए ताम्बूलके रसके बूंदोंके समान शोभा देनेवाले बन्धूक (दुपहरिया) पुष्पोंने क्या इन्द्रगोप अर्थात् वर्षाकालमें होनेवाले लाल रंगके कीड़ोंकी शोभा नहीं बढ़ायी थी ? अर्थात् अवश्य ही बढ़ायी थी । बन्धूक पुष्प इन्द्रगोपोंके समान जान पड़ते थे ॥ २१ ॥ जिस प्रकार निर्मल अन्तःकरणवाली, पापरहित और स्वच्छ वस्त्र धारण करनेवाली कोई सती स्त्री घरसे बाहर प्रकट हो अपने बन्धुजनोंके विषयमें विकास अर्थात् प्रेमको धारण करती है उसी प्रकार शुद्ध दिशाओंको धारण करनेवाली कीचड़रहित और स्वच्छ आकाशवाली शरदऋतुने भी प्रकट होकर बन्धुजीव अर्थात् दुपहरिया-के फूलोंपर विकास धारण किया था — उन्हें विकसित किया था । तात्पर्य यह है कि उस समय दिशाएँ निर्मल थीं, कीचड़ सूख गया था, आकाश निर्मल था और वनोंमें दुपहरियाके फूल खिले हुए थे ॥ २२ ॥ उस समय जो हंसोंके शब्द हो रहे थे वे तगाड़ोंके समान जान पड़ते थे, वनोंमें काशके फूल फूल रहे थे वे उज्ज्वल चमरोंके समान मालूम होते थे, और तालाबोंमें कमल खिल रहे थे वे क्षत्रके समान सुशोभित हो रहे थे तथा इन सबसे वह शरदऋतु ऐसी जान पड़ती थी मानो उसे दिग्विजय करनेकी इच्छा ही उत्पन्न हुई हो ॥ २३ ॥ उस शरदऋतुने दिशाओं-को प्रसाधन अर्थात् अलंकृत करनेके लिए वाणासन अर्थात् वाण और आसन जातिके पुष्पों-का समूह धारण किया था सो ठीक ही है क्योंकि शत्रुओंको प्रसाधन अर्थात् वश करनेके लिए जिगीषु राजाको वाणासन अर्थात् धनुषका ग्रहण करना प्रशंसनीय ही है ॥ २४ ॥ उस समय सभस्त आशा अर्थात् दिशाओं (पक्षमें संगमकी इच्छाओं)को छोड़ती हुई मेघमाला कृता और पाण्डुवर्ण हो गयी थी सो उससे ऐसी जान पड़ती थी मानो वर्षाकालके वियोगसे उत्पन्न हुई चिन्तासे व्याकुल होकर ही वैसी हो गयी हो ॥ २५ ॥ उस शरदऋतुके समय ताराओंसे सहित आकाश ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो कुमुदिनियोंसहित सरोवरकी हंसी ही कर रहा हो

१ जलप्रिया ल०, द०, इ०, स०, अ०, प० । २ मेघकृतवाक्छाः । ३ इन्द्ररापे । ४ बन्धुजीवकैः । बन्धूकैः बन्धुजीवकैः इत्यभिधानात् । ५ बन्धूक-कुसुमेषु, पक्षे सुहृज्जीवेषु । ६ पुण्याङ्गनेव । ७ सुप्रसन्नचित्, पक्षे सुप्रसन्नमानसा । सुप्रसन्नात्मा-ल० । ८ विगतकर्दमा, पक्षे दोषरहिता । ९ पक्षे निर्मलवस्त्राः । १० अलंकाराय । जयार्थं च । ११ क्षिण्टिकुसुमसर्जककुसुमपरिकरम् । पक्षे धनुःपरिकरम् । १२ जेतुमिच्छाः ।

तारकाकुमुदाकीर्णे नभःसरसि निर्मले । हंसायते स्म शीतांशुर्विक्षिप्तकरपक्षतिः^१ ॥२७॥
 नमोऽगृहाङ्गमे तेनुः श्रियं पुष्पोपहारजाम् । तारकादिग्वधूहारतारमुक्ताफलविषः^२ ॥२८॥
 वभुर्नभोऽम्बुधौ ताराः स्फुरन्मुक्ताफलामलाः । करका^३ इव मेघोर्ध्वनिहिता^४ हिमशीतलाः^५ ॥२९॥
 ज्योत्स्नासलिलसंभूता इव बुद्बुदपङ्क्तयः । तारका हचिमातेनुर्विप्रकीर्णा नभोऽङ्गमे^६ ॥३०॥
 ननुभूतपयोवेणी^७ नद्यः परिकृशा दधुः । विमुक्ता घनकालेन विरहिण्य द्वाङ्गनाः^८ ॥३१॥
 अनुद्धता गमोस्त्वं भेजुः स्वच्छजलांशुकाः^९ । सरिस्त्रियो घनापाभाद् बंधव्यमित्र^{१०} संश्रिताः^{११} ॥३२॥
 दिगङ्गना घनापायप्रकाशीभूतमूर्तयः । व्यावहासीमित्रातेनुः प्रसन्ना हंसमण्डलैः^{१२} ॥३३॥
 कृजितैः कलहंसानां विजिता इव तस्यजुः । केकाशितानि^{१३} शिखिनः सर्वः कालवलयान् बली^{१४} ॥३४॥
 ज्योत्स्नादुक्कलवसना लसन्नक्षत्रमालिका^{१५} । बन्धुजीवाभरा रंजे निर्मला शरदङ्गना^{१६} ॥३५॥
 ज्योत्स्ना कीर्तिमित्रातम्वन् विधुर्गगनमण्डले । शरदङ्गमीं समायाच सुराजेकाद्युतसराम्^{१७} ॥३६॥
 बन्धुजीवेषु^{१८} विष्यस्तरागा^{१९} वाणकृतश्रुतिः^{२०} । हंसा सखीयुता रंजे नवोद्वेग^{२१} शरद्वधूः^{२२} ॥३७॥

और कुमुदिनियोंसे सहित सरोवर ऐसा जान पड़ता था मानो ताराओंसे सुशोभित आकाश-
 को ही जीत रहा हो ॥ २६ ॥ तारकारूप कुमुदोंसे भरे हुए आकाशरूपो निर्मल सरोवरमें
 अपने किरणरूप पंखोंको फैलाता हुआ चन्द्रमा ठीक हंसके समान आचरण करता था ॥ २७ ॥
 जिनकी कान्ति दिशारूपी स्त्रियोंके हारोंमें लगे हुए बड़े-बड़े मोतियोंके समान हैं ऐसे तारागण
 आकाशरूपी घरके आंगनमें फूलोंके उपहारसे उत्पन्न हुई शोभाको बढ़ा रहे थे ॥ २८ ॥ देदीप्य-
 मान भुक्ताफलोंके समान निर्मल तारे आकाशरूपी समुद्रमें ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो मेघों-
 के समूहने बर्फके समान शीतल ओले ही धारण कर रखे हों ॥ २९ ॥ आकाशरूपी
 आंगनमें जहाँ-तहाँ बिखरे हुए तारागण ऐसी शोभा धारण कर रहे थे मानो चाँदनीरूप जलसे
 उत्पन्न हुए बबूलोंके समूह ही हों ॥ ३० ॥ वर्षाकालरूपी पतिसे बिछुड़ी हुई नदियाँ विरहिणी
 स्त्रियोंके समान अत्यन्त कृश होकर जलकी सूक्ष्म प्रवाहरूपी चोटियोंको धारण कर रही थीं
 ॥ ३१ ॥ वर्षाकालके नष्ट हो जानेसे नदीरूप स्त्रियाँ मानो बंधव्य अवस्थाको ही प्राप्त हो गयी
 थीं, क्योंकि जिस प्रकार विधवाएँ उद्धतता छोड़ देती हैं उसी प्रकार नदियोंने भी उद्धतता छोड़
 दी थी, विधवाएँ जिस प्रकार स्वच्छ (सफेद) वस्त्र धारण करती हैं उसी प्रकार नदियाँ भी
 स्वच्छ वस्त्ररूपी जल धारण कर रही थीं, और विधवाएँ जिस प्रकार अगम्भीर वृत्तिको धारण
 करती हैं उसी प्रकार नदियाँ भी अगम्भीर अर्थात् उथली वृत्तिको धारण कर रही थीं ॥ ३२ ॥
 मेघोंके नष्ट हो जानेसे जिनकी मूर्ति-आकृति प्रकाशित हो रही है ऐसी दिशारूपी स्त्रियाँ
 अत्यन्त प्रसन्न हो रही थीं और हंसरूप आभरणोंके छलसे मानो एक-दूसरेके प्रति हँस ही रही
 थीं ॥ ३३ ॥ उस समय मयूरोने अपनी केका वाणी छोड़ दी थी, मानो कलहंस पक्षियोंके
 मधुर शब्दोंसे पराजित होकर ही छोड़ दी हो, सो ठीक ही है क्योंकि समयके बलसे सभी बलवान्
 हो जाते हैं ॥ ३४ ॥ चाँदनीरूपी रेशमी वस्त्र पहने हुए, देदीप्यमान नक्षत्रोंकी माला (पक्ष-
 में सत्ताईस मणियोंवाला नक्षत्रमाल नामका हार) धारण किये हुए और दुपहरियाके फूल
 रूप अधरोसे सहित वह निर्मल शरदङ्गतरूपी स्त्री अतिशय सुशोभित हो रही थी ॥ ३५ ॥
 शरदङ्गतुकी शोभा पाकर आकाशमण्डलमें चाँदनीरूपी कीर्तिको फैलाता हुआ चन्द्रमा किसी
 उत्तम राजाके समान अत्यन्त सुशोभित हो रहा था ॥ ३६ ॥ वह शरदङ्गतु नवोदा स्त्रीके समान

१ किरणा एव पक्षतिः मूलं यस्य । २ वर्षोपलाः । ३ निक्षिप्ताः । ४ पयःप्रशहा इत्यर्थः । ५ पक्षे
 श्वेतस्थूलवस्त्राः । ६ विधवाया भावः । ७ परस्परहासम् । ८ हंसमण्डनाः प०, द०, द० । हंसमण्डनात् ल० ।
 ९ मयूरश्रानि । १० तारकावला, पक्षे हारमेदः । ११ बन्धुकेषु बान्धवेषु च । १२ क्षिप्तिः, पक्षे शर ।
 १३ विकासः, पक्षे कान्तिः । १४ नूतनविवाहिता ।

स्वयं धौतमभाद् व्योम स्वयं प्रवृत्तलितः शशी । स्वयं प्रसादिता^१ नद्यः स्वयं संमार्जिता दिशः ॥३८॥
 शरद्वर्मासुखालोकदर्पणे शशिमण्डले । प्रजारशो धृतिं भेजुरसंसृष्टसमुज्ज्वले ॥३९॥
 वनराजीस्तलामोदाः कुसुमाभरणोज्ज्वलाः । मधुयता भजन्ति स्म कृतकोलाहलस्वनाः ॥४०॥
 तन्मयो^२ वनलता रेणुविकीर्णिकुसुमभिर्भताः । सालका^३ हृष्टं गन्धान्ध्रिखिलोलायैकुलाकुलाः ॥४१॥
 दर्पोदुराः खुरोस्वातमुवस्तास्रीकृतैक्षणाः । वृषाः^४ प्रतिवृषालोककुपिताः प्रतिसस्वनुः ॥४२॥
 अवास्किरन्त^५ शृङ्गाप्रैर्धृषसा धारनिःस्वनाः । वनस्थलीः^६ स्थलान्मोजमृणालकाकलाचिताः^७ ॥४३॥
 वृषाः ककुदसंलरनमृदः कुमुदपाण्डुराः । व्यकाङ्क्षस्य मृगाङ्क्षस्य लक्ष्मीमभिमर्ह^८स्तदा ॥४४॥
 क्षीरपञ्चमयीं कृत्स्नामातश्वाना वनस्थलीम् । प्रस्तुषाना वनान्तेषु प्रसक्तुर्गोमतल्लिकाः^९ ॥४५॥
 कुण्डोऽध्वोऽमृतपिण्डम^{१०} घटिता इव निर्मलाः । गोगृध्रयो^{११} वनान्तेषु शरच्छिद्य इवावृणन्^{१२} ॥४६॥

सुशोभित हो रही थी क्योंकि जिस प्रकार नवोढ़ा स्त्री बन्धुजीव अर्थात् भाई-बन्धुओंपर राग अर्थात् प्रेम रखती है उसी प्रकार वह शरदऋतु भी बन्धुजीव अर्थात् दुपहरियाके फूलोंपर राग अर्थात् लालिमा धारण कर रही थी, नवोढ़ा स्त्री जिस प्रकार देदीप्यमान होती है उसी प्रकार शरदऋतु भी बाण जातिके फूलोंसे देदीप्यमान हो रही थी और नवोढ़ा स्त्री जिस प्रकार सखियोंसे घिरी रहती है उसी प्रकार वह शरदऋतु भी हंसीरूपी सखियोंसे घिरी रहती थी ॥३७॥ उस समय आकाश अपने-आप साफ किये हुएके समान जान पड़ता था, चन्द्रमा अपने आप धोये हुएके समान मालूम होता था, नदियाँ अपने-आप स्वच्छ हुई-सी जान पड़ती थीं और दिशाएँ अपने-आप झाड़-बुहारकर साफ की हुईके समान मालूम होती थीं ॥३८॥ जो शरदऋतुरूपी लक्ष्मीके मुख देखनेके लिए दर्पणके समान है और जो बिना साफ किये ही अत्यन्त उज्ज्वल है ऐसे चन्द्रमण्डलमें प्रजाके नेत्र बड़ा भारी सन्तोष प्राप्त करते थे ॥३९॥ जिनकी सुगन्धि चारों ओर फैल रही है और जो फूलरूप आभरणोंसे उज्ज्वल हो रही हैं ऐसी वन-पंक्तियोंको भ्रमर कोलाहल शब्द करते हुए सेवन कर रहे थे ॥४०॥ जो फूले हुए पुष्परूपी मन्द हास्यसे सहित थीं तथा गन्धसे अन्धे हुए भ्रमरोंके समूहसे व्याप्त होनेके कारण जो सुन्दर केशोंसे सुशोभित थीं ऐसी वनकी लताएँ उस समय कृश शरीरवाली स्त्रियोंके समान शोभा पा रही थीं ॥४१॥ जो खुरोंसे पृथिवीको खोद रहे थे, जिनकी आँखें लाल-लाल हो रही थीं और जो दूसरे बैलोंके देखनेसे क्रोधित हो रहे थे ऐसे मदीन्मत्त बैल अन्य बैलोंके शब्द सुनकर बदलेमें स्वयं शब्द कर रहे थे ॥४२॥ उसी प्रकार गम्भीर शब्द करते हुए वे बैल अपने सींगोंके अग्रभागसे स्थलकमलोंके मृणालके टुकड़ोंसे व्याप्त हुई वनकी पृथिवीको खोद रहे थे ॥४३॥ इसी तरह उस शरदऋतुमें जिनके काँधोंपर मिट्टी लग रही है और जो कुमुद पुष्पके समान अत्यन्त सफेद हैं ऐसे वे बैल स्पष्ट चिह्नवाले चन्द्रमाकी शोभा धारण कर रहे थे ॥४४॥ जिनसे अपने-आप दूध निकल रहा है ऐसी उत्तम गायें वनकी सम्पूर्ण पृथिवीको दुग्ध प्रवाहके रूप करती हुई वनोंके भीतर जहाँ-तहाँ फिर रही थीं ॥४५॥ इसी प्रकार जिनके स्तन कुण्डके समान भारी हैं और जो अमृतके पिण्डसे बनी हुईके समान अत्यन्त निर्मल हैं ऐसी तुरन्तकी प्रसूत हुई गायें वनोंके मध्यमें शरदऋतुकी शोभाके समान जान पड़ती थीं ॥४६॥

१ आत्मना प्रसन्नमित्यर्थः । २ प्रसन्नोद्धताः । ३ कृषाः अङ्गनाश्च । ४ उत्कृष्टाः । ५ वृषभाः । ६ किरन्ति स्म । ७ वनस्थलीं ल० । ८ -चिताम् ल० । ९ धरन्ति स्म । १० प्रशस्तगावः । 'मतल्लिका मत्तलिका प्रकाण्डमुद्धतल्लजौ । प्रशस्तवाक्कान्यमूनि' इत्यभिधानात् । ११ पिठराघोनाः । 'पिठरः स्वास्पृक्षा कुण्डमित्यभिधानात् । 'ऊधस्तु क्लीबमापीनम्' । 'ऊधसोऽनम्' इति सूत्रात् सकारस्य नकारादेशः । १२ सकृत्प्रसूता गावः । 'गृष्टिः सकृत्प्रसूतिका' इत्यभिधानात् । १३ इवाभवन् ल० ।

हुम्भारवभृती^१ वत्सानापिप्येन्प्रकृतस्वनान्^२ । पीनापीनाः^३ पयस्विन्यः^४ पयःपीयूषमुत्सुकाः^५ ॥४७॥
 क्षीरस्यतो^६ निजान् वत्सान् हुम्भागम्भीरनिःस्वनान् । धेनुष्याः^७ पाययन्ति स्म गोपैरपि निबन्धिताः ॥४८॥
 प्राक्स्वीया जलदा जाताः शिखिनामप्रियास्तदा । रिक्ता जलधनापायादहो कष्टा दरिद्रता ॥४९॥
 व्यावहासीमिवातेनुर्गिर्यः पुष्पितैर्दुमैः । व्यात्युर्ध्वमिव^८ तन्वानाः स्फुरन्तिर्गर्गीकरैः ॥५०॥
 प्रवृद्धवयसो^९ रेतुः कलमा भृशमानताः । परिणामाग्रशुष्यन्तो^{१०} जरन्तः^{११} पुरुषा इव ॥५१॥
 विरेचुरसनापुष्पैर्मदालिपटलावृत्तैः । इन्द्रनीलकृतान्तयैः^{१२} सौवर्णैरिव भूषणैः ॥५२॥
 घनावरणनिर्मुक्ता दधुरावा दशां मुदम् । नटिका^{१३} इव नेपथ्यगृहाद्गजमुपागताः^{१४} ॥५३॥
 अदधुर्धनवृन्दानि मुक्तासाराणि^{१५} भूधराः । सदृशानीव^{१६} वासांसि^{१७} निष्प्रवाणीनि^{१८} सानुभिः ॥५४॥
 पवनाधोरणारूढाभ्रेमुर्जोभूतदन्तिनः^{१९} । सान्तर्गता निकुम्भेषु^{२०} मासारमदशीकराः ॥५५॥
 शुकावलीप्रवालाभचञ्चुस्तेने दिवि^{२१} श्रियम् । हरिन्मणिपिनद्धेव तोरणार्हा सपद्मभा^{२२} ॥५६॥

जिनके स्तन बहुत ही स्थूल हैं और जो हुम्भा शब्द कर रही हैं ऐसे दूधवाली गायें दूध पीनेके लिए उत्सुक तथा बारम्बार हुम्भा शब्द करती हुई अपने बच्चोंको दूधरूपी अमृत पिला रही थीं ॥४७॥ जो गायें भवालाओंके यहाँ बन्धकरूपसे आयी थीं अर्थात् दूधके ठेकापर आयी थीं, उन्होंने उन्हें यद्यपि बांध रखा था तथापि वे 'हुम्भा' ऐसा गम्भीर शब्द करनेवाले एवं दूध पीनेके लिए उत्सुक अपने बच्चोंको दूध पिला ही रही थीं ॥४८॥ जो मेष पहले मयूरोको अत्यन्त प्रिय थे वे ही अब शरदश्रुतुमें जलरूप धनके नष्ट हो जानेसे खाली होकर उन्हें अप्रिय हो गये थे सो ठीक ही है क्योंकि दरिद्रता बहुत ही कष्ट देनेवाली होती है ॥४९॥ उस समय फूले हुए वृक्षोंसे पर्वत ऐसे जान पड़ते थे मानो परस्परमें हँसी ही कर रहे हों और झरने हुए झरनोंके छोटोंसे ऐसे जान पड़ते थे मानो फाग ही कर रहे हों ~ विनोदवश एक-दूसरेके ऊपर जल डाल रहे हों ॥५०॥ कलमी जातिके धान, जो कि बहुत दिनके थे अथवा जिनके समीप बहुत पक्षी बैठे हुए थे, जो खूब नव रहे थे और जो अपने परिपाकसे जगत्के समस्त जीवोंका पोषण करते थे, वे ठीक वृद्ध पुरुषोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥५१॥ सहजनाके वृक्ष मद्योन्मत्त भ्रमरोंके समूहसे घिरे हुए अपने फूलोंसे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो जिनके मध्यभागमें इन्द्रनील मणि लगा हुआ है ऐसे सुवर्णमय आभूषणोंसे ही सुशोभित हो रहे हों ॥५२॥ जिस प्रकार आभूषण आदि पहननेके परदेवाले घरसे निकलकर रंगभूमिमें आयी हुई नृत्यकारिणी नेत्रोंको आनन्द देती है उसी प्रकार मेषोंके आवरणसे छूटी हुई दिशाएँ नेत्रोंको अतिशय आनन्द दे रही थीं ॥५३॥ पर्वतोंने जो अपनी शिखरोंपर जलरहित सफेद बादलोंके समूह धारण किये थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो अंचलसहित नवीन वस्त्र ही हों ॥५४॥ जिनपर वायुरूपी महावत बैठे हुए हैं, जो भीतर-ही-भीतर गरज रहे हैं और जो लतागृहोंमें जलकी बूँदरूपी मदधाराकी बूँद छोड़ रहे हैं ऐसे मेघरूपी हाथी जहाँ-तहाँ फिर रहे थे ॥५५॥ जिनकी चोंच मूँगाके समान लाल है ऐसी तोताओंकी

१ हुम्भा इत्यनुकरणारावभृतः । २ पाययन्ति स्म । ३ प्रकर्षेण कृत । ४ प्रवृद्धोपधसः । ५ धेनवः । ६ -मुत्सुकाम् ल० । ७ क्षीरमात्मानमिच्छन् । ८ 'धेनुष्या बन्धके स्थिता' इत्यभिधानात् । ९ परस्परहसनम् । १० परस्परसेवनम् । ११ वृद्धवयस्काः प्रवृद्धपक्षिणश्च । १२ परिपक्वात् । १३ वृद्धाः । १४ सर्जकाः । १५ मध्यैरित्यर्थः । १६ नर्तक्यः । १७ अलंकारगृहात् । १८ वर्षाणि । १९ अस्ति संहितानि । 'स्त्रियां बहुवचस्य दशा स्युर्वस्तपः' इत्यभिधानात् । अन्यदपि दशावतविस्थायां वस्त्रान्ते स्युर्वशा अपि । २० वस्त्राणि । २१ नूतनानि । 'अनाहतं निष्प्रवाणि तन्मर्कं च नवाम्बरं' इत्यभिधानात् । २२ हस्तिपक । 'आधोरणो नस्तिपकः' इत्यभिधानात् । २३ मेष । २४ सानुपु । २५ आकाशे । २६ पद्मरागसहिता ।

श्वेतानि^१ तरणाङ्गोपजीविनामुद्धतात्मनाम् । पुंसां व्युताधिकाराणामिव दैन्यमुपागमन् ॥५७॥

प्रतापी भुवनस्यैकं चक्षुर्निःश्वस्यमहोदयः । आस्थानाकाम्पनेजस्वी वभामे भरतेशवत् ॥५८॥

इति प्रसादपञ्चदशप्रहासे शरदागमे । चक्रे दिग्विजयोयोगं चक्री चक्रपुरस्सरम् ॥५९॥

प्रस्थानभयां गम्भीरप्रस्थानाः प्रहतास्तेदा । श्रुता बहिर्महर्षीर्ब्रह्मनाड्यम्बरशक्तिभिः ॥६०॥

कृतमङ्गलनेपथ्यो बभारोरस्थलं प्रभुः । शरदक्षम्येव संभक्तं महारहरिचन्द्रनम् ॥६१॥

ज्योत्स्नामये कुण्डले च कुण्डले परिदधौ नृपः । शरद्विजयोपनीते वा सृदुनी दिव्यवाससी ॥६२॥

आजानुलम्बिता ब्रह्मसूत्रेण विबभौ त्रिभुः । हिमाद्रिरिव गङ्गाम्बुप्रवाहेण तटस्पृशा ॥६३॥

किरीटोदयसूर्याग्नी कर्णान्यां कुण्डले दधौ । चन्द्राकर्मण्डले वक्षुमिवायाते जयोत्सवम् ॥६४॥

वक्षःस्थलेऽस्य रुक्मे रुचिरः कौस्तुभो मणिः । जयलक्ष्मीसमुद्राहमङ्गलाशंमिदीपकत् ॥६५॥

पंक्ति आकाशमें ऐसी शोभा बढ़ा रही थी मानो पद्मराग मणियोंकी कान्तिसहित हरित मणियोंकी बनी हुई वन्दनमाला ही हो ॥५६॥ जिस प्रकार अधिकारसे भ्रष्ट हुए मनुष्योंके चित्त दीनताको प्राप्त होते हैं उसी प्रकार नावोंके द्वारा आजीविका करनेवाले उद्धत मल्लाहोंके चित्त दीनताको प्राप्त हो रहे थे । भावार्थ — शरदऋतुमें नदियोंका पानी कम हो जानेसे नाव चलानेवाले लोगोंका व्यापार बन्द हो गया था इसलिए उनके चित्त दुःखी हो रहे थे ॥५७॥ उस समय सूर्य भी ठीक महाराज भरतके समान देदीप्यमान हो रहा था, क्योंकि जिस प्रकार भरत प्रतापी थे उसी प्रकार सूर्य भी प्रतापी था, जिस प्रकार भरत लोकके एकमात्र नेत्र थे अर्थात् सबको हिताहितका मार्ग दिखानेवाले थे उसी प्रकार सूर्य भी लोकका एकमात्र नेत्र था, जिस प्रकार भरतका तेज प्रतिदिन बढ़ता जाता था उसी प्रकार सूर्यका भी तेज प्रतिदिन बढ़ता जाता था, और जिस प्रकार भरतने अन्य तेजस्वी राजाओंको दबा दिया था उसी प्रकार सूर्यने भी अन्य चन्द्रमा तारा आदि तेजस्वी पदार्थोंको दबा दिया था — अपने तेजसे उनका तेज नष्ट कर दिया था ॥५८॥ इस प्रकार अत्यन्त निर्मल चन्द्रमाकी किरणें ही जिसका हास्य है ऐसी शरदऋतुके आनेपर चक्रवर्ती भरतने चक्ररत्न आगे कर दिग्विजय करनेके लिए उद्योग किया ॥५९॥

उस समय गम्भीर शब्द करते हुए प्रस्थान कालके नगाड़े बज रहे थे, जिन्हें मेघके आडम्बरकी शंका करनेवाले मयूर अपनी ग्रीवा ऊँची उठाकर सुन रहे थे ॥६०॥ उस समय जिन्होंने मंगलमय वस्त्राभूषण धारण किये हैं ऐसे महाराज भरत हार तथा सफेद चन्दनसे सुशोभित जिस वक्षःस्थलको धारण किये हुए थे वह ऐसा जान पड़ता था मानो शरदऋतुरूपी लक्ष्मी ही उसकी सेवा कर रही हो ॥६१॥ महाराज भरतने चाँदनीसे बने हुएके समान सफेद, बारीक और कोमल जिन दो दिव्य वस्त्रोंको धारण किया था वे ऐसे जान पड़ते थे मानो शरदऋतुरूपी लक्ष्मीके द्वारा ही उपहारमें लाये गये हों ॥६२॥ घुटनों तक लटकते हुए ब्रह्मसूत्रसे महाराज भरत ऐसे सुशोभित हो रहे थे, जैसा कि तटको स्पर्श करनेवाले गंगा जलके प्रवाहसे हिमवान् पर्वत सुशोभित होता है ॥६३॥ मुकुट लगानेसे जिनका मस्तक बहुत ऊँचा हो रहा है ऐसे भरत महाराजने अपने दोनों कानोंमें जो कुण्डल धारण किये थे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो जयोत्सवकी बधाई देनेके लिए सूर्यमण्डल और चन्द्रमण्डल ही आये हों ॥६४॥ भरतेश्वरके वक्षःस्थलपर देदीप्यमान कौस्तुभ मणि ऐसा सुशोभित होता था,

१ द्रोण्युपानुपजीविनाम् । नदीतारकाणामित्यर्थः । २ मङ्गलालंकारः । ३ सेवितम् । ४ किरीटोदय — ल०, द०, अ०, स० ।

त्रिभुविम्बप्रतिस्पर्धि^१ दध्नेऽस्यातपवारणम् । तस्मिन्नेन्द्रे^२ विम्बमागमेव सिधेविभु ॥६६॥
 तदस्य रुचिमात्रेने धृतमातपवारणम् । चूडारत्नांशुनिर्मितं^३ मारुणांशिव^४ पङ्कजम् ॥६७॥
 स्वधुनेर्नाकरस्यधि चामराणां कदम्बकम् । बुधुबुवारनायोऽस्य दिक्कन्या इव संश्रिताः^५ ॥६८॥
 ततः स्थपतिरत्रेन निर्ममे^६ स्यन्दनो महान् । सुवर्णमणिचित्राङ्गो^७ मेरुकुञ्जश्रिय^८ हस्तन् ॥६९॥
 चक्ररत्नप्रतिस्पर्धिचक्रद्वितयसंगतः । वज्राक्षवटितो^९ रंजं रथोऽस्येव मनोरथः ॥७०॥
 कामगैर्वायुरेहोमिः^{१०} कुमुदोज्ज्वलकान्तिभिः । यशोवितानसंकाशः स रथोऽयोजि^{११} वाजिमिः ॥७१॥
 स तं स्यन्दनमारुह्युक्तसारथ्यधिष्ठितम्^{१२} । नितम्बदेशमद्भीषाः^{१३} सुरराट्वि चक्रराट् ॥७२॥
 ततः प्रास्थानिकैः^{१४} पुण्यनिर्घोषैरभिनन्दितः । प्रतस्थे दिग्जयोक्तः कृतप्रस्थानमङ्गलः ॥७३॥
 तदा नमोऽङ्गणं कृत्स्नं जयधोषैरुप्यत । नृपाङ्गणं च संरुद्धमभवत् सैन्यनायकैः ॥७४॥
 महामुकुटबद्धास्तं पश्चिद्भुः समन्ततः । दूरात् प्रणतमूर्धनिः सुरराजमिवामराः ॥७५॥
 प्रचचाल बलं विजयगारुडपुरर्षाधिकम् । महायोधमयी^{१५} सृष्टिरपूर्वेवामवसदा ॥७६॥

मानो विजयलक्ष्मीके विवाहरूपी मंगलकी सूचना देनेवाला दीपक ही हो ॥ ६५ ॥ उन्होंने चन्द्रमण्डलके साथ स्पर्धा करनेवाले जिस छात्रको धारण किया था वह ऐसा जान पड़ता था मानो उस छात्रके बहानेसे स्वयं चन्द्रमण्डल ही आकर उनकी सेवा करना चाहता हो ॥ ६६ ॥ महाराज भरतने जो छात्र धारण किया था वह चूडारत्नकी किरणोंसे मिलकर ऐसा सुशोभित हो रहा था, मानो सूर्यकी लाल किरणोंसे मिलकर कमल हो हो ॥ ६७ ॥ जो वाराणसीमें महाराज भरतके आसपास गंगाके जलकी बूंदोंके साथ स्पर्धा करनेवाले चमरोंके समूह डोल रही थीं वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो अच्छी तरहसे आयी हुई दिक्कन्याएँ ही हों ॥ ६८ ॥ तदनन्तर स्थपति रत्नने एक बड़ा भारी रथ तैयार किया जो कि सुवर्ण और मणियोंसे चित्र-विचित्र दिखनेवाले मेरु पर्वतके लतागूहोंकी शोभाकी ओर हँस रहा था ॥ ६९ ॥ वह रथ चक्ररत्नकी प्रतिस्पर्धा करनेवाले दो पहियोंसे सहित था तथा वज्रके बने हुए अक्ष (दोनों पहियोंके बीचमें पड़ा हुआ मजबूत लोहदण्ड-भीरा) से युक्त था इसलिए महाराज भरतके मनोरथके समान बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहा था ॥ ७० ॥ उस रथमें जो घोड़े जोते गये थे वे इच्छानुसार गमन करते थे, वायुके समान वेगशाली थे, कुमुदके समान उज्ज्वल कान्तिवाले थे और यशके समूहके समान जान पड़ते थे ॥ ७१ ॥ जिस प्रकार इन्द्र मेरु पर्वतके तटपर आरुढ़ होता है उसी प्रकार भरतेश्वर, योग्य सारथिसे युक्त रथपर आरुढ़ हुआ ॥ ७२ ॥ तदनन्तर प्रस्थान समयमें होनेवाले 'जय' 'जय' आदि पुण्य शब्दोंके द्वारा जिनका अभिनन्दन किया जा रहा है, जो दिग्विजयकी समस्त तैयारियाँ कर चुके हैं और जिनके साथ प्रस्थानकालीन सभी मंगलाचार किये जा चुके हैं ऐसे महाराज भरतने प्रस्थान किया ॥ ७३ ॥ उस समय आकाशरूपी समस्त आँगन जय-जय शब्दोंकी घोषणासे भर गया था, और राजाका आँगन सेनापतियोंसे भर गया था ॥ ७४ ॥ जिस प्रकार देव लोग इन्द्रको घेरकर खड़े हो जाते हैं उसी प्रकार दूरसे ही मस्तक झुकाकर नमस्कार करते हुए महामुकुट बद्ध राजा लोग भरतको घेरे हुए चारों ओर खड़े थे ॥ ७५ ॥ जिसने चारों ओरसे नगरकी समस्त गलियोंको रोक लिया है ऐसी वह सेना चलने लगी । उस समय ऐसा जान पड़ता था मानो बड़े-बड़े

१ दध्ने ल० । २ आतपवारणव्याजेन । ३ मिथम् । ४ सूर्यकिरणसहितम् । ५ वीजयन्ति स्म । ६ संसृताः ल० । ७ रच्यते स्म । ८ अवयव । ९ तट । १० वरुणाङ्ग । ११ वेगवृद्धिः । १२ इज्यते स्म । १३ युक्तिपरसारथिसमाश्रितम् । १४ मेरोः । १५ प्रस्थाने नियुक्तीः । १६ भटमयी ।

पुरः^१ पादात्तमाश्वीयं रथकद्वया^२ च हास्तिकम् । क्रमाग्निरौ^३ सुरावेष्टय संपताकं रथं प्रमोः ॥७७॥
 रथ्या^४ रथ्याश्चसंघट्टादुन्वितैर्हमरेणुभिः । बलश्रोदाक्षमाभ्योम समुत्पेतुरिव^५ स्वयम् ॥७८॥
 रौक्मै रजोभिरार्काणं तदा रेजे नमोऽजिरम् । स्पृष्टं^६ बालात्पेनेन पटवासेन वातलम्^७ ॥७९॥
 शनैः शनैर्जनैर्मुक्ता विरेजुः पुरर्वाधयः । कल्लोलैरिव^८ बेलोयैर्महाब्धेस्तीक्ष्णमयः ॥८०॥
 पुराह्वनाभिरनुमुक्ताः सुमनोज्ज्वलयोऽपतन् । सौधवातायनस्थाभिर्दृष्टिपतैः समं प्रमो ॥८१॥
 ज्येश्ठ विजयिन् विश्वं विजयस्व दिशो दश । पुण्याशीर्षा शनैरिथं पीराः प्रभुमयूयुजन्^९ ॥८२॥
 सम्राट् पश्यन्नयोध्यायाः परां भूतिं^{१०} तदातनीम्^{११} । शनैः प्रतोलीं^{१२} संजापद् रत्नतोरणभासुराम् ॥८३॥
 पुरो बहिः पुरः पश्चान् समं च विभुनाऽसुता । ददर्श दृष्टिपर्यन्तमसङ्ख्यमिव तत्कलम् ॥८४॥
 जगन् प्रसवागारादिषु तस्मान् पुराद् बलम् । निरियाय निरुच्छ्वासं^{१३} शनैराहङ्गगोपुरम् ॥८५॥
 किमिदं प्रलयक्षोभान् क्षुभितं वारिधेरजलम् । किमुत त्रिजगत्सर्गः^{१४} प्रथमोऽथ विजृम्भते ॥८६॥
 इत्याशङ्क्य नमोभागिभ्यः सुरैः साहचर्यमीक्षितम् । प्रससार बलं विष्वक्पुराधिपार्थिव रज्जिणः ॥८७॥

योद्धाओंकी एक अपूर्व सृष्टि ही उत्पन्न हुई हो ॥ ७७ ॥ सबसे पहले पैदल चलनेवाले सैनिकोंका समूह था, उसके पीछे घोड़ोंका समूह था, उसके पीछे रथोंका समूह और उसके पीछे हाथियोंका समूह था । इस प्रकार वह सेना पताकाओंसे सहित महाराजके रथको घेरकर अनुक्रमसे निकली ॥७७॥ जिन मार्गोंसे वह सेना जा रही थी वे मार्ग रथ और घोड़ोंके संघटनसे उठी हुई सुवर्णमय धूलिसे ऐसे जान पड़ते थे मानो सेनाका आघात सहनेमें असमर्थ होकर स्वयं आकाशमें ही उड़ गये हों ॥ ७८ ॥ उस समय सुवर्णमय धूलिसे भरा हुआ आकाशरूपी आँगन ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो बालसूर्यकी सुनहली प्रभासे स्पर्श किया गया हो, और सुगन्धित चूर्णसे ही व्याप्त हो गया हो ॥७९॥ धीरे-धीरे लोग नगरकी गलियोंका छोड़कर आगे निकल गये जिससे खाली हुई वे गलियाँ ऐसी जान पड़ती थीं मानो ज्वारभाटासे उठी हुई लहरोंके चले जानेपर खाली हुई समुद्रके किनारेकी भूमि ही हो ॥ ८० ॥ उस समय बड़े-बड़े मकानोंके झरोखोंमें खड़ी हुई नगरनिवासिनी स्त्रियोंके द्वारा अपने-अपने कटाक्षोंके साथ छोड़ी हुई पुण्यांजलियाँ महाराज भरतके ऊपर पड़ रही थीं ॥८१॥ हे ईश, आपकी जय हो, हे विजय करनेवाले महाराज, आप संसारका विजय करें और दशों दिशाओंको जीतें; इस प्रकार सेकड़ों पुण्याशीर्षादोंके द्वारा नगरनिवासी लोग भरतकी पूजा कर रहे थे—उनके प्रति सम्मान प्रकट कर रहे थे ॥ ८२ ॥ इस प्रकार उस समय होनेवाली अयोध्याकी उत्कृष्ट विभूतिको देखते हुए सम्राट् भरत धीरे-धीरे रत्नोंके तोरणोंसे देदीप्यमान गोपुरद्वारको प्राप्त हुए ॥ ८३ ॥ उस समय महाराज भरतको नगरके बाहर अपने आगे-पीछे और साथ-साथ जहाँतक दृष्टि पड़ती थी वहाँतक असंख्यात सेना ही सेना दिखाई पड़ती थी ॥ ८४ ॥ जगत्की उत्पत्तिके धरके समान उस अयोध्यापुरीसे वह सेना गोपुरद्वारको रोकती हुई बड़ी कठिनातासे धीरे-धीरे बाहर निकली ॥८५॥ क्या यह प्रलय कालके क्षोभसे क्षोभको प्राप्त हुआ समुद्रका जल है ? अथवा यह तीनों लोकोंकी नवीन सृष्टि उत्पन्न हो रही है ? इस प्रकार आशंका कर आकाशमें खड़े हुए देव लोग जिसे बड़े आश्चर्यके साथ देख रहे हैं ऐसी चक्रवर्तीकी वह सेना नगरसे निकलकर चारों ओर फैल गयी ॥८६-८७॥

१ पदातीनां समूहः । २ - कटघा ल० । ३ निर्गच्छन्ति स्म । ४ रथनिवृत्तवाजी । रथास्तः ४०, ल०, इ० । ५ उत्पत्ति स्म । ६ स्पृष्टं ल० । ७ वातलम् । ८ जलविकारोत्पत्तिः 'अव्ययविह्वला बैला' इत्यभिधानात् । ९ -मयूजयन् ल० । १० सम्पदम् । ११ तत्कालजान् । १२ गोपुरम् । १३ उच्छ्वासान्निष्क्रान्तं यथा भवति तथा । ससङ्कटमिति यावत् । १४ त्रिलोकसृष्टिः ।

ततः प्राचीं दिशं जेतुं कृतोद्योगो निशांपतिः । प्रथमौ प्राङ्मुखो भूया चक्ररत्नमनुव्रजन् ॥८८॥
 चक्रमस्य उज्ज्वलव्योम्नि प्रयाति स्म पुरीं दिशो^१ । सूर्यं परिव्रजन्^२ विश्वमास्त्रं द्विजन्मास्त्रम् ॥८९॥
 चक्रानुयायि तद्भजे^३ निधीनामीशितुर्वलम् । गुरोरिच्छानुवर्तिष्णु मुनीनामिव मण्ड^४म् ॥९०॥
 दण्डरत्नं पुरोधाय सेनानीरघोरभूत । स्थण्डानि^५ समीकुर्वन् स्थलदुर्गाण्ययन्तः ॥९१॥
 अग्रग्या दण्डरत्नेन पथि राजपथीकृते । यथेष्टं प्रययौ मेन्यं कचिदप्यहवल्दृशानि ॥९२॥
 ततोऽधुनि दिशामीशः सोऽपश्यच्छारदीं श्रियम् । दिशां प्रसाधनीं कीर्तिमागम्यामिव निर्मलाम् ॥९३॥
 मरांश्चि कालामोदमुद्रमस्ति शरच्चक्षुः । सुस्थापितानि संप्रेक्ष्य सोऽभ्यनन्ददर्शशिना ॥९४॥
 यं हंसात् मरयां तारिष्वपश्यत् कृतशिक्षनान्^६ । मृणालरूपमसंबुद्धान्^७ शरदः पुष्पकानिव ॥९५॥
 नञ्चवा मृणालमुत्पन्नं हंसो हंस्यै समप्ययन् । राजहंसस्य^८ हृदयस्य^९ महतीं धृतिमाददे ॥९६॥
 मर्षिणीं^{१०} चोच्चिरुद्धामपश्यन् परितः^{११} सरः । कोकः^{१२} कोकयमानोऽस्थ मनसः प्रीतिमातनोम् ॥९७॥
^{१३} हंसयुगध्वजकिञ्जल्करजःपिञ्जरितो निजाम् । बभूव विभूतां^{१४} सोऽपश्यच्चक्रवार्कविशङ्कया ॥९८॥
 मरुद्भयवर्त्याभूतविग्रहां कोककामिनीम् । व्यामोहादनुधावन्तं स^{१५} जरद्वंसमैश्वर्य ॥९९॥
 नदीपुलिङ्गदेशेषु हंससारमहारिपु । शयनेष्विव तस्यासीत् धृतिः शुचिमसीमसु^{१६} ॥१००॥

तदनन्तर जिन्होंने सबसे पहले पूर्व दिशाको जीतनेका उद्योग किया है । ऐसे महाराज भरतने चक्ररत्नके पीछे-पीछे जाते हुए पूर्वकी ओर मुख कर प्रयाण किया ॥ ८८ ॥ सूर्यमण्डल-के समान दीदीप्यमान और चारों ओरसे देव लोगोंके द्वारा घिरा हुआ जाड्वल्यमान चक्ररत्न आकाशमें भरतेश्वरके आगे-आगे चल रहा था ॥८९॥ जिस प्रकार मुनियोंका समूह गुल्की इच्छानुसार चलता है उसी प्रकार निधियोंके स्वामी महाराज भरतकी वह सेना चक्ररत्नकी इच्छानुसार उसके पीछे चल रही थी ॥ ९० ॥ दण्डरत्नको आगे कर सेनापति सबसे आगे चल रहा था और वह ऊँचे-नीचे दुर्गम वनस्थलोंको लीलापूर्वक एक-सा करता जाता था ॥ ९१ ॥ आगे चलनेवाला दण्डरत्न सब मार्गको राजमार्गके समान विस्तृत और सम करता जाता था इसलिए वह सेना किसी भी जगह खलित न होती हुई इच्छानुसार जा रही थी ॥९२॥ तदनन्तर मार्गमें प्रजापति—भरतने दिशाओंको अलंकृत करनेवाली अपनी कीर्तिके समान निर्मल मरुद्भूतकी शोभा देखी ॥९३॥ शरद्वृक्षतुल्य लक्ष्मीके मुखके समान जो सरोवर कमलकी सुगन्धि छोड़ रहे थे उन्हें देखकर महाराज भरत बहुत ही प्रसन्न हुए ॥ ९४ ॥ सरोवरोंके किनारेपर मधुर शब्द करते हुए और मृणालरूपी मक्खन खाकर पुष्ट हुए हंसोंको भरतेश्वरने शरद्वृक्षतुके पुष्पोंके समान देखा ॥ ९५ ॥ जो हंस अपनी चोंचसे मृणालको उठाकर हंसीके लिए दे रहा था उसने, सब राजाओंमें श्रेष्ठ इन भरत महाराजके हृदयमें बड़ा भारी सन्तोष उत्पन्न किया था ॥९६॥ जो चकवा लहरोसे रुकी हुई चकवीको न देखकर सरोवरके चारों ओर शब्द कर रहा था उसने भी भरतके मनकी प्रीतिको अत्यन्त विस्तृत किया था ॥ ९७ ॥ एक तरफ हंसने कमल केशरकी धूलिसे पीली हुई अपनी हंसीको चकवी समझकर भूलसे छोड़ दिया था महाराज भरतने यह भी देखा ॥ ९८ ॥ लहरोसे जिसका शरीर सफेद हो गया है ऐसी चकवीको हंसी समझकर और उसपर मोहित होकर एक वृद्ध हंस उसके पीछे-पीछे दौड़ रहा था — महाराज भरतने यह भी देखा ॥ ९९ ॥ जिनकी सीमाएँ अत्यन्त पवित्र हैं जो हंस तथा

१ पूर्वाम् । २ परिव्रजन् ल० । ३ सूर्यविम्बम् । ४ तद्भजे ल० । ५ निम्नोन्नतानि । ६ शिक्षितान् प०, द०, ल० । ७ क्षीरनवनीत । स्वपयोनवनीतमित्यर्थः । ८ राजश्रेष्ठस्य । ९ हृदये । १० प्रियाम् । ११ सरसः समजात् । १२ भृशं स्वरं कुर्वणः । १३ तरुणहंसेन । १४ अवजालाम् । १५ चक्री । १६ शुचित्वस्यावधिपु ।

‘रोधोलताशिखोत्सृष्टपुष्पप्रकटशोभिनीः । सरितीरभुवोऽदर्शज्जलोप्युवासरद्विगताः ॥१०१॥
लतालयेषु रम्येषु रतिरस्य प्रपश्यतः । स्वयं गताभ्रसूनीवरचितप्रस्तरेष्वभूत् ॥१०२॥
क्वचिल्लतागृहान्तःस्थचन्द्रकान्तशिलाभितान् । स्वयशोगानसंस्मृतान् किन्नरान् प्रभुर्वक्षत ॥१०३॥
क्वचिल्लताः प्रसूनेषु विलीनमधुपाकलीः । विलोक्य स्वस्तकंजीनां तस्मात् प्रियथोषिताम् ॥१०४॥
सुमनोवर्षमासेनुः प्रीत्येषास्थाधिर्नूर्ध्वजम् । पवनाभूतशाखायाः प्रफुल्ला मार्गशायिनः ॥१०५॥
सच्छायां सफलान् तुरुगान् सर्वसंभोग्यसंपदः । मार्गदुमान् समद्वार्धीत् स नृपाननुकुर्वतः ॥१०६॥
सरस्तीरभुवोऽपश्यत् सरोजरजसा तताः । सुवर्णकुट्टिमाशङ्कामप्यन्यहृदि सम्बर्षीः ॥१०७॥
वलरेणुभिरालङ्घ्ये दोषांमन्ये नमस्यसौ । कर्णं रुदतीं वीक्षाम्बुके चक्राङ्कमिनीम् ॥१०८॥
गवां गणानथापश्यद्गोप्यदारण्यं चारिणः । क्षीरमेघानिवाजत्वं क्षरक्षीरप्लुतान्तिकान् ॥१०९॥
सौरभयान् स श्रद्धाप्रसमुत्पातस्थलाम्बुजान् । मृणालानि यशांसीव किरतोऽपश्यदुन्मदान् ॥११०॥

सारस आदि पक्षियोसे मनोहर हैं, और जो बिछी हुई शय्याओंके समान जान पड़ते हैं ऐसे नदी-किनारेके प्रदेशोंपर महाराज भरतको भारी सन्तोष हुआ ॥१००॥ जो किनारेपर लगी हुई लताओंके अग्रभागसे गिरे हुए फूलोंके समूहसे सुशोभित हो रही हैं और जो जलके प्रवाहसे उठी हुई लहरोसे व्याप्त हैं ऐसी नदियोंके किनारेकी भूमि भी भरतेश्वरने बड़े प्रेमसे देखी थी ॥१०१॥ जिनमें अपने-आप गिरे हुए फूलोंके समूहसे शय्याएँ बनी हुई हैं ऐसे रमणीय लतागुहोंको देखते हुए भरतको उनमें भारी प्रीति उत्पन्न हुई थी ॥१०२॥ उन भरत महाराजने कहीं-कहींपर लतागुहोंके भीतर पड़ी हुई चन्द्रकान्त मणिकी शिलाओंपर बैठे हुए और अपना प्रशंगान करनेमें लगे हुए किन्नरोंको देखा था ॥१०३॥ कहीं-कहींपर लताओंके फूलोंपर बैठे हुए भ्रमरोंके गुहोंको देखकर जिनकी चोटियाँ झोली होकर नीचेकी ओर लटक रही हैं ऐसी प्रिय स्त्रियोंका स्मरण करता था ॥१०४॥ जिनकी शाखाओंके अग्रभाग वायुसे हिल रहे हैं ऐसे फूल हुए मार्गके वृक्ष मानो बड़े प्रेमसे ही भरत महाराजके मस्तकपर फूलोंकी वर्षा कर रहे थे ॥१०५॥ वह भरत मार्गके दोनों ओर लगे हुए जिन वृक्षोंको देखते जाते थे वे वृक्ष राजाओंका अनुकरण कर रहे थे क्योंकि जिस प्रकार राजा सच्छाय अर्थात् उत्तम कान्तिसे सहित होते हैं उसी प्रकार वे वृक्ष भी सच्छाय अर्थात् उत्तम छांहरिसे सहित थे, जिस प्रकार राजा सफल अर्थात् अनेक प्रकारकी आयसे सहित होते हैं उसी प्रकार वे वृक्ष सफल अर्थात् अनेक प्रकारके फलोंसे सहित थे, जिस प्रकार राजा तुंग अर्थात् उदार प्रकृतिके होते हैं उसी प्रकार वे वृक्ष भी तुंग अर्थात् ऊँचे थे और जिस प्रकार राजाओंकी सम्पदाएँ सबके उपभोगमें आती हैं उसी प्रकार उन वृक्षोंकी फल पुष्प पल्लव आदि सम्पदाएँ भी सबके उपभोगमें आती थीं ॥१०६॥ जो सरोवरोंके किनारेकी भूमियाँ कमलोंकी परागसे व्याप्त हो रही थीं और इसीलिए जो पथिकोंके हृदयमें ‘क्या यह सुवर्णकी धूलियोंसे व्याप्त हैं,’ इस प्रकार शंका कर रही थीं; उन्हें भी महाराज भरत देखते जाते थे ॥१०७॥ सेनाकी धूलिसे भरे हुए और इसीलिए रात्रिके समान जान पड़नेवाले आकाशमें रात्रि समझकर रोती हुई चकवीको देखकर महाराज भरतके हृदयमें बड़ी दया उत्पन्न हो रही थी ॥१०८॥ कुछ आगे चलकर उन्होंने जंगलोंकी गोचरभूमिमें चरते हुए गायोंके समूह देखे, वे गायोंके समूह दूधके मेघोंके समान निरन्तर सरते हुए दूधसे अपनी सम्भोगवर्ती भूमिको तर कर रहे थे ॥१०९॥ जिन्होंने अपने सींगोंके

१ तटलता । २ कूटं रोधश्च तीरश्च तटं त्रिप् इत्यभिधानात् । ३ केशेषु । ४ रजसा-ल० । ५ आत्मानं दोषां रात्रि मन्यते इति । ६ क्रिशाविशेषणानां नपुंसकत्वं द्वितीया वक्तव्या । ७ आलुलोंके । ८ गोगम्यवन ।

वात्सर्क क्षीरसंपोषादिव निर्मलमिन्द्रहम् । सोऽपश्यन्नापलस्येव परां कोटिं कृतोत्प्लुतिम् ॥१११॥

स पक्कगिज्ञानमकलमक्षेत्रमैक्षत । मौढ्यं फलयोगीति नृणां वक्तुमिवोद्यतम् ॥११२॥

वप्रान्तं भुवसाग्राभुमिवोत्पलमिवानतान्^१ । स कैदार्येषु^२ कलमान् वीक्ष्यानन्दं परं ययौ ॥११३॥

फलानतान् स्तम्भकरान् सोऽपश्यद् वप्रभूमिषु । स्वजन्महेतून् केदाराश्रमस्यत इवादरात् ॥११४॥

आसीत्पयसः प्राज्यक्षीरा लोकोपकारिणीः । पयस्विनीरिवापश्यत् प्रसूताः शालिसंपदः ॥११५॥

अवतस्वितनीलाब्जाः कञ्जरेणुश्रितस्तनीः । इक्षुदण्डभृतोऽपश्यच्छालीश्वोत्कुर्वतीः^३ स्त्रियः ॥११६॥

हारिणीतस्वनाकुर्वन्नेष्टिता हंसमण्डलैः । शालिगोण्यो दशीरस्य मुदं तेनुर्वधुटिकाः ॥११७॥

कृताध्वगोपरोधानि गीतानि दधतीः सर्ताः । न्यस्तावतंसाः कणिशैः शालिगोपीदंशं सः ॥११८॥

सुगन्धिमुखनिःश्वासा भ्रमरोरकुलीकृताः । मनोऽस्य जडः शालीनां पालिकाः कलबालिकाः ॥११९॥

उपार्थं^४ प्रहृतक्षेत्रान् क्षत्रिणः परिधावतः । गलापरोक्षायस्तानैः शलासां^५ सकीलुकम् ॥१२०॥

अप्रभागसे स्थलकमल उखाड़ डाले हैं और जो अपने यशके समान उनकी मृणालोंको जहाँ-तहाँ फेंक रहे हैं ऐसे उन्मत्त ब्रैल भी भरत महाराजने देखे थे ॥११०॥ दूधसे पालन-पोषण होनेके कारण ही मानो जिनका निर्मल-सफेद शरीर है, जो चंचलताकी अन्तिम सीमाके समान जान पड़ते हैं और जो बार-बार उछल-कूद रहे हैं ऐसे गायोंके बछड़ोंके समूह भी भरतेश्वर देखते जाते थे ॥१११॥ भरत महाराज पकी हुई बालोंसे नम्रीभूत हुए धानोंके खेत भी देखते जाते थे, उस समय वे खेत ऐसे मालूम होते थे मानो 'लोगोंको उद्धतपना फल देनेवाला नहीं है' यही कहनेके लिए तैयार हुए हों ॥११२॥ जो खेतके भीतर उत्पन्न हुए कमलोंको सूँघनेके लिए ही मानो नम्रीभूत हो रहे हैं ऐसे खेतोंमें लगे हुए धानके पौधोंको देखकर भरत महाराज परम आनन्दको प्राप्त हो रहे थे ॥११३॥ उन्होंने खेतकी भूमियोंमें फलोंके भारसे झुके हुए धानके उन पौधोंको भी देखा था जो कि अपने जन्म देनेके कारण खेतोंको बड़े आदरके साथ नमस्कार करते हुए-से जान पड़ते थे ॥११४॥ उन्होंने जहाँ-तहाँ फैली हुई धानरूप सम्पदाओंको गायोंके समान देखा था, क्योंकि जिस प्रकार गायें जल पीती हैं उसी प्रकार धान भी जल पीते हैं (जलसे भरे हुए खेतोंमें पैदा होते हैं) जिस प्रकार गायोंमें उत्तम दूध भरा रहता है उसी प्रकार धानोंमें भी पकनेके पहले दूध भरा रहता है और गायें जिस प्रकार लोगोंका उपकार करती हैं उसी प्रकार धान भी लोगोंका उपकार करते हैं ॥११५॥ जिन्होंने नालसहित कमलोंको अपने कर्णका आभूषण बनाया है, कमलकी पराग जिनके स्तनोंपर पड़ रही है, जो हाथमें ईखका दण्डा लिये हुए हैं और जो धान रखानेके लिए 'छो-छो' शब्द कर रही हैं ऐसी स्त्रियोंको भी उन्होंने देखा था ॥११६॥ जो अपने मनोहर गीतोंके शब्दोंसे खिचकर आये हुए हंसोंके समूहोंसे घिरी हुई हैं ऐसी धानकी रक्षा करनेवाली नवीन स्त्रियाँ भरत महाराजके नेत्रोंका आनन्द बढ़ा रही थीं ॥११७॥ जो पथिकोंको रोकनेवाले सुन्दर गीत गा रही हैं और जिन्होंने धानकी बालोंसे कर्णभूषण बनाकर धारण किये हैं ऐसी धानकी रखानेवाली स्त्रियोंको भरतने बड़े प्रेमसे देखा था ॥११८॥ जो अपने मुखकी सुगन्धित निःश्वाससे आये हुए भ्रमरोसे व्याकुल हो रही हैं ऐसी धान रखानेवाली सुन्दर लड़कियाँ महाराज भरतके मनको हरण कर रही थीं ॥११९॥ जो सेनाके लोगोंसे मार्गके समीपवर्ती खेतोंकी रक्षा करनेके लिए उनके

१ भुवः अन्तः अन्तर्भुवम् । २ -मेवानतान् ल०, इ०, प० । ३ सस्यक्षेत्रसमूहेषु । ४ धेनुः । ५ स वर्तसित-इ० । ६ उरकपर्णान् कुर्वतीः । ७ कुलबालिकाः ल०, इ०, द० । ८ मार्गसमीपे । ९ कृत । १० क्लेशितान् ।

उपशक्त्यभुवोऽद्वाक्षीन्निगमानभिन्तां विभुः ।^१ केदारलावैराकीर्णाः स भ्रातृभूमिः कृषीवलैः ॥१२१॥
 सोऽपश्यन्निगमोपान्तै पथः^२ संश्यानकर्ममान्^३ । प्रव्यक्तगोसुरक्षोदस्थपुटानतिसङ्कटान् ॥१२२॥
 निगमाप् परितोऽपश्यद् ग्राममुत्थ्वान्^४ महाबलान्^५ । पयस्विनो^६ जनैः सेव्यान् महारामतरुनपि ॥१२३॥
 ग्रामान् कुक्कुटसम्पाद्यान् सोऽत्यगाद् वृत्तिमिर्वृतान् ।^७ कोशातकीलतापुष्पस्थगिताभिरितोऽमुतः ॥१२४॥
^८ कुटीपरिसरेष्वस्य घृतिरासीत् प्रपश्यतः । फलपुष्पानता बल्लीः प्रसवाख्याः^९ सर्तारपि ॥१२५॥
 योषितो^{१०} निष्कमालानिर्वर्त्यैश्च विभूषिताः । पश्यतोऽस्य मनो गह्वर्धामीणाः^{११} संश्रिता वृत्तीः^{१२} ॥१२६॥
^{१३} ईषद्गङ्गानकलशैर्दध्नामपि निहित्रकैः^{१४} । ग्रामेषु फलमेदैश्च तमद्राक्षुर्महत्तराः ॥१२७॥
 ततो विनूरमुल्लङ्घ्य सोऽध्वानं^{१५} पृतनावृतः । गङ्गामुपासद् वीरः^{१६} प्रयागैः^{१७} कतिधरपि ॥१२८॥
 हिमवद्विधत्तां पूज्यां^{१८} सतामालिन्धुगामिनीम् । शुषिप्रवाहामाकल्पवृत्तिं कतिमिवात्मनः ॥१२९॥
^{१९} शफरीप्रेक्षणमुद्यत्तरङ्गभूचिन्तनम् । वनराजावृहच्छाटीपरिधानां वधूमिव ॥१३०॥

चारों ओर दौड़ रहे हैं और सेनाके लोगोंकी जबरदस्ती करनेपर खेदखिन्न हो रहे हैं, ऐसे खेतोंके मालिक किसानोंको भी भरतेद्वरने बड़े कौतुकके साथ देखा था ॥१२०॥ जो खेत काटनेवाले इधर-उधर घूमते हुए किसानोंसे व्याप्त हो रही हैं ऐसी प्रत्येक ग्रामोंके चारों ओरकी निकट-वर्ती भूमियोंको भी भरतेद्वरने देखा था ॥१२१॥ जो स्पष्ट दिखनेवाले गावोंके खुरोंके चिह्नोंसे ऊँचे-नीचे हो रहे हैं और जो अत्यन्त सवाड़े हैं ऐसे कुछ-कुछ कोचड़से भरे हुए गाँवके समीपवर्ती मार्गोंको भी भरत महाराज देखते जाते थे ॥१२२॥ उन्होंने ग्रामोंके चारों ओर खड़े हुए महाबलवान् गाँवके मुखिया लोगोंको देखा था तथा पक्षी तिर्यच और मनुष्योंके द्वारा सेवा करने योग्य बड़े-बड़े बगीचोंके वक्ष भी देखे थे ॥१२३॥ जो जहाँ-तहाँ लीकी अथवा तुरईकी लताओंके फूलोंसे ढकी हुई वाड़ियोंसे घिरे हुए हैं और जिनपर एकसे दूसरेपर मुरगा भी उड़कर जा सकता है ऐसे गावोंको वे दूरसे ही छोड़ते जाते थे ॥१२४॥ झोंपड़ियोंके समीपमें फल और फूलोंसे झुकी हुई लताओंको तथा पुत्रोंसे युक्त सती स्त्रियोंको भी देखते हुए महाराज भरतको बड़ा आनन्द आ रहा था ॥१२५॥ जो सुवर्णकी मालाओं और कड़ोंसे अलंकृत हैं तथा वाड़ियोंकी ओटमें खड़ी हुई हैं ऐसी गाँवोंकी स्त्रियाँ भी देखनेवाले भरतका मन हरण कर रही थीं ॥१२६॥ गाँवोंके बड़े-बड़े लोग धीके घड़े, दहीके पात्र और अनेक प्रकारके फल भेंट कर उनके दर्शन करते थे ॥१२७॥

तदनन्तर धीरवीर भरत सेनासहित कितनी ही मंजिलों-द्वारा लम्बा मार्ग तय कर गंगा नदीके समीप जा पहुँचे ॥१२८॥ वहाँ जाकर उन्होंने गंगा नदीको देखा, जो कि उनकी कीर्तिके समान सुशोभित हो रही थी क्योंकि जिस प्रकार उनकी कीर्ति हिमवान् पर्वतसे धारण की गयी थी उसी प्रकार गंगा नदी भी हिमवान् पर्वतसे धारण की गयी थी, जिस प्रकार उनकी कीर्ति पूज्य और उत्तम थी उसी प्रकार गंगा नदी भी पूज्य तथा उत्तम थी, जिस प्रकार उनकी

१ ग्रामान्तभुक् । “ग्रामान्त उपशक्त्य स्यात्” इत्यभिधानात् । २ केदारान् लुनन्तीति केदारलावास्तैः । ३ मार्गान् । ४ ईषद्वाङ्मर्कमान् । ५ ग्राममहत्तरान् । ६ महाबलान् ६०, ६० । ७ वयस्तिरोजनैः ल० । क्षीरोपायनान् क्षीरिणश्च । ८ महाग्राम-इत्यपि क्वचित् । ९ पटोरिका । ‘कोशातकी ज्योत्स्निकायामपामार्गेऽपि सा भवेत्’ इत्यभिधानात् । १० गृह । ११ पुत्रैराढ्या । १२ सुवर्णमालाभिः । १३ ग्रामे भवाः । १४ ‘संवृतावृत्तीः संसृतासृतीः’ इत्यपि क्वचित् । १५ घृतकुम्भैः । १६ भाजनविशेषैः । १७ - सद्वृषीरः ६० । १८ कतिपयैः । १९ सती-ल० । २० मीननेत्राम् ।

विस्तीर्णैर्जलसंभोगैः कृजद्वंसास्त्रिमेखलेः । तरङ्गवसनैः कान्ता^१ पुलिनैर्जघनैरिव ॥१३१॥
 'लोलांसिहस्तनिर्धूतपक्षिमालाकलस्वनैः । किमप्यालपितुं यत्नं तन्वस्ती वा तद्वस्मैः ॥१३२॥
 शर्त्ता^२ वैन्येमदन्तानां^३ रोभोजघनवर्तिनीः । स्नन्वतीमब्धिमोह्येव लसदूर्मिदुकूलकैः ॥१३३॥
 रोमराजीमिवानीलां वनराजीं विवृण्वतीम् । तिष्ठमानामिवावर्तयन्तनामिमुदन्वते ॥१३४॥
 विलोलवाचिसंघट्टादुत्थितां पतगावलम् । पताकामिव बिभ्राणां लब्धां सर्वापगाजयात् ॥१३५॥
 समांसमीनां^४ पर्याप्तपयसं धीरनिःस्वनाम् । जगतां पावनीं मान्यां हसन्तीं गोमतल्लिकाम्^५ ॥१३६॥
 गुरुप्रवाहप्रसृतां तीर्थकामैरुपासिताम् । गम्भीरशब्दसंभूतिं^६ जैनीं श्रुतिमिवामलात् ॥१३७॥

कीर्ति समुद्र तक गमन करनेवाली थी उसी प्रकार गंगा नदी भी समुद्र तक गमन करनेवाली थी, जिस प्रकार उनकी कीर्तिका प्रवाह पवित्र था उसी प्रकार गंगा नदीका प्रवाह भी पवित्र था और जिस प्रकार उनकी कीर्ति कल्पान्त काल तक टिकनेवाली थी उसी प्रकार गंगा नदी भी कल्पान्त काल तक टिकनेवाली थी । अथवा जो गंगा किसी स्त्रीके समान जान पड़ती थी, क्योंकि मछलियाँ ही उसके नेत्र थे, उठती हुई तरंगें ही भौंहोंका नचाना था और दोनों किनारोंके वनकी पंक्ति ही उसकी साड़ी थी । जो स्त्रियोंके जघन भागके समान सुन्दर किनारों-से सहित थी, उसके वे किनारे बहुत ही बड़े थे । शब्द करती हुई हंसोंकी माला ही उनकी करघनी थी और लहरें ही उनके वस्त्र थे ।—चंचल लहरोंरूपी हाथोंके द्वारा उड़ाये हुए पक्षि-समूहोंके मनोहर शब्दोंसे जो ऐसी जान पड़ती थी मानो किनारेके वृक्षोंके साथ कुछ वार्तालाप करनेके लिए प्रयत्न ही कर रही हो ।—जो अपनी छलकती हुई लहरोंसे ऐसी जान पड़ती थी मानो तटरूपी नितम्ब प्रदेशपर जंगली हाथियोंके द्वारा किये हुए दाँतोंके घावोंको समुद्ररूप पत्तिके डरसे शोभायमान लहरोंरूपी वस्त्रमे ढँक ही रही हो । जो दोनों ओर लगी हुई हरी-भरी वनश्रेणियोंके प्रकट करने तथा साफ-साफ दिखाई देनेवाली भँवरोसे ऐसी जान पड़ती थी मानो किसी स्त्रीकी तरह अपने समुद्ररूप पत्तिके लिए रोमराजि और नाभि ही दिखला रही हो ।—जो चंचल लहरोंके संघटनसे उड़ी हुई पक्षियोंकी पंक्तिको धारण कर रही थी और उससे ऐसी जान पड़ती थी मानो सब नदियोंको जीत लेनेसे प्राप्त हुई विजयपताकाको ही धारण कर रही हो । जो किसी उत्तम गायकी हँसी करती हुई-सी जान पड़ती थी क्योंकि जिस प्रकार उत्तम गाय समांसमीना अर्थात् प्रति वर्ष प्रसव करनेवाली होती है उसी प्रकार वह नदी भी समांस-मीना अर्थात् परिपुष्ट मछलियोंसे सहित थी, जिस प्रकार उत्तम गायमें पर्याप्त पय अर्थात् दुध होता है उसी प्रकार उस नदीमें भी पर्याप्त पय अर्थात् जल था, जिस प्रकार उत्तम गाय गम्भीर शब्द करती है उसी प्रकार वह भी गम्भीर कल-कल शब्द कर रही थी, उत्तम गाय जिस प्रकार जगत्को पवित्र करनेवाली है उसी प्रकार वह भी जगत्को पवित्र करनेवाली थी और उत्तम गाय जिस प्रकार पूज्य होती है उसी प्रकार वह भी पूज्य थी । अथवा जो जिनवाणीके समान जान पड़ती थी क्योंकि जिस प्रकार जिनवाणी गुरु-प्रवाह अर्थात् आचार्य परम्परासे प्रसृत हुई है उसी प्रकार वह भी गुरुप्रवाह अर्थात् बड़े भारी जलप्रवाहसे प्रसृत हुई थी—प्रवाहित हुई थी । जिस प्रकार जिन वाणी तीर्थ अर्थात् धर्मको इच्छा करनेवाले पुरुषों

१ कान्तैः ल० । २ दाहर्गमि-न० । ३-वैन्यमः ल० । ४ तीर । ५ प्रदर्शयन्तीम् । ६ मांसभक्षक-मीनसङ्गिताम् । प्रतिवर्षं गर्भं गृह्णन्तीम् । 'समांसमीना सा यैव प्रतिवर्षं प्रसूयते' । ७ प्रशस्तताम् । गोमर्वाविकाम् ल०, ३०, ३० ।

राजहंसैः^१ कृतोपास्यामलङ्घ्यां विष्टतायतीम्^२ । जयलक्ष्मीमिव स्फीतामात्मीयामब्धिगामिनीम् ॥१३८॥

विलसत्पद्मसंभूतां^३ जनतानन्ददायिनीम् । जगद्भोग्यामिवात्मीयां श्रियमायतिशालिनीम् ॥१३९॥

विजयार्धतटाकाम्^४ कृतश्लाघां^५ सुरहंसम्^६ । अमग्नप्रसरं दिव्यां निजामिव पताकिनीम् ॥१४०॥

व्यालोलोर्मिकरास्पृष्टैः^७ स्वतीरवनपादपैः । दधन्मिरङ्कुरोद्भेदं^८ माश्रितां कासुकैरिव ॥१४१॥

रोधोलतालयासीनान्^९ स्वेच्छया सुरदम्पतीन् । हसन्तामिव सुध्वानैः^{१०} शीकरोत्पैर्विसारिभिः ॥१४२॥

किञ्चराणां कलकषाणैः^{११} सगानैरुपवीणितैः । सेव्यपर्यन्तभूमागलतामण्डपमण्डनाम् ॥१४३॥

के द्वारा उपासित होती है उसी प्रकार वह भी तीर्थ अर्थात् पवित्र तीर्थ-स्थानकी इच्छा करनेवाले पुरुषोंके द्वारा उपासित होती अथवा किनारेपर रहनेवाले मनुष्य उसमें स्नान आदि किया करते थे, जिस प्रकार जिनवाणीसे गम्भीर शब्दोंकी उत्पत्ति होती है उसी प्रकार उसमें भी गम्भीर अर्थात् बड़े जोरके शब्दोंकी उत्पत्ति होती थी, और जिस प्रकार जिनवाणी मल अर्थात् पूर्वापर विरोध आदि दोषोंसे रहित होती है उसी प्रकार वह भी मल अर्थात् कीचड़ आदि गंदले पदार्थों-से रहित थी ।—अथवा जो अपनी (भरतकी) विजयलक्ष्मीके समान जान पड़ती थी क्योंकि जिस प्रकार विजयलक्ष्मीकी उपासना राजहंस अर्थात् बड़े-बड़े राजा लोग करते थे उसी प्रकार उस नदीकी भी उपासना राजहंस अर्थात् एक प्रकारके हंसविशेष करते थे, जिस प्रकार जय-लक्ष्मीका कोई उल्लंघन-अनादर नहीं कर सकता था उसी प्रकार उस नदीका भी कोई उल्लंघन नहीं कर सकता था, जयलक्ष्मीका आयति अर्थात् भविष्यत्काल जिस प्रकार स्पष्ट प्रकट था इसी प्रकार उसकी आयति अर्थात् लम्बाई भी प्रकट थी, जयलक्ष्मी जिस प्रकार स्फीत अर्थात् विस्तृत थी उसी प्रकार वह भी विस्तृत थी और जयलक्ष्मी जिस प्रकार समुद्र तक गयी थी उसी प्रकार वह गंगा भी समुद्र तक गयी हुई थी । अथवा जो भरतकी राज्यलक्ष्मीके समान मालूम होती थी क्योंकि जिस प्रकार भरतकी राज्यलक्ष्मी शोभायमान पद्म अर्थात् पद्म नामकी निधिसे उत्पन्न हुई थी उसी प्रकार वह नदी भी पद्म अर्थात् पद्म नामके सरोवरसे उत्पन्न हुई थी, भरतकी राज्यलक्ष्मी जिस प्रकार जनसमूहको आनन्द देनेवाली थी उसी प्रकार वह भी जनसमूहको आनन्द देनेवाली थी, भरतकी राज्यलक्ष्मी जिस प्रकार जगत्के भोगने योग्य थी उसी प्रकार वह भी जगत्के भोगने योग्य थी, और भरतकी लक्ष्मी जिस प्रकार आयति अर्थात् उत्तरकालसे सुशोभित थी उसी प्रकार वह आयति अर्थात् लम्बाईसे सुशोभित थी ।—अथवा जो भरतकी सेनाके समान थी, क्योंकि जिस प्रकार भरतकी सेना विजयार्ध पर्वतके तटपर आक्रमण करनेसे प्रशंसाको प्राप्त हुई थी उसी प्रकार वह नदी भी विजयार्ध पर्वतके तटपर आक्रमण करनेसे प्रशंसाको प्राप्त हुई थी (गंगा नदी विजयार्ध पर्वतके तटको आक्रान्त करती हुई बही है) जिस प्रकार भरतकी सेनाका वेग तेज था उसी प्रकार उस नदीका वेग भी तेज था । जिस प्रकार भरतकी सेनाके फैलावको कोई नहीं रोक सकता था उसी प्रकार उसके फैलावको भी कोई नहीं रोक सकता था और भरतकी सेना जिस प्रकार दिव्य अर्थात् सुन्दर थी उसी प्रकार वह नदी भी

१ सेवाम् । २ विष्टतायतीम् ल० । ३ पद्महृदे जाताम् । पक्षे निधिविशेषजाताम् । ४ आक्रमण । ५ श्लाघ्यां ल०, इ० । ६ सुध्वानम् । ७ रोमाञ्चम् । ८ तीरलतागृहस्थितान् । ९ सुध्वानैः ल० । स्वध्वानैः इ० ।

हारिभिः किञ्चरोत्सीतैराहूता हरिणाङ्गनाः । दधती तीक्ष्णच्छेषु प्रसारितगङ्गाङ्गाः^१ ॥१४४॥
 हयैः समारसारैः पुष्पैर्दिव्ययोषिताम् । नितम्बानि सकाञ्चानि हसन्तीमिव विस्तृतः^२ ॥१४५॥
 चतुर्दशभिरन्विता सहस्रैरन्वियोषिताम् ।^३ सङ्घर्षार्चानामिवाङ्गावि^४ आहूनां परिभ्रमणं ॥१४६॥
 इत्यादिपङ्क्तिसंशोभां^५ जाह्नवीमैश्वर्यं प्रभुः । हिमवद्गिरिणाग्भोधेः प्रहितामिव कण्ठिकाम् ॥१४७॥

मालिनीवृत्तम्

शरवुप^१ हितकान्तिं प्रभक्तकान्तारराजी-

विरचितपरिधानां सैकतारोहरस्याम् ।

युवतिमिव गर्भीरावर्तनामि प्रपश्यन्

प्रमदमलुलमूढे क्षमावतिः स्वःस्वदन्ताम् ॥१४८॥

सरसिजमकरन्दोद्गमिविराधूतरोधो-

ततस्त्रिसलयमध्यां दालनोद्वहमाग्न्यः ।

असकृदमरसिन्धोराधुमानस्तरङ्गा-

नद्धत नृपधूनामध्वग्धेदं समारः ॥१४९॥

सुन्दर थी । जो चंचल लहरोंरूपी हाथोंसे स्पर्श किये गये और अंकुररूपी रोमांचोंको धारण किये हुए अपने किनारेके वनके वृक्षोंसे आश्रित थी और उससे ऐसी मान्दूम होती थी मानो कामी जनोंसे आश्रित कोई स्त्री हो हो । - जो जलकणोंसे उत्पन्न हुए तथा चारों ओर फैलते हुए मनोहर शब्दोंसे अपनी इच्छानुसार किनारेपर-के लतागृहोंमें बंठे हुए देव-देवांगनाओंकी हँसी करती हुई-सी जान पड़ती थी । किन्नरोंके मधुर शब्दवाले गायन तथा वीणाकी अनकारसे सेवनीय किनारेकी पृथिवीपर बने हुए लतागृहोंसे जो बहुत ही अधिक सुशोभित हो रही थी । - किन्नर देवोंके मनोहर गानोंसे बुलायी हुई और मुखसे श्रीवाको लम्बा कर बैठी हुई हरिणियों-को जो अपने किनारेकी भूमिपर धारण कर रही थी । - जिनपर सारस पक्षी कतार बाँधकर मनोहर शब्द कर रहे हैं ऐसे अपने बड़े-बड़े सुन्दर किनारोंसे जो देवांगनाओंके करधनीसहित नितम्बोंकी हँसी करती हुई-सी जान पड़ती थी । - जिन्होंने आलिंगन करनेके लिए तरंगरूपी भुजाएँ ऊपरकी ओर उठा रखी हैं ऐसी सखियोंके समान जो चौदह हजार सहायक नदियोंसे सहित है । - इस प्रकार जिसकी शोभा प्रकट दिखाई दे रही है और जो हिमवान् पर्वतके द्वारा समुद्रके लिए भेजी हुई कण्ठमालाके समान जान पड़ती है ऐसी गंगा नदी महाराज भरतने देखी ॥ १२९-१४७ ॥ शरदऋतुके द्वारा जिसकी कान्ति बढ़ गयी है, किनारेके वनोंकी पंक्ति ही जिसके वस्त्र हैं, जो बालूके टोलेरूप नितम्बोंसे बहुत ही रमणीय जान पड़ती हैं, गम्भीर भँवर ही जिसकी नाभि है और इस प्रकार जो एक तरुण स्त्रीके समान जान पड़ती है ऐसी गंगा नदीको देखते हुए राजा भरतने अनुपम आनन्द धारण किया था ॥ १४८ ॥ जो कमलोंकी मकरन्दसे सुगन्धित है, कुछ-कुछ कम्पित हुए किनारेके वनके पल्लवोंके धीरे-धीरे हिलनेसे जिसका मन्दपना प्रकट हो रहा है और जो गंगा नदीकी तरंगोंको बार-बार हिला रहा

१ तीक्ष्णेषु । २ प्रसारितो भूत्वा सुल्लातिशयेनाधो गलद्गलो यासां ताः । ३ सखीनाम् ।
 ४ वीचिकाहूनां ल० । ५ गङ्गाम् । ६ प्राप्त । ७ सैकतनितम्ब ।

शार्दूलविक्रीडितवृत्तम्

नामाक्रान्तहरिमुखो^१ कृतरजोधृति^२ जगत्पावनी -

मासेभ्यां ^३ द्विजकुण्डैरविरमं संतापविच्छेदिनीम् ।

जैनों कर्तिसिवाततामयमला वाश्रज्जन(गम्भीर)

निध्यायन् विबुधापगां निधिपतिः प्रीतिं परमासदत् ॥ ५५० ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिजक्षणाग्रमहापुराणसंक्षेपे भरतराज-

दित्रिज्ययोद्योगवर्णनं नाम षड्विंशतितमं पर्व ॥२६॥

है ऐसा वहाँका वायु रानियोंके भागके परिश्रमको हरण कर रहा था ॥ १४९ ॥ वह गंगा ठीक जिनेन्द्रदेवकी कीर्तिके समान थी क्योंकि जिस प्रकार जिनेन्द्र देवकी कीर्तिने समस्त दिशाओंको व्याप्त किया है उसी प्रकार गंगा नदीने भी पूर्व दिशाको व्याप्त किया था, जिनेन्द्र भगवान्की कीर्तिने जिस प्रकार रज अर्थात् पापोंका नाश किया है उसी प्रकार गंगा नदीने भी रज अर्थात् धूलिका नाश किया था, जिनेन्द्र भगवान्की कीर्ति जिस प्रकार जगत्को पवित्र करती है उसी प्रकार गंगा नदी भी जगत्को पवित्र करती है, जिनेन्द्र भगवान्की कीर्ति जिस प्रकार द्विज कुंजर अर्थात् श्रेष्ठ ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्योंके द्वारा सेवित है उसी प्रकार गंगा नदी भी द्विज कुंजर अर्थात् पक्षियों और हाथियोंके द्वारा सेवित है, जिनेन्द्र भगवान्की कीर्ति जिस प्रकार निरन्तर संसार-भ्रमण-जन्य सन्तापको दूर करती है उसी प्रकार गंगा नदी भी सूर्यकी किरणोंसे उत्पन्न सन्तापको नष्ट करती थी और जिनेन्द्र भगवान्की कीर्ति जिस प्रकार विस्तृत, निर्मल और सदा लोगोंको आनन्द देनेवाली है उसी प्रकार वह गंगा नदी भी विस्तृत, निर्मल तथा सदा लोगोंको आनन्द देती थी । इस प्रकार उस गंगा नदीको देखते हुए निधियोंके स्वामी भरत महाराज परम प्रीतिको प्राप्त हुए थे ॥ १५० ॥

इस प्रकार आर्य नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत विपट्टिलक्षण महापुराणग्रन्थके हिन्दी-भाषानुवादमें भरतराजकी दिग्विजयके उद्योगको वर्णन करनेवाला छल्लूीसवाँ पर्व पूर्ण हुआ ।

सप्तविंशतितमं पर्व

अथ व्यापारयामास दशं तत्र^१ विनां पतिः । प्रसन्नैः सलिलैः पाशं विसरन्त्यामिवात्मनः ॥१॥
 व्यापारितदशं तत्र प्रभुमालीक्ये सारथिः । प्रासादिसरमिथूने वक्षश्चेतोऽनुरञ्जनम् ॥२॥
 इधमाह्लादितशेषभुवना देवनिस्नगा । रजो विधुनवती भाति भारतीव स्वयंभुवः ॥३॥
 पुनातीयं हिमाद्रिं च सागरं च महानदी । प्रमूर्ता^२ च प्रवेशे च गम्भीरा निर्मलाशया ॥४॥
 इमां वनगजाः प्राप्य निवोन्त्येते^३ मदश्च्युतः^४ । मुनीन्द्रा इव सद्भिर्द्या^५ गम्भीरां तापविषिद्धम् ॥५॥
 इतः पिबन्ति वन्येसाः पयोऽस्याः कृतनिःस्वनाः । इतीऽमी पूरयन्त्येतां मुक्तासाराः शरद्वनाः ॥६॥
 अस्याः प्रवाहमभ्योर्ध्विते^६ गम्भीर्ययोगतः । अशोक्तं विजयार्धेन तुङ्गेनाप्यचलात्मना ॥७॥
 अस्याः पयःप्रवाहेण नूनमधिर्वितृड् भवेत् । क्षारेण पयसा स्वेन दृढमानान्तराशयः ॥८॥
 पद्महृद्दिमवतः प्रसन्नादिव मानसान् । प्रभूता पश्ये पृथ्व्यां शुद्धजन्मा हि पूज्यते ॥९॥
 व्योमापगामिमो प्रादुर्ध्वितः^७ पतितां क्षिती । गङ्गादेवीमृदं विप्रगाप्लाव्य स्वजलाब्जैः ॥१०॥

अथानन्तर वहाँपर जो स्वच्छ जलसे अपने लिए (भरतके लिए) पादोदक प्रदान करती हुई-सी जान पड़ती थी ऐसी गंगा नदीपर महाराज भरतने अपनी दृष्टि डाली ॥ १ ॥ उस समय सारथिने महाराज भरतको गंगापर दृष्टि डाले हुए देखकर चित्तको प्रसन्न करनेवाले निम्नलिखित समयानुकूल वचन कहे ॥ २ ॥ हे महाराज ! यह गंगा नदी ठीक ऋषभदेव भगवान्की वाणीके समान जान पड़ती है, क्योंकि जिस प्रकार ऋषभदेव भगवान्की वाणी समस्त संसारको आनन्दित करती है उसी प्रकार यह गंगा नदी भी समस्त लोकको आनन्दित करती है और ऋषभदेव भगवान्की वाणी जिस प्रकार रज अर्थात् पापोंको नष्ट करनेवाली है उसी प्रकार यह गंगा नदी भी रज अर्थात् धूलिको नष्ट कर रही है ॥ ३ ॥ गम्भीर तथा निर्मल जलसे भरी हुई यह गंगा नदी उत्पत्तिके समय तो हिमवान् पर्वतको पवित्र करती है और प्रवेश करते समय समुद्रको पवित्र करती है ॥ ४ ॥ जिस प्रकार गम्भीर और सन्तापको नष्ट करनेवाली सद्भिद्या (सम्यग्ज्ञान) को पाकर बड़े-बड़े मुनि लोग मद अर्थात् अहंकार छोड़कर मुक्त हो जाते हैं उसी प्रकार ये जंगली हाथी भी इस गम्भीर तथा सन्तापको नष्ट करनेवाली गंगा नदीको पाकर मद अर्थात् गण्डस्थलसे झरनेवाले तोयविशेषको छोड़कर शान्त हो जाते हैं ॥ ५ ॥ इधर ये वनके हाथी शब्द करते हुए इसका पानी पी रहे हैं और इधर जलकी वृष्टि करते हुए ये शरद्वृक्षोंके मेघ इसे भर रहे हैं ॥ ६ ॥ अत्यन्त ऊँचा और सदा निश्चल रहनेवाला विजयार्ध पर्वत भी जिसे धारण नहीं कर सका है ऐसे इसके प्रवाहको गम्भीर होनेसे समुद्र सदा धारण करता रहता है ॥ ७ ॥ सम्भव है कि अपने खारे जलसे जिसका अन्तःकरण निरन्तर जलता रहता है ऐसा समुद्र इस गंगा नदीके जलके प्रवाहसे अवश्य ही व्यासरहित हो जायेगा ॥ ८ ॥ यह गंगा प्रसन्न मनके समान निर्मल हिमवान् पर्वतके पद्म नामक सरोवरसे निकलकर पृथिवीपर प्रसिद्ध हुई है सो ठीक ही है क्योंकि जिसका जन्म शुद्ध होता है वह पूज्य होता ही है ॥ ९ ॥ यह गंगा अपने जलके प्रवाहसे गंगादेवीके घरको चारों ओरसे भिगोकर आकाश-

१ गङ्गायाम् । २ उत्पत्तिस्थाने । ३ सुक्लिनी भवन्ति मुक्ताश्च । ४ मदच्युतः ल० । ५ परमागमरूपम् । ६ सोढुमगक्यम् । दन्तुमशक्नोमितीत्यर्थः । ७ विपतः ल०, इ०, द० ।

विभर्ति हिमवानेनां शशाङ्ककरनिर्मलाम् । आ सिन्धोः प्रसृतां कर्त्तिमिव स्वां लोकावनीम् ॥११॥
 वनराजाद्भवेनेयं विभर्ति तदवतिमा । वाससोरिव सुगन्धेन विनीलेन कृतश्रिया^१ ॥१२॥
 स्वतटाश्रयिणीं धत्ते हंसमालां कलस्वनाम् । काञ्चीमिवेयमम्भोजरजःपिअरविग्रहाम् ॥१३॥
 नदीसर्पारियं स्वच्छं मृणालशकलामलाः । संविभर्ति स्वसादृश्यं सगद्यं श्लाघ्यं हि तादृशम्^२ ॥१४॥
 राजहंसैरियं^३ सेव्या लक्ष्मीरिव विभर्ति ते । तन्वती जगत्तः प्रतिसलङ्घयन्महिमा परैः ॥१५॥
 वनवेदामियं धत्ते समुत्तुङ्गमां हिरण्मयीम् । आशामिव तवालङ्क्यां नमोभार्गविलङ्घिनीम् ॥१६॥
 इतः प्रसीद देवेमां शरलक्ष्मीं विलोकय । वनराजिषु संरुढां^४ सरित्सु सरसीषु च ॥१७॥
 इमे ससच्छदाः पौष्पं विकिरन्ति रजोऽमितः । पट्टवासमिवामोदसंवासितहरिन्मुखम् ॥१८॥
 बाणैः^५ कुसुमबाणस्थ बाणैरिव विक्रासिभिः । ह्रियते^६ कामिनां चेतो रम्यं हारि न कस्य वा ॥१९॥
 विकसन्ति सरोजानि सरस्सु सम्मुखलैः । विक्रासिलोचनानां च वदन्तानि शरच्छिषः ॥२०॥
 पङ्कजेषु विलीयन्ते^७ भ्रमरा गन्धलोलुपाः । कामिनीमुखपद्मेषु कामुका इव काहलाः^८ ॥२१॥
 मनोजशरपुङ्खवाज्यैः पञ्चैर्मधुकरा इमे । विचरन्त्यब्जिनीधण्डे मकरन्दरसोत्सुकाः ॥२२॥

से अर्थात् हिमवान् पर्वतके ऊपरसे पृथिवीपर पड़ी है इसलिए इसे आकाशगंगा भी कहते हैं ॥ १० ॥ जो चन्द्रमाकी किरणोंके समान निर्मल है, समुद्र तक फैली हुई है और लोकको पवित्र करनेवाली है ऐसी इस गंगाको यह हिमवान् अपनी कीर्तिके समान धारण करता है ॥११॥ यह गंगा अपने तटवर्ती दोनों ओरके वनोंसे ऐसी सुशोभित हो रही है मानो इसने नीले रंगके दो वस्त्र ही धारण कर रखे हों ॥१२॥ कमलोंके परागसे जिनका शरीर पीला-पीला हो गया है और जो मनोहर शब्द कर रहा है ऐसी इसकी पंक्तियोंको यह नदी इस प्रकार धारण करती है मानो मन्द-मन्द शब्द करती हुई सुवर्णमय करधनी ही धारण किये हो ॥१३॥ यह नदी स्वच्छ मृणालके टुकड़ोंके समान निर्मल अन्य सखी स्वरूप सहायक नदियोंको अपने-में मिलाकर धारण करती है सो ठीक ही है क्योंकि ऐसे पुरुषोंकी मित्रता ही प्रशंसनीय कहलाती है ॥१४॥ अनेक राजहंस (पक्षमें बड़े-बड़े राजा) जिसकी सेवा करते हैं, जो संसारको प्रेमी उत्पन्न करनेवाली है, और जिसकी महिमा भी कोई उल्लंघन नहीं कर सकता ऐसी यह गंगा आपकी राजलक्ष्मीके समान सुशोभित हो रही है ॥१५॥ जो अत्यन्त ऊँची है, सोनेकी बनी हुई है, आकाश-मार्गको उल्लंघन करनेवाली है और आपकी आज्ञाके समान जिसका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता ऐसी वनवेदिकाको यह गंगा नदी धारण कर रही है ॥ १६ ॥ हे देव, प्रसन्न होइए और इधर वनपंक्तियों, नदियों और तालाबोंमें स्थान जमाये हुई शरदऋतुकी इस शोभाको निहारिए ॥ १७ ॥ ये सप्तपर्ण जातिके वृक्ष अपनी सुगन्धिसे समस्त दिशाओंको सुगन्धित करनेवाले सुगन्धिचूर्णके समान फूलोंकी परागको चारों ओर बिखेर रहे हैं ॥१८॥ इधर कामदेवके बाणोंके समान फूले हुए बाण जातिके वृक्षों-द्वारा कामी मनुष्योंका चित्त अपहृत किया जा रहा है सो ठीक ही है क्योंकि रमणीय वस्तु क्या अपहृत नहीं करती ? अथवा किसे मनोहर नहीं जान पड़ती ? ॥ १९ ॥ इधर तालाबोंमें नील कमलोंके साथ-साथ साधारण कमल भी विकसित हो रहे हैं और जो ऐसे जान पड़ते हैं मानो जिनमें नेत्र विकसित हो रहे हैं ऐसे शरदऋतुरूपी लक्ष्मीके मुख ही हों ॥२०॥ इधर ये कुछ-कुछ अव्यक्त शब्द करते हुए सुगन्धके लोभी भ्रमर कमलोंमें उस प्रकार निलीन हो रहे हैं जिस प्रकार कि चाटुकारी करते हुए कामी जन स्त्रियोंके मुखरूपी कमलोंमें निलीन—आसक्त होते हैं ॥ २१ ॥ जो मकरन्द रसका पान

१ विभर्ति ल० । २ कृतश्रिया ल०, द०, इ० । ३ स्वच्छमृणाल-ल० । ४ तादृशम् ल० । ५ पञ्चैः राजश्रेष्ठ । ६ प्रसिद्धाम् । ७ सिङ्गिभिः । ८ अपहृतम् । ९ आश्लिष्यन्ति । निलीयन्ते ल० । १० अस्फुटवचनाः ।

रुषिताः कञ्जकिञ्जरैरामान्येते मधुवताः । सुवर्णकपिशैरङ्गैः कामाग्नेरिव सुसुराः ॥२३॥
 स्थलेषु स्थलपद्मिन्यो विकसन्यश्चकालति । शरद्वृक्षो जिगीधन्त्या वृष्यशाला इवोस्थिताः ॥२४॥
 स्थलाब्जशङ्किनी हंसी सरस्यब्जरजस्तते । संहृत्य पक्षविक्षेपं विशन्तीयं निमज्जति ॥२५॥
 हंसोऽयं मिजशावाय चन्द्रशेधुष्य लसद्विलम् । पौधशुद्ध्या ददात्यस्मै शशाङ्ककरकोमलम् ॥२६॥
 कृतयन्ताः प्लवन्तेऽमी राजहंसाः सरोजले । सरोजिनीरजःकीर्णं धृतपद्माः शनैः शनैः ॥२७॥
 चक्रवाकी सरस्तीरे तरङ्गैः स्यगिराममूम् । अपश्यन् करुणं रीति चक्राङ्गः साश्रुलोचनः ॥२८॥
 अभ्येति वरटाशङ्की धार्तराष्ट्रः कृतस्वनम् । सरस्तरङ्गशुभ्राङ्गी कोककान्तामनिष्कलीम् ॥२९॥
 अनुगङ्गातटं भाति साप्तपर्णमिदं वनम् । सुमनोरेणुभिर्द्योम्नि वितानभ्रियमादधत् ॥३०॥
 मन्दाकिनीतरङ्गोत्थपवनोऽध्वश्रमं हरन् । शनैः स्पृशति नोऽङ्गानि रोधोवनविधूननः ॥३१॥
 आतिथ्यमिव नस्तन्वम् हतगङ्गाम्बुशीकरः । अभ्येति पवमानोऽयं वनवीधीर्बिधूनयन् ॥३२॥
 अगोष्पदमिदं देव देवैरधुषितं वनम् । लतालयैर्विभाष्यन्तः कुसुमप्रस्तराञ्चितैः ॥३३॥

करनेके लिए उत्कण्ठित हो रहे हैं ऐसे ये भ्रमर कामदेवके बाणोंकी मूठके समान आभावाले अपने पंखोंसे कमलिनियोंके समूहमें जहाँ-तहाँ विचरण कर रहे हैं, घूम रहे हैं ॥ २२ ॥ जिनके अंगोपांग कमलकी केशरसे रूषित होनेके कारण सुवर्णके समान पीले-पीले हो गये हैं ऐसे ये भ्रमर कामरूपी अग्निके स्फुलिङ्गोंके समान जान पड़ते हैं ॥ २३ ॥ जगह-जगह पृथिवीपर फूले हुए स्थल-कमलिनियोंके पेड़ ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो सबको जीतनेकी इच्छा करने-वाली शरद्वृक्षरूपी लक्ष्मीके खड़े हुए कपड़ेके तन्मू ही हों ॥ २४ ॥ जो कमलोंकी परागसे व्याप्त हो रहा है ऐसे सरोवरमें कमलको स्थलकमल समझती हुई यह हंसी पंखोंके विक्षेपको रोककर अर्थात् पंख हिलाये बिना ही प्रवेश करती है और पानीमें डूब जाती है ॥ २५ ॥ यह हंस चन्द्रमाकी किरणोंके समान कोमल और देदीप्यमान मृणालको अपनी चौंचसे उठाकर और क्षीरसहित मधुखनके समान कोई पदार्थ समझकर अपने बच्चेके लिए दे रहा है ॥ २६ ॥ कमलिनीके परागसे भरे हुए तालाबके जलमें ये हंस धीरे-धीरे पंख हिलाते हुए बड़े प्रयत्नसे तैर रहे हैं ॥ २७ ॥ तालाबके तीरपर तरंगोंसे तिरोहित हुई चक्रवीको नहीं देखता हुआ यह हंस आँखोंमें आँसू भरकर बड़ी करुणाके साथ रो रहा है ॥ २८ ॥ सम्भोगकी इच्छा करनेवाला यह शब्द करता हुआ हंस, तालाबकी तरंगोंसे जिसका शरीर सफेद हो गया है ऐसी चक्रवीके सम्मुख जा रहा है जब कि वह चक्रवी इस हंसकी इच्छा नहीं कर रही है ॥ २९ ॥ गंगा नदीके किनारे-किनारे यह सप्तपर्ण जातिके वृक्षोंका वन ऐसा सुशोभित हो रहा है मानो अपने फूलोंकी परागसे आकाशमें चँदोवाकी शोभा ही धारण कर रहा हो ॥ ३० ॥ मार्गकी थकावटको दूर करता हुआ और किनारेके वनोंको हिलाता हुआ यह गंगाकी लहरोंसे उठा हुआ पवन हम लोगोंके शरीरको धीरे-धीरे स्पर्श कर रहा है ॥ ३१ ॥ वनकी पंक्तियोंको हिलाता हुआ यह वायु ग्रहण की हुई गंगाके जलकी बूंदोंसे ऐसा जान पड़ता है मानो हम लोगोंका अतिथि-सत्कार करता हुआ ही आ रहा हो ॥ ३२ ॥ हे देव, जो गायोंके संचारसे रहित है अर्थात् अत्यन्त दुर्गम

१ आच्छादितः । २ कनकवत् पिङ्गलः । ३ विस्फुल्लिङ्गाः । ४ पटकुटयः । 'वृष्यं वस्त्रे च तद्गृहे' । ५ सक्षीरनवनीतबुद्ध्या । ६ कृतयन्तं ल०, द०, इ०, अ०, य०, स०, । ७ स्तनिताम् आच्छादिताम् । ८ आलोचयन् । ९ हंसकान्तेति शङ्कावान् । 'वरटा हंसकान्ता स्यात् वरटा वरलापि च' इति वैजयन्ती । १० सितेतरचञ्चुरणवान् हंसः । 'राजहंसास्तु ते चञ्चुश्चरजः स्नेहितैः सिताः । मलिनैर्मलिकाशास्तैर्घातराष्ट्राः सितेतरैः' इत्यभिधानात् । ११ कृतस्वनः द०, ब०, ल० । कृतस्वनम् अ० । १२ अस्माकम् । १३ तटवन । १४ अतिथित्वम् । १५ शीकरैः ल०, य०, इ० । १६ अभिमुखमागच्छति । १७ प्रमाणरहितम् । प्रवेष्टुमशक्यं वा । १८ विभात्येतैः इ०, ल०, द० । १९ शयन ।

मन्दारवनवीथीनां सान्द्रच्छायाः समाश्रिताः । चन्द्रकान्तशिलास्वते रंरम्यन्ते नमःपदः ॥३४॥
अहो तटवमस्यास्य रामणीयकमद्भुतम् । अवधूतनिजावासा रिरंसन्तेऽत्र यत्सुराः ॥३५॥
मनोमवनिवेशस्य लक्ष्मीरत्र वितन्यते । सुरदम्पतिभिः स्वैरमारुधरनिविभ्रमैः ॥३६॥
इयं निधुवनसम्पत्ः सुरस्त्रीरतिकोमलाः । हसतीव तरङ्गोद्यैः शीकरैरमरापगा ॥३७॥
इतः किन्नरसंगीतमितः सिद्धोपवीणितम् । इतो विद्याधरीनृत्तमि तस्तद्गतिविभ्रमः ॥३८॥
नृत्तमप्सरसां पश्यन् शृण्वस्तद्गीतनिःस्वनम् । बाजिवक्त्रोऽयमुद्गीतः समभास्ते स्वकान्तया ॥३९॥
निष्पर्यायं वनेऽमुष्मिन्नुवर्गो विवर्धते । परस्परमिव द्रष्टुमुत्सुक्यायितमानसः ॥४०॥
अशोकतरुश्रायं तनुते पुष्पमञ्जरीम् । लाङ्गारकैः खगलीणां चरणैरभिताडितः ॥४१॥
पुंस्कोकिलकलालापमुत्तरीकृतदिङ्मुखः । श्रुतोऽयं मञ्जरीधंसे मदनस्येव तीरिकाः ॥४२॥
चम्पका विकसन्तोऽत्र कुसुमती ॥ वितन्वति ॥ प्रदीपानि च पुष्पीषान् दधतीमे मनोभुवः ॥४३॥
सहकारेण्वमी मत्ता विरुधन्ति ॥ मधुवताः । विजिगीषोरनङ्गस्य काहला इव पूरिताः ॥४४॥
कोकिलानकभिः स्वानैरलिज्यारवजृम्भितैः ॥ अभिषेणयतीवाय मनोभूभुवनत्रयम् ॥४५॥

है और जो देवोंके द्वारा अधिष्ठित है अर्थात् जहाँ देव लोग आकर क्रीड़ा करते हैं ऐसा यह वन फूलोंके बिछौनोंसे सुशोभित इन लतागृहोंसे अतिशय सुशोभित हो रहा है ॥ ३३ ॥ इधर मन्दार वृक्षोंकी वन-पंक्तियोंकी धनी छायामें बैठे हुए ये देव लोग चन्द्रकान्त मणियोंकी शिलापर बार-बार क्रीड़ा कर रहे हैं ॥३४॥ अहा, इस किनारेके वनकी सुन्दरता कैसी आश्चर्य-जनक है कि देव लोग भी अपने-अपने निवासस्थान छोड़कर यहाँ क्रीड़ा करते हैं ॥ ३५ ॥ जिन्होंने अपनी इच्छानुसार रति-क्रीड़ा प्रारम्भ की है ऐसे देव-देवांगनाओंके द्वारा यहाँ काम-देवके धरकी शोभा बढ़ायी जा रही है । भावार्थ - देव-देवांगनाओंकी स्वच्छन्द रतिक्रीड़ाको देखकर मालूम होता है कि मानो यह कामदेवके रहनेका घर ही हो ॥ ३६ ॥ यह गंगा अपनी तरंगोंसे उठी हुई जलकी बूंदोंसे ऐसी जान पड़ती है मानो सम्भोग करनेमें असमर्थ होकर दीनता-भरे अस्पष्ट शब्द करनेवाली देवांगनाओंकी हँसी ही कर रही हो ॥३७॥ इधर किन्नरोंका संगीत हो रहा है, इधर सिद्ध लोग बीणा बजा रहे हैं, इधर विद्याधरियाँ नृत्य कर रही हैं और इधर कुछ विद्याधरियाँ विलासपूर्वक टहल रही हैं ॥३८॥ इधर यह किन्नर अपनी कान्ता-के साथ-साथ अप्सराओंका नृत्य देखता हुआ, और उनके संगीत शब्दोंको सुनता हुआ सुखसे गला ऊँचा कर बैठा है ॥ ३९ ॥ परस्परमें एक-दूसरेको देखनेके लिए जिसका मन उत्कण्ठित हो रहा है ऐसा ऋतुओंका समूह इस वनमें एक साथ इकट्ठा होता हुआ बढ़ रहा है ॥ ४० ॥ लाखसे रंगे हुए विद्याधरियोंके चरणोंसे ताड़ित हुआ यह अशोक वृक्ष इस वनमें पुष्प-मंजरियोंको धारण कर रहा है ॥ ४१ ॥ कोकिलोंके आलापसे जिसने समस्त दिशाओंको वाचालित कर दिया है ऐसा यह आम्रवृक्ष कामदेवकी आँखोंकी पुतलियोंके समान पुष्प-मंजरियोंको धारण कर रहा है ॥४२॥ वसन्तऋतुके फैलनेपर इस वनमें जो चम्पक जातिके वृक्ष विकसित हो रहे हैं और फूलोंके समूह धारण कर रहे हैं वे ऐसे जान पड़ते हैं मानो कामदेवके दीपक ही धारण कर रहे हों ॥ ४३ ॥ इधर ये मदोन्मत्त भ्रमर आम्र वृक्षोंपर ऐसा शब्द कर रहे हैं मानो सबको जीतनेकी इच्छा करनेवाले कामदेवरूपी राजाके बाजे ही बज रहे हों ॥४४॥ कोयलों-

१. अवज्ञात । २. रन्तुमिच्छन्ति । ३. यस्मात् कारणात् । ४. शक्ताः ल०, इ० । ५. रतिबाहुलाः ल०, द०, इ० । ६. नृत्यम् अ०, इ० । ७. युगपत् । निष्पर्यायो प०, ल०, द०, अ०, स० । ८. पुंस्कोकिलानामालापः ल० । ९. बाणाः । तारकाः ल० । १०. विकसन्त्यत्र ल०, द०, इ०, अ०, प०, स० । ११. वसन्तकाले । १२. विस्तृते सति । अविवक्षितकर्मकोऽकर्मक इत्यकर्मकत्वमत्र । १३. दधतीऽमी ल०, द०, इ०, अ०, प०, स० । १४. ध्वनन्ति । १५. सेनया अभियाति । णिज्वहुलं कुजादिपु णिन् ।

निचुलः^१ सहकारेण विकसन्नत्र माधवीम्^२ । तनोति लक्ष्मीमक्षुण्णामहो प्रावृत्ताश्रया समम् ॥४६॥
 मा^३धवीस्तबकेष्वत्र माधवीऽथ विजृम्भते । वनलक्ष्मीप्रहासस्य लीलां तन्वत्सु विदधतः ॥४७॥
 वासन्त्यो विकसन्त्येता वसन्तर्तुस्मितश्रियम् । तन्वानाः कुसुमामोदैराकुलीकृतधट्पदाः ॥४८॥
 मल्लिकाविततामोदैर्धिलोलीकृतधट्पदाः । पादपेषु पदं धत्ते शुचिः^४ पुष्पशुचिस्मितः^५ ॥४९॥
 कदम्बामोदसुरभिः केतकीधूलिधूसरः^६ । तापात्ययानिलो^७ देव निरयमत्र विजृम्भते ॥५०॥
 माधन्ति कोकिलाः शश्वन् सममत्र शिखण्डिभिः । कलहंसीकलस्यानैः संमूर्छितं विकृजिताः ॥५१॥
 कुञ्जन्ति कोकिला मत्ताः केकायन्ते^८ कलापिनः । उमयस्यास्य वर्गस्य हंसाः^९ प्रत्यालपस्यसी ॥५२॥
 हतोऽमी किन्नरीगीतमनुकुञ्जन्ति^{१०} पट्पदाः । सिद्धीपवीणितान्येषु निह्नुतेऽन्यभृतरत्नमः ॥५३॥
 जितनूपुरप्रकारमितो हंसविकृजितम् । इतश्च खेचरीनृत्यमनुनृत्यच्छिखावलम्^{११} ॥५४॥
 इतश्च सैकतोत्सङ्गे सुप्तान् हंसान् लशावकान् । प्रातः प्रबोधयत्युद्यन्^{१२} खेचरीनूपुरारवः ॥५५॥
 इतश्च रचितानल्पपुष्पतल्पमनोहराः । चन्द्रकान्तशिलागर्भा सुरैर्मोह्या लतालयाः ॥५६॥

कैलासपुरशब्दलक्ष्मी और भ्रमरोकी गुजार रूप प्रत्यंचाकी टंकारध्वनिसे यहाँ ऐसा मालूम होता है मानो कामदेव तीनों लोकोंको जीतनेके लिए सेनासहित चढ़ाई ही कर रहा हो ॥ ४५ ॥ अहा, कैसा आश्चर्य है कि आश्रवृक्षके साथ-साथ फूलता हुआ यह निचुल जातिका वृक्ष इस वनमें वर्षाऋतुकी शोभाके साथ-साथ वसन्तऋतुकी भारी शोभा बढ़ा रहा है ॥ ४६ ॥ इधर इस वनमें चारों ओरसे वन-लक्ष्मीके उत्कृष्ट हास्यकी शोभा बढ़ानेवाले माधवीलता-के गुच्छोंपर आज वसन्त बड़ी वृद्धिको प्राप्त हो रहा है ॥ ४७ ॥ जो अपने विकाससे वसन्त-ऋतुके हास्यकी शोभा बढ़ा रही हैं और जो फूलोंकी सुगन्धिसे भ्रमरोंको व्याकुल कर रही हैं ऐसी ये वसन्तमें विकसित होनेवाली माधवीलताएँ विकसित हो रही हैं — फूल रही हैं ॥ ४८ ॥ जिसने मालतीकी फैली हुई सुगन्धिसे भ्रमरोंको चंचल कर दिया है और फूल ही जिसका पवित्र हास्य है ऐसा यह ग्रीष्मऋतु वृक्षोंपर पैर रख रहा है—अपना स्थान जमा रहा है ॥ ४९ ॥ हे देव, कदम्ब पुष्पोंकी सुगन्धिसे सुगन्धित तथा केतकीकी धूलिसे धूसर हुआ यह वर्षाऋतु-का वायु इस वनमें सदा बहता रहता है ॥ ५० ॥ इस वनमें मयूरोंके साथ-साथ कोयल सदा उन्मत्त रहते हैं और कल-हंसियों (वदकों) के मनोहर शब्दोंके साथ अपना शब्द मिलाकर बोलते हैं ॥ ५१ ॥ इधर उन्मत्त कोकिलाएँ कुहू कुहू कर रही हैं, मयूर केका वाणी कर रहे हैं और ये हंस इन दोनोंके शब्दोंकी प्रतिध्वनि कर रहे हैं ॥ ५२ ॥ इधर ये भ्रमर किन्नरियोंके द्वारा गाये हुए गीतोंका अनुकरण कर रहे हैं और इधर यह कोयल सिद्धोंके द्वारा बजायी हुई वीणाके शब्दोंको छिपा रहा है ॥ ५३ ॥ इधर नूपुरोंकी झंकारको जीतता हुआ हंसोंका शब्द हो रहा है, और इधर जिसका अनुकरण कर मयूर नाच रहे हैं ऐसा विद्याधरियोंका नृत्य हो रहा है ॥ ५४ ॥ इधर बालूके टीलोंकी गोदमें अपने बच्चोंसहित सोये हुए हंसोंकी प्रातःकालके समय यह विद्याधरियोंके नूपुरोंका ऊँचा शब्द जगा रहा है ॥ ५५ ॥ इधर जो बहुत-से फूलोंसे बनायी हुई शय्याओंसे मनोहर जान पड़ते हैं, जिनके मध्यमें चन्द्रकान्त मणिकी शिलाएँ पड़ी

१ हिज्जुलः । 'निचुलो हिज्जुलोऽम्बुजः' इत्यभिधानात् । २ वसन्ते भवाम् । 'अलिमुस्तः पुष्पकः स्याद् वासन्ती माधवी लता' इत्यभिधानात् । एनानि पुष्पदेशे वसन्तकाले बाहुलेन जायमानस्य नामानि । ३ वासन्तीगुच्छकेषु । 'स्याद् गुच्छकस्तु स्तवकः' इत्यभिधानात् । ४ श्रेष्ठाः । ५ पुष्पाण्येव शुचिस्मितं यस्य सः । ६ ईषत्पाण्डुः । 'ईषत्पाण्डुस्तु धूसरः' इत्यभिधानात् । ७ वर्षाकालवायुः । ८ मिश्रित । ९ केका कुर्वन्ति । १० प्रत्युत्तरं कुर्वन्ति । ११ अषलापं कुरुते । १२ अनुगतं नृत्यन् शिखावली यस्य । १३-त्युच्चैः पं० ।

हृतीर्दं वनमत्यन्तरमणीयैः परिच्छदैः । स्वर्गोद्यानगतीं प्रीतिं जनयेत् स्वःसदा सदा ॥५७॥
 बहिस्तटवनान्तरं दृश्यते काननं महत् । नानादुर्लभतागुल्मवीरुद्भिरतिदुर्गमम् ॥५८॥
 दृष्टीनामप्यगम्येऽस्मिन् वने मृगकदम्बकम् । नानाजातीयमुद्भ्रान्तं सैन्यक्षोभात् प्रधावति ॥५९॥
 इदमस्मत्त्वलक्षोभादुत्प्रेस्तसुगसंकुलम् । वनमाकुलितप्राणमिवामात्यन्धकारितम् ॥६०॥
 गजयूथमितः कच्छादन्यकारमिवामितः । त्रिशूलं वलसंक्षोभादपसर्पत्यतिहुतम् ॥६१॥
 शनैः प्रयाति संजिघ्रन् दिशः प्रोक्षितसुष्करः । स महाहिरिवाद्भीन्दो भद्भीड्यं गजयूथपः ॥६२॥
 महाहिरयभोक्षो निमाने ह्येव ब्रूक्षाम् ॥६३॥ कच्छादुत्प्रेस्तसरीरकः ॥६४॥
 'शयुपोता निकुञ्जेषु' पुष्पीभूता वसन्त्यमी । 'वनस्येवान्प्रसन्तानाश्चमूक्षोभाद्भिनिःसृताः ॥६५॥
 अयमेकधरः' पोत्रसमुत्खातास्तिकस्थलः' । हणद्धि धर्मं सैन्यस्य वराहस्तीव्ररोषणः ॥६६॥
 सैनिकैरममारुहः' पाषाणलकुटादिभिः । व्याकुलीकुरुते' सैन्यं गण्डो' गण्ड' इव स्फुटम् ॥६७॥
 प्राणा इव वनादस्माद् विनिष्क्रामन्ति सन्तताः । सिंहा बहुद्वज्ज्वाला' पुन्वाना केसरच्छटाः ॥६८॥

हुई हैं और जो देवोंके उपभोग करने योग्य हैं ऐसे लतागृह बने हुए हैं ॥५६॥ इस प्रकार यह वन अत्यन्त रमणीय सामग्रीसे देवोंके सदा तन्दन वनको प्रीतिको उत्पन्न करता रहता है ॥ ५७ ॥

इधर किनारेके वनके बाहर भी एक बड़ा भारी वन दिखाई दे रहा है जो कि अनेक प्रकारके वृक्षों, लताओं, छोटे-छोटे पौधों और झाड़ियोंसे अत्यन्त दुर्गम है ॥ ५८ ॥ जिसमें दृष्टि भी नहीं जा सकती ऐसे इस वनमें सेनाके क्षोभसे घबड़ाया हुआ यह अनेक जातिके मृगोंका समूह बड़े जोरसे दौड़ा जा रहा है ॥५९॥ जो हमारी सेनाके क्षोभसे भयभीत हुए हरिणोंसे व्याप्त है तथा जिसमें जीवोंके प्राण आकुल हो रहे हैं ऐसा यह वन अन्धकारसे व्याप्त हुएके समान जान पड़ता है ॥ ६० ॥ इधर सेनाके क्षोभसे अलग-अलग हुआ यह हाथियोंका झुण्ड गंगा किनारेके जलवाले प्रदेशसे अन्धकारके समान चारों ओर बड़े वेगसे भागा जा रहा है ॥ ६१ ॥ हाथियोंके झुण्डकी रक्षा करनेवाला यह भद्र गजराज सूँड़को ऊँचा उठाता हुआ तथा दिशाओंको सूँघता हुआ धीरे-धीरे ऐसा जा रहा है मानो शेषनागसहित सुमेरु पर्वत ही जा रहा हो ॥ ६२ ॥ जिसने अपने शरीरके ऊर्ध्वभागको ऊँचा उठा रखा है ऐसा यह बड़ा भारी सर्प जलवाले प्रदेशसे साँस लेता हुआ इस प्रकार आ रहा है मानो वृक्षोंकी लम्बाईको नापता हुआ ही आ रहा हो ॥६३॥ इधर इस लतागृहमें इकट्ठे हुए ये अजगरके बन्धे इस प्रकार श्वास ले रहे हैं मानो सेनाके क्षोभसे वनकी अँतड़ियोंके समूह ही निकल आये हों ॥६४॥ जो अकेला ही फिरा करता है, जिसने अपनी नाकसे समीपके स्थल खोद डाले हैं, और जो अत्यन्त क्रोधी है ऐसा यह शूकर सेनाका मार्ग रोक रहा है ॥६५॥ सेनाके छोड़ने जिसे पत्थर लकड़ी आदिसे रोक रखा है ऐसा यह गण्ड अर्थात् छोटे पर्वतके समान दिखनेवाला गैंडा हाथी स्पष्ट रूपसे सेनाको व्याकुल कर रहा है ॥६६॥ जो दावानलकी ज्वालाके समान पीले और विस्तृत गरदनपरके बालोंके समूहोंको हिला रहे हैं ऐसे ये सिंह इस वनसे इस प्रकार

- १ नाकिनाम् । २ प्रतानिनीलताभिः । 'लता प्रतानिनी वीरुत् गुल्मिन्युपलमित्यपि' इत्यभिधानात् ।
 ३ बहुजलप्रदेशात् । 'जलप्रायमनूयं स्यात् पुंसि कच्छस्तथाविधः ।' इत्यभिधानात् । ४ विभक्तम् ।
 ५ आघ्राणयन् । ६ प्रमिति कुर्वन्निव । ७ दीर्घाभवति । यमुष्मन् स्वऽङ्गे चाजाः' इत्यात्मनेपदी । -आगच्छते ल०, इ० । ८ अजगरशिशवः । ९ निकुञ्जेऽस्मिन् ल०, द०, इ० । १० पुरीतत् । ११ एकाकी ।
 १२ मुखाग्र । 'मुखाग्रे क्रोडहृल्लवोः पोत्रम्' इत्यभिधानात् । 'पोत्रप्योहलक्रोडमुक्ते ऋद्' इति सूत्रेण सिद्धिः ।
 १३ वेष्टिनः । १४ आकुली-ल० । १५ लङ्गीमृगः । १६ गण्डगील इव । १७ द्वज्ज्वालासदृशः ।

गुग्गुलुना^१ वनादेश महिषो घनकर्धुरः । निर्वाति मृत्युर्द्धामविषाणाप्रातिर्भीषणः ॥६८॥

^२ललङ्कालधयो लोलजिह्वा व्यालोहितेक्षणाः । व्याला^३ बलस्य संश्रोभममी तन्वन्वनाकुलाः ॥६९॥

शरमः^४ स समुत्पन्न पतङ्गत्तापितोऽपि सन् । नैष दुःस्वासिकां वेष्ट^५ चरणैः पृष्ठवर्तिभिः ॥७०॥

चमरोऽयं^६ चमूरोधाद् विद्रुतो^७ द्रुतमुत्पन्न । क्षोभं तनोति सैन्यस्य तपो रूपीव^८ दुर्धरः ॥७१॥

शशः शशशयं^९ देव सैनिकैरनुमुतः^{१०} । शरणायेव सीतान्मा^{११} मध्येमेन्य^{१२} विलीयते ॥७२॥

सारङ्गोऽयं^{१३} तनुच्छायाकल्माषितवनः^{१४} शनैः । प्रयाति शृङ्गभारेण शाखिनेव प्रश्रुण्यता ॥७३॥

दक्षिणेर्मतया^{१५} विष्वगभिधावन्वपीक्षिता^{१६} । प्रजानुपालनं न्यार्यं तवाचष्टे मृगप्रजः^{१७} ॥७४॥

कलापी बर्हभारेण मन्दं मन्दं वज्रव्यसौ । केशपाशश्रियं तन्वन् वनलक्ष्म्यास्तनूरुहैः ॥७५॥

नेत्रावलीमिवातन्वन् वनभूम्याः सखन्वकैः । कलापिनामयं संघो विमात्यस्मिन् वनस्थले ॥७६॥

यं क्रीडतो^{१८} रथाङ्गानां स्वनमाकर्णयन् सुहुः । हरिणानामिदं यूथं नापनयति वर्त्मनः^{१९} ॥७७॥

निकल रहे हैं मानो उसके प्राण ही निकल रहे हों ॥६७॥ जो मेघके समान कर्वुर वर्ण है, जिसके सींगका अग्रभाग यमराजकी दाढ़के समान है तथा जो अत्यन्त भयंकर है ऐसा यह भैंसा इस गुग्गुलुके वनसे बाहर निकल रहा है ॥६८॥ जिनकी पूँछ हिल रही है, जिह्वा चंचल हो रही है और नेत्र अत्यन्त लाल हो रहे हैं ऐसे ये सिंह आदि क्रूर जीव स्वयं व्याकुल न होकर ही सेनाका क्षोभ बढ़ा रहे हैं ॥६९॥ यह अष्टापद आकाशमें उछलकर यद्यपि पीठके बल गिरता है तथापि पीठपर रहनेवाले पैरोंसे यह दुःखका अनुभव नहीं करता । भावार्थ—अष्टापद नामका एक जंगली जानवर होता है उसके पीठपर भी चार पाँव होते हैं । जब कभी वह आकाशमें छलाँग मारनेके बाद चित्त अर्थात् पीठके बल गिरता है तो उसे कुछ भी कष्ट नहीं होता क्योंकि वह अपने पीठपर-के पैरोंमें सँभलकर खड़ा हो जाता है ॥७०॥ जो मूर्तिमान् अहंकारके समान है, दुर्जेय है और सेनासे घिर जानेके कारण जल्दी-जल्दी छलाँग मारता हुआ इधर-उधर दौड़ रहा है ऐसा यह मृग सेनाका क्षोभ बढ़ा रहा है ॥७१॥ हे देव, यह खरगोश दौड़ रहा है, यद्यपि सैनिकोंने इसका पीछा नहीं किया है तथापि यह भीरु होनेसे इधर-उधर दौड़कर शरण हँडनेके लिए आपकी सेनाके बीचमें ही कहीं छिप जाता है ॥७२॥ जिसने अपने शरीरकी कान्तिसे वनको भी काला कर दिया है ऐसा यह कृष्णसार जातिका मृग सूखे हुए वृक्षके समान अनेक शाखाओंवाले सींगोंके भारसे धीरे-धीरे जा रहा है ॥७३॥ देखिए, दाहिनी ओर धाव लगानेसे जो चारों ओर चक्कर लगा रहा है ऐसा यह हरिणोंका समूह मानो आपसे यही कह रहा है कि आपको सब जीवोंका पालन करना योग्य है ॥७४॥ जो अपनी पूँछके द्वारा वनलक्ष्मीके केशपाशकी शोभाको बढ़ा रहा है ऐसा यह मयूर पूँछके भारसे धीरे-धीरे जा रहा है ॥७५॥ इधर इस वनस्थलमें यह मयूरोंका समूह ऐसा सुशोभित हो रहा है मानो अपनी पूँछपर-के चन्द्रकोसे वनकी पृथिवीरूपी स्त्रीके नेत्रोंके समूहकी शोभा ही बढ़ा रहा हो ॥७६॥ इधर देखिए, चलते हुए रथके पहियेके शब्दको बार-बार सुनता हुआ यह हरिणोंका समूह मार्ग

१ कौशिकानाम् । २ कुम्भोरुल्लङ्कं क्लीबे कौशिको गुग्गुलुः पुरः । इत्यभिधानात् । ३ चलत् । ४ दुष्टमृगाः । ५ निर्भीताः । ६ अष्टापदः । ७ उद्धर्षमुखचरणो भूत्वा । ८ जानाति । ९ व्याघ्रः । १० सेनानिरोधात् । ११ धावमानः । १२ रूपी च ल० । १३ शश प्लुतगती । उल्लुत्पन्न गच्छन् । १४ अनुगतः । १५ सैन्यमध्ये । १६ अन्तर्हितो भवति । विलीयते अ०, इ० । १७ दक्षिणभागे कृतव्रणतया । १८ दक्षिणे गतया विष्वगभिधावन् प्रवीक्षताम् । प्रजानुपालनं न्यार्यं तवाचष्टे मृगप्रजः ॥ ल० । १९ सैनिकैरवलोकितः । २० मृगसमूहः । २१ चीत्कारं कुर्वताम् । २२ 'क्रीडोऽकूजे' इति अकूजार्थे तद्विधानात् कूजार्थे परस्मैपदी । २३ वर्त्मनः ल० । दूरतः अ० ।

हरिणीप्रेक्षितेष्वेनाः पश्यन्ति सकुलहलम् । स्वां नेत्रशोभां कामिन्वो बहिर्बह्वेषु मूर्धजान् ॥७८॥
 ह्यनकुलमेवेदं सैन्यैरप्याकुलीकृतम् । वनमालक्ष्यते विश्वगतमध्वमृगाङ्गजम् ॥७९॥
 जैर्योऽप्यातपो नायमिहास्मान् देव बाधते । वनं महातरुच्छाया मेरुस्तर्धानुबन्धिनि ॥८०॥
 इमे वनद्रुमा भान्ति सान्द्रच्छाया मनोरमाः । खड्गमकर्यै^१ वनलक्ष्म्येव मण्डपा विनिवेशिताः ॥८१॥
 सरस्यः स्वच्छसलिला चारितोष्णास्तटद्रुमैः । स्थापिता वनलक्ष्म्येव प्रपा^२ भान्ति कलमण्डितः ॥८२॥
 बहुधा^३ नासनार्कणमिदं खड्गिभिरालतम् । सर्हास्तिकमपर्यन्तं वनं युष्मद्वलायते ॥८३॥
 इत्थं वनस्य सामृद्ध्यं निरूपयति सारथी । वनभूमिमर्तायाय सम्राड्विविधान्तराम् ॥८४॥
 तदाश्वीयसुरोद्धातुदुत्थिता वनरेणवः । दिशां मुखेषु संलग्नास्तेनुर्यवनिकाश्रियम् ॥८५॥
 सादिना^४ शरबाणानि स्मृतान्यपि^५ सितान्शुकैः । काषायगुणीषु ज्ञातानि ततानि वनरेणुभिः ॥८६॥
 वनरेणुभिरालतैर्जट्टीभूतानि योषितः । रत्नान्शुकानि कृच्छ्रेण दधुरध्वजमालसाः ॥८७॥
 कुम्भस्थलीषु संसक्ताः करिणामश्वरेणवः । सिन्दूरधियमातेनुर्धत्तुभूमिसमुत्थिताः^६ ॥८८॥

से एक ओर नहीं हट रहा है ॥७९॥ ये स्त्रियाँ हरिणियोंके नेत्रोंमें अपने नेत्रोंकी शोभा बड़े कौतूहलके साथ देख रही हैं और हरिणोंकी पूँछोंमें अपने केशोंकी शोभा निहार रही हैं ॥७८॥ जिसमें हरिण पक्षी आदि सभी जीव एक-दूसरेको बाधा किये बिना ही निवास कर रहे हैं ऐसा यह वन यद्यपि सैनिकोंके द्वारा व्याकुल किया गया है तथापि आकुलतासे रहित ही प्रतीत हो रहा है ॥७९॥ हे देव, जो बड़े-बड़े वृक्षोंकी घनी छायासे सदा सहित रहता है ऐसे इस वनमें रहनेवाले हम लोगोंको यह तीव्र घाम कुछ भी बाधा नहीं कर रहा है ॥८०॥ ये घनी छायावाले वनके मनोहर वृक्ष ऐसे जान पड़ते हैं मानो आपकी भक्तिके लिए वनलक्ष्मीके द्वारा लगाये हुए मण्डप ही हों ॥८१॥ किनारेपर-के वृक्षोंसे जिनकी सब गरमी दूर कर दी गयी है ऐसे स्वच्छ जलसे भरे हुए ये छोटे-छोटे तालाब ऐसे मालूम होते हैं मानो वन-लक्ष्मीने क्लेश दूर करनेवाली प्याऊ ही स्थापित की हों ॥८२॥ हे प्रभो, यह वन आपकी सेनाके समान जान पड़ता है क्योंकि जिस प्रकार आपकी सेना बहुत-से बाणासन अर्थात् धनुषोंसे व्याप्त है उसी प्रकार यह वन भी बाण और असन जातिके वृक्षोंसे व्याप्त है, जिस प्रकार आपकी सेना खड्गी अर्थात् तलवार धारण करनेवाले सैनिकोंसे भरी हुई है उसी प्रकार यह वन भी खड्गी अर्थात् गैंडा हाथियोंसे भरा हुआ है, जिस प्रकार आपकी सेना हाथियोंके समूहसे सहित है उसी प्रकार यह वन भी हाथियोंके समूहसे सहित है और जिस प्रकार आपकी सेनाका अन्त नहीं दिखाई देता उसी प्रकार इस वनका भी अन्त नहीं दिखाई देता ॥८३॥ इस प्रकार सारथिके वनकी समृद्धिका वर्णन करते रहनेपर सम्राट् भरत उस वनभूमिको इस तरह पार कर गये कि उन्हें उसकी लम्बाईका पता भी नहीं चला ॥८४॥ उस समय घोड़ोंके समूहके खुरोंके आघातसे उठी हुई वनकी धूलि समस्त दिशाओंमें व्याप्त होकर परदेकी शोभा धारण कर रही थी ॥८५॥ घुड़सवारोंके कवच, यद्यपि ऊपरसे सफेद वस्त्रोंसे ढँके हुए थे तथापि वनकी धूलिसे व्याप्त होनेके कारण ऐसे मालूम पड़ते थे मानो कणाय रंगसे रंगे हुए ही हों ॥८६॥ मार्गके परिश्रमसे अलसाती हुई स्त्रियाँ वनकी धूलि लगनेसे भारी हुए स्तन ढँकनेवाले वस्त्रोंको बड़ी कठिनाईसे धारण कर रही थी ॥८७॥ गेरु रंगकी भूमिसे उठी हुई मार्गकी धूलि

१ लोचनेषु । २ पक्षी । ३ प्रवृद्धः । ४ तत्र भजनाय । ५ पानीयशालिकाः । 'प्रपा पानीयशालिका' इत्यभिधानात् । ६ शिष्टिः सर्जक, पक्षे चाप । ७ गण्डमूकः, पक्षे आयुधिकैः । ८ उभयत्रापि गजसमूहम् । ९ अज्ञातान्तरमवधिर्वस्मिन्वत्पक्षकर्मणि । १० अश्वारोहकाणाम् । 'अश्वारोहास्तु सादिनः' इत्यभिधानात् । ११ कञ्चुकाः । 'कञ्चुकोवारवाणोऽस्त्रो' इत्यभिधानात् । १२ गुतानि । १३ कषायरञ्जितानि । १४ गेरिक ।

ततो मध्यन्दिनेऽभ्यर्णे दिदीपे तीक्ष्णं शुमान् । विजिगीषुश्चास्त्रप्रतापः शुद्धमण्डलः ॥८९॥
 सरस्तीरतरुच्छायामाश्रयन्ति स्म पक्षिणः । शरदातपसंतापान् संकुच्यत्यैसंवन्ः ॥९०॥
 हंसाः कलमण्डपेषु पुष्पजीभूतान् स्वशावकान् । एमैराकृतावधामासुरसोऽजरठासपान् ॥९१॥
 वन्याः स्तम्बेरमा भेजुः सरसीं स्वगाहितुम् । मदक्षुतिषु तप्तासु मुक्ता मधुकरवर्जैः ॥९२॥
 शाखाभङ्गैः कृतच्छायाः प्रयास्तो गजयूथपाः । शाखाद्वारमिव तन्वन् स्वशंसो करपीडिताः ॥९३॥
 यूयं वनवराहाणामुपदुपवि पुञ्जितम् । तदा प्रविश्य वेशन्तमधिशिष्यं सकर्दमम् ॥९४॥
 मृणालैरक्रमावेष्टय स्थिता हंसा घिरंजिरे । प्रविष्टाः शरणायेव शशाङ्ककरपञ्जरम् ॥९५॥
 चक्रवाकयुवा भेजे घनं शैवलमाततम् । सर्वाङ्गलम्बमुष्णालुर्विनीलमिव कक्षुकम् ॥९६॥
 पुण्डरीकातपत्रेण कृतच्छायोऽब्जिनीवने । राजहंसस्तदा भेजे हंसीभिः सह मञ्जनम् ॥९७॥
 विसमङ्गैः कृताहारा मृणालैरवगुण्डिताः । विविर्नापयतल्पेषु शिथिले हंसशावकाः ॥९८॥
 हंसाः पक्षिणोऽपि वायुमण्डलेऽपि न हंसा धृतिमादधुः ॥९९॥

हाथियोंके गण्डस्थलोंमें लगकर सिन्दूरकी शोभा धारण कर रही थी ॥८८॥ तदनन्तर मध्याह्न-
 का समय निकट आनेपर सूर्य अत्यन्त देदीप्यमान होने लगा । उस समय वह सूर्य किसी विजि-
 गीषु राजाके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार विजिगीषु राजा प्रताप (प्रभाव)
 धारण करता है उसी प्रकार सूर्य भी प्रताप (प्रकृष्ट गरमी) धारण कर रहा था और जिस
 प्रकार विजिगीषु राजाका मण्डल (स्वदेश) शुद्ध अर्थात् आन्तरिक उपद्रवोंसे रहित होता है
 उसी प्रकार सूर्यका मण्डल (बिम्ब) भी मेघ आदिका आवरण न होनेसे अत्यन्त शुद्ध (निर्मल)
 था ॥८९॥ शरदऋतुके घामके सन्तापसे जिनके पंखोंकी शोभा संकुचित हो गयी है ऐसे पक्षी
 सरोवरोंके किनारोंके वृक्षोंकी छायाका आश्रय लेने लगे ॥ ९० ॥ जो मध्याह्नकी गरमी सहन
 करनेमें असमर्थ हैं और इसीलिए जो कमलोंके समूहमें आकर इकट्ठे हुए हैं ऐसे अपने बच्चोंको
 हंस पक्षी अपने पंखोंसे ढँकने लगे ॥ ९१ ॥ मदका प्रवाह गरम हो जानेसे जिन्हें धमरोंके समूह-
 ने छोड़ दिया है ऐसे जंगली हाथी अवगाहन करनेके लिए सरोवरोंकी ओर जाने लगे ॥ ९२ ॥
 सूर्यकी किरणोंसे पीड़ित हुए हाथी वृक्षोंकी डालियाँ तोड़-तोड़कर अपने ऊपर छाया करते
 हुए जा रहे थे और उनसे ऐसे मालूम होते थे मानो शाखाओंका उद्धार ही कर रहे हों ॥९३॥
 उस समय जंगली भूकरोंका समूह कीचड़सहित छोटे-छोटे तालाबोंमें प्रवेश कर परस्पर एक
 दूसरेके ऊपर इकट्ठे हो शयन कर रहे थे ॥ ९४ ॥ अपने शरीरको मृणालके तन्तुओंसे लपेट-
 कर बैठे हुए हंस ऐसे मुशोभित हो रहे थे मानो अपनी रक्षा करनेके लिए चन्द्रमाकी किरणोंसे
 बने हुए पिंजड़ेमें ही घुस गये हों ॥ ९५ ॥ जो उष्णता सहन करनेमें असमर्थ है ऐसे किसी तरुण
 चक्रवाने अपने सर्व शरीरमें लगे हुए, मोटे-मोटे तथा विस्तृत शेवालको धारण कर रखा था
 और उससे वह ऐसा मालूम होता था मानो नीले रंगका कुरता ही धारण कर रहा हो ॥९६॥
 जिसने कमलिनीयोंके वनमें सपेद कमलरूप छत्रसे छाया बना ली है ऐसा राजहंस उस मध्याह्न-
 के समय अपनी हंसियोंके साथ जलमें गोते लगा रहा था ॥ ९७ ॥ जिन्होंने मृणालके टुकड़ोंका
 आहार किया है और मृणालके तन्तुओंसे ही जिनका शरीर ढँका हुआ है ऐसे हंसोंके बच्चे कमलिनी-
 के पत्ररूपी शय्यापर सो रहे थे ॥ ९८ ॥ इस प्रकार शरदऋतुका घाम तीव्र सन्ताप फैला रहा

१ मध्याह्नकाले । २ पक्षिणः ल० । ३ पक्ष । ४ शाखाखण्डैः । ५ परलवानि गृहीत्वा आक्रोशम् । ६ पल्लवम् ।
 अलसर इत्यर्थः । 'वेशन्तः पल्लवं चालयन्तः' इत्यभिधानात् । ७ उष्णमसहमानः । 'शीतोष्णव्याध्याः आलुः' ।
 ८ आच्छादिता ।

मध्यस्थोऽपि तदा तीव्रं तत्ताप तरणिर्भुवम् । नूनं तावप्रतापानां माध्यस्थ्यमपि तापकम् ॥१००॥
 स्वेदक्षिन्दुभिरावद्धजालकानि नृपस्त्रियः । वदन्तान्मृदुरञ्जिन्यः पद्मानीचाम्बुशीकरः ॥१०१॥
 नृपवत्सलभिकावक्त्रपङ्कजेष्वपुष्पच्छ्रयम् । धर्मविन्दुद्गमो निर्यल्लाघण्यरसपूरवत् ॥१०२॥
 गलद्धर्माम्बुविन्दूनि सुखानि नृपयोगिताम् । अत्रश्यायसतानीध राजीवानि विरेजिरे ॥१०३॥
 नृपाङ्गनामुखाब्जानि धर्मविन्दुभिरावभुः । सुक्ताफलैर्द्वीभूतैरिवालकविभूषणैः ॥१०४॥
 स्थवाहा^१ स्थानुहुरायस्ताः^२ केनिलैर्मुखैः । तीव्रं तपति तिर्यगोशौ समेऽपि प्रस्वलत्सुराः ॥१०५॥
 हस्यवृत्तसुरास्तुङ्गास्तनुस्निग्धतनूह्राः । पृथ्वासना महावाहाः प्रययुर्वायुरंहसः^३ ॥१०६॥
 महाजवजुषी चक्राधुद्रमन्तः^४ सुराभिष^५ भङ्गोरस्काः स्फुरत्प्रोर्था द्रुतं जग्मुर्महाहवाः ॥१०७॥
 समुच्छिन्नपुरो भागाः शुद्धावती मनोजवाः । अपर्याप्तेषु^६ मार्गेषु द्रुतर्मायुस्तुरङ्गमाः ॥१०८॥
 मध्यास्त्रजवोपेता विनिताश्चटुलक्रमाः । गह्रमाना^७ इष स्पृष्टुं सहीमश्वा द्रुतं ययुः ॥१०९॥
 अश्वेभ्योऽपि रथेभ्योऽपि पत्नयो वेगित^८ ययुः । सोपानस्कैः^९ पदैः स्थानुकण्टकोपललक्ष्मिचनः ॥११०॥

था और उससे तपे हुए नदियोंके किनारोंपर हंसोंको सन्तोष नहीं हो रहा था ॥१००॥ उस-समय सूर्य यद्यपि मध्यस्थ था—आकाशके बीचोबीच स्थित था, पक्षपातरहित था तथापि वह पृथिवीको बहुत ही सन्तप्त कर रहा था सो ठीक ही है क्योंकि तीव्र प्रतापी पदार्थोंका मध्यस्थ रहना भी सन्ताप करनेवाला होता है ॥१००॥ जिस प्रकार कमलिनीयाँ (कमलकी लताएँ) जलकी बूंदोंसे सुशोभित कमलोंको धारण करती हैं उसी प्रकार महाराज भरतकी स्त्रियाँ पसीनेकी बूंदोंसे जिनपर मोतियोंका जाल-सा बन रहा है ऐसे अपने मुख धारण कर रही थीं ॥१०१॥ रानियोंके मुख-कमलोंपर जो पसीनेकी बूंदें उठी हुई थीं वे निकलते हुए सौन्दर्य रूपी रसके प्रवाहके समान शोभाको पुष्ट कर रही थीं ॥१०२॥ जिनसे पसीनेकी बूंदें टपक रही हैं ऐसे रानियोंके मुख ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो ओसकी बूंदोंसे व्याप्त हुए कमल ही हों ॥१०३॥ जिन पसीनेकी बूंदोंसे रानियोंके मुख-कमल सुशोभित हो रहे थे वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो केशपाशको अलंकृत करनेवाले मोती ही पिघल-पिघलकर तरल रूप हो गये हों ॥१०४॥ उस समय सूर्य बड़ी तेजीके साथ तप रहा था इसलिए जो घोड़े रथोंको ले जा रहे थे उनके मुख परिश्रमसे खुल गये थे, उनमें केन निकल आया था और उनके खुर समान जमीनपर भी स्खलित होने लगे थे ॥१०५॥ जिनके खुर छोटे और गोल हैं, जिनपर छोटे और चिकने रोम हैं, जो बहुत ऊँचे हैं, जिनका आसन अर्थात् पीठ बहुत बड़ी है, और जिनका वेग बापुके समान है ऐसे बड़े-बड़े उत्तम घोड़े भी जल्दी-जल्दी दौड़े जा रहे थे ॥१०६॥ जो तीव्र वेगसे सहित हैं, जो अपने आगेके खुरोंको मुखसे उगलते हुएके समान जान पड़ते हैं, जिनका वक्षःस्थल बड़ा है और जिनकी नाकके नथने कुछ-कुछ हिल रहे हैं ऐसे बड़े-बड़े घोड़े जल्दी-जल्दी जा रहे थे ॥१०७॥ जिनके आगेका भाग बहुत ऊँचा है, जिनके शरीरपर-के भेंवर अत्यन्त शुद्ध हैं, और जिनका वेग मनके समान है ऐसे घोड़े उस छोटे-से मार्गमें बड़ी शीघ्रताके साथ जा रहे थे ॥१०८॥ जो बुद्धि-बल और वेगसे सहित हैं, विनयवान् हैं तथा सुन्दर गमनके धारक हैं ऐसे घोड़े पृथिवीको (रजस्वला अर्थात् धूलिसे युक्त—पक्षमें रजोधर्मसे युक्त—समस्त) उसके स्पर्श करनेमें घृणा करते हुए ही मानो बड़े वेगसे जा रहे थे ॥१०९॥ पैदल चलनेवाले

१ जालसमूहानि । कोरकाणि वा । २ प्रालेप । 'अवश्यायस्तु नीहारस्तुषारस्तुहिनं हिमम् । प्रालेपं मिहिका च' इत्यभिधानात् । ३ रथाश्वाः । ४ उरतप्ताः । — रायस्तेः इत्यपि पाठः । ५ समानभूतलेऽपि । ६ पृवृत्तपृष्ठभागाः । ७ बापुवेगाः । ८ घोगाः । ९ देवमणिमुल्लसुभावतीः । १० अवम्पूर्णेषु सत्सु । ११ कुत्समानाः । १२ वेगवद् यथा भवति तथा । १३ सवादत्राणैः ।

शाक्तिकाः^१ सह शार्ङ्गकैः^२ प्रासिका^३ धन्वभिः^४ समम् । नैऋतिकाश्च^५ तेऽन्योन्यं स्पर्धयेव ययुर्दुतम् ॥१११॥
 पुरः प्रधावितैः^६ प्रेक्षुष्वारवाणां^७ मण्डलवाः । जलपक्षा इषोर्हृषि भटा जग्मुरतिमुतम् ॥११२॥
 प्रयात धावतापंत मार्गं मा हन्वममतः । इत्युच्चैरुचरन्वपलाः^८ पतन्त्यस्तुतम् ॥११३॥
 हतोऽपसर्पताश्वाद्यादितो धावत हास्तिकात् । इतो रथादपत्रस्ता^९ दूरं नश्यत नश्यत ॥११४॥
 अमुन्माज्जनसंप्रदायुत्थापयत क्षिप्रकान्^{१०} । इतो^{११} हस्त्युत्सादश्वानपसारयत दुतम् ॥११५॥
 इतः^{१२} प्रस्थानमारुह्य स्थितोऽयं वाहुको गजः । मध्येऽध्वं^{१३} प्राजितुर्दोषात्^{१४} पर्वस्तोऽयमितो रथः ॥११६॥
 कसेलकोऽयमुत्थस्तः^{१५} प्रतीपं^{१६} पथि धावति । उत्सृष्टमारो लम्बोद्यो जनानिव विडम्बयन् ॥११७॥
 विप्रस्ताद्वेसरात्रेणां पतन्तीमवरोधिकाम् । संवारयन् पपातेऽस्मिन्^{१७} सौचिदृक्^{१८} पतत्ययम् ॥११८॥
 यवीयानेष^{१९} पण्यश्रीमुखालोकविस्मितः । पतितोऽप्यश्वसंबद्धैर्नारमानं वेद^{२०} शून्यधीः ॥११९॥
 हरिद्वारञ्जितकम्भुः^{२१} कञ्जलाङ्कितलोचनः । कुट्टिनीमनुयजेष^{२२} प्रवयास्तरणायते ॥१२०॥
 इति प्रयाणसंजल्पैरज्ञाताः^{२३} वपरिश्रमाः । सैनिकाः शिविरं प्रापन् सेनान्याः प्राक्निवेशितम् ॥१२१॥

सैनिक जूता पहने हुए पैरोंसे ठूँठ फाँटे तथा पत्थर आदिको लाँघते हुए घोड़े और रथोंसे भी जल्दी जा रहे थे ॥११०॥ शक्ति नामके हथियारको धारण करनेवाले लट्टु धारण करनेवालोंके साथ, भाला धारण करनेवाले धनुष धारण करनेवालोंके साथ और तलवार धारण करनेवाले लोग परस्पर एक-दूसरेके साथ स्पर्धा करते हुए ही मानो बड़ी शीघ्रताके साथ जा रहे थे ॥१११॥ आगे-आगे दौड़नेसे जिनके कवचके अग्रभाग कुछ-कुछ हिल रहे हैं ऐसे योद्धा लोग इतनी जल्दी जा रहे थे मानो पंख उत्पन्न होनेसे वे उड़े ही जा रहे हों ॥११२॥ चलो, दौड़ो, हटो, आगेका मार्ग मत रोको इस प्रकार जोर-जोरसे बोलनेवाले योद्धा लोग अपने सामनेके लोगोंको हटा रहे थे ॥११३॥ अरे, इन घोड़ोंके समूहसे एक ओर हटो, इन हाथियोंके समूहसे भागो, और बिचले हुए इन रथोंसे भी दूर भाग जाओ ॥११४॥ अरे, इस धन्वोंको लोगोंकी इस भीड़से उठाओ और इन हाथियोंके आगेसे घोड़ोंको भी शीघ्र हटाओ ॥११५॥ इधर यह दुष्ट हाथी रास्ता रोककर खड़ा हुआ है और इधर यह रथ सारथिकी गलतीसे मार्गके बीचमें ही उलट गया है ॥११६॥ इधर देखो, जिसने अपना भार पटक दिया है, जिसके लम्बे होंठ हैं और जो बहुत घबड़ा गया है ऐसा यह ऊँट मार्गमें इस प्रकार उलटा दौड़ा जा रहा है मानो लोगोंकी विडम्बना ही करना चाहता हो ॥११७॥ इधर इस ऊँची जमीनपर घबड़ाये हुए खच्चरपर-से गिरतो हुई अन्तःपुरकी स्त्रीको कोई कंचुकी बीचमें ही धारण कर रहा है परन्तु ऐसा करता हुआ वह स्वयं गिर रहा है ॥११८॥ यह तरुण पुरुष वेश्याका मुख देखनेसे आश्चर्यचकित होता हुआ घोड़ेके धक्केसे गिर गया है, परन्तु वह मूर्ख 'मैं' गिर गया हूँ इस तरह अब भी अपने-आपको नहीं जान रहा है ॥११९॥ जिसने अपने बाल खिजाबसे काले कर लिये हैं, जिसकी आँखोंमें काजल लगा हुआ है और जो किसी कुट्टिनीके पीछे-पीछे जा रहा है ऐसा यह बूढ़ा ठीक तरुण पुरुषके समान आचरण कर रहा है ॥१२०॥ इस प्रकार चलते समयकी बात-

१ शक्तिः प्रहरणं देवां ते शाक्तिकाः । २ यद्विहेतिकाः । ३ कौस्तिकाः । ४ अतिहेतिकाः । ५ प्रधावितैः । ६ चलत्कञ्चुक । ७ पुरोगामिनः । ८ भो विगतभयाः । ९ बालकान् । विष्मकान् ल०, द०, इ०, अ०, प०, स० । १० हस्तिमुखरात् । ११ गमनम् । पस्थान-ल० । १२ मार्गमध्ये । १३ सारथ्ये । 'नियन्ता प्राजिता यन्ता सूतः क्षत्ता च सारथिः ।' इत्यभिधानात् । १४ उत्तानितः । १५ उच्छ्रितः । १६ भीति गतः । १७ प्रतिकूलम् । अमिमुखमित्यर्थः । १८ प्रगतस्तु तटोभृगुः । १९ कञ्चुकी । २० युवा । २१ जानाति । २२ पलितप्रतीकारार्थं प्रयुक्तोपधविशेषरञ्जित । २३ सफरोम् । 'कुट्टिनी सफरो समे' इत्यभिधानात् । २४ अनुगच्छन् । २५ बूढ़ाः । 'प्रवयाः सशिविरो बूद्धो जीनो जीर्णो जरत्पि' इत्यभिधानात् ।

सतोऽवरोधनवधुमुत्पच्छायाविरुद्धिनिः । मध्यन्दिनात्पे^१सम्राट् संप्राप शिबिरान्तकम् ॥१२२॥
छत्ररत्नकृतच्छायां दिव्यं रथमधिष्ठितः । न तदातपसंमार्गां विदामास^२ विशांपतिः ॥१२३॥
वर्षाभिरयासन्नै^३सरस्वसु^४खसंकथः । प्रयातमपि^५ नाध्वानं विवेद भरताधिपः ॥१२४॥
नोद्वातः^६ कोऽप्यभूदङ्गो रथाङ्गपरिवर्तनैः^७ । रथवेगेऽपि नास्याभूत् क्लेशो^८ दिव्यानुभावतः ॥१२५॥
रथवेगानिलोदस्तं^९ ध्यायतं नदध्वजांशुकम् । पद्मादागामिरे^{१०}स्थानामिव मार्गमसूत्रयम्^{११} ॥१२६॥
रथोद्धतगतिकोभाहुद्भूताङ्गपरिश्रमाः । कथं कथमपि प्रापन् रथिनोऽन्ये रथं प्रभोः ॥१२७॥
^{१२}तमध्वशेषमध्वन्यैस्तुरङ्गैरथवाहयन्^{१३} । सादिनः प्रभुणा सार्धं शिबिरं प्रविदिष्वः^{१४} ॥१२८॥
वृत्ताद्दृष्टकुटीभेदानुत्थितान् प्रभुरैक्षत । सेनानिवेशमभितः^{१५} सौधशोभापहासिनः ॥१२९॥
रौप्यदण्डेषु विन्यस्तान् विस्तृतान् पटमण्डपान् । सोऽपश्यज्जनतातापहारिणः सुजनानिव ॥१३०॥
किमेतानि स्थलाब्जानि हंसयूथान्यमृनि वा । इत्याशङ्क्य स्थूलाग्राणि^{१६} दूराद्दृशिरे जनैः ॥१३१॥
सामन्तानां निवेशेषु कायमानानि^{१७} नैकधा^{१८} । निवेशितानि विन्यासैर्निर्दध्वौ^{१९} प्रभुरग्रतः ॥१३२॥
परितः कायमानानि वीक्ष्य कण्टकिनीर्जृम्भीः । निष्कण्टके निजे राज्ये मेने तानेव कण्टकान् ॥१३३॥

चीतसे जिन्हें मार्गका परिश्रम भी मालूम नहीं हुआ है ऐसे सैनिक लोग सेनापतिके द्वारा पहले-
से ही तैयार किये हुए शिबिर अर्थात् ठहरनेके स्थानपर जा पहुँचे ॥ १२१ ॥ तदनन्तर जब
मध्याह्नका सूर्य अन्तःपुरकी स्त्रियोंके मुखकी कान्तिको मलिन कर रहा था तब सम्राट् भरत
शिबिरके समीप पहुँचे ॥ १२२ ॥ जिनपर छत्ररत्नके द्वारा छाया की जा रही है और जो
देवनिर्मित सुन्दर रथपर बैठे हुए हैं ऐसे महाराज भरतको उस दोपहरके समय भी गरमीका
कुछ भी दुःख मालूम नहीं हुआ था ॥ १२३ ॥ जिन्होंने समीपमें चलनेवाले वृद्ध जनोंके साथ-साथ
अनेक प्रकारकी कथाएँ प्रारम्भ की हैं ऐसे भरतेश्वरको बीते हुए मार्गका भी पता नहीं चला
था ॥ १२४ ॥ दिव्य सामर्थ्य होनेके कारण रथके पहियोंकी चालसे उनके शरीरमें कुछ भी
उद्धात (दचका) नहीं लगा था और न रथका तीव्र वेग होनेपर भी उनके शरीरमें कुछ क्लेश
हुआ था ॥ १२५ ॥ रथके वेगसे उत्पन्न हुए वायुसे ऊपरकी ओर फहराता हुआ उनकी ध्वजा-
का लम्बा वस्त्र ऐसा जान पड़ता था मानो पीछे आनेवाली सेनाके लिए मार्ग ही सूचित कर
रहा हो ॥ १२६ ॥ रथकी उद्धत गतिके क्षोभसे जिनके अंग-अंगमें पीड़ा उत्पन्न हो रही है ऐसे रथ-
पर सवार हुए अन्य राजा लोग बड़ी कठिनाईसे महाराज भरतके रथके समीप पहुँच सके थे
॥ १२७ ॥ जो घुड़सवार लोग महाराज भरतके साथ ही शिबिरमें प्रवेश करना चाहते थे उन्होंने
बचे हुए मार्गको अपने उन्हीं चलते हुए श्रेष्ठ घोड़ोंसे बड़ी शीघ्रताके साथ तय किया था
॥ १२८ ॥ जो राजभवनोंकी शोभाकी ओर भी हैंस रहे हैं ऐसे शिबिरके चारों ओर खड़े किये
हुए रावटी तम्बू आदि डेराओंकी महाराज भरतने दूरसे ही देखा ॥ १२९ ॥ उन्होंने चाँदीके
खम्भोंपर खड़े किये हुए बहुत बड़े-बड़े कपड़ेके उन मण्डपोंकी भी देखा था जो कि सज्जन पुरुषोंके
समान लोगोंका सन्ताप दूर कर रहे थे ॥ १३० ॥ क्या ये स्थलकमल हैं अथवा हंसोंके समूह
हैं इस प्रकार आशंका कर लोग दूरसे ही उन तम्बूओंके अग्रभागोंकी देख रहे थे ॥ १३१ ॥
सामन्त लोगोंकी ठहरनेकी जगहपर अनेक प्रकारकी रचना कर जो तम्बू धीरे-धीरे बनाये गये
थे उन्हें भी महाराज भरतने सामनेसे देखा था ॥ १३२ ॥ तम्बूओंके चारों ओर जो कटीली

१ दिनाधिपे ट० । मध्याह्नसूर्ये । २ विविदे । ३ कुलवृद्धादिभिः । ४ मुख ल० । ५ अतिदूरं गतम् ।
६ पीडा । ७ रथचक्रप्रमणैः । ८ क्लमः ट० । श्रमः । ९ उद्धतम् । १० अवशीयत् । ११ अध्वनि साधुभिः ।
१२ अतिक्रम्य प्रापत् । १३ प्रवेष्टुमिच्छन् । १४ सेनारचनायाः समन्तात् । १५ पटकुट्याग्राणि । 'दृष्ट्यं स्थूलं
पटकुटीगुणलयनिश्रेणिका तुल्या' इति वैजयन्ती । १६ कुटीभेदाः । १७ नामाप्रकारा । १८ ददर्श ।

तदुभाभ्यामसंयुक्तपर्याणादि परिच्छदान् । स्कन्धावाराद् बहिः कांक्षिकावासान् प्रभुरैक्षत ॥१३४॥
 बहिर्निवेशमित्यादीन् विशेषान् स विलोकयन् । प्रवेशे शिबिरस्यास्य महाद्वारमभासदत् ॥१३५॥
 तदूर्ध्वं समं सैन्यैः संगच्छन् किंचिदन्तरम् । महाभिषसमनिर्घोषमाससाद् वणिक्पथम् ॥१३६॥
 कृतोपशोभभाषद्वतोरणं चित्रकैतनम् । वणिग्निरुद्धरत्नार्चं^४ स अग्राहे वणिक्पथम् ॥१३७॥
 प्रस्थापणमसौ तत्र रत्नराशौकिर्जीनिव । पश्यन् मेने निर्वायसां^५ प्रसिद्धैश्च तथास्थिताम्^६ ॥१३८॥
 समीक्षितकं स्फुरद्वनं जनतोत्कलिकाकुलम्^७ । रथा वणिक्पथान्मोधि पीता इव ललङ्कृचिरे ॥१३९॥
 चलददवीथकल्लोलैः स्फुरन्निर्दिशरोहितैः^८ । राजमार्गोऽभ्युधेलीलां महोभमकरैरधात् ॥१४०॥
 राजन्यकैश्च संख्यः समन्तादानुपालयम् । तदासी विपणीमार्गः सख्यं राजपथोऽभवत् ॥१४१॥
 ततः पर्यन्तक्रियस्तरत्नमासुरतोरणम् । रथकट्यां^९ परिक्षेपकृतबाणपरिच्छदम् ॥१४२॥
 आह्वयमानमश्वीर्यहस्तिकेनातिदुर्गमम् । बहुनागवनं^{१०} जुष्टं^{११} कलभैश्च करेणुभिः ॥१४३॥
 छत्रपण्डकृतच्छात्रं महोद्यानमिव प्रवचित् । ववचिस्तामस्तमण्डल्या रचितास्थानमण्डलम् ॥१४४॥

बाड़ियां बनायी गयी थीं उन्हें देखकर महाराज भरतने अपने निष्कण्टक राज्यमें ये ही कंठि हैं ऐसा माना था । भावार्थ — भरतके राज्यमें बाड़ीके कंठि छोड़कर और कोई कंठि अर्थात् शत्रु नहीं थे ॥ १३३ ॥ जहाँपर वृक्षोंकी डालियोंके अग्र भागपर घोड़ोंके पलान आदि अनेक वस्तुएँ टँगी हुई हैं और जो शिबिरके बाहर बने हुए हैं ऐसे कितने ही डेरे महाराज भरतने देखे ॥ १३४ ॥ इस प्रकार शिबिरके बाहर बनी हुई अनेक प्रकारकी विशेष वस्तुओंको देखते हुए महाराज शिबिरमें प्रवेश करनेके लिए उसके बड़े दरवाजेपर जा पहुँचे ॥ १३५ ॥ बड़े दरवाजेको उल्लंघन कर सैनिकोंके साथ कुछ दूर और गये तथा जिसमें समुद्रके समान गम्भीर शब्द हो रहे हैं ऐसे बाजारमें वे जा पहुँचे ॥ १३६ ॥ जिसकी बहुत अच्छी सजावट की गयी है जिसमें तोरण बंधे हुए हैं, अनेक प्रकारकी ध्वजाएँ फहरा रही हैं और व्यापारी लोग जिसमें रत्नोंका अर्घ लेकर खड़े हैं ऐसे उस बाजारमें महाराजने प्रवेश किया ॥ १३७ ॥ वहाँपर प्रत्येक दूकानपर निधियोंके समान रत्नोंकी राशि देखते हुए महाराज भरतने माना था कि निधियोंकी संख्या प्रसिद्धि मात्रसे ही निश्चित की गयी है । भावार्थ — प्रत्येक दूकानपर रत्नोंकी राशियाँ देखकर उन्होंने इस बातका निश्चय किया था कि निधियोंकी संख्या नौ है यह प्रसिद्धि मात्र है, वास्तवमें वे असंख्यात हैं ॥ १३८ ॥ जो मोतियोंसे सहित है, जिसमें अनेक रत्न देदीप्यमान हो रहे हैं और जो मनुष्योंके समूहरूपी लहरोंसे व्याप्त हो रहा है ऐसे उस बाजाररूपी समुद्रको रथोंने जहाजके समान पार किया था ॥ १३९ ॥ उस समय वह राजमार्ग चलते हुए घोड़ोंके समुदायरूपी लहरोंसे, चमकती हुई तलवाररूपी मछलियोंसे और बड़े-बड़े हाथीरूपी मगरोंसे ठीक समुद्रकी शोभा धारण कर रहा था ॥ १४० ॥ उस समय वह बाजारका रास्ता महाराजके तम्बू तक चारों ओरसे अनेक राजकुमारोंसे भरा हुआ था इसलिए वास्तवमें राजमार्ग हो रहा था ॥ १४१ ॥ तदनन्तर जिसके समीप ही रत्नोंके देदीप्यमान तोरण लग रहे हैं, घेरकर रखे हुए रथोंके समूहसे जिसकी बाहरकी शोभा बढ़ रही है — जो घोड़ोंके समूहसे भरा हुआ है, हाथियोंके समूहसे जिसके भीतर जाना कठिन है, जो हाथियोंकी बड़ी भारी सेनासे सुशोभित है, हाथियोंके बच्चे और हथिनियोंसे भी भरा हुआ है । अनेक छत्रोंके समूहकी छाया होनेसे

१ पश्ययनादिवरिकरान् । २ शिबिरात् । ३ कटकाद् बहिः । ४ भूतरत्नार्चम् । ५ प्रमाणम् । ६ नवनिधिखलपेण स्थिताम् । तथास्थितान् ल० । ७ तरङ्गाकुलम् । ८ मत्स्यविशेषः । ९ रथसमूहपरिवेष्टेन कृतबाणपरिकरम् । १० ईषदसमाप्तनागवनम् । नागवनसदृशमिति यावत् । ११ सेवितम् ।

प्रधितश्मिश्च निर्यदभिरपर्यन्तैर्निर्गोगिमिः । महाब्धेरिव करुणोलैस्तयमाविर्भवद्भुवि ॥१४५॥
जननोत्पारणव्यग्रमहादौवारपालकम् । कृतमङ्गरुनिर्गोषं चाम्बेभ्येव कृतान्वदम् ॥१४६॥
धिरानुभूतमप्येवमपूर्वमिव शोभया । नृपो नृपाङ्गणं पश्यन् किमप्यासीत् सविस्मयः ॥१४७॥
निधयो यस्य पर्यन्ते मध्ये रत्नान्यनन्तशः । महतः भिन्निरस्त्राश्च त्रितोत्रं कौडनुवर्णयेत् ॥१४८॥

शार्दूलविक्रीडितम्

स श्रीमानिति विश्वतः स्त्रिशिरं लक्ष्म्या निवासायितं
पश्यन्नासन्नितिविशुद्धं विशिखाः^१ स्वर्गापहानिभ्रिथः ।
संभ्राम्यप्रतिहारस्त्वजनतासंवाधमुक्तेन
प्राविशत्^२ कृतमन्विषमचिरादास्मालम्^३ आपतिः ॥१४९॥
तत्रानिष्कृतमङ्गले सुरसरिर्त्रीर्षाभुवा वायुना
संमृष्टाङ्गवेदिके विकिरता तापच्छिदः शीकराद् ।
शस्त्रे वास्तुनि^४ विस्तृते स्थपतिना सद्यः समुत्थापिते
लक्ष्मीमान् सुखमावतस्रधिपतिः प्राचीं^५ दिशं निर्जयन् ॥१५०॥

जो कहींपर किसी बड़े भारी बगीचाके समान जान पड़ता है और कहीं अनेक राजाओंकी मण्डलीमें युक्त होनेके कारण सभामण्डपके समान मालूम होता है, जो प्रवेश करते हुए और बाहर निकलते हुए अनेक कर्मचारियोंसे लहरोंसे शब्द करते हुए किसी महासागरके किनारेके समान जान पड़ता है । जहाँपर बड़े-बड़े द्वारपाल लोग मनुष्योंकी भीड़को दूर हटानेमें लगे हुए हैं, जहाँ अनेक प्रकारके मंगलमय शब्द हो रहे हैं और इसीलिए जो ऐसा जान पड़ता है मानो सरस्वती देवीने ही उसमें अपना निवास कर रखा हो तथा जो चिरकालसे अनुभूत होनेपर भी अपनी अनोखी शोभासे अपूर्वके समान मालूम हो रहा है ऐसे राजभवनके आँगनको देखते हुए महाराज भरत भी कुछ-कुछ आश्चर्यचकित हो गये थे ॥१४२-१४७॥ जिसके चारों ओर निधियाँ रखी हुई हैं और बीचमें अनेक प्रकारके रत्न रखे हुए हैं ऐसे उस बड़े भारी शिबिरकी विशेषताका कौन वर्णन कर सकता है ॥ १४८ ॥ इस प्रकार लक्ष्मीके निवासस्थानके समान सुशोभित अपने शिबिरको चारों ओरसे देखते हुए जो अत्यन्त सन्तुष्ट हो रहे हैं ऐसे लक्ष्मीपति श्रीमान् भरतने, चारों ओर दौड़ने हुए द्वारपालोंके द्वारा जिसमें मनुष्योंकी भीड़का उपद्रव दूर किया जा रहा है, जिसपर अनेक पताकाएँ फहरा रही हैं, और जिसमें अनेक प्रकारकी रचना की गयी है ऐसे अपने तम्बूमें शीघ्र ही प्रवेश किया ॥१४९॥ जिसमें मंगल-द्रव्य रखे हुए हैं, गंगा नदीकी लहरोंसे उत्पन्न हुए तथा सन्तापको दूर करनेवाली जलकी बूंदोंको बरसाते हुए वायुसे जिसके आँगनकी वेदी साफ की गयी है, जो प्रशंसनीय है, विस्तृत है तथा स्थपति (शिलावट) रत्नके द्वारा बहुत शीघ्र खड़ा किया गया है, बनाया गया है ऐसे तम्बूमें पूर्व दिशाको जीतनेवाले, निधियोंके स्वामी श्रीमान् भरतने सुखपूर्वक निवास किया

१ रथ्याः । 'रथ्या प्रतोली विशिखा' इत्यमरः । २ विहितसम्पदरचनम् । ३ भरतेश्वरः । ४ सम्मार्जित । ५ गृहे । ६ पूर्वाम् ।

राजाभावसंधेषु शान्तजननाक्षोभेषु पीताम्भसा-
 मदवानां पटमण्डपेषु निवहं स्वैरं नृणामासिनि ।
 गङ्गातीरस्वरोवगाहिनि वनेष्वालानितं हासिके
 जिह्वोदनकटकं चिरादिव कृतावासं सदा लक्ष्यते ॥१५१॥
 तन्नासीनमुपाधनैः कुलधनैः कन्याप्रदानादिभिः
 प्राप्या मण्डलभूभुजः समुचितैराराधयन् स्वाधनैः^१ ।
 संरुद्धाः^२ प्रविहाय मानसपते प्राणशिपुश्चक्रिणं
 वृषादानतमौलयो जिनमिष प्राज्योदयं^३ नाकिनः ॥१५२॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिपष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे भरतराजविजय-
 प्रयाणवर्णनं नाम सप्तविंशतितमं पर्व ॥२७॥



॥१५०॥ जिस समय राजाओंके तन्त्रुओंमें मनुष्योंकी भीड़का क्षोभ शान्त हो गया था, घोड़ों-
 के समूह जल पीकर कपड़ेके बने हुए मण्डपोंमें अपने इच्छानुसार घास खाने लगे थे, और हाथियों-
 के समूह गंगा नदीके किनारेके सरोवरोंमें अवगाहन कराकर-स्नान कराकर-वनोमें बांध
 दिये गये थे उस समय विजयी महाराज भरतकी वह सेना ऐसी जान पड़ती थी मानो चिरकालसे
 ही वहाँ रह रही हो ॥१५१॥ जिस प्रकार श्रेष्ठ महिमाको धारण करनेवाले तथा समवसरण
 सभामें विराजमान जिनेन्द्रदेवकी देव लोग आराधना करते हैं उसी प्रकार श्रेष्ठ वैभवको
 धारण करनेवाले तथा उस मण्डपमें बैठे हुए महाराज भरतको पूर्वदिशाके राजाओंने अपनी
 कुल-परम्परासे आया हुआ धन भेंटमें देकर, कन्याएँ प्रदान कर तथा और भी अनेक योग्य
 वस्तुएँ देकर उनकी आराधना-सेवा की थी । इसी प्रकार उनकी सेनाके द्वारा रोके हुए अन्य
 कितने ही राजाओंने अहंकार छोड़कर दूरसे ही मस्तक झुकाकर चक्रवर्तीके लिए प्रणाम किया
 था ॥१५२॥

इस प्रकार आर्य नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिपष्टिलक्षण श्रीमहापुराणसंग्रहके
 भाषानुवादमें भरतराजका राजाओंकी विजयके लिए प्रयाण करना
 इस बातका वर्णन करनेवाला सत्ताईसवाँ पर्व समाप्त हुआ ।



अष्टाविंशतितमं पर्व

अथान्येषुर्दिनारम्भे कृतप्रभातिकक्रियः । प्रयागमकराक्षकी चक्ररत्नानुसारितः^१ ॥१॥
 अलङ्घ्यं चक्रमाक्रान्तपरचक्रपराक्रमम् । दण्डंश्च दण्डितारतिर्द्वयमस्य^२ पुरोऽभवत् ॥२॥
 रक्ष्यं देववहस्रेण चक्रं दण्डश्च तादृशः । जयाङ्गमिदमेवास्य द्वयं शेषः परित्यज्य^३ ॥३॥
 विजयार्धप्रतिस्पर्धिवर्माणं यागहस्तिनम्^४ । प्रतस्थे प्रभुराकृष्ट नाम्ना विजयपर्वतम् ॥४॥
 प्राच्यो दिशमथो जेतुमापयोधेस्तमुद्यतम् । नृनं^५ स्तेम्बेरमव्याजादृष्टे^६ विजयपर्वतः^७ ॥५॥
 सुरेभं^८ शरदभ्राममारुह्यो जयकुञ्जरम् । स रेजे दीप्तमुकुटः सुरेभं^९ सुरराट्पुत्र ॥६॥
 सितातपश्चमस्योच्चैर्विभूतं श्रियमादधे । यशसां प्रसवासारमिव^{१०} तद्दृष्ट्वाजनुस्मितम् ॥७॥
 लक्ष्मीप्रह्लासविशदा चामराली समन्ततः । व्यभूयतास्य विध्वस्वतापा ज्योत्स्नेव शारदी ॥८॥
 जयद्विरदमारुह्यो ज्वलजैत्रास्त्रभासुरः । जयलक्ष्मीकटाक्षाणामगमत् स शरव्यताम्^{११} ॥९॥
 महामुकुटबद्धानां सहस्राणि^{१२} सन्ततः । तन्मधुप्रसूतं स्तनं सुशोभितमिदमक्षयम् ॥१०॥

अथानन्तर—दूसरे दिन सबेरा होते ही जो प्रातःकालके समय करने योग्य समस्त क्रियाएँ कर चुके हैं ऐसे चक्रवर्ती भरतने चक्ररत्नके पीछे-पीछे प्रस्थान किया ॥१॥ शत्रु-समूहके परा-क्रमको नष्ट करनेवाला तथा स्वयं दूसरोंके द्वारा उल्लंघन न करने योग्य चक्ररत्न और शत्रुओंको दण्डित करनेवाला दण्डरत्न, ये दोनों ही रत्न चक्रवर्तीकी सेनाके आगे-आगे रहते थे ॥२॥ चक्ररत्न एक हजार देवोंके द्वारा रक्षित था और दण्डरत्न भी इतने ही देवोंके द्वारा रक्षित था । वास्तवमें चक्रवर्तीकी विजयके कारण ये दो ही थे, शेष सामग्री तो केवल शोभाके लिए थी ॥३॥ अबकी बार चक्रवर्तीने, जिसका शरीर विजयार्ध पर्वतके साथ स्पर्धा कर रहा है ऐसे विजयपर्वत नामके पूज्य हाथीपर सवार होकर प्रस्थान किया था ॥४॥ उस समय ऐसा मालूम होता था मानो समुद्र पर्यन्त पूर्व दिशाको जीतनेके लिए उद्यत हुए महाराज भरतको उस हाथीके छलसे विजयार्ध पर्वत ही धारण कर रहा हो ॥५॥ जिस प्रकार देदीप्यमान मुकुटको धारण करनेवाला इन्द्र ऐरावत हाथीपर चढ़ा हुआ सुशोभित होता है उसी प्रकार देदीप्यमान मुकुटको धारण करनेवाला भरत शरद्वक्रतुके बादलोंके समान सफेद और देवोंके द्वारा दिये हुए उस विजयपर्वत हाथीपर चढ़ा हुआ सुशोभित हो रहा था ॥६॥ भरतेश्वरके ऊपर लगा हुआ सफेद छत्र ऐसी शोभा धारण कर रहा था मानो छत्रके बहानेसे यशकी उत्पत्तिका स्थान ही हो ॥७॥ लक्ष्मीके हास्यके समान निर्मल और शरद्वक्रतुकी चाँदनीके समान सन्तापको नष्ट करनेवाली चमरोंकी पक्ति महाराज भरतके चारों ओर ढोली जा रही थी ॥८॥ विजय नामके हाथीपर आरुढ़ हुए और विजय प्राप्त करानेवाले प्रकाशमान अस्त्रोंसे देदीप्यमान होने-वाले भरतेश्वर जयलक्ष्मीके कटाक्षोंके लक्ष्य बन रहे थे । भावार्थ — उनकी ओर विजयलक्ष्मी देख रही थी ॥९॥ जिस प्रकार देव लोग इन्द्रके पीछे-पीछे चलते हैं उसी प्रकार हजारों मुकुट-बद्ध बड़े-बड़े राजा लोग चारों ओर भरत महाराजके पीछे-पीछे चल रहे थे ॥१०॥ 'आज

१ अनुगमनात् । २ अरिनिर्कर । परराष्ट्रं वा । ३ चक्रिणः । ४ परिकरः । ५ विजयार्धगिरिणा स्पर्धमान-
 देहम् । ६ पूजोपेतगजम् । ७ ननु ल० । ८ धरति स्म । ९ विजयार्धगिरिः । १० सुशब्दम् । ११ ऐरावतम् ।
 १२ सत्रव्याज । १३ लक्ष्यताम् । 'लक्ष्यं लक्ष्यं शरव्यं च' इत्यभिधानात् । १४ अपरिमिता इत्यर्थः ।

दूरमय प्रयातव्यं निवेष्ट्यमुपाण्व्रम्^१ । त्वरध्वमिति सेनान्वः सैनिकानुदतिष्ठयन् ॥११॥
 स्वर्गनां प्रस्थितो देवो दवीयइ^२ प्रयाणकम् । बलाधिकारिणामिष्टं वचो बलमचुक्षुभन् ॥१२॥
 अद्यामिन्धु^३ प्रयातव्यं गङ्गाद्वारे निवेशनम् । संश्राव्यो मागधोऽग्नौ विलङ्घ्य पयसा निधिम् ॥१३॥
 समुद्रमग्न पश्यामः समुद्रङ्गक्षरङ्गकम्^४ । समुद्रं लङ्घनेऽग्नौ व समुद्रं^५ शासनं विभोः ॥१४॥
 अन्त्यान्यस्येति संजल्पैः संप्राप्तिधनं^६ सैनिकाः । प्रयाणभेरीप्रध्वानस्तदौघम्^७ 'सामदिध्वनन्'^८ ॥१५॥
 ततः प्रचलिता सेना मानुगङ्गा धृतायतिः । मिमानेव तदायामं पश्ये प्रथितध्वनिः ॥१६॥
 सचामरा चलङ्गसां मयलाका^९ पताकिनी^{१०} । अन्विषाय चमूर्गङ्गा सतुरङ्गा तरङ्गिणीम्^{११} ॥१७॥
 राजहंसैः कृताध्यासा कचिदप्यस्त्वल्ङ्गानिः । चमूर्गिन् प्रति प्रायान्^{१२} सा दिनीयेव जाह्नवी ॥१८॥
 विपरीतामनदृति^{१३} निम्नगा^{१४} मुधतस्थितिः । त्रिमार्गगां व्यजंष्ट्यां पृतना बहुमार्गगा ॥१९॥

बहुत दूर जाना है और समुद्रके समीप ही ठहरना है इसलिए जल्दी करो' इस प्रकार सेनापति लोग सैनिकोंको जल्दी-जल्दी उठा रहे थे ॥११॥ 'अरे जल्दी करो, महाराज प्रस्थान कर गये, और आजका पड़ाव बहुत दूर है' इस प्रकार सेनापतियोंके वचन सेनाको क्षोभित कर रहे थे ॥१२॥ 'आज समुद्र तक चलना है, गंगाके द्वारपर ठहरना है और आज ही समुद्रको उल्लंघन कर मागधदेवको वश करना है ॥१३॥ आज हम लोग, जिसमें ऊँची-ऊँची लहरें उठ रही हैं ऐसे समुद्रको देखेंगे और आज ही समुद्रको उल्लंघन करनेके लिए महाराजकी मुहर सहित आज्ञा है' ॥१४॥ इस प्रकार परस्पर बातलाप करते हुए सैनिकोंने प्रस्थान किया, उस समय प्रयाण-कालमें बजनेवाले नगाड़ोंके उठे हुए शब्दने आकाशको शब्दायमान कर दिया था ॥१५॥ तदनन्तर, जिसका शब्द सब ओर फैल रहा है ऐसी वह सेना गंगा नदीके किनारे-किनारे लम्बी होकर इस प्रकार चलने लगी मानो उसकी लम्बाईका नाप करती हुई ही चल रही हो ॥१६॥ उस समय वह सेना ठीक गंगा नदीका अनुकरण कर रही थी क्योंकि जिस प्रकार गंगा नदीमें हंस चलते हैं उसी प्रकार उस सेनामें चमर हुलाये जा रहे थे, जिस प्रकार गंगा नदीमें बगुला उड़ा करते हैं उसी प्रकार उस सेनामें ध्वजाएँ फहरायी जा रही थीं और जिस प्रकार गंगा नदीमें अनेक तरंग उठा करते हैं उसी प्रकार उस सेनामें अनेक धोड़े उछल रहे थे ॥१७॥ वह सेना समुद्रकी ओर इस प्रकार जा रही थी मानो दूसरी गंगा नदी ही जा रही हो क्योंकि जिस प्रकार गंगा नदीमें राजहंस निवास करते हैं उसी प्रकार उस सेनामें भी राजहंस अर्थात् श्रेष्ठ राजा लोग निवास कर रहे थे और जिस प्रकार गंगा नदीकी गति कहीं भी स्थलित नहीं होती उसी प्रकार उस सेनाकी गति भी कहीं स्थलित नहीं हो रही थी ॥१८॥ अथवा उस सेनाने गंगा नदीको जीत लिया था क्योंकि गंगा नदी विपरीत अर्थात् उलटी प्रवृत्ति करनेवाली थी (पक्षमें वि-परीत - पक्षियोंसे व्याप्त थी) परन्तु सेना विपरीत नहीं थी अर्थात् सदा चक्रवर्तीके आज्ञानुसार ही काम करती थी, गंगा नदी निम्नगा अर्थात् नीच पुरुषको प्राप्त होनेवाली थी (पक्षमें ढालू स्थानकी ओर बहनेवाली थी) परन्तु सेना उसके विरुद्ध उन्नतगा अर्थात् उन्नत पुरुष-चक्रवर्तीको प्राप्त होनेवाली थी और इसी प्रकार गंगा त्रिमार्गगा अर्थात् तीन मार्गोंसे गमन करनेवाली थी (पक्षमें त्रिमार्गगा, यह गंगाका एक नाम है) परन्तु

१ अर्णवसमीपे । २ वेगं कुरुध्वम् । ३ दूरतरम् । ४ आ समुद्रम् । ५ साधनीयः । संसाध्यो इ०, अ०, द०, ल० । ६ उच्चैश्चलद्वीपिकम् । ७ समुद्रलङ्घनेऽग्नौ व ल०, द०, इ० । ८ मुद्रया सहितम् । ९ गन्धुमुपक्रान्त-वन्तः । १० खम् । ११ ध्वनिमकारयत् । १२ विसकण्टिकासहितम् । १३ सपताकावती । १४ तरङ्गावतीम् । १५ अगच्छत् । १६ पक्षिभिः परिवृताम् । प्रतिकूलामिति ध्वनिः । १७ विपरीत-वृत्तिरहितेत्यर्थः । १८ नीच-पथगामिति ध्वनिः ।

अनुगङ्गातटं यान्ती ध्वजिनी सा ध्वजाञ्जुकेः । वररेणुभिरार्कणं संममार्जेव स्वाङ्गणम् ॥२०॥
 दुर्विगाहा महाप्राहाः^१ सैन्यान्युत्तेरन्तरे । गङ्गानुगा^२ धुनीसंह्रा^३ बहुराजकुलस्थितीः^४ ॥२१॥
 मार्गे बहुविधान् देशान् सरितः पर्वतानपि । वनधीन् वनदुर्गाणि खनीरप्यस्यगान् प्रभुः ॥२२॥
 अगोप्यदेववरणेषु^५ दशं व्यापारयन् विभुः । भूमिच्छिद्रपिधानाय^६ क्षणं यत्नमिवातनोत् ॥२३॥
 पथि प्रणेमुरागस्य संभ्रान्ता मण्डलाधिपाः । दण्डोपनतवृत्तस्य^७ विषयोऽयमिति प्रभुम् ॥२४॥
 स^८ चक्रं धेहि^९ राजेन्द्र सधुरं^{१०} प्राजं^{११} सारथे । संजल्प इति नास्मार्सादयत्नावनतद्विधः ॥२५॥
 प्रतिशोढुमशक्तास्तं^{१२} प्रथनेषु जिगीषवः । तत्पदं प्रणतिव्याजात् समौलिभिरलाङ्घयन् ॥२६॥
 किमु^{१३} ररिक्तेषु^{१४} अश्रुजलैः^{१५} इव सोऽधस्त महतां चित्रमाहितम् ॥२७॥

सेना अनेक मार्गोंसे गमन करनेवाली थी ॥१९॥ गंगानदीके किनारे-किनारे जाती हुई वह सेना अपनी फहराती हुई ध्वजाओंसे ऐसी जान पड़ती थी मानो वनकी धूलिसे भरे हुए आकाशरूपी आगनको ध्वजाओंके वस्त्रोंसे साफ ही कर रही हो ॥२०॥ महाराज भरतकी सेनाओंने गंगाकी ओर आनेवाली उन अनेक नदियोंको पार किया था जो राजकुलकी स्थितिके समान जान पड़ती थीं क्योंकि जिस प्रकार राजकुलकी स्थिति दुर्विगाह अर्थात् दुःखसे जाननेके योग्य होती है उसी प्रकार वे नदियाँ भी दुर्विगाह अर्थात् दुःखसे प्रवेश करने योग्य थीं और राजकुलकी स्थिति जिस प्रकार महाप्राह अर्थात् महास्वीकृतिसे सहित होती है उसी प्रकार वे नदियाँ भी महाप्राह अर्थात् बड़े-बड़े मगर-मच्छोंसे सहित थीं ॥२१॥ धनवान् महाराज भरत मार्गमें पड़ते हुए अनेक देश, नदियाँ, पर्वत, वन, किले और खान आदि सबको उल्लंघन करते हुए आगे चले जा रहे थे ॥२२॥ गाय आदि जानवरोंके संचारसे रहित अर्थात् अगम्य वनोंमें दृष्टि डालते हुए भरतेश्वर ऐसे जान पड़ते थे मानो पृथिवीके छिद्रोंको ढाँकनेके लिए क्षण-भरके लिए न यत्न ही कर रहे हों ॥२३॥ मार्गमें घबड़ाये हुए अनेक मण्डलेश्वर राजा भरतको यह सोचकर प्रणाम कर रहे थे कि यह देश दण्डरत्नके धारकका है ॥२४॥ मार्गमें महाराज भरतेश्वरके समस्त शत्रु बिना प्रयत्नके ही नन्नीभूत होते जाते थे इसलिए उन्हें कभी यह शब्द नहीं कहने पड़ते थे कि हे राजेन्द्र, आप चक्ररत्न धारण कीजिए और हे सारथे, तुम रथ चलाओ ॥२५॥ जीतनेकी इच्छा करनेवाले अन्य कितने ही राजा लोग युद्धमें भरतेश्वरसे लड़नेके लिए समर्थ नहीं हो सके थे इसलिए नयस्कारके बहाने अपने मुकुटोंसे ही उनके पैरोंकी ताड़ना कर रहे थे ॥२६॥ महाराज भरत जिस प्रकार अपने राज्यमें विभुत्व अर्थात् ऐश्वर्य धारण करते थे उसी प्रकार शत्रुओंके राज्यों में भी विभुत्व अर्थात् पृथिवीका अभाव धारण करते थे—उनकी भूमि छीन लेते थे, (विगत भूयेषां तेषां भावः विभुत्वम्) और जिस प्रकार अपने राज्यमें भूप-रागानुरजन अर्थात्

१ महानकाः, पक्षे महारदीकाराः । २ नदीः । ३ राजकुलस्थितेः समाः [प्रकारार्थे बहुवृत्] । ४ बहुसंख्यान् । बहुस्थितान् ल०, इ० । बहुतिथान् ट० । ५ सरोवरान् । धनवान् ल०, प०, इ० । बलवान् अ०, स० । ६ अगम्येषु । ७ भूयतच्छिद्रादनाय । ८ दण्डेन प्राप्तं वृत्तं यस्य स तस्य । ९ प्रणामः । १० प्रसिद्धस्त्वम् । ११ धारय । १२ यानमुखम् । 'धूः स्त्री क्लोबे यानमुखम्' इत्यभिधानात् । १३ प्रेरय, 'अज प्रेरणे च' । १४ युद्धेषु । प्रथनेषु ल०, द०, इ०, प०, स०, अ० । १५ प्रभुत्वम्, व्यापित्वं च । १६ स्त्रराष्ट्रपक्षे भूपाना-मनुरागरञ्जनम् । अरिराष्ट्रपक्षे भुवः परागरञ्जनम् ।

संख्यादिविषये^१ नास्य समकक्षो^२ हि पार्थिवः । 'षाड्गुण्यमत एवास्मिन् चरितार्थममूर्तं प्रभो'^३ ॥२८॥
 प्रतिराष्ट्रमुपानीतप्राभूतान् विषयाधिपान् । संभावयन् प्रसादेन सोऽत्यगात् विषयान् बहून् ॥२९॥
 नास्त्रे^४ व्यापारितो हस्तो मूर्ध्नि धनुषि नार्पिता । केवलं प्रभुशक्त्यैव प्राची दिग्विजिताऽमुना ॥३०॥
 गोकुलानामुपान्तेषु सोऽपश्यद् युववलयान्^५ । वनवल्लीभिराश्रज्जुत्कार्णं गोऽभिरक्षिणः ॥३१॥
 मन्यार्कश्रमोद्भूतस्वेदविन्दुचित्तननाः । मथ्यती^६ सकुचोत्कम्पं सलीलत्रिकनर्तनैः^७ ॥३२॥
 मन्थरज्जुसमाकृष्टिवलान्तग्राहः^८ । श्लथान्शुकाः । स्रस्तस्तनांशुका लक्ष्यश्रिवल्लीभक्तगुरोदराः^९ ॥३३॥
 क्षुब्धाभिघातोच्चलितस्थलगोरसविन्दुभिः^{१०} । विरलरङ्गसंलग्नैः शोभा कामपि पुष्पलतीः ॥३४॥
 मन्थारत्रानुसारेण किञ्चिदारब्धमूर्च्छनाः^{११} । विस्त्रस्तकवरीवन्धाः कामस्येष पताकिकाः ॥३५॥
 'गोष्ठाङ्गणेषु सल्लापैः^{१२} स्वरमारब्धमन्थनाः । प्रभुर्गोपिवधूः पश्यन् किमप्यासीत् समुत्सुकः ॥३६॥
 वने वनगर्जनुष्टे^{१३} प्रभुमेजं धर्मचराः । दन्तैर्वनकरीन्द्राणामद्राक्षुः सह मौक्तिकैः ॥३७॥

राजाओंके प्रेमपूर्ण अनुरागको धारण करते थे उसी प्रकार शत्रुओंके राज्योंमें भी भू-परागा-
 नुरंजन अर्थात् पृथिवीकी धूलिसे अनुरंजन धारण करते थे, शत्रुओंको धूलिमें मिला देते थे,
 सो ठीक ही है, क्योंकि महापुरुषोंकी चेष्टाएँ आश्चर्य करनेवाली होती ही हैं ॥२७॥ सन्धि
 आदि गुणोंके विषयमें कोई भी राजा महाराज भरतके बराबर नहीं था इसलिए सन्धि आदि
 छहों गुण उन्हींमें चरितार्थ हुए थे । भावार्थ — कोई भी राजा इनके विरुद्ध नहीं था इसलिए
 इन्हें किसीसे सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्विधीभाव और आश्रय नहीं करने पड़ते थे ॥२८॥
 प्रत्येक देशमें भेंट लेकर आये हुए वहाँके राजाओंका बड़ी प्रसन्नतासे आदर-सत्कार करते हुए
 महाराज भरत बहुत-से देशोंको उल्लंघन कर आगे बढ़ते जाते थे ॥२९॥ भरतेश्वरने न तो
 कभी तलवारपर अपना हाथ लगाया था और न कभी डोरी ही धनुषपर चढ़ायी थी । उन्होंने
 केवल अपनी प्रभुत्वशक्तिसे ही पूर्व दिशाको जीत लिया था ॥३०॥ उन्होंने गोकुलोंके समीप
 ही गायोंकी रक्षा करनेवाले तथा वनकी लताओंसे जिन्होंने अपने शिरके बालोंका जूड़ा बाँध रखा
 है ऐसे तरुण ग्वाला देखे ॥३१॥ कढ़नियोंके खींचनेके परिश्रमसे उत्पन्न हुए पसीनेकी बूँदोंसे
 जिनके मुख व्याप्त हो रहे हैं, जो लीलापूर्वक नितम्बोंको नचान-चाकर स्तनोंको हिलाती हुई
 दही मथ रही हैं, कढ़नियोंके खींचनेसे जिनकी भुजाएँ थक गयी हैं, जिनके सब वस्त्र ढीले पड़
 गये हैं, जिनके स्तनोंपर-का वस्त्र भी तोचेका ओर खिसक गया है, जिनके कृश उदरमें त्रिवलीकी
 रेखाएँ साफ-साफ दिख रही हैं, रई (फूल) के आघातसे उछल-उछलकर शरीरसे जहाँ-तहाँ
 लगी हुई दहीकी बड़ी-बड़ी बूँदोंसे जो एक प्रकारकी विचित्र शोभाको पुष्ट कर रही हैं, मन्थनसे
 होनेवाले शब्दोंके साथ-साथ ही जिन्होंने कुछ गाना भी प्रारम्भ किया है, जिनके केशपाशका
 बन्धन खुल गया है और इसीलिए जो कामदेवकी पताकाओंके समान जान पड़ती हैं, तथा
 गोशालाके आँगनोंमें अपने इच्छानुसार वार्तालाप करती हुई जिन्होंने दहीका मथना प्रारम्भ
 किया है ऐसी ग्वालाओंकी स्त्रियोंको देखते हुए महाराज भरतेश्वर कुछ उत्कण्ठित हो उठे थे
 ॥३२-३६॥ जंगली हाथियोंसे भरे हुए वनमें रहनेवाले भील लोगोंने जंगली हाथियोंके
 दाँत और मोती भेंटकर महाराजके दर्शन किये थे ॥३७॥ जिनका शरीर श्याम है जिनके

१ सन्धिविग्रहयानासनद्विधाश्रयानां विषये । २ समानप्रतिपत्तिकः । ३ सन्ध्यादिगुणसमूहः । ४ कृतकृत्यम् ।
 ५ प्रभोः स०, अ०, द० । ६ नासो ल०, द०, इ० । ७ तरुणगोपालान् । 'गोपे गोपालगोसंख्यागोदुर्गाभीर-
 वल्लवाः' इत्यभिधानात् । ८ केशपाशान् । ९ मथनं कुर्वतीः । १० नितम्ब । 'त्रिका कूपस्य वेमी स्यात्
 त्रिकं पृष्ठसरे जयं' इत्यभिधानात् । ११ समाकर्षणालाना । १२ मनोज्ञ । १३ मथन । १४ स्वरविश्रवण ।
 १५ गोस्थान । 'गोष्ठं गोस्थानकम्' इत्यभिधानात् । १६ मिथो भाषणैः । १७ सेविते ।

स्थामाङ्गीरन्मिष्यत्तरोमराजीस्तनूदरीः । परिधानीकृतालोलपल्लवन्धस्तसंज्ञनीः ॥३८॥
 चमरीवालकाषिडूकप्रतीक्षप्रवन्धुराः । फलिनीफलसंलभमालारचितकण्डिकाः ॥३९॥
 कस्तूरिकाशृगाव्यासवालिताः सुरमीमृदः । संविन्वतीर्वनाभोगे प्रसाधनजिह्वभया ॥४०॥
 पुलिन्दकव्यकाः सैन्यसमालोकनविस्मिताः । अज्याजसुन्दराकाश दूरादालोकयन् प्रभुः ॥४१॥
 चमरीवालकान् केचित् केचित् कस्तूरिकाण्डकान् । प्रमोदपायनीकृत्य ददुर्गुल्लेच्छराजकाः ॥४२॥
 तत्रान्तपालदुर्गाणां सहस्राणि सहस्रशः । लब्धचक्रवरादेशः सेनाधीः समक्षिभिरन् ॥४३॥
 अपूर्वरत्नसंदर्भैः कुप्यसारवर्जैरपि । अन्तपालाः प्रमोदराज्ञं सप्रणामैरमानयन् ॥४४॥
 सतो विदूस्सुलक्ष्म्य सोऽध्वानं सख्यं मेतथा । गङ्गाद्वारप्रवन्धमापन् कर्मिणालक्ष्म्यमर्णवम् ॥४५॥
 बहिः समुद्रमुद्विषत् द्वैष्यं निम्नोपगं जलम् । समुद्रस्येव निष्यन्मन्त्रधेराद् व्यलोकयन् ॥४६॥
 वर्षारम्भो युगारम्भे चाऽभूत् कालानुभावतः ११ । ततः प्रभृति संवृद्धं जल द्वीपान्तमावृणोत् ॥४७॥
 अलक्ष्म्यत्वात् १२ महीयस्त्वाद् द्वीपपर्यन्तवेष्टनात् । द्वैष्यमन्त्रु १३ समुद्विषत्तमगादुपसमुद्रताम् ॥४८॥
 पश्यन्नुपसमुद्रं तं गत्वा स्थलपथेन १४ सः । गङ्गोपश्रवणवेष्टनभोगे १५ सैव न्यर्चाविशत् ॥४९॥

शरीरपर अभी रोमराजी प्रकट नहीं हुई है, उदर भी जिनका कृश है, वस्त्रके समान धारण किये हुए चंचल पत्तोंसे जिनके शरीरका संवरण प्रकट हो रहा है, चमरी गायके बालोंसे बंधे हुए केशपाशोंसे जो बहुत ही सुन्दर जान पड़ती हैं, गुंजाफलोंसे बनी हुई मालाओंको जिन्होंने अपना कण्ठहार बनाया है, कस्तूरी मृगके बैठनेसे सुगन्धित हुई मिट्टीको आभूषण बनानेकी इच्छासे जो वनके किसी एक प्रदेशमें इकट्ठी कर रही हैं, जिनका आकार वास्तवमें सुन्दर है और जो सेनाके देखनेसे विस्मित हो रही हैं ऐसी भीलोंकी कन्याओंको भरतने दूरसे ही देखा था ॥३८-४१॥ कितने ही म्लेच्छ राजाओंने चमरी गायके बाल और कितने ही ने कस्तूरी-मृगकी नाभि भेंट कर भरतके दर्शन किये थे ॥४२॥ वहाँपर सेनापतिने चक्रवर्तीकी आज्ञा प्राप्त कर अन्तपालोंके लाखों किले अपने वश किये ॥४३॥ अन्तपालोंने अपूर्व-अपूर्व रत्नोंके समूह तथा सोना चाँदी आदि उत्तम धन भेंट कर भरतेश्वरको प्रणाम किया तथा उसकी आज्ञा स्वीकार की ॥४४॥ तदनन्तर सेनाके साथ-साथ बहुत कुछ दूर मार्गको व्यतीत कर वे गंगाद्वारको प्राप्त हुए और उसके बाद ही अपने समान अलंघनीय समुद्रको प्राप्त हुए ॥४५॥ उन्होंने समुद्रके समीप ही, समुद्रसे बाहर उछल-उछलकर गहरे स्थानमें इकट्ठे हुए द्वीपमन्बन्धी उस जलको देखा जो कि समुद्रके निष्यन्दके समान मालूम होता था अथवा समुद्रके जलके समान ही निश्चल-स्थायी था अर्थात् उपसमुद्रको देखा, समुद्रका जो जल उछल-उछलकर समुद्रके समीप ही द्वीपके किसी गहरे स्थानमें इकट्ठा होता जाता है वही उपसमुद्र कहलाता है । उपसमुद्र द्वीपके भीतर होता है इसलिए उसका जल द्वैष्य कहलाता है । उपसमुद्रका जल ऐसा जान पड़ता था मानो समुद्रका स्वेद ही इकट्ठा हो गया हो ॥४६॥ कर्मभूमिरूप युगके प्रारम्भमें जो वर्षा हुई थी तबसे लेकर कालके प्रभावसे बढ़ता हुआ वही जल द्वीपके अन्त भाग तक पहुँच गया था ॥४७॥ जो जल समुद्रसे उछल-उछलकर द्वीपमें आया था वह अलंघनीय था, बहुत गहरा था और उसने द्वीपके सब समीपवर्ती भागको घेर लिया था इसलिए वही उपसमुद्र कहलाने लगा था ॥४८॥ उस उपसमुद्रको देखते हुए भरतने सुखकर मार्गसे जाकर

१ अभ्यन्तरप्रदेशाः । २ गुञ्जारचित । ३ अनुपाधि । ४ अयाध । ५ कार्पासश्रीखण्डादि । ६ अपूर्वधन । ७ समुद्रस्य बहिः । ८ द्वीपसंबन्धि । ९ अगाधभावाप्राप्तम् । १० प्रखण्डम् । ११ सामर्थ्यतः । १२ अत्यन्तमहत्त्वात् । १३ उत्कटम् । १४ मुखपथेन ल०, मुलपथेन इ०, ल० । 'मुखेन लायते गृह्यते इति सुकः', इति 'ह' टिप्पण्यम् । १५ वेद्यन्तभागे ल० ।

वेदिकान्तरणद्वारमस्ति तत्रोच्छ्रितं महत् । शनैस्तेन प्रविश्यामर्चणं सैन्यं न्यविशत ॥५०॥
 तत्र वास्तुवशादस्य किञ्चित्संकुचितायतः । स्कन्धावारनिवेशोऽभूदलङ्घ्यव्यूहविस्तृतिः ॥५१॥
 नन्दनप्रतिमं नस्मिन् वसे रुद्धातपाङ्घ्रियं । गङ्गाशान्तानिलस्पर्शस्तद्वलं सुखमाश्रयन् ॥५२॥
 तस्मिन् पौरुषसाध्यंऽपि कृष्यं देवं प्रमाणयन् । लवणाब्धिजयोद्यक्तः सोऽभ्यच्छद् दैविकीं क्रियाम् ॥५३॥
 अधिवासितजत्रास्त्राः स त्रिरात्रमुपोषिवान् । मन्त्रानुस्मृतिपूताग्नां शुचितल्पोपगः शुचिः ॥५४॥
 सायं प्रातिकनिःशेषकरणीये समाहितः । पुरोधोऽधिष्ठितां पूजां स व्यधान परमं हिनाम् ॥५५॥
 सेनान्यं बलरक्षायं नियोज्य विधिपूर्वकम् । अस्त्रधारणं च विधीयते विधीयते ॥५६॥
 १० प्रतिग्रहापसाशादिचिन्ताऽभूत्तस्य चेतसि । ११ विलिलङ्घ्यविधौरधिमहो १२ स्वयं महात्मनाम् ॥५७॥
 अजितं जयमारुह्य रथं दिव्यास्त्रसंभृतम् । योजितं वाजिमिदिग्यैर्जङ्गस्थलविलङ्घिभिः ॥५८॥
 १३ पञ्चश्यामरथं प्रोत्थय चक्राङ्ककतनम् । तस्मै हुजं वना १४ बाहा १५ दिव्यसव्येऽष्टचोदिताः ॥५९॥
 ततोऽस्मै दत्तपुण्याशीः पुरोधा १६ धृतमङ्गलः । त्वं देव विजयस्वेति स १७ इमांश्चमापठत् ॥६०॥

गंगाके उपवनकी वेदीके अन्तभागमें सेनाका प्रवेश कराया ॥५०॥ वहाँ वेदिकामें एक बड़ा भारी तोरणद्वार है जो कि उत्तर द्वार कहलाता है, उसी द्वारसे धीरे-धीरे प्रवेश कर वनके भीतर सेना ठहरी ॥५०॥ वहाँ चक्रवर्तीका जो शिविर था डेरोंके कारण उसकी लम्बाई कुछ संकुचित हो गयी थी पर सेनाकी रचनाका विस्तार अलङ्घनीय था ॥५१॥ जो नन्दन वनके समान है तथा जिसके वृक्ष सूर्यके आतापको रोकनेवाले हैं ऐसे उस वनमें भरतकी वह सेना गंगा नदीके नीतल वायुके स्पर्शसे सुखपूर्वक निवास करती थी ॥५२॥ यद्यपि मागध देवको वश करना यह कार्य पौरुषसाध्य है अर्थात् पुरुषार्थसे ही सिद्ध हो सकता है तथापि उसमें देवकी प्रमाणता मानकर लवण समुद्रको जीतनेके लिए तत्पर हुए भरत महाराजने भगवान् अरहन्त देवके आराधन करनेका विचार किया ॥५३॥ जिसने मन्त्र-तन्त्रोंसे विजयके शस्त्रोंका संस्कार किया है, तीन दिन उपवास किया है, मन्त्रके स्मरणसे जिसका आत्मा पवित्र है, जो पवित्र शय्यापर बैठा हुआ है, स्वयं पवित्र है, सायंकाल और प्रातःकालकी समस्त क्रियाओंमें सावधान है और पुरोहित जिसके समीप बैठा है ऐसे उस भरतने पंच परमेष्ठीकी पूजा की ॥५४-५५॥ भरतने विधिपूर्वक सेनाकी रक्षाके लिए सेनापतिको नियुक्त किया और स्वयं दिव्य अस्त्र धारण कर लवण समुद्रको जीतनेकी इच्छासे प्रस्थान किया ॥५६॥ समुद्रको उल्लङ्घन करनेकी इच्छा करनेवाले भरतके चित्तमें यह भी चिन्ता नहीं हुई थी कि क्या-क्या साथ लेना चाहिए और क्या-क्या यहाँ छोड़ देना चाहिए सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुषोंका धर्म ही आश्चर्यजनक होता है ॥५७॥ जो देवोपनीत अस्त्र-शस्त्रोंसे भरा हुआ है और जिसमें जल स्थल दोनोंपर समान रूपसे चलनेवाले दिव्य घोड़े जुते हुए हैं ऐसे अजितंजय नामके रथपर भरतेश्वर आरुढ़ हुए ॥५८॥ जो पत्तोंके समान हरितवर्ण है, जिसपर बहुत ऊँचे चक्रके आकारसे चिह्नित ध्वजा फहरा रही है और जो दिव्य सारथिके द्वारा प्रेरित है-हाँका जा रहा है-ऐसे उस रथको वेग-शाली घोड़े ले जा रहे थे ॥५९॥ तदनन्तर हे देव, आपकी जय हो इस प्रकार भरतके लिए

१ तत्रोत्तरं द०, ल० । २ द्वारेण । ३ गृहसामर्थ्यात् । ४ बलविन्यासविस्तारः । ५ सदृशे । ६ -माविशत् ल० । ७ मागधामरणाधनरूपकार्यं । ८ मन्त्रसंस्कृत । ९ अस्तमनप्रभातसंबन्धिः । १० स्वीकारत्यजनादि । ११ विलङ्घ्यनुमिच्छोः । १२ मतास्थैर्यं अ०, स०, इ० । १३ वाहनवाजिभिः श्यामवर्णीकृतरथम् । अनेक-तद्रथाश्वाः हरिद्वर्णा इत्युक्ताः । १४ वेतिनः । १५ दिव्यसारथिप्रेरिताः । 'नियन्ता प्राविता यन्ता सूतः क्षत्ता च सारथिः । सव्येऽष्टदक्षिणस्थौ च संज्ञारथकुटुम्बिनः' इत्यभिधानात् । (सव्येऽष्टेति ऋदन्त इति केचित्), १६ चोदितं ल० । नोदिताः स०, अ० । १७ धृतमङ्गलम् अ०, स०, इ० । १८ ऋचं मन्त्रमित्यर्थः ।

जयन्ति विद्युताग्नेयधन्वता धर्मनायकाः^१ । त्वं धर्मविजयी भूत्वा तत्प्रसादाज्जयाशिलम् ॥६१॥
 सन्त्यदिधनिलया देवास्य^२ भूमिकत्यन्तनिवासिनः । तान् विजेतुमयं कालस्तवेभ्युच्चैर्जुषोष च ॥६२॥
 ततः कतिपयैरेव नायकैः परिवारितः ।^३ जगतीतलमालम्ब्य गङ्गाद्वारस्य चक्रवर्त्त ॥६३॥
 न केवलं समुद्रान्तःप्रवेशद्वारमेव तत् । कार्यसिद्धेरपि द्वारं तदमंस्त रथाङ्गभूत^४ ॥६४॥
 धृतमङ्गलवेषस्य^५ तद्वेशारोहणं विमोः । विजयश्रीममुद्गाहवेद्यारोहणवश्चर्मा ॥६५॥
 मद्गुणैर्लङ्घितेदीप्तं जगतीं प्रति विष्णुस्य पुङ्ख^६ । ततः पतादस्य भ्रमरः^७ कुल्याभुद्ध्या महोदधौ ॥६६॥
 स प्रतिशामिवाकूटो जगतीं नां महायतिम् । निस्तूर्णमिव^८ तत्पारं पाराधारमजीगमत् ॥६७॥
 सुहुः प्रचलदुत्प्लेलकल्लोलमनिलाहतम् । विलङ्घ्यनाभयादुच्चैः फुक्कुर्वन्तमिवारकैः ॥६८॥
 वीचिवाहुमिरम्भुक्तैः सरलैः शीकरोर्करैः । पाशं स्वस्यैव तन्वानं र्मावितकाक्षतमिश्रितैः ॥६९॥
 असङ्ख्यशङ्खमाक्रान्तविश्वद्वीपमपारकम् । परैरलङ्घ्यमक्षोभ्यं स्वबलौघानुकारिणम् ॥७०॥
 उल्फेनजम्भिकारम्भैः सापस्मारमिवोल्बणम् । केनाप्यशक्यमाधर्तुं क्वचिदप्यनवस्थितम् ॥७१॥

पवित्र आशीर्वाद देकर मंगलद्रव्य धारण किये हुए पुरोहितने इस नीचे लिखी हुई ऋचाको पढ़ा ॥६०॥ समस्त कर्मबन्धनको नष्ट करनेवाले धर्मनायक-सीर्थकर देव सदा जयवन्त रहते हैं इसलिए उनके प्रसादसे तू भी धर्मपूर्वक विजय प्राप्त कर, सबको जीत ॥६१॥ उसी समय पुरोहितने यह भी जोरसे घोषणा की कि हे देव, इस समुद्रमें निवास करनेवाले देव आपके उपभोग करने योग्य क्षेत्रके भीतर ही रहते हैं इसलिए उन्हें जीतनेके लिए आपका यह समय है ॥६२॥ तदनन्तर कुछ बीर पुरुषोंसे घिरे हुए चक्रवर्ती भरत गंगाद्वारकी वेदीपर जा चढ़े ॥६३॥ चक्रवर्तीने उस गंगाद्वारकी वेदीको केवल समुद्रके भीतर प्रवेश करनेका द्वार ही नहीं समझा था किन्तु अपने कार्यकी सिद्धि होनेका भी द्वार समझा था ॥६४॥ मंगल वेषको धारण करनेवाले चक्रवर्तीका उस वेदीपर आरूढ़ होना विजय-लक्ष्मीके विवाहकी वेदीपर आरूढ़ होनेके समान बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहा था ॥६५॥ यह वेदी मेरे घरके आँगनकी वेदी है इस प्रकार कल्पना करते हुए भरतने महासागरपर कृत्रिम नदीकी वृद्धिसे दृष्टि डाली थी । भावार्थ — भरतने अपने बलकी अधिकतासे गङ्गाकी वेदीको ऐसा समझा था मानो यह हमारे घरके आँगनकी ही वेदी है और महासमुद्रको ऐसा माना था मानो यह एक छोटी-सी नहर ही है ॥६६॥ वे उस बड़ी लम्बी वेदीपर इस प्रकार आरूढ़ हुए थे जैसे अपनी प्रतिज्ञापर ही आरूढ़ हुए हों और समुद्रको उन्होंने ऐसा माना था जैसे उसके दूसरे किनारेपर ही पहुँच गये हों ॥६७॥ उस वेदीपर-से उन्होंने समुद्र देखा, उस समुद्रमें बारबार तटकी उल्लंघन करनेवाली लहरें उठ रही थीं, पवन उसका ताड़न कर रहा था और वह अपने गम्भीर शब्दोंसे ऐसा मालूम होता था मानो उल्लंघनके भयसे रो ही रहा हो । तरंगरूपी भुजाओंसे किनारेपर छोड़े हुए रत्नसहित जलके छोटे-छोटे कणोंसे वह ऐसा जान पड़ता था मानो भरतके लिए मोती और अक्षतोंसे मिला हुआ अर्घ्य ही दे रहा हो । उस समुद्रमें असंख्यात शंख थे, उसने समस्त द्वीपोंको आक्रान्त कर लिया था, वह पाररहित था, उसका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता था और न उसे कोई क्षोभित ही कर पाता था इसलिए वह ठीक भरतकी सेनाके समूहका अनुकरण कर रहा था क्योंकि उसमें भी बजाये जानेवाले असंख्यात शंख थे, उसने भी समस्त द्वीप आक्रान्त कर लिये थे—अपने अधीन बना लिये थे, वह भी अपार था, वह भी दूसरोंके द्वारा अलंघनीय तथा क्षोभित करनेके अयोग्य था । वह समुद्र किसी अपस्मार (मृगी)

१ तीर्थकराः । २ त्वत्पालनक्षेत्र । ३ वेदिभूखम् । ४ रथाङ्गभूत् व०, इ०, ल० । ५ मद्गुणलकारस्य । ६ 'कुल्याल्पा कृत्रिमा सति' । ७ पारंगतम् । ८ उद्गतद्विष्टीरामिबृद्धिः । पक्षे उद्गतकेन ।

अकस्मादुच्चरध्वानमनिमित्तचलाचलम्^१ । अकारणकृतावर्तमति^२सङ्कुसुकस्थितिम् ॥७२॥
 ह्यन्तमिव फेनोर्ध्वलसन्तमिव^३ वाचिभिः । चलन्तमिव कललैर्माद्यन्तमिव वृणितैः ॥७३॥
 सरन्तमुत्पणविषं^४ मुक्तशृङ्गारर्माकरम्^५ । स्फुरत्तरङ्गनिर्भोकं स्फुरन्तमिव भोगिनम् ॥७४॥
^६अन्यगुपानादुद्विक्तप्रतिश्यायमिवाधिकम् । क्षुतार्नीव चिकुर्वाणं ध्वनितानि सहस्रशः ॥७५॥
^७आद्यूनमसकृर्पातविश्वस्योमस्विनीरमम् । रसातिरेकादुद्गारं तन्वानमिव स्नातृतेः ॥७६॥
 निजगम्भीरपातालमहागर्भापदेशतः^८ । अकृपन्तमिवाम्भोभिरातालुविबलाननम् ॥७७॥

के रोगीके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार अपस्मारका रोगी फेनसहित आती हुई जृम्भिकाओं अर्थात् जमुहाइयोसे व्याकुल रहता है उसी प्रकार वह समुद्र भी फेनसहित उठती हुई जृम्भिका अर्थात् लहरोंसे व्याकुल था, जिस प्रकार अपस्मारका रोगी किसीके द्वारा पकड़कर नहीं रखा जा सकता उसी प्रकार वह समुद्र भी किसीके द्वारा नहीं रोका जा सकता और जिस प्रकार अपस्मारका रोगी किसी भी जगह स्थिर नहीं रहता इसी प्रकार वह समुद्र भी किसी जगह स्थिर नहीं था—लहरोंके कारण चंचल हो रहा था । वह समुद्र अकस्मान् ही गम्भीर शब्द करता था, बिना कारण ही चंचल था और बिना कारण ही उसमें आवर्त अर्थात् भँवर पड़ते थे, इसलिए उसकी दशा किसी अत्यन्त अस्थिर मनुष्यसे भी बढ़कर हो रही थी क्योंकि अत्यन्त अस्थिर मनुष्य भी अचानक शब्द करने लगता है, चिल्ला उठता है, बिना कारण ही काँपने लगता है, और बिना कारण ही आवर्त करने लगता है, इधर-उधर भागने लगता है । वह समुद्र फेन उठनेसे ऐसा जान पड़ता था मानो हँस ही रहा हो, ज्वार-भाटाओंसे ऐसा मालूम होता था मानो लास्य (नृत्य) ही कर रहा हो, लहरोंसे ऐसा सुशोभित होता था मानो चल ही रहा हो और हिलनेसे ऐसा दिखाई देता था मानो नशेमें झूम ही रहा हो अथवा वह समुद्र किसी सर्पके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार सर्प रत्नसहित होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी रत्नसहित था, जिस प्रकार सर्पमें उत्कट विष अर्थात् जहर रहता है उसी प्रकार समुद्रमें भी उत्कट विष अर्थात् जल था, जिस प्रकार सर्प सू सू आदि फुंकारोंसे भयंकर होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी सू सू आदि शब्दोंसे भयंकर था, जिस प्रकार सर्पके देदीप्यमान कांचली होती है उसी प्रकार उस समुद्रके भी देदीप्यमान लहरें थीं, और जिस प्रकार सर्प चंचल रहता है उसी प्रकार वह समुद्र भी चंचल था । अथवा वह समुद्र ऐसा जान पड़ता था मानो अधिक पानी पीनेसे उसे सर्दी (जुकाम) ही हो गयी हो और इसीलिए हजारों शब्दोंके बहाने छींकें ही ले रहा हो । अथवा वह समुद्र किसी आद्यून अर्थात् बहुत खानेवाले—पेटू मनुष्यके समान जान पड़ता था, क्योंकि जिस प्रकार आद्यून मनुष्य बहुत खाता है और बादमें भोजनकी अधिकता होनेसे डकारें लेता है उसी प्रकार उस समुद्रने भी समस्त नदियोंका जल पी लिया था और बादमें जलकी अधिकता होनेसे वह भी शब्दोंके बहाने डकारें ले रहा था । वह समुद्र अपने गम्भीर पातालरूपी महाउदरके बहानेसे जलसे कभी तृप्त नहीं होता था और इसीलिए मानो उसने तालु पर्यन्त अपना मुख खोल रखा था । भावार्थ—वह समुद्र किसी ऐसे मनुष्यके समान जान पड़ता था जो बहुत खानेपर भी तृप्त नहीं होता, क्योंकि जिस प्रकार तृप्त नहीं होनेवाला मनुष्य बहुत कुछ खाकर भी तृष्णासे अपना मुख खोले रहता है उसी प्रकार वह समुद्र भी बहुत कुछ जल ग्रहण कर चुकनेपर भी तृष्णासे अपना मुख खोले रहता था—नदियों

१ चञ्चलम् । २ नितराम् अस्थिरस्थितिम् । 'असङ्कुसुकोऽस्थिरे' इत्यमरः । विशेषनिष्पन्नवर्गः । ३ नृत्यन्तम् । ४ उत्कटजलम् । ५ सीकरम् प० । ६ उत्कटपीनसम् 'प्रतिश्यायस्तु पीनसः' इत्यभिधानात् । ७ औदरिकम् । तृप्तिरहितमित्यर्थः । ८-गर्भाप-ल० ।

दिशां राक्षसाक्रान्त्याचलग्राहं विभीषणम्^१ । रक्षसामिव संपातमतिकामं^२ महोदरम्^३ ॥७८॥

वीर्यशालुमिराजन्तमजलं सङ्वेदिकाम् । समर्पाद्व्यमाहत्य श्रावयन्तमिषान्मनः^४ ॥७९॥

चलद्भिरचलोद्भैः कल्लोलैरतिवर्तिनम् । सरिद्युवतिसंभोगादसंभोगमिवात्मनि ॥८०॥

नरदिग्गतनुं वृद्धं पृथुकं व्यक्तरक्षितम् । सरन्नभतिकान्ताङ्गं सप्राहमतिभीषणम्^५ ॥८१॥

लावण्येऽपि न संभोग्यं गाम्भीर्येऽप्यनवस्थितम् । महत्त्वेऽपि कृताक्रोशं व्यक्तमेव जलाशयम्^६ ॥८२॥

न चास्य सदिरासङ्गो न कोऽपि मदनज्वरः । तथाऽयुद्रिक्तं कन्दर्पमारूढमधुविक्रियम्^७ ॥८३॥

का अन्य जल ग्रहण करनेके लिए तत्पर रहता था । वह समुद्र समस्त दिशाओंमें व्याप्त होकर शब्द कर रहा था इसलिए 'रावण' था, उसने अनेक पहाड़ अपने जलके भीतर डुबा लिये थे इसलिए 'अचलग्राह' था । वह सब जीवोंको भय उत्पन्न कराता था इसलिए विभीषण था, अत्यन्त बड़ा था इसलिए 'अतिकाम' था और बहुत गहरा होनेसे 'महोदर' था इस प्रकार वह ऐसा जान पड़ता था मानो राक्षसोंका समूह ही हो । वह समुद्र अपनी तरंगरूपी भुजाओंके द्वारा किनारेकी वेदीपर निरन्तर आघात करता रहता था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो धक्का देकर उसे अपने समर्पादपनेको ही सुना रहा हो । वह पर्वतके समान ऊँची उठती हुई लहरोंसे किनारेको उल्लंघन कर रहा था इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो नदीरूप स्त्रियोंके साथ सम्भोग करनेसे अपने-आपमें ही नहीं समा रहा हो । उसके शरीरमें अनेक तरंगरूपी सिकुड़नें उठ रही थीं इसलिए वह वृद्ध पुरुषके समान जान पड़ता था, (पक्षमें अत्यन्त बड़ा था) अथवा वह समुद्र किसी पृथुक अर्थात् बालकके समान मालूम होता था (पक्षमें पृथुक् अविकृत है, जल जिससे ऐसा था) क्योंकि जिस प्रकार बालक पृथिवीपर घुटनोंके बल चलता है उसी प्रकार वह समुद्र भी लहरोंके द्वारा पृथिवीपर चल रहा था, जिस प्रकार बालक सरकता है उसी प्रकार वह भी लहरोंसे सरकता था, जिस प्रकार बालक अत्यन्त सुन्दर होता है उसी प्रकार वह भी अत्यन्त सुन्दर था । इसके सिवाय वह समुद्र मगरमच्छ आदि जलचरजीवोंसे सहित था तथा अत्यन्त भयंकर था अथवा वह समुद्र स्पष्ट ही जलाशय (ड और ल में अभेद होनेसे जडाशय) अर्थात् मूर्ख था क्योंकि लावण्य रहनेपर भी वह उपभोग करने योग्य नहीं था जो लावण्य अर्थात् सुन्दरतासे सहित होता है वह उपभोग करने योग्य अवश्य होता है परन्तु समुद्र वैसा नहीं था (पक्षमें लावण्य अर्थात् खारापन होनेसे किसीके पीने योग्य नहीं था) गम्भीरता होनेपर भी वह स्थिर नहीं था, जो गम्भीरता अर्थात् धैर्यसे सहित होता है वह स्थिर अवश्य रहता है परन्तु समुद्र ऐसा नहीं था (पक्षमें गम्भीरता अर्थात् गहराई होनेपर भी वह लहरोंसे चंचल रहता था) और महत्त्वके रहते हुए भी वह चिल्लाता रहता था—गालियाँ बका करता था, जो महत्त्व अर्थात् बड़प्पनसे सहित होता है वह बड़ा शान्त रहता है, चिल्लाता नहीं है परन्तु समुद्र ऐसा नहीं था (पक्षमें बड़ा भारी होनेपर भी लहरोंके आघातसे शब्द करता रहता था) इन सब कारणोंसे स्पष्ट है कि वह जडाशय अवश्य था (पक्षमें जल है आशयमें जिसके अर्थात् जलसे भरा हुआ था) । उस समुद्रके यद्यपि मद्यका संगम नहीं था—मद्यपानका अभाव था तथापि वह आरूढ मधुविक्रिय था अर्थात् मद्यपानसे उत्पन्न होनेवाले विकार—नशाको धारण कर रहा था, इसी प्रकार यद्यपि उसके काम-ज्वर नहीं था तथापि वह उद्रिक्त-कन्दर्प था अर्थात् तीव्र काम-विकारको धारण करनेवाला था । भावार्थ—इस श्लोकमें श्लेष-

१ रीतीति रावणस्तम् । शब्दं कुर्वन्तमिति यावत् । पक्षे दशास्यम् । २ पर्वतस्वीकारवन्तम् । पक्षे अचलग्राहमिति कंचिद् राक्षसम् । ३ भयंकरम् । पक्षे रावणानुजम् । ४ अतिशयं मूर्तिम् महान्तमित्यर्थः । पक्षे अतिकाममिति कंचिदसुरम् । ५ महाकुक्षिम् । पक्षे महोदरमिति राक्षसम् । ६ उत्कटकामम्, पक्षे उत्कटजलदर्पम् ।

अनाशितंभवं^१ पीप्त्वा सुस्वादुसरितो जलम् । गतागतानि कुर्वन्तं संतोषादिव वीचिभिः ॥८४॥

नदीवधूभिरासेष्यं कृतरत्नपरिग्रहम् ।^२ महाभोगिमिराराध्यं^३ घातुरन्तमिव^४ प्रभुम् ॥८५॥

यादोदोर्ध्वतनिर्घर्ति^५ कूरोरञ्जलिनशीकरैः । सपत्ताकमिवाशेषशेषाणैर्विनिर्जयात् ॥८६॥

कुलाचलपृथुस्तम्भजम्बूद्वीपमहौकसः^६ । विनीलरत्ननिर्माणमेकं सालमिवोच्छ्रितम् ॥८७॥

अनादिमस्तपर्ममस्त्रिस्तार्थावगाहनम् । गम्भीरशब्दसंदर्भं श्रुतस्कन्धमिवापरम् ॥८८॥

नित्यप्रवृत्तशब्दत्वाद् द्रव्याधिकनयान्नितम् । वीचीनां क्षणभङ्गित्वान् पर्यायनयगोचरम् ॥८९॥

नित्यानुबद्धतृणत्वात् शब्दज्जलपरिग्रहात्^७ । गुरुणां^८ च तिरस्कारात् किंराजानमिवान्वहम् ॥९०॥

मूलक विरोधाभास अलंकार है इसलिए प्रारम्भ-कालमें विरोध मालूम होता है परन्तु बादमें उसका परिहार हो जाता है । परिहार इस प्रकार समझना चाहिए कि वह मद्यके संगमसे रहित होकर मधु अर्थात् पुष्परसकी विक्रिया धारण कर रहा था अथवा मनोहर जलपक्षियों-की क्रियाएँ धारण कर रहा था और कामज्वरसे रहित होकर भी उद्विक्त-कन्दर्प था अर्थात् जलके अहंकारसे सहित था । वह समुद्र किनारेपर आती-जाती हुई लहरोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो जिससे कभी तृप्ति न हो ऐसा नदियोंका मोठा जल पीकर लहरों-द्वारा सन्तोषसे गमना-गमन ही कर रहा हो । अथवा वह समुद्र चक्रवर्तीके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार चक्रवर्ती अनेक स्त्रियोंके द्वारा सेवित होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी नदीरूपी अनेक स्त्रियोंके द्वारा सेवित था, जिस प्रकार चक्रवर्तीके पास अनेक रत्नोंका परिग्रह रहता है उसी प्रकार उस समुद्रके पास भी अनेक रत्नोंका परिग्रह था, जिस प्रकार चक्रवर्ती महाभोगी अर्थात् बड़े-बड़े राजाओंके द्वारा आराधन करने योग्य होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी महाभोगी अर्थात् बड़े-बड़े सर्पोंके द्वारा आराधन करने योग्य था और जिस प्रकार चक्रवर्ती चारों ओर प्रसिद्ध रहता है उसी प्रकार वह समुद्र भी चारों ओर प्रसिद्ध था—व्याप्त था । जल-जन्तुओंके आघातसे उड़ी हुई और बहुत दूर तक ऊँची उछटी हुई जलकी बूंदोंसे वह समुद्र ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो बाकीके समस्त समुद्रोंको जीतनेसे अपनी विजय-पताका ही फहरा रहा हो । उस समुद्र-का नीले रंगका पानी वायुके वेगसे ऊपरको उठ रहा था जिससे वह ऐसा जान पड़ता था मानो कुलाचलरूपी बड़े-बड़े स्तम्भोंपर बने हुए जम्बूद्वीपरूपी विशाल घरका नील रत्नोंसे बना हुआ एक ऊँचा कोट ही हो । अथवा वह समुद्र दूसरे श्रुतस्कन्धके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार श्रुतस्कन्ध आदि-अन्त-रहित है उसी प्रकार वह समुद्र भी आदि-अन्त-रहित था, जिस प्रकार श्रुतस्कन्ध समस्त पदार्थोंका अवगाहन-निरूपण करनेवाला है उसी प्रकार वह समुद्र भी समस्त पदार्थोंका अवगाहन-प्रवेशन-धारण करनेवाला है, और जिस प्रकार श्रुतस्कन्ध-में गम्भीर शब्दोंकी रचना है उसी प्रकार उस समुद्रमें भी गम्भीर शब्द होते रहते थे—अथवा वह समुद्र द्रव्याधिक नयका आश्रय लेता हुआ-सा जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार द्रव्या-धिक नयसे प्रत्येक पदार्थमें नित्य शब्दकी प्रवृत्ति होती है उसी प्रकार उस समुद्रमें भी नित्य शब्द-की प्रवृत्ति हो रही थी अर्थात् निरन्तर गम्भीर शब्द होता रहता था । अथवा उसकी लहरें क्षण-भंगुर थीं इसलिए वह पर्यायाधिकके गोचर भी मालूम होता था क्योंकि पर्यायाधिक नय पदार्थोंको क्षणभंगुर अर्थात् अनित्य बतलाता है । अथवा वह समुद्र किसी दुष्ट राजाके समान मालूम होता था क्योंकि जिस प्रकार दुष्ट राजा सदा तृष्णासे सहित होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी सदा तृष्णासे सहित रहता था अर्थात् प्रतिक्षण अनेक नदियोंका जल ग्रहण करते रहने-

१ अतृप्तिकरम् । २ महासर्पः । ३ सार्वत्रिकं प्रसिद्धमित्यर्थः । घातुरङ्ग-स०, इ०, अ०, प० । ४ निर्दूतै-
ल० । ५ महागृहस्य । ६ जम्बूद्वीकारात् । ७ गुरुद्रव्याणामधःकरणात् । ८ कुत्सितराजानम् ।

सत्त्वमतिगम्भीरं भोगिभिर्द्वन्द्वलकम् । सुराजानमिवात्थुर्बुद्धिं मर्यादया धृतम् ॥६१॥
 अनेकमन्तरद्वीपमन्तर्गतं तिनमात्मनः । दुर्गन्धमिवाहायं पालयन्तमलङ्घनैः ॥६२॥
 गर्जतिरतिगम्भीरं नभोभ्यापिभिरुज्जितैः । आपूर्वमाणमस्मोभिर्नर्नाभिः किर्तुरिव ॥६३॥
 रङ्गितैश्चलितैः शोभैरुत्थितैश्च विवर्तनैः । ग्रहाविष्टमिवाञ्जृम्भं सध्वानं च सधृणिनम् ॥६४॥
 रत्नाञ्चुच्चित्रिततलं मुक्ताशक्लितार्णसम् । प्राज्ञैरभ्यासितं विष्वक्सुखालोकं च भाषणम् ॥६५॥
 नर्दानं रत्नसूचिष्टमप्राणं चिरजीवितम् । समुद्रमपि धोन्सुदं शपकेनममन्मथम् ॥६६॥

पर भी सन्तुष्ट नहीं होता था, जिस प्रकार दुष्ट राजा जल (जड़) अर्थात् मूल्योसे घिरा रहता है उसी प्रकार वह समुद्र भी निरन्तर जल अर्थात् पानीसे घिरा रहता था, और जिस प्रकार दुष्ट राजा गुरु अर्थात् पूज्य महापुरुषोंका तिरस्कार करता है उसी प्रकार वह समुद्र भी गुरु अर्थात् भारी वजनदार पदार्थोंका तिरस्कार करता रहता था अर्थात् उन्हें डुबोता रहता था । अथवा वह समुद्र किसी उत्तम राजाके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार उत्तम राजा सत्त्व अर्थात् पराक्रमसे सहित होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी सत्त्व अर्थात् जल-जन्तुओंसे सहित था, जिस प्रकार उत्तम राजा अत्यन्त गम्भीर होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी अत्यन्त गम्भीर अर्थात् गहरा था, जिस प्रकार उत्तम राजाके समीप अनेक भोगी अर्थात् राजा लोग विद्यमान रहते हैं उसी प्रकार उस समुद्रकी बेला (तट) पर भी अनेक भोगी अर्थात् सर्प विद्यमान रहते थे, जिस प्रकार उत्तम राजाकी वृत्ति उच्च होती है उसी प्रकार उस समुद्रकी वृत्ति भी उच्च थी अर्थात् उसका जल हवासे ऊँचा उठ रहा था और जिस प्रकार उत्तम राजा मर्यादा अर्थात् कुल-परम्परासे आयी हुई समीचीन पद्धतिसे सहित होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी मर्यादा अर्थात् पालीसे सहित था । वह समुद्र अपने मध्यमें रहनेवाले अनेक अन्तर्द्वीपोंकी रक्षा कर रहा था वे अन्तर्द्वीप उसके अलङ्घनीय तथा हरण करनेके अयोग्य किलोंके समान जान पड़ते थे । वह अतिशय गम्भीर समुद्र ऐसा जान पड़ता था मानो सेवकोंके समान निरन्तर बढ़ते हुए, गरजते हुए और आकाशमें फैले हुए मेघोंके द्वारा ही जलसे भरा गया हो अथवा वह समुद्र किसी ग्रहाविष्ट अर्थात् भूत लगे हुए मनुष्यके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार ग्रहाविष्ट मनुष्य जमीनपर रेंगता है, चलता है, क्षुब्ध होता है, ऊँचा उछलता है और इधर-उधर घूमता है अथवा करवटें बदलता है उसी प्रकार वह समुद्र भी लहरोंसे पृथिवीपर रेंग रहा था, चल रहा था, क्षुब्ध था, ऊँचा उछलता और इधर-उधर घूमता था अर्थात् कभी इधर लहरता था तो कभी उधर लहरता था, तथा ग्रहाविष्ट मनुष्य जिस प्रकार उज्जृम्भ अर्थात् उठती हुई जमुहाइयोंसे सहित होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी उज्जृम्भ अर्थात् उठती हुई लहरोंसे सहित था, जिस प्रकार ग्रहाविष्ट मनुष्य शब्द करता है उसी प्रकार समुद्र भी शब्द कर रहा था और जिस प्रकार ग्रहाविष्ट मनुष्य काँपता रहता है उसी प्रकार वह समुद्र भी वायुसे काँपता रहता था । उस समुद्रका तल भाग रत्नोंकी किरणोंसे चित्र-विचित्र हो रहा था, उसका जल मोतियोंसे चित्रित था, और वह चारों ओर मगरमच्छोंसे भरा हुआ था इसलिए वह देखनेमें अच्छा भी लगता था और भयानक भी मालूम होता था । वह समुद्र अनेक रत्नोंसे

१ भूप्रसर्पणैः । २ चलनैः । ३ उत्थानैः । ४ भ्रमणैः । ५ उज्जृम्भणम् । पक्षे जृम्भिकामहितम् । ६ सरित्-पतिम् । निस्वसदृशम् । 'नञ्भावे निषेधे च स्वल्पार्थे व्यतिक्रमे । ईषदर्थे च सादृश्ये तद्विरुद्धतदन्वयोः ॥' इत्यभिधानात् । ७ आपः प्राणं यस्य स तम् । पक्षे गतप्राणम् । ८ चिरकालस्थायिनम् । -जीविनम् अ०, प०, ब०, स०, इ० । ९ मुद्रया सहितम् । १० मुद्रारहितम् । महान्तमित्यर्थः । ११ अवाङ्कितम् । १२ मत् मनो मथ्नातीति मन्मथः न मन्मथः अमन्मथस्तं मनोहरमित्यर्थः ।

अदृष्टपारमर्शान्यमयं हार्यं सनुत्तरम् । सिद्धालयमिव व्यक्तमव्यक्तममृतास्पदम् ॥९७॥

कचिन्महोपलब्धायो धृतसंख्याभविष्मम् । कृतान्धतमसारम्भं कचिर्बालाश्मरद्भिभिः ॥९८॥

हरिन्मणिप्रभोत्तपैः कचिर्संदिग्धं जेवलम् । कचिच्च कौकुमो कान्तिं तन्वानं विदुमाक्षुरः ॥९९॥

कचिच्छुक्तिपुटोऽपेक्षसमुच्चलितमौक्तिकम् । तारकानिकराकोणं हसन्तं जलमृत्पथम् ॥१००॥

वेलापर्यन्तसंमूर्छितसर्वरत्नांशुर्लोकैः । कचिद्दिन्द्रधनुर्लंघां लिखन्तमिव साङ्गये ॥१०१॥

रथाङ्गपाणिस्त्रिभुजैः संभृतं रत्नकोटिभिः । महानिधिभिर्वापूर्यमपश्यन्मकराकरम् ॥१०२॥

भरा हुआ था इसलिए नदीन अर्थात् दीन नहीं था यह उचित था (पक्षमें 'नदी इन' नदियोंका स्वाधी था) । अरन्तु अथवा अन्धकारादि प्राणरहित होकर भी चिरजीवित अर्थात् बहुत समय तक जीवित रहनेवाला था, समुद्र अर्थात् मुद्रासहित होकर भी उन्मुद्र अर्थात् मुद्रारहित था और झषकेतु अर्थात् मछलीरूप पताकासे सहित होकर भी अमन्मथ अर्थात् कामदेव नहीं था यह विरुद्ध बात थी किन्तु नीचे लिखे अनुसार अर्थमें परिवर्तन कर देनेसे कोई विरुद्ध बात नहीं रहती । वह प्राणरहित होनेपर भी चिरजीवित अर्थात् चिरस्थायी रहनेवाला था अथवा चिरकालसे जलसहित था, समुद्र अर्थात् सागर होकर भी उन्मुद्र अर्थात् उत्कृष्ट आनन्दको देनेवाला था (उद्-उत्कृष्टं मुदं हर्षं राति-ददातीति उन्मुद्रः) और झषकेतु अर्थात् समुद्र अथवा मछलियोंके उत्पातसे सहित होकर भी अमन्मथ अर्थात् काम नहीं था । अथवा वह समुद्र स्पष्ट ही सिद्धालयके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार सिद्धालयका पार दिखाई नहीं देता है उसी प्रकार उस समुद्रका भी पार दिखाई नहीं देता था — दोनों ही अदृष्टपार थे, जिस प्रकार सिद्धालय अक्षोभ्य है अर्थात् आकुलतारहित है उसी प्रकार समुद्र भी अक्षोभ्य था अर्थात् क्षोभित करनेके अयोग्य था उसे कोई गँदला नहीं कर सकता था, जिस प्रकार सिद्धालयका कोई संहार नहीं कर सकता उसी प्रकार उस समूहका भी कोई संहार नहीं कर सकता था, जिस प्रकार सिद्धालय अनुत्तर अर्थात् उत्कृष्ट है उसी प्रकार वह समुद्र भी अनुत्तर अर्थात् तैरनेके अयोग्य था, जिस प्रकार सिद्धालय अव्यक्त अर्थात् अप्रकट है उसी प्रकार वह समुद्र भी अव्यक्त अर्थात् अगम्य था और सिद्धालय जिस प्रकार अमृतास्पद अर्थात् अमृत (मोक्ष) का स्थान है उसी प्रकार वह समुद्र भी अमृत (जल) का स्थान था । कहीं तो वह समुद्र पञ्चराग-मणियोंसे सन्ध्याकालके बादलोंकी शोभा अथवा सन्देह धारण कर रहा था और कहीं नील मणियोंकी किरणोंसे गाढ़ अन्धकारका प्रारम्भ करता हुआ-सा जान पड़ता था । कहीं हरित मणियोंकी कान्तिके प्रसारसे उसमें शेवालका सन्देह हो रहा था और कहीं वह भूंगाओंके अंकुरोंसे कुंकुमकी कान्ति फैला रहा था । कहीं सीपोंके सम्पुट खुल जानेसे उसमें मोती तैर रहे थे और उनसे वह ऐसा जान पड़ता था मानो ताराओंके समूहसे भरे हुए आकाशकी ओर हँस ही रहा हो । तथा कहींपर किनारेके समीप ही समस्त रत्नोंकी किरणोंसहित जलकी छोटी-छोटी बूँदें पड़ रही थीं उनसे ऐसा जान पड़ता था मानो आकाशरूपी आँगनमें इन्द्रधनुषकी रेखा ही लिख रहा हो । इस प्रकार जो ऊँचे तक करोड़ों रत्नोंसे भरा हुआ था ऐसे उस समुद्रको चक्रवर्तीने अपूर्व महानिधिके समान देखा ॥ ६८-१०२ ॥

१ अविनाश्यम् । २ न विद्यते उत्तरः श्रेष्ठो यस्मात् स तम् । ३ सलिलपीयूषनिवासम् । पक्षे अभयस्थानम् । 'सुधाकरयज्ञशेषसलिलाभ्यमोशब्दन्तरिक्षिकन्दच्छिन्नसहायदिविजेष्टमृतम्' इत्यभिधानात् । ४ पञ्चराग-मणिकय । ५ लिप्त । सन्देहविषयीकृत । ६ समुत्सर्पानारत्नमरीचियुतशोकरैः । ७ —संकरैः १० । ८ मकरालयम् ल० ।

दृष्ट्वाऽथ तं महाभागः^१ कृतधीर्धोरनिःस्वनम् । दृष्ट्वैवातुल्यबद्धी गोस्पदावश्याण्वम् ॥१०३॥

ततोऽभिमनसंसिद्धौ^२ कृतसिद्धमस्त्रियः । रथं प्रचोदयेत्पुच्छैः^३ प्राजितारमचोदयत् ॥१०४॥

विमुक्तप्रग्रहैर्वैरुह्यमानो मनोजवैः । लवणाब्धौ द्रुतं^४ प्रायाद् धानपात्रावितो रथः ॥१०५॥

रथो मनोरथात् पूर्व रथात् पूर्व मनोरथः । इति संभाव्यवेगोऽसौ रथो वार्षिं व्यगाहत् ॥१०६॥

जलस्तम्भः प्रयुक्तो नु जलं न स्थलतां गतम् । स्यन्दनं यदमी बाहा जले निन्युः स्थलास्थया^५ ॥१०७॥

तथैव चक्रवीत्कारः तथैवोच्चैः प्रधौरितम्^६ । यथा वहिर्जलं^७ पूर्वमहो पुण्यं रथाग्निनः ॥१०८॥

महद्भिरपि कल्लोलैः^८ शीघ्रस्थानास्तुरङ्गमाः । रथं निभ्युरनायासात् प्रत्युनैषां स^९ विश्रमः^{१०} ॥१०९॥

रथचक्रसमुत्पीड्याजलोत्पीडः^{११} खमुत्पतन् । न्यधाद् ध्वजांशुकं जाड्यं जलानामीदृशा गतिः ॥११०॥

नाङ्गरागस्तुरङ्गाणामार्द्रितः श्रमघर्मितैः^{१२} । आलितः खुरवेगोत्थैः केवलं शीर्करपाम् ॥१११॥

क्षणं रथाङ्गरखट्वाजलमरधेर्द्विधाऽभवत् । व्यभावि भाविनां वर्त्म चक्रिणामिव सूत्रितम् ॥११२॥

रथोऽस्याभिमतां भूमिं प्रापस्सारथिचोदितः । मनोरथोऽपि संसिद्धिं पुण्यसारथिचोदितः ॥११३॥

तदनन्तर-महाभाग्यशाली बुद्धिमान् भरतने गम्भीर शब्द करते हुए उस समुद्रको देखकर, दृष्टि मात्रसे ही उसे गायके खुरके समान तुच्छ समझ लिया ॥१०३॥ और फिर अपने मनोरथकी सिद्धिके लिए सिद्ध परमेष्ठीको नमस्कार कर 'शीघ्र ही रथ बढ़ाओ' इस प्रकार सारथिके लिए जोरसे प्रेरणा की ॥१०४॥ जिनकी रास ढीली कर दी गयी है और जिनका वेग मनके समान है ऐसे घोड़ोंके द्वारा ले जाया जानेवाला वह रथ लवणसमुद्रमें जहाजकी नाई शीघ्रताके साथ जा रहा था ॥१०५॥ मनोरथसे पहले रथ जाता है अथवा रथसे पहले मनोरथ जाता है इस प्रकार जिसके वेगकी सम्भावना की जा रही है ऐसा वह रथ समुद्रमें बड़े वेगके साथ जा रहा था ॥१०६॥ क्या वह जलस्तम्भिनी विद्यासे थँभा दिया गया था अथवा स्थलपनेको ही प्राप्त हो गया था क्योंकि चक्रवर्तीके घोड़े स्थल समझकर ही जलमें रथ खींचे लिये जा रहे थे ॥१०७॥ जिस प्रकार जलके बाहर पहियोंका चीत्कार शब्द होता था उसी प्रकार जलके भीतर भी हो रहा था और जिस प्रकार जलके बाहर घोड़े दौड़ते थे उसी प्रकार जलके भीतर भी दौड़ रहे थे, अहा ! चक्रवर्तीका पुण्य भी कैसा आश्चर्यजनक था ! ॥१०८॥ वे घोड़े बड़ी-बड़ी लहरोंसे सींचे जानेपर भी बिना किसी परिश्रमके रथको ले जा रहे थे । उन लहरोंसे उन्हें कुछ दुःख नहीं होता था बल्कि उनका परिश्रम दूर होता जाता था ॥१०९॥ रथके पहियेके आघातसे आकाशकी ओर उछलनेवाले जलके समूहने ध्वजाके वस्त्रमें भी जाड्य अर्थात् भारीपन ला दिया था सो ठीक ही है क्योंकि जलका ऐसा ही स्वभाव होता है । भावार्थ-संस्कृत काव्योंमें ड और ल के बीच कोई भेद नहीं माना जाता इसलिए जलानाम्की जगह जडानाम् पढ़कर चतुर्थ चरणका ऐसा अर्थ करना चाहिए कि मूर्ख मनुष्योंका यही स्वभाव होता है कि वे दूसरोंमें भी जाड्य अर्थात् मूर्खता उत्पन्न कर देते हैं ॥११०॥ घोड़ोंके शरीर-पर लगाया हुआ अंगराग (लेप) परिश्रमसे उत्पन्न हुए पसीनेसे गीला नहीं हुआ था केवल खुरोंके वेगसे उठे हुए जलके छींटोंसे ही धुल गया था ॥१११॥ रथके पहियोंके संघट्टनसे क्षण-भरके लिए जो समुद्रका जल फटकर दोनों ओर होता जाता था वह ऐसा मालूम होता था मानो आगे होनेवाले सगर आदि चक्रवर्तियोंके लिए सूत्र डालकर मार्ग ही तैयार किया जा रहा हो ॥११२॥ सारथिके द्वारा चलाया हुआ चक्रवर्तीका रथ उनके अभिलषित स्थानपर पहुँच

१ महाभागं ल० । २ सारथिम् । ३ त्यक्तरज्जुभिः । ४ अगच्छत् । ५ स्थलमिति बुद्ध्या । ६ गतिविशेषा-
कान्तम् । ७ जलाद् बहिः । स्थले इत्यर्थः । ८ सिङ्घ्रमानाः । ९ सेवनविधिः । १० धमहरणकारणम् ।
११ समुत्पीडनात् । १२ जलसमूहः । जलानां जडानामिति ध्वनिः । १३ स्वेदः ।

गया कतिपयसमये धीं प्राप्नोति तस्यै रथः प्रभो । स्थिताऽन्तर्जलमाक्रम्य प्रस्ताव्य इव वार्धिना ॥११४॥
 द्विषड्योजनमाराधय स्थिते सध्वेऽर्णवं रथे । रथाङ्गपाणिरारुह्य जगद् किल कार्मुकम् ॥११५॥
 स्फुरज्ज्यं वज्रकाण्डं तद्वनुरारोपितं यदा । तदा जीवितसंदेहदोलाकूटमभूजगत् ॥११६॥
 स्फुरन्मूर्धिरिवस्नस्य मुहुः प्रध्वानयन् दिशः । प्रओभमनयद्वाधिं चलत्तिमिकुलाकुलम् ॥११७॥
 संहार्यः किमन्यादिधस्त विदधमिदं जगत् । इत्याशङ्क्य क्षणं तस्ये तदा नमसि खेचरः ॥११८॥
 वक्रंऽपि गुणरथस्मिन्नुज्ज्वलकर्मणि कार्मुके । अमोघं संदधे वाणं श्लाघ्यं स्थानकमास्थितः ॥११९॥
 अहं हि भरतो नाम चक्री वृषभनन्दनः । मत्सादृशवन्तु मद्भुक्तिवासिनो व्यन्तरामराः ॥१२०॥
 इति व्यक्तलिपिन्यासां वृत्तमुख्य इव द्रुतम् । स पर्या चक्रिणा सुक्तः प्राङ्मुखीमास्थितो गतिम् ॥१२१॥
 जितनिर्वाणनिर्वोषं ध्वनिं कुर्वन्मस्तलान् । न्यपत्नन्मागधावासे तत्सम्यं क्षोभमानयन् ॥१२२॥
 क्रिपेऽप्यधुभितोऽम्भोधिः कल्पान्स्पवनाहतः । निर्घातः किंस्त्रिदुग्धान्तो भूमिकम्पो नु जृम्भते ॥१२३॥
 इत्याकुलाकुलधियस्तन्निकायोपगाः सुराः । परिवन्तुरूपेभ्येन सन्नद्धा मागधं प्रभुम् ॥१२४॥
 देव दाघः शरः कांऽपि पतितोऽस्मत्सभाङ्गणे । तेनायं प्रकृतः क्षोभो न किञ्चिक्कारणान्तरम् ॥१२५॥

गया भीम पुण्यरूपी सारथिके द्वारा प्रेरित हुआ उनका मनोरथ भी सफलताको प्राप्त हो गया ॥११४॥ महाराज भरतका रथ समुद्रमें कुछ योजन जाकर जलके भीतर ही खड़ा हो गया मानो समुद्रने ऊपरकी ओर बढ़कर उसके घोंड़े ही थाम लिये हों ॥११४॥ जब वह रथ समुद्रके भीतर बारह योजन चलकर खड़ा हो गया तब चक्रवर्तीने कुछ कुपित होकर धनुष उठाया ॥११५॥ जिसकी प्रत्यंगा (डोरी) स्फुरायमान है और काण्ड वज्रके समान है ऐसा वह धनुष जिस समय चक्रवर्तीने प्रत्यंगासे युक्त किया था उसी समय यह जगत् अपने जीवित रहनेके सन्देह लगी शूलापर आच्छाद हो गया था अर्थात् समस्त संसारको अपने जीवित रहनेका सन्देह हो गया था ॥११६॥ समस्त दिशाओंको बार-बार शब्दायमान करते हुए चक्रवर्तीने धनुषकी स्फुरायमान प्रत्यंगाके शब्दने इधर-उधर भागते हुए मच्छोंके समूहसे भरे हुए समुद्रको भी क्षोभित कर दिया था ॥११७॥ क्या यह चक्रवर्ती इस समुद्रका संहार करना चाहता है अथवा समस्त संसारका ? इस प्रकार आशंका कर विद्याधर लोग उस समय क्षण-भरके लिए आकाशमें खड़े हो गये थे ॥११८॥ जो टेढ़ा होकर भी गृणवान् (पक्षमें डोरीसे सहित) और सरल कार्य करनेवाला था (पक्षमें सीधा वाण छोड़नेवाला था) ऐसे उस धनुषपर चक्रवर्तीने प्रशंसनीय-योग्य आसनसे खड़े होकर भी व्यर्थ न जानेवाला अमोघ नामका वाण रखा ॥११९॥ 'मैं वृषभ-देवका पुत्र भरत नामका चक्रवर्ती हूँ इसलिए मेरे उपभोगके योग्य क्षेत्रमें रहनेवाले सब व्यन्तर देव मेरे अधीन हों इस प्रकार जिसपर स्पष्ट अक्षर लिखे हुए हैं ऐसा हुआ वह चक्रवर्तीके द्वारा चलाया हुआ वाण मुख्य दूतकी तरह पूर्व दिशाकी ओर मुख कर चला ॥१२०-१२१॥ और जिसने वज्रपातके शब्दको जीत लिया है ऐसा भारी शब्द करता हुआ तथा मागध देवकी सेनामें क्षोभ उत्पन्न करता हुआ वह वाण आकाश-तलसे मागध देवके निवासस्थानमें जा पड़ा ॥१२२॥ क्या यह कल्पान्त कालके वायुसे ताड़ित हुआ समुद्र ही क्षोभको प्राप्त हुआ है ? अथवा जोरने शब्द करता हुआ वज्र पड़ा है ? अथवा भूमिकम्प ही हो रहा है ? इस प्रकार जितकी बुद्धि अत्यन्त व्याकुल हो रही है ऐसे उसके समीप रहनेवाले व्यन्तरदेव तैयार होकर मागध देवके पास आये और उसे घेरकर खड़े हो गये ॥१२३-१२४॥ हे देव, हमारे सभा-

१ जलमध्य । २ अर्णवमध्य । ३ क्रुद्धः । ४ स्फुरन्ती न्या मूर्ध्नी यस्य स तम् । ५ चक्रिणः । ६ स्थानकम् प्रत्यालोहादिस्थानम् । ७ मद्वादीना भवन्तु । ८ मम क्षेत्रवासिन इत्यर्थः । ९ वाणः । १० पूर्वामिमुखीम् । ११ अशनि । १२ अत्याकुलबुद्धयः । १३ विहितः ।

येनायं प्रहितः पत्नी नाकिना दानवेन वा । तस्य कर्तुं प्रतीकारमिमं सज्जा वयं प्रभो ॥१२६॥
 इत्यारक्षि^१ भद्रैस्तूर्णमन्त्रं विज्ञापितः प्रभुः । अलमाध्वं^२ भटालापरित्युच्चैः प्रत्युवाच तान् ॥१२७॥
 यूयं न^३ एव मद्भाषाः सोऽहमवास्मि मागधः । श्रुतपूर्वमिदं किं वः सोऽपूर्वो मयेत्यरिः ॥१२८॥
 विमर्ति वः पुमान् प्राणान्^४ परिभूतिमलीमसान् । न गुणैर्लिङ्गमात्रेण पुमानेष प्रतीयते ॥१२९॥
 स चित्रपुरुषो वास्तु चञ्चलपुरुष^५ एव यः । यो विनापि गुणैः परैर्वैर्नास्ति^६ पुरुषायते ॥१३०॥
 यः पुमान् यः पुनीते स्वं कुलं जन्म च परैर्वैः । भद्रशुभो जनो यस्तु तस्यास्त्वभवनिर्भुवि ॥१३१॥
 विजिगीषुत्वया देवा^७ वयं नेष्टाविहारतः^८ । ततोऽरिविजयादेव संयदस्तु सदापि नः ॥१३२॥
 वस्तुवाहनराज्याङ्गैराराधयति वः परम् । परभोगिणमैश्वर्यं^९ तस्य मन्ये विडम्बनम् ॥१३३॥
 शरणाङ्गी प्रभुः कोऽपि मत्तोऽयं^{१०} धनमाप्सति । धनायतोऽस्य दास्यामि निधनं प्रयत्नैः^{११} समम् ॥१३४॥
 विचूर्ण्येनं शरं तावन् कोपाग्नेः प्रथमं धनम् । करवाणीदमेवास्तु^{१२} तनुशक्कैरुपेन्धनम्^{१३} ॥१३५॥

भवनके आंगनमें कोई देदीप्यमान बाण आकर पड़ा है उसीसे यह क्षोभ हुआ है इसका दूसरा कारण नहीं है ॥१२५॥ हे प्रभो, जिस किसी देव का दान करने का आग्रह हो है हम लोग उसका प्रतिकार करनेके लिए तैयार हैं ॥१२६॥ इस प्रकार रक्षा करनेवाले वीर योद्धाओं-ने शीघ्र ही आकर अपने स्वामी मागध देवसे निवेदन किया और मागध देवने भी बड़े जोरसे उन्हें उत्तर दिया कि चुप रहो, इस प्रकार वीर वाक्योंसे कुछ लाभ नहीं है ॥१२७॥ तुम लोग वे ही मेरे अधीन रहनेवाले देव हो और मैं भी वही मागध देव हूँ, क्या मुझे कभी पहले अपना शत्रु सहन हुआ है ? यह बात तुम लोगोंने पहले भी कभी सुनी है ? ॥१२८॥ जो पुरुष पराभव-से मलिन हुए अपने प्राणोंको धारण करता है वह गुणोंसे पुरुष नहीं कहलाता किन्तु केवल लिङ्ग-से ही पुरुष कहलाता है ॥१२९॥ जो पुरुष, पुरुषोंमें पाये जानेवाले गुणोंके बिना केवल नामसे ही पुरुष बनना चाहता है वह या तो चित्रमें लिखा हुआ पुरुष है अथवा तृण काष्ठ वगैरहसे बना हुआ पुरुष है ॥१३०॥ जो अपने पराक्रमसे अपने कुल और जन्मको पवित्र करता है वास्तवमें वही पुरुष कहलाता है, इसके विपरीत जो मनुष्य झूठमूठ ही अपनेको वीर कहता है पृथिवीपर उसका जन्म न लेना ही अच्छा है ॥१३१॥ हम लोग शत्रुओंको जीतनेसे ही 'देव' कहलाते हैं, इच्छानुसार जहाँ-तहाँ विहार करनेमात्रसे देव नहीं कहलाते इसलिए हम लोगोंकी सम्पत्ति सदा शत्रुओंको विजय करनेमात्रसे ही प्राप्त हो ॥१३२॥ जो मनुष्य रत्न आदि वस्तु, हाथी घोड़े आदि वाहन और छत्र चमर आदि राज्यके चिह्न देकर किसी दूसरेकी आराधना-सेवा करता है उसका ऐश्वर्य दूसरोंके उपभोगके लिए हो और मैं ऐसे ऐश्वर्यको केवल विडम्बना समझता हूँ ॥१३३॥ बाण चलानेवाला यह कोई राजा मुझसे धन चाहता है सो इसके लिए मैं युद्धके साथ-साथ निधन अर्थात् मृत्यु दूँगा ॥१३४॥ सबसे पहले मैं इस बाण-को चूर कर अपने क्रोधरूपी अग्निका पहला ईंधन बनाऊँगा, यही बाण अपने छोटे-छोटे टुकड़ों-

१ प्रभो वयम् स०, अ०, प०, इ० । २ अङ्गरक्षिभटैः । ३ तूर्णानि तिष्ठतः । ४ ते पूर्वस्मिन् विद्यमाना एव । ५ परिभवः । ६ तृणपुरुषः । 'चञ्चलोऽनलादिनिर्माणे चञ्चला तु तृणपुरुषे' इत्यभिधानात् । करिकलभन्ध्यायमाश्रित्य पुनः पुरुषशब्दप्रयोगः । ७ वा ल०, अ०, प०, स०, द०, इ० । ८ पुरुषसंबन्धिभिः । ९ अनुत्पत्तिः । 'नङो निः शापे' इति अनिप्रत्ययान्तः । १० दीव्यन्ति विजिगीषुमतीति देवाः । ११ स्वरविहारतः । क्रोडाविहारतः इति भावः । १२ परभोगिभ्यो हितम् । १३ अस्मत् । १४ प्रयत्नैः द०, इ०, ल०, अ०, प०, स० । युद्धैः । 'युद्धमायोधनं जन्वं प्रयत्नं प्रविदारणम्' इत्यभिधानात् । १५ अलगकलैः (चूर्णीकृतशरीरेन्धनैः) । शत्रुशरीरशकलैः । १६ संघुक्षणम्, अग्निउत्थालनम् ।

माक्षेपमिति संरम्भादुदीर्घं गिरमुज्जिताम् । व्यसंतीद् दशनज्योन्मतां संहारम्मागधामरः ॥१३६॥
 ततस्तस्मिन्नुपस्थिताः सुरा दृष्टपरम्पराः । प्रभुं शमयितुं क्रोधाद् विद्यां बुद्धैर्विभोः^१ स्थितिः ॥१३७॥
 यथार्थं^२ वरमर्थं च^३ मितं च बहुविस्तरम् । अनाकुलं च सम्भारं^४ नाश्रियामीदृशं वचः ॥१३८॥
 सत्यं परिभवः सोढुमशक्यो मानशालिनाम् । बलवद्भिर्विरोधस्तु स्वपराभवकारणम् ॥१३९॥
 सत्यमेव यशो रक्ष्यं प्राणैरपि धनैरपि । तत्तु प्रसुमनाश्रित्य कथं लभ्येत धीधनैः ॥१४०॥
 अलब्धमात्रो ह्यर्थार्थपरिश्रममिच्छति । बुद्धमेकान् सखातुं शक्यं निगीतोर्माश्रयं विना ॥१४१॥
 यतिनामपि सत्येन बलीयांसो मनस्थिराः । बलवानहमस्मीति नोत्सेवतव्यमतः परम् ॥१४२॥
 न किञ्चिद्व्यनालोभ्य विधेयं निद्रिकाम्यता^५ । ततः शरः कुतश्चोऽयं किमीयो^६ चेति मृग्यनाम्^७ ॥१४३॥
 भुक्तं च बहुशोऽस्माभिराप्तीयं^८ पुष्कलं वचः । जिनाश्चक्रधरैस्पाथं वत्स्यन्ताहेति भारते ॥१४४॥
 नूनं चक्रिण एवायं जयाशंसा शरागमः । धृतान्धतमसोद्योतः संभाव्योऽन्यत्र किं रवेः^९ ॥१४५॥
 अथवा खलु^{१०} संशय्य चक्रपाणेयं शरः । व्यनक्ति व्यक्तमेवेन^{११} तस्मात्तद्विशालिका ॥१४६॥

से मेरी क्रोधरूपी अग्निको प्रज्वलित करनेवाला हो ॥१३५॥ इस प्रकार वह मागध देव क्रोधसे तिरस्कारके साथ-साथ कठोर वचन कहकर दाँतोंकी कान्तिको संकुचित करता हुआ जब चुप हो रहा ॥१३६॥ तब कुल-परम्पराको देखनेवाले समीपवर्ती देव उसका क्रोध शमन करनेके लिए उससे कहने लगे सो ठीक ही है क्योंकि राजा लोगोंकी स्थिति विद्याकी अपेक्षा वृद्ध हुए मनुष्योंसे ही होती है, भावार्थ—जो मनुष्य विद्यावृद्ध अर्थात् विद्याकी अपेक्षा बढ़े हैं उन्हींमें राजा लोगोंकी मर्यादा स्थिर रहती है किन्तु जो मनुष्य केवल अवस्थासे बढ़े हैं उनसे कुछ लाभ नहीं होता ॥१३७॥ उन देवोंने जो वचन कहे थे वे समयके अनुकूल थे, अर्थसे भरे हुए थे, परिमित थे, अर्थकी अपेक्षा बहुत विस्तारवाले थे, आकुलतारहित थे और गम्भीर थे सो ठीक ही है क्योंकि मूर्खोंके ऐसे वचन कभी नहीं निकलते हैं ॥१३८॥ उन देवोंने कहा कि हे प्रभो, यह ठीक है कि अभिमानी मनुष्योंको अपना पराभव सहन नहीं हो सकता है परन्तु बलवान् पुरुषोंके साथ विरोध करना भी तो अपने पराभवका कारण है ॥१३९॥ यह बिल्कुल ठीक है कि अपने प्राण अथवा धन देकर भी यशकी रक्षा करनी चाहिए परन्तु वह यश किसी समर्थ पुरुषका आश्रय किये बिना बुद्धिमान् मनुष्योंको किस प्रकार प्राप्त हो सकता है ? ॥१४०॥ प्राप्त नहीं हुई वस्तुका प्राप्त होना और प्राप्त हुई वस्तुकी रक्षा करना ये दोनों ही कार्य किसी विजिगीषु राजाके आश्रयके बिना सुखपूर्वक प्राप्त नहीं हो सकते ॥१४१॥ हे प्रभो, बलवान् मनुष्योंकी अपेक्षा और भी अधिक बलवान् तथा बुद्धिमान् हैं इसलिए मैं बलवान् हूँ इस प्रकार कभी गर्व नहीं करना चाहिए ॥१४२॥ सिद्धि अर्थात् सफलताकी इच्छा करनेवाले पुरुषको बिना विचारे कुछ भी कार्य नहीं करना चाहिए इसलिए यह बाण कहाँसे आया है ? और किसका है ? पहले इस बातकी खोज करनी चाहिए ॥१४३॥ इस भारतवर्षमें चक्रवर्तियोंके साथ तीर्थंकर निवास करेंगे, अवतार लेंगे ऐसे आप्त पुरुषोंके यथार्थ वचन हम लोगोंने अनेक बार सुने हैं ॥१४४॥ विजयको सूचित करनेवाला यह बाण अवश्य ही चक्रवर्तीका ही होगा क्योंकि सघन अन्धकारको नष्ट करनेवाला प्रकाश क्या सूर्यके सिवाय किसी अन्य वस्तुमें भी सम्भव हो सकता है ? अर्थात् नहीं ॥१४५॥ अथवा इस विषयमें संशय करना व्यर्थ है । यह बाण चक्रवर्तीका ही है, क्योंकि इसपर खुदे हुए नामके अक्षरोंकी माला साफ-साफ ही

१ प्रभोः स्थितिर्विद्यावृद्धैर्भवति हि । २ प्रभोः ल० । ३ यथावसरमर्थं च द०, ल०, अ०, प०, स०, इ० । ४ अभिलषणीयम् । ५ बुद्धिहीनताम् । ६ सिद्धि वाञ्छिता । ७ कस्य संबन्धि । ८ विचार्यताम् । ९ आप्तसंबन्धि । १० रवि विवर्ज्य । ११ शङ्का मां कार्षीः । १२ चक्रिणानाक्षर ।

तदेनं शरमभ्यर्च्य शम्भुमाख्याश्रतादिभिः । पूज्याद्यैव विमोराशा गत्वास्माभिः शरार्पणा ॥१४०॥
 मा गा मागध वैचित्र्यं^१ कार्यमेतद् विनिश्चिनु । न पुष्कं तत्प्रतीपत्वं^२ तव तद्देशवासिनः^३ ॥१४१॥
 तदलं देव संरम्भ्यं^४ तत्प्रतीप्यं^५ न शान्तये । महतः सरिदोघस्य^६ कः प्रतीपं तरन् सुखी ॥१४२॥
 बलवान्मनुष्यस्यैवैदनुनेयोऽथ चक्रवृत् । महत्सु वैतसीं^७ वृत्तिमासनन्त्यविपत्करीम् ॥१४३॥
 इहामुत्र च जन्तूनामुक्त्यै पूज्यपूजनम् । तार्पं^८ तैग्रानुबध्नाति पूज्यपूजाभ्यतिक्रमः ॥१४४॥
 इति तद्वचनात्किञ्चित् प्रबुद्ध इव^९ तत्क्षणम् । अज्ञातमेवमेतस्यादिव्यसौ प्रत्यपद्यत^{१०} ॥१४५॥
 ससंभ्रममिवास्याभूत्क्षितं किञ्चित्ससाध्वसम् । साशङ्कमिव^{११} सोद्वेगं प्रबुद्धमिव च क्षणम् ॥१४६॥
 ततः प्रसेदुषी^{१२} तस्य नचिरादेव^{१३} शोमुषी । पूर्वापरं व्यलोकित कोपापायान् प्रजोमुषी^{१४} ॥१४७॥
 सोऽयं चक्रवृत्तामाघो भरतोऽलङ्घयशासनः । प्रतीक्ष्यः^{१५} सर्वथास्माभिरनुनेयश्च सादरम् ॥१४८॥
 अक्रियं शरमाङ्गत्वं पुश्रवं च जगद्गुरोः । इत्यस्य पूज्यमेकैकं किं पुनस्तत्प्रमुञ्चितम् ॥१४९॥
 इति निश्चित्य^{१६} संभ्रान्तैरनुयातः सुरोत्तमैः । सहसा चक्रिणं द्रष्टुमुच्चाल स मागधः ॥१५०॥

चक्रवर्तीको प्रकट कर रही है ॥१४६॥ इसलिए गन्ध माला अक्षत आदिसे इस बाणकी पूजा कर हम लोगोंको आज ही वहाँ जाकर उनका यह बाण उन्हें अर्पण कर देना चाहिए और आज ही उनकी आज्ञा मान्य करनी चाहिए ॥१४७॥ हे मागध, आप किसी प्रकारके विकारको प्राप्त मत हुईए, और हम लोगोंके द्वारा कहे हुए इस कार्यका अवश्य ही निश्चय कीजिए, क्योंकि उनके देशमें रहनेवाले आपको उनके साथ विरोध करना उचित नहीं है ॥१४८॥ इसलिए हे देव, क्रोध करना व्यर्थ है, चक्रवर्तीके साथ वैर करनेसे कुछ शान्ति नहीं होगी क्योंकि नदीके बड़े भारी प्रवाहके प्रतिकूल तैरनेवाला कौन सुखी हो सकता है ? अर्थात् कोई नहीं ॥१४९॥ यदि बलवान् मनुष्यको अनुकूल बनाये रखना चाहिए यह नीति है तो चक्रवर्तीको आज ही प्रसन्न करना चाहिए, क्योंकि बड़े पुरुषोंके विषयमें बेंतके समान नम्र वृत्ति ही दुःख दूर करनेवाली है ऐसा विद्वान् लोग मानते हैं ॥१५०॥ पूज्य मनुष्योंकी पूजा करनेसे इस लोक तथा परलोक-दोनों ही लोकोंमें जीवोंकी उत्पत्ति होती है और पूज्य पुरुषोंकी पूजाका उल्लंघन अर्थात् अनादर करनेसे दोनों ही लोकोंमें पापबन्ध होता है ॥१५१॥ इस प्रकार उन देवोंके वचनोंसे जिसे उसी समय कुछ-कुछ बोध उत्पन्न हुआ है ऐसे उस मागध देवने मुझे यह हाल मालूम नहीं था यह कहते हुए उनके वचन स्वीकार कर लिये ॥१५२॥ उस समय उसके चित्तमें कुछ घबड़ाहट, कुछ भय, कुछ आशंका, कुछ उद्वेग और कुछ प्रबोध-सा उत्पन्न हो रहा रहा था ॥१५३॥ तदनन्तर थोड़ी ही देरमें निर्मल हुई और क्रोधके नष्ट हो जानेसे शान्त हुई उसकी बुद्धिने आगे पीछेका सब हाल देख लिया ॥१५४॥ यह वही चक्रवर्तियोंमें पहला चक्रवर्ती भरत है जिसकी कि आज्ञाका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता, हम लोगोंको हरएक प्रकारसे इसकी पूजा करनी चाहिए और आदरसहित इसकी आज्ञा माननी चाहिए ॥१५५॥ यह चक्रवर्ती है, चरमशरीरी है और जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवका पुत्र है, इन तीनोंमें-से एक-एक गुण ही पूज्य होता है फिर जिसमें तीनोंका समुदाय है उसकी तो बात ही क्या कहनी है ? ॥१५६॥ इस प्रकार निश्चय कर वह मागध देव शीघ्र ही चक्रवर्तीको देखनेके लिए आकाश-मार्गसे चला, उस समय सम्भ्रमको प्राप्त हुए अनेक अच्छे-अच्छे देव उसके पीछे-पीछे

१ चित्तविकारम् । २ अक्रियप्रतिकूलत्वम् । ३ -वर्तिनः ल० । ४ संरम्भं मा कार्योः । ५ प्रातिकूल्यम् । ६ प्रवाहस्य । ७ वेतससम्बन्धिनीम् । अनुकूलतामित्यर्थः । ८ तार्पं ल० । ९ जन्तु । १० एव । ११ अनु-मेने । १२ इव अवधारणे । १३ प्रसन्नवृत्ती । १४ अलाकालितैव । १५ उपशमवती । १६ पूज्यः । सांशयिकः, संशयापन्नमानसः । १७ सम्भ्रमवद्भिः ।

समुन्मणितिरीटांशुरचितेन्द्रशरासनम् । क्षणेनोल्लङ्घ्य संप्रापत् तं देशं यत्र चक्रभुजः ॥१५८॥
 पुरोधाय^१ शरं रत्नपटले सुनिवेशितम् । मागधः प्रभुमानसी^२ दार्यं स्वीकुरु मामिति ॥१५९॥
 प्रकोत्पत्तिक्षणे भद्रं यज्ञायामोऽनभिज्ञकाः^३ । महान्तमपराधं नस्त्वं क्षमस्वार्थितो^४ सुहृः ॥१६०॥
 युष्मन्पादरजःस्पर्शाद् वार्धिरिव न केवलम् । पूता वयमपि श्रीमन् त्वत्पादाभुजसेवया ॥१६१॥
 रत्नान्यसुभ्यन्तर्वाणि स्वर्गेऽप्यसुलभानि च । अधो^५ निधीनमाधातुं सौपयोगानि सन्तु ते ॥१६२॥
 हारोऽयमतिरोचिष्णुरधाराहं रघुकिर्जः । अवेणुत्रिपसंभूतैः दग्धो मुक्ताफलैर्भुजैः^६ ॥१६३॥
 तव वक्षःस्थलाम्बुले^७ दुपया^८ दुपहारताम्^९ । स्फुरन्ती^{१०} कुण्डले चाम् कर्णान्वज्जात् पवित्रताम् ॥१६४॥
 इत्यस्मै कुण्डले दिव्यं हारं च विततार सः । शैलोक्यसारसंदोहमिर्वैकण्ठ्यमुपागतम्^{११} ॥१६५॥
 रत्नैश्चाभ्यर्च्य रत्नेशं मागधः प्रीतमानसः । प्रभोरदाससत्कारः तन्मतात् स्वमगात् पदम् ॥१६६॥
 अथ तत्रस्थ एवाग्निं सान्तर्हीपं विलोकयन् । प्रभुयिलिस्मये^{१२} किञ्चिद् यद्वाश्चर्यो हि वारिधिः ॥१६७॥
 ततः कुतूहलाद् वार्धिं पश्यन्तं धूर्तः^{१३} पतिम् । तमिन्दुबाह्व दन्तांशुसुमनोमञ्जरीः किरन् ॥१६८॥

पृथ्वीवृत्तम्

अयं जलधिरुल्लसत्तलवीचिवाहूद्वतस्फुरन्मणिगणार्चनो ध्वनदसङ्ख्यशङ्खाकुलः ।

तवार्चमिव संविधिसुरनुवेलमुच्चैर्नदन् मरुद्वतजलानको दिक्षतु शश्वदानन्दधुम्^{१४} ॥१६९॥

जा रहे थे ॥१५७॥ देदीप्यमान मणियोसे जड़े हुए मुकुटकी किरणोंसे जिसमें इन्द्रधनुष बन रहा है ऐसे आकाशको क्षण-भरमें उल्लंघन कर वह मागध देव जहाँ चक्रवर्ती था उस स्थान-पर जा पहुँचा ॥१५८॥ रत्नके पिटारेमें रखे हुए बाणको सामने रखकर मागध देवने भरतके लिए नमस्कार किया और कहा कि हे आर्य, मुझे स्वीकार कीजिए—अपना ही समझिए ॥१५९॥ हे भद्र, हम अज्ञानी लोग चक्र उत्पन्न होनेके समय ही नहीं आये सो आप हमारे इस भारी अपराधको क्षमा कर दीजिए, हम बार-बार प्रार्थना करते हैं ॥१६०॥ हे श्रीमन्, आपके चरणोंकी धूलिके स्पर्शसे केवल यह समुद्र ही पवित्र नहीं हुआ है किन्तु आपके चरणकमलोंकी सेवा करनेसे हम लोग भी पवित्र हो गये हैं ॥१६१॥ हे प्रभो, यद्यपि ये रत्न अमूल्य हैं और स्वर्गमें भी दुर्लभ हैं तथापि आपकी निधियोंके नीचे रखनेके काम आवें ॥१६२॥ यह अतिशय देदीप्यमान तथा सूर, सीप, बाँस और हाथीमें उत्पन्न न होनेवाले दिव्य मोतियोंसे गुथा हुआ हार आपके वक्षःस्थलके आलिंगनसे पूज्यताको प्राप्त हो तथा ये देदीप्यमान—चमकते हुए दोनों कुण्डल आपके कानोंकी संगतिसे पवित्रताको प्राप्त हों ॥१६३—१६४॥ इस प्रकार उस मागध देवने एकरूपताको प्राप्त हुए तीनों लोकोंकी सार वस्तुओंके समुदायके समान सुशोभित होनेवाला हार और दोनों दिव्य कुण्डल भरतके लिए समर्पित किये ॥१६५॥ तदनन्तर जिसका चित्त अत्यन्त प्रसन्न हो रहा है ऐसे मागध देवने अनेक प्रकारके रत्नोंसे रत्नोंके स्वामी भरत चक्रवर्तीकी पूजा की और फिर उनसे आदर-सत्कार पाकर उन्हींकी सम्मतिसे वह अपने स्थानपर चला गया ॥१६६॥

अथानन्तर—वहाँ खड़े रहकर ही अन्तर्द्वीपोंसहित समुद्रको देखते हुए महाराज भरत-को कुछ आश्चर्य हुआ सो ठीक ही है क्योंकि वह लवणसमुद्र अनेक आश्चर्योंसे सहित था ॥१६७॥ तदनन्तर दाँतोंकी किरणेंरूपी पुष्पमञ्जरीकी बिखेरता हुआ सारधि कौतूहल-से समुद्रको देखनेवाले भरतसे इस प्रकार कहने लगा ॥१६८॥ कि, उछलती हुई चंचल लहरों

१ अये कृत्वा । २ नमस्करोति स्म । ३ आगताः । ४ प्रार्थितः । ५ निधिं प्रयत्नेन स्थापयितुमधः शिलाकर्तुं सप्रयोजनानि भवन्त्विति भावः । ६ न सूकरजैः । ७ इक्षुजैः । ८ संगताम् । ९ उपगच्छन् । १० पूज्यताम् । ११ स्फुरती कुण्डले चैव न० । १२ एकप्रकारम् । १३ विस्मितवान् । १४ यानमुखं गतः । सारधिरित्यर्थः । १५ आनन्दम् ।

अमुष्यजलमुत्पत्तद्गगनमेतदालक्ष्यते शशाङ्ककरकोमलवडविभिराततं शीकरैः ।

प्रहासमिव दिग्बधूपरिचयाय विश्वरदधत् तितांसं दिव चान्मनः प्रतिदिशं यशो भागशः ॥१७०॥

कचिरस्फुटितशुक्लिमौक्तिकतप्तं सतारं नभो जयन्त्यलिमलीमसं मकरमीनराशिञ्चितम् ।

कचित्सलिलमस्य भोगिकुलं संकुलं सूत्रतं नरेन्द्रकुलमुत्तमस्थितिजिगीषतीवोद्भटम् ॥१७१॥

इती विशति गान्धमम्बु शरदम्बुदाच्छच्छधि स्तुतं हिमवतोऽमुतश्च सुरसं पयः सैम्भवम् ।

तथापि न जलागमेन धृतिरस्य पोष्यते भुवं न जलसंग्रहैरिह जलाधारो द्रायति ॥१७२॥

वसन्ततिलकावृत्तम्

व्याप्योदरं चलकुलाचलसंनिकाशाः पुत्रा इषास्य लिमयः पयसा प्रपुष्टाः ।

कल्लोलकाञ्च परिभारहिताः समप्तादग्न्योन्मथघट्टनपराः सममावसन्ति ॥१७३॥

रूपी भुजाओंके द्वारा धारण किये हुए देदीप्यमान मणियोंके समूह ही जिसकी पूजाकी सामग्री है, जो शब्द करते हुए असंख्यात शंखोंसे आकुल है, जो प्रत्येक बेल्लाके साथ जोरसे शब्द कर रहा है, वायुके द्वारा कम्पित हुआ जल ही जिसके तगाड़े हैं और जो इन सबसे ऐसा जान पड़ता है मानो आपके लिए अर्घ्य ही देना चाहता हो ऐसा यह समुद्र सदा आपके लिए आनन्द देवे ॥१६९॥ आकाशकी ओर उछलता हुआ और चन्द्रमाकी किरणोंके समान कोमल कान्तिवाले जलके छोटे-छोटे छींटोंसे व्याप्त हुआ यह समुद्रका जल ऐसा जान पड़ता है मानो दिशा-रूपी स्त्रियोंके साथ परिचय करनेके लिए चारों ओरसे हास्य ही कर रहा हो अथवा अपना यश बाँटकर प्रत्येक दिशामें फैलाना ही चाहता हो ॥१७०॥ खुली हुई सीपोंके मोतियोंसे व्याप्त हुआ, भ्रमरके समान काला और मकर, मोन, मगर-मच्छ आदि जल-जन्तुओंकी राशि-समूहसे भरा हुआ यह समुद्रका जल कहीं ताराओंसहित, भ्रमरके समान श्याम और मकर मोन आदि राशियों से भरे हुए आकाशको जीतता है तो कहीं राजाओंके कुलको जीतना चाहता है क्योंकि जिस प्रकार राजाओंका कुल भोगी अर्थात् राजाओंके समूहसे व्याप्त रहता है उसी प्रकार यह जल भी भोगी अर्थात् सपोंके समूहसे व्याप्त है, जिस प्रकार राजाओंका कुल सूत्रत अर्थात् अत्यन्त उत्कृष्ट होता है उसी प्रकार यह जल भी सूत्रत अर्थात् अत्यन्त ऊँचा है, जिस प्रकार राजाओंका कुल उत्तम स्थिति अर्थात् मर्यादासे सहित होता है उसी प्रकार यह जल भी उत्तम स्थिति अर्थात् अवधि (हृद) से सहित है, और राजाओंका कुल जिस प्रकार उद्भट अर्थात् उत्कृष्ट योद्धाओंसे सहित होता है उसी प्रकार यह जल भी उद्भट अर्थात् प्रबल है ॥१७१॥ इधर हिमवान् पर्वत-से निकला हुआ तथा शरदऋतुके बादलोंके समान स्वच्छ कान्तिको धारण करनेवाला गंगा नदीका जल प्रवेश कर रहा है और उस ओर सिन्धु नदीका मीठा जल प्रवेश कर रहा है, फिर भी जलके आनेसे इसका सन्तोष पूरा नहीं होता है, सो ठीक ही है क्योंकि जलाशय (जिसके बीचमें जल है, पक्षमें जड़ आशयवाला-मूर्ख) जल (पक्षमें जड़-मूर्ख) के संग्रहसे कभी भी सन्तुष्ट नहीं होता है । भावार्थ — जिस प्रकार जलाशय-जडाशय अर्थात् मूर्ख मनुष्य जलसंग्रह-जड़संग्रह अर्थात् मूर्ख मनुष्योंके संग्रहसे सन्तुष्ट नहीं होता उसी प्रकार जलाशय अर्थात् जलसे भरा हुआ समुद्र या तालाब जल संग्रह अर्थात् पानीके संग्रह करनेसे सन्तुष्ट नहीं होता ॥१७२॥ इस समुद्र-के उदर अर्थात् मध्यभाग अथवा पेटमें व्याप्त होकर पय अर्थात् जल अथवा दूधसे अत्यन्त पुष्ट हुए तथा चलते हुए कुलाचलोंके समान बड़े-बड़े इसके पुत्रोंके समान मगरमच्छ और प्रमाणरहित

१ विस्तारितुमिच्छत् । २ सर्वसमूह पक्ष भोगिसमूह । ३ सिन्धुनदीसंग्रह । ४ जलाधारः जडबुद्धिश्च । ५ द्रायति तृप्यति । द्वै तृप्ती । — ६ साविशन्ति ल०, द० ।

आपो धनं धृतरसाः सरितोऽस्य दाराः पुत्रीयिता^१ जलचराः सिकताश्च रत्नम् ।

निःश्वसन्मलिनः फणमण्डलान्तः सुख्यं^२ करलरुचयः परितो भ्रमन्तः ।

व्यावच्छिन्नमानतनवा^३ रघिले^४ रक्तादशेषपुत्राभि^५ यमर्मा दवते फणीन्द्राः^६ ॥१७५॥

पादैरयं जलनिधिः शिशिरैरपीन्द्रोरास्पृश्यमानतलिलः सहसा खमुद्यन् ।

शेषादियोजलति^७ सुक्तगर्भारभाषो वेलाच्छलेन^८ न महान् सहनेऽभिभूतिम्^९ ॥१७६॥

नाकाकसां धृतरसं^{१०} सहकामिनीभिराक्रीडनानि^{११} सुमनोहरकाननानि ।

द्वीपरूपलानि रुचिराणि सहस्रशोऽस्मिन् सम्पन्नतरीपमिव^{१२} दुर्गनिवेशनानि^{१३} ॥१७७॥

अनेक लहरें ये सब चारों ओरसे एक दूसरेको धक्का देते हुए एक ही साथ इस समुद्रमें निवास कर रहे हैं ॥१७३॥ हे प्रभो, इस समुद्रके जल ही धन हैं, रस अर्थात् जल अथवा भ्रृंगार या स्नेहको धारण करनेवाली नदियाँ ही इसकी स्त्रियाँ हैं, मगरमच्छ आदि जलचर जीव ही इसके पुत्र हैं और बालू ही इसके रत्न हैं इस प्रकार यह थोड़ी-सी विभूतिको धारण करता है तथापि महोदधि इस भारी प्रसिद्धिको धारण करता है यह आश्चर्यकी बात है । भावार्थ — इस श्लोकमें कविने समुद्रकी दरिद्र अवस्थाका चित्रण कर उसके महोदधि नामपर आश्चर्य प्रकट किया है । दरिद्र अवस्थाका चित्रण इस प्रकार है । हे प्रभो, इस समुद्रके पास आजीविकाके योग्य कुछ भी धन नहीं है । केवल जल ही इसका धन है अर्थात् दूसरोंको पानी पिला पिलाकर ही अपना निर्वाह करता है, इसकी नदीरूप स्त्रियोंका भी बुरा हाल है वे बेचारी रस-जल धारण करके अर्थात् दूसरेका पानी भर-भरकर ही अपनी आजीविका चलाती हैं । पुत्र हैं परन्तु वे सब जलचर अर्थात् (जडचर) मूर्ख मनुष्योंके नौकर हैं अथवा मूर्ख होनेसे नौकर हैं अथवा पानीमें रहकर शेवाल बीनना आदि तुच्छ कार्य करते हैं, इसके सिवाय कुलपरम्परासे आयी हुई सोना-चाँदी रत्न आदिकी सम्पत्ति भी इसके पास कुछ नहीं है — बालू ही इसके रत्न हैं, यद्यपि इसमें अनेक रत्न पैदा होते हैं परन्तु वे इसके निजके नहीं हैं उन्हें दूसरे लोग ले जाते हैं इसलिए दूसरेके ही समझना चाहिए इस प्रकार यह बिलकुल ही दरिद्र है फिर भी महोदधि (महा + उ + दधि) अर्थात् लक्ष्मीका बड़ा भारी निवासस्थान इस नामको धारण करता है यह आश्चर्यकी बात है । आश्चर्यका परिहार ऊपर लिखा जा चुका है ॥१७४॥ जो निःश्वासके साथ निकलते हुए धूमसे मलिन हो रहे हैं, जिनके फणाओंके मध्यभागमें रत्नोंकी कान्ति स्पष्ट रूपसे प्रकट हो रही है, जो चारों ओर गोलाकार घूम रहे हैं, जिनके शरीर बहुत लम्बे हैं, और जो अकस्मात् ही क्रोध करने लगते हैं ऐसे ये सर्प इस समुद्रमें अलातधक्की शोभा धारण कर रहे हैं ॥१७५॥ इस समुद्रका जल चन्द्रमाके शीतल पादों अर्थात् पैरोंसे (किरणोंसे) स्पर्श किया जा रहा है, इसलिए ही मानो यह क्रोधसे गम्भीर शब्द करता हुआ ज्वारकी लहरोंके छलसे बदला चुकानेके लिए अकस्मात् आकाशकी ओर उछलकर दौड़ रहा है सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुष तिरस्कार नहीं सह सकते ॥१७६॥ इस समुद्रके जलके

१ पुत्रा इव आवरिताः । २ विभूतेरैश्वर्यस्य लवो लेशस्तेन दुर्लभितो दुर्गर्भः । लवशब्दोऽत्र विचित्र-
कारणम् । ३ प्रसिद्धताम् । ४ फणमण्डलमध्ये । ५ सुप्रकट । ६ दीर्घभक्छरीराः । ७ रोषः । ८ अलात-
शोभाम् । ९ किरणैः चरणैरिति ध्वनिः । १० -दिवोच्छ्वलति ल० । ११ जलविकारव्याजेन । 'अक्यम्बुविकृता
वेला' इत्यभिधानात् । १२ पराभवम् । १३ क्रियाविशेषणम् । सतिरसं द० । प्रतरसां ल० । १४ आसमन्तात्
क्रीडनानि येषु तानि । १५ सुमनोहर इत्यपि क्वचित् पाठः । १६ अन्तर्द्वीपमिव । 'द्वीपोऽस्त्रियामन्तरीपं
यदन्तर्द्वीपरिणस्तम् ।' इत्यभिधानात् । १७ महाद्वीपमध्यवर्तीनि गिरिदुर्गादिनिवेशनानि च सन्तीत्यर्थः ।
* 'दधि क्षीरोत्तरावस्थाभावे श्रीवाससर्जयोः' इति मेदिनी ।

मालिनीवृत्तम्

अयमनिभृतवेलो^१ रुहरोधोऽन्तरालैरनिलवलविलोलैर्भूरिकल्लोलजालैः ।
तदवनमभिहन्ति व्यक्तमस्मै^२ प्रहस्यन् मम किल बहिरस्मात्प्राप्तिं वृत्तिमुधेति^३ ॥१७८॥
अविगणितसहस्रा ययमस्मान् स्वपादैरभिहथ^४ किमलङ्घ्यं वो वृथा तौक्त्यमेतन् ।
वयमिव किमलङ्घ्याः किं गर्भारा इतीत्यं परिवदति^५ विताबैर्न^६ मर्धः कुलार्द्रान् ॥१७९॥

ग्रहपिण्डीवृत्तम्

अत्रायं भुजगशिखुर्जिलाभिगङ्गा^७ श्वासास्यं तिमिमभिधावति ग्रहष्टः ।
तं सोऽपि स्वगलविलावलमलम^८ स्वान्वासा^९ विहितदयो न जेगिराति^{१०} ॥१८०॥

दोधकवृत्तम्

एष^{११} महामणिरश्मिविकीर्णं तोयसमुप्य^{१२} धृतामिषशङ्कः^{१३} ।
मन्यगोऽनुसरन् सहसास्मात् वह्निभिया पुनरप्यपयानि ॥१८१॥
लोलतरङ्गविलोलितदृष्टिर्वृद्धतरोऽमुमतिः^{१४} सुमते^{१५} मः ।
ही रथमेष तिमिज्जिलगङ्गा पश्यति पश्य तिमिः^{१६} स्तिमिताक्षः^{१७} ॥१८२॥

भुजङ्गप्रयातवृत्तम्

इहामी भुजङ्गाः सरस्वैः फणाग्रैः समुत्क्षिप्य भोगान्^{१८} वसुद्धीक्षमाणाः ।
विभाष्यन्त एते तरङ्गोरुहस्तैर्धृता शीपिकौघा महावार्धनेष ॥१८३॥

भीतर अपनी देवांगनाओंके साथ बड़े वेगसे आते हुए देवोंके हजारों क्रीड़ा करनेके स्थान हैं, हजारों मनोहर वन हैं और हजारों सुन्दर द्वीप हैं तथा वे सब ऐसे जान पड़ते हैं मानो इसके भीतर बने हुए किले ही हों ॥१७७॥ ज्वार-भाटाओंसे चंचल हुआ यह समुद्र इस वनके बाहर भेरा जाना नहीं हो सकता है इसलिए इसपर प्रकट क्रोध करता हुआ अपने किनारेके वनको वायुके वेगसे अतिशय चंचल और पृथिवी तथा आकाशके मध्य भागको रोकनेवाली अनेक लहरोंके समूहसे व्यर्थ ही ताड़न कर रहा है ॥१७८॥ हे प्रभो, यह गरजता हुआ समुद्र ऐसा जान पड़ता है मानो अपने ऊँचे शब्दोंसे कुल पर्वतोंको यही कह रहा है कि हे कुलपर्वतो, तुम्हारी ऊँचाई बहुत है इसलिए क्या तुम अपने पैरों अर्थात् अन्तके भागोंसे हम लोगोंकी ताड़ना कर रहे हो ? तुम्हारी यह व्यर्थकी ऊँचाई क्या उल्लंघन करनेके अयोग्य है ? क्या तुम हमारे समान अलंध्य अथवा गम्भीर हो ? ॥१७९॥ इधर यह साँपका बच्चा अपना बिल समझकर प्रसन्न होता हुआ, मुख फाड़े हुए मच्छके मुखमें दौड़ा जा रहा है और वह भी अपने गले रूप बिलमें लगे हुए इस साँपके बच्चेको अपनी आँत समझ दयाके कारण नहीं निगल रहा है ॥१८०॥ इधर यह मछलियोंका समूह पक्षराग मणिकी किरणोंसे व्याप्त हुए इस समुद्रके जलको मांस समझकर उसे लेनेके लिए दौड़ता है और फिर अकस्मात् ही अग्नि समझकर वहाँसे लौट आता है ॥१८१॥ हे देव, इधर देखिए, चंचल लहरोंसे जिसकी दृष्टि चंचल हो रही है और जो बहुत ही बूढ़ा है ऐसा यह मच्छ इस रथको मछलियोंको खानेवाला बड़ा मच्छ समझकर निश्चल दृष्टिसे देख रहा है, हमारा खयाल है कि यह बड़ा कुबुद्धि है ॥१८२॥ इधर

१ अस्थिर । अचलमित्यर्थः । २ आकाशमण्डलः 'भूम्याकाशरहःप्रयोगानयेषु रोधत्' । ३ तटवनाय । ४ वृथा । ५ अभिताडयथ । ६ पक्षिध्वनिभिः । ७ इव । ८ विवृताननम् । ९ मध्य । मध्यमं चावलम्बनं च तुषोऽस्त्री इत्यमरः । १० निजपुरीतद्विभक्तकृतयः (?) [निजपुरीतद्विभक्तकृतयः] । ११ भूषं गिरति । १२ पक्षराग । १३ समुद्रस्य । १४ पल्ल । १५ अशीभनबुद्धिः । १६ साधुजातम् । १७ मरस्यः । १८ 'स्तिमिता वाधर्षनिश्चलामित्यभिधानात् । १९ शरीराणि । 'भोगः सुखे श्वादिभूतावहेष्व फणकाययोः' ।

सुअङ्गप्रयानैरिदं वारिराशं जलं लक्ष्यतेऽन्तःस्फुरद्भ्रमकादि ।

महानीलवैश्वेय द्वापरनेकैर्जलद्विभ्रजस्तत्तथास्तनुभिः^१ ॥१८४॥

मत्तमयूरधृत्तम्

प्रागयाता पुष्कावाद्यन्निमुच्चैस्तन्वानेऽथो मन्दगभीरं कृतलास्याः ।

द्रोणोपान्तं सन्ततमस्मिन् सुरकन्या रंभ्यन्ते मत्तमयूरैः सममेताः^२ ॥१८५॥

नीलं श्यामाः कृतरवमुच्चैर्धृतनादा^३ विमुद्गन्तः^४ स्फुरितभुजङ्गात्फणरञ्जम् ।

आदिलभ्यन्तां जलदसमूहा जलमस्थ व्यकिं^५ नोपवजिमुमलं^६ तं घनकाले ॥१८६॥

पश्याम्भोधेरनुतटमेनां वनराजी राजीवास्यं^७ प्रशमिततापो धिततापाम्^८ ।

वेलोत्सर्पजलकणिकाभिः^९ परिधातां नीलां शाटीमिव^{१०} सुमनोभिः प्रविकीर्णाम् ॥१८७॥

सोटकवृत्तम्

परितः^{११} सरसीः सरयैः कमलैः सुहिताः^{१२} सुचिरं विचरन्ति मृगाः ।

^{१३}उपतीरममुष्य निमर्गसुखां ववति^{१४} निरुपहृतिमेस्य वने ॥१८८॥

अनुतीरवने^{१५} मृगयूथमिदं कनकस्थलमुज्ज्वलितं रुचिभिः ।

परिवीक्ष्य दवानलशक्ति भृशं^{१६} परिधावति धावति तीरमुवः ॥१८९॥

रत्नसहित फणाके अग्रभागसे अपने मस्तकको ऊँचा उठाकर आकाशकी ओर देखते हुए ये सर्प ऐसे जान पड़ते हैं मानो इस महासमुद्रने अपने तरंगोरूपी बड़े-बड़े हाथोंसे दीपकोके समूह ही धारण कर रखे हों ॥१८३॥ जिसके भीतर करोड़ों रत्न देवीप्यमान हो रहे हैं ऐसा यह महासमुद्रका जल सर्पोंके इधर-उधर जानेसे ऐसा दिखाई देता है मानो फैले हुए अन्धकारको नष्ट करते हुए, जलते हुए और चलते हुए अनेक दीपकोसे सहित महानील मणियोंका बना हुआ घर हो हो ॥१८४॥ जिस समय यह समुद्र वायुके आघातसे पुष्कर (एक प्रकारका बाजा) के समान गम्भीर और ऊँचे शब्द करता है उस समय इस द्वीपके किनारेपर इन उन्मत्त मयूरोके साथ साथ नृत्य करती हुई ये देवकन्याएँ निरन्तर ऋीडा किया करती हैं ॥ १८५ ॥ वर्षाऋतुमें बादलोंके समूह और इस समुद्रका जल दोनों एक समान रहते हैं क्योंकि वर्षाऋतुमें बादलोंके समूह काले रहते हैं और समुद्रका जल भी काला रहता है, बादलोंके समूह जोरसे गरजते हुए आनन्दित होते हैं और समुद्रका जल भी जोरसे शब्द करता हुआ आनन्दित होता है — लहराता रहता है, बादलोंके समूहमें बिजली चमकती है और समुद्रके जलमें भी सर्पोंके ऊँचे उठे हुए फणाओंपर रत्न चमकते रहते हैं, इस प्रकार बादलोंके समूह अपने समान इस समुद्रके जलका आलिंगन करते हुए वर्षाऋतुमें किसी दूसरी जगह नहीं जा सकते यह स्पष्ट है ॥ १८६ ॥ कमलके समान सुन्दर मुखको धारण करनेवाले हे देव, समुद्रके किनारे-किनारेकी इन वनपंक्तियोंको देखिए जिनमें कि सूर्यका सन्ताप बिलकुल ही शान्त हो गया है, जहाँ-तहाँ विस्तृत जल भरा हुआ है, जो फूलोंसे व्याप्त हो रही हैं और जो बड़ी-बड़ी लहरोंके उछलते हुए जलकी बूंदोंसे धोई हुई नीले रंगकी साड़ियोंके समान जान पड़ती हैं ॥१८७॥ इस समुद्रके किनारेके वनमें उपद्रव-रहित तथा स्वभावसे ही सुख देनेवाले स्थानपर आकर सरस कलमी धानोंकी खाते हुए ये हरिण बहुत काल तक इन तालाबोंके चारों ओर घूमा करते हैं ॥१८८॥ इस किनारेके वनमें कान्ति

१ व्याप्तान्धकारनाशकः । २ जलमिति वाद्य अथवा चर्गानद्धवाद्यभेदः । ३ सममेतः ल०, इ० । ४ धृतमोदा ल० । ५ तडिद्वन्तः । ६ व्यक्तं ल० । ७ गन्तुम् । ८ सेवसमूहाः । ९ कमलास्य । १० विस्तृतजलम् । ११ जललवैः । 'कणिका कथ्यतेऽप्यन्ता सूक्ष्मवस्त्वभिनमन्थयोः' ॥ १२ वस्त्रम् । १३ सरसीनां समन्ततः । १४ पोषिताः । १५ तटे । १६ निरुपद्रवाम् । १७ तटवने । १८ परिमण्डले (वेलायाम्)

प्रहर्षिणी

लावण्यादयमभिसारयन्^१ सरिर्धारास्तप्रतनुं जलांशुकास्तरङ्गैः ।

अदिलप्यन्मुहुरपि नोपयाति मृत्तिं संमोर्गरनिरसिको न तृप्यतीह ॥१६०॥

वसन्ततिलका

शे^२धोभुवोऽस्य तनुर्धाकरधारिसिवताः संमार्जिता विरलमुञ्चलितैस्तरङ्गैः ।

भान्तीह संतलताविगलत्प्रमूननिम्बोपहारसुमगा सुसदा^३ निपेय्याः ॥१६१॥

मन्दाक्रान्ता

स्वर्गोद्यानश्रियमिव^४ हसत्युत्पसूने बनेऽस्मिन् मन्दाराणां सरति^५ पक्षमे मन्दमन्दं वनाभ्यान् ।

मन्दाक्रान्ताः^६ सललितपद्मं किञ्चिदारब्धगाना^७श्चक्रम्यन्ते लगयुवतयस्तीरपेशेष्वमुप्य ॥१६२॥

प्रहर्षिणी

अग्नय^८ स्तिमिरयमाजिर्घा सुरारादभ्येति द्रुतमभिभाषु^९ कोत्सुयोनिम्^{१०} ।

शीलोद्यानवि निगिरंस्तिर्मीनितोऽन्यो ध्यस्यास्ते^{११} सममसुना युयुत्समानः ॥१६३॥

पृथ्वी

जलादजगरस्तिमिं शयुमपि^{१२} स्थलादप्सुजो^{१३} विकर्षति^{१४} युयुत्सया^{१५} कृतदृढमहो^{१६} दुर्महः^{१७} ।

तथापि न जयो मिथोऽस्ति समकक्षयोरनयोर्ध्रुवं न^{१८} समकक्षयोरिह जयेत्तरप्रक्रमः^{१९} ॥१६४॥

से प्रकाशमान सुवर्णमय स्थानोंको देखकर जिसे दावानलकी शंका हो रही है ऐसा यह हरिणों-का समूह बहुत शीघ्र किनारेकी पृथ्वीकी ओर लोटता हुआ दौड़ा जा रहा है ॥ १८९ ॥ यह समुद्र, जिनके जलरूपी सूक्ष्म वस्त्र कुछ-कुछ नीचेकी ओर खिसक गये हैं ऐसी नदीरूपी स्त्रियों-को लावण्य अर्थात् सुन्दरताके कारण (पक्षमें स्नानके कारण) अपनी ओर बुलाता हुआ तथा तरंगोंके द्वारा बार-बार उनका आलिगन करता हुआ भी कभी तृप्तिको प्राप्त नहीं होता सो ठीक ही है क्योंकि जो अत्यन्त रसिक अर्थात् कामी (पक्षमें जलसहित) होता है वह इस संसार-में अनेक बार सम्भोग करनेपर भी तृप्त नहीं होता है ॥१९०॥ जो छोटी-छोटी बूंदोंके पानी-के सींचनेसे स्वच्छ हो गयी हैं, निरन्तर लताओंसे गिरते हुए फूलोंके उपहारसे जो सदा सुन्दर जान पड़ती हैं, और जो देवोंके द्वारा सेवन करने योग्य हैं ऐसी ये यहाँकी किनारेकी भूमियाँ विरल-विरल रूपसे उछलती हुई लहरोंसे अत्यन्त सुशोभित हो रही हैं ॥ १९१ ॥ स्वर्गके उपवनकी शोभाकी ओर हँसनेवाले तथा फूलोंसे भरे हुए इस वनमें मन्दार वृक्षोंके वनके मध्य भागसे यह वायु धीरे-धीरे चल रहा है और इसी समय जिन्होंने कुछ-कुछ गाना प्रारम्भ किया है ऐसी ये धीरे-धीरे चलनेवाली विद्याधरियाँ इस समुद्रके किनारेके प्रदेशोंपर लीलापूर्वक पैर रखती उठाती हुई टहल रही हैं ॥ १९२ ॥ इधर, इस जलमें उत्पन्न हुए अन्य अनेक मच्छोंको तिरस्कार कर उनके मारनेकी इच्छा करता हुआ यह इसी जलमें उत्पन्न हुआ बड़ा मच्छ बहुत शीघ्र दूरसे उनके सन्मुख आ रहा है और पर्वतके समान बड़े-बड़े मच्छोंको निगलता हुआ यह दूसरा बड़ा मच्छ उस पहले बड़े मच्छके साथ युद्ध करनेकी इच्छा करता हुआ खड़ा है ॥१९३॥ इधर, यह अजगर जलमें-से किसी बड़े मच्छको अपनी ओर खींच रहा है और मजबूतीसे पकड़ने-

१ अभिसारिकाः कुर्वन् । २ दलक्षण । ३ तदभूमयः । ४ देवानाम् । ५ हसतीति हसत् तस्मिन् ।
६ सरतीति सरत् तस्मिन् । ७ मन्दगमनाः । ८ अप्सु भवः । ९ आहन्तुमिच्छुः । १० अभिवशोलः ।
११ शङ्खं जलचरं वा । १२ वैपरीत्येन स्थितः । १३ अजगरम् । १४ मत्स्यः । १५ आकर्षति ।
१६ योद्धुमिच्छया । १७ परस्परविहितदृढग्रहणम् । १८ प्रहः स्वीकारः । १९ गृहीतुमशक्यः । २० समक्षयोः ।
२० अपजयः ।

वनं^१ वनगत्रैरिह जलनिधेः समास्कूलितं वनं वनगत्रैरिव स्फुटविमुक्तसाराविणम् ।
 भृदङ्गपरिवादनश्रियमुपादधदिकटे तनोति तटमुच्चलस्यपदि दत्तसंमार्जनम् ॥१९५॥
 तरत्तिमिकलेवरं स्फुटितशुक्तिशङ्का^२चितं स्फुरत्परुषनिःस्वनं विवृतरन्धपातालकम् ।
 भयानकमितो अलं जलनिधेर्ल^३सत्पन्नगप्रसुक्तनु^४कृत्तिसंशयितवीचिमालाकुलम् ॥१९६॥
 इतो ध्रुमवनोऽनिलः शिशिरशीकरानाकिरक्षुपैति शनकैस्तटदुमसुगन्धिपुष्पाहरः^५ ।
 इतश्च गरुधोऽनिलः स्फुरति धृतकल्लोलसात् कृतस्वनभयानकस्तिमिकलेवरानाधुनन् ॥१९७॥

शादूलविक्रीडितम्

अस्योपान्तभुवश्चकासति तरं वेलोच्चलन्मौनिकैराकीर्णाः कुसुमोपहारजनितां लक्ष्मीं दधाना भृशम् ।
 मेघन्ते सह सुन्दरीभिरमरा याः स्वर्गलोकान्तरं मन्वाना^६ धृतसंसदास्तटवनच्छायातल्लसंश्रिताः ॥१९८॥
 गते ते मकरादयो जलविशेषैश्च कुक्षिभरि^७ शिरःशोभनन्तराश्रमभिधै पुत्रा इवास्थौरस्मा^८ ।
 भागस्यै प्रतिलिप्सया नु^९ जनकस्थाकोशतोऽप्यग्रतो युध्यन्ते मिलिताः परस्परमहो बद्धकुक्षो घिग्धनम् ॥१९९॥
 लोकानन्दिभिरग्रमा^{१०} परिगनैरुच्चावचैर्भोगिना^{११} मारुदैरधिमस्तकं^{१२} शुचितमैः संतापविच्छेदिभिः ।
 पातालैर्विवृताननैर्मुहुरपि प्राप्तव्यवैरक्षयैरासंसारममुष्य नास्ति विगमो^{१३} रत्नैर्जलौघैरपि ॥२००॥

बाला यह दुष्ट मच्छ भी लड़नेकी इच्छासे उसे जमीनपर-से अपनी ओर खींच रहा है तथापि एक समान बल रखनेवाले इन दोनोंमें परस्पर किसीकी जीत नहीं हो रही है सो ठीक ही है क्योंकि इस संसारमें जो समान शक्तिवाले हैं उनमें परस्पर जय और पराजयका निर्णय नहीं होता है ॥ १९४॥ जंगली हाथियोंके द्वारा अतिशय ताड़न किया हुआ यह समुद्रका जल, जिसमें जंगली हाथी स्पष्ट रूपसे गर्जना कर रहे हैं ऐसे किसी वनके समान तथा भृदङ्ग बजनेकी शोभाको धारण करता हुआ और दिशाओंमें उछलता हुआ किनारेको बहुत शीघ्र शुद्ध कर रहा है ॥ १९५॥ जिसमें अनेक मछलियोंके शरीर तैर रहे हैं, जो खुली हुई सीपोंके टुकड़ोंसे व्याप्त है, जिसमें कठोर शब्द हो रहे हैं, जिसने अपने रन्ध्रोंमें पातालको भी धारण कर रखा है, और जो तैरते हुए साँपोंसे छूटी हुई काँचलियोंसे लोगोंको ऐसा सन्देह उत्पन्न करता है मानो लहरोंके समूहसे ही व्याप्त हो ऐसा यह समुद्रका जल इधर बहुत भयानक हो रहा है ॥ १९६॥ इधर, वनको हिलाता हुआ, शीतल जलकी बूंदोंको बरसाता हुआ और वृक्षोंके सुगन्धित फूलोंकी सुगन्धिका हरण करता हुआ वायु धीरे-धीरे किनारेकी ओर बह रहा है और इधर बड़े-बड़े मच्छोंके शरीरको कँपाता हुआ तथा हिलती हुई लहरोंके शब्दोंसे भयंकर यह प्रचण्ड वायु बह रहा है ॥ १९७॥ जो बड़ी-बड़ी लहरोंसे उछलते हुए मोतियोंसे व्याप्त होकर फूलोंके उपहारसे उत्पन्न हुई अतिशय शोभाको धारण करती हैं, किनारेके वनके छायादार वृक्षोंके नीचे बैठे हुए देव लोग हर्षित होकर अपनी-अपनी देवांगनाओंके साथ जिनकी सेवा करते हैं और इसीलिए जो दूसरे स्वर्गलोककी शोभा बढ़ाती हैं ऐसी ये इस समुद्रके किनारेकी भूमियाँ अत्यन्त सुशोभित हो रही हैं ॥ १९८॥ ये मगरमच्छ आदि जलचर जीव, जिसके पास अनन्त धन है ऐसे इस समुद्रको अपने उदरका पालन-पोषण करनेवाला पिता समझकर सगे पुत्रोंके समान उसका धन बाँटकर अपने भाग (हिस्से)को अधिक रूपसे लेनेकी इच्छासे, गर्जनाके शब्दोंके बहाने चिल्लाते हुए पिताके सामने ही इकट्ठे होकर क्रोधित होते हुए परस्परमें लड़ रहे हैं, हाय ! ऐसे धनको धिक्कार हो ॥ १९९॥ मुँह खोलकर पड़े हुए अनेक पातालों अर्थात् विवरों और

१ जलम् । २ शकल । ३ ललत्यत्रङ्ग—ल०, अ०, द०, इ०, प०, स०, ब०, । चलत्सर्पम् ।
 ४ निर्मोक । ५ पुष्पाण्याहर्तुं शीलः । ६ तन्वाना प० । ७ स्वोदरपूरकम् । 'उभावात्मभरिः कुक्षिभरिः स्वोदरपूरके ।' इत्यभिधानात् । ८ उरसि भवाः । ९ भागं लब्धुमिच्छया । १० इव । ११ प्रमाणरहितैः ।
 १२ नाताप्रकारैः । १३ मस्तके । १४ विधोगः ।

स्रग्धरा

वज्रद्वीप्याममुष्य कथयिष्ये जउरं व्यक्तमुद्बुद्बुदास्तुम्कूर्ज्वातालरम्भोच्छ्वसदनिलवलाद्विष्वमावर्तमानम् ।
प्रस्तीर्णानेकरक्षान्यपहरति जनेनूनमुत्तमन्तः प्रायो राधा^२ वियोगो जनयति महतोऽप्युग्रमस्तर्विदाहम् ॥२०१॥

प्रहर्षिणी

आयुष्मन्निति बहुविस्मयोऽयमविधः सद्रत्नः सकलजगज्जनोपजीव्यः ।

गम्भीरप्रकृतिरनल्पसत्त्वयोगः प्रायस्त्वामनुहरते^३ विना जडिन्ना^४ ॥२०२॥

वसन्ततिलका

इत्थं नियन्तरि^५ परा श्रियमस्तुराशेरावर्णय्यनुगैर्वचनैर्विचित्रैः ।

प्राप प्रमोदमधिकं नचिराच्च^६ सम्राट् केनानिवेशमभियातुमना बभूव ॥२०३॥

बड़वानलोके द्वारा बार-बार ह्रास होनेपर भी जिनका कभी क्षय नहीं हो पाता है, जो लोगोंको आनन्द देनेवाले हैं, प्रमाण-रहित हैं, अनेक प्रकारके हैं, सर्पोंके फणाओंपर आरुढ़ हैं, अत्यन्त पवित्र हैं, और सन्तापको नष्ट करनेवाले हैं ऐसे रत्नों तथा जलके समूहोंकी अपेक्षा इस समुद्रका जबतक संसार है तबतक कभी भी नाश नहीं होता । भावार्थ—यद्यपि इस समुद्रके अनेक रत्न इसके बिबरों-बिलोंमें घुसकर नष्ट हो जाते हैं और जलके समूह बड़वानलमें जलकर कम हो जाते हैं तथापि इसके रत्न और जलके समूह कभी भी विनाशको प्राप्त नहीं हो पाते क्योंकि जितने नष्ट होते हैं उससे कहीं अधिक उत्पन्न हो जाते हैं ॥२००॥ बहुत बड़े पातालरूपी छिद्रोंके द्वारा ऊपरकी ओर बढ़ते हुए वायुके जोरमें जो चारों ओर घूम रहा है और जिसमें जलके अनेक बबूले उठ रहे हैं ऐसा यह समुद्रका उदर अर्थात् मध्यभाग वज्रकी कड़ाहीमें खौलता हुआ-सा जान पड़ता है अथवा लोग इसके जहाँ-तहाँ फैले हुए अनेक रत्न ले जाते हैं इसलिए मानो यह भीतर ही भीतर सन्तप्त हो रहा है सो ठीक ही है क्योंकि धनका वियोग प्रायः करके बड़े-बड़े पुरुषोंके हृदयमें भी भयंकर दाह उत्पन्न कर देता है ॥२०१॥ हे आयुष्मन्, जिस प्रकार आप अनेक आश्चर्योंसे भरे हुए हैं उसी प्रकार यह समुद्र भी अनेक आश्चर्योंसे भरा हुआ है, जिस प्रकार आपके पास अच्छे-अच्छे रत्न हैं उसी प्रकार इस समुद्रके पास भी अच्छे-अच्छे रत्न हैं, जिस प्रकार संसारके समस्त प्राणी आपके उपजीव्य हैं अर्थात् आपकी सहायतासे ही जीवित रहते हैं उसी प्रकार इस समुद्रके भी उपजीव्य हैं अर्थात् समुद्रमें उत्पन्न हुए रत्न मोती तथा जल आदिसे अपनी आजीविका करते हैं, जिस प्रकार आप गम्भीर प्रकृतिवाले हैं उसी प्रकार यह समुद्र भी गम्भीर (गहरी) प्रकृतिवाला है और जिस प्रकार आप अनल्पसत्त्व योग अर्थात् अनन्त शक्तिको धारण करनेवाले हैं उसी प्रकार यह समुद्र भी अनल्पसत्त्व योग अर्थात् बड़े-बड़े जलचर जीवोंसे सहित है अथवा जिस प्रकार आप अनालसत्त्व योग अर्थात् आलस्यके सम्बन्धसे रहित हैं उसी प्रकार यह समुद्र भी अनालसत्त्व योग अर्थात् नाल (नरा) रहित जीवोंके सम्बन्धसे सहित है इस प्रकार यह समुद्र ठीक आपका अनुकरण कर रहा है । यदि अन्तर है तो केवल इतना ही है कि यह जलकी ऋद्धिसे सहित है और आप जल अर्थात् मूर्ख (जड़) मनुष्योंकी ऋद्धिसे सहित हैं ॥२०२॥ इस प्रकार जब सारथिने समुद्रकी उत्कृष्ट शोभाका वर्णन किया तब सम्राट् भरत बहुत ही अधिक आनन्दको प्राप्त हुए तथा शीघ्र ही अपनी छावनीमें जानेके लिए उद्यत हुए ॥२०३॥

मालिनी

अथ रथपरिवृत्त्यै^१ सारथी कृच्छ्रकृच्छ्राद् विषमवलनं^२ सुप्रसीवमथा^३ अनुस्यौ^४ ।
 ध्रुवति मरुति मन्दं वीचिवेगोपशान्ते शिबिरमभिनिधीनामीशिता संप्रतस्थे ॥२०४॥
 कथमपि रथचक्रं^५ सारथिनाम्बुरुद्वं^६ प्रवहणकृतकोपान् वाजिनोऽनुप्रसाधय^७ ।
 रथमधि जलसमूहौ^८ चोदयामास सूतो जलधिरपि नृपानु^९ प्रज्ययेवोत्तवाल ॥२०५॥
 अयमयमुदमारौ^{१०} वास्त्रिाशेर्वरुथं स्थगयति रथवेगादेश भिन्नोर्मिरब्धः ।
 इति किल^{११} तटमद्भिस्तत्कर्मणां रथोऽयं जवनतुरगकृष्टः^{१२} प्राप पारं समुद्रम्^{१३} ॥२०६॥

शिखरिणी

^{१२} तरङ्गायस्तोऽयं ^{१३} समवदितमर्वाङ्गघटनो रथः श्रेमान् प्राप्तो रथचरणहेमिद्वयं^{१४} कुशली ।
 तुरङ्गा धौताङ्गा जलधिसलिलैरक्षतखुरा महत्पुण्यं जिगोरीति किल जलपुस्तदनुषः^{१५} ॥२०७॥
 तुरङ्गैर्गङ्गाद्वारे^{१६} गङ्गासन्निभैर्गङ्गाद्वारे^{१७} तुरङ्गैरक्षतखुरा महत्पुण्यं जिगोरीति किल जलपुस्तदनुषः^{१८} ।
 बहिर्द्वारं^{१९} सैन्यैर्युगपदमकृद्धोपितजयैर्विमुद्वहः प्रापत् स्वशिबिरबहिस्तोरणमुखम् ॥२०८॥

अथानन्तर—जब सारथिने बड़ी कठिनाईसे रथ लौटानेके लिए विषम रूपसे धूमनेके कारण गलेको कुछ टेढ़ा कर घोड़ोंको हाँका, मन्द-मन्द वायु बहने लगा और लहरोंका वेग शान्त हो गया तब निधियोंके स्वामी भरतने छावनीकी ओर प्रस्थान किया ॥२०४॥ पानीसे स्के हुए रथके पहियोंको किसी तरह बाहर निकालकर और बार-बार हाँकने अथवा बोझ धारण करनेके कारण कुपित हुए घोड़ोंको प्रसन्न कर सारथि समुद्रमें जलके भीतर ही रथ चला रहा था, और वह समुद्र भी उस रथके पीछे-पीछे जानेके लिए ही मानो उछल रहा था ॥२०५॥ अरे, यह समुद्रकी बड़ी भारी लहर रथकी छतरीको अवश्य ही ढक लेगी और इधर रथके वेगसे समुद्रकी लहरें भी फट गयी हैं इस प्रकार किनारेपर खड़े हुए लोग जिसके विषयमें अनेक प्रकारके तर्क-वितर्क कर रहे हैं ऐसा वह वेगशाली घोड़ोंसे खींचा हुआ रथ समुद्रके किनारेपर आ पहुँचा ॥२०६॥ जिसके समस्त अंगोंकी रचना एक समान सुन्दर है ऐसा यह रथ लहरोंको उल्लंघन करता हुआ कुशलतापूर्वक किनारे तक आ गया है, चक्रवर्तीको धारण करनेवाले चक्रवर्ती भरत भी सकुशल आ गये हैं और समुद्रके जलसे जिनके समस्त अंग धुल गये हैं तथा जिनके खुर भी नहीं धिसे हैं ऐसे छोड़े भी राजी-खुशी आ पहुँचे हैं । अहा ! विजयी चक्रवर्तीका बड़ा भारी पुण्य है, इस प्रकार किनारेपर खड़े हुए लोग परस्परमें वार्तालाप कर रहे थे ॥२०७॥ जो वेदीके नीचे गंगाद्वारपर नियुक्त किये गये हैं, जिन्होंने तबाये हुए मणिमय मृकुटोंपर अपने-अपने हाथ जोड़कर रखे हैं और जो जय-जय शब्दका उच्चारण कर रहे हैं ऐसे राजा लोग, तथा दरवाजेके बाहर एक साथ बार-बार जयघोष करनेवाले सैनिक लोग जिसे देख

१ परिवर्तनाय । २ विषमाकर्षणकुटिलवीचं यथा भवति तथा । ३ प्रेरितुमिच्छी सति । ४ गमयित्वा ।
 ५ प्रेरण । ६ प्रसादं नीत्वा । ७ अनुगमनेन । ८ जलसमूहः । ९ तीरस्थः । १० वेगाक्षवाकृष्टः ।
 ११ समुद्रस्य पारम् । १२ तरङ्गान् अत्यस्तः तरङ्गात्यस्तः इति द्वितीयातत्पुण्यः । वररुचिना तथैवोक्तत्वात् ।
 १३ समानं यथा भवति तथा पठित । १४ चक्रामुधः । १५ तटसेविनः । तीरस्था इत्यर्थः । १६ अधिकारिभिः ।
 १७ द्वारस्य बाह्ये ।

शार्दूलविकीर्णितम्

तत्रोद्घोषितमङ्गलैर्जयजयेत्प्रानन्दितो वन्दिमिर्गत्वातः शिविरं नृपालयमहाद्वारं समासादयन् ।

अन्तर्वशिकलोकवारचमितादक्षताशासनः प्राविक्षजिजकेतनं निधिपतिर्वालीहसत्केतनम् ॥२०६॥

यत्कृतमिहिका

देवोऽयमक्षततनुर्विजिताब्धिरागात् तं धूयमानयत साक्षतसिद्धशेषाः ।

आशीर्ध्वमाध्वमिह^१ संमुखमेत्य तूर्णमित्युत्थितः कलकलः कटकं तदाभूत् ॥२१०॥

जीवेति नन्दतु भवानिति वर्धिर्वाष्ठाः देवेति निर्जयरिपूनिमि गा^२ जयेति ।

एवं 'स्ताब्धिरायुरिति कामितमाप्नुहीति'^३ पुण्याशिषां शतमलम्भि तदा स वृद्धैः ॥२११॥

जीयादरीनिह सधानिति निर्जितारिदेवं प्रशाधि^४ वसुधामिति सिद्धरत्नः ।

एवं जीवताब्धिरमिति प्रथमं चिरायुरायोजि मङ्गलधिया पुनरुक्तवाक्यैः ॥२१२॥

देवोऽयमम्बुधिमगाधमलङ्घयपारमुल्लङ्घ्य लब्धविजयः पुनरप्युपावात्^५ ।

पुण्यैकसारधिरिहेति दिनान्तरार्थैः पुण्यं प्रसेदुषि^६ नृणां किमिवास्वलङ्घयम् ॥२१३॥

रहे हैं ऐसा वह भरत अपनी छावनीके बाहरवाली तोरणभूमिपर आ पहुँचा ॥२०८॥ वहाँपर जय जय इस प्रकार मंगलशब्द करते हुए बन्दीजन जिन्हें आनन्दित कर रहे हैं ऐसे वे महाराज भरत छावनीके भीतर जाकर राजभवनके बड़े द्वारपर जा पहुँचे वहाँ परिवारके लोगों तथा देव्याओंने उन्हें मंगलाक्षत तथा आशीर्वाद दिये । इस प्रकार निधियोंके स्वामी भरतने जिसपर वायुके द्वारा ध्वजाएँ फहरा रही हैं ऐसे अपने तम्बूमें प्रवेश किया ॥२०९॥ जिन्होंने शरीरमें कुछ चोट लगे बिना ही समुद्रको जीत लिया है ऐसे ये भरत महाराज आ गये हैं, इसलिए तुम मंगलाक्षतसहित सिद्ध तथा शेषाक्षत लाओ, तुम आशीर्वाद दो और तुम बहुत शीघ्र सामने जाकर खड़े होओ इस प्रकार उस समय सेनामें बड़ा भारी कोलाहल उठ रहा था ॥२१०॥ हे देव, आप चिरकाल तक जीवित रहें, समृद्धिमान् हों, सदा बढ़ते रहें, आप शत्रुओंको जीतिए, पृथिवीको जीतिए, आप चिरायु रहिए और समस्त मनोरथोंको प्राप्त कीजिए — आपकी सब इच्छाएँ पूर्ण हों इस प्रकार उस समय वृद्ध मनुष्योंने भरत महाराजके लिए संकड़ों पवित्र आशीर्वाद प्राप्त कराये थे ॥२११॥ यद्यपि भरतेश्वर शत्रुओंको पहले ही जीत चुके थे तथापि उस समय उन्हें आशीर्वाद दिया गया था कि देव, आप शत्रुओंको जीतिए, यद्यपि उन्होंने चौदह रत्नोंको पहले ही प्राप्त कर लिया था तथापि उन्हें आशीर्वाद मिला था कि हे देव ! आप पृथिवीका शासन कीजिए, और इसी प्रकार वे पहले ही से चिरायु थे तथापि आशीर्वादमें उनसे कहा गया था कि हे देव, आप चिरकाल तक जीवित रहें — चिरायु हों । इस प्रकार मंगल समझकर लोगोंने उन्हें पुनरुक्त (कार्य हो चुकनेपर उसी अर्थको सूचित करनेके लिए फिरसे कहे हुए) वचनोंसे युक्त किया था ॥२१२॥ एक पुण्य ही जिनका सहायक है ऐसे महाराज भरत अगाध और पाररहित समुद्रको उल्लङ्घन कर तथा योग्य उपायसे विजय प्राप्त कर बिना किसी विघ्न-बाधाके यहाँ वापस आ गये हैं सो ठीक ही है क्योंकि निर्मल पुण्यके रहते

१ कञ्चुकी । 'अन्तर्वशिता अन्तःपुराधिकारिणः ।' 'अन्तःपुरेष्वाधिकृतः स्यादन्तर्वशिको जनः' इत्यभिधानात् । २ आशीर्वचनः । ३ आशिषं कुलध्वम् । ४ भुवम् । ५ भव । ६ याहि । ७ शामु अनुशिष्टौ लोद् । ८ उपागमत् । ९ प्रसन्ने सति ।

पुण्योदयं भरतचक्रवर्ते जिगीपुरुद्विजबलमनिलाहृतवीर्यमालम् ।

प्रोलङ्घय चार्धिममरं सहसा विजिग्ये पुण्ये अर्लीयसि किमसि जगत्पजयम् ॥२१३॥

पुण्योदयेन मकराकरवारिसीमं पृथ्वीं स्वसादकृतं चक्रवर्तः पृथुश्रीः ।

दुर्लभमन्विमवगाह्य वितोषवर्गैः पुण्यात् परं न खलु साधनमिष्टमिन्द्रैः ॥२१५॥

चक्रायुधोऽयमरिसकमयंकरश्रीराकम्य ^१सिन्धुमतिर्साधनकचक्रम् ।

चक्रे वशे सुखमवश्यमनन्यवश्यं पुण्यात् परं न हि वशीकरणं जगत्याम् ॥२१६॥

पुण्यं जले स्थलमिवाभ्यवपद्यते ^२नृन् पुण्यं स्थले जलमिवाद्भु निचन्ति तापम् ।

पुण्यं जलस्थलमये शरणं तृतीयं पुण्यं कुरुध्वमत एव जना जिनोक्तम् ॥२१७॥

पुण्यं परं शरणमापदि दुर्धिलङ्घ्यं पुण्यं दरिद्रि ^३जने धनदायि पुण्यम् ।

पुण्यं सुखार्थिनि जने सुखदायि रत्नं पुण्यं जिनोदितमतः सुजनाश्चिन्तुध्वम् ॥२१८॥

पुण्यं जिनेन्द्रपरिपूजनसाध्यमाद्यं पुण्यं सुपात्रगतदानसमुत्थमन्यत् ।

पुण्यं व्रतानुचरणादुपवासयोगान् पुण्यार्थिनामिति चतुष्टयमर्जनीयम् ॥२१९॥

हुए मनुष्योंको क्या उल्लंघनीय (प्राप्त न होने योग्य) रह जाता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥२१३॥ सबको जीतनेकी इच्छा करनेवाले भरत चक्रवर्तीने पुण्यके प्रभावसे, जिसमें ज्वार-भाटा उठ रहे हैं और जिसमें लहरोंके समूह वायुसे ताड़ित हो रहे हैं ऐसे समुद्रको उल्लंघन कर शीघ्र ही मागध देवको जीत लिया सो ठीक ही है क्योंकि अतिसय बलवान् पुण्यके रहते हुए संसारमें अजय्य अर्थात् जीतनेके अयोग्य क्या रह जाता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥२१४॥ बहुत भारी लक्ष्मीको धारण करनेवाले चक्रवर्ती भरतने पुण्यकर्मके उदयसे ही बिना किसी उपद्रवके उल्लंघन करनेके अयोग्य समुद्रका उल्लंघन कर समुद्रका जल ही जिसको सीमा है ऐसी पृथिवीको अपने अधीन कर लिया, सो ठीक ही है क्योंकि इष्ट पदार्थोंकी सिद्धिके लिए पुण्यसे बढ़कर और कोई साधन नहीं है ॥२१५॥ शत्रुओंके समूहके लिए जिनकी सम्पत्ति बहुत ही भयंकर है ऐसे चक्रवर्ती भरतने अत्यन्त भयंकर मगर-मच्छोंके समूहसे भरे हुए समुद्रका उल्लंघन कर अन्य किसीके वश न होने योग्य मागध देवको निश्चित रूपसे वश कर लिया, सो ठीक ही है क्योंकि लोकमें पुण्यसे बढ़कर और कोई वशीकरण (वश करनेवाला) नहीं है ॥२१६॥ पुण्य ही मनुष्योंको जलमें स्थलके समान हो जाता है, पुण्य ही स्थलमें जलके समान होकर शीघ्र ही समस्त सन्तापको नष्ट कर देता है और पुण्य ही जल तथा स्थल दोनों जगहके भयमें एक सीसरा पदार्थ होकर शरण होता है, इसलिए हे भव्यजनो, तुम लोग जिनेन्द्र भगवान्-के द्वारा कहे हुए पुण्यकर्म करो ॥२१७॥ पुण्य ही आपत्तिके समय किसीके द्वारा उल्लंघन न करनेके योग्य उत्कृष्ट शरण है, पुण्य ही दरिद्र मनुष्योंके लिए धन देनेवाला है और पुण्य ही सुखकी इच्छा करनेवाले लोगोंके लिए सुख देनेवाला है, इसलिए हे सज्जन पुरुषो ! तुम लोग जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा कहे हुए इस पुण्यरूपी रत्नका संचय करो ॥२१८॥ जिनेन्द्र भगवान्की पूजा करनेसे उत्पन्न होनेवाला पहला पुण्य है, सुपात्रको दान देनेसे उत्पन्न हुआ, दूसरा पुण्य है व्रत पालन करनेसे उत्पन्न हुआ, तीसरा पुण्य है और उपवास करनेसे उत्पन्न हुआ, चौथा पुण्य है इस प्रकार पुण्यकी इच्छा करनेवाले पुरुषोंको ऊपर लिखे हुए चार प्रकारके पुण्योंका

१ सीमां ल०, इ०, द०, व०, प०, स० । २ स्वाधीनं चकार । ३ समुद्रम् । ४ प्राप्नोति ।
— मिवाभ्यवपद्यते ल०, द० । ५ दरिद्रपति ।

इत्थं स्त्रपुण्यपरिपावजमिष्टलाभं^१ संश्लाघयन्^२ जनतया^३ ध्रुतपुण्यघोषः ।
चक्री सभागृहगतो नृपचक्रमध्ये शक्रोपमः पृथुनृपासनमध्यवासीत्^४ ॥२२०॥

हरिणी

ध्रुततटवने रक्ताशोकप्रवालपुटोद्भेदि^५ स्तृशति पवने मन्दं तरङ्गविभेदिनि ।
अनुसरस्सिख्यैः सार्धं प्रभुः सुखमावसज्जलनिविजयश्लाघाशीर्मिर्जिनालनुश्लिष्टवन् ॥२२१॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिवहिलक्षणमहापुराणसंग्रहे

पूर्वार्णवद्वारविजयवर्णनं लक्ष्मणसिंहः पर्वः ॥२२॥



संचय करना चाहिए ॥ २१९ ॥ इस प्रकार जिसने लोगोंके समूहसे पुण्यकी घोषणा सुनी है ऐसे चक्रवर्ती भरत, अपने पुण्यकर्मके उदयसे प्राप्त हुए इष्ट वस्तुओंके लाभकी प्रशंसा करते हुए सभाभवनमें पहुँचे और वहाँ राजाओंके समूहके मध्यमें इन्द्रके समान बड़े भारी राज-सिंहासनपर आरुढ़ हुए ॥ २२० ॥ जिस समय किनारेके वनको हिलानेवाला, रक्त अशोक वृक्षकी कोपलोंके संपुटको भेदन करनेवाला और लहरोंको भिन्न-भिन्न करनेवाला वायु धीरे-धीरे बह रहा था उस समय समुद्रको जीतनेकी प्रशंसा और आशीर्वादके साथ-साथ जिनेन्द्र भगवान्का स्मरण करते हुए भरतने गंगा नदीके किनारे-किनारे ठहरी हुई सेनाके साथ सुख-से निवास किया था ॥२२१॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिवहिलक्षणमहापुराणसंग्रहके भाषानुवादमें पूर्वसमुद्रके द्वारको विजय करनेका वर्णन करनेवाला अट्ठाईसवाँ पर्व समाप्त हुआ ।



एकोनविंशतमं पर्व

अथ चक्रधरो जैनीं हृत्वेद्यामिष्टसाधनाम् । प्रतस्थे दक्षिणामाशां जिगीषुरनुतोयधि ॥ १ ॥
 'यतोऽस्य' पदद्वकानां ध्वनिरामन्द्रमुच्चरन् । मूर्ध्निः^१ काहलारावैरन्ध्रिध्वानं तिरौदधे^२ ॥ २ ॥
 प्रयाणभेरीनिःस्वानः सम्मूर्च्छन्^३ गजहृंहितैः । दिग्गुणान्यनयन् क्षोभं हृदयानि च विद्विषाम् ॥ ३ ॥
 विवशुः पवनोद्धूता जिगीषोर्जयकेतनाः । वारिधेरिव^४ कल्लोलानुद्वेलानानुद्वेषवः^५ ॥ ४ ॥
 एकतो लवणाम्भोधिरन्यतोऽधुपसागरः । तन्मध्ये^६ 'याम्बलौघोऽस्य तृतीयोऽन्धिरिवावभौ' ॥ ५ ॥
 हस्यश्वस्थपादात्तं देवाश्च सनमश्चराः । षडङ्गं बलमस्येति पप्रथे व्याप्य रोदसी^७ ॥ ६ ॥
 पुरः प्रतस्थे दण्डेन^८ चक्रेण तदनन्तरम् । ताम्बां विशोधिते मार्गे तद्वलं प्रययौ सुखम् ॥ ७ ॥
 तच्चक्रमरिचक्रस्य केवलं क्रकचायितम्^९ । दण्डोऽपि दण्डपक्षस्य कालदण्ड^{१०} इवापरः ॥ ८ ॥
 प्रययौ निकषाम्भोधि^{११} समया तदवेदिकाम्^{१२} । अनुवेलानं सन्नाट् सैन्यैः संश्रावयन्^{१३} दिशः ॥ ९ ॥
 अनुवार्धित^{१४} कर्षकलङ्कायां स्वामनीकिनीम् । आजालतां नृपाद्रीणां सूर्ध्नि रोपयति स्म सः ॥ १० ॥
 तल्लिते तल्लितं^{१५} लिखिते लिखितं पुनः प्रयाते वातमेवास्मिन्^{१६} सेनानीमिरिधारिभिः ॥ ११ ॥

अथानन्तर - चक्रवर्ती भरत समस्त इष्ट वस्तुओंको सिद्ध करनेवाली जिनेन्द्रदेवकी पूजा कर दक्षिण दिशाको जीतनेकी इच्छा करते हुए समुद्रके किनारे-किनारे चले ॥ १ ॥ जिस समय चक्रवर्ती जा रहे थे उस समय तुरहीके शब्दोंसे मिली हुई पदरूपी नगाड़ोंकी गम्भीर ध्वनि समुद्रकी गर्जनाको भी ढक रही थी ॥ २ ॥ हाथियोंकी चिंगाड़ोंसे मिले हुए प्रस्थानके समय बजनेवाले नगाड़ोंके शब्द समस्त दिशाओं तथा शत्रुओंके हृदयोंको क्षोभ प्राप्त करा रहे थे ॥ ३ ॥ जीतनेकी इच्छा करनेवाले चक्रवर्तीकी वायुसे उड़ती हुई विजय-पताकाएँ ऐसी सुशो-भित हो रही थीं मानो ज्वारसे उठी हुई समुद्रकी लहरोंको ही बुला रही हों ॥ ४ ॥ उस सेनाके एक ओर (दक्षिणकी ओर) तो लवण समुद्र था और दूसरी (उत्तरकी) ओर उपसागर था उन दोनोंके बीच जाता हुआ वह सेनाका समूह ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो तीसरा समुद्र ही हो ॥ ५ ॥ हाथी, घोड़े, रथ, पियादे, देव और विद्याधर यह छह प्रकारकी चक्रवर्तीकी सेना आकाश और पृथिवीके अन्तरालको व्याप्त कर सब ओर फैल गयी थी ॥ ६ ॥ सेनामें सबसे आगे दण्डरत्न और उसके पीछे चक्ररत्न चलता था तथा इन दोनोंके द्वारा साफ किये हुए मार्गमें सुखपूर्वक चक्रवर्तीकी सेना चलती थी ॥ ७ ॥ चक्रवर्तीका वह एक चक्र ही शत्रुओंके समूहको नष्ट करनेके लिए कर्षकके समान था तथा दण्ड ही दण्ड देने योग्य शत्रुओंके लिए दूसरे यमदण्डके समान था ॥ ८ ॥ सन्नाट् भरत समुद्रके समीप-समीप किनारेकी वेदीके पास-पास किनारेके अनुसार अपनी सेनाके द्वारा दिशाओंको गुंजाते हुए - सचेत करते हुए चले ॥ ९ ॥ अपनी अलङ्घनीय सेनाको समुद्रके किनारे-किनारे चलाते हुए चक्रवर्ती भरत अपनी आज्ञा-रूपी लताको राजारूपी पर्वतोंके मस्तकपर चढ़ाते जाते थे ॥ १० ॥ महाराज भरतके शत्रु उनके सेनापतियोंके समान थे, क्योंकि जिस प्रकार महाराजके चलनेकी इच्छा होते ही सेनापति

१ गच्छतः । २ पट्ट प०, इ०, द० । ३ मिथितः । ४ आच्छादयति स्म । ५ मिश्रोभवन् । ६ उज्जृम्भितान् । ७ स्पृष्टां कर्तुमिच्छवः । ८ गच्छन् । ९ व्यापयिष्यी । 'युद्धावो रोदसी रोदसी च ते' इत्यमरः । १० दण्ड-रत्नेन । ११ कर्षकमिवाचरितम् । १२ यमस्य दण्डः । १३ अम्भोधेः समीपम् । 'निकषा त्वन्तिके मध्ये' । १४ तदवेदिकायाः समीपे । १५ साधयन् । १६ प्रापयन् । १७ भरते ।

निष्क्रान्त इति संभ्रान्तैरायात इति बीजशैः । प्राप्त^१ इत्यनवस्यैश्च^२ प्रणमे सोऽरिभूमिपैः ॥१२॥

^३महापगारयस्येव तत्परस्य बलीयसः । यो यः प्रतीपमभवत् स स निर्मूलतां ययौ ॥१३॥

^४प्रतीपवृत्तिमादर्शं छायात्मानं^५ च नास्मनः । विक्रमैकरसश्चक्री सोऽसोढ^६ किमुत द्विषम् ॥१४॥

चमूरवश्रवादेव^७ कैश्चिदस्य विरोधिभिः । चमूरवृत्तमारुधमतिदूरं पलायिनैः^८ ॥१५॥

^९महाभोगैर्नृपैः कैश्चिद् भयादुत्सृष्टमण्डलैः^{१०} । भुजङ्गैरिव निर्मोकस्तत्प्रेषेऽपि परिच्छिन्तः^{११} ॥१६॥

प्रबुधान् भोगिनः^{१२} कांक्षितं प्रसुख्युष्यत्य मन्त्रतः^{१३} । वल्मीकैष्विव दुर्गेषु^{१४} कुल्यानस्थानतिष्ठिपत्^{१५} ॥१७॥

पहले ही चलनेके लिए तैयार हो जाते हैं उसी प्रकार उनके शत्रु भी महाराजको चलनेके लिए तत्पर सुनकर स्वयं चलनेके लिए तत्पर हो जाते थे अर्थात् स्थान छोड़कर भागनेकी तैयारी करने लगते थे अथवा भरतकी ही शरणमें आनेके लिए उद्यत हो जाते थे, जिस प्रकार महाराजके नगरसे बाहर निकलते ही सेनापति उनसे पहले बाहर निकल आते हैं उसी प्रकार उनके शत्रु भी महाराजको नगरसे बाहर निकला हुआ सुनकर स्वयं अपने नगरसे बाहर निकल आते थे अर्थात् नगर छोड़कर बाहर जानेके लिए तैयार हो जाते थे अथवा भरतसे मिलनेके लिए अपने नगरोंसे बाहर निकल आते थे और जिस प्रकार महाराजके प्रस्थान करते ही सेनापति उनसे पहले प्रस्थान कर देते हैं उसी प्रकार उनके शत्रु भी महाराजका प्रस्थान सुनकर उनसे पहले ही प्रस्थान कर देते थे अर्थात् अन्यत्र भाग जाते थे अथवा चक्रवर्तीसे मिलनेके लिए आगे बढ़ आते थे ॥११॥ चक्रवर्ती भरत नगरसे बाहर निकला यह सुनकर जो व्याकुल हो जाते थे, चक्रवर्ती आया यह सुनकर जो भयभीत हो जाते थे और वह समीप आया यह सुनकर जो अस्थिरचित्त हो जाते थे ऐसे शत्रु राजा लोग उन्हें जगह-जगह प्रणाम करते ॥१२॥ जिस प्रकार किसी महानदीके बलवान् वेगके विरुद्ध खड़ा हुआ वृक्ष निर्मूल हो जाता है-जड़सहित उखड़ जाता है उसी प्रकार जो राजा उस बलवान् चक्रवर्तीके विरुद्ध खड़ा होता था-उसके सामने विनयभाव धारण नहीं करता था वह निर्मूल हो जाता था-वँशसहित नष्ट हो जाता था ॥१३॥ एक पराक्रम ही जिसे प्रिय है ऐसा वह भरत जब कि दर्पणमें उलटे पड़े हुए अपने प्रतिबिम्बको भी सहन नहीं करता था तब शत्रुओंको किस प्रकार सहन करता ? ॥१४॥ कितने ही विरोधी राजाओंने तो उनकी सेनाका शब्द सुनते ही बहुत दूर भागकर हरिणकी वृत्ति प्रारम्भ की थी ॥१५॥ और कितने ही वैभवशाली बड़े-बड़े राजाओंने भयसे अपने-अपने देश छोड़कर छत्र चमर आदि राज्य-चिह्नोंको उस प्रकार छोड़ दिया था जिस प्रकार कि बड़े-बड़े फणाओंको धारण करनेवाले सर्प अपने बलयाकार आसनको छोड़कर काँचली छोड़ देते हैं ॥१६॥ जिस प्रकार दुष्ट सर्पोंको मन्त्रके जोरसे उठाकर वामीमें डाल देते हैं उसी प्रकार भरतने अन्य कितने ही भोगी-विलासी दुष्ट राजाओंको मन्त्र (मन्त्रियोंके साथ की हुई सलाह) के जोरसे उखाड़कर किलोंमें डाल दिया था, उनके स्थानपर अन्य कुलीन राजाओंको बैठाया

१ समीपं प्राप्तः । २ अवस्थामतिक्रान्तिः । त्यक्तपूर्वस्वभावरित्यर्थः । ३ महानदीवेगस्य । ४ प्रतिकूलम् ।

५ प्रतिकूलवृत्तिम् । ६ छायास्वरूपम् । 'आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्त्म च' इत्यमरः । ७ सहति स्म । ८ सेनाध्वनिसमाकर्णनात् । ९ कम्भोजादिदेशजवृक्षविशेषवर्तनम् । 'कदली कन्दली चीनश्चमूरश्चप्रियकावपि ।

समूहश्चेति हरिणा अमी अजिनयोनयः ।' इत्यभिधानात् । १० पलायिभिः ल०, प०, द०, । ११ पक्षे महाकार्यः । 'भोगः सुखे स्थादिभूतावहेष्वच फणकाययोः' इत्यभिधानात् । १२ त्यक्तभूभागैः । पक्षे त्यक्तबलपैः ।

१३ परिच्छिद्योऽपि छत्रचामरादिपरिकरोऽपि परित्यक्ततः । १४ पक्षे सर्पान् । १५ मन्त्रशक्तिः । १६ सत्कुलजाम् ।

१७ स्थापयति स्म ।

अनन्यशरणैरन्यैस्तापविच्छेदमिच्छुभिः । तत्पादपादपच्छाया न्यवेष्टि सुखशीतला ॥१८॥

केषांचित् पद्मिनीमांसे छायायांचित् वृक्षोन्मत्तं पक्षिणां च शीघ्रं । समभ्यर्णञ्चकार सः ॥१९॥

निरस्तोष्णप्रसरा गाढमुष्णवसन्तोऽन्तराकुलाः । प्राप्तेऽस्मिन् वैरिभूपालाः प्राप्नुर्मर्तव्यशेषताम् ॥२०॥

वैरकाभ्यति वः स्मास्मिन् प्रागेव विनभाषा सः । विदिध्यापयिषुर्वह्निं शलभः कुशली किमु ॥२१॥

वस्तुवाहनसर्वस्वमाच्छिद्यं प्रभुराहरन् । अरिस्वमरिचक्रेषु व्यक्तमेव चकार सः ॥२२॥

स्वयमर्पितसर्वस्वा नमस्तत्राक्षवर्तिनम् । पूर्वसम्यग्रयः एवाधिकारिस्वमाचरन् ॥२३॥

साधनैरमुनाकांक्षा या धरा धृतसाध्वसा । साधनैरेव तं तोषं नीत्वाऽभूद्वत्साध्वसा ॥२४॥

कुल्याः कुलधनान्यस्मै दत्त्वा स्वां सुवमार्जिजन् । कुल्या धनजलौघस्य जिगीषोस्ते हि पार्थिवाः ॥२५॥

प्रजाः करभराक्रान्ता यस्मिन् स्वामिनि दुःस्थिताः । तमुद्धृत्य पदे तस्य युक्तदण्डं न्यधात् बिभुः ॥२६॥

था ॥१७॥ जिन्हें अन्य कोई शरण नहीं थी और जो अपना सन्ताप नष्ट करना चाहते थे ऐसे कितने ही राजाओंने सुख तथा शान्ति देनेवाली भरतके चरणरूपी वृक्षोंकी छायाका आश्रय लिया था ॥१८॥ जिस प्रकार समीप आया हुआ ग्रीष्म ऋतु वृक्षोंके पत्र अर्थात् पत्तोंका नाश कर देता है और उनकी छाया अर्थात् छाँहरीका अभाव कर देता है उसी प्रकार समीप आये हुए भरतने कितने ही राजाओंके पत्र अर्थात् हाथी घोड़े आदि वाहनों (सवारियों) का नाश कर दिया था और उनकी छाया अर्थात् कान्तिका अभाव कर दिया था । भावार्थ—भरतके समीप आते ही कितने ही राजा लोग वाहन छोड़कर भाग जाते थे तथा उनके मुखकी कान्ति भयसे नष्ट हो जाती थी ॥१९॥ महाराज भरतके समीप आते ही शत्रु राजाओंका सब तेज (पक्षमें गरमी) नष्ट हो गया था, उनके भारी-भारी स्वासोच्छ्वास चलने लगे थे और वे अन्तःकरणमें व्याकुल हो रहे थे, इसलिए वे मरणोन्मुख मनुष्यकी समानताको प्राप्त हो रहे थे ॥२०॥ जिस पुरुषने भरतके साथ शत्रुता करनेकी इच्छा की थी वह पहले ही नष्ट हो चुका था, सो ठीक ही है क्योंकि अग्निकी बुझानेकी इच्छा करनेवाला पतंगा क्या कभी सकुशल रह सकता है ? अर्थात् नहीं ॥२१॥ महाराज भरतने शत्रुओंके हीरा मोती आदि रत्न तथा सवारी आदि सब धन छीन लिया था और इस प्रकार उन्होंने समस्त अरि अर्थात् शत्रुओंके समूहको स्पष्ट रूपसे अरि अर्थात् धनरहित कर दिया था ॥२२॥ अपने आप समस्त धन भेंट कर चक्रवर्तीको नमस्कार करनेवाले राजा लोग यद्यपि पहले शत्रु थे तथापि पीछेसे वे बड़े भारी अधिकारी हुए थे ॥२३॥ जो पृथिवी पहले भरतकी सेनासे आक्रान्त होकर भयभीत हो रही थी वही पृथिवी अब अपने धनसे भरतको सन्तोष प्राप्त कराकर निर्भय हो गयी थी ॥२४॥ उच्च कुलोंमें उत्पन्न हुए अनेक राजाओंने भरतेश्वरके लिए अपनी कुल-परम्परासे चला आया धन देकर फिरसे अपनी पृथिवी प्राप्त की थी सो ठीक ही है क्योंकि वे राजा विजयाभिलाषी राजाके लिए धनरूपी जलके प्रवाहकी प्राप्तिके लिए 'कुल्या'—नदी अथवा नहरके समान होते हैं । भावार्थ—विजयी राजाओंको धनकी प्राप्ति साधारण राजाओंसे होती है ॥२५॥ जिस राजाके रहते हुए प्रजा करके बोझसे दबकर दुःखी हो रही थी,

१ वाहननिर्गमम् पक्षे पर्णविनाशम् । २ तेजोहानिम् । ३ समीपस्थः । ४ निरस्तप्रभावप्रसराः । पक्षे निरस्तोष्णप्रसराः । ५ भरते । ६ मरणकालगतपुरुषसमानतामित्यर्थः । ७ वैरमिच्छति । ८ यो नास्मिन् इ० । (ना पुमान् इति इ० टिप्पणी) । ९ क्षपयितुमिच्छुः । १० आकृष्य । ११ स्वीकुर्वन् । १२ न विद्यते । १३ धर्म येषां तानि अरीणि तेषां भावस्तत्त्वम्, निर्धनत्वमित्यर्थः । १४ अधिकशत्रुत्वमिति ध्वनिः । १५ सैम्यैः । १६ निरस्तभीतिः । १७ कुलजाः । १८ उपार्जयति स्म । अत्र गतिस्थानार्जनोपार्जनेषु । १९ सरितः । 'कुल्या कुलवधूः सरित्' । अथवा कृत्रिमसरितः । तत्पक्षे 'कुल्यात्पा कृत्रिमा सरित्' । २० दुःस्थिताः ल० । २१ योग्य-दण्डकारिपुत्रं स्थापयामास ।

निजग्राहं नृपान्^२ दत्ताननुजग्राहं सत्क्रियान् । न्याय्यैः क्षात्रो^३ऽयमित्येव प्रजाहितविधिन्याया^४ ॥२७॥
योगक्षेमौ जगत्स्थित्यै न प्रजास्वेव केवलम् । प्रजापाले^५ष्वपि प्रायस्तस्य चिन्त्यत्संयतुः ॥२८॥
पार्थिवस्यैकराष्ट्रस्यै मता वर्णाश्रमाः प्रजाः । पार्थिवाः सार्वभौमस्य प्रजा^६ यत्नेन ते^७ धृताः^८ ॥२९॥
पुण्यं साधनमस्यैकं चक्रं तस्यैव पोषकम् । तद्गुह्यं साध्यसिद्ध्यङ्गं सेनाङ्गानि विभूतये ॥३०॥
इति मण्डलभूपालान् बलान् प्राणमयश्चयम्^९ । मानसं वासनक्^{१०} तेषां न सेवाप्रणयं विभुः ॥३१॥
प्रतिप्रथाणमभ्येत्य^{११} प्राणसिधुरमुं नृपाः । प्राणरक्षामिवास्याज्ञां वहन्तः स्वेषु सूर्यसु ॥३२॥
प्रणताननुजग्राहं सातिरैकैः^{१२} फलैः प्रभुः । किमु कल्पतरोः सेवास्त्यफलाल्पफलापि वा ॥३३॥
^{१३}संप्रैक्षितैः स्मितैर्हर्षितैः सविभ्रमैश्च^{१४} जहिषतैः^{१५} । सम्राट् संभावयामास नृपान् संमाननैरपि^{१६} ॥३४॥
स्मितैः प्रसादं संजलैर्विस्मयं हसितैर्मुदम् । प्रेक्षितैरनुरागं च व्यनक्ति स्म नृपेषु सः ॥३५॥

भरतने उसे हटाकर उसके पदपर किसी अन्य नीतिमान् राजाको बैठाया था ॥२६॥ उन्होंने अहंकारी राजाओंको दण्डित किया था और सत्कार अथवा उत्तम कार्य करनेवाले राजाओं-पर अनुग्रह किया था सो ठीक ही है क्योंकि प्रजाका हित करनेकी इच्छासे क्षत्रियोंका यह धर्म ही न्यायपूर्ण है ॥२७॥ राजा भरतने जगत्की स्थितिके लिए केवल प्रजाके विषयमें ही योग (नवीन वस्तुको प्राप्त करना) और क्षेम (प्राप्त हुई वस्तुकी रक्षा करना) की चिन्ता नहीं की थी किन्तु प्रजाकी रक्षा करनेवाले राजाओंके विषयमें भी प्रायः उन्हें योग और क्षेमकी चिन्ता रहती थी ॥२८॥ किसी एक देशके राजाकी प्रजा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्ण रूप मानी जाती है परन्तु चक्रवर्तीकी प्रजा नम्रीभूत हुए राजा लोग ही माने जाते हैं इस-लिए चक्रवर्तीको प्रजाके साथ-साथ राजाओंकी चिन्ता करना भी उचित है ॥२९॥ भरतके समस्त कार्योंको सिद्ध करनेवाला एक पुण्य ही मुख्य साधन था, और चक्ररत्न उस पुण्यकी पुष्टि करनेवाला था, पुण्य और चक्ररत्न ये दोनों ही उसके साध्य (सिद्ध करने योग्य विजय रूप कार्य) की सिद्धिके अंग थे, बाकी हाथी घोड़े आदि सेनाके अंग केवल वैभवके लिए थे ॥३०॥ इस प्रकार मण्डलेश्वर राजाओंसे बलपूर्वक प्रणाम कराते हुए चक्रवर्तीने उनका केवल मान भंग ही किया था, अपनी सेवाके लिए जो उनका प्रेम था उसे नष्ट नहीं किया था ॥३१॥ प्राणोंकी रक्षाके समान भरतकी आज्ञाको अपने मस्तकपर धारण करते हुए अनेक राजा लोग प्रत्येक पड़ावपर आकर उन्हें प्रणाम करते थे ॥३२॥ प्रणाम करनेवाले राजाओंको महाराज भरतने बहुत अधिक फल देकर अनुगृहीत किया था सो ठीक ही है क्योंकि कल्पवृक्षकी सेवा क्या कभी फलरहित अथवा थोड़ा फल देनेवाली हुई है ? ॥३३॥ सम्राट् भरतने कितने ही राजाओंकी ओर देखकर, कितने ही राजाओंकी ओर मुसकराकर, कितने ही राजाओंकी ओर हँसकर, कितने ही राजाओंके साथ विश्वासपूर्वक वार्तालाप कर, और कितने ही राजाओंका सन्मान कर उन्हें प्रसन्न किया था ॥३४॥ उन्होंने कितने ही राजाओंपर मुसकराकर अपनी प्रसन्नता प्रकट की थी, कितने ही राजाओंपर वार्तालाप कर अपना विश्वास प्रकट किया था, कितने ही राजाओंपर हँसकर अपना हर्ष प्रकट किया था और कितने ही राजाओंपर प्रेमपूर्ण

१ निग्रहं करोति स्म । २ दर्पाविष्टान् । ३ स्वीकृतवान् । ४ न्यायादनपेतः । ५ क्षत्रियधर्मः । ६ पार्थिवेषु । ७ एकदेशवतः । ८ क्षत्रियादिवर्णाः ब्राह्मणवर्षाद्या आश्रमाः । ९ प्रजायन्ते प०, ल० । १० पार्थिवाः । ११ स्वीकृताः । १२ प्रह्लोभूतानकुर्वन् । १३ गर्वमैव । १४ मर्दयति स्म । 'भङ्गजोऽवमर्दने' । १५ नमस्कुर्वन्ति स्म । १६ तदंशघनात् साधिकैः । १७ स्निग्धावलोकनैः । संप्रैक्षणैः ल० । १८ सविधवांसैः । 'समी विश्राम-विश्वासी' इत्यमरः । १९ वचनैः । २० वस्त्राभरणादिपूजनैः ।

अवाप्सीत प्रणतानेय सेमनाप्याद् विरोधिनः । शमप्रतापो शमो जनुः पार्थिवस्योक्तिर्गुणौ ॥३६॥
 प्रसन्नया दर्शयाम्य प्रसादः प्रणते रिपौ । अमङ्गेनास्फुटत् कोपः सन्धं बहुनटौ^१ नृपः ॥३७॥
 अज्ञानमणिमिरत्यङ्गेनैकांसुङ्गेभनङ्गजैः । तैश्च तैश्च कस्मिंश्चेशान् सोऽभ्यनन्ददुपानतान्^२ ॥३८॥
 मागधायिनमेनाम्य स्फुटं^३ मागधिकैर्नृपैः । कीर्तयन्निगुणानुर्ध्वः प्रयादमभिलाषुक्तैः ॥३९॥
 कुरुनवर्तान् पाञ्चालान् काशीश्च सह कोसलैः । वैदर्भान्पथनायासादाचकर्थं^४ चमूपतिः ॥४०॥
 वज्रं मद्रांश्च कच्छांश्च चेदीन् वत्सान् ससुहाकान् । पुण्ड्रानोण्डांश्च गौडांश्च^५ मत्तमश्रावयद् विभोः ॥४१॥
 दशार्णान् कामरूपांश्च काश्मीरान्पुशीनरान् । मध्यमानपि भूपालान् सोऽधिराद् वशमानयत् ॥४२॥
 ददुरस्मै नृपाः प्राच्यकलिङ्गाङ्गारजान्^६ राजान् । गिरानिव महोष्ण्यायान्^७ प्रश्नोत्तन्मदनिर्घरात् ॥४३॥
 दशार्णकवनोक्तानपि चेत्रिककूशजान्^८ । दिङ्मागस्यधिनी नागा^९ आदुर्नाग^{१०} वनाधिपाः ॥४४॥
 विभोर्वलमरश्रोभमासहन्तीव दुःसहम् । सुषुप्तेऽनन्तरत्नानि गर्भिणीव^{११} वसुधरा ॥४५॥

दृष्टि डालकर अपना प्रेम प्रकट किया था ॥३५॥ उन्होंने तन्म्रीभूत राजाओंको सन्तुष्ट किया था और विरोधी राजाओंको अच्छी तरहसे सन्तुष्ट किया था सो ठीक ही है क्योंकि पृथिवीको जीतनेके लिए शान्ति और प्रताप ये दो ही राजाओंके योग्य गुण माने गये हैं ॥३६॥ राजा भरत नमस्कार करनेवाले पुरुषपर अपनी प्रसन्न दृष्टिसे प्रसन्नता प्रकट करते थे और साथ ही शत्रुके ऊपर भीह देदी कर क्रोध प्रकट करते जाते थे इसलिए यह उक्ति सच भालूम होती है कि राजा लोग नट तुल्य होते हैं ॥३७॥ उत्तम-उत्तम मणियोंको भेंट कर नमस्कार करते हुए अंग देशके राजाओंपर, ऊँचे-ऊँचे हाथियोंको भेंट कर नमस्कार करते हुए बंग देशके राजाओंपर और मणि तथा हाथी दोनोंको भेंट कर नमस्कार करते हुए कलिंग देशके राजाओंपर वह भरत बहुत ही प्रसन्न हुए थे ॥३८॥ भरतेश्वरके प्रसादकी इच्छा करनेवाले मगध देशके राजा उनके उत्कृष्ट गुण गा रहे थे इसलिए वे ठीक मागध अर्थात् बन्दीजनोंके समान जान पड़ते थे ॥३९॥ भरत महाराजके सेनापतिने कुरु, अवन्ती, पांचाल, काशी, कोशल और वैदर्भ देशोंके राजाओंको बिना किसी परिश्रमके अपनी ओर खींच लिया था अर्थात् अपने वश कर लिया था ॥४०॥ मद्र, कच्छ, चेदि, वत्स, सुह्य, पुण्ड्र, औण्ड और गौड़ देशोंमें जा-जाकर सेनापतिने सब जगह भरत महाराजकी आज्ञा मुनायी थी ॥४१॥ उसने दशार्ण, कामरूप, कश्मीर, उशीनर और मध्यदेशके समस्त राजाओंको बहुत शीघ्र वश कर लिया था ॥४२॥ वहाँके राजाओंने जिनसे मदके निर्झरने शर रहे हैं ऐसे, पूर्व देशमें उत्पन्न होनेवाले तथा कलिंग और अंगार देशमें उत्पन्न होनेवाले, पर्वतोंके समान ऊँचे-ऊँचे हाथी महाराज भरतके लिए भेंटमें दिये थे ॥४३॥ जिनमें हाथी उत्पन्न होते हैं ऐसे वनोंके स्वामियोंने दिग्गजोंके साथ स्पर्धा करनेवाले, दशार्णक वनमें उत्पन्न हुए तथा चेदि और ककूश देशमें उत्पन्न हुए हाथी महाराजके लिए प्रदान किये थे ॥४४॥ उस समय भरतेश्वरको पृथिवीपर जहाँ-तहाँ अनेक रत्न भेंटमें मिल रहे थे इसलिए ऐसा जान पड़ता था मानो गर्भिणीके समान पृथिवीने चक्रवर्तीकी सेनाके बोझसे उत्पन्न हुए दुःसह धोभको न सह सकनेके कारण ही अनन्त रत्न उत्पन्न किये हुए हों ॥४५॥

१ तर्पयामास । २ सन्तापयति स्म । ३ जेतुं ल०, ६०, अ०, प०, स० । ४ व्यक्तो बभूव । ५ नटसदृशः । ६ अङ्गदेशाधिपान् । ७ अन्तर्ध्वः । ८ आनतान् । ९ मागधीयत् -म०, ६० । स्तुतिपाठका इवाचरितान् । १० मगधाधिपैः । ११ स्वीकृतवान् । १२ गच्छन् । १३ शासनम्, आज्ञामित्यर्थः । १४ प्राक्दिक्संबन्धिक-लिङ्गदेशाङ्गारजान् । १५ गलत् । १६ दशार्णदेशसंबन्धि । १७ चेदिकमेरुजान् ल०, ६० । १८ दधति स्म । १९ गजवन । २० गर्भस्थशिशुरिव ।

आपाङ्कगिरिप्रपादा च वैभारपर्वतात् । आशैलात् गोरथादस्य विचेरुग्रयकुञ्जराः ॥४६॥
 वङ्गाङ्गपुण्ड्रमगधान् मल्लदान् काशिकौसलान् । सेनानीः परिव्रजाम जिगीर्षुर्जयसाधनैः ॥४७॥
 कालिन्दकालकूटौ च किरातविषयं तथा । मल्लदेशं च संप्रापन्मैतादस्य चमूपतिः ॥४८॥
 धुनीं सुमागधीं गङ्गां गोमतीं च कपीवतीम् । रथास्फां च मदीं सीतां^१ अमुरस्य चमूगजाः ॥४९॥
 गम्भीरामसिगम्भीरां कालतोयां च कौशिकीम् । नदीं कालमहीं ताम्रामरुणां निचुरामपि^२ ॥५०॥
 तं लौहित्यं समुद्रं च कम्बुकं च महत्सरः । चमूमतङ्गजास्तस्य मेजुः प्राच्यवनोपगाः ॥५१॥
 दक्षिणेन^३ नदं शोणमुत्तरेण च नर्मदाम् । बीजानदीमुभयतः परितो मेखलानदीम् ॥५२॥
 विचेरुः स्वखुरोद्धतभूलीसंरुद्धदिशुखाः । जविनोऽस्य स्फुरत्प्रोथा^४ जयसाधनचाचिनः ॥५३॥
 औदुम्बरीं^५ च पनसां तमसां प्रमृशामपि । पपुरस्य द्विपाः शुक्तिमतीं च यमुनामपि ॥५४॥
 चेदिपर्वतसुलङ्घ्य चेदिराष्ट्रं^६ विजिम्बिरे^७ । पम्पा^८ सरोऽम्भोऽतिगमा विभोरस्य तुरंगमाः ॥५५॥
 तमृश्यमूकमाक्रम्य कौलाहलगिरिं श्रिताः । प्राकृमाह्यगिरिमासेवुर्जविनां^९ जयद्विपाः ॥५६॥
 नागप्रियाद्रिसाक्रम्य^{१०} कृतपावश्या विभोः । सेनाचराः स्वसाधकृर्जजंश्चेदिककूशजान्^{११} ॥५७॥
 नदीं वृत्रवतीं^{१२} क्राव्या वन्येभक्षतरोधसम्^{१३} । मेजुभिन्नवतीमस्य चमूवीरास्तुरंगमैः ॥५८॥

हिमवान् पर्वतके निचले भागसे लेकर वैभार तथा गोरथ पर्वत तक सब जगह भरत महाराजके विजयी हाथी घूम रहे थे ॥४६॥ सबको जीतनेकी इच्छा करनेवाला भरतका सेनापति अपनी विजयी सेनाके साथ-साथ बंग, अंग, पुण्ड्र, मगध, मालव, काशी और कोशल देशोंमें सब जगह घूमा था ॥४७॥ भरतकी सम्मतिसे वह सेनापति कालिन्द, कालकूट, भोलोंका देश, और मल्ल देशमें भी पहुँचा था ॥४८॥ उनकी सेनाके हाथी सुमागधी, गंगा, गोमती, कपीवती और रथास्फा नदीको तैरकर जहाँ-तहाँ घूम रहे थे ॥४९॥ पूर्व दिशाके पास-पास जानेवाले उनकी सेनाके हाथी अत्यन्त गहरी गम्भीरा, कालतोया, कौशिकी, कालमही, ताम्रा, अरुणा और निचुरा आदि नदियों तथा लौहित्य समुद्र और कम्बुक नामके बड़े-बड़े सरोवरोंमें घूमे थे ॥५०-५१॥ जिन्होंने अपने खुरोंसे उठी हुई धूलिसे समस्त दिशाएँ भर दी हैं, जो बड़े वेगशाली हैं और जिनके नथनें खंचल हो रहे हैं ऐसे महाराज भरतकी विजयी सेनाके घोड़े शोण नामके नदीकी दक्षिण ओर, नर्मदा नदीकी उत्तर ओर, बीजा नदीके दोनों ओर और और मेखला नदीके चारों ओर घूमे थे ॥५२-५३॥ भरतके हाथियोंने उदुम्बरी, पनसा, तमसा, प्रमृशा, शुक्तिमती और यमुना नदीका पान किया था ॥५४॥ चक्रवर्तीके घोड़ोंने पम्पा सरोवरके जलको पार किया था तथा चेदि नामके पर्वतको उल्लंघन कर चेदि नामके देशको जीता था ॥५५॥ सबको जीतनेवाले भरतके विजयी हाथी ऋष्यमूक पर्वतका उल्लंघन कर कौलाहल पर्वत तक जा पहुँचे थे और फिर माल्य पर्वतके पूर्व भागके समीप भी जा पहुँचे थे ॥५६॥ भरतकी सेनाके लोगोंने देहली-जैसा समस्त अवज्ञापूर्वक नागप्रिय पर्वतका उल्लंघन कर चेदि और ककूश देशमें उत्पन्न हुए हाथियोंको अपने अधीन कर लिया था ॥५७॥ उनकी सेनाके वीर पुरुष घोड़ोंके द्वारा वृत्रवती नदीको पार कर जिसके किनारे जंगली हाथियोंसे खूदे गये हैं ऐसी चित्र

१ चरन्ति स्म । २ मल्लान् ६०, अ० । मालयान् ५० । मालवान् ल०, द० । ३ आज्ञातः । ४ चक्रिणः । ५ रथस्थां अ० । रेवस्थां ५०, ट० । रवस्थां द० । ६ अवतीर्य । ७ निचुरामपि ल० । ८ लौहित्यसमुद्रनाम-सरोवरम् । ९ पूर्व । १० शोणनदस्य दक्षिणस्यां दिशि । ११ वंतिनः । १२ नासिका । १३ उदुम्बरीं स०, ६०, अ०, ५०, द०, ल० । १४ 'ययुः' इत्यपि पाठः । यानमकुर्वन् । १५ चेदिदेशम् । १६ जयन्ति स्म । १७ पम्पासरोजलमतिक्रान्ताः । १८ देहली । १९ -सेरुजान् ल०, द० । २० वेत्रवतीं ६० । वृत्रवतीं ५० । वृत्रवतीं अ०, स०, । २१ वनगजक्षुण्णतटाम् ।

रुद्ध्वा साध्यवर्तातीरदनं वन्द्येभसंकुलम् । वासुनं च पयः पांथा जिग्युरस्य द्विषा दिशः ॥५९॥
 अनुवेणुमतीतीरं गत्वाऽयं जयसाधनम्^१ । वत्सभूमिं समाक्रम्य^२ दशार्णामप्यलङ्घयत् ॥६०॥^३
 विशालां नालिकां सिन्धुं परां निःकुन्दरीमपि । बहुवज्रां च रम्यां च नदीं सिकतिनीमपि ॥६१॥
 ऊहां च^४ समतोयां च कंजां कपीवतीं च । निर्विन्ध्यां च धुनीं जम्बूमतीं च सरिदुत्तमाम् ॥६२॥
 वसुमत्यापगामविभ्रगामिनीं शर्करावतीम् । सिप्रां च कृतमालां च परिजां पनसामपि ॥६३॥
 नदीमवन्तिकामां च हस्तिपानीं च निम्नगाम् । कामधुमापगां^५ व्याघ्रीं धुनीं चर्मण्वतीमपि ॥६४॥
 शतभागां च नन्दां च नदीं करमवेगिनीम् । चुलितापीं च रेवां च सप्तपारां च कौशिकीम् ॥६५॥
 सरितोऽमूरगाधपा विपद्गारुद्ध्यं तद्वलम् । तुरंगमखुरोत्थानतीरा विस्तारिणीर्ध्वधात् ॥६६॥
 तैरश्विकं गिरिक्रान्त्वा रुद्ध्वा वैदूर्यभूधरम् । भटाः कूटाग्रिमुखं च पारियात्रमशिथ्र्यन् ॥६७॥
 गत्वा पुष्पगिरिः प्रस्थान् सानून् सितगिरेरपि^६ । गदागिरिर्निःकुञ्जेषु^७ बलान्धस्य विशश्रमुः^८ ॥६८॥
 वातपृष्ठदरीभागां^९ नृक्षवान्^{१०} कुक्षिभिः^{११} तमभू । तत्सैनिकाः श्रयन्ति स्म कम्बलाद्रितटान्यपि ॥६९॥
 वासवन्तं महाशैलं बिलङ्ग्यासुरधूपने^{१२} । स्थित्वाऽस्य सैनिकाः प्रापन् भवेभानङ्गरेयिकान्^{१३} ॥७०॥
 निःसपत्नमिति भ्रेशुरितश्चेत्तश्च सैनिकाः । द्विषान् वनविभागेषु^{१४} कर्षन्तोऽस्य निजैराजैः ॥७१॥
 दुस्तराः सुतरा जाताः संभुक्ताः सरितो बलैः । स्वारोहाश्च^{१५} दुरारोहा गिरयः क्षुण्णसानवः ॥७२॥
 वती नदीको प्राप्त हुए थे ॥५८॥ जंगली हाथियोंसे भरे हुए माल्यवती नदीके किनारेके वनको घेरकर तथा यमुना नदीका पानी पीकर भरतके हाथियोंने उस ओरको समस्त दिशाएँ जीत ली थीं ॥५९॥ उनकी विजयी सेनाने वेणुमती नदीके किनारे-किनारे जाकर वत्स देशकी भूमिपर आक्रमण किया और फिर दशार्णा (धसान) नदीका भी उल्लंघन किया — पार किया ॥६०॥ भरतकी सेनाने विशाला, नालिका, सिन्धु, पारा, निःकुन्दरी, बहुवज्रा, रम्या, सिकतिनी, कुहा, समतोया, कंजा, कपीवती, निर्विन्ध्या, नदियोंमें श्रेष्ठ जम्बूमती, वसुमती, समुद्र तक जानेवाली शर्करावती, सिप्रा, कृतमाला, परिजा, पनसा, अवन्तिकामा, हस्तिपानी, कामधु, व्याघ्री, चर्मण्वती, शतभागा, नन्दा, करमवेगिनी, चुल्लितापी, रेवा, सप्तपारा, और कौशिकी इन अगाध जलसे भरी हुई नदियोंको चारों ओरसे घेरकर जिनके किनारे घोड़ों-के खुरोंसे खुद गये हैं ऐसी उन नदियोंको बहुत चौड़ा कर दिया था ॥६१-६६॥ सैनिकोंने तैरश्विक नामके पर्वतोंको लाँघकर वैदूर्य नामका पर्वत जा घेरा और फिर कूटाचलका उल्लंघन कर पारियात्र नामका पर्वत प्राप्त किया ॥६७॥ भरतकी वह सेना पुष्प गिरिके शिखरोपर चढ़कर सितगिरिके शिखरोपर जा चढ़ी और फिर वहाँसे चलकर उसने गदा नामक पर्वतके लतागृहोंमें विश्राम किया ॥६८॥ भरतके सैनिकोंने नृक्षवान् पर्वतकी गुफाओं-के साथ-साथ वातपृष्ठ पर्वतकी गुफाओंका आश्रय लिया और फिर वहाँसे चलकर कम्बल नामक पर्वतके किनारोंपर आश्रय प्राप्त किया ॥६९॥ वे सैनिक वासवन्त नामके महापर्वतका उल्लंघन कर असुरधूपन नामक पर्वतपर ठहरे और फिर वहाँसे चलकर मदेभ आनङ्ग और रेमिक पर्वतपर जा पहुँचे ॥७०॥ सेनाके लोग उन देशोंको शत्रुरहित समझकर अपने हाथियोंके द्वारा वनके प्रदेशोंमें हाथी पकड़ते हुए जहाँ-तहाँ घूम रहे थे ॥७१॥ जो नदियाँ दुस्तर अर्थात् कठिनाईसे तैरने योग्य थीं वे ही नदियाँ सैनिकोंके द्वारा उपभुक्त होनेपर सुतर अर्थात् सुखसे

१ बलम् । २ 'दशार्णान्' इत्यपि ववचित् । ३ कुहा ल० । ४ कामधुम्यापगाम् । ५ सानून् । ६ सितगिरि-ल० । ७ नितम्बेषु । ८ विश्रांस्यन्ति स्म । ९ वातपृष्ठगिरिकन्दरप्रदेशान् । १० भल्लूका इव । ११ तद्वीरस्थित-गुहाभिः सह इत्यर्थः । १२ असुरधूपन इति पर्वतविशेषः । १३ मदेभश्च आनङ्गश्च रेयिकश्च तान् । १४ स्वी-कुर्वन्तः । १५ सुवारोहाः ।

राष्ट्राण्यवधयस्तेषां राष्ट्रीयाश्च सहीभुजः । फलाय जज्ञिरे भर्तुर्योजिताश्चासुना^१ फलैः ॥७३॥
 नृपानवारपारीणान्^२ द्रुप्यान्पुपसागरे । बली बलैरवष्टभ्य^३ प्रापोपवनजान्^४ राजान् ॥७४॥
 रत्नान्यपि विचित्राणि तेभ्यो लब्ध्वा यथेप्सितम् । तानेवास्थापयत्तत्र संतुष्टः प्रभुराजया ॥७५॥
 महान्ति गिरिदुर्गाणि निम्नदुर्गाणि च प्रभोः । सिद्धानि बलरुद्धानि किमसाध्यं महीयसाम् ॥७६॥
 इत्थं स पृथिवीमध्यान्^५ पौरस्याजिर्जयद्वपान् । प्रतस्थे दक्षिणामाशां^६ दक्षिणात्यजिगीषया ॥७७॥
 यतो यतो बलं जिष्णोः प्रचलत्युद्धनायकम् । ततस्ततः स्म सामन्ता नमस्त्यानम्रमौलयः ॥७८॥
 त्रिकलिङ्गाधिपानोद्गान् कच्छान्धविषयाधिपान् । प्रातरान् केरलाश्चोलान् पुन्नागांश्च व्यजेष्ट सः ॥७९॥
 कुडुम्बानोलिकांश्चैव स माहिषकमेकुरान् । पाण्डयानन्तरपाण्डयांश्च दण्डेन^७ वशमानयत् ॥८०॥
 नृपानेतान् विजित्याहु प्रणमय्य स्वपादयोः । हत्वा तत्साररत्नानि प्रभुः प्रापत् परां मुदम् ॥८१॥
 सेनानीरपि बभ्राम^८ विमोराशां समुद्रहन् । गिरीन् ससरितो देशान्^९ कालिङ्गकवनाशितान् ॥८२॥
 स साधनैः समं भेजे तैलामिधुमतीमपि । नदीं नक्रवां वङ्गां श्वसनां च महानदीम् ॥८३॥

तैरते योग्य हो गयी थीं । इसी प्रकार जो पर्वत दुरारोह अर्थात् कठिनाईसे चढ़ने योग्य थे वे ही पर्वत सैनिकोंके द्वारा शिखरोंके चूर्ण हो जानेसे दुरारोह अर्थात् सुखपूर्वक चढ़ने योग्य हो गये थे ॥७२॥ देश, उनकी सीमाएँ और देशोंके राजा लोग सम्राट् भरतेश्वरको फल प्रदान करनेके लिए ही उत्पन्न हुए थे तथा बदलेमें भरतने भी उन्हें अनेक फलोंसे युक्त किया था । भावार्थ — सम्राट् भरत जहाँ-जहाँ जाते थे वहाँ-वहाँके लोग उन्हें अनेक प्रकारके उपहार दिया करते थे और भरत भी उनके लिए अनेक प्रकारकी सुविधाएँ प्रदान करते थे ॥७३॥ जो राजा लोग उससमुद्रके उस पार रहते थे अथवा उप-समुद्रके भीतर द्वीपोंमें रहते थे उन सबको बलवान् भरतने सेनाके द्वारा अपने वश किया था तथा वनमें उत्पन्न होनेवाले हाथियोंको पकड़-पकड़कर उनका पोषण किया था ॥७४॥ महाराज भरतने उन राजाओंसे अपनी इच्छानुसार अनेक प्रकारके रत्न लेकर सन्तुष्ट हो अपनी आज्ञासे उनके स्थानोंपर उन्हींको फिरसे विराजमान किया था ॥७५॥ जो बड़े-बड़े किले पहाड़ोंके ऊपर थे और जो जमीनके नीचे बने हुए थे वे सब सेनाके द्वारा घिरकर भरतके वशीभूत हो गये थे, सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुषोंको क्या असाध्य है ? ॥७६॥ इस प्रकार भरतने पूर्व दिशाके समस्त राजाओंको जीतकर दक्षिण दिशाके राजाओंको जीतनेकी इच्छासे उस पृथिवीके मध्यभागसे दक्षिण दिशाकी ओर प्रस्थान किया ॥७७॥ उत्कृष्ट सेनापति सहित विजयी भरतकी सेना जहाँ-जहाँ जाती थी वहाँ-वहाँ के राजा लोग सामन्तोंसहित मस्तक झुका-झुकाकर उन्हें नमस्कार करते थे ॥७८॥ दक्षिणमें भरतने त्रिकलिङ्ग, ओद्र, कच्छ, प्रातर, केरल, चेर और पुन्नाग देशोंके सब राजाओंको जीता था ॥७९॥ तथा कूट, ओलिक, माहिष, कमेकुर, पाण्डय और अन्तरपाण्डय देशके राजाओंको दण्डरत्नके द्वारा अपने वशीभूत किया था ॥८०॥ सम्राट् भरतने इन सब राजाओंकी शीघ्र ही जीतकर उनसे अपने चरणोंमें प्रणाम कराया और उनके सारभूत रत्न लेकर परम आनन्द प्राप्त किया ॥८१॥ चक्रवर्तीकी आज्ञा धारण करता हुआ सेनापति भी कालिङ्गक वनके समीपवर्ती अनेक पहाड़ों, नदियों तथा देशोंमें घूमा था ॥८२॥ वह अपनी सेनाओंके, साथ-साथ तैला, इक्षुमती, नक्रवा, वङ्गा और श्वसना आदि महानदियोंको प्राप्त हुआ था

१ सेनान्या । २ उभयतीरे भवान् । 'पारावारपरम्भः इति खः' इति प्राग्जित्तीयेऽर्थः खः । 'पारावारे परे तीरे' इत्यमरः । ३ द्वीपे जातान् । ४ घाटीं कृत्वा । ५ पुषोष वनजान् ल०, द०, इ०, अ० । ६ पूर्वदिग्भवान् । ७ दक्षिणदिशि जाता । ८ चेरान् ल०, द० । ९ बलेन । १० प्रभो-ल० । ११ कलिङ्गदेशसंबन्धि ।

धुनीं वैतरणीं माषवतीं च समहेन्द्रकाम् । सैनिकैः सममुत्तीर्य ययौ शुष्कनदीमपि ॥८४॥
 सप्तगोदावरं तीर्त्वा^१ पश्यन् गोदावरीं शुचिम् । सरो मानसमासाद्य मुमुक्षे शुचिमानसः ॥८५॥
 सुप्रयोगां नदीं तीर्त्वा कृष्णवेणां^२ च मिम्बशाम् । सस्तीरां च प्रवेणीं च व्यतीयाय समं बलैः ॥८६॥
 कुब्जां धैर्यां च चूर्णीं च वेणां सूकरिकामपि । अम्बेणां च नदीं पश्यन् दक्षिणास्यानशुश्रुवत्^३ ॥८७॥
 महेन्द्राद्रिं समाक्रामन् विन्ध्योपान्तं च निर्जयन् । नागपर्वतमध्यास्य प्रययौ मलयान्चलम् ॥८८॥
 गोशीर्षं ददुराद्रिं च गिरिं पाण्ड्यकवाटकम् । स शीतगुहमासीदन् गं श्रीकटनाड्यम् ॥८९॥
 श्रीपर्वतं च किष्किन्धं निर्जयन् अयसाधनैः । तत्र तत्रोचितैर्लामैरवर्त्त चमूपतिः ॥९०॥
 कर्णटिकान् स्फुट्यतो^४ पक्विकटोद्भटं^५ वेषकान् । हरिद्राञ्जनताम्बूलप्रियान् प्रायो यशोधनान् ॥९१॥
 आन्धान्^६ हन्द्रप्रहारेषु कृतलज्जान्^७ कदर्यकान्^८ । पाषाणकठिनान्^९ परं हृदयैरपि ॥९२॥
 कालिङ्गकान् गज^{१०} प्रायसाधनान् सकलाधनान् । प्रायेण तादृशानोक्तान् जडानुद्ध^{११} मरप्रियान् ॥९३॥
 चोलिकाभालिकप्रियान्^{१२} प्रायशोऽभृजुषेष्टितान्^{१३} । केरलान् सरलालापान् कलागोष्ठीषु^{१४} शुश्रुकान्^{१५} ॥९४॥
 दक्षिणान् प्रचण्डोर्ध्वकण्ठपित्तजालमिग्नकालान् । प्रायो गजप्रियान् धन्विकुम्भभूषिष्ठसाधनान् ॥९५॥

॥८३॥ तथा वैतरणी, माषवती और महेन्द्रका इन नदियोंको अपने सैनिकोंके साथ पार कर वह शुष्क नदीपर जा पहुँचा था ॥८४॥ सप्तगोदावरको पार कर पवित्र गोदावरीको देखता हुआ वह पवित्र हृदयवाला सेनापति मानस सरोवरको पाकर बहुत प्रसन्न हुआ ॥८५॥ तदनन्तर उसने सेनाओंके साथ-साथ सुप्रयोगा नदीको पार कर कृष्णवेणा, सस्तीरा और प्रवेणी नामकी नदीको पार किया ॥८६॥ तथा कुब्जा, धैर्या, चूर्णी, वेणा, सूकरिका और अम्बेणा नदीको देखते हुए उसने दक्षिण दिशाके राजाओंको चक्रवर्तीकी आज्ञा सुनायी ॥८७॥ फिर महेन्द्र पर्वतको उल्लंघन कर विन्ध्याचलके समीपवर्ती प्रदेशोंको जीतता हुआ नागपर्वतपर चढ़कर वह सेनापति मलय पर्वतपर गया ॥८८॥ वहाँसे अपनी सेनाके साथ-साथ गोशीर्ष, ददुर, पाण्ड्य, कवाटक और शीतगुह नामके पर्वतोंपर पहुँचा तथा श्रीकटन, श्रीपर्वत और किष्किन्ध पर्वतोंको जीतता हुआ वहाँके राजाओंसे यथायोग्य लाभ पाकर वह सेनापति अतिशय वृद्धिको प्राप्त हुआ ॥८९-९०॥ प्रकट रूपसे धारण किये हुए आडम्बरोसे जिनका वेष विकट तथा शूरवीरताको उत्पन्न करनेवाला है, जिन्हें हल्दी, ताम्बूल और अंजन बहुत प्रिय हैं; तथा प्रायः कर जिनके यश ही धन है ऐसे कर्णटक देशके राजाओंको, जो कठिन प्रहार करनेमें सिद्धहस्त हैं जो बड़े कृपण हैं और जो केवल शरीरकी अपेक्षा ही पाषाणके समान कठोर नहीं हैं किन्तु हृदयकी अपेक्षा भी पाषाणके समान कठोर हैं ऐसे आन्ध्र देशके राजाओंको, जिनके प्रायः हाथियोंकी सेना है और जो कला-कौशल रूप धनसे सहित हैं ऐसे कलिङ्ग देशके राजाओंको, जो प्रायः कलिङ्ग देशके समान हैं, मूर्ख हैं और लड़नेवाले हैं ऐसे ओण्ड्र देशके राजाओंको, जिन्हें प्रायः झूठ बोलना प्रिय नहीं है और जिनकी चेष्टाएँ कुटिल हैं ऐसे चोल देशके राजाओंको, मधुर गोष्ठी करनेमें प्रवीण तथा सरलतापूर्वक वार्तालाप करनेवाले केरल देशके राजाओंको, जिनके भुजदण्ड अत्यन्त बलिष्ठ हैं, जिन्होंने शत्रुओंके समूह नष्ट कर दिये हैं, जिन्हें हाथी बहुत प्रिय हैं और जो युद्धमें प्रायः धनुष तथा भाला आदि शस्त्रोंका अधिकतासे प्रयोग करते हैं ऐसे पाण्ड्य

१ तीर्थ अ०, स०, ल० । २ 'सुप्रवेगाम्' इत्यपि क्वचित् । ३ कृष्णवेणी ल० । ४ अम्बेणी ल० । ५ आवयति स्म । ६ नागपर्वते स्थित्वा । ७ आगमत् । ८ गर्व । ९ मनोहरः । 'विकटः सुन्दरे प्रोचतो विशालविकरालयोः' इत्यभिधानात् । १० दुःख । ११ कृतव्याजान् । 'व्याजोऽपदेशो लक्ष्यं च' इत्यमरः । १२ कृपणान् । 'कदर्ये कृपणक्षुद्रकिपचानमितपञ्चाः' इत्यमरः । १३ करिबहलसेनान् । १४ युद्ध । १५ द्राविडान् । १६ अलोकान्त । १७ चक्रवर्तनान् । १८ कलागोष्ठीषु चञ्चुरान् ल०, द० । १९ प्रतीतान् ।

१ दृष्टापदानानन्यांश्च तत्र तत्र व्युत्थितान् । जयसैन्यैरवस्वस्य^२ सेनानीरनयद् वशम् ॥१६॥
 ते च सरस्वत्य सेनान्यं पुरस्कृत्य ससाध्वसम् । चक्रिणं प्रणमन्ति स्म दूरादूरीकृत्यतिम्^३ ॥१७॥
 करग्रहेण संपीड्य दक्षिणायां वधूमिष । प्रसन्नं हततत्सारी दक्षिणाभिधमगात् प्रभुः ॥१८॥
 १ लवङ्गलवलीप्रायमेलागुल्ललतान्तिकम् । बेलोपास्तवनं पश्यन् महतीं प्रतिमाप सः ॥१९॥
 तमासिधेविरे मन्दमान्दोसितसरोजलाः । प्लासुरान्धयः सौम्यः बेलान्तधनवायवः ॥२०॥
 महदुद्धतशाखाप्रविकीर्णसुमनोऽञ्जलिः । नूनं प्रत्यगृहीदेनं वनोद्देशो विशांपतिम् ॥२१॥
 पचनाधूतशाखाग्रैर्ध्वजपटपद्मिःस्वनैः । विश्रान्त्यै सैनिकानस्य व्याहरन्निर्व पादपाः ॥२२॥
 अथ तस्मिन् वनाभोगे^४ सैन्यमावासायद् विभुः । वैजयन्तमहाहारनिकटेऽम्बुनिधेस्तटे ॥२३॥
 सन्नागं^५ बहुपुत्रागं^६ सुमनोभि^७ रधिष्ठितम् । बहुपत्ररथं^८ जिष्णोर्वलं तद्वनमावसत्^९ ॥२४॥

देशके राजाओंको और जिन्होंने प्रतिकूल खड़े होकर अपना पराक्रम दिखलाया है ऐसे अन्य देशके राजाओंको सेनापतिने अपनी विजयी सेनाके द्वारा आक्रमण कर अपने अधीन किया था ॥१६-१७॥ उन राजाओंने सेनापतिका सत्कार कर तथा भयसहित कुछ भेंट देकर जिन्होंने उनका भविष्यत्काल अर्थात् आगे राजा बना रहने देना स्वीकार कर लिया है ऐसे चक्रवर्तीको दूरसे ही प्रणाम किया था ॥१८॥ जिस प्रकार पुरुष करग्रह अर्थात् पाणिग्रहण संस्कारसे किसी स्त्रीको वशोभूत कर लेता है उसी प्रकार चक्रवर्ती भरतने करग्रह अर्थात् टैक्स वसूलीसे दक्षिण दिशाको अपने वश कर लिया था और फिर जबरदस्ती उसके सार पदार्थोंको छीनकर दक्षिण समुद्रकी ओर प्रयाण किया था ॥१९॥ वहाँ वह चक्रवर्ती, जिनमें प्रायः लवंग और लवलीकी लताएँ लगी हुई हैं तथा जो इलायचीके छोटे-छोटे पौधोंकी लताओंसे सहित है ऐसे किनारेके समीपवर्ती वनको देखता हुआ बहुत भारी सन्तोषको प्राप्त हुआ था ॥२०॥ जो तालाबोंके जलको हिला रहा है, जिसमें इलायचीकी सुगन्धि मिली हुई है और जो सौम्य है ऐसे किनारेके वनकी वायु उस चक्रवर्तीकी सेवा कर रही थी ॥२१॥ वायुसे हिलती हुई शाखाओंके अग्रभागसे जिसने फूलोंकी अञ्जलि बिखेर रखी है ऐसा वह वनका प्रदेश ऐसा जान पड़ता था मानो इस चक्रवर्तीकी अगवानी ही कर रहा हो ॥२२॥ वृक्षोंकी शाखाओंके अग्रभाग वायुसे हिल रहे थे और उनपर भ्रमर स्पष्ट शब्द कर रहे थे, जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो वे वृक्ष हाथ हिला-हिलाकर भ्रमरोके शब्दोंके बहाने पुकार-पुकारकर विश्राम करनेके लिए भरतके सैनिकोंको बुला ही रहे हों ॥२३॥

अथान्तर-चक्रवर्तीने उस वनके मैदानमें समुद्रके किनारे वैजयन्त नामक महाद्वारके निकट अपनी सेना ठहरायी ॥२४॥ वह वन और भरतकी सेना दोनों ही समान थे क्योंकि जिस प्रकार वन सनाग अर्थात् मोथाके पौधोंसे सहित था उसी प्रकार सेना भी सनाग अर्थात् हाथियोंसे सहित थी, जिस प्रकार वन बहुपुत्राग अर्थात् नागकेशरके बहुत वृक्षोंसे सहित था उसी प्रकार सेना भी बहुपुत्राग अर्थात् अनेक उत्तम पुरुषोंसे सहित थी, जिस प्रकार वन सुमन अर्थात् फूलोंसे सहित था उसी प्रकार वह सेना भी सुमन अर्थात् देव अथवा अच्छे हृदयवाले पुरुषोंसे सहित थी, और जिस प्रकार वन बहुपत्ररथ अर्थात् अनेक पक्षियोंसे सहित होता

१ दृष्टसामर्थ्यात् । 'अपादानं कर्मणि स्यादतिवृत्तेऽवस्वस्य' इत्यभिधानात् । २ अम्युत्थितान् । ३ आक्रम्य । ४ अञ्जीकृतसंपदम् । ५ बलात्कारेण । ६ चन्दनलता । ७ 'तताङ्कितम्' इत्यपि क्वचित् । तत् विस्तृतम् । ८ आह्वयन्ति स्मेव । ९ विस्तारे । १० प्रशस्तगजम् । सुनागवृक्षं च । ११ पुरुषश्रेष्ठं नागकेशरं च । १२ देवैः कुसुमैश्च । १३ बहुशाहतस्यन्दनम् बहुलविहगं च । 'पतत्रिपत्रिपतगपतपत्ररथाणञ्जलाः' इत्यभिधानात् । १४ एवविधं बलमेवविधं वनमावसत् ।

सच्छायान् स रुकांसुहान् बहुपत्रपरिच्छदान् । अवेवन्त जनाः प्रीत्या ^३पार्थिवान्तापविच्छिदः ॥१०४॥

सच्छायानप्यसंभाव्याफलान् प्रीज्य महाद्रुमान् । सफलान् विरलच्छायानप्यहो शिथियुजनाः ॥१०५॥

‘आकालिकीमनाह्वय बहिदृशायां तदातनीम् । भाविनीं तरुमूलेषु छायामाशिश्रियजनाः’ ॥१०६॥

वनस्थलीस्तच्छायानिरुहशुभमिन्विषः । सजानयस्तरस्तीरेष्वप्यामिषत सैनिकाः ॥१०८॥

अन्येऽप्येवमन्विषः ॥१०९॥ सजानयस्तरस्तीरेष्वप्यामिषत सैनिकाः ॥१०९॥

कपयः ‘कपिकच्छुनामुज्जनानाः फलच्छदाः’ । सैनिकानाकुलाश्चकुर्निविष्टान् वा ^४रुधामधः ॥११०॥

सःपरिसरेष्वामन् प्रभोराधीयमन्दुराः । सुन्दराः स्वेरमाहायै ^५वर्षिच्छेयैस्त्पणाङ्कुरैः ॥१११॥

हे उसी प्रकार वह सेना भी अनेक सवारियों और रथोंसे सहित थी, इस प्रकार भरतकी वह सेना अपने समान वनमें ठहरी ॥१०४॥ उस वनके पार्थिव अर्थात् वृक्ष (पृथिव्यां भवः, ‘पार्थिवः’) पार्थिव अर्थात् राजाओं (पृथिव्या अधिपः ‘पार्थिवः’) के समान थे, क्योंकि जिस प्रकार राजा सच्छाय अर्थात् उत्तम कान्तिसे सहित होते हैं उसी प्रकार उस वनके वृक्ष भी सच्छाय अर्थात् उत्तम छाया (छाँहरी) से सहित थे, जिस प्रकार राजा लोग सफल अर्थात् आय-से सहित होते हैं उसी प्रकार उस वनके वृक्ष भी सफल अर्थात् फलोंसे सहित थे । जिस प्रकार राजा लोग तुंग अर्थात् ऊँची प्रकृतिके — उदार होते हैं उसी प्रकार उस वनके वृक्ष भी तुंग अर्थात् ऊँचे थे, जिस प्रकार राजा लोग बहुपत्रपरिच्छद अर्थात् अनेक सवारी आदिके वैभवसे सहित होते हैं उसी प्रकार उस वनके वृक्ष भी बहुपत्रपरिच्छद अर्थात् अनेक पत्तोंके परिवारसे सहित थे और जिस प्रकार राजा लोग ताप अर्थात् दरिद्रतासम्बन्धी दुःखको नष्ट करनेवाले होते हैं उसी प्रकार उस वनके वृक्ष भी ताप अर्थात् सूर्यके घामसे उत्पन्न हुई गरमीको नष्ट करनेवाले थे, इस प्रकार भरतके सैनिक, राजाओंकी समानता रखनेवाले वृक्षोंका आश्रय बड़े प्रेमसे ले रहे थे ॥१०५॥ सेनाके कितने ही लोग उत्तम छायासे सहित होनेपर भी जिनसे फल मिलनेकी सम्भावना नहीं थी ऐसे बड़े-बड़े वृक्षोंको छोड़कर थोड़ी छायावाले किन्तु फलयुक्त वृक्षोंका आश्रय ले रहे थे । भावार्थ — जिस प्रकार घनाद्वय होनेपर भी उचित वृत्ति न देनेवाले कंजूस स्वामीको छोड़कर सेवक लोग अल्पधनी किन्तु उचित वृत्ति देनेवाले उदार स्वामीका आश्रय लेने लगते हैं उसी प्रकार सैनिक लोग फलरहित बड़े-बड़े वृक्षोंको छोड़कर फलसहित छोटे-छोटे वृक्षोंका आश्रय ले रहे थे ॥१०६॥ सेनाके लोग उस समयकी थोड़ी देर रहनेवाली बाहरकी छाया छोड़कर वृक्षोंके नीचे आगे आनेवाली छायामें बैठे थे ॥१०७॥ वनस्थलीके वृक्षोंकी छायासे जिनपर सूर्यकी धूप रुक गयी है ऐसे कितने ही सैनिक अपनी-अपनी स्त्रियोंसहित तालाबोंके किनारोंपर बैठे हुए थे ॥१०८॥ परस्परके प्रेमसे बँधे हुए राजा लोग अपनी-अपनी स्त्रियोंसहित जिनके नीचे बैठे हुए हैं ऐसे वनके वृक्ष कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न हुई शोभाको स्पष्ट रूपसे धारण कर रहे थे । भावार्थ — वनके वे वृक्ष कल्पवृक्षोंके समान जान पड़ते थे और उनके नीचे बैठे हुए स्त्री-पुरुष भोगभूमिके आर्य तथा आर्याओंके समान मालूम होते थे ॥१०९॥ वहाँ करँचकी कलियोंको हिलाते हुए वानर उन लताओंके नीचे बैठे हुए सैनिकोंको व्याकुल कर रहे थे क्योंकि करँचकी फलियोंके रोये शरीरपर लग जानेसे खुजली उठने लगती है ॥११०॥ तालाबोंके समीप ही इच्छानुसार चरने योग्य तथा भापसे ही दूटनेवाले सुकोमल घासके

१ सच्छायान् तेजस्विनश्च । २ बहुपत्रपरिकरान्, बहुवाहनपरिकरांश्च । ३ वृक्षान् नृपतींश्च । ४ अस्थिराम् ।

५ — माशिश्रियुजनाः ल०, द० । ६ स्त्रीसहिताः । ७ मर्कटोनाम् । ‘कपिकच्छुश्च मर्कटी’ इत्यभिधानात् । ८ फल-यच्छरीः । ९ लतानाम् । १० सर्वत्रप्रदेशेषु सुलभैरित्यर्थः । ११ कोमलैः ।

अवतारितपर्याण^१मुखमाण्डाद्युपस्कराः । स्फुरन्प्राग्भुसुरैरश्वः^२ स्मां^३ जघुर्विविधुश्च^४ ॥११२॥
 सान्द्रयवराजः^५कीर्णः^६ सरसामन्तिकस्थले । मन्दं^७ कुबुबुरङ्गानि वाहाः कृतविवर्तनाः ॥११३॥
 विवभात्रम्भरे कण्ठजजःपुञ्जीऽनिलोद्धृतः^८ । अयनं^९ रघितोऽश्वानामिवोच्चैः पश्यमण्डपः ॥११४॥
 रजस्वलां^{१०} महीं रघु^{११} जुगुप्सव इवोद्धृताः^{१२} द्रुतं विवकुलमानि^{१३} स्मरन्निनीमहजिह्वाः^{१४} ॥११५॥
 वारि^{१५}वारिजकिञ्चकततान्यथा विगाहिताः । धौतमण्डपद्वारां स्व भेजुरम्भोजरेणुभिः ॥११६॥
 यशोवगाहनिधूतश्रमाः पीताम्भसो हयाः । आर्मल्लिताक्षमधूधुर्विततान् पश्यमण्डपान् ॥११७॥
 नालिकेरद्रुमेष्वार्यादुचितो^{१६} वर्णमशालिनः । निवेशो हास्तिकस्यास्य विभोस्तालीवनेषु च ॥११८॥
 प्रपतत्तालिकेशैश्चर्यपुट्य वनभूमयः । हस्तिनां स्थानतर्माद्युर्ध्वरेव^{१७} प्रान्तसारितैः^{१८} ॥११९॥
 द्विपातुदन्यतस्तीक्ष्णं^{१९} वमधुव्यञ्जितश्रमान् । निन्युर्जलोपयोगाय सरस्यभिनिषादिनैः^{२०} ॥१२०॥
 तार्च्यगतेन^{२१} सुव्यक्तमार्गसंजनितश्रमान् । गजानाधोरणा निन्युः सरसारवगाहने^{२२} ॥१२१॥

अंकुरोंसे सुन्दर, चक्रवर्तीके घोड़ोंकी घुड़सालें थीं ॥१११॥ जिनपर-से पलान और लगाम आदि सामग्री उतार ली गयी है ऐसे घोड़े जमीनपर लोटनेकी इच्छा करते हुए, हिलते हुए नथनों-से युक्त मुखोंसे जमीनको सूँघ रहे थे ॥११२॥ कमलोंकी सान्द्र परागसे भरे हुए, तालाबके समीपवर्ती प्रदेशपर लोटकर वे घोड़े धूलि झाड़नेके लिए धीरे-धीरे अपने शरीर हिला रहे थे ॥११३॥ जो कमलोंको परागका समूह वायुसे उड़कर आकाशमें छा गया था वह ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो घोड़ोंके लिए बहुत ऊँचा कपड़ेका मण्डप ही बनाया गया हो ॥११४॥ बड़े-बड़े घोड़े पृथिवीको रजस्वला अर्थात् धूलिसे युक्त (पक्षमें रजोधर्म-से युक्त) देखकर ग्लानि करते हुए-से उठे और शीघ्र ही सरोवरोंके जलमें घुस गये ॥११५॥ कमलकी केशरसे भरे हुए जलमें प्रविष्ट हुए घोड़ोंका अंगराग (शोभाके लिए शरीरपर लगाया हुआ एक प्रकारका लेप) यद्यपि धुल गया था तथापि उन्होंने कमलोंके परागसे अपने उस अंगरागको पुनः प्राप्त कर लिया था । भावार्थ—कमलोंकी केशरसे भरे हुए पानीमें स्नान करनेसे उनके शरीरपर जो कमलोंकी केशरके छोटे-छोटे कण लग गये थे उनसे अंगराग-की कमी नहीं मालूम होती थी ॥११६॥ सरोवरोंमें घुसकर स्नान करनेसे जिनका सब परिश्रम दूर हो गया है और जिन्होंने इच्छानुसार जल पी लिया है ऐसे घोड़े कपड़ेके बड़े-बड़े मण्डपों-में कुछ-कुछ नेत्र बन्द किये हुए खड़े थे ॥११७॥ ऊँचे-ऊँचे शरीरोंसे सुशोभित होनेवाले, महाराज भरतके हाथियोंके डेरे नारियल और ताड़ वृक्षके वनोंमें बनाये गये थे जो कि सर्वथा उचित थे ॥११८॥ जो वनकी भूमि ऊपरसे पड़ते हुए नारियलोंके समूहसे ऊँची-नीची हो रही थी वही नारियलोंके एक ओर हटा देनेसे हाथियोंके योग्य स्थान बन गयी थी ॥११९॥ जिन्हें बहुत प्यास लगी है तथा जो वमधु अर्थात् सूँड़से निकाले हुए जलके छींटोंसे अपना परिश्रम प्रकट कर रहे हैं ऐसे हाथियोंको महावत लोग पानी पिलानेके लिए तालाबोंपर ले गये थे ॥१२०॥ जो धीरे-धीरे चलनेसे मार्गमें उत्पन्न हुए परिश्रमको प्रकट कर रहे हैं ऐसे हाथियोंको महावत

१ पत्थयनस्रलीनादिपरिकराः । २ आघ्रापयन्ति स्म ३ विवर्तयितुमिच्छन्तः । ४-कीर्ण ल० । ५ कम्पयन्ति स्म । ६ -निलोद्धृतः ल० । ७ अयं तु ल० । ८ कुसुमरजोवतीम्, ऋतुमतीमिति ध्वनिः । ९ दृष्ट्वा ल०; द० । १० जलानीत्यर्थः । ११ प्रमाणम् । 'वर्णं देहप्रमाणयोः' इत्यभिधानात् । १२ गजैरेव । १३ स्वकर्तृभत्याकारेण पर्यन्तप्रसारितैः । १४ तृषितान् । 'उदन्मा तु पिपासा तृट्' इत्यभिधानात् । १५ करणी-करप्रकटित । 'वमधुः करणीकरः' इत्यभिधानात् । १६ हस्त्यारोहाः । 'हस्त्यारोहा निषादिनः' इत्यमरः । १७ मन्दगमनेन । स्थलदगमनेन वा । अगमनेनेत्यर्थः । 'अल्पे जीर्णमहत्युच्चैः' । १८ अवगाहनार्थम् ।

प्रवेष्टुमर्जितोपचच्छन्नं नागो नवग्रहः । नैच्छत् प्रचोद्यमानोऽपि वारि वारी^१ विशङ्कया ॥१२२॥
 वनं विलोकयन् स्वैरं कवलोलितपङ्कजम् । गजदिवरगृहीतोऽपि किमप्यासीत् समुत्सुकः ॥१२३॥
 स्वैरं न पपुरम्मांसि नागृहन् कवलानपि । केवलं वनसंभोगसुखानां^२ लसत्सर्गजाः ॥१२४॥
 उत्पुष्करान् स्फुरद्गङ्गा^३ कक्ष्याक्षिन्युद्विषान् सरः । सशयूनिव^४ नीलाङ्गीन् सविद्युत इवाम्बुदान् ॥१२५॥
 वनद्विपमदामोदवाहिने गन्धवाहिने^५ । अजः कुण्डलोपास्तं निन्ये कृष्णाक्षिपादिना ॥१२६॥
 अकस्मात् कुपितो दन्ती शिरस्तिर्यग्बिभूषयन् । अनकुशवशा^६ र्वावमाधोरणमखेदयत् ॥१२७॥
 वन्यामेकपसंभोगसंक्रान्तमदवासनाम् । विलोढुं सरसीं नैच्छन्मदेमः करिणामिव ॥१२८॥
 पीतं^७ वनजिह्वैः पूर्यमानं^८ अक्षयिनीं^९ विलोकाय संजिघ्रन्^{१०} नापादास्फालयत् परम् ॥१२९॥
 पीताम्भसो मदसारैर्वृद्धिं निन्युः सरोजलम् । गजा मुधा धनादानं नूनं वाञ्छन्ति सौमताः ॥१३०॥
 उत्पुष्करं सरोमध्वे निमग्नोऽपि मदद्विषः । रंरणद्भिः^{११} खमुत्पत्य व्यउत्थते स्म मधुमत्तैः ॥१३१॥
 पीताम्बुरम्बुदस्पृधिं वृद्धितो मदकुंजरः । बुधाव^{१२} गणकगङ्गायां^{१३} चण्डगणकूपवारिभिः ॥१३२॥

लोग नहलानेके लिए तालाबोंपर ले गये थे ॥१२१॥ कोई नवीन पकड़ा हुआ हाथी बार-बार प्रेरित होनेपर भी कमलिनीके पत्तोंसे ढके हुए जलमें समुद्रकी आशंकामे प्रवेश नहीं करना चाहता था ॥१२२॥ बहुत दिनका पकड़ा हुआ भी कोई हाथी अपने इच्छानुसार खाने योग्य नवीन पत्तोंवाले वनको देखता हुआ विलक्षण रीतिसे उत्कण्ठित हो रहा था ॥१२३॥ कितने ही हाथियोंने इच्छानुसार न तो पानी ही पिया था और न घास ही उठाये थे, वे केवल वनके सम्भोगसे उत्पन्न सुखोंका स्मरण कर रहे थे ॥१२४॥ जिनकी सूँड़ ऊँची उठी हुई है और जिनकी बगलमें सुवर्णकी मालाएँ देदीप्यमान हो रही हैं ऐसे हाथियोंको महावत लोग सरोवरोंपर ले जा रहे थे, उस समय वे हाथी ऐसे जान पड़ते थे मानो अजगरसहित नील पर्वत ही हो अथवा बिजलीसहित मेघ ही हों ॥१२५॥ जो जंगली हाथीके मदकी गन्धको धारण करनेवाले वायुसे कुपित हो रहा है ऐसे किसी हाथीको उसका महावत बड़ी कठिनाईसे जलके समीप ले जा सका था ॥१२६॥ अचानक कुपित हुआ कोई हाथी अपने शिरको तिरछा हिला रहा था, वह अंकुशके वश भी नहीं होता था और महावतको खेदविषय कर रहा था ॥१२७॥ जंगली हाथीके सम्भोगसे जिसमें मदकी वास फैल रही है ऐसी हथिनीको जिस प्रकार कोई मदोन्मत्त हाथी नहीं चाहता है उसी प्रकार जिसमें जंगली हाथियोंकी क्रीड़ासे मदकी गन्ध मिली हुई है ऐसी सरोवरीमें कोई मदोन्मत्त हाथी प्रवेश नहीं करना चाहता था ॥१२८॥ जिस पानीको पहले वनके हाथी पी चुके थे और इसीलिए जो मदकी गन्धसे भरा हुआ था ऐसे पानीको सेनाके हाथियोंने नहीं पिया था, वे केवल सूँड़से सूँघ-सूँघकर उसे उछाल रहे थे ॥१२९॥ जिन हाथियोंने तालाबका पानी पिया था उन्होंने अपना मद बहा-बहाकर तालाबका वह पानी बहा दिया था, सो ठीक ही है क्योंकि जो उन्नत अर्थात् बड़े होते हैं वे किसीका व्यर्थ ही धन लेनेकी इच्छा नहीं करते हैं ॥१३०॥ कोई मदोन्मत्त हाथी यद्यपि सूँड़ ऊपर उठाकर तालाबके मध्यभागमें डूबा हुआ था तथापि आकाशमें उड़कर शब्द करते हुए अमरोंसे 'वह यहाँ है', इस प्रकार साफ समझ पड़ता था । ॥१३१॥ जो पानी पी चुका है और जिसकी गर्जना मेघोंके साथ स्पर्धा कर रही है ऐसा कोई मदोन्मत्त हाथी अपने कुरलेके जलकी तेज फटकारसे कपोलोंकी खुजली शान्त कर रहा था

१ नवो नूतनो ग्रहः स्वीकारो यस्य सः । २ गजबन्धनहेतुभूतगतिशङ्कया । 'वारी तु गजबन्धनी' इत्यभिधानात् । ३ वनस्य संभोगाज्जातसुखानाम् । ४ उद्गतहस्ताग्रान् । ५ सुवर्णमयसवरान् । 'दूष्या कक्ष्या वरत्रा स्वात्' इत्यभिधानात् । ६ अजगरसहितान् । ७ अनिलाय । ८ विगाढं ल०, द० । ९ आद्यापयन् । १० न विवर्ति स्म । ११ भृशं गुञ्जद्भिः । १२ अपनयति स्म । १३ कपोलकण्डूयनम् ।

विमुक्तं व्यक्तसूक्तं करमुत्क्षिप्य धारणैः । वारि स्फटिकदण्डस्य लक्ष्मीमूहं लभुष्वलत् ॥१३३॥
 उदगाहैर्विनिर्धूतश्रमाः कंचिन्मत्तज्जजाः । विसमङ्गै रधुस्फुप्ति हलया कवलीकृतैः ॥१३४॥
 मृणालैरधिदन्ताग्रमर्पितैर्विबभुर्गजाः । अजस्रमधुसंसेकाद् रवैः ॥१३५॥
 प्रमाद्यन् हिरदः कश्चिन्मृणालं स्वकरोदधृतम् । ददावाला न क्षुध्यैव नियन्त्रे द्विगुणीकृतम् ॥१३६॥
 चरणालग्नमाकर्षन् मृणालं मालिका गजः । बहिःसरस्तटे ॥१३७॥ व्यादधन्मुत्तमस्तुकशङ्कया ॥१३८॥
 करैरुत्क्षिप्य पद्मानि स्थिताः स्तम्भैरमा बभुः । देवतानुस्मृतिं किञ्चित् कुर्वन्तोऽधोरिबोद्धृतैः ॥१३९॥
 सरस्तरङ्गधौताङ्गा रेजुस्तुङ्गा मतङ्गजाः । शृङ्गारिता इवालयनैः सान्द्रैरम्मोजरेणुभिः ॥१४०॥
 यधुः करिभिरारुद्धं परिहृत्य ॥१४१॥ सरोजलम् । पतत्रिणः सरस्तीरं तद्युक्तमवलीयसाम् ॥१४२॥
 सरोवगाहनिर्गन्तुमर्तव्योऽपि ॥१४३॥ मतङ्गजाः । ॥१४४॥ रजःप्रमाथैरात्मानं शङ्कुरेव मलीभसम् ॥१४५॥
 वयं जात्यैव मातङ्गा ॥१४६॥ मदेनोदीपिताः पुनः । कुतस्त्वा शुद्धिरस्माकमित्यात्तं नु ॥१४७॥ रजो गजैः ॥१४८॥

वसन्तसिलकाधृतम्

इत्थं सरस्सु रुचिरं प्रविहृत्य नागाः संतापमन्त ॥१४९॥ रुदितं प्रशमय्य तोयैः ।

तीरं मानुषयुः किमपि प्रतोषाद् बन्धं तु तत्र नियतं न विदांबभूषुः ॥१५०॥

॥१३२॥ कितने ही हाथी सूँड़ ऊँची उठाकर सू सू शब्द करते हुए ऊपरको पानी छोड़ रहे थे, उस समय आकाशकी ओर उछलता हुआ वह पानी ठीक स्फटिक मणिके बने हुए दण्डेकी शोभा धारण कर रहा था ॥१३३॥ पानीमें प्रवेश करनेसे जिनका सब परिश्रम दूर हो गया है ऐसे कितने ही हाथी लीलापूर्वक मृणालके टुकड़े खाकर सन्तोष धारण कर रहे थे ॥१३४॥ कितने ही हाथी अपने दाँतोंके अग्रभागपर रखे हुए मृणालोंसे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो निरन्तर पानीके सींचनेसे उनके दाँत ही अंकुरित हो उठे हों ॥१३५॥ मदसे अत्यन्त उन्मत्त हुआ कोई हाथी अपनी सूँड़से ऊपर उठाये हुए मृणालको बाँधनेकी साँकल समझकर उसे दोहरी कर महावतको दे रहा था ॥१३६॥ अपने पैरमें लगे हुए मृणालको खींचता हुआ कोई भीरु हाथी उसे बाँधनेकी साँकल समझकर तालाबके बाहरी तटपर ही खड़ा रह गया था ॥१३७॥ अपनी सूँड़ोंसे कमलोंको उठाकर खड़े हुए हाथी ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो हाथोंमें अर्घ लेकर किसी देवताका कुछ स्मरण ही कर रहे हों ॥१३८॥ जिनके शरीर तालाबकी लहरीसे धुल गये हैं ऐसे ऊँचे-ऊँचे हाथी सघन रूपसे लगे हुए कमलोंकी परागसे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो स्नान कराकर उनका शृंगार ही किया गया हो ॥१३९॥ हाथियोंसे घिरे हुए तालाबके जलको छोड़कर सब पक्षी तालाबके किनारेपर चले गये थे सो ठीक ही है क्योंकि निर्बल प्राणियोंको ऐसा ही करना योग्य है ॥१४०॥ तालाबोंमें प्रवेश करनेसे जिनके शरीर निर्मल हो गये हैं ऐसे कितने ही हाथी धूल उड़ाकर फिरसे अपने-आपको मैला कर रहे थे ॥१४१॥ प्रथम तो हम लोग जातिसे ही मातंग अर्थात् चाण्डाल हैं (पक्षमें-हाथी हैं) और फिर मद अर्थात् मदिरासे (पक्षमें-गण्डस्थलसे बहते हुए तरल पदार्थसे) उत्तेजित हो रहे हैं इसलिए हम लोगोंकी शुद्धि अर्थात् पवित्रता (पक्षमें-निर्मलता) कहाँसे रह सकती है ऐसा समझकर ही मानो हाथियोंने अपने ऊपर धूल डाल ली थी ॥१४२॥ इस प्रकार वे हाथी बहुत देर तक सरोवरोंमें क्रीड़ा कर और अन्तरंगमें उत्पन्न हुए सन्तापको जलसे शान्त कर किनारेके वृक्षों-

१ लभुष्वलत् ल०, द०, ह०, अ०, प०, स० । २ जलावगाहैः । ३ मृणालखण्डैः । ४ घृतवन्तः । ५ दन्तैः ल०, द० । ६ संजातप्रारोहैः, अङ्कुरितैः । ७ बन्धनरज्जुः । ८ आरोहकाय । ९ सरस्तीबाह्यप्रदेशे । १० प्रक्षिपति स्म । 'अधु क्षेपणे' । ११ शृङ्गालसूत्र । 'अथ शृङ्गले' । 'अन्दुको निगलोऽस्त्री स्याद्' इत्यभिधानात् । १२ त्यक्त्वा । १३ शुद्ध । १४ धूलिप्रक्षेपैः । १५ स्वपचाः इति अग्निः । १६ इव । १७ अभ्यन्तरोद-भूतम् । १८ न विदन्ति स्म ।

हृत्वा सरोजम् करिष्यो निजदानवारि संवर्धितं^१ विनिमयादनृणाश्च^२ सन्तः ।
 तद्वाचिहस्तजनितप्रतिरोधशङ्का व्यासंगिनो नु सरसः प्रसमं निरीयुः ॥१४४॥
 आधोरणा मदमयीमलिनान् करीन्द्रान् निर्णेकु^३मम्बु सरसामयगाहयन्तः ।
 शंकुर्न केवलमपासुपथःगमात्रं तीरस्थिताननु नयैस्तद्वीकरन्तः^४ ॥१४५॥
 रवैरं नवाभ्युपरिपीतमथजलभ्यर्तारदुमेषु न कृतः कवलग्रहोऽपि ।
 छायास्त्रलम्भि न^५ तु विश्रमणं प्रभिक्षैः^६ स्तम्भेरमैवंत मदः खलु नात्मनानः^७ ॥१४६॥
 नाध्वा द्रुतं गुस्तरैरपि नातिघातो^८ युद्धेषु जातु न किमप्यपराद्धमभिः ।
 मारुताश्चाश्च कणिः सविशेषमेव बलात्प्रधाप्यनिभृता^९ इति दिक्चलत्सम् ॥१४७॥
 बन्धनाथ^{१०} नः किमिति हस्त बिनापराधाज् जार्जित^{११} भोः^{१२} प्रतिफलत्यचिरादिदं वः ।
 इत्युच्चलत्सुणि^{१३} विभूय शिरसि बन्धे वैरं नु यन्मृषु गजाः स्म विभावयन्ति ॥१४८॥
 आघातुको^{१४} द्विरदिनः सविशेषमेव गात्रापराण्त्करे^{१५} बालधिरु न्धयोजि ।
 बन्धेन सिन्धुरवरास्थितरे^{१६} तथा नो गाढीभवत्यविस्ताप्त^{१७} परत्र^{१८} बन्धः ॥१४९॥

के समीप आ गये थे, यद्यपि वहाँ उनके बाँधनेका स्थान नियत था तथापि क्रीड़ासे उत्पन्न हुए अतिशय सन्तोषसे उन्हें उसका कुछ भी ज्ञान नहीं था ॥१४३॥ हाथियोंने तालाबोंका जो पानी पिया था उसे मानो अपना बदला चुकानेके लिए ही अपने मदरूपी जलसे बढ़ा दिया था, इस प्रकार प्यासरहित हो सुखकी साँस लेते हुए वे हाथी, 'ये तालाब अपनी लहरेंरूपी हाथोंसे वहाँ हमें रोक न ले' ऐसी आशंका कर तालाबोंसे शीघ्र ही बाहर निकल आये थे ॥१४४॥ मदरूपी स्याहीसे मलिन हुए हाथियोंको निर्मल करनेके लिए तालाबोंके जलमें प्रवेश कराते हुए महावत जब उन्हें जलके भीतर प्रविष्ट नहीं करा सके तब उन्होंने केवल जल ही पिलाना चाहा परन्तु बहुत कुछ अनुनय-विनय करनेपर भी वे किनारेपर खड़े हुए उन हाथियोंको केवल जल भी पिलानेके लिए समर्थ नहीं हो सके थे । भावार्थ — मदोन्मत्त हाथी न तो पानीमें ही घुसे थे और न उन्होंने पानी ही पिया था ॥१४५॥ मदोन्मत्त हाथियोंने न तो अपने इच्छा-नुसार बिना यत्नके प्राप्त हुआ पानी ही पिया था, न किनारेके वृक्षोंसे कुछ तोड़कर खाया ही था और न वृक्षोंकी छायामें कुछ विश्वास ही प्राप्त किया था, खेद है कि यह मद कभी भी आत्माका भला करनेवाला नहीं है ॥१४६॥ इन हाथियोंने शरीर भारी होनेसे शीघ्र ही मार्ग तय नहीं किया यह बात नहीं है अर्थात् इन्होंने भारी होनेपर भी शीघ्र ही मार्ग तय किया है, इन्होंने युद्धमें भी कभी अपराध नहीं किया है और ये भार ढोनेके लिए भी सबसे अधिक समर्थ हैं फिर भी केवल चंचल होनेसे इन्हें बद्ध होना पड़ा है इसलिए इस चंचलताको ही धिक्कार हो ॥१४७॥ तुम लोग इस प्रकार बिना अपराधके हम लोगोंको क्यों बाँध रहे हो ? तुम्हारा यह कार्य तुम्हें शीघ्र ही इसका बदला देगा यह तुम खूब समझ लो इस प्रकार बाँधनेके कारण महावतोंमें जो वैर था उसे वे हाथी अंकुशको ऊपर उछालकर मस्तक हिलाते हुए स्पष्ट रूपसे जतला रहे थे ॥१४८॥ जो हाथी जीवोंका घात करनेवाले थे वे शरीरके आगे पीछे तथा मुँड़ और पूँछ आदि

१ नैमेयात् । 'परिदानं परोवर्तं नैमेयनियमावपि' इत्यभिधानात् । २-दनुषाः स्वसन्तः ल० ।-दनुषाः स्वसन्तः द० । ३ शूडान् कर्तुम् । ४ तीरे स्थितान्-ल० । ५ कारयन्ति स्म । ६ नैव । ७ ममैः । 'अभिघ्नो गजितो मत्तः' इत्यभिधानात् । ८ आत्महितम् । ९ नानुयातो प०, ल० । १० चञ्चलाः । ११ बन्धनं कुक्षम् । १२ लोत् । १३ भोः यूयम् । १४ उच्चलदंकुशं यथा भवति तथा । 'अंकुशोज्ज्वली सृणिः स्त्रियाम्' इत्यभिधानात् । १५ हिंसकः । 'शरावर्षातुको हिंसः' इत्यभिधानात् । १६ अपरगावान्त । शरीरापरभाग । 'द्वौ पूर्वपदवाद्-जङ्गादिदेशौ गात्रापरं क्रमात्' इति रभसः । गात्रे इत्युक्ते पूर्वजङ्गा, अपरे इत्युक्ते हस्तिनः अपरजङ्गा, अन्त इत्युक्ते हस्तिनो मध्यप्रदेशः, कर इत्युक्ते हस्तिनो हस्तः, बालधिरित्युक्ते पुच्छविशेषः शरीरमध्य । १७ अघातुकाः । १८ असंयतात् । अवतिकादित्यर्थः । १९ संयते ।

आलानिता वनतरुश्वतिमात्रमुच्चस्कन्धेषु सिन्धुरवराश्च तथोच्चैर्यत् ।
 तश्चूनमाश्रयणमिष्टमुदात्तमेव संधारणाय महतामहतात्मसारम् ॥१५०॥
 इत्थं नियन्तुमिरनेकपटुन्दमुच्चैरालानितं तरुषु यामि^१ निमीलितक्षम् ।
 तस्थौ मुखं विचतुरेण^२ कृताङ्गहारं^३ लीलोपयुक्तकवलं स्फुटकर्णतालम् ॥१५१॥
 उत्तारितारिलपरिच्छदलाघवेन प्रव्यञ्जितद्रुतगतिकं मलक्ष्यवेगाः ।
 आपातुमम्बुसरसां परितः प्रसक्तुच्छुद्धलै^४ रनुगताः कलमैः करिण्यः ॥१५२॥
 प्राक्पीतमम्बु सरसां^५ कृतमौष्टकेण^६ स्वोद्गालं^७ दूषितमुपात्ततदङ्गगन्धम्^८ ।
 नापातुमैच्छदुद्दिग्य^९ पितोऽपि चर्कः^{१०} सर्वो हि वान्छति जनो विषयं मनोजम् ॥१५३॥
 पीतं पुरा गजतया सलिलं मदाम्बु संवासितं सरसिजाकरमेव तूर्णम् ।
 प्रीत्या पपुः कलभकाश्च करेणवश्च संभोगहेतुर्दितो^{११} हि सगन्धो^{१२} भावः ॥१५४॥

प्रहर्षिणी

पीत्वाऽम्बो व्यपगमितान्तरङ्गतापाः संतापं बहिरुदितं सरोवगाहैः ।
 नीत्वास्तं^{१३} गजकलभैः समं करिण्यः संभोजतु सपदि वनद्रुमान् विचरेः ॥१५५॥

सब जगह बन्धनोसे युक्त किये गये थे और जो हाथी किसीका घात नहीं करते थे वे बन्धनसे युक्त नहीं किये गये थे इससे प्रहर्षित होता है कि जो अविरत अर्थात् हिंसा आदि पापोंके त्यागसे रहित हैं उन्हींके कर्मबन्धन सुदृढ़ रूपसे होता है और जो विरत अर्थात् हिंसा आदि पापोंके त्यागसे सहित हैं उनके कर्मका बन्ध नहीं होता ॥१४९॥ जिनके स्कन्ध बहुत ऊँचे गये हैं ऐसे वनके वृक्षोंमें ही सेनाके ऊँचे-ऊँचे हाथी बाँधे गये थे सो ठीक ही है क्योंकि महा-पुरुषोंको धारण करनेके लिए जिसकी स्वशक्ति नष्ट नहीं हुई है ऐसा बहुत बड़ा ही आश्रय चाहिए ॥१५०॥ इस प्रकार महावतोंके द्वारा ऊँचे वृक्षोंमें बाँधा हुआ वह हाथियोंका समूह अपनी आधी आँखें बन्द किये हुए सुखसे खड़ा था, उस समय वह अपना सब शरीर हिला रहा था, लीलापूर्वक ग्रास ले रहा था और कान फड़फड़ा रहा था ॥१५१॥ पलान आदि सब सामान उतार लेनेसे हलकी होकर जिन्होंने जल्दी-जल्दी चलकर अपनी शीघ्र गति प्रकट की है, तथा चंचल बच्चे जिनके पीछे-पीछे आ रहे हैं ऐसी हथिनियाँ तालाबोंका पानी पीनेके लिए चारों ओर-से जा रही थीं ॥१५२॥ तालाबोंके जिस पानीको पहले ऊँटोंके समूह पी चुके थे, जो ऊँटोंके उगालसे दूषित हो गया था और जिसमें ऊँटोंके शरीरकी गन्ध आने लगी थी ऐसे पानीको हाथीका बच्चा प्यासा होनेपर भी नहीं पीना चाहता था, सो ठीक ही है क्योंकि सभी कोई अपने मनके विषयभूत पदार्थके अच्छे होनेकी चाह रखते हैं ॥१५३॥ जिसे पहले हाथियोंके समूह पी चुके थे और जिसमें उनके मद जलकी गन्ध आ रही है ऐसे पानीको हथिनियाँ तथा उनके बच्चे बहुत शी तालाबपर जाकर बड़े प्रेमसे पी रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि समानता ही साथ-साथ खाने-पीने आदि सम्भोगका कारण होती है ॥१५४॥ जिन्होंने जल पीकर अन्तरंगका सन्ताप दूर किया है और तालाबमें घुसकर बाहरी सन्ताप नष्ट किया है ऐसी हथिनियाँ अपने

१ आधोरणैः । २ यस्मात् कारणात् । ३ अर्थः । ४ विदूष्यानि विगतानि चरवारि यस्य तेन । ५ अङ्गविक्षेपम् । ६ पादः । ७ स्वच्छन्दवृत्तिभिः । ८ सम्पूर्णम् । ९ उष्ट्रसमूहेण । १० निजोद्गारः । ११ उष्ट्रशरीरगन्धम् । १२ भृशं दूषितः । १३ तरुणगजः । विषयः अ० । १४ उक्तः । १५ परिमलत्वं मित्रत्वं च । १६ नाशम् ।

वल्लीनां सकुसुमपल्लवाग्रमङ्गान् गुह्यमौघानपि सरसां कङ्करोर्यम् ।
 सुस्वाङ्गान् मृदुविट्पान् वनदुर्माणां तथूथं कवल्लयति स्म धेनुकानाम् ॥१५६॥
 कुञ्जेषु प्रतनुत्पुण्ड्रान् प्रभृद्वनं वप्रास्तानपि रवनैः शनैर्विनिघ्नन् ।
 वल्लभमग्रसनचणः फलेग्रहिः सन् श्यालोलः कलमगणधिरं विजह्ये ॥१५७॥
 प्रत्यग्राः किसलयिनीर्गृहाण शाखा भङ्ग्युच्चैर्वनगाहनं निर्षीद कुञ्जे ।
 संभोग्यानुपसरसलकीधनान्तानिषेवं व्यहृत वने करेणुवर्गः ॥१५८॥
 संभोगैर्वनमिति निर्विशन् यथेष्टं स्वातन्त्र्यान्मुहुरपि धूर्गतैर्निबद्धः ।
 बह्वयः सहकलमः करेणुवर्गः संप्रापत् समुचितमात्मनो निवेशम् ॥१५९॥
 विश्रस्तैरपथमुपाहृतस्तुरंगैः पर्यस्तो रथ इह भग्नधूर्तिरक्षः ।
 एतास्ता हृतमपयाम्यपेक्ष्य मार्गाद् वारस्त्रीवहनपराश्च वेगसर्गः ॥१६०॥
 विग्रस्तः करमनिरीक्षणाद् गजोऽयं भीरुत्वं प्रकटयति प्रधावमानः ।
 उग्रस्तारपतति च वेसरादमुष्माद् विश्रस्तस्तनजघनांशुका पुरन्धी ॥१६१॥
 इत्युच्चैर्व्यतिवृतां पृथग्जनानां संजल्पैः क्षुभितखरोद्रकौक्षकैश्च ।
 व्याक्रोशीर्जनितरवैश्च सैनिकानां संक्षोभः क्षणममवचमूषु राज्ञाम् ॥१६२॥

बच्चोंके साथ खानेके लिए शीघ्र ही वनके वृक्षोंकी ओर चली गयीं ॥१५५॥ वह हथिनियोंका समूह लताओंके पुष्पसहित नवीन पत्तोंके अग्रभागोंको, छोटे-छोटे पौधोंको, रसीले कडंगरि वृक्षोंको और वनके वृक्षोंकी स्वादिष्ट तथा कोमल शाखाओंको खा रहा था ॥१५६॥ लता-गृहोंमें पतली घासके अंकुरोंको खूदता हुआ खेतोंकी मेड़को अपने दाँतोंसे धीरे-धीरे तोड़ता हुआ, लताओंके अग्रभागके खानेमें चतुर तथा फलोंको तोड़ता हुआ वह चंचल हाथियोंके बच्चोंका समूह चिरकाल तक क्रीड़ा करता रहा था ॥१५७॥ पत्तेवाली नवीन लताओंको ग्रहण कर, ऊँची-ऊँची शाखाओंसे युक्त सघन वनमें जा, लतागृहमें बैठ और खानेके योग्य सल्लकी वनोंके समीप जा इस प्रकार महावतोंकी आज्ञासे वह हथिनियोंका समूह वनमें इधर-उधर विहार कर रहा था ॥१५८॥ इस प्रकार जो अनेक प्रकारकी क्रीड़ाओंके द्वारा वनका अपनी इच्छा-नुसार उपभोग कर रहा है, स्वतन्त्रतापूर्वक आगे चलनेसे महावत लोग जिसे रोक रहे हैं और जो बाँधनेके योग्य हैं ऐसा वह हथिनियोंका समूह बच्चोंके साथ अपने ठहरने योग्य स्थानपर जा पहुँचा ॥१५९॥ इधर हाथियोंसे डरे हुए इन घोड़ोंने यह रथ कुमार्गमें ले जाकर पटक दिया है, इसका धुरा और भौंरा टूट गया है तथा वेश्याओंको ले जानेमें तत्पर ये खच्चरियाँ अपना मार्ग छोड़कर बहुत शीघ्र भागी जा रही हैं ॥१६०॥ इधर यह ऊँट देखनेसे डरा हुआ हाथी दौड़ा जा रहा है और उससे अपना भीरुपणा प्रकट कर रहा है तथा इधर जिसके स्तन और जघन-परका वस्त्र खिसक गया है ऐसी यह स्त्री डरे हुए खच्चरसे गिर रही है ॥१६१॥ इस प्रकार जोर-जोरसे बोलते हुए साधारण पुरुषोंकी बातचीतके शब्दोंसे, क्षोभको प्राप्त हुए गधे, ऊँट तथा बैलोंके शब्दोंसे और परस्पर बुलानेसे उत्पन्न हुए सैनिकोंके कठोर शब्दोंसे राजाओंकी

१ वृसानि । 'कङ्कङ्गरो वृसं वलीवे' इत्यभिधानात् । २ करिणीनाम् । 'करिणी धेनुका वशा' इत्यमरः ।
 मुरभीणाम् । ३ कोमल । ४ मर्दयन् । ५ सान्त्वन्तान् । 'स्तुर्वप्रः सानुरस्त्रियाम्' इत्यमरः । ६ भक्षणसमर्थः ।
 ७ कलानि गृह्णन् । ८ भङ्गं कुरु । ९ आस्व । १० सादिजनानुनयः । ११ विहाति स्म । १२ अनुभवन् ।
 १३ सादिभिः । १४ निषिद्धः । १५ उत्तानं यथा पतितः । १६ भग्नयानमुखः । १७ निर्गतावयवः ।
 १८ वेसराः । १९ भयं गतः । २० चकितात् । २१ परस्परभाषमाणानाम् । २२ वृषभैः । २३ परस्पराल्लयैः ।

मालिनी

अवनिपतिग्ममाजेनानुयासस्तुरंगैरकृशन्निभययोगास्त्रिजयन् लोकपालान् ।

प्रतिदिनमुपशृण्वन्नाशिवश्चक्रपाणिः शिविरमन्त्रिणदुर्लभैर्वाग्निनां पुण्यधोषैः ॥ १६३ ॥

अथ सरसिजिर्नानां गन्धमादाय सान्द्रं धृततट्वनवीथिमन्दभावान् समन्तात् ।

अथमखिलमनोऽप्यसौ कर्तुमस्थोपचारं प्रहित इव अथमन्तरा^३ दिसि स्यात्काले^४ आरभ्यमानः। तदा^५ हे भगवन्प्रणमः ॥ २७ ॥ १०८९-११००

अविदितपरिमाणैरन्वितो रत्नशङ्खः^१ स्फुरितमणिशिखामैर्भोगिभिः^२ सेवनीयः ।

मल्लनमुपचितः^७ रुद्रदिवचक्रवालो जलनिधिः^८ तस्य सेनानिवेशः ॥ १६॥

शार्दूलविक्रीडितम्

तत्रावासितसाधनो^१ निधिपतिर्गत्वा रथेनाभ्युधि जैत्राक्षप्रणितजितामरसमस्तं व्यन्तरावीश्वरम् ।

जिह्वा मागृह्यन् क्षणाद्वरत्तुं तत्साम्यमभ्योनिधेर्दीपं शशदलचक्रं यदासा कल्याणस्त्वयिना ॥ १६६ ॥

लेभेऽमेयमुरद्वदं धरतनोर्ध्वेयकं च स्फुरन्नुदारकमुदंशु दिव्यकटकान् सूत्रं च रत्नोज्ज्वलम् ।

सद्रक्षैरिति पूजितः न्य भगवान्^६ श्रवैज्यस्तार्णव-द्वारं प्रतिसंनिवृत्त्य कटकं प्राविशदुसोरणम् ॥ १६७ ॥

सेनाओंमें क्षण-भरके लिए बड़ा भारी क्षोभ उत्पन्न हो गया था ॥१६२॥ चोड़ीपर बैठे हुए अनेक राजाओंका समूह जिसके पीछे-पीछे चल रहा है ऐसा वह चक्रवर्ती अपने बड़े भारी वैभवसे लोकपालोंको जीतता हुआ तथा प्रत्येक दिशासे बन्दीजनोंके मंगल गानोंके साथ-साथ आशीर्वाद सुनता हुआ अपने उच्च शिविरमें प्रविष्ट हुआ ॥१६३॥

अथानन्तर जो किनारेके बनकी पंक्तियोंको हिला रहा है ऐसा वायु कमलिनीयोंको उत्कट गन्ध लेकर धीरे-धीरे चारों ओर बह रहा था और समुद्रके द्वारा भेजे हुए किसी खास सम्बन्धीके समान चक्रवर्तीके समस्त परिश्रमको दूर कर रहा था ॥१६४॥ उस समय वह चक्रवर्तीकी सेनाका स्थान (पड़ाव) ठीक समुद्रका अनुकरण कर रहा था क्योंकि जिस प्रकार समुद्र प्रमाणरहित शंख और रत्नोंसे सहित होता है उसी प्रकार वह चक्रवर्तीकी सेनाका स्थान भी प्रमाणरहित शंख आदि निधियों तथा रत्नोंसे सहित था, जिस प्रकार समुद्र, जिनके मस्तक-पर अनेक रत्न देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसे भोगी अर्थात् सर्पोंसे सेवनीय होता है उसी प्रकार वह चक्रवर्तीकी सेनाका स्थान भी, जिनके मस्तकपर अनेक मणि देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसे भोगी अर्थात् राजाओंके द्वारा सेवनीय था, जिस प्रकार समुद्र निरन्तर बढ़ता रहता है उसी प्रकार वह चक्रवर्तीकी सेनाका स्थान भी निरन्तर बढ़ता जाता था, और जिस प्रकार समुद्र सब दिशाओंको घेरे रहता है उसी प्रकार वह चक्रवर्तीकी सेनाका स्थान भी सब दिशाओंको घेरे हुए था ॥१६५॥ जिसने अपनी सेना समुद्रके किनारे ठहरा दी है और जिसने अपने विजय-शील शस्त्रोंसे मागध देवकी सभाको जीत लिया है ऐसे निधियोंके स्वामी चक्रवर्तीने रथके द्वारा समुद्रमें जाकर मागध देवके समान व्यन्तरीके स्वामी वरतनु देवको भी जीता और समुद्रके भीतर रहनेवाले उसके वरतनु नामक द्वीपको कल्पान्त काल तक स्थिर रहनेवाले अपने यशसे सदाके लिए अलंकृत कर दिया ॥१६६॥ भरतने वरतनु देवसे कभी न टूटनेवाला कवच, देदीप्यमान हार, चमकता हुआ चूड़ारत्न, दिव्य कड़े और रत्नोंसे प्रकाशमान यज्ञोपवीत इतनी वस्तुएँ प्राप्त कीं । तदनन्तर उत्तम रत्नोंसे जिसकी पूजा की गयी है ऐसे ऐश्वर्यशाली

१ आगच्छन् । २ अपनयति स्म । ३ बन्धुः । ४ समुद्रेण । ५ चक्रादिरत्नशङ्खनिधिभिः । पक्षे मोक्तिकादि-
रत्नशङ्खैः । ६ पक्षे सर्पः । ७ बद्धितस्वरूपः । ८ अनुकरोति स्म । ९ निवासितबलः । १० पूज्यः ।

स्वच्छं हृदयं स्फुटं प्रकटयन्मुक्ताफलकृत्प्रजा स्वं चान्तर्गतरागमाधु कथयन्मुक्ताप्रवालाक्षुरः ।
सर्वस्वं च समर्पयन्मुपनयन्तर्बणं^१ दक्षिणो वारां राशिरमाप्यषट्त्रिभुमखा^२ निर्व्याजमाराधयत् ॥१६८॥
आस्थाने^३ जयदुन्दुभिर्भानु नदन्^४ प्राभातिके मङ्गले गम्भीरध्वनिर्मज्ज्यध्वनिमिव द्रस्पष्टमुच्चारयत् ।
सुव्यक्तं न जलाशयोऽप्यजल^५ धीर्यारंपतिः धीपतिं निर्भुज्यैस्थितिरिविद्याय सुचिरं सको यथाद्यं जिनम्

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहे
दक्षिणार्णवद्वारविजयवर्णनं नामैकोनविंश पर्व ॥२६॥



भरतने वैजयन्त नामक समुद्रके द्वारसे वापस लौटकर अनेक प्रकारके तोरणोंसे सुशोभित किये गये अपने शिबिरमें प्रवेश किया ॥१६७॥ उस समय वह दक्षिण दिशाका लवणसमुद्र ठीक मन्त्रीकी तरह छलरहित हो भरतकी सेवा कर रहा था, क्योंकि जिस प्रकार मन्त्री अपने स्वच्छ हृदयको प्रकट करता है उसी प्रकार वह समुद्र भी मोतियोंके छलसे अपने स्वच्छ हृदय (मध्यभाग) को प्रकट कर रहा था, जिस प्रकार मन्त्री अपने अन्तरंगका अनुराग (प्रेम) प्रकट करता है उसी प्रकार वह समुद्र भी उत्पन्न होते हुए मूंगाओंके अंकुरोंसे अपने अन्तरंगका अनुराग (लाल वर्ण) प्रकट कर रहा था, जिस प्रकार मन्त्री अपना सर्वस्व समर्पण कर देता है उसी प्रकार समुद्र भी अपना सर्वस्व (जल) समर्पण कर रहा था, जिस प्रकार मन्त्री अपना गुप्त धन उनके समीप रखता है उसी प्रकार वह समुद्र भी अपना गुप्त धन (मणि आदि) उनके समीप रख रहा था, जिस प्रकार मन्त्री दक्षिण (उदार सरल) होता है उसी प्रकार वह समुद्र भी दक्षिण (दक्षिणदिशावर्ती) था ॥१६८॥ अथवा जिस प्रकार इन्द्र दास होकर अनन्त चतुष्टयरूप लक्ष्मीके स्वामी प्रथम जिनेन्द्र भगवान् वृषभदेवकी सेवा करता था उसी प्रकार वह समुद्र भी दास होकर राज्यलक्ष्मीके अधिपति भरत चक्रधरकी सेवा कर रहा था, क्योंकि जिस प्रकार इन्द्र आस्थान अर्थात् समवसरण सभामें जाकर विजय-दुन्दुभि बजाता था उसी प्रकार वह समुद्र भी भरतके आस्थान अर्थात् सभामण्डपके समीप अपनी गर्जनासे विजय-दुन्दुभि बजा रहा था, जिस प्रकार इन्द्र प्रातःकालके समय पढ़े जानेवाले मंगल-पाठके लिए जय जय शब्दका उच्चारण करता था उसी प्रकार वह समुद्र भी प्रातःकालके समय पढ़े जानेवाले भरतके मंगल-पाठके लिए अपने गम्भीर शब्दोंसे जय जय शब्दका स्पष्ट उच्चारण कर रहा था, जिस प्रकार इन्द्र जलाशय (जडाशय) अर्थात् केवलज्ञानकी अपेक्षा अल्पज्ञानी होकर भी अपने ज्ञानकी अपेक्षा अजलधी (अजडधी) अर्थात् विद्वान् (अजडा धीर्यस्य सः) अथवा अजड (ज्ञानपूर्ण परमात्मा) का ध्यान करनेवाला (अजडं ध्यायतीत्यजडधीः) था उसी प्रकार वह समुद्र भी जलाशय अर्थात् जलयुक्त होकर भी अजलधी अर्थात् जल प्राप्त करनेकी इच्छासे (नास्ति जले धीर्यस्य सः) रहित था, इस प्रकार वह समुद्र चिरकाल तक भरतेश्वरकी सेवा करता रहा ॥१६९॥

इस प्रकार आर्ष नामके प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहके भाषानुवादमें दक्षिण समुद्रके द्वारके विजयका वर्णन करनेवाला
उनतीसवीं पर्व समाप्त हुआ ।



त्रिंशत्तमं पर्व

^१अथापरान्तं^२ निर्जेतुमुद्यतः^३ प्रभुरुग्रयौ । ^४दक्षिणापदिग्भागं वशीकृत्स्नं स्वयार्थैः ॥१॥

पुरः प्रयातसर्वायैरन्वक् प्रचलितं रथैः । मध्ये हस्तिवशा प्रायान् सर्वशैवात्र पश्यः ॥२॥

^५सर्वबलमित्यस्य चतुरङ्गं विभोवलम् । विद्याभूता वलः साहू पश्यैरङ्गविपश्य ॥३॥

प्रचलद्वलसंक्षोभादुच्चाल किलार्णवः । महतामनुवृत्तिं तु श्रावयन्ननुजीविताम् ॥४॥

बलैः प्रसङ्गं^{१०} निर्भुङ्गाः^{११} प्रहन्ति स्म^{१२} महीभुजः^{१३} सरितः कर्दमन्ति^{१४} स्म स्थलन्ति स्म महाद्वयः ॥५॥

सुरसाः^{१५} कृतनिर्वाणाः^{१६} स्पृहणीया वृषभुभिः^{१७} । महद्भिः सममुद्योगैः^{१८} फलन्ति^{१९} स्मास्य सिद्धयः^{२०} ॥६॥

अभेद्या दृढसंयानां^{२१} विपक्षजयं^{२२} हेनवः ।^{२३} शक्तयोऽस्य स्फुरन्ति स्म सेनाश्च विजिगीषुषु ॥७॥

फलेन^{२४} योजितास्तीक्ष्णाः सपक्षा^{२५} दूरगामिनः । नाराचैः^{२६} सममेतस्य योश्च जग्मुर्जथाकृतम् ॥८॥

अथानन्तर—पश्चिम दिशाको जीतनेके लिए उद्यत हुए चक्रवर्ती भरत अपनी सेनाके द्वारा दक्षिण और पश्चिम दिशाके मध्यभाग (नैऋत्य दिशा) को जीतते हुए निकले ॥१॥ उनकी सेनामें घोड़ोंके समूह सबसे आगे जा रहे थे, रथ सबसे पीछे चल रहे थे, हाथियोंका समूह बीचमें जा रहा था और प्यादे सभी जगह चल रहे थे ॥२॥ हाथी, घोड़े, रथ, प्यादे इस प्रकार चार तरहकी भरतकी सेना देव और विद्याधरोंकी सेनाके साथ-साथ चल रही थी । इस प्रकार वह सेना अपने छह अंगोंके द्वारा चारों ओर विस्तार पा रही थी ॥३॥ उस चलती हुई सेनाके क्षोभसे समुद्र भी क्षुभित हो उठा था — लहराने लगा था और ऐसा जान पड़ता था मानो 'सबको महापुरुषोंका अनुकरण करना चाहिए' यही बात सेवक लोगोंको सुना रहा हो ॥४॥ सेनाके द्वारा जबरदस्ती आक्रमण किये हुए राजा लोग नम्र हो गये थे, नदियोंमें कीचड़ रह गया था और बड़े-बड़े पहाड़ समान — जमीनके सदृश—हो गये थे ॥५॥ जिनका उपभोग अत्यन्त मनोरम है, जो सन्तोष उत्पन्न करनेवाली हैं, और जो उपभोगकी इच्छा करनेवाले मनुष्योंके द्वारा चाहने योग्य हैं ऐसी इस चक्रवर्तीकी समस्त सिद्धियाँ इसके बड़े भारी उद्योगोंके साथ-ही-साथ फल जाती थीं अर्थात् सिद्ध हो जाती थीं — ॥६॥ जिन्हें कोई भेद नहीं सकता है, जिनका संगठन अत्यन्त मजबूत है और जो शत्रुओंके क्षयका कारण हैं ऐसी भरतकी शक्ति तथा सेना दोनों ही शत्रु राजाओंपर अपना प्रभाव डाल रहे थे ॥७॥ भरतके योद्धा उनके बाणोंके समान थे, क्योंकि जिस प्रकार योद्धा फल अर्थात् इच्छानुसार लाभसे युक्त किये जाते थे उसी प्रकार बाण भी फल अर्थात् लोहेकी नोकसे युक्त किये जाते थे, जिस प्रकार योद्धा तीक्ष्ण अर्थात् तेजस्वी थे उसी प्रकार बाण भी तीक्ष्ण अर्थात्

१ 'रूपाद्रिनाथनतमौलिविराजिरत्नसंदोहनिर्गलितदीप्तिमयाद्घ्रिपद्मम् । देवं नमामि सततं जगदेकनाथं भक्त्या प्रणष्टदुरितं जगदेकनाथम् ॥ 'त' पुस्तकेऽधिकोऽयं श्लोकः । २ अपरदिगवधिम् । ३ अभ्युदयवान् । ४ नैऋत्य-दिग्भागम् । ५ पश्चात् । ६ अगच्छत् । ७ संदेवं ल० । ८ प्रकाशते स्म । ९ भटानाम् । १० बलात्कारेण । ११ निजिताः । १२ प्रणता इव आचरन्ति स्म । १३ महीभुजः वृक्षा वा । १४ कर्दमा इवाचरिताः । १५ सिद्धिपक्षे रागसहिताः । फलपक्षे रससहिताः । 'गुणे रामे द्रवे रसः' इत्यमरः । १६ कृतसुखाः । १७ भोक्तु-मिच्छुभिः । आधितजनैरित्यर्थः । १८ उत्साहैः । १९ फलानीवाचरन्ति स्म । २० कार्यसिद्धयः । २१ दृढ-संयन्धाः । २२ —क्षय—ल० । २३ प्रभुमन्त्रोत्साहरूपाः । २४ तोरिफलेन अभीष्टफलेन च । २५ पत्रसहिताः सहायकच । २६ बाणैः ।

दूरमुत्सारिताः सैन्यैः परिग्रन्थपरिच्छदाः । विपक्षाः सत्यमेवास्त्य विपक्षत्वमुपाययुः ॥९॥
 आक्रान्त^१भूभृतो^२ नित्यं भुजानाः फलसंपदम्^३ । कुपित्वं^४ ययुश्चित्रं कोपेऽप्यस्य विरोधिनः ॥१०॥
 संधिविग्रहचिन्तास्त्य^५ पदविद्यास्त्य भुत् परम् । धृतया^६ तन्वपक्षस्य क संधानं^७ क विग्रहः ॥११॥
 इत्यनेनव्यपक्षोऽपि यदर्थं दिग्जयोद्यतः । तद्वज्रं^८ मुक्तिमात्मायां तद्वयाजेन^९ परीयिषान्^{१०} ॥१२॥
 आक्रान्ताः सैनिकैरस्य विमोः पारेऽर्णवं^{११} भुवः । पूगदुसकृतच्छाया नालिकेरयनैस्तताः ॥१३॥
 निपते^{१२} नालिकेराणां तरुणानां क्षुतो^{१३} रसः । सरस्तीरतरुच्छाया विश्रान्तैरस्य सैनिकैः ॥१४॥

पने थे, जिस प्रकार योद्धा सपक्ष अर्थात् सहायकोसे सहित थे उसी प्रकार बाण भी सपक्ष अर्थात् पक्षोंमें सहित थे, और जिस प्रकार योद्धा दूर तक गमन करनेवाले थे उसी प्रकार बाण भी दूर तक गमन करनेवाले थे, इस प्रकार वे दोनों साथ-साथ ही विजयके अंग हो रहे थे ॥८॥ भरत-के विपक्ष (विरुद्धः पक्षो येषां ते विपक्षाः) अर्थात् शत्रुओंको उनकी सेनाने दूर भगा दिया था और उनके छत्र चमर आदि सब सामग्री भी छीन ली थी इसलिए वे सचमुच ही विपक्ष-पनेको (विगतः पक्षो येषां ते विपक्षास्तेषां भावस्तत्त्वम्) प्राप्त हो गये थे अर्थात् सहायरहित हो गये थे ॥९॥ यह एक आश्चर्यकी बात थी कि भरतके विरोधी राजा सेनाके द्वारा आक्रमण किये जानेपर तथा उनके क्रोधित होनेपर भी अनेक प्रकारकी फल-सम्पदाओंका उपभोग करते हुए कुपितत्व अर्थात् पृथिवीके स्वामीपनेको प्राप्त हो रहे थे । भावार्थ — इस श्लोकमें श्लेष-मूलक विरोधाभास अलंकार है इसलिए पहले तो विरोध मालूम होता है बादमें उसका परिहार हो जाता है । श्लोकका जो अर्थ ऊपर लिखा गया है उससे विरोध स्पष्ट ही झलक रहा है क्योंकि भरतके क्रोधित होनेपर और उनकी सेनाके द्वारा आक्रमण किये जानेपर कोई भी शत्रु सुखी नहीं रह सकता था परन्तु नीचे लिखे अनुसार अर्थ बदल देनेसे उस विरोधका परिहार हो जाता है—भरतके विरोधी राजा लोग, उनके कुपित होने तथा सेनाके द्वारा आक्रमण किये जानेपर अपनी राजधानी छोड़कर जंगलोंमें भाग जाते थे, वहाँ फल खाकर ही अपना निर्वाह करते थे और इस प्रकार कु-पतित्व अर्थात् कुत्सित राजवृत्ति (दरिद्रता) को प्राप्त हो रहे थे ॥१०॥ उस भरतको सन्धि (स्वर अथवा व्यंजनोंको मिलाना) और विग्रह (व्युत्पत्ति) की चिन्ता केवल व्याकरण शास्त्रमें ही हुई थी अन्य शत्रुओंके विषयमें नहीं हुई थी सो ठीक ही है क्योंकि जिसने समस्त शत्रुओंको नष्ट कर दिया है उसे कहीं सन्धि (अपना पक्ष निर्बल होनेपर बलवान् शत्रुके साथ मेल करना) करनी पड़ती है ? और कहीं विग्रह (युद्ध) करना पड़ता है ? अर्थात् कहीं नहीं ॥११॥ इस प्रकार भरतके यद्यपि जीतने योग्य कोई शत्रु नहीं था तथापि वे जो दिग्विजय करनेके लिए उद्यत हुए थे सो केवल दिग्विजयके छलसे अपने उपभोग करने योग्य क्षेत्रमें चक्कर लगा आये थे — घूम आये थे ॥१२॥ महाराज भरतके सैनिकोंने, जहाँ सुपारीके वृक्षोंके द्वारा छाया की गयी है और जो नारियलके वनोंसे व्याप्त हो रही है ऐसे समुद्रके किनारेकी भूमिपर आक्रमण किया था ॥१३॥ सरोवरोंके किनारेके वृक्षोंकी छायामें विश्राम करनेवाले भरतके सैनिकोंने नारियलके तरुण अर्थात् बड़े-बड़े वृक्षों

१ सहायपुरुषरहितत्वम् । २ आक्रान्ता भूभृतो ल० । भूभृतः राजानः पर्वताश्च । ३ अभीष्टफलसंपदम्, वन-स्पतिकलसंपदं च । ४ भूपतित्वं कुत्सितपतित्वं च । ५ संधानयुद्धचिन्ता च । ६ शब्दशास्त्रेषु । ७ निरस्त-शत्रुपक्षम् । ८ पालनक्षेत्रम् । ९ दिग्विजयछयता । १० प्रदक्षिणीकृतवान् । ११ समुद्रतीरम् । 'पारे मध्येऽप्यः षष्ठ्या' । १२ पानं क्षियते स्म । १३ निस्तुतः ।

स्फुरन्पक्ष्यसंपातपवनाधूनमोन्मिथः । तालीवनेषु^१ तर्जन्यैः शुभ्रये मर्मरध्वनिः^२ ॥१५॥
 समं ताम्बूलवल्लीभिरणश्यत् क्रमुकान् विभुः । एककार्यत्वमस्माकमितीव^३ मिलितान्मिथः ॥१६॥
 नृपस्ताम्बूलवल्लीनामुपप्लान्^४ क्रमुकमुमान् । निधायन् वेष्टि^५ तांस्ताभिर्मुमुधे दम्पतीयितान् ॥१७॥
 रषाध्यायमिव कुवाणान् वनेष्वविरतस्वमान् ।^६ वाग्मुनीनिव सांस्पश्यद् यत्रास्ते मितजसिनः ॥१८॥
 पतसन्ति मृदून्मन्यन्तः कण्टकीनि बहिस्त्वचि । सुरसान्यसृतानीव जनाः प्रादन् यथेप्सितम् ॥१९॥
 नालिकेरस्तः पानं पतसान्यशनं परम् । मरीचान्युपदंशश्य वन्या^७ वृत्तिरहो सुखम् ॥२०॥
 सरसानि मरीचानि किमप्यास्वाद्य विकिरान् । स्वतः^८ प्रभुरद्राक्षीद् गलदक्षुणिलोचनान् ॥२१॥
 विदश्य^९ मञ्जरीस्तीक्ष्णा मरीचानां सशक्तिम् । शिरी विधुम्बतोऽपश्यत् प्रभुस्तरुणमर्कटान् ॥ २२ ॥
 वनस्पतीन् कलानध्रान् वीक्ष्य लोकोपकारिणः । जाताः कलद्रुमास्तित्वे^{१०} निरारेकास्तदा जनाः ॥२३॥
 लताधुवतिसंस्तकाः प्रसन्नाः पनयुमाः । करदा^{११} इव तस्यासन् प्रीणयन्तः फलैर्जनान् ॥२४॥
 नालिकेरसवैर्मताः^{१२} किञ्चिदावूर्णितेक्षणाः । यशो^{१३} लघुमन्दकुह^{१४} सिंहा^{१५} गदगद

से निकला हुआ रस खूब पिया था ॥१४॥ वहाँ भरतकी सेनाके लोगोंने ताड़ वृक्षोंके वनोंमें वायुके हिलनेसे उठी हुई बहुत कठोर सूखे पत्तोंकी मर्मर-ध्वनि सुनी थी ॥१५॥ वहाँ सम्राट् भरतने हम लोगोंका एक ही समान कार्य होगा यही समझकर जो पानकी बेलोंके साथ-साथ परस्परमें मिल रहे थे ऐसे सुपारीके वृक्ष देखे ॥१६॥ जो पानोंकी लताओंके आश्रय थे तथा जो उनके साथ लिपटकर स्त्री-पुरुषके समाद जान पड़ते थे ऐसे सुपारीके वृक्षोंको बड़े गौरवके साथ देखकर महाराज भरत बहुत ही प्रसन्न हुए थे ॥१७॥ उन वनोंमें सूर्यास्तके समय निवास करनेवाले जो पक्षी निरन्तर शब्द कर रहे थे और ऐसे जान पड़ते थे मानो सूर्यास्तके समय निवास करनेवाले तथा स्वाध्याय करते हुए मुनि ही हों उन्हें भरतने देखा था ॥१८॥ जो भीतर कोमल हैं तथा बाहरी त्वचापर कांटोंसे युक्त हैं ऐसे अमृतके मगान मीठे कटहलके फल सेनाके लोगोंने अपनी इच्छानुसार खाये थे ॥१९॥ वहाँ पीनेके लिए नारियलका रस, खानेके लिए कटहलके फल और व्यंजनके लिए मिरचें मिलती थीं, इस प्रकार सैनिकोंके लिए वनमें होनेवाली भोजनकी व्यवस्था भी सुखकर मालूम होती थी ॥२०॥ जो सरस अर्थात् गीली मिरचें खाकर कुछ-कुछ शब्द कर रहे हैं और जिनकी आँखोंमें आँसू गिर रहे हैं ऐसे पक्षियोंको भी भरतने देखा था ॥२१॥ जो तरुण वानर बहुत तेज मिरचोंके गुच्छोंको निःशंक रूपसे खाकर बादमें चरपरी लगनेसे सिर हिला रहे थे उन्हें भी महाराजने देखा ॥२२॥ उस समय वहाँ फलोंसे झुके हुए तथा लोगोंका उपकार करनेवाले वृक्षोंको देखकर लोग कल्प-वृक्षोंके अस्तित्वमें शंका रहित हो गये थे ॥२३॥ जो लतारूप स्त्रियोंसे लिपटे हुए हैं और अनेक फलोंसे युक्त हैं ऐसे वनके वृक्ष अपने फलोंसे सेनाके लोगोंको सन्तुष्ट करते हुए ऐसे जान पड़ते थे मानो भरतके लिए कर हो दे रहे हों ॥२४॥ जो नारियलकी मदिरा पीकर उन्मत्त हो रही हैं और इसीलिए जिनके नेत्र कुछ-कुछ घूम रहे हैं ऐसी सिंहल द्वीपकी स्त्रियाँ वहाँ गदगद

१ तालवनेषु । २ शुष्कपर्णध्वनिः । 'अयं मर्मरः, स्वन्ति वस्त्रपर्णानाम्' इत्यभिधानात् । ३ पर्णक्रमुकमेलनादेक-कार्यत्वमिति । ४ आधवभूतान् । 'स्यादुपपन्नोऽग्निकाश्रये' इत्यमरः । ५ विधाय वे-ल० । ६ -स्वनम् ल० । ७ विहगान् । ८ यत्र रविरस्ते गतस्तत्र वासिनः । ९ मक्षयन्ति स्म । भक्षितवन्तः इत्यर्थः । १० वनवापः । ११ एवं कुर्वतः । १२ मञ्जयित्वा । १३ निस्सन्देहाः । १४ करं सिद्धाय ददतीति करदाः, कुटुम्बिजना इवेत्यर्थः । 'आलस्योपहतः पादः पादः पाषण्डमाश्रितः । राजानं सेवते पादः पादः कृषिमुपागतः ॥' १५ प्रचलायित । १६ गम्भीरगहरं यथा भवति तथा । गदगदमहितकण्ठनं कुहरशब्देनोच्यते ।

त्रिकूटमलयोऽसङ्गे गिरौ पाण्ड्यकटाक्षके । जगुरस्य यशो मन्द्रमूर्च्छनाः किन्नराङ्गनाः ॥२६॥

मलयोपास्तकान्तारे सहाचलवनेषु च । यशो वनेचरस्त्रीभिरुज्जगोऽस्य जयार्जितम् ॥२७॥

चन्द्रोद्धानसाधुश्च मन्दं गन्धवहो वदौ । भलथाचलकुम्भेभ्यो हरश्चिर्मरसीकरान् ॥२८॥

विश्वमित्रसारी दाक्षिण्यं समुज्ज्वलविशोऽनिलः । संभावयति वातिर्वैविभैः श्रमसपाहरन् ॥२९॥

पुलाकव्रजसंवासपुरमिश्रसितैर्मूर्धः । स्तनैरापाण्डुभिः सान्द्रचन्दनप्रवचचितैः ॥३०॥

सर्ललसुनुभिर्यातैर्नितम्बभरमन्थरैः । स्मितैरनङ्गपुण्यास्त्रस्तथकाद्भेदविभ्रमैः ॥३१॥

कांकिलालापमधुरैर्ज्वलितैर्जल्पितैः । रनतिस्फुटैः । मधुबाहुलतान्दोलसुमगोश्च धिषेष्टितैः ॥३२॥

लास्यैः स्फुल्लपद्म्यासैर्मुक्ताप्रायैर्विभूषणैः । मद्रमञ्जुभिरुद्गीतैर्जिसालिकुलशिञ्जितैः ॥३३॥

समालवनदीर्घाषु संवरन्त्यो यदच्छया । मनोऽस्य जहरास्तुथौघनाः केरलस्त्रियः ॥३४॥

प्रसाध्य दक्षिणामाशां विभुस्त्रैराज्यपालकान् । समं प्रणमयामास विजित्य जयसाधनैः ॥३५॥

कण्ठसे महाराज भरतका यश गा रही थीं ॥२५॥ त्रिकूट पर्वतपर, मलयगिरिके मध्यभाग-पर और पाण्ड्यकटाक्ष नामके पर्वतपर किन्नर जातिकी देवियाँ गम्भीर स्वरसे चक्रवर्ती-का यश गा रही थीं ॥२६॥ इसी प्रकार मलय गिरिके समीपवर्ती वनमें और सहा पर्वतके वनोंमें भीलोंकी स्त्रियाँ विजयसे उत्पन्न हुआ महाराजका यश जोर-जोरसे गा रही थीं ॥२७॥ उस समय मलय गिरिके लतागृहोंसे झरनोंके जलके छोटे-छोटे कण हरण करता हुआ तथा चन्दनके बगीचेकी हिलाता हुआ वायु धीरे-धीरे वह रहा था ॥२८॥ वह वायु दक्षिण दिशा-को छोड़कर चारों ओर वह रहा था और ऐसा जान पड़ता था मानो अतिथि-सत्कारके द्वारा भरतका सम्मान करता हुआ ही उनका परिश्रम दूर कर रहा था । भावार्थ—इस श्लोकमें दाक्षिण्य शब्दके श्लेष तथा अपि शब्दके सन्निधानसे नीचे लिखा हुआ विरोध प्रकट होता है—‘वह वायु यद्यपि दाक्षिण्य (स्वामीके इच्छानुसार प्रवृत्ति करना) भावको छोड़कर स्वच्छन्दता पूर्वक चारों ओर घूम रहा था तथापि उसने एक आज्ञाकारी सेवककी तरह भरतका अतिथि-सत्कार कर उनका सब परिश्रम दूर कर दिया था, जो स्वामीके विरुद्ध आचरण करता है वह उसकी सेवा क्यों करेगा ? यह विरोध है परन्तु दाक्षिण्य शब्दका दक्षिण दिशा अर्थ लेनेसे वह विरोध दूर हो जाता है (‘दक्षिणो दक्षिणोद्भूतसरलच्छन्दवर्तिषु’ इति मेदिनी, दक्षिणस्य भावो दाक्षिण्यम्, पक्षे दक्षिणैव दाक्षिण्यम्) ॥२९॥ तमाल वृक्षोंके वनकी गलियोंमें इच्छानुसार इधर-उधर घूमती हुई केरल देशकी तरुण स्त्रियाँ इलायची, लौंग आदि सुगन्धित वस्तुओंके सम्बन्धसे जिनके निःश्वास सुगन्धित हो रहे हैं ऐसे मुखोंसे, जो घिसे हुए चन्दनके गाढ़ लेपसे सुशोभित हो रहे हैं ऐसे स्तनोंसे, नितम्बोंके भारसे मन्थर लीलासहित सुकोमल गमनसे, जो कामदेवके पुष्परूपी शस्त्रोंके गुच्छोंके खिलनेके समान सुशोभित हो रहे हैं ऐसे मन्द हास्यसे, कोयलकी कूकके समान मनोहर तथा अव्यक्त वाणीसे, सुकोमल बाहु-रूपी लताओंके इधर-उधर फिरानेसे सुन्दर चेष्टाओंसे, जिसमें स्खलित होते हुए पैर पड़ रहे हैं ऐसे नृत्योंसे, अधिकतर मोतियोंके बने हुए आभूषणोंसे, भ्रमरसमूहकी गुंजारको जीतनेवाले मदसे मनोहर उत्कृष्ट भीतोंसे चक्रवर्ती भरतका मन हरण कर रही थीं ॥३०-३४॥ इस प्रकार महाराज भरतने अपनी विजयी सेनाके द्वारा दक्षिण दिशाको यश कर चोल, केरल और पाण्ड्य

१ त्रिकूटे म०, द० ल० अ०, प०, स० । त्रिकूटगिरिमलयाचलसानी । २ वनेचर-ल० । ३ विसरणशोलः । ४ दक्षिणदिग्भागः । आनुकूल्येन च । ५ अतिथौ साधुभिः उपचारैरित्यर्थः । ६ उच्छ्वासैः । ७ गमनैः । ८ मन्दैः । ९ जल्पितैः वचनैः । १० सिञ्जनैः अ०, प०, ब०, स० । ११ त्रिराज्येषु जातान् । चोरकेरल-पाण्ड्यान् ।

कालिङ्गैर्गङ्गास्य मलयोपान्तभूधराः । तुलनाङ्गरिवान्मानमाक्रान्ताः स्वेन वर्धमाना ॥३६॥
 दिशां प्रान्तेषु विजयैर्दिग्गजैः सहस्रैः सङ्घैः । दिग्गजैः सङ्घैः सङ्घैः सङ्घैः सङ्घैः ॥३७॥
 ततोऽपरान्तमाक्रान्ताः सङ्घाचलतपोपगः । पश्चिमाणववेद्यान्त पालकानजयद् विभुः ॥३८॥
 जयसाधनमस्थाब्धेभारत्तारे व्यजृम्भत । महासाधनमप्युच्चैः परं पारसवाद्यभन ॥३९॥
 उपमिन्यु रिति व्यक्तमुभयोर्त्तारयोर्वलम् । दृष्ट्वास्य साधवसाक्षुभ्यश्चिदाभूदाकुलाकुलः ॥४०॥
 ततः स्म यत्संजोभादिती वार्धिः प्रसर्पति । इतः स्म यत्संजोभात् ततोऽग्निः प्रतिसर्पति ॥४१॥
 हरिन्मणिप्रभोत्सर्पस्ततमवधेर्बभौ जलम् । चिराद् विवृत्तमस्यैव सर्वैरलमधस्तलम् ॥४२॥
 पद्मरागांशुभिर्मिश्रं कचनान्धेर्व्यभाजलम् । क्षीमादिवास्य हृद्यशीर्णमुलच्छोणितरुद्धम् ॥४३॥
 सङ्घोत्सर्पे लुट्जविधनुर्न तुल्यं न्यवेदयन् । सोऽपि संधारयन्नेन बन्धुक्रयमिवातनोत् ॥४४॥
 अयक्षैर्वलसंवहैः सङ्घः सङ्घानिर्पादितः । शाखोद्धारमिध व्यक्कमकरेण हरणपादपैः ॥४५॥

इन तीन राजाओंको एक साथ जीता और एक ही साथ उनसे प्रणाम कराया ॥३५॥ जो अपने शरीरसे मानो मलय पर्वतकी ऊँचाईकी ही तुलना कर रहे हैं ऐसे कलिङ्ग देशके हाथियोंने मलय पर्वतके समीपवर्ती अन्य समस्त छोटे-छोटे पर्वतोंको व्याप्त कर लिया था ॥३६॥ दिग्विजयके समय दिशाओंके अन्त भागमें विश्राम करनेवाले भरतके हाथियोंने दिग्गजपना अपने अधीन कर लिया था अर्थात् स्वयं दिग्गज बन गये थे इसलिए अन्य आठ दिग्गजोंकी कथा केवल शोभा-के लिए ही रह गयी थी ॥३७॥ तदनन्तर पश्चिमी भागपर आरुढ़ होकर सङ्घ पर्वतके किनारे के समीप होकर जाते हुए भरतने पश्चिम समुद्रकी वेदीके अन्तकी रक्षा करनेवाले राजाओंको जीता ॥३८॥ भरतकी वह विजयी सेना समुद्रके समीप किनारे-किनारे सब जगह फैल गयी थी और वह इतनी बड़ी थी कि उसने समुद्रका दूसरा किनारा भी व्याप्त कर लिया था ॥३९॥ उस समय हवासे लहराता हुआ उपसमुद्र ऐसा जान पड़ता था मानो दोनों किनारेपर भरतकी सेना देखकर भयसे ही अत्यन्त आकुल हो रहा हो ॥४०॥ उस किनारेका उपसमुद्र सेनाके क्षोभसे इस किनारेकी ओर आता था और इस किनारेका उपसमुद्र सेनाके क्षोभसे उस किनारे-की ओर जाता था ॥४१॥ ऊपर फैली हुई हरे मणियोंकी कान्तिसे व्याप्त हुआ वह समुद्रका जल ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो इस समुद्रका दीवालसहित नोचेका भाग ही बहुत समय बाद उलटकर ऊपर आ गया हो ॥४२॥ कहीं-कहींपर पद्मराग मणियोंकी किरणोंसे व्याप्त हुआ समुद्रका जल ऐसा जान पड़ता था मानो सेनाके क्षोभसे समुद्रका हृदय ही फट गया हो और उसीसे खूनकी छटाएँ निकल रही हों ॥४३॥ सङ्घ पर्वतकी गोदमें लोटता हुआ (लहराता हुआ) वह समुद्र ऐसा जान पड़ता था मानो उससे अपना दुःख ही कह रहा हो और सह्यपर्वत भी उसे धारण करता हुआ ऐसा मालूम होता था मानो उसके साथ अपना बन्धुभाव (भाई-चारा) ही बढ़ा रहा हो ॥४४॥ सेनाके असह्य संघटनोंसे अत्यन्त पीड़ित हुआ वह सङ्घपर्वत अपने टूटे हुए वृक्षोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो अपने मस्तकपर लकड़ियोंका गट्टा रख-

१ कलिङ्गवने जाते । कलिङ्गवनजाता उन्नतकामाश्च । उक्तं च दण्डिना देशविरोधप्रतिपादनकासे 'कलिङ्ग-वनसंभूता मृगप्राया मतङ्गजाः' इति । २ मलयदेशसमीपस्थपर्वताः । ३ गुणयद्भिः—अ०, इ०, स० । ४ दिग्गजाः सन्तीति कथाभेदः । ५ अपरदिग्भागम् । ६ व्याप्य । ७ बेलान्त—इत्यपि क्वचित् । ८ प्रभुः ल० । ९ विजृम्भितम् ल० । १०—मन्थुर्चैः द०, ल०, अ०, प०, स० । ११ अपरतीरम् । १२ अशिथिलम् । १३ उपसमुद्रः । १४ परिणतम् । चिरकालप्रवर्तितम् । १५ इत् इवयम् शीर्णं विद्वर्णं सत् । १६—मुख्यल-ल०, द० । १७ सङ्घमिरितानो । १८ पश्चिमाणवपर्वतः । १९ पल्लवं गृहीत्वा आक्रोशम् । २० भुग्न । 'हरणं भुग्नं' इत्यमरः । भुग्न-ल० । भग्न-द० ।

चलत्सत्त्वो^१ गुहारश्चैविमुञ्चत्तकुलं स्वनम् ।^२ महाप्राणोऽदिरुक्कान्ति^३ मित्याथेव बलक्षतः ॥४६॥
 चलत्सत्त्वो चलत्सत्त्वः चलच्छिथिलमेखलः । नास्मैवाचलतां भेजे सोऽद्विरेवं चलाचलः ॥४७॥
 गजतावन^४ संभोगैस्तुरङ्गचुरचटनैः । सख्योत्सङ्गभुवः क्षुण्णाः स्थलीभावं क्षणाद् ययुः ॥४८॥
 आपश्चिमाणेनवटाद्या च मध्यमपर्वतान् । आतुङ्गवरकाददेस्तुङ्गाशब्दोपलक्षितान् ॥४९॥
 तं कृष्णगिरिमुल्लङ्घ्य तं च शैलं सुमन्दरम् । मुकुन्दं चाद्रिमुदूहसा जयेभास्तस्य वभ्रमुः ॥५०॥
 तत्रोपरान्तकान् नागान् हस्वग्रीवान् परान् स्वैः । युक्तान् पीनायतस्त्रिधैः श्यामान् स्वभान् मृदुत्वचः ॥५१॥
^५महोत्सङ्गानुदप्राङ्गान् रक्तजिह्वोष्ठतालुकान् । मानिनो दीर्घवालोष्ठान् पद्मगन्धमदप्युतः ॥५२॥
 संतुष्टान् स्वे वने शूरान् दम्पादान् सुवर्षणः । स भेजे तद्वमाधीशः ससंभ्रममुपाहृतान् ॥५३॥
 वनरोमावलीस्तुङ्गतारोहा^६ बहून्दीः । पूर्वापरान्विधाः^७ सोऽत्यैव सहाद्रेर्दुहितृरिव^८ ॥५४॥
 संसरग्रीषणमाहर्भोमां^९ भीमरथी नदीम् । नक्षत्रकृतावतैर्दारुवेणां च दारुणाम् ॥५५॥

कर भरतके प्रति अपनी पराजय ही स्वीकृत कर रहा हो (पूर्व कालमें यह एक पद्धति थी कि पराजित राजा सिरपर लकड़ियोंका गट्टा रखकर गलेमें कुल्हाड़ी लटकाकर अथवा मुखमें तृण दबाकर विजयी राजाके सामने जाते थे और उससे क्षमा मांगते थे ।) ॥४५॥ वह पर्वत-रूपी बड़ा भारी प्राणी सेनाके द्वारा घायल हो गया था, उसके शिखर टूट-फूट गये थे, उसका सत्त्व अर्थात् धैर्य विचलित हो गया था—उसके सब सत्त्व अर्थात् प्राणी इधर-उधर भाग रहे थे, वह गुफाओंके छिद्रोंसे व्याकुल शब्द कर रहा था और इन सब लक्षणोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो बहुत शीघ्र मरना ही चाहता हो ॥४६॥ उस पर्वतके सब वृक्ष हिलने लगे थे, सब प्राणी इधर-उधर चंचल हो रहे थे—भाग रहे थे और उसके चारों ओरका मध्यभाग भी शिथिल होकर हिलने लगा था इस प्रकार वह पर्वत नाममात्रसे ही अचल रह गया था, वास्तवमें चल हो गया था ॥४७॥ लोगोंकी वनक्रीड़ाओंसे तथा घोड़ोंके खुरोंके संघटनसे उस सहा पर्वतके ऊपरकी भूमि चूर-चूर होकर क्षण-भरमें स्थलपनेको प्राप्त हो गयी थी अर्थात् जमीनके समान सपाट हो गयी थी ॥४८॥ चक्रवर्ती भरतके मदनोन्मत्त विजयी हाथी, पश्चिम समुद्रके किनारेसे लेकर मध्यम पर्वत तक और मध्यम पर्वतसे लेकर ऊँची-ऊँची चट्टानोंसे चिह्नित तुंगवरक पर्वत तक, कृष्ण गिरि, सुमन्दर तथा मुकुन्द नामके पर्वतको उल्लंघन कर, चारों ओर घूम रहे थे ॥४९—५०॥ जिनकी गरदन कुछ छोटी है, जो देखनेमें उत्कृष्ट हैं, मोटे लम्बे और चिकने दाँतोंसे सहित हैं, काले हैं, जिनकी सब इन्द्रियाँ अच्छी हैं, चमड़ा कोमल है, पीठ चौड़ी है, शरीर ऊँचा है, जोभ, होंठ और तालु लाल हैं, जो मानी हैं, जिनकी पूँछ और होंठ लम्बे हैं, जिनसे कमलके समान गन्धवाला मद झर रहा है, जो अपने ही वनमें सन्तुष्ट हैं, शूरवीर हैं, जिनके पैर मजबूत हैं, शरीर अच्छा है और जिन्हें उन वनोंके स्वामी बड़े हर्ष या क्षोभके साथ भेंट देनेके लिए लाये हैं ऐसे पश्चिम दिशामें उत्पन्न होनेवाले हाथी भी भरतने प्राप्त किये थे ॥५१—५३॥ वन ही जिनकी रोमावली है और ऊँचे किनारे ही जिनके नितम्ब हैं ऐसी सहा पर्वतकी पुत्रियोंके समान पूर्व तथा पश्चिम समुद्रकी ओर बहनेवाली अनेक नदियाँ महाराज भरतने उल्लंघन की थी—पार की थी ॥५४॥ चलते-फिरते हुए भयंकर मगरमच्छोंसे भयानक भीमरथी नदी, नाकुओंसे समूहसे की हुई आवर्तोंसे भयंकर दारुवेणा नदी, किनारे

१ गुहारश्चैः ल० । २ सिंहादिसत्त्वरूपमहाप्राणः । 'प्राणो हृन्मासते चोले काले जीवेऽनिले बले ।' इत्यभिधानात् । ३ मरणावस्थाम् (मृतिम्) । ४ जनता ल०, द० । ५ पश्चिमदिक्कसीपान् । ६ कुञ्जस्कन्धोत्कृष्टान् । ७ पीनायित-ल० । ८ मुनेषान् । ९ बृहदुपरिभाषान् । १० उपायनीकृतान् । ११ नितम्बाः । १२ अगात् । १३ पुत्रीरिव । १४ भीमरथी ल० ।

नीरां तीरस्थानीरं शाखाग्रस्थगिताम्भसम् । मूलां कूलं करीरं वैस्खलिततटद्रुमाम् ॥५६॥
 बाणामविरतां बाणां केतुं स्वामम्बुसंभृताम् । करीरितं तटोत्सङ्गां करीरीं सरिद्रुतसाम् ॥५७॥
 प्रहरां विषमग्राहैर्दूषितामसतीमिव । मुररां करीरं सेव्यामपपङ्कां सतीमिव ॥५८॥
 पारां पारेजलं कृजं कलं कलहंसं सारयाम् । मदनां समनिम्नेषु समानामस्यलङ्घनिम् ॥५९॥
 मदस्त्रणिं मिवास्त्रवेणिकां सहादन्तिनः । गोदावरीमविच्छिन्नप्रवाहामतिविस्तृताम् ॥६०॥
 करीरवणं सरुद्रतटपर्यन्तभुतलाम् । तापीमातपसंतापात् कवीण्णा विभ्रतीमपः ॥६१॥
 रम्यां तीरतटच्छायासंसुप्तसृगशावकाम् । खातामिवापरान्तस्य नदीं लाङ्गल्लातिकां ॥६२॥
 सरितोऽम्बुः समं सैन्यैरुत्तार चमूयनिः । तत्र तत्र समाकर्षस्मदिनो जनसामजान् ॥६३॥
 प्रसारितसरिज्जिह्वां योऽविभं पातुमिवोद्यतः । सहाचलं तमुल्लङ्घ्य विन्ध्याद्रिं प्राप तद्रवकम् ॥६४॥
 भूभृतां पतिसुत्तुङ्गं धृतुवंशं धृतायसिम् । परैरलङ्घ्यमत्रार्शद् विन्ध्याद्रिं स्वमिव प्रभुः ॥६५॥

पर स्थित बेतोंको शाखाओंके अग्रभागसे जिसका जल बँका हुआ है ऐसी नीरा नदी, किनारेको तोड़नेवाले अपने प्रवाहसे जिसने किनारेके वृक्ष उखाड़ दिये हैं ऐसी मूला नदी, जिसमें निरन्तर शब्द होता रहता है ऐसी बाणा नदी, जलसे भरी हुई केतवा नदी, जिसके किनारेके प्रदेश हाथियोंने तोड़ दिये हैं अथवा जिसके किनारेके प्रदेश करीर वृक्षोंसे व्याप्त हैं ऐसी करीरी नामकी उत्तम नदी, विषमग्राह अर्थात् नीच भन्तुओंसे दूषित व्यभिचारिणी स्त्रीके समान विषम ग्राह अर्थात् बड़े-बड़े मगरमच्छोंसे दूषित प्रहरा नदी, सती स्त्रीके समान अपंका अर्थात् कीचड़-रहित, (पक्षमें-कलंकरहित) तथा कुरर पक्षियोंके द्वारा सेवा करने योग्य मुररा नदी, जिसके जलके किनारेपर क्रीच, कलहंस (वदक) और सारस पक्षी शब्द कर रहे हैं ऐसी पारा नदी, जो समान तथा नीची भूमिपर एक समान जलसे भरी रहती है तथा जिसकी गति कहीं भी स्खलित नहीं होती है ऐसी मदना नदी, जो सहा पर्वतरूपी हाथीके बहते हुए मदके समान जान पड़ती है, जो अनेक धाराएँ बाँधकर बहती है, जिसका प्रवाह बीचमें कहीं नहीं टूटता, और जो अत्यन्त चौड़ी है ऐसी गोदावरी नदी, जिसके किनारेके समीपकी भूमि करीर वृक्षोंके वनोंसे भरी हुई है और जो धूपकी गरमीसे कुछ-कुछ गरम जलको धारण करती है ऐसी तापी नदी, तथा जिसके किनारेके वृक्षोंकी छायामें हरिणोंके बच्चे सो रहे हैं और जो पश्चिम देशकी परिखाके समान जान पड़ती है ऐसी मनोहर लांगल्लातिका नदी, इत्यादि अनेक नदियों-को सेनापतिने अपनी सेनाके साथ-साथ पार किया था । उस समय वह सेनापति मदोन्मत्त जंगली हाथियोंको भी पकड़वाता जाता था ॥५५-६३॥ जो अपनी नदियोंरूपी जीभोंको फैलाकर मानो समुद्रको पीनेके लिए ही उद्यत हुआ है ऐसे उस सहा पर्वतको उल्लंघन कर भरतकी सेना विन्ध्याचलपर पहुँची ॥६४॥ चक्रवर्ती भरतने उस विन्ध्याचलको अपने समान ही देखा था क्योंकि जिस प्रकार आप भूभृत् अर्थात् राजाओंके पति थे उसी प्रकार विन्ध्याचल भी भूभृत् अर्थात् पर्वतोंका पति था, जिस प्रकार आप उत्तुंग अर्थात् अत्यन्त उदार हृदय थे उसी प्रकार वह विन्ध्याचल भी उत्तुंग अर्थात् अत्यन्त ऊँचा

१ वेतसः । २ प्रवाहः । ३ अविच्छिन्नविषमग्राणाम् । अविरतः आवाणो यस्यां सा । ४ केतवा ल० । ५ गजप्रेरितः । ६ विषममकरः, पक्षे नीचप्रहणः । ७ पक्षिविशेषः । ८ अपगतकर्दमाम् । पक्षे अपगतदोषपङ्काम् । ९ तीरजले । १० कलहंस । ११ मदनां ल०, द० । १२ समानप्रदेशेषु । निम्नप्रदेशेषु च । १३ जलेन समानाम् । १४ मदस्त्रवणम् । १५ प्रवाहम् । कुलाम् वा । १६ वेणुवन । १७ लातिकां । १८ पश्चिमदेशस्य । १९ स्वीकुर्वन् । २० राज्ञां गिरीणां च । २१ महाम्बुयं महावेणुं च । २२ धृतधनागमम् । धृतायाम् च । 'आयति-शीर्षतायां स्यात् प्रभुतागामिकालयोः ।'

मानि यः शिखरैस्तुङ्गैर्दूरव्याप्यतनिर्गरेः । सपताकैर्विमानां वैर्विभ्रमावेव संश्रितः ॥६६॥
 यः पूर्वापकोटिभ्यां विभाज्याम्बुनिधिं स्थितः । नूनं दावप्रयात् सत्यममुना प्रचिकीर्षति ॥६७॥
 नयन्ति निर्गरा यस्य शिखरपुष्टिं तददुमान् । स्वपादाश्रयिणः पोष्याः प्रमुण्णतीव्र संसितुम् ॥६८॥
 तदस्यपुटं पाषाणस्खलितोत्थलिताम्भसः । नदीवधूः कृतध्वानं निर्झरैर्हसतीष यः ॥६९॥
 वनाभोगमपर्यन्तं यस्य दग्धुमिवाञ्जमः । मृगपाताय दावाग्निः शिखराग्न्यधिरोहति ॥७०॥
 उज्ज्वलावपरीतानि यत्कूटानि बनेचरैः । चामीकरमयानांय लक्ष्मणे छुषिं ससिन्धौ ॥७१॥
 समातङ्गं वनं यस्य समुज्ज्वपरिमहम् । विजातिं कण्टकाकीर्णं कचिद्वृक्षैस्तिकष्ठताम् ॥७२॥
 आशं कुञ्जरयोगेऽपि कचिदश्विक्कुञ्जरम् । विपत्रमपि सत्पत्रपल्लवं भाति यद्वनम् ॥७३॥

था, जिस प्रकार आप पृथुवंश अर्थात् विस्तृत-उत्कृष्ट वंश (कुल) को धारण करनेवाले थे उसी प्रकार वह विन्ध्याचल भी पृथुवंश अर्थात् बड़े-बड़े बाँसके वृक्षोंको धारण करनेवाला था, जिस प्रकार आप धृतायति अर्थात् उत्कृष्ट भविष्यको धारण करनेवाले थे उसी प्रकार वह विन्ध्याचल भी धृतायति अर्थात् लम्बाईको धारण करनेवाला था, और जिस प्रकार आप दूसरोंके द्वारा अलङ्घ्य अर्थात् अजेय थे उसी प्रकार वह विन्ध्याचल भी दूसरोंके द्वारा अलङ्घ्य अर्थात् उलटेंघन न करने योग्य था ॥६५॥ जिनसे बहुत दूर तक फैलनेवाले झरने झर रहे हैं ऐसे ऊँचे-ऊँचे शिखरोंमें वह पर्वत ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो पताकाओंसहित अनेक विमानोंके समूह ही विश्राम करनेके लिए उसपर ठहरे हों ॥६६॥ वह पर्वत अपने पूर्व और पश्चिम दिशाके दोनों कोणोंसे समुद्रमें प्रवेश कर खड़ा हुआ था और उससे ऐसा जान पड़ता था मानो दावानलके डरमें समुद्रके साथ मिश्रित हो करना चाहती हो ॥६७॥ उस विन्ध्याचलके झरने 'स्वामीको अपने वरणोंको आश्रय लेनेवाले पुस्वोंका अवश्य ही पालन करना चाहिए' मानो यह सूचित करनेके लिए ही अपने किनारेके वृक्षोंका सदा पालन-पोषण करते रहते थे ॥६८॥ वह पर्वत शब्द करते हुए निर्झरनोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो अपने किनारेके ऊँचे-नीचे पत्थरोंसे स्खलित होकर जिनका पानी ऊपरकी ओर उछल रहा है ऐसी नदीरूपी स्त्रियोंकी हँसी ही कर रहा हो ॥६९॥ उस पर्वतके शिखरोंपर लगा हुआ दावानल ऐसा जान पड़ता था मानो उसके शोमारहित बहुत बड़े वनप्रदेशको जलानेके लिए असमर्थ हो ऊपरसे गिरकर आत्म-घात करनेके लिए ही उसके शिखरोंपर चढ़ रहा हो ॥७०॥ आषाढ़ महीनेके समीप जलते हुए दावानलसे घिरे हुए उस पर्वतके शिखर वहाँके भोलोंको सुवर्णसे बने हुएके समान दिखाई देते थे ॥७१॥ उस पर्वतका वन कहीं-कहीं मातंग अर्थात् हाथियोंसे सहित था अथवा मातंग अर्थात् चाण्डालोंसे सहित था, भुजंग अर्थात् सर्पोंके परिवारसे युक्त था अथवा भुजंग अर्थात् नीच (विट-गुण्डे) लोगोंके परिवारसे युक्त था और अनेक प्रकारके काँटोंसे भरा हुआ था अथवा अनेक प्रकारके उपद्रवी लोगोंसे भरा हुआ था इसलिए वह बहुत ही दुःखदायी अथवा शोचनीय अवस्थाको धारण कर रहा था ॥७२॥ उस पर्वतपर-का वन क्षीबकुंजर अर्थात् मदोन्मत्त हाथियोंसे युक्त होकर भी अक्षीबकुंजर अर्थात् मदोन्मत्त हाथियोंसे रहित था, और विपत्र अर्थात् पत्तोंसे रहित होकर भी सत्पत्रपल्लव अर्थात् पत्तों तथा कोंपलोंसे सहित

१ इव । २ मिश्रणम् । ३ समुद्रेण । ४ कर्तुमिच्छति । ५ तदनिम्नोन्नत । ६ प्रपातपसनाय । 'प्रपातस्त्वततो भृगुः' इत्यभिधानात् । ७ श्रीधम । ८ सगजं पक्षे सबाण्डालम् । ९ ससर्पं, पक्षे सविट् । १० पक्षिताति, पक्षे नीच जानि । ११ सत्तगज । १२ अक्षीबं समुद्रलवणम् 'सामुद्रं यत् लवणमक्षीवं वशिरञ्च तत्' । कुञ्जो गुल्मगुह्यान्ती रानीति ददातीति । १३ बीवां पत्राणि पक्षा यस्मिन् सन्तीति, अथवा विगताश्चम् ।

स्फुटद्वेष्टदोन्मुक्तैर्गस्तैर्मुक्ताफलैः कञ्चित् । वनलक्ष्म्यो हसन्तीव स्फुटद्वेष्टांशु^१ यद्वने ॥७४॥
 गुहामुत्तस्फुरद्द्वारनिर्झरप्रतिशब्दकैः । गर्जतीव कृतस्पर्धो महिम्ना यः कुलाचलैः ॥७५॥
 स्फुटद्विभोक्तोद्देशैश्चित्रवर्णैश्च धातुभिः^२ । मृगहर्षैरतर्क्यैश्च चित्राकारं विभर्ति यः ॥७६॥
 ज्वलन्त्योषधयो यस्य वनाम्बुषु तप्तीमुखे । देवताभिरिवोद्दिष्टा^३ दीपिकास्तिमिरच्छिदः ॥७७॥
 कचिन्मृगैर्मृमिक्षेमकुम्भोच्छलितमौनिकैः^४ । मधुपान्तस्थलं घत्ते प्रकीर्णकुसुमश्रियम् ॥७८॥
 स तमालोक्यन् वृन्दाससाद महागिरिम् । आह्वयन्तमिवासक्तं मरुद्वैस्तद्वृमैः ॥७९॥
 स तद्वनगतान् वृन्दापश्याद्^५ अन्धधुनान्^६ उद्गतधनुषी^७ वणून्^८ उद्गतधनुराकारपृष्ठस्थांश्च^९ । ॥८०॥
 सरिद्धूस्तदुत्सङ्गे^{१०} विवृत्तशफरीक्षणाः । तद्वलमा इवापश्यत् स्फुरद्विस्तमन्मनाः^{११} ॥८१॥

था इस प्रकार विरोधरूप होकर भी सुशोभित हो रहा था । भावार्थ — इस श्लोकमें विरोधाभास अलंकार है, विरोध ऊपर दिखाया जा चुका है अब उसका परिहार देखिए — वहाँका वन क्षीबकुंजर अर्थात् मदनमत्त हाथियोंसे युक्त होनेपर भी अक्षीबकुंजर अर्थात् समुद्री नमक तथा हाथीदाँतोंको देनेवाला था अथवा सहजनों के लतामण्डपोंको प्रदान करनेवाला था और विपन्न अर्थात् पक्षियोंके पंखोंसे सहित होकर भी उत्तम पत्तों तथा नवीन कोंपलोंसे सहित था (अक्षीबं च कुञ्जश्चेत्यक्षीबकुञ्जौ, तौ राति ददातीत्यक्षीबकुञ्जरम् अथवा 'अक्षीबाणां शोभाञ्जनानां कुञ्जं लतागृहं राति ददाति', 'सामुद्रं यत्तु लवणमक्षीबं वशिरं च तत्' 'कुञ्जो दन्तेऽपि न स्त्रियाम्' 'शोभाञ्जने शिशुतीक्ष्णगन्धकाक्षीबमोचकाः इति सर्वत्रामरः) ॥७३॥ उस पर्वतके वनमें कहीं-कहींपर फटे हुए बाँसोंके भीतरसे निकलकर चारों ओर फैले हुए मोतियोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो वनलक्ष्मियाँ ही दाँतोंकी किरणें फैलाती हुई हैं रही हों ॥७४॥ गुफाओंके द्वारोंमें निकलती हुई झरनोंकी गम्भीर प्रतिध्वनियोंसे वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो अपनी महिमाके कारण कुलाचलोंके साथ स्पर्धा करता हुआ गरज ही रहा हो ॥७५॥ वह पर्वत ऊँचे नीचे प्रदेशोंसे, अनेक रंगकी धातुओंसे और हरिणोंके अचिन्तनीय वर्णोंसे प्रकट रूप ही एक विचित्र प्रकारका आकार धारण कर रहा था ॥७६॥ उस पर्वतके वनोंमें रात्रि प्रारम्भ होनेके समय अनेक प्रकारकी औषधियाँ प्रकाशमान होने लगती थीं जो कि ऐसी जान पड़ती थीं मानो देवताओंने अन्धकारको नष्ट करनेवाले दीपक ही जलाकर लटका दिये हों ॥७७॥ कहीं-कहींपर उस पर्वतके समीपका प्रदेश, सिंहोंके द्वारा फाड़े हुए हाथियोंके मस्तकोंसे उछलकर पड़े हुए मोतियोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो बिखरे हुए फूलोंकी शोभा ही धारण कर रहा हो ॥७८॥ जो वायुसे हिलते हुए किनारेके वृक्षोंसे बुलाता हुआ-सा जान पड़ता था ऐसे अपनेमें आसक्त उस महापर्वतको दूरसे ही देखते हुए चक्रवर्ती भरत उसपर जा पहुँचे । ॥७९॥ वहाँ जाकर उन्होंने उस पर्वतके वनोंमें रहनेवाले झुण्डके झुण्ड भील और हाथी देखे । वे भील मेघोंके समान काले थे और धनुषोंके बाँसोंको ऊँचा उठाकर कन्धोंपर रखे हुए थे तथा हाथी भी मेघोंके समान काले थे और धनुषके समान ऊँची उठी हुई पीठकी हड्डीको धारण किये हुए थे ॥८०॥ उस पर्वतके किनारेपर उन्होंने चंचल मछलियाँ ही जिनके नेत्र हैं और बोलते हुए पक्षियोंके शब्द ही जिनके मनोहर शब्द हैं ऐसी उस विन्ध्याचलकी प्यारी स्त्रियोंके समान नदीरूपी स्त्रियोंकी बड़ी ही उत्कण्ठाके साथ

१ स्फुरद्वेष्टांशु—ल० । २ व्यक्त । ३ गैरिकादिभिः । ४ उद्घृताः । ५ —ज्वलन्त—ल०, द० । ६ पुण्योपहार-शोभाम् । ७ अनवरतम् । ८ ससमुद्धान् । ९ उद्गतधनुषी वणून् । उद्गतधनुराकारपृष्ठस्थांश्च । १० पर्वतसानी । ११ विहगध्वनिरेवाव्यक्तवाचो यासां ताः । —सुम्भनाः ल०, द० ।

मध्येविन्ध्यमथैक्षिष्ट^१ नर्मदां सरितुत्तमाम् । प्रततामिव तत्कीर्तिमासमुद्रमपारिकाम् ॥८२॥
 तरङ्गितपयोवेगां सुबो^२ वेणीमिवायताम् । पताकानिव विन्ध्यादेः शेषाद्विजयशंसिनीम् ॥८३॥
 सा धुनी बलसंक्षोभाद्बुद्धीमविहगावलिः । विभोरुपारामे बद्धतोरणेषु क्षणं व्यभात् ॥८४॥
 नर्मदा^३ सत्यमेवासीन्नर्मदा नृपयोधिताम् । बहुपौरुत्तरन्तीस्ताः शफरीभिरघट्टयत् ॥८५॥
 तामुत्तीर्य जनक्षोमाद्बुलपतपतगावलिम्^४ । बलं विन्ध्योत्तरप्रस्थानाक्रामत् कुतुषाक्षया^५ ॥८६॥
 तस्यां^६ दक्षिणतोऽपश्यत् विन्ध्यमुत्तरतोऽप्यसौ ।^७ द्विधाकृतमिवाऽमानमपर्वन्तं दिशोर्द्वयोः ॥८७॥
 स्कन्धावारमिवेशोऽस्य नर्मदाममितोऽद्युतत । प्रथिम्ना^८ विन्ध्यमावेष्टय स्थितो विन्ध्य इवापरः ॥८८॥
^९ गजैर्गण्डोपलैरश्वैरश्वकैश्च^{१०} विदुतैः । स्कन्धावारः स विन्ध्यश्च भिदां^{११} नावापतुर्मिथः ॥८९॥
 बलोपभुङ्गनिःशेषफलपल्लवपादपः । अप्रसूनलतावीरुद्विन्ध्यो बन्ध्यस्तदामवत् ॥९०॥
 वैणवैस्तपुर्बुलैर्मुक्ताफलमिश्रैः कृतार्चनाः । अध्यूषुः^{१२} सैनिकाः स्वैरं रभ्या विन्ध्याचलस्थलीः^{१३} ॥९१॥

देखा ॥८१॥ तदनन्तर उन्होंने विन्ध्याचलके मध्य भागमें समुद्र तक फैली हुई और किसी-से न रुकनेवाली उसकी कीर्तिके समान नर्मदा नामकी उत्तम नदी देखी ॥८२॥ जिसके जल-का प्रवाह अनेक लहरोंसे भरा हुआ है ऐसी वह नर्मदा नदी पृथिवीरूपी स्त्रीकी लम्बी चोटो-के समान जान पड़ती थी अथवा शेष सब पर्वतोंको जीत लेनेकी सूचना करनेवाली विन्ध्याचल-की विजय-पताकाके समान मालूम होती थी ॥८३॥ सेनाके क्षोभसे जिसके ऊपर पक्षियोंकी पंक्तियाँ उड़ रही हैं ऐसी वह नदी क्षण-भरके लिए ऐसा जान पड़ती थी मानो उसने चक्रवर्ती-के आनेपर तोरण ही बाँधे हों ॥८४॥ चूँकि वह नर्मदा नदी जलको पार करनेवाली रानियोंके लिए उनकी जाँधोंके पास मछलियोंके द्वारा धक्का देती थी इसलिए वह सचमुच ही उन्हें नर्मदा अर्थात् क्रीड़ा प्रदान करनेवाली हुई थी ॥८५॥ मनुष्योंके क्षोभसे जिसके पक्षियोंकी पंक्ति ऊपर-को उड़ रही है ऐसी उस नर्मदा नदीको पार कर उस सेनाने देहली समझकर विन्ध्याचलके उत्तर-की ओर आक्रमण किया ॥८६॥ वहाँ भरतने दक्षिण और उत्तर दोनों ही ओर विन्ध्याचलको देखा, उस समय दोनों ओर दिखाई देनेवाला वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो अपने दो भाग कर दोनों दिशाओंको ही अर्पण कर रहा हो ॥८७॥ भरतकी सेनाका पड़ाव नर्मदा नदी-के दोनों किनारोंपर था और वह ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो अपने विस्तारसे विन्ध्याचल-को घेरकर कोई दूसरा विन्ध्याचल ही ठहरा हो ॥८८॥ उस समय सेनाका पड़ाव और विन्ध्या-चल दोनों ही परस्परमें किसी भेद (विशेषता) को प्राप्त नहीं हो रहे थे क्योंकि जिस प्रकार सेनाके पड़ावमें हाथी थे उसी प्रकार विन्ध्याचलमें भी हाथियोंके समान ही गण्डोपल अर्थात् बड़ी-बड़ी काली चट्टानें थीं और सेनाके पड़ावमें जिस प्रकार अनेक घोड़े इधर-उधर फिर रहे थे उसी प्रकार उस विन्ध्याचलमें भी अनेक अश्वकण अर्थात् घोड़ोंके मुखके समान मुखवाले किन्नर जातिके देव इधर-उधर फिर रहे थे (कवि-सम्प्रदायमें किन्नरोंके मुखोंका वर्णन घोड़ोंके मुखोंके समान किया जाता है) ॥८९॥ सेनाने उस विन्ध्याचलके समस्त फल, पत्ते और वृक्षोंका उपभोग कर लिया था और लताओं तथा छोटे-छोटे पौधोंको पुष्परहित कर दिया था इसलिए वह विन्ध्याचल उस समय बन्ध्याचल अर्थात् फल-पुष्प आदिसे रहित हो गया था ॥९०॥ मोतियोंसे मिले हुए बीसी चावलोंसे जिनेन्द्रदेवकी पूजा करते हुए सैनिक लोगोंने वहाँ इच्छा-

१ -मवैक्षिष्ट अ०, स०, इ० । २ प्रवेणीम् । ३ नर्म क्रीडा तां ददातीति नर्मदा । ४ ऊरुसमीपे । यक्षो हृत्पुत्तरन्ती-ल० । ५ पक्षी । ६ देहतीति बुद्ध्या । ७ नर्मदायाः । ८ दक्षिणस्यां दिशि स्थितः । ९ उत्तरस्यां दिशि स्थितम् । १० विन्ध्याचलम् नर्मदाविन्ध्याचलमध्ये विभिन्न द्विधाकृत्य गतेति भावः । ११ पृथुत्वेन । १२ गण्डोलैः । १३ किन्नरैः । १४ भेदम् । १५ निवसन्ति स्म । १६ -स्थितिः ल० ।

कृतावासं च तत्रैतं दृष्टुस्तदभाविताः । वन्यैरुपायनैः इतास्यैरगदैश्च^१ महौषधैः ॥६२॥
उपानिन्युः^२ करीन्द्राणां दन्तानस्मै सर्वान्किकान् । किरातवर्षा^३ चर्या हि स्वोचिता सत्क्रिया प्रभा^४ ॥६३॥
पश्चिमात्रेन^५ विन्ध्यात्रिमुलङ्घ्योत्तीर्णं नर्मदाम् । चिजेगुमपरामाशां प्रतस्थे चक्रिणो बलम् ॥६४॥
गत्वा किञ्चिद्दुग्धभूयः प्रतीचीं^६ दिशमानशौ । प्राक् प्रतापोऽस्य दुर्वारः सत्तकं चरमं^७ बलम् ॥६५॥
तदा प्रचलदश्वीयखुरोद्धूतं^८ महीरजः । न केवलं द्विषां तेजो क्वाथं धुमणेरपि ॥६६॥
लाटा ललाटं^९ संवृष्टभृष्टाश्चादुभाषिणः । लालाटिकपत्रं^{१०} भञ्जुः प्रभोराशावशीकृताः ॥६७॥
केचित्सौराष्ट्रिकैर्जागीः परे^{११} पाञ्चनदीर्गजैः । तं तद्वनाधिपा वीक्षांचक्रिरे चक्रवालिताः ॥६८॥
चक्रसंदर्शनादेव शस्ता निर्मण्डलग्रहाः^{१२} । ग्रहा^{१३} इव नृपाः केचिन् चक्रिणो वशमाययुः ॥६९॥
दिश्यानिच^{१४} त्रिपान् क्षमापान्पृथुवंशाश्मदोद्भुरान् । प्रचक्रे^{१५} प्रगुणांश्चक्री बलादाक्रम्य विषपत्नीन् ॥७०॥
नृपान् सौराष्ट्रकानुष्ट^{१६} धामीशतभृतोपदान् । समाजयन् पभुर्भजे रन्या रैवतकस्थलीः^{१७} ॥७१॥

नुसार निवास किया था सो ठीक ही है क्योंकि विन्ध्याचलपर रहना बहुत ही रमणीय होता है ॥६१॥ विन्ध्याचलके वनोंके राजाओंने वनोंमें उत्पन्न हुई, रोग दूर करनेवाली और प्रशंसनीय बड़ी-बड़ी ओषधियाँ भेंट कर वहाँपर निवास करनेवाले राजा भरतके दर्शन किये ॥६२॥ भोलोंके राजाओंने बड़े-बड़े हाथियोंके दाँत और मोती महाराज भरतकी भेंट, किये सो ठीक ही है क्योंकि स्वामीका सत्कार अपनी योग्यताके अनुसार ही करना चाहिए ॥६३॥ विन्ध्या-चलको पश्चिमी किनारेके अन्तभागसे उल्लंघन कर और नर्मदा नदीको पार कर चक्रवर्ती-की सेनाने पश्चिम दिशाको जीतनेके लिए प्रस्थान किया ॥६४॥ वह सेना पहले तो कुछ उत्तर दिशाकी ओर बढ़ी और फिर पश्चिम दिशामें व्याप्त हो गयी । सेनामें सबसे आगे महाराज भरतका दुर्निवार प्रताप जा रहा था और उसके पीछे-पीछे चक्रसहित सेना जा रही थी ॥६५॥ उस समय वेगसे चलते हुए घोड़ोंके समूहके खुरोंसे उड़ी हुई पृथिवीको धूलिने केवल शत्रुओंके ही तेजको नहीं रोका था किन्तु सूर्यका तेज भी रोक लिया था ॥६६॥ जिन्होंने अपने ललाटसे पृथिवीतलको घिसा है और जो मधुर भाषण कर रहे हैं ऐसे भरतकी आज्ञासे वश किये हुए लाट देशके राजा उनके लालाटिक पदको प्राप्त हुए थे । (ललाटं पश्यति लाला-टिकः—स्वामी क्या आज्ञा देते हैं ? यह जाननेके लिए जो सदा स्वामीके मुखकी ओर ताका करते हैं उन्हें लालाटिक कहते हैं) ॥६७॥ चक्र रत्नसे विचलित हुए कितने ही वनके राजाओं-ने सौराष्ट्र देशमें उत्पन्न हुए और कितने ही राजाओंने पंजाबमें उत्पन्न हुए हाथी भेंट देकर भरतके दर्शन किये ॥६८॥ जो चक्रके देखनेसे ही भयभीत हो गये हैं और जिन्होंने अपने देशका अभिमान छोड़ दिया है ऐसे कितने ही राजा लोग सूर्य चन्द्र आदि ग्रहोंके समान चक्रवर्तीके वश हो गये थे । भावार्थ—जिस प्रकार समस्त ग्रह भरतके वशीभूत थे—अनुकूल थे उसी प्रकार उस दिशाके समस्त राजा भी उनके वशीभूत हो गये थे ॥६९॥ चक्रवर्ती भरतने दिग्गजोंके समान पृथुवंश अर्थात् उत्कृष्ट वंशमें उत्पन्न हुए (पक्षमें-पीठपर-की चौड़ी रीढ़से सहित) और मदो-दूर अर्थात् अभिमानी (पक्षमें-मदजलसे उत्कट) राजाओंको जबरदस्ती आक्रमण कर अपने वश किया था ॥७०॥ सैकड़ों ऊँट और घोड़ियोंकी भेंट लेकर आये हुए सौराष्ट्र देशके राजाओंसे

१ व्याधिघातकः । २ उपायनीकृत्य नयन्ति स्म । उपानिन्युः अ०, इ०, प०, स०, द० । ३ श्रेष्ठाः । ४ चर्या ल० । ५ विमी ल०, अ० । ६ पश्चिमात्रेन ल०, द० । ७ उत्तरदिशम् । ८ पश्चिमाम् । ९ पदवात् । १० खुरोद्भूतमहीरजः ल० । ११ संवृष्ट-इ०, प०, द० । १२ विशिष्टभूतपदम् । 'लालाटिकः प्रभोर्भाविदर्शी कार्यक्षमश्च यः' इत्यभिधानात् । १३ पञ्चनदीषु जातैः । १४ देशग्रहणरहिताः । १५ आदिग्रहणाः । १६ दिशि भवान् । १७ प्रगताम् । १८ उद्भूतसमूहभृतोपदान् । १९ तोषयन् । २० ऊर्जयन्तिपरिस्थलीः ।

सुराष्ट्रेवृजयन्ताहिमद्विराजमिवोच्छ्रितम् । यथा प्रदक्षिणीकृत्य सावित्रीं यमनुस्मरन् ॥१०२॥
 क्षीमांशुकदुकूलैश्च चीनपट्टाभरैरपि । पटीभेदैश्च देशैश्च ददशुस्तमुपायनैः ॥१०३॥
 काश्चित् समानदानान्यां काश्चिद्विषममसाधितैः । प्रयत्नैर्विहितैः काश्चिद् भूपान्विभुररअयत ॥१०४॥
 गजप्रबलैर्कैजां यद्वै रत्नैरपि पृथग्विधैः । तमानर्चुर्नृपास्तुष्टाः स्वराष्ट्रोपगतं प्रभुम् ॥१०५॥
 तरग्विभिर्भुग्मैर्धावयः सत्त्वगुणान्वितैः । तुरगैस्तुष्टाकांशैर्नृपमाराधयन् परे ॥१०६॥
 केचि काश्चाजवाह्नीकर्मनिलारट्टमन्धवैः । वानायुकैः सगान्धारवापय रपि वाजिमैः ॥१०७॥
 कुलीनकुलसंभूतैर्नानादिग्देशचारिभिः । आजानैर्यैः समग्राजैः प्रभुमैश्चन्त पाधिवाः ॥१०८॥
 प्रतिप्रयाणमिन्यस्य रत्नलाभो न केवलम् । यशोलाभश्च दुःसाध्यान् बलान् साधयतो नृपान् ॥१०९॥
 जलस्थलपथान् विप्रगारुह्य जयसाधनैः । प्रत्यन्तपालभूपालान्जयसत्त्वमृपतिः ॥११०॥
 विलङ्घ्य विविधान् देशानलपथानीः सरिद्गिरिन् । तत्र तत्र विभोराज्ञासेनानीराश्वशुश्रुषत् ॥१११॥
 प्राच्यानिव स भूपालान् प्रतीच्यानप्यनुकमान् । श्रावयन् हततन्मानधनः प्रापापराम्बुधिम् ॥११२॥

सेवा कराते हुए अथवा उनसे प्रीतिपूर्वक साक्षात्कार (मुलाकात) करते हुए चक्रवर्ती भरत गिरनार पर्वतके मनोहर प्रदेशोंमें जा पहुँचे ॥१०१॥ भविष्यत् कालमें होनेवाले तीर्थंकर नेमिनाथका स्मरण करते हुए वे चक्रवर्ती सोरठ देशमें सुमेरु पर्वतके समान ऊँचे गिरनार पर्वतकी प्रदक्षिणा कर आगे बढ़े ॥१०२॥ उन-उन देशोंके राजाओंने उत्तम-उत्तम रेशमी वस्त्र, चायना सिल्क तथा और भी अनेक प्रकारके अच्छे-अच्छे वस्त्र भेंट देकर महाराज भरतके दर्शन किये ॥१०३॥ भरतने कितने ही राजाओंको सन्मान तथा दानसे, कितने ही राजाओंको विश्वास तथा स्नेहपूर्ण बातनीतसे और कितने ही राजाओंको प्रसन्नतापूर्ण दृष्टिसे अनुरक्त किया था ॥१०४॥ कितने ही राजाओंने सन्तुष्ट होकर उत्तम हाथी, कुलीन घोड़े और अनेक प्रकारके रत्नोंसे अपने देशमें आये हुए महाराज भरतकी पूजा की थी—॥१०५॥ अन्य कितने ही राजाओंने बेगसे चलनेवाले, तथा शरीर, बुद्धि, अवस्था और बल आदि गुणोंसे सहित तुष्टक आदि देशोंमें उत्पन्न हुए घोड़ोंके द्वारा भरतकी सेवा की ॥१०६॥ कितने ही राजाओंने उसी देशके घोड़े-घोड़ियोंसे उत्पन्न हुए, तथा एक देशके घोड़े और अन्य देशकी घोड़ियोंसे उत्पन्न हुए, नाना दिशाओं और देशोंमें संचार करनेवाले, कुलीन और पूर्ण अंगोपांग धारण करनेवाले, काम्बोज, वाल्हीक, तैतिल, आरट्ट, सन्धव, वानायुज, गान्धार और वापि देशमें उत्पन्न हुए घोड़े भेंट कर महाराजके दर्शन किये थे ॥१०७-१०८॥ इस प्रकार भरतको प्रत्येक पड़ावपर केवल रत्नोंकी ही प्राप्ति नहीं हुई थी किन्तु अपने पराक्रमसे बड़े-बड़े दुःसाध्य (कठिनाइयोंसे जीते जाने योग्य) राजाओंको जीत लेनेसे यशकी भी प्राप्ति हुई थी ॥१०९॥ भरतके सेनापतिने अपनी विजयी सेनाओंके द्वारा चारों ओरसे जल तथा स्थलके मार्ग रोककर पहाड़ी राजाओंको जीता ॥११०॥ सेनापतिने अनेक प्रकारके देश, बड़े-बड़े जंगल, नदियाँ और पर्वत उल्लंघन कर सब जगह शीघ्र ही सम्राट् भरतकी आज्ञा स्थापित की ॥१११॥ इस प्रकार चक्रवर्ती क्रम-क्रमसे पूर्व दिशाके राजाओंके समान पश्चिम दिशाके राजाओंको भी वश करता हुआ तथा उसके अभिघात और धनका हरण करता हुआ पश्चिम समुद्रकी ओर

१ सूत्रवस्त्रद्वयं पटी । २ स्नेह । ३ श्रेष्ठः । ४ नानाविधैः । ५ तुष्टकदेशजात्याद्यैः । ६ तैतिल-आरट्ट-सिन्धुदेशजैः । ७ वानायुदेशे जातैः । ८ वापिदेशजनैः, पाण्यैः ६०, वाण्यैः ८० । ९ कुलीनैः । 'आजानेयाः कुलीनाः स्युः' इत्यभिधानात्, जात्यवैरित्यर्थः । १० प्रभो— ८० । ११ श्रावयति स्म ।

‘वेलासरित्करान्वाहिरतिवृत्तं प्रसारयन् । नूनं^१ प्रत्यग्रहीदेवं नानारत्नार्थमुद्वहन् ॥११३॥
 शूर्पान्मेयानि^२ रत्नानि धार्म्यप्रशंसिनी । यानपात्रमहामानैरुन्मेयान्यत्र तानि यत् ॥११४॥
 नान्यैव लवणाम्भोधिरित्युदन्वान् लघुकृतः । रत्नाकरोऽयमित्युच्चैर्बहु मेमे तदा नृपैः ॥११५॥
 पतन्त्यत्र पतद्गोऽपि^३ तेजसा याति मन्दताम् । दिदीपे तत्र तेजोऽस्य प्रसीच्या^४ जयतो नृपान् ॥११६॥
 धारयश्चक्ररत्नस्य^५ पारयः संगरादधेः^६ । द्विषा^७ मुदे^८ जयस्तीक्ष्णं स तिरमांशुरिवायुतन ॥११७॥
 अनुवादिं तर्तं गच्छा^९ सिन्धुद्वारे न्यतेऽस्य^{१०} । स्वमिवाशयम् ॥११८॥
 गिन्धोस्तद्वने रम्ये न्यविशज्ञास्य सैनिकाः । समुद्रिरदमंभोगनिकुञ्जीभूतपादपे^{११} ॥११९॥
 तत्राधिवासिताभोक्तः^{१२} पुरश्चरणकर्मवित्^{१३} । पुरोधो धर्मचक्रेशाभू^{१४} प्रपूज्य विधिवत्ततः ॥१२०॥
 सिद्धशेषाश्रितैः पुण्यैर्गन्धोदकविमिश्रितैः । अभ्यनन्दत्सुयज्वा^{१५} तं पुण्याशीमिश्र चक्रिणम् ॥१२१॥
 ततोऽस्मा^{१६} धृतद्विभ्यास्त्रो रथमारुह्य पूर्ववत्^{१७} । जगाम लवणाम्भोधि गोष्पदावशया प्रभुः ॥१२२॥

चला ॥११२॥ उस समय वह समुद्र ऐसा जान पड़ता था मानो किनारेपर बहनेवाली नदियाँरूपी हाथोंको बहुत दूर तक फैलाकर नाना प्रकारके रत्नरूपी अर्घको धारण करता हुआ महाराज भरतकी आगवानी ही कर रहा हो अर्थात् आगे बढ़कर सत्कार ही कर रहा हो ॥११३॥ जो लोग कहा करते हैं कि समुद्रके रत्न सूपसे नापे जा सकते हैं वे उसकी ठीक-ठीक प्रशंसा नहीं करते बल्कि अप्रशंसा ही करते हैं क्योंकि यहाँ तो इतने अधिक रत्न हैं कि जो बड़े-बड़े जहाजरूप नापोसे भी नापे जा सकते हैं ॥११४॥ यह समुद्र ‘लवण समुद्र’ इस नामसे बिलकुल ही लुच्छ कर दिया गया है, वास्तवमें यह रत्नाकर है इस प्रकार उस समय भरत-आदि राजाओंने उसे बहुत बड़ा माना था ॥११५॥ जिस दिशामें जाकर सूर्य भी अपने तेजकी अपेक्षा मन्द (फीका) हो जाता है उसी दिशामें पश्चिमी राजाओंको जीतते हुए चक्रवर्ती भरत का तेज अतिशय देदीप्यमान हो रहा था ॥११६॥ चक्ररत्नको धारण करता हुआ, युद्ध-रूपी समुद्रको पार करता हुआ और शत्रुओंको उद्विग्न करता हुआ वह भरत उस समय ठीक सूर्यके समान देदीप्यमान हो रहा था ॥११७॥ जो राज्यलक्ष्मीसे युक्त है ऐसे उस भरत-ने समुद्रके किनारे-किनारे जाकर अपने हृदयके समान कभी क्षुब्ध न होनेवाला अपनी सेनाका पड़ाव सिन्धु नदीके द्वारपर लगवाया । भावार्थ — जहाँ सिन्धु नदी समुद्रमें जाकर मिलती है वहाँ अपनी सेनाके डेरे लगवाये ॥११८॥ सेनाके हाथियोंके उपभोगसे जहाँके वृक्ष निकुंज अर्थात् लतागृहोंके समान हो गये हैं ऐसे सिन्धु नदीके किनारेके मनोहर वनमें भरतकी सेनाके लोगोंने निवास किया ॥११९॥ तदनन्तर कार्यके प्रारम्भमें करने योग्य समस्त कार्योंको जाननेवाले पुरोहितने वहाँपर मन्त्रोंके द्वारा चक्ररत्नकी पूजा कर विधिपूर्वक धर्मचक्रके स्वामी अर्थात् जिनेन्द्रदेवकी पूजा की और फिर गन्धोदकसे मिले हुए पवित्र सिद्ध शेषाश्रितों और पुण्यरूप अनेक आशीर्वादोंसे चक्रवर्ती भरतको आनन्दित किया ॥१२०—१२१॥ तदनन्तर

१ वेलासरित एव कराः तान् । २ इव । ३ प्रस्फोटनेन उन्मानुं योग्यानि । प्रस्फोटनं शूर्पमस्त्रीत्यभिधानात् । ४ वेला । —रिम्यप्रशंसिभिः ल० । प्रशस्तेऽपि न प्रशस्या । (प्रशस्ताऽपि न प्रशस्या) । ५ सूर्यः । ६ प्रसी-
 च्यानिति पाठः । ७ चक्ररत्नं धारयन् । ८ प्रतिज्ञासमुद्रं समाप्तं कुर्वन् । ९ शत्रून् । १० कम्पयन् । (एज
 कम्पने इति वानुः । ‘दारिपारिवेद्युदेजिजेतिसाहिसाहितिसम्पत्तिवोपसर्गात् इति कर्तरि शप् प्रत्ययः’ । ‘मध्ये
 कर्तरि शप्’ इति शब्दविधानात् एजधादेशः) । ११ नितरां हृस्वीभूत । १२ समन्त्रकं पूजितचक्ररत्नः (अनः
 शकटम् तस्याङ्गम् चक्रम्) । १३ पूर्वसेवा । १४ पञ्चपरमेष्ठिनः । १५ पुरोहितः । सुष्ठु दृष्टवान् । ‘यज्वा
 तु विधिनेष्टवान्’ इत्यमरः । ‘सुयजोऽयनिप्’ इति अतीतार्थे सुयजधानुष्ठां इवनिप्प्रत्ययः । १६ सागध-
 विजये यथा ।

प्रभा^१समजयत्तत्र प्रभासं व्यन्तराधिपम् । प्रभाससूहमकंस्थं स्वभासा तजयन्प्रभुः ॥१२३॥
जयश्रीशफरीजालं^२ मुक्ताजालं ततोऽमरात् । लेभे सान्तानिकीं^३ भालां हेममालां च चक्रभृत् ॥१२४॥
इति पुण्योदयाजिष्णुर्व्यजेष्टामरसत्तमान् । तस्मात् पुण्यधनं प्राप्ताः शश्वदजयतोर्जितम् ॥१२५॥

शार्दूलविक्रीडितम्

त्वङ्^४सुअतुरक्कसाधनक्षुरक्षुण्णां म्महीस्थण्डिलात्
उद्भूतैरणरै^५णुमिर्जलनिधेः कालुष्यमापादयन् ।
सिन्धुद्वारमुपेत्य तत्र विधिना जित्वा प्रभासासरं
तस्मात्सारधनान्यवापदतु श्रीरमर्णाश्चक्रिणाम् ॥१२६॥
लक्ष्म्यान्दोल^६लतामिवोरसि दधत् संतानपुष्पस्रजं
मुक्ताहेममयेन^७ जालयुगलेनालंकृतोच्चैस्तनुः ।
लक्ष्म्युद्वाह^८ गृहादिवाप्रतिमयो^९ निर्यन्त्रिधेरम्भसां
लक्ष्मीशो रुरुचे भृशं नववरच्छायां^{१०} परामुवहन् ॥१२७॥

जिसने दिव्य अस्त्र धारण किये हैं ऐसे भरतने पहलेके समान रथपर चढ़कर गोष्पदके समान-
तुच्छ समझते हुए, लवण समुद्रमें प्रवेश किया ॥१२२॥ अपनी प्रभासे सूर्यकी प्रभाके समूहको
तिरस्कृत करते हुए भरतने वहाँ जाकर अतिशय कान्तिमान् प्रभास नामके व्यन्तरीके स्वामी-
को जीता ॥१२३॥ तदनन्तर चक्रवर्तिने उस प्रभासदेवसे जयलक्ष्मीरूपी मछलीको पकड़ने-
के लिए जालके समान मोतियोंका जाल, कल्पवृक्षके फूलोंकी माला और सुवर्णका जाल भेंट
स्वरूप प्राप्त किये ॥१२४॥ इस प्रकार विजयी भरतने अपने पुण्यकर्मके उदयसे अच्छे-अच्छे
देवोंको भी जीता इसलिए हे पण्डितजन, तुम भी उत्कृष्ट फल देनेवाले पुण्यरूपी धनका सदा
उपार्जन करो ॥१२५॥ अनुपम लक्ष्मीके धारक भरत, उछलते हुए बड़े-बड़े घोड़ोंकी सेना-
के खुरोंसे खुदी हुई पृथिवीसे उड़ती हुई रथकी धूलिके द्वारा समुद्रको कल्पता प्राप्त कराते
हुए (गँदला करते हुए) सिन्धुद्वारपर पहुँचे और वहाँ उन्होंने विधिपूर्वक प्रभास नामके देवको
जीतकर उससे सारभूत धन प्राप्त किया ॥१२६॥ जो अपने वक्षःस्थलपर लक्ष्मीके झूला-
की लताके समान कल्पवृक्षके फूलोंकी माला धारण किये हुए है, जिसका ऊँचा शरीर मोती
और सुवर्णके बने हुए दो जालोंसे अलंकृत हो रहा है, जो निर्भय है और लक्ष्मीका स्वामी है
ऐसा यह भरत लक्ष्मीके विवाहगृहके समान समुद्रसे निकल रहा है और नवीन वरकी उत्कृष्ट
कान्तिको धारण करता हुआ अत्यन्त सुशोभित हो रहा है ॥१२७॥ इस प्रकार समुद्र-पर्यन्त
पूर्व दिशाके राजाओंको, वैजयन्त पर्वत तक दक्षिण दिशाके राजाओंको और पश्चिम समुद्र

१ प्रकृष्टशीप्तिम् । २ जयश्रीरेव शफरी मत्सी तस्या जालम् पाशः । ३ कल्पवृक्षजालाम् । ४ वल्यन् । ५ चूर्णी-
कृतात् । ६ पार्कराग्रायप्रदेयात् । ७ सङ्गरपांशुभिः । ८ संपादयन् । ९ लक्ष्म्याः प्रेङ्खोलिकारज्जुम् ।
१० मालायुग्मेन । ११ विवाहः । १२ भयरहितः । १३ नूतनवरशोभाम् ।

प्राच्या 'नाजलधे' रपाय्यभूपर्त्ता 'नावैजङ्गन्ताजयन्
 निर्जित्यापरसिन्धुसीमघटितामात्रां प्रतीचीमपि ।
 दिक्पालानि च पार्थिवान्प्रणमयन्नाकम्पयन्नाकिनो
 दिक्चक्रं विजितारिचक्रमकरोद्विंशं स भूभृत्प्रभुः ॥१२८॥
 पुण्याश्चैकधरश्रियं विजयिनीसैन्द्रीं च दिव्यश्रियं
 पुण्यासीर्थकरश्रियं च परमां नैःश्रेयसीं चाश्नुते ।
 पुण्यादित्यसुभृद्विद्यां चतसृणामाविर्भवेद् भाजनं
 तस्मात्पुण्यसुपार्जयन्तु सुधियः पुण्याग्निनेत्रागमात् ॥१२९॥

इत्युक्त्वा भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीतो त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहो
 पश्चिमाणवद्वारविजयवर्णनं नाम त्रिंशं पर्व ॥३०॥



को सीमा तक पश्चिम दिशाको जीतकर दिक्पालोंके समान समस्त राजाओंसे नमस्कार कराते हुए तथा देवोंको भी कम्पायमान करते हुए राजाधिराज भरतने समस्त दिशाओंको शत्रुरहित कर दिया ॥१२८॥ पुण्यसे सबको विजय करनेवाली चक्रवर्तीकी लक्ष्मी मिलती है, इन्द्रकी दिव्य लक्ष्मी भी पुण्यसे मिलती है, पुण्यसे ही तीर्थंकरकी लक्ष्मी प्राप्त होती है और परम कल्याणरूप मोक्षलक्ष्मी भी पुण्यसे ही मिलती है इस प्रकार यह जीव पुण्यसे ही चारों प्रकारकी लक्ष्मीका पात्र होता है, इसलिए हे सुधी जन ! तुम लोग भी जिनेन्द्र भगवान्के पवित्र आगमके अनुसार पुण्यका उपार्जन करो ॥१२९॥

इस प्रकार आर्य नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहके भाषानुवादमें पश्चिमसमुद्रके द्वारका विजय वर्णन करनेवाला तीसरा पर्व समाप्त हुआ ।



एकत्रिंशत्तमं पर्व

कौशेरीमथ निर्जेतुमाशामभ्युद्यतो विभुः । प्रतस्थे वाजिभूयिष्ठैः साधनैः स्थगयन् दिशः ॥१॥
 धौरितं^१ गतं^२ मुखाहैः सत्त्वं शिक्षां च लावचैः । जातिं वपुर्गुणैस्तज्जास्वदाश्वानां विजज्ञिरे^३ ॥२॥
 धौरितं गतिचतुर्यमुखाहस्तु पराक्रमः । शिक्षाविनयसंपत्ता रोमच्छाया वपुर्गुणः ॥३॥
 पुरोमागा निवात्येतुं^४ पश्चाज्जागैः^५ कृतोद्यमाः । प्रययुर्मुतमध्वानमध्वनीनां स्तुरङ्गमाः ॥४॥
 खुरोद्भूतान् महीरेणून् स्वाप्तस्पर्ता^६ सप्रापिह । केचित्^७ द्युती^८ शरध्वज^९ सहाधाः हतलिकमाः ॥५॥
 छायात्मानः^{१०} सहोत्थानं^{११} केचित्सौहृमिवाक्षमाः । खुरैरवद्व्यन् बाहाः स तु संक्षम्याकदाधितः ॥६॥
 केचिन्नृपमिवातेनुमंहोरक्ते तुरङ्गमाः । क्रमैश्चक्रमणारम्भे^{१२} कृतमङ्गुकवादनैः^{१३} ॥७॥
 स्थिरप्रकृतिसखानामश्वानां चलताऽभवत् । प्रचलत्खुरसंक्षुण्णभुवां गतिषु केवलम् ॥८॥
 कोटयोऽष्टादशास्य स्युर्वाजिनां वायुरंहसाम्^{१४} । आज्ञानेयप्रधानानां^{१५} योग्यानां चक्रवर्तिनः ॥९॥
 खुरोधीवनाक्षुण्णहृतटभूर्हासयन्त्यपः । सिन्धोः^{१६} प्रतीपतां^{१७} भेजे प्रयान्ती सा पताकिनी ॥१०॥

अथानन्तर—उत्तर दिशाको जीतनेके लिए उद्यत हुए चक्रवर्ती भरत जिनमें अनेक घोड़े हैं ऐसी सेनाओंसे दिशाओंको व्याप्त करते हुए निकले ॥१॥ उस समय घोड़ोंके गुण जानने वाले लोगोंने धौरित नामकी गतिसे उनकी चाल जानी, उत्साहसे उनका बल जाना, स्फूर्तिके साथ हलकी चाल चलनेसे उनकी शिक्षा जानी और शरीरके गुणोंसे उनकी जाति जानी ॥२॥ गतिकी चतुराईको धौरित, उत्साहको पराक्रम, विनयको शिक्षा और रोमोंकी कान्तिको शरीरका गुण कहते हैं ॥३॥ अच्छी तरह मार्ग तय करनेवाले घोड़े मार्गमें बहुत जल्दी-जल्दी जा रहे थे और ऐसे जान पड़ते थे मानो अपने पीछेके भागोंसे अगले भागोंको उल्लंघन ही करना चाहते हों ॥४॥ अपने खुरोंसे उड़ती हुई पृथिवीकी धूलिका कहीं हमारे ही शरीरके साथ स्पर्श न हो जावे इस भयसे ही मानो अनेक बड़े-बड़े घोड़े अपना पराक्रम प्रकट करते हुए मार्गमें उस धूलिको उल्लंघित कर रहे थे ॥५॥ कितने ही घोड़े अपनी छायाका भी अपने साथ चलना नहीं सह सकते थे इसलिए ही मानो वे उसे अपने खुरोंसे तोड़ रहे थे परन्तु सूक्ष्म होनेसे उस छायाको कुछ भी बाधा नहीं होती थी ॥६॥ कितने ही घोड़े ऐसे जान पड़ते थे मानो चलनेके प्रारम्भमें बजते हुए नगाड़े आदि बाजोंके साथ-साथ अपने पैरोंसे पृथ्वीरूपी रंगभूमिपर नृत्य ही कर रहे हों ॥७॥ जिनका स्वभाव और पराक्रम स्थिर है परन्तु जिन्होंने अपने चलते हुए खुरोंसे पृथ्वी खोद डाली है ऐसे घोड़ोंकी चंचलता केवल चलनेमें ही थी अन्यत्र नहीं थी ॥८॥ जिनका वेग वायुके समान है, जो उत्तम जातिके हैं और जो योग्य हैं ऐसे चक्रवर्तीके घोड़ोंकी संख्या अठारह करोड़ थी ॥९॥ जिसने किनारेके वन रोक लिये हैं, जिसने किनारेकी पृथिवी-

१ धाराभिः । 'आस्कन्दितं धौरितकं रेचितं वलितं प्लुतम् । गतयोऽमूः पञ्च धाराः ।' पदैः प्लुतयोः प्लुत्य गमनम् आस्कन्दितम् । कङ्कशिखिक्रोडनकुलगतैः सदृशम् धौरितकम् । मध्यमवर्गेण चक्रवद् भ्रमणम् रेचितम् । पद्भिर्वलितम् वलितम् । मृगसाम्येन लङ्घनं प्लुतम् । आस्कन्दितादीनि पञ्चपदानि धाराशब्दवाच्यानि । धारेत्यश्वगतिः, सा ये आस्कन्दितादिभेदेन पञ्चविधा भवतीत्यर्थः । २ गमनम् । ३ बुद्धिरे । ४ पूर्वकायान् । ५ अतिगन्तुम् । ६ अपरकार्यः । ७ अध्वनि समर्थाः । ८ अतीत्यागच्छन् । ९ मार्ग । १० छायास्वरूपस्य । ११ छायात्मा । १२ शीघ्रगमनारम्भे । १३ वाद्यविशेषः । १४ पवनवेगिनाम् । १५ जात्यश्वमुत्थानाम् । १६ सिन्धुनद्याः । १७ प्रतिकूलताम् ।

प्रभोरिवागमासुष्टा सिन्धुः सैन्याधिनायकान् । तरङ्गपवनैर्मन्दमासिधेये सुखाहरैः^१ ॥११॥
 गङ्गावर्णनयोपेतां फेनार्घा^२ संमुखागताम् । तौ पश्यन्नुत्तरामाशां जितां मेने निधीश्वरः ॥१२॥
 अनुसिन्धुतटं सैन्यैरुदीच्यान् साधयन्नुपान् । विजयार्द्राचलोपान्तमामलाद शनैर्मनुः ॥१३॥
 स गिरिमणिनिर्माणनक्षकूटविशङ्कटः^३ । दहसे प्रभुणा वृत्ताद् धृतार्घ इव राजतः^४ ॥१४॥
 स शैलः पवनाधूतचक्रशाखाप्रवाहुभिः । वृत्तादभ्यागतं जिष्णुमासुहावेव पादपैः ॥१५॥
 सोऽचलः शिखरोपान्तनिपतश्चिरांस्तुभिः । प्रभोरुपागमे पाथं^५ संविधिस्तुस्वाचकात्^६ ॥१६॥
 स नभो नागपुत्रागपूगादिद्रुमसङ्कटैः^७ । रम्यैस्तटवनोद्देशैराहूत प्रभुमिवासितुम् ॥१७॥
 राजो वितानयन्^८ पौष्पं पञ्चैः पशितो वनम् । सोऽभ्युत्तिष्ठसिवास्यासीत् कूजरकोकिलजिण्डिमः ॥१८॥
 किमथ बहुना खोऽद्विष्टं दिग्विजयोत्थम् । प्रभोरुपगमे संधीरस्य सत्काराङ्गीरतिस्फुटैः ॥१९॥
 ११ पिनद्धतोरणा मुच्चैरतीत्य वनवेदिकाम् । नियन्त्रितं^{१२} बलाध्यक्षैर्जगाहेऽन्तर्जनं बलम् ॥२०॥
 वनोपान्तभुवः सैन्यैराहूता रुद्धदिक्षुषैः । उद्ध्वानविहगप्राणा निरुच्छ्वासास्तदाभवन् ॥२१॥

तोड़ दी है और जो जलको कम करती जाती है ऐसी चलती हुई वह सेना मानो सिन्धु नदीके साथ शत्रुता ही धारण कर रही थी। भावार्थ—वह सेना सिन्धु नदीकी हानि पहुँचाती हुई जा रही थी ॥१०॥ वह सिन्धु नदी मानो चक्रवर्ती भरतके आनेसे सन्तुष्ट होकर ही सुख देनेवाली अपनी लहरोंके पवनसे धीरे-धीरे सेनाके मुख्य लोगोंकी सेवा कर रही थी ॥११॥ जो गंगा नदीके समस्त वर्णनसे सहित है और फेनोंसे भरी हुई है ऐसी सामने आयी हुई सिन्धु नदीको देखते हुए निधिपति—भरत उत्तर दिशाको जीती हुईके समान समझने लगे थे ॥१२॥ सिन्धु नदीके किनारे-किनारे अपनी सेनाओंके द्वारा उत्तर दिशाके राजाओंको वश करते हुए कुलकर—भरत धीरे-धीरे विजयार्द्र पर्वतके समीप जा पहुँचे ॥१३॥ जो मणियोंके बने हुए नी शिखरोंसे बहुत विशाल मालूम होता था ऐसा वह चाँदीका विजयार्द्र पर्वत भरतने दूरसे ऐसा देखा मानो शिखरोंके बहानेसे अर्घ ही धारण कर रहा हो ॥१४॥ जिनकी शाखाओंके अग्रभागरूपी भुजाएँ वायुसे हिल रही हैं ऐसे वृक्षोंसे वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो दूरसे सन्मुख आये हुए विजयी भरतको बुला ही रहा हो ॥१५॥ शिखरोंके समीपसे ही पड़ते झरनोंके जलसे वह पर्वत ऐसा अच्छा सुशोभित हो रहा था मानो चक्रवर्ती भरतके आनेपर उनके लिए पाद्य अर्थात् पौर धोनेका जल ही देना चाहता हो ॥१६॥ वह पर्वत पुत्राग, नागकैसर और सुपारी आदिके वृक्षोंसे भरे हुए तथा मनोहर अपने किनारेके वनके प्रदेशोंसे ऐसा जान पड़ता था मानो विश्राम करनेके लिए स्वामी भरतको बुला ही रहा हो ॥१७॥ जो अपने वनके चारों ओर वायुसे उड़ते हुए फूलोंकी परागका चँदोवा तान रहा है और शब्द करते हुए कोकिल ही जिसके नगाड़े हैं ऐसा वह पर्वत भरतका सन्मान करनेके लिए सामने खड़े हुए के समान जान पड़ता था ॥१८॥ इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या लाभ है ? इतना ही बहुत है कि वह पर्वत बड़े प्रेमसे प्रकट किये हुए सत्कारके सब साधनोंसे दिग्विजय करनेके लिए उद्यत हुए भरतका मानो सत्कार ही कर रहा था ॥१९॥ जिसके चारों ओर तोरण बँधे हुए हैं ऐसी वनकी ऊँची वेदीका उल्लंघन कर सेनापतियोंके द्वारा नियन्त्रित की हुई (वश की हुई) सेनाने वनके भीतर प्रवेश किया ॥२०॥ समस्त दिशाओंमें फैलनेवाली सेनाओंसे उस वनके समीप

१ सुखस्याहरणम् स्वीकारी घेम्प(पञ्चमी) स्ते तैः, सुखाकरैरित्यर्थः । २ फेनाहयाम् प०, ल० । ३ विशालः । ४ राजतमयः । ५ संविधातुमिच्छुः । ६ अभात् । ७ संकुलैः, ल०, प०, द०, स०, अ०, इ० । ८ वस्तुम् । ९ विस्तारयन् । १० अभिमुखमुष्ठितम् । ११ विभक्त अ०, प०, द०, स०, ल०, इ० । १२ नियमितम् ।

अभूत्तर्कमुद्भूतप्रतिध्वानं बलध्वनिम् । श्रुत्वा ^१ 'अलवदुन्नेसु' स्तिर्यञ्जो बन्गोचराः ॥२२॥
 बलध्वानादिभ्यो ^२ निर्वन् बलध्वानोऽभाद् वनान्तरात् । सुरेभ्यः ^३ सुविनकाङ्गः ^४ सुरेभ्यः इव वर्ष्मणा ॥२३॥
 पञ्चोच्चरुभगादस्य व्याददौ ^५ किल केपरी । न मेऽस्त्यन्तर्गते किञ्चित् पश्येत्तत्र दृश्यन् ॥२४॥
 नरयो रभस्यादुर्व्यमुत्पन्नोत्तानितः पतन् । सुस्थ एव पदैः पृष्ठैरेवधुसिर्भोर्कुशलात् ^६ ॥२५॥
^७ 'विशयोऽल्लिखितस्कन्धा' रुपिनाऽऽताम्रिनेक्षणः ^८ । तुरीयत्वात्तन्निः सैन्यैर्दृश्यो मङ्गिर्वा विभीः ^९ ॥२६॥
 चभ्रवश्चोद्भूतः ^{१०} साध्वयाः क्षुद्रका मृगाः । विजयार्थगुहोत्सरात् युगत्रय ^{११} इवाश्रयन् ॥२७॥
 अनुदुगा ^{१२} मृगाः शार्पैः पलायं चक्रिरेऽभितः । विप्रस्तः वेपमानाङ्गः ^{१३} सिन्धुभयस्वरिव ॥२८॥
 नराहाररति ^{१४} सुक्त्वा वराहा मुक्तपल्लवाः ^{१५} । विनेपु ^{१६} विस्फुटयूगा ^{१७} श्रमूओमादिनामुक्तः ॥२९॥
^{१८} 'वरणावरणास्तस्थुः करिणोऽन्ये मयद्रुताः । हरिणा हरिणा' रातिगुहान्तानाधिपतिश्चिरं ॥३०॥

की समस्त भूमियाँ भर गयी थीं, उनके पक्षीरूपी प्राण उड़ गये थे और उस समय वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो वेनाओके जोजमे दबकर मानी मर ही गयी हों ॥२१॥ जो पहले कभी मुननेमें नहीं आया था और जिनकी प्रतिध्वनि उठ रही थी ऐसा सेनाका कलकल शब्द मुनकर वनमें रहनेवाले पशु बहुत ही भयभीत और दुःखी हो गये थे ॥२२॥ जो अपने शरीरकी अपेक्षा ऐरावत हाथीके समान था, जिसके समस्त अंगो-पांगोंका विभाग ठीक-ठीक हुआ था, और जो मधुर गर्जना कर रहा था ऐसा कोई सफेद रंगका हाथी सेनाके क्षोभसे वनके भीतरसे निकलता हुआ बहुत ही अच्छा सुनोर्भित हो रहा था ॥२३॥ मेरे मनमें कुछ भी भय नहीं है जिसकी इच्छा हो सो देख लें उस प्रकार दिखलाता हुआ ही मानो कोई सिंह जागकर जमुहाई लेता हुआ मुँह खोल रहा था ॥२४॥ अष्टापद जड़े वेगसे ऊपरकी ओर उछलकर ऊपरकी ओर मुँह करके नीचे पड़ गया था परन्तु बनानेवाले (नामकर्म) की चतुराईसे पीठपरके षण्णोरी ठीक-ठीक आ खड़ा हुआ था—उसे कोई चोट नहीं आयी थी ॥२५॥ जो पत्थरसे अपने कन्धे घिस रहा है, जिसके नेत्र क्रोधित होनेसे कुछ-कुछ लाल हो रहे हैं और जो मुरोंसे पृथिवी खोद रहा है ऐसा एक निर्भय भैंसा सेनाके लोगोंने देखा था ॥२६॥ सेनाके शब्द मुननेसे जिनके भय उत्पन्न हो रहा है ऐसे छोटे-छोटे पशु प्रलयकालके समान विजयार्थ पर्वतकी गुफाओंके मध्य भागका आश्रय ले रहे थे । भावार्थ—जिस प्रकार प्रलयकालके समय जीव विजयार्थकी गुफाओंमें जा छिपते हैं उसी प्रकार उस समय भी अनेक जीव सेनाके शब्दोंसे डरकर विजयार्थकी गुफाओंमें जा छिपे थे ॥२७॥ जिनके पीछे-पीछे वृद्धे दौड़ रहे हैं और जिनका शरीर काँप रहा है ऐसे डरे हुए हरिण चारों ओर भाग रहे थे तथा वे उस समय ऐसे मालूम होते थे मानो भयरूपी रससे सींचे ही गये हों ॥२८॥ सेनाके क्षोभसे जिन्होंने जलमें भरे हुए छोटे-छोटे तालाब (तलैया) छोड़ दिये हैं और जिनके झुण्ड बिखर गये हैं ऐसे गूँघर अपने उत्तम आहारमें प्रेम छोड़कर इधर-उधर घूम रहे थे ॥२९॥ कितने ही अन्य हाथी भयसे भागकर वृक्षोंसे ढकी हुई जगहमें छिपकर जा पड़े हुए थे और हरिण सिंहोंकी गुफाओं

१ अधिकम् । २ तत्रसुः । ३ अवलः । ४ रेजे । ५ शोभनध्वनिः । ६ सुवदन्तावयवः । ७ देवगणः । ८ विवृत-मकरोत् । ९ पृष्ठवर्त्तिभिः । १० निर्माणकर्म अथवा त्रिविधः । ११ पापयणो ल० । १२ रोपेयारुणीकृतः । १३ निर्भीतिः । १४ सेनाव्यवहारकर्णनाञ्जान । १५ प्रलयकाले यथा । १६ अनुगताः । १७ कम्पमानशरीराः । १८ उन्मृष्टाहारप्रोत्तिम् । १९ व्यवनवेशताः । २० नशान्ति स्म । विविणुः ल० । २१ विप्रकीर्णवृन्दाः । २२ वृक्षविशेषाच्छादनाः गन्तः । २३ सिंहः ।

इति-सत्त्वा वनस्यैव प्राणाः प्रचलिता बृशम् । प्रत्यापलि^१ चिरार्दायुः^२ सैन्यश्रोभं प्रसेदुधि^३ ॥३५॥

^४प्रयायानुवनं किंचिदन्तरं तदनन्तरम् । ^५रूप्यात्रैर्मध्यमं कूटं संनिहृप्य^५ स्थितं बलम् ॥३६॥

ततस्तस्मिन् वने मन्दं मसतां दोलितद्रुमे । नृपाज्ञया बलाध्यक्षाः स्कन्धाधारं न्यवेशयन् ॥३७॥

स्वैरं जगृहुरावासान् सैनिकाः सानुमच्छदे^६ । स्वयं गलन्प्रसूनौघं वनशाशि घने वने ॥३८॥

सरस्तीस्तल्पान्तकृतामपहपगोचराः । रम्या बभूवुरावासाः सैनिकानामवततः ॥३९॥

वनप्रवेशमुन्मुग्धाः^७ प्राहुर्वैराग्यकारणम् । तत्प्रवेशो^८ यतस्तेषामभवद् रागवृद्धयं ॥४०॥

अथ तत्र कृतावासां ज्ञात्वा मनियमं प्रभुम् । अगाधमास्रवन् द्रष्टुं विजयार्धाधिपः सुरः ॥४१॥

निरीदशिश्वरोद्गो लम्बप्रालम्बनिर्झरः^९ । स मास्त्रकटको^{१०} रेजे राजताद्रिरिषापरः ॥४२॥

सितांशुकधरः स्रग्वी हरिचन्दनचर्चितः । स शर्मा धृतरत्नाघो निधिः शङ्ख ह्रवोच्छ्रितः ॥४३॥

ससंभ्रमं च सोऽभ्येक्ष्य प्रह्वतामगमत्प्रभोः । सखत्कारं च तं चक्री मद्रासनमलम्भयत् ॥४४॥

के भीतर ही जा ठहरे थे ॥३०॥ इस प्रकार वनके प्राणोंके समान अत्यन्त चंचल हुए प्राणी सेनाका श्रोभ शान्त होतेपर बहुत देरमें अपने-अपने स्थानोंपर वापस लौटे ॥३१॥ तदनन्तर वह सेना वन ही वन कुछ दूर जाकर विजयार्ध पर्वतके पाँचवें कूटके समीप पहुँचकर ठहर गयी ॥३२॥ सेनाके ठहरनेपर सेनापतियोंने महाराजकी आज्ञासे, जिसके वृक्ष मन्द-मन्द वायुसे हिल रहे थे ऐसे उस वनमें सेनाके डेरे लगवा दिये थे ॥३३॥ जिसमें अपने आप फूलोंके समूह गिर रहे हैं और जो घने-घने लगे हुए वृक्षोंसे सघन हैं ऐसे विजयार्ध पर्वतके किनारेके वनमें सैनिक लोगोंने अपने इच्छानुसार डेरे ले लिये थे ॥३४॥ सरोवरोंके किनारेके वृक्षोंके समीप ही जो लतागूहोंके स्थान थे वे बिना प्रयत्न किये ही सेनाके लोगोंके मनोहर डेरे हो गये थे ॥३५॥ 'वनमें प्रवेश करना वैराग्यका कारण है, ऐसा मूर्ख मनुष्य ही कहते हैं क्योंकि उस वनमें प्रवेश करना उन सैनिकोंकी रागवृद्धिका कारण हो रहा था । भावार्थ—वनमें जानेसे सेनाके लोगोंका राग बढ़ रहा था इसलिए वनमें जाना वैराग्यका कारण है ऐसा कहनेवाले पुरुष मूर्ख ही हैं ॥३६॥

अथानन्तर—महाराज भरतको वहाँ नियमानुसार ठहरा हुआ जानकर विजयार्ध पर्वतका स्वामी विजयार्ध नामका देव मागध देवके समान भरतके दर्शन करनेके लिए आया ॥३७॥ उस समय वह देव किसी दूसरे विजयार्ध पर्वतके समान सुशोभित हो रहा था, क्योंकि जिस प्रकार विजयार्ध पर्वत शिखरसे ऊँचा है उसी प्रकार वह देव भी मुकुटरूपी शिखरसे ऊँचा था, जिस प्रकार विजयार्ध पर्वतपर झरने झरते हैं उसी प्रकार उस देवके गलेमें भी झरनोंके समान हार लटक रहे थे और जिस प्रकार विजयार्ध पर्वतका कटक अर्थात् मध्यभाग देदीप्यमान है उसी प्रकार उसका कटक अर्थात् हाथोंका कड़ा भी देदीप्यमान था ॥३८॥ जो सफेद वस्त्र धारण किये हुए है, मालाएँ पहने है, जिसके शरीरपर सफेद चन्दन लगा हुआ है और जो रत्नोंका अर्घ्य धारण कर रहा है ऐसा वह देव खड़ी की हुई शंख नामक निधिके समान सुशोभित हो रहा था ॥३९॥ उस देवने बड़ी शीघ्रताके साथ आकर चक्रवर्तीको नमस्कार किया और

१ पुनस्तत्प्राप्ति पूर्वस्थितिमित्यर्थः । २ जग्मुः । ३ प्रशान्ते सति । ४ गत्वा । ५ रूप्यात्रैः ५०, ६०, ७० । ६ सानुमच्छदे । ७ अद्रिसानौ । ८ 'निपु निमित्तसमारोहपरिणाहवर्णोदघनाघनोपघन-निघोषसंघामूर्त्यत्यादानाङ्गासन्ननिमित्तप्रशस्तगणा' इति सूत्रेण निमित्तार्थनिघशब्दो निपातितः निमित्त-शब्दः समारोहपरिणाहे वर्तते ऊर्ध्वविशालतायां वर्तते इत्यर्थः । समारोहपरिणाह 'परिणाहो विशालता' उक्तेः विशालः इत्यर्थः । अस्मिन्नर्थे घनोदघनाघनोपघननिघद्वयसंघामूर्त्यत्यादानाङ्गासन्ननिमित्तप्रशस्तगणा इति निपातनात् सिद्धिः । ९ जडाः । १० यस्मात् कारणात् । ११ ऋजुलम्बिहारः । १२ करबलयः एव सानु ।

१ गोपायिताऽहमस्याद्रेर्मध्यमं कृत्वा माधवम् । स्वैरचारी चिरादथ त्वयाऽस्मि परवान् २ विमो ॥४१॥
 विद्धि मां विजयार्द्धाख्यमभुं च गिरिमूर्जितम् । अन्योऽन्यं संश्रयादावाभलं ध्यायन्नलस्थिती ॥४२॥
 देव दिग्विजयस्यार्द्धं विमज्जनेष सानुमान् । विजयार्द्धं श्रुतिं धत्ते तात्स्थ्यात् तद्रूपो वयम् ॥४३॥
 आयुष्मन् युष्मदीयार्द्धं मूर्ध्ना सज्जमिवोद्धृत् । पदातिनिर्विशेषोऽस्मि विशाप्यं किमतः परम् ॥४४॥
 इति श्रुवंस्तथोत्थाय शिवैस्तीर्थान्मुनिः प्रभुम् । सोऽन्यविजयं सूरः सार्द्धं स्वं नियोगं निवेदयन् ॥४५॥
 तदा प्रणेदुरासन्दमानकाः पथि वामुचाम् । विचेरुर्मरुतो मन्दमाधूतवनवीथयः ॥४६॥
 वनतुः सुरनर्तक्यः सलीलानर्तितभुवः । जगुश्च मङ्गलान्यस्य जयशंसीनि किञ्चराः ॥४७॥
 कृताभिषेकमेनं च शुभनेपथ्यधारिणम् । युयोज स्तनलाभेन लम्भयन् स जयाशिषः ॥४८॥
 स तस्मै रत्नभृङ्गारं सितभालपवारणम् । प्रकीर्णकं युगं दिव्यं ददौ च हरिविष्टरम् ॥४९॥
 इति प्रसाधितस्तेन वचोभिः सानुवर्तनैः । प्रसादतरुणां दृष्टिं तत्र व्यापारयत् प्रभुः ॥५०॥
 विसर्जितश्च सानुक्तं प्रभुणा कृतसत्क्रियः । सूर्यारवं प्रतिपद्यास्य स्वमोकः प्रत्यगात् सुरः ॥५१॥
 विजयार्द्धं जिते कूरस्तेन जितं दक्षिणभारतम् । मन्वानो मिथिराट् तच्च चक्ररत्नमपूजयत् ॥५२॥

चक्रवर्तीने भी उसे सत्कारपूर्वक उत्तम आसनपर बैठाया ॥४०॥ भरतसे उस देवने कहा कि मैं इस पर्वतका रक्षक हूँ और इस पर्वतके बीचके शिखरपर रहता हूँ । हे प्रभो, मैं आजतक अपनी इच्छानुसार रहता था—स्वतन्त्र था परन्तु आज बहुत दिनमें आपके अधीन हुआ हूँ ॥४१॥ मुझे तथा इस ऊँचे पर्वतको आप विजयार्द्ध जानिए अर्थात् हम दोनोंका नाम विजयार्द्ध है और हम दोनों ही परस्पर एक दूसरेके आश्रयसे अलंध्य तथा निश्चल स्थितिसे युक्त हैं ॥४२॥ हे देव, यह पर्वत दिग्विजयका आधा-आधा विभाग करता है इसलिए ही यह विजयार्द्ध नामको धारण करता है और उसपर रहनेसे मेरा भी विजयार्द्ध नाम रूढ़ हो गया है ॥४३॥ हे आयुष्मन्, मैं आपकी आज्ञाको मालाके समान मस्तकपर धारण करता हूँ और आपके पैदल चलनेवाले एक सैनिकके समान ही हूँ, इसके सिवाय मैं और क्या प्रार्थना करूँ ? ॥४४॥ इस प्रकार कहता हुआ और 'दिग्विजय करनेवाले चक्रवर्तियोंका अभिषेक करना मेरा काम है' इस तरह अपने नियोगकी सूचना करता हुआ वह देव उठा और अनेक देवोंके साथ-साथ कल्याण करनेवाले तीर्थंजलसे सम्राट् भरतका अभिषेक करने लगा ॥४५॥ उस समय आकाशमें गम्भीर शब्द करते हुए नगाड़े बज रहे थे और वन-गलियोंको कम्पित करता हुआ वायु धीरे-धीरे बह रहा था ॥४६॥ लीलापूर्वक भौंहोको नचाती हुई नृत्य करनेवाली देवांगनाएँ नृत्य कर रही थीं और किन्नर देव भरतकी विजयको सूचित करनेवाले मंगलगीत गा रहे थे ॥४७॥ तदनन्तर जिनका अभिषेक किया जा चुका है और जो सफेद वस्त्र धारण किये हुए हैं ऐसे भरतको विजय करनेवाला आशीर्वाद देते हुए उस देवने अनेक रत्नोंको प्राप्तिसे युक्त किया अर्थात् अनेक रत्न भेंट किये ॥४८॥ उस देवने उनके लिए रत्नोंका भृंगार, सफेद छत्र, दो चमर और एक दिव्य सिंहासन भी भेंट किया था ॥४९॥ इस प्रकार ऊपर लिखे हुए सत्कारसे तथा विनय-सहित वचनोंसे प्रसन्न हुए भरतने उस देवपर प्रसन्नतासे चंचल हुई अपनी दृष्टि डाली ॥५०॥ अनन्तर भरतने जिसका आदर-सत्कार किया है और 'आओ' इस प्रकार आज्ञा देकर जिसे बिदा किया है ऐसा वह विजयार्द्ध देव उनका दासपना स्वीकार कर अपने स्थानपर वापस चला गया ॥५१॥ विजयार्द्ध पर्वतके जीत लेनेपर समस्त दक्षिण भारत जीत लिया गया

१ रक्षिता । २ नाथवान् परवश इत्यर्थः । 'परवान्नाथवानपि' इत्यभिधानात् । ३ परस्परमाधाराभेयरूप-संश्रयात् । ४ तस्मिन् तिष्ठति इति तत्स्थः तस्य भावः तात्स्थ्यम् तस्मात् । ५ विजयार्द्ध इति लङ्यः । ६ पतिसदृशः । ७ मङ्गलः । ८ विजयार्द्धकुमारः । ९ वामरयुगलम् ।

गन्धैः पुष्पैश्च धूपैश्च दीपैश्च सजलाक्षतैः । फलैश्च चहभिर्दिव्यैश्चक्रैश्च निरवतयत् ॥५३॥
 विजयार्धजयैः स्यासीदमन्दोऽस्य जयोद्यमः । उत्तरार्धजयाशंसा^१ प्रत्यागूर्णस्य^२ चक्रिणः ॥५४॥
 ततः प्रतीपमागच्छ^३ रूप्याद्रेः^४ पश्चिमां गुहाम् । निक^५षा घनमारुह्य बलैरीशो न्यविभ्रत ॥५५॥
 दक्षिणैः^६ नदीभिः^७ मध्ये^८ गेदिकयोर्द्वयो^९ रक्षकं दिविक्षिप्ते^{१०} वस्तुः सिन्धोस्तटवनाद् बहिः ॥५६॥
 भूयो वृष्टम्यमत्रास्ति बह्माश्वे धराधरे । इति तत्र चिरावासं बहु मेने किलाधिराट् ॥५७॥
 चिरासनेऽपि^{११} तत्रास्य नासीत् स्वस्थोऽप्युपगतयः^{१२} ।^{१३} प्रायुतापूर्वलाभेन प्रभुरापूर्वतामिषवत् ॥५८॥
 कृतासनं च तत्रैनं श्रुत्वा ब्रह्ममुपागमन् । पार्थिवाः पृथिवीमध्यात् मध्ये^{१४} नद्योर्द्वयोः स्थितः ॥५९॥
 दूरानतचलन्मौलिसंदष्टकरकुटुमलाः^{१५} । प्रणमन्तः स्फुटीचक्रुः प्रमौ मर्त्ति महीभुजः ॥६०॥
 कुङ्कुमागार^{१६} कर्पूरसुवर्णमणिमौक्तिकैः । रत्नैरन्यैश्च रत्नेशं भक्त्या नर्तुर्नृपाः परम् ॥६१॥
 विश्वगापूर्यमाणस्य रैराशिभिरनारतम् । कोशे^{१७} प्रावेशरत्नानामियत्तां कोऽस्य निर्णयेत् ॥६२॥
 देशाध्यक्षा बलाध्यक्षैर्वलं सुकृतरक्षणम् । यवसेवन^{१८} संधानैस्तदीपजगृ^{१९} हुश्रिरम् ॥६३॥
 उत्तरार्धजयोद्योगं प्रभोः श्रुत्वा तत्रागमन् । पार्थिवाः कुरुराजाद्याः^{२०} समग्रबलवाहनाः ॥६४॥

ऐसा मानते हुए चक्रवर्तीने चक्ररत्नकी पूजा की ॥५३॥ उन्होंने चक्ररत्नकी पूजा गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, जल, अक्षत, फल और दिव्य नैवेद्यके द्वारा की थी ॥५३॥ विजयार्ध पर्वत तक विजय कर लेनेपर भी उत्तरार्धको जीतनेकी आशासे उद्यत हुए चक्रवर्तीका विजयका उद्योग सिधिल नहीं हुआ था ॥५४॥ तदनन्तर—वह भरत कुछ पीछे लौटकर विजयार्ध पर्वतकी पश्चिम गुहाके समीपवर्ती वनको अपनी सेवाके द्वारा घेरकर ठहर गया ॥५५॥ विजयार्ध पर्वतके दक्षिणकी ओर पर्वत तथा वन दोनोंकी वेदियोंके बीचमें सिन्धु नदीके किनारेके वनके बाहर भरतकी सेना ठहरी थी ॥५६॥ अनेक आश्चर्योंसे भरे हुए इस पर्वतपर बहुत कुछ देखने योग्य है यही समझकर चक्रवर्तीने वहाँ बहुत दिन तक रहना अच्छा माना था ॥५७॥ वहाँपर बहुत दिनतक रहनेपर भी भरतका थोड़ा भी खर्च नहीं हुआ था, बल्कि अपूर्व-अपूर्व वस्तुओंके लाभ होनेसे वह समुद्रके समान भर गया था ॥५८॥ भरतको वहाँ रहता हुआ सुनकर गंगा और सिन्धु दोनों नदियोंके बीचमें रहनेवाले अनेक राजा लोग अपनी-अपनी पृथ्वीसे उनके दर्शन करनेके लिए आये थे ॥५९॥ दूरसे झुके हुए खंचल मुकुटोंपर जिन्होंने अपने हाथ जोड़कर रखे हैं ऐसे नमस्कार करते हुए राजा लोग महाराज भरतमें अपनी भक्ति प्रकट कर रहे थे ॥६०॥ उन राजाओंने केशर, अगुरु, कपूर, सुवर्ण, मोती, रत्न तथा और भी अनेक वस्तुओंसे भक्तिपूर्वक चक्रवर्तीका उत्तम सन्मान किया था ॥६१॥ घनकी राशियोंसे निरन्तर चारों ओरसे भरते हुए भरतके खजानेमें प्रविष्ट हुए रत्नोंकी मर्यादा (संख्या) का भला कौन निर्णय कर सकता था ? भावार्थ—उसके खजानेमें इतने अधिक रत्न इकट्ठे हो गये थे कि उनकी गणना करना कठिन था ॥६२॥ उस समय समीपवर्ती देशोंके राजाओंने, सेनापतियोंके द्वारा जिसकी अच्छी तरह रक्षा की गयी है ऐसी भरतकी सेनाको चिरकाल तक भूसा, ईंधन आदि वस्तुएँ देकर उपकृत किया था ॥६३॥ महाराज भरत विजयार्ध पर्वतसे उत्तर भागकी जीतनेका उद्योग कर रहे हैं यह सुनकर कुछ देशके राजा जयकुमार

१ इच्छामुद्दिश्य । २ उद्यतस्य । ३ पश्चिमदिशम् । ४ रूप्याद्रेः प० । रूप्याद्रेः अ०, स०, इ० । ५ वनस्य समीपम् । ६ तस्य अद्वीन्दस्य दक्षिणस्यां दिशि । ७ पर्वतवेदिकावनवेदिकयोः । ८ बहुकालनिबसने सत्यपि । ९ घनग्रयः । १० पुनः किमिति चेत् । ११ गङ्गासिन्धुनदीमध्यात् । १२ कुङ्कुमागारः अ०, ल०, अ०, स०, इ० । १३ कालागुह 'कालागुर्वगुहः स्याद्' इत्यमरः । १४ भाष्ठागारप्रवेशयोग्य । १५ तुग । १६ उपकारं चक्रुः । १७ सोमप्रभपुत्राद्याः ।

आहूताः केचिदाजगमुः प्रभुणा मण्डलाधिपाः । अनाहूताश्च संभेजुर्विभुं चारभटाः^१ परे ॥६५॥

विदेशः^२ किल यासव्या जेतव्या म्लेच्छभूमिपाः^३ । इति संचिन्त्य सामन्तैः प्रायः सज्जं^४ धनुर्वलम् ॥६६॥

धन्विनः शरनाराचसंभृतेषु धिवन्धनैः । अथवेदयन्निवात्मानमृणदात्मधीशिनाम् ॥६७॥

धनुर्धरा धनुः सज्जयमां स्फाल्य^५ चक्रपुः^६ परं । चिकीर्षन् इवारंणां जीवाकर्षं सहुंकृताः ॥६८॥

करवालान् करे कृत्वा तुल्यन्ति स्म केचन । स्वामिसत्कारभारेण^७ नूनं तान् प्रमिमित्सवः^८ ॥६९॥

^९संचर्मिता भृशं रंजुर्भटाः प्रोह्लासितासवः^{१०} । निर्मोकेरिव^{११} विक्लिष्टैः^{१२} ललज्जिह्वामहाहवः ॥७०॥

साटोपं स्फुटिताः^{१३} केचिद् प्रहगन्ति स्वामितो भटाः । अस्त्युद्यताः^{१४} पुरोऽरातीन् पश्यन्त^{१५} इव संमुखम् ॥७१॥

१० अश्वैः ११ शत्रून् १२ शत्रून् १३ शत्रून् १४ शत्रून् १५ शत्रून् । दधुर्जयनशालानां^{१६} लाला^{१७} रथ्याः सुसंभृता ॥७२॥

रथिनां^{१८} रथकव्यासु^{१९} गुर्वीरायुधसंपदः । समारोप्यापि पत्तिव्यो भञ्जुरेवातिगौरवम्^{२०} ॥७३॥

तथा और भी अनेक राजा लोग अपनी समस्त सेना और सवारियाँ लेकर उसी समय आ पहुँचे ॥६४॥ कितने ही मण्डलेश्वर राजा भरतके बुलाये हुए आये थे और कितने ही शूर वीर लोग बिना बुलाये ही उनके समीप आ उपस्थित हुए थे ॥६५॥ अब विदेशमें जाना है और म्लेच्छ राजाओंको जीतना है यही विचार कर सामन्तोंने प्रायः धनुष-बाणको धारण करने वाली सेना तैयार की थी ॥६६॥ धनुष धारण करनेवाले योद्धा छोटे-बड़े बाणोंसे भरे हुए तरकसोंके बाँधनेसे ऐसे जान पड़ते थे मानो वे अपने स्वामियोंसे यही कह रहे हों कि हम लोग आपके ऋणके दास हैं अर्थात् आज तक आप लोगोंने जो हमारा भरण-पोषण किया है उसके बदले हम लोग आपकी सेवा करनेके लिए तत्पर हैं ॥६७॥ हुंकार शब्द करते हुए कितने ही धनुषधारी लोग अपने डोरीसहित धनुषको आस्फालन कर खींच रहे थे और उससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो शत्रुओंके जीवोंको ही खींचना चाहते हों ॥६८॥ कितने ही योद्धा लोग हाथमें तलवार लेकर उसे तोल रहे थे मानो स्वामीसे प्राप्त हुए सत्कारके भारके साथ उसका प्रमाण ही करना चाहते हों ॥६९॥ जो कवच धारण किये हुए हैं और जिनकी तलवारें चमक रही हैं ऐसे कितने ही योद्धा इतने अच्छे सुशोभित हो रहे थे मानो जिनकी कौचली कुछ ढीली हो गयी है और जीभ बार-बार बाहर लपक रही है ऐसे बड़े-बड़े सर्प ही हों ॥७०॥ कितने ही योद्धा अभिमानसहित हाथमें तलवार उठाये और गर्जना करते हुए चारों ओर इस प्रकार घूम रहे थे मानो शत्रुओंको अपने सामने ही देख रहे हों ॥७१॥ आग्नेय बाण आदि अस्त्र, महा-स्तम्भ आदि व्यस्त्र, तलवार धनुष आदि शस्त्र, शिरकी रक्षा करनेवाले लोहके टोप और कवच आदिसे भरे हुए रथोंके समूह ठोक आयुधशालाओंकी शोभा धारण कर रहे थे ॥७२॥ रथोंमें सवार होनेवाले योद्धा यद्यपि भारी-भारी शस्त्रोंको रथोंपर रखकर जा रहे थे तथापि

१ वीरभटाः । 'शूरवीरश्च विक्रांतो भरश्चारभटो मतः' इति हलायुधः । २ नानादेशः । ३ भूभुजः म०, द०, अ०, प०, स०, ल०, इ० । ४ सन्नद्धीकृतम् । ५ उपासहितम् । ६ आताड्य, टण्टकारं कृत्वा । स्फाल्या चक्रपुः व०, द०, अ०, म०, प०, स०, ल०, इ० । ७ आकर्षयन्ति स्म । ८ भारेण सह । ९ प्रमातुमिच्छन् । १० भूतकवचाः । ११ प्रकर्षणोल्लासितवद्भाः । १२ शिथिलैः । १३ बलत् । १४ आस्फालिते भुजाः । १५ लङ्गे उद्युवताः । १६ शत्रून् प्रत्यक्षमालोकयन्निव । १७ दिव्यायुधैः । १८ गरलगुहाद्यायुधैः । १९ सामान्यायुधैः । २० शीर्षकैः । २१ वास्त्रशालानाम् । २२ वीथ्याः । २३ रथिकाः । २४ रथसमूहेषु । २५ अतिश्लेषणम् । अति भारयुक्तमिति ध्वनिः, अत्यर्थं वेगं गता इत्यर्थः ।

हस्तिनां पदस्थायै सुमभ योजिता नृपैः । राजन्यैः सह युध्वानः कृताश्वाभिनिपादितः ॥७४॥
 प्रवीरा राजयुध्वानः क्लृप्ताः पक्षिषु नायकाः । अर्षयैः^१ च सम्यक्काहाः^२ सोत्तरङ्गा स्तुरंगिणः ॥७५॥
 आरचय्य बलान्येकै रक्षार्त्ताश्चाचक्रिरे नृपाः । दण्डमण्डलभोगासंहतव्यूहैः^३ सुयोजितैः ॥७६॥
 चक्रिणोऽचमरा^४ कोऽस्य योऽस्माभिः सार्धं^५ यनेऽल्पकैः । भक्तिरंघा तु नः काले प्रमोयंदनुमर्षणम्^६ ॥७७॥
 प्रमोदवसरः सार्यः प्रसार्य नो यशोधनम् । विरोधिवलमुत्सार्य संघार्णं पुरुषघनम् ॥७८॥
 द्रष्टव्या विविधा देशा लब्धव्याश्च जयाशिरः । इधुनाचक्रिरेऽन्योन्यं मयाः शार्प्यस्दाहर्तैः ॥७९॥
 शिरिदुर्गोऽयमुल्लङ्घ्यो महन्धः सरितोऽम्नरा^७ । हृत्पपायेऽश्रिणः केचिदयानं^८ बहु मेनिरं ॥८०॥
 इति नानाविधैर्भावैः संजल्पेक्ष लघुस्थिताः । प्रस्थिताः सैनिकाः प्रापन् सेश्वराः^९ शिविरं प्रमोः ॥८१॥

वे पैदल चलनेवाले सैनिकोंकी अपेक्षा अधिक गौरव अर्थात् भारीपन (पक्षमें श्रेष्ठता) को प्राप्त हो रहे थे । भावार्थ—पैदल चलनेवाले सैनिक अपने शस्त्र कन्धेपर रखकर जा रहे थे और रथोंपर सवार होनेवाले सैनिक अपने सब शस्त्र रथोंपर रखकर जा रहे थे तो भी वे पैदल चलनेवालोंकी अपेक्षा अधिक भारी हो रहे थे यह बड़े आश्चर्यकी बात है परन्तु अति गौरव शब्दका अर्थ अतिशय श्रेष्ठता लेनेपर वह आश्चर्य दूर हो जाता है । पैदल सैनिकोंकी अपेक्षा रथपर सवार होनेवाले सैनिक श्रेष्ठ होते ही हैं ॥७३॥ राजाओंने हाथियोंके पैरोंकी रक्षा करनेके लिए जिन शूरवीर योद्धाओंको नियुक्त किया था वे अनेक राजाओंके साथ युद्ध करते थे और उन हाथियोंके चारों ओर विद्यमान रहते थे अथवा समयपर महाव्रत भी बनाये जाते थे ॥७४॥ जो राजाओंके साथ भी युद्ध करनेवाले थे ऐसे श्रेष्ठ शूरवीर पैदल सेनाके सेनापति बनाये गये और जो घुड़सवार कवच पहने हुए तथा लहराते हुए नदीके प्रवाहके समान थे उन्हें घुड़सवार सेनाका सेनापति बनाया था ॥७५॥ कितने ही राजा लोग अच्छी तरह योजित किये हुए दण्डव्यूह, मण्डलव्यूह, भोगव्यूह और अमंहनव्यूहमें अपनी सेनाकी रचना कर उसे देख रहे थे ॥७६॥ इस चक्रवर्तीका ऐसा कान-मा कार्य है जिसका हम तुच्छ लोग स्मरण भी कर सकते हों अर्थात् कार्यका सिद्ध करना तो दूर रहा उसका स्मरण भी नहीं कर सकते, फिर भी हम लोग जो स्वामीके पीछे-पीछे चल रहे हैं सो यह हम लोगोंकी इस समयपर होने वाली भक्ति ही है । हम लोगोंको स्वामीका कार्य सिद्ध करना चाहिए, अपना यशस्वी धन फैलाना चाहिए, शत्रुओंकी सेना दूर हटानी चाहिए, पुण्यार्थ धारण करना चाहिए, अनेक देश देखने चाहिए और विजयके अनेक आशीर्वाद प्राप्त करने चाहिए, इस प्रकार प्रशंसनीय उदाहरणोंके द्वारा योद्धा लोग परस्परमें बातचीत कर रहे थे ॥७७-७९॥ यह दुर्गम पर्वत उल्लंघन करना है और बीचमें बड़ी-बड़ी नदियाँ पार करनी हैं इस प्रकार अनेक विघ्न-बाधाओंका विचार करते हुए कितने ही लोग आगे नहीं जाता ही अच्छा समझते थे ॥८०॥ इस प्रकार अनेक प्रकारके भावों और परस्परकी बातचीतके साथ जल्दी उठकर जिन्होंने प्रस्थान किया है ऐसे सैनिक लोग अपने-अपने स्वामियोंसहित चक्रवर्तीके शिविरमें जा पहुँचे ॥८१॥

१ अर्षवसमूहे । २ सकवचाः । ३ ऊर्मिसमानाः । ४ दण्डावीनि चत्वारि व्यूहभेदानामानि । अथाभिधानम्-
 'सिर्यङ्कृत्तिस्तु दण्डः स्याद् भोगोऽन्यावृत्तिरेव च । मण्डलं सर्वतो वृत्तिः प्रागवृत्तिरसंहतः' । ५ समयः ।
 ६ स्मर्यते द०, ल०, अ०, प०, ह०, स० । ७ अनुवर्तनम् । ८ प्रापणीयः । ९ ऊचिरे । १० मध्ये मध्ये ।
 ११ बाह्वनरहितत्वम् अथवा अगणनम् । १२ निजस्वामिसहिताः ।

प्रवेष्टुः सर्वसामग्र्या नृपाः संभृतकोटिकाः^१ । प्रभोविचरं जयोद्योगमाकलय्याहिमाचलम् ॥८२॥
 भटैर्लङ्कृतैः^२ केचिद्वृत्ता लालाटिकैः^३ परे । नृपाः पञ्चास्कृतानीका विभोर्निकटभाययुः ॥८३॥
 समन्तादिति सामन्तैरापतत्रिः ससाधनैः । समिद्धशासनध्वजैः समेत्य जयकारितः^४ ॥८४॥
 सामवायिकं सामन्तसमाजैरिति सर्वतः । सरिदोघैस्त्रिाम्भोधिरापूर्वत विमोर्बलम् ॥८५॥
 सवनः^५ साधनैः सोऽत्रिः परितो रुरुधे बलैः । जिनजन्मोत्सवे संहरनीकैरिव^६ नाकिनाम् ॥८६॥
 विजयार्धचलप्रस्था^७ विमोर्ध्यासिता बलैः । स्वर्गावासधियं तेनुर्विनक्तैर्नृपमन्दिरैः^८ ॥८७॥
 प्रक्ष्वेलित^९ रथं विश्वक् प्रहेषितनुरंगमम् । प्रवृद्धितगजं सैन्यं ध्वनिसादकरोद्^{१०} गिरिम् ॥८८॥
 बलध्वानं गुहारन्ध्रैः प्रतिश्रुद्धतं^{११} सुद्वहन् । सोऽद्विरुद्रिक्तद्रोधो^{१२} ध्रुवं फूरकारमातनोत् ॥८९॥
 अत्रान्तरे ज्वलन्मौलिप्रभापिञ्जरिलाम्बरः । ददृशे प्रभुणा व्योम्नि गिरिरथतरत् सुरः ॥९०॥
 स ततोऽवतरन्नद्वैर्धमौ^{१३} सानुचरोऽमरः । सवनः^{१४} कल्पशाखीव लसदाभरणांशुकः ॥९१॥

भरतेश्वरका हिमवान् पर्वत तक विजय प्राप्त करनेका उद्योग बहुत समयमें पूर्ण होगा ऐसा समझकर राजा लोग सब प्रकारकी सामग्रीसे कोठे भर-भरकर निकले ॥८२॥ कितने ही राजा लाठी धारण करनेवाले योद्धाओंके साथ, और कितने ही ललाटकी ओर देखनेवाले उत्तम सेवकोंके साथ, अपनी सेना पीछे छोड़कर भरतके निकट आये ॥८३॥ इस प्रकार अपनी-अपनी सेना सहित चारों ओरसे आते हुए अनेक सामन्तोंने एक जगह इकट्ठे होकर, जिनकी आज्ञा सब जगह देदीप्यमान है ऐसे ध्वजकी जय-जयकर किया ॥८४॥ जिस प्रकार नदियोंके समूहसे समुद्र भर जाता है उसी प्रकार सहायता देनेवाले सामन्तोंके समूहसे भरतकी सेना सभी ओरसे भर गयी थी ॥८५॥ जिस प्रकार भगवान्के जन्म-कल्याणके समय वन और भूमि सहित सुमेरु पर्वत देवोंकी सेनाओंसे भर जाता है उसी प्रकार वह विजयार्ध पर्वत भी वन और भूमिसहित चारों ओरसे सेनाओंसे भर गया था ॥८६॥ भरतकी सेनाओंसे अधि-ष्ठित हुए विजयार्ध पर्वतके शिखर अलग-अलग तने हुए राजमण्डपोंसे स्वर्गकी शोभा धारण कर रहे थे ॥८७॥ जिसमें चारों ओरसे रथ चल रहे हैं, घोड़े हिनहिना रहे हैं और हाथी गरज रहे हैं ऐसी उस सेनाने उस विजयार्ध पर्वतको एक शब्दोंके ही अधीन कर दिया था अर्थात् शब्दमय बना दिया था ॥८८॥ गुफाओंके छिद्रोंसे जिसकी प्रतिध्वनि निकल रही है ऐसे सेना-के शब्दोंकी धारण करता हुआ वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो सेनासे घिर जानेके कारण फू फू शब्द ही कर रहा हो अर्थात् रो ही रहा हो ॥८९॥

इसी बीचमें भरतने, देदीप्यमान मुकुटकी कान्तिसे जिसने आकाशको भी पीला कर दिया है और जो पर्वतपर-से नीचे उतर रहा है ऐसा एक देव आकाशमें देखा ॥९०॥ जिसके आभूषण तथा वस्त्र देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसा वह देव अपने सेवकोंसहित उस पर्वतसे उतरता हुआ ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो जिसके आभूषण और वस्त्र देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसा वनसहित

१ भूपाः ल० । २ तण्डुलादिभारवाहकबलीवर्दाः । ३ लङ्कटम् आयुधं येषां तैः । ४ प्रभोर्भविदशिमिः 'लालाटिकः प्रभोर्भविदर्शी कार्यक्षमश्च यः' इत्यभिधानात् । ५ जयकारः नीतः संजातजयकारो वा जय जयेति स्तुत इति यावत् । ६ मिलित । ७ वनसहितः । ८ अवनिसहितः । ९ सैन्यः । १० सानवः । ११ मण्डलैः ल० । १२ सिंहनादित 'क्ष्वेडा तु सिंहनादः स्थात्' इत्यभिधानात् । १३ शब्दमयमकरोत् । १४ प्रतिध्वनिभूतम् 'सती प्रतिश्रुत्प्रतिष्ठाने' इत्यभिधानात् । १५ उत्कटसेनानिरोधः । १६ अनुचरैः सहितः । १७ वनेन सहितः

दिव्यः प्रमान्द्यः^१ कोऽपि संमूर्च्छति^२ किमम्बरे । तद्विपुलः किमन्यच्चिरिति^३ दृष्टः क्षणं जनैः ॥१२॥
 किमप्येतदधिष्योतिरिष्यादावविशेषतः । पश्चादवयवमन्यकन्या प्रव्यक्तपुरुषाकृतैः ॥१३॥
 कृतमालधुसिन्धुस्यै^४ कृतमालः स चम्पकैः । कृतमाल इषोत्कुलो निदन्ने^५ प्रभुणाऽग्रतः ॥१४॥
 सप्रणामं च संप्राप्तं तं वीक्ष्य सहसा विभुः । यथार्हप्रतिपत्त्याऽस्मा आसनं प्रत्यपादयन्^६ ॥१५॥
 प्रभुणाऽनुमतश्चायं कृतसनपरिमहः । क्षणं त्रिसिद्धिर्भवे पश्यन् धामा^७ मुप्यसि^८ मानुषम् ॥१६॥
 संभाषितश्च संभ्राजा पूर्व^९ पूर्वाह्णभाषिणा । सुरः प्रचक्रमे वक्तुमिति प्रश्रयवद्वचः ॥१७॥
 क वयं क्षुद्रका वेषाः^{१०} क मवान् दिव्यमानुषः । पौतन्य^{११} मुचितं मन्ये^{१२} वाचाटयति^{१३} नः स्फुटम् ॥१८॥
 आयुष्मन् कुशलं प्रष्टुं जिह्मः^{१४} शासितुस्तव । एवदायता यतः^{१५} कृत्स्ना जगतः कुशलक्रिया ॥१९॥
 लोकस्य कुशलाधाने^{१६} निरुद्धं^{१७} यस्य कौशलम् । कुशलं^{१८} दक्षिणस्थाऽस्य बाहोस्ते क्षमा जिगीषतः १००
 वेषानां प्रिय देवस्य तवाशेषजगज्जयात् । नाम्नैव तु वयं देवा जातिमात्रकृतोक्तयः ॥१०१॥
 गीर्वाणा^{१९} वयमन्यत्र^{२०} जिगीषी शितगीश्वराः^{२१} । त्वयि कुण्ठगिरो^{२२} जाताः प्रसखलद्वर्गगन्धराः १०२

कल्पवृक्ष ही हो ॥१२॥ क्या कोई दिव्य प्रभाका समूह आकाशमें फैल रहा है ? अथवा क्या बिजलीका समूह है ? अथवा क्या अग्निकी ज्वाला है ? इस प्रकार अनेक कल्पनाओं-से लोगोंने जिसे क्षण-भर देखा था जो पहले तो यह कोई कान्तिका समूह है इस प्रकार सामान्य रूपसे देखा गया था, परन्तु बादमें अवयवोंके प्रकट होनेसे जिसका पुरुषका-सा आकार साफ-साफ प्रकट हो रहा था, जो अपना कृतमाल नाम प्रकट करनेके लिए चम्पाके फूलोंकी माला पहने हुआ था और जो उससे फूले हुए कृतमाल वृक्षके समान जान पड़ता था ऐसे उस देवकी चक्रवर्ती भरतने अपने सामने खड़ा हुआ देखा ॥१२-१४॥ अनेक साथ ही नमस्कार करते हुए उस देवको अकस्मात् अपने सामने देखकर भरतने उसे यथायोग्य सत्कारके साथ आसन दिया ॥१५॥ भरतकी आज्ञासे वह देव आसनपर बैठा और उनके लोकोत्तर तेजको देखता हुआ क्षण-भरके लिए आश्चर्य करने लगा ॥१६॥ प्रथम ही, पहले बोलनेवाले सम्राट् भरतने जिसके साथ बातचीत की है ऐसा वह देव नीचे लिखे अनुसार विनयसहित वचन कहने लगा ॥१७॥ हे देव, हम क्षुद्र देव कहीं ? और आप दिव्य मनुष्य कहीं ? तथापि मैं ऐसा मानता हूँ कि हम लोगोंका यथायोग्य देवपना ही हम लोगोंको स्पष्ट रूपसे वाचालित कर रहा है अर्थात् जबरदस्ती बुलवा रहा है ॥१८॥ हे आयुष्मन्, आप-जैसे शासन करनेवालोंका कुशल-मंगल पूछनेके लिए हम लोग लज्जित हो रहे हैं क्योंकि इस जगत्का सब तरहका कल्याण करना आपके ही अधीन है ॥१९॥ जगत्का कल्याण करनेके लिए जिसकी चतुराई प्रसिद्ध है और जो समस्त पृथिवीको जीतना चाहती है ऐसी आपकी इस दाहिनी भुजाकी कुशलता है न ? ॥१००॥ हे देव, आप देवोंके भी प्रिय हैं, आपने समस्त जगत्को जीत लिया है इसलिए यह देवपना आपके ही योग्य है हम लोग तो अत्यन्त तुच्छ देव हैं—केवल देव जातिमें जन्म होनेसे ही देव कहलाने लगे हैं । यहाँ पर 'देवानां' 'प्रिय' ये दोनों ही पद पृथक्-पृथक् हैं, अथवा ऐसा

१ प्रमासंतानः । २ व्यप्नोति । ३ अभिनिश्चामतिक्रान्तः । ४ कृतमालनामा । कृतमाल आरम्भः । ५ आरम्भे राजवृक्षः शम्भाकचतुरंगुलाः । आरेवतव्याधिघातकृतमालसुवर्णकाः ॥ इत्यभिधानात् । ६ द्रुपते स्म । ७ प्रापयत् । ८ तेजः । ९ चक्रिणः । १० मानुषमतीतम् । ११ संस्कृतभाषिणा । पूर्वाभि—अ०, प०, स०, द०, ल० । १२ पूतानायाः अपत्यं पौतनः तस्य भावः पौतन्यम् । देवत्वमित्यर्थः । १३ नूनम् । १४ वाचालं करोति । १५ लज्जामहे । १६ यस्मात् कारणात् । १७ क्षेमकरणे । १८ प्रख्यातम् । १९ क्षेमं किम् । १९ गीरेव शापानुग्रह-शील्वराः ८० । मन्दानामीश्वरा इत्यर्थः । गीते शीरते एते शीतशयः तेषामीश्वराः क्रियासु मन्दानामीश्वरा इत्यर्थः । 'मूढात्पापटुनिर्भाष्याः । मन्दाः स्युः ।' इत्यमरः । २० मन्दवचसः ।

राजोक्तिस्त्वयि राजेन्द्र राजनेऽनन्यगामिनी । अयण्डमण्डलां कूरुतां पट्यण्डां सां निवच्छति ॥१०३॥
 चक्रासना ज्वलन्त्येव प्रतापस्तव दुःसहः । प्रथमे दण्डनीतिश्च दण्डरत्नछलाद् विभोः ॥१०४॥
 ईशानव्यामर्त्ता कूरुतां स्थानन्प्रस्थमर्माश्वरः । निभिरवर्द्धिरैश्वर्यं कः परस्त्वादृशः प्रभुः ॥१०५॥
 अमन्येकाकिनी लोकं शश्वर्कागिरजगला । सरस्वती च वाचाला कथं ते ते प्रिये प्रभोः ॥१०६॥
 इति प्रणीतमाहात्म्यं त्वां स्वभाजयितुं दिवः । त्वद्वल्लभानसंशोभमाश्रयाः चयमागताः ॥१०७॥
 कूरुतां प्रयमस्यातोः स्वयदाद्विचालिनः । भूमिमेतावतीं तावत् त्वया देवायतारिताः ॥१०८॥
 विष्णुकृतान्तराद्यव्यवस्थितो व्यस्तरो जयम् । संविधेयास्त्वयै दानीं प्रत्यासक्ताः पदामयः ॥१०९॥
 विद्धि मां गिजयार्द्रा मर्मज्ञममृतपानम् । कृतमालं गिरेरस्य कृदेऽमुष्मिन् कृतालयम् ॥११०॥
 मयि रम्यशक्तौ देव स्यौकृतोऽने महाबलः । सगुहाकाननस्यास्य गिरगर्मविदम्बहम् ॥१११॥
 गर्भजोऽहं गिरगर्मोऽन्यथापमिदमुच्यते । द्वीपाधिपत्यं कूरुते नास्माकं कोऽप्यगोचरः ॥११२॥

अर्थ करना चाहिए कि हे प्रिय, समस्त जगत्को जीतनेसे आप देवोंके भी देव हैं ॥१०१॥ हम गीर्वाण हैं और आपके अतिरिक्त विजयकी इच्छा करनेवाले किसी दूसरे पुरुषके विषयमें यद्यपि हम वचनरूपी ~~लीलाया~~ ~~लोगोंको~~ ~~आपके~~ ~~कहे~~ ~~हैं~~ ~~कहा~~ ~~पि~~ ~~आपके~~ ~~विषयमें~~ हम लोग कुण्ठितवचन हो रहे हैं, हमारा अहंकार जाता रहा है और हमारे वचन गद्गद स्वरसे निकल रहे हैं ॥१०२॥ हे राजेन्द्र, आप छह खण्डोंमें बँटी हुई समस्त प्रदेशसहित इस सम्पूर्ण पृथिवीका शासन करते हैं इसलिए दूसरी जगह नहीं रहनेवाली राजोक्ति आपमें ही सुशोभित हो रही है—आप ही वास्तवमें राजा हैं ॥१०३॥ हे विभो, चक्ररत्नके बहानेसे यह आपका दुःसह प्रताप देदीप्यमान हो रहा है और दण्डरत्नके छलसे आपकी दण्डनीति प्रसिद्ध हो रही है ॥१०४॥ यह समस्त पृथिवी आपके अधीन है—पालन करने योग्य है, आप इसके स्वतन्त्र ईश्वर हैं और निधियाँ तथा रत्न ही आपका ऐश्वर्य है इसलिए आपके समान ऐश्वर्यशाली दूसरा कौन है ? ॥१०५॥ हे प्रभो, आपकी कीर्ति स्वच्छन्द होकर समस्त लोकमें सदा अकेली फिरा करती है और सरस्वती वाचाल है अर्थात् बहुत बोलनेवाली है फिर भी न जाने ये दोनों ही स्त्रियाँ आपको प्रिय क्यों हैं ? ॥१०६॥ इस प्रकार जिनका माहात्म्य प्रसिद्ध है ऐसे आपकी सेवा करनेके लिए हम लोग आपकी सेनाके शब्दके क्षोभसे भयभीत हो आकाशसे यहाँ आये हैं ॥१०७॥ हे देव, हम लोग इस पर्वतके शिखरपर रहते हैं और अपने स्थानसे कभी भी विचलित नहीं होते परन्तु इस भूमिपर आपके द्वारा ही अवतारित हुए हैं—उतारे गये हैं ॥१०८॥ हम लोग दूर-दूर तक अनेक स्थानोंमें रहनेवाले व्यन्तर हैं अब आप हम लोगोंको अपने समीप रहनेवाले सेवक बना लीजिए ॥१०९॥ आप मुझे इस पर्वतके इस शिखरपर रहनेवाला और विजयार्थ पर्वतका मर्म जाननेवाला कृतमाल नामका देव जानिए ॥११०॥ हे देव, आपने मुझे बश कर लिया है इसलिए इस महापर्वतको अपने अधीन हुआ ही समझिए क्योंकि मैं गुफाओं और वनसहित इस पर्वतका समस्त भीतरी हाल जानता हूँ ॥१११॥ अथवा मैं 'इस पर्वतका भीतरी हाल जाननेवाला हूँ' यह बहुत ही थोड़ा कहा गया है क्योंकि समस्त द्वीप और समुद्रोंके भीतर ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं है जो हम लोगोंका जाना

१ राजेति शब्दः । २ शामति । ३ ऐश्वर्यवतो भवितुं योग्या । ४ प्रतिबन्धरहिता । ५ कीतिसरस्वत्यौ । ६ विपतमे (बभूवतु) । ७ सेविनुम् । ८ स्वस्थानात् । ९ एतावद्भूमिर्मन्तम् । 'यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ मानेऽवधारणे' । १० संविधापयितुं योग्याः । ११ त्वदधीने कृते ।

^१ वटस्थानवटस्थानं^२ कूटस्थानं कोटरोटजान्^३ । ^४अक्षपाटान् अक्षपाटान्^५ विद्धि नः सार्वसर्वगान्^६ ॥११३॥
इति प्रशान्तमौजस्वि^७ वचः संभाष्य सादरम् । सोऽमरो विनतारास्मै भूषणानि चतुर्दश^८ ॥११४॥
तान्यनभ्योपलभ्यानि प्राप्य चक्री परां मुदम् । भेजे^९ तत्कृतसत्कारैः सुरः सोऽन्याप संगदम् ॥११५॥
तं रूप्याद्विगुहाद्वारप्रवेशोपायशंसिनम् । प्रचिसर्ज्य स्वसेनाभ्यं प्राहिणोन् प्रभुरग्रतः ॥११६॥
त्वमुदाद्य गुहाद्वारं यावन्निर्वर्ति^{१०} सार गुहा । तावन् पाश्चात्पण्डस्य^{११} निर्जयाय कुरुष्वमम् ॥११७॥
इति चक्रधरादेशं^{१२} सूर्धा माल्यमिषोद्ग्रहन् । कृतमालामरोदिष्टकूरनोपायप्रयोगयित् ॥११८॥
कृती कतिपयैरेष तुरंगैः सपरिच्छदैः । प्रतस्थे वाजिरत्नेन दण्डपाणिश्चमूपतिः ॥११९॥
किञ्चिच्चान्तरमुल्लङ्घ्य स सिन्धोर्वनवेदिकाम् । विगाह्य विजयार्धस्थं संप्राप्य तटवेदिकाम् ॥१२०॥
तत्सोपानेन रूप्याद्वेशरुह्य जगतीतलम् । प्रत्यङ्मुखो^{१३} गुहोष्मंगे^{१४} माससाय चमूपतिः ॥१२१॥
जयसाक्षकवतीति सोऽश्वरत्नमधिष्ठितः^{१५} । दण्डेन^{१६} ताडयामास गुहाद्वारं स्फुरद्ध्वनिः ॥१२२॥
दण्डरत्नाभिघातेन गुहाद्वारे निरगले^{१७} । तद्गर्भाद् बलवानूष्मा निर्ययौ किल संततः^{१८} ॥१२३॥
दधदण्डाभिघातोत्थं^{१९} क्रेङ्कारमररीपुटम्^{२०} । सवेदनमिवास्वेदि^{२१} निर्गतासु गुहोष्मणा ॥१२४॥

हुआ न हो ॥११२॥ हे सार्व अर्थात् सबका हित करनेवाले, वटके वृक्षोंपर, छोटे-छोटे गड्ढोंमें, पहाड़ोंके शिखरोंपर, वृक्षोंकी खोलों और पत्तोंकी छोपड़ियोंमें रहनेवाले तथा दिन और रात्रिमें भ्रमण करनेवाले हम लोगोंको आप सब जगह जानेवाले समक्षिए ॥११३॥ इस प्रकार आदरसहित शान्त और ओजपूर्ण वचन कहकर उस देवने भरतके लिए चौदह आभूषण दिये ॥११४॥ जो किसी दूसरेको प्राप्त नहीं हो सकते थे ऐसे उन आभूषणोंको पाकर चक्रवर्ती परम हर्षको प्राप्त हुए और चक्रवर्तीके द्वारा किये हुए सत्कारोंसे वह देव भी अत्यन्त हर्षको प्राप्त हुआ ॥११५॥ तदनन्तर विजयार्ध पर्वतकी गुफाके द्वारसे प्रवेश करनेका उपाय बतलानेवाले उस देवको भरत चक्रवर्तीने विदा किया और गुफाका द्वार खोलनेके लिए सबसे आगे अपना सेनापति भेजा ॥११६॥ चक्रवर्तीने सेनापतिसे कहा कि तुम गुफाका द्वार उधाड़कर जबतक गुफा शान्त हो जबतक पश्चिम खण्डको जीतनेका उद्योग करो ॥११७॥ इस प्रकार चक्रवर्तीकी आज्ञाको मालाके समान मस्तकपर धारण करता हुआ और कृतमाल देवके द्वारा बतलाये हुए समस्त उपायोंके प्रयोगको जाननेवाला वह चतुर सेनापति कुछ धोड़े और सैनिकोंके साथ दण्डरत्न हाथमें लेकर अश्वरत्नपर आरुढ़ होकर चला ॥११८-११९॥ और कुछ थोड़ी दूर जाकर तथा सिन्धु नदीके वनकी वेदीको उल्लंघन कर विजयार्ध पर्वतके तटकी वेदीपर जा पहुँचा ॥१२०॥ प्रथम ही वह सेनापति सोढियोंके द्वारा विजयार्ध पर्वतकी वेदिकापर चढ़ा और फिर पश्चिमकी ओर मुँहकर गुफाके आगे जा पहुँचा ॥१२१॥ अश्वरत्नपर बैठे हुए सेनापतिने चक्रवर्तीकी जय हो इस प्रकार कहकर दण्डरत्नसे गुफाद्वारका ताड़न किया जिससे बड़ा भारी शब्द हुआ ॥१२२॥ दण्डरत्नकी चोटसे गुफाका द्वार खुल जानेपर उसके भीतरसे बड़ी भारी गरमी निकलने लगी ॥१२३॥ दण्डरत्नके प्रहारसे उत्पन्न हुए क्रेङ्कार शब्दको धारण करते हुए दोनों किवाड़ ऐसे जान पड़ते थे मानो वेदनासे सहित होनेके

१ न्यग्रोधस्थान् । २ पातालस्थान् । 'गताविटो भुवि इव' इत्यभिधानात् । ३ वृक्षगताविटानां भुवो विवरवाचकाः इति काव्येनोक्तम् । ४ वृक्षविवरवर्णशालासु जातान् 'वर्णशालोदजोऽस्मिन्नाम्' इत्यभिधानात् । ५ राक्षसेभ्योऽन्यान् । ६ क्षया रात्रिः तस्यामदन्तीति अंगटाः तान् राक्षसानित्यर्थः । 'पलंकषो रात्रिमटो रात्र्यटो जललोहितः' इत्यभिधानात् । ७ सहितान् । ८ तेजोऽन्वितम् । ९ दशौ । १० तिलकादिचतुर्दशभरणानि । ११ चक्रकृत । १२ उपशान्तिमेति । १३ पश्चिमखण्डस्य । १४ आज्ञाम् । १५ पश्चिमाभिमुखः । १६ समीपम् । १७ आरुढ़ः । १८ दण्डरत्नेन । १९ अर्गलरहिते सति । २० विस्तृतः । २१ ध्वनिविशेषः । २२ कवाटपुगलम् 'कटावमरं तुल्यं' इत्यभिधानात् । २३ स्विद्यति स्म स्वेदितमित्यर्थः ।

उद्धाटितकवाटेन द्वारेणोष्माणमुद्रमन् । रराज राजतः शैलो लब्धोच्छ्वासश्चिरादिव ॥१२५॥
 कवाटपुटविश्लेषादुच्चचार महान् ध्वनिः । दण्डेनाभिहतस्याद्वेराकोश इव विस्फुरन् ॥१२६॥
 गुह्योष्मणा स नाश्लेषि^१ विदूरमपवाहितः^२ । तरश्चिनाऽश्वरत्नेन वेधतामिश्र रक्षितः ॥१२७॥
 निपेतुरमरन्त्रीणां दृक्क्षेपैः सममम्बरात् । सुमनःप्रकरास्तस्मिन् हासा इव जयश्रियः ॥१२८॥
 तद्वेदीं ससोपानां रूप्यात्रेः समर्तायिवान् । सोऽभ्यैत्^३ सतोरणां सिन्धोः पश्चिमां वनवेदिकाम् ॥१२९॥
 वेदिकां तामतिक्रम्य संजगाहे^४ परां^५ भुवम् । नानाकरपुरग्रामसीमारामैरलंकृताम् ॥१३०॥
 प्रविष्टमात्र एवास्मिन् प्रजास्रासमुपाययुः । समं^६ दारगवैरन्या घटन्ते स्म^७ पलायितुम् ॥१३१॥
 केचित् कृतधियो धीराः सार्वाः पुण्याक्षतादिभिः । प्रत्यग्रहीषुरभ्येत्य सवलं बलनायकम् ॥१३२॥
 न भेतव्यं न भेतव्यमाश्रमाश्रमं यथासुखम् । इत्य^८ स्यात्ताकरा^९ विश्वगुप्तेमुराभासितप्रजाः ॥१३३॥
 म्लेच्छखण्डमखण्डाङ्गः परिक्रामन् प्रदक्षिणम् । तत्र तत्र विमोराशां म्लेच्छराजैरजिग्रहत्^{१०} ॥१३४॥
 इदं चक्रधरक्षेत्रं स चैष निकटे^{११} प्रभुः । तमाराधयितुं यूयं त्वरध्वं सह साधनैः ॥१३५॥
 भरतस्यादिराजस्य चक्रिणोऽप्रतिशासनम्^{१२} । शासनं शिरसा दध्वं^{१३} यूयमित्यन्वशास्त्रं^{१४} तान् ॥१३६॥

कारण चिल्ला ही रहे हों, उन्हें दुःखसे पसीना ही आ गया हो और गुफाके भीतरकी गरमी-से उनके प्राण ही निकले जा रहे हों ॥१२४॥ जिसके किवाड़ खुल गये हैं ऐसे द्वारसे गरमी-को निकालता हुआ वह विजयार्थ पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो बहुत दिन बाद उसने उच्छ्वास ही लिया हो ॥१२५॥ उसने किवाड़के खुलनेसे एक बड़ा भारी शब्द हुआ था और वह ऐसा जान पड़ता था मानो दण्डरत्नके द्वारा ताड़ित हुए पर्वतके रोनेका शब्द ही हो ॥१२६॥ वेगशाली अश्वरत्न जिसे बहुत दूर तक भगा ले गया है और देवताओंने जिसकी रक्षा की है ऐसे उस सेनापतिको गुफाकी गरमी छू भी नहीं सकी थी ॥१२७॥ उस समय उस सेना-पतिपर देवांगनाओंके कटाक्षोंके साथ-साथ आकाशसे फूलोंके समूह पड़ रहे थे और वे जयलक्ष्मी-के हासके समान जान पड़ते थे ॥१२८॥ सेनापति सीढ़ियोंसहित विजयार्थ पर्वतके किनारे-की वेदीका उल्लंघन करता हुआ तोरणसहित सिन्धु नदीके पश्चिम ओरवाली वनकी वेदिका के सम्मुख पहुँचा ॥१२९॥ उसने उस वेदिकाका भी उल्लंघन कर अनेक खानि, पुर, ग्राम, सीमा और बाग-बगीचोंसे सुन्दर म्लेच्छखण्डकी उत्तम भूमिमें प्रवेश किया ॥१३०॥ उस भूमिमें सेनापतिके प्रवेश करते ही वहाँकी समस्त प्रजा घबड़ा गयी, उसमें-से कितने ही लोग स्त्रियों तथा गाय-भैंस आदिके साथ भागनेके लिए तैयार हो गये ॥१३१॥ कितने ही बुद्धिमान् तथा धीर वीर पुरुष पवित्र अक्षत आदिका बना हुआ अर्घ लेकर सेनासहित सेनापतिके सम्मुख गये और उसका सत्कार किया ॥१३२॥ अरे डरो मत, डरो मत, जिसको जिस प्रकार सुख हो उसी प्रकार रहो इस प्रकार प्रजाको आश्वासन देते हुए चक्रवर्तीके सेवक चारों ओर घूमे थे ॥१३३॥ अखण्ड आज्ञाको धारण करनेवाला वह सेनापति प्रदक्षिणा रूपसे म्लेच्छखण्ड में घूमता हुआ जगह-जगह म्लेच्छ राजाओंसे चक्रवर्तीकी आज्ञा स्वीकृत करवाता जाता था ॥१३४॥ सेनापतिने म्लेच्छ राजाओंको यह भी सिखलाया कि यह चक्रवर्तीका क्षेत्र है और वह प्रसिद्ध चक्रवर्ती समीप ही है इसलिए तुम सब अपनी-अपनी सेनाओंके साथ उनकी सेवा करनेके लिए शीघ्रता करो । चक्रवर्ती भरत इस युगके प्रथम अथवा सबसे मुख्य राजा हैं इसलिए कभी भंग नहीं होनेवाली उनकी आज्ञाको तुम सब अपने मस्तकपर धारण करो ॥१३५-१३६॥

१ न आलिङ्गितः । २ अपनीतः । ३ अन्वयगच्छत् । ४ प्रविशति स्म । संजगाहे ल० । ५ पश्चिमाम् । ६ (इन्द्रसमासः) कलत्रधेनुभिः । ७ चेष्टन्ते स्म । ८ यथासुखं तिष्ठत । ९ सेनान्यः । १० मृत्याः । ११ अप्राह-यत् । १२ समीपे आस्ते । १३ न विद्यते प्रतिशासनं परम् । १४ धारयत । १५ शास्ति स्म ।

जाता वयं चिरादथ सनाथा इत्युदाशिषः^१ । केचिच्चक्रधरस्याज्ञामशया^२ प्रत्यफसत^३ ॥१३७॥
 संधिविग्रहयानादिषाङ्गुण्यकृतविग्रमाः । बलात् प्रमाणिताः केचिद् ऐश्वर्यलवङ्गविताः ॥१३८॥
 काश्चिदुर्गाश्रितान् म्लेच्छानवस्कन्दनिरोधनैः^४ । सेनानीर्वशमानिन्ये नमस्यशोऽधिकं क्षतः^५ ॥१३९॥
 केचिद् बहैरकष्टभ्या^६ स्तस्पीडो सोढुमक्षमाः । शासने चक्रिणस्तस्थुः स्नेहो नार्पीलितान् खलात् ॥१४०॥
 इत्युपायैरुपायज्ञः साधयन्म्लेच्छभूभुजः । तेभ्यः कन्यादिरञ्जानि प्रभोभोग्यान्पुपाहरन् ॥१४१॥
 धर्मकर्मवहिर्भूता इत्यमी म्लेच्छका मताः । अन्यथाऽन्यैः^७ समाचारैरार्यावर्तनं^८ ते समाः ॥१४२॥
 इति प्रसाध्य तां भूमिम्भूमिं^९ धर्मकर्मणाम् । म्लेच्छराजबलैः सार्द्धं सेनानीर्न्यवृत्तत् पुनः ॥१४३॥
 रराज राजराजस्थ साश्वरत्नचमूपतिः । सिद्धदिग्विजयी जैत्रः प्रताप इव मूर्तिमान् ॥१४४॥
 सत्तोरणामतिक्रम्य स सिन्धोर्वनवेदिकाम् । विगाढश्च^{१०} तसोपानां रूप्याद्वेस्तवेदिकाम् ॥१४५॥
 आरुढो जगतीमद्रेभ्युदोरस्को^{११} महाभुजः । पद्मिर्मासैः प्रशान्तोऽप्यसोऽध्यवासीद्^{१२} गुहामुखम्^{१३} ॥१४६॥
 तत्रासीनश्च संशोष्य बह्वपायं गुहोहरम् । कृतारक्षाविधिः सम्यक् प्रस्थाप्यच्छिविरं^{१४} प्रभोः ॥१४७॥

'आज हम लोग बहुत दिनमें सनाथ हुए हैं इसलिए जोर-जोरसे आशीर्वाद देते हुए कितने ही बुद्धिमान् लोगोंने चक्रवर्तीकी आज्ञा स्वीकृत की थी ॥१३७॥ जिन्होंने सन्धि, विग्रह और यान आदि छह गुणोंमें अपना पराक्रम दिखाया था और जो थोड़े-से ही ऐश्वर्यसे उन्मत्त हो गये थे ऐसे कितने ही राजाओंसे सेनापतिने जबरदस्ती प्रणाम कराया था ॥१३८॥ किलेके भीतर रहनेवाले कितने ही म्लेच्छ राजाओंको सेनापतिने उनका चारों ओरसे आवागमन रोककर वश किया था सो ठीक ही है क्योंकि अज्ञानी लोग अधिक दुःखी किये जानेपर ही नम्रोभूत होते हैं ॥१३९॥ कितने ही राजाओंको आश्वरत्नचमूपतिने बलपूर्वक उससे उत्पन्न हुए दुःखको सहन करनेके लिए असमर्थ हो चक्रवर्तीके शासनमें स्थित हुए थे, सो ठीक ही है क्योंकि बिना पेले खल अर्थात् खलीसे स्नेह अर्थात् तेल उत्पन्न नहीं होता (पक्षमें बिना दुःखी किये हुए खल अर्थात् दुर्जनसे स्नेह अर्थात् प्रेम उत्पन्न नहीं होता) ॥१४०॥ इस प्रकार उपायोंको जाननेवाले सेनापतिने अनेक उपायोंके द्वारा म्लेच्छ राजाओंको वश किया और उनसे चक्रवर्तीके उपभोगके योग्य कन्या आदि अनेक रत्न भेंटमें लिये ॥१४१॥ ये लोग धर्मक्रियाओंसे रहित हैं इसलिए म्लेच्छ माने गये हैं, धर्मक्रियाओंके सिवाय अन्य आचरणोंसे आर्यखण्डमें उत्पन्न होनेवाले लोगोंके समान हैं ॥१४२॥ इस प्रकार वह सेनापति, धर्मक्रियाओंसे रहित उस म्लेच्छभूमिको वश कर म्लेच्छराजाओंकी सेनाके साथ फिर वापस लौटा ॥१४३॥ जिसने दिग्विजय कर लिया है, सबको जीतना ही जिसका स्वभाव है, और जो अश्वरत्नसे सहित है ऐसा वह राजाविराज भरतका सेनापति ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो मूर्तिमान् प्रताप ही हो ॥१४४॥ तोरणोंसहित सिन्धु नदीके बनकी वेदीको उल्लंघन कर वह सेनापति सीढ़ियोंसहित विजयार्ध पर्वतके बनकी वेदीपर जा चढ़ा ॥१४५॥ जिसका वक्षःस्थल बहुत बड़ा है और जिसकी भुजाएँ बहुत लम्बी हैं ऐसा वह सेनापति पर्वतकी वेदिकापर चढ़कर छह महीनेमें जिसकी गरभी शान्त हो गयी है ऐसी गुफाके द्वारपर ठहर गया ॥१४६॥ वहाँ ठहरकर उसने अनेक विघ्नोंसे भरे हुए गुफाके भीतरी भागको शुद्ध (साफ) कराया और फिर अच्छी तरहसे उसकी रक्षा

१ उद्गताशीर्वचनाः । २ निष्कपटवृत्तयो भूत्वा । ३ अङ्गीकारं कृतवन्तः । ४ धाटीनिरोधनैः । निग्रहस्तु निरोधः स्याद् इत्यमरः । अभ्यासाधनात्मकनिग्रहैः । उक्तं च विदग्धचूडामणौ 'अभ्यवस्कन्दनं त्वभ्यासाधनम्' (घेरेका नाम) । ५ अधिकं पीडितो भूत्वा । ६ वेष्टिताः । ७ विवाहादिभिः । ८ पुण्यभूम्या आर्याखण्डे-नेत्यर्थः । 'आर्यावर्तः पुण्यभूमिः' इत्यभिधानात् । ९ अस्थानम् । १० प्रविष्टः । ११ विशालवक्षस्थलः । १२ तस्थौ । १३ गुहाद्वारम् । १४ स्कन्धाधारं प्रत्यगात् ।

अथ संमुखमागत्य सानीकैर्नृपसत्तमैः । प्रत्यगृह्यत सेनानीः सजयानकनिःस्वनम् ॥१४८॥
 विभक्ततोरणामुच्चैः प्रचलत्केतुमालिकाम् । महावीथीमतिक्रम्य प्राचिक्षत् स नृपालयम् ॥१४९॥
 तुरंगमवराद्वरान् कृताचतरणः कृती । प्रभोर्नृपासनस्थस्य प्रापदास्थानमण्डपम् ॥१५०॥
 दूरानतचलन्मौलिसंक्षेपकरकुटुम्बलः । प्रणनाम प्रभुं सभ्यैर्वाक्ष्यमाणः सविस्मृतैः ॥१५१॥
 मुखैर्जयकारेण म्लेच्छराजैः ससाध्यसम् । प्रणेमे प्रभुरभ्येक्ष्य ललाटस्पृष्टभूतलैः ॥१५२॥
 तदुपाहृतैरसाद्यैर्चयन्नुपह्वंकितैः^१ । नामावेशं^२ च^३ तानस्मै प्रभवेऽसौ न्यवेदयत् ॥१५३॥
 सप्रसादं च संसान्य सङ्कृतास्ते महीभुजः । प्रमोश्नुमताद् भूयः स्वमोकः प्रत्ययासिषुः^४ ॥१५४॥
 इत्थं पुण्योदयावधौ बलात् प्रत्यन्तपालकान्^५ । विजिग्ये दण्डमात्रेण जयः पुण्याहते कुतः ॥१५५॥

मालिनी

अथ नृपतिसमाजेनार्चितः सानुरागं विजितसकलदुर्गः प्रह्वयन् म्लेच्छमाधान् ।
 पुनरपि विजयाथायोजि सोऽप्रेसरखे जय इव जयचिह्नैर्मार्गितो रत्नमर्था ॥१५६॥
 जयति जिनवराणां शासनं चत्प्रसादात् पदमिदमधिराजां प्राप्यते हेलयैव ।
 समुचितनिधिरसप्राज्यभोगोपभोगप्रकटितसुखसारं भूरि संप्रसारम् ॥१५७॥

का उपाय कर वह चक्रवर्तीकी छावनीमें वापस लौट आया ॥१४७॥ सेनापतिके वहाँ पहुँचने-पर अनेक उत्तम-उत्तम राजाओंने अपनी सेनाओंके साथ सामने जाकर विजयसूचक नगाड़ोंके शब्दोंके साथ-साथ उमका स्वागत-सत्कार किया ॥१४८॥ जिसमें अनेक तोरण लगे हुए हैं और जिसमें बहुत ऊँची अनेक पताकाओंके समूह फहरा रहे हैं ऐसे राजमार्गको उल्लंघन कर वह सेनापति महाराज भरतके डेरेमें प्रविष्ट हुआ ॥१४९॥ वह व्यवहार कुशल सेनापति दूरसे ही उत्तम घोड़ेपर-से उतर पड़ा और जहाँ महाराज भरत राजसिंहासनपर बैठे हुए थे उस सभा-मण्डपमें जा पहुँचा ॥१५०॥ दूरसे ही झुके हुए चंचल मुकुटपर जिसने अपने दोनों हाथ जोड़कर रखे हैं और सभासद् लोग जिसे आश्चर्यके साथ देख रहे हैं ऐसे सेनापतिने महाराज भरतको नमस्कार किया ॥१५१॥ जिन्होंने अपने ललाटसे पृथिवीतलका स्पर्श किया है और जो जय-जय शब्द करनेसे वाचालित हो रहे हैं ऐसे म्लेच्छ राजाओंने भयसहित सामने आकर भरत-को नमस्कार किया ॥१५२॥ उन म्लेच्छ राजाओंके द्वारा उपहारमें लाये हुए रत्न आदिको सामने रखकर सेनापतिने महाराज भरतसे नाम ले लेकर सबका परिचय कराया ॥१५३॥ महाराजने प्रसन्नताके साथ सन्मान करके उन सब राजाओंका सत्कार किया, तदनन्तर वे राजा महाराजकी अनुमतिसे अपने-अपने स्थानपर वापस चले गये ॥१५४॥ इस प्रकार चक्रवर्ती-ने पुण्य कर्मके उदयसे केवल दण्डरत्नके द्वारा ही म्लेच्छ राजाओंको जबरदस्ती जीत लिया था सो ठीक ही है क्योंकि पुण्यके बिना विजय कहाँसे हो सकती है ? ॥१५५॥

अथानन्तर-अनेक राजाओंके समूहने प्रेमपूर्वक जिसका सत्कार किया है, जिसने सब किले जीत लिये हैं, जिसने म्लेच्छ राजाओंको नम्रीभूत किया है, जो साक्षात् विजयके सामान सुशोभित हो रहा है और विजयके चिह्नोंसे जिसका सन्मान किया गया है ऐसे उस सेनापति-को रत्नोंके स्वामी भरत महाराजने विजय प्राप्त करनेके लिए फिर भी प्रधान सेनापतिके पदपर नियुक्त किया ॥१५६॥ योग्य निधियाँ, रत्न तथा उत्कृष्ट भोग-उपभोगकी वस्तुओं

१ ससैन्यैः । २ तन्म्लेच्छराजैर्म्य आहृत । ३ पूजयन् । ४ प्रभोः समीपं नीतैः । ५ नामोद्देशम् । ६ म्लेच्छ-राजान् । ७ निजावासं संप्रतिजग्मुः । ८ म्लेच्छराजान् प्रत्यन्ती म्लेच्छदेशः स्यादित्याभिधानात् ।

शार्दूलचिक्रीडितम्

लभं चन्द्रकरावहासि रुचिरं चार्भाकरप्रोज्ज्वलद्-

दण्डं चामरदुग्मकं मुरसरिद्विषडीरपिण्डचञ्चयिः ।

रत्नमात्रेणैव संविभक्तमपरं कृतं मृगान्द्राग्नयं

लेभेऽसौ विजयार्द्धनाथविजयात्रवान्यथान्यान्यपि ॥ १५८ ॥

शीघ्राणः कृतमाल इयमिमेति संप्रत्य तं सादरे

प्रादाद्रामरणानि शानि न पुनस्तं प्रामिहास्युन्मितिः ।

सम्राट् नैश्चका दलंकृततनुः कल्पद्रुमः पुष्पिनी

मेरोः मानुसिवाश्रितो मणिमयं संऽध्याग्नितो विष्टरम् ॥ १५९ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहे

विजयार्द्धशुहाद्वारोदाटनवर्णनं नामैकत्रिंशं पर्व ॥ ३१ ॥



के द्वारा जिसमें सुखोंका मार प्रकट रहता है, और जिसमें अनेक सम्पदाओंका प्रसार रहता है ऐसा यह चक्रवर्तीका पद जिसके प्रसादसे लीलामात्रमें प्राप्त हो जाता है ऐसा यह जिनेन्द्र भगवान्का शासन सदा जयवन्त रहे ॥१५७॥ महाराज भरतने विजयार्ध पर्वतके स्वामीको जीतकर उससे चन्द्रमाकी किरणोंकी हँसी करनेवाला सुन्दर छत्र, सुवर्णमय देदीप्यमान दण्डोंसे युक्त तथा गंगा नदीके फेनके समान कान्तिवाले दो मनोहर चमर, सुमेरु पर्वतसे अलग किये हुए उसके शिखरके समान सिंहासन तथा और भी अन्य अनेक रत्न प्राप्त किये थे ॥१५८॥ 'कृतमाल' इस नामसे प्रसिद्ध देवने मत्कार कर महाराज भरतके लिए जो आभूषण दिये थे इस भरतक्षेत्रमें उनकी उपमा देने योग्य कोई भी पदार्थ नहीं है । उन अनुपम आभूषणोंसे जिनका शरीर अलंकृत हो रहा है और जो मणियोंके बने हुए सिंहासनपर विराजमान हैं ऐसे महाराज भरतेश्वर उस समय मेरु पर्वतके शिखरपर स्थित फूले हुए कल्प वृक्षके समान अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे ॥१५९॥

इस प्रकार आर्षे नामसे प्रसिद्ध, भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहके

हिन्दी भाषानुवादमें विजयार्ध पर्वतकी गुफाका द्वार उघाड़नेका

वर्णन करनेवाला इकतीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ।



द्वात्रिंशत्तमं पर्व

अथान्येषुरुपाकृतसंभ्रमैर्बलनायकैः । प्रत्यपालयत्^१ संग्रहः प्रयाणसमयः प्रभोः ॥१॥
 राजताम्रधरस्थानां^२ पादाङ्गानां^३ च संकुलैः । न नृपाजिरमेवासीद् रुद्धमद्वेयनान्यपि ॥२॥
 जयकुञ्जरमारुहः परीतो^४ नृपकुञ्जरैः । रेजे^५ निर्यन्त्रयाणाय सन्नाट् शक्र इवामरैः ॥३॥
 किञ्चित् पश्चान्मुखं^६ गत्वा सेनाभ्या शोधिते पथि । ष्वजिनी संकुचन्त्यासीद्दीर्घाशुद्धिं श्रितेषां सा ॥४॥
 प्रगुणस्थानसोपानां^७ रूप्याद्रेः श्रेणिसञ्चमात् । मुनेः शुद्धिरिव श्रेणीमारुढा सा पताकिनी^८ ॥५॥
 तमिस्त्रेति गुहा यासौ विरिष्याससमायतिः^९ । उच्छिष्टा योजनान्यष्टौ^{१०} ततोऽर्द्धाधिकविस्तृतिः^{११} ॥६॥
 वाज्रं कपाटयोर्युग्मं या स्त्रोच्छ्वायमितोच्छिष्टति । दध्ने पृथक्^{१२} दशविक्कम्भसाधिकद्व्यंशविस्तृतिः^{१३} ॥७॥
 परार्ध्यमणिनिर्माणरुचिसद्द्वारबन्धना ।^{१४} तद्व्यस्तलनिस्सर्पसिन्धुस्रोतोविशजिता ॥८॥
 अशक्योद्धाटनाऽन्येषां मुक्त्वा चक्रिचमूपतिम् । तस्मिन्गलितत्वाच्च^{१५} प्रागेव कृतनिवृत्तिः^{१६} ॥९॥

अथानन्तर—दूसरे दिन जिन्हें जल्दी हो रही है और जो हर एक प्रकारसे तैयार हैं ऐसे सेनापति लोग चक्रवर्तीके चलनेके समयकी प्रतीक्षा करने लगे ॥१॥ हाथियोंके समूह, घोड़ोंके समूह, रथोंके समूह और पैदल चलनेवाले सैनिक, इन सबकी भीड़से केवल महाराजका आंगन ही नहीं भर गया था किन्तु विजयार्ध पर्वतके वन भी भर गये थे ॥२॥ विजयी हाथीपर चढ़ा हुआ और अनेक श्रेष्ठ राजाओंसे घिरा हुआ चक्रवर्ती जब विजयके लिए निकला तब ऐसा सुशोभित हो रहा था जैसा कि ऐरावत हाथीपर चढ़ा हुआ और देवोंसे घिरा हुआ इन्द्र सुशोभित होता है ॥३॥ भरतकी वह सेना कुछ पश्चिमकी ओर जाकर सेनापतिके द्वारा शुद्ध किये हुए मार्गमें संकुचित होकर चल रही थी और ऐसी जान पड़ती थी मानो वह ईर्यापथ शुद्धिको ही प्राप्त हुई हो ॥४॥ जिस प्रकार मुनियोंकी विशुद्धता उत्तम गुणस्थान (आठवें, नौवें, दशवें रूपी सीढ़ियोंसे युक्त श्रेणी (उपरम श्रेणी अथवा क्षपकश्रेणी) पर चढ़ती है उसी प्रकार चक्रवर्तीकी सेना, जिसपर उत्तम सीढ़ियाँ बनी हुई हैं ऐसी विजयार्ध पर्वतकी श्रेणीपर जा चढ़ी थी ॥५॥ वहाँ तमिसू नामकी वह गुफा थी जो कि पर्वतकी चौड़ाईके बराबर लम्बी थी, आठ योजन ऊँची थी और उससे डेढ़ी अर्थात् बारह योजन चौड़ी थी जो अपनी ऊँचाईके बराबर ऊँचे और कुछ अधिक छह-छह योजन चौड़े वज्रमयी किवाड़ोंके घुगल धारण कर रही थी, जिसके दरवाजेकी चौखट महामूल्य रत्नोंसे बनी हुई होनेसे अत्यन्त देदीप्यमान थी, जो अपने नीचेसे निकलते हुए सिन्धु नदीके प्रवाहसे सुशोभित थी, चक्रवर्तीके सेनापतिको छोड़कर जिसे और कोई उघाड़ नहीं सकता था, जो सेनापतिके द्वारा पहले ही उघाड़ दी जानेसे शान्त पड़ गयी थी—भीतरकी गरमी निकल जानेसे ठण्डी पड़ गयी थी । जो यद्यपि जगत्की सृष्टिके समान अनादि थी तथापि किसीके द्वारा बनायी हुईके समान मालूम

१ प्रतीक्ष्यते स्म । २ सैन्यानाम् ल० । ३ पदाङ्गानाम् ल० । ४ परिवृतः । ५ निर्गच्छन् । ६ पश्चिमाभिमुखम् । ७ ऋजुसंस्थानसोपानां प्रवृद्धगुणस्थानसोपानांच । ८ सेना । ९ पञ्चाशद्योजनाग्रमेति भावः । १० अष्टयोजनोत्सेधात् । ११ द्वादशयोजनविस्तारेत्यर्थः । १२ यमलकवाटे एकैककवाटम् । १३ द्वादशयोजनविस्तारवद् गुहायाः साधिकद्वितीयं विस्तारम् । यमलरूपकवाटे एकैककवाटस्य साधिकषड्योजनविस्तृतिरित्यर्थः । १४ द्वारबन्धादवस्तलनिर्गच्छत् । देहत्या अवस्तले निर्गच्छदिति भावः । १५ तेन चमूपतिना समुद्धाटितकवाटत्वात् । १६ कृतोपशान्तिः ।

कृत्वा प्रतिरिद्धां वृत्तिं च केनचित् । १० ॥ मुनिर्विवोपात्तगाम्भीर्या मुनिभिर्मता ॥ १० ॥
 व्यायता जीविताशेष मूर्च्छेव च तमोमयी । गनेवोलावता कृच्छ्रान्मुक्तोष्मा शोधितोदरा ॥ ११ ॥
 कुटीय च प्रसूताया निविहान्यप्रवेशना । कृतरक्षाविधिद्वारे धृतमङ्गलसंविधिः ॥ १२ ॥
 तामालोक्य बलं जिष्णोर्दृष्टादासीत्य साध्वसम् । तमसा सूचिभेदेन कज्जलेनेव संभृताम् ॥ १३ ॥
 चक्रिणा ज्ञापितो भूयः सेनानीः सपुरोहितः । तत्तमोनिर्गमोपायं प्रयत्नमकरोत्ततः ॥ १४ ॥
 काकिणीमणिरक्षाभ्यां प्रतियोजनमालिखत् । गुहामिच्छित्वे सूर्यसंमयोमण्डलद्वयम् ॥ १५ ॥
 तत्प्रकाशकृतोद्योतं सज्योत्सनात्मसंनिधिम् । घृहामध्यमपध्वान्तं व्यगाहत् ततो बलम् ॥ १६ ॥
 चक्ररत्नज्वलद्दीपे ससेनान्या पुरः स्थिते । बलं तदनुमार्गेण प्रविभज्य द्विधा यथा ॥ १७ ॥
 परिसिन्धु नदीस्तोतः प्राक् पश्चाच्चोभयोः पथोः । बलं प्रायज्जलं सिन्धोरुपयुज्योपयुज्य तत् ॥ १८ ॥
 पथि द्वैधे स्थिता तस्मिन् सेनाप्रणया नियन्त्रिता । सा चमूः संशयद्वैधं तदा प्रापद् दिगाश्रयम् ॥ १९ ॥
 ततः प्रयाणकैः कैश्चिन् प्रभूतयवसोदकैः । गुहार्द्धसंमिता भूमिं व्यर्तायाय पतिर्विशाम् ॥ २० ॥

होती थी, अत्यन्त गम्भीर (गहरी) होनेके कारण जिसे मुनि लोग जिनवाणीके समान मानते थे क्योंकि जिनवाणी भी अत्यन्त गम्भीर (गूढ़ अर्थोंसे भरी हुई) होती है । जो जीवित रहनेकी आशाके समान लम्बी थी, मूर्च्छाके समान अन्धकारमयी थी, गरमी निकल जाने तथा भीतरका प्रदेश शुद्ध हो जानेसे जो नीरोग अवस्थाको प्राप्त हुईके समान जान पड़ती थी, जिसमें चक्रवर्तीकी सेनाको छोड़कर अन्य किसीका प्रवेश करना मना था, जिसके द्वारपर रक्षाकी सब विधि की गयी थी, जिसके समीप मंगलद्रव्य रखे हुए थे और इसलिए जो प्रसूता (बच्चा उत्पन्न करनेवाली) स्त्रीकी कुटी (प्रसूतिगृह) के समान जान पड़ती थी ॥६-१२॥ सुईकी नोकसे भी जिसका भेद नहीं हो सकता ऐसे कज्जलके समान गाढ़ अन्धकारमें भरी हुई उस गुफाको देखकर चक्रवर्तीकी सेना दूरसे ही भयभीत हो गयी थी ॥१३॥ तदनन्तर जिसे चक्रवर्तीने आज्ञा दी है ऐसे सेनापतिने पुरोहितके साथ-साथ, उस अन्धकारसे निकलनेका उपाय करनेके लिए फिर प्रयत्न किया ॥१४॥ उन्होंने गुफाकी दोनों ओरकी दीवारोंपर काकिणी और चूड़ामणि रत्नसे एक-एक योजनकी दूरीपर सूर्य और चन्द्रमाके मण्डल लिखे ॥१५॥ तदनन्तर उन मण्डलोंके प्रकाशसे जिसमें प्रकाश किया जा रहा है, चाँदनी और धूप दोनों ही जिसमें मिल रहे हैं तथा जिसका सब अन्धकार नष्ट हो गया है, ऐसे गुफाके मध्य भागमें सेनाने प्रवेश किया ॥१६॥ आगे-आगे सेनापतिके साथ-साथ चक्ररत्नरूपी देदीप्यमान दीपक चल रहा था और उसके पीछे-पीछे उसी मार्गसे दो भागोंमें विभक्त होकर सेना चल रही थी ॥१७॥ वह सेना सिन्धु नदीके प्रवाहको छोड़कर पूर्व तथा पश्चिमकी ओरके दोनों मार्गोंमें सिन्धु नदीके जलका उपयोग करती हुई जा रही थी ॥१८॥ उन दोनों मार्गोंपर चलती हुई तथा सेनापतिके द्वारा वश की हुई वह सेना उस समय दिशाओंसम्बन्धी संशयकी द्विविधताको प्राप्त हो रही थी अर्थात् उसे इस बातका संशय हो रहा था कि पूर्वदिशा कौन है ? और पश्चिम दिशा कौन है ? ॥१९॥ तदनन्तर जिनमें घास और पानी अधिक है ऐसे कितने ही मुकाम चलकर महाराज

१ निमित्तेव । २ केनचित् पुरुषेण । ३ परमागमः । ४ ऋजुत्वं गतेव । 'उल्लाघो निर्गते गदात्' । ५ शोधितान्तरा ल० । ६ गुहाम् । ७ सेनापतिसमन्विते । ८ सिन्धूनदीप्रवाहं वर्जयित्वा । परिशब्दस्य वर्जनार्थत्वात् । ९ पश्चात् पूर्वापर । १० अगच्छत् । ११ द्विप्रकारवती । १२ नियमिता । १३ संशयभेदं संशयविनाशं वा । १४ उपवेशाश्रयं वा संशयभेदं प्राप । पूर्वदिदिग्भेदे सेना सम्बेहवती जातेत्यर्थः । १५ तृण, घास । 'घासो यवसं तुणमर्जुमि'त्यभिधानात् । १६ गुहानामर्द्धप्रमिताम् । १७ अत्यगात् ।

^१ यत्रोन्मग्नजला सिन्धुर्निमग्नजला समम् । प्रविष्टा तिर्यग्गुहेन^२ तं^३ प्राप बलमीशितुः ॥२१॥

तयोरात्रात्ते सैन्यं निवेद्य भरतेश्वरः । वैषम्यमुभयोर्नद्योः प्रेक्षाचक्रे सकौतुकम् ॥२२॥

एकाऽधः पातयन्त्यथा^४ दार्वाष्टुप्लावत्यरम् । मिथो विरुद्धसांगम्ये संगते ते कथंचन ॥२३॥

नद्योरुत्तरणोपायः को नु स्यादिति तर्कयन् । द्रुतमाह्लापयामास तदस्थः स्थपतिं पतिः ॥२४॥

तयोरात्रात्ते पश्यन्नुत्तश्चिपतजलम् । दृष्ट्वैव तुल्यामास^५ जलाञ्जलिमिव^६ क्षणम् ॥२५॥

उपर्युच्चवासयन्त्येतां महान् वायुः स्फुरन्मधः । वायुस्तदन्यथावृत्तिरसुप्त्यां च विजृम्भते ॥२६॥

उपनाहाह्वे^७ कोऽन्यः प्रतीकारोऽनयोरिति । भिषग्वर इवारंभे संक्रमोपक्रमं^८ कृत्वा ॥२७॥

अमानुषेस्वरण्येषु ये केचन महाद्रुमाः । स तानानाययामास^९ दिव्यशक्त्यनुभाषतः ॥२८॥

सारदारुमिहतस्थ^{१०} स्तम्भानन्तजलस्थितान्^{११} । स्थपतिः स्थापयामास^{१२} तेषामुपरि संक्रमम्^{१३} ॥२९॥

बलव्यसनमाशङ्क्य^{१४} चिरवृत्तौ^{१५} स धीरधीः । क्षणान्निव्यादयामास संक्रमं प्रभुशक्तनाम् ॥३०॥

कृतः कलकलः सैन्यैर्निष्ठिते सेतुकर्मणि । तदेव च बलं कृत्स्नमुत्तार परं तदम्^{१६} ॥३१॥

भरतने गुफाकी आधी भूमि तय की ॥२०॥ और जहाँपर 'उन्मग्नजला' नदी 'निमग्नजला' नदीके साथ-साथ दोनों तरफकी दीवारोंके कुण्डोंसे निकलकर सिन्धु नदीमें प्रविष्ट होती है उस स्थानपर चक्रवर्तीकी सेना जा पहुँची ॥२१॥ महाराज भरतेश्वर उन दोनों नदियोंके किनारेके समीप ही सेना ठहराकर कौतुकके साथ उन दोनों नदियोंकी विषमता देखने लगे ॥२२॥ इन दोनोंमेंसे एक अर्थात् निमग्नजला तो लकड़ी आदिको शीघ्र ही नीचे ले जा रही है और दूसरी अर्थात् उन्मग्नजला प्रत्येक पदार्थको शीघ्र ही ऊपरकी ओर उछाल रही है । यद्यपि ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं तथापि किसी प्रकार यहाँ आकर सिन्धु नदीमें मिल रही हैं ॥२३॥ इन नदियोंके उतरनेका उपाय क्या है ? इस प्रकार विचार करते हुए चक्रवर्तीने वहाँ खड़े-खड़े ही शीघ्र ही अपने स्थपति (सिलावट) रत्नको बुलाया ॥२४॥ जिनका पानी ऊपर तथा नीचेकी ओर जा रहा है ऐसी उन दोनों नदियोंको देखते हुए सिलावट रत्नने उन्हें अपनी दृष्टिमात्रसे ही क्षण-भरमें अंजलि-भर जलके समान तुच्छ समझ लिया ॥२५॥ उसने समझ लिया कि इस उन्मग्नजला नदीको इसके नीचे रहनेवाला महावायु ऊपरकी ओर उछालता है और इस निमग्नजला नदीको उसके ऊपर रहनेवाला महावायु नीचेकी ओर ले जाता है ॥२६॥ इसलिए इन दोनोंका पुल बाँधनेके सिवाय और क्या उपाय हो सकता है ऐसा विचार कर उत्तम वैद्यके समान कार्यकुशल सिलावट रत्नने उन नदियोंके पार होनेका उपाय अर्थात् पुल बाँधनेका उपाय प्रारम्भ कर दिया ॥२७॥ उसने अपनी दिव्य शक्तिकी सामर्थ्यसे निर्जन वनोंमें जो कुछ बड़े-बड़े वृक्ष थे वे मँगवाये । भावार्थ — अपने आश्रित देवोंके द्वारा सघन जंगलोंसे बड़े-बड़े वृक्ष मँगवाये ॥२८॥ उसने मजबूत लकड़ियोंके द्वारा जलके भीतर मजबूत खम्भे खड़े कर उनपर पुल तैयार कर दिया ॥२९॥ अधिक समय लगनेपर सेनाको दुःख होगा इस बातका विचार कर उस गम्भीर बुद्धिके धारक सिलावटने भरतेश्वरकी आज्ञासे क्षण-भरमें ही पुल तैयार कर दिया था ॥३०॥ पुल तैयार होते ही सेनाओंने आनन्दसे कोलाहल किया और उसी समय चक्रवर्तीकी समस्त सेना उतरकर नदियोंके उस किनारे

१ यस्मिन् प्रदेशे । २ पूर्वपरिभ्रतिद्वयदण्डान् निर्गत्य । ३ प्रदेशम् । ४ काष्ठादि । ५ स तन्मदीद्वयम् ल०, इ०, अ०, प०, स० । ६ ददर्शेत्यर्थः । ७ उत्पततिपतरूपत्वादञ्जलियुक्तजलवत् । ८ अधोगमनवृत्तिः । ९ बन्धनात् विना । १० सेतूपक्रमम् । ११ आनयति स्म । १२ विन्यस्य । १३ जलं स्थिरात् ल०, द० । जले स्थिरात् इ० । १४ स्तम्भानाम् । १५ सेतुम् । १६ बलस्य पीडा भविष्यतीति विशङ्क्य । १७ चिरकालेऽतीते सति । १८ अपरतीरम् ।

नायकैः सममन्येषुः प्रभुर्गजघटावृतः । महापथेन तेनैव जलदुर्गं व्यलङ्घयत् ॥३२॥
 ततः कतिपयैरेव प्रमाणैरतिवाहितैः^१ । गिरिदुर्गं विलस्योदग्गुहाद्गौरमवासदत्तं ॥३३॥
 निरर्गलीकृतं द्वारं^२ पौरस्वैरिभसाधनैः । व्यतीत्य प्रभुरस्याद्रेरभ्युवास वनावनिम्^३ ॥३४॥
 अधिशय्य गुहागर्भं चिरं^४ मानुखोदरम् । लब्धं जम्भान्तरं मेने^५ निःसृतैः सैनिकैर्विहिः ॥३५॥
 गुह्यमसतिगृध्रेव^६ गिलिम्बा^७ जनतामिमाम् । जरणाशक्तितो^८ नूनमुज्जगालं^९ बहिः पुनः ॥३६॥
 व्यज्जनैरिव शाखाग्रैर्वीजयन् वनवीरधाम् । गुहोष्णं चिरं खिन्नां चमूमाश्वासयन्मरुत ॥३७॥
 तद्वनं पचनाधूतं चलच्छाखाकरोरुकरैः । प्रभोरुपागमे तोषाकनतैव धृतातैवम्^{१०} ॥३८॥
 पूर्ववत् पश्चिमे खण्डे बलाघण्या प्रसाधितं । विजेतुं मध्यमं खण्डं साधनैः प्रभुरुद्ययौ ॥३९॥
 न करैः पीडितो लोको न भुवः शोषितो रसः । नार्कणेन जनस्तप्तः प्रभुणाऽभ्युद्यताभ्युदक्^{११} ॥४०॥
 कौबेरौ दिशमास्थाय^{१२} तपस्विकान्ततः^{१३} करैः । मानुमक्षरीजस्तु^{१४} सुवस्तीवमकीकरोत् ॥४१॥
 कृतघ्न्यहानिं^{१५} सैभ्यानि संहतानि^{१६} परस्परम् । नातिभूमिं ययुर्जिष्णोर्न स्वैरं परिवभ्रसुः ॥४२॥

पर जा पहुँची ॥३१॥ दूसरे दिन हाथियोंके समूहसे घिरे हुए महाराज भरतने अनेक राजाओं-
 के साथ-साथ उसी जलमय महाभागसे कठिन रास्ता तय किया ॥३२॥ तदनन्तर कितने ही
 मुकाम चलकर और उस पर्वतरूपी दुर्ग (कठिन मार्ग) को उल्लंघन कर वे उस गुफाके उत्तर
 द्वारपर जा पहुँचे ॥३३॥ आगे चलनेवाली हाथियोंकी सेनाके द्वारा उखाड़े हुए उत्तर द्वारको
 उल्लंघन कर चक्रवर्तीने विजयार्थ पर्वतके वनकी भूमिमें निवास किया ॥३४॥ माताके उदर-
 के समान गुहाके गर्भमें चिरकाल तक निवास कर वहाँसे बाहर निकले हुए सैनिकोंने ऐसा
 माना था मानो दूसरा जन्म ही प्राप्त हुआ हो ॥३५॥ सेनाको बाहर प्रकट करती हुई वह
 गुफा ऐसी जान पड़ती थी मानो पहले वह बड़ी भारी तृष्णा इस मनुष्य-समूहको निगल गयी
 थी परन्तु पचानेकी शक्ति न होनेसे अब उसे फिर बाहर उगल रही हो ॥३६॥ उस समय
 पंखोंके समान वनलताओंकी शाखाओंके अग्रभागसे हवा करता हुआ वायु ऐसा जान पड़ता
 था मानो चिरकाल तक गुफाकी गरमीसे दुःखी हुई सेनाको आश्वासन ही दे रहा हो ॥३७॥
 जिसने ऋतु-सम्बन्धी अनेक फल-फूल धारण किये हैं और जो वायुसे हिल रहा है ऐसा वह वन
 उस समय ऐसा जान पड़ता था मानो चक्रवर्तीके आनेपर सन्तुष्ट होकर हिलते हुए अपने शाखा
 रूपी हाथोंके समूहसे नृत्य ही कर रहा हो ॥३८॥ जब सेनापति पहलेकी तरह यहाँके भी
 पश्चिम म्लेच्छ खण्डको जीत चुका तब महाराज भरत अपनी सेनाओंके द्वारा मध्यम म्लेच्छ
 खण्डको जीतनेके लिए उद्यत हुए ॥३९॥ यद्यपि भरत सूर्यके समान उत्तर दिशाकी ओर
 निकले थे तथापि जिस प्रकार सूर्य अपने कर अर्थात् किरणोंसे लोगोंको पीड़ित करता है, पृथिवी-
 का रस अर्थात् जल सुखा देता है, और मनुष्योंको सन्तप्त करता है उस प्रकार उन्होंने अपने
 कर अर्थात् टेक्ससे लोगोंको पीड़ित नहीं किया था, पृथिवीका रस अर्थात् आनन्द नहीं सुखाया
 था—नष्ट नहीं किया था और न मनुष्योंको सन्तप्त अर्थात् दुःखी ही किया था ॥४०॥ सूर्य
 उत्तर दिशामें पहुँचकर अपनी किरणोंसे सन्ताप करता है परन्तु महाराज भरतने पृथिवीका
 सन्ताप दूर कर दिया था ॥४१॥ जिनमें अनेक व्यूहोंकी रचना की गयी है और जो परस्परमें
 मिली हुई हैं ऐसी भरतकी सेनाएँ न तो उनसे बहुत दूर ही जाती थीं और न स्वच्छन्दतापूर्वक

१ अपनीतैः । २ उत्तरगुहाद्वारम् । ३ पुरोगतैः । ४ वनभूमिम् । ५ मन्वते स्म । ६ अतिवाञ्छया ।
 ७ निगरणं कृत्वा । ८ जरणाशक्त्यभावात् । ९ उद्गिलति स्म । १० कृतौ भवम् आलम्बम् पुण्यादि । धृतमार्तव्येन तत् । ११ उत्तरदिग्भागः । १२ उत्तरस्यां दिशि स्थित्वा । १३ नितराम् । १४ विहितरचनानि ।
 १५ संबद्धानि मिलितानि वा ।

प्रसाधितानि दुर्गाणि कृतं चाशक्यसाधनम् । परचक्रमवष्टब्धं चक्रिणो जयसाधनैः ॥४३॥
 बलवान्नामिथीकष्यो^१ रक्षणीयाश्च संश्रिताः । यत्तित्वं श्रितित्राणे जिगीषोर्भूतमादशम् ॥४४॥
 इत्यलङ्घ्यबलशक्ती चक्ररत्नमुपधजम् । कियतीमपि तां^२ भूमिमवाष्ट^३ र्भीत् स्वसाधनैः ॥४५॥
 ताश्च परचक्रमे^४ स्वचक्रमस्य^५ पराभवम् । चिलातावर्तनामानौ प्रभू सुश्रुवतुः किल ॥४६॥
 अभूत्पूर्वमेतौ^६ परचक्रमुपस्थितम् । व्यसनं प्रतिकर्तव्यमिच्छास्तां संगतौ मिथः ॥४७॥
 ततो धनुर्धरप्रायं सहार्थाय सहास्तिकम् । इतोऽमुतश्च संजग्मे^७ तत्सैन्यं म्लेच्छराजयोः ॥४८॥
 कृतोच्चविग्रहारम्भौ संस्मभं प्रतिपद्य तौ । विक्रम्य^८ चक्रिणः सैन्यैर्मजसुर्विजिगीषुताम् ॥४९॥
 न किञ्चिदप्यनालोच्य विधेयं सिद्धिमिच्छता^९ । अनालोचितकार्याणां दुर्यायस्यो^{१०} र्थसिद्धयः ॥५०॥
 कोऽयं प्रभुरवष्टम्भो कुतस्त्यो वा कियदलः^{११} । बलवान् इत्यनालोच्य नाभिषेप्य^{१२} कथंचन^{१३} ॥५१॥
 विजयाद्वञ्चलोलङ्घी नैष सामान्यमानुषः । दिव्यो^{१४} दिव्यानुभावो^{१५} वा भवेदेष न संशयः ॥५२॥

इधर-उधर ही घूमती थीं ॥४२॥ चक्रवर्तीकी विजयी सेनाओंने अनेक किले अपने वश किये, जिन्हें कोई वश नहीं कर सकता था, ऐसे राजाओंको वश किया और शत्रुओंके देश घेरे ॥४३॥ बलवान्के साथ युद्ध नहीं करना, शरणमें आये हुएकी रक्षा करना, और अपनी पृथिवीकी रक्षा करनेमें प्रयत्न करना यही विजयकी इच्छा करनेवाले राजाके योग्य आचरण है ॥४४॥ इस प्रकार जिनकी सेना अथवा पराक्रमको कोई उल्लंघन नहीं कर सकता ऐसे चक्रवर्ती भरतने चक्ररत्नके पीछे-पीछे जाते हुए अपनी सेनाके द्वारा वहाँकी कितनी ही भूमिको अपने अधीन कर लिया ॥४५॥ इतनेमें ही चिलात और आवर्त नामके दो म्लेच्छ राजाओंने शत्रुओंकी सेनाके द्वारा अपनी सेनाका पराभव होता सुना ॥४६॥ हमारे देशमें शत्रुओंकी सेना आकर उपस्थित होना यह हम दोनोंके लिए बिलकुल नयी बात है, इस आये हुए संकटका हमें प्रतिकार करना चाहिए ऐसा विचारकर वे दोनों ही म्लेच्छ राजा परस्पर मिल गये ॥४७॥ तदनन्तर जिसमें प्रायः करके धनुष धारण करनेवाले घोड़ा हैं, तथा जो हाथियों और घोड़ोंके समूहसे सहित हैं ऐसी उन दोनों राजाओंकी सेना इधर-उधरसे आकर इकट्ठी मिल गयी ॥४८॥ जिन्होंने भारी युद्ध करनेका उद्योग किया है ऐसे वे दोनों ही राजा क्रोधित होकर तथा पराक्रम प्रकट कर चक्रवर्तीकी सेनाओंके साथ विजिगीषुपनको प्राप्त हुए अर्थात् उन्हें जीतनेकी इच्छासे उनके प्रतिद्वन्द्वी हो गये ॥४९॥ इसीके बीच, बुद्धिमान् धीर-वीर तथा सफलतापूर्वक कार्य करनेवाले मन्त्रियोंने उन दोनों राजाओंको युद्धके उद्योगसे रोककर नीचे लिखे अनुसार हितकारी वचन कहे ॥५०॥ हे प्रभो, सिद्धिकी इच्छा करनेवालोंको बिना विचारे कुछ भी नहीं करना चाहिए क्योंकि जो बिना विचारे कार्य करते हैं उनके कार्योंकी सिद्धि बहुत दूर हो जाती है ॥५१॥ हमारी सेनाको रोकनेवाला यह कौन राजा है ? कहाँसे आया है ? इसकी सेना कितनी है और यह कितना बलवान् है इन सब बातोंका विचार किये बिना ही उसकी सेनाके सम्मुख किसी भी तरह नहीं जाना चाहिए ॥५२॥ विजयार्थ पर्वतको उल्लंघन करनेवाला यह कोई साधारण मनुष्य नहीं है, यह या तो कोई देव होगा या कोई दिव्य प्रभावका धारक होगा इसमें

१ व्याप्तम् । २ अभिषेकनीयः । ३ महतीम् । ४ वेष्टयति स्म । ५ परसैन्येन । ६ स्वराष्ट्रस्य । ७ आश्रयोः । ८ संगतमभूत् । ९ अधिकां शक्तिं विधाय । १० सिद्धिमिच्छता । ११ दूरतराः । १२ कियदबलवत्, स० । इ० । १३ सेनया अभिघातयः । १४ सर्वथा । १५ देवः । १६ दिव्यसामर्थ्यः ।

तदास्तां समरारम्भः संभाव्यो दुर्गसंश्रयः । तदाश्रितैरनायासात् जेतुं शक्यो रिपुमहान् ॥ ५४ ॥
 हरमावदुर्गमेतन्नः क्षेत्रं केनाभिभूयते । हिमवद्विजयादीन्दिग्गजान्^१ सिन्धुतटावधि ॥ ५५ ॥
 अन्यच्च देवताः सन्ति सत्यमस्मच्छुलोचिताः ।^२ नागामेघमुखा नाम ते निरुन्धन्तु शत्रुवान् ॥ ५६ ॥
 इति तद्वचनाज्जातजवाशंसौ जनेश्वरौ । देवतानुस्मृतिं सद्यः चक्रतुः कृतपूजनौ ॥ ५७ ॥
 ततस्ते जलद्वाकारधारिणो घनगर्जिताः । परितो वृष्टिमातेतुः सानिलामनिष्ठाशनाः^३ ॥ ५८ ॥
 तमलं जलदोद्गीर्णं बलमाप्लाव्य जैष्णवम्^४ । अभस्तिर्यग्गोधोऽर्घ्यं च समन्तादभ्यर्चुमवत्^५ ॥ ५९ ॥
 न खल्वन्योपमस्थासीत् शिबिरे वृष्टिरीशितुः । बहिरेकार्णवं कृत्स्नमकरोद् व्याप्य रोदसी ॥ ६० ॥
 छत्ररत्नमुपवासी चर्मरत्नमधोऽभवत् । ताभ्यामावेष्टय तमुद्धं बलं स्यूतमिवामितः ॥ ६१ ॥
 मध्येरत्नद्वयस्यास्य स्थितमासतमाद् दिनात् । जलद्वये बलं भर्तुर्व्यक्तमण्डायितं^६ तदा ॥ ६२ ॥
 चक्ररत्नकृतोद्योते रुद्धद्वादशयोजने । तत्राण्डकं^७ स्थितं जिष्णोर्निराबाधमभूद् बलम् ॥ ६३ ॥
 प्रविमलचतुर्द्वारं सेनाभ्यान्तःसुरक्षितम् । बहिर्जयकुमारेण ररक्षे किल तद्वलम् ॥ ६४ ॥
 तदा पटकुटीमेवाः^८ कीटिकाश्च विषाङ्कटाः^९ । कृताः स्थपतिरसेन^{१०} रथाभ्याम्बरशोभराः ॥ ६५ ॥

कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ ५३ ॥ इसलिए युद्धका उद्योग दूर रहे, हम लोगोंको किसी किलेका आश्रय लेना चाहिए, क्योंकि किलेका आश्रय लेनेवाले दुर्गम लड़ेवाले शत्रुको यह जीत सकते हैं ॥ ५४ ॥ हिमवान् पर्वतसे विजयार्थ पर्वत तक और गंगा नदीसे सिन्धु नदीके किनारे तक का यह हमारा क्षेत्र स्वभावसे ही किलेके समान है, इसका पराभव कौन कर सकता है ? इसे कौन जीत सकता है ? ॥ ५५ ॥ और दूसरी बात यह भी है कि हमारी कुल-परम्परासे आये नागमुख और मेघमुख नामके जो देव हैं वे अवश्य ही शत्रुओंको रोक लेंगे ॥ ५६ ॥ इस प्रकार मन्त्रियोंके वचनोंसे जिन्हें विजय करनेकी इच्छा उत्पन्न हुई है ऐसे उन दोनों राजाओं-ने शीघ्र ही पूजन कर देवताओंका स्मरण किया ॥ ५७ ॥ स्मरण करते ही नागमुख देव, बादलों-का आकार धारण कर घनघोर गर्जना करते हुए चारों ओर झंझावायुके साथ-साथ जलकी वृष्टि करने लगे ॥ ५८ ॥ मेघोंके द्वारा बरसाया हुआ वह जल भरतेस्वरकी सेनाको डुबोकर ऊपर नीचे तथा अगल-बगल चारों ओर बहने लगा ॥ ५९ ॥ यद्यपि वह जल इतना अधिक बरसा था कि उसने आकाश और पृथिवीके अन्तरालको व्याप्त कर बाहर एक समुद्र-सा बना दिया था परन्तु चक्रवर्तीके शिबिर (छावनी)में वस्त्रका एक टुकड़ा भिगोने योग्य भी वृष्टि नहीं हुई थी ॥ ६० ॥ उस समय भरतकी सेनाके ऊपर छत्ररत्न था और नीचे चर्मरत्न था, उन दोनों रत्नोंसे घिरकर रुकी हुई सेना ऐसी मालूम होती थी मानो चारों ओरसे सी ही दी गयी हो अर्थात् चर्मरत्न और छत्ररत्न इन दोनोंमें चारों ओरसे टाँके लगाकर बीचमें ही रोक दी गयी हो ॥ ६१ ॥ उस जलके प्रवाहमें भरतकी वह सेना सात दिनतक दोनों रत्नोंके भीतर ठहरी थी और उस समय वह ठीक अण्डाके समान जान पड़ती थी ॥ ६२ ॥ जिसमें चक्ररत्नके द्वारा प्रकाश किया जा रहा है ऐसे उस बारह योजन लम्बे-चौड़े अण्डाकार तम्बूमें ठहरी हुई भरतकी सेना सब तरहकी पीड़ासे रहित थी ॥ ६३ ॥ उस बड़े तम्बूमें चारों दिशाओंमें चार दरवाजे विभक्त किये गये थे, उसके भीतरकी रक्षा सेनापतिने की थी और बाहरसे जय-कुमार उस सेनाकी रक्षा कर रहे थे ॥ ६४ ॥ उस समय सिलावट रत्नने अनेक प्रकारके कपड़े-के तम्बू, घासकी बड़ी-बड़ी झोपड़ियाँ और आकाशमें चलनेवाले रथ भी तैयार किये थे ॥ ६५ ॥

१ गाङ्गसिन्धु-ल० । २ नागामेघ-ल० । ३ नागाः । ४ जिष्णोश्चक्रिणः संबन्धि । ५ अभिधावति स्म । ६ पटमादं यथा भवति । ७ ऊतम् तन्तुना संबद्धमित्यर्थः । ८ अण्डमिवाचरितम् । ९ पञ्चजरे । १० कीटिकाः कुटीराः, शालाः । कीटिकाश्च ल०, ब०, अ० प०, स० । ११ विशांलाः । १२ रथाः संवरशोभराः प० ।

वह्निः कलकलं ध्रुत्वा किमेतदिति पार्थिवाः । करं व्यापारयामासुः क्रुद्धाः कौश्लयकं प्रति ॥६६॥
 ततश्चक्रधरादिष्टा^१ गणबद्धामरास्तदा । नागानुत्सारयामासु^२ राक्षसा^३ हुंश्रुतैः क्षणान् ॥६७॥
 बलवान् कुरुराजोऽपि^४ मुक्तसिंहप्रगर्जितः । दिव्यास्त्रैरजयक्ष्मागान् रथं दिव्यमपिष्टितः ॥६८॥
 तदा रणाङ्गणे वर्षन् शरधारामनारतम् । स रेजे धृतसन्नाहः^५ प्रावृषेण्य^६ इवाम्बुदः ॥६९॥
 तन्मुक्ता विशिखा दीप्रा रंजिरे समराजिरे^७ । द्रष्टुं सिरोहितान्नागान् दीपिका इव बोधिनाः ॥७०॥
 ततो निवृत्तै^८ जिह्वा नागान् मेघमुखानसौ । कुमारो रणसंरम्भात् प्राप्तमेघस्वरश्रुतिः^९ ॥७१॥
 कुरुराजस्तदा स्फूर्जत्पर्जन्य^{१०} स्तनिलोजितैः । गर्जितैर्निजैश्च^{११} मेघमुखान् ख्यातस्तदाज्ञया ॥७२॥
 तोषितैरवदानेन^{१२} घोषिलोऽस्य जयोऽभरः । दन्ध्वनदुन्दुभिध्यातयधिरीकृतदिङ्मुखैः ॥७३॥
 ततो दृष्टापदानोऽयं^{१३} तुष्टुवे^{१४} चक्रिणा मुहुः । निबोजितश्च सत्कृत्य वीरो वीराप्रणीपदे ॥७४॥
 इन्द्रजाल इवामुष्मिन् व्यतिक्रान्तेऽहिचिह्नवे^{१५} । प्रत्यापत्तिमगाद् भूयो बलमाविर्भवजयम् ॥७५॥
 दिव्यस्ते पञ्चगानीके विबर्णा म्लेच्छनायका । चक्रिणश्चरणावेत्य मयभ्रान्ता प्रणेमतुः ॥७६॥
 धनं यशोधनं चास्मै कृतागः परिशोधनम्^{१६} । दत्त्वा प्रसीद देवेति तां भृत्यस्वमुपेयतुः ॥७७॥

बाहुर कोलाहल सुनकर 'यह क्या है' इस प्रकार कहते हुए राजाओंने क्रोधित होकर अपना हाथ तलवारकी ओर बढ़ाया ॥ ६६ ॥ तदनन्तर उस समय जिन्हें चक्रवर्तीने आदेश दिया है ऐसे गणबद्ध जातिके देवोंने क्रुद्ध होकर अपने हुंकार शब्दोंके द्वारा क्षण-भरमें नागमुख देवोंको हटा दिया ॥ ६७ ॥ अतिशय बलवान् कुरुराजो भी दिव्य रथपर बैठकर सिंह-गर्जन^१ करने लगे, ^२ नागमुख देवोंको जीता ॥ ६८ ॥ उस समय युद्धके आंगनमें निरन्तर बाणोंकी वर्षा करता हुआ और शरीरपर कवच धारण किये हुए वह जयकुमार वर्षाश्रुतके बादलके समान सुशोभित हो रहा था ॥ ६९ ॥ जयकुमारके द्वारा छोड़े हुए वे देदीप्यमान बाण युद्धके आंगनमें ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो छिपे हुए नागमुखोंको देखनेके लिए जलाये हुए दीपक ही हों ॥ ७० ॥ तदनन्तर वह जयकुमार नागमुख और मेघमुख देवोंको जीतकर तथा मेघेश्वर नाम पाकर उस युद्धसे वापस लौटा ॥ ७१ ॥ उस समय वह जयकुमार विजली गिरानेके पहले भयंकर शब्द करते हुए बादलोंकी गर्जनाके समान अपनी तेज गर्जनाके द्वारा मेघमुख देवोंको जीतता हुआ मेघेश्वर नामसे प्रसिद्ध हुआ था ॥ ७२ ॥ बार-बार बजते हुए दुन्दुभियोंके शब्दोंसे जिन्होंने समस्त दिशाएँ बहिरी कर दी हैं ऐसे देवोंने इस जयकुमारके पराक्रमसे सन्तुष्ट होकर इसका जयजयकार किया था ॥ ७३ ॥ तदनन्तर जिसका पराक्रम देख लिया गया है ऐसे इस जयकुमारकी चक्रवर्तीने भी बार-बार प्रशंसा की और उस वीरका सत्कार कर उन्होंने उसे मुख्य शूरवीरके पदपर नियुक्त किया ॥ ७४ ॥ इन्द्रजालके समान वह नागमुख देवोंका उपद्रव शान्त हो जानेपर जिसकी जीत प्रकट हो रही है ऐसी वह भरतकी सेना पुनः स्वस्थताको प्राप्त हो गयी अर्थात् उपद्रव टल जानेपर सुखका अनुभव करने लगी ॥ ७५ ॥ नागमुख देवोंकी सेनाके भाग जानेपर वे दोनों ही चिलात और आवर्त नामके म्लेच्छ राजा निर्बल हो गये और भयसे धबड़ाकर चक्रवर्तीके चरणोंके समीप आकर प्रणाम करने लगे ॥ ७६ ॥ उन्होंने अपराध क्षमा कराकर भरतके लिए बहुत-सा धन तथा यशरूपी धन दिया और 'हे देव, प्रसन्न होइए' इस प्रकार कहकर उनकी दासता स्वीकार

१ खड्गम् । २ आज्ञापिताः । ३ पलायितान् चक्रुः । ४ क्रुद्धाः । ५ जयकुमारः । ६ धृतकवचः । ७ प्रावृषि भवः । ८ समराङ्गणे । ९ न्ववृत्त । १० प्राप्तमेघस्वरसंज्ञः । ११ मेघः । १२ पराक्रमेण । १३ दृष्टापदानोऽयं स०, ल०, द० । दृष्टापदानोऽयं द०, प० । दृष्टापदार्थः । १४ स्तूयते स्म । १५ पूर्वस्थितिम् । स्वरूपात् प्रच्युतस्य पुनः स्वरूपे अवस्थानम्, आववासमित्यर्थः । १६ कुतदोषस्य परिशोधनं यस्मात् तत् ।

निस्सपत्नां महीमेनां कुर्वन्नर्वाङ्मिधीश्वरः^१ । आ हिमाव्रितटाद् भूयः प्रयाणमकरोद् बलैः ॥७८॥
 सिन्धुरोधोभुवः^२ ध्रुवदन् प्रयागे जयसिन्धुरैः^३ । सिन्धुप्रपातं^४ मासीदन्^५ सिन्धुदेव्या न्यषेचि^६ सः ॥७९॥
 श्लाघा समागतं जिष्णुं देवि स्वावासगोचरम् । उपेयाय^७ समुद्रं च रत्नार्चं सपरिच्छदा^८ ॥८०॥
 पुण्यैः^९ सिन्धु तलैरेनं हेमकुम्भशतोद्धतैः । साम्यधिञ्चत् स्वहस्तेन भद्रासननिवेदितम् ॥८१॥
 कृतमङ्गलनेपथ्यमभ्यनन्दजयाशिषा^{१०} । देव एव शंभादद्य पूताऽस्मीत्यवदन् तम् ॥८२॥
 तत्र भद्रासनं दिव्यं खड्ग्या तदुपदौकितम् । कृतानुग्रजना^{११} किञ्चित् सिन्धुदेवीं न्यसर्जयत् ॥८३॥
 हिमाचलमनुप्राप्तस्तत्तटानि अयं^{१२} जयम् । कैश्चित्प्रयाणकैः प्रापत् हिमवत्कूटसंनिधिम्^{१३} ॥८४॥
 पुरोहितसखस्तत्र कृतोपवासनक्रियः । अध्वरोत्^{१४} छुवि शक्यां दिव्यास्त्राण्यधिवासयन्^{१५} ॥८५॥
 विधिरेव न चाशक्तिरिति^{१६} संभाषितो नृपैः । स राज्यमकरोच्चार्चं^{१७} वज्रकाण्डमग्र्यन्तः ॥८६॥
 तन्नामोघं शरं दिव्यं^{१८} समधत्तोर्ध्वशामिन्म् । वैशालस्थानमास्थाय^{१९} स्वनामाक्षरचिह्नितम् ॥८७॥
 मुक्तसिंहप्रणावेन यदा मुक्तः शरोऽमुना^{२०} । तदा सुरगणैस्तुष्टैर्मुक्तोऽस्य कुसुमाञ्जलिः ॥८८॥

की ॥७७॥ इस समस्त पृथिवीको शत्रुरहित करते हुए प्रथम निधिपति-चक्रवर्तीने फिर अपनी सेनाके साथ-साथ हिमवान् पर्वतके किनारे तक गमन किया ॥७८॥ गमन करते समय अपने विजयी हाथियोंके द्वारा सिन्धु नदीके किनारेकी भूमिको खूदते हुए भरतेस्वर जब सिन्धुप्रपात-पर पहुँचे तब सिन्धु देवीने उनका अभिषेक किया ॥७९॥ वह देवी भरतको अपने निवास-स्थानके समीप आया हुआ जानकर रत्नोंका अर्घ लेकर परिवारके साथ उनके पास आयी थी ॥८०॥ और उसने अपने हाथसे सुवर्णके सैकड़ों कलशोंमें भरे हुए सिन्धु नदीके पवित्र जलसे भद्रासनपर बैठे हुए महाराज भरतका अभिषेक किया था ॥८१॥ अभिषेक करनेके बाद उस देवीने मंगलरूप वस्त्राभूषण पहने हुए महाराज भरतको विजयसूचक आशीर्वादोंसे आनन्दित किया तथा यह भी कहा कि हे देव, आज आपके दर्शनसे मैं पवित्र हुई हूँ ॥८२॥ वहाँ उस सिन्धु देवीका दिया हुआ दिव्य भद्रासन प्राप्त कर भरतने आगेके लिए प्रस्थान किया और कुछ दूर तक पीछे-पीछे आती हुई सिन्धु देवीको बिदा किया ॥८३॥ हिमवान् पर्वतके समीप पहुँचकर उसके किनारोंको जीतते हुए भरत कितने ही मुकाम चलकर हिमवत् कूटके निकट जा पहुँचे ॥८४॥ वहाँ उन्होंने पुरोहितके साथ-साथ उपवास कर और दिव्य अस्त्रोंकी पूजा कर ढाँभकी पवित्र शय्यापर शयन किया ॥८५॥ अस्त्रोंकी पूजा करना यह एक प्रकारकी विधि ही है, कुछ चक्रवर्तीका असमर्थपना नहीं है, ऐसा विचार कर राजाओंने जिनका सन्मान किया है ऐसे भरतराजने बिना प्रयत्नके ही अपना वज्रकाण्ड नामका धनुष डोरीसे सहित किया ॥८६॥ और वैशाल नामका आसन लगाकर अपने नामके अक्षरोंसे चिह्नित तथा ऊपरकी ओर जानेवाला अपना अमोघ (अव्यर्थ) दिव्य बाण उस धनुषपर रखा ॥८७॥ जिस समय सिंहनाद करते हुए भरतने वह बाण छोड़ा था उस समय देवोंके समूहने सन्तुष्ट होकर उनपर फूलोंकी अञ्जलियाँ छोड़ी थीं, अर्थात् फूलोंकी वर्षा की थी ॥८८॥

१ उत्कृष्टनिधिपतिः । २ यरे त्वर्वाङ्मित्यभिधानात् । ३ सिन्धुनदी-पतनकुण्डम् । ४ आगच्छन् । ५ न्यषेचि द० । सेवते स्म । ६ उपाययी । ७ सपरिचरा । ८ पवित्रैः । ९ विद्विनातुगमनाम् । १० जयन् जयन् ल०, अ०, इ० । जयं जयन् प०, स० । ११ हिमवत्नामकूट । १२ अध्वरोत्ते स्म । १३ मन्त्रैरभिपूजयन् । १४ शक्यभावो न । १५ मौर्क्सहितम् । १६ संधानमकरोत् । १७ वैशालस्थाने स्थित्वा, वितस्त्यन्तरेण स्थिते पादद्वये विशालः, तथा चोक्तं धनुर्वेदे । वामपादप्रसारे दक्षिणसंकोचे प्रत्यलोढे दक्षिणजंघाप्रसारे वामसंकोचे चालीष्टम् । तुल्यपादयुगम् समपदम् । वितस्त्यन्तरेण स्थिते पादद्वये विशालः, मण्डलाकृति पादद्वयं मण्डलम् । १८ चक्रिणा ।

य तामे दारमुत्पन्नं च त्रिदशस्वल्गगतिः । संप्राप्य हिमवत्कूटं तद्देवमाकम्पयन् पतन् ॥८९॥
 य रागधनदाध्यायं ज्ञातचक्रधरायामः । उल्लसत्तल चलन्मौलिस्तन्निवामी^१ सुरोत्तमः ॥९०॥
 संप्राप्य तत्र तमुद्देशं यमध्यासने स्म चक्रवृत् ॥ दरोपकूटं संरम्भो धनुर्ध्यामसकृत्पुशन् ॥९१॥
 तुङ्गाऽयं हिमवानद्रिस्तल्लङ्घ्यश्च पृथग्जनैः^२ । लङ्घ्यतीत्य स्वया देव त्वद्वृत्तमतिमानुषम्^३ ॥९२॥
 विप्रकृष्टान्तराः क्यास्मदावायाः क्व भवच्छरः । तथाप्याकम्पितास्तेन^४ पततैकपदे^५ वधम् ॥९३॥
 त्वन्प्रतापः शरव्याजादुत्पतन् गगनाङ्गणम् । गणवद्वपदे कर्तुमस्मान् नाहूतवान् ध्रुवम् ॥९४॥
 विजितान्धिः समाक्रान्तविजयार्द्धगुहोदरः । हिमाद्रिशिखरैरप्यय जृम्भते ते जयोद्यमः^६ ॥९५॥
 जयवादाऽनुवादोऽयं^७ सिद्धदिग्विजयस्य ते । जयतान् नन्दताजिज्यो वद्विषीष्ट भवानिति ॥९६॥
 ममुच्चरन् जयध्वानमुत्तरः स सुरैः समम् । प्रभुं समाजयामास^८ सोपचारं सुरोत्तमः ॥९७॥
 अभिषिष्य च राजेश्वरं राजवद्विधिना^९ ददौ । गोशीर्षचन्दनं^{१०} सोऽस्मै सममौषधिमालया^{११} ॥९८॥
 चद्रभुविषासिनो^{१२} देव वृत्तानमित्तमालयः । देवास्त्वामानमन्येते त्वत्प्रसादामिकाङ्क्षिणः ॥९९॥

जिसकी गति कहीं भी स्थलित नहीं होती ऐसा वह बाण ऊपरकी ओर दूर तक जाकर वहाँपर रहनेवाले देवके भवत्कूट^१ पर उल्लसत्तल चलाकर हिमवत्कूट^२ पर जा पहुँचा ॥८९॥ मागध देवके समान कुछ विचार कर जिसने चक्रवर्तीका आगमन समझ लिया है ऐसा वहाँका रहनेवाला देव अपना मस्तक झुकाता हुआ चला ॥९०॥ और जिसने अपना कुछ क्रोध रोक लिया है ऐसा वह देव धनुषकी चापका स्पर्श करता हुआ उस स्थानपर जा पहुँचा जहाँपर कि चक्रवर्ती विराजमान थे ॥९१॥ वह देव भरतसे कहने लगा कि हे देव, यह हिमवान् पर्वत अत्यन्त ऊँचा है और साधारण पुरुषोंके द्वारा उल्लंघन करने योग्य नहीं है फिर भी आज आपने उसका उल्लंघन कर दिया है इसलिए आपका चरित्र मनुष्योंका उल्लंघन करनेवाला अर्थात् लोकोत्तर है ॥९२॥ हे देव, बहुत दूर बने हुए हम लोगोंके आवास कहीं ? और आपका बाण कहीं ? तथापि पड़ते हुए इस बाणने हम सबको एक ही साथ कम्पित कर दिया ॥९३॥ हे देव, यह आपका प्रताप बाणके व्याजसे आकाशमें उछलता हुआ ऐसा जान पड़ता था मानो हम लोगोंको गणबद्ध (चक्रवर्तीके अधीन रहनेवाली एक प्रकारकी देवोंकी सेना) देवोंके स्थानपर नियुक्त होनेके लिए बुला ही रहा था ॥९४॥ जिसने समुद्रको भी जीत लिया है और विजयार्ध पर्वतकी गुफाओंके भीतर भी आक्रमण कर लिया है ऐसा यह आपका विजय करनेका उद्यम आज हिमवान् पर्वतके शिखरोंपर भी फैल रहा है ॥९५॥ हे प्रभो, आपका समस्त दिग्विजय सिद्ध हो चुका है इसलिए हे जयशील, आपकी जय हो, आप समृद्धिमान् हों और सदा बढ़ते रहें इस प्रकार आपका जयजयकार बोलना पुनरुक्त है ॥९६॥ इस प्रकार उच्चारण करता हुआ जो जय जय शब्दोंसे वाचाल हो रहा है ऐसा वह उत्तम देव अन्य अनेक उत्तम देवोंके साथ-साथ सब तरहके उपचारोंसे भरतकी सेवा करने लगा ॥९७॥ तथा राजाओंके योग्य विधिसे राजाविराज भरतका अभिषेक कर उसने उनके लिए औषधियोंके समूहके साथ गोशीर्ष नामका चन्दन समर्पित किया ॥९८॥ और कहा कि हे देव, आपके क्षेत्रमें रहनेवाले ये देव आपकी प्रसन्नताकी इच्छा करते हुए दूरसे ही मस्तक झुकाकर आपके लिए नमस्कार

१ संप्रापद्धिम- ५०, ल० । २ विचार्यैर्यर्थः । ३ हिमवत्कूटवासी । हेमवाध्याम । ४ ईषत्पीडित । ५ सामान्यः । ६ दिग्विजयः । ७ दूर । ८ भवतो बाणः । ९ शरणे । १० युगपत् । ११ जयोद्योगः । १२ सार्वकं पुनर्वचनमनुवादः । १३ संभावयामास । १४ राजार्हविधानेन । १५ हरिचन्दनम् । १६ वनपुष्पमालया । १७ तत्र पालनक्षेत्रवासिनः ।

धेहि^१ देव ततोऽस्मामु प्रसादतरकां दशम् । स्वामिप्रसादलाभो हि वृत्तशामो^२ऽनुर्जात्रिनाम्^३ ॥१००॥
निर्देशै^४ रूचिर्नैवास्मान् संनाययितुमर्हसि । वृत्तिलाभादपि प्रायस्तल्लामः^५ किंकरैर्मतः ॥१०१॥
मानयकृतिं^६ तद्वाक्यं^७ स तानमरसत्तमान् । ह्यसर्जयत्स्वसात्कृत्य यथास्वं कृतमाननान् ॥१०२॥
हिमवज्जयशंभीनि मङ्गलान्यस्य किन्नराः । जगुस्तत्कुञ्जदेशेषु^८ स्वैरमारुह्यमुच्छ्रिता ॥१०३॥
असकृत् किन्नरस्त्राणामाधुन्वानाः स्तनाद्वृत्तीः^९ । सरोर्याचिभिर्दो मन्दमावबुस्तद्वनानिलाः ॥१०४॥
स्थलादिजनीघनाद्विष्वक् किरन् किञ्चलकञ्जं रजः । हिमी हिमाद्रिकुञ्जभ्यस्तं सिषेवे समीरणः ॥१०५॥
स्थलान्मोक्षार्थिनां^{१०} द्वारं^{११} त्रीणि^{१२} सार्कं^{१३} कृत्वा । हिमाचलनिकुञ्जेषु पश्ये^{१४} दिग्जयार्जिता ॥१०६॥
हिमाचलस्थलेष्वस्थ धनिरासीत् प्रपश्यतः । कृतोपहारकृत्येषु^{१५} स्थलान्मोक्षैर्विकस्वरेः ॥१०७॥
तमुच्चैर्वृत्तिमाक्रान्तदिक्चक्रं विधृतायतिम्^{१६} । स्वमिषानस्पृशद्दि हिमाद्रिं बहुमंस्त^{१७} सः ॥१०८॥

कर रहे हैं ॥१०१॥ इसलिए हे देव, हम लोगोंपर प्रसन्नतासे चंचल हुई दृष्टि डालिए, क्योंकि स्वामीकी प्रसन्नता प्राप्त होना ही सेवक लोगोंकी आजीविका प्राप्त होना है। भावार्थ — स्वामी लोग सेवकोंपर प्रमत्त रहें यही उनकी उचित आजीविका है ॥१००॥ हे स्वामिन्, आप उचित आज्ञाओंके द्वारा हम लोगोंको सम्मानित करनेके योग्य हैं अर्थात् आप हम लोगोंको उचित आज्ञाएँ दीजिए क्योंकि सेवक लोग स्वामीकी आज्ञा मिलनेकी आजीविका (तनखाह)की प्राप्तिसे भी कहीं बढ़कर मानते हैं ॥१०१॥ इस प्रकारके उस देवके वचनोंकी प्रशंसा करते हुए भरतने उन सब उत्तम देवोंका सत्कार किया और सबको अपने अधीन कर बिदा कर दिया ॥१०२॥ उस समय अपने इच्छानुसार स्वरोका चढ़ाव-उतार करनेवाले किन्नर देव उस पर्वतके लतागृहोंके प्रदेशोंमें 'भरतने हिमवान् देवको जीत लिया है' इस बातको सूचित करनेवाले मंगलगीत गा रहे थे ॥१०३॥ उस समय वहाँ किन्नर देवोंकी स्त्रियोंके स्तन ठकनेवाले वस्त्रोंको बार-बार हिलाता हुआ तथा तालाबकी तरंगोंको छिन्न-भिन्न करता हुआ उस हिमवान् पर्वतके वनोंका वायु धीरे-धीरे बह रहा था ॥१०४॥ स्थल-कमलिनियोंके वनके चारों ओर केशरसे उत्पन्न हुआ रज फैलाता हुआ तथा हिमवान् पर्वतके लतागृहोंसे आया हुआ शीतल वायु महाराज भरतकी सेवा कर रहा था ॥१०५॥ दिग्विजय करनेसे प्राप्त हुई भरतकी कीर्ति जयलक्ष्मीके साथ-साथ स्थलकमलिनियोंके समान हिमवान् पर्वतके लतागृहोंमें फैल रही थी ॥१०६॥ जिन्होंने फूले हुए स्थल-कमलोंसे उपहारका काम किया है ऐसे हिमवान् पर्वतके स्थलोंमें चारों ओर देखते हुए भरतको बहुत ही सन्तोष होता था ॥१०७॥ वह हिमवान् पर्वत ठीक भरतके समान था क्योंकि जिस प्रकार भरत उच्चैर्वृत्ति अर्थात् उत्कृष्ट व्यवहार धारण करनेवाले थे उसी प्रकार वह पर्वत भी उच्चैर्वृत्ति अर्थात् बहुत ऊँचा था, जिस प्रकार भरतने अपने तेजसे समस्त दिशाएँ व्याप्त कर ली थीं उसी प्रकार उस पर्वतने भी अपने विस्तारसे समस्त दिशाएँ व्याप्त कर ली थीं, जिस प्रकार भरत आयति अर्थात् उत्तम भविष्यव्यता (भविष्यत्काल) धारण करते थे उसी प्रकार वह पर्वत भी आयति अर्थात् लम्बाई धारण कर रहा था और जिस प्रकार भरतके पास अनेक रत्नरूपी सम्पदाएँ थीं उसी प्रकार उस पर्वतके पास भी अनेक रत्नरूपी सम्पदाएँ थीं। इस प्रकार अपनी समानता रखनेवाले उस हिमवान्

१ कुरु । २ जीवितलाभः । 'आजीवो जीविका वार्ता वृत्तिर्वर्तनजीवने' इत्यभिधानात् । ३ सेवकानाम् । ४ शासनः । 'अपवादस्तु निर्देशो निर्देशः शासनं च सः । शिष्टिश्चाज्ञा च' इत्यभिधानात् । ५ आज्ञालाभः । ६ पूजयन् । ७ तद्देवस्य वचनम् । ८ हिमवन्निकुञ्जप्रदेशेषु । 'निकुञ्जकुञ्जौ वा क्लीबे लतादिपिहितोदरे' इत्यभिधानात् । ९ सरोजच्छादनवस्त्राणि । १० सह । 'सार्कं सत्रा समं सह' इत्यभिधानात् । ११ प्रकुष्ठो-
ऽभवत् । १२ विहितपुष्पोपहारव्यापारेषु । १३ धूतधनागमम् । १४ बहुमानमकरोत् ।

अत्रान्तरे^१ गिरीन्द्रेऽस्मिन् स्थापारितदशं प्रभुम् । विनोदयितुमिच्छुर्बैः पुरोधा गिरमभ्यधात् ॥१०६॥
 हिमवानयमुत्तुङ्गः संगतः सततं श्रिया^२ । कुलक्षोणीभूतां धुर्यो^३ धत्ते युष्मदनुक्रियाम्^४ ॥१०७॥
 अहो महानुसं जौलो दुरागौहो दुरागौहो^५ । तानुसंभ्रममप्रेषस्त्रिहो^६ युष्मन्महोदधात् ॥१०८॥
 चित्रैरलंकृता रत्नैरस्य श्रेणी हिरण्मयी । शतयोजनमाश्रोषा दृक्छिन्नैश्च भात्यसौ ॥१०९॥
 स्वपूर्वापरकौटिभ्यां विगाढा लवणार्णवम् । स्थितोऽयं गिरिरामाति मानदण्डाधितो भुवः ॥११०॥
 द्विर्विस्तृतोऽयमद्रीन्दो भरताद् भरतध्वज^७ । मूले चोपरिभागे च तुल्यविस्तारसंस्रितः^८ ॥१११॥
 अस्यानुसानु रम्येयं वनराजी चिराजते । शश्वदधुषिता सिद्धविद्याधरमहोरगीः ॥११२॥
 तटामोगा^९ विमानस्यस्य ज्वलन्मणिविचित्रिताः । चित्रिता इव संक्राप्सैः स्वर्णधूप्रतिबिम्बकैः ॥११३॥
 पर्यटन्ति तटेष्वस्य सप्रेयस्यो^{१०} नभश्चराः । स्वैरसंभोगयोग्येषु हारिभिरलंकारैः ॥११४॥
 विविक्त^{११} रमणीयेषु सानुष्वस्य धनोत्सवाः । न हृतिं दधतेऽन्यत्र गीर्वाणाः साप्सरोगणाः ॥११५॥

पर्वतको भरतने बहुत कुछ माना था—आदरकी दृष्टिसे देखा था ॥ १०८ ॥ इसी बीचमें, जब कि महाराज भरत अपनी दृष्टि हिमवान् पर्वतपर डाले हुए थे—उसकी शोभा निहार रहे थे तब पुरोहित उन्हें आनन्दित करनेके लिए नीचे लिखे अनुसार उत्कृष्ट वचन कहने लगा ॥१०९॥ हे प्रभो, यह हिमवान् पर्वत बहुत ही उत्तुंग अर्थात् ऊँचा है, सदा श्री अर्थात् शोभा-से सहित रहता है और कुलक्षोणीभूत् अर्थात् कुलाचलोंमें श्रेष्ठ है इसलिए आपका अनुकरण करता है—आपकी समानता धारण करता है क्योंकि आप भी तो उत्तुंग अर्थात् उदारमना हैं, सदा श्री अर्थात् राज्यलक्ष्मीसे सहित रहते हैं और कुलक्षोणीभूत् अर्थात् वंशपरम्परासे आये हुए राजाओंमें श्रेष्ठ हैं ॥ ११० ॥ अहा, कितना आश्चर्य है कि यह बड़ा भारी पर्वत, जो कि कठिनाईसे चढ़ने योग्य है और जिसका पार होना अत्यन्त कठिन है, डोरीपर बाण रखते ही आपके पुण्य प्रतापसे आपके वश हो गया है ॥१११॥ इसकी सुवर्णमयी श्रेणी अनेक प्रकार-के रत्नोंसे सुशोभित हो रही है, सौ योजन ऊँची है और ऐसी जान पड़ती है मानो टाँकीसे गढ़ कर ही बनायी गयी हो ॥ ११२ ॥ अपने पूर्व और पश्चिमके कोणोंसे 'लवण समुद्रमें प्रवेश कर' पड़ा हुआ यह पर्वत ऐसा सुशोभित हो रहा है मानो पृथिवीके तापनेका एक दण्ड ही हो ॥११३॥ हे भरतश्रेष्ठ, यह श्रेष्ठ पर्वत भरतक्षेत्रसे दूने विस्तारवाला है और मूल, मध्य तथा ऊपर तीनों भागोंमें इसका समान विस्तार है ॥ ११४ ॥ जिसमें सिद्ध, विद्याधर और नागकुमार निरन्तर निवास करते हैं ऐसी यह मनोहर वनकी पंक्ति इस पर्वतके प्रत्येक शिखरपर शोभायमान हो रही है ॥११५॥ देवीप्यमान मणियोंसे चित्र-विचित्र हुए इस पर्वतके किनारेके प्रदेश बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहे हैं और भीतर पड़ते हुए देवांगनाओंके प्रतिबिम्बोंसे ऐसे जान पड़ते हैं मानो उनमें अनेक चित्र ही खींचे गये हों ॥ ११६ ॥ सुन्दर लतागूहोंसे अपनी दृष्टानुसार उपभोग करने योग्य इस पर्वतके किनारोंपर अपनी-अपनी स्त्रियोंके साथ विद्याधर लोग टहल रहे हैं ॥ ११७ ॥ जो देव लोग अपनी अप्सराओंके साथ इस पर्वतके निर्जन पवित्र और रमणीय किनारोंपर क्रीड़ा कर लेते हैं फिर उन्हें किसी दूसरी जगह सन्तोष नहीं होता

१ अस्मिन्नवसरे । २ श्रीदेव्या लक्ष्म्या च । ३ मुखरः । ४ तवानुकरणम् । ५ अवतरितुमशक्यः । ६ राटो ल० । ७ द्विगुणविस्तारः । ८ भरतध्वज । ९ तुल्य विस्तार—ल०, द० । १० सानुविस्ताराः । ११ प्रियतमासहिता । १२ पवित्र । 'विविक्तो पृथ्विजनी' इत्यभिधानात् ।

पर्यन्तेऽस्य^१ वनोद्देशा विकासि कुसुमस्मिताः । हसन्तीवामरोद्यानश्रियमान्मीयया ध्रिया ॥११९॥

स्वेन मूर्ध्ना विभर्त्येष श्रियं नित्यानपायिनीम् ।

स्मार्त्ताः स्मरन्ति यां शच्याः सौभाग्यमदकथिणीम् ॥१२०॥

मूर्ध्नि पद्महृदोऽस्यास्ति धृतश्री^२ बहुवर्णनः । प्रसन्नवारिस्तुफुल्लहैमपङ्कजमण्डनः ॥१२१॥

हृदस्यास्य पुरःप्रत्यक्षोरण^३ द्वारनिर्गतं । गङ्गासिन्धू महानद्यौ धत्तेऽयं धरणीधरः ॥१२२॥

सरितं रोहितास्यां च दधत्येष शिलाञ्चयः । तद्गुदक्षोरण^४ द्वाराक्षिःसुत्योदञ्चुर्षी^५ गताम् ॥१२३॥

महापद्माभिरित्याभिरलङ्घ्याभिरिविभाल्ययम् । तिसृभिः शक्तिभिः स्वं वा भूभृद्भावं विभावयन् ॥१२४॥

शिखरैरेष कुक्कीलः कीलयन्निव खाद्वणम् । सिद्धाध्वानं^६ हणद्दीर्घैः परार्थ्यै रुद्धदिङ्मुखैः ॥१२५॥

परश्चातमिहार्द्धीम्ने सन्त्यावासाः सुधाशिनाम् । येऽनरुपां कल्पजां^७ लक्ष्मीं हसन्तीव स्वसंपदा ॥१२६॥

हृत्यनेकगुणेऽप्यस्मिन् दोषोऽस्यैको महात् गरि^८ । यन् पर्यन्तगतान्धत्ते गुरुप्यगुरुदुमान्^९ ॥१२७॥

अलङ्घ्यमहिमोदप्रो गरिमाक्रान्तविष्टयः । जगद्गुरोः^{१०} पुरोरामामयं धत्ते धराधरः ॥१२८॥

है ॥ ११८ ॥ जो फूले हुए फूलरूपी हास्यसे सहित हैं ऐसे इसके किनारेके वनके प्रदेश ऐसे जान पड़ते हैं मानो अपनी शोभासे देवोंके बगीचेकी शोभाकी हँसी ही कर रहे हों ॥ ११९ ॥ यह पर्वत अपने मस्तक (शिखर) से उस शोभाको धारण करता है, जो कि, सदा नाशरहित है और स्मृतिके जानकार पण्डित लोग जिसे शिखरकी सौभाग्यका अलंकार कहते हैं ॥ १२० ॥ इसके मस्तकपर पद्म नामका वह सरोवर है जिसमें कि श्री देवीका निवास है, शास्त्रकारोंने जिसका बहुत कुछ वर्णन किया है, जिसमें स्वच्छ जल भरा हुआ है, और जो फूले हुए सुवर्ण कमलोंसे सुशोभित है ॥ १२१ ॥ यह पर्वत क्रमसे इस पद्मसरोवरके पूर्व तथा पश्चिम तोरणसे निकली हुई गंगा और सिन्धुनामकी महानदियोंको धारण करता है ॥ १२२ ॥ तथा पद्म सरोवरके उत्तर तोरणद्वारसे निकलकर उत्तरकी ओर गयी हुई रोहितास्या नदीको भी यह पर्वत धारण करता है ॥ १२३ ॥ यह पर्वत इन अलंघ्य तीन महानदियोंसे ऐसा सुशोभित होता है मानो उत्साह, मन्त्र और प्रभुत्व इन तीन शक्तियोंसे अपना भूभृद्भाव अर्थात् राजापना (पक्षमें पर्वतपना) ही प्रकट कर रहा हो ॥ १२४ ॥ देदीप्यमान तथा दिशाओंको व्याप्त करनेवाले अपने अनेक शिखरोंसे यह पर्वत ऐसा जान पड़ता है मानो आकाशरूपी आँगनको कीलोंसे युक्त कर देवोंका मार्ग ही रोक रहा हो ॥ १२५ ॥ इस पर्वतराजपर देवोंके अनेक आवास हैं जो कि अपनी शोभासे स्वर्गकी बहुत भारी शोभाकी भी हँसी करते हैं ॥ १२६ ॥ इस प्रकार इस पर्वतमें अनेक गुण होनेपर भी एक बड़ा भारी दोष है और वह यह कि यह स्वयं गुरु अर्थात् बड़ा होकर भी अपने चारों ओर लगे हुए अगुरु द्रुम अर्थात् छोटे-छोटे वृक्षोंको धारण करता है (परिहार पक्षमें अगुरु द्रुमका अर्थ अगुरु चन्दनके वृक्ष लेना चाहिए) ॥ १२७ ॥ यह पर्वत जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवकी सदृशता धारण करता है क्योंकि जिस प्रकार भगवान् वृषभदेव अपनी अलंघ्य महिमासे उदग्र अर्थात् उत्कृष्ट हैं उसी प्रकार यह पर्वत भी अपनी अलंघ्य महिमासे उदग्र अर्थात् ऊँचा है और जिस प्रकार भगवान् वृषभदेवने अपनी गरिमा अर्थात् गुरुपनेसे समस्त विश्वको व्याप्त कर लिया है उसी प्रकार इस पर्वतने भी अपनी गरिमा अर्थात् भारीपनसे समस्त विश्वको व्याप्त कर लिया है । भावार्थ — जिस प्रकार भगवान् वृषभदेवका गुरुपना समस्त लोकमें प्रसिद्ध है उसी प्रकार इस पर्वतका भारीपना भी लोकमें प्रसिद्ध

१ पर्यन्तस्य ल० । २ स्मृतिवेदिनः । ३ धृता श्रीः (देवी) येन स । ४ पूर्वोपदिष्टमदिकस्थतोरण । ५ तत्पद्मसरोवरस्थोत्तरदिक्स्थतोरण । ६ उत्तरदिङ्मुखीम् । ७ देवभेदमात्रम् । ८ अपरिमिताः । ९ परा मरुपा शताधिकात् । १० स्वर्गजाम् । १० कालागुरुतरुन्, लघुतरुनिति ध्वनिः । ११ उपमाम् ।

इत्यस्याङ्गेः परां शोभां शंसन्तुषीः^१ पुरोधसि । प्रशंसंस् तमर्द्रान्द्रं संप्रीतो भरताधिपः ॥१२६॥
 स्वभुक्तिक्षेत्रसामानं सोऽभिनन्द्य^२ हिमाचलम् । प्रत्यावृत्तत् प्रभुर्दण्डु^३ वृषमाद्रिं कुतूहलात् ॥१३०॥
 यो योजनशतोच्छ्रायो मूले तावच्च विस्तृतः । तद्वद्विस्तृतिर्मूर्ध्नि सुबो मौलिरिवोद्गतः ॥१३१॥
 यस्योत्संगसुबो रम्याः कर्तुर्ला^४ षण्डमण्डितैः । संभोगाय नभोगानां वक्षन्ते स्म^५ लतालव्यैः ॥१३२॥
 सनातनं सनातगैश्च^६ सपुष्पागैः परिष्कृतम् । यदुपान्ते वनं सेव्यं भुष्यते जातु नामरैः ॥१३३॥
 स्वतटस्फटिकोत्सर्पप्रभादिग्धरिन्मूलम्^७ । शरद्वर्षेण^८ सत्समोत्पलैः^९ ॥१३४॥
 तं शैलं भुवनस्यैकं ललामेव^{१०} निरूपयन्^{११} । कल्पामास लक्ष्मीवान् स्वयशःप्रतिमानकम्^{१२} ॥१३५॥
 तमेकपाण्डुरं^{१३} शैलमाकलयन्तमनन्तरम् । स्वयशोराशिनीकाशं^{१४} पश्यन्मिनभन्द सः ॥१३६॥
 सोऽचलः प्रभुमायान्तो^{१५} मायान्तमस्तिष्ठद्विधाम् । प्रत्यग्रहीद्विवाभ्येत्य^{१६} विष्वक्प्रभग्निर्वनानिलैः ॥१३७॥
 तत्तटोपान्तविश्रान्तलक्षरोरगकिन्नरैः । प्रोद्गीयमानममलं शुश्रुवे^{१७} स्वयशोऽमुना ॥१३८॥
 जयलक्ष्मीमुलालोकमङ्गलादर्शविभ्रमाः । तत्तटीजित्तयो जहुर्मनोऽस्य स्फटिकामलाः ॥१३९॥

है, अथवा इस पर्वतने अपने विस्तारसे लोकका बहुत कुछ अंश व्याप्त कर लिया है ॥१२८॥
 इस प्रकार जब पुरोहित उस पर्वतकी उत्कृष्ट शोभाका वर्णन कर चुका तब भरतेश्वरने भी प्रसन्न होकर उस पर्वतकी प्रशंसा की ॥१२९॥ अपने उपभोग करनेयोग्य क्षेत्रकी सीमा स्वरूप हिमवान् पर्वतकी प्रशंसा कर महाराज भरत कुतूहलवश वृषभाचलकी देखनेके लिए लौटे ॥१३०॥

जो सौ योजन ऊँचा है, मूल तथा ऊपर क्रमसे सौ और पचास योजन चौड़ा है एवं ऊपरकी ओर उठा हुआ होनेसे पृथिवीके मस्तकके समान जान पड़ता है । जिसके ऊपरके मनोहर प्रदेश केलोके समूहसे सुशोभित लतागृहोंसे आकाशगामी देव तथा विद्याधरोंके उपभोग करने योग्य हैं, नाग, सहजना और नागकेशरके वृक्षोंसे घिरे हुए तथा सेवन करने योग्य जिस पर्वतके समीपके वनोंको देव लोग कभी नहीं छोड़ते हैं । अपने तटपर लगे हुए स्फटिक मणियोंकी फैलती हुई प्रभासे जिसने समस्त दिशाएँ व्याप्त कर ली हैं, जिसका शरीर शरदऋतुके बादलोंसे बना हुआ-सा जान पड़ता है और जो सदा देव तथा विद्याधरोंसे सहित रहता है, ऐसे उस पर्वतको लोकके एक आभूषणके समान देखते हुए श्रीमान् भरतने अपने यशका प्रतिबिम्ब माना था ॥१३१-१३५॥ जो एक सफेद रंगका है और जो कल्पान्त काल तक कभी नष्ट नहीं होता ऐसे उस वृषभाचलको अपने यशकी राशिके समान देखते हुए महाराज भरत बहुत ही आनन्दित हुए थे ॥१३६॥ उस समय वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो समस्त शत्रुओंकी सर्वमुखी भाग्यको नष्ट करनेवाले चक्रवर्ती भरतको अपने समीप आता हुआ जानकर चारों ओर बहनेवाले वनके वायुके द्वारा सामने जाकर उनका स्वागत-सत्कार ही कर रहा हो ॥१३७॥ वहाँपर भरतने उस पर्वतके किनारेके समीप विश्राम करते हुए विद्याधर नागकुमार और किन्नर देवोंके द्वारा गाया हुआ अपना निर्मल यश भी सुना था ॥१३८॥ स्फटिकके समान

१ स्तुति कुर्वति सति । २ प्रशंस्य । ३ व्याधुटिसवान् । ४ खण्ड-अ०, द०, स०, ल० । ५ समर्था भवन्ति । ६ नागवृक्षसहितम् । ७ सर्जकतरुभिः । ८ यदुपान्तवनं ल०, प०, द०, अ०, प०, स० । ९ लिप्तदिङ्मुखम् । १० घटित । ११ आकाशस्पर्शनसहितम्, देव-विद्याधर-सहितम् । १२ तिलकम् । १३ विलोकयन् । १४ सपुष्पम् । १५ केवलं धवलम् । १६ समानम् । १७ आ समन्तात् अयः आयः तस्य अन्तः अन्तकः नाश इत्यर्थः । विभूत्यन्तकम् समन्तात्पुण्यनाशकमित्यर्थः । 'अतः शुभावहो विधि' रित्यभिधानात् । १८ समन्तात् प्रसारिभिः । विष्वक्पद्मं विष्वक्पद्मतीत्यभिधानात् । १९ भूयते स्म ।

अधिमंगलमस्यासीच्छिलामितिषु चक्रिणः । स्वनामाक्षरविन्यासे धृतिर्विश्वमाजितः ॥१४०॥
 काकिणीरत्नमादाय यदा लिलिखिष्यथम्^३ । तदा राजसहस्राणां^४ नामान्यत्रैक्षताभिराट् ॥१४१॥
 असंख्यकरुणकोटीषु धेऽतिक्रान्ता धराभुजः । तेषां नामभिराकीर्णं तं पश्यन् स सिसिम्भये ॥१४२॥
 ततः किंचित् स्थलद्वार्षी विलक्षीभूय^५ प्रशिराट् । अत्रैक्षताभिराजितं तं विमं प्रशिराट् ॥१४३॥
 स्वयं कस्यचिदेकस्य निरस्यक्षामशासनम् । स मेने निखिलं लोकं प्रायः स्वार्थपरायणम् ॥१४४॥
 अथ तत्र शिलापट्टे स्वहस्ततलनिस्तले^६ । प्रशस्तिमित्युदात्तार्थं व्यलिखत् स यशोधनः ॥१४५॥
 स्वस्तीक्ष्वाकु कुलभ्योमतलप्रालेयदीधितिः । चातुरन्तं^७ महीभर्ता^८ भरतः शातमातुरः^९ ॥१४६॥
 श्रीमानानघनिःशेषलक्षरामरभूचरः । प्राजापत्यो^{१०} मनुमन्यः शूरः शुचिरुदारधीः ॥१४७॥
 चरमाङ्गधरो धीरो^{११} धौरेयश्चक्रधारिणाम् । परिक्रान्तं धराचक्रं जिष्णुना मेघ दिग्जये ॥१४८॥
 यस्याष्टादशकोटयोऽश्वा जलस्थलविलङ्घिनः । लक्षाश्चतुरशीतिश्च मदेमा जयसाधने ॥१४९॥
 यस्य दिग्विजये विष्वम्बलरेणुमिहस्थितैः । सद्विष्णुसं खमारुहं कपोतगलकर्षुरैः ॥१५०॥

निर्मल और विजयलक्ष्मीके मुख देखनेके लिए मंगलमय दर्पणके समान उस वृषभाचलके किनारे-
 की दीवारें भरतका मन हरण कर रही थीं ॥ १३९ ॥ समस्त पृथिवीको जीतनेवाले चक्रवर्ती
 भरतको उस पर्वतके किनारेकी शिलाकी दीवारोंपर अपने नामके अक्षर लिखनेमें बहुत कुछ
 सन्तोष हुआ था ॥ १४० ॥ चक्रवर्ती भरतने काकिणी रत्न लेकर ज्यों ही वहाँ कुछ लिखनेकी
 इच्छा की त्यों ही उन्होंने वहाँ लिखे हुए हजारों चक्रवर्ती राजाओंके नाम देखे ॥ १४१ ॥ असंख्यात
 करोड़ कल्पोंमें जो चक्रवर्ती हुए थे उन सबके नामोंसे भरे हुए उस वृषभाचलको देखकर भरत-
 को बहुत ही विस्मय हुआ ॥ १४२ ॥ तदनन्तर जिसका कुछ अभिमान दूर हुआ है ऐसे चक्र-
 वर्तीने आश्चर्यचकित होकर इस भरतक्षेत्रकी पृथिवीको अनन्यशासन अर्थात् जिसपर दूसरेका
 शासन न चलता हो ऐसा नहीं माना था । भावार्थ — वृषभाचलकी दीवारोंपर असंख्यात
 चक्रवर्तियोंके नाम लिखे हुए देखकर भरतका सब अभिमान नष्ट हो गया और उन्होंने स्वीकार
 किया कि इस भरतक्षेत्रकी पृथिवीपर मेरे समान अनेक शक्तिशाली राजा हो गये हैं ॥ १४३ ॥
 चक्रवर्ती भरतने किसी एक चक्रवर्तीके नामकी प्रशस्तिको स्वयं — अपने हाथसे मिटाया और
 बेसा करते हुए उन्होंने प्रायः समस्त संसारको स्वार्थपरायण समझा ॥ १४४ ॥

अथानन्तर — यश ही जिसका धन है ऐसे चक्रवर्तीने अपने हाथके तलभागके समान
 चिकने उस शिलापट्टपर नीचे लिखे अनुसार उत्कृष्ट अर्थसे भरी हुई प्रशस्ति लिखी ॥ १४५ ॥
 स्वस्ति श्री इक्ष्वाकु वंशरूपी आकाशका चन्द्रमा और चारों दिशाओंकी पृथिवीका स्वामी
 मैं भरत हूँ, मैं अपनी माताके सौ पुत्रोंमें-से एक बड़ा पुत्र हूँ, श्रीमान् हूँ, मैंने समस्त विद्यावर
 देव और भूमिगोचरी राजाओंको नम्रीभूत किया है, प्रजापति भगवान् वृषभदेवका पुत्र हूँ,
 मनु हूँ, मान्य हूँ, शूरवीर हूँ, पवित्र हूँ, उत्कृष्ट बुद्धिका धारक हूँ, चरमशरीरी हूँ, धीर वीर हूँ,
 चक्रवर्तियोंमें प्रथम हूँ और इसके सिवाय जिस विजयीने दिग्विजयके समय समस्त पृथिवीमण्डल-
 की परिक्रमा दी है अर्थात् समस्त पृथिवीमण्डलपर आक्रमण किया है, जिसके जल और स्थल-
 में चलनेवाले अठारह करोड़ घोड़े हैं, जिसकी विजयी सेनामें चौरासी लाख मदीन्मस्त हाथी

१ संतोषः । २ सकलमहीविजयिनः । ३ लिखितुमिच्छति । ४ अपरिमितानां राजामित्यर्थः । ५ विस्मयान्वितो
 भूत्वा । 'विलक्षो विस्मयान्विते' इत्यभिधानात् । ६ वर्तुके समतले इत्यर्थः । ७ चातुरन्तो द०, प०, इ०,
 अ०, स० । ८ त्रिसमूह-हिमवद्गिरिपर्यन्तमहीनाथः । ९ शतस्य माता शतमाता तस्या अपत्यं शातमातुरः ।
 १० प्रजापतेः पुरोरपत्यं पुमान् । ११ मूल्यः ।

प्रसाधितदिशो यस्य यशः शशिकलामलम् । सुरैरसकृदुर्गातं कुलभोगीधकुक्षिपु ॥ १५१ ॥
 दिग्विजयं यस्य सैन्यानि विश्रान्तान्यधिदिक्षुम् । चक्रानुभ्रामितान्तानि क्रान्त्वा हिमवतीस्थलीः ॥ १५२ ॥
 नत्वा श्रीनाभिराजस्य पुत्रः श्रीवृषभेशिनः । वदूषण्डमण्डितामेनो यः स्म शास्त्यखिलां महींम् ॥ १५३ ॥
 सरवाऽन्यौ गन्धरी^१ लक्ष्मीं जिह्वरः^२ सर्वभूभृताम् । जगद्विसृज्यरीं^३ कीर्त्तिमतिष्ठिदिहाचले ॥ १५४ ॥
 इति प्रशस्तिमास्मीयां चित्रिचक्रं स्वयमश्वरः । प्रसूनप्रकरमुक्तैर्नृपोऽवचकिरेऽ^४ मरैः ॥ १५५ ॥
 तत्रोच्चैरुच्चरन्ध्वानामन्द्रदुन्दुभयोऽध्वनन् । दिशि देवा जयेत्याशीक्षताप्युच्चैरवोषयन् ॥ १५६ ॥
 स्वयुनासाकरोसारवाहिनो गन्धवाहिनः । मन्दविचरारूत सान्द्रमन्दारनन्दनाः ॥ १५७ ॥
 न केवलं शिलाभिषावस्य नामाभरायली । लिखितानेन चाम्द्रेऽपि विम्बे तल्लान्छनच्छलान् ॥ १५८ ॥
 लिखितं साक्षिणे भुक्तिरित्यस्तीहापि शासने । लिखितं सोऽवलो भुक्तिर्दिग्विजये साक्षिणोऽमराः ॥ १५९ ॥
 अहो महानुभाषोऽयं चक्री दिक्चक्रनिर्जये । येनाक्रान्तं महींचक्रमानन्दवसतित्रिकान्^५ ॥ १६० ॥
 खषराद्विरलक्ष्मणोऽपि हलयालङ्कितोऽमुना । कीर्त्तिः स्थलाब्जिनीवास्य रुद्रा हेमाचलस्थले ॥ १६१ ॥

है, जिसकी दिग्विजयके समय चारों ओर उठी हुई कवचरके गलेके समान कुछ-कुछ मलिन सेनाकी धूलिसे समस्त दिशाओंके साथ-साथ आकाश भर जाता है, समस्त दिशाओंको वश करनेवाले जिसका चन्द्रमाकी कलाओंके समान निर्मल यश कुलपर्वतोंके मध्यभागमें देव लोग बार-बार गाते हैं, दिग्विजयके समय चक्रके पीछे-पीछे चलनेसे थकी हुई जिसकी सेनाओंने हिमवान् पर्वतकी तराईका उल्लंघन कर दिशाओंके अन्तभागमें विश्राम लिया है, जो श्री नाभिराजका पौत्र है, श्री वृषभदेवका पुत्र है, जिसने छह खण्डोंसे सुशोभित इस समस्त पृथिवीका पालन किया है और जो समस्त राजाओंको जीतनेवाला है ऐसे मुझ भरतने लक्ष्मीको नश्वर समक्षकर जगत्में फैलनेवाली अपनी कीर्तिको इस पर्वतपर स्थापित किया है ॥ १४६ - १५४ ॥ इस प्रकार चक्रवर्तीने अपनी प्रशस्ति स्वयं अक्षरोंके द्वारा लिखी, जिस समय चक्रवर्ती उक्त प्रशस्ति लिख रहे थे उस समय देव लोग उनपर फूलोंकी वर्षा कर रहे थे ॥ १५५ ॥ वहाँ जोर-जोरसे शब्द करते हुए गम्भीर नगाड़े बज रहे थे, आकाशमें देव लोग जय-जय इस प्रकार सँकड़ों आशीर्वाद रूप शब्दोंका उच्चारण कर रहे थे ॥ १५६ ॥ और गंगा नदीके जलकी बूंदोंके समूहको धारण करता हुआ तथा कल्पवृक्षोंके सघन वनको हिलाता हुआ वायु धीरे-धीरे वह रहा था ॥ १५७ ॥ भरतके नामके अक्षरोंकी पंक्ति केवल शिलाकी दीवारपर ही नहीं लिखी गयी थी किन्तु उन्होंने काले चिह्नके बहानेसे चन्द्रमाके मण्डलमें भी लिख दी थी । भावार्थ - चन्द्रमाके मण्डलमें जो काला-काला चिह्न दिखाई देता है वह उसका चिह्न नहीं है, किन्तु भरतके नामके अक्षरोंकी पंक्ति ही है, यहाँ कविने अपह्नुति अलंकारका आश्रय लेकर वर्णन किया है ॥ १५८ ॥ अन्य प्रशस्तियोंके समान भरतकी इस प्रशस्तिमें भी लेख, साक्षी और उपभोग करनेयोग्य क्षेत्र थे तीनों ही बातें थीं क्योंकि लेख तो वृषभाचलपर लिखा ही गया था, दिग्विजय करनेसे छह खण्ड भरत उपभोग करनेयोग्य क्षेत्र था और देव लोग साक्षी थे ॥ १५९ ॥ अहा, यह चक्रवर्ती बड़ा प्रतापी है क्योंकि इसने समस्त दिशाओंको जीतते समय पूर्व पश्चिम और दक्षिणके तीनों समुद्रपर्यन्त समस्त भूमण्डलपर आक्रमण किया है - समस्त भरतको अपने वश कर लिया है । यद्यपि विजयार्थ पर्वत उल्लंघन करनेयोग्य नहीं है तथापि इसने

वृत्ति दृष्टावदानं^१ तं तुष्टुचुर्नाकिनायकाः । दिष्टार्थं स्म वर्धयन्त्येनं साङ्गनाश्च नमश्चराः ॥१६२॥
 भूयः प्रोत्साहितो देवैर्जयोद्योगमनूनयन्^२ । गङ्गापातमभीयाय^३ व्याहृत इव सरस्वतैः ॥१६३॥
 गलद्गङ्गान्धुनिष्कृताः शीकरा मनुशीकरैः । सम्^४च्छुर्नृपेभ्यो^५ ग्यात्युक्षी^६ वा सितान्वराः ॥१६४॥
 पतद्गङ्गाजलावर्णपरिचर्द्धितकौतुकः । प्रत्याग्राहि स सत्पातं गङ्गादेव्या धृताचया ॥१६५॥
 सिंहासने निवेश्येनं प्राञ्जल्यं सुखशीतलैः । सोऽभ्यषिञ्जजलैर्गाङ्गैः शशाङ्ककरहारिभिः ॥१६६॥
 कृतमङ्गलसङ्गीतनान्दीसूर्यरवाकुलम् । निर्वर्त्य मज्जनं जिष्णुसंज्ञे मण्डनमप्यतः ॥१६७॥
 अधास्मै व्यसंरत् प्राञ्जु^७ रत्नाशुस्थगिताम्बरम् । सेन्द्रचापमिवादीन्द्रशिखरं हरिविष्टरम् ॥१६८॥
 चिरं वर्द्धस्व अर्द्धिणो जीवतास्तन्दाद् मया^८ । इत्यनन्तरमाशास्य तिरोऽभूत् सा विसर्जिता ॥१६९॥
 अनुगङ्गातटं सैम्यैरावजन्विषयाधिपैः । सिपेवे पद्ममनैश्च गङ्गाशुक्लकणवाहिभिः ॥१७०॥
 गङ्गातटवनोपान्ननिवेशेषु विशाम्पनिम् । सुखयामासुरन्वीपमायाता^९ वनमारुताः^{१०} ॥१७१॥

उसे लीलामात्रमें ही उल्लंघन कर दिया है और इसकी कीर्ति स्थल-कमलिनीके समान हिमालय पर्वतकी शिखरपर आरुढ़ हो गयी है । इस प्रकार जिनका पराक्रम देख लिया गया है ऐसे उन भरत महाराजकी बड़े-बड़े देव भी स्तुति कर रहे थे और अपनी-अपनी स्त्रियोंसे सहित विद्याधर लोग भी भाग्यसे उन्हें बढ़ा रहे थे अर्थात् आशीर्वाद दे रहे थे ॥१६०-१६२॥

तदनन्तर—जिन्हें देवोंने फिर भी उत्साहित किया है ऐसे महाराज भरतने अपने विजयके उद्योगको कम न करते हुए गंगापात (जहाँ हिमवान् पर्वतसे गंगा नदी पड़ती है उसे गंगापात कहते हैं) के सम्मुख इस प्रकार गये मानो उसके शब्दोंके द्वारा बुलाये ही गये हों ॥१६३॥ ऊपरसे गिरती हुई गंगा नदीके जलके समीपसे उछटे हुए छोटे-छोटे जलकण राजाओंके हाथियोंके मदकी बूंदोंके साथ इस प्रकार मिल रहे थे मानो वे दोनों परस्पर फाग ही खेलना चाहते हों अर्थात् एक दूसरेको सींचना ही चाहते हों ॥१६४॥ पड़ते हुए गंगाजलकी भँवरोंसे जिसका कीतूहल बढ़ रहा है ऐसे भरतका गंगापातके स्थानपर अर्घ्य धारण करनेवाली गंगादेवीने सामने आकर सत्कार किया ॥१६५॥ गंगादेवीने चक्रवर्ती भरतको पूर्व दिशाकी ओर मुख कर सिंहासनपर बैठाया और फिर सुखकारी, शीतल तथा चन्द्रमाकी किरणोंकी हँसी करनेवाले गंगा नदीके जलसे उनका अभिषेक किया ॥१६६॥ जिसमें मंगल संगीत, आशीर्वाद वचन और तुरही आदि बाजोंके शब्द मिले हुए हैं ऐसे अभिषेकको समाप्त कर विजयशील भरतने उसी गंगादेवीसे सब वस्त्राभूषण भी प्राप्त किये ॥१६७॥ तदनन्तर देदीप्यमान रत्नोंकी किरणोंसे जिसने आकाश भी व्याप्त कर लिया है और जो इन्द्रधनुषसहित सुमेरु पर्वतके शिखरके समान जान पड़ता है ऐसा एक सिंहासन गंगादेवीने भरतके लिए समर्पित किया ॥१६८॥ और फिर 'सदा बढ़नेवाले हे महाराज भरत, आप चिर काल तक बढ़ते रहिए, चिरकाल तक जीवित रहिए और चिरकाल तक आनन्दित रहिए अथवा समृद्धिमान् रहिए इस प्रकार आशीर्वाद देकर महाराज भरतके द्वारा विदा हो वह गंगादेवी तिरोहित हो गयी ॥१६९॥

अथानन्तर—सेनाके साथ-साथ गंगाके किनारे-किनारे जाते हुए भरतकी अनेक देशोंके स्वामी-राजाओंने और गंगा नदीके जलकी बूंदोंको धारण करनेवाले वायुने सेवा की थी ॥१७०॥ गंगा किनारेके वनोंके समीपवर्ती भागोंमें पीछेसे आता हुआ वनका वायु चक्रवर्ती

१ दृष्टसामर्थ्यम् । दृष्टावदानं प०, अ० । दृष्टावदानं ल० । २ सन्तोषेण । ३ अनूनं कुर्वन् गंवर्द्धयन्नित्यर्थः । ४ अभिमुखमगच्छत् । ५ प्रसरन्ति स्म । ६ नृपसंबन्धिगजानाम् । ७ परस्परसेचनम् । ८ विस्तारितुमिच्छवः । ९ ददौ । १० उच्यत । ११ अनुकूलताम् । १२ वनवायवः ल० ।

वने वनचरणीणामुदस्यन्नलकावर्णाः । मुहुस्स्थलन् कपालेषु नृत्यद्वनशिलगिहनाम् ॥१७२॥

विलोलितालिराधुन्वन्नुफुल्ल वनवल्लरीः । गिरिनिर्झरसंश्लेषशिशिरो मरुदाधरौ ॥१७३॥

प्रतिप्रयाणमानघ्रा नृपास्तद्देशवासिनः । प्रभुमासाध्यां चक्राक्रान्ता जयसाधनैः ॥१७४॥

कृत्स्नामिति प्रसाधैनामुत्तरां भरतावनिम् । प्रत्यासीददधौ जिष्णुर्विजयार्त्तचलस्थलीः^१ ॥१७५॥

तत्रावासितसैन्यं^२ च सेनान्यं^३ प्रभुरादिशत । अपाहृतं युद्धाङ्गारः प्राप्यलण्डं^४ ज्येष्ठवरम्^५ ॥१७६॥

यावदभ्येति सेनानीम्लेच्छराजजयोदमात् । तावत्प्रभोः किलासीधुर्मासाः षट् सुखसंगिनः ॥१७७॥

दक्षिणोत्तरयोः श्रेण्योः निवसन्तोऽम्बरचराः । विद्याधराधिपैः साह^६ प्रभुं द्रष्टुमिहावयुः^७ ॥१७८॥

विद्याधरधराधीशैरारादानम्रमौलिभिः । नखांशुमालिकाभ्याजादाज्ञास्य शिरसा धृता ॥१७९॥

नमिश्च विनमिश्चैव विद्याधरधराधिपौ । स्वसारधनसामग्र्या विभुः^८ प्रष्टुमुपेयतुः ॥१८०॥

विद्याधरधरासारधनोपायनसंपदा ।^९ तदुपानीतयाऽनन्यलभ्ययासीद्विभोर्धृतिः ॥१८१॥

तदुपाकृतारत्नैर्वैः कन्यास्तनपुरासरैः । सरिदोषैरिवोदभ्रानामपूर्यत तदा प्रभुः ॥१८२॥

स्वसारं^{१०} च नमैर्धन्यां सुभद्रां नामकम्यकाम् । उदुवाह^{११} स लक्ष्मीवान् कन्याणैः स्वचरोचितैः ॥१८३॥

को सुखी कर रहा था ॥१७१॥ वहाँके वनमें भीलोंकी स्त्रियोंके केशोंके समूहको उड़ाता हुआ नृत्य करते हुए वनमयूरीकी पूँछपर बार-बार टकराता हुआ भमरोंको इधर-उधर भगाता हुआ, फूली हुई वनकी लताओंको कुछ कुछ हिलाता हुआ और पहाड़ी झरनोंके स्पर्शसे शीतल हुआ वायु चारों ओर बह रहा था ॥१७२-१७३॥ विजय करनेवाली सेनाके द्वारा दबाये हुए उन देशोंमें निवास करनेवाले राजा लोग नम्र होकर प्रत्येक पड़ावपर महाराज भरतकी आराधना करते थे ॥१७४॥ इस प्रकार उत्तर भरत क्षेत्रकी समस्त पृथिवीको वश कर विजयी महाराज भरत फिरसे विजयार्ध पर्वतकी तराईमें आ पहुँचे ॥१७५॥ वहाँपर उन्होंने सेना ठहराकर सेनापतिके लिए आज्ञा दी कि 'गुफाका द्वार उघाड़कर शीघ्र ही पूर्व खण्डकी विजय प्राप्त करो' ॥१७६॥ जबतक सेनापति म्लेच्छराजाओंको जीतकर वापस आया तबतक सुखपूर्वक रहते हुए महाराज भरतके छह महीने वहींपर व्यतीत हो गये ॥१७७॥ विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण तथा उत्तर श्रेणीपर निवास करनेवाले विद्याधर लोग अपने-अपने स्वामियोंके साथ महाराज भरतका दर्शन करनेके लिए वहींपर आये ॥१७८॥ दूरसे ही मस्तक झुकानेवाले विद्याधर राजाओंने नखोंकी किरणोंके समूहके बहानेसे महाराज भरतकी आज्ञा अपने सिरपर धारण की थी । भावार्थ-नमस्कार करते समय विद्याधर राजाओंके मस्तकपर जो भरत महाराजके चरणोंके नखोंकी किरणें पड़ती थीं उनसे वे ऐसे सालूम होते थे मानो भरतकी आज्ञा ही अपने मस्तकपर धारण कर रहे हों ॥१७९॥ नमि और विनमि दोनों ही विद्याधरोंके राजा अपने मुख्य धनकी सामग्रीके साथ भरतके दर्शन करनेके लिए समीप आये ॥१८०॥ नमि और विनमि जो अन्य किसीको नहीं मिलनेवाली विद्याधरोंके देशकी मुख्य धनरूप सम्पत्ति भेंटमें लाये थे उससे महाराज भरतको भारी सन्तोष हुआ था ॥१८१॥ जिस प्रकार नदियोंके प्रवाहसे समुद्र पूर्ण हो जाता है उसी प्रकार उस समय नमि और विनमिके द्वारा उपहारमें लाये हुए कन्यारत्न आदि अनेक रत्नोंके समूहसे महाराज भरतकी इच्छा पूर्ण हो गयी थी ॥१८२॥ श्रीमान् भरतने राजा नमिकी बहिन सुभद्रा नामकी उत्तम कन्याके साथ

१ स्थलीम् ल०, द०, इ०, अ०, स० । २ सैन्यम् ल० । ३ विभुः । ४ उदघाटित । ५ पूर्वखण्डम् ।

६ शीघ्रम् । ७ आगच्छन् । ८ क्षेत्र । ९ प्रभुं ल०, अ०, स०, इ०, द० । १० विद्याधरैरुपायनीकृतया ।

११ भगिनीम् । 'भगिनी स्वसा' इत्यभिधानात् । १२ परिणीतवान् ।

तां मनोज्ञां रसस्यैव कृतिं संयुज्ज्वा लक्ष्मणः ॥ १८४ ॥
 तावन्निर्जितनिःशेषम्लेच्छराजदलो बलैः । जयलक्ष्मीं पुरस्कृत्य सेनानीः प्रभुमैक्षत ॥ १८५ ॥
 कृतकार्यं च सत्कृत्य तं तांश्च म्लेच्छनायकान् । विसर्ज्य सम्राट् सज्जोऽभूत् प्रस्थायातुमपाङ्गमहीम् ॥ १८६ ॥
 जयप्रयाणशंसिभ्यस्तदा भेर्यः प्रदध्नुः । शिखम्बलार्णवे क्षोभमातन्वन्त्यो महीभृताम् ॥ १८७ ॥
 तां काण्डकप्रपाताख्यां प्रागेद्योद्गादितां गुहाम् । प्रविवेश कलं जिष्णोश्चक्ररत्नपुरोगमाम् ॥ १८८ ॥
 गङ्गापगोभयप्रान्तमहाबीधीद्वयेन सा । व्यतीयाय गुहां सेना कृतद्वारं चमूभृता ॥ १८९ ॥
 मुप्यमाना गुहा सैष्यैश्चिरादुच्छ्वसितैव सा । चमूरपि गुहारोधाग्निःसृत्योज्जीवितैव सा ॥ १९० ॥
 नाट्यमालामरस्तत्र रत्नाद्यैः प्रभुमर्चयन् । प्रत्यगृह्णाद् गुहाद्वारि पूर्णकुम्भादिमङ्गलैः ॥ १९१ ॥
 कृतोपच्छन्दनं चामुं नाट्यमालं सुरर्वभम् । व्यसर्जयद्यथोद्देशं सत्कृत्य भरतर्षभः ॥ १९२ ॥
 कृतोदयमिनं ध्वाम्भात्परितो गगनेचराः । परिष्वेत्तुर्नभोमार्गमारुह्य धृतसायकाः ॥ १९३ ॥

मालिनीवृत्तम्

नमिबिबमिपुरां गौरन्वितः खेचरेभ्यैः खचरगिरिगुहान्तर्ध्वान्तमुत्सार्य दूरम् ।
 रविरिव किरणौघैर्धौतयन्दिग्विभागान् निधिपतिरुद्दिषाय प्रीणयन् जीवलोकम् ॥ १९४ ॥
 सरसकिसलयान्तःस्पन्दमन्धे सुरस्त्रीस्तनतटपरिलम्बौमसंक्रान्तवासे ।
 सरति महति मन्दं कन्दरेष्वद्रिभर्तुर्निधिपतिशिबिराणां प्रादुरासन्निवेशाः ॥ १९५ ॥

विद्याधरोके योग्य मंगलाचारपूर्वक विवाह किया ॥ १८३ ॥ रसकी धाराके समान मनोहर उस सुभद्राको पाकर उत्कृष्ट आनन्दसे भरे हुए चक्रवर्तीने अपना जन्म सफल माना था ॥ १८४ ॥ इतनेमें ही जिसने अपनी सेनाके द्वारा समस्त म्लेच्छ राजाओंकी सेना जीत ली है ऐसे सेनापति-ने जयलक्ष्मीको आगे कर महाराज भरतके दर्शन किये ॥ १८५ ॥ जिसने अपना कार्य पूर्ण किया है ऐसे सेनापतिका सम्मान कर और आये हुए म्लेच्छ राजाओंको बिदा कर सम्राट् भरतेश्वर दक्षिणकी पृथिवीकी ओर आनेके लिए तैयार हुए ॥ १८६ ॥ उस समय विजयके लिए प्रस्थान करनेकी सूचना देनेवाली भेरियां राजाओंकी सेनारूपी समुद्रमें क्षोभ उत्पन्न करती हुई चारों ओर बज रही थीं ॥ १८७ ॥ चक्ररत्न जिसके आगे चल रहा है ऐसी भरतकी सेनाने पहलेसे ही उधाड़ी हुई काण्डकप्रपात नामकी प्रसिद्ध गुफामें प्रवेश किया ॥ १८८ ॥ उस सेनाने गंगा नदीके दोनों किनारोंपर-की दो बड़ी-बड़ी गलियोंमें-से, सेनापतिके द्वारा जिसका द्वार पहलेसे ही खोल दिया गया है ऐसी उस गुफाको पार किया ॥ १८९ ॥ सेनाके द्वारा छोड़ी हुई वह गुफा ऐसी जान पड़ती थी मानो चिरकालसे उच्छ्वास ही ले रही हो और वह सेना भी गुफाके रोध-से निकलकर ऐसी मालूम होती थी मानो फिरसे जीवित हुई हो ॥ १९० ॥ वहाँ नाट्यमाल नामके देवने दक्षिण गुफाके द्वारपर पूर्णकलश आदि मंगलद्रव्य रखकर तथा रत्नोंके अर्घसे अर्घ देकर भरत महाराजकी अगवानी की थी - सामने आकर सत्कार किया था ॥ १९१ ॥ भरत महाराजने अनेक प्रकारकी स्तुति करनेवाले उस नाट्यमाल नामके श्रेष्ठ देवका सत्कार कर उसे अपने स्थानपर जानेके लिए बिदा कर दिया ॥ १९२ ॥ धनुष-बाण धारण करनेवाले विद्याधर चारों ओरसे आकाशमार्गको घेरकर, सूर्यके समान अन्धकारसे परे रहकर उदित होनेवाले चक्रवर्तीकी परिचर्या करते थे ॥ १९३ ॥ जिनमें नमि और विनमि मुख्य हैं ऐसे विद्याधरोसहित तथा विजयार्ध पर्वतकी गुफाके भीतरी अन्धकारको दूर हटाकर सूर्यके समान किरणोंके समूहसे दिशाओंको प्रकाशित करता हुआ वह निधियोंका अधिपति चक्रवर्ती समस्त जीवलोकको आनन्दित करता हुआ उदित हुआ अर्थात् गुफाके बाहर निकला ॥ १९४ ॥ रस-

१ मनोज्ञां रसस्यैव । २ दक्षिणभूमिम् । ३ सेनान्या । ४ कृतसाम्बन्धम् । ५ भुरश्रेष्ठम् । ६ निजदेशमनतिक्रम्य । ७ पुरःसरैः । ८ उदेति स्म । ९ सुगन्धे । १० वाति सति ।

किसलयपुटभेदी देवदारुदुमागामसकृदमरसिन्धोः सीकरान्न्याधुनानः ।

श्रमसलिलममुष्णा दुष्णसंभूष्णं जिष्णोः खचरगिरितटास्ताक्षिप्यत न्यातरिषा ॥१९६॥

नपदिविजयसैन्यैर्निर्जितम्लेच्छखण्डः स्तम्भपहतजयश्रीश्चक्रिणादिष्टमाश्रितः ।

जिनमिव जयलक्ष्मीं सक्तिशानं निधीनां परि वृद्धमुपतस्थौ नम्रमौलिश्चमभृत ॥१९७॥

शार्दूलचिक्रीडितम्

जिषा म्लेच्छनृपौ विजिष्य च सुरं प्रालेयनौलेगिनं देव्यौ च प्रणमय्य दिव्यमुभयं स्वीकृत्य भद्रासनम् ।

हेलानिर्वितलेयसद्विजिषाट् पुण्यसंभूष्णं जयन् सेनाभ्यां विजयी व्यजेष्ट निखिलां पट्खण्डभूषां भुवम् ॥१९८॥

पुण्यादिस्थयमाहिमाह्वयगिरैरातोमधेः प्राक्तनादाचापा व्यपयोनिधेर्जलनिधेरा च प्रतीक्यादितः ।

चक्रेशमामरिचक्रं भीकरकरश्चक्रेण चक्री चभो तस्मात्पुण्यमुपाजंयन्तु सुधियो जने मते सुस्थिताः ॥१९९॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहे

भरतोत्तरार्द्धविजयवर्णनं नाम द्वाविंशत्तमं पर्व ॥३२॥

युक्त नवीन कोमल पत्तोंके भीतर प्रवेश करनेसे मन्द हुआ तथा देवांगनाओंके स्तनतटपर लगे हुए रेशमी वस्त्रोंमें जिसको सुगन्धि प्रवेश कर गयी है ऐसा वायु जिस समय उस विजयार्थ पर्वतकी गुफाओंमें धीरे-धीरे बह रहा था उस समय निधियोंके स्वामी चक्रवर्तीकी सेनाके डेरोंकी रचना शुरू हुई थी ॥१९५॥ देवदारु वृक्षोंके कोमल पत्तोंके सम्पुटको भेदन करनेवाला तथा गंगा नदीके जलकी बूंदोंको बार-बार हिलाता हुआ और विजयार्थ पर्वतके किनारेके अन्त भागसे आता हुआ वायु गरमीसे उत्पन्न हुए महाराज भरतके पसीनेको दूर कर रहा था ॥१९६॥ चक्रवर्तीके द्वारा आज्ञा प्राप्त होनेमात्रसे ही जिसने अपनी विजयी सेनाओंके द्वारा बहुत शीघ्र समस्त म्लेच्छ खण्ड जीत लिये हैं और जो जयलक्ष्मीको ले आया है ऐसा सेनापति अपना मस्तक झुकाये हुए, निधियोंके स्वामी भरत महाराजके समीप आ उपस्थित हुआ । उस समय भरत ठीक जिनेन्द्रदेवके समान मालूम होते थे क्योंकि जिस प्रकार जिनेन्द्र देवके समीप सदा जयलक्ष्मी विद्यमान रहती है उसी प्रकार उनके समीप भी जयलक्ष्मी सदा विद्यमान रहती थीं ॥१९७॥ विजयी भरतने (चिलात और आनर्त नामके) दोनों म्लेच्छराजाओंको जीतकर हिमवान् पर्वतके स्वामी हिमवान् देवको कुछ ही समयमें जीता, तथा (गंगा सिन्धु नामकी) दोनों देवियोंसे प्रणाम कराकर (उनके द्वारा दिये हुए) दो दिव्य भद्रासन स्वीकृत किये, और विजयार्थ पर्वतको लीला मात्रमें जीतकर उसके समीपवर्ती राजाओंको जीतते हुए उन्होंने सेनापतिके साथ-साथ छह खण्डोंसे सुशोभित भरत क्षेत्रकी समस्त पृथिवीको जीता ॥१९८॥ जिनका हाथ अथवा टैक्स शत्रुओंके समूहमें भय उत्पन्न करनेवाला है ऐसे चक्रवर्ती भरतने चक्ररत्नके द्वारा पुण्यसे ही हिमवान् पर्वतसे लेकर पूर्व दिशाके समुद्र तक और दक्षिण समुद्रसे लेकर पश्चिम समुद्र तक समस्त पृथिवी अपने वश की थी । इसलिए बुद्धिमान् लोगोको जैन-मतमें स्थिर रहकर सदा पुण्य उपाजंन करना चाहिए ॥१९९॥

इस प्रकार अर्घ नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहके हिन्दी

भाषानुवाकमें उत्तरार्ध भरतकी विजयका वर्णन करनेवाला

बत्तीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ।

१ अनाशयत् । २ उष्णसंजातम् । ३ आगच्छन् । ४ आज्ञातः । ५ नाथम् । ६ प्राप्तवानित्यर्थः । ७ सुचिरं ल०, द० । ८ हिमवद्गिरिपतिम् । ९ गङ्गादेवीसिन्धुदेवी । १० पूर्वात् । ११ दक्षिणसमुद्रात् । १२ भयंकरकरः । 'भयंकरं प्रतिभय'मित्यभिधानात् ।

अथस्त्रिशतमं पर्व

श्रीमानानमितामोषनृपविधाधरामरः । सिद्धदिग्विजयश्चक्री न्यवृत्तत्वां पुरीं प्रति ॥१॥
नवास्थ निधयः सिद्धा रत्नान्यपि चतुर्दश । सिद्धविद्याधरैः साङ्गं षट्षण्डधरणीभुजः ॥२॥
जिह्वा महीमिमां कृत्स्नां लवणाम्भोधिमेललाम् । प्रषाणमकरोचक्री साकेतनगरं प्रति ॥३॥
प्रकीर्णकचलद्वीचिरुल्लसच्छत्रबुद्धुदा । निर्ययां विजयाद्वीजितटाड् गङ्गेव सा चमूः ॥४॥
करिणीनीभिरश्वीयकलोलैर्जनलोभिभिः । दिशो हन्धन्बलाम्भोधिः प्रमसर्प भ्रुकुम्ध्वनिः ॥५॥
खलतां रथचक्राणां चीत्कारैर्हयहवितैः । वृद्धितैश्च गजन्द्रेणां शब्दाद्वैतं तदाम्रवत् ॥६॥
भेर्यः प्रस्थानशंसिन्धो नेहुरामन्दनिःस्थनाः । भ्रुकालस्तनि ताशङ्कामातम्बानाः शिखपिडनाम् ॥७॥
तदाऽभ्रुद्वन्द्वमर्धायं हास्तिकेन प्रसर्पता । स्पर्शोधि पत्तिवृन्दं च प्रयान्त्या रथकल्पया ॥८॥
पादातकृतसंवाधान् पथः पर्यन्तपातिनः । हया राजा चरुधाइव भञ्जुस्तिर्येकप्रचोदितः ॥९॥
पर्वतोद्गमसारुहो गजं विजयपर्वतम् । प्रतस्थे विचलन्मौलिः चक्री शक्रसमद्यतिः ॥१०॥
अनुगङ्गातटं देशान् विलह्य सगरिर्गिरीन् । कैलासशैलसाक्षिध्वं प्रापतश्चक्रिणो बलम् ॥११॥

अथानन्तर — जिन्होंने समस्त राजा विद्याधर और देवोंको नम्रीभूत किया है तथा समस्त दिग्विजयमें सफलता प्राप्त की है ऐसे श्रीमान् चक्रवर्ती भरत अपनी अयोध्यापुरीके प्रति लौटे ॥१॥ इन महाराज भरतको नां निधियां और चौदह रत्न सिद्ध हुए थे तथा विद्याधरोंके साथ-साथ छह खण्डोंके समस्त राजा भी इनके वश हुए थे ॥२॥ लवण समुद्र ही जिसकी मेखला है ऐसी इस समस्त पृथिवीको जीतकर चक्रवर्तीने अपने अयोध्या नगरकी ओर प्रस्थान किया ॥३॥ हुलते हुए चमर ही जिसकी लहरें हैं और ऊपर चमकते हुए छत्र ही जिसके बबूले हैं ऐसी वह सेना गंगाके समान विजयार्ध पर्वतके तटसे निकली ॥४॥ हथिनीरूपी नावोंसे, घोड़ोंके समूहरूपी लहरोंसे और मनुष्योंके समूहरूपी छोटी-छोटी तरंगोंसे दिशाओंको रोकता हुआ तथा खूब शब्द करता हुआ वह सेनारूपी समुद्र चारों ओर फैल गया ॥५॥ उस समय चलते हुए रथोंके पहियोंके चीत्कार शब्दसे, घोड़ोंकी हिनहिनाहटसे और हाथियोंकी गर्जनासे शब्दाद्वैत हो रहा था अर्थात् सभी ओर एक शब्द-ही-शब्द नजर आ रहा था ॥६॥ जिनका शब्द अतिशय गम्भीर है ऐसी प्रस्थान-कालकी सूचित करनेवाली भेरियां मयूरोंको असमयमें ही बादलोंके गरजनेकी शंका बढ़ाती हुई शब्द कर रही थीं ॥७॥ उस समय दौड़ते हुए हाथियोंके समूहसे घोड़ोंका समूह रुक गया था और चलते हुए रथोंके समूहसे पैदल चलनेवाले सिपाहियोंका समूह रुक गया था ॥८॥ पैदल सेनाके द्वारा जिन्हें कुछ बाधा की गयी है ऐसे हाथी घोड़े और रथ — थोड़ी दूर तक कुछ तिरछे चलकर ठीक रास्तेपर आ रहे थे । भावार्थ — सामने पैदल मनुष्योंकी भीड़ देखकर हाथी घोड़े और रथ बगलसे बरककर आगे निकल रहे थे ॥९॥ जिनका मुकुट कुछ-कुछ हिल रहा है और जिनकी कान्ति इन्द्रके समान है ऐसे चक्रवर्तीने पर्वतके समान ऊँचे विजय पर्वत नामके हाथीपर सवार होकर प्रस्थान किया ॥१०॥ चक्रवर्ती की वह सेना गंगा नदीके किनारे-किनारे अनेक देश, नदी और पर्वतोंको उल्लंघन करती हुई

कैलासाच्चलमभ्यर्णमथालोक्य रथाङ्गनृत् । निवेद्य निरुद्धे सैन्यं प्रययौ जिनमर्षितुम् ॥१२॥
 प्रयान्तमनुजग्मुस्तं भरतेशं महाद्युतिम् । रोचिष्णुमौलयः क्षमापाः सौधमेन्द्रमिवामराः ॥१३॥
 अधिराज्यं तमासाद्य शरदम्बरसञ्चविम् । जिनस्थेयं यशोराशिमभ्यनन्दद्विशां पतिः ॥१४॥
 निपतन्निर्गारावैराङ्ग्यस्तमिवामरान् । त्रिजगद्गुरुमेत्यारात् सेवध्वमिति सादरम् ॥१५॥
 मरुदान्दोलितोदप्रशाखाग्रैस्तटपादपैः । प्रतोषादिव नृत्यन्तं विकासिकुसुमस्मितैः ॥१६॥
 तटनिर्गारसंपातैर्दानुं पाद्यमिवोद्यतम् । वन्दारो भव्यवृन्दस्य विष्वगास्कन्दतो जिनम् ॥१७॥
 शिखरोल्लिखिताम्बोदपदलोद्रीणंवारिभिः । दावभीत्येव सिद्धन्तं स्वपर्यन्तलतावनम् ॥१८॥
 शुचिप्राणविनिर्माणैः शिखरैः स्थगिताम्बरैः । गतिप्रसरमकंस्य न्यक्कुर्वाणमिवोच्छ्रितैः ॥१९॥
 क्वचित् किनरसंभोग्यैः क्वचित् पद्मशसेवितैः । क्वचिच्चत्वरार्काग्रैर्वनैराविष्कृतश्रियम् ॥२०॥
 क्वचिद्विरलनीलोद्गुमिलितैः स्फटिकोपलैः । शशाङ्कमण्डलाशङ्कामातन्वन्तं नमोजुषाम् ॥२१॥
 हरिन्मणिप्रभाजालैर्भाजालैश्च प्रभाङ्गनाम् ॥ क्वचिद्विभ्रधनुर्लक्ष्मालिखन्तं नमोऽङ्गणे ॥२२॥

क्रमसे कैलास पर्वतके समीप जा पहुँची ॥११॥ तदनन्तर चक्रवर्तीने कैलास पर्वतको समीप ही देखकर सेनाओंको वहीं पासमें ठहरा दिया और स्वयं जिनेन्द्र भगवान्की पूजा करनेके लिए प्रस्थान किया ॥१२॥ जिस प्रकार सौधर्म इन्द्रके पीछे-पीछे देदीप्यमान मुकुटको धारण करनेवाले अनेक देव जाते हैं उसी प्रकार आगे-आगे जाते हुए अतिशय कान्तिमान् महाराज भरतके पीछे-पीछे देदीप्यमान मुकुटको धारण करनेवाले अनेक राजा लोग जा रहे थे ॥१३॥ जिसकी कान्ति शरदऋतुके बादलोंके समान है और इसीलिए जो जिनेन्द्र भगवान्के यशके समूहके समान जान पड़ता है ऐसे उस कैलास पर्वतको बहुत शीघ्र पाकर महाराज भरत बहुत ही प्रसन्न हुए ॥१४॥ जो पड़ते हुए क्षरन्ते शब्दासे ऐसा जान पड़ता है मानो समीप आकर तीनों जगत्के गुरु भगवान् वृषभदेवकी सेवा करो इस प्रकार देव लोगोंको आदरपूर्वक बुला ही रहा हो — जिनकी ऊँची-ऊँची शाखाओंके अग्रभाग वायुके द्वारा हिल रहे हैं और जिनपर फूले हुए फूल उनके मन्द हास्यके समान मालूम होते हैं ऐसे अपने किनारोंपर-के वृक्षोंसे जो ऐसा जान पड़ता है मानो सन्तोषसे नृत्य ही कर रहा हो—जो किनारोंपर-से क्षरन्ते पड़नेसे ऐसा जान पड़ता है मानो जिनेन्द्र भगवान्की वन्दना करनेके लिए चारों ओरसे आते हुए भव्य जीवों-के समूहके लिए पैर धोनेके लिए जल देनेको ही उद्यत हुआ हो — जो शिखरोंसे विदीर्ण हुए बादलोंके समूहसे गिरते हुए जलसे ऐसा जान पड़ता है मानो दावानलके डरसे अपने समीपवर्ती लताओंके वनको सींच ही रहा हो—जो स्फटिक मणिके सफेद पत्थरोंसे बने हुए और आकाशको घेरनेवाले अपने ऊँचे-ऊँचे शिखरोंसे ऐसा जान पड़ता है मानो सूर्यकी गतिके फैलावको रोक ही रहा हो—जिनमें कहीं तो किन्नर जातिके देव सम्भोग कर रहे हैं, कहीं नागकुमार जातिके देव सेवा कर रहे हैं और कहीं विद्याधर लोग क्रीड़ा करते हैं ऐसे अनेक वनोंसे जिसकी शोभा प्रकट हो रही है — जो कहींपर कुछ-कुछ नीलमणियोंकी किरणोंसे मिले हुए स्फटिक मणियोंके पत्थरोंसे देवोंको चन्द्रमण्डलकी आशंका उत्पन्न करता रहता है । जो कहींपर हरे रंगके मणियोंकी प्रभाके समूहसे और स्फटिक मणियोंकी प्रभाके समूहसे आकाशरूपी आँगनमें इन्द्रधनुषकी रेखा लिख रहा था । कहींपर पद्मराग मणियोंकी किरणोंसे मिले हुए स्फटिक मणियोंकी किरणोंसे जिसके किनारेका समीपभाग कुछ-कुछ लाली लिये हुए सफेद रंगका हो गया है और

१ कैलासम् । २ वन्दनशीलस्य । ३ आगच्छतः । ४ विदारित । ५ उद्गत । ६ स्फटिकपाषाण । ७ संभोगैः ८, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १३, १४, १५, १६, १७, १८, १९, २०, २१, २२, २३, २४, २५, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१, ३२, ३३, ३४, ३५, ३६, ३७, ३८, ३९, ४०, ४१, ४२, ४३, ४४, ४५, ४६, ४७, ४८, ४९, ५०, ५१, ५२, ५३, ५४, ५५, ५६, ५७, ५८, ५९, ६०, ६१, ६२, ६३, ६४, ६५, ६६, ६७, ६८, ६९, ७०, ७१, ७२, ७३, ७४, ७५, ७६, ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०, ९१, ९२, ९३, ९४, ९५, ९६, ९७, ९८, ९९, १००, १०१, १०२, १०३, १०४, १०५, १०६, १०७, १०८, १०९, ११०, १११, ११२, ११३, ११४, ११५, ११६, ११७, ११८, ११९, १२०, १२१, १२२, १२३, १२४, १२५, १२६, १२७, १२८, १२९, १३०, १३१, १३२, १३३, १३४, १३५, १३६, १३७, १३८, १३९, १४०, १४१, १४२, १४३, १४४, १४५, १४६, १४७, १४८, १४९, १५०, १५१, १५२, १५३, १५४, १५५, १५६, १५७, १५८, १५९, १६०, १६१, १६२, १६३, १६४, १६५, १६६, १६७, १६८, १६९, १७०, १७१, १७२, १७३, १७४, १७५, १७६, १७७, १७८, १७९, १८०, १८१, १८२, १८३, १८४, १८५, १८६, १८७, १८८, १८९, १९०, १९१, १९२, १९३, १९४, १९५, १९६, १९७, १९८, १९९, २००, २०१, २०२, २०३, २०४, २०५, २०६, २०७, २०८, २०९, २१०, २११, २१२, २१३, २१४, २१५, २१६, २१७, २१८, २१९, २२०, २२१, २२२, २२३, २२४, २२५, २२६, २२७, २२८, २२९, २३०, २३१, २३२, २३३, २३४, २३५, २३६, २३७, २३८, २३९, २४०, २४१, २४२, २४३, २४४, २४५, २४६, २४७, २४८, २४९, २५०, २५१, २५२, २५३, २५४, २५५, २५६, २५७, २५८, २५९, २६०, २६१, २६२, २६३, २६४, २६५, २६६, २६७, २६८, २६९, २७०, २७१, २७२, २७३, २७४, २७५, २७६, २७७, २७८, २७९, २८०, २८१, २८२, २८३, २८४, २८५, २८६, २८७, २८८, २८९, २९०, २९१, २९२, २९३, २९४, २९५, २९६, २९७, २९८, २९९, ३००, ३०१, ३०२, ३०३, ३०४, ३०५, ३०६, ३०७, ३०८, ३०९, ३१०, ३११, ३१२, ३१३, ३१४, ३१५, ३१६, ३१७, ३१८, ३१९, ३२०, ३२१, ३२२, ३२३, ३२४, ३२५, ३२६, ३२७, ३२८, ३२९, ३३०, ३३१, ३३२, ३३३, ३३४, ३३५, ३३६, ३३७, ३३८, ३३९, ३४०, ३४१, ३४२, ३४३, ३४४, ३४५, ३४६, ३४७, ३४८, ३४९, ३५०, ३५१, ३५२, ३५३, ३५४, ३५५, ३५६, ३५७, ३५८, ३५९, ३६०, ३६१, ३६२, ३६३, ३६४, ३६५, ३६६, ३६७, ३६८, ३६९, ३७०, ३७१, ३७२, ३७३, ३७४, ३७५, ३७६, ३७७, ३७८, ३७९, ३८०, ३८१, ३८२, ३८३, ३८४, ३८५, ३८६, ३८७, ३८८, ३८९, ३९०, ३९१, ३९२, ३९३, ३९४, ३९५, ३९६, ३९७, ३९८, ३९९, ४००, ४०१, ४०२, ४०३, ४०४, ४०५, ४०६, ४०७, ४०८, ४०९, ४१०, ४११, ४१२, ४१३, ४१४, ४१५, ४१६, ४१७, ४१८, ४१९, ४२०, ४२१, ४२२, ४२३, ४२४, ४२५, ४२६, ४२७, ४२८, ४२९, ४३०, ४३१, ४३२, ४३३, ४३४, ४३५, ४३६, ४३७, ४३८, ४३९, ४४०, ४४१, ४४२, ४४३, ४४४, ४४५, ४४६, ४४७, ४४८, ४४९, ४५०, ४५१, ४५२, ४५३, ४५४, ४५५, ४५६, ४५७, ४५८, ४५९, ४६०, ४६१, ४६२, ४६३, ४६४, ४६५, ४६६, ४६७, ४६८, ४६९, ४७०, ४७१, ४७२, ४७३, ४७४, ४७५, ४७६, ४७७, ४७८, ४७९, ४८०, ४८१, ४८२, ४८३, ४८४, ४८५, ४८६, ४८७, ४८८, ४८९, ४९०, ४९१, ४९२, ४९३, ४९४, ४९५, ४९६, ४९७, ४९८, ४९९, ५००, ५०१, ५०२, ५०३, ५०४, ५०५, ५०६, ५०७, ५०८, ५०९, ५१०, ५११, ५१२, ५१३, ५१४, ५१५, ५१६, ५१७, ५१८, ५१९, ५२०, ५२१, ५२२, ५२३, ५२४, ५२५, ५२६, ५२७, ५२८, ५२९, ५३०, ५३१, ५३२, ५३३, ५३४, ५३५, ५३६, ५३७, ५३८, ५३९, ५४०, ५४१, ५४२, ५४३, ५४४, ५४५, ५४६, ५४७, ५४८, ५४९, ५५०, ५५१, ५५२, ५५३, ५५४, ५५५, ५५६, ५५७, ५५८, ५५९, ५६०, ५६१, ५६२, ५६३, ५६४, ५६५, ५६६, ५६७, ५६८, ५६९, ५७०, ५७१, ५७२, ५७३, ५७४, ५७५, ५७६, ५७७, ५७८, ५७९, ५८०, ५८१, ५८२, ५८३, ५८४, ५८५, ५८६, ५८७, ५८८, ५८९, ५९०, ५९१, ५९२, ५९३, ५९४, ५९५, ५९६, ५९७, ५९८, ५९९, ६००, ६०१, ६०२, ६०३, ६०४, ६०५, ६०६, ६०७, ६०८, ६०९, ६१०, ६११, ६१२, ६१३, ६१४, ६१५, ६१६, ६१७, ६१८, ६१९, ६२०, ६२१, ६२२, ६२३, ६२४, ६२५, ६२६, ६२७, ६२८, ६२९, ६३०, ६३१, ६३२, ६३३, ६३४, ६३५, ६३६, ६३७, ६३८, ६३९, ६४०, ६४१, ६४२, ६४३, ६४४, ६४५, ६४६, ६४७, ६४८, ६४९, ६५०, ६५१, ६५२, ६५३, ६५४, ६५५, ६५६, ६५७, ६५८, ६५९, ६६०, ६६१, ६६२, ६६३, ६६४, ६६५, ६६६, ६६७, ६६८, ६६९, ६७०, ६७१, ६७२, ६७३, ६७४, ६७५, ६७६, ६७७, ६७८, ६७९, ६८०, ६८१, ६८२, ६८३, ६८४, ६८५, ६८६, ६८७, ६८८, ६८९, ६९०, ६९१, ६९२, ६९३, ६९४, ६९५, ६९६, ६९७, ६९८, ६९९, ७००, ७०१, ७०२, ७०३, ७०४, ७०५, ७०६, ७०७, ७०८, ७०९, ७१०, ७११, ७१२, ७१३, ७१४, ७१५, ७१६, ७१७, ७१८, ७१९, ७२०, ७२१, ७२२, ७२३, ७२४, ७२५, ७२६, ७२७, ७२८, ७२९, ७३०, ७३१, ७३२, ७३३, ७३४, ७३५, ७३६, ७३७, ७३८, ७३९, ७४०, ७४१, ७४२, ७४३, ७४४, ७४५, ७४६, ७४७, ७४८, ७४९, ७५०, ७५१, ७५२, ७५३, ७५४, ७५५, ७५६, ७५७, ७५८, ७५९, ७६०, ७६१, ७६२, ७६३, ७६४, ७६५, ७६६, ७६७, ७६८, ७६९, ७७०, ७७१, ७७२, ७७३, ७७४, ७७५, ७७६, ७७७, ७७८, ७७९, ७८०, ७८१, ७८२, ७८३, ७८४, ७८५, ७८६, ७८७, ७८८, ७८९, ७९०, ७९१, ७९२, ७९३, ७९४, ७९५, ७९६, ७९७, ७९८, ७९९, ८००, ८०१, ८०२, ८०३, ८०४, ८०५, ८०६, ८०७, ८०८, ८०९, ८१०, ८११, ८१२, ८१३, ८१४, ८१५, ८१६, ८१७, ८१८, ८१९, ८२०, ८२१, ८२२, ८२३, ८२४, ८२५, ८२६, ८२७, ८२८, ८२९, ८३०, ८३१, ८३२, ८३३, ८३४, ८३५, ८३६, ८३७, ८३८, ८३९, ८४०, ८४१, ८४२, ८४३, ८४४, ८४५, ८४६, ८४७, ८४८, ८४९, ८५०, ८५१, ८५२, ८५३, ८५४, ८५५, ८५६, ८५७, ८५८, ८५९, ८६०, ८६१, ८६२, ८६३, ८६४, ८६५, ८६६, ८६७, ८६८, ८६९, ८७०, ८७१, ८७२, ८७३, ८७४, ८७५, ८७६, ८७७, ८७८, ८७९, ८८०, ८८१, ८८२, ८८३, ८८४, ८८५, ८८६, ८८७, ८८८, ८८९, ८९०, ८९१, ८९२, ८९३, ८९४, ८९५, ८९६, ८९७, ८९८, ८९९, ९००, ९०१, ९०२, ९०३, ९०४, ९०५, ९०६, ९०७, ९०८, ९०९, ९१०, ९११, ९१२, ९१३, ९१४, ९१५, ९१६, ९१७, ९१८, ९१९, ९२०, ९२१, ९२२, ९२३, ९२४, ९२५, ९२६, ९२७, ९२८, ९२९, ९३०, ९३१, ९३२, ९३३, ९३४, ९३५, ९३६, ९३७, ९३८, ९३९, ९४०, ९४१, ९४२, ९४३, ९४४, ९४५, ९४६, ९४७, ९४८, ९४९, ९५०, ९५१, ९५२, ९५३, ९५४, ९५५, ९५६, ९५७, ९५८, ९५९, ९६०, ९६१, ९६२, ९६३, ९६४, ९६५, ९६६, ९६७, ९६८, ९६९, ९७०, ९७१, ९७२, ९७३, ९७४, ९७५, ९७६, ९७७, ९७८, ९७९, ९८०, ९८१, ९८२, ९८३, ९८४, ९८५, ९८६, ९८७, ९८८, ९८९, ९९०, ९९१, ९९२, ९९३, ९९४, ९९५, ९९६, ९९७, ९९८, ९९९, १०००, १००१, १००२, १००३, १००४, १००५, १००६, १००७, १००८, १००९, १०१०, १०११, १०१२, १०१३, १०१४, १०१५, १०१६, १०१७, १०१८, १०१९, १०२०, १०२१, १०२२, १०२३, १०२४, १०२५, १०२६, १०२७, १०२८, १०२९, १०३०, १०३१, १०३२, १०३३, १०३४, १०३५, १०३६, १०३७, १०३८, १०३९, १०४०, १०४१, १०४२, १०४३, १०४४, १०४५, १०४६, १०४७, १०४८, १०४९, १०५०, १०५१, १०५२, १०५३, १०५४, १०५५, १०५६, १०५७, १०५८, १०५९, १०६०, १०६१, १०६२, १०६३, १०६४, १०६५, १०६६, १०६७, १०६८, १०६९, १०७०, १०७१, १०७२, १०७३, १०७४, १०७५, १०७६, १०७७, १०७८, १०७९, १०८०, १०८१, १०८२, १०८३, १०८४, १०८५, १०८६, १०८७, १०८८, १०८९, १०९०, १०९१, १०९२, १०९३, १०९४, १०९५, १०९६, १०९७, १०९८, १०९९, ११००, ११०१, ११०२, ११०३, ११०४, ११०५, ११०६, ११०७, ११०८, ११०९, १११०, ११११, १११२, १११३, १११४, १११५, १११६, १११७, १११८, १११९, ११२०, ११२१, ११२२, ११२३, ११२४, ११२५, ११२६, ११२७, ११२८, ११२९, ११३०, ११३१, ११३२, ११३३, ११३४, ११३५, ११३६, ११३७, ११३८, ११३९, ११४०, ११४१, ११४२, ११४३, ११४४, ११४५, ११४६, ११४७, ११४८, ११४९, ११५०, ११५१, ११५२, ११५३, ११५४, ११५५, ११५६, ११५७, ११५८, ११५९, ११६०, ११६१, ११६२, ११६३, ११६४, ११६५, ११६६, ११६७, ११६८, ११६९, ११७०, ११७१, ११७२, ११७३, ११७४, ११७५, ११७६, ११७७, ११७८, ११७९, ११८०, ११८१, ११८२, ११८३, ११८४, ११८५, ११८६, ११८७, ११८८, ११८९, ११९०, ११९१, ११९२, ११९३, ११९४, ११९५, ११९६, ११९७, ११९८, ११९९, १२००, १२०१, १२०२, १२०३, १२०४, १२०५, १२०६, १२०७, १२०८, १२०९, १२१०, १२११, १२१२, १२१३, १२१४, १२१५, १२१६, १२१७, १२१८, १२१९, १२२०, १२२१, १२२२, १२२३, १२२४, १२२५, १२२६, १२२७, १२२८, १२२९, १२३०, १२३१, १२३२, १२३३, १२३४, १२३५, १२३६, १२३७, १२३८, १२३९, १२४०, १२४१, १२४२, १२४३, १२४४, १२४५, १२४६, १२४७, १२४८, १२४९, १२५०, १२५१, १२५२, १२५३, १२५४, १२५५, १२५६, १२५७, १२५८, १२५९, १२६०, १२६१, १२६२, १२६३, १२६४, १२६५, १२६६, १२६७, १२६८, १२६९, १२७०, १२७१, १२७२, १२७३, १२७४, १२७५, १२७६, १२७७, १२७८, १२७९,

पद्मरागाशुमिर्मिष्टैः^१ स्फटिकोपलरश्मिभिः । आरक्तश्वेतवमान्तं^२ किलासिनमिव^३ क्वचित् ॥२३॥

कचिद्विश्लिष्टं^४ शैलेयपटलैर्बहुदुर्गैः^५ । मृगेन्द्रनखरोहोत्सहैर्गण्डोपलैस्ततम् ॥२४॥

कचिद्गुहान्तराद् गुह्यमृगेन्द्रप्रतिनादिनोः । तटीर्दधानमुद्रद्वन्द्वैः परिहृतागजैः ॥२५॥

क्वचित् सितोपलोत्संगचारिणीरमराङ्गनाः^६ । बिभ्राणं शरदभ्रान्तवर्तिनीरिव विद्युतः ॥२६॥

समिप्यभूतया लल्लया पञ्जीसं भूस्तवां पन्निम् । स्वमित्रालङ्कारमालोक्य चक्रपाणिगान्मुदम् ॥२७॥

गिरेरवस्तले दूराद् वाहनादिपरिच्छिद्यम् । विहाय पादचारेण ययौ किल स धर्मधीः ॥२८॥

पद्भ्यामारोहतोऽस्याद्रिं नासीत् खेदो समागपि । हितार्थिनां हि खेदाय नात्मनीयः^७ क्रियाविधिः ॥२९॥

आरुरोह स तं शैलं सुरशिल्पिनिर्मितैः । विविक्तैर्मणिसोपाभैस्स्वर्गस्येवाधिरोहणैः ॥३०॥

अधित्यकासु^८ सोऽस्याग्रेः प्रस्थाप्य वनराजिषु । लम्पितोऽतिथिसत्कारमिव शीतैर्बनानिलैः ॥३१॥

कचिदुत्कुलमन्दारवणधीधौघिहारिणीः । बिभिक्तं^९ सुमनोभूषाः सोऽपश्यद्भनदेवताः ॥३२॥

कचिदनान्तसंसुप्तनिजशावानुशायिनीः । मृगीरपश्यदारुणं^{१०} नृदुरोमन्थमन्धराः ॥३३॥

कचिन्नि^{११} कुक्षसंसुप्तान् बृहत्तः शयु^{१२} पोतकाम् ।^{१३} दुरीतचिकराग्रेस्त्रिपादव्यत्स पुञ्जितान् ॥३४॥

कचिद् राजमन्त्रामोदवासितान् गण्डशैलकान् । ददर्श^{१४} हरिरारोषादुल्लिखत्तखराङ्गैः ॥३५॥

इसलिए जो ऐसा जान पड़ता है मानो उसे किलास (कुष्ठ) रोग ही हो गया हो । जिनपर कहीं-कहीं अनेक धातुओंके टुकड़े टूट-टूटकर पड़े हैं तथा जो सिंहोंके तलोंका आघात सहनेवाली हैं और इसलिए जो ऐसी जान पड़ती हैं मानो उनपर बहुत-सा दाद हो गया हो ऐसी अनेक चट्टानों-से जो व्याप्त हो रहा है । कहीं-कहींपर जिनमें गुफाओंके भीतर गरजते हुए सिंहोंकी प्रतिध्वनि व्याप्त हो रही है और इसीलिए जिन्हें मदोन्मत्त हाथियोंने छोड़ दिया है ऐसे अनेक किनारोंको जो धारण कर रहा है-और जो कहीं-कहींपर शरद्वृक्षोंके बादलोंके भीतर रहनेवाली बिज-लियोंके समान स्फटिक मणियोंकी शिलाओंपर चलनेवाली देवांगनाओंको धारण कर रहा है -इस प्रकार अद्भुत शोभासे सहित उस कैलास पर्वतको देखकर चक्रवर्ती भरत बहुत ही आनन्दको प्राप्त हुए । और उसका खास कारण यह था कि चक्रवर्तीके समान ही अलङ्घ्य था और भूभुत् अर्थात् पर्वतों (पक्षमें राजाओं) का अधिपति था ॥१५-२७॥ धर्मबुद्धिको धारण करनेवाले महाराज भरत पर्वतके नीचे दूरसे ही सवारी आदि परिकरको छोड़कर पैदल चलने लगे ॥२८॥ पर्वतपर पैदल चढ़ते हुए भरतको थोड़ा भी खेद नहीं हुआ था सो ठीक ही है क्योंकि कल्याण चाहनेवाले पुरुषोंको आत्माका हित करनेवाली क्रियाओंका करना खेद-के लिए नहीं होता है ॥२९॥ स्वर्गकी सीढ़ियोंके समान देवरूपी कारीगरोंके द्वारा बनायी हुई पवित्र मणिमयी सीढ़ियोंके द्वारा महाराज भरत उस कैलास पर्वतपर चढ़ रहे थे ॥३०॥ चढ़ते-चढ़ते वे उस पर्वतके ऊपरको भूमिपर जा पहुँचे और वहाँ उन्होंने वनकी पंक्तियोंमें वनकी शीतल वायुके द्वारा मानो अतिथिसत्कार ही प्राप्त किया था ॥३१॥ वहाँ उन्होंने कहीं तो फूले हुए मन्दार वनकी गलियोंमें घूमती हुई तथा फूलोंके पवित्र आभूषण धारण किये हुई वनदेवियोंको देखा ॥३२॥ कहीं वनके भीतर अपने बच्चोंके साथ लेटी हुई और धीरे-धीरे रोमन्थ करती हुई हरिणियोंको देखा ॥३३॥ कहीं संकुचित होकर सोते हुए और एक जगह इकट्ठे हुए अजगरके उन बड़े-बड़े बच्चोंको देखा जो कि उस पर्वतकी अंतड़ियोंके समूहके समान जान पड़ते थे ॥३४॥ और कहींपर हाथियोंके मदसे सुवासित बड़ी-बड़ी काली चट्टानोंको हाथी

१ मिलितैः । २ पाटलसाम्वन्तम् । 'इवेतरक्तस्तु पाटलः' इत्यभिधानात् । ३ सिष्मलम् । 'किलासी सिष्मल' इत्यभिधानात् । ४ विविलितकुसुमसमूहैः । ५ वदुरोगिसदृशैः । 'पद्गुणो वदुरोगी स्याद्' इत्यभिधानात् । ६ स्फटिकशिलामण्य । ७ आरमहितः । ८ ऊर्ध्वभूमिषु । ९ प्रापितः । १० विभिन्न । ११ उपक्रान्त । १२ निकृञ्ज ल०, द०, अ०, प०, इ०, स० । १३ अजगरशिणून् । १४ अम्रसमूहान् । १५ दृश्यते स्म ।

किञ्चिदन्तस्मात्पश्यन्नद्वेः परां श्रियम् । प्राप्तावसरमित्यूचे तच्चनं च पुरोधसा ॥३६॥
 पश्य देव गिरिरस्य प्रदेशान्बहुत्रिस्मयान् । रमन्ते त्रिदशा यत्र स्वर्गावासेऽन्यनादराः ॥३७॥
 पर्याप्तमन्तरेणास्य प्राप्तुं भवन्तिगणैः । तेषां सर्वेनल्लभ्यस्तेऽप्यचरगुरुः पुरः ॥३८॥
 महाद्रिस्थमुत्सेरसंगिनीः सरिदङ्गनाः । शश्वद् विभर्ति कार्माव गलङ्गीलजलांशुकाः ॥३९॥
 क्रीडाहेतोरहिंसोऽपि मृगेन्द्रो गिरिकन्दरात् । महाहिमयमाकर्षन्दैर्ध्यान्मुञ्चत्यपारयन् ॥४०॥
 सर्वद्वन्द्वसहान्सर्वान् अनन्तातापहारिणः । मुनीनिव वनाभोगानेष धत्तेऽधिमेष्वलम् ॥४१॥
 हरीश्वरनिर्मितमदद्विरवमस्तकान् । निर्हरेः पापभीत्येष तर्जयत्येष सारवैः ॥४२॥
 धत्ते सानुचरान् भवान् उच्चैर्वशान् स्ववग्रहान् । वनद्रिपानयं शैलो भवानिव महीभुजः ॥४३॥
 ध्वनतो घनसंघातान् शरमा रमसादमी । त्रिरदाशङ्कथोत्पथ्य पतन्तो यान्ति शोच्यतेऽम् ॥४४॥
 कपोलकाषसंहगणवचो मज्जलाविलाः । द्विपानां घनसंमोगं सूचयन्तीह शक्तिनः ॥४५॥

समझकर नखरूपी अंकुरोंसे विदारण करता हुआ सिंह देखा ॥३५॥ भरत महाराज कुछ दूर आगे चढ़कर जब पर्वतकी शोभा देखने लगे तब पुरोहितने अवसर पाकर नीचे लिखे अनुसार बचन कहे ॥३६॥ हे देव, इस पर्वतके अनेक आश्चर्योंसे भरे हुए उन प्रदेशोंको देखिए जिनपर कि देव लोग भी स्वर्गवासमें अनादर करते हुए क्रीड़ा कर रहे हैं ॥३७॥ समस्त लोकको उल्लंघन करनेवाली इस पर्वतकी महिमा इतनी ही बहुत है कि चर और अचर—सभीके गुरु भगवान् वृषभदेव इसपर विराजमान हैं ॥३८॥ यह महापर्वत अपनी गोदी अर्थात् नीचले मध्यभागमें रहनेवाली और जिनके नीचे जलरूपी वस्त्र छूट रहे हैं ऐसी नदीरूपी स्त्रियोंको कामी पुरुषकी तरह सदा धारण करता है ॥३९॥ यह सिंह अहिसक होनेपर भी केवल क्रीड़ाके लिए पर्वतकी गुफामेंसे एक बड़े भारी सर्पको खींच रहा है परन्तु लम्बा होनेसे खींचनेके लिए असमर्थ होता हुआ उसे छोड़ भी रहा है ॥४०॥ यह पर्वत अपने तटभागपर ऐसे अनेक वनके प्रदेशोंको धारण करता है जो कि ठीक मुनियोंके समान जान पड़ते हैं क्योंकि जिस प्रकार मुनि सब प्रकारके द्वन्द्व अर्थात् शीत उष्ण आदिकी बाधा सहन करते हैं उसी प्रकार वे वनके प्रदेश भी सब प्रकारके द्वन्द्व अर्थात् पशुपक्षियों आदिके युगल सहन करते हैं,—धारण करते हैं, जिस प्रकार मुनि सबका कल्याण करते हैं उसी प्रकार वनके प्रदेश भी सबका कल्याण करते हैं और जिस प्रकार मुनि जनसमूहके संताप अर्थात् मानसिक व्यथाको दूर करते हैं उसी प्रकार वनके प्रदेश भी संताप अर्थात् सूर्यके घामसे उत्पन्न हुई गरमीको दूर करते हैं ॥४१॥ यह पर्वत शब्द करते हुए झरनोंसे ऐसा जान पड़ता है मानो जिन्होंने अपने नखोंसे मदोन्मत्त हाथियोंके मस्तक विदारण किये हैं ऐसे सिंहोंको पापके डरसे तर्जना ही कर रहा हो—डाट ही दिखा रहा हो ॥४२॥ हे नाथ, जिस प्रकार आप सानुचर अर्थात् सेवकोंसहित, भद्र, उच्च कुलमें उत्पन्न हुए और उत्तम शरीरवाले अनेक राजाओंको धारण करते हैं—उन्हें अपने अधीन रखते हैं, उसी प्रकार यह पर्वत भी सानुचर अर्थात् शिखरोंपर चलनेवाले, पीठपरकी उच्च रीढ़से युक्त और उत्तम शरीरवाले भद्र जातिके जंगली हाथियोंको धारण करता है ॥४३॥ इधर ये अष्टापद, गरजते हुए मेघोंके समूहको हाथी समझकर उनपर उछलते हैं परन्तु फिर नीचे गिरकर शोचनीय दशाको प्राप्त हो रहे हैं ॥४४॥ कपोलोंके घिसनेसे जिनकी छाल घिस

१ अष्टानुकोऽपि । २ समर्थो भूत्वा । ३ प्राणियुगल, पक्षे दुःख । ४ सर्वहितान् । ५ गिरिः । ६ ध्वनिसहितः । ७ सानुपु चरन्तीति सानुचरास्तान्, पक्षे अनुचरैः सहितान् । ८ उन्नतपृष्ठास्थीन्, पक्षे इक्ष्वाक्यादिवंशान् । ९ स्वविग्रहान् ट० । शोभनललाटान् । 'अवग्रहो ललाटं स्याद्' इत्यभिधानात् । पक्षे—सुष्ठु स्वतन्त्रतानिवेधान् । 'अवग्रह इति क्वातो वृष्टिरोधे गजालिके । स्वतन्त्रतानिवेधेऽपि प्रतिबन्धेऽप्यवग्रहः' इत्यभिधानात् । १० भूतीन् । ११ मेघसमूहान् । १२ गण्डस्थलनिर्घर्षणसंभन् । १३ आर्द्राः । १४ गिरी ।

शाखासृगा^१ मृगेन्द्राणां गर्जितैरिह सर्जिताः । पुञ्जीभूता निकुञ्जेषु पश्य तिष्ठन्ति साध्वमात् ॥४६॥

मुनीन्द्रपाठनिर्घोषैरिनो रम्यमिदं वनम् । तृणाप्रकवलप्राप्तिकुरंगकुलसंकुलम् ॥४७॥

इतश्च हरिणाराति^२ कठोरारवभीषणम् । विमुक्तकवलच्छेदप्रपलायितकुञ्जरम् ॥४८॥

जरजरस्त^३ शृङ्गाप्रक्षतवल्मीकरोधमः^४ । इतो रम्या वनोद्देशा वराहोत्खातपल्वलाः^५ ॥४९॥

सृगैः प्रविष्टवैशान्तै^६ र्वंशस्तम्बोपगै^७ र्गजैः । सूच्यते हरिणाक्रान्तं वनमेतद् भयानकम् ॥५०॥

वनप्रवेशिभिर्मित्यं नित्यं स्थपिडलशायिभिः । न मुच्यतेऽयमत्रीन्द्रो सृगैर्मुनिगणैरपि ॥५१॥

इति प्रशान्तो रौद्रश्च सदैवायं धराधरः । सन्निधानाजिनेन्द्रस्य शान्त एवाधुना पुनः ॥५२॥

गजैः पश्य मृगेन्द्राणां संवासमिह^८ कानने । नखरक्षतमार्गेषु^९ स्वैरमारुपृशतामिसान् ॥५३॥

^{१०}चारणाभ्युषितानेतै^{११} गुहोत्संगानशक्किताः । विशस्यनुगताः शायैः पाकसरवैः^{१२} समं सृगाः^{१३} ॥५४॥

अहो परमसाश्चर्यं तिरश्चासपि यद्गणैः । अनुयातं^{१४} मुनीन्द्राणामज्ञातमयसंपदाम् ॥५५॥

सोऽयमष्टापदैर्जुष्टो^{१५} सृगैरन्वर्धनामभिः^{१६} । पुनरष्टापदख्यातिं पुरैति^{१७} त्वदुपक्रमम्^{१८} ॥५६॥

स्फुरन्मणितटोपागतं तारकाचक्रमापतम्^{१९} । न याति स्थितिमस्याद्वैतद्रोषिश्छन्नमण्डलम् ॥५७॥

गयी है और जो मदरूपी जलसे मलिन हो रहे हैं ऐसे इस वनके वृक्ष हाथियोंकी वनक्रीड़ाको साफ-साफ सूचित कर रहे हैं ॥४५॥ इधर देखिए, सिंहोंकी गर्जनासे डरे हुए ये बन्दर भयसे इकट्ठे होकर लतामण्डपोंमें बैठे हुए हैं ॥४६॥ यह वन इधर तो बड़े-बड़े मुनियोंके पाठ करने-के शब्दोंसे रमणीय हो रहा है और इधर तृणोंके अग्रभागका घास खानेवाले हरिणों-के समूहसे व्याप्त हो रहा है ॥४७॥ इधर सिंहोंके कठोर शब्दोंसे भयंकर हो रहा है और इधर खाना-पीना छोड़कर हाथियोंके समूह भाग रहे हैं ॥४८॥ इधर, जिनमें वृद्ध जंगली भैंसाओंने सोंगोंकी नोकसे बामियोंके किनारे खोद दिये हैं और सूअरोंने छोटे-छोटे तालाब खोद डाले हैं ऐसे ये सुन्दर-सुन्दर वनके प्रदेश हैं ॥४९॥ छोटे-छोटे तालाबोंमें घुसे हुए हरिणों और बांसकी झाड़ियोंके समीप छिपकर खड़े हुए हाथियोंसे साफ-साफ सूचित होता है कि इस भयंकर वनपर अभी-अभी सिंहने आक्रमण किया है ॥५०॥ सदा वनमें प्रवेश करनेवाले और सदा जमोनपर सोनेवाले हरिण और मुनियोंके समूह इस वनको कभी नहीं छोड़ते हैं ॥५१॥ इस प्रकार यह पर्वत सदा शान्त और भयंकर रहता है परन्तु इस समय श्री जिनेन्द्रदेवके सन्निधानसे शान्त ही है ॥५२॥ इधर, इस वनमें सिंहोंका हाथियोंके साथ सहवास देखिए, ये सिंह अपने नखोंसे किये हुए हाथियोंके घावोंका इच्छानुसार स्पर्श कर रहे हैं ॥५३॥ जिनके पीछे-पीछे बच्चे चल रहे हैं ऐसे हरिण, सिंह, व्याघ्र आदि दुष्ट जीवोंके साथ-साथ चारण-मुनियोंसे अधिष्ठित गुफाओंमें निर्भय होकर प्रवेश करते हैं ॥५४॥ अहा, बड़ा आश्चर्य है कि पशुओं-के समूह भी, जिन्हें वनके भय और शोभाका कुछ भी पता नहीं है ऐसे मुनियोंके पीछे-पीछे फिर रहे हैं ॥५५॥ सार्धक नामको धारण करनेवाले अष्टापद नामके जीवोंसे सेवित हुआ यह पर्वत आपके चढ़नेके बाद अष्टापद नामको प्राप्त होगा ॥५६॥ जिसपर अनेक मणि देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसे इस पर्वतके किनारेके समीप आता हुआ नक्षत्रोंका समूह उन मणियोंकी किरणोंसे अपना मण्डल तिरोहित हो जानेसे प्रकटताको प्राप्त नहीं हो रहा है । भावार्थ —

१ मर्कटाः । २ सिंह । ३ वृद्धमहिष । ४ बामलूरतटाः । 'बामलूरवज्र नाकुश्च तल्मीकं पुष्पपुंसकम्' इत्यभिधानात् । ५ अल्पसरोवराः । ६ पल्वलैः । 'वैशान्तं पल्वलं चास्पतर' इत्यभिधानात् । ७ वेणुपुञ्जसमीपगैः । ८ सहवासम् । ९ नखरक्षतमार्गपंक्तिषु । १० चारणमुनिमिराभितान् । ११ गुहामग्यान् । १२ सिंहगार्जुलादि-क्रूरमृगैः । १३ हरिणादयः । १४ अनुगतम् । १५ सेवितः । १६ सार्धभिधानैः । १७ भविष्यत्काले आगमिष्यति । १८ त्वया प्रथमोपक्रमं यथा भवति तथा । १९ आगच्छत् ।

ज्वलन्मयोषधिजालेऽपि निमि नान्धेति किन्नरः । तमोविशङ्कयाऽस्थान्नेस्त्रिनीलमयीस्तटीः ॥५८॥
हरिन्मणितटोत्सर्पन्मयूखानग्र भूधरे । नृणाङ्कुरधियोपेत्य सृगा यान्ति विलक्ष्यताम् ॥५९॥
सरोजरागैरखोऽशुच्छुरिता^१ वनराजयः । तताः संभ्यातपेनेव^२ पुष्पन्तीह परां श्रियम् ॥६०॥
सूर्याशुमिः परासृष्टाः सूर्यकाश्या उज्जलस्थमी । प्रायस्तेजस्विसंपर्कस्तेजः पुष्पाति तादृशम् ॥६१॥
इहेन्दुकरसंस्पर्शाव्यक्षरन्तोऽप्यनुक्षपम्^३ । चन्द्रकान्ता न हीयन्ते^४ विचित्रा पुद्गलस्थितिः ॥६२॥
सुराणामभिगम्यत्वात् सिंहासनपरिग्रहात्^५ । महत्त्वादचलत्वाच्च गिरिरेश जिनायते ॥६३॥
शुद्धस्फटिकसंकाशनिर्मलोदारविग्रहः । शुद्धात्मेव शिवायास्तु तवायमचलाधिपः ॥६४॥
इति शंसति^६ तस्याद्रेः परां शोभां पुरोधसि । शंसाद्भूत^७ इवानन्दं परं प्राप परंतपः^८ ॥६५॥
किंचिच्चान्तरमुल्लङ्घ्य प्रसक्तेनान्तसत्सना । प्रत्यासन्नजिनास्थानं विदामास विदांबरः ॥६६॥
निपतस्पुष्पवर्षेण दुन्दुभीनां च निःस्वनैः । विदांभूवे^९ लोकेशमभ्यासकृतसंनिधिम्^{१०} ॥६७॥

किनारेके समीप संचार करते हुए नक्षत्रोंके समूहपर मणियोंकी कान्ति पड़ रही है जिससे वे मणियोंके समान ही जान पड़ते हैं, पृथक् रूपसे दिखाई नहीं देते हैं ॥५७॥ यद्यपि यहाँ रात्रिके समय ओषधियोंका समूह प्रकाशमान रहता है तथापि किन्नर जातिके देव अन्धकारकी आशंकासे इन्द्रनील मणियोंके बने हुए इस पर्वतके किनारोंके सम्मुख नहीं जाते हैं ॥५८॥ इस पर्वतपर हरित मणियोंके बने हुए किनारोंकी फैलती हुई किरणोंको हरी घासके अंकुर समझकर हरिण आते हैं परन्तु घास न मिलनेसे बहुत ही आश्चर्य और लज्जाको प्राप्त होते हैं ॥५९॥ इधर पद्मराग मणियोंकी किरणों-सी व्याप्त हुई वनकी पंक्तिर्या ऐसी उत्कृष्ट शोभा धारण कर रही हैं मानो उनपर सन्ध्याकालकी लाल-लाल धूप ही फैल रही हो ॥६०॥ ये सूर्यकान्त मणि सूर्यकी किरणोंका स्पर्श पाकर जल रही हैं सो ठीक ही है क्योंकि प्रायः तेजस्वी पदार्थका सम्बन्ध तेजस्वी पदार्थके तेजको पुष्ट कर देता है ॥६१॥ इस पर्वतपर चन्द्रमाकी किरणोंका स्पर्श होनेपर चन्द्रकान्त मणियोंसे यद्यपि प्रत्येक रात्रिको पानी झरता है तथापि ये कुछ भी कम नहीं होते सो ठीक ही है क्योंकि पुद्गलका स्वभाव बड़ा ही विचित्र है ॥६२॥ अथवा यह पर्वत ठीक जिनेन्द्रदेवके समान जान पड़ता है क्योंकि जिस प्रकार जिनेन्द्रदेवके समीप देव आते हैं उसी प्रकार इस पर्वतपर भी देव आते हैं, जिस प्रकार जिनेन्द्रदेवने सिंहासन स्वीकार किया है उसी प्रकार इस पर्वतने भी सिंहासन अर्थात् सिंहके आसनोंको स्वीकार किया है — इसपर जहाँ-तहाँ सिंह बैठे हुए हैं अथवा सिंह और असन वृक्ष स्वीकार किये हैं, जिस प्रकार जिनेन्द्रदेव महान् अर्थात् उत्कृष्ट हैं उसी प्रकार यह पर्वत भी महान् अर्थात् ऊँचा है और जिनेन्द्रदेव जिस प्रकार अचल अर्थात् अपने स्वरूपमें स्थिर हैं उसी प्रकार यह पर्वत भी अचल अर्थात् स्थिर है ॥६३॥ हे देव, जिसका उदार शरीर शुद्ध स्फटिकके समान निर्मल है ऐसा यह पर्वतराज कैलास शुद्धात्माकी तरह आपका कल्याण करनेवाला हो ॥६४॥ इस प्रकार जब पुरोहितने उस पर्वतकी उत्कृष्ट शोभाका वर्णन किया तब शत्रुओंको सन्तुष्ट करनेवाले महाराज भरत इस प्रकार परम आनन्दको प्राप्त हुए मानो सुखरूप ही हो गये हों ॥६५॥ विद्वानोंमें श्रेष्ठ भरत चक्रवर्ती प्रसन्न चित्तसे कुछ ही आगे बढ़े थे कि उन्हें वहाँ समीप ही जिनेन्द्रदेवका समवसरण जान पड़ा ॥६६॥ ऊपरसे पड़ती हुई पुष्पवृष्टिसे और दुन्दुभि बाजोंके शब्दोंसे उन्होंने जान

१ विस्मयताम् । २ पद्मराग । ३ मिश्रिताः । ४ वर्द्धयन्ति । ५ रात्रौ रात्रौ । ६ न कृशा भवन्ति । ७ हरि-विष्टरस्वीकृतात्, पक्षे सिंहानामशनवृक्षाणां च स्वीकारात् । ८ स्तुति कुर्वति सति । ९ सुखायतः । १० परं शत्रुं तापयतीति परंतपश्चक्री । ११ जानाति स्म । १२ समीपविहितस्थितिम् ।

मन्दारकुसुमोद्गन्धिराग्नदोलितलतावनः । पवनस्तमसीयाय^१ प्रयुगल्लिख पावनः ॥६८॥
 सुमनोवृष्टिरापतदापरितनभोऽङ्गणा । विरजीकृतभूलोकैः समं शीतैरपा^२ कणैः ॥६९॥
^३शुश्रुषे ध्वनिरामन्दो दुन्दुभीनां नभोऽङ्गणे । श्रुतः केकिभिरुग्रैर्वैध्वनस्तनितशक्तिभिः ॥७०॥
 गुल्फदम्नं प्रसूनौघसंमर्दमुदुना पथा^४ । तमद्रिशेषमश्रान्तः^५ प्रययौ स नृपाग्रणीः ॥७१॥
 ततोऽधिहृद्य तं शैलमपश्यत् सोऽस्य^६ मूर्धनि । प्रागुक्तवर्णनोपेतं जैनमास्थानमण्डलम् ॥७२॥
 समेत्या^७ वसरावेक्षास्तिष्ठन्त्यस्मिन् सुरासुराः । इति तज्जैर्निरुक्तं तत्सरणं समवादिक्म^८ ॥७३॥
 आखण्डधनुर्लेखासखण्डपरिमण्डलाम् । जनयन्तं निजोद्योतैर्धूलीसालमथासदत्^९ ॥७४॥
 हेमस्तम्भाग्रविन्ध्यस्तरुतोरणमासुरम् । धूलीसालमतीत्यासौ मानस्तम्भमपूजयत् ॥७५॥
 मानस्तम्भस्य पर्यन्ते^{१०} सरसीः ससरोरुहाः । जैमीरिव श्रुतीः स्वच्छशीतलापो^{११} ददर्श सः ॥७६॥
 धूलीसालपरिक्षेपस्याश्रुतमग्रे समस्ततः । शीथ्यन्तरेषु सोऽपश्यद् देवावासोपिता भुवः^{१२} ॥७७॥
 अतीत्य परतः किञ्चिद् ददर्श जलखातिकाम् । सुप्रसन्नामगाथां च मनोवृत्तिं सतामिव ॥७८॥
 बह्नीवनं ततोऽवाक्षीज्जानायुष्मलताततम् । पुष्पासवरसामलभ्रमङ्गमरसंकुलम् ॥७९॥

लिया था कि त्रिलोकीनाथ जिनेन्द्रदेव समीप ही विराजमान हैं ॥६७॥ मन्दार वृक्षोंके फूलों-से सुगन्धित और लताओंके वनकी कम्पित करनेवाला वायु उनके सामने इस प्रकार आया था मानो उनकी अगवानी ही कर रहा हो ॥६८॥ जिन्होंने पृथ्वीको धूलिरहित कर दिया है ऐसी जलकी शीतल बूँदोंके साथ-साथ आकाशरूपी आँगनको भरती हुई फूलोंकी वर्षा पड़ रही थी ॥६९॥ जिन्हें मेघोंकी गर्जना समझनेवाले मयूर, अपनी गरदन ऊँची कर सुन रहे हैं ऐसे आकाशरूपी आँगनमें हीमवालें दुन्दुभी जाजोंके गम्भीर शब्द भी महाराज भरतने सुने थे ॥७०॥ राजाओंमें श्रेष्ठ महाराज भरत, पैरकी गाँठों तक ऊँचे फैले हुए फूलोंके सम्पर्कसे जो अत्यन्त कोमल हो गया है ऐसे मार्गके द्वारा बिना किसी परिश्रमके बाकी बचे हुए उस पर्वत-पर चढ़ गये थे ॥७१॥ तदनन्तर उस पर्वतपर चढ़कर भरतने उसके भस्तकपर पहले कही हुई रचनासे सहित जिनेन्द्रदेवका समवसरणमण्डल देखा ॥७२॥ इसमें समस्त सुर और अमुर आकर दिव्य ध्वनिके अवसरकी प्रतीक्षा करते हुए बैठते हैं इसलिए जानकार गणधरादि देवोंने इसका समवसरण ऐसा सार्थक नाम कहा है ॥७३॥

अथानन्तर—महाराज भरत, जो अपने प्रकाशसे अखण्ड मण्डलवाले इन्द्रधनुषकी रेखा-को प्रकट कर रहा है ऐसे धूलिसालके समीप जा पहुँचे ॥७४॥ सुवर्णके खम्भोंके अग्रभागपर लगे हुए रत्नोंके तोरणोंसे जो अत्यन्त देदीप्यमान हो रहा है ऐसे धूलिसालको उल्लंघन कर उन्होंने मानस्तम्भकी पूजा की ॥७५॥ जिनमें स्वच्छ और शीतल जल भरा हुआ है और कमल फूल रहे हैं ऐसी जिनेन्द्र भगवान्की वाणीके समान मानस्तम्भके चारों ओरकी बावड़ियाँ भी महाराज भरतने देखीं ॥७६॥ धूलिसालकी परिधि के भीतर चारों ओरसे गलियोंके बीच-बीचमें उन्होंने देवोंके निवास करने योग्य पृथ्वी भी देखी ॥७७॥ कुछ और आगे चलकर उन्होंने जलसे भरी हुई परिखा देखी । वह परिखा सज्जन पुरुषोंके चित्तकी वृत्तिके समान स्वच्छ और गम्भीर थी ॥७८॥ तदनन्तर जो अनेक प्रकारके फूलोंकी लताओंसे व्याप्त हो रहा है और जो फूलोंके आसवरूपी रससे मत्त होकर फिरते हुए भ्रमरोंसे व्याप्त है ऐसा लता-

१ अभिमुखं जगाम । २ जलाशयम् । ३ भरतेन श्रूयते स्म । ४ घुण्टिकप्रमाण । 'तद्वन्धी घुण्टिके गुल्फौ' इत्यभिधानात् । ५ मार्गेण । ६ भ्रमरहितः । ७ कैलासस्य । ८ समागत्य । ९ प्रभोरवसरमालोकयन्तः । १० समवसरणम् । ११ आगमत् । १२ पर्यन्तसरसी न० । १३ शीत्यजलाः, पक्षे शान्तिजलाः । १४ देव-प्रासादभूमीः ।

ततः किञ्चिदुपरो गच्छन् सात्यमाद्यं व्यलोकयत् । निषधाद्रितटस्पर्धिवपुषं रत्नमाजुषम् ॥८०॥
 सुरदौवारिकाद्वपुषस्तथोर्लाललाभितम् । सोऽपश्यन्मङ्गलद्रव्यमेवांस्तत्राष्टधा स्थितान् ॥८१॥
 ततोऽन्नतः अग्निशर्वाक्ष्यं हितयं नाख्यशालयोः । प्रीतिं प्राप परं चक्री शकर्त्तावर्तनोचितम् ॥८२॥
 स धूपघटयोर्युग्मं तत्र वीथ्युत्पन्नान्तयोः । सुगन्धान्धनसंदोहोद्गन्धिधूपं व्यलोकयत् ॥८३॥
 कक्षान्तरे द्वितीयोऽस्मिन्नर्था वनचतुष्टयम् । निदध्या^१ दिगक्षपुण्यैः कृतार्थमिव शालिमिः ॥८४॥
^२प्रफुल्लवनमाशोकं मातृपर्णं च चाम्पकम् । आम्नेडितं वनं^३ प्रेक्ष्य सोऽभूदात्रेडितोत्सवः^४ ॥८५॥
 तत्र चैत्यदुमांस्तुक्कान् जिज्ञप्सिस्त्रैरधिष्ठितान् । पूजयामास लक्ष्मीवान् पूजितासुरेशिनाम् ॥८६॥
 तत्र किन्नरनारीणां गनिरामन्दमूच्छनैः । लेभे परं एति चक्री गायन्तीनां जिनोत्सवम् ॥८७॥
 सुगन्धिपचनासोदनिःश्वसा कुसुमस्मिता । वनध्रीः कोकिलालापैः संजजल्येव^५ चक्रिणा ॥८८॥
 भृङ्गीसंगीतसंमूच्छनं^६ कोकिलानकनिस्स्रवणैः । अनङ्गविजयं जिष्णोर्वनानीषोदघोषयन् ॥८९॥
 त्रिजगज्जनताजस्रप्रवेशरमसोत्थितम् । तत्राष्टगोन्महाघोषमपां घोषमिवोदधेः ॥९०॥
 वनवेदीमथापश्यद् वनरुद्धावनेः परम् । वनराजविलासिन्धाः काञ्चीमिव कण्ठमणिम्^७ ॥९१॥
 तद्गोपुरावर्निं क्रान्त्वा ध्वजरुद्धावर्निं सुरार्त् । आमुह्य^८ पुमिवाऽपश्यन्मरुद्भूतैर्ध्वजांशुकैः ॥९२॥

वन देखा ॥७९॥ वहाँसे कुछ आगे जाकर उन्होंने पहला कोट देखा जो कि निषध पर्वतके किनारेके साथ स्पर्धा कर रहा था और रत्नोंकी दीप्तिसे सुशोभित था ॥८०॥ देवरूप द्वारपाल जिसकी रक्षा कर रहे हैं ऐसे गोपुरद्वारके समीप रखे हुए आठ मंगलद्रव्य भी उन्होंने देखे ॥८१॥ तदनन्तर भीतर प्रवेश करते हुए चक्रवर्ती भरत इन्द्राणीके नृत्य करनेके योग्य दोनों ओरकी दो माटणशालाओंको देखकर परम प्रीतिको प्राप्त हुए ॥८२॥ वहाँसे कुछ आगे चलकर मार्गके दोनों ओर बगलमें रखे हुए तथा सुगन्धित ईंधनके समूहके द्वारा जिनसे अत्यन्त सुगन्धित धूम निकल रहा है ऐसे दो धूपघट देखे ॥८३॥ इस दूसरी कक्षामें उन्होंने चार वन भी देखे जो कि सड़ते हुए फूलोंवाले वृक्षोंसे अर्घ्य देते हुएके समान जान पड़ते थे ॥८४॥ फूले हुए अशोक वृक्षोंका वन, सातपर्ण वृक्षोंका वन, चम्पक वृक्षोंका वन और आमोंका सुन्दर वन देखकर भरत महाराजका आनन्द भी दूना हो गया था ॥८५॥ श्रीमान् भरतने उन वनोंमें जिनप्रतिमाओंसे अधिष्ठित और इन्द्र नरेन्द्र आदिके द्वारा पूजित बहुत ऊँचे चैत्यवृक्षोंकी भी पूजा की ॥८६॥ उन्हीं वनोंमें किन्नर जातिकी देवियाँ भगवान्का उत्सव गा रही थीं, उनके गम्भीर तानवाले गीतोंसे चक्रवर्ती भरतने परम सन्तोष प्राप्त किया था ॥८७॥ सुगन्धित पवन ही जिसका सुगन्धिपूर्ण निःश्वास है और फूल ही जिसका मन्द हास्य है ऐसी वह वनकी लक्ष्मी कोयलोंके मधुर शब्दोंसे ऐसी जान पड़ती थी मानो चक्रवर्तीके साथ वार्तालाप ही कर रही हो ॥८८॥ भ्रमरियोंके संगीतसे मिले हुए कोकिलारूपी नगाड़ोंके शब्दोंसे वे वन ऐसे जान पड़ते थे मानो जिनेन्द्र भगवान्ने जो कामदेवको जीत लिया है उसीकी घोषणा कर रहे हों ॥८९॥ वहाँपर तीनों लोकोंके जनसमूहके निरन्तर प्रवेश करनेकी उतावलीसे जो समुद्रके जलकी गर्जनाके समान बड़ा भारी कोलाहल हो रहा था उसे भी भरत महाराजने सुना था ॥९०॥ तदनन्तर उन वनोंसे रुकी हुई पृथिवीके आगे उन्होंने वनपंक्तिरूपी विलासिनी स्त्रीकी मणिमयी मेखलाके समान मणियोंसे जड़ी हुई वनकी वेदी देखी ॥९१॥ वनवेदीके मुख्य द्वारकी भूमिको उल्लंघन कर चक्रवर्ती भरतने ध्वजाओंसे रुकी हुई पृथिवी देखी, वह पृथिवी उस समय ऐसी मालूम हो रही थी मानो वायुसे हिलते हुए ध्वजाओंके वस्त्रोंके द्वारा

१ ददर्श । २ प्रफुल्लवन— ल० । ३ आम्नेडितवनं ल० । आम्नमिति स्तुतम् । ४ त्रिजिगुणितोत्सवः । ५ जल्पति स्म । ६ संमिथीभवत् । ७ स्फुरद्गत्ताम् । ८ सुराद् ल०, द० । ९ आह्वातुमिच्छुम् ।

नमःस्फटिकनिर्माणं प्राकारवलयं ततः । ^१प्रयासत्तेजिनस्येव लब्धवुर्हि ददर्श सः ॥१०४॥
 तत्र कल्पोपमैर्देवैर्महाद्वारपालकैः । सादरं सोऽभ्यनुज्ञातः प्रविवेश समं विमोः ॥१०५॥
 समन्ताद्योजनायामविष्कम्भपरिमण्डलम् । श्रीमण्डपं जगद्विश्वमपश्यन्मान्तमात्मनि ॥१०६॥
 तत्रापश्यन्मुनीनिद्वयोधान्देवीश्च कल्पजाः । सार्विका नृपकान्ताश्च ज्योतिर्वन्धोरगामरीः ॥१०७॥
 भावनव्यन्तरज्योतिःकल्पेन्द्राण्यार्थिवान्मृगान् । भगवत्पादसंप्रेक्षाप्रीतिप्रोत्फुल्ललोचनान् ॥१०८॥
 गणामिति क्रमात् पश्यन्परीयाय परंतपः । त्रिमेखलस्य पीठस्य प्रथमां मेखलां श्रितः ॥१०९॥
 तत्रानर्चं मुदा चक्री धर्मचक्रचतुष्टयम् । यक्षेन्द्रैर्विधृतं मूर्ध्ना बभ्रुविज्जानुकारि यत् ॥११०॥
 द्वितीयमेखलायां च ^२प्राचंघटौ महाध्वजान् । चक्रेभोक्षाब्जपद्मास्यस्त्रवक्ष्यगहकाङ्कितान् ॥१११॥
 मेखलायां तृतीयस्यामथैक्षिष्ट जगद्गुरुम् । वृषसं स कृती यस्यां श्रीमद्वाम्बकुटीस्थिता ॥११२॥
 तद्गर्भे रत्नसंदर्भरुचिरे हरिविष्टरे । मेरुशृङ्ग इवोत्पुङ्गे मुनिविष्टं महातनुम् ॥११३॥
 छत्रत्रयकुलच्छायमप्यच्छायमचच्छिदम् । स्वतेजोमण्डलाक्रान्तनृसुरासुरमण्डलम् ^३ ॥११४॥
 अशोकशाखिविद्धेन व्यञ्जयन्तमिवाभसा । स्वपादाश्रयिणां शोकनिशासे ^४शक्तिमात्मनः ॥११५॥
 चलत्प्रकीर्णकाकीर्णपर्यन्तं क्षाप्तलिभं हम् । ^५अपूजयत् । ^६अपूजयत् । ^७अपूजयत् ॥११६॥

किया ॥१०३॥ आगे चलकर उन्होंने आकाशस्फटिकका बना हुआ तीसरा कोट देखा । वह कोट ऐसा जान पड़ता था मानो जिनेन्द्रदेवकी समीपताके कारण उसे शुद्धि ही प्राप्त हो गयी हो ॥१०४॥ वहाँ महाद्वारपालके रूपमें खड़े हुए कल्पवासी देवोंसे आदरसहित आज्ञा लेकर भरत महाराजने भगवान्की सभामें प्रवेश किया ॥१०५॥ वहाँ उन्होंने चारों ओरसे एक योजन लम्बा, चौड़ा, गोल और अपने भीतर समस्त जगत्को स्थान देनेवाला श्रीमण्डप देखा ॥१०६॥ उसी श्रीमण्डपके मध्यमें उन्होंने जिनेन्द्र भगवान्के चरणोंके दर्शन करनेसे उत्पन्न हुई प्रीतिसे जिनके नेत्र प्रफुल्लित हो रहे हैं ऐसे क्रमसे बैठे हुए उज्ज्वल ज्ञानके धारी मुनि, कल्पवासिनी देवियाँ, आर्यिकाओंसे सहित रानी आदि स्त्रियाँ, ज्योतिषी, व्यन्तर और भवनवासी देवोंकी देवियाँ, भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी देव, राजा आदि मनुष्य और मृग आदि पशु ऐसे बारह संघ देखे तथा इन्हींको देखते हुए महाराज भरतने तीन कठनीदार पीठकी प्रथम कठनीका आश्रय लेकर उसकी प्रदक्षिणा दी ॥१०७-१०९॥ उस प्रथम कठनीपर चक्रवर्तीने, जिन्हें यक्षोंके इन्द्रोंने अपने भस्तकपर धारण कर रखा है और जो सूर्यके विम्बका अनुकरण कर रहे हैं ऐसे चारों दिशाओंके चार धर्मचक्रोंकी प्रसन्नताके साथ पूजा की ॥११०॥ दूसरी कठनीपर उन्होंने चक्र, हाथी, बैल, कमल, सिंह, माला, वस्त्र और गरुड़के चिह्नोंसे चिह्नित आठ महाध्वजाओंकी पूजा की ॥१११॥ तदनन्तर विद्वान् चक्रवर्तीने, जिसपर शोभायुक्त गन्धकुटी स्थित थी ऐसी तीसरी कठनीपर जगद्गुरु भगवान् वृषभदेवको देखा ॥११२॥ उस गन्धकुटीके भीतर जो रत्नोंकी बनावटसे बहुत ही सुन्दर और मेरु पर्वतके शिखरके समान ऊँचे सिंहासनपर बैठे हुए थे, जिनका शरीर बड़ा - जिनपर तीन छत्र छाया कर रहे थे परन्तु जो स्वयं छाया रहित थे, पापोंको नष्ट करनेवाले थे, जिन्होंने अपने प्रभामण्डलसे मनुष्य, देव और धरणेन्द्र सभीके समूहको व्याप्त कर लिया था-जो अशोक वृक्षके चिह्नसे ऐसे जान पड़ते थे मानो अपने चरणोंका आश्रय लेनेवाले जीवोंका शोक दूर करनेके लिए अपनी शक्ति ही प्रकट कर रहे हों-जिनके समीपका भाग चारों ओरसे ढुलसे हुए चामरोंसे व्याप्त हो रहा था, जो सुन्दर शरीरके धारक थे और इसीलिए जो उस सुमेरु

पार्श्वोक्तं - आकाशं चोत्पत्तिमण्डलस्य चोत्पत्तिः

तेजसां चक्रवालेन स्फुरता परितो वृतम् । परिवेषवृत्तस्यार्कमण्डलस्यानुकारकम् ॥११७॥

वियद्दुन्दुभिर्मिमंश्रघोषैरुद्धोषितोदयम् । सुमनोयर्षिभिर्दिग्विजयी मूर्तैरुज्जितश्रियम् ॥११८॥

स्फुरद्गम्भीरनिर्घोषप्रीणितत्रिजगत्समम् । प्रावृषेण्यं पयोवाहमिव धर्माश्रुवर्षिणम् ॥११९॥

नानामाधारिकां दिव्यभाषामेकात्मिकामपि । प्रथयन्तमयलेन हृद्ध्वान्तं नुदतीं नृणाम् ॥१२०॥

अमेयवीर्यमाहार्यविरहेऽप्यतिसुन्दरम् । सुवाग्विभवमुत्सर्गस्त्रैरमं शुभलक्षणम् ॥१२१॥

अस्त्रेदमलमश्यायमपक्षमस्पन्दवधुरम् । सुसंस्थानमभेद्यं च दधानं वपुरुर्जितम् ॥१२२॥

रस्यप्रतर्क्यमाहात्म्यं दूरादालोकयन् जितम् । प्रह्वोऽभूत्स महीस्पृष्टं जानुराश्रयनिर्भरः ॥१२३॥

दूरानतचरुर्मौलिरालोलमणिकुण्डलः । स रेजे प्रणमन् भक्त्या जितं रक्षैरिवार्घयन् ॥१२४॥

ततो विधिवद्दानं जलगांश्चरगक्षतैः । चरुप्रदीपधूपैश्च सफलैः स फलेपसया ॥१२५॥

कृतपूजाविधिर्भूयः प्रणम्य परमेश्वरम् । स्तोतुं स्तुतिमिरत्युच्चैरारभे भरताधिपः ॥१२६॥

त्वां स्तोष्ये परमात्मानमपारगुणमच्युतम् । चोदितोऽहं बलान् भक्त्या शक्त्या मन्दोऽप्यमन्दया ॥१२७॥

पर्वतके समान जान पड़ते थे जो कि शिखरोके समीप भागसे पड़ते हुए क्षरणोंसे व्याप्त हो रहा है—जो चारों ओरसे फैलते हुए कान्तिमण्डलसे व्याप्त हो रहे थे और उससे ऐसे जान पड़ते थे मानो गोल परिधिसे घिरे हुए सूर्यमण्डलका अनुकरण ही कर रहे हों—गम्भीर शब्द करने-वाले आकाशदुन्दुभियोंके द्वारा जिनका माहात्म्य प्रकट हो रहा था तथा फूलोंकी वर्षा करने-वाले दिव्य मेघोंके द्वारा जिनकी शोभा बढ़ रही थी—जिन्होंने चारों ओर फैलती हुई अपनी गम्भीर गर्जनासे तीनों लोकोंके जीवोंकी सभाको सन्तुष्ट कर दिया था और इसीलिए जो धर्मरूपी जलकी वर्षा करते हुए वर्षाक्रतुके मेघके समान जान पड़ते थे, जो उत्पत्तिस्थानकी अपेक्षा एक रूप होकर भी अतिशयवश श्रोताओंके कर्णकुहरके समीप अनेक भाषाओंरूप परिणमत करनेवाली और जीवोंके हृदयका अन्धकार दूर करनेवाली दिव्य ध्वनिको बिना किसी प्रयत्न-के प्रसारित कर रहे थे—जो अनन्त वीर्यको धारण कर रहे थे, आभूषणरहित होनेपर भी अति-शय सुन्दर थे, वाणीरूपी उत्तम विभूतिके धारक थे, जिनके शरीरसे सुगन्धि निकल रही थी, जो शुभ लक्षणोंसे सहित थे, पसीना और मलसे रहित थे, जिनके शरीरकी छाया नहीं पड़ती थी, जो आँखोंके पलक न लगनेसे अतिशय सुन्दर थे, समचतुरस्र संस्थानके धारक थे, और जो छेदन-भेदनरहित अतिशय बलवान् शरीरको धारण कर रहे थे—ऐसे अचिन्त्य माहात्म्यके धारक श्री जिनेन्द्र भगवान्को दूरसे ही देखते हुए भरत महाराज आनन्दसे भर गये तथा उन्होंने अपने दोनों घुटने जमीनपर टेककर श्री भगवान्को नमस्कार किया ॥११३-१२३॥ दूर-से ही नम्र होनेके कारण जिनका मुकुट कुछ-कुछ हिल रहा है और मणिमय कुण्डल चंचल हो रहे हैं ऐसे भक्तिपूर्वक जिनेन्द्रदेवको प्रणाम करते हुए चक्रवर्ती भरत ऐसे जान पड़ते थे मानो उन्हें रत्नोंके द्वारा अर्घ्य ही दे रहा हो ॥१२४॥ तदनन्तर उन्होंने मोक्षरूपी फल प्राप्त करनेकी इच्छासे त्रिधिपूर्वक जल, चन्दन, पुष्पमाला, अक्षत, नैवेद्य, दीप, धूप और फलोंके द्वारा भगवान्की पूजा की ॥१२५॥ पूजाकी विधि समाप्त कर चुकनेके बाद भरतेश्वरने परमेश्वी वृषभदेवको प्रणाम किया और फिर अच्छे-अच्छे स्तोत्रोंके द्वारा उनकी स्तुति करना प्रारम्भ किया ॥१२६॥ हे भगवन्, आप परमात्मा हैं, अपार गुणोंके धारक हैं, अविनश्वर हैं और मैं शक्तिसे हीन हूँ तथापि बड़ी भारी भक्तिसे जबरदस्ती प्रेरित होकर आपकी स्तुति करता

१ विष्वग् इ० । २ आकाशे ध्वनदुन्दुभिः । ३ सुरमैवैः । ४ प्रावृषि भवम् । ५ आभरणाद् विरहितेऽपि ।

६ समचतुरस्र । ७ महीपृष्ठ ल० ।

क ते गुणा गणेन्द्राणामप्यगण्या^१ क सादृशः । तथापि प्रयते^२ स्तोत्रं भक्त्या त्वद्गुणनिष्ठया^३ ॥१२८॥
 फलाय त्वद्गता भक्तिरनुरूपाय प्रकल्पते । स्वामिसंपत्प्रपुष्णाति ननु संपत्परम्पराम् ॥१२९॥
 घातिकर्ममलापायात् प्राबुरासन् गुणास्तव । घनावरणनिर्मुक्तमूर्तेर्भाजोर्थयाऽश्वः ॥१३०॥
 यथार्थदर्शनज्ञानसुखवीर्यादिलब्धयः । क्षायिक्यस्तव निर्जाता^४ घातिकर्मयिनिर्जयात् ॥१३१॥
 केवलज्ञानं परं ज्योतिस्तिव द्रव्योदयोगात् । तदा लोकमलोकं च स्वमनुहा विनावधेः ॥१३२॥
 सार्वज्ञं तव वक्ताश वचः शुद्धिरशेषगा^५ । न हि चाग्निरभवो मन्दधियामस्तीह पुष्कलः ॥१३३॥
 वक्तृप्रामाण्यतो देव वचःप्रामाण्यमिष्यते । न ह्यशुद्धतराद् वक्तुः प्रभवन्त्युज्ज्वला गिरः ॥१३४॥
 सप्तभङ्गाभिमिकेयं ते भारती विश्वगोचरा । आसप्रतीति^६ ममलां त्वय्युक्तावयितुं क्षमा ॥१३५॥
 स्यादस्त्येव हि नास्त्येव स्यादवक्तव्यमिष्यति । स्यादस्ति नास्त्यवक्तव्यमिति^७ ते सार्व^८ भारती ॥१३६॥

हैं ॥१२७॥ हे देव, जो गणधर देवोंके द्वारा भी गम्य नहीं हैं ऐसे कहाँ तो आपके अनन्त गुण और कहाँ मुझ सरीखा मन्द पुंस्व ? तथापि आपके गुणोंके अधीन रहनेवाली भवितसे प्रेरित होकर आपकी स्तुति करनेका प्रयत्न करता हूँ ॥१२८॥ हे भगवन्, आपके विषय-में की हुई थोड़ी भक्ति भी बहुत भारी फल देनेके लिए समर्थ रहती है सो ठीक ही है क्योंकि स्वामीकी सम्पत्ति सेवक जनोंकी सम्पत्तिकी परम्पराको पुष्ट करती ही है ॥१२९॥ हे नाथ, जिस प्रकार मेघोंके आवरणसे छूटे हुए सूर्यकी अनेक किरणें प्रकट हो जाती हैं उसी प्रकार घातिया कर्मरूपा मलके दूर हो जानेसे आपके अनेक गुण प्रकट हुए हैं ॥१३०॥ हे प्रभो, घातिया कर्मोंको जीत लेनेसे आपके यथार्थ दर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्य आदि क्षायिक लब्धियाँ प्रकट हुई हैं ॥१३१॥ हे देव, जिस समय आपके केवलज्ञान नामकी उत्कृष्ट ज्योति प्रकट हुई थी उसी समय आपने मर्यादाके बिना ही समस्त लोक और अलोकको जान लिया था ॥१३२॥ हे ईश, सब जगह जानेवाली अर्थात् संसारके सब पदार्थोंका निरूपण करनेवाली आपके वचनोंकी शुद्धि आपके सर्वज्ञपनेको प्रकट करती है सो ठीक ही है क्योंकि इस जगत्में मन्द बुद्धि-वाले जीवोंके इतना अधिक वचनोंका वैभव कभी नहीं हो सकता है ॥१३३॥ हे देव, वक्ता-की प्रमाणतासे ही वचनोंकी प्रमाणता मानी जाती है क्योंकि अत्यन्त अशुद्ध वक्तासे उज्ज्वल वाणी कभी उत्पन्न नहीं हो सकती है ॥१३४॥ हे नाथ, समस्त पदार्थोंको विषय करनेवाली आपकी यह सप्तभंगरूप वाणी ही आपमें आप्तपनेकी निर्मल प्रतीति उत्पन्न करानेके लिए समर्थ है ॥१३५॥ हे सबका हित करनेवाले, आपकी सातभंगरूप वाणी इस प्रकार है कि जीवादि पदार्थ कथंचित् हैं ही, कथंचित् नहीं ही हैं, कथंचित् दोनों प्रकार ही हैं, कथंचित् अवक्तव्य ही हैं, कथंचित् अस्तित्व रूप होकर अवक्तव्य हैं, कथंचित् नास्तित्व रूप होकर अवक्तव्य हैं और कथंचित् अस्तित्व तथा नास्तित्व-दोनों रूप होकर अवक्तव्य हैं । विशेषार्थ—जैनधर्ममें प्रत्येक वस्तुमें एक-एक धर्मके प्रतिपक्षी धर्मकी अपेक्षासे सात-सात भंग माने गये हैं, जो कि इस प्रकार हैं—१ स्यादस्त्येव, २ स्यान्नास्त्येव, ३ स्यादस्ति च नास्त्येव, ४ स्यादवक्तव्यमेव, ५ स्यादस्ति चावक्तव्यं च, ६ स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च और ७ स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यं च । इनका स्पष्ट अर्थ यह है कि संसारका

१—अप्यगण्या ल० । २ प्रयत्ने करिष्ये । ३ त्वद्गुणाधीनतया । ४ नितरां जाता । ५ उदेति स्व । ६ सर्वज्ञ-ताम् । ७ सर्वज्ञा । ८ सम्पूर्णः । ९ आप्तस्य निश्चितम् । १० स्यादस्त्येवेत्यादिना सप्तभंगी योजनीया, कथ-मिति चेत्; (१) स्यादस्त्येव, (२) स्यान्नास्त्येव, (३) द्वयमपि मिलित्वा स्यादस्तिनास्त्येव, (४) स्यादवक्तव्यमेव, (५) स्यादवक्तव्यपदेन सह स्यादस्ति नास्तीति द्वयं योजनीयम्, कथम् ? स्यादस्त्यवक्तव्यम्, (६) स्यान्नास्त्य-वक्तव्यमिति, (७) स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यमिति । ११ सर्वहित ।

विहङ्गाद्यङ्गाजालहृद्व्यामुग्धबुद्धिषु । अश्वद्वेगमनासेषु सार्वज्ञ्यं स्वयि तिष्ठते ॥ १३७ ॥

रविः पयोधरोत्संगसुप्तस्मिर्विकासिभिः । सूच्यतेऽवजैर्यथा तद्वदुजैर्विषमवैर्महान् ॥ १३८ ॥

प्रत्येक पदार्थ स्वचतुष्टय (द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव) की अपेक्षा अस्तित्व रूप ही है, परचतुष्टयकी अपेक्षा नास्तित्व रूप ही है और एक साथ दोनों धर्म नहीं कहे जा सकनेके कारण अवक्तव्य रूप भी है, इस प्रकार प्रत्येक पदार्थमें मुख्यतासे अस्तित्व, नास्तित्व और अवक्तव्य ये तीन धर्म पाये जाते हैं । इन्हीं मुख्य धर्मोंके संयोगसे सात-सात धर्म हो जाते हैं । जैसे 'जीवोऽस्ति' जीव है । यहाँपर जीव और अस्तित्व क्रियामें विशेष्य विशेषण सम्बन्ध है । विशेषण विशेष्यमें ही रहता है इसलिए जीवका अस्तित्व जीवमें ही है दूसरी जगह नहीं है, इसी प्रकार 'जीवो नास्ति'-जीव नहीं है यहाँपर भी जीव और नास्तित्वमें विशेष्य-विशेषण सम्बन्ध है इसलिए ऊपर कहे हुए नियमसे नास्तित्व जीवमें ही है दूसरी जगह नहीं है । जीवके इन अस्तित्व और नास्तित्व रूप धर्मोंको एक साथ कह नहीं सकते इसलिए उसमें एक अवक्तव्य नामका धर्म भी है । इन तीनों धर्मोंमें-से जब जीवके केवल अस्तित्व धर्मकी विवक्षा करते हैं तब 'स्याद् अस्त्येव जीवः' ऐसा पहला भंग होता है, जब नास्तित्व धर्मकी विवक्षा करते हैं तब 'नास्त्येव जीवः' ऐसा दूसरा भंग होता है, जब दोनोंकी क्रम-क्रमसे विवक्षा करते हैं तब 'स्यादस्ति च नास्त्येव जीवः' इस प्रकार तीसरा भंग होता है, जब दोनोंकी अक्रम अर्थात् एक साथ विवक्षा करते हैं तब दो विरुद्ध धर्म एक कालमें नहीं कहे जा सकनेके कारण 'स्यादवक्तव्यमेव' ऐसा चौथा भंग होता है, जब अस्तित्व और अवक्तव्य इन दो धर्मोंकी विवक्षा करते हैं तब 'स्यादस्ति चावक्तव्यं च' ऐसा पाँचवाँ भंग होता है, जब नास्तित्व और अवक्तव्य इन दो धर्मोंकी विवक्षा करते हैं तब 'स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च' ऐसा छठा भंग हो जाता है और जब अस्तित्व, नास्तित्व तथा अवक्तव्य इन धर्मोंकी विवक्षा करते हैं तब 'स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यं च' ऐसा सातवाँ भंग हो जाता है । संयोगकी अपेक्षा प्रत्येक पदार्थमें प्रत्येक धर्म सात-सात भंगके रूप रहता है इसलिए उन्हें कहनेके लिए जिनेन्द्र भगवान्ने सप्त-भंगी (सात भंगोंके समूह) रूप वाणी-के द्वारा उपदेश दिया है । जिस समय जीवके अस्तित्व धर्मका निरूपण किया जा रहा है उस समय उसके अवशिष्ट धर्मोंका अभाव न समझ लिया जाये इसलिए उसके साथ विवक्षा-सूचक स्याद् शब्दका भी प्रयोग किया जाता है तथा सन्देह दूर करनेके लिए नियमवाचक एव सा च आदि निपातोंका भी प्रयोग किया जाता है जिससे सब मिलाकर 'स्यादस्त्येव जीवः' इस वाक्यका अर्थ होता है कि जीव किसी अपेक्षासे है ही । इसी प्रकार अन्य वाक्योंका अर्थ भी समझ लेना चाहिए । जैनधर्म अपनी व्यापक दृष्टिसे पदार्थके भीतर रहनेवाले उसके समस्त धर्मोंका विवक्षानुसार कथन करता है इसलिए वह स्याद्वादरूप कहलाता है । वास्तवमें इस सर्वमुखी दृष्टिके बिना वस्तुका पूर्ण स्वरूप कहा भी तो नहीं जा सकता ॥ १३६ ॥ हे देव, जिनकी बुद्धि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे विरुद्ध तथा सम्बन्धरहित वचनोंके जालमें फँसकर व्यामुग्ध हो गयी है ऐसे कुदेवोंमें श्रद्धान नहीं करने योग्य सर्वज्ञता आपमें विराजमान है । भावार्थ - सर्वज्ञ वही हो सकता है जिसके वचनोंमें कहीं भी विरोध नहीं आता है । संसारके अन्य देवो-देवताओं-के वचनोंमें पूर्वापर विरोध पाया जाता है और इसीसे उनको भ्रान्त बुद्धिका पता चल जाता है इन सब कारणोंको देखते हुए 'वे सर्वज्ञ थे' ऐसा विश्वास नहीं होता परन्तु आपके वचनों अर्थात् उपदेशोंमें कहीं भी विरोध नहीं आता तथा आपने वस्तुके समस्त धर्मोंका वर्णन किया है इससे आपकी बुद्धि-ज्ञान-निर्भ्रान्त है और इसीलिए आप सर्वज्ञ हैं ॥ १३७ ॥ जिस प्रकार मेघोंके

यथाश्रममसे दूरास्तक्यं ते विलसैः शिखी^१ । तथा त्वमपि सुव्यक्तैः सूक्तैरासोक्तिमहसि^२ ॥१३९॥
 आस्तामाभ्यान्मिकीर्यं ते ज्ञानसंपन्नमहोदया । वहिर्विभूतिरेवैषा शास्ति नः शास्तृता^३ त्वयि ॥१४०॥
 पशध्वंमासनं सैहं कल्पितं सुरशिखिभिः । रत्नरुक्छुरितं^४ भाति तावकं^५ मेरुशृङ्गवत् ॥१४१॥
 सुरैरुत्प्लुतमेतत्ते छत्राणां त्रयमूर्जितम् । त्रिजगाग्रामधे^६ चिह्नं न प्रतीमः कथं^७ वयम् ॥१४२॥
 चामराणि तवामूनि वीज्यमानानि चामरैः । शंसन्त्यनन्यसामान्यमैश्वर्यं भुवनातिगम् ॥१४३॥
 परितस्त्वत्सभां देव वर्षन्त्येते सुराम्बुदाः । सुमनोवर्षमुत्पुगन्धि न्याहूतमधुपयजम् ॥१४४॥
 सुरदुन्दुमयो मन्दं ध्वनन्त्येते^८ भभोऽङ्गणे । सुरकिंकरहस्ताग्रताञ्जितास्वजयोत्सवे ॥१४५॥
 सुरैरासेवितोपाग्लो जगताशोकतापनुस्^९ । प्रायस्त्वामममन्वेति^{१०} तवाशोकमहीरुहः ॥१४६॥
 स्वदेहदीप्तयो दीप्ताः प्रसरन्त्यभितः सभाम् । द्युतबालासपञ्चद्वयास्तन्वाना नयनोत्सवम् ॥१४७॥

बीचमें जिसकी समस्त किरणें छिप गयी हैं ऐसा सूर्य यद्यपि दिखाई नहीं देता तथापि फूले हुए कमलोंसे उसका अस्तित्व सूचित हो जाता है उसी प्रकार आपका प्रत्यक्ष रूप भी दिखाई नहीं देता तथापि आपके श्रेष्ठ वचनोंके वैभवके द्वारा आपके प्रत्यक्ष रूपका अस्तित्व सूचित हो रहा है । भावार्थ — आपके महान् उपदेश ही आपको सर्वज्ञ सिद्ध कर रहे हैं ॥१३८॥ अथवा जिस प्रकार सधन अन्धकारमें यद्यपि मयूर दिखाई नहीं देता तथापि अपने शब्दोंके द्वारा दूर-से ही पहचान लिया जाता है उसी प्रकार आपका आप्तपना यद्यपि प्रकट नहीं दिखाई देता तथापि आप अपने स्पष्ट और सत्यार्थ वचनोंसे आप्त कहलानेके योग्य हैं ॥१३९॥ अथवा हे देव, जिसका बड़ा भारी अभ्युदय है ऐसी यह आपकी अध्यात्मसम्बन्धी ज्ञानरूपी सम्पत्ति दूर रहे, आपकी यह बाह्य विभूति ही हम लोगोंको आपके हितोपदेशीपनका उपदेश दे रही है । भावार्थ — आपकी बाह्य विभूति ही हमें बतला रही है कि आप मोक्षमार्गरूप हितका उपदेश देनेवाले सच्चे वक्ता और आप्त हैं ॥१४०॥ हे भगवन्, देवरूप कारीगरोंके द्वारा बनाया हुआ और रत्नोंकी किरणोंसे मिला हुआ आपका यह श्रेष्ठ सिंहासन मेरु पर्वतके शिखर-के समान सुशोभित हो रहा है ॥१४१॥ देवोंके द्वारा ऊपरकी ओर धारण किया हुआ यह आपका प्रकाशमान छत्रत्रय आपकी तीनों लोकोंकी प्रभुताका चिह्न है ऐसा हम क्यों न विश्वास करें ? भावार्थ — आपके मस्तकके ऊपर आकाशमें जो देवोंने तीन छत्र लगा रखे हैं वे ऐसे मालूम होते हैं मानो आप तीनों लोकोंके स्वामी हैं यही सूचित कर रहे हों ॥१४२॥ देवोंके द्वारा बुलाये हुए ये चमर तीनों जगत्को उल्लंघन करनेवाले आपके असाधारण ऐश्वर्यको सूचित कर रहे हैं ॥१४३॥ हे देव, ये देवरूपी मेघ आपकी सभाके चारों ओर अत्यन्त सुगन्धित तथा भ्रमरोंके समूहको बुलानेवाली फूलोंकी वर्षा कर रहे हैं ॥१४४॥ हे प्रभो, आपके विज-योत्सवमें देवरूप किंकरोंके हाथोंके अग्र भागसे ताड़ित हुए ये देवोंके दुन्दुभि बाजे आकाश रूप आँगनमें गम्भीर शब्द कर रहे हैं ॥१४५॥ जिसका समीप भाग देवोंके द्वारा सेवित है अर्थात् जिसके समीप देव लोग बैठे हुए हैं और जो जनसमूहके शोक तथा सन्तापको दूर करने-वाला है ऐसा यह अशोकवृक्ष प्रायः आपका ही अनुकरण कर रहा है क्योंकि आपका समीप भाग भी देवोंके द्वारा सेवित है और आप भी जनसमूहके शोक और सन्तापको दूर करनेवाले हैं ॥१४६॥ जिसने प्रातःकालके सूर्यकी कान्ति धारण की है और जो नेत्रोंका उत्सव बढ़ा रही है ऐसी यह आपके शरीरकी देदीप्यमान कान्ति सभाके चारों ओर फैल रही है । भावार्थ —

१ बहि । २ श्रुतेर्योग्यो भवसि । ३ शिक्षकत्वम् । ४ रत्नकान्तिमिश्रितम् । ५ त्वत्संबन्धि । ६ देवैरुत्प्लुतम् । ७ त्रैलोक्यप्रभुत्वे । ८ कथं न विश्वासं कुर्मः । ९ तदन्त्येते ल० । १० संतापहारि । ११ अनुकरोति ।

दिव्यभाषा तवातेवभाषा भेदानुकारिणी । निरुपनि मनोऽन्तमवाचासपि^१ देहिनाम् ॥१४८॥
 प्रतिहार्यमयो भूतिरियमष्टतयी प्रभो । महिमानं तवाचष्टे चिरष्टं विष्टपानिगम् ॥१४९॥
 त्रिमेखलस्य पीठस्य मेरोरिव गरीयसः । चूलिकेव विमात्युच्चैः सेव्या गन्धकुटी तव ॥१५०॥
 चन्द्रारुणां सुनान्द्राणां स्तोत्रप्रतिरवैर्मुहुः । स्तोतुकामेष भक्त्या त्वां सैषा भाम्यतिसंमदान् ॥१५१॥
 परार्थरत्ननिर्माणांमेनामत्यन्तमास्वराम् । त्वमिध्यासीनिमानसो नोकेनाजी मन्त्रदेवता ॥१५२॥
 सशिलामणयोऽमीषां नक्षत्राणां भान्ति मौलयः । सदीपा इव रत्नार्थाः स्थापितास्तत्पदाम्बिके^२ ॥१५३॥
 नतानां सुरकोटीनां चक्रासत्यधिमस्तकम् । प्रसादांशा इवालम्ना युष्मत्पादनुत्पांशतः ॥१५४॥
 नखदर्पणसंक्रास्तविम्बाभ्यमरयोषिताम् । दध्मन्मूनि धक्त्राणि त्वदुपाङ्गपद्मजश्रियम् ॥१५५॥
 वक्त्रेध्वमरनारीणां संवसे कुङ्कुमश्रियम् । युष्मत्पादतलच्छाया प्रसरन्ती जयाऽरुणा ॥१५६॥
 गणाधुषित^३ भूभागमध्यवर्ती त्रिमेखलः । पीठद्विर्यमामाति तवाविष्कृतमङ्गलः ॥१५७॥
 प्रथमोऽस्य परिक्षेपो धर्मचक्रैरलंकृतः । द्वितीयोऽपि तवऽमीभिर्दिश्यतासु महाध्वजैः ॥१५८॥
 श्रीमण्डपनिवेशस्ते योजनप्रमितोऽप्ययम् । त्रिजगजनताऽजस्रप्रावेशोपग्रहश्च^४ ॥१५९॥
 धूलीसालपरिक्षेपो मानस्तम्भाः सरोसि च । खातिका सलिलापूर्णा वल्लीवनपरिच्छदः ॥१६०॥

आपके भामण्डलकी प्रभा सभाके चारों ओर फैल रही है ॥१४७॥ समस्त भाषाओंके भेदोंका अनुकरण करनेवाली अर्थात् समस्त भाषाओं रूप परिणत होनेवाली आपकी यह दिव्य ध्वनि जो वचन नहीं बोल सकते ऐसे पशु पक्षी आदि तिर्यचोंके भी हृदयके अन्धकारको दूर कर देती है ॥१४८॥ हे प्रभो, आपकी यह प्रातिहार्यरूप आठ प्रकारकी विभूति आपकी लोकोत्तर महिमाको स्पष्ट रूपसे प्रकट कर रही है ॥१४९॥ मेरु पर्वतके समान ऊँचे तीन कटनीदार पीठपर सबके द्वारा सेवन करने योग्य आपकी यह ऊँची गन्धकुटी मेरुकी चूलिकाके समान सुशोभित हो रही है ॥१५०॥ वन्दना करनेवाले उत्तम मुनियोंके स्तोत्रोंकी प्रतिध्वनिसे यह गन्धकुटी ऐसी जान पड़ती है मानो भक्तिवश हर्षसे आपकी स्तुति ही करना चाहती हो ॥१५१॥ हे प्रभो, जो श्रेष्ठ रत्नोंसे बनी हुई और अतिशय देदीप्यमान इस गन्धकुटीमें विराजमान हैं ऐसे आपकी, स्वर्गमें रहनेवाले देव नम्र होकर सेवा कर रहे हैं ॥१५२॥ हे देव, जो अग्रभागमें लगे हुए मणियोंसे सहित हैं ऐसे इन नमस्कार करते हुए देवोंके मुकुट ऐसे जान पड़ते हैं मानो आपके चरणोंके समीप दोपकसहित रत्नोंके अर्थ ही स्थापित किये गये हों ॥१५३॥ नमस्कार करते हुए करोड़ों देवोंके मस्तकोंपर जो आपके चरणोंके नखोंकी किरणें पड़ रही हैं वे ऐसी सुशोभित हो रही हैं मानो उनपर प्रसन्नताके अंश ही लग रहे हों ॥१५४॥ आपके नखरूपी दर्पणमें जिनका प्रतिबिम्ब पड़ रहा है ऐसे ये देवांगनाओंके मुख आपके चरणोंके समीपमें कमलोंकी शोभा धारण कर रहे हैं ॥१५५॥ जवाके फूलके समान लाल वर्ण जो यह आपके गैरोंके तलवोंको कान्ति फैल रही है वह देवांगनाओंके मुखोंपर कुङ्कुमकी शोभा धारण कर रही है ॥१५६॥ जो बारह सभाओंसे भरी हुई पृथिवीके मध्यभागमें वर्तमान है और जिसपर अनेक मंगल द्रव्य प्रकट हो रहे हैं ऐसा यह तीन कटनीदार आपका पीठरूपी पर्वत बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहा है ॥१५७॥ इस पीठकी पहली परिधि धर्मचक्रोंसे अलंकृत है और दूसरी परिधि भी आठों दिशाओंमें फहराती हुई आपकी इन बड़ी-बड़ी ध्वजाओंसे सुशोभित है ॥१५८॥ यद्यपि आपके श्रीमण्डपकी रचना एक ही योजन लम्बी-चौड़ी है तथापि वह तीनों जगत्के जनसमूहके निरन्तर प्रवेश कराते रहने रूप उपकारमें समर्थ है ॥१५९॥ हे प्रभो, यह धूलीसालकी परिधि, ये मानस्तम्भ, सरोवर, स्वच्छ जलसे भरी हुई परिखा, लता-

१ तिरश्चाम् । २ तव पादसमीपे । ३ द्वादशगणस्थित । ४ उपकारद्वयः । त्रिजगजनानां स्थामदाने समर्थ इत्यर्थः ।

सालशितयमुत्तुङ्गचतुर्गोपुरमण्डितम् । मङ्गलद्रव्यसंदोहो निधयस्तोरणानि च ॥१६१॥
 नाट्यशालाद्वयं दीप्तं लघुपद्मश्रीद्वयम् । वनराजिपरिक्षेपध्वज्यनुमपरिष्कृतः^१ ॥१६२॥
 वनवेदीद्वयं प्रीत्यैर्ध्वजमालोत्ततामनिः । कल्पद्रुमवनामंशाः^२ स्तूपहर्म्यावलीभ्यः^३ ॥१६३॥
 सद्योऽवनि^४ रियं देव नृमुरासुरपावनी । त्रिजगत्सारसंदोह इवैकग्र निवेशितः ॥१६४॥
 शहिर्विभूतिरित्युच्चैराविकृतमहोदयाः । लक्ष्मीमाध्यात्मिकीं व्यक्तं जयनक्ति जिन साधकीम् ॥१६५॥
 सभापरिच्छदः सोऽयं सुरस्त्वन्न निनिर्मितः । वैराग्यातिशयं नाथ नोपहन्त्य^५ प्रतर्कितः^६ ॥१६६॥
 इत्यनुत्तमाहात्म्यास्त्रिजगद्गुह्यो भवान् । स्तुत्योपतिष्ठमानं^७ मां पुनीताण्युत्तमात्मनः ॥१६७॥
 अलं स्तुतिप्रपञ्चेन तवाचिन्त्यतमा गुणाः । जयेशान नमस्तुभ्यमिति संक्षेपतः स्तुवे ॥१६८॥
 जयेश जय निर्दग्धकर्मन्वनजयाजर । जय लोकगुरो सार्व जयताजय जिह्वर^८ ॥१६९॥
 जय लक्ष्मीपते जिष्णो जयानन्तगुणोज्ज्वल । जय विश्वजगद्गन्धो जय विश्वजगद्धित ॥१७०॥
 जयाखिलजगद्देविन् जयाखिलसुखोदय । जयाखिलजगज्ज्येष्ठ जयाखिलजगद्गुरो ॥१७१॥
 जय निर्जितमोहारे जय तर्जितमग्मथ । जय जन्मजरातक्कविजयिन् विजितान्तक ॥१७२॥

वनोंका समूह — ऊँचे-ऊँचे चार गोपुर दरवाजोंसे सुशोभित तीन कोट, मंगल द्रव्योंका समूह, निधियाँ, तोरण — दो-दो नाट्यशालाएँ, दो-दो सुन्दर घूप घट, चैत्यवृक्षोंसे सुशोभित वन पंक्तियोंकी परिधि — दो वनवेदी, ऊँची-ऊँची ध्वजाओंकी पंक्तिले भूत-प्रेत, कल्पद्रुमों-के वनका विस्तार, स्तूप और मकानोंकी पंक्ति — इस प्रकार मनुष्य देव और वरनेन्द्रोंको पवित्र करनेवाली आपकी यह सभाभूमि ऐसी जान पड़ती है मानो तीनों जगत्की अच्छी-अच्छी वस्तुओंका समूह ही एक जगह इकट्ठा किया गया हो ॥१६०-१६४॥ हे जितेन्द्र, जिससे आपका महान् अभ्युदय या ऐश्वर्य प्रकट हो रहा है ऐसी यह आपकी अतिशय उत्कृष्ट बाह्य विभूति आपकी अन्तरंग लक्ष्मीको स्पष्ट रूपसे प्रकट कर रही है ॥१६५॥ हे नाथ, जिसके विषयमें कोई तर्क-वितर्क नहीं कर सकता ऐसी यह देवोंके द्वारा रची हुई आपके समवसरणकी विभूति आपके वैराग्यके अतिशयको नष्ट नहीं कर सकती है । भावार्थ — समवसरण सभाकी अनुपम विभूति देखकर आपके हृदयमें कुछ भी रागभाव उत्पन्न नहीं होता है ॥१६६॥ इस प्रकार जिनकी अद्भुत महिमा है, जो तीनों लोकोंके स्वामी हैं, और जिनका शासन अतिशय पवित्र है ऐसे आप स्तुतिके द्वारा उपस्थान (पूजा) करनेवाले भुमे पवित्र कीजिए ॥१६७॥ हे भगवन्, आपकी स्तुतिका प्रपञ्च करना व्यर्थ है क्योंकि आपके गुण अत्यन्त अचिन्त्य हैं इसलिए मैं संक्षेपसे इतनी ही स्तुति करता हूँ कि हे ईशान, आपकी जय हो और आपको नमस्कार हो ॥१६८॥ हे ईश, आपकी जय हो, हे कर्मरूप ईश्वरको जलानेवाले, आपकी जय हो, हे जरारहित, आपकी जय हो, हे लोकोंके गुरु, आपकी जय हो, हे सबका हित करनेवाले, आपकी जय हो, और हे जयशील, आपकी जय हो ॥१६९॥ हे अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मीके स्वामी जयनशील, आपकी जय हो । हे अनन्तगुणोंसे उज्ज्वल, आपकी जय हो । हे समस्त जगत्के बन्धु, आपकी जय हो । हे समस्त जगत्का हित करनेवाले, आपकी जय हो ॥१७०॥ हे समस्त जगत्को जाननेवाले, आपकी जय हो । हे समस्त सुखोंको प्राप्त करनेवाले, आपकी जय हो । हे समस्त जगत्में श्रेष्ठ, आपकी जय हो । हे समस्त जगत्के गुरु, आपकी जय हो ॥१७१॥ हे मोहरूपी शत्रुको जीतनेवाले, आपकी जय हो । हे कामदेवको भर्त्सना करने

१ अलंकृतः 'परिष्कारो विभूषणम्' इत्यभिधानात् । २ नवाभोगः द०, इ०, । ३ समवसरणभूमिः । ४ न नाशयति । ५ कदातीतः ऊहितुमशक्य इत्यर्थः । ६ स्तोत्रेणार्चयनम् । ७ पवित्रं कुरु । ८ जयशील ।

जय निर्मल निर्माय जय निर्माह निर्मम । जय निर्मल निर्द्वन्द्व जय निष्कल^१ पुष्कल ॥१७३॥
 जय प्रबुद्ध सन्मार्ग जय दुर्गमरोधन । जय कर्मरिमर्माविद्ध^२ मन्त्रक जयोद्धुर^३ ॥१७४॥
 जयाध्वरपते यज्जन् जय पूज्य महोदय । जयोद्धुर जयाचिन्त्य^४ सद्धर्मरथसारथे ॥१७५॥
 जय निस्तीर्णसंसारपारावारगुणाकर । जय निःशेषनिर्णीतविद्यारत्नाकर प्रभो ॥१७६॥
 नमस्ते परमानन्तसुखरूपाय तामिने^५ । नमस्ते परमानन्दमथाय परमात्मने ॥१७७॥
 नमस्ते भुवनोद्भासिशानभाभारभासिने^६ । नमस्ते नयनानन्दिपरमौदरिकस्थिते ॥१७८॥
 नमस्ते मस्तकम्यस्तस्वहस्ताअलिङ्ग्यमलैः । स्तुताय त्रिदशाधीशः स्वर्गावतरणोत्सवे ॥१७९॥
 नमस्ते प्रचलन्मौलिषट्पिताअलिङ्ग्यमलैः । नुताय^७ मेरुजैलामस्ताताय सुरसत्तमैः ॥१८०॥
 नमस्ते मुकुटोपाग्रलभहस्तपुटोद्भटैः^८ । लोकान्तिकैरर्धाष्टाय^९ परिनिष्कमणोत्सवे ॥१८१॥
 नमस्ते स्वकिरीटाग्रलभाभान्तुभिभिः । कराब्जमुकुलैः प्राप्तकेवलैरुप्याय नाकिनाम् ॥१८२॥
 नमस्ते पारनिर्वाणकल्याणेऽपि प्रवत्स्यति^{१०} । पूजनीयाय वक्षीमैर्ज्वलन्मुकुटकोटिभिः ॥१८३॥

वाले, आपकी जय हो । हे जन्मजरारूपी रोगको जीतनेवाले, आपकी जय हो । हे मृत्युको जीतनेवाले, आपकी जय हो ॥ १७२॥ हे मदरहित, मायारहित, आपकी जय हो । हे मोह-रहित, ममतारहित, आपकी जय हो । हे निर्मल और निर्द्वन्द्व, आपकी जय हो । हे शरीर-रहित, और पूर्ण ज्ञानसहित, आपकी जय हो ॥ १७३ ॥ हे समीचीन मार्गको जाननेवाले, आपकी जय हो । हे मिथ्या मार्गको रोकनेवाले, आपकी जय हो । हे कर्मरूपी शत्रुओंके मर्मको वेधन करनेवाले, आपकी जय हो । हे धर्मचक्रके द्वारा ब्रह्मसंसार करनेमें उत्कृष्ट, आपकी जय हो ॥ १७४ ॥ हे यज्ञके अविपति, आपकी जय हो । हे कर्मरूप ईधनको ध्यानरूप अग्निमें होम करनेवाले, आपकी जय हो । हे पूज्य तथा महान् वैभवको धारण करनेवाले, आपकी जय हो । हे उत्कृष्ट दयारूप चित्तसे सहित तथा हे समीचीन धर्मरूपी रथके सारथि, आपकी जय हो ॥१७५॥ हे संसाररूपी समुद्रको पार करनेवाले, हे गुणोंकी खानि, आपकी जय हो । हे समस्त विद्यारूपी समुद्रका पान करनेवाले, हे प्रभो, आपकी जय हो ॥१७६॥ आप उत्कृष्ट अनन्त सुखरूप हैं तथा सबकी रक्षा करनेवाले हैं इसलिए आपको नमस्कार हो । आप परम आनन्दमय और परमात्मा हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥ १७७ ॥ आप समस्त लोकको प्रकाशित करनेवाले ज्ञानकी दीप्तिके समूहसे देदीप्यमान हो रहे हैं इसलिए आपको नमस्कार हो । आपके परमौदारिक शरीरकी कान्ति नेत्रोंको आनन्द देनेवाली है इसलिए आपको नमस्कार हो ॥ १७८ ॥ हे देव, स्वर्गावतरण अर्थात् गर्भकल्याणकके उत्सवके समय इन्द्रोंने अपने हाथोंकी अंजलिरूपी बिना खिले कमल अपने मस्तकपर रखकर आपकी स्तुति की थी इसलिए आपको नमस्कार हो ॥१७९॥ अपने नम्र हुए मस्तकपर दोनों हाथ जोड़कर रखनेवाले उत्तम-उत्तम देवोंने जिनकी स्तुति की है तथा सुमेरु पर्वतके अग्रभागपर जिनका जन्माभिषेक किया गया है ऐसे आपके लिए नमस्कार है ॥ १८० ॥ दीक्षाकल्याणकके उत्सवके समय अपने मुकुटके समीप ही हाथ जोड़कर लगा रखनेवाले लोकान्तिक देवोंने जिनका अधिष्ठान अर्थात् स्तुति की है ऐसे आपके लिए नमस्कार हो ॥ १८१ ॥ अपने मुकुटके अग्रभागमें लगे हुए रत्नोंका चुम्बन करनेवाले देवोंके हाथरूपी मुकुलित कमलोंके द्वारा जिनके केवलज्ञानकी पूजा की गयी है ऐसे आपके लिए नमस्कार हो ॥१८२॥ हे भगवन्, जब आपका मोक्षकल्याणक होगा

१ शरीरबन्धनरहित । २ मर्म विध्वंसि ताडयतीति मर्मवित् तस्य संबुद्धिः । 'नहिवृत्तिवृषिव्यधिसहितनिहविषवी कारकस्पेति' दीर्घः । ३ उद्भट । ४ दयाचिह्न द०, ल०, इ०, अ०, प०, स० । ५ पालकाय । ६ ज्ञान-किरणसमूहप्रकाशने । ७ स्तुताय । ८ भ्रमद्भिः, समर्थैः वा । ९ अधिकविष्टाय सत्कारानुमतायेत्यर्थः । १० भाविनि ।

नमस्ते प्राप्तकल्याणसहेऽप्याय महोजसे । प्राज्यत्रैलोक्यराज्याय ज्यायसे ज्यायसामपि ॥१८३॥
 नमस्ते नतनार्कान्द्रचूलास्तावितःशुभ्रये । नमस्ते दुर्जयारातिनिर्जयोपार्जिनश्रिये ॥१८४॥
 नमोऽस्तु शुभ्रसिद्धार्थे सपयोमहर्षते पराम् । रहोरजोऽरिवाताघे प्राप्तकलामरुदये ॥१८५॥
 जितान्तक नमस्तुभ्यं जितमोह नमोऽस्तु ते । जितानङ्ग नमस्ते स्फाट् विरागाय स्वयंभुवे ॥१८६॥
 त्वां नमस्यन् जनैर्नम्रैर्नम्यते सुकृती पुमान् । गां जयेजितजेत^१ व्यस्वजयोद्योषणाःकुली ॥१८७॥
 त्वस्तुतेः पूतवागस्मि त्वस्तुतेः पूतमानसः । त्वस्तुतेः पूतदेहोऽस्मि धन्योऽस्म्यद्य त्वदीक्षणात् ॥१८८॥
 अहमद्य कृतार्थोऽस्मि जन्माद्य सफलं मया^२ सुनिर्वृते^३ त्वदीक्षणात् ॥१८९॥
 त्वत्तीर्थसरसि स्वच्छे पुण्यतोयसुसंभृते । सुस्नातोऽहं चिरादद्य पूतोऽस्मि सुखनिर्वृतः^४ ॥१९०॥
 त्वत्पावनखमाजालसलिलैरस्तकवमयैः । अधिमस्तकमालम्भैरभिषिक्त इवास्म्यहम् ॥१९१॥
 एकतः सार्वभौमश्रीसियमप्रतिशासना । एकतश्च भवत्पादसेवालोकेकपावनी ॥१९२॥

उस समय भी देदीप्यमान मुकुटोंको धारण करनेवाले वह्निकुमार देवोंके इन्द्र आपकी पूजा करेंगे इसलिए आपको नमस्कार हो ॥ १८३ ॥ हे नाथ, आपको गर्भ आदि कल्याणकोंके समय बड़ी भारी पूजा प्राप्त हुई है, आप महान् तेजके धारक हैं, आपको तीन लोकका उत्कृष्ट राज्य प्राप्त हुआ है और आप बड़ोंमें भी बड़े अथवा श्रेष्ठोंमें भी श्रेष्ठ हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥ १८४ ॥ नमस्कार करते हुए स्वर्गके इन्द्रोंके मुकुटमें लगे हुए मणियोंसे जिनके चरणोंकी पूजा की गयी है ऐसे आपके लिए नमस्कार हो और जिन्होंने कर्मरूपी दुर्जय शत्रुओंको जीतकर अनन्तचतुष्टयरूपी उत्तम लक्ष्मी प्राप्त की है ऐसे आपके लिए नमस्कार हो ॥ १८५ ॥ हे उत्कृष्ट ऋद्धियोंको धारण करनेवाले, आप उत्कृष्ट पूजाके योग्य हैं तथा रहस् अर्थात् अन्तराय रज अर्थात् ज्ञानावरण दर्शनावरण और अरि अर्थात् मोहनीय कर्मके नष्ट करनेसे आपने 'अरिहन्त' ऐसा सार्थक नाम प्राप्त किया है इसलिए आपको नमस्कार हो ॥ १८६ ॥ हे मृत्युको जीतनेवाले, आपको नमस्कार हो । हे मोहको जीतनेवाले, आपको नमस्कार हो । और हे कामको जीतनेवाले, आप वीतराग तथा स्वयम्भू हैं इसलिए आपको नमस्कार हो ॥ १८७ ॥ हे नाथ, जो आपको नमस्कार करता है वह पुण्यात्मा पुरुष अन्य अनेक नम्र पुरुषोंके द्वारा नमस्कृत होता है और जो आपके विजयकी घोषणा करता है वह कुशल पुरुष जीतने योग्य समस्त कर्मरूप शत्रुओंको जीतकर गो अर्थात् पृथिवी या वाणीको जीतता है ॥ १८८ ॥ हे देव, आज आपकी स्तुति करनेसे मेरे वचन पवित्र हो गये हैं, आपका स्मरण करनेसे मेरा मन पवित्र हो गया है, आपको नमस्कार करनेसे मेरा शरीर पवित्र हो गया है और आपके दर्शन करनेसे मैं धन्य हो गया हूँ ॥ १८९ ॥ हे भगवन्, आज मैं कृतार्थ हो गया हूँ, आज मेरा जन्म सफल हो गया है, आज मेरे नेत्र सन्तुष्ट हो गये हैं और आज मेरा मन अत्यन्त प्रसन्न हो गया है ॥ १९० ॥ हे देव, स्वच्छ और पुण्यरूप जलसे खूब भरे हुए आपके तीर्थरूपी सरोवरमें मैंने चिरकालसे अच्छी तरह स्नान किया है इसीलिए मैं आज पवित्र तथा सुखसे सन्तुष्ट हो रहा हूँ ॥ १९१ ॥ हे प्रभो, जिसने समस्त पाप नष्ट कर दिये हैं ऐसा जो यह आपके चरणोंके नखोंकी कान्तिका समूहरूप जल मेरे मस्तकपर लग रहा है उससे मैं ऐसा मालूम होता हूँ मानो मेरा अभिवेक ही किया गया हो ॥ १९२ ॥ हे विभो, एक ओर तो मुझे दूसरेके शासनसे रहित यह चक्रवर्तीकी विभूति प्राप्त हुई है और एक ओर

१ पूजायाः प्रोश्याय । २ अन्तरायज्ञानावरणमोहनीयघातात् । ३ अर्हसिति नामप्रसिद्धाय । ४ भवतु ।
 ५ नमस्कृत्वा । ६ भोजितजेतव्यपक्ष । ७ अत्यन्तसुखवत्यो । ८ सुखतुष्टः ।

यद्दिग्भ्रान्तिविमूढेन^१ महर्षेणो^२ मयाऽर्जितम् । तत्स्वस्संदर्शनाह्वीनं^३ तमो नैशं^४ रवेर्यथा ॥१९४॥
 एवं परस्मृतिमार्गेण पुमानेति पवित्रताम् । किमुत त्वद्गुणस्तुत्या भक्त्यैव सुप्रयुक्तया ॥१९५॥
 भगवंस्त्वद् गुणस्तोत्राद् यन्मया पुण्यमार्जितम्^५ । तेनास्तु त्वत्पदाम्भोजे परा भक्तिः सदापि मे ॥१९६॥

वसन्ततिलकावृत्तम्

हृत्थं चराचरगुरुं परमादिदेवं स्तुत्वाऽधिराट् धरणिपैः समसिद्धबोधः ।
 आनन्दबाष्पलवसिक्तपुरःप्रवेशो भक्त्या ननाम करकुङ्कुमललम्पौलिः ॥१९७॥
 श्रुत्वा पुराणपुरुषाच्च पुराणधर्मं कर्मारिचक्रजयलम्भविमुक्तबोधात् ।
 संप्रीतिमाप परमां भरताधिराजः प्रायो धृतिः कृतधियां स्वहितप्रवृत्तौ ॥१९८॥
 आसृज्य च स्वगुरुमादिगुरुं निधीशो व्यालोलमौलितटताडितपादपीठः ।
 भूयोऽनुगम्य च मुनीन् प्रणतेन मूर्ध्ना स्वावासभूमिसमिगन्तुमन्ता बभूव ॥१९९॥
 भक्त्यार्पितां सजसिवाधिपदं जिनस्य स्वां दृष्टिमन्वितलसस्तुमनोविकासाम्^६ ।
 शेषास्थयैव^७ च पुनर्विनिवर्त्य कृच्छ्रात् चक्राधिपो जिनसभामवभात्यतस्थे ॥२००॥

समस्त लोककी पवित्र करनेवाली आपके चरणोंकी सेवा प्राप्त हुई है ॥१९३॥ हे भगवन्, दिशाभ्रम होनेसे विमूढ़ होकर अथवा दिग्विजयके लिए अनेक दिशाओंमें भ्रमण करनेके लिए मुग्ध होकर मैंने जो कुछ पाप उपार्जन किया था वह आपके दर्शन मात्रसे उस प्रकार विलीन हो गया है जिस प्रकार कि सूर्यके दर्शनसे रात्रिका अन्धकार विलीन हो जाता है ॥१९४॥ हे देव, आपके चरणोंके स्मरणमात्रसे ही जब मनुष्य पवित्रताको प्राप्त हो जाता है तब फिर इस प्रकार भक्तिसे की हुई आपके गुणोंकी स्तुतिसे क्यों नहीं पवित्रताको प्राप्त होगा? अर्थात् अवश्य ही होगा ॥१९५॥ हे भगवन्, आपके गुणोंकी स्तुति करनेसे जो मैंने पुण्य उपार्जन किया है उससे यही चाहता हूँ कि आपके चरणकमलोंमें मेरी भक्ति सदा बनी रहे ॥१९६॥ इस प्रकार चर अचर जीवोंके गुरु सर्वोत्कृष्ट भगवान् वृषभदेवकी नमस्कार कर जिसने आनन्दके आँसुओंकी बूंदोंसे सामनेका प्रदेश सींच दिया है, जिसका ज्ञान प्रकाशमान हो रहा है, और जिसने दोनों हाथ जोड़कर अपने मस्तकसे लगा रखे हैं ऐसे चक्रवर्ती भरतने भक्तिपूर्वक भगवान्को नमस्कार किया ॥१९७॥ कर्मरूपी शत्रुओंके समूहको जीतनेसे जिन्हें विशुद्ध ज्ञान प्राप्त हुआ है ऐसे पुराण पुरुष भगवान् वृषभदेवसे पुरातन धर्मका स्वरूप सुनकर भरताधिपति महाराज भरत बड़ी प्रसन्नताको प्राप्त हुए सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धिमान् पुरुषोंको प्रायः अपना हित करनेमें ही सन्तोष होता है ॥१९८॥ तदनन्तर अपने चंचल मुकुटके किनारेसे जिन्होंने भगवान्के पादपीठका स्पर्श किया है ऐसे निधियोंके स्वामी भरत महाराज अपने पिता आदिनाथ भगवान्से पूछकर तथा वहाँ विराजमान अन्य मुनियोंको नम्र हुए मस्तकसे नमस्कार कर अपनी निवासभूमि अयोध्याको जानेके लिए तत्पर हुए ॥१९९॥ चक्राधिपति भरतने जिसमें अनुक्रमसे खिले हुए सुन्दर फूल गुंथे हुए हैं और जो श्री जिनेन्द्रदेवके चरणोंमें भक्तिपूर्वक अर्पित की गयी है ऐसी मालाके समान, सुन्दर मनकी प्रसन्नतासे युक्त अपनी दृष्टिको शेषाक्षत समझ बड़ी कठिनाईसे हटाकर भगवान्के सभाभवन अर्थात् समवसरणसे प्रस्थान किया ॥२००॥

१ दिग्भ्रान्तिमूढेन । २ महर्षेण । ३ नष्टम् । ४ आदिप्रसन्न । ५ -मार्जितम् ल० । ६ शोभनमनो-विकासाम्, सुपुष्पविकासाम् च । ७ सिद्धशेषास्थया ।

आलोकयन् जिनसभावनिभूतिमिह्नां विस्फारितेक्षणयुगो युगदीर्घबाहुः ।
 पृथ्वीश्वरैरनुगतः प्रणतोत्तमाङ्गैः प्रत्यावृत्तस्त्वसदनं मनुवंशकैस्तुः ॥२०१॥
 पुण्योदयाग्निधिपतिर्विजितालिष्ठाशस्तभिर्जितौ^१ गमितषष्टिसमा^२सहस्रः ।
 प्रीत्याऽभिवन्द्य जिनमाप परं प्रमोदं^३ तत्पुण्यसंग्रहविधौ सुधियो यतध्वम्^४ ॥२०२॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे
 भरतराजकैलासाभिगमनवर्णने नाम त्रयस्त्रिंशत्तमं पर्व ॥३३॥



अनुवादः :- आचार्य भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण

भगवान्के समवसरणकी प्रकाशमान विभूतिको देखनेसे जिनके दोनों नेत्र खुल रहे हैं, जिनकी भुजाएँ युग (जुवारी) के समान लम्बी हैं, मस्तक झुकाये हुए अनेक राजा लोग जिनके पीछे-पीछे चल रहे हैं और जो कुलकरीके वंशकी पताकाके समान जान पड़ते हैं ऐसे भरत महाराज अपने घरकी ओर लौटे ॥२०१॥ चूँकि पुण्यके उदयसे ही चक्रवर्तीने समस्त दिशाएँ जीतीं, तथा उनके जीतनेमें साठ हजार वर्ष लगाये और फिर प्रीतिपूर्वक जिनेन्द्रदेवको नमस्कार कर उत्कृष्ट आनन्द प्राप्त किया । इसलिए हे बुद्धिमान् जन, पुण्यके संग्रह करनेमें प्रयत्न करो ॥२०२॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण
 महापुराणसंग्रहके भाषानुवादमें भरतराजका कैलास पर्वतपर
 जानेका वर्णन करनेवाला तैत्तिरीय पर्व समाप्त हुआ ।



चतुर्विंशत्तमं पर्व

अश्वत्थ^१ कैलासाददीन्द्रादिव^२ वेवराट् । चक्री प्रयाणमकरोद् विनीताभिमुखं कृती ॥१॥
 मैत्र्यैरनुगतो रंजे^३ प्रयाश्चक्री निजालयम् । गङ्गाव^४ इव दुर्वारः सरिदोर्ध्वरपास्पतिः ॥२॥
 ततः कतिपयैरेव प्रयाणैश्चक्रिणो बलम् । अयोध्यां प्रापदाश्रयतोरणो चित्रकेतनाम् ॥३॥
 चन्दनद्रवसंमिश्रसुसंमृष्ट^५ महीतला । पुरी स्नातानुलिखेत् सा रंजे पशुरागणे ॥४॥
 नातिदूरे^६ निविष्टस्य प्रवेशसमये प्रभोः^७ । चक्रमस्तारि चक्रं च नाक्रुस्तं पुरगोपुरम् ॥५॥
 सा पुरी गौपुरोपान्तस्थितचक्रांशुरजिता । धृतमध्यान्तपेयासीत् कुकुमापिअरच्छविः ॥६॥
 सस्यं भरतराजोऽयं धौरेयश्चक्रिणामिति । धृतदिष्यं^८ सा जज्ञे अलक्षका पुरः^९ पुरी ॥७॥
 ततः कतिपये^{१०} देवाश्चक्ररत्नाभिरक्षिणः । स्थितमेकपत्रं^{११} चक्रं बीक्ष्य विस्मयमाचयुः ॥८॥
 सुरा जातरुषः केचिन्किं किमिष्युश्चरद्गिरः । अलातचक्रव^{१२} ज्ञेसुः करवालापितैः करैः ॥९॥
 किमम्बरमणैर्विन्ध्यमम्बराभ्यरिखन्वते । प्रतिसूर्यः किमुद्रुत इत्यस्ये^{१३} मुसुहुर्यदुः ॥१०॥

अथानन्तर — सुमेरु पर्वतसे इन्द्रकी तरह कैलास पर्वतसे उतरकर उस बुद्धिमान् चक्रवर्ती-
 ने अयोध्याकी ओर प्रस्थान किया ॥१॥ सेनाके साथ-साथ अपने घरकी ओर प्रस्थान करता
 हुआ चक्रवर्ती ऐसा सुशोभित होता था मानो नदियोंके समूहके साथ किसीसे न रुकनेवाला
 गंगाका प्रवाह समुद्रकी ओर जा रहा हो ॥ २ ॥ तदनन्तर कितने ही मुकाम तय कर चक्रवर्ती-
 की वह सेना जिसमें तोरण बंधे हुए हैं और अनेक ध्वजाएँ फहरा रही हैं ऐसी अयोध्या नगरी-
 के समीप जा पहुँची ॥ ३ ॥ जिसकी बृहत्तर साफ की हुई पृथिवी घिसे हुए गीले चन्दनसे
 सींची गयी है ऐसी वह अयोध्यानगरी उस समय इस प्रकार सुशोभित हो रही थी मानो उसने
 पतिके आनेपर स्नान कर चन्दनका लेप ही किया हो ॥४॥ महाराज भरत नगरीके समीप ही
 ठहरे हुए थे वहाँसे नगरीमें प्रवेश करते समय जिसने समस्त शत्रुओंके समूहको नष्ट कर दिया
 है ऐसा उनका चक्ररत्न नगरके गोपुरद्वारको उल्लंघन कर आगे नहीं जा सका — बाहर ही
 रुक गया ॥ ५ ॥ गोपुरके समीप रुके हुए चक्रकी किरणोंसे अनुरक्त होनेके कारण जिसकी
 कान्ति कुंकुमके समान कुछ-कुछ पीली हो रही है ऐसी वह नगरी उस समय इस प्रकार जान
 पड़ती थी मानो उसने सन्ध्याकी लालिमा ही धारण की हो ॥ ६ ॥ जिसके आगे चक्र-
 रत्न देदीप्यमान हो रहा है ऐसी वह नगरी उस समय ऐसी जान पड़ती थी मानो
 यह भरतराज सचमुच ही सब चक्रवर्तियोंमें मुख्य है, अपनी इस बातकी प्रामाणिकता
 सिद्ध करनेके लिए उसने तप्त अयोमोलक आदिको ही धारण किया हो ॥ ७ ॥ तदनन्तर
 चक्ररत्नकी रक्षा करनेवाले कितने ही देव चक्रको एक स्थानपर खड़ा हुआ देखकर
 आश्चर्यको प्राप्त हुए ॥ ८ ॥ जिन्हें क्रोध उत्पन्न हुआ है ऐसे कितने ही देव, क्या है ?
 क्या है ? इस प्रकार चिल्लाते हुए हाथमें तलवार लेकर अलातचक्रकी तरह चारों ओर
 घूमने लगे ॥ ९ ॥ क्या यह आकाशसे सूर्यका बिम्ब लटक पड़ा है ? अथवा कोई दूसरा ही
 सूर्य उदित हुआ है ? ऐसा विचार कर कितने ही लोग बार-बार मोहित हो रहे थे ॥ १० ॥

१ अश्वत्थ । २ मेरोः । ३ गच्छन् । ४ गांगीष ल०, । ५ सुष्ठुसंमिश्रित । ६ समीपे । ७ विभोः ल०,
 द० । ८ प्रवेष्ट नाकरोत् । ९ पुष्पापुरे र०, ल० । १० शपथ । ११ अयभागे । १२ केचन । १३ युगपत्
 सपदि वा । १४ चक्रवत्काष्ठानिभ्रमणवत् । १५ भूहृषति स्म ।

अथ विचार्यते - अथवा अब भी कोई चक्रवर्ती है ?

कस्याप्यकालचक्रेण पतितस्य^१ विरोधिनः । क्रूरेणैव ग्रहेणाद्य यतश्चक्रेण वक्रितम् ॥११॥

अथवाद्यापि जेतव्यः^२ पक्षः कोऽप्यस्ति चक्रिणः । चक्रस्खलनतः कैश्चिदित्यं राज्ञैर्वितर्कितम् ॥१२॥

सेनानीप्रमुखास्तावत् प्रभवे^३ तन्न्यवेदयन् । तद्वार्ताऽऽकर्णमाचक्षी किमप्यासीत्सविस्मयः ॥१३॥

अश्विन्तयच्च किं नाम चक्रमप्रतिशासने । मयि स्थिते स्खलत्यद्य कश्चिदप्यस्खलद्गति ॥१४॥

संप्रभार्यमिदं^४ तावदित्याहूय पुरोधसम् । धीरो धीरतरां वाचमित्युच्चैराजंगौ मनुः ॥१५॥

वदनोऽस्य मुखाम्मोजाद् व्यक्ताकृता^५ सरस्वती । निर्ययौ सवलंकारा शम्भलीव^६ जयश्रियः ॥१६॥

चक्रमाक्रान्तदिक्चक्रमरिचक्रमयंकरम् । कस्मात्तास्मत्पुरद्वारि क्रमते न्यवृत्ताकंस्क^७ ॥१७॥

विश्वदिशिजये पूर्वदक्षिणापरवार्त्तिषु । यदासीदस्खलद्बुद्धि रुदयाद्रेक्ष गुहाद्वये ॥१८॥

चक्रं तदधुना कस्मात् स्खलत्यस्मद्गृहाङ्गणे । प्रायोऽस्माभिर्विरुद्धेन मधितव्यं जिशीषुणा ॥१९॥

किमप्याधो द्विषत्कश्चिदस्यस्मद्भक्तिगोचरं^८ । सनाभिः^९ कोऽपि किं वाऽस्मान् द्वेष्टि कुष्ठान्तराशयः ॥२०॥

यः कोऽप्यकारणद्वेषी खलोऽस्मात्ताभिनन्दति । प्रायः स्खलन्ति चेतांसि महास्वपि दुरात्मनाम् ॥२१॥

विमत्सराणि चेतांसि महतां परवृद्धिषु । मत्सरीणि तु ताम्येव क्षुद्राणामन्यवृद्धिषु ॥२२॥

अथवा दुर्मंदाविष्टः कश्चिदप्रणतोऽस्ति मे । स्ववर्ग्यस्तन्मदीच्छित्यै^{१०} नूनं चक्रेण वक्रितम् ॥२३॥

आज यह चक्र क्रूरग्रहके समान वक्र हुआ है इसलिए अकालचक्रके समान किसी विरोधी शत्रु-पर अवश्य ही पड़ेगा ॥११॥ अथवा अब भी कोई चक्रवर्तीके जेतव्य पक्षमें है - जीतने योग्य शत्रु विद्यमान है इस प्रकार चक्रके एक जानेसे चक्रके स्वरूपको जाननेवाले कितने ही लोग विचार कर रहे थे ॥१२॥ सेनापति आदि प्रमुख लोगोंने यह बात चक्रवर्तीसे कही और उसके सुनते ही वे कुछ आश्चर्य करने लगे ॥ १३ ॥ वे विचार करने लगे कि जिसकी आज्ञा कहीं भी नहीं रुकती ऐसे मेरे रहते हुए भी, जिसकी गति कहीं भी नहीं रुकी ऐसा यह चक्ररत्न आज क्यों रुक रहा है ? ॥ १४ ॥ इस बातका विचार करना चाहिए यही सोचकर धीर वीर मनु-ने पुरोहितको बुलाया और उसने नीचे लिखे हुए बहुत ही गम्भीर वचन कहे ॥१५॥ कहते हुए भरत महाराजके मुखकमलसे स्पष्ट अभिप्रायवाली और उत्तम-उत्तम अलंकारोंसे सजी हुई जो बाणी निकल रही थी वह ऐसी जान पड़ती थी मानो विजयलक्ष्मीकी दूती ही हो ॥१६॥ जिसने समस्त दिशाओंके समूहपर आक्रमण किया है जो शत्रुओंके समूहके लिए भयंकर है और जिसने सूर्यकी किरणोंका भी तिरस्कार कर दिया है ऐसा यह चक्र मेरे ही नगरके द्वारमें क्यों नहीं आगे बढ़ रहा है - प्रवेश कर रहा है ? ॥१७॥ जो समस्त दिशाओंको विजय करनेमें पूर्व-दक्षिण और पश्चिम समुद्रमें कहीं नहीं रुका, तथा जो विजयार्थकी दोनों गुफाओंमें नहीं रुका वही चक्र आज मेरे घरके आँगनमें क्यों रुक रहा है ? प्रायः मेरे साथ विरोध रखनेवाला कोई विजिगीषु (जीतकी इच्छा करनेवाला) ही होना चाहिए ॥१८-१९॥ क्या मेरे उपभोगके योग्य क्षेत्र (राज्य) में ही कोई असाध्य शत्रु मौजूद है अथवा दुष्ट हृदयवाला मेरे गोत्रका ही कोई पुरुष मुझसे द्वेष करता है ॥२०॥ अथवा बिना कारण ही द्वेष करनेवाला कोई दुष्ट पुरुष मेरा अभिनन्दन नहीं कर रहा है - मेरी वृद्धि नहीं सह रहा है सो ठीक ही है क्योंकि दुष्ट पुरुषोंके हृदय प्रायः कर बड़े आदमियोंपर भी बिगड़ जाते हैं ॥२१॥ महापुरुषोंके हृदय दूसरोंकी वृद्धि होनेपर मात्सर्यसे रहित होते हैं परन्तु क्षुद्र पुरुषोंके हृदय दूसरोंकी वृद्धि होने-पर ईर्ष्यासहित होते हैं ॥२२॥ अथवा दुष्ट अहंकारसे घिरा हुआ कोई मेरे ही घरका

१ अपमृत्युना । २ गन्तव्यम् मर्त्यमित्यर्थः । ३ जेतव्यपक्षः ल०, द० । ४ चक्रिणे । ५ विचार्यम् । ६ व्यक्ता-भिप्राया । ७ कुट्टणी । ८ भुक्तिक्षेत्रे । ९ सपिण्डः । 'सपिण्डास्तु सनाभयः' इत्यभिधानात् । नाभिसंबन्धो-त्यर्थः । १० आत्मवर्गं भवः ।

खल्लेषे^१ लक्ष्मीया^२ नपुच्छे^३ लघु^४ तादृशः । श्रुद्रो रेगुरिवाक्षिरथो रजत्यरिरुपेक्षितः ॥२४॥
 बलादुत्तरणीयो हि क्षोदीयानपि^५ कण्टकः । अनुद्धतः पदस्थोऽसौ भवेत्पीडाकरो मृगम् ॥२५॥
 चक्रं नाम परं दैवं रत्नानामिदमग्रिमम् । गतिरखलं न मेतस्य न विना कारणम् भवेत् ॥२६॥
 ततो बाल्यमिदं कार्यं यच्चक्रेणार्थं सूचितम् । सूचिते खलु राज्याङ्गे^६ विकृतिर्नास्त्वकारणात् ॥२७॥
 तदत्र कारणं चिन्त्यं त्वया धीमन्निदमस्तथा । अनिरूपितं कार्याणां नेह नामुग्र सिद्धयः ॥२८॥
 त्वया^७ कार्यविज्ञानं जिज्ञे^८ त्विष्यचक्षुषि । तस्मात्^९ केनने कोऽन्यः प्रभवेयं गुणालिनः ॥२९॥
 निवेद्य कार्यमित्यस्मै दैवज्ञाय^{१०} मिताक्षरैः । विरराम प्रभुः प्रायः प्रभयो मितमाषिणः ॥३०॥
 ततः प्रसन्नगम्भीरपदालंकारकोमलाम् । भारतीं भरतेशस्य प्रबोधायैति सोऽब्रवीत् ॥३१॥
 अस्ति माधुर्यमस्योजस्तदस्ति पदसौष्टवम् । अस्यार्थानुगमोऽन्यत्किं^{११} यन्नास्ति त्वद्वचोमये^{१२} ॥३२॥
 शास्त्रज्ञा वयमेकास्तात् नाभिज्ञाः कार्ययुक्तिषु । शास्त्रप्रयोगविन् कोऽन्यस्त्वत्समो राजनीतिषु ॥३३॥
 त्वमादिराजो राजर्षिस्तद्विधास्व^{१३} दुपक्रमम्^{१४} । तद्विदस्तत्प्रयुजाना न जिहीमः कथं व्यम् ॥३४॥

मनुष्य नम्र नहीं हो रहा है, जान पड़ता है यह चक्र उसीका अहंकार दूर करनेके लिए बक्र हो रहा है ॥२३॥ शत्रु अत्यन्त छोटा भी हो तो भी उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, द्वेष करने-वाला छोटा होनेपर भी शीघ्र ही उच्छेद करने योग्य है क्योंकि आँखमें पड़ी हुई धूलिकी कणिकाके समान उपेक्षा किया हुआ छोटा शत्रु भी पीड़ा देनेवाला हो जाता है ॥२४॥ काँटा यदि अत्यन्त छोटा हो तो भी उसे जबरदस्ती निकाल डालना चाहिए क्योंकि पैरमें लगा हुआ काँटा यदि निकाला नहीं जायेगा तो वह अत्यन्त दुःखका देनेवाला हो सकता है ॥२५॥ यह चक्ररत्न उत्तम देवरूप है और रत्नोंमें मुख्य रत्न है इसकी गतिका स्तलन बिना किसी कारण-के नहीं हो सकता है ॥२६॥ इसलिए हे आर्य, इस चक्रने जो कार्य सूचित किया है वह कुछ छोटा नहीं है क्योंकि यह राज्यका उत्तम अंग है इसमें किसी अल्पकारणसे विकार नहीं हो सकता है ॥२७॥ इसलिए हे बुद्धिमान् पुरोहित, आप इस चक्ररत्नके रकनेमें क्या कारण है इसका अच्छी तरह विचार कीजिए क्योंकि बिना विचार किये हुए कार्योंकी सिद्धि न तो इस लोकमें होती है और न परलोक ही में होती है ॥२८॥ आप दिव्य नेत्र हैं इसलिए इस कार्य-का ज्ञान आपमें ही रहता है अर्थात् आप ही चक्ररत्नके रकनेका कारण जान सकते हैं क्योंकि अन्धकारको नष्ट करनेमें सूर्यके सिवाय और कौन समर्थ हो सकता है ? ॥२९॥ इस प्रकार महाराज भरत थोड़े ही अक्षरोंके द्वारा इस निमित्तज्ञानोके लिए अपना कार्य निवेदन कर चुप हो रहे सो ठीक ही है क्योंकि प्रभु लोग प्रायः थोड़े ही बोलते हैं ॥३०॥ तदनन्तर निमित्त-ज्ञानी पुरोहित भरतेश्वरको समझानेके लिए प्रसन्न तथा गम्भीर पद और अलंकारोंसे कोमल वचन कहने लगा ॥३१॥ जो माधुर्य, जो ओज, जो पदोंका सुन्दर विन्यास और जो अर्थकी सरलता आपके वचनोंमें नहीं है वह क्या किसी दूसरी जगह है ? अर्थात् नहीं है ॥३२॥ हम लोग तो केवल शास्त्रको जाननेवाले हैं कार्य करनेकी युक्तियोंमें अभिज्ञ नहीं हैं परन्तु राजनीतिमें शास्त्रके प्रयोगको जाननेवाला आपके समान दूसरा कौन है ? अर्थात् कोई नहीं है ॥३३॥ आप राजाओंमें प्रथम राजा हैं और राजाओंमें ऋषिके समान श्रेष्ठ होनेसे राजर्षि हैं यह राजविद्या केवल आपसे ही उत्पन्न हुई है इसलिए उसे जाननेवाले हम लोग

१ नोपेक्षणीयः । २ अतिशयने लघुः । ३ शीघ्रम् । ४ पीडां करोति । ५ अतिशयेन श्रुद्रः । ६ सुव्यञ्जिते । ७ चक्रे । ८ प्रतीयमानस्वरूपतया । ९ अविचारित । १० निश्चितं भवति । ११ नैमित्तिकाय । १२ व्यक्तं प०, ल० । १३ त्व वचन-प्रपञ्चे । १४ राजविद्याः । १५ त्वदुपक्रमात् ल० । त्वया पूर्व प्रवर्तितं कार्यविज्ञानम् ।

नथापि त्वत्कृतोऽस्मासु सत्कारोऽनन्यगोचरः । तनोति गौरवं लोके ततः स्मो वपुमुद्यताः ॥३५॥
 इत्यनुश्रुतमस्माभिर्देव दैवज्ञनासन्नम् । नास्ति चक्रस्य विश्रान्तिः सावशेषे दिशां जये ॥३६॥
 ज्येष्ठद्विः करालो जेष्ठमन्त्रमिदं सतः । सेतुमिमतमिवातक्यं पुरद्वारि विलम्बते ॥३७॥
 अरिमित्रमरोमित्रं मित्रमित्रमिति श्रुतिः । श्रुतिमात्रे स्थिता देव प्रजास्त्वय्यनुशासति ॥३८॥
 तथाप्यस्यैव जेतव्यः पक्षः कोऽपि तवाशुना । योऽन्तर्गृहे कृतोऽथानः क्रूरो रोग इवोदरे ॥३९॥
 अहिर्मण्डलमवासीन् परिकान्तमिदं त्वया । अन्तर्मण्डलसंशुद्धिमन्नाभायापि जायते ॥४०॥
 जितजेतव्यपक्षस्य न नम्रा भ्रातरस्तव । व्युन्मिताश्च सजातीय विघाताय न नु प्रभोः ॥४१॥
 स्वपञ्चैरेव तेजस्वी महानप्युपबृहन्ते । प्रत्यर्कमर्ककान्तेन उवलेदमुद्राहतम् ॥४२॥
 विबल्योऽपि सजातीयो लब्ध्वा तीक्ष्णं प्रतिष्कलम् । दण्डः परश्वधस्थेन निबहंयति पार्थिवम् ॥४३॥
 भ्रातरोऽमी तवाजस्रया बलिनो मानशालिनः । यवीषांस्तेषु धीरेषु धीरो बाहुबली बली ॥४४॥
 एकाक्षशतसंख्यास्ते^१ लोद्व्या वीर्यशालिनः । प्रमोरादिगुरोर्नाग्यं प्रणमाम इति स्थिताः ॥४५॥

आपके ही सामने उसका प्रयोग करते हुए क्यों न लज्जित हों ॥३४॥ तथापि आपके द्वारा किया हुआ हमारा असाधारण सत्कार लोकमें हमारे गौरवको बढ़ा रहा है इसलिए ही मैं कुछ कहनेके लिए तैयार हुआ हूँ ॥३५॥ हे देव, हम लोगोंने निमित्तज्ञानियोंका ऐसा उपदेश सुना है कि जबतक दिग्विजय करना कुछ भी बाकी रहता है तबतक चक्ररत्न विश्राम नहीं लेता अर्थात् चक्रवर्तीकी इच्छाके विरुद्ध कभी भी नहीं सकता है ॥३६॥ जो जलती हुई ज्वालाओंसे भयंकर है ऐसा वह आपका विजयी शस्त्र नगरके द्वारपर गुप्त रीतिसे रोकेहुएके समान अटककर रह गया है ॥३७॥ हे देव, आपके प्रजाका शासन करते हुए शत्रु, मित्र, शत्रुका मित्र, और मित्रका मित्र ये शब्द केवल शास्त्रमें ही रह गये हैं अर्थात् व्यवहारमें न आपका कोई मित्र है और न कोई शत्रु ही है सब आपके सेवक हैं ॥३८॥ तथापि अब भी कोई आपके जीतने योग्य रह गया है और वह उदरमें किसी भयंकर रोगके समान आपके घरमें ही प्रकट हुआ है ॥३९॥ आपके द्वारा यह बाह्यमण्डल ही आक्रान्त — पराजित हुआ है परन्तु अन्तर्मण्डलकी विशुद्धता तो अब भी कुछ नहीं हुई है । भावार्थ — यद्यपि आपने बाहरके लोगोंको जीत लिया है तथापि आपके घरके लोग अब भी आपके अनुकूल नहीं हैं ॥४०॥ यद्यपि आपने समस्त शत्रु पक्षको जीत लिया है तथापि आपके भाई आपके प्रति नम्र नहीं हैं—उन्होंने आपके लिए नमस्कार नहीं किया है । वे आपके विरुद्ध खड़े हुए हैं और सजातीय होनेके कारण आपके द्वारा विघात करने योग्य भी नहीं हैं ॥४१॥ तेजस्वी पुरुष बड़ा होनेपर भी अपने सजातीय लोगोंके द्वारा रोका जाता है यह बात सूर्यके सम्मुख जलते हुए सूर्यकान्त मणिके उदाहरणसे स्पष्ट है ॥४२॥ सजातीय पुरुष निर्बल होनेपर भी किसी बलवान् पुरुषका आश्रय पाकर राजाको उस प्रकार नष्ट कर देता है जिस प्रकार निर्बल दण्ड कुल्हाड़ीका तीक्ष्ण आश्रय पाकर अपने सजातीय वृक्ष आदिको नष्ट कर देता है ॥४३॥ ये आपके बलवान् तथा अभिमानी भाई अजेय हैं और इनमें भी अतिशय युवा धीर वीर तथा बलवान् बाहुबली मुख्य है ॥४४॥ आपके ये निन्यान्त्रे भाई बड़े बलशाली हैं, हम लोग भगवान् आदिनाथको छोड़कर और

१ विभिन्नशास्त्रम् । २ —मिवात्यर्थं स०, इ०, अ० । —मिवाव्यक्तं प०, ल० । ३ विरुद्धाचरणाः । ४ बाध्यते । ५ सूर्यकान्तपाषाणेन । ६ उदाहरणं कृतम् । ७ प्रतिश्रवणम् प०, ल० । सहायम् । ८ परशोः । 'परशुश्च परश्वधः' इत्यभिधानात् । ९ नाशयति (लूय बह्विहितायाम्) । १० पृथिव्यां भवम् । वृक्षं नृपं च । ११ कनिष्ठः । 'जयमये त्वुः कनिष्ठयवीयोऽवरजानुजाः' इत्यभिधानात् । १२ एकीन—ल०, द०, इ०, प० । १३ बाहुबलिना रहितेन सह इयं संख्या, वृषभसेनेन प्रागेव दीक्षावधहणात् ।

तदग्रे^१ प्रतिकर्तव्यमाशु चक्रधर स्वया । ऋणघ्नाग्निशत्रूणां शेषं नोपेक्षते कृती ॥४६॥
 राजन् राजन्वती भूयात् स्वयैवेयं वसुंधरा । माभूद्राजवती^२ तेषां भूमा द्वैराज्यदुःस्थिता^३ ॥४७॥
 स्वयि राजनि राजोक्तिर्देव नान्यत्र राजते । सिंहे स्थिते मृगेन्द्रोक्तिं हरिणा विमृशुः कथम् ॥४८॥
 देव स्वामनुवर्तन्तां आतरो धूतमत्सराः । ज्येष्ठस्य कालमुज्यस्य शास्त्रोक्तमनुवर्तनम् ॥४९॥
 तच्छासनहरा^४ गत्वा सोपायमुपजप्य^५ तान् । त्वदाशानुवसान् कुर्युर्विगृह्य^६ बध्नु रन्वधा ॥५०॥
 मिथ्यामशोद्धतः कोऽपि नोपेक्षाद्यदि ते वशम् । स नाशयेत्तस्मात्मानमात्मगृह्य^७ च राजकम् ॥५१॥
 राज्यं कुलकलत्रं च भेदं साधारणं द्वयम् । भुङ्क्ते त्वाहं परैर्यस्तस्मिन् नरः पशुरेव सः ॥५२॥
 किमत्र बहुभोक्तेन स्वामेस्य प्रणमन्तु ते । यास्तु वा शरणं देवं वातारं अगतां जिनम् ॥५३॥
 न मृतीया गतिस्तेषामेवैषां^८ द्वितीय गतिः^९ । प्रविशन्तु त्वदास्थानं वनं वामी मृगैः समम् ॥५४॥
 दहकुलान्पुण्ड्रकाभीष^{१०} दहस्यन्नुवर्तनैः । अनुवर्तन्ति ताम्बेव नेत्रद्वयान्मृशुः परम्^{११} ॥५५॥

किसीको प्रणाम नहीं करेंगे ऐसा वे निश्चय कर बैठे हैं ॥४६॥ इसलिए हे चक्रधर, आपको इस विषयमें शीघ्र ही प्रतिकार करना चाहिए क्योंकि बुद्धिमान् पुरुष ऋण, घाव, अग्नि और शत्रुके बाकी रहे हुए थोड़े भी अंशकी उपेक्षा नहीं करते हैं ॥४६॥ हे राजन्, यह पृथिवी केवल आपके द्वारा ही राजन्वती अर्थात् उत्तम राजासे पालन की जानेवाली हो, आपके भाइयों-के अधिक होनेसे अनेक राजाओंके सम्बन्धसे जिसकी स्थिति बिगड़ गयी है ऐसी होकर राजवती अर्थात् अनेक साधारण राजाओंसे पालन की जानेवाली न हो । भावार्थ—जिस पृथिवीका शासक उत्तम हो वह राजन्वती कहलाती है और जिसका शासक अच्छा न हो, नाममात्रका ही हो वह राजवती कहलाती है । पृथिवीपर अनेक राजाओंका राज्य होनेसे उसकी स्थिति छिन्न-भिन्न हो जाती है इसलिए एक आप ही इस रत्नमयी वसुंधराके शासक हों, आपके अनेक भाइयोंमें यह विभक्त न होने पावे ॥४७॥ हे देव, आपके राजा रहते हुए राजा यह शब्द किसी दूसरी जगह सुशोभित नहीं होता सो ठीक ही है क्योंकि सिंहके रहते हुए हरिण मृगेन्द्र शब्दको किस प्रकार धारण कर सकते हैं ? ॥४८॥ हे देव, आपके भाई ईर्ष्या छोड़कर आपके अनुकूल रहें क्योंकि आप उन सबमें बड़े हैं और इस कालमें मुख्य हैं इसलिए उनका आपके अनुकूल रहना शास्त्रमें कहा हुआ है ॥४९॥ आपके दूत जावें और युक्तिके साथ बातचीत कर उन्हें आपके आज्ञाकारी बनावें, यदि वे इस प्रकार आज्ञाकारी न हों तो विग्रह कर (बिगड़कर) अन्य प्रकार भी बातचीत करें ॥५०॥ मिथ्या अभिमानसे उद्धत होकर यदि कोई आपके वश नहीं होगा तो खेद है कि वह अपने-आपको तथा अपने अधीन रहनेवाले राजाओंके समूहका नाश करावेगा ॥५१॥ राज्य और कुलवती स्त्रियां ये दोनों ही पदार्थ साधारण नहीं हैं, इनका उपभोग एक ही पुरुष कर सकता है । जो पुरुष इन दोनोंका अन्य पुरुषोंके साथ उपभोग करता है वह नर नहीं है पशु ही है ॥५२॥ इस विषयमें बहुत कहनेसे क्या लाभ है या तो वे आकर आपको प्रणाम करें या जगत्की रक्षा करनेवाले जिनेन्द्रदेवकी शरणको प्राप्त हों ॥५३॥ आपके उन भाइयोंकी तीसरी गति नहीं है, इनके ये ही दो मार्ग हैं कि या तो वे आपके शिबिरमें प्रवेश करें या मृगोंके साथ वनमें प्रवेश करें ॥५४॥ सजातीय लोग परस्परके विरुद्ध आचरणसे अंगारेके

१ कारणात् । २ कुत्सितराजवती । 'सुरांशि देशे राजन्वान् स्यात्ततोऽन्यत्र राजवान्' इत्यभिधानात् । ३ द्वयो राज्ञो राज्येन दुःस्थिताः । ४ त्वच्छासन-द०, ल० । दूताः । ५ उपस्था । ६ विवादं कृत्वा । ७ आत्मना स्वीकरणीयम् । ८ सर्वेषामनुभवनीयम् । ९ द्वयम् । १०-मेवैषां ल० । ११-उपायः । १२ स्वभोजाणि । तव आत्तर इत्यर्थः । १३ परः अ०, इ०, स० ।

प्रशान्तमनसोऽपि शस्त्रं पुरोधसि सुमेधसि । प्रतिपद्यापि तत्कार्यं चक्री बुक्रोध तत्क्षणम् ॥५६॥
 आरुह्यकलुषां दृष्टिं क्षिपन्दिशिव दिग्बलिम् । सधूमामिव क्रोपाग्नेः शिखां भुकुटिमुक्षिपन् ॥५७॥
 आतुभा^१ पट्टकृतानर्षविषवेगमिवोद्वमन् । वाक्छलेनो^२च्छलन् रोषाद् वभ्रावे पटुषा गिरः ॥५८॥
 किं किमा^३थ^४ दुरात्मानो भ्रातरः प्रणतान माम् । पश्य मद्दण्डचण्डोत्कापातासान्^५ शस्त्रसात्कृतान् ॥५९॥
 अदृष्टमभ्रुतं कृत्यमिदं वैरमकारणम् । अद्वयाः किल कुल्यान्वादिति^६ तेषां मनीषितम् ॥६०॥
 यौवनोन्मादजस्तेषां मत्वातोऽस्ति^७ दुर्मदः^८ । ज्वलन्काभितापेन स्वेदस्तस्य प्रतिक्रिया ॥६१॥
 अकरा^९ भोक्तुमिच्छन्ति गुरुदसामिमान्तके^{१०} । तत्किं^{११} मद्रावलेपेन^{१२} सुकिं ते श्रावयन्तु^{१३} मे ॥६२॥
 प्रतिशय्यानिपातेन^{१४} भुक्तिं ते साधयन्तु वा । शिताखकण्टकोत्संगपतिताङ्गरणाङ्गणे ॥६३॥
 क्व वयं जितजेतेभ्यः भोक्तव्यं^{१५} संगताः क्व ते । तथापि^{१६} संविभागोऽस्तु तेषां मदनुवर्तने ॥६४॥

समान जलाते रहते हैं और वे ही लोग परस्परमें अनुकूल रहकर नेत्रोंके लिए अतिशय आनन्द रूप होते हैं ॥५५॥ इसलिए ये आपके भाई मात्सर्य छोड़कर शान्त हो मस्तक झुकाकर आपको नमस्कार करें और आपकी प्रसन्नताकी इच्छा रखते हुए सुखसे वृद्धिको प्राप्त होते रहें ॥५६॥ इस प्रकार शास्त्रके जाननेवाले बुद्धिमान् पुरोहितके कह चुकनेपर चक्रवर्ती भरतने उसीके कहे अनुसार कार्य करना स्वीकार कर उसी क्षण क्रोध किया ॥५७॥ जो क्रोधसे कलुषित हुई अपनी दृष्टिको दिशाओंके लिए बलि देते हुएके समान सब दिशाओंमें फेंक रहे हैं, क्रोधरूपी अग्निकी धूमसहित शिखाके समान भूकुटियाँ ऊँची चढ़ा रहे हैं, भाईरूपी मूलधनपर किये हुए क्रोधरूपी विषके वेगको जो वचनोंके छलसे उगल रहे हैं और जो क्रोधसे उछल रहे हैं ऐसे महाराज भरत नीचे लिखे अनुसार कठोर वचन कहने लगे ॥५८-५९॥ हे पुरोहित, क्या कहा ? क्या कहा ? वे दुष्ट भाई मुझे प्रणाम नहीं करते हैं, अच्छा तो तू उन्हें मेरे दण्डरूपी प्रचण्ड उल्कापातसे टुकड़े किया हुआ देख ॥६०॥ उनका यह कार्य न तो कभी देखा गया है, न सुना गया है, उनका यह वैर बिना कारण ही किया हुआ है, उनका खयाल है कि हम लोग एक कुलमें उत्पन्न होनेके कारण अवध्य हैं ॥६१॥ उन्हें यौवनके उन्मादसे उत्पन्न हुआ योद्धा होनेका कठिन वायुरोग हो रहा है इसलिए जलते हुए चक्रके सन्तापसे पसीना आना ही उसका प्रतिकार-उपाय है ॥६२॥ वे लोग पूज्य पिताजीके द्वारा दी हुई पृथिवीको बिना कर दिये ही भोगना चाहते हैं परन्तु केवल योद्धापनेके अहंकारसे क्या होता है ? अब या तो वे लोगोंको सुनावें कि भरत ही इस पृथिवीका उपभोग करनेवाला है हम सब उसके अधीन हैं या युद्धके मैदानमें तीक्ष्ण शस्त्ररूपी काँटोंके ऊपर जिनका शरीर पड़ा हुआ है ऐसे वे भाई प्रतिशय्या-दूसरी शय्या अर्थात् रणशय्यापर पड़कर उसका उपभोग प्राप्त करें । भावार्थ-जीते-जी उन्हें इस पृथिवीका उपभोग प्राप्त नहीं हो सकता ॥६३-६४॥ जिसने जीतने योग्य समस्त लोगोंको जीत लिया है ऐसा कहाँ तो मैं, और मेरे उपभोग करने योग्य क्षेत्रमें स्थित कहाँ वे लोग ? तथापि मेरे आज्ञानुसार चलनेपर उनका भी विभाग (हिस्सा)

१ 'भाण्डं भपणमादेजं प भाण्डमूला वणिग्धने । नदीनाथे तुरंगणां भूषणे भाजनेऽपि च' । २ उत्पन्न । ३ वदसि । ४ खण्ड । ५ कुले भवाः कुल्यास्तेषां भावः तस्मात् । ६ वयं भद्रा इति गवः । ७ दुर्निवारः । ८ अबलिम् । 'भागधेयः करो बलिः' इत्यभिधानात् । ९ भूमिम् । १० कुसिताः । ११ तर्हि । १२ मद्गर्वेण । १३ साधयन्तिवत्यर्थः । १४ पूर्व वाध्यायाः प्रतिशय्या-अन्य शय्यातस्यां निपातेन सरणमप्या इत्यर्थः । १५ वृत्तिकेने । १६ सम्यक्क्षेत्रादिविभागः ।

न भोक्तुमन्यथाकारं^१ महीं तेष्वो ददाम्यहम् । कथंकारमिदं^२ चक्रं विश्रमं यात्वतज्जये^३ ॥६६॥
 इदं मङ्गलनाख्येयं^४ यत्प्राज्ञो बन्धुवत्सलः । स बाहुबलिसाहोऽपि^५ भजते विकृतिं कृतां ॥६७॥
 अथाहुबलिनानेन^६ राजकेन नतेन किम् । नगरेण गरेणैव^७ भुक्तेलापोदनेन^८ किम् ॥६८॥
 किं किंकरः करालास्त्रप्रतिनिर्जितं^९ शाश्वतैः । अनाज्ञावशमेतस्मिन् नवविक्रमशालिनि^{१०} ॥६९॥
 किं वा सुरमर्दरंभिरुद्भटारमर्दरसैः^{११} । मयैवमसमां स्पर्द्धां तस्मिन्कुर्वति शर्विते ॥७०॥
 इति जल्पति संरम्भाच्च^{१२} कृपाणाद्युपक्रमम्^{१३} । तस्यापचक्रमं कसु पुनरित्यु पुरोहितः ॥७१॥
 जितजेतव्यतां देव घोषयन्नपि किं मुधा । जितोऽसि क्रोधवेगेन प्राग्जय्यो वशिनां हि सः ॥७२॥
 बालास्ते बालभावेन^{१४} बिल^{१५} सन्त्यययेऽप्यलम् । वंशे जितारिषड्वर्गे न तमः^{१६} स्थानुमर्हति ॥७३॥
 क्रोधान्धतमसे ममं यो नात्मानं समुद्धरेत् । स कृत्यसंशयद्वैधायां^{१७} तरीतुमर्लतसम् ॥७४॥
 किं तरो स विजानाति कार्याकार्यभनात्मवित् । यः स्वान्तःप्रभवान् जेतुमरीश्व प्रभवैःप्रभुः ॥७५॥
 तदेव विरमामुष्मान् संरम्भादपकारिणः । जितात्मानो जयन्ति क्षमां क्षमया हि जिगीषवः ॥७६॥

हो सकता है ॥६५॥ और किसी तरह उनके उपभोगके लिए मैं उन्हें यह पृथिवी नहीं दे सकता हूँ । उन्हें जीते बिना यह चक्ररत्न किस प्रकार विश्राम ले सकता है ? ॥६६॥ यह बड़ी निन्दाकी बात है कि जो अतिशय बुद्धिमान् है, भाइयोंमें प्रेम रखनेवाला है, और कार्यकुशल है वह बाहुबली भी विकारको प्राप्त हो रहा है ॥६७॥ बाहुबलीको छोड़कर अन्य सब राज-पुत्रोंने नमस्कार भी किया तो उससे क्या लाभ है और पोदनपुरके बिना बिपके समान इस नगरका उपभोग भी किया तो क्या हुआ ॥६८॥ जो नवीन पराक्रमसे शोभायमान बाहुबली हमारी आज्ञाके वश नहीं हुआ तो भयंकर शस्त्रोंसे शत्रुओंका तिरस्कार करनेवाले सेवकोंसे क्या प्रयोजन है ? ॥६९॥ अथवा अहंकारी बाहुबली जब इस प्रकार मेरे साथ अयोग्य ईर्ष्या कर रहा है तब अतिशय गूरवीरतारूप रसको धारण करनेवाले मेरे इन देवरूप योद्धाओंसे क्या प्रयोजन है ? ॥७०॥ इस प्रकार जब चक्रवर्ती क्रोधसे बहुत बढ़-बढ़कर बातचीत करने लगे तब पुरोहितने उन्हें शान्त कर उपायपूर्वक कार्य प्रारम्भ करनेके लिए नीचे लिखे अनुसार उद्योग किया ॥७१॥ हे देव, मैंने जीतने योग्य सबको जीत लिया है ऐसी घोषणा करते हुए भी आप क्रोधके वेगसे व्यर्थ ही क्यों जीते गये ? जितेन्द्रिय पुरुषोंको तो क्रोधका वेग पहले ही जीतना चाहिए ॥७२॥ वे आपके भाई बालक हैं इसलिए अपने बालस्वभावसे कुमार्गमें भी अपने इच्छानुसार क्रीड़ा कर सकते हैं परन्तु जिसने काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य इन छहों अन्तरंग शत्रुओंको जीत लिया है ऐसे आपमें यह अन्धकार ठहरनेके योग्य नहीं है अर्थात् आपको क्रोध नहीं करना चाहिए ॥७३॥ जो मनुष्य क्रोधरूपी गाढ़ अन्धकारमें डूबे हुए अपने आत्माका उद्धार नहीं करता वह कार्यके संशयरूपी द्विविधासे पार होनेके लिए समर्थ नहीं है । भावार्थ — क्रोधसे कार्यकी सिद्धि होनेमें सदा सन्देह बना रहता है ॥७४॥ जो राजा अपने अन्तरंगसे उत्पन्न होनेवाले शत्रुओंको जीतनेके लिए समर्थ नहीं है वह अपने आत्माको नहीं जाननेवाला कार्य और अकार्यको कैसे जान सकता है ? ॥७५॥ इसलिए हे देव, अपकार करनेवाले इस क्रोधसे दूर रहिए क्योंकि जीतकी इच्छा रखनेवाले जिते-

१ अन्यथा । २ कथम् । ३ तेषां जयाभावे । ४ अवाच्यम् । ५ बाहुबलिनामा । ६ बाहुबलिकुमाररहितेन । ७ गरलेनेव । ८ पोदनपुररहितेन । ९ तजित — ल०, द० । १० बाहुबलिनि । ११ अधिकभयानकरसैः । १२ क्रोधात् । १३ युद्धारम्भम् । १४ बालत्वेन । १५ गविता भूत्वा वर्तन्त इत्यर्थः । १६ अज्ञानम् । १७ कार्यसंदेहद्वैविध्यात् ।

विजितेन्द्रियवर्गाणां सुश्रुतश्रुतसंपदाम् । परलोकजिगीषूणां क्षमा साधनमुत्तमम् ॥७७॥
 लेखसंध्ये च कार्येऽस्मिन् विफलोऽतिपरिश्रमः । तृणाङ्कुरे नखच्छेद्ये कः परम्बन्धमुद्धरेत् ॥७८॥
 ततस्तितिक्षमाणेन साध्यो भ्रातृगणस्त्वयः । सोपचारं प्रयुक्तेन वचोहरगणेन तः ॥७९॥
 अथैव च प्रहेलभ्याः समं लेखैर्ध्वजोहराः । गत्वा ब्रूयुश्च तानेत चक्रिणं भजताम्रजम् ॥८०॥
 कल्पानोकहसेवेव तत्सेवाऽभीष्टदायिनी । गुरुकृपेऽग्रजश्चक्षुः स माम्यः सर्वभाषि वः ॥८१॥
 विदूरस्थैर्न युष्मामिरैश्वर्यं तस्य राजते । तारागणैरनासन्नैरिव बिम्बं निष्ठापितैः ॥८२॥
 साम्राज्यं मास्य तोषाय यद्भवद्भिर्विना भवेत् । सहस्रोऽयं हि बन्धूनामभिराज्यं सतां मुवे ॥८३॥
 इदं वाचिकमन्यत्तु लेखार्थादप्रधार्यताम् । इति सोपायनैर्लेखैः प्रत्याख्यास्तै मनस्विनः ॥८४॥
 यशस्य मिदमेवार्थं कार्यं श्रेयस्करमेव च । चिन्त्यमुत्तरकार्यं च साम्ना तेष्ववशेषु वै ॥८५॥
 बिम्बता जनमिर्वादादनुष्ठेयमिदं स्वथा । स्थायुकं हि यशो लोके गन्धर्वो ननु संपदः ॥८६॥
 इति तद्वचनाश्चक्षुः कृतिभारमटीं जहौ । अनुवर्तनसाध्या हि महतां चित्तवृत्तयः ॥८७॥
 आस्तां भुजबली तावद् यस्तसाध्यो महाबलः । सेवैरेव परीक्षिष्ये भ्रातृमिस्तद् द्विजिह्वताम् ॥८८॥

इन्द्रिय पुरुष केवल क्षमाके द्वारा ही पृथिवीको जीतते हैं ॥७६॥ जिन्होंने इन्द्रियोंके समूहको जीत लिया है, शास्त्ररूपी सम्पदाका अच्छी तरह श्रवण किया है और जो परलोकको जीतनेकी इच्छा रखते हैं ऐसे पुरुषोंके लिए सबसे उत्कृष्ट साधन क्षमा ही है ॥७७॥ जो लेख लिखकर भी किया जा सकता है ऐसे इस कार्यमें अधिक परिश्रम करना व्यर्थ है क्योंकि जो तृणाङ्कुर नखसे तोड़ा जा सकता है उसके लिए भला कौन कुल्हाड़ी उठाता है ॥७८॥ इसलिए आपको शान्त रहकर भेंटसहित भेजे हुए दूतोंके द्वारा ही यह भाइयोंका समूह वश करना चाहिए ॥७९॥ आज ही आपको पत्रसहित दूत भेजना चाहिए, वे जाकर उनसे कहें कि चलो और अपने बड़े भाईकी सेवा करो ॥८०॥ उनकी सेवा कल्पवृक्षकी सेवाके समान आपके सब मनोरथोंको पूर्ण करनेवाली होगी । वह आपका बड़ा भाई पिताके तुल्य है, चक्रवर्ती है और सब तरहसे आप लोगोंके द्वारा पूज्य है ॥८१॥ जिस प्रकार दूर रहनेवाले तारागणोंसे चन्द्रमाका बिम्ब सुशोभित नहीं होता है उसी प्रकार दूर रहनेवाले आप लोगोंसे उनका ऐश्वर्य सुशोभित नहीं होता है ॥८२॥ आप लोगोंके बिना यह राज्य उनके लिए सन्तोष देनेवाला नहीं हो सकता क्योंकि जिसका उपभोग भाइयोंके साथ-साथ किया जाता है वही साम्राज्य सज्जन पुरुषोंको आनन्द देनेवाला होता है ॥८३॥ 'यह मौखिक सन्देश है, बाकी समाचार पत्रसे मालूम कीजिए' इस प्रकार भेंटसहित पत्रोंके द्वारा उन प्रतापी भाइयोंको विश्वास दिलाना चाहिए ॥८४॥ हे आर्य, आपके लिए यही कार्य यश देनेवाला है और यही कल्याण करनेवाला है यदि वे इस तरह शान्तिसे वश न हों तो फिर आगेके कार्यका विचार करना चाहिए ॥८५॥ आपको लोकापवादसे डरते हुए यही कार्य करना चाहिए क्योंकि लोकमें यश ही स्थिर रहनेवाला है, सम्पत्तियाँ तो नष्ट हो जानेवाली हैं ॥८६॥ इस प्रकार पुरोहितके वचनोंसे चक्रवर्तीने अपनी क्रोधपूर्ण वृत्ति छोड़ दी सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुषोंकी चित्तकी वृत्ति अनुकूल वचन कहनेसे ही ठीक हो जाती है ॥८७॥ इस समय जो प्रयत्नसे वश नहीं किया जा सकता ऐसा महाबलवान् बाहुबली दूर रहे पहले शेष भाइयोंके द्वारा ही

१ परशुम् । २ सहमानेन । ३ आगच्छत । ४ पूज्यः । ५ संदेशवाक् । 'संदेशवाक् वाचिकं स्याद्' इत्यभिधानात् ।
 ६ विश्वास्याः । ७ यशस्करम् । ८ श्रेयस्करम् । ९ जनापवादात् । १० स्थिरतरम् । ११ गमनशीलाः
 १२ यत्र साध्या महाभुजः अ०, प०, सं०, इ०, ल० । १३ बाहुबलिनः कुटिलताम् ।

इति निर्द्धार्य कार्यज्ञानं कार्ययुक्तौ विचिन्तयौः । प्रादिणोऽप्य निःसृष्टार्थान्^१ दूताननुजसंनिधिम् ॥८९॥

गत्वा च ते^२ यथोद्देशं दृष्ट्वा तांस्तान्यथोचितम् । जगुः संदेशमीशस्य तंभ्यो दूता यथास्थितम् ॥९०॥

अथ ते सह संभूय कृतकार्यनिवेदनात् । दूतानिन्युत्तुगरूढप्रभुत्वमदकंकशाः ॥९१॥

यदुक्तमादिराजेन तत्सत्यं^३ नोऽमिसंमतम् । गुरोरसंनिधौ पूज्यो ज्यायान्भाताऽनुजैरिति ॥९२॥

प्रत्यक्षो गुरुस्सार्कं प्रतपत्येवं^४ विश्वदृक् । स नः प्रमाणमैश्वर्यं तद्वितीर्णमिदं हि नः ॥९३॥

तदत्र गुरुपादांशो तन्त्रा^५ न स्वैरिणो^६ वधम् । न देवं भरतेशेन नादेयमिह किंचन ॥९४॥

यत्तु नः संविभागार्थमिदमामन्त्रणं कृतम् । चक्रिणा तेन सुप्रीता^७ प्रीणाश्च वयभागलात् ॥९५॥

इति संकुल्य तान्कुल्य^८ स्वाम्यौ^९ वभुल्लग्नौ । विहिजोऽप्यनाः^{१०} सद्यः प्रतिलेखैर्व्यसर्जयन् ॥९६॥

दूतसाम्प्रतसन्मानाः^{११} प्रभुसात्कृतवीचिकाः^{१२} । गुरुसात्कृत्य तत्कार्यं^{१३} प्राप्नुस्ते गुरुसंनिधिम् ॥९७॥

गत्वा च गुरुमवाक्षुर्मितोचितपरिच्छदाः^{१४} । महागिरिमिवोत्तुङ्गं कैलासशिखरालयम्^{१५} ॥९८॥

प्रणिपत्य विधानेन प्रपूज्य च यथाविधि । व्यजिज्ञपन्निदं वाक्यं कुमारो मारविद्विषम् ॥९९॥

वचनः स्मो लब्धजन्मानसवचनः प्राप्ताः परां श्रियम् । स्वप्नसादैविणो देव स्वप्नो नान्यमुपास्महे^{१६} ॥१००॥

उनकी कुटिलताकी परीक्षा करूँगा । इस प्रकार निश्चय कर कार्य करनेमें जिसकी बुद्धि कभी भी मोहित नहीं होती ऐसे चक्रवर्तीने कार्यके जाननेवाले निःसृष्टार्थ दूतोंको अपने भाइयोंके समीप भेजा ॥८८-८९॥ उन दूतोंने भरतके आशानुसार जाकर उनके योग्यरीतिसे दर्शन किये और उनके लिए चक्रवर्तीका सन्देश सुनाया ॥९०॥ तदनन्तर-प्राप्त हुए ऐश्वर्यके मदसे जो कठोर हो रहे हैं ऐसे वे सब भाई दूतोंके द्वारा कार्यका निवेदन ही चुकनेपर परस्परमें मिलकर उनसे इस प्रकार वचन कहने लगे ॥९१॥ कि जो आदिराजा भरतने कहा है वह सच है और हम लोगोंको स्वीकार है क्योंकि पिताके न होनेपर बड़ा भाई ही छोटे भाइयोंके द्वारा पूज्य होता है ॥९२॥ परन्तु समस्त संसारको जानने-देखनेवाले हमारे पिता प्रत्यक्ष विराजमान हैं वे ही हमको प्रमाण हैं, यह हमारा ऐश्वर्य उन्हींका दिया हुआ है ॥९३॥ इसलिए हम लोग इस विषयमें पिताजीके चरणकमलोंकी आज्ञाके अधीन हैं, स्वतन्त्र नहीं हैं । इस संसारमें हमें भरतेश्वरसे न तो कुछ लेना है और न कुछ देना है ॥९४॥ तथा चक्रवर्तीने हिस्सा देनेके लिए जो हम सबको आमन्त्रण दिया है अर्थात् बुलाया है उससे हम लोग बहुत सन्तुष्ट हुए हैं और गले तक तृप्त हो गये हैं ॥९५॥ इस प्रकार राजाओंकी तरह योग्य सन्मानोंसे उन दूतोंका सत्कार कर तथा भरतके लिए उपहार देकर और बदलेके पत्र लिखकर उन राजकुमारोंने दूतोंको शीघ्र ही बिदा कर दिया ॥९६॥ इस प्रकार जिन्होंने दूतोंका सन्मान कर भरतके लिए योग्य उत्तर दिया है ऐसे वे सब राजकुमार, पूज्य पिताजीका दिया हुआ कार्य उन्हींको सौंपनेके लिए उनके समीप पहुँचे ॥९७॥ जिनके पास परिमित तथा योग्य सामग्री है ऐसे उन राजकुमारोंने किसी महापर्वतके समान ऊँचे और कैलासके शिखरपर विद्यमान पूज्य पिता भगवान् वृषभदेवके जाकर दर्शन किये ॥९८॥ उन राजकुमारोंने विधिपूर्वक प्रणाम किया, विधिपूर्वक पूजा की और फिर कामदेवकी नष्ट करनेवाले भगवान्से नीचे लिखे वचन कहे ॥९९॥ हे देव, हम लोगोंने आपसे ही जन्म पाया है, आपसे ही यह उत्कृष्ट विभूति पायी है और अब भी आपकी प्रसन्नताकी इच्छा रखते हैं, हम लोग आपको छोड़कर और किसीकी उपासना नहीं

१ न्यस्तावन्ति । असङ्करसंपादितप्रयोजनानित्यर्थः । २ कुमारः । ३ अस्माकम् । ४ प्रकाशते । ५ प्रक्षान्ताः ।

६ स्वेच्छाचारिणः । ७ संतोषिताः । ८ सुप्ताः । ९ कन्धरपर्यन्तम् । १० कृतप्राभूताः । ११ दूतानामायत्तीकृत ।

१२ भरतायत्तीकृतसंदेशाः । १३ भरतकृतकार्यम् । १४ परिकराः । १५ कैलासशिखरमालयो यस्य ।

१६ आराधयामः ।

गुरुप्रसाद इत्युच्चैर्जनो वक्ष्येष केवलम् । वयं तु तदसाभिज्ञास्त्वप्रसादाजितश्रियः^१ ॥१०१॥
 त्वप्रणामानुरक्तानां त्वप्रसादाभिकाङ्क्षिणाम् । त्वद्वचःकिंकराणां नो यद्वा तद्वाऽस्तु^२ नापरम् ॥१०२॥
 इति स्थिते प्रणामार्थं भरतोऽस्माञ्जुह्वयति^३ । तन्नात्र कारणं विप्रः किं मदः किं मत्स्वरः ॥१०३॥
 युष्मत्प्रणमनाभ्यासरसदुर्लभितं^४ शिरः । नान्यप्रणमने देव धृतिं वक्ष्याति जातु नः ॥१०४॥
 किमम्भोजरजःपुञ्जपिञ्जरं वारि मानसे । निषेध्य राजहंसोऽयं रमतेऽभ्यसरोजले ॥१०५॥
 किमप्सरःशिरोजान्तं सुमनोगन्धलालितः । तुम्भीवनान्तं मध्येति प्राणान्तेऽपि मधुवतः ॥१०६॥
 मुक्ताफलाच्छमापायं गगनाम्बुधाम्बुदात् । शुष्यत्सरोऽस्तु किं वाष्पेदुदम्बपि^५ चातकः ॥१०७॥
 इति युष्मत्पदाब्जन्म^६ रजोरजितमस्तकाः । प्रणन्तुमसदास्तं नामिहामुत्र^७ च मेऽमहं^८ ॥१०८॥
 परप्रणामविमुखी मयसंगविवर्जिताम् । वीरदीक्षां वयं धर्तुं भवत्पाशं सुपागताः ॥१०९॥
 तदेव कथयास्माकं हितं पथ्यं च वरमं यत् । वेनेहामुत्र च स्वाम^९ त्वज्जकिद्वयासनाः ॥११०॥
 परप्रणामसंजातमानमङ्गभयासिणाम्^{१०} । पदवीं तावकीं^{११} देव भवेमहि^{१२} भवे मवे ॥१११॥
 मानखण्डनसंभूतपरिभूतिं^{१३} मयातिगाः । योगिनः सुखमेष्वन्ते वनेषु हरिभिः समम् ॥११२॥

करना चाहते ॥१००॥ इस संसारमें लोग यह 'पिताजीका प्रसाद है' ऐसा केवल कहते ही हैं परन्तु आपके प्रसादसे जिन्हें उत्तम सम्पत्ति प्राप्त हुई है ऐसे हम लोग इस वाक्यके रसका अनुभव ही कर चुके हैं ॥१०१॥ आपको प्रणाम करनेमें तत्पर, आपकी प्रसन्नताको चाहनेवाले और आपके वचनोंके किकर हम लोगोंका चाहे जो हो परन्तु हम लोग और किसीकी उपासना नहीं करना चाहते हैं ॥१०२॥ ऐसा होनेपर भी भरत हम लोगोंको प्रणाम करनेके लिए बुलाता है सो इस विषयमें उसका मद कारण है अथवा मात्सर्यं यह हम लोग कुछ नहीं जानते ॥१०३॥ हे देव, जो आपको प्रणाम करनेके अभ्यासके रससे मस्त हो रहा है ऐसा यह हमारा शिर किसी अन्यको प्रणाम करनेमें सन्तोष प्राप्त नहीं कर रहा है ॥१०४॥ क्या यह राजहंस मानसरोवरमें कमलोंकी परागकी समूहसे पीले हुए जलकी सेवा कर किसी अन्य तालाबके जलकी सेवा करता है ? अर्थात् नहीं करता है ? ॥१०५॥ क्या अप्सराओंके केशोंमें लगे हुए फूलोंकी सुगन्धसे सन्तुष्ट हुआ भ्रमर प्राण जानेपर भी तूँबीके वनमें जाता है अर्थात् नहीं जाता है ॥१०६॥ अथवा जो चातक नवीन मेघसे गिरते हुए मोतीके समान स्वच्छ आकाशगत जलको पी चुका है क्या वह प्यासा होकर भी सूखते हुए सरोवरके जलको पीना चाहेगा ? अर्थात् नहीं ॥१०७॥ इस प्रकार आपके चरणकमलोंकी परागसे जिनके मस्तक रंग रहे हैं ऐसे हम लोग इस लोक तथा परलोक—दोनों ही लोकोंमें आप्तभिन्न देव और मनुष्योंको प्रणाम करनेके लिए समर्थ नहीं हैं ॥१०८॥ जिसमें किसी अन्यको प्रणाम नहीं करना पड़ता, और जो भयके सम्बन्धसे रहित है ऐसी वीरदीक्षाको धारण करनेके लिए हम लोग आपके समीप आये हुए हैं ॥१०९॥ इसलिए हे देव, जो मार्ग हित करनेवाला और सुख पहुँचाने वाला हो वह हम लोगोंको कहिए जिससे इस लोक तथा परलोक दोनों ही लोकोंमें हम लोगोंकी वासना आपकी भक्तिमें दृढ़ हो जावे ॥११०॥ हे देव, जो दूसरोंको प्रणाम करनेसे उत्पन्न हुए मानभंगके भयसे दूर रहती है ऐसी आपकी पदवीको हम लोग भवभवमें प्राप्त होते रहें ॥१११॥ मानभंगसे उत्पन्न हुए तिरस्कारके भयसे दूर रहनेवाले योगी लोग वनों

१ गुरुप्रसादसामर्थ्यः । २ प्रसादाजित-द०, ल० । ३ यत्किंचिद् भवति तदस्तु । ४ आह्वानुमिच्छति । ५ गर्वितम् । ६ देवस्त्रीणां केशमध्यपुष्पगन्धलालितः । ७ अलाबुवनमध्यम् । ८ अभिगच्छति । ९-मापीय द०, ल० । आपाय-पीत्वा । १० पिपासन्नपि । ११ पदकमल । १२ नमस्कृत्यम् । १३ अनाप्तानाम् । १४ समर्थ न भवामः । १५ भवाम । लोट् । १६ अतिक्रान्ताम् । १७ तत्र संबन्धिनीम् । १८ प्राप्नुमः । भू प्राप्तावात्मनेपदम् । १९ परिभव ।

शुभानामिति साक्षेपं स्थापयन्नाथि शाश्वते । भगवानिति तानुद्धैस्त्वशादनुशासिता ॥११३॥
 महामाना^२ वपुष्मन्तो^३ वपस्त्वगुणान्विताः । कथमभ्यस्य संसृष्टा यूयं भद्रा द्विषा इव ॥११४॥
 भङ्गिना^४ किमु राज्येन जीवितेन चलेन किम् । किं च भो यौवनोन्मादं^५ ऐश्वर्यं बलदूषितैः ॥११५॥
 किं बलैर्बलिनो गम्यैः किं^६ हायैर्वस्तुवाहनैः^७ । तृष्णाग्निशोधनैरेभिः किं धनैरिन्धनैरिव ॥११६॥
 भुक्त्वापि सुचिरं कालं यैर्न तृप्तिः क्लृप्तः^८ परमः । विषयैस्त्वैकलं भुक्तैर्विशमिधैरिवाग्नैः ॥११७॥
 किं च भो विषयास्वादः कोऽप्यनास्वादितोऽस्ति वः । स एव पुनरास्वादः किं तेनास्त्याशितं भवः ॥११८॥
 यत्र^९ शस्त्राणि मित्राणि शत्रवः पुत्रवाग्धवाः । कलत्रं सर्वभोगीणां धरा राज्यं धिगीदृशम् ॥११९॥
 सुनक्तु नृपशार्दूलो^{१०} भरतो मरतावनिम् । यावत्पुण्योदयस्तावत्तत्रालं प्रोऽनितिसिद्धया^{११} ॥१२०॥
 तेनापि^{१२} स्याज्यमेवेदं राज्यं भङ्गि^{१३} यद्वा तद्वा । हेनोरसाश्वत्स्यास्य युध्यध्वे वत् किं मुधा ॥१२१॥
^{१४} तद्वलं स्वर्ग्या दध्वं यूयं धर्ममहातरोः । दयाकुसुममम्लानि यत्तन्मुक्तिफलप्रदम्^{१५} ॥१२२॥
 पराराधनदैव्योर्न परैराश्रयमेव यत् । तद्वो महामिमानानां तपो मानाभिरक्षणम् ॥१२३॥
 दीक्षा रक्षा गुणा श्रुत्या दवेयं प्राणवल्लभा । इति ज्याय^{१६} स्तपोराज्यमिदं श्लाघ्यपरिच्छदम् ॥१२४॥

में सिंहोंके साथ सुखसे बढ़ते रहते हैं ॥११२॥ इस प्रकार आक्षेपसहित कहते हुए राजकुमारों-
 को अविनाशी मोक्षमार्गमें स्थित करते हुए हितोपदेशी भगवान् वृषभदेव इस प्रकार उपदेश
 देने लगे ॥११३॥ महा अभिमानी और उत्तम शरीरको धारण करनेवाले तथा तारुण्य अवस्था,
 बल और गुणोंसे सहित तुम लोग उत्तम हाथियोंके समान दूसरोंके संवाह्य अर्थात् सेवक (पक्षमें
 वाहन करने योग्य सवारी) कैसे हो सकते हो ? ॥११४॥ हे पुत्रो, इस विनाशी राज्यसे क्या
 हो सकता है ? इस बंचल जीवनसे क्या हो सकता है ? और ऐश्वर्य तथा बलसे दूषित हुए
 इस यौवनके उन्मादसे क्या हो सकता है ? ॥११५॥ जो बलवान् मनुष्योंके द्वारा जीती जा
 सकती है ऐसी सेनाओंसे क्या प्रयोजन है ? जिनकी चोरी की जा सकती है ऐसे सोना, चाँदी,
 हाथी, घोड़ा आदि पदार्थोंसे क्या प्रयोजन है ? और ईंधनके समान तृष्णारूपी अग्निको प्रज्वलित
 करनेवाले इस धनसे भी क्या प्रयोजन है ? ॥११६॥ चिरकाल तक भोग कर भी जिनसे तृप्ति
 नहीं होती, उलटा अत्यन्त परिश्रम ही होता है ऐसे विष मिले हुए भोजनके समान इन विषयोंका
 उपभोग करना व्यर्थ है ॥११७॥ हे पुत्रो, तुमने जिसका कभी आस्वादन नहीं किया हो ऐसा
 भी क्या कोई विषय बाकी है ? यह सब विषयोंका वही आस्वाद है जिसका कि तुम अनेक बार
 आस्वादन (अनुभव) कर चुके हो फिर भला तुम्हें इनसे तृप्ति कैसे हो सकती है ? ॥११८॥
 जिसमें शस्त्र मित्र हो जाते हैं, पुत्र और भाई वगैरह शत्रु हो जाते हैं तथा सबके भोगने योग्य
 पृथिवी ही स्त्री हो जाती है ऐसे राज्यको धिक्कार हो ॥११९॥ जबतक पुण्यका उदय है
 तबतक राजाओंमें श्रेष्ठ भरत इस भरत क्षेत्रकी पृथिवीका पालन करें इस विषयमें तुम लोगोंका
 क्रोध करना व्यर्थ है ॥१२०॥ यह विनश्वर राज्य भरतके द्वारा भी जब कभी छोड़ा हो जावेगा
 इसलिए इस अस्थिर राज्यके लिए तुम लोग व्यर्थ ही क्यों लड़ते हो ॥१२१॥ इसलिए ईर्ष्या
 करना व्यर्थ है, तुम लोग धर्मरूपी महावृक्षके उस दयारूपी फूलको धारण करो जो कभी भी
 म्लान नहीं होता और जिसपर मुवितरूपी महाफल लगता है ॥१२२॥ जो दूसरोंकी आराधनासे
 उत्पन्न हुई दीनतासे रहित है बल्कि दूसरे पुरुष ही जिसकी आराधना करते हैं ऐसा तपश्चरण
 ही महा अभिमान धारण करनेवाले तुम लोगोंके मानकी रक्षा करनेवाला है ॥१२३॥ जिसमें
 दीक्षा ही रक्षा करनेवाली है, गुण ही सेवक है, और यह दया ही प्राणप्यारी स्त्री है इस

१ उपदेशकः । २ महामिमानिनः प्रमाणादिव । ३ संवाह्याः । ४ विनश्वरेण । ५ हर्तुं योग्यैः । ६ म्लानिः ।
 ७ तृप्तिः । ८ राज्ये । ९ सर्वेषां भोगेभ्यो हिता । १० नृपश्रेष्ठः । ११ असमया । १२ भरतेनापि । १३ यस्मिन्
 काले विनश्वरमिति । १४ कारणात् । १५ महाफलम् ल० । १६ श्रेष्ठम् ।

इत्याकर्ण्य विमोर्वाक्यं परं निर्वेदमागताः । महाप्राजाज्यमास्थाय^१ निष्क्रान्तास्ते गृहाद्वनम्^२ ॥१२५॥
 निर्दिष्टां गुरुणा साक्षादीक्षां नववधूमिव । नवा इव वराः प्राप्य रेजुस्ते युवपार्थिवाः ॥१२६॥
 या कचग्रहपूर्वेण^३ प्रणये नातिभूमिगा^४ । तथा पाणिगृहीत्येव^५ दीक्षया ते धृतिं^६ दधुः ॥१२७॥
 तपस्तीव्रमथासाध ते चकासुर्गुणययः । स्वतेजोरुद्विश्वासा^७ ग्रीष्ममर्का^८ शवो यथा ॥१२८॥
 तेऽतिर्ताम्रैस्तपयोगैस्तनूभूतां तनुं दधुः । तपोलक्ष्म्या समुत्कीर्णमिव दीप्तां तपोगुणैः ॥१२९॥
 स्थिताः सामयिके वृत्ते^९ जिनकल्पविशेषिते । ते तं परि तपस्तीव्रं ज्ञानशुद्धयुपवृ^{१०} हितम् ॥१३०॥
 वैराग्यस्य परा^{११} कोटीमारूढास्ते युगेश्वराः । स्वभावाकुस्तपोलक्ष्मीं राज्यलक्ष्म्यामनुसुकाः ॥१३१॥
 तपोलक्ष्म्या परिष्वक्ता^{१२} मुक्तिलक्ष्म्यां कृतस्मृताः । ज्ञानसंपदसक्तास्ते राजलक्ष्मीं विसस्मरुः ॥१३२॥
 द्वादशाङ्गश्रुतस्कन्धमधीत्यैते महाधियः । तपो भावनयात्मानमलंचक्रुः प्रकृष्टया ॥१३३॥
 स्वाध्यायेन मनोरोधस्ततोऽध्यागो विनिर्जयः । इत्याकलय्य ते धीराः स्वाध्यायधियमादधुः ॥१३४॥
 आचारांगेन निःशेषं साध्याचारमवेदिधुः ।^{१३} चर्याशुद्धिमतो^{१४} रेजुरतिक्रम^{१५} दिवर्जिताम् ॥१३५॥

प्रकार जिसकी सब सामग्री प्रशंसनीय है ऐसा यह तपरूपी राज्य ही उत्कृष्ट राज्य है ॥१२४॥
 इस प्रकार भगवान् के वचन सुनकर वे सब राजकुमार परम वैराग्यको प्राप्त हुए और महादीक्षा
 धारण कर घरसे वनके लिए निकल पड़े ॥१२५॥ साक्षात् भगवान् वृषभदेवके द्वारा दी हुई
 दीक्षाको नयी स्त्रीके समान पाकर वे तरुण राजकुमार नये वरके समान बहुत ही अधिक
 मुशोभित हो रहे थे ॥१२६॥ वृषभदेव दीक्षा किसी विवाहिता स्त्रीके समान जान पड़ती
 थी क्योंकि जिस प्रकार विवाहिता स्त्री कचग्रह अर्थात् केश पकड़कर बड़े प्रणय अर्थात् प्रेमसे
 समीप आती है उसी प्रकार वह दीक्षा भी कचग्रह अर्थात् केशलोच कर बड़े प्रणय अर्थात् शुद्ध
 नयोंसे उनके समीप आयी हुई थी इस प्रकार विवाहिता स्त्रीके समान मुशोभित होनेवाली दीक्षासे
 वे राजकुमार अन्तःकरणमें सुखको प्राप्त हुए थे ॥१२७॥ अथानन्तर जिन्होंने अपने तेजसे
 समस्त दिशाओंको रोक लिया है ऐसे वे राजर्षि तीव्र तपश्चरण धारण कर ग्रीष्म ऋतुके सूर्यकी
 किरणोंके समान अतिशय देदीप्यमान हो रहे थे ॥१२८॥ वे राजर्षि जिस शरीरको धारण किये
 हुए थे वह तीव्र तपश्चरणसे कृश होनेपर भी तपके गुणोंसे अत्यन्त देदीप्यमान हो रहा था
 और ऐसा मान्य होता था मानो तपरूपी लक्ष्मीके द्वारा उकेरा ही गया हो ॥१२९॥ वे लोग
 जिनकल्प दिगम्बर मुद्रासे विशिष्ट सामायिक चारित्रमें स्थित हुए और ज्ञानकी विशुद्धिसे बढ़ा
 हुआ तीव्र तपश्चरण करने लगे ॥१३०॥ वैराग्यकी चरम सीमाको प्राप्त हुए उन तरुण
 राजर्षियोंने राज्यलक्ष्मीसे इच्छा छोड़कर तपरूपी लक्ष्मीको अपने वश किया था ॥१३१॥ वे
 राजकुमार तपरूपी लक्ष्मीके द्वारा आलिंगित हो रहे थे, मुवितरूपी लक्ष्मीमें उनकी इच्छा लग
 रही थी और ज्ञानरूपी सम्पदामें आसक्त हो रहे थे । इस प्रकार वे राज्यलक्ष्मीको बिलकुल
 ही भूल गये थे ॥१३२॥ उन महाबुद्धिमानोंने द्वादशाङ्गरूप श्रुतस्कन्धका अध्ययन कर तपकी
 उत्कृष्ट भावनासे अपने आत्माको अलंकृत किया था ॥१३३॥ स्वाध्याय करनेसे मनका
 निरोध होता है और मनका निरोध होनेसे इन्द्रियोंका निग्रह होता है यही समझकर उन
 धीरवीर मुनियोंने स्वाध्यायमें अपनी बुद्धि लगायी थी ॥१३४॥ उन्होंने आचारांगके

१ आश्रित्य । २ वनं प्रति गृहाभिष्क्रान्ताः—निर्गताः । ३ प्रकृष्टनयेन स्नेहेन । ४ सीमातिक्रान्ता । ५ तस्याः
 पाणिद्वयीं प्राप्य सुखमन्तरुपागताः प०, ल० । पत्नी । ६ संतोषम् । ७ सकलदिशः । ८ ग्रीष्मकालं प्राप्य ।
 ९ चारित्रे । १० काष्ठ—म०, अ०, प०, द०, स०, इ०, ल० । ११ आलङ्कृताः । १२ चारित्रशुद्धिम् ।
 १३ आचाराङ्गपरिज्ञानात् । १४ असीधार ।

ज्ञात्वा सूत्रकृतं^१ सूत्रं निखिलं सूत्रतोऽर्थतः । धर्मक्रियासमाधाने ते द्रष्टुः सूत्रधारताम् ॥१३६॥
 स्थानाध्ययनं मध्यायशतैर्गर्भैरमब्धिवत् । विनाह्य तत्त्वरत्नानामयुक्ते भेदमभ्यसा ॥१३७॥
 समवायस्यमङ्गं ते समधीस्य सुमेधसः । द्रव्यादिविषयं सम्यक् समवायं मभुत्सत ॥१३८॥
 स्वभ्यस्तारपञ्चमादक्राद् व्याख्याप्रज्ञसिखंजितात् । साध्यादीधरन्^२ धीराः प्रश्नार्थान् विविधानमी ॥१३९॥
 ज्ञानधर्मकथां सम्यक् बुद्ध्वा बोद्धुनबोधयन् । धर्म्या कथामसंमोहात्ते यथोक्तं^३ महर्विणा ॥१४०॥
 तेष्वीशोपासकाध्यायमङ्गं सप्तमभुजितम् । निखिलं श्रावकाचारं श्रोतव्यः समुपादिशन् ॥१४१॥
 तथान्तकृद्दशावज्ञानं मुनीनष्टकृतो^४ दश^५ । तीर्थं प्रति^६ विदामासुः सौदासद्योपसर्गकात् ॥१४२॥
 अनुत्तरविमानौपपादिकान्दश तादृशान् । शमिनो नवमादक्राद् विदाचक्रुर्विदोचराः ॥१४३॥
 प्रश्नव्याकरणात्म्यमुपादाय शरीरिणाम् । सुखदुःखादिसंप्राप्तिं व्याचक्रुस्ते समाहिताः ॥१४४॥
 विपाकसूत्रमिर्जातसदसकर्मपङ्क्तयः । बद्धकक्षास्तदुच्छिस्तौ^७ तपश्चक्रुस्तन्निताः ॥१४५॥
 दृष्टिवादेन निर्जातदृष्टिभेदा जिनागमे । ते तेतुः परमां भक्तिं परं संवेगमाश्रिताः ॥१४६॥
 तदन्तर्गतं^८ निःशेषश्रुततत्त्वावधारिणः । चतुर्दशमहाविद्यास्थानान्यध्यैषत क्रमात् ॥१४७॥

द्वारा मुनियोंका समस्त आचरण जान लिया था इसीलिए वे अतिचाररहित चर्याकी विशुद्धता-
 को प्राप्त हुए थे ॥१३५॥ वे शब्द और अर्थसहित समस्त सूत्रकृतांगको जानकर धर्मक्रियाओं-
 के धारण करनेमें सूत्रधारपना अर्थात् मुख्यताको धारण कर रहे थे ॥१३६॥ जो सैकड़ों
 अध्यायोंसे समुद्रके समान गम्भीर है ऐसे स्थानाध्ययन नामके तीसरे अंगका अध्ययन कर उन्होंने
 तत्त्वरूपी रत्नोंके भेद शीघ्र ही जान लिये थे ॥१३७॥ सौदासीन बुद्धिको कारण करनेवाले
 उन राजकुमारोंने समवाय नामके चौथे अंगका अच्छी तरह अध्ययन कर द्रव्य आदिके समूह-
 को जान लिया था ॥१३८॥ अच्छी तरह अभ्यास किये हुए व्याख्याप्रज्ञप्ति नामके पाँचवें
 अंगसे उन धीर-वीर राजकुमारोंने अनेक प्रकारके प्रश्न-उत्तर जान लिये थे ॥१३९॥
 वे धर्मकथा नामके छठे अंगको जानकर और उसका अच्छी तरह अवगम कर महर्षि भगवान्
 वृषभदेवके द्वारा कही हुई धर्मकथाएँ अज्ञानी लोगोंको बिना किसी त्रुटिके ठीक-ठीक बतलाते
 थे ॥१४०॥ अतिशय श्रेष्ठ उपासकाध्ययन नामके सातवें अंगका अध्ययन कर उन्होंने श्रोताओंके
 लिए समस्त श्रावकाचारका उपदेश दिया था ॥१४१॥ उन्होंने अन्तःकृद्दश नामके आठवें अंगसे
 प्रत्येक तीर्थंकरके तीर्थमें असह्य उपसर्गोंको जीतकर मुक्त होनेवाले दश अन्तःकृत मुनियों-
 का वृत्तान्त जान लिया था ॥१४२॥ जाननेवालोंमें श्रेष्ठ उन राजकुमारोंने अनुत्तरविमा-
 नौपपादिक नामके नौवें अंगसे प्रत्येक तीर्थंकरके तीर्थमें असह्य उपसर्ग जीतकर अनुत्तर
 विमानोंमें उत्पन्न होनेवाले दश-दश मुनियोंका हाल जान लिया था ॥१४३॥ वे स्थिर चित्त-
 वाले मुनिराज प्रश्नव्याकरण नामके दशवें अंगसे प्रश्न समझकर जीवोंके सुख-दुःख आदिका
 वर्णन करने लगे ॥१४४॥ विपाकसूत्र नामके ग्यारहवें अंगसे जिन्होंने कर्मोंकी शुभ-अशुभ
 समस्त प्रकृतियाँ जान ली हैं ऐसे वे मुनि कर्मोंका नाश करनेके लिए तत्पर हो प्रमाद छोड़कर
 तीव्र तपश्चरण करते थे ॥१४५॥ दृष्टिवाद नामके बारहवें अंगसे जिन्होंने समस्त दृष्टिके
 भेद जान लिये हैं ऐसे वे राजकुमार परम संवेगको प्राप्त होकर जैनशास्त्रोंमें उत्कृष्ट भक्ति
 करने लगे थे ॥१४६॥ उस बारहवें अंगके अन्तर्गत समस्त श्रुतज्ञानके रहस्यका निश्चय
 करनेवाले उन मुनियोंने क्रमसे चौदह महाविद्याओंके स्थान अर्थात् चौदह पूर्वोंका भी अध्ययन

१ अङ्गम् । २ अङ्गम् । ३ समूहम् । 'समवायश्च यो गण' इति विधानात् । ४ श्रवधारयन्ति स्म । ५ ज्ञात्वा
 ल०, ३० । ६ यथोक्तां ल०, ३० । ७ संसारविनाशकारिणः । ८ दश प्रकारान् । ९ तीर्थंकर-प्रवृत्तकाल-
 मुद्दिश्य । १० तदुच्छिस्तं प्र०, ३०, स० । ११ द्वादशाङ्गान्तर्गत ।

ततोऽर्मा श्रुतनिःशेषश्रुतार्थाः श्रुतचक्षुषः । श्रुतार्थमावनोत्कर्षाद् दधुः शुद्धिं तपोत्रिधा ॥१४८॥
 वाग्भ्यः सममालापो मया मौनमनास्तम् । इतीर्ष्यतीव संतापं व्यधत्तैषु तपाःक्रिया ॥१४९॥
 तनुतापमसह्यं ते नहमाना मनस्विनः । बाह्यमाध्यात्मिकं चोग्रं तपः सुचिरमाचरन् ॥१५०॥
 ग्रीष्मेऽर्ककरसंतापं नहमानाः सुदुःखहृत् । तेऽप्येवमवस्थां तावदतिस्मिन्तकाः ॥१५१॥
 शिलातलेषु तपेषु निवेशितपदद्वयाः । प्रलम्बितभुजास्तस्थुर्गिर्यग्रघावगोचरे ॥१५२॥
 तप्तार्णमुन्मिता भूमिर्दावदग्धा वनस्थर्छा । याता जलाशयाः शोषं दिशो धूमाम्भकारिताः ॥१५३॥
 इत्यथुग्रतरं ग्रीष्मे संप्लुष्टगिरिकानभे । तस्थुरातपयोगेन ते सोऽजरजातपाः ॥१५४॥
 मेघान्धकारिता शेषदिवक्त्रके जलदागमे । योगिनो गमयन्ति स्म तस्मूलेषु शर्वरीः ॥१५५॥
 सुसलस्थूलधाराभिर्वर्षसु जलवाहिषु । निशामनैषुरेवम्या वर्षिकीं ते महर्षयः ॥१५६॥
 ध्यानगर्भं गृह्णन्तास्या धृतिप्रावारसंवृताः । सहस्ते स्म महासखास्ते घनाघनधुर्दिनम् ॥१५७॥
 ते हिमानी^१ परिहृष्टां तनुयष्टिं हिमागमे । दधु^२ रभ्यवकाशेषु^३ शयाना मौनमास्थिताः ॥१५८॥
^{१३}अनघमुषिता^४ एव नम्रास्तेऽवग्निसेविनः । धृतिस्त्वर्मितै^५ रंगैः सेहिरे हिममास्तान् ॥१५९॥

क्रिया था ॥१४७॥ तदनन्तर जिन्होंने समस्त श्रुतके अर्थोंका श्रवण किया है और श्रुतज्ञान ही जिनके नेत्र हैं ऐसे वे मुनि श्रुतज्ञानकी भावनाके उत्कर्षसे तपश्चरणमें विशुद्धता धारण करने लगे ॥१४८॥ ये लोग सरस्वती देवीके साथ तो बातचीत करते हैं और मेरे साथ निरन्तर मौन धारण करते हैं इस प्रकार ईर्ष्या करती हुईके समान तपश्चरणकी क्रिया उन्हें बहुत सन्ताप देती थी ॥१४९॥ असह्य कायकलेश सहन करते हुए वे तेजस्वी मुनि अतिशय कठिन अन्तरंग और बाह्य दोनों प्रकारका तप चिरकाल तक करते रहे ॥१५०॥ ग्रीष्मऋतुमें पर्वतोंके शिखरपर आरुढ़ होकर अत्यन्त असह्य सूर्यकी किरणोंके संतापको सहन करते हुए वे आतापन योगको प्राप्त हुए थे अर्थात् धूपमें बैठकर तपस्था करते थे ॥१५१॥ पर्वतोंके अग्रभागकी चट्टानोंकी तपी हुई शिलाओंपर दोनों पैर रखकर तथा दोनों भुजाएँ लटका कर खड़े होते थे ॥१५२॥ जिस ग्रीष्मऋतुमें पृथिवी तपी हुई धूलिसे व्याप्त हो रही है, वनके सब प्रदेश दावानलसे जल गये हैं, तालाब सूख गये हैं और दिशाएँ धूँसे अन्धकारपूर्ण हो रही हैं इस प्रकारके अत्यन्त कठिन और जिसमें पर्वतोंके वन जल गये हैं ऐसी ग्रीष्मऋतुमें तीव्र सन्ताप सहन करते हुए वे मुनिराज आतापन योग धारण कर खड़े होते थे ॥१५३-१५४॥ जिसमें समस्त दिशाओंका समूह बादलोंके छा जानेसे अन्धकारयुक्त हो गया है ऐसी वर्षाऋतुमें वे योगी वृक्षोंके नीचे ही अपनी रात्रियाँ बिता देते थे ॥१५५॥ जब बादल मूसलके समान मोटी-मोटी धाराओंसे पानी बरसाते थे तब वे महर्षि वर्षाऋतुकी उन रात्रियोंको निश्चल होकर व्यतीत करते थे ॥१५६॥ ध्यानरूपी गर्भगृहके भीतर स्थित और धैर्यरूपी ओढ़नी-को ओढ़े हुए वे महाबलवान् मुनि बादलोंसे ठके हुए दुर्दिनोंको सहन करते थे ॥१५७॥ शीतऋतुके दिनोंमें मौन धारण कर खुले आकाशमें शयन करते हुए वे मुनि बहुत भारी बर्फसे अत्यन्त दुःखी हुई अपने शरीरको लकड़ीके समान निश्चल धारण करते थे ॥१५८॥ वे मुनि नग्न होकर भी कभी अग्निसेवन नहीं करते थे, वस्त्रोंसे सहित हुएके समान सदा निर्द्वन्द्व रहते थे

१ पर्वतशिखरपाषाणप्रदेशो । २ संदग्ध । ३ प्रवृद्धातपाः । ४ मेघेषु । ५ नयन्ति स्म । ६ निश्चला निर्भया इत्यर्थः । ७ वर्षाकालसंबन्धिनीम् । ८ वासगृहम् । ९ धैर्यकम्बलपरिवेष्टिताः । १० हिमसंहतिः । ११ - रभ्राव - ५०, ल० । १२ तस्मलतागुल्मगुहादिरहितप्रबलवायुसहितप्रदेशेषु । १३ अनन्यं यथा भवति तथा सावरणमिषेत्यर्थः । १४ स्थिताः । १५ धैर्यकवचितैः ।

हेमनीपु^१ त्रियामासु स्थगितास्ते^२ हिमोच्चयैः । प्रावारितै^३ रिवाङ्गैः स्वैर्धीराः स्वैरमशेरत ॥१६०॥
 त्रिकालविषयं योगमास्थायैव^४ दुरुद्धमम् । सुचिरं धारयन्ति स्म धीरारते धृतियोगतः ॥१६१॥
 दधानास्ते तपस्तापमस्तदांसं दुरासदम् । ते^५स्त्वग्निरक्षैः प्रसक्तोऽनुकम्पितैः ॥१६२॥
 ते स्त्रमुक्तोऽस्मिन् भूयो नैच्छन् भोगपरिच्छदम् । निर्भुक्मास्यनिःसारं मम्यमाना मर्ताविणः ॥१६३॥
 फेनोमिहिमसन्ध्याभ्रचलं जीवितमङ्गिनाम् । मन्वाना दृढमासक्तिं मेजुस्ते पथि शाश्वते ॥१६४॥
 संसारावासनिर्धिष्णा गृहावासाद्विनिःसृताः । जैमे मार्गे विमुक्त्यङ्गे ते परां धृतिमावधुः ॥१६५॥
 इतो^६ऽभ्यदुत्तरं^७ नास्तीत्याकृष्टद्वभावनः । तेऽमी मनोवचःकायैः अद्भुतगुणसाधनम् ॥१६६॥
 तेऽमुरक्ता जिनप्रोक्ते सूक्ते धर्मे सनातने । उत्तिष्ठन्ते स्म मुक्त्यर्थं बद्धकक्ष्या मुमुक्षवः ॥१६७॥
 संवेगजनितश्रद्धाः शुद्धे वर्त्मन्यनुत्तरे । दुरापां भावयामासुस्ते महाव्रतभावनाम् ॥१६८॥
 अहिंसा सत्यमस्त्वैथं ब्रह्मचर्यं विमुक्तताम्^८ । शय्यभोजनघृष्टानि धत्ताम्येतान्यसाधयन् ॥१६९॥
 यावज्जीवं अलेप्तेषु ते दृढीकृतसंगराः^९ । त्रिविधेन^{१०} प्रतिक्रान्तदोषाः शुद्धिं परां दधुः ॥१७०॥
 सर्वारम्भविनिर्मुक्ता निर्मला^{११} निष्परिग्रहाः । मार्गमाराधयज्जैनं श्युत्सृष्टतनुयश्च ॥१७१॥

और धैर्यरूपी कवचसे डके हुए अंगोंसे शीतल पवनको सहन करते थे ॥१५९॥ शीतऋतुकी रात्रियोंमें बर्फके समूहसे ढके हुए वे धीर-वीर मुनिराज स्वतन्त्रतापूर्वक इस प्रकार शयन करते थे मानो उनके अंग वस्त्रसे ही ढके हों ॥१६०॥ इस प्रकार वे धीर-वीर मुनि तीनों काल-सम्बन्धी कठिन योग लेकर अपने धैर्यगुणके योगसे उन्हें चिर काल तक धारण करते थे ॥१६१॥ अन्तरंगमें देदीप्यमान और अतिशय कठिन तपके तेजको धारण करते हुए वे मुनि तरंगोंके समान अपने अंगोंसे ऐसे जान पड़ते थे मानो समुद्रका ही अनुकरण कर रहे हों ॥१६२॥ वे बुद्धिमान् अपने-द्वारा उपभोग कर छोड़ी हुई भोगसामग्रीको भोगमें आयी हुई मालाके समान सारहीन मानते हुए फिर उसकी इच्छा नहीं करते थे ॥१६३॥ वे प्राणियोंके जीवनको फेन, ओस अथवा सन्ध्याकालके बादलोंके समान चंचल मानते हुए अविनाशी मोक्षमार्गमें दृढ़ता-के साथ आसक्तिको प्राप्त हुए थे ॥१६४॥ संसारके निवाससे विरक्त हुए और घरके आवास-से छूटे हुए वे मुनिराज मोक्षके कारणभूत जिनेन्द्रदेवके मार्गमें परम सन्तोष धारण करते थे ॥१६५॥ इससे बढ़कर और कोई शासन नहीं है इस प्रकारकी मजबूत भावनाएँ जिन्हें प्राप्त हो रही हैं ऐसे वे राजर्षि मन वचन कायसे भगवान्के शासनका श्रद्धान करते थे ॥१६६॥ जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा कहे हुए और अनादिसे चले आये यथार्थ जैनधर्ममें अनुरक्त हुए वे मोक्षाभिलाषी मुनिराज मोक्षके लिए कमर कसकर खड़े हुए थे ॥१६७॥ संवेग होनेसे जिन्हें शुद्ध और सर्वश्रेष्ठ मोक्षमार्गमें श्रद्धान उत्पन्न हुआ है ऐसे वे मुनि कठिनाईसे प्राप्त होने योग्य महाव्रतकी भावनाओंका निरन्तर चिन्तन किया करते थे ॥१६८॥ अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रहत्याग और रात्रिभोजनत्याग इन छह महाव्रतोंका वे निरन्तर पालन करते थे ॥१६९॥ जिन्होंने ऊपर कहे हुए छह व्रतोंकी जीवनपर्यन्तके लिए दृढ़प्रतिज्ञा धारण की है और मन, वचन तथा कायसे उन व्रतोंके समस्त दोष दूर कर दिये हैं ऐसे वे मुनिराज परम विशुद्धिको धारण कर रहे थे ॥१७०॥ जिन्होंने सब प्रकारके आरम्भ छोड़ दिये हैं, जो ममता-रहित हैं, परिग्रहरहित हैं और शरीररूप लकड़ीसे भी जिन्होंने ममत्व छोड़ दिया है ऐसे वे

१ हिमानीपु ल०, प० । हेमन्तसम्बन्धिनीपु । २ आच्छादितैः । ३ हिमोच्चयस्थगितान्तत्वात् प्रावरणाभिव-
 त्रिब । ४ प्रतिज्ञां कृत्वा । ५ गुरुशासनात् । ६ अधिकम् । ७ निःपरिग्रहताम् । ८ दृढीकृतप्रतिज्ञाः ।
 ९ मनोवाककायेन । १० प्रतिक्रमणरूपेण निरस्तः । ११ निर्ममा ल०, इ०, अ०, स०, प०, द० ।

सर्वोपविधिनिर्मुक्ता युक्ता धर्मं जिनेन्द्रिते । नैष्ठिक-बालाग्रमात्रं च द्विधा म्नातं परिग्रहम् ॥१७२॥
 निर्मुच्छस्ति स्वदेहेऽपि धर्मचर्मनि सुस्थिताः । संतोषभावनापास्ततृष्णाः सन्तो विजहिरे ॥१७३॥
 वसन्ति स्मानिकेतास्ते यत्रास्तं मानुमानितः । तत्रैकत्र कश्चिदेशे नैस्त्रयं परमास्थिताः ॥१७४॥
 विविक्तैकान्तमेविवाद् ग्रामेष्वेकाहवासिनः ॥ पुरेष्वपि न पञ्चाहात्परं तस्थुर्नृपर्वयः ॥१७५॥
 शून्यागारश्मशानादिविविक्तालयगोचराः ॥ ते वीरवसतीमैश्वर्यजिताः सप्तभिर्भयैः ॥१७६॥
 तेऽभ्यनन्तमहासत्त्वाः पाकसत्त्वैरधिष्ठिताः । गिर्यग्रकन्दारंणवसतीः प्रतिवासरम् ॥१७७॥
 सिंहशृङ्गशार्दूलतरङ्गादिनिषेविते । वनान्ते ते वसन्ति स्म तदारसितभीषणे ॥१७८॥
 स्फुरत्पुरुषशार्दूलगर्जितप्रतिनिःस्वर्गैः । आगुत्पर्वतप्रान्ते ते स्म तिष्ठन्त्यसाध्वसाः ॥१७९॥
 कण्ठोरकेशोराणां कठोरैः कण्ठनिस्वर्गैः । प्रोक्षादिनि वने ते स्म निवसन्त्यस्तर्मातयः ॥१८०॥
 नृत्यकम्पमध्वर्यन्तं संतरङ्गाकिर्नागगाः ॥ प्रवृत्तकीशिकध्वाननिहृद्योपास्तकाननाः ॥१८१॥
 शिवानाम् शिवैर्ध्वनिराहृष्टासिलदिङ्मुखाः । महापितृवज्रोद्देशा निशास्त्रेभिः सिधेभिः ॥१८२॥

मुनि जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा कहे हुए मोक्षमार्गकी आराधना करते थे ॥१७१॥ सब प्रकारके परिग्रहसे रहित होकर जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहे हुए धर्मका आचरण करते हुए वे राजकुमार बाह्य और आभ्यन्तरके भेदसे दो प्रकारके कहे हुए परिग्रहोंमेंसे बालकी नोकके बराबर भी किसी परिग्रहकी चाह नहीं करते थे ॥१७२॥ जिन्हें अपने शरीरमें भी ममत्व नहीं है, जो धर्मके मार्गमें स्थित हैं और सन्तोषकी भावनासे जिन्होंने तृष्णाको दूर कर दिया है ऐसे वे उत्तम मुनिराज सब जगह विहार करते थे ॥१७३॥ परिग्रह-त्याग व्रतको उत्कृष्ट रूपसे पालन करने-वाले वे गृहरहित मुनिराज जहाँ सूर्य डूब जाता था वहाँ किसी एक स्थानमें ठहर जाते थे ॥१७४॥ वे राजर्षि एकान्त और पवित्र स्थानमें रहना पसन्द करते थे इसलिए गाँवोंमें एक दिन रहते थे और नगरोंमें पाँच दिनसे अधिक नहीं रहते थे ॥१७५॥ वे मुनि सात भयोंसे रहित होकर शून्यगृह अथवा श्मशान आदि एकान्त-स्थानोंमें वीरताके साथ निवास करते थे ॥१७६॥ वे महाबलवान् राजकुमार सिंह आदि दुष्ट जीवोंसे भरी हुई पर्वतोंकी गुफाओं और जंगलोंमें ही प्रतिदिन निवास करना अच्छा समझते थे ॥१७७॥ सिंह, रीछ, भेड़िया, व्याघ्र, चीता आदिसे भरे हुए और उन्हींके शब्दोंसे भयंकर वनके बीचमें वे मुनिराज निवास करते थे ॥१७८॥ चारों ओर फैलते हुए व्याघ्रकी गर्जनाकी प्रतिध्वनियोंसे गूँजते हुए पर्वतके किनारोंपर वे मुनि निर्भय होकर निवास करते थे ॥१७९॥ सिंहोंके बच्चोंकी कठोर कण्ठगर्जनासे शब्दायमान वनमें मुनिराज भयरहित होकर निवास करते थे ॥१८०॥ जहाँ नाचते हुए शिररहित बड़ोंके समीप डाकिनियोंके समूह फिर रहे हैं, जिनके समीपके वन उल्लुओंके प्रचण्ड शब्दोंसे भर रहे हैं और जहाँ शृगालोंके अमंगलरूप शब्दोंसे सब दिशाएँ व्याप्त हो रही हैं ऐसी बड़ी-बड़ी श्मशानभूमियोंमें रात्रिके समय वे मुनिराज निवास करते थे ॥१८१-१८२॥

१ स्थिता प०, ल० । २ बाह्याभ्यन्तररूपेण द्विधा प्रोक्तम् । ३ निर्मोहाः । ४ विहरन्ति स्म । ५ अन्तगाराः । ६ आश्रित्यः । ७ प्रायाः । ८ क्वचिदनिमतप्रदेशे । ९ आश्रिताः । १० विशुद्धविजनप्रदेशेषु स्थातुं प्रियत्वादिति भावः । ११ एकविवसवासिनः । १२ निवसन्ति स्म । १३ एकान्तप्रदेशो गोचरविषयो येषां ते । १४ ऋक्ष-भल्लूक-वृक-ईहामृगशार्दूलद्वीपितरक्षुमृगादि । १५ तेषां सिंहादीनाम् आरावर्भयंकरे । १६ ध्वनित्यवतसानुमध्ये । १७ सिंहशायानाम् । १८ कठिनैः प०, ल०, व० । १९ ध्वनिं कुर्वन्ति । २० समीप । २१ प्रचण्ड ल०, द० । २२ कृतवृकनिनादव्याप्त । २३ जम्बुकानाम् । २४ अमङ्गलः । २५ तपोधनैः । २६ सेव्यन्ते स्म ।

मिहा इव नृमिहास्ते^१ तस्थुर्निर्गुहाभयाः । जिनोक्त्यनुगतैः स्वाभ्यैरनुद्भिः^२ समाहिताः ॥ १८३ ॥
 पाकमस्व^३ शताकीर्णं वनभूमिं भयानकाम्^४ । तेऽध्यवाप्तुस्ते^५ मित्रासु^६ निशासु ध्यानमास्थिताः ॥ १८४ ॥
 न्यपेयन्त वनोद्देशान् निषेयान्वनदम्भिभिः । ते तद्वन्ताग्रनिमिषतश्चतुर्दितान्तरान्^७ ॥ १८५ ॥
 वनेषु वनमातङ्गवृद्धितप्रतिनादिनीः । दूरीस्तेऽध्यवृष्टैराहृष्टैराक्रान्ताः करिष्युभिः^८ ॥ १८६ ॥
 स्वाध्याययोगसंस्कारा न स्वपन्ति स्म रात्रिषु । सूत्रार्थभावनीशुक्ला जागरुकाः^९ सदा यमी ॥ १८७ ॥
 पल्यङ्गेन निषण्णास्ते वीरासनशुचोऽथवा^{१०} । शयाना जैकपाशेन शर्वरीरत्यवाहयन्^{११} ॥ १८८ ॥
 त्यक्तोषधिमरा धीरा म्युत्सृष्टाङ्गा निरम्बराः । नैर्ध्मिचन्यविशुद्धास्ते मुक्तिमार्गममार्गयन् ॥ १८९ ॥
 निन्यपिक्षा निराकाङ्क्षा वायुवीध्यमुगामिनः^{१२} । व्यहरन् वसुधामेनां समामनगराकराम् ॥ १९० ॥
 विहरन्तो महीं कृत्स्नां वे कस्याप्यनभिद्रुहः^{१३} । मातृकल्पा दयालुत्वात्पुत्रकल्पेषु देहिषु ॥ १९१ ॥
 जीवाजीवविभागज्ञा ज्ञानीधोतस्फुरद्दृशः । सावद्यं परिग्रहस्ते प्रासुकावसथाशनाः^{१४} ॥ १९२ ॥
 स्याद्यत्किञ्चिच्च सावद्यं तत्सर्वं त्रिविधेन ते । रत्नत्रितयमुद्धृत्य यावज्जीवमवर्जयन् ॥ १९३ ॥
 त्रसान् हरितकायाश्च पृथिव्यप्पवनामलान् । जीवकायानपायेभ्यस्ते^{१५} स्म रक्षन्ति यत्नतः ॥ १९४ ॥

सिंहके समान निर्भय, सब पुरुषोंमें श्रेष्ठ और पर्वतोंकी गुफाओंमें ठहरनेवाले वे मुनिराज जिनेन्द्र-
 देवके उपदेशके अनुसार चलनेवाले खेदरहित चित्तसे शान्त होकर निवास करते थे ॥ १८३ ॥
 वे मुनिराज अँधेरी रातोंके समय सैकड़ों दुष्ट जीवोंसे भरी हुई भयंकर वनकी भूमियोंमें ध्यान
 धारण कर निवास करते थे ॥ १८४ ॥ जो जंगली हाथियोंके द्वारा सेवन करने योग्य हैं तथा
 जिनके मध्यभाग हाथियोंके दाँतोंके अग्रभागसे टूटे हुए वृक्षोंसे ऊँचे नीचे हो रहे हैं ऐसे वन-
 के प्रदेशोंमें वे महामुनि निवास करते थे ॥ १८५ ॥ जिनमें जंगली हाथियोंकी गर्जनाकी
 प्रतिध्वनि हो रही है और उस प्रतिध्वनिसे कुपित हुए सिंहोंसे जो भर रही हैं ऐसी वनकी
 गुफाओंमें वे मुनि निवास करते थे ॥ १८६ ॥ वे मुनिराज स्वाध्याय और ध्यानमें आसक्त
 होकर रात्रियोंमें भी नहीं सोते थे, किन्तु सूत्रोंके अर्थके चिन्तनमें तत्पर होकर सदा जागते
 रहते थे ॥ १८७ ॥ वे मुनिराज पर्यंकासनसे बैठकर, वीरासनसे बैठकर अथवा एक करवट-
 से ही सोकर रात्रियाँ बिता देते थे ॥ १८८ ॥ जिन्होंने परिग्रहका भार छोड़ दिया है, शरीरसे
 भभरव दूर कर दिया है, जो वस्त्ररहित हैं और परिग्रहत्यागसे जो अत्यन्त विशुद्ध हैं ऐसे वे
 धीर-वीर मुनि मोक्षका मार्ग ही खोजते रहते थे ॥ १८९ ॥ किसीकी अपेक्षा न करनेवाले, आकां-
 क्षाओंसे रहित और आकाशकी तरह निर्लेप वे मुनिराज गाँव और नगरोंके समूहसे भरी हुई
 इस पृथिवीपर विहार करते थे ॥ १९० ॥ समस्त पृथिवीपर विहार करते हुए और किसी
 भी जीवसे द्रोह नहीं करते हुए वे मुनि दयालु होनेसे समस्त प्राणियोंको पुत्रके तुल्य मानते
 थे और उनके साथ माताके समान व्यवहार करते थे ॥ १९१ ॥ वे जीव और अजीवके विभाग-
 को जाननेवाले थे, ज्ञानके प्रकाशसे उनके नेत्र दीप्तमान हो रहे थे अथवा ज्ञानका प्रकाश
 ही उनका स्फुरायमान नेत्र था, वे प्रासुक अर्थात् जीवरहित स्थानमें ही निवास करते थे और
 उनका भोजन भी प्रासुक ही था, इस प्रकार उन्होंने समस्त सावद्य भोगका परिहार कर दिया
 था ॥ १९२ ॥ उन मुनियोंने रत्नत्रयकी विशुद्धिके लिए, संसारमें जितने सावद्य (पापारम्भ-
 सहित) कार्य हैं उनका जीवन पर्यन्तके लिए त्याग कर दिया था ॥ १९३ ॥ वे त्रसकाय, वनस्पति

१ पुरुषधेयाः । २ अलेखितैः । ३ कूरमूग । ४ भयंकराम् । ५ निवसन्ति स्म । ६ अन्धकारवतीषु 'तमिस्रा
 तामसी रात्रिः' इत्यभिधानात् । ७ आश्रिताः । ८ निम्नोन्नतमध्यान् । ९ अधिवसन्ति स्म । १० सिंहैः ।
 ११ जागरणशीलाः । १२ वा । १३ नयन्ति स्म । १४ वायुवन्निःपरिग्रहा इत्यर्थः । १५ अधातुकाः ।
 १६ निरवद्यान्तसाहाराः । १७ अपसार्य ।

अर्दानमनसः शान्ताः परमोपेक्षयाम्बिताः ।^१ मुक्तिशाठ्यास्त्रिभिर्गुप्ताः कामभोगेष्वविस्मिताः ॥१९५॥
 जिनाजानुगताः शश्वत्संसारोद्विग्नमानसाः । गर्भवासं जरामृत्युपरिवर्तनभीरवः ॥१९६॥
 श्रुतज्ञानदृशो दृष्टपरमार्था विचक्षणाः । ज्ञानदीपिकया साक्षात्कुस्ते पद्मभरम् ॥१९७॥
 ते चिरं भाषयन्ति स्म सन्मार्गं मुक्तिसाधनम् । परदत्तविशुद्धासभोजिनः पाण्यमन्नकाः^३ ॥१९८॥
 शङ्कितामिदृशो हिष्टं क्रयक्रीतादि^४ लक्षणम् । सूत्रे^५ निषिद्धमाहारं वैष्णवप्राणात्ययेऽपि तं ॥१९९॥
 भिक्षां नियतवेलायां गृहपक्वस्यनतिक्रमान् । शुद्धामाददरे धीरा मुनिवृत्तौ समाहिताः ॥२००॥
 शीतमुष्णं विरुक्षं च क्षिण्वं सलवणं न वा । तनुस्थिर्ययमाहारमाजदुस्ते^६ गतस्पृहाः ॥२०१॥
 अक्षन्नक्षणमात्रं त प्राणधृत्तौ^७ विषयवृत्तः^८ । धर्मार्थसंघ^९ च प्राणान् धारयन्ति स्म केवलम् ॥२०२॥
 न तुष्यन्ति स्म ते लब्धौ^{१०} व्यधीषन्त्याप्यलब्धितः । मन्यमानास्तपोलाभमधिकं धृतकश्मलाः ॥२०३॥

काय, पृथिवीकाय, जलकाय, वायुकाय और अग्निकाय इन छह कायके जीवोंकी बड़े यत्न-से रक्षा करते थे ॥१९४॥ उन मुनियोंका हृदय दीनतासे रहित था, वे अत्यन्त शान्त थे, परम उपेक्षासे सहित थे, मोक्ष प्राप्त करना ही उनका उद्देश्य था, तीन गुप्तियोंके धारक थे और काम भोगोंमें कभी आश्चर्य नहीं करते थे ॥१९५॥ वे सदा जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाके अनुसार चला करते थे, उनका हृदय संसारसे उदासीन रहा करता था और वे गर्भमें निवास करना, द्रुढ़ापा और मृत्यु इन तीनोंके परिवर्तनसे सदा भयभीत रहते थे ॥१९६॥ श्रुतज्ञान ही जिनके नेत्र हैं और जो परमार्थको अच्छी तरह जानते हैं ऐसे वे चतुर मुनिराज शान्तरूपी दीपिका-के द्वारा अविनाशी परमात्मपदका साक्षात्कार करते थे ॥१९७॥ जो दूसरेके द्वारा दिये हुए विशुद्ध अन्नका भोजन करते हैं तथा हाथ ही जिनके पात्र हैं ऐसे वे मुनिराज मोक्षके कारणस्वरूप समीचीन मार्गका निरन्तर चिन्तन करते रहते थे ॥१९८॥ शङ्कित अर्थात् जिसमें ऐसी शंका हो जावे कि यह शुद्ध है अथवा अशुद्ध, अभिहृत अर्थात् जो किसी दूसरेके यहाँसे लाया गया हो, उद्दिष्ट अर्थात् जो खासकर अपने लिए तैयार किया गया हो, और क्रयक्रीत अर्थात् जो कीमत देकर बाजारसे खरीदा गया हो इत्यादि आहार जैन शास्त्रोंमें मुनियोंके लिए निषिद्ध बताया है । वे मुनिराज प्राण जानेपर भी ऐसा निषिद्ध आहार लेनेकी इच्छा नहीं करते थे ॥१९९॥ मुनियोंकी वृत्तिमें सदा सावधान रहनेवाले वे धीर-वीर मुनि धरोंकी पंक्तियोंका उल्लंघन न करते हुए निश्चित समयमें शुद्ध भिक्षा ग्रहण करते थे ॥२००॥ जिनकी लालसा नष्ट हो चुकी है ऐसे वे मुनिराज शरीरकी स्थितिके लिए ठण्डा, गरम, रुखा, चिकना, नमक-सहित अथवा बिना नमकका जैसा कुछ प्राप्त होता था वैसा ही आहार ग्रहण करते थे ॥२०१॥ वे मुनि प्राण धारण करनेके लिए अक्षन्नक्षण मात्र ही आहार लेते थे और केवल धर्मसाधन करनेके लिए ही प्राण धारण करते थे । भावार्थ - जिस प्रकार गाड़ी ओगनेके लिए थोड़ी-सी चिकनाईकी आवश्यकता होती है भले ही वह चिकनाई किसी भी पदार्थकी हो इसी प्रकार शरीररूपी गाड़ीको ठीक-ठीक चलानेके लिए कुछ आहारकी आवश्यकता होती है भले ही वह सरस या नीरस कैसा ही हो । अल्प आहार लेकर मुनिराज शरीरको स्थिर रखते हैं और उससे संयम धारण कर मोक्षकी प्राप्ति करते हैं वे मुनिराज भी ऐसा ही करते थे ॥२०२॥ वे पापरहित मुनिराज, आहार मिल जानेपर सन्तुष्ट नहीं होते थे और नहीं मिलनेपर तपश्चरण

१ मुक्तसाध्या अ०, प०, इ०, स० । मुक्तिसाध्या ल० । २ जन्म । ३ पाणिपालकाः द०, ल०, स०, इ० । पाणिपुटभाजनाः । ४ स्थूलतण्डुलाणनादिकं दत्त्वा स्वीकृत कलमौदनादिक । ५ आत्मानमुद्दिश्य । ६ पणत्रिकं दत्त्वा स्वीकृतम् । ७ परमाणमे । ८ निषेधितम् । ९ यत्माचारे । १० आददुः । ११ प्राणधारणार्थम् । १२ मुञ्जते स्म । १३ धर्म-निमित्तम् । १४ लाभे सति ।

स्तुतिं निन्दां सुखं दुःखं तथा मानं^१ विमाननाम्^२ । समभावेन तेऽपश्यन् सर्वत्र समदर्शिनः ॥२०४॥
 वाचं चर्ममास्थाय चरन्तो^३ गोचरार्थिनः । निर्यान्ति स्माप्यलाभेन नाभञ्जन् मौनसंगरम्^४ ॥२०५॥
 महोपवासम्लानाङ्गा यतन्ते स्म तनुस्थितौ । तन्नाप्यशुद्धमाहारं^५ नैषिषुर्मनसाऽप्यमी ॥२०६॥
 गोचराग्रगतां योग्यं भुक्त्वा ह्यमविलम्बितम्^६ । प्रत्याख्याय पुनर्वीरा निर्ययुस्ते तपोवनम् ॥२०७॥
 तपस्नापतन्भूततनवोऽपि सुनीश्वराः । अनुबद्धास्तपोयोगाच्च^७ चेलुर्द्वसंगराः^८ ॥२०८॥
 तीव्रं तपस्यतां^९ तेषां गात्रेषु श्रुतताऽभवत् । प्रतिज्ञा या तु सद्भ्यान्मिद्धावशिथिलैव सा ॥२०९॥
 नाभूत्परिषद्भङ्गस्तेषां चिरमुपोषुषाम् । गताः परिषदा एव भङ्गं तान् जेतुमक्षमाः ॥२१०॥
 तपस्तनूनपात्तापादं^{१०} भूरेषां पराद्युतिः । निष्ठस्थ सुवर्णस्य दीप्तिर्नन्वतिरेकिणी^{११} ॥२११॥
 तपोऽभितसदीप्ताङ्गास्तेऽन्तःशुद्धिं परां दधुः । तप्तायां तनुमूषायां शुद्धयत्यात्मा हि हेमवन् ॥२१२॥
 स्वगस्थिमात्रवेहास्ते ध्यामशुद्धिमधुस्तारम् । सर्वं हि परिकर्मदं^{१२} बाह्यमध्यात्मशुद्धये ॥२१३॥
 योगजाः सिद्धयस्तेषामणिमादिगुणद्वयः । प्रादुरासन्विशुद्धं हि तपः सूते महत्फलम् ॥२१४॥

रूपी अधिक लाभ समझते हुए विषाद नहीं करते थे ॥२०३॥ सब पदार्थों में समान दृष्टि रखने-
 वाले वे मुनि स्तुति, निन्दा, सुख, दुःख तथा मान-अपमान सभीको समान रूपसे देखते थे ॥२०४॥
 वे मुनि मौन धारण करके ईर्ष्यासमितिके गमन करते हुए आहारके लिए जाते थे और आहार
 न मिलनेपर भी मौनव्रतकी प्रतिज्ञा भंग नहीं करते थे ॥२०५॥ अनेक महोपवास करनेसे
 जिनका शरीर म्लान हो गया है ऐसे वे मुनिराज केवल शरीरकी स्थितिके लिए ही प्रयत्न करते
 थे परन्तु अशुद्ध आहारकी मनसे भी कभी इच्छा नहीं करते थे ॥२०६॥ गोचरीवृत्तिके धारण
 करनेवालोंमें मुख्य वे धीर-वीर मुनिराज शीघ्र ही योग्य अन्नका भोजन कर तथा आगेके लिए
 प्रत्याख्यान कर तपोवनके लिए चले जाते थे ॥२०७॥ यद्यपि तपश्चरणके सन्तापसे उनका
 शरीर कृश हो गया था तथापि दृढप्रतिज्ञाको धारण करनेवाले वे मुनिराज प्रारम्भ किये हुए
 तपसे विराम नहीं लेते थे ॥२०८॥ तीव्र तपस्या करनेवाले उन मुनियोंके शरीरमें यद्यपि
 शिथिलता आ गयी थी तथापि समीचीन ध्यानकी सिद्धिके लिए जो उनकी प्रतिज्ञा थी वह शिथिल
 नहीं हुई थी ॥२०९॥ चिरकाल तक उपवास करनेवाले उन मुनियोंका परीषहोंके द्वारा
 पराजय नहीं हो सका था बल्कि परीषह ही उन्हें जीतनेके लिए असमर्थ होकर स्वयं पराजय-
 को प्राप्त हो गये थे ॥२१०॥ तपस्वी अग्निके सन्तापसे उनके शरीरकी कान्ति बहुत ही
 उत्कृष्ट हो गयी थी सो ठीक ही है क्योंकि तपे हुए सुवर्णकी दीप्ति बढ़ ही जाती है ॥२११॥
 तपश्चरणरूपी अग्निसे तप्त होकर जिनके शरीर अतिशय वेदीप्यमान हो रहे हैं ऐसे वे मुनि-
 राज अन्तरंगकी परम विशुद्धिके धारण कर रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि शरीररूपी मूसा
 (साँचा) तपाये जानेपर आत्मा सुवर्णके समान शुद्ध हो ही जाती है ॥२१२॥ यद्यपि उनके
 शरीरमें केवल चमड़ा और हड्डी ही रह गयी थी तथापि वे ध्यानकी उत्कृष्ट विशुद्धता धारण
 कर रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि उपवास आदि समस्त बाह्य साधन केवल आत्मशुद्धिके लिए
 ही हैं ॥२१३॥ योगके प्रभावसे उत्पन्न होनेवाली अणिमा महिमा आदि ऋद्धियाँ उन मुनियों-
 के प्रकट हो गयी थीं सो ठीक ही है क्योंकि विशुद्ध तप बहुत बड़े-बड़े फल उत्पन्न करता है ॥२१४॥

१ पूजाम् । २ अन्नजाम् । ३ मौनित्वम् । ४ गोचार । ५ मौनप्रतिज्ञाम् । ६ इच्छां न चक्रुः ।
 ७ गोचारभिक्षायां मुख्यतां गताः । ८ शीघ्रम् । ९ प्रत्याख्यानं गृहीत्वा । १० - नारदमु-
 अ०, स०, इ० प०, द० । ११ दृढप्रतिज्ञाः । १२ तपः कुर्वताम् । १३ तपोऽभितसदीप्तापादं ।
 १४ न व्यतिरेकिणी ल०, द० । १५ अनशनादि ।

तपोमयः प्रणीतोऽग्निः कर्माण्यद्भुतयोऽभवन् । विधिगास्ते^१ सुयज्वानो मन्त्रः स्वायंभुव वचः ॥ २१ ॥
 महाध्वर^२ पतिर्देवो वृषभो दक्षिणो^३ दया । फलं कामितसंसिद्धिरवर्गः क्रियावधिः^४ ॥ २१ ॥
 इतीमामार्थमीमिष्टि^५ मभिसंधाय तेऽजसा । प्राचीवृत्^६ अनूचाना^७ स्तपोयज्ञमनुत्तरम् ॥ २१ ॥
 इत्यमुमनगाराणां परां संगीर्थं^८ सावनाम् । ते तथा^९ निर्वहन्ति स्म निसर्गोऽयं महीयसाम् ॥ २१ ॥
 किमत्र बहुना धर्मक्रिया यावत्पविष्यता । तां कृत्स्नां ते स्वसाधकस्य क्तराजन्यविक्रियाः^{१०} ॥ २१ ॥

वसन्ततिलकाष्टकम्

इत्थं पुराणपुरुषादधिगम्य बोधि

तत्तीर्थभानससरःप्रियराजहंसाः ।

ये राज्यभूमिमवधूय^१ विधूतमोहाः

प्राप्ताजिपुर्भरतराजमनन्तुकामाः^२ ॥ २२ ॥

ते पौरवा^३ सुनिवराः पुरुषैर्यसारा

धीरानगारचरितेषु^४ कृतावधानाः ।

योगीश्वरानु^५ गतमार्गमनुप्रपन्नाः

शो^६ को^७ दिशन्तवत्तिललोकहितैकतानाः^८ ॥ २२ ॥

जिसमें तपस्वरण ही संस्कारकी हुई अग्नि थी, कर्म ही आहुति अर्थात् होम करने योग्य द्रव्य थे, विधिविधानको जाननेवाले वे मुनि ही होम करनेवाले थे । श्री जिनेन्द्रदेवके वचन ही मन्त्र थे, भगवान् वृषभदेव ही यज्ञके स्वामी थे, दया ही दक्षिणा थी, इच्छित वस्तुकी प्राप्ति होना ही फल था और मोक्षप्राप्त होना ही कार्यकी अन्तिम अवधि थी । इस प्रकार भगवान् वृषभदेवके द्वारा कहे हुए यज्ञका संकल्प कर उन तपस्वियोंने तपस्वरूपी श्रेष्ठ यज्ञकी प्रवृत्ति चलायी थी ॥ २१-२१ ॥ इस तरह वे मुनि, मुनियोंकी उत्कृष्ट भावनाकी प्रतिज्ञा कर उसका अच्छी तरह निर्वह करते थे सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुषोंका यह स्वभाव ही है ॥ २१ ॥ इस विषयमें बहुत कहनेसे क्या लाभ है उन सब मुनियोंने राज्यअवस्थामें होनेवाले समस्त विकार भावोंको छोड़कर अनादि कालसे जितनी भी वास्तविक क्रियाएँ चली आती थीं उन सबको अपने अधीन कर लिया था ॥ २१ ॥

इस प्रकार पुराणपुरुष भगवान् आदिनाथसे रत्नत्रयकी प्राप्ति कर जो उनके तीर्थरूपी सानससरोवरके प्रिय राजहंस हुए थे, जिन्होंने राज्यभूमिका परित्याग कर सब प्रकारका मोह छोड़ दिया था, जो भरतराजको नमस्कार नहीं करनेकी इच्छासे ही दीक्षित हुए थे, उत्कृष्ट धैर्य ही जिनका बल था, जो धीर-वीर मुनियोंके आचरण करनेमें सदा सावधान रहते थे, जो योगिराज भगवान् वृषभदेवके द्वारा अंगीकार किये हुए मार्गका पालन करते थे और जो

१ संस्कृतानिः 'प्रणीतः संस्कृतानलः' इत्यभिधानात् । २ तपोधनाः । ३ महापन्न । ४ होमान्ते पाचकादीनां देयद्रव्यम् । ५ क्रियावसानः । ६ ऋषभसंबन्धिनीम् । ७ यजनम् । ८ वक्तुः । ९ प्रवचने साङ्गे अधीतिनः । 'अनूचानः प्रवचने साङ्गेऽधीती' इत्यभिधानात् । १० प्रतिज्ञां कृत्वा । ११ संवहन्ति स्म सं०, ल० । १२ त्यक्तराजसमूहविकाराः । १३ त्यक्त्वेत्यर्थः । १४ नमस्कारं न कर्तुकामाः । १५ पुरोः संबन्धिनः । १६ यथाकारेण । १७ अधीकृत्य । १८ सुखम् । १९ वो प०, सं०, ल० । नः अस्माकम् । २० जनहितेऽन्यवृत्तयः ।

शार्दूलविक्रीडितम्

नमो विश्वसृजं चराचरगुरुं देवं दिव्यशक्तिं

नान्यस्य प्रणतिं व्रजाम इति ये दीक्षां परां संश्रिताः ।

ते नः सन्तु तपोविभूतिमुचितां स्वीकृत्य मुक्तिश्रियां

बद्धेच्छावृषभात्मजा जिनजुषाम् मेसराः श्रेयसे ॥२२२॥

स श्रीमान् भरतेश्वरः प्रणिधिमिर्यान्प्रद्वाना नानयत्

संभोक्तं त्रिलोका विभज्य वसुधां सार्द्धं च यैर्नोऽशकम् ।

निर्वाणाय पितृवधं जिनवृषं ये शिष्ययुः श्रेयसे

ते नो मानधना हरन्तु दुरितं निर्दग्धकर्मधनाः ॥२२३॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिपष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे

भरतराजानुजदीक्षावर्णनं नाम चतुस्त्रिंशत्तमं पर्व ॥३४॥



समस्त लोकका हित करनेवाले थे ऐसे वे भगवान् वृषभदेवके पुत्र तुम सबका कल्याण करें ॥२२०-२२१॥ अस और स्थावर जीवोंके गुरु तथा इन्द्रोंके द्वारा पूज्य भगवान् वृषभदेवको नमस्कार कर अब हम किसी दूसरेको प्रणाम नहीं करेंगे ऐसा विचार कर जिन्होंने उत्कृष्ट दीक्षा धारण की थी, जिन्होंने योग्य तपस्वरणरूपी विभूतिको स्वीकार कर मोक्षरूपी लक्ष्मीके प्रति अपनी इच्छा प्रकट की थी और जिनेन्द्र भगवान्की सेवा करनेवालोंमें सबसे मुख्य हैं ऐसे भगवान् वृषभदेवके पुत्र हम सबके कल्याणके लिए हों ॥२२२॥ वह प्रसिद्ध श्रीमान् भरत अपने दूतोंके द्वारा जिन्हें नम्रता प्राप्त नहीं करा सका और न विभाग कर जिनके साथ समस्त पृथिवीका उपभोग ही कर सका तथा जिन्होंने निर्वाणके लिए अपने पिता श्री जिनेन्द्रदेवका आश्रय लिया ऐसे अभिमानरूपी धनको धारण करनेवाले और कर्मरूपी ईधनको जलानेवाले वे मुनिखज हम सब लोगोंके पापोंका नाश करें ॥२२३॥

इस प्रकार आर्षनामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिपष्टिलक्षण महापुराण संग्रहके भाषानुवादमें भरतराजके छोटे भाइयोंकी दीक्षाका वर्णन करनेवाला चौतीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ।



१ इन्द्र । २ जिनं जुषन्ते सेवन्त इति जिनजुषः तथाम् । ३ चरैः । 'प्रणिधिः प्रार्थने चरे' इत्यभिधानात् ।
४ समर्थो नाभूत् । ५ आश्रयन्ति स्म ।

पञ्चत्रिंशत्तमं पर्व

अथ चक्रधरस्मासीत् किञ्चित् चिन्ताकुलं मनः । दोर्बलिन्यनुनेतव्ये^१ यूनि दीर्घपेशालिनि ॥१॥
 अवध्यं^२ शतमित्यास्था नूनं^३ आवृशतस्थ मे । यतः^४ प्रणामविमुक्तं गतवक्षः^५ प्रसीपताम्^६ ॥२॥
 न तथाऽस्मादृशां खेदो भवत्प्रणते द्विषि । दुराविंसे यथा शालिवर्गेऽन्तर्गहवर्तिनि ॥३॥
 सुखैरनिष्टवाग्धृदिदीपितैरतिधूमिताः । दहन्त्यलातवक्षः स्वाः^७ प्रातिकूल्यानि लेरिताः ॥४॥
 प्रतीपवृत्तयः^८ कामं सन्तु वान्ये कुमारकाः । बाह्यात् प्रभृति येऽस्माभिः स्वातन्त्र्येणोपलाहिताः ॥५॥
 युवा तु दोर्बली प्राज्ञः क्रमशः प्रश्रयी^९ पटुः । कथं नाम गतोऽस्मासु विक्रियां^{१०} सुजनोऽपि सन् ॥६॥
 कथं च सोऽनुनेतव्यो^{११} बली मानधनोऽधुना । जयाङ्गं यस्य दोर्घपः श्लाघ्यते रणनृङ्गनि ॥७॥
 सोऽयं भुजबली बाहुबलशाली मदोद्धतः । महानिष गजो माधन् दुर्यहोऽनुनयैर्विना ॥८॥
 न स सामान्यसन्देशैः प्रह्वीभवति कुमन्दी । ग्रहो दुष्ट इवाविष्टो^{१२} मन्त्रविद्याचणैर्विना^{१३} ॥९॥

अथानन्तर भुजाओंके गर्वसे शोभायमान युवा बाहुबलीको वश करनेके लिए चक्रवर्ती-
 का मन कुछ चिन्तासे आकुल हुआ ॥१॥ वह विचारने लगा कि यह हमारे भाइयोंका समूह
 एक ही कुलमें उत्पन्न होनेसे अपने-आपको अवध्य मानता हुआ हमारे आनन्दका अभिनन्दन
 नहीं करता है अर्थात् हमारे आनन्द-वैभवसे ईर्ष्या रखता है ॥२॥ हमारे भाइयोंके समूहका
 यह विश्वास है कि हम सौ भाई अवध्य हैं इसीलिए ये प्रणाम करनेसे विमुख होकर मेरे शत्रु
 हो रहे हैं ॥३॥ किसी शत्रुके प्रणाम न करनेपर मुझे वैसा खेद नहीं होता जैसा कि घरके
 भीतर रहनेवाले मिथ्याभिमानी भाइयोंके प्रणाम नहीं करनेसे हो रहा है ॥४॥ अनिष्ट वचन-
 रूपी अग्निसे उद्दीपित हुए मुखोंसे जो अत्यन्त धूमसहित हो रहे हैं और जो प्रतिकूलसारूपी
 वायुसे प्रेरित हो रहे हैं ऐसे ये मेरे निजी भाई अलातचक्रकी तरह मुझे जला रहे हैं ॥५॥ जिन्हें
 हमने बालकपनसे ही स्वतन्त्रतापूर्वक खिला-पिलाकर बड़ा किया है ऐसे अन्य कुमार यदि
 मेरे विरुद्ध आचरण करनेवाले हों तो खुशीसे हों परन्तु बाहुबली तरुण, बुद्धिमान्, परिपाटी-
 को जाननेवाला, विनयी, चतुर और सज्जन होकर भी मेरे विषयमें विकारको कैसे प्राप्त हो
 गया ? ॥६-७॥ जो अतिशय बलवान् है, मानरूपी धनसे युक्त है, और विजयका अंग
 स्वरूप जिसकी भुजाओंका बल युद्धके अग्रभागमें बड़ा प्रशंसनीय गिना जाता है ऐसे इस बाहुबलीको
 इस समय किस प्रकार अपने अनुकूल बनाना चाहिए ॥८॥ जो भुजाओंके बलसे शोभायमान
 है और अभिमानरूपी मदसे उद्धत हो रहा है ऐसा यह बाहुबली किसी मदोन्मत्त बड़े हाथीके
 समान अनुनय अर्थात् शान्तिसूचक कोमल वचनोंके बिना वश नहीं हो सकता ॥९॥ यह
 अहंकारी बाहुबली सामान्य सन्देशोंसे वश नहीं हो सकता क्योंकि शरीरमें घुसा हुआ दुष्ट पिशाच

१ बाहुबलिकुमारे । २ वशीकर्तुं योग्ये सति । ३ नाभिवर्द्धयति । ४ आनन्दम् । ५ आतृणः । ६ बहुजन
 एकपुरुषेणावध्य इति बुद्ध्या । ७ आतृणस्य प०, ल०, द० । ८ यस्मात् कारणात् । ९ प्राप्तम् ।
 १० प्रतिकूलत्वम् । ११ आन्धवाः । १२ प्रतिकूलवर्तनाः । १३ विनयवान् । १४ विकारम् । १५ स्वीकार्यः ।
 १६ प्रवेष्टितः । १७ प्रतीतः । समर्थैरित्यर्थः ।

शेषक्षत्रिययूनां च तस्य चास्यन्तरं^१ महत् । मृगसामान्यं^२ मानार्थैर्धत्तुं^३ किं शक्यते हरिः ॥११॥
 सोऽभेद्यो नीतिलुब्धुश्चाद् दण्डसाध्यो न विक्रयी । नैव सामप्रयोगस्य विषयो विकृताशयः ॥१२॥
 ज्वलरथेव स तेजस्वी स्नेहेनोपकृतोऽपि सन् । मृताहुतिप्रसंकेन यथेष्टार्चिर्मत्नानिलः^४ ॥१३॥
 स्वभावपरुषे चास्मिन् प्रयुक्तं साम नार्थक्यं^५ । यपुषि द्विरदस्येव योजितं^६ त्वच्यमौषधम् ॥१४॥
 प्रायो व्याख्यात एवास्य भावः शेषैः कुमारकैः । मदाशक्तिमुत्तैरस्यत्तराज्यभोगैर्वनोन्मुखैः^७ ॥१५॥
 भूयोऽप्यनुनयैरस्य परीक्षिष्यामहे मतम्^८ । तथाप्यप्रणते तस्मिन् विधेयं चिन्त्यमुत्तरम् ॥१६॥
 ज्ञातिव्याजनिगूढान्तर्विक्रियो^९ निष्प्रतिक्रियः । सोऽन्तर्ग्रहोद्यतो वह्निरिवाशेषं दहेत् कुलम्^{१०} ॥१७॥
 अन्तःप्रकृतिजः^{११} कोपो विघाताय प्रभोर्मतः । तस्मात्प्राप्तसंघट्टजन्मा वह्निर्यथा गिरैः ॥१८॥
 तदाद्यु प्रतिकर्तव्यं स बली वक्रतां श्रितः । क्रूरे ग्रह इषासुप्तिन् प्रशान्ते शान्तिरेव नः ॥१९॥
 इति निश्चित्य कार्यज्ञं दूतं मन्त्रविशारदम् । तस्मान्तं प्राहिणोषकी निःसृष्टार्थतयाऽन्वितम्^{१२} ॥२०॥

मन्त्रविद्यामें चतुर पुरुषोंके बिना बश नहीं हो सकता ॥१०॥ शेष क्षत्रिय युवाओंमें और बाहुबलीमें बड़ा भारी अन्तर है, साधारण हरिण यदि पाशसे पकड़ लिया जाता है तो क्या उससे सिंह भी पकड़ा जा सकता है? अर्थात् नहीं । भावार्थ—हरिण और सिंहमें जितना अन्तर है उतना ही अन्तर अन्य कुमारों तथा बाहुबलीमें है ॥११॥ वह नीतिमें चतुर होनेसे अभेद्य है, अर्थात् फोड़ा नहीं जा सकता, पराक्रमी है इसलिए युद्धमें भी बश नहीं किया जा सकता और उसका आशय अत्यन्त विकारयुक्त हो रहा है इसलिए उसके साथ शान्तिका भी प्रयोग नहीं किया जा सकता । भावार्थ—उसके साथ भेद, दण्ड और साम तीनों ही उपायोंसे काम लेना व्यर्थ है ॥१२॥ जिस प्रकार यज्ञकी अग्नि घीकी आहुति पड़नेसे और भी अधिक प्रज्वलित हो उठती है उसी प्रकार वह तेजस्वी बाहुबली स्नेह अर्थात् प्रेमसे उपकृत होकर और भी अधिक प्रज्वलित हो रहा है—क्रोधित हो रहा है ॥१३॥ जिस प्रकार हाथीके शरीरपर लगायी हुई चमड़ाको कोमल करनेवाली ओषधि कुछ काम नहीं करती उसी प्रकार स्वभावसे ही कठोर रहनेवाले इस बाहुबलीके विषयमें साम उपायका प्रयोग करना भी कुछ काम नहीं देगा ॥१४॥ जो मेरी आज्ञासे विमुख हैं, जिन्होंने राज्यभोग छोड़ दिये हैं और जो वनमें जानेके लिए उन्मुख हैं ऐसे बाकी समस्त राजकुमारोंने इसका अभिप्राय प्रायः प्रकट ही कर दिया है ॥१५॥ यद्यपि यह सब है तथापि फिर भी कोमल बच्चनोंके द्वारा उसकी परीक्षा करेंगे । यदि ऐसा करनेपर भी नम्रीभूत नहीं हुआ तो फिर आगे क्या करना चाहिए इसका विचार करना चाहिए ॥१६॥ भाईपनेके कपटसे जिसके अन्तरंगमें विकार छिपा हुआ है और जिसका कोई प्रतिकार नहीं है ऐसा यह बाहुबली घरके भीतर उठी हुई अग्निके समान समस्त कुलको भस्म कर देगा ॥१७॥ जिस प्रकार वृक्षोंकी शाखाओंके अग्रभागकी रगड़से उत्पन्न हुई अग्नि पर्वतका विघात करनेवाली होती है उसी प्रकार भाई आदि अन्तरंग प्रकृतिसे उत्पन्न हुआ प्रकोप राजाका विघात करनेवाला होता है ॥१८॥ यह बलवान् बाहुबली इस समय प्रतिकूलताको प्राप्त हो रहा है इसलिए इसका शीघ्र ही प्रतिकार करना चाहिए क्योंकि क्रूर ग्रहके समान इसके शान्त हो जानेपर ही मुझे शान्ति हो सकती है ॥१९॥ ऐसा निश्चय कर चक्रवर्त्तनी कार्यको जाननेवाले, मन्त्र करनेमें चतुर तथा निःसृष्टार्थतासे सहित

१ भेदः । 'अन्तरमवकाशावधिपरिधानास्तद्विभेदतादर्थ्ये' इत्यभिधानात् । २ सामान्यं कृत्वा । ३ जालैः । 'आनायं पुंसि जालं स्पात्' इत्यभिधानात् । ४ पञ्चाग्निः । ५ कार्यकारी न । ६ त्वचं हितम् । ७ मम शासनम् । ८ वनाभिमुखैः । ९ अभिप्रायः । १० अन्तर्गूढविकारः । ११ गृहं गोत्रं च । १२ स्ववर्गे जातः । १३ असकृत् संपादितप्रयोजनतया ।

उचितं शुभ्यमारुहो वयसा नातिकर्कशः । अनुद्धतेन वेषेण प्रतस्थे स तदन्तिकम् ॥२१॥
 आरमनेव द्विर्मात्रेण स्निग्धेनानुगतो द्रुतम् । निजानुर्जाविलोकेन हस्तशम्भलं वाहिना ॥२२॥
 सोऽन्वीपं वक्ति सेवेवैमहं व्यासकरधनः । विगृह्य यदि स मयाद् विरहं विमहं घटे ॥२३॥
 संधिं च पणवन्धं च कुर्यान् सोऽन्तरमेव नः । विक्रम्ये क्षिप्रमेप्सामि विजिगीषावसंगतं ॥२४॥
 गुणयज्जिति संपत्तिविपत्ती स्वान्यपक्षयोः । स्वयं निगूढमन्त्रत्वाद्निर्मेद्योऽन्धमन्त्रिभिः ॥२५॥
 मन्त्रमेदमयाद् गूढं स्वपक्षेकः प्रयाणकं । युद्धापसारभूमीश्च स पश्यन् दूरमत्यगात् ॥२६॥
 क्रमेण देशान् सिन्धुश्च देशसंधीश्च सोऽतियन् । प्रापत् संख्यातरात्रैस्तत् पुरं पोदनमाह्वयम् ॥२७॥
 बहिःपुरमधासाध रम्याः सस्यवतीभुवः । पक्षशालिवनोद्देशान् स पश्यन् प्राप नन्दधुम् ॥२८॥
 पश्यन् स्तम्भकरिस्तम्बान् प्रभूतफलं शालिनः । कृतरक्षान् जलैर्बद्धात् स मेने स्वार्थिनं जनम् ॥२९॥
 सकुटुम्बिभि रूहाश्चै नृत्पत्तिरमिगन्दिताम् । केदारलावै लघ्वर्षत् रघोषान्यशामयत् ॥३०॥

द्रुतको बाहुबलीके समीप भेजा । भावार्थ—जिस दूतके ऊपर कार्य सिद्ध करनेका सब भार सौंप दिया जाता है वह निःसृष्टार्थ दूत कहलाता है । यह दूत स्वामीके उद्देश्यकी रक्षा करता हुआ प्रसंगानुसार कार्य करता है । चक्रवर्ती भरतने ऐसा ही दूत बाहुबलीके पास भेजा था ॥२०॥ जो उमरमें न तो बहुत छोटा था और न बहुत बड़ा ही था ऐसा वह दूत अपने योग्य रथपर सवार होकर नम्रताके वेषसे बाहुबलीके समीप चला ॥२१॥ जिसने मार्गमें काम आने-वाली भोजन आदिकी समस्त सामग्री अपने साथ ले रखी है और जो प्रेम करनेवाला है ऐसे अपने ही समान एक सेवकसे अनुगत होकर वह दूत वहांसे शीघ्र ही चला ॥२२॥ वह दूत मार्गमें विचार करता जाता था कि यदि वह अनुकूल बोलेंगा तो मैं भी अपनी प्रशंसा किये बिना ही अनुकूल बोलूंगा और यदि वह विरुद्ध होकर युद्धकी बात करेगा तो मैं युद्ध नहीं होनेके लिए उद्योग करूंगा ॥२३॥ यदि वह सन्धि अथवा पणवन्ध (कुछ भेंट देना आदि) करना चाहेगा तो मेरा यह अन्तरंग ही है अर्थात् मैं भी यही चाहता हूँ, इसके सिवाय यदि वह चक्रवर्तीको जीतनेकी इच्छा करेगा तो मैं भी कुछ पराक्रम दिखाकर शीघ्र वापस लौट आऊंगा ॥२४॥ इस प्रकार जो अपने पक्षकी सम्पत्ति और दूसरेके पक्षकी विपत्तिका विचार करता जाता था, जो अपने मन्त्रको छिपाकर रखनेसे दूसरे मन्त्रियोंके द्वारा कभी फोड़ा नहीं जा सकता था और जो मन्त्रमेदके डरसे पड़ावपर किसी एकान्त स्थानमें गुप्त रीतिसे शयन करता था ऐसा वह दूत युद्ध करने तथा उससे निकलनेकी भूमियोंको देखता हुआ बहुत दूर निकल गया ॥२५-२६॥ क्रम-क्रमसे अनेक देश, नदी और देशोंकी सीमाओंका उल्लंघन करता हुआ वह दूत बाहुबली-के पोदनपुर नामक नगरमें जा पहुँचा ॥२७॥ नगरके बाहर धानसे युक्त मनोहर पृथिवी-को पाकर और पके हुए चावलोंके खेतोंको देखता हुआ वह दूत बहुत ही आनन्दको प्राप्त हुआ था ॥२८॥ जो बहुत-से फलोंसे शोभायमान हैं और किसानोंके द्वारा बड़े यत्नसे जिनकी रक्षा की जा रही है ऐसे धानके गुच्छोंको देखते हुए दूतने मनुष्योंको बड़ा स्वार्थी समझा था ॥२९॥ जो खेतोंको देखकर आनन्दसे नाच रहे हैं और खेत काटनेके लिए जिन्होंने हँसिया ऊँचे उठा रखे

१ वाहनम् । 'सर्वं स्याद् वाहनं धानं पुष्पं पत्रं च धोरणम्' इत्यभिधानात् । २ अनुचरजनेन । ३ पाथेय । ४ अनुकूलम् । ५ अनुकूलवृत्त्या । ६ अरलाघमानः । - मकच्छनः ल० । ७ कलहं कृत्वा । ८ नाशम् । ९ करोमि । १० निष्कप्रस्थिम् । प्राभूतमित्यर्थः । ११ विक्रमं कृत्वा । १२ आगच्छामि । १३ संधिं न गते सति । १४ शयानः । १५ युद्धापसारणयोग्यभूमिः । १६ -मभ्यगात् ल०, प०, अ०, स० । १७ नदीः । १८ देश-सोमनः । १९ अतीत्य गच्छन् । २० आनन्दम् । २१ ब्रीहियुच्छान् । 'धान्यं ब्रीहिः स्तम्भकारिः स्तम्भो गुच्छस्तृणाशितः' इत्यभिधानात् । २२ बहल । २३ निजप्रयोजनवस्तुम् । २४ कुपीबलैः । २५ उद्गतलविषैः । २६ छेदन । २७ समर्प । २८ अशृणोत् ।

कचिच्छ्रुकमुखाकृष्टकणाः कणिशमभरीः । शालिवपेषु^१ सोऽपश्यन् विदेभुन्म हव स्त्रियः ॥३१॥

सुगन्धिकलमामोदसंवादि^२ भस्मि^३ तानिलैः । वासयन्ती^४ दिशः शालिकणिशैरवतंसिताः ॥३२॥

पीनस्तनतटोत्सगगलद्धर्मा^५म्बुबिम्बुभिः । मुक्तालंकारजां लक्ष्मीं घटयन्तीनिजोरसि ॥३३॥

सरजोऽब्जरजःकीर्णसीमन्तरुचिरैः कचैः । चूडामावभतीः स्वैरग्रन्थितोत्पलदामकैः ॥३४॥

दधतीरातपश्चान्तमुखपर्यन्तसंनितीः । लावण्यस्यैव कणिकाः श्रमचर्मा^६म्बुविभुषः ॥३५॥

शुकान् शुक्लच्छदच्छायैरुचिराङ्गीस्तनांशुकैः । छोरकुर्वतीः कलक्षणं सोऽपश्यच्छालिगोपिकाः ॥३६॥

अमद्याग्रकुटीयन्त्रची^७त्कारैरिधुवाटकान् । फूंकुर्वत इवाप्राङ्गीदृतिपीडामयेन सः ॥३७॥

उपश्रेयं^८ च गोधेर्नर्महोषोभरमन्थराः^९ । वात्सकेनोत्सुकाः स्तन्यं^{१०} क्षरतीनिचचाय^{११} सः ॥३८॥

इति रम्यान् पुरस्यास्य सीमान्तान् स बिलोकयन् । मेने कृतार्थमात्मानं लब्धतर्हर्षनोत्सवम् ॥३९॥

उपशल्पभुवः^{१२} कुर्याप्रणालीप्रसृतोदकाः । शालीक्षुजीरकक्षेत्रैर्वृतास्तस्य^{१३} मनोऽहरन् ॥४०॥

वापीक्षुपतङ्गिश्च सारामैरभुजाकरः । पुरस्यास्य बहिदशास्तेनाद्वयन्त हारिणः ॥४१॥

पुरगोपुरमुल्लङ्घ्य स निचायन् वणिकपथान् । तत्र^{१४} पूर्णकृतान् मेने रत्नराशिक्षिपीनिव ॥४२॥

हैं ऐसे कुटुम्बसहित किसानोंके द्वारा प्रशंसनीय, खेत काटनेके संघर्षके लिए बजती हुई तुरईके शब्दोंको भी वह दूत सुन रहा था ॥३०॥ कहीं धानके खेतोंमें वह दूत जिनके कुछ दाने तोताओं ने अपने मुखसे खींच लिये हैं ऐसी बालोंके समूह इस प्रकार देखता था मानो त्रिद पुरुषोंके द्वारा भोगी हुई स्त्रियाँ ही हों ॥३१॥ जो सुगन्धित धानको सुगन्धिके समान सुवासित अपनी श्वासकी वायुसे दशों दिशाओंको सुगन्धित कर रही थीं, जिन्होंने धानकी वालोंसे अपने कानोंके आभूषण बनाये थे, जो अपने वक्षःस्थलपर स्थूल स्तनतटके समीपमें गिरती हुई पसीनेकी बूंदोंसे मोतियोंके अलंकारसे उत्पन्न होनेवाली शोभाको धारण कर रही थीं, जो परागसहित कमलोंकी रजमे भरे हुए माँगसे सुन्दर तथा अच्छी तरह गुँथी हुई नीलकमलोंकी मालाओंसे सुशोभित केशोंसे चोटियाँ बाँधे हुई थीं, जो घामसे दुःखी हुए मुखपर लगी हुई सौन्दर्यके छोटे-छोटे टुकड़ोंके समान पसीनेकी बूंदोंको धारण कर रही थीं, जिनके शरीर तोतेके पंखोंके समान कान्तिवाली-हरी-हरी चोलियोंसे सुशोभित हो रहे थे, और जो मनोहर शब्द करती हुई छो-छो करके तोताओंको उड़ा रही थीं ऐसी धानकी रक्षा करनेवाली स्त्रियाँ उस दूतने देखीं ॥३२-३६॥ जो चलते हुए कोल्हूओंके चीत्कार शब्दोंके बहाने अत्यन्त पीड़ासे मानो रो ही रहे थे ऐसे ईखके खेत उस दूतने देखे ॥३७॥ खेतोंके समीप ही, बड़े भारी स्तनके भाँसे जो धीरे-धीरे चल रही हैं, जो बछड़ोंके समूहसे उत्कण्ठित हो रही हैं और जो दूध झरा रही हैं ऐसी नवीन प्रसूता गायें भी उसने देखी ॥३८॥ इस प्रकार इस नगरके मनोहर सीमाप्रदेशोंको देखता हुआ और उन्हें देखकर आनन्द प्राप्त करता हुआ वह दूत अपने आपको कृतार्थ मानने लगा ॥३९॥ जिनके चारों ओर नहरकी नालियोंसे पानी फैला हुआ है और जो धान ईख और जीरेके खेतोंसे घिरी हुई हैं ऐसी उस नगरके बाहरकी पृथिवियाँ उस दूतका मन हरण कर रही थी ॥४०॥ बावड़ी, कुएँ, तालाब, बगीचे और कमलोंके समूहोंसे उस नगरके बाहरके प्रदेश उस दूतको बहुत ही मनोहर दिखाई दे रहे थे ॥४१॥ नगरके गोपुरद्वारको

१ धाम्याङ्गाः । २ केदारेषु । ३ परिस्पृधि । ४ उच्छ्वास । ५ शिखाम् । 'शिखा चूडा केशपाशः' इत्यभिधानात् । ६ इक्षुपन्त्रगृह । ७ क्षेत्रसमीपे । ८ गोतवस्तुनिकाः । 'धेनुः स्यादग्रप्रसूतिका' ९-यन्नि-
पानात् । १० महापीनभारमन्दगमनाः । ११ क्षीरम् । १२ वदन् । 'वाक्त्रं प्रजानिगामनयोः' ।
१३ प्रामास्तभूमिः । 'प्रामान्तमृदशल्यं स्याद्' इत्यभिधानात् । १४ दूतस्य । १५ कृदोक्तान् । 'पुणः
क्रमकवृन्दयोः' इत्यभिधानात् । पुञ्जीकृतानिस्मर्यः । पुञ्जीकृतान् ल० । पुञ्जकृतान् अ०, प०, ग०, इ० ।

नृपोपायनवाजीमलालामवजलाविलम् । कृतच्छटमिवालोक्ष्य सोऽभ्यनन्दबुपाङ्गणम् ॥४३॥

स निवेदितवृत्तान्तो महादौघान्पालकैः । त्वं तुपागनासीतमुपासी १ त्वं वक्रोदरः ॥४४॥

पृथुवक्षसं २ त्वं मुकुटोदग्रशङ्कम् । जयलक्ष्मीविलासिन्याः क्रीडाशीलमिवैककम् ॥४५॥

ललाटपट्टमारुढपट्टबन्धं सुविस्तृतम् । जयश्रिय इयोद्वाहपट्टं दधतमुखकैः ॥४६॥

दधानं तुलिताक्षेपराजम्यकयशोधनम् । तुलादण्डमिवोदूढभूभारं भुजदण्डकम् ॥४७॥

मुखेन पङ्कजच्छायां नेत्राभ्यामुत्पलश्रियम् । दधनमप्यन्या सप्तविजातिमजलाशयम् ३ ॥४८॥

विष्णोणमतिविस्तीर्णं मनो वक्षश्च यद्द्वयम् । ४ चाग्देवीकमलावधोर्गतं नित्यावकाशताम् ॥४९॥

रक्षावृत्तिपरिक्षेपं गुणग्रामं ५ महाफलम् । निवेशयन्तमात्माङ्गे मनःसु च महीयसाम् ॥५०॥

स्फुरदामरणोद्योतच्छाया निखिला दिशः । प्रतापज्वलनेनैव लिप्यन्तमलघीयसा ॥५१॥

मुखेन चन्द्रकाशेन ६ पद्मरागेण ७ चाक्षणा । चरणेन विराजन्तं वज्रसारेण ८ वर्ष्मणा ॥५२॥

उल्लंघन कर बाजारके मार्गोंको देखता हुआ वह दूत वहाँ इकट्ठी की हुई रत्नोंकी राशियोंको निधियोंके समान मानने लगा ॥४२॥ जो राजाकी भेंटमें आये हुए छोड़े और हाथियोंकी लार तथा मदजलसे कीचड़सहित हो रहा था और उससे ऐसा मालूम होता था मानो उसपर जल ही छीटा गया हो ऐसे राजाके आँगनको देखकर वह दूत बहुत ही प्रसन्न हो रहा था ॥४३॥ जिसने मुख्य-मुख्य द्वारपालोंके द्वारा अपना वृत्तान्त कहला भेजा है ऐसा वह दूत राजसिंहासन-पर बैठे हुए महाराज बाहुबलीके समीप जा पहुँचा ॥४४॥ वहाँ जाकर उसने महाराज बाहुबलीको देखा, उनका वक्षःस्थल किनारेके समान चौड़ा था, वे स्वयं ऊँचे थे और उनका मुकुट शिखरके समान उन्नत था इसलिए वे विजयलक्ष्मीरूपी स्त्रीके क्रीड़ा करनेके लिए एक अद्वितीय पर्वतके समान जान पड़ते थे—जिसपर यह बंधा हुआ है ऐसे लम्बे-चौड़े ललाटपट्टको धारण करते हुए वे ऐसे जान पड़ते थे मानो विजयलक्ष्मीका उत्कृष्ट विवाहपट्ट ही धारण कर रहे हों । वे बाहुबली स्वामी, जिसने समस्त राजाओंका यशरूपी धन तोल लिया है और जिसने समस्त पृथिवीका भार उठा रखा है ऐसे तराजूके दण्डके समान भुजदण्डको धारण कर रहे थे—यद्यपि वे मुखसे कमलकी और नेत्रोंसे उत्पलकी शोभा धारण कर रहे थे तथापि उनके समीप न तो विजाति अर्थात् पक्षियोंकी जातियाँ थीं और न वे स्वयं जलाशय अर्थात् सरोवर ही थे । भावार्थ—इस श्लोकमें विरोधाभास अलंकार है इसलिए विरोधका परिहार इस प्रकार करना चाहिए कि वे यद्यपि मुख और नेत्रोंसे कमल तथा उत्पलकी शोभा धारण करते थे तथापि उनके पास विजाति अर्थात् वर्णसंकर लोगोंका निवास नहीं था और न वे स्वयं जलाशय अर्थात् जड़ आशयवाले मूर्ख ही थे । वे बाहुबली जिनपर क्रमसे सरस्वती देवी और लक्ष्मीदेवीका निरन्तर निवास रहता था ऐसे अत्यन्त विस्तृत (उदार और लम्बे चौड़े) मन और वक्षःस्थलको धारण कर रहे थे—वे, प्रजाकी रक्षाके कारण तथा बड़े-बड़े फल देनेवाले गुणोंके समूहको अपने शरीरमें धारण कर रहे थे और अन्य महापुरुषोंके मनमें धारण कराते थे—वे अपने देदीप्यमान आभूषणोंकी कान्तिके छलसे ऐसे जान पड़ते थे मानो अपने विशाल प्रतापरूपी अग्निसे समस्त दिशाओंको लिप्त ही कर रहे हों । वे चन्द्रकान्त मणिके समान मुखसे, पद्मराग मणिके समान सुन्दर चरणोंसे और वज्रके समान सुदृढ़ अपने

१ परतृपः प्राभृतीकृत । २ कर्दमितम् । ३ उपागमत् । ४ सानुम् । ५ अनासन्नहीनजातिम् । पक्षे पक्षिजातिम् । ६ अमन्दबुद्धिम् । ७ सरस्वतीलक्ष्म्योः । ८ गुणसमूहम् । निगम (गाँव) मिति ध्वनिः । ९ चन्द्रवत् कान्तेन । १० चन्द्रकान्तशिलयेति ध्वनिः । ११ पद्मवद्वरणेन । पद्मरागरत्नेनेति ध्वनिः । १२ वज्रवत् स्थिरावयवेन । वज्रान्तःसारेणेति ध्वनिः ।

हरिन्मणिमयस्तम्भमिवैकं हरितस्त्रियम् । लोकावष्टम्भमाध्यातुं^१ सृष्टमाद्येन वेधसा^२ ॥५३॥
 'सर्वाङ्गसंगतं तेजो दद्यात् क्षत्रमूर्जितम् । नूनं^३ तेजोमयैरेव घटितं परमाणुभिः ॥५४॥
 तमिन्मालोकयन् दूराद् धाम्नः^४ पुञ्जमिवोच्छिखम् । चञ्चाल प्रणिधिः^५ किञ्चित् प्रणिधानां^६ क्षिप्रीशितुः ॥५५॥
 प्रणमंश्चरणावेत्थ दधद्दूरानतं शिरः । सत्कारं कुमारेण नातिकूरे न्यवेशि सः ॥५६॥
 तं शासनहरं जिष्णोर्निविष्टमुचितासने । कुमारो निजगादेति स्मितांशून् विष्मगाकिरन् ॥५७॥
 चिरात्कधरस्याद्य वयं^७ चिन्त्यन्वमागताः । भद्रं भद्रं^८ जगज्जुर्बहुविन्त्यस्य चक्रिणः ॥५८॥
 विश्वक्षेत्रजयोद्योगमथापि न समापयन्^९ । स कश्चिद्^{१०} भूभुजां मर्तुः कुतली दक्षिणो भुजः ॥५९॥
 श्रुता विश्वदिशः सिद्धा जिताश्च मिथिला नृपाः । कर्तव्यशेषमस्याद्य किमस्ति वद नास्ति वा ॥६०॥
 इति प्रशान्तमोजस्वि वचःसारं मिताक्षरम् । वदन् कुमारो दूतस्य वचनावसरं^{११} व्यधात् ॥६१॥
 अधोपाचकमं वक्तुं वचो हारि^{१२} वचोहरः । वागव्याधिषि संपिण्ड्य^{१३} दर्शयन् दशनांशुभिः^{१४} ॥६२॥
 त्वद्वचः^{१५} संमुखीनेऽस्मिन् कार्यं सुव्यक्तमीक्ष्यते । असंस्कृतोऽपि^{१६} यन्नार्थं प्रत्यक्षयति^{१७} मादशः^{१८} ॥६३॥
 वयं वचोहरा नाम प्रभोः शासनहारिणः । गुणदोषविचारेषु मन्दास्तच्छन्दवर्जिनः^{१९} ॥६४॥

शरीरसे बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहे थे । उनकी कान्ति हरे रंगकी थी इसलिए वे ऐसे जान पड़ते थे मानो आदि ब्रह्मा भगवान् वृषभदेवके द्वारा लोकको सहारा देनेके लिए बनाया हुआ हरित मणियोंका एक खम्भा ही हो । समस्त शरीरमें फैले हुए अतिशय श्रेष्ठ क्षात्रतेज-को धारण करते हुए महाराज बाहुबली ऐसे जान पड़ते थे मानो तेजरूप परमाणुओंसे ही उनकी रचना हुई हो । जिसकी ज्वाला ऊपरकी ओर उठ रही है ऐसे तेजके पुंजके समान महाराज बाहुबलीको दूरसे देखता हुआ वह चक्रवर्तीका दूत अपने ध्यानसे कुछ विचलित-सा हो गया अर्थात् घबड़ा-सा गया ॥५५-५६॥ दूरसे ही झुके हुए शिरको धारण करनेवाले उस दूतने जाकर कुमारके चरणोंमें प्रणाम किया और कुमारने भी उसे सत्कारके साथ अपने समीप ही बैठाया ॥५६॥ कुमार बाहुबली अपने मन्द हास्यकी किरणोंको चारों ओर फैलाते हुए योग्य आसनपर बैठे हुए उस भरतके दूतसे इस प्रकार कहने लगे ॥५७॥ कि आज चक्रवर्ती-ने बहुत दिनमें हम लोगोंका स्मरण किया, हे भद्र, जो समस्त पृथिवीके स्वामी हैं और जिन्हें बहुत लोगोंकी चिन्ता रहती है ऐसे चक्रवर्तीकी कुशल तो है न ? ॥५८॥ जिसने समस्त क्षात्रियोंको जीतनेका उद्योग आज तक भी समाप्त नहीं किया है ऐसे राजाधिराज भरतेश्वर-की वह प्रसिद्ध दाहिनी भुजा कुशल है न ? ॥५९॥ सुना है कि भरतने समस्त दिशाएँ वश कर ली हैं और समस्त राजाओंको जीत लिया है । हे दूत, कहो अब भी उनको कुछ कार्य बाकी रहा है या नहीं ? ॥६०॥ इस प्रकार जो अत्यन्त शान्त हैं, तेजस्वी हैं, साररूप हैं, और जिनमें थोड़े अक्षर हैं ऐसे वचन कहकर कुमारने दूतको कहनेके लिए अवसर दिया ॥६१॥

तदनन्तर दाँतोंकी किरणोंसे शब्द और अर्थ दोनोंको मिलाकर दिखलाता हुआ दूत मतोहर वचन कहनेके लिए तैयार हुआ ॥६२॥ वह कहने लगा कि हे प्रभो, आपके इस वचन-रूपी दर्पणमें आगेका कार्य स्पष्ट रूपसे दिखाई देता है क्योंकि उसका अर्थ सुझ-जैसा मूर्ख भी प्रत्यक्ष जान लेता है ॥६३॥ हे नाथ, हम लोग तो दूत हैं केवल स्वामीका समाचार ले जाने-

१ आधारम् । २ आदिब्रह्मणेत्यर्थः । ३ सप्ताङ्ग अथवा सर्वशरीर । ४ इव । ५ धाम्नां तेजसाम् । ६ चरः । ७ गुणदोषविचारानुस्मरणं प्रणिधानम्, तस्मात् । अभिप्रायादित्यर्थः । ८ चिन्तितुं योग्याश्चिन्त्याः तेषां भावः चिन्त्यन्वम् । ९ कुशलम् । १० क्षेत्र-इ० । ११ सम्पूर्णं न कुर्वन् । १२ किम् । १३ वचनस्यावसरम् । १४ मनोजम् । १५ पिण्डीकृतम् । १६ दन्तकान्तिभिः । १७ तत्र वाग्दर्पणे । १८ संस्काररहितः । १९ प्रत्यक्षं करोति । २० मय्यविधः । २१ चक्रिवशवर्तिनः । - च्छन्दहारिणः ल०, द० ।

ततश्चक्रवर्णाय यदादिष्टं^१ प्रियोचितम् । प्रयोक्तृगौरवादेव तद्भावं साध्वसाधु वा ॥६५॥
 गुरोर्वचनमादेयमनिकल्पेति^२ या श्रुतिः । तस्मात्साध्यादमुष्याशा खंधिधेया त्वराधुना ॥६६॥
 ऐश्वराकः^३ प्रथमो राजा भरतो भवदग्रजः । परिक्रान्ता मही कृत्स्ना येन नामयताऽमरान् ॥६७॥
 गङ्गाद्वारं समुल्लङ्घय यो रथेनाप्रतिष्ठाः^४ । चलदाविद्धकलोलं^५ सकरोन्मकरालयम् ॥६८॥
 शरण्याजः प्रतापप्रिज्वलत्पथ्य-जलेऽम्बुधेः । परौ न केवलं वार्द्धिं मानं च त्रिदिशौकसाम् ॥६९॥
 सा नाम प्रणतिं यस्य वाजिधुर्युसदः कथम् । आकृष्टाः शरपाशेन प्राध्वंकृत्य^६ गले बलात् ॥७०॥
 शरस्यमकरोद्यस्य शरपातो महाम्बुधौ । प्रसन्नं मगधावासं क्रान्तद्वादशयोजनः ॥७१॥
 विजयाद्वार्द्धिचले यस्य विजयो घोषितोऽमरैः । जयतो विजयाद्वेशं शरेणामोघपातिना ॥७२॥
 कृतमालादयो देवा गता यस्य विधेयताम्^७ । कृतमस्योमयश्रेणीन^८ भोगजयवर्णनैः ॥७३॥
 गुहामुखमपध्वान्तं^९ व्यतीत्य जयसाधनैः । उत्तरां विजयाद्वार्द्धिर्घोषं व्यगाहत तां महीम् ॥७४॥
 म्लेच्छाननिच्छतोऽप्याशां प्रच्छाद्य^{१०} जयसाधनैः । सेनाभ्या यो जयं प्राप बलादाविद्धं^{११} लङ्घनम् ॥७५॥

वाले हैं हम लोग सदा स्वामीके अभिप्रायके अनुसार चलते हैं तथा गुण और दोषोंका विचार करनेमें भी असमर्थ हैं ॥६४॥ इसीलिए हे आर्य, चक्रवर्तीने जो प्रिय और उचित आज्ञा दी है वह अच्छी हो या बुरी, केवल कहनेवालेके गौरवसे ही स्वीकार करने योग्य है ॥६५॥ गुप्तके वचन बिना किसी तर्क-वितर्कके मान लेना चाहिए यह जो शास्त्रका वचन है उसे प्रमाण मानकर इस समय आपको चक्रवर्तीकी आज्ञा स्वीकार कर लेनी चाहिए ॥६६॥ वह भरत इक्ष्वाकुवंशमें उत्पन्न हुआ है अथवा इक्ष्वाकु अर्थात् भगवान् वृषभदेवका पुत्र है, राजाओंमें प्रथम है, आपका बड़ा भाई है और इसके सिवाय देवोंसे भी नमस्कार कराते हुए उसने समस्त पृथिवी अपने वश कर ली है ॥६७॥ उसने गंगाद्वारको उल्लंघन कर अकेले ही रथपर बैठकर समुद्रको जिसकी घंचल लहरें एक दूसरेसे टकरा रही हैं ऐसा कर दिया ॥६८॥ बाणके बहाने-से इसकी प्रतापरूपी अग्नि समुद्रके जलमें भी प्रज्वलित रहती है, उस अग्निने केवल समुद्र-को ही नहीं पिया है किन्तु देवोंका मान भी पी डाला है ॥६९॥ भला, देव लोग उसे कैसे न नमस्कार करेंगे ? क्योंकि उसने बाणरूपी जालसे गलेमें बाँधकर उन्हें जबरदस्ती अपनी ओर खींच लिया था ॥७०॥ बारह योजन दूर तक जानेवाले उसके बाणने महासागरमें रहनेवाले मागधदेवके निवासस्थानको भी जबरदस्ती अपना निशाना बनाया था ॥७१॥ व्यर्थ न जाने-वाले बाणके द्वारा विजयार्ध पर्वतके स्वामी विजयार्धदेवको जीतनेवाले उस भरतकी विजय-घोषणा देवोंने भी की थी ॥७२॥ कृतमाल आदि देव उसकी अधीनता प्राप्त कर चुके हैं और उत्तर दक्षिण दोनों श्रेणियोंके विद्याधरोंने भी उसकी जयघोषणा की है ॥७३॥ जिसका अन्ध-कार दूर कर दिया गया है ऐसे गुफाके दरवाजेको अपनी विजयी सेनाके साथ उल्लंघन कर उसने विजयार्ध पर्वतकी उत्तर दिशाकी भूमिपर भी अपना अधिकार कर लिया है ॥७४॥ म्लेच्छ लोग यद्यपि उसकी आज्ञा नहीं मानना चाहते थे तथापि उसने सेनापतिके द्वारा अपनी

१ उपदेशितम् । २ भेदमकृत्वा । ३ इक्ष्वाकोः सकाशात् संजातः । ४ असहायः । ५ परस्परताडितः । अथवा कुटिलः । 'आविद्धं कुटिलं भुजं वेल्लितं वक्रम्' इत्यभिधानात् । ६ अगुः । माङ्गयोगादहभावः । ७ बन्धनं कृत्वा । 'प्राध्वं बन्धे' इति सूत्रेण तिसंज्ञायां 'तिष्ठस्वत्याइक्षन्त्यस्त तत्पुरुषः' इति समासः, 'समासे को नञः प्यः' इति क्त्वाप्रत्ययस्य व्यादेशः । ८ लङ्घनम् । ९ विनयप्राङ्गिताम् । 'विनेयो विनयग्राही' इत्यभिधानात् । १० पर्याप्तम् । ११ श्रेणीभोगैर्जयवर्णनम् ६०, ६० । श्रेणिभोगैर्जयवर्णनैः ल० । १२ अपगतान्धकारं कृत्वा । १३ संवेष्टय । १४ बलादाकृत्य ।

कृताऽभिषेकां यस्यारादभ्यस्य सुरसत्तमैः । यस्याचलेन्द्रकूटेषु स्थलपद्मायितं यशः ॥७६॥
 रत्नावैः पर्युपासातां^१ यं स्वर्धुम्यधिदेवते^२ । वृषभाद्रितये येन दहोत्कीर्णं कृतं यशः ॥७७॥
 घटदासीकृता लक्ष्मीः सुराः किङ्करतां गताः । यस्य स्वाधीनरत्नस्य निधयः सुवर्तं धनम् ॥७८॥
 स यस्य जयसंस्थानि निर्जित्य निखिला दिशः । भ्रमन्ति स्माखिलाग्भोभितान्तवनभूमिषु ॥७९॥
 स्वामायुष्मन् जगन्माम्यो मानयन्^३ कुशलाशिषा । समादिशन्ति चक्राङ्कां ययशधिराजताम् ॥८०॥
 मर्दय राज्यमाक्रान्तिनिखिलद्वीपसागरम् । राजतेऽस्मत्प्रियभात्रा न बाहुबलिना पिना ॥८१॥
 ताः संपदस्तदैश्वर्यं ते भोगाः स परिच्छदः^४ । ये समं वन्दुभिर्भुक्ताः संविभक्तसुखादयैः ॥८२॥
 अन्यच्च नमिताशेषनृसुरासुरस्त्रेवरम् । नाधिराज्यं विमात्यस्य^५ प्रणामविमुखे स्वयि ॥८३॥
 न कुर्वन्ति मनस्तीक्ष्णं रिपुरप्रणतस्तथा । वन्दुरप्रणमन् गर्वाद् दुर्बिन्द्वो यथा प्रभुम् ॥८४॥
 तदुपेत्य प्रणामेन पूज्यतां प्रभुरक्ष्मी । प्रभुप्रणतिरेवेष्टा प्रसूतिर्ननु संपदाम् ॥८५॥
 अवन्ध्यशासनस्थास्य शासने^६ ये विमण्वन्ते^७ । शासने^८ द्विषतां तेषां चक्रमप्रतिशासनम् ॥८६॥
 प्रचण्डदण्डनिर्वाते निपातपरिखण्डितान् । तदाज्ञासख्यनख्यमान् पश्यैतान्^९ मण्डलाधिपान् ॥८७॥

सेनासे हराकर और जबरदस्ती उनका धन छीनकर उनपर विजय प्राप्त की है ॥७५॥ अच्छे-अच्छे देवोंने आकर उसका अभिषेक किया है और उसका निर्मल यश बड़े-बड़े पर्वतोंके शिखरों-पर स्थलकमलोंके समान सुशोभित हो रहा है ॥७६॥ गंगा-सिन्धु दोनों नदियोंके देवताओं-ने रत्नोंके अर्धोंके द्वारा उसकी पूजा की है तथा वृषभाद्रकृतके सप्तरात्रके अष्टम दिन यश टांकीसे उधेरकर लिखा है ॥७७॥ उसने लक्ष्मीको घटदासी अर्थात् पानी भरनेवाली दासीके समान किया है, देव उसके सेवक हो रहे हैं, समस्त रत्न उसके स्वाधीन हैं और निधियां उसधन प्रदान करती रहती हैं ॥७८॥ और उसकी विजयी सेनाओंने समस्त दिशाओंको जीतकर सब समुद्रोंके किनारेके वनोंको भूमिमें भ्रमण किया है ॥७९॥ हे आयुष्मन्, जगत्में माननीय वही महाराज भरत अपने चक्रवर्तीपनेको प्रसिद्ध करते हुए कल्याण करनेवाले आशीर्वादसे आपका सन्मान कर आज्ञा कर रहे हैं ॥८०॥ कि समस्त द्वीप और समुद्रों तक फैला हुआ, यह हमारा राज्य हमारे प्रिय भाई बाहुबलीके बिना शोभा नहीं देता है ॥८१॥ सम्पन्नियां वही हैं, ऐश्वर्य वही है, भोग वही है और सामग्री वही है जिसे भाई लोग सुखके उदयको आँटते हुए साथ-साथ उपभोग करें ॥८२॥ दूसरी एक बात यह है कि आपके प्रणाम करनेसे विमुख रहनेपर जिसमें समस्त मनुष्य, देव, धरणेन्द्र और विद्याधर नमस्कार करते हैं ऐसा उनका चक्रवर्तीपना भी सुशोभित नहीं होता है ॥८३॥ प्रणाम नहीं करनेवाला शत्रु स्वामीके मनको उतना अधिक दुःखी नहीं करता है जितना कि अपनेको झूठमूठ चतुर माननेवाला और अभिमानसे प्रणाम नहीं करनेवाला भाई करता है ॥८४॥ इसलिए आप किसी अपराधकी क्षमा नहीं करनेवाले महाराज भरतके समीप जाकर प्रणामके द्वारा उनका मदकार कीजिए क्योंकि स्वामीको प्रणाम करना अनेक सम्पदाओंको उत्पन्न करनेवाला है और यही सबको इष्ट है ॥८५॥ जिसकी आज्ञा कभी व्यर्थ नहीं जाती ऐसे उस भरतकी आज्ञाका जो कोई भी उल्लंघन करते हैं उन शत्रुओंका शासन करनेवाला उसका वह चक्ररत्न है जिसपर स्वयं किसीका शासन नहीं चल सकता ॥८६॥ आप भरतकी आज्ञाका खण्डन करनेसे व्याकुल हुए इन मण्डलाधिपति राजाओंको देखिए जो भयंकर दण्डरूपी वज्रके गिरनेसे खण्ड-खण्ड

१ अपूजयताम् । २ गंगासिन्धू देव्यौ । ३ पूजयन् । ४ चक्रिणः । ५ तत्कारणात् । ६ आज्ञाम् । ७ अवज्ञा कुर्वन्ति । ८ शिक्षकम् । ९ वण्डरत्नाशनि । १० पश्यैतान् ४०, ५०, ६०, ७०, ८०, ९० ।

१ तदेव दूतमायुष्मन् पूरयास्य मनोरथम् । युववीरस्तु सांगत्यान् संगतं निखिलं जगत् ॥८८॥
 इति तद्वचनस्मान्ते २ वचः ३ शान्तिम् ४ परब्रह्मकरणादिप्रयोजने । ५ हृदये वर्तमानः । ६ व्यक्तं
 साधुत्वं साधुवृत्तत्वं त्वया घटयता प्रभोः । वाचस्पत्यं तदेवेष्टं पोषकं स्वमतस्य यत् ॥८९॥
 साम ७ दर्शयता नाम भेददण्डौ विशेषतः । प्रयुज्यानेन साध्येऽर्थे ८ स्वातन्त्र्यं दक्षितं त्वया ॥९०॥
 ९ व्रतमग्रस्य प्रभोः सत्यं स स्वमन्तश्चरश्चरः १० । अन्यथा कथमेवास्य ११ व्यनङ्मन्तर्गतं गतम् ॥९१॥
 १२ निवृत्त्यर्थतयाऽस्मात् १३ निर्विष्टत्वं निर्वाशिना । विशिष्टोऽसि न वैशिष्ट्यं परममस्पृशीदृशम् ॥९२॥
 अयं खलु खलाचारो यद्वलात्कारदर्शनम् । स्वगुणोत्कीर्तनं दोषोन्नाशनं च परेषु यत् ॥९३॥
 विवृणोति खलोऽन्येषां दोषान् स्वांश्च गुणान् स्वयम् । संवृणोति च दोषान् स्वान् परकीयान् गुणानपि ॥९४॥
 अनिराकृतसंतापाः सुमनोभिः १५ समुज्जिताम् । फलहीनां अग्रत्यजः १६ खलतां १७ खलतामिव १८ ॥९५॥
 सतामसंमतां विश्वगावितां विरसैः फलैः । मध्ये दुःखखलतामनां खलतां लोकापिर्निम् ॥९६॥
 सोपप्रदानं १९ सामादौ प्रयुक्तमपि बाध्यते । पराभ्यां भेददण्डाभ्यां न्याय्ये २० विप्रतिषेधिनि २१ ॥९७॥

हो रहे हैं ॥८७॥ इसलिए हे दीर्घायु कुमार, आप शीघ्र ही चलकर इसके मनोरथ पूर्ण
 कीजिए । आप दोनों भाइयोंके मिलापसे यह समस्त संसार मिलकर रहेगा ॥८८॥ इस प्रकार
 उस दूतके कह चुकनेके बाद चतुर और जवान बाहुबली कुमार कुछ मन्द-मन्द हँसकर
 गम्भीर, अर्थसे भरे हुए धीर वीर वचन कहने लगे ॥८९॥ वे बोले कि हे दूत, अपने स्वामी-
 की साधु वृत्तिको प्रकट करते हुए तूने सब सच कहा है क्योंकि जो अपने मतकी पुष्टि करने-
 वाला हो वही कहना ठीक होता है ॥९०॥ साम अर्थात् शान्ति दिखलाते हुए तूने विशेषकर
 भेद और दण्ड भी दिखला दिये हैं तथा उनका प्रयोग करते हुए तूने यह भी बतला दिया कि
 तू अपना अर्थ सिद्ध करनेमें कितना स्वतन्त्र है ? ॥९१॥ इस प्रकार कहनेवाला तू सचमुच
 ही अपने स्वतन्त्र स्वामीका अन्तरंग दूत है, यदि ऐसा न होता तो तू उसके हृदयगत अभि-
 प्रायको कैसे प्रकट कर सकता था ॥९२॥ चक्रवर्तिने तुझपर समस्त कार्यभार सौंपकर
 मेरे पास भेजा है, यद्यपि तू चतुर है तथापि इस प्रकार दूसरेका मर्मछेदन करना चतुराई नहीं
 है ॥९३॥ अपनी जवरदस्ती दिखलाना वास्तवमें दुष्टोंका काम है तथा अपने गुणोंका वर्णन
 करना और दूसरोंमें दोष प्रकट करना भी दुष्टोंका ही काम है ॥९४॥ दुष्ट पुरुष, दूसरेके
 दोष और अपने गुणोंका स्वयं वर्णन किया करते हैं तथा अपने दोष और दूसरेके गुणोंको छिपाते
 रहते हैं ॥९५॥ खलता अर्थात् दुष्टता खलता अर्थात् आकाशकी बेलके समान है
 क्योंकि जिस प्रकार आकाशकी बेलसे किसीका सन्ताप दूर नहीं होता उसी प्रकार दुष्टतासे किसी-
 का सन्ताप दूर नहीं होता, जिस प्रकार आकाशकी बेल सुमन अर्थात् फूलोंसे शून्य होती है उसी
 प्रकार दुष्टता भी सुमन अर्थात् विद्वान् पुरुषोंसे शून्य होती है और जिस प्रकार
 आकाशकी बेल फलरहित होती है उसी प्रकार दुष्टता भी फलरहित होती है अर्थात् उससे
 किसीको कुछ लाभ नहीं होता, ऐसी इस दुष्टताका केवल मूर्ख लोग ही आश्रय लेते हैं ॥९६॥
 जो सज्जन पुरुषोंको इष्ट नहीं है, जो सब ओरसे विरस अर्थात् नीरस अथवा विद्वेषरूपी
 फलोंसे व्याप्त है तथा लोगोंको सन्ताप देनेवाली है ऐसी इस खलता-दुष्टताको मैं दुःखलता
 अर्थात् दुःखकी बेल ही समझता हूँ ॥९७॥ यदि न्यायपूर्ण विरोध करनेवाले पुरुषके विषय-

१ तत् कारणात् । २ वचः । ३ शान्तिम् । ४ परब्रह्मकरणादिप्रयोजने । ५ हृदये वर्तमानः । ६ व्यक्तं
 करोषि । ७ बुद्धिम् । ८ असकृत्संपादितप्रयोजनतया । ९ निवृत्तः । १० कुसुमेः । ११ भनहृदयैव ।
 १२ व्यनङ्मन्तर्गतः ल०, द० । १३ दुर्जनत्वम् । १४ आकाशलतामिव । १५ दानसहितम् । १६ न्यायान्वितं
 पुरुषे । १७ भेददण्डाभ्यां विकारं गच्छति सति ।

यथा विषयमेवैवाधुपायानां नियोजनम् । सिद्धयङ्गं तद्विपर्ययात्^१ फलिभ्यति परामभवम् ॥१९॥
नैकान्तशमनं साम समाश्रितं सद्गोष्मणि^२ । स्निग्धेऽपि हि जने तस्य सर्पिणीवाम्बुसेचनम् ॥१००॥
उपप्रदानमप्येवं प्रायः^३ भग्न्ये महीजति । समिस्तहस्तदानेऽपि दीप्तस्थाग्नेः कुलः शमः ॥१०१॥
लोहस्येवोपतप्तस्य^४ मृदुता न मनस्विनः । दण्डोऽप्यनुनयब्राह्मं सामजे न मृगद्विषि^५ ॥१०२॥
ततो व्यत्यासयन्नेनो^६ नुपायाननुपायविन् । स्वयं प्रयोगवैगुण्यात् सीदत्येष न सादृशः^७ ॥१०३॥

में पहले कुछ देनेके विधानके साथ सामका प्रयोग किया जावे और बादमें भेद तथा दण्ड उपाय काममें लाये जावें तो उनके द्वारा पहले प्रयोगमें लाया हुआ साम उपाय बाधित हो जाता है । भावार्थ—यदि न्यायवान् विरोधीके लिए पहले कुछ देनेका प्रलोभन देकर साम अर्थात् शान्तिका प्रयोग किया जावे और बादमें उसीके लिए भेद तथा दण्डकी धमकी दी जावे तो ऐसा करनेसे उसका पहले प्रयोग किया हुआ साम उपाय व्यर्थ हो जाता है क्योंकि न्यायवान् विरोधी उसकी कूटनीतिकी सहज ही समझ जाता है ॥९८॥ साम, दाम, दण्ड, भेद इन चारों उपायोंका यथायोग्य स्थानमें नियोग करना कार्यसिद्धिका कारण है और विपरीत नियोग करना परामभवका कारण है । भावार्थ — जो जिसके योग्य है उसके साथ वही उपाय काममें लानेसे सफलता प्राप्त होती है और विरुद्ध उपाय काममें लानेसे तिरस्कार प्राप्त होता है ॥९९॥ प्रतापशाली पुरुषके साथ साम अर्थात् शान्तिका प्रयोग करना एकान्तरूपसे शान्ति करनेवाला नहीं माना जा सकता क्योंकि प्रतापशाली मनुष्य स्निग्ध अर्थात् स्नेही होनेपर भी यदि क्रोधसे उत्पन्न हो जावे तो उसके साथ शान्तिका प्रयोग करना स्निग्ध अर्थात् चिकने किन्तु गरम घीमें पानी सींचनेके समान है । भावार्थ — जिस प्रकार गरम घीमें पानी डालनेसे वह शान्त नहीं होता बल्कि और भी अधिक चटपटाने लगता है उसी प्रकार क्रोधी मनुष्य शान्तिके व्यवहारसे शान्त नहीं होता बल्कि और भी अधिक बड़बड़ाने लगता है ॥१००॥ इसी प्रकार अतिशय प्रतापशाली पुरुषको कुछ देनेका विधान करना भी मैं निःसार समझता हूँ क्योंकि हजारों समिधाएँ (लकड़ियाँ) देनेपर भी प्रज्वलित अग्नि कैसे शान्त हो सकती है । ॥१०१॥ जिस प्रकार लोहा तपानेसे नरम नहीं होता उसी प्रकार तेजस्वी मनुष्य कष्ट देनेसे नरम नहीं होता इसलिए उसके साथ दण्डका प्रयोग करना निरर्थक है क्योंकि अनुनय विनय कर पकड़ने योग्य हाथीपर ही दण्ड चल सकता है सिंहपर नहीं । विशेष—लोहा गरम अवस्थामें नरम हो जाता है इसलिए यहाँ लोहाका उदाहरण व्यतिरेकरूपसे मानकर ऐसा भी अर्थ किया जा सकता है कि जिस प्रकार तपा हुआ लोहा नरम हो जाता है उस प्रकार तेजस्वी मनुष्य कष्टमें पड़कर नरम नहीं होता इसलिए उसपर दण्डका प्रयोग करना व्यर्थ है । अरे, दण्ड भी प्रेम पुचकार कर पकड़ने योग्य हाथीपर ही चल सकता है न कि सिंहपर भी ॥१०२॥ इसलिए इन साम दान आदि उपायोंका विपरीत प्रयोग करनेवाले और इसलिए ही उपाय न जाननेवाले आप जैसे लोग इन चारों उपायोंके प्रयोगका ज्ञान न होनेसे स्वयं दुःखी होते हैं ॥१०३॥

१ सामभेदादि योग्यगुणमनसिक्रम्य । २ वचननियोजनम् । ३ सप्रतापे । ४ एतत्सदृशम् । ५ इन्धनसमूहः । ६ उपतप्तस्य लोहस्य यथा मृदुतास्ति तथा उपतप्तस्य मनस्विनो मृदुता नास्तीत्यर्थः । ७ सिद्धे । ८ विपरीत्येन योजयन् । ९ श्रेतानु—ल०, द०, अ०, प०, स० । समाधीन् । १० भवादृशः द०, ल०, अ०, प०, स०, इ० ।

मात्राणि दुःखं साध्या वपभिःपुपसंक्षी । तत्रोत्तेकं प्रयुज्जानो व्यक्तं सुखायते भवान् ॥१०४॥
 वपपात्रिक इयं न उदात्ता भवमाधिपः । जरक्षपि गताः कक्षां गातुं किं हरेः शिरोः ॥१०५॥
 प्रणयः पश्यत्येति संगतं पु सनाभिषु । तेष्वेवसंगतेष्वङ्गं तद्द्वयस्य हता गतिः ॥१०६॥
 ज्येष्ठः प्रणम्य इत्येतच्छमसंघन्यदा सदा । सूक्ष्म्यापितस्वङ्गस्य प्रणाम इति कः क्रमः ॥१०७॥
 दूत नो दूयते चित्तमन्योः सेकानुवर्तनः । तेजस्वी भानुरेवैकः किमन्योऽप्यस्यतः परस् ॥१०८॥
 राज्ञोऽकिर्मयि तस्मिन् संविभक्ताऽदिवेषता । राजराजः स हृष्यद्य स्फोटो गण्डस्य मूर्धनि ॥१०९॥
 कामं स राजराजोऽमुं रक्ष्यतोऽतिगृध्नुताम् । वयं राजा न इत्येवसौराज्ये स्वे व्यवस्थिताः ॥११०॥
 बालानिव कलादस्मान् आहूय प्रणमय च । पिण्डाखण्ड इवाभाति मर्हाखण्डस्तवर्पितः ॥१११॥
 स्वर्गोद्गमफलं श्लाघ्यं यत्किञ्चन मनस्विनाम् । न चानुरन्तमप्येक्ष्य परभूलतिकाफलम् ॥११२॥

हे दूत, हम लोग शान्तिसे भी वश नहीं किये जा सकते यह निश्चय होनेपर भी आप हमारे साथ अहंकारका प्रयोग कर रहे हैं, इससे स्पष्ट मालूम होता है कि आप मूर्ख हैं ॥१०४॥ भरतेश्वर उमरमें बड़े हैं इतने ही से वे प्रशंसनीय नहीं कहे जा सकते क्योंकि हाथी बूढ़ा होनेपर भी क्या सिंहके बच्चेकी बराबरी कर सकता है ? ॥१०५॥ हे दूत, प्रेम और विनय ये दोनों परस्पर मिले हुए कुटुम्बी लोगोंमें ही सम्भव ही सकते हैं, यदि उन्हीं कुटुम्बियोंमें विरोध हो जावे तो उन दोनों ही की गति नष्ट हो जाती है । भावार्थ—जबतक कुटुम्बियोंमें परस्पर मेल रहता है तबतक प्रेम और विनय दोनों ही रहते हैं और ज्यों ही उनमें परस्पर विरोध हुआ त्यों ही दोनों नष्ट हो जाते हैं ॥१०६॥ बड़ा भाई नमस्कार करने योग्य है यह बात अन्य समयमें अच्छी तरह हमेशा हो सकती है परन्तु जिसने मस्तकपर तलवार रख छोड़ी है उसको प्रणाम करना यह कौन-सी रीति है ? ॥१०७॥ हे दूत, दूसरेके अहंकारके अनुसार प्रवृत्ति करनेसे हमारा चित्त दुःखी होता है, क्योंकि संसारमें एक सूर्य ही तेजस्वी है । क्या उससे अधिक और भी कोई तेजस्वी है ॥१०८॥ आदि ब्रह्मा भगवान् वृषभदेवने 'राजा' यह शब्द मेरे लिए और भरतके लिए—दोनोंके लिए दिया है, परन्तु आज भरत 'राजराज' हो गया है सो यह कपोल-के ऊपर उठे हुए गूमड़ेके समान व्यर्थ है ॥१०९॥ अथवा रत्नोंके द्वारा अत्यन्त लोभको प्राप्त हुआ वह भरत अपने इच्छानुसार भले ही 'राजराज' रहा आवे, हम अपने धर्मराज्यमें स्थिर रहकर राजा ही बने रहेंगे ॥११०॥ वह भरत बालकोंके समान छलसे हम लोगोंको धुलाकर और प्रणाम कराकर कुछ पृथिवी देना चाहता है तो उसका दिया हुआ पृथिवीका टुकड़ा खलीके टुकड़ेके समान तुच्छ मालूम होता है ॥१११॥ तेजस्वी मनुष्योंके लिए जो कुछ थोड़ा-बहुत अपनी भुजारूपी वृक्षका फल प्राप्त होता है वही प्रशंसनीय है, उनके लिए दूसरेकी भीह-रूपी लताका फल अर्थात् भीहके इशारेसे प्राप्त हुआ चार समुद्रपर्यन्त पृथिवीका ऐश्वर्य भी

१ विरति गते सति । २ तत्र तूष्णीं स्थिते पृथिवि । उत्सेकं साहसम्, गर्वमित्यर्थः । ३ समानताम् । ४ प्राप्नोति । ५ स्नेहः । ६ विनयः । ७ भोः । ८ प्रणयप्रणयस्य । ९ अस्माकम् । १० वर्तनः ल०, द०, अ०, प०, स० । ११ भानोः सकाशादन्यः । १२ भरते । १३ आदिब्रह्मणा । १४ भरतेश्वरपक्षे राजा प्रभूणां राजा राजराजः; राजां यक्षाणां राजा राजराजः लोभजित इति ध्वनिः । भुवन्नलिवक्षो तिस्रः शक्यतः पङ्गुणाः चतुरङ्गायाः सप्ताङ्गराज्यानि एतैर्गुणै राजन्त इति राजानः । १५ पिण्डकः । 'विस्फोटः पिण्डकस्त्वपु' इत्यभिधानात् । १६ गलगण्डस्य । 'गलगण्डो गण्डमाला' इत्यभिधानात् । १७ उपरीत्यर्थः । १८ कुवेर इति ध्वनिः । १९ मुराज्यव्यापारे । २० आत्मीये । २१ बलादिव द० । २२ व्याजात् । २३ नमस्कारयित्वा । २४ पिण्याकशकलः । २५ भरतेन दत्तः । २६ चत्वारो दिगन्तो यस्य तत् । २७ प्रभुत्वम् ।

पराजोपहतां लक्ष्मीं यो वाञ्छेत् पार्थिवोऽपि सन् । सोऽपार्थयति^१ तामुक्तिं^२ सर्पोक्तिमिव दुग्धुभः^३ ॥११३॥
 पराधमानमलिनं भूतिं^४ धत्ते नृपोऽपि यः । नृपसौस्तस्य^५ नम्बेष भारो राज्यपरिच्छदः ॥११४॥
 मानभङ्गाजितैर्मोर्गैः प्राणान्धर्तुर्मीहते । तस्य ममरदस्येव द्विरदस्य कुतो मिदं^६ ॥११५॥
 छत्रभङ्गाद्विनाशस्य छायाभङ्गोऽसिद्धयते । यो मानभङ्गामारेण विभर्त्यनतं शिरः ॥११६॥
 मुनयोऽपि समानाश्चेत् व्यक्तभोगपरिच्छदाः । को नाम राज्यभोगार्थं पुमानुज्जेत् समानताम्^७ ॥११७॥
 चरं चरं चरं वासोऽसि^८ वरं प्राणेष्वेतेभिर्भू^९ । कुलाभिमानिनः पुंसो न पराज्ञाभिधेयता^{१०} ॥११८॥
 मानमेवाभिरक्षन्तु धीराः प्राणैः प्रणयैः । नम्बलंकुस्ते विश्वं शश्वन्मानाजितं यशः ॥११९॥
^{११} चारु चक्रधरस्त्रायं स्वयाऽस्त्युक्तः^{१२} पराक्रमः । कुतो यतोऽर्थवादोऽयं^{१३} स्तुतिनिन्दापरायणः^{१४} ॥१२०॥
 वचोभिः पोषयन्त्येव पण्डिताः परिपक्षावपि^{१५} । प्रकल्पतायां^{१६} स्तुताविष्टः सिंहो ग्रामसृगो^{१७} मनु ॥१२१॥
 इदं काचनिकं कृत्स्नं त्वहुक्तं प्रतिभाति नः । कास्य विम्बिजधारम्भः क धनोच्छनं^{१८} सुसुता ॥१२२॥

प्रशंसनीय नहीं है ॥११२॥ जिस प्रकार पनया साँप 'सर्प' इस शब्दको निरर्थक करता है उसी प्रकार जो मनुष्य राजा होकर भी दूसरेकी आज्ञासे उपहत हुई लक्ष्मीको धारण करता है वह 'राजा' इस शब्दको निरर्थक करता है ॥११३॥ जो पुरुष राजा होकर भी दूसरेके अपमानसे मलिन हुई विभूतिको धारण करता है निश्चयसे उस मनुष्यरूपी पशुके लिए यह राज्यकी समस्त सामग्री भारके समान है ॥११४॥ जिसके दाँत टूट गये हैं ऐसे हाथीके समान जो पुरुष मानभंग होनेपर प्राप्त हुए भोगोपभोगोंसे प्राण धारण करना चाहता है उस पुरुषमें और पशुमें भेद कैसे हो सकता है ? ॥११५॥ जो राजा मानभंगके भारसे झुके हुए शिरको धारण करता है उसकी छायाका नाश छत्रभंग होनेके बिना ही हो जाता है । भावार्थ — यहाँ छाया शब्दके दो अर्थ हैं अनातप और कान्ति । जब छत्रभंग होता है तभी छाया अर्थात् अनातपका नाश होता है परन्तु यहाँपर छत्रभंगके बिना ही छायाके नाशका वर्णन किया गया है इसलिए विरोध भालूम होता है परन्तु छत्र भंगके बिना ही उनकी छाया अर्थात् कान्तिका नाश हो जाता है, ऐसा अर्थ करनेसे उसका परिहार हो जाता है ॥११६॥ जिन्होंने भोगोपभोगकी सब सामग्री छोड़ दी है ऐसे मुनि भी जब अभिमान (आत्मगौरव) से सहित होते हैं तब फिर राज्य भोगनेकी इच्छा करनेवाला ऐसा कौन पुरुष होगा जो अभिमानको छोड़ देगा ? ॥११७॥ वनमें निवास करना अच्छा है और प्राणोंको छोड़ देना भी अच्छा है किन्तु अपने कुलका अभिमान रखनेवाले पुरुषको दूसरेकी आज्ञाके अधीन रहना अच्छा नहीं है ॥११८॥ धीर वीर पुरुषोंको चाहिए कि वे इन नश्वर प्राणोंके द्वारा अभिमानकी ही रक्षा करें क्योंकि अभिमान के साथ कमाया हुआ यश इस संसारको सदा सुशोभित करता रहता है ॥११९॥ तूने जो बहुत कुछ बढ़ाकर चक्रवर्तीके पराक्रमका वर्णन किया है सो ठीक है क्योंकि तेरा यह सब कहना स्तुति निन्दामें तत्पर है अर्थात् स्तुतिरूप होकर भी निन्दाको सूचित करनेवाला है ॥१२०॥ पण्डित लोग निःसार वस्तुको भी अपने वचनोंसे पुष्ट किया ही करते हैं सो ठीक ही है क्योंकि स्तुति प्रारम्भ करनेपर कुत्तेको भी सिंह कहना पड़ता है ॥१२१॥ हे दूत, तेरे द्वारा कहा

१ अपगतार्थ करोति । २ पार्थिवारूप्याम् । ३ राजिलः । 'समी राजिलदुग्धुभी' इत्यभिमानात् । ४ संपदम् । ५ मनुजानदुहः । ६ भेदः । ७ तेजोहानिः । ८ अभिमानान्विताः । ९ साभिमानिताम् । १० अधीनता । ११ वरं ल०, द०, अ०, प०, स०, इ० । १२ अतिक्रम्योक्तः । १३ सत्यवादः अथवा असत्यारोपमर्थवादः । १४ स्तुतिरूपोऽर्थवादो निन्दारूपोऽर्थवादश्चेति द्वये तत्परः । १५ अतिनिस्सारवस्त्वपि । १६ प्रारम्भितायां सत्याम् । १७ सारमेयः । १८ धनापनयन ।

दयशक्रवरी^१ वृत्तिं बलिं^२ भिक्षाभिधाहरन् । दीनतायाः परां कीर्तिं^३ प्रभुरारोपितस्त्वया ॥१२३॥
 मत्पुं दिग्विजये चक्री जितवानमरानिति । प्रत्येयमिदमेतत्तु^४ चिन्त्यमत्र^५ ननु स्वया ॥१२४॥
 स किं न दर्शययायां सुप्ती नोपोषितोऽश्वहा । प्रवृत्तो जलमायायां^६ शरपातं समाचरन् ॥१२५॥
 कुतश्चक्रपरिभ्रान्तिर्दण्डेनाथतिशालिना । धरयन्^७ पार्थिवानेष सकुलालायते वत ॥१२६॥
 आगः^८ परागमातन्वन् स्वयमेव कलंकितः । चिरं कलंकयत्येष कुलं^९ कुलभृतामपि ॥१२७॥
 नृपानाकर्षतो दूरान्मन्त्रैस्तन्त्रैश्च योजितैः । श्लाघ्यते किमनेतस्य पैरुषं लज्जया विना ॥१२८॥
 दुनोनि नो भृशं कृतं श्लाघ्यतेऽस्य यदाहवः । दोलायितं जले यस्य बलं मूषकवैस्तथा ॥१२९॥
 यतो धनमसंहार्यं शत्रुपुत्रेण रक्षयताम् । निष्पन्नतो^{१०} निर्धनं भूमौ बहवो निधनं^{११} गताः ॥१३०॥
 इति किमस्ति वा कृतं यन्महामुनिभिः^{१२} कृतं यत्^{१३} अस्ति यत्कृतं याति केवलं निधनं नृपाः १३१

हुआ यह समस्त कार्य हम लोगोंको केवल बचनाडम्बर ही जान पड़ता है क्योंकि कहीं तो इसका दिग्विजयका प्रारम्भ करना और कहीं घन इकट्ठा करनेमें तत्पर होना ? ॥१२२॥ जिस प्रकार भिक्षुक चक्र धारण कर भिक्षा माँगता हुआ अतिशय दीनताको प्राप्त होता है उसी प्रकार चक्रवर्तीकी वृत्ति धारण कर भिक्षाके समान कर वसूल करता हुआ तेरा स्वामी भरत तेरे द्वारा दीनताकी परम सीमाको प्राप्त करा दिया गया है ॥१२३॥ यह ठीक है कि चक्रवर्तीने दिग्विजयके समय देवोंको भी जीत लिया है परन्तु यह बात केवल विश्वास करने योग्य है अन्यथा तू यहाँ इतना तो विचार कर कि जलस्तम्भन करनेमें प्रवृत्त हुए तेरे स्वामी भरतने जब बाण छोड़ा था तब वह क्या दर्भकी झग्यापर नहीं सोया था अथवा उसने उपवास नहीं किया था ॥१२४-१२५॥ जिस प्रकार कुम्हार आयति अर्थात् लम्बाईसे शोभायमान डण्डेके द्वारा चक्रको घुमाता हुआ पार्थिव अर्थात् मिट्टीके घट बनाता है उसी प्रकार भरत भी आयति अर्थात् सुन्दर भविष्यसे शोभायमान डण्डे (दण्डरत्न) से चक्र (चक्ररत्न) को घुमाता हुआ पार्थिव अर्थात् पृथिवीके स्वामी राजाओंको वश करता फिरता है, इसलिए कहना पड़ता है कि तुम्हारा यह राजा कुम्हारके समान आचरण करता है ॥१२६॥ वह भरत पापकी घूलिको उड़ाता हुआ स्वयं कलंकित हुआ है और कुलीन मनुष्योंके कुलको भी सदाके लिए कलंकित कर रहा है ॥१२७॥ हे दूत, प्रयोगमें लाये हुए मन्त्र-तन्त्रोंके द्वारा दूरसे ही अनेक राजाओंको बुलानेवाले इस भरतका पराक्रम तू लज्जाके बिना कितना वर्णन कर रहा है ? ॥१२८॥ हे दूत, जिस समय तू इसके युद्धकी प्रशंसा करता है उस समय हम लोगोंको बहुत दुःख होता है क्योंकि उस समय म्लेच्छोंकी सेनाके द्वारा भरतकी सेना पानीमें हिडोले झूल रही थी अर्थात् हिडोलेके समान कँप रही थी ॥१२९॥ क्षत्रियपुत्रको तो जिसे कोई हरण न कर सके ऐसे यशरूपी धनकी ही रक्षा करनी चाहिए क्योंकि इस पृथिवीमें निधियोंको गाड़कर रखनेवाले अनेक लोग मर चुके हैं । भावार्थ—अमरता यशसे ही प्राप्त होती है ॥१३०॥ अथवा जो रत्न एक हाथ पृथिवी तक भी साथ नहीं जाते और जिनके लिए राजा लोग केवल मृत्युकी ही प्राप्त होते हैं ऐसे रत्नोंसे क्या निकल सकता है ? ॥१३१॥

१ चक्रस्येयं चाक्री सा चासी चरी च चाक्रवरी ताम् । चक्रचरसंबन्धिनोम् । चाक्रवरी ल०, द०, अ०, प०, स०, इ० । २ करम् । ३ परमप्रकर्षम् । ४ शपथं कृत्वा विश्वास्यम् । ५ वक्ष्यमाणम् । ६ अमरजये । ७ समुद्रजलस्तम्भनरूपमायायाम् । ८ दण्डरत्नेन सैन्येन वा । ९ नृपान् । पृथिवीविकाराश्च । मृत्पिण्डान् । १० परागः । अपराधरेणुम् । 'पापपराधपोरागः' इत्यभिधानात् । ११ मनुनाम् । कुलभृतामपि ट० । १२ निक्षिपन्तः । १३ विनाशम् । १४ हस्तप्रमितम् । 'अरतिस्तु निष्कनिष्ठेन मुञ्चिना' इत्यभिधानात् । १५ गत्यन्तरगमनेन सह न याति ।

तुलापुरुष एवाग्रं यो नाम निखिलैर्नृपैः । तुलितो रत्न^१पुञ्जेन वत नैश्वर्यमीदृशम् ॥ १३२ ॥
ध्रुवं स्वगुरुणा दत्तामाचिच्छिद्यति^२ नो भुवम् । प्रयाग्येयत्नसुरस्य^३ गुनोरस्य^४ किर्माध्वम् ॥ १३३ ॥
कृतं तातवितीर्णां नो महीमेनां कुलोचिताम् । आतृमायामिषाऽऽदित्सो^५ नास्य लज्जा भवत्पतेः ॥ १३४ ॥
देयमभ्यत् स्वतःप्रेण यथाकामं जिगीषुणा । भुक्त्वा कुलकलत्रं च क्षमातलं च भुजार्जितम् ॥ १३५ ॥
भूयस्त^६ दलमालपर्यं स वा भुङ्क्तां महीतलम् । चिरमेकातपत्राङ्गकमहं वा भुजविक्रमी ॥ १३६ ॥
कृतं वृथा मटालापैर्यसिद्धिबहिष्कृतैः । सङ्ग्रामनिक्षेपे व्यक्तिः पौरुषस्य समास्य च ॥ १३७ ॥
ततः समरसंग्रहे यद्वा तद्वाऽस्तु नौ द्वयोः । नीरै^७कमिदमेकं नो वयो हर^८ वयोहर^९ ॥ १३८ ॥
इत्याविष्कृतमानेन कुमारेण बघोहरः । द्रुतं विसर्जितोऽगच्छत्^{१०} पतिं सन्नाहयेत्^{११} परम् ॥ १३९ ॥
तदा मुकुटसंवद्वाद्बुच्छलमणिकोटिमिः^{१२} । कृतोत्सुक^{१३} शतक्षेपैः द्वयोस्तस्थे महीशिमिः ॥ १४० ॥
क्षणं समरसंग्रहपिष्ठुनो मटसंकटैः^{१४} । श्रूयते स्म मटालापो बले भुजवर्लाशितुः ॥ १४१ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ॥ किं कुरु स्वस्तिमित्कारादनृणीमत्रितु क्षमाः ॥ १४२ ॥

जो समस्त राजाओंके द्वारा रत्नोंकी राशिसे तोला गया है ऐसा यह भरत एक प्रकारका तुला-पुरुष है खेद है कि ऐसा ऐश्वर्य नहीं होता ॥१३२॥ अवश्य ही वह भरत अपने पूज्य पिता श्री भगवान् वृषभदेवके द्वारा दी हुई हमारी पृथिवीको छीनना चाहता है सो इस लोभीका प्रत्याख्यान अर्थात् तिरस्कार करनेके सिवाय और कुछ उपाय नहीं है ॥१३३॥ हे दूत, पिताजीके द्वारा दी हुई यह हमारे ही कुलकी पृथिवी भरतके लिए भाईकी स्त्रीके समान है अब वह उसे ही लेना चाहता है सो तेरे ऐसे स्वामीको क्या लज्जा नहीं आती ? ॥१३४॥ जो मनुष्य स्वतन्त्र हैं और इच्छानुसार शत्रुओंको जीतनेकी इच्छा रखते हैं वे अपने कुलकी स्त्रियों और भुजाओंसे कमायी हुई पृथिवीको छोड़कर बाकी सब कुछ दे सकते हैं ॥१३५॥ इसलिए बार-बार कहना व्यर्थ है, एक छत्रसे चिह्नित इस पृथिवीको वह भरत ही चिरकाल तक उपभोग करे अथवा भुजाओंमें पराक्रम रखनेवाला मैं ही उपभोग करूँ । भावार्थ—मुझे पराजित किये बिना वह इस पृथिवीका उपभोग नहीं कर सकता ॥१३६॥ जो प्रयोजनकी सिद्धिसे रहित हैं ऐसे शूरवीरताके इन व्यर्थ वचनोंसे क्या लाभ है ? अब तो युद्धरूपी कसौटीपर ही मेरा और भरतका पराक्रम प्रकट होना चाहिए ॥१३७॥ इसलिए हे दूत, तू यह हमारा सन्देशरहित एक वचन ले जा अर्थात् जाकर भरतसे कह दे कि अब तो हम दोनोंका जो कुछ होना होगा वह युद्धकी भीड़में ही होगा ॥१३८॥ इस प्रकार अभिमान प्रकट करनेवाले कुमार बाहुबलीने उस दूतको यह कहकर शीघ्र ही बिदा कर दिया कि जा और अपने स्वामी को युद्धके लिए जल्दी तैयार कर ॥१३९॥ उस समय जिनके मुकुटोंके संघर्षणसे करोड़ों मणि उछल-उछलकर इधर-उधर पड़ रहे हैं और उन मणियोंसे जो ऐसे जान पड़ते हैं मानो अग्निके सैकड़ों फुलिंगोंको ही इधर-उधर फैला रहे हों ऐसे राजा लोग उठ खड़े हुए ॥१४०॥ उसी क्षण अनेक योद्धाओंसे भरी हुई महाराज बाहुबलीकी सेनामें युद्धकी भीड़की सूचित करनेवाला योद्धा लोगोंका परस्परका आलाप सुनाई देने लगा था ॥१४१॥ इस समय स्वामीके यह युद्धकी तैयारी बहुत दिनमें हुई है, क्या अब हम लोग स्वामीके सत्कारसे उन्मत्त (ऋणमुक्त) हो सकेंगे ? भावार्थ—स्वामीने आज तक पालन-पोषण कर जो हम लोगोंका महान् सत्कार किया है क्या उसका बदला

१ रत्नाथम् । २ छेतुमिच्छति ३ निराकरणीयत्वम् । 'प्रत्याख्यातो निराकृतः' इत्यभिधानात् । हेयत्वमित्यर्थः (हेयत्वमेव औषधमित्यर्थः) । ४ लुब्धस्य । ५ अनुजकलत्रम् । ६ आदातुमिच्छोः । ७ तत् कारणात् । ८ बहु-
प्रकापरलम् । ९ निःसन्देहम् । १० स्वीकृतम् । ११ भो दूतम् । १२ गच्छति । १३ द०, ल०, । १४ सप्तद्वं कुव ।
१५ रत्नसमूहः । १६ अलातः । १७ भटसमूहः ।

पोषयन्ति महीपाला मृत्यावसरं प्रति । न चेदवसरः सार्धः^१ किमेभिस्तृणमानुषैः ॥१४३॥
 कलेवरमिदं व्याज्यमर्जनीयं यशोधनम् । जयश्रीर्ध्वजये लभ्या नाल्पोदको रणोत्सवः ॥१४४॥
 मन्दातपशरच्छाये प्रयत्नैर्गर्वाणजर्जरैः । लपस्यामहे कदा नाम विश्रमं^२ रणमण्डपे ॥१४५॥
 प्रत्यनीककृतानेकव्यूहं^३ निर्मिच्छ सायकैः । शरशय्यामसंवाधमध्याशित्ये कदा न्वहम् ॥१४६॥
 कर्णतालानिलाभूतिं विधूतसमरध्रुमः । गजस्कन्धे निषीदामि^४ कदाहं क्षणमूर्छितः ॥१४७॥
 दन्तिदन्ता गलप्रोतोद्गलदन्त्रं स्वलद्वधाः । जयलक्ष्मीकटाक्षाणां कदाहं लक्ष्यतां भजे ॥१४८॥
 गजदन्तान्तरालम्विस्वान्त्रमालावरत्रया^५ । कर्हि^६ दोलामिवारोप्य तुल्ययामि जयश्रियम् ॥१४९॥
 युवाणैरिति सङ्ग्रामरसिकैरुद्भटैर्मदैः । शस्त्राणि सशिरस्त्राणि सज्जान्यासन् दले बले ॥१५०॥
 ततः कृतमयं भूयो मटभुकुटितर्जितैः । पलायितमिव काऽपि^७ परिच्छित्तिमगादहः^८ ॥१५१॥
^{१२} अधोरुप्यद्भटानीकनेत्रच्छायापितां रुचम् । दधान इव तिस्रांशुगसीदारक्तमण्डलः ॥१५२॥
^{१३} क्षणमस्ताचलप्रस्थकाननक्षमाजपल्लवैः । सदगालोहितच्छायो वरशोऽर्काशुसंस्तरः^{१४} ॥१५३॥

हम कुछ दे सकेंगे ? ॥१४२॥ राजा लोग किसी खास अवसरके लिए ही सेवक लोगोंका पालन-पोषण करते हैं, यदि वह अवसर नहीं साधा गया अर्थात् अवसर पड़नेपर स्वामीका कार्य सिद्ध नहीं किया गया तो फिर तृणसे बने हुए इन पुरुषोंसे क्या लाभ है ? भावार्थ—जो पुरुष अवसर पड़नेपर स्वामीका साथ नहीं देते वे घास-फूसके बने हुए पुरुषोंके समान सर्वथा सारहीन हैं ॥१४३॥ अब यह शरीर छोड़ना चाहिए, यशरूपी धन कमाना चाहिए और विजय लाभकर जयलक्ष्मी प्राप्त करनी चाहिए, यह युद्धका उत्सव कुछ थोड़ा फल देनेवाला नहीं है ॥१४४॥ हम लोग, घावोंसे जर्जर हुए शरीरके प्रत्येक अंगोंसे, जिसमें घामकी मन्द करनेवाली बाणोंकी छाया पड़ रही है ऐसे युद्धके मण्डपमें कब विश्राम करेंगे ? ॥१४५॥ कोई कहता था कि मैं कब अपने बाणोंसे शत्रुओंकी सेनाके द्वारा किये हुए अनेक व्यूहोंको छेदकर बिना किसी उपद्रवके बाणोंकी शय्यापर शयन करूँगा ॥१४६॥ कोई कहता था कि मैं कब युद्धमें क्षण-भरके लिए मूर्छित होकर हाथीके कानरूपी ताड़पत्रकी वायुके चलनेसे जिसके युद्धका सब परिश्रम दूर हो गया है ऐसा होता हुआ हाथीके कन्धेपर बैठूँगा ? ॥१४७॥ हाथीके दाँतरूपी अर्गलोंमें पिरोये जानेसे जिसकी अँतड़ियाँ निकल रही हैं तथा जिसके मुखसे टूटे-फूटे शब्द निकल रहे हैं ऐसा होता हुआ मैं कब जयलक्ष्मीके कटाक्षोंका निशाना बन सकूँगा ? भावार्थ—वह दिन कब होगा जब कि मैं मरता हुआ भी विजय प्राप्त करूँगा ? ॥१४८॥ कोई कहता था कि हाथियोंके दाँतोंके बीचमें लटकती हुई अपनी अँतड़ियोंके समूहरूपी मजबूत रस्तीपर झूलके समान विजयलक्ष्मीको बैठाकर मैं कब उसे तोलूँगा ? ॥१४९॥ इस प्रकार कहते हुए युद्धके प्रेमी बड़े-बड़े योद्धाओंने प्रत्येक सेनामें अपने-अपने शस्त्र तथा शिरकी रक्षा करनेवाली टोपियाँ सँभाल लीं ॥१५०॥

तदनन्तर दिन समाप्त हो गया सो ऐसा मालूम होता था मानो योद्धाओंकी भीहोंके तिरस्कारसे भयभीत होकर कहीं भाग ही गया हो ॥१५१॥ अथानन्तर सूर्यका मण्डल लाल हो गया मानो उसने क्रोधित हुए योद्धाओंकी सेनाके नेत्रोंकी छायाके द्वारा दी हुई लाल कान्ति ही धारण की हो ॥१५२॥ उस समय क्षण-भरके लिए सूर्यकी किरणोंका समूह अस्ताचल

१ न गम्यश्चेत् । २ विश्रामं ल०, द०, अ०, प०, स० । ३ शत्रुकृतसेनारचनाम् । ४ अवधूतव । ५ निषण्णो भवामि । 'कदाकह्योर्वा' इति भविष्यदर्थे लट् । ६ परिष । ७-तोदगलदल-ट० । निर्यद्रक्तः । ८ निजपुरीतव-मालदूष्यया । 'दूष्या कक्ष्या वरत्रा स्याद्' इत्यभिधानात् । ९ कदा । १० विनाशम् । ११ विवसः । १२ अवाक्य-ल० । १३ सानु । १४ रविकिरणसमूहः ।

कर्णैर्यमसंलग्नैः मानुरालक्ष्यत क्षणम् । पातमीत्या करालाग्नैः^१ करालम्बमिवाश्रयन् ॥१५४॥
 पतन्तं चारुणी^२ लंगत् परिलुप्तविभावसुम्^३ । नालम्बत^४ बतास्ताद्विर्मानुं विभ्यदिबैनसः^५ ॥१५५॥
 गतो नु दिनमन्वेष्टुं^६ प्रविष्टो नु स्यात्तलम् । तिरोहितो नु शृङ्गार्धस्ताद्रेर्नक्षि मानुमान् ॥१५६॥
 विवदस्य तमो नैशं^७ कर्कराक्रम्य भूभृतः^८ । दिनावसाने^९ पर्यास्थदहो^{१०} रत्रिरनंशुकः^{११} ॥१५७॥
 तिर्यङ्मण्डलगतैव^{१२} शश्वद् मानुरथं भ्रमन् ।^{१३} विप्रकर्षाज्जनेर्मूर्धैरग्राहीव^{१४} पतन्नधः ॥१५८॥
 व्यसनेऽस्मिन्^{१५} दिनेशस्य शुचैव परिपीडिताः । विष्णवायानि सुखान्यृदु^{१६} स्तमोरुद्धा दिगङ्गनाः ॥१५९॥

के शिखरपर लगे हुए वनके वृक्षोंकी कोपलोंके समान कुछ-कुछ लाल रंगका दिखाई दे रहा था ॥१५३॥ उस समय वह सूर्य अस्ताचलके शिखरपर लगे हुए किरणोंसे क्षण-भरके लिए ऐसा जान पड़ता था मानो नीचे गिरनेके भयसे अपने किरणरूपी हाथोंसे किसीके हाथका सहारा ही ले रहा हो ॥१५४॥ जो सूर्य चारुणी अर्थात् पश्चिम दिशा (पक्षमें मदिरा) के समागमसे पतित हो रहा है और जिसका कान्तिरूपी धन नष्ट हो गया है ऐसे सूर्यको मानो पापसे डरते हुए ही अस्ताचलने आलम्बन नहीं दिया था । भावार्थ — चारुणी शब्दके दो अर्थ होते हैं मदिरा और पश्चिम दिशा । पश्चिम दिशामें पहुँचकर सूर्य प्राकृतिक रूपसे नीचेकी ओर ढलने लगता है । यहाँ कविने इसी प्राकृतिक दृश्यमें श्लेषमूलक उत्प्रेक्षा अलंकारकी पुट देकर उसे और भी सुन्दर बना दिया है । चारुणी अर्थात् मदिराके समागमसे मनुष्य अपवित्र हो जाता है उसका स्पर्श करना भी पाप समझा जाने लगता है, सूर्य भी चारुणी अर्थात् पश्चिम दिशा (पक्षमें मदिरा) के समागमसे मानो अपवित्र हो गया था । उसका स्पर्श करनेसे कहीं मैं भी पापी न हो जाऊँ इस भयसे अस्ताचलने उसे सहारा नहीं दिया — गिरते हुंको हस्तालम्बन देकर गिरनेसे नहीं बचाया । सूर्य डूब गया ॥१५५॥ उस समय सूर्य दिखाई नहीं देता था सो ऐसा जान पड़ता था मानो बीते हुए दिनको खोजनेके लिए गया हो, अथवा पाताललोकमें घुस गया हो अथवा अस्ताचलके शिखरोंके अग्रभागसे छिप गया हो ॥१५६॥ जिस प्रकार कोई वीर पुरुष दारिद्र्यरूपी अन्धकारको नष्ट कर और अपने कर अर्थात् टैक्स-द्वारा भूभृत अर्थात् राजाओंपर आक्रमण कर दिन अर्थात् भाग्यके अन्तमें अनंशुक अर्थात् बिना वस्त्रके यों ही चला जाता है उसी प्रकार सूर्य रात्रिसम्बन्धी अन्धकारको नष्ट कर तथा कर अर्थात् किरणोंसे भूभृत अर्थात् पर्वतोंपर आक्रमण कर दिनके अन्तमें अनंशुक अर्थात् किरणोंके बिना यों ही चला गया — अस्त हो गया, यह कितने दुःखकी बात है । ॥१५७॥ यह सूर्य तो मेरु पर्वतके चारों ओर गोलाकार तिरछी गतिसे निरन्तर घूमता रहता है तथापि दूर होनेसे दिखाई नहीं देता इसलिए मूर्ख पुरुषोंको नीचे गिरता हुआ-सा जान पड़ता है ॥१५८॥ सूर्यकी इस विपत्तिके समय मानो शोकसे पीड़ित हुई दिशारूपी स्त्रियाँ अन्धकारसे भर जानेके कारण कान्तिरहित मुख धारण कर रही थीं । भावार्थ — पत्तिकी विपत्तिके समय जिस प्रकार कुलवती स्त्रियोंके मुख शोकसे कान्तिहीन हो जाते हैं उसी प्रकार सूर्यकी विपत्तिके समय दिशारूपी स्त्रियोंके मुख शोकसे कान्तिहीन हो गये थे । अन्धकार छा जानेसे दिशाओंकी

१ विस्तृताग्नैः । 'करालो दन्तुरे सुङ्गे विशाले विकृतेऽपि च' इत्यभिधानात् । २ वरुणसंबन्धदिकसंगात् । मद्यसंगादिति ध्वनिः । ३ कान्तिरेव धनं यस्य । पक्षे विभा च वसु च विभावसुनो, परिप्लुते विभावसुनो यस्य तम् । ४ न धरति स्म । ५ पापात् । ६ गवेषणाय । ७ निशासंबन्धि । ८ पर्वतानाम् । नृगंश्व । ९ दिवसान्ते । भाग्यावसाने च । दिवाय — ल०, द० । १० पतितवान् । ११ कान्तिरहितः, वस्त्ररहित इति ध्वनिः । १२ मेघवदक्षिणरूपतिर्यग्बिम्बगमनेन । १३ दूरात् । १४ स्वीकृतः । १५ विपदि । १६ धरन्ति स्म ।

पश्चिन्यां म्लानपद्मास्या द्विरंशकण्ठास्तः । आचम्य ह्यथ संवृत्ता विर्योऽगादहिमस्त्रिषः ॥१६०॥
 संध्यातपतनान्यासन् वनान्यमनमहाभृतः । परीक्षार्णव दावाग्निशिख्यानिकराग्नयः ॥१६१॥
 अनुरक्तापि संधेयं परित्यक्ता विवस्वता । प्रविष्टेऽग्निभारकच्छविरालम्ब्यनाम्नः ॥१६२॥
 शनैराकाशवाराशिविद्रुमं व्यानराजिवत् । रुक्मे त्रिंश वाहण्यां संध्यामिन्द्रमच्छविः ॥१६३॥
 चक्रवर्कमनस्तापदीपनो नु हुताशनः । पप्रथे पवित्रमाशान्ते संध्यारागो जपारणः ॥१६४॥
 'संध्यो रागः स्फुन्द् दिक्षु क्षणसंज्ञि प्रियागमे । मानिभीनां मनारागः शुक्लो मूर्च्छाश्चैकतः ॥१६५॥
 दृतरतांशुकां ज्योत्स्नानुयान्तीं दिनाधिपम् । बहुमेने सती लोकः धृतानुमरामिव ॥१६६॥
 चक्रवर्कं धृतोऽकण्डमनुयान्तीं कृतस्वनाम् । विजहावेव चक्राहो नियति को नु लक्षयेत् ॥१६७॥
 रवेः किमपराधोऽयं कालस्य नियतः किमु । रथाङ्गमिधुनान्यासन् विद्युक्कानि यतो मिथः ॥१६८॥
 घनं तमो दिनार्केण व्यानशे निग्विला दिशः । विना तेजस्विना प्रायस्तमो रुन्धे नु संततम् ॥१६९॥
 तमोऽधगुणितो रजे रजनी तारकातता । विनीलवसना सास्वन्मार्त्तिकेयामिसारिका ॥१७०॥

शोभा जाती रही थी ॥१५९॥ कमलिनियोंके कमलरूपी मुख मुरझा गये थे जिससे वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो सूर्यका वियोग होनेसे भ्रमरोंके करुणाजनक शब्दोंके बहाने रुदन करती हुई शोक हो कर रही हों ॥१६०॥ सायंकालके लाल-लाल प्रकाशसे व्याप्त हुए अस्ताचलके वन ऐसे जान पड़ते थे मानो अत्यन्त भयंकर दावानलकी शिखासे ही घिर गये हों ॥१६१॥ यद्यपि यह संध्या अनुरक्त अर्थात् प्रेम करनेवाली (पक्षमें लाल) थी तथापि सूर्यने उसे छोड़ दिया था इसलिए ही वह लाल रंगकी संध्या आकाशमें ऐसी जान पड़ती थी मानो उसने अग्निमें ही प्रवेश किया हो । भावार्थ — पतिव्रता स्त्रियां पतियोंके द्वारा अपमानित होनेपर अपनी विशुद्धताका परिचय देनेके लिए सीताके समान अग्निमें प्रवेश करती हैं यहाँपर कविने भी समासोक्ति अलंकारका आश्रय लेकर सन्ध्यारूपी स्त्रीको सूर्यरूपी पतिके द्वारा अपमानित होनेपर अपनी विशुद्धता — सच्चरित्रताका परिचय देनेके लिए सन्ध्या कालकी लालिमारूपी अग्निमें प्रवेश कराया है ॥१६२॥ सिन्दूरके समान श्रेष्ठ कान्तिको धारण करनेवाली वह सन्ध्या धीरे-धीरे पश्चिम दिशामें ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो आकाशरूपी समुद्रमें मृगोंके बगीचोंकी पंक्ति ही हो ॥१६३॥ जवाके फूलके समान लाल-लाल वह सन्ध्याकालकी लाली पश्चिम दिशाके अन्तमें ऐसी फैल रही थी मानो चक्रवियोंके मनके सन्तापको बढ़ानेवाली अग्नि ही हो ॥१६४॥ समस्त दिशाओंमें फैलती हुई सन्ध्याकालकी लाली क्षण-भरके लिए ऐसी दिखाई देती थी मानो पतियोंके आनेपर मान करनेवाली स्त्रियोंके मनका समस्त अनुराग ही एक जगह इकट्ठा हुआ हो ॥१६५॥ लाल किरणेंरूपी वस्त्र धारण कर सूर्यरूपी पतिके पीछे-पीछे जाती हुई सन्ध्याको लोग पतिके साथ मरनेवाली सतीके समान बहुत कुछ मानते थे ॥१६६॥ चक्रवाने बड़ी उत्कण्ठासे अपने पीछे-पीछे आती हुई और शब्द करती हुई चक्रवीको आखिर छोड़ ही दिया था सो ठीक ही है क्योंकि नियति अर्थात् ईश्विक नियमका उल्लंघन कान कर सकता है ? ॥१६७॥ उस समय चक्रवा चक्रवियोंके जोड़े परस्परमें बिछुड़ गये थे — अलग-अलग हो गये थे, सो यह क्या सूर्यका अपराध है ? अथवा कालका अपराध है ? अथवा भाग्यका ही अपराध है ? ॥१६८॥ सूर्यके बिना सब दिशाओंमें गह्र अन्धकार फैल गया था सो ठीक ही है क्योंकि तेजस्वीके बिना प्रायः सब ओर अन्धकार ही भर जाता है ॥१६९॥ अन्धकारसे घिरी हुई और ताराओंसे व्याप्त हुई वह रात्रि ऐसी सुशोभित हो रही

१ उद्दीपनकारी । २ संध्याराग. ल०, द० । ३ प्रसर्पन् । ४ सममरणम् । अग्निप्रवेशं कुर्वतीमित्यर्थः । ५ मुमुचे । ६ चक्राङ्को ल०, द०, अ०, स०, इ० । ७ व्याप्नोति । ८ तमसाच्छादिता । ९ वक्ष्या ।

ततान्धतममे लोकं जमेहर्माकिनेश्वरैः । नारदयत पुरः किञ्चिन् मिथ्यात्वेनेव दृषितैः ॥ १७१ ॥
 प्रसह्य^१ तमसा रुद्धो लोकोऽन्तः^२न्याकुर्वाभवन् । दृष्ट्वैषत्वर्यं दृष्टेर्नु बहु मेमे शयास्तुताम्^३ ॥ १७२ ॥
 दीपिका रचिता रंजुः प्रतिवेशम् स्फुरत्त्रिधः । घनान्धतमसोद्भेदे प्रकृतसा^४ इव लूषिकाः ॥ १७३ ॥
 तमो विधूय दूरेण जगदानन्दिभिः करैः । उद्विष्य शशी लोकं शीरेण क्षालयन्निव ॥ १७४ ॥
 अखण्डमनुरागेण निजं मण्डलमुद्वहन् । सुराजेष कृतानन्दमुत्तमाव् विधुरकरः ॥ १७५ ॥
 दृष्ट्वाकृष्टहरिणं हरिं हरिणलाञ्छनम् । तिमिराघः प्रवृत्ताव करिदूधसदृग् महान् ॥ १७६ ॥
 तततारावली रंजे श्योक्तापूरः सुधाछवेः । सद्युद्वुद् इषाकाशसिन्धोरोधः परिश्रमन् ॥ १७७ ॥
 हंसपतं द्रवन्विच्छन् शशी तिमिरमौवलम् । तासा सहस्रीकान्तं विजगार्ह^५ मभःसरः ॥ १७८ ॥
 तमो निःशेषमुद्धूय जगदाण्डावयन् करैः । प्रालेयांशुस्तथा विश्वं सुधामयमिवातनीत् ॥ १७९ ॥
 तमो दूरं विधूयापि विधुरासीत् कलङ्कघान् । निसर्गजं तमो नूनं महताऽपि सुदुस्त्यजम् ॥ १८० ॥

श्री मानो नील वस्त्र पहने हुई और चमकीले मोतियोंके आभूषण धारण किये हुई कोई अभि-
 सारिणी स्त्री ही हो ॥ १७० ॥ जिस प्रकार मिथ्या दर्शनसे दूषित पुरुषोंको कुछ भी दिखाई नहीं
 देता — पदार्थके स्वरूपका ठीक-ठीक ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार गाढ़ अन्धकारसे भरे हुए
 लोकमें पुरुषोंको आँख खोलनेपर भी सामनेकी कुछ भी वस्तु दिखाई नहीं देती थी ॥ १७१ ॥
 जबरदस्ती अन्धकारसे घिरे हुए लोग भीतर ही भीतर व्याकुल हो रहे थे और उनकी दृष्टि भी
 कुछ काम नहीं देती थी इसलिए उन्होंने सोना ही अच्छा समझा था ॥ १७२ ॥ घर-घरमें लगाये
 हुए प्रकाशमान दीपक जैसे अन्धकारसे घिरे हुए लोग ही होते हैं ॥ १७३ ॥ मानो अत्यन्त गाढ़ अन्धकारको भेदन
 करनेके लिए धुत-सी सुइयाँ ही तैयार की गयी हों ॥ १७४ ॥ इतने ही में जगत्को आन-
 न्दित करनेवाली किरणोंसे अन्धकारको दूरसे ही नष्ट कर चन्द्रमा इस प्रकार उदय हुआ
 मानो लोकको दूधसे नहला ही रहा हो ॥ १७५ ॥ वह चन्द्रमा किसी उत्तम राजाके समान
 संसारको आनन्दित करता हुआ उदय हुआ था, क्योंकि जिस प्रकार उत्तम राजा अनुराग
 अर्थात् प्रेमसे अपने अखण्ड (सम्पूर्ण) मण्डल अर्थात् देशको धारण करता है उसी प्रकार वह
 चन्द्रमा भी अनुराग अर्थात् लालिमासे अपने अखण्डमण्डल अर्थात् प्रतिविम्बको धारण कर रहा
 था और उत्तम राजा जिस प्रकार चारों ओर अपना कर अर्थात् टैक्स फैलाता है उसी प्रकार
 वह चन्द्रमा भी चारों ओर अपने कर अर्थात् किरणें फैला रहा था ॥ १७६ ॥ हरिणके चिह्न-
 वाले चन्द्रमाको देखकर अन्धकारका समूह बड़ा होनेपर भी इस प्रकार भाग गया था जिस प्रकार
 कि हरिणको पकड़े हुए सिंहको देखकर हाथियोंका बड़ा भारी झुण्ड भाग जाता है ॥ १७७ ॥
 जिसमें ताराओंकी पङ्क्ति फैली हुई है ऐसा चन्द्रमाकी चाँदनीका समूह उस समय ऐसा
 अच्छा जान पड़ता था मानो बुद्बुदोंसहित ऊपरसे पड़ता हुआ आकाशरूपी समुद्रका प्रवाह
 ही हो ॥ १७८ ॥ हंसके बच्चेके समान वह चन्द्रमा अन्धकाररूपी जंवालको खोजता हुआ
 ताररूपी हंसियोंसे भरे हुए आकाशरूपी सरोवरमें अवगाहन कर रहा था — इधर-उधर
 घूम रहा था ॥ १७९ ॥ समस्त अन्धकारको नष्ट कर जगत्को किरणोंसे भरते हुए चन्द्रमाने
 उस समय यह समस्त संसार अमृतमय बना दिया था ॥ १८० ॥ अन्धकारको दूर करके भी
 वह चन्द्रमा कलकी बन रहा था सो ठीक ही है क्योंकि स्वाभाविक अन्धकार बड़े पुरुषोंसे छूटना

१ हस्यत् । २ नेत्रविफलत्वदर्शनात् । ३ शयनशीलताम् । ४ घनावतमसोद्भेदे ट० । निविडान्धकारभेदेन ।
 ५ कृताः । ६ इवान्विष्टान् ल०, द०, प० । ७ विवेश ।

भिक्षवेव कर्तुः स्पृष्टा दिशस्तिमिरभेदिभिः । शनैर्दृश इवालोकमातेनुः शिशिरखिवा ॥१८१॥
 इति प्रदोषसमये जाते प्रस्पष्टतारके । सौधोत्थंगभुवो भेजुः पुरन्ध्रयः सह कामिभिः ॥१८२॥
 चन्दनद्रवसिकाङ्गुः स्वयिष्यः^१ सावत्सिकाः । लसदाभरणा रेजुस्तन्व्यः कल्पलता हव ॥१८३॥
 इन्दुपादैः समुत्कर्षमशाम्भकरकेतनः । तदोदम्बानिवोद्वेलो मनोवृत्तिषु कामिनाम् ॥१८४॥
 रमणा^२ रमणीयाश्च चन्द्रपादाः सखन्दनाः । मदाश्च मदनारम्भमातन्वन् रमणीजने ॥१८५॥
 शशाङ्ककरजैश्राक्षैस्तर्जयसिखिलं जगत् । नृपवल्लभिकावासान्मनोभूरभ्यवेणयन्^३ ॥१८६॥
 नास्त्रादि मदिरा स्वैरं नाजघ्रे न करऽपिता । केवल मदनावेशात्तरुण्यो भेजुरुत्कताम् ॥१८७॥
 उभयसंगिनी भक्तुः काचिन्मदविपुर्णिता । कामिनी मोहनाखेण वतानङ्गेन तर्जिता ॥१८८॥
 सखीवचनमुल्लङ्घ्य भङ्गस्त्रा भानं निरर्गला^४ । प्रयान्ती रमणावासं काप्यनङ्गेन धीरिता^५ ॥१८९॥
 शङ्कलीवचमैर्दृता काचित् पर्यधुलोचना । चकाङ्क्षेव भृशं तपे नायाति प्राणवल्लभे ॥१९०॥
 शून्यगानस्वर्नः^६ स्त्रीणामलिज्याकलसंकुतैः^७ । पूर्वरंगमिवामङ्गो रचयामास कामिनाम् ॥१९१॥

भी कठिन है ॥१८०॥ जिस प्रकार वैद्यके द्वारा तिमिर रोगको नष्ट करनेवाले हाथोंसे स्पर्श की हुई आँखें धीरे-धीरे अपना प्रकाश फैलाने लगती हैं उसी प्रकार चन्द्रमाके द्वारा अन्धकार-को नष्ट करनेवाली किरणोंसे स्पर्श की हुई दिशाएँ धीरे-धीरे अपना प्रकाश फैलाने लगी थीं ॥१८१॥ इस प्रकार जिसमें तारागण स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं ऐसा सायंकालका समय होनेपर सब स्त्रियाँ अपने-अपने पतियोंके साथ महलोंकी छतोंपर जा पहुँचीं ॥१८२॥ जिनके समस्त शरीरपर घिसे हुए चन्दनका लेप लगा हुआ है, जो मालाएँ धारण किये हुई हैं, कानोंमें आभूषण पहने हैं और जिनके समस्त आभरण देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसी वे स्त्रियाँ कल्पलताओंके समान सुशोभित हो रही थीं ॥१८३॥ उस समय चन्द्रमाकी किरणोंसे जिस प्रकार समुद्र लहराता हुआ वृद्धिको प्राप्त होने लगता है उसी प्रकार कामी मनुष्योंके मनमें काम उद्वेलित होता हुआ बढ़ रहा था ॥१८४॥ सुन्दर पति, चन्द्रमाकी किरणें और चन्दन सहित मद ये सब मिलकर स्त्रियोंमें कामकी उत्पत्ति कर रहे थे ॥१८५॥ चन्द्रमाकी किरणेंरूपी विजयी शस्त्रोंके द्वारा समस्त जगत्को तिरस्कृत करता हुआ कामदेव राजाकी स्त्रियोंके निवासस्थानमें भी सेनासहित जा पहुँचा था ॥१८६॥ तरुण स्त्रियोंने न तो मदिराका स्वाद लिया, न इच्छा-नुसार उसे सूँघा और न हाथमें ही लिया, केवल कामदेवके आवेशसे ही उत्कण्ठाको प्राप्त हो गयीं, अर्थात् कामसे विह्वल हो उठीं ॥१८७॥ पतिकी गोदमें बैठी हुई और मदसे झूमती हुई कोई स्त्री कामदेवके द्वारा मोहन अस्त्रसे ताड़ित की गयी थी ॥१८८॥ कामदेवसे प्रेरित हुई कोई स्त्री सखीके वचन उल्लंघन कर तथा मान छोड़कर स्वतन्त्र हो अपने पतिके निवासस्थानको जा रही थी ॥१८९॥ कोई स्त्री पतिके न आनेपर वापस लौटी हुई दूतीके वचनोंसे दुःखी होकर आँखोंसे आँसू छोड़ रही थी और चकवीके समान अत्यन्त विह्वल हो रही थी - तड़प रही थी ॥१९०॥ शून्य हृदयसे गाये हुए स्त्रियोंके सुन्दर गीतोंसे तथा भ्रमरपंक्तिके मनोहर झंकारोंसे कामदेव कामी पुरुषोंके लिए पूर्वरंग अर्थात् नाटकके प्रारम्भमें होनेवाला एक अंग विशेष ही मानो बना रहा था । भावार्थ - उस समय स्त्रियाँ पतियोंकी प्राप्तिके लिए बेसुध होकर गा रही थीं और उड़ते हुए भ्रमरोंकी गुंजार फैल रही थी जिससे ऐसा मालूम होता था मानो कामदेवरूपी नट कामक्रीडारूप नाटकके पहले होनेवाले संगीत विशेष ही दिखला रहा हो । नाटकके पहले जो मंगल-संगीत होता है उसे पूर्वरंग कहते हैं ॥१९१॥

१ मालभारिणः । २ प्रियतमाः । ३ मदाश्च ल० । ४ सेनया सहाम्भ्रगमयन् । ५ उत्कण्ठताम् । ६ प्रतिबन्ध-रहिता । ७ धैर्यं नीता । ८ चित्तयामोहनहेतुगीतविशेषः । ९ कलष्वनिभेदः ।

‘गोत्रस्खलनसंवृद्धं मन्दुमन्यामनन्यजः’ । नोपैक्षिष्ट प्रियोःसंगमनयस्त्वसंगताम् ॥ १९२ ॥
 मेन्दुपादैर्दृष्टिं लेभे नोशीरैर्न जलाश्रया’ । खण्डिता’ मानिनी काचिदन्तस्तापे बलीयसि ॥ १९३ ॥
 काचिदुत्तापिभिर्बाणैस्तापिताऽपि मनोभुजा । नितम्बिनी प्रतीकारं नैच्छद्द्वैर्याखिलम्बिनी ॥ १९४ ॥
 अतुरन्तया तुरं नीतया प्रणयोचिताम् । भूमि’ युनाऽन्यया सौदः संवेशः’ परुषाक्षरः ॥ १९५ ॥
 आलि’^{१०} त्वं नालिक’^{११} ब्रूहि गतः किञ्चु विलक्षताम्’^{१२} । प्रियानामा’^{१३} क्षरैः क्षीणैः मोहान्मरम्यवतारितैः ॥
 यथा तत्र हृतं खेतस्तथा लज्जाऽन्यद्वारि किम् । येन निरूप’^{१४} भूयोऽपि प्रणयोऽस्मासु तन्यते ॥ १९६ ॥
 सैवानुवर्तनीयो ते सुभगं’^{१५} मन्यमानिनी । अस्थाने योजिता प्रीतिर्जायतेऽनुशयाय’^{१६} तं’^{१७} ॥ १९७ ॥
 इति प्राणप्रियां काचिद् संदिशन्ती’^{१८} सखीजने । युष्मा सादरमभ्येत्य नानुनिम्ये’^{१९} न मानिनीम् ॥ १९८ ॥
 चन्द्रपादास्तपन्तीव चन्दनं दहतीव माम् । संधुक्ष्यत इवाऽमीभिः कामाग्निर्व्यज्जनानिलैः ॥ २०० ॥

गोत्रस्खलन अर्थात् भूलसे किसी दूसरी स्त्रीका नाम ले देनेसे जिसका क्रोध बढ़ रहा है ऐसी किसी अन्य नवीन व्याही हुई स्त्रीकी भी कामदेवने उपेक्षा नहीं की थी किन्तु उसे भी पतिके समीप पहुँचा दिया था । भावार्थ—प्राँढ़ा स्त्रियोंकी अपेक्षा नवोढ़ा स्त्रियोंमें अधिक मान और लज्जा रहा करती है परन्तु उस चन्द्रोदयके समय वे भी कामसे उन्मत्त हो सब मान और लज्जा भूलकर पतियोंके पास जा पहुँची थी ॥ १९२ ॥ जिस किसी स्त्रीका पति वचन देकर भी अन्य स्त्रीके पास चला गया था ऐसी अभिमानिनी खण्डिता स्त्रीके मनका सन्ताप इतना अधिक बढ़ गया था कि उसे न तो चन्द्रमाकी किरणोंसे सन्तोष मिलता था, न उशोर (खस) से और न पंखेसे ही ॥ १९३ ॥ धीरज धारण करनेवाली कोई स्त्री कामदेवके द्वारा अत्यन्त पीड़ा देनेवाले बाणोंसे दुःखी होकर भी उसका प्रतीकार नहीं करना चाहती थी । भावार्थ—अपने धैर्यगुणसे कामपीड़ाको चुपचाप सहन कर रही थी ॥ १९४ ॥ कोई तरुण पुरुष प्रेमसे भरी हुई अपनी अन्य स्त्रीको प्रेम करने योग्य किसी दूर स्थानमें ले गया था, वहाँ वह उसके कठोर अक्षरोंसे भरे हुए सन्देशको चुपचाप सहन कर रही थी ॥ १९५ ॥ कोई स्त्री अपनी सखीसे कह रही थी कि हे सखि, सच कह कि क्या वह भ्रमसे मेरे विषयमें कहे हुए और अत्यन्त क्षीण अपनी प्रियाके नामके अक्षरोंसे कुछ अधिकृत हुआ था ? ॥ १९६ ॥ कोई स्त्री अपने अपराधी पतिसे कह रही थी कि हे निर्लज्ज, जिसने तेरा चित्त हरण किया है क्या उसने तेरी लज्जा भी छीन ली है ? क्योंकि तू फिर भी मुझपर प्रेम करना चाहता है ॥ १९७ ॥ कोई स्त्री पतिको ताना दे रही थी कि आप अपने आपको बड़ा सौभाग्यशाली समझते हैं इसलिए जाइए उसी भान करनेवाली स्त्रीकी सेवा कीजिए क्योंकि अयोग्य स्थानमें की गयी प्रीति आपके सन्तापके लिए ही होगी । भावार्थ—मुझसे प्रेम करनेपर आपको सन्ताप होगा इसलिए अपनी उसी प्रेयसीके पास जाइए ॥ १९८ ॥ इस प्रकार सखियोंके लिए सन्देश देती हुई किसी अहंकार करनेवाली प्यारी स्त्रीको उसका तरुण पति आकर बड़े आदरके साथ नहीं मना रहा था क्या ? अर्थात् अवश्य ही मना रहा था ॥ १९९ ॥ कोई स्त्री अपनी सखीसे कह रही थी कि ये चन्द्रमाकी किरणें मुझे सन्ताप दे रही हैं, यह चन्दन जला-सा रहा है और यह पंखोंकी हवा मेरी कामाग्निको बढ़ा

१ नामस्खलन । २ प्रवृद्धक्रोधाम् । ३ कामः । ४ नववधूमित्यर्थः । ५ लामज्जकैः । ‘मूलेऽस्योशीरमस्त्रियाम्’ । ‘अभयं नलर्दं सेव्यममुणालं जलाशयम् । लामज्जकं लघुलघमवदाहेष्टकापये ।’ इत्यभिधानात् । ६ व्यञ्जनेन । ७ वियुक्ता । ८ संधानम् (शय्यागृहम्) । ९ बाष्पिकम् । १० भो सखि । ११ अनुत्तम् । १२ विस्मयाम्बिताम् । १३ दिव्यैः । १४ निर्लज्ज । १५ अहं सुभगेति मन्यमाना रामा । १६ पक्षवात्तापाय । १७ तव । १८ संजल्पन्तीम् । वचनं प्रेषयन्तीम् । १९ न्येऽथ ल०, द० । अनुत्तयं नाकरोदिति न । (अपि तु करोत्येव) ।

तमानयानुनीयेह नय मां वा तदन्तिकम् । त्वदधीना मम प्राणाः प्राणेशे बहुवल्लभे^१ ॥२०१॥
 इत्यनक्रान्तुरा काचित् संदिशन्ती सखीं मिथः^२ । भुजोपरोधमादलेपि पत्न्या प्रत्यग्रखण्डिता^३ ॥२०२॥
 राज्ये मनोभवस्यास्मिन् स्वैरं रंभ्यतामिति । कामिनीकलकांघ्रीभिरुद्योषीन् घोषणा ॥२०३॥
 कर्णोत्पलनिलीनालिकुलकोलाहलस्वनैः । उपजेपे^४ किमु स्त्रीणां कर्णजाहे^५ मनोभुवा ॥२०४॥
 स्तनाङ्गरागसंमर्दी परिरम्भोऽतिनिर्दयः । तद्यथे कामिबन्धे रम्यश्च क्लृप्तपटः^६ ॥२०५॥
 आरक्तकलुषा दृष्टिर्मुग्धमावाटलाधरम् । रतान्ते कामिनामासीत् सीकृतं वाऽऽसकृत्कृतम् ॥२०६॥
 पुष्पसंमर्दसुरभीरास्त्रस्तजघनांशुकाम् । संभोगावसतौ^७ शय्या मिथुनान्यधिशेरत् ॥२०७॥
 कैश्चिद् वीरमर्दैर्माविरणारम्भकृतोत्सवैः । प्रियोपरोधान्मन्दैश्छैऽप्यासेवि रतोत्सवः ॥२०८॥
 केचित् कौत्स्यङ्गनासंगमुखसंगकृतस्पृहाः । प्रियाङ्गनापरिप्वङ्गमङ्गीचक्रुर्न मानिनः ॥२०९॥
 निर्जितारिमर्दभोग्या प्रिया मास्माभिर्न्यथा । इति आतिभटाः केचिन्न भेजुं शयनान्यपि ॥२१०॥
 शरतल्पगतानल्पसुखसंकल्पतः परे । नाभ्यनन्दन् प्रियातलमनल्येच्छा मटोत्तमाः ॥२११॥
 स्वकामिनीभिराश्रयवीरालापैर्मर्दैः परैः । विभावरी विभाताऽपि^८ सा नावेदि रणोन्मुखैः ॥२१२॥

सी रही है ॥२००॥ इसलिए मनाकर या तो उन्हें यहाँ ले आ या मुझे ही उनके पास ले जल, यह ठीक है कि प्राणपतिके अनेक स्त्रियाँ हैं इसलिए उन्हें मेरी परवाह नहीं है किन्तु मेरे प्राण तो उन्हींके अधीन हैं ॥२०१॥ इस प्रकार कामदेवसे पीड़ित होकर कोई स्त्री अपनी सखीसे सन्देश कह ही रही थी कि इतनेमें उस नवीन विरहिणी स्त्रीको पास ही छिपे हुए उसके पतिने दोनों भुजाओंसे पकड़कर परस्पर आलिंगन किया ॥२०२॥ उस समय मनोहर शब्द करती हुई स्त्रियोंकी करधनियाँ मानो यही घोषणा कर रही थीं कि आप लोग कामदेवके इस राज्यमें इच्छानुसार क्रीड़ा करो ॥२०३॥ उन स्त्रियोंके कर्णफूलके कमलोंमें छिपे हुए भ्रमरोंके समूह कोलाहल कर रहे थे और उससे ऐसा जान पड़ता था मानो कामदेव स्त्रियोंके कानोंके समीप लगकर कुछ गुप्त बातें ही कर रहा हो ॥२०४॥ उस समय कामी लोगोंके समूहमें स्त्रियोंके स्तनोंपर लगे हुए लेपको मर्दन करनेवाला और अत्यन्त निर्दय आलिंगन बढ़ रहा था तथा वेगपूर्वक केशोंकी पकड़ा-पकड़ी भी बढ़ रही थी ॥२०५॥ सम्भोगके बाद कामी लोगोंके नेत्र कुछ-कुछ लाल और कलुषित हो गये थे, मुख कुछ-कुछ गुलाबी अधरोंसे युक्त हो गया था तथा उससे सी-सी शब्द भी बार-बार हो रहा था ॥२०६॥ सम्भोग-क्रियाके समाप्त होनेपर स्त्री और पुरुष दोनों ही उन शय्याओंपर सो गये जो कि फूलोंके सम्मर्दसे सुगन्धित हो रही थीं और जिनपर खुलकर अधोवस्त्र पड़े हुए थे ॥२०७॥ जिन्हें होनेवाले युद्धके प्रारम्भमें बड़ा आनन्द आ रहा था ऐसे कितने ही शूरवीर योद्धाओंने इच्छा न रहते हुए भी अपनी प्यारी स्त्रियोंके आग्रहसे सम्भोग सुखका अनुभव किया था ॥२०८॥ कीर्तिरूपी स्त्रीके समागमसे उत्पन्न होनेवाले सुखमें जिनकी इच्छा लग रही है ऐसे कितने ही मानी योद्धाओंने अपनी प्यारी स्त्रियोंका आलिंगन स्वीकार नहीं किया था ॥२०९॥ 'जब हम लोग शत्रुके योद्धाओंको जीत लेंगे तभी प्रियाका उपभोग करेंगे अन्यथा नहीं' ऐसी प्रतिज्ञा कर कितने ही स्वाभाविक शूरवीर शय्याओंपर ही नहीं गये थे ॥२१०॥ बड़ी-बड़ी इच्छाओंको धारण करनेवाले कितने ही उत्तम शूरवीरोंने बाणोंकी शय्यापर सोनेसे प्राप्त हुए भारी सुखका संकल्प किया था इसलिए ही उन्होंने प्यारी स्त्रियोंकी शय्यापर सोना अच्छा नहीं समझा था ॥२११॥ जिन्होंने अपनी स्त्रियोंके साथ अनेक शूरवीरोंकी कथाएँ कहना प्रारम्भ किया है ऐसे युद्धके

१ बहुस्त्रीके सति । २ रहसि । ३ नूतनवियुक्ता । ४ रहो बभाषे । भेदकुमन्त्रः सूचितः । ५ कर्णमूले ।

६ ईष्यदृष्ट । ७ सुरतावसाने । नास्माभिः—ल०, द०, अ०, प०, स०, ह० । ८ प्रभातापि ।

केचिद्वनरसामकमनसोऽपि पुरः स्थितम् । कान्तासंगरसं क्वैरं भेजः समरसा भटाः ॥२१३॥
 प्रहारकर्कशो दृष्टदशनरुद्धनिष्ठुरः । रतारम्भो रणारम्भनिर्विशेषो न्यषेधि सैः ॥२१४॥
 रतानुवर्तनैर्गाढपरिरम्भैर्मुखापणैः । मनांसि कामिनां जडः कामिन्यस्ताः स्मरानुराः ॥२१५॥
 दृष्टान्दीर्घिह्रैः स्नान्तैर्गन्धैर्गन्धैः । अन्धकारविह्वलैर्गन्धैर्गन्धैः ॥२१६॥
 तासामकृतकस्नेहगर्भैः कृतककैतवैः । रमिकोऽभूद् रतारम्भः संभोगान्तेषु कामिनाम् ॥२१७॥
 तेषां मिथुवनारम्भमग्निभूमिगतं तदा । संप्रपुन्यसहन्तीय पर्यवर्तनं सा निशा ॥२१८॥
 अलं यत् चिरं रत्ना दम्पती ताम्यथो युवाम् । लम्बितेन्दुमुखी तस्थौ हृन्निवापरदिन्वधूः ॥२१९॥
 विघटय्य रथाङ्गानां मिथुनानि मिथोऽश्रुमान् । तापेन तप्तकृतेभ्यः परिमोऽभ्युदियाय सः ॥२२०॥
 तावदासीद् दिनारम्भो गतं मैत्रं तमो लयम् । सहस्राश्रुतिर्गन्धर्वी परिरेभे करोत्करैः ॥२२१॥
 किरणैस्तरुणैरेव तमः शार्वरमुद्धतम् । तरणेः करणीयं तु दिनश्रीपरिरम्भणम् ॥२२२॥
 कोककान्तानुरागेण तमं पद्माकरे श्रियम् । पुष्पाङ्गुणाश्रुहयच्छक्रे मुष्णात्कौमुदीं श्रियम् ॥२२३॥

सन्मुख हुए अन्य योद्धा लोगोंको सबेरा होते हुए भी वह रात जान नहीं पड़ी थी । भावार्थ —
 कथाएँ कहते-कहते रात्रि समाप्त हो गयी, सबेरा हो गया फिर भी उन्हें मालूम नहीं हुआ
 ॥२१३॥ युद्ध और संभोगमें एक-सा आनन्द माननेवाले कितने ही योद्धाओंका चित्त यद्यपि युद्ध-
 के रममें आसक्त हो रहा था तथापि उन्होंने सामने प्राप्त हुए स्त्रीसंभोगके रसका भी इच्छा-
 नुसार उपभोग किया था ॥२१३॥ उन योद्धाओंने रणके प्रारम्भके समान ही संभोगका प्रारम्भ
 किया था, क्योंकि जिस प्रकार रणका प्रारम्भ परस्परके प्रहारों (चोटों) से कठोर होता
 है उसी प्रकार संभोगका प्रारम्भ भी परस्परके प्रहारों अर्थात् कचग्रह, नखक्षत आदिसे कठोर
 था, और जिस प्रकार रणका प्रारम्भ होंठ चबाये जानेसे निर्दय होता है उसी प्रकार
 संभोगका प्रारम्भ भी होंठोंके चुम्बन आदिसे निर्दय था ॥२१४॥ कामसे पीड़ित हुई कितनी ही
 स्त्रियाँ पतियोंका गाढ़ आलिंगन कर, चुम्बनके लिए उन्हें अपना मुख देकर और उनके साथ
 संभोगकर उनका मन हरण कर रही थीं ॥२१५॥ आधी नजरसे देखना, भीतर-ही-भीतर हँसते
 हुए अव्यक्त शब्द कहना, असमयमें रुस जाना, बड़ी तेजीके साथ करवट बदलना, भौंहोंको
 आड़ी तिरछी चलाना और स्वाभाविक स्नेहसे भरा हुआ झूठा छल-कपट दिखाना आदि स्त्रियों-
 के अनेक व्यापारोंसे संभोगका एक दौर समाप्त हो जानेपर भी कामी पुरुषोंका पुनः संभोग
 प्रारम्भ हो रहा था और बड़ा ही रसीला था ॥२१६-२१७॥ उस समय वह रात्रि पोदन-
 पुरके स्त्री-पुरुषोंके उस बड़े हुए संभोगको देख नहीं सकी थी इसलिए ही मानो उलट पड़ी
 थी अर्थात् समाप्त हो चुकी थी — प्रातःकालके रूपमें बदल गयी थी ॥२१८॥ जिसका चन्द्रमा-
 रूपी मुख नीचेकी ओर लटक रहा है ऐसी पश्चिम दिशारूपी स्त्री मानो यही कहती हुई
 खड़ी थी कि हे स्त्री पुरुषो, रहने दो, बहुत देर तक क्रीड़ा कर चुके, नहीं तो तुम दोनों ही
 दुःख पाओगे ॥२१९॥ सूर्यने सायंकालके समय चक्रवा-चकवियोंको परस्पर अलग-अलग किया
 था इसी सन्तापसे व्याप्त हुआ मानो वह फिरसे उदय होने लगा ॥२२०॥ इतनेमें ही दिनका
 प्रारम्भ हुआ, रात्रिका अन्धकार विलीन हो गया और सूर्यने अपनी किरणोंके समूहसे पूर्व-
 दिशाका आलिंगन किया ॥२२१॥ रात्रिका अन्धकार तो सूर्यकी लाल किरणोंसे ही नष्ट
 हो गया था अब तो सूर्यकी केवल दितरूपी लक्ष्मीका आलिंगन करना बाकी रह गया था
 ॥२२२॥ सूर्य चक्रवियोंके अनुगमके साथ-ही-साथ कमलोंकी शोभा बढ़ा रहा था और उदय

१ गाढ परि ल० । २ अव्यक्तभाषणैः । ३ विषमभूमिः । ४ प्रलयं गता । ५ ताम्यता ल० । ६ विघटन-
 कृतेन । ७ व्याप्यः । ८ आलिङ्गनं चकार । ९ आलिङ्गनम् । १० —रुद्धवच्छन् ल०, द० ।

कर्मः कर्मसुखाय विजुगुप्सन् प्रकृतस्यैव । जनशुद्धिस्तु वा व्यधादुष्णकरः करः ॥२२४॥
 प्रातस्तारामथोत्थाय पद्माकरपरिग्रहम् । तन्वन् भानुः प्रतापेन जिगीषोर्हृत्तिमन्वगान् ॥२२५॥
 सुकण्ठा पेटुरयुधैः प्रभोः प्राबोधिकास्तदा । स्वयं प्रबुद्धमप्येनं प्रबोधेन युयुक्षवः ॥२२६॥

हरिणीच्छन्दः

अशिशिरकरो लोकानन्दी जनैरभिनन्दितो
 बहुमतकरं तेजस्तन्वक्षितोऽथमुदेष्यति ।
 नृवर जगतासुघोताय त्वमप्युदयोचितं
 विधिमनुसरन् शम्भोःसंगं जहीहि मुने श्रियः ॥२२७॥
 कतरकतमं नाक्रान्तास्ते बलैर्बलशालिनो
 भुजबलमिदं लोकः प्रायो न वेत्ति सचाढकः ।
 भरतपतिना सार्द्धं युद्धे जयाय कृतोद्यमो
 नृपवर भवान् भूयाद् मर्ता नृवीरजयश्रियः ॥२२८॥
 रक्षिरक्षिरलान्भून् जातानिवाभ्रमशालिनां
 तुङ्गिनकणिकपातानाशुं प्रसृज्य करोत्करैः ।
 अयमुदयति प्रासानन्दैरितोऽम्बुजिनीधनैः
 उदयसमये प्रत्युद्यतो धृतार्वमिवाऽम्बुजैः ॥२२९॥

होते ही चाँदनीकी शोभाको भी चुराता जाता था - नष्ट करता जाता था ॥२२३॥ सूर्यने अपने किरणरूपी हाथोंसे अन्धकाररूपी किवाड़ खोलकर दिशाओंके मुँह प्रकाशित कर दिये थे और समस्त जगत् नेत्र खोल दिये थे ॥२२४॥ वह सूर्य विजयकी इच्छा करनेवाले किसी राजाकी वृत्तिका अनुकरण कर रहा था क्योंकि जिस प्रकार विजयकी इच्छा करनेवाला राजा बड़े सबेरे उठकर अपने प्रतापसे पद्माकर अर्थात् लक्ष्मीका हाथ स्वीकार करता है उसी प्रकार सूर्य भी बड़े सबेरे उदय होकर अपने प्रतापसे पद्माकर अर्थात् कमलोंके समूहको स्वीकार कर रहा था - अपने तेजसे उन्हें धिंसित कर रहा था ॥२२५॥ यद्यपि उस समय महाराज बाहुबली स्वयं जाग गये थे तथापि उन्हें जमानेका उद्योग करते हुए सुन्दर कण्ठवाले अन्दीजन जोर-जोरसे नीचे लिखे हुए मंगलपाठ पढ़ रहे थे ॥२२६॥ हे पुरुषोत्तम, जो लोगोंको आनन्द देनेवाला है और लोग जिसकी प्रशंसा कर रहे हैं ऐसा यह सूर्य सब लोगोंको अच्छा लगनेवाले तेजको फैलाता हुआ इधर पूर्व दिशासे उदय हो रहा है इसलिए आप भी जगत्को प्रकाशित और लक्ष्मीको आनन्दित करनेके लिए सूर्योदयके समय होनेवाली योग्य क्रियाओंको करते हुए शय्याका मध्यभाग छोड़िए ॥२२७॥ हे राजाओंमें श्रेष्ठ, आपकी सेनाओंने कितने-कितने बलशाली राजाओंपर आक्रमण नहीं किया है, ये छोटे-छोटे लोग प्रायः आपकी भुजाओंके बलको जानते भी नहीं हैं । हे नरवीर, आपने भरतेश्वरके साथ युद्धमें विजय प्राप्त करनेके लिए उत्तम किया है इसलिए विजयलक्ष्मीके स्वामी आप ही हों ॥२२८॥ हे देव, बगोचेके वृक्षोंपर पड़ी हुई ओसकी बूंदोंको निरन्तर पड़ते हुए आँसुओंके समान अपनी किरणोंके समूहसे जीघ्र ही पीछता हुआ यह सूर्य उदय हो रहा है और उदय होते समय ऐसा जान पड़ता है मानो कमलिनियोंके वन जिन्हें आनन्द प्राप्त हो रहा है ऐसे कमलोंके द्वारा अर्घ्य लेकर उसकी

१ विवृतनेत्रम् । २ अतिशयप्रातःकाले । ३ अनुकरोति स्म । ४ प्रबोधन - द०, ल० । ५ योस्तुमिच्छवः । ६ अनुगच्छन् । ७ के के । ८ तव । ९ -नभ्रशता-द० । १० -कापता - ल०, द० । ११ प्रतिगृहीतः ।

अयमनुसन्तु कोंकः कान्तां तटान्तरशायिनी-

सविरलगतद्वाभ्युपस्थाज्जादिवोत्सृजतीं शुचम् ।

विशति विसिनीपयच्छां सरोजसरस्तटीं

सरसिजरजःकीर्णों पर्क्षा विधूय शनैः शनैः ॥२३०॥

जलविसिनीकन्दच्छायाभुषसरलासिन्धु-

स्तुतिनकिरणो दिक्पथेन्तादृशं प्रतिसंहरन् ।

अनुकुमुदिनीपण्डं तन्वन् करावस्तुतश्च्युतो

द्रव्यनि परिषङ्गासंगं त्रिषोऽभयादिव ॥२३१॥

स्तिमिरकरिणों यूथं भिन्वा तद्वत्परिप्लुता-

मिष तनुमयं विभ्रच्छोणां निशाकरकेसरी ।

वनमिव नभः क्रान्धाऽस्त्वादेर्गुहासहनान्यतः

श्रयति निःपतं निद्रासंगाद् विजिह्विततारकः^१ ॥२३२॥

सरति सरमानीरं हंभः ससारसकृन्निलं

झटिति घटते कोंकहृन्तं विशापमित्राधुना ।

पतति^२ पतलां^३ वृन्दं विष्वक् द्रुमेण कृतारुतं^४

गनमिध जगत्प्रस्थापति^५ समुद्यति^६ भास्वति^७ ॥२३३॥

उदयशिशिरिमात्रश्रेणीसरोरुहरागिणी

गगनजलधेरातन्वाना^८ प्रवालवनश्रियम् ।

दिगिभवदने सिन्दूरश्रीरलकपाटला

प्रसरतितरां सन्ध्यादीसिदिगाननमण्डनी^९ ॥२३४॥

अगवानी ही कर रहे हों ॥२२९॥ इधर देखिए, जो दूसरे किनारेपर सो रही है और निरन्तर बहते हुए आँसुओंके बहानेसे जो मानो शोक ही छोड़ रही है ऐसी अपनी रथी चकवीके पीछे-पीछे जाता हुआ यह चकवा कमलोंके परागसे भरे हुए अपने दोनों पंखोंको झटकाकर कमलि-नियोंके पत्तोंसे ढके हुए कमलसरोवरके तटपर धीरे-धीरे प्रवेश कर रहा है ॥२३०॥ यह चन्द्रमा पके हुए मृणालकी कान्तिको चुरानेवाली अपनी कान्तिको सब दिशाओंके अन्तसे खींच रहा है तथा अमृत बरसानेवाली अपनी किरणोंको प्रत्येक कुमुदिनियोंके समूहपर फैलाता हुआ वियोगके डरसे ही मानो उनके साथ आलिङ्गनके सम्बन्धको दृढ़ कर रहा है ॥२३१॥ जो अन्धकाररूपी हाथियोंके समूहको भेदन कर उनके रक्तसे ही तर हुएके समान लाल-लाल दिखनेवाले शरीर (मण्डल) को धारण कर रहा है तथा नींद आ जानेसे जिसकी तक्षत्ररूपी आँखोंकी पुतलियाँ तिरोहित अथवा कुटिल हो रही हैं ऐसा यह चन्द्रमारूपी मिह वनके समान आकाशको उत्लंघन कर अब अस्ताचलकी गुहारूप एकान्त स्थानका निश्चित रूपसे आश्रय ले रहा है ॥२३२॥ सूर्य उदय होते ही हंस, सारस पक्षियोंकी बोलीसे सहित सरोवरके किनारे-पर जा रहे हैं, चकवा चकवियोंके जोड़े परस्परमें इस प्रकार मिल रहे हैं मानो अब उनका शाप ही दूर हो गया हो, पक्षियोंके समूह चारों ओर शब्द करते हुए वृक्षोंपर पड़ रहे हैं और यह जगत् फिरसे अपने पहले रूपको प्राप्त हुआ-सा जान पड़ता है ॥२३३॥ उदयाचलकी चट्टानोंपर पैदा होनेवाले कमलोंके समान लाल तथा आकाशरूपी समुद्रमें मूँगके वनकी

१ अभिनिवेशात् । २ वक्रिततारकः । अक्षःकनोतिकेति ध्वनिः । ३ विगतशापम् । आक्रोशमित्यर्थः । ४ आश्रयति । ५ पक्षिणाम् । ६ कृतसमन्ताद् ध्वनिः । कृतारुतं ल० । ७ पूर्वस्थितिम् । ८ उदिते सति । ९ आविश्ये । १० विद्रुमं । ११ मण्डयतीति मण्डनी ।

कमलमलिनी बालं^१ वेष्टुं^२ वत्त प्रविकस्वरं
 गतमरुतां बालार्कस्य प्रसारिभिरंगुभिः ।
 परिगतमिव^३ प्रादुष्यद्भिः कणैरनिलाचिंषा
 नियतविषदं धिग् व्यामृद्धिं धिचेकपराकुम्भीम् ॥२३५॥
 उपवनतनूनान्नुवाना विलोमलितपटपदाः
 कृतपरिचया वीर्चाचकैः सरस्सु सरोरुक्षाम् ।
 रतिपारमन्यानाकर्षन्तः सरोजशत्रो जडाः^४
 प्रतिदिशमर्मा मन्दं वान्ति प्रगेतनसारताः ॥२३६॥

मालिनीच्छन्दः

नृपवर जिनभर्तुर्महलैरभिरिष्टैः

भवति निखिलविघ्नप्रशान्तिर्यतस्ते

रणशिरसि जयश्रीकामिनी कामुकस्य ॥२३७॥

जयसि दिविजनार्थैः प्राप्तपूजद्विरहन्

पुनरुपनिपरागो वीतरागोऽपरागः^५ ।

कृतनतिशयस्य प्रज्वलन्मालिख-

रक्षुतिरुधिररोचिर्मञ्जरीपिञ्जराङ्गिः ॥२३८॥

शोभा फैलाती हुई, दिशारूपी हाथियोंके मुखपर सिन्दूरके समान दिखनेवाली, महावरके समान गुलाबी और दिशाओंके मुखोंको अलंकृत करनेवाली यह प्रभात-सन्ध्याकी कान्ति चारों ओर बड़ी तेजीसे फैल रही है ॥२३४॥ हे नाथ, यह खिला हुआ कमल लाल सूर्यकी फैलने-वाली किरणोंसे लाल-लाल हो रहा है और ऐसा मालूम होता है मानो अग्निके फैलते हुए फुलियों-से व्याप्त ही हो रहा हो तथा इसी भयमे यह भ्रमरी उसमें प्रवेश करनेके लिए समर्थ नहीं हो रही है । आचार्य कहते हैं कि जिममें अशक्ति सदा निश्चित रहती है और जो विवेकसे पराङ्मुख है ऐसी मूर्खताको धिक्कार है ॥२३५॥ हे राजन्, जो उपवनके वृक्षोंको हिला रहा है, भ्रमरों-को चंचल कर रहा है, जिसने कमलोंके तालाबमें लहरोंके साथ परिचय प्राप्त किया है, जो स्त्री-पुरुषोंके संभोगकी सुगन्धको खींच रहा है और जो कमलोंके परागसे भारी हो रहा है ऐसा यह प्रातःकालका वायु सब दिशाओंमें धीरे-धीरे बह रहा है ॥२३६॥ हे राजाजोंमें श्रेष्ठ, जिनमें जय-जयकी घोषणा प्रकट रूपसे की गयी है ऐसे जिनेन्द्र भगवान्के इन दृष्ट मंगलोंसे आप फिरसे जग जाग्र वयोंकि इन्हीं मंगलोंके द्वारा रणके अग्रभागमें विजयलक्ष्मी रूपी स्त्रीको चाहने-वाले आपके समस्त विघ्नोंकी अच्छी तरह शान्ति होगी ॥२३७॥

अनेक इन्द्रोंके द्वारा जिन्हें पूजाकी कृद्धि प्राप्त हुई है, जिन्होंने पापरूपी धूल नष्ट कर डाली है, जो वीतराग हैं - जिन्होंने रागद्वेष नष्ट कर दिये हैं और नमस्कार करते हुए इन्द्रोंके देदीप्यमान मुकुटके स्तनोंसे मिली हुई सुन्दर किरणोंकी मंजरीसे जिनके चरण कुछ-कुछ पीले हो

१ अमुष्यः । २ प्रवेशाय । ३ व्याप्तम् । ४ सुरतसमये दम्पत्यनुभूतकस्तुरीकपूरादिपरिमलान् । ५ मन्दाः ।
 ६ प्रातःकाले भव । ७ वीतरागद्वेषः । ८ इन्द्र । ९ व्याप्त ।

जयति जयविलासः सूच्यते यस्य पौर्ण्य-

रालकुलतस्मै न निजतानङ्गमुक्तः ।

अनुपदयुगमस्मै भङ्गशोकादिवाचि-

कृतकरुणनिनादः सोऽयमाद्यो जिनेन्द्रः ॥२३५॥

जयति जितमनोभूभूरिधामा^१ स्वयम्भू-

जिनपतिरपरागः^२ क्षालितागः परागः ।

सुरमुकुटचिदङ्गोदूत^३ पादाश्रुजर्माः-

जगद् जगद्गारप्रान्तविश्रान्तबोधः ॥२४०॥

जयति मदनवाणैरक्षतास्मापि योऽध्वान्^४

त्रिभुवनजयलक्ष्मीकामिनीं वक्षसि स्वे ।

स्वयमवृत च मुक्तिप्रेयसी यं विरूपा^५ -

यमवर्म सुखतापि तन्वती सोऽयमहन् ॥२४१॥

जयति समरभेरीभैरवारावर्भीमं

बलमरचि न कूजखण्डकोदण्डकाण्डम् ।

भुक्तिकुटिलमाख्यं येन नाकारि वोरुषैः

मनसिजरिपुवातं सोऽयमाद्यो जिनेशः^६ ॥२४२॥

स जयति जिनराजो दुर्विभाव^७ प्रभाषः

प्रभुरभिभवितुं यं^८ नाशकन्मरकोरः ।

त्रिजिजयदूरारुढगर्वोऽपि^९ गर्व

न हृदि हृदिशयोऽधाद् यत्र^{१०} कुण्डाक्षवीर्यः ॥२४३॥

रहे हैं ऐसे श्री अर्हन्तदेव सदा जयवन्त रहें ॥२३८॥ जिनके भीतर भ्रमरोंके समूह गुंजार कर रहे हैं और उनसे जो ऐसे मालूम होते हैं मानो अपनी पराजयके शोकसे रोते हुए कामदेवके करुण क्रन्दनको ही प्रकट कर रहे हों तथा उसी हारे हुए कामदेवने अपने पुष्परूपी शस्त्र भगवान्के चरण-युगलके सामने डाल रखे हों ऐसे पुष्पोंके समूहसे जिनके विजयकी लीला सूचित होती है वे प्रथम जिनेन्द्र श्री वृषभदेव जयवन्त हों ॥२३९॥ जिन्होंने कामदेवको जीत लिया है, जिनका तेज अपार है, जो स्वयम्भू हैं, जिनपति हैं, वीतराग हैं, जिन्होंने पापरूपी धूलि धो डाली है, जिनके चरणकमलोंकी शोभा देव लोगोंने अपने मुकुटके अग्रभागपर धारण कर रखी है और जिनका ज्ञान लोक-अलोकरूपी घरके अन्त तक फैला हुआ है ऐसे श्री प्रथम जिनेन्द्र सदा जयवन्त रहें ॥२४०॥ जिनकी आत्मा कामदेवके बाणोंसे घायल नहीं हुई है तथापि जिन्होंने तीनों लोकोंकी जयलक्ष्मीरूपी स्त्रीको अपने वक्षःस्थलपर धारण किया है और मुक्तिरूपी स्त्रीने जिन्हें स्वयं वर बनाया इसके सिवाय वह मुक्तिरूपी स्त्री विरूपा अर्थात् कुरूपा (पक्षमें आकाररहित) होकर भी जिनके लिए उत्कृष्ट सुख-समूहको बढ़ा रही है वे अर्हन्तदेव सदा जयवन्त हों ॥२४१॥ जिन्होंने जगद्विजयी कामदेवरूपी शत्रुको नष्ट करनेके लिए न तो युद्धके नगाड़ोंके भयंकर शब्दोंसे भीषण तथा शब्द करते हुए धनुषोंसे युक्त सेना ही रची और न अपना मुँह ही भीहोंसे टेढ़ा किया वे प्रथम जिनेन्द्र भगवान् वृषभदेव सदा जयवन्त रहें ॥२४२॥ जो सब जगत्के स्वामी हैं, कामदेवरूपी योद्धा भी जिन्हें जीतने-

१ पदयुगमसीधे । २ वहल्लेखः । ३ अपगतपरागः । ४ बलभवा धृत । ५ लोकालोकालयप्रान्त । ६ पारयति स्म । ७ अमूर्तापि, कुरूपापीति ध्वनिः । ८ अप्रमितमुखपरम्पराम् । ९ जिनेन्द्रः ल०, द० । १० अचिन्त्य । ११ समर्थो ना भूत् । १२ अत्यर्थः । १३ सर्वज्ञः । १४ मन्दः । 'कुण्डो मन्दः क्रियासु च' इत्यभिधानात् ।

जयति तरुरशोको दुन्दुभिः पुष्पवर्षं
 चमरिरुहसमेतं विहरं सैहसुदम् ।
 वचनमसममुच्चैरातपत्रं च तेजः^१
 त्रिभुवनजयचिह्नं यस्य^२ सार्धो जिनोऽसौ ॥२४४॥
 जयति जननतापच्छेदि यस्य क्रमाद्वज्रं
 विपुलफलदमाराधनाकीन्द्रभृङ्गम् ।
 समुपनतजगानां प्रीणनं कल्पवृक्ष-
 स्थितिमतनुमहिम्ना सोऽनुतार्त्तार्थकृत्^३ ॥२४५॥
 नृवर भरतराज्योऽप्यूर्जितस्यास्य सुष्मन्-
 भुजपरिधयुगस्य प्राप्तुयात्तैव कक्षाम्^४ ।
 भुजबलमिदमास्तां दृष्टिमात्रेऽपि कस्ते
 रणनिषकगतस्य स्वातुर्भाशः क्षितीशः ॥२४६॥
 तद्वलमधिप कालक्षेपयोगेन निद्रां
 जहिहि महति कृत्ये^५ जागरुकस्त्वमेधि^६ ।
 सपदि च जयलक्ष्मीं प्राप्य भूयोऽपि देवं
 जिनमवतमं^७ भक्त्या शासितारं जयाय ॥२४७॥
 हरिणीच्छन्दः
 इति समुचितैरुच्चैरुच्चार्य चैर्जयमङ्गलैः
 सुघटितपर्वभूयोऽर्माभिर्जयाय विबोधितः ।
 शयनममुच्यन्निद्रापाथात् स पार्थिवकुञ्जरः
 सुरगज इवोत्संगं गङ्गाप्रतीरमुखः शर्मे ॥२४८॥

के लिए समर्थ नहीं हो सका तथा जिनके सामने, देवोंको जीतनेसे जिसका अहंकार बढ़ गया है
 ऐसा कामदेव भी शस्त्र और सामर्थ्यके कुण्ठित हो जानेसे हृदयमें अहंकार धारण नहीं कर
 सका ऐसे अचिन्त्य प्रभावके धारक वे प्रसिद्ध जिनेन्द्रदेव सदा जयवन्त रहें ॥२४३॥ अशोक वृक्ष,
 दुन्दुभि, पुष्पवृष्टि, चमर, उत्तम सिंहासन, अनुपम वचन, ऊँचा छत्र और भामण्डल ये आठ
 प्रातिहार्य जिनके तीनों लोकोंको जीतनेके चिह्न हैं वे सबका हित करनेवाले श्री वृषभ-
 जिनेन्द्र सदा जयवन्त रहें ॥२४४॥ जिनके चरणकमल जन्मरूप सन्तापको नष्ट करनेवाले हैं,
 स्वर्ग मोक्ष आदि बड़े-बड़े फल देनेवाले हैं, दूरसे नमस्कार करते हुए इन्द्र ही जिनके भ्रमर हैं
 और जो शरणमें आये हुए लोगोंको कल्पवृक्षके समान सन्तुष्ट करनेवाले हैं ऐसे वे तीर्थंकर
 भगवान् सदा विजयी हों और अपने विशाल माहात्म्यसे तुम सबकी रक्षा करें ॥२४५॥
 हे पुण्ड्रोत्तम, महाराज भरत भी आपके दोनों भुजारूपी अर्गलदण्डोंकी तुलना नहीं प्राप्त कर
 सकते हैं, अथवा भुजाओंका बल तो दूर रहे, जब आप युद्धके निकट जा पहुँचते हैं तब आपके
 देखने मात्रसे ही ऐसा कीन राजा है जो आपके सामने खड़ा रहनेके लिए समर्थ हो सके ॥२४६॥
 इसलिए हे अधीश्वर, समय व्यतीत करना व्यर्थ है, निद्रा छोड़िए, इस महान् कार्यमें सदा जाग-
 रुक रहिए और शीघ्र ही विजयलक्ष्मीको पाकर अन्य सब जगह विजय प्राप्त करनेके लिए सबपर
 शासन करनेवाले देवाधिदेव जिनेन्द्रदेवको भक्तिपूर्वक फिरसे नमस्कार कीजिए ॥२४७॥
 इस प्रकार जिनमें अच्छे-अच्छे पदोंकी योजना की गयी है ऐसे अनेक प्रकारके

१ प्रशस्तम् । २ प्रभामण्डलम् । ३ सर्वहितः । ४ समानताम् । ५ तत् कारणात् । ६ जागरणशीलः ।
 ७ भव । ८ नमस्कुल । ९ नानाप्रकारैः ।

जयकरिषटाबन्धै^१रुन्धन्^२ दिशो मदबिह्वलै-

^३र्षलपरिवृद्धैरासृजश्रीरुद्धपराक्रमः ।

नृपकतिपयैराराधेत्य^४ प्रणम्य दिदक्षितो

भुजबलि युवा मेजे सैन्यैर्भुवं समरोचिताम् ॥२४६॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे

कुमारवाहुबलीके युद्धका उद्योग वर्णन नाम पञ्चत्रिंशत्तमं पर्व ॥२५॥



उत्कृष्ट तथा राजाओंके योग्य, विजय करानेवाले मंगल-गीतोंके द्वारा बाहुबली महाराज विजय प्राप्त करनेके लिए जगे और जिस प्रकार ऐरावत हाथी निद्रा छूट जानेसे गंगाके किनारेकी भूमिका साथ धीरे-धीरे छोड़ता है उसी प्रकार उन्होंने भी निद्रा छूट जानेसे धीरे-धीरे शय्याका साथ छोड़ दिया ॥२४८॥ सेनाके मुख्य-मुख्य लोगोंके द्वारा जिसकी शोभा बढ़ रही है, जो स्वयं विशाल पराक्रम धारण किये हुए हैं और कितने ही राजा लोग दूर-दूरसे आकर प्रणाम करते हुए जिसे देखना चाहते हैं ऐसा वह तरुण बाहुबली मदोन्मत्त विजयी हाथियोंकी घटाओंसे दिशाओंको रोकता हुआ सेनाके साथ-साथ युद्धके योग्य भूमिमें आ पहुँचा ॥२४९॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत तिरसठलक्षापुरुषोंका

वर्णन करनेवाले महापुराणसंग्रहमें कुमार बाहुबलीके युद्धका उद्योग

वर्णन करनेवाला पैंतीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ।



षट्त्रिंशत्तमं पर्व

अथ दूतवचश्चण्डमरुदावातपूर्णतः । प्रथवाल बलाम्भोधिर्जिष्णोराह्व्य रोदसी ॥ १॥
साङ्ग्रामिक्यो^१ महामेयस्तदा^२ धीरं प्रदध्वनुः । यन्^३ ख्वानैः साध्वसं भेजुः^४ खड्गव्या नमश्चराः ॥ २॥
यलानि प्रविभक्तानि^५ निधीशस्य शिनिर्ययुः । पुरः पादातमन्वीयमारादाराच^६ हास्तिकम् ॥ ३॥
रथकव्यापरिक्षेपो^७ बलस्योभयपक्षयोः । अमृतः पृष्ठतश्चासीदूर्ध्वं च त्वचरामराः ॥ ४॥
षडङ्गबलसामग्र्या सम्पन्नः पार्थिवैरमा^८ । प्रतस्थे भरताधीशो निजानुजजिगीषया ॥ ५॥
महान् गजघटाग्रन्थो^९ रेजे सजयकेतनः । गिरीणामिव संघातः संचारी सह शालिमिः^{१०} ॥ ६॥
इव्योतन्मदजलासारसिक्तभूमिर्मद्विपैः^{११} । प्रतस्थे स्तब्दिकचक्रैः शैलैरिव सनिशरैः ॥ ७॥
जयस्तम्भेरमा रेजुस्तुङ्गाः शृङ्गारिताङ्गकाः । साग्रसंघ्यातपक्रान्ताश्चलन्त इव भूचराः ॥ ८॥
चसृभतङ्गाजा रेजुः सजाः^{१२} सजयकेतनाः । कुलशैला इवायाताः प्रभोः स्वबलदर्शने^{१३} ॥ ९॥
गजस्कन्धगता^{१४} रेजुर्गता विप्रताडकुशाः । प्रदीप्तोदमटनेपथ्या^{१५} दर्पाः संपिण्डिता इव ॥ १०॥

अथानन्तर—दूतके वचनरूपी तेज वायुके आघातसे प्रेरित हुआ चक्रवर्तीका सेना रूपी समुद्र आकाश और पृथिवीको रोकता हुआ चलने लगा ॥१॥ उस समय युद्धकी सूचना करनेवाले बड़े-बड़े नगाड़े गम्भीर शब्दोंसे बज रहे थे और उनके शब्दोंसे तलवार उठानेमें व्यग्र हुए विद्याधर भयभीत हो रहे थे ॥२॥ चक्रवर्तीकी सेनाएँ अलग-अलग विभागोंमें विभक्त होकर चल रही थीं, सबसे आगे पैदल सैनिकोंका समूह था, उससे कुछ दूरपर घोड़ोंका समूह था और उससे कुछ दूर हटकर हाथियोंका समूह था ॥३॥ सेनाके दोनों ओर रथोंके समूह थे तथा आगे पीछे और ऊपर विद्याधर तथा देव चल रहे थे ॥४॥ इस प्रकार छह प्रकारकी सेना-सामग्रीसे सम्पन्न हुए महाराज भरतेश्वरने अपने छोटे भाईको जीतनेकी इच्छासे अनेक राजाओंके साथ प्रस्थान किया ॥५॥ उस समय विजय-पताकाओंसे सहित बड़े-बड़े हाथियोंके समूह ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो वृक्षोंके साथ-साथ चलते हुए पर्वतोंके समूह ही हों ॥६॥ जिनसे झरते हुए मदजलकी वृष्टिसे समस्त भूमि सींची गयी है और जिन्होंने सब दिशाएँ रोक ली हैं ऐसे मदोन्मत्त हाथियोंके साथ चक्रवर्ती भरत चल रहे थे, उस समय वे हाथी ऐसे मालूम होते थे मानो झरनोंसे सहित पर्वत ही हों ॥७॥ जिनके समस्त शरीरपर श्रृंगार किया गया हो और जो बहुत ऊँचे हैं ऐसे वे विजयके हाथी ऐसे सुशोभित होते थे मानो सन्ध्याकालकी सवन धूपसे व्याप्त हुए चलते-फिरते पर्वत ही हों ॥८॥ जो सब प्रकारसे सजाये गये हैं और जिनपर विजय-पताकाएँ फहरा रही हैं ऐसे वे सेनाके हाथी इस प्रकार सुशोभित हो रहे थे मानो महाराज भरतको अपना बल दिखानेके लिए कुलाचल ही आये हों ॥९॥ जिन्होंने देदीप्यमान तथा बीररसके योग्य वेष धारण किया है, और जिन्होंने अंकुश हाथमें ले रखा है ऐसे हाथियोंके कन्धोंपर बैठे हुए महाबल लोग ऐसे जान पड़ते थे मानो एक जगह

१ छायापृथिव्यौ । २ युद्धहेतवः । ३ सुष्वानैः ल० । ४ आयुषस्वीकारव्याकुलाः । ५ संकरमकृत्वा प्रविभा-
जितानि । ६ समीपे । ७ रयसमूहपरिवृत्तिः । ८ उभयपार्श्वयोरित्यर्थः, मौलवैज्ञानिकयोः, मूलं कारणं पुत्रवं
प्राप्ताः । वेत्तनेन जीवन्तो वैज्ञानिकाः । ९ सह । १० आसमूहः । ११ वृक्षैः । १२ खवत् । १३ वेगवद्वर्ष ।
'धारासंपात आसारः' । १४ सन्नद्धीकृताः । १५ निजबलवर्धने । १६ गजारोहकाः । १७ वीरसालंकाराः ।

कौक्षेयकैर्निशाता^१प्रधाराग्रैः सादिनो^२ बभुः । मूर्त्तीभूय भुजोपाग्रलम्बैर्वा^३ स्वैः पराक्रमैः ॥११॥
 धन्विनः शस्त्राराच^४संभृतोक्षितहेतयः^५ बभुः । वनङ्गमाजा महाशाखाः कोटरस्थैरिवाग्निभिः ॥१२॥
 रथिनो रथकङ्थासु संभृतोक्षितहेतयः । सङ्क्रामसवाभितरणे^६ प्रस्थिता नाविका^७ इव ॥१३॥
 मट्टा इस्थुरसं^८ भञ्जुः सशिरस्त्रतनुत्रकाः^९ । समुत्थाननिशातास्तिपागयः पादरक्षणे^{१०} ॥१४॥
 पुस्फुरः^{११} स्फुरदस्त्रौवा मट्टाः संदंशिताः^{१२} परे । औत्पातिका^{१३} इधानालाः सोलका मेषाः समुत्थिताः ॥१५॥
 करवालं करालाग्रं करे कृत्वा मट्टोपरः । पश्यन् सुत्तरमं तस्मिन्^{१४} स्वशौर्यं परिजिज्ञिवान्^{१५} ॥१६॥
 कराम्रविधृतं खड्गं तुलयन् कोऽप्यभाद् भरः ।^{१६} प्रमिभिः सुनिवानेन^{१७} स्वामिसत्कारगौरवम् ॥१७॥
 महामुकुटबद्धानां साधनानि^{१८} प्रतस्थिरे । पादातहास्तिकाश्चीयर्थकट्यापरिच्छदैः^{१९} ॥१८॥
 बभुर्मुकुटबद्धास्ते रत्नाद्भ्युदग्रमौलयः । सलीलालोकपालानामंशा^{२०} भुवमिवागताः ॥१९॥
 परिवेष्ट्य निर्ययन्^{२१} पार्थिवाः पृथिवीश्वरम् । दूरान् स्ववल्लभामग्रीं दर्शयन्तो यथायथम् ॥२०॥
^{२२}प्रत्यग्रसमरारम्भसंश्रवोद्भ्रान्तचेतसः ।^{२३}भट्टीरावासवामासुभट्टाः^{२४} प्रथाय्य धीरिनैः^{२५} ॥२१॥

इकट्ठा हुआ अभिमान ही हो ॥१०॥ घुड़सवार लोग, जिनकी आगेकी धारका अग्रभाग बहुत तेज है ऐसी तलवारोंसे ऐसे जान पड़ते थे मानो उनके पराक्रम ही भूतिमान् होकर उनकी भुजाओंके अग्रभाग अर्थात् हाथोंमें आ लगे हों ॥११॥ जिनके तरकस अनेक प्रकारके बाणोंसे भरे हुए हैं ऐसे धनुर्धारी लोग इस प्रकार जान पड़ते थे मानो बड़ी-बड़ी शाखावाले वनके वृक्ष कोटरोंमें रहनेवाले सर्पोंसे ही सुशोभित हो रहे हों ॥१२॥ जिन्होंने रथोंके समूहमें युद्धके योग्य सब शस्त्र भर लिये हैं ऐसे रथोंपर बैठनेवाले योद्धा लोग इस प्रकार चल रहे थे मानो युद्धरूपी समुद्रको पार करनेके लिए नाव चलानेवाले खेवटिया ही हों ॥१३॥ जिन्होंने शिरपर टोप और शरीरपर कवच धारण किया है तथा हाथमें पैनी तलवार ऊँची उठा रखी है ऐसे कितने ही योद्धा लोग हाथियोंके पैरोंकी रक्षा करनेके लिए उनके सामने चल रहे थे ॥१४॥ जिनके हाथोंमें शस्त्रोंके समूह चमक रहे हैं और जो लोहेके कवच पहने हुए हैं ऐसे कितने ही योद्धा ऐसे देदीप्यमान हो रहे थे मानो किसी उत्पातकी सूचित करनेवाले उल्कासहित काले काले मेष ही उठ रहे हों ॥१५॥ कोई अन्य योद्धा पैनी धारवाली तलवार हाथमें लेकर उसमें अपने मुखका रंग देखता हुआ अपने पराक्रमका परिज्ञान प्राप्त कर रहा था ॥१६॥ कोई अन्य योद्धा हाथके अग्र भागपर रखी हुई तलवारको तोलता हुआ ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो वह उससे अपने स्वामीके आदर-सत्कारका गौरव ही तोलना चाहता हो ॥१७॥ पैदल सेना, हाथियोंके समूह, घुड़सवार और रथोंके समूह आदि सामग्रीके साथ-साथ महामुकुट-बद्ध राजाओंकी सेनाएँ भी चल रही थीं ॥१८॥ रत्नोंकी किरणोंसे जिनके मुकुट ऊँचे उठ रहे हैं ऐसे वे मुकुटबद्ध राजा इस प्रकार सुशोभित हो रहे थे मानो लीलासहित लोकपालोंके अंश ही पृथ्वीपर आ गये हों ॥१९॥ अनेक राजा लोग महाराज भरतको घेरकर चल रहे थे और दूरसे ही अपनी सेनाकी सामग्री यथायोग्यरूपसे दिखलाते जाते थे ॥२०॥ नवीन

१ निशिता । २ अश्वारोहाः । 'अश्वारोहास्तु सादिनः' इत्यभिधानात् । ३ इव । ४ प्रकण्डनास्तु मट्टाणाः । ५ इषुभिः तूणीरः । 'तूणीपासङ्गतूणीरनिषङ्गा इषुभिर्द्वयोः । तूण्यामित्यभिधानात् । संभृतोक्षकः क०, द०, अ०, प०, स०, इ० । ६ समरसमुद्रोत्तरणार्थम् । ७ कर्णधाराः । 'कर्णधारास्तु नाविकाः' इत्यभिधानात् । ८ हस्तिमुखम् । ९ कवचं । १० पादरक्षार्थम् । ११ स्फुरन्ति स्म । १२ कवचिताः । 'संनद्धो वमितः सज्जो दंशितो व्यूहकण्टकः' इत्यभिधानात् । १३ उत्पातहेतवः । १४ स्वं शौर्यम् ल० । १५ वृत्तये । १६ प्रमानुमिच्छुः । प्रतिमितुः — द०, ल०, प०, इ०, अ०, स० । १७ खड्गेन सह । १८ वल्लानि । १९ परिकरैः । २० केचित्कले-कपाला इत्यर्थः । २१ निर्ययुः । २२ नवनरणांभसंश्रवणादुद्भ्रान्तचेतो यासां तास्ताः । २३ भट्टयोषितः । २४ विश्वास्य । २५ धीरवचनैः ।

भूरणवस्तदाधीयखुरोद्धूताः खलङ्घिनः^१ । क्षणविधितसंप्रेशाः^२ प्रचक्रुरमराङ्गनाः ॥२२॥
 रजःसंतमसे रुद्धिक्चक्रे ब्योमलङ्घिनि । चक्रोद्योतो नृणां चक्रे दशः स्वविषयोगमुखीः ॥२३॥
 समुद्रमटरमप्रायैः^३ भटालापैर्महीश्वराः । प्रयाणके धृतिं प्रापुर्जनजहर्षीहवीः ॥२४॥
 रणभूमिं^४ प्रसाध्यारात् स्थितो बाहुबली नृपः । अयं च नृपशार्ङ्गलः^५ प्रस्थितो निर्निबन्धनः ॥२५॥
 न विघ्नः किञ्च खल्वत्र स्यात् आश्रोमयोरिति । प्रायो न शान्तये युद्धमानयोरनुजीविनाम्^६ ॥२६॥
 विरूपकमिदं^७ युद्धमारब्धं भरतेशिना । ऐश्वर्यमदुर्वाराः स्वैरिणः प्रभवोऽथवा^८ ॥२७॥
 हमे मुकुटबद्धाः किं नैनौ वारयितुं क्षमाः । येऽमी समग्रसामग्र्या^९ सङ्ग्रामयितुमागताः ॥२८॥
 अहो महानुभावोऽयं कुमारो भुजत्रिक्रमी । क्रुद्धे चक्रधरेऽप्येवं यो योद्धुं संमुखं स्थितः ॥२९॥
 अथवा तन्त्रभूयस्त्वं^{१०} न जयाङ्गं मनस्विनः । ननु सिंहो जयत्येकः संहितानपि^{११} दन्तिनः ॥३०॥
 अयं च चक्रभृद् देवो नेष्टः सामान्यमानुषः । योऽभिरक्ष्यः सहस्रेण प्रणम्राणां सुधाभुजाम्^{१२} ॥३१॥
 तन्मा भूदनयोर्युद्धं जनसंक्षयकारणम् । कुर्वन्तु देवताः शान्तिं यदि संहिता इमाः ॥३२॥
 इति माध्यस्थ्यवृत्त्यैके^{१३} जनाः स्लाघ्यं वचो जगुः । पक्षपातहताः केचित् स्वपक्षोत्कर्षमुज्जगुः ॥३३॥

युद्धका प्रारम्भ सुनकर जिनके चित्त व्याकुल हो रहे हैं ऐसी स्त्रियोंको वीर योद्धा बड़ी धीरताके साथ समझाकर आश्वासन दे रहे थे ॥२१॥ उस समय घोड़ोंके खुरोंसे उठी हुई और आकाशको उल्लंघन करनेवाली पृथिवीकी धूल क्षण-भरके लिए देवांगनाओंके देखनेमें भी बाधा कर रही थी ॥२२॥ समस्त दिशाओंको व्याप्त करनेवाले और आकाशको उल्लंघन करनेवाले उस धूलिसे उत्पन्न हुए अन्धकारमें चक्ररत्नका प्रकाश ही मनुष्योंके नेत्रोंको अपना-अपना विषय ग्रहण करनेके सम्मुख कर रहा था ॥२३॥ राजा लोग रास्तेमें अत्यन्त उत्कट वीररससे भरे हुए योद्धाओंके परस्परके वार्तालापसे तथा इसी प्रकारके अन्य लोगोंकी बात-चीतसे ही उत्माहित हो रहे थे ॥२४॥ उधर राजा बाहुबली रणभूमिको दूरमें ही युद्धके योग्य बनाकर ठहरे हुए हैं और इधर राजाओंमें सिंहके समान तेजस्वी महाराज भरत भी यन्त्रणा-रहित (उच्छृंखल) होकर उनके सम्मुख जा रहे हैं ॥२५॥ नहीं मालूम इस युद्धमें इन दोनों भाइयोंका क्या होगा ? प्रायः कर इनका यह युद्ध सेवकोंकी शान्तिके लिए नहीं है । भावार्थ — इस युद्धमें सेवकोंका कल्याण दिखाई नहीं देता है ॥२६॥ भरतेश्वरने यह युद्ध बहुत ही अयोग्य प्रारम्भ किया है सो ठीक ही है क्योंकि जो ऐश्वर्यके मदसे रोके नहीं जा सकते ऐसे प्रभु लोग स्वेच्छाचारी ही होते हैं ॥२७॥ जो ये मुकुटबद्ध राजा समस्त सामग्रीके साथ युद्ध करनेके लिए आये हुए हैं वे क्या इन दोनोंको नहीं रोक सकते हैं ? ॥२८॥ अहो, भुजाओंका पराक्रम रखनेवाला यह कुमार बाहुबली भी महाप्रतापी है जो कि चक्रवर्तीके क्रुपित होनेपर भी इस प्रकार युद्धके लिए सम्मुख खड़ा हुआ है ॥२९॥ अथवा शूरवीर लोगोंको सामग्रीकी अधिकता विजयका कारण नहीं है क्योंकि एक ही सिंह झुण्डके झुण्ड हाथियोंको जीत लेता है ॥३०॥ नमस्कार करते हुए हजारों देव जिसकी रक्षा करते हैं ऐसा यह चक्रको धारण करने-वाला भरत भी साधारण पुरुष नहीं है ॥३१॥ इसलिए जो अनेक लोगोंके विनाशका कारण है ऐसा इन दोनोंका युद्ध नहीं हो तो अच्छा है, यदि देव लोग यहाँ समीपमें हों तो वे इस युद्धकी शान्ति करें ॥३२॥ इस प्रकार कितने ही लोग मध्यस्थ भावसे प्रशंसनीय वचन कह रहे थे

१ आकाशलङ्घिनः । २ आलोकनाः । ३ रजोऽश्वकारे । ४ वीररसबहुलः । ५ अलङ्कृता । ६ समीपे । ७ नृपश्रेष्ठः भरत इत्यर्थः । ८ निरङ्कुशः । ९ भटानाम् । १० कष्टम् । ११ -ओ यतः ल० । १२ युद्ध-कारयितुम् । १३ तथाहि । १४ सेनाबाहुल्यम् । १५ संयुक्तान् । १६ देवानाम् । १७ तत् कारणात् । १८ अन्ये ।

एवमपि प्रापुस्तमुद्देशं यत्र वीरामणीरसौ^३ ॥३४॥
 दौर्दण्यं^४ विगणय्यास्य कुर्विलङ्घयमरातिभिः । व्रैसुः प्रतिभयाः प्रायस्तस्मिन्नासन्नसंनिधौ^५ ॥३५॥
 इत्यभ्यर्णं बले जिण्णो^६ बलं भुजबलीशिनः । जलमग्नेरिवाक्षुभ्यद् वीरध्वाननिस्तृत्तिक^७ ॥३६॥
 अथोभयबले धीराः^८ संनद्धगजबाजयः^९ । बलान्वारचयामासुरन्वोऽन्यं प्रयुयुत्सया^{१०} ॥३७॥
 तावच्च मन्त्रिणो मुख्याः संप्रधार्यावदक्षितिः । शान्तये नैनयोर्युद्धं^{११} ग्रहयोः क्रूरयोरिव ॥३८॥
 चरमगात्रधरावेती नानयोः काचम क्षतिः । क्षयो जनस्य पक्षस्य^{१२} व्याजेनानेन^{१३} जृम्भितः ॥३९॥
 इति निश्चिन्ध मन्त्रज्ञा भीष्मा भूयो जनक्षयात् । तयोरनुमतिं लब्ध्वा धर्म्यं रणमघोषयन् ॥४०॥
 अकारणरणेनालं जनसंहारकारिणा । महानेव^{१४} अधर्मश्च गरीयाश्च यशोवधः^{१५} ॥४१॥
 यत्कौत्सकर्मपरीक्षेयमन्यथाऽप्युपपद्यते^{१६} । तदस्तु युधयोरिव मिथो युद्धं त्रिधात्मकम् ॥४२॥
 धूमकेन^{१७} विना भङ्गः सोढव्यो युधयोरिव । विजयश्च विनोत्सेकान्^{१८} धर्मो ह्येष समाभिपु ॥४३॥
 इत्युक्त्वा पाधिदैः सर्वैः सोपरोधैश्च मन्त्रिभिः । तौ कृच्छ्रान् प्रत्यपस्मातो^{१९} तादृशं युद्धमुद्यतौ ॥४४॥

और कितने ही पक्षपातसे प्रेरित होकर अपने ही पक्षकी प्रशंसा कर रहे थे ॥३३॥ प्रायः लोगोंके इसी प्रकारके वचनोंसे मन बहलाने हुए राजा लोग शीघ्र ही उस स्थानपर जा पहुँचे जहाँ वीरशिरोमणि कुमार बाहुबली पहलेसे विराजमान था ॥३४॥ बाहुबलीके समीप पहुँचते ही भरतके योद्धा, जिसका शत्रु कभी उल्लंघन नहीं कर सकते ऐसा बाहुबलीकी भुजाओंका दर्प देखकर प्रायः कुछ डर गये ॥३५॥ इस प्रकार चक्रवर्ती भरतकी सेनाके समीप पहुँचनेपर वीरोंके शब्दोंसे दिशाओंको भरनेवाली बाहुबलीकी सेना समुद्रके जलके समान क्षोभको प्राप्त हुई ॥३६॥

अथानन्तर — दोनों ही सेनाओंमें जो शूरवीर लोग थे वे परस्पर युद्ध करनेकी इच्छासे अपने हाथी घोड़े आदि सजाकर सेनाकी रचना करने लगे — अनेक प्रकारके व्यूह आदि बनाने लगे ॥३७॥ इतनेमें ही दोनों ओरके मुख्य-मुख्य मन्त्री विचारकर इस प्रकार कहने लगे कि क्रूरग्रहोंके समान इन दोनोंका युद्ध शान्तिके लिए नहीं है ॥३८॥ क्योंकि ये दोनों ही चरम शरीरी हैं, इनकी कुछ भी क्षति नहीं होगी, केवल इनके युद्धके बहानेसे दोनों ही पक्षके लोगोंका क्षय होगा ॥३९॥ इस प्रकार निश्चय कर तथा भारी मनुष्योंके संहारसे डरकर मन्त्रियोंने दोनोंकी आज्ञा लेकर धर्मयुद्ध करनेकी घोषणा कर दी ॥४०॥ उन्होंने कहा कि मनुष्योंका संहार करनेवाले इस कारणहीन युद्धसे कोई लाभ नहीं है क्योंकि इसके करनेसे बड़ा भारी अधर्म होगा और यशका भी बहुत विधात होगा ॥४१॥ यह बलके उत्कर्षकी परीक्षा अन्य प्रकारसे भी हो सकती है इसलिए तुम दोनोंका ही परस्पर तीन प्रकारका युद्ध हो ॥४२॥ इस युद्धमें जो पराजय हो वह तुम दोनोंको भीहके चढ़ाये बिना ही — सरलतासे सहन कर लेना चाहिए तथा जो विजय हो वह भी अहंकारके बिना तुम दोनोंको सहन करना चाहिए क्योंकि भाई भाइयोंका यही धर्म है ॥४३॥ इस प्रकार जब समस्त राजाओं और मन्त्रियोंने बड़े आग्रह-के साथ कहा तब कहीं बड़ी कठिणतासे उद्यत हुए उन दोनों भाइयोंने वैसा युद्ध करना स्वीकार

१ एवमपि । २ प्राप्ता ल०, प०, द० । ३ भुजबली स्थितः । ४ विचार्य । ५ बाहुबलिनः । ६ अत्यासन्नं सति । ७ भरतस्य । ८ वीराः ल०, द०, अ०, प०, स०, इ० । ९ बाजिनः अ०, स०, द० । १० प्रकर्षेण योद्धुमिच्छया । ११ नावयो — ल० । १२ सहायस्य । १३ युद्धच्छेदेन । १४ एवं सति । युद्धे सतीत्यर्थः । १५ कीर्तिनाशः । १६ घटते इत्यर्थः । १७ तत् कारणात् । १८ क्रोधाभावेनेत्यर्थः । १९ गर्वाभावादित्यर्थः । २० अनुमेनाते ।

जलदृष्टिनियुद्धेषु^१ योऽनयोर्जयमाप्स्यति । स जयश्रीविलासिन्याः पतिरस्तु स्वयंकृतः ॥४५॥
 इत्युद्धाप्य कृतानन्दमानिन्दिन्या गभीरया । मर्षा चमूप्रधानानां^२ न्यधुरेक्य संनिधिम् ॥४६॥
 नृपः भरतगृष्ट्या ये तानेकत्र न्यवेशयन् । ये बाहुबलिगृष्ट्या^३ पार्थिवांस्तानतोऽन्यतः ॥४७॥
 मध्यं महीवृतां तेषां रेजनुस्तां नृपौ स्थिता । गतां निषधनीलादौ कुतश्चिदेव^४ संनिधिम् ॥४८॥
 तयोर्भुजबली रेजे गह्वमावसच्छविः । जम्बुद्वीप इवोत्तुङ्गः सभृङ्गोऽसित^५ मूर्धजः ॥४९॥
 रराज राजराजोऽपि तिरिटीदम्बिग्रहः । सचूलिक इवात्रीन्द्रः तप्तचामीकरच्छविः ॥५०॥
 दधन्नीरतरा दृष्टिं निर्निमेषामनुसृतम्^६ । दृष्टियुद्धे जयं प्राप प्रसमं^७ भुजविक्रमो ॥५१॥
 चिनिषाय कृतक्षोभमनिवार्यं बलार्णवम् । मर्यादया यक्षीयांसं^८ जयेनायोजयधृपाः ॥५२॥
 सरसीजलमागाढी^९ जलयुद्धे मदोद्धता । दिग्गजाविह तां दीर्घैर्न्यायुः^{१०} क्षीमामनुर्भुजैः ॥५३॥
 अधिवक्षस्तरं जिह्मो रेजुरच्छा जलच्छटाः । शीलमत्तुरिवोत्सङ्गसंनिधः^{११} सुतयोऽम्भसाम् ॥५४॥
 जलौघो भरतेशोभ मुक्तो दीर्घललाटिनः । प्राशोरप्राण्य कूरेण मुखमाराव समापतन् ॥५५॥

किया ॥४४॥ 'इन दोनोंके बीच जलयुद्ध, दृष्टियुद्ध और बाहुमें जो विजय प्राप्त करेगा वही विजय-लक्ष्मीका स्वयं स्वीकार किया हुआ पति हो, इस प्रकार सबको आनन्द देनेवाली गम्भीर भेरियोंके द्वारा जिसमें सबको हर्ष हो इस रीतिसे घोषणा कर मन्त्री लोगोंने सेनाके मुख्य-मुख्य पुरुषोंको एक जगह इकट्ठा किया ॥४५-४६॥ जो भरतके पक्षवाले राजा थे उन्हें एक ओर बैठाया और जो बाहुबलीके पक्षके थे उन्हें दूसरी ओर बैठाया ॥४७॥ उन सब राजाओंके बीचमें बैठे हुए भरत और बाहुबली ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो किसी कारणसे निषध और नीलपर्वत ही पास-पास आ गये हों ॥४८॥ उन दोनोंमें नीलमणिके समान सुन्दर छविको धारण करता हुआ और काले-काले केशोंसे सुशोभित कुमार बाहुबली ऐसा जान पड़ता था मानो भ्रमरोसे सहित ऊँचा जम्बूद्वीप ही हो ॥४९॥ इसी प्रकार मुकुटसे जिसका शरीर ऊँचा हो रहा है और जो तपाये हुए सुवर्णके समान कान्तिको धारण करनेवाला है ऐसा राज-राजेश्वर भरत भी इस प्रकार सुशोभित हो रहा था मानो चूलिकासहित गिरिराज - सुमेरु ही हो ॥५०॥ अत्यन्त धीर तथा पलकोंके संचारसे रहित शान्त दृष्टिको धारण करते हुए कुमार बाहुबलीने दृष्टियुद्धमें बहुत शीघ्र विजय प्राप्त कर ली ॥५१॥ हर्षसे क्षोभ मचाते हुए बाहुबलीके दुर्निवार सेनारूपी समुद्रको रोककर राजाओंने बड़ी मर्यादाके साथ कुमार बाहुबलीको विजयसे युक्त किया अर्थात् दृष्टियुद्धमें उनकी विजय स्वीकार की ॥५२॥ तदनन्तर मदोन्मत्त दिग्गजोंके समान अभिमानसे उद्धत हुए वे दोनों भाई जलयुद्ध करनेके लिए सरोवरके जलमें प्रविष्ट हुए और अपनी लम्बी-लम्बी भुजाओंसे एक दूसरेपर पानी उछालने लगे ॥ ५३ ॥ चक्रवर्ती भरतके वक्षःस्थलपर बाहुबलीके द्वारा छोड़ी हुई जलकी उज्ज्वल छटाएँ ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो सुमेरुपर्वतके मध्यभागमें जलका प्रवाह ही पड़ रहा हो । ॥५४॥ भरतेश्वरके द्वारा छोड़ा हुआ जलका प्रवाह अत्यन्त ऊँचे बाहुबलीके मुखको दूर छोड़कर दूरसे ही नीचे जा पड़ा ॥ भवार्थ - भरतेश्वरने भी बाहुबलीके ऊपर पानी फेंका था परन्तु बाहुबलीके ऊँचे होनेके कारण वह पानी उनके मुख तक नहीं पहुँच सका, दूरसे ही नीचे जा पड़ा । भरतका शरीर पाँच-सौ धनुष ऊँचा था और बाहुबलीका पाँच-सौ पच्चीस

१ जलयुद्धदृष्टियुद्धबाहुयुद्धेषु । 'नियुद्धं बाहुयुद्धे' इत्यभिधानात् । २ चक्रुः । ३ कारणात् । ४ सम्मेलनमित्यर्थः । ५ तयोर्मध्ये । ६ नीलकेशः । ७ शान्ताम् । ८ सीधम् । ९ अनुजम् । 'जघन्यजे स्युः कनिष्ठयवीयोऽवरजानुजाः' इत्यभिधानात् । १० प्रविष्टी । ११ परस्परं जलसेचनं चक्रतुः । १२ प्रवाहाः । १३ उन्नतस्य ।

भरतेशः किलात्रापि न यदाप जयं तदा । बलैर्भुजबलीशस्य भूयोऽप्युद्धांषितो जयः ॥५६॥
 नियुद्धमयं संगीर्य^१ नृसिंहां सिंहविक्रमां । धीरात्राविकृतस्पर्द्धां तौ रत्नमवसरतुः^२ ॥५७॥
^३कलितास्कोटिर्नैश्चित्रैः^४ धरणैर्वन्ध पीलितैः । दौर्दण्डशालिनोरार्याद् बाहुयुद्धं तयामहतम् ॥५८॥
 उवलन्मुकुटभाचक्रो हेलयोद्धमितोऽमुना । लीलामलातचक्रस्य^५ चक्री भजे क्षणं भ्रमन् ॥५९॥
 यवीयान् नृपशार्दूलं ज्यायांस्त्रं^६ जितभारतम् । जित्वाऽपि नानयद् भूमिं प्रभुरिष्यन् गौरवान् ॥६०॥
^७भुजापरोधमुद्धृत्य स सं धत्ते स्म दोर्वली । हिमाद्रिमिव नीलाद्रिर्महाकटकभास्वरम् ॥६१॥
 तदा कलकलश्चक्रे पश्यैर्भुजबली शिवः । नृपैर्भस्तगुह्यैस्तु लज्जया नमिसं शिरः ॥६२॥
 यमक्षर्माभ्रमाणेषु पार्थिवेषुभयेऽपि । परां विमानतां^८ प्राप्य यया चक्री विलक्षताम्^९ ॥६३॥
 यश्चक्रुर्दिरुद्धान्तरुधिरारुणलोचनः । क्षणं दुरीक्षतां भजे चक्री प्रउवलितः क्रुधा ॥६४॥
 क्रोधान्ध्रेन तदा दृष्ये कर्तुमस्य पराजयम् । चक्रमुत्कृत्तनिः^{१०} शेषद्विषधकं निर्धाशिना ॥६५॥
^{११}आध्यानमात्रमेत्याराददः^{१२} कृत्वा प्रदक्षिणाम् । अबध्यस्यास्य^{१३} पर्यन्तं^{१४} तस्यै मन्दार्कनामपम् ॥६६॥

धनुष । इसलिए बाहुबलीके द्वारा छोड़ा हुआ पानी भरतके मुख तथा वक्षःस्थलपर पड़ता था परन्तु भरतके द्वारा छोड़ा हुआ पानी बीचमें ही रह जाता था — बाहुबलीके मुख तक नहीं पहुँच पाता था ॥५५॥ इस प्रकार जब भरतेश्वरने इस जलयुद्धमें भी विजय प्राप्त नहीं की तब बाहुबलीकी सेनाओंने फिरसे अपनी विजयकी घोषणा कर दी ॥५६॥ अथानन्तर सिंहके समान पराक्रमको धारण करनेवाले धीरवीर^१ बाहुबली परस्पर^२ जयार्थ^३ लड़नेलगे^४ वे दोनों बल-शार्दूल — श्रेष्ठ पुरुष बाहुयुद्धकी प्रतिज्ञा कर रंगभूमिमें आ उतरे ॥५७॥ अपनी-अपनी भुजाओंके अहंकारसे सुशोभित उन दोनों भाइयोंका, अनेक प्रकारसे हाथ हिलाने, ताल ठोकने, पैतरा बदलने और भुजाओंके व्यायाम आदिसे बड़ा भारी बाहु युद्ध (मल्ल युद्ध) हुआ ॥५८॥ जिसके मुकुटकी दीप्तिका समूह अतिशय देदीप्यमान हो रहा है ऐसे भरतको बाहुबलीने लीला मात्रमें ही धुमा दिया और उस समय घूमते हुए चक्रवर्तीने क्षण-भरके लिए अलातचक्रकी लीला धारण की थी ॥५९॥ बाहुबलीने राजाओंमें श्रेष्ठ, बड़े तथा भरत क्षेत्रको जीतनेवाले भरत-को जीतकर भी 'ये बड़े हैं' इ सी गौरवसे उन्हें पृथिवीपर नहीं पटका ॥६०॥ किन्तु भुजाओंसे पकड़कर ऊँचा उठाकर कन्धेपर धारण कर लिया । उस समय भरतेश्वरको कन्धेपर धारण करते हुए बाहुबली ऐसे जान पड़ते थे मानो नीलगिरिने बड़े-बड़े शिखरोंसे देदीप्यमान हिमवान् पर्वतको ही धारण कर रखा हो ॥६१॥ उस समय बाहुबलीके पक्षवाले राजाओंने बड़ा कोला-हल मचाया और भरतके पक्षके लोगोंने लज्जासे अपना शिर झुका लिया ॥६२॥ दोनों पक्षके राजाओंके साक्षात् देखते हुए चक्रवर्ती भरतका अत्यन्त अपमान हुआ था इसलिए वे भारी लज्जा और आश्चर्यको प्राप्त हुए ॥६३॥ जिसने माँहें चढ़ा ली हैं, जिसकी रक्तके समान लाल-लाल आँखें इधर-उधर फिर रही हैं और जो क्रोधसे जल रहा है ऐसा वह चक्रवर्ती क्षण-भरके लिए भी दुर्निरीक्ष्य हो गया अर्थात् वह क्रोधसे ऐसा जलने लगा कि उसे कोई क्षण-भर नहीं देख सकता था ॥६४॥ उस समय क्रोधसे अन्धे हुए निधियोंके स्वामी भरतने बाहुबलीकी पराजय करनेके लिए समस्त शत्रुओंके समूहको उखाड़कर फेंकनेवाले चक्ररत्नका स्मरण किया ॥६५॥ स्मरण करते ही वह चक्ररत्न भरतके समीप आया, भरतने बाहुबलीपर चलाया

१ बाहुयुद्धम् । २ प्रतिज्ञां कृत्वा । ३ प्रविष्टादित्यर्थः । ४ बलान्भुजास्फालनैः । वलिता — ५०, ६० ।
 ५ पदाक्षरिभिः । ६ बाहुबन्ध । ७ काष्ठाग्निधमणस्य । ८ अनुजः । ९ ज्यैष्ठम् । १० बाहुपीडनं यथा भवति
 तथा । ११ परिभवम् । १२ विस्मयान्वितम् । १३ उच्छिन्न । — मुक्षित — ल०, द० । १४ स्मृत ।
 १५ एतच्चक्रम् । १६ भुजबलिनः । १७ समीपे ।

कृतं^१ कृतं वतानेन साहसनेनेति धिक्कृतः । तदा महत्तमैश्वर्यं जगामानुशयं^२ परम् ॥६७॥
^३कृतापदान इत्युच्यते करणं तुल्यकृपम् । सांख्यतीर्थासतो^४ धीरोऽनिकृष्टां भूमिमापिपत्^५ ॥६८॥
 सङ्कृतः स जयाशंसमभ्येत्य नृपसत्तमैः । मने सोत्कर्षमात्मानं तदा भुजबली प्रभुः ॥६९॥
 अचिन्तयन्न किञ्चाम कृते राज्यस्य भङ्गिनः^६ । लज्जाकरो विधिर्मात्रा ज्येष्ठेनायमनुष्ठितः^७ ॥७०॥
 विपाककटुसाम्राज्यं क्षणध्वंसि धिशस्त्रिदम् । दुस्तयजं त्यजदप्येतदङ्गिभिर्दुष्कलव्रजम् ॥७१॥
 अहो विषयसौख्यानां वैरुध्यम^८ पकारिता । मङ्गुरत्वमहच्यवत्^९ सक्तैर्नान्विध्यते^{१०} जनैः ॥७२॥
 को नाम मतिमार्गोऽप्येदं विषयान् वेपदारुणान् । येषां वशगतो जन्तुर्यात्यन्तपरम्पराम् ॥७३॥
 वरं विषं यत्रैकस्मिन् भवे हन्ति न हन्ति वा । विषयास्तु पुनर्जन्ति हन्त जन्तूननन्तशः ॥७४॥
 आपातमात्रे^{११} रम्याणां विपाककटुकात्मनाम् । विषयाणां कृते^{१२} नाशो^{१३} धात्यनर्थनिपायकम् ॥७५॥

परन्तु उनके अवध्य होनेसे वह उनकी प्रदक्षिणा देकर तेजरहित हो उन्हींके पास जा ठहरा ।
 भावार्थ — देवोपनीत शस्त्र कुटुम्बके लोगोपर सफल नहीं होते, बाहुबली भरतेश्वरके एकपितृक भाई थे इसलिए भरतका चक्र बाहुबलीपर सफल नहीं हो सका, उसका तेज फीका पड़ गया और वह प्रदक्षिणा देकर बाहुबलीके समीप ही ठहर गया ॥६६॥ उस समय बड़े-बड़े राजाओंने चक्रवर्तीको धिक्कार दिया और दुःखके साथ कहा कि 'बस-बस' 'यह साहस रहने दो' — वन्द करो, यह सुनकर चक्रवर्ती और भी अधिक सन्तापको प्राप्त हुए ॥६७॥ आपने खूब पराक्रम दिखाया, इस प्रकार उच्च स्वरसे कहकर धीर-वीर बाहुबलीने पहले तो भरतराजको हाथोंसे तोला और फिर कन्धेसे उतारकर नीचे जमीनपर रख दिया अथवा (धीरो अनिकृष्टा ऐसा पदच्छेद करनेपर) उच्च स्थानपर विराजमान किया ॥६८॥ अनेक अच्छे-अच्छे राजाओंने समीप आकर महाराज बाहुबलीके विजयकी प्रशंसा करते हुए उनका सत्कार किया और बाहुबलीने भी उस समय अपने आपको उत्कृष्ट अनुभव किया ॥६९॥ साथ ही साथ वे यह भी चिन्तित करने लगे कि देखो, हमारे बड़े भाईने इस नश्वर राज्यके लिए यह कैसा लज्जाजनक कार्य किया है ॥७०॥ यह साम्राज्य फलकालमें बहुत दुःख देनेवाला है, और क्षणभंगुर है इसलिए इसे धिक्कार हो, यह व्यभिचारिणी स्त्रीके समान है क्योंकि जिस प्रकार व्यभिचारिणी स्त्री एक पतिको छोड़कर अन्य पतिके पास चली जाती है उसी प्रकार यह साम्राज्य भी एक पतिको छोड़कर अन्य पतिके पास चला जाता है । यह राज्य प्राणियोंको छोड़ देता है परन्तु अविवेकी प्राणी इसे नहीं छोड़ते यह दुःखकी बात है ॥७१॥ अहा, विषयोंमें आसक्त हुए पुरुष, इन विषयजनित सुखोंका निन्द्यपना, अपकार, क्षणभंगुरता और नीरसपनेको कभी नहीं सोचते हैं ॥७२॥ जिनके वशमें पड़े हुए प्राणी अनेक दुःखोंकी परम्पराको प्राप्त होते हैं ऐसे विषयके समान भयंकर विषयोंको कौन बुद्धिमान् पुरुष प्राप्त करना चाहेगा ? ॥७३॥ विष खा लेना कहीं अच्छा है क्योंकि वह एक ही भयमें प्राणीको मारता है अथवा नहीं भी मारता है परन्तु विषय सेवन करना अच्छा नहीं है क्योंकि ये विषय प्राणियोंको अनन्त बार फिर-फिरसे मारते हैं ॥७४॥ जो प्रारम्भ कालमें तो मनोहर मालूम होते हैं परन्तु फलकाल-

१ अलमलम् । २ पञ्चात्तापम् । ३ कृतपराक्रमस्त्वमिति । कृतोपादान — अ०, ल० । ४ भुजशिखरान् । 'स्कन्धो भुजशिरोऽसोऽश्वो' इत्यभिधानात् । ५ अकस्थाम् । ६ — मापपत् प०, ल० । ७ निमित्तम् । ८ विनश्वरस्य । ९ — सभिहितः प०, ल० । १० परिणमन । ११ कुत्सितत्वम् । १२ विनश्वरत्वम् । १३ आसक्तैः । १४ न मृग्यते । न विचार्यत इत्यर्थः । १५ अनुभवनकाल । १६ निमित्तम् । १७ पुमान् ।

अम्यन्तरसिकानादौ पर्यन्ते प्राणहारिणः ।^१ किंपाकपाकविषमान् विषयान् कः कृती मजेत् ॥७६॥
 शस्त्रप्रहारदीप्ताग्निवज्राशनिमहोरगाः । न तयोद्वेजकाः^२ पुंसां यथाऽमी विषयद्विषः ॥७७॥
 स्रग्भिराश्रितसंगमसाम्राज्यसन्निगिरीन् । भोगार्थिनो भजन्त्यहं धनलाम् धनायया ॥७८॥
 दीर्घदोषातनिर्घातनिर्घोषविषमोक्तैः । यादसां यादसां पत्यौ चरन्ति विषयार्थिनः ॥७९॥
 समापतच्छरद्वातनिरुद्धगगनाङ्गणम् । रणाङ्गणं विशम्यस्तमियो भोगैर्विलोभिताः ॥८०॥
 चरन्ति वनभानुष्या^३ यत्र सन्नासलोचनाः । ताः पर्यटन्त्यरण्यार्तोभोगाशोपहता जडाः ॥८१॥
 सरितां विषमावर्तमोषणा ग्राहसंकुलाः ।^४ तित्तीर्षन्ति वताविष्टा^५ विषमैर्विषयग्रहैः ॥८२॥
 आरोहन्ति दुरारोहाद् गिरीन्पथमियोऽङ्गिनः^६ । रसायनरसज्ञानं^७ बलवान्निमोहिताः ॥८३॥
 अनिष्टश्रितैश्चैवमालिङ्गति बलाजरा । कुर्वती पलितस्तम्बाज् रमसेन कचग्रहम् ॥८४॥
^८ भोगेष्वप्युत्सुकः प्रायो न च वेद^९ हिताहितम् । भुक्त्वा ज्वरसा जन्तोर्मृतस्य च किमन्तरम्^{१०} ॥८५॥
^{११} प्रसङ्ग पातयन् भूमौ गात्रेषु कृतवेपथुः^{१२} । जरापातो^{१३} नृणां कष्टो ज्वरः शीत ह्रवोद्धवन् ॥८६॥

में कड़वे (दुःख देनेवाले) जान पड़ते हैं ऐसे विषयोंके लिए यह अज्ञ प्राणी क्या व्यर्थ ही अनेक दुःखोंको प्राप्त नहीं होता है ? ॥७५॥ जो प्रारम्भ कालमें तो अत्यन्त आनन्द देनेवाले हैं और अन्तमें प्राणोंका अपहरण करते हैं ऐसे किंपाक फल (विषफल) के समान विषम इन विषयोंको कौन बुद्धिमान् पुरुष सेवन करेगा ? ॥७६॥ ये विषयरूपी शत्रु प्राणियोंको जैसा उद्वेग करते हैं वैसा उद्वेग शस्त्रोंका प्रहार, प्रज्वलित अग्नि, वज्र, बिजली और बड़े-बड़े सर्प भी नहीं कर सकते हैं ॥७७॥ भोगोंको इच्छा करनेवाले मूर्ख पुरुष घन पानेकी इच्छासे बड़े-बड़े समुद्र, प्रचण्ड युद्ध, भयंकर वन, नदी और पर्वतोंमें प्रवेश करते हैं ॥७८॥ विषयोंकी चाह रखनेवाले पुरुष जलचर जीवोंकी लम्बी-लम्बी भुजाओंके आघातसे उत्पन्न हुए वज्रपात-जैसे कठोर शब्दोंसे क्षुब्ध हुए समुद्रमें भी जाकर संचार करते हैं ॥७९॥ भोगोंसे लुभाये हुए पुरुष, चारों ओरसे पड़ते हुए बाणोंके समूहसे जहाँ आकाशरूपी आगन भर गया है ऐसे युद्धके मैदानमें भी निर्भय होकर प्रवेश कर जाते हैं ॥८०॥ जिनमें वनचर लोग भी भयसहित नेत्रोंसे संचार करते हैं ऐसे भयंकर बड़े-बड़े वनोंमें भी भोगोंकी आशासे पीड़ित हुए मूर्ख मनुष्य घूमा करते हैं ॥८१॥ कितने दुःखकी बात है कि विषयरूपी विषम ग्रहोंसे जकड़े हुए कितने ही लोग, ऊँची-नीची भँवरोंसे भयंकर और मगरमच्छोंसे भरी हुई नदियोंको भी पार करना चाहते हैं ॥८२॥ रसायन तथा रस आदिके ज्ञानका उपदेश देनेवाले धूर्तोंके द्वारा मोहित होकर उद्योग करनेवाले कितने ही पुरुष कठिनाईसे चढ़ने योग्य पर्वतोंपर भी चढ़ जाते हैं ॥८३॥ यह जरा सफेद-बालोंके बहानेसे देगपूर्वक केशोंको पकड़ती हुई अनिष्ट स्त्रीके समान जबरदस्ती आलिंगन करती है ॥८४॥ जो प्राणी भोगोंमें अत्यन्त उत्कण्ठित हो रहा है वह हित और अहितको नहीं जानता तथा जिसे वृद्धावस्थाने घेर लिया है उसमें और मरे हुएमें क्या अन्नर है ? अर्थात् बेकार होनेमे वृद्ध मनुष्य भी मरे हुएके समान है ॥८५॥ यह बुद्धापा मनुष्यको शीतज्वरके समान अनेक कष्ट देनेवाला है क्योंकि जिस प्रकार शीतज्वर उत्पन्न होते ही जबरदस्ती जमीनपर

१ अम्योरपक्वफल । २ वज्ररूपाशनि । ३ भयंकराः । ४ धनलाभवाञ्छया । ५ अशनि । ६ जलजन्तूनाम् ।
 'यानामि जलजन्तवः' इत्यभिधानात् । यादसां पत्यौ समुद्रे । 'रत्नाकरो जलनिधिर्पादः पतिरपां पतिः'
 इत्यभिधानात् । ७ वनेचराः । ८ भयसहिताः । ९ तरीतुमिच्छन्ति । १० मृत्ता इत्यर्थः । ११-१२-१३-१४-१५-१६-१७-१८-१९-२०-२१-२२-२३-२४-२५-२६-२७-२८-२९-३०-३१-३२-३३-३४-३५-३६-३७-३८-३९-४०-४१-४२-४३-४४-४५-४६-४७-४८-४९-५०-५१-५२-५३-५४-५५-५६-५७-५८-५९-६०-६१-६२-६३-६४-६५-६६-६७-६८-६९-७०-७१-७२-७३-७४-७५-७६-७७-७८-७९-८०-८१-८२-८३-८४-८५-८६-८७-८८-८९-९०-९१-९२-९३-९४-९५-९६-९७-९८-९९-१००-१०१-१०२-१०३-१०४-१०५-१०६-१०७-१०८-१०९-११०-१११-११२-११३-११४-११५-११६-११७-११८-११९-१२०-१२१-१२२-१२३-१२४-१२५-१२६-१२७-१२८-१२९-१३०-१३१-१३२-१३३-१३४-१३५-१३६-१३७-१३८-१३९-१४०-१४१-१४२-१४३-१४४-१४५-१४६-१४७-१४८-१४९-१५०-१५१-१५२-१५३-१५४-१५५-१५६-१५७-१५८-१५९-१६०-१६१-१६२-१६३-१६४-१६५-१६६-१६७-१६८-१६९-१७०-१७१-१७२-१७३-१७४-१७५-१७६-१७७-१७८-१७९-१८०-१८१-१८२-१८३-१८४-१८५-१८६-१८७-१८८-१८९-१९०-१९१-१९२-१९३-१९४-१९५-१९६-१९७-१९८-१९९-२००-२०१-२०२-२०३-२०४-२०५-२०६-२०७-२०८-२०९-२१०-२११-२१२-२१३-२१४-२१५-२१६-२१७-२१८-२१९-२२०-२२१-२२२-२२३-२२४-२२५-२२६-२२७-२२८-२२९-२३०-२३१-२३२-२३३-२३४-२३५-२३६-२३७-२३८-२३९-२४०-२४१-२४२-२४३-२४४-२४५-२४६-२४७-२४८-२४९-२५०-२५१-२५२-२५३-२५४-२५५-२५६-२५७-२५८-२५९-२६०-२६१-२६२-२६३-२६४-२६५-२६६-२६७-२६८-२६९-२७०-२७१-२७२-२७३-२७४-२७५-२७६-२७७-२७८-२७९-२८०-२८१-२८२-२८३-२८४-२८५-२८६-२८७-२८८-२८९-२९०-२९१-२९२-२९३-२९४-२९५-२९६-२९७-२९८-२९९-३००-३०१-३०२-३०३-३०४-३०५-३०६-३०७-३०८-३०९-३१०-३११-३१२-३१३-३१४-३१५-३१६-३१७-३१८-३१९-३२०-३२१-३२२-३२३-३२४-३२५-३२६-३२७-३२८-३२९-३३०-३३१-३३२-३३३-३३४-३३५-३३६-३३७-३३८-३३९-३४०-३४१-३४२-३४३-३४४-३४५-३४६-३४७-३४८-३४९-३५०-३५१-३५२-३५३-३५४-३५५-३५६-३५७-३५८-३५९-३६०-३६१-३६२-३६३-३६४-३६५-३६६-३६७-३६८-३६९-३७०-३७१-३७२-३७३-३७४-३७५-३७६-३७७-३७८-३७९-३८०-३८१-३८२-३८३-३८४-३८५-३८६-३८७-३८८-३८९-३९०-३९१-३९२-३९३-३९४-३९५-३९६-३९७-३९८-३९९-४००-४०१-४०२-४०३-४०४-४०५-४०६-४०७-४०८-४०९-४१०-४११-४१२-४१३-४१४-४१५-४१६-४१७-४१८-४१९-४२०-४२१-४२२-४२३-४२४-४२५-४२६-४२७-४२८-४२९-४३०-४३१-४३२-४३३-४३४-४३५-४३६-४३७-४३८-४३९-४४०-४४१-४४२-४४३-४४४-४४५-४४६-४४७-४४८-४४९-४५०-४५१-४५२-४५३-४५४-४५५-४५६-४५७-४५८-४५९-४६०-४६१-४६२-४६३-४६४-४६५-४६६-४६७-४६८-४६९-४७०-४७१-४७२-४७३-४७४-४७५-४७६-४७७-४७८-४७९-४८०-४८१-४८२-४८३-४८४-४८५-४८६-४८७-४८८-४८९-४९०-४९१-४९२-४९३-४९४-४९५-४९६-४९७-४९८-४९९-५००-५०१-५०२-५०३-५०४-५०५-५०६-५०७-५०८-५०९-५१०-५११-५१२-५१३-५१४-५१५-५१६-५१७-५१८-५१९-५२०-५२१-५२२-५२३-५२४-५२५-५२६-५२७-५२८-५२९-५३०-५३१-५३२-५३३-५३४-५३५-५३६-५३७-५३८-५३९-५४०-५४१-५४२-५४३-५४४-५४५-५४६-५४७-५४८-५४९-५५०-५५१-५५२-५५३-५५४-५५५-५५६-५५७-५५८-५५९-५६०-५६१-५६२-५६३-५६४-५६५-५६६-५६७-५६८-५६९-५७०-५७१-५७२-५७३-५७४-५७५-५७६-५७७-५७८-५७९-५८०-५८१-५८२-५८३-५८४-५८५-५८६-५८७-५८८-५८९-५९०-५९१-५९२-५९३-५९४-५९५-५९६-५९७-५९८-५९९-६००-६०१-६०२-६०३-६०४-६०५-६०६-६०७-६०८-६०९-६१०-६११-६१२-६१३-६१४-६१५-६१६-६१७-६१८-६१९-६२०-६२१-६२२-६२३-६२४-६२५-६२६-६२७-६२८-६२९-६३०-६३१-६३२-६३३-६३४-६३५-६३६-६३७-६३८-६३९-६४०-६४१-६४२-६४३-६४४-६४५-६४६-६४७-६४८-६४९-६५०-६५१-६५२-६५३-६५४-६५५-६५६-६५७-६५८-६५९-६६०-६६१-६६२-६६३-६६४-६६५-६६६-६६७-६६८-६६९-६७०-६७१-६७२-६७३-६७४-६७५-६७६-६७७-६७८-६७९-६८०-६८१-६८२-६८३-६८४-६८५-६८६-६८७-६८८-६८९-६९०-६९१-६९२-६९३-६९४-६९५-६९६-६९७-६९८-६९९-७००-७०१-७०२-७०३-७०४-७०५-७०६-७०७-७०८-७०९-७१०-७११-७१२-७१३-७१४-७१५-७१६-७१७-७१८-७१९-७२०-७२१-७२२-७२३-७२४-७२५-७२६-७२७-७२८-७२९-७३०-७३१-७३२-७३३-७३४-७३५-७३६-७३७-७३८-७३९-७४०-७४१-७४२-७४३-७४४-७४५-७४६-७४७-७४८-७४९-७५०-७५१-७५२-७५३-७५४-७५५-७५६-७५७-७५८-७५९-७६०-७६१-७६२-७६३-७६४-७६५-७६६-७६७-७६८-७६९-७७०-७७१-७७२-७७३-७७४-७७५-७७६-७७७-७७८-७७९-७८०-७८१-७८२-७८३-७८४-७८५-७८६-७८७-७८८-७८९-७९०-७९१-७९२-७९३-७९४-७९५-७९६-७९७-७९८-७९९-८००-८०१-८०२-८०३-८०४-८०५-८०६-८०७-८०८-८०९-८१०-८११-८१२-८१३-८१४-८१५-८१६-८१७-८१८-८१९-८२०-८२१-८२२-८२३-८२४-८२५-८२६-८२७-८२८-८२९-८३०-८३१-८३२-८३३-८३४-८३५-८३६-८३७-८३८-८३९-८४०-८४१-८४२-८४३-८४४-८४५-८४६-८४७-८४८-८४९-८५०-८५१-८५२-८५३-८५४-८५५-८५६-८५७-८५८-८५९-८६०-८६१-८६२-८६३-८६४-८६५-८६६-८६७-८६८-८६९-८७०-८७१-८७२-८७३-८७४-८७५-८७६-८७७-८७८-८७९-८८०-८८१-८८२-८८३-८८४-८८५-८८६-८८७-८८८-८८९-८९०-८९१-८९२-८९३-८९४-८९५-८९६-८९७-८९८-८९९-९००-९०१-९०२-९०३-९०४-९०५-९०६-९०७-९०८-९०९-९१०-९११-९१२-९१३-९१४-९१५-९१६-९१७-९१८-९१९-९२०-९२१-९२२-९२३-९२४-९२५-९२६-९२७-९२८-९२९-९३०-९३१-९३२-९३३-९३४-९३५-९३६-९३७-९३८-९३९-९४०-९४१-९४२-९४३-९४४-९४५-९४६-९४७-९४८-९४९-९५०-९५१-९५२-९५३-९५४-९५५-९५६-९५७-९५८-९५९-९६०-९६१-९६२-९६३-९६४-९६५-९६६-९६७-९६८-९६९-९७०-९७१-९७२-९७३-९७४-९७५-९७६-९७७-९७८-९७९-९८०-९८१-९८२-९८३-९८४-९८५-९८६-९८७-९८८-९८९-९९०-९९१-९९२-९९३-९९४-९९५-९९६-९९७-९९८-९९९-१०००-१००१-१००२-१००३-१००४-१००५-१००६-१००७-१००८-१००९-१०१०-१०११-१०१२-१०१३-१०१४-१०१५-१०१६-१०१७-१०१८-१०१९-१०२०-१०२१-१०२२-१०२३-१०२४-१०२५-१०२६-१०२७-१०२८-१०२९-१०३०-१०३१-१०३२-१०३३-१०३४-१०३५-१०३६-१०३७-१०३८-१०३९-१०४०-१०४१-१०४२-१०४३-१०४४-१०४५-१०४६-१०४७-१०४८-१०४९-१०५०-१०५१-१०५२-१०५३-१०५४-१०५५-१०५६-१०५७-१०५८-१०५९-१०६०-१०६१-१०६२-१०६३-१०६४-१०६५-१०६६-१०६७-१०६८-१०६९-१०७०-१०७१-१०७२-१०७३-१०७४-१०७५-१०७६-१०७७-१०७८-१०७९-१०८०-१०८१-१०८२-१०८३-१०८४-१०८५-१०८६-१०८७-१०८८-१०८९-१०९०-१०९१-१०९२-१०९३-१०९४-१०९५-१०९६-१०९७-१०९८-१०९९-११००-११०१-११०२-११०३-११०४-११०५-११०६-११०७-११०८-११०९-१११०-११११-१११२-१११३-१११४-१११५-१११६-१११७-१११८-१११९-११२०-११२१-११२२-११२३-११२४-११२५-११२६-११२७-११२८-११२९-११३०-११३१-११३२-११३३-११३४-११३५-११३६-११३७-११३८-११३९-११४०-११४१-११४२-११४३-११४४-११४५-११४६-११४७-११४८-११४९-११५०-११५१-११५२-११५३-११५४-११५५-११५६-११५७-११५८-११५९-११६०-११६१-११६२-११६३-११६४-११६५-११६६-११६७-११६८-११६९-११७०-११७१-११७२-११७३-११७४-११७५-११७६-११७७-११७८-११७९-११८०-११८१-११८२-११८३-११८४-११८५-११८६-११८७-११८८-११८९-११९०-११९१-११९२-११९३-११९४-११९५-११९६-११९७-११९८-११९९-१२००-१२०१-१२०२-१२०३-१२०४-१२०५-१२०६-१२०७-१२०८-१२०९-१२१०-१२११-१२१२-१२१३-१२१४-१२१५-१२१६-१२१७-१२१८-१२१९-१२२०-१२२१-१२२२-१२२३-१२२४-१२२५-१२२६-१२२७-१२२८-१२२९-१२३०-१२३१-१२३२-१२३३-१२३४-१२३५-१२३६-१२३७-१२३८-१२३९-१२४०-१२४१-१२४२-१२४३-१२४४-१२४५-१२४६-१२४७-१२४८-१२४९-१२५०-१२५१-१२५२-१२५३-१२५४-१२५५-१२५६-१२५७-१२५८-१२५९-१२६०-१२६१-१२६२-१२६३-१२६४-१२६५-१२६६-१२६७-१२६८-१२६९-१२७०-१२७१-१२७२-१२७३-१२७४-१२७५-१२७६-१२७७-१२७८-१२७९-१२८०-१२८१-१२८२-१२८३-१२८४-१२८५-१२८६-१२८७-१२८८-१२८९-१२९०-१२९१-१२९२-१२९३-१२९४-१२९५-१२९६-१२९७-१२९८-१२९९-१३००-१३०१-१३०२-१३०३-१३०४-१३०५-१३०६-१३०७-१३०८-१३०९-१३१०-१३११-१३१२-१३१३-१३१४-१३१५-१३१६-१३१७-१३१८-१३१९-१३२०-१३२१-१३२२-१३२३-१३२४-१३२५-१३२६-१३२७-१३२८-१३२९-१३३०-१३३१-१३३२-१३३३-१३३४-१३३५-१३३६-१३३७-१३३८-१३३९-१३४०-१३४१-१३४२-१३४३-१३४४-१३४५-१३४६-१३४७-१३४८-१३४९-१३५०-१३५१-१३५२-१३५३-१३५४-१३५५-१३५६-१३५७-१३५८-१३५९-१३६०-१३६१-१३६२-१३६३-१३६४-१३६५-१३६६-१३६७-१३६८-१३६९-१३७०-१३७१-१३७२-१३७३-१३७४-१३७५-१३७६-१३७७-१३७८-१३७९-१३८०-१३८१-१३८२-१३८३-१३८४-१३८५-१३८६-१३८७-१३८८-१३८९-१३९०-१३९१-१३९२-१३९३-१३९४-१३९५-१३९६-१३९७-१३९८-१३९९-१४००-१४०

अङ्गनाद^१ मतिश्रेय^२ वाचामस्फुटतामपि । जरा सुरा च निर्विष्टा^३ घटवस्याशु देहिनाम् ॥८७॥
 कालव्यालमजेनेदमायुरालानकं बलान् । चालयते यद्वलाधानं जीवितालम्बनं नृणाम् ॥८८॥
 शरीरयलमेतच्च गजकर्णवदस्थिरम् । रोगा^४ खूपहतं खेदं^५ जरदेहकुटीरकम् ॥८९॥
 इत्यश्वाश्वतमप्येतद् राज्यादि भरतेश्वरः । शाश्वतं मन्यते कष्टं मोहोपहतचेतनः ॥९०॥
 चिरमाकलयन्नेवमग्रजस्यानुदात्तताम्^६ । व्याजहरैनमुद्दिश्य गिरः प्रपुरुषाभराः ॥९१॥
 शृणु भो नृपभार्तुल क्षणं^७ बैलक्ष्यमुत्तमज । सुखतेदं^८ त्वयाऽलम्बि दुरीहमतिसाहसम् ॥९२॥
 अभ्ये मम वैहाद्रीं त्वया चक्रं नियोजितम् । विद्व-गर्किष्चिकरं^९ बाष्पे शैले वज्रमिवापतत् ॥९३॥
 अन्यत्र भ्रातृमाण्डामि मङ्गल्यं राज्यं यदीप्सितम् । त्वया धर्मो यशश्चैव^{१०} तेन^{११} पेशलमर्जितम् ॥९४॥
 चक्रमुत्तरतः स्रष्टुः सूनुराधस्य योऽग्रणीः । कुलस्योद्धारकः सोऽभूद्विती^{१२} षाऽस्थायि च त्वया ॥९५॥
 जितां च भवतैवाथ^{१३} यत्पापोपहतामिमाम् । मन्वसेऽनन्यभोगीनां^{१४} नृपश्रियमनधरीम् ॥९६॥
 प्रेयसीयं तवैवास्तु राज्यश्रीर्या त्वयाऽहता । नोचितैषा ममायुष्मन् बन्धो^{१५} न हि सतां मुदे ॥९७॥

पटक देता है उसी प्रकार बुढ़ापा भी जबरदस्ती जमीनपर पटक देता है और जिस प्रकार शीतज्वर शरीरमें कम्पन पैदा कर देता है उसी प्रकार बुढ़ापा भी शरीरमें कम्पन पैदा कर देता है ॥८६॥ शरीरमें प्रविष्ट हुई तथा उपभोगमें आयी हुई जरा और मदिरा दोनों ही लोगोंके शरीरको विचित्रावस्था देती हैं, लक्ष्मी बुद्धि भ्रष्ट कर देती है और वचनोंमें अस्पष्टता ला देती है ॥८७॥ जिसके बलका सहारा मनुष्योंके जीवनका आलम्बन है ऐसा यह आयुरूपी खम्भा कालरूपी दुष्ट हाथीके द्वारा जबरदस्ती उखाड़ दिया जाता है ॥८८॥ यह शरीरका बल हाथीके कानके समान चंचल है और यह जीर्ण-शीर्ण शरीररूपी झोंपड़ा रोगरूपी चूहोंके द्वारा नष्ट किया हुआ है ॥८९॥ इस प्रकार यह राज्यादि सब विनश्वर हैं फिर भी मोहके उदयसे जिसकी चेतना नष्ट हो गयी है ऐसा भरत इन्हें नित्य मानता है यह कितने दुःखकी बात है ? ॥९०॥ इस प्रकार बड़े भाईकी नीचताका चिरकाल तक विचार करते हुए बाहुबलीने भरतको उद्देश्य कर नीचे लिखे अनुसार कठोर अक्षरोंवाली बाणी कही ॥९१॥ हे राजाओंमें श्रेष्ठ, क्षण-भरके लिए अपनी लज्जा या झेंप छोड़, मैं कहता हूँ सो सुन । तूने मोहित होकर ही इस न करने योग्य बड़े भारी साहसका सहारा लिया है ॥९२॥ जो कभी भिद नहीं सकता । ऐसे मेरे शरीररूपी पर्वतपर तूने चक्र चलाया है सो तेरा यह चक्र वज्रके बने हुए पर्वतपर पड़ते हुए वज्रके समान व्यर्थ है ऐसा निश्चयसे समझ ॥९३॥ दूसरी बात यह है कि जो तूने भाईरूप वरतनोंको तोड़कर राज्य प्राप्त करना चाहा है सो उससे तूने बहुत ही अच्छा धर्म और यशका उपार्जन किया है ॥९४॥ तूने अपनी यह स्तुति भी स्थापित कर दी कि चक्रवर्ती भरत आदिब्रह्मा भगवान् वृषभदेवका ज्येष्ठ पुत्र था तथा वह अपने कुलका उद्धारक हुआ था ॥९५॥ हे भरत, आज तूने जिसे जीता है और जो पापसे भरी हुई है ऐसी इस राज्य-लक्ष्मीको तू एक अपने ही द्वारा उपभोग करने योग्य तथा अविनाशी समझता है ॥९६॥ जिसका तूने आदर किया है ऐसी यह राज्यलक्ष्मी अब तुझे ही प्रिय रहे, हे आयुष्मन्, अब यह मेरे योग्य नहीं है क्योंकि बन्धन सज्जन पुरुषोंके आनन्दके लिए नहीं होता है । भावार्थ - यह लक्ष्मी स्वयं एक प्रकारका बन्धन है अथवा कर्म बन्धका कारण है इसलिए सज्जन पुरुष इसे

१ श्रमम् । २ श्रेयम् । ३ अनुभूता । ४ मूषिक । ५ जीर्ण । ६ निष्कृष्टताम् । ७ विस्मयान्वितत्वम् । ८ मुह्यतीति मुह्यन् तेन । ९ न किञ्चित्कृत । किमपि कर्तुमसमर्थ इत्यर्थः । १० राज्याभिलाषेण । ११ प्रशस्तम् । १२ स्तुति । १३ यस्मात् कारणात् । १४ अनन्यभोगादिताम् । १५ बन्धकारणपरिग्रहः ।

कृत्वा कः कौनो फलिनीमपि ते श्रियम् । करेणापि स्पृशेद् धीमान् लतां कण्टकिनीं च कः ॥९८॥
 विषकण्टकजालीष रथाज्यैषा सर्वथाऽपि नः । निष्कण्टकां तपोलक्ष्मीं स्वाधीनां कर्तुमिच्छताम् ॥९९॥
 मृष्यतां^१ च तदस्मानिः कृतमागो^२ यदीदृशम् । प्रच्युतो विनयात् सोऽहं स्वं चापलमदीदृशम्^३ ॥१००॥
 इत्युच्चरद् गिरामोक्षो^४ मुखाद् बाहुबलीशितुः । ध्वनिरुद्गादिवाऽऽतप्तं^५ जिष्णोराह्लादयन्मनः ॥१०१॥
 हा वुष्टं^६ कृतमित्युच्चैरात्मानं स विगर्हयन् । भन्वथातप्त पापेन कर्मणा स्वेन चक्राद् ॥१०२॥
 प्रच्युक्तानुनयं भूयो मनुमन्त्र्य स धीरयन् । न्यस्ततप्त स्वसंकल्पाद्^७ हो स्थैर्यं मनस्विनाम् ॥१०३॥
 महाबलिनि निक्षिप्राज्मर्दिः स स्वमन्त्रजे । दीक्षासुपादधे जैनीं गुरोराराधयन् पदम् ॥१०४॥
 दीक्षाबल्ल्या परिष्वक्तं स्यक्ताशेषपरिच्छदः । स रेजे सलतः^८ पद्ममोक्षधाम^९ इव युमः ॥१०५॥
 गुरोरनुमतेऽधीती^{१०} दधवेकविहारिताम् । प्रतिमायोगभाषधे^{११} मातस्थे किल संकृतः^{१२} ॥१०६॥
 स^{१३} संसितप्रतोऽनाथान्^{१४} वनबल्लीतलाम्बिकः । वल्मीकरन्ध्रनिःसर्पेन सर्पैरासीद् भयानकः^{१५} ॥१०७॥
^{१६} शसदाविर्मवज्जोग^{१७} भुजङ्गशिङ्गुजृम्भितैः । विषाङ्गुरैरिवोपाकृष्टि^{१८} स रेजे वेष्टितोऽभितः^{१९} ॥१०८॥

कभी नहीं चाहते ॥९७॥ यद्यपि यह तेरी लक्ष्मी फलवती है तथापि अनेक प्रकारके कांटोंसे —
 विपत्तियोंसे दूषित है । भला, ऐसा कौन बुद्धिमान् होगा जो कटिकाली लताको हाथसे
 छुयेगा भी ॥९८॥ अब हम कण्टकरहित तपस्वी लक्ष्मीको अपने अधीन करना चाहते हैं
 इसलिए यह राज्यलक्ष्मी हम लोभके^१ विषके^२ कांटोंकी^३ दुष्टताके^४ कारण^५ सर्वथा^६ व्याज्य
 है ॥९९॥ अतएव जो मैंने यह ऐसा अपराध किया है उसे क्षमा कर दीजिए । मैं विनयसे
 च्युत हो गया था अर्थात् मैंने आपकी विनय नहीं की सो इसे मैं अपनी चंचलता ही समझता
 हूँ ॥१००॥ जिस प्रकार मेघसे निकलती हुई गर्जना सन्तप्त मनुष्योंको आनन्दित कर देती
 है उसी प्रकार महाराज बाहुबलीके मुखसे निकलते हुए वाणीके समूहने चक्रवर्ती भरतके सन्तप्त
 मनको कुछ-कुछ आनन्दित कर दिया था ॥१०१॥ 'हा मैंने बहुत ही दुष्टताका कार्य किया है'
 इस प्रकार जोर-जोरसे अपनी निन्दा करता हुआ चक्रवर्ती अपने पाप कर्मसे बहुत ही सन्तप्त
 हुआ ॥१०२॥ जिसमें अनेक प्रकारके अनुनय-विनयका प्रयोग किया गया है इस रीतिसे
 अन्तिम कुलकर महाराज भरतको बार-बार प्रसन्न करता हुआ बाहुबली अपने संकल्पसे पीछे
 नहीं हटा सो ठीक ही है क्योंकि तेजस्वी पुरुषोंकी स्थिरता भी आश्चर्यजनक होती है ॥१०३॥
 उसने अपने पुत्र महाबलीको राज्यलक्ष्मी सौंप दी और स्वयं गुरुदेवके चरणोंकी आराधना करते
 हुए जैनी दीक्षा धारण कर ली ॥१०४॥ जिसने समस्त परिग्रह छोड़ दिया है तथा जो दीक्षा
 रूपी लतासे आलिङ्गित हो रहा है ऐसा वह बाहुबली उस समय ऐसा जान पड़ता था मानो
 पत्तोंके गिर जानेसे कृश लतायुक्त कोई वृक्ष ही हो ॥१०५॥ गुरुकी आज्ञामें रहकर शास्त्रोंका
 अध्ययन करनेमें कुशल तथा एक विहारीपन धारण करनेवाले जितेन्द्रिय बाहुबलीने एक
 वर्ष तक प्रतिमा योग धारण किया अर्थात् एक ही जगह एक ही आसनसे खड़े रहनेका नियम
 लिया ॥१०६॥ जिन्होंने प्रशंसनीय व्रत धारण किये हैं, जो कभी भोजन नहीं करते, और
 जिनके समीपका प्रदेश वनकी लताओंसे व्याप्त हो रहा है ऐसे वे बाहुबली वामीके छिद्रोंसे
 निकलते हुए सर्पोंसे बहुत ही भयानक हो रहे थे ॥१०७॥ जिनके फणा प्रकट हो रहे हैं ऐसे
 फुँकारते हुए सर्पोंके बन्धोंकी उछल-कूदसे चारों ओरसे घिरे हुए वे बाहुबली ऐसे सुशोभित

१ क्षम्यताम् । २ अपराधः । ३ भ्रूशमपश्यम् । ४ प्रवाहः । ५ भरतस्य । ६ दुष्टं ट० । निन्दा । 'निन्दायां
 दुष्टं सुष्टं प्रशंसने ।' इत्यभिधानात् । ७ निजदैरात्यादित्यर्थः । ८ आलिङ्गितः । ९ लतया सहितः ।
 १० पर्णमोक्षनकुक्षः । ११ अधीतवान् । १२ वषट्पि । १३ निमृत्तः । १४ स्तुत । १५ उपवासी ।
 १६ मयंकर्तुः । १७ उच्छ्वसत् । १८ फणः । १९ अङ्घ्रिसमीपे ।

दधानः स्कन्धपर्यन्तलम्बिनीः केशवहरीः । सोऽन्वगावृत्कृष्णाहिमण्डलं हरिचन्दनम् ॥१०६॥
 माधवीलतया गावमुपगृहः प्रकुलया । शाग्याबाहुभिरावेष्टय सर्पान्येव महासया ॥११०॥
 विद्याधरी करालान् पल्लवा सा किलाशुषत् । पादयोः कामिनावास्थ^१यामि नम्राऽनुनेयता^२ ॥१११॥
 रेजे स तदवस्थोऽपि तपो बृधरमाचरन् । कामीव मुक्तिकामिन्यां स्पृहयालुः कृशीमवन् ॥११२॥
 तपस्तनूनात्ताप^३संतसस्यास्य केवलम् । शरीरमशुपक्रोर्ध्वशोष^४कर्माप्यशमन्दम् ॥११३॥
 तीक्ष्णं तपस्यतोऽप्यस्य नासीत् काश्चिदुपलवः । अचिन्त्यं महतां धैर्यं धनायान्ति^५न विक्रियाम् ॥११४॥
 सूर्ययुक्तः^६अमाभारं प्रशान्तः शीतलं जलम् । निःसंशयं ध्वनं दीप्तः^७स लिगाय हुताशनम् ॥११५॥
 क्षुधं पिपासा शीतोष्णं सदशमशकद्वयम् । मार्गाच्यवनमंसिद्वयै^८इन्द्रानि सहते स्म सः ॥११६॥
 स नारन्यं^९परमं विश्रब्धभेदीन्द्रियभूतकैः । ब्रह्मचर्यस्य^{१०}सा^{११}गुप्तिर्नाग्न्यं नाम परं तपः ॥११७॥
 रतिं चारतिमप्येष द्वितयं स्म तितिक्षते^{१२} । न तत्परतिबाधा हि विषयानभिषङ्गिणः^{१३} ॥११८॥

हो रहे थे मानो उनके चरणोंके समीप विषके अंकुरे ही लग रहे हों ॥१०८॥ कन्धों पर्यन्त लटकती हुई केशरूपी लताओंको धारण करनेवाले वे बाहुबली मुनिराज अनेक काले सर्पोंके समूहको धारण करनेवाले हरिचन्दन वृक्षका अनुकरण कर रहे थे ॥१०९॥ फूली हुई वासन्ती-लता अपनी शाखारूपी भुजाओंके द्वारा उनका गाढ़ आलिगन कर रही थी और उससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो हार लिये हुए कोई सखी ही अपनी भुजाओंसे उनका आलिगन कर रही हो ॥११०॥ जिसके कोमल पत्ते विद्याधरियोंने अपने हाथसे तोड़ लिये हैं ऐसी वह वासन्ती लता उनके चरणोंपर पड़कर सूख गयी थी और ऐसी मालूम होती थी मानो कुछ नम्र होकर अनुनय करती हुई कोई स्त्री ही पैरोंपर पड़ी हो ॥१११॥ ऐसी अवस्था होनेपर भी वे कठिन तपश्चरण करते थे जिससे उनका शरीर कृश हो गया था और उससे ऐसे जान पड़ते थे मानो मुक्तिरूपी स्त्रीकी इच्छा करता हुआ कोई कामी ही हो ॥११२॥ तपरूपी अग्निके सन्तापसे सन्तप्त हुए बाहुबलीका केवल शरीर ही खड़े-खड़े नहीं सूख गया था किन्तु दुःख देनेवाले कर्म भी सूख गये थे अर्थात् नष्ट हो गये थे ॥११३॥ तीव्र तपस्या करते हुए बाहुबलीके कभी कोई उपद्रव नहीं हुआ था सो ठीक ही है क्योंकि बड़े पुरुषोंका धैर्य अचिन्त्य होता है जिससे कि वे कभी विकारको प्राप्त नहीं होते ॥११४॥ वे सब बाधाओंको सहन कर लेते थे, अत्यन्त शान्त थे, परिग्रह रहित थे और अतिशय देदीप्यमान थे इसलिए उन्होंने अपने गुणोंसे पृथ्वी, जल, वायु, और अग्निको जीत लिया था ॥११५॥ वे मार्गसे च्युत न होनेके लिए भूख, प्यास, शीत, गरमी, तथा डांस, मच्छर आदि परीषहोंके दुःख सहन करते थे ॥११६॥ उत्कृष्ट नारन्य व्रतको धारण करते हुए बाहुबली इन्द्रियरूपी धूर्तोंके द्वारा नहीं भेदन किये जा सके थे । ब्रह्मचर्यकी उत्कृष्ट रूपसे रक्षा करना ही नारन्य व्रत है और यही उत्तम तप है । भावार्थ — वे यद्यपि नग्न रहते थे तथापि इन्द्रियरूप धूर्त उन्हें विवृत नहीं कर सके थे ॥११७॥ वे रति और अरति इन दोनों परिषहोंको भी सहन करते थे अर्थात् रागके कारण उपस्थित होनेपर किसीसे राग नहीं करते थे और द्वेषके कारण उपस्थित होनेपर किसीसे द्वेष नहीं करते थे सो ठीक ही है क्योंकि विषयों-

१ भुजशिखर । २ अनुकरोति स्म । ३ आलिङ्गितः । ४ सकृदा । ५ सहारया अ०, स०, इ०, ल० । ६ छेदित । ७ ईषद् । ८ अनुनयं कुर्वती । ९ अग्नि । १० 'उद्धर्वात् पुः शुभः' इति णम्प्रत्ययान्तः । ऊर्ध्वभूतं शरीर-मित्यर्थः । ११ धैर्येण । १२ सकलपरीषहोपसर्गं सहमानः । १३ भूभारमित्यर्थः । १४ तपोविशेषेण दीप्तः । १५ परीषहान् । १६ नग्नत्वम् । १७ प्रसिद्धा । १८ रक्षा । १९ सहते स्म । २० विषयवाञ्छारहितस्य ।

नास्यासीत् स्त्रीकृता बाधा भोगनिर्वेदमायुषः^१ । शरीरमद्युचि खेजं^२ पश्यतश्चर्मपुत्रिकाम् ॥११९॥
 स्थितश्चर्या निषद्यां च शय्यां चासौ हेलया । मनसाऽनभि^३संभित्सकुपा^४ नष्टवनासनम् ॥१२०॥
 स सेहे वधमाक्रोशं परमार्थविदां वरः । शरीरके स्वयं त्याज्ये निःस्पृहोऽनभिनन्दधुः^५ ॥१२१॥
 'वाचिन्नियेण नास्येष्टा विद्वाणेन^६ तनुस्थितिः । तेन^७ वाचंयमो^८ भूत्वा याज्ञानाधामसोऽहं सः ॥१२२॥
 जहं मलं तृणस्पर्शं सोऽसौ शो^९ बोधमक्षमः । व्युत्पद्यतनुसंस्कारो निर्विशेषसुखासुखः^{१०} ॥१२३॥
 रोगस्यायतनं^{११} वेदमाध्यायन्^{१२} धीरधीरसौ । विविधातद्वजां बाधां सहते स्म सुतुःमहाम् ॥१२४॥
 प्रज्ञापरिषहं प्राप्नो ज्ञानजं गर्वमुत्सृजन् । आसर्वज्ञं^{१३} तदुत्कर्षात् स ससाह^{१४} ससाहसः ॥१२५॥
 स सत्कारपुरस्कारे नासीज्जातु समुत्सुकः । पुरस्कृतो मुदं नागात् सत्कृतो न स्म तुष्यति ॥१२६॥
 परीषहमलामं च संतुष्टो जयति स्म सः । अज्ञानादर्शनोऽज्ञाता बाधासीत्तास्य योगिनः ॥१२७॥

की इच्छा न रखनेवाले पुरुषको रति तथा अरतिकी बाधा नहीं होती ॥११८॥ भोगोंसे विरक्त हुए तथा स्त्रियोंके अपवित्र शरीरको चमड़ेकी पुतलीके समान देखते हुए उन बाहुबली महाराजको स्त्रियोंके द्वारा की हुई कोई बाधा नहीं हुई थी अर्थात् वे अच्छी तरह स्त्रीपरिषह सहन करते थे ॥११९॥ वे हमेशा खड़े रहते थे और जूता तथा शयन आदिकी मनसे भी इच्छा नहीं करते थे इसलिए उन्होंने चर्या, निषद्या और शय्या परिषहको लीला मात्रमें ही जीत लिया था ॥१२०॥ जो स्वयं नष्ट हो जानेवाले शरीरमें निःस्पृह रहते हैं और न उसमें कोई आनन्द ही मानते हैं ऐसे परमार्थके जाननेवालोंमें श्रेष्ठ बाहुबली महाराज वध और आक्रोश परिषहको भी सहन करते थे ॥१२१॥ याचनासे प्राप्त हुए भोजनके द्वारा शरीरकी स्थिति रखना उन्हें इष्ट नहीं था इसलिए वे मौन रहकर याचना परिषहकी बाधाको सहन करते थे ॥१२२॥ जिन्होंने उत्तम क्षमा धारण की है, शरीरका संस्कार छोड़ दिया है और जिन्हें सुख तथा दुःख दोनों ही समान हैं ऐसे उन मुनिराजने स्वेद मल तथा तृण स्पर्श परिषहको भी सहन किया था ॥१२३॥ 'यह शरीर रोगोंका घर है' इस प्रकार चिन्तन करते ही वे धीर-वीर बुद्धिके धारक बाहुबली बड़ी कठिणतासे सहन करनेके योग्य रोगोंसे उत्पन्न हुई बाधाको भी सहन करते थे ॥१२४॥ ज्ञानका उत्कर्ष सर्वज्ञ होने तक है अर्थात् जबतक सर्वज्ञ न हो जावे तबतक ज्ञान घटता बढ़ता रहता है इसलिए ज्ञानसे उत्पन्न हुए अहंकारका त्याग करते हुए अतिशय बुद्धिमान् और साहसी वे मुनिराज प्रज्ञा परिषहको सहन करते थे । भावार्थ — केवलज्ञान होनेके पहले सभीका ज्ञान अपूर्ण रहता है ऐसा विचार कर वे कभी ज्ञानका गर्व नहीं करते थे ॥१२५॥ वे अपने सत्कार पुरस्कारमें कभी उत्कण्ठित नहीं होते थे । यदि किसीने उन्हें अपने कार्यमें अगुआ बनाया तो वे हर्षित नहीं होते थे और किसीने उनका सत्कार किया तो संतुष्ट नहीं होते थे । भावार्थ — अपने कार्यमें किसीको अगुआ बनाना पुरस्कार कहलाता है तथा स्वयं आये हुएका सम्मान करना सत्कार कहलाता है । वे मुनिराज सत्कार पुरस्कार दोनोंमें ही निरुत्सुक रहते थे — उन्होंने सत्कार पुरस्कार परिषह अच्छी तरह सहन किया था ॥१२६॥ सदा संतुष्ट रहनेवाले बाहुबलीजीने अलाभ परिषहको जीता था तथा अज्ञान और अदर्शनसे उत्पन्न होनेवाली बाधाएँ भी उन मुनिराजको नहीं हुई थीं ॥१२७॥

१ निर्वेदं गतस्य । — मीयुषः ५०, ६०, ६० । २ स्त्रीसंबन्धि । ३ अभिसंधानमकुर्वन् । ४ पादत्राणः । 'पाद-
 रूपान् स्त्री' इत्यभिधानात् । ५ आनन्दरहितः । ६ वाचनया निवृत्तेन । ७ भोजनेन । ८ तेन कारणेन ।
 ९ मौनी भूत्वा । १० घृतः । ११ समानमुत्सुकः । १२ गुहम् । १३ स्मरन् । १४ ज्ञानोत्कर्षात् । उपर्युपरि
 केवलज्ञानादित्यर्थः । १५ सहते स्म ।

परीषहजयादस्य विपुला निर्जराऽभवत् । कर्मणां निर्जरापायः परीषहजयः परः ॥१२८॥
 क्रोधं तितिक्षया^१ मायासक्त्या^२ लोभं सन्तोषेण जिगाय सः ॥१२९॥
^३पक्षेन्द्रियाण्यनायासात् सोऽजयजितमन्मथः । विषयेभ्यश्च दीप्तस्य कामाग्नेः शमनं तपः ॥१३०॥
 आहारमयसंज्ञे च समैधुनपरिग्रहे । अनङ्गविजयादेतः संज्ञः क्षपयति स्म सः ॥१३१॥
 इत्यन्तरङ्गशत्रूणां स भजन् प्रसरं मुहुः । जयति स्माऽऽत्मनाऽऽस्मानमात्मविद् विदिताखिलः^४ ॥१३२॥
 व्रतं च समितीः सर्वाः सम्यगिन्द्रियरोधनम् । अचेलतां च केशानां प्रतिस्तुब्धनसंरा^५ रम् ॥१३३॥
 अत्ययकेष्वसंवाधमस्नानं अतिशायिताम् । अन्तर्धानं स्थिरा भुक्तिं मक्तं च नासकृत्^६ ॥१३४॥
 प्राहुर्मूलगुणानेतान् तथोत्तरगुणाः परे । तेषां माराधने यत् सोऽश्ननिष्ठातनुमुनिः^७ ॥१३५॥
^८एतेष्वहोपयन्^९ कांचिद् व्रतशुद्धिं परां श्रितः । सोऽदीपि किरणैर्मास्त्रानिच दीप्तैस्तपोऽश्रुभिः ॥१३६॥
 गौरवैश्चिभिरुन्मुक्तः परां निःशङ्कतां गतः ।^{१०}धर्मैर्दशमिराखडाब्धौऽभून्मुक्तिजन्मनि ॥१३७॥
 गुप्तिश्चमयी^{११} गुप्तिं श्रितो ज्ञानासिमासुरः । संवर्तितः^{१२} समितिभिः स भेदे विजिगीषुताम् ॥१३८॥

इस प्रकार परिषहोंके जीतनेसे उनके बहुत बड़ी कर्मोंकी निर्जरा हो गयी थी सो ठीक ही है क्योंकि परिषहोंको जीतना ही कर्मोंकी निर्जरा करनेका श्रेष्ठ उपाय है ॥१२८॥ उन्होंने क्रमासे क्रोधको, अहंकारके त्यागसे मानको, सरलतासे मायाको और सन्तोषसे लोभको जीता था ॥१२९॥ कामदेवको जीतनेवाले उन मुनिराजने पाँच इन्द्रियोंको अनायास ही जीत लिया था सो ठीक ही है क्योंकि विषयरूपी ईश्वरसे जलती हुई कामरूपी अग्निको शमन करनेवाला तपश्चरण ही है । भावार्थ—इन्द्रियोंको दश करना तप है और यह तभी हो सकता है जब कामरूपी अग्निको जीत लिया जावे ॥१३०॥ उन्होंने कामको जीत लेनेसे आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन संज्ञाओंको नष्ट किया था ॥१३१॥ इस प्रकार अन्तरंग शत्रुओंके प्रसारको बार-बार नष्ट करते हुए उन आत्मज्ञानी तथा समस्त पदार्थोंको जाननेवाले मुनिराजने अपने आत्माके द्वारा ही अपने आत्माको जीत लिया था ॥१३२॥ पाँच महाव्रत, पाँच समितियाँ, पाँच इन्द्रियदमन, वस्त्र परित्याग, केशोंका लोच करना, छह आवश्यकोंमें कभी बाधा नहीं होना, स्नान नहीं करना, पृथिवीपर सोना, दाँतोंन नहीं करना, खड़े होकर भोजन करना और दिन-म एक बार आहार लेना, इन्हें अट्ठाईस मूलगुण कहते हैं । इनके सिवाय बीस लाख उत्तर गुण भी हैं, वे महामुनि उन सबके पालन करनेमें प्रयत्न करते थे ॥१३३-१३५॥ इनमें कुछ भी नहीं छोड़ते हुए अर्थात् सबका पूर्ण रीतिसे पालन करते हुए वे मुनिराज व्रतोंकी उत्कृष्ट विषुद्धिको प्राप्त हुए थे तथा जिस प्रकार देदीप्यमान किरणोंसे सूर्य प्रकाशमान होता है उसी प्रकार वे भी तपकी देदीप्यमान किरणोंसे प्रकाशमान हो रहे थे ॥१३६॥ वे रसगौरव, शब्द गौरव, और ऋद्धिगौरव इन तीनोंसे सहित थे, अत्यन्त निःशाल्य थे और दशधर्मोंके द्वारा उन्हें मोक्षमार्गमें अत्यन्त दृढ़ता प्राप्त हो गयी थी ॥१३७॥ वे मुनिराज किसी विजिगीषु अर्थात् शत्रुओंको जीतनेकी इच्छा करनेवाले राजाके सम्मान जान पड़ते थे क्योंकि जिस प्रकार विजिगीषु राजा किसी दुर्ग आदि सुरक्षित स्थानका आश्रय लेता है, तलवारसे देदीप्यमान होता है और कवच पहने रहता है उसी प्रकार उन मुनिराजने भी तीन गुप्तिरूपी दुर्गोंका आश्रय ले रखा था, वे भी ज्ञानरूपी तलवारसे देदीप्यमान हो रहे थे और पाँच समितिरूप कवच पहन रखा था । भावार्थ — यथार्थमें वे कर्मरूप शत्रुओंको जीतनेकी इच्छा रखते थे

१ क्षमया । २ गर्वा । ३ त०, ब०, अ०, स०, इ०, प०, इ० पुस्तकसंमतोऽयं क्रमः । ४ ल० पुस्तके १२९-१३० श्लोकयोर्व्यतिक्रमोऽस्ति । ५ समूहम् । ६ जातसकलपदार्थः । ७ प्रतिज्ञाम् । ८ एकभुक्तमित्यर्थः । ९ मूलोत्तरगुणानाम् । १० महान् । ११ प्रोक्तगुणेषु । १२ हानिमकुर्वन् । १३ उत्तमक्षयादिभिः । १४ रक्षाम् । १५ कवचितः ।

कषायतस्करैर्नास्थ हृतं रत्नत्रयं धनम् । सततं जागरूकस्य भूयो भूयोऽप्रमादतः ॥१३६॥
 वाचंयमस्य^१ सदासाक्षात् जानु विकथादरः । नाभिघटेन्द्रियैरस्य मनोदुर्गं सुखं कृतम् ॥१३७॥
 मनोऽगारे महस्यस्य बोधिता ज्ञानदीपिका । व्यर्थापि तत्^२ एवासन् विश्वेऽर्था ध्येयतापदं ॥१३८॥
 मतिश्रुताभ्यां निःशेषमर्थैतत्त्वं विचिन्वतः^३ । करामलकवद् विश्वं तस्य विस्पष्टतामगात् ॥१३९॥
 परीधहजयैर्दासो विजितेन्द्रियशास्त्रवः । कषायशत्रुनुच्छेद्य स तपो राज्यमभवभूत् ॥१४०॥
 योगिजो^४ ब्रह्मस्तस्थे प्राप्नु रासस्तथोक्तलात् । अतोऽस्या^५ अक्षुब्धनिष्कौलोपशमोमणं प्रति ॥१४१॥
 चतुर्मेदोऽपि बोधेऽस्य समुत्कर्षस्तदादभूत् । तत्तदावरणीयानां क्षयोपशमजुम्भितः ॥१४२॥
 मतिज्ञानसमुत्कर्षात् कोष्ठबुद्ध्यादयोऽभवन् । भुतज्ञानेन^६ विशाङ्गपूर्वचिरवादिविस्तरः ॥१४३॥
 परमावधिसुल्लङ्घ्य स सर्वावधिमासवत् । मनःपर्ययबोधे^७ च संप्रापद् विपुला^८ मतिम् ॥१४४॥
 ज्ञानशुद्ध्या तपःशुद्धिरस्यासीदतिरंकिणी । ज्ञानं हि तपसो मूलं यद्वन्मूलं महातरोः ॥१४५॥

॥१३८॥ कषायरूपी चोरोंके द्वारा उनका रत्नत्रयरूपी धन नहीं चुराया गया था क्योंकि वे सदा जागते रहते थे और बार-बार प्रमादरहित होते रहते थे । भावार्थ — लोकमें भी देखा जाता है कि जो मनुष्य सदा जागता रहता है और कभी प्रमाद नहीं करता उसकी चोरी नहीं होती । भगवान् बाहुबली अपने परिणामोंके शोधमें निरन्तर लवलीन रहते थे और प्रमादको पासमें भी नहीं आने देते थे इसलिए कषायरूपी चोर उनके रत्नत्रयरूपी धनको नहीं चुरा सके थे ॥१३९॥ वे सदा मौन रहते थे इसलिए कभी उनका विकथाओंमें आदर नहीं होता था । और उनका मनरूपी दुर्ग अत्यन्त सुरक्षित था इसलिए वह इन्द्रियोंके द्वारा नहीं तोड़ा जा सका था । भावार्थ — वे कभी विकथाएँ नहीं करते थे और पाँचों इन्द्रियों तथा मनको बशमें रखते थे ॥१४०॥ उनके मनरूपी विशाल घरमें सदा ज्ञानरूपी दीपक प्रकाशमान रहता था इसलिए ही समस्त पदार्थ उनके ध्येयकोटिमें थे अर्थात् ध्यान करने योग्य थे । भावार्थ — पदार्थोंका ध्यान करनेके लिए उनका ज्ञान होना आवश्यक है, मुनिराज बाहुबलीको सब पदार्थोंका ज्ञान था इसलिए सभी पदार्थ उनके ध्यान करने योग्य थे ॥१४१॥ वे मति और श्रुत ज्ञानके द्वारा संसारके समस्त पदार्थोंका चिन्तन करते रहते थे इसलिए उन्हें यह जगत् हाथपर रखे हुए आँवलेके समान अत्यन्त स्पष्ट था ॥१४२॥ जो परिषहोंको जीत लेनेसे देदीप्यमान हो रहे हैं और जिन्होंने इन्द्रियरूपी शत्रुओंको जीत लिया है ऐसे वे बाहुबली कषायरूपी शत्रुओंको छेदकर तपरूपी राज्यका अनुभव कर रहे थे ॥१४३॥ तपश्चरणका बल पाकर उन मुनिराजके योगके निमित्तसे होनेवाली ऐसी अनेक ऋद्धियाँ प्रकट हुई थीं जिनसे कि उनके तीनों लोकोंमें क्षोभ पैदा करनेकी शक्ति प्रकट हो गयी थी ॥१४४॥ उस समय उनके मतिज्ञानावरण आदि कर्मोंके क्षयोपशमसे मतिज्ञान आदि चारों प्रकारके ज्ञानोंमें वृद्धि हो गयी थी ॥१४५॥ मतिज्ञानकी वृद्धि होनेसे उनके कोष्ठबुद्धि आदि ऋद्धियाँ प्रकट हो गयी थीं और श्रुत ज्ञानके बढ़नेसे समस्त अंगों तथा पूर्वोंके जानने आदिकी शक्तिका विस्तार हो गया था ॥१४६॥ वे अवधिज्ञानमें परमावधिको उल्लंघन कर सर्वावधिको प्राप्त हुए थे तथा मनःपर्यय ज्ञानमें विपुलमति मनःपर्यय ज्ञानको प्राप्त हुए थे ॥१४७॥ उन मुनिराजके ज्ञानकी शुद्धि होनेसे तपकी शुद्धि भी बहुत अधिक हो गयी थी सो ठीक ही है क्योंकि जिस प्रकार किसी बड़े वृक्षके ठहरनेमें मूल कारण उसकी जड़ है उसी प्रकार तपके ठहरने आदिमें मूल कारण ज्ञान है ॥१४८॥

१ मौनव्रतिनः । २ ज्ञानदीपिकायाः सकाशात् । ३ चिन्तयतः । ४ उदेति स्म । ५ द्वावशाङ्गचतुर्दशपूर्वबोधित्व-
 तत्तिरूपणादिविस्तरः । ६ बोधि प०, ल० । ७ विपुलमतिमनःपर्ययज्ञानम् ।

तपसीऽप्येव चोभोभतपसा चातिकर्षितः^१ । स दीप्ततपसाऽप्यन्तं दिदीपे^२ दीप्तिमानिव ॥१४९॥
 सोऽतप्यत तपस्तप्तं तपो घोरं^३ महत् यत् । तथोत्तराण्यपि प्राप्तसमुरकर्षाभ्यनुकमात् ॥१५०॥
 तपोभिरकृशैरेभिः स बलौ मुनिसत्तमः^४ । बनोपरोधनिर्मुक्तः करैरिव गमस्तिमान्^५ ॥१५१॥
 विक्रियाऽष्टतर्था^६ चित्रे प्राबुरासीत्तपोबलात् । विक्रियां नितिलां हित्वा तीव्रमस्य तपस्यतः^७ ॥१५२॥
 प्रासौषधैरस्वासीत् संनिधिर्जगते द्वितः^८ । आमर्श^९ स्वेत् जलार्थैः^{१०} प्राणिव्यानुपकारिणः ॥१५३॥
 अनाशुषोऽपि तस्वासीद्^{११} रसद्विः शक्तिमात्रतः । तपोबलसमुज्ज्वा बलद्विरपि पप्रथे ॥१५४॥
 अक्षीणावसथः^{१२} सोऽभूत्तथाऽक्षीणं महाशनः (मसः)^{१३} । सूते हि फलमक्षीणं तपोऽक्षू^{१४} णमुपासितम् ॥१५५॥
 निर्द्वन्द्वचृत्तिरध्यात्ममिति निर्जित्य जित्वरः । ध्यानाभ्यासे मनश्चक्रे योगी योगविदां वरः ॥१५६॥
 क्षमामथोत्तमां भजे परं भार्दवभार्जवम् । सत्यं शौचं तपस्त्वागावाकिञ्चन्यं च संयमम् ॥१५७॥
 ब्रह्मचर्यं च धर्मस्य ध्यानस्यैता हि भावनाः । योगसिद्धौ परां^{१५} सिद्धिमाप्नन्तीह योगिनः ॥१५८॥

वे महामुनि उग्र, और महाउग्र तपसे अत्यन्त कृश हो गये थे तथा दीप्त नामक तपसे सूर्यके समान अत्यन्त देदीप्यमान हो रहे थे ॥१४९॥ उन्होंने तप्तघोर और महाघोर नामके तपश्चरण किये थे तथा इनके सिवाय उत्तर तप भी उनके खूब बढ़ गये थे ॥१५०॥ इन बड़े-बड़े तपोंसे वे उत्तम मुनिराज ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो मेघोंके आवरणसे निकला हुआ सूर्य ही अपनी किरणोंसे सुशोभित हो रहा हो ॥१५१॥ यद्यपि वे मुनिराज समस्त प्रकारकी विक्रिया अर्थात् विकार भावोंको छोड़कर कठिन-तपस्या करते थे तथापि आश्चर्यकी बात है कि उनके तपके बलसे आठ प्रकारकी विक्रिया प्रकट हो गयी थी । भावार्थ — रागद्वेष आदि विकार भावोंको छोड़कर कठिन तपस्या करनेवाले उन बाहुबली महाराजके अणिमा, महिमा, गरिमा, लधिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, और वशित्व मह आठ प्रकारकी विक्रिया ऋद्धि प्रकट हुई थीं ॥१५२॥ जिन्हें अनेक प्रकारकी औषध ऋद्धि प्राप्त है और जो आमर्श, स्वेत् तथा जल्ल आदिके द्वारा प्राणियोंका उपकार करते हैं ऐसे उन मुनिराजकी समीपता जगत्का कल्याण करनेवाली थी । भावार्थ — उनके समीप रहनेवाले लोगोंके समस्त रोग नष्ट हो जाते थे ॥१५३॥ यद्यपि वे आहार नहीं लेते थे तथापि शक्ति मात्रसे ही उनके रसऋद्धि प्रकट हुई थी और तपश्चरणके बलसे प्रकट हुई उनकी बल ऋद्धि भी विस्तार पा रही थी । भावार्थ — भोजन करनेवाले मुनिराजके ही रसऋद्धिका उपयोग हो सकता है परन्तु वे भोजन नहीं करते थे इसलिए उनके शक्तिमात्रसे रसऋद्धिका सद्भाव बतलाया है ॥१५४॥ वे मुनिराज अक्षीणसंवास तथा अक्षीणमहानस ऋद्धिको भी धारण कर रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि पूर्ण रीतिसे पालन किया हुआ तप अक्षीण फल उत्पन्न करता है ॥१५५॥ विकल्परहित चित्तकी वृत्ति धारण करना ही अध्यात्म है ऐसा निश्चय कर योगके जाननेवालोंमें श्रेष्ठ उन जितेन्द्रिय योगिराजने मनको जीतकर उसे ध्यानके अभ्यासमें लगाया ॥१५६॥ उत्तमक्षमा, उत्तमभार्दव, उत्तमभार्जव, उत्तमसत्य, उत्तमशौच, उत्तमसंयम, उत्तमतप, उत्तमत्याग, उत्तमआकिञ्चन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य ये दश धर्मध्यानकी भावनाएँ हैं । इस लोकमें योगकी सिद्धि होनेपर ही उत्कृष्ट सिद्धि — सफलता — मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है ऐसा योगी लोग मानते हैं ॥१५७-१५८॥

१ कृशोक्तः । २ रविः । ३ मेघ । ४ तरणिः । ५ अष्टप्रकाराः । ६ विकारम् । ७ तपः कुर्वतः । ८ छदिः ।
 ९ निष्ठोवन । १० स्वेदोत्पल्लवार्थः । ११ अनशनव्रतिनः । १२ अमृतत्ववाचिः । १३ आलय । १४ महत् ।
 १५ 'त०' पुस्तके 'महानसः' पाठः सुपाठः इति टिप्पणे लिखितम् । १६ अन्योन्यम् । १७ ध्याननिष्पन्ने सति ।
 १८ मुक्तिम् ।

अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आसृव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधि
दुर्लभ और धर्माख्यातत्वं इन बारह भावनाओंका उन्होंने विशुद्ध चित्तसे चिन्तवन किया था
॥१५९-१६०॥ वे आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थानका चिन्तवन करते हुए तथा कर्मोंके
अंशोंको क्षीण करते हुए धर्मध्यान धारण करते थे ॥१६१॥ जिस प्रकार दीपिकाके प्रज्व-
लित होनेपर उसके चारों ओर कज्जलके अंश दिखाई देते हैं उसी प्रकार उनकी ध्यानरूपी
दीपिकाके प्रज्वलित होनेपर उसके चारों ओर क्षणभर नष्ट हुए कर्मोंके अंश दिखाई देते थे
॥१६२॥ सब दिशाओंमें फैलता हुआ उनके शरीरकी दीप्तिका समूह उस वनको नीलमणि-
की कान्तिसे व्याप्त हुआ-सा बना रहा था ॥१६३॥ उनके चरणोंके समीप विश्राम करनेवाले
मृग आदि पशु सदा विष्वस्त अर्थात् निर्भय रहते थे, उन्हें सिंह आदि दुष्ट जीव कभी बाधा नहीं
पहुँचाते थे क्योंकि वे स्वयं वहाँ आकर अक्रूर अर्थात् शान्त हो जाते थे ॥१६४॥ उनके चरणों-
के समीप हाथी, सिंह आदि विरोधी जीव भी परस्परका वैर-भाव छोड़कर इच्छानुसार उठते-
बैठते थे और इस प्रकार वे मुनिराजके ऐश्वर्यको सूचित करते थे ॥१६५॥ हालकी व्यापी
हुई सिंही भैसेके बच्चेका मस्तक सूँघकर उसे अपने बच्चेके समान अपना दूध पिला रही थी
॥१६६॥ हाथी अपने झुण्डके मुलियोंके साथ-साथ सिंहोंके पीछे-पीछे जा रहे थे और स्तन-
के पीनेमें उत्सुक हुए सिंहके बच्चे हथिनियोंके समीप पहुँच रहे थे ॥१६७॥ बालकपतके
कारण मधुर शब्द करते हुए हाथियोंके बच्चोंको सिंह अपने दूधे नाखूनसे उनकी गरदनपर
स्पर्श कर रहा था और ऐसा करते हुए उस सिंहको हाथियोंके सरदार बहुत ही अच्छा समझ
रहे थे — उसका अभिनन्दन कर रहे थे ॥१६८॥ उन मुनिराजके ध्यान करनेके आसनके
समीपकी भूमिको साफ करनेकी इच्छासे हथिनियाँ कमलिनीके पत्तोंका दोना बनाकर उनमें
भर-भरकर पानी ला रही थीं ॥१६९॥ हाथी अपने सूँडके अग्रभागसे उठाकर लाये हुए
कमल उनके दोनों चरणोंपर रख देते थे और इस तरह वे उनकी उपासना करते थे । अहा,

१ संवर । २ ध्यायति स्म । ३ आज्ञाविचयापायविचयी । ४ कुशीकुर्वन् । ५ व्याप्तम् । ६ निश्चलाः ।
७ विरोधाः ल०, प०, अ०, सं०, व० । ८ जरजम्बुक ल०, व० । जरत् वृद्ध । ९ नवप्रसूतव्याघ्री ।
१० समानम् । ११ पाययति स्म । १२ स्तनक्षीरम् । १३ मनोज-अग्निनिविशेषम् । १४ द्वौ नञौ पूर्वमर्थ
गमयतः, अभ्यनन्दीदित्यर्थः । १५ कमलः । १६ करागोष्ठतः । १७ सर्पाणां शरीरैः ।

फणमात्रोद्गता रम्भात्^१ फणिनः^२ शितयोऽद्युतन् । कृताः कुवलयैरर्घा मुनेरिव पदान्तिके ॥१७२॥
 रेजुर्बलता नम्रैः शाखाभिः कुसुमोऽज्वलैः । मुनिं नजन्त्यो मकरयेव पुष्पाद्यैर्नलिपूर्वकम् ॥१७३॥
 शश्वत्त्रिकासिकुसुमैः शाखाग्रैरनिलाहलैः । बभ्रुर्वनधुमास्तोषाकिनृत्सव^३ इवासकृत् ॥१७४॥
 कलैरल्लिखितोद्गानैः^४ फणिनो ननृतुः किल । उत्फणाः फणरत्नांशुर्द्विप्रै^५ भोगै^६ विवर्तितैः ॥१७५॥
 पुंस्कोकिलकलालापट्टिपिडमानुगनैर्लघैः^७ । चक्षुःश्रवस्तु पश्यस्तु^८ तद्वृद्धिषोऽनटिषु^९ मुहुः ॥१७६॥
 महिम्ना शमिनः^{१०} शान्तमित्यभूत्तच्च काननम् । घसे हि महतां योगः^{११} शममप्यशमात्मसु^{१२} ॥१७७॥
 शान्तस्वनैर्नन्दन्ति स्म वनान्तेऽस्मिन् शकुन्तयः । घोषयन्त इवात्यन्तं^{१३} शान्तमेतत्तपोवनम् ॥१७८॥
 तपोनुभावाद्दृश्यैव प्रशान्तेऽस्मिन् वनाश्रये । विमिषातः^{१४} कुतोऽप्यासीत् कस्यापि न कथञ्चन ॥१७९॥
^{१५} महतास्य तपोयोगजृम्भितेन सहोपसा । बभ्रुर्हृत्तद्वृक्षागताः सिर्यञ्चोऽप्यनभिमुहः^{१६} ॥१८०॥
 गतिस्खलनतो ज्ञात्वा योगस्थं तं मुनीश्वरम् । असकृत्पूजयामासुरवतीर्य नमश्चराः ॥१८१॥
 महिम्नाऽस्य तपोवीर्यजनितेनालबीयसा । मुहुरासनकम्पोऽभूत्तत्सूम्ना सुधाशिनाम् ॥१८२॥

तपश्चरण कैसी शान्ति उत्पन्न करनेवाला है, ॥१७०॥ वे मुनिराज चरणोंके समीप आये हुए सर्पोंके काले फणाओंसे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो पूजाके लिए नीलकमलोंकी मालाएँ ही बनाकर रखी हों ॥१७१॥ बामीके छिद्रोंसे जिन्होंने केवल फणा ही बाहर निकाले हैं ऐसे काले सर्प उस समय ऐसे जान पड़ते थे मानो मुनिराजके चरणोंके समीप किसीने नील-कमलोंका अर्घ ही बनाकर रखा हो ॥१७२॥ वनकी लताएँ फूलोंसे उज्ज्वल तथा नीचेकी झुकी हुई छोटी छोटी डालियोंसे ऐसी अच्छी सुशोभित हो रही थीं मानो फूलोंका अर्घ लेकर भक्तिसे नमस्कार करती हुई मुनिराजकी सेवा ही कर रही हों ॥१७३॥ वनके वृक्ष, जिनपर सदा फूल खिले रहते हैं और जो वायुसे हिल रहे हैं ऐसे शाखाओंके अग्रभागोंसे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो सन्तोषसे बार-बार नृत्य ही करना चाहते हों ॥१७४॥ जिनके फणा ऊँचे उठ रहे हैं ऐसे सर्प, भ्रमरोंके शब्दरूपी सुन्दर गानेके साथ-साथ फणाओंपर लगे हुए रत्नोंकी किरणोंसे देदीप्यमान अपने फणाओंको घुमा-घुमाकर नृत्य कर रहे थे ॥१७५॥ मोर, कोकिलोंके सुन्दर शब्दरूपी डिण्डिम बाजेके अनुसार होनेवाले लयके साथ-साथ सर्पोंके देखते रहते भी बार-बार नृत्य कर रहे थे ॥१७६॥ इस प्रकार अतिशय शान्त रहनेवाले उन मुनिराजके माहात्म्यसे वह वन भी शान्त हो गया था सो ठीक ही है, क्योंकि महापुरुषोंका संयोग क्रूर जीवोंमें भी शान्ति उत्पन्न कर देता है ॥१७७॥ इस वनमें अनेक पक्षी शान्त शब्दोंसे धड़क रहे थे और वे ऐसे जान पड़ते थे मानो इस बातकी घोषणा ही कर रहे हों कि यह तपोवन अत्यन्त शान्त है ॥१७८॥ उन मुनिराजके तपके प्रभावसे यह वनका आश्रम ऐसा शान्त हो गया था कि यहाँके किसी भी जीवको किसीके भी द्वारा कुछ भी उपद्रव नहीं होता था ॥१७९॥ तपके सम्बन्धसे बड़े हुए मुनिराजके बड़े भारी तेजसे तिर्यंचोंके भी हृदयका अन्धकार दूर हो गया था और अब वे परस्परमें किसीसे श्रोह नहीं करते थे - अहिंसक हो गये थे ॥१८०॥ विद्याधर लोग गति भंग हो जानेसे उनका सङ्भाव जान लेते थे और विमानसे उतरकर ध्यान-में बैठे हुए उन मुनिराजकी बार-बार पूजा करते थे ॥१८१॥ तपकी शक्तिसे उत्पन्न हुए मुनि-राजके बड़े भारी माहात्म्यसे जिनके मस्तक झुके हुए हैं ऐसे देवोंके आसन भी बार-बार कम्पाय-

१ वल्मीकविलात् । २ कृष्णाः । ३ तर्तितुमिच्छन्तः । ४-द्विगतैः ल० । ५ दीप्तैः-इ०, ल० । ६ शरीरैः । ७ तालनिबद्धैः । ८ सर्वेषु । ९ कुण्डली गूढपाञ्चभुःश्रवः काकोवरः फणी इत्यभिधानात् । १० सर्पद्विवः । मयूरा इत्यर्थः । ११ नटन्ति स्म । १२ यतेः । १३ संयोगः । १४ क्रूरस्वरूपेषु । १५ अत्यन्तं प्रसन्नम् । १६ बाधेत्यर्थः । १७ तेजसा । १८ अहिंसकाः ।

विद्याधर्यः कदाचिच्च क्रीडाहेतोः पागवाः । बह्वीरुद्वेष्टयामासु^१ मुनेः सर्वाङ्गसंगिनीः ॥१८३॥
 इत्युपासु^२ सद्भ्यान्बल्लेज्जुहोतुः । स स्नेहः^३ शुचिमा^४ सन्^५ ताक^६ भ्यान्तौनपुनोऽसक्तः ॥१८४॥
 वत्सरानशनस्यान्ते भरतेशेन पूजितः । स भेजे परमउपोतिः केवलार्यं यदक्षरम् ॥१८५॥
 संक्षिप्तो भरताधीशः सोऽस्मर्त्त^७ इति यत्किञ्च । हृद्यस्य^८ हार्द^९ तेनासीन् तत्पूजाऽपेक्षि^{१०} केवलम् ॥१८६॥
 केवलार्कोदयात् प्राक्च पश्चाच्च त्रिधिवद् व्यधात् । सपर्या भरताधीशो योगिनोऽस्य प्रसक्तधीः ॥१८७॥
 'स्वागः प्रसाजं नार्थेज्या'^{११} प्राक्तनी भरतेशिनः । 'पाश्चात्याऽप्यायताऽपीज्या'^{१२} केवलोत्पत्तिमन्त्रभृत् ॥
 या कृता भरतेशेन महंज्या स्वानुजन्मनः । प्राप्तकेवलबोधस्य को हि तद्वर्णने क्षमः ॥१८८॥
 'स्वजन्मानुगमो'^{१३} ऽस्यैको धर्मरागस्तथाऽपरः । जन्मान्तरानुबन्धश्च^{१४} प्रेमबन्धोऽतिनिर्भरः ॥१८९॥
 'इत्येकशोऽप्यमी भक्तिप्रकर्षस्य प्रयोजकाः । तेषां नु सर्वसामग्री को न पुष्पाति सत्कियाम् ॥१९०॥
 सामान्यः समहीपालः^{१५} सास्तः पुरपुरोहितः । सं बाहुबलियोगीन्द्रं प्रणनामाधिराट् मुदा ॥१९१॥

मान होने लगते थे ॥१८२॥ कभी-कभी कीड़ाके हेतुसे आयी हुई विद्याधरियाँ उनके सर्व शरीर-
 पर लगी हुई लताओंको हटा जाती थीं ॥१८३॥ इस प्रकार धारण किये हुए समीचीनधर्म-
 ध्यानके बलसे जिनके तपकी शक्ति उत्पन्न हुई है ऐसे वे मुनि लेख्याकी विशुद्धिकी प्राप्त होते
 हुए शुक्लध्यानके सम्मुख हुए ॥१८४॥ एक वर्षका उपवास समाप्त होनेपर भरतेश्वरने
 आकर जिनकी पूजा की है ऐसे महामुनि बाहुबली कभी नष्ट नहीं होनेवाली केवलज्ञानरूपी
 उत्कृष्ट ज्योतिकी प्राप्त हुए । भावार्थ — दीक्षा लेते समय बाहुबलीने एक वर्षका उपवास किया
 था । जिस दिन उनका वह उपवास पूर्ण हुआ उसी दिन भरतने आकर उनकी पूजा की और
 पूजा करते ही उन्हें अविनाशी उत्कृष्ट केवलज्ञान प्राप्त हो गया ॥१८५॥ वह भरतेश्वर
 मुझसे संक्लेशकी प्राप्त हुआ है अर्थात् मेरे निमित्तसे उसे दुःख पहुँचा है यह विचार बाहुबलीके
 हृदयमें विद्यमान रहता था, इसलिए केवलज्ञानने भरतकी पूजाकी अपेक्षा की थी । भावार्थ —
 भरतके पूजा करते ही बाहुबलीका हृदय निश्चिन्त हो गया और उसी समय उन्हें केवलज्ञान
 भी प्राप्त हो गया ॥१८६॥ प्रसन्न है बुद्धि जिसकी ऐसे सम्राट् भरतने केवलज्ञानरूपी सूर्यके
 उदय होनेके पहले और पीछे—दोनों ही समय विधिपूर्वक उन मुनिराजकी पूजा की थी ॥१८७॥
 भरतेश्वरने केवलज्ञान उत्पन्न होनेके पहले जो पूजा की थी वह अपना अपराध नष्ट करनेके
 लिए की थी और केवलज्ञान होनेके बाद जो बड़ी भारी पूजा की थी वह केवलज्ञानकी उत्पत्ति-
 का अनुभव करनेके लिए की थी ॥१८८॥ जिन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है ऐसे अपने छोटे
 भाई बाहुबलीको भरतेश्वरने जो बड़ी भारी पूजा की थी उसका वर्णन करनेमें कौन समर्थ
 हो सकता है ? ॥१८९॥ प्रथम तो बाहुबली भरतके छोटे भाई थे, दूसरे भरतको धर्मका
 प्रेम बहुत था, तीसरे उन दोनोंका अन्य अनेक जन्मोंसे सम्बन्ध था, और चौथे उन दोनोंमें बड़ा
 भारी प्रेम था इस प्रकार इन चारोंमें-से एक-एक भी भक्तिकी अधिकताको बढ़ानेवाले हैं, यदि
 यह सब सामग्री एक साथ मिल जाये तो वह कौन-सी उत्तम क्रियाकी पुष्ट नहीं कर सकती
 अर्थात् उससे कौन-सा अच्छा कार्य नहीं हो सकता ? ॥१९०-१९१॥ सम्राट् भरतेश्वरने

१ मोषयामासुः । २ प्रकटीभूतः । ३ गच्छन् । ४ मत् । ५ भुजबलिनः । ६ स्नेहः । 'प्रेमा ना प्रियता हार्दं
 प्रेम स्नेहः' इत्यभिधानात् । ७ हार्देन । ८ भरतपूजापेक्षि । ९ केवलज्ञानम् । १० निजापराधनिवारणार्था ।
 ११ प्राग्भवा । १२ पश्चाद्भवा । १३ अत्यधिका । १४ निजजन्तेन । १५ अनुगमनम् । सहोत्पत्तिरित्यर्थः ।
 १६ — नुवदेष्व ब०, अ०, स०, प०, इ० । १७ एकैकमपि । १८ महीपालः सहितः ।

किमत्र बहुना रत्नैः कृतोऽर्घः स्वर्णदीजलम् । पाद्यं रत्नाचिंघो दीपास्तण्डुलेज्या च मौक्तिकैः ॥१९३॥
 हविः^१ पीयूषपिण्डेन धूपो देवद्रुमांशकैः^२ । पुष्पाद्या पारिजातादिसुरागसुमनश्चयैः ॥१९४॥
 सरस्वा निधयः सर्वे फलस्थाने नियोजिताः । पूजां स्वमर्थामित्थं स्वेद्यो निरवर्तयन् ॥१९५॥
 सुराश्वासनकम्पेन ज्ञाततत्त्वंवलोदयाः । चक्रुरस्य परामिज्यां शता^३ ध्वरपुरःसराः ॥१९६॥
 वद्युर्मन्दं स्वरुघानतरुभूतनखुच्चवः । तदा सुगन्धयो वाताः स्वधुर्नाशाकराहराः ॥१९७॥
 मन्दं पयोमुचां मार्गे दध्वनुश्च सुरानकाः । पुष्पोष्करो दिवोऽपनत् कल्पानोकहसंभवः ॥१९८॥
 रत्नातपत्रमस्योच्चैर्निर्मितं सुरशिखिभिः । परार्थ्यमग्निनिर्माणमभाद् दिव्यं च विष्टरम् ॥१९९॥
 स्वयं व्यधूयतास्थोच्चैः^४ प्रान्तयोश्वासरोष्करः । सभावनिश्च तद्योग्या पप्रथे प्रथितोदया ॥२००॥
 सुरैरित्यर्चितः प्रासकेवलर्द्धिः स योगिराट् । व्यद्युतन्मुनिभिर्जुष्टः^५ शशाङ्कोद्भिराश्रितः ॥२०१॥
 घातिकर्मक्षयोद्भूतामुद्रहन् परमेष्ठिताम् । विजहार महीं कृत्स्नां सौऽभिगम्यः^६ सुधाशिन्याम् ॥२०२॥
 इत्थं स विश्वविद्धिश्च प्रीणयन् स्ववत्सोऽमृतैः । कैलासमचलं प्रापत् पूतं संनिधिना गुरोः^७ ॥२०३॥

मन्त्रियोंके साथ, राजाओंके साथ और अन्तःपुरकी समस्त स्त्रियों तथा पुरोहितके साथ उन बाहुबली मुनिराजको बड़े हर्षसे नमस्कार किया था ॥१९२॥ इस विषयमें अधिक कहाँ तक कहा जावे, संक्षेपमें इतना ही कहा जा सकता है कि उसने रत्नोंका अर्घ बनाया था, गंगाके जलकी जलधारा दी थी, रत्नोंकी ज्योतिके दीपक चढ़ाये थे, मोक्षियोंके अक्षतकी पूजा की थी, अमृतके पिण्डसे नेत्र अर्पित किया था, कल्पवृक्षके टुकड़ों (चूर्णों) से धूपकी पूजा की थी, पारिजात आदि देववृक्षोंके फूलोंके समूहसे पुष्पोंकी अर्चा की थी, और फलोंके स्थानपर रत्नों-सहित समस्त निधियाँ चढ़ा दी थीं इस प्रकार उसने रत्नभयी पूजा की थी ॥१९३-१९५॥ आसन कम्पायमान होनेसे जिन्हें बाहुबलीके केवलज्ञान उत्पन्न होनेका बोध हुआ है ऐसे इन्द्र आदि देवोंने आकर उनकी उत्कृष्ट पूजा की ॥१९६॥ उस समय स्वर्गके बगीचेके वृक्षोंको हिलाने-में चतुर तथा गंगा नदीकी बँदोंको हरण करनेवाला सुगन्धित वायु धीरे-धीरे बह रहा था ॥१९७॥ देवोंके नगाड़े आकाशमें गम्भीरतासे बज रहे थे और कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न हुआ फूलों-का समूह आकाशमें पड़ रहा था ॥१९८॥ उनके ऊपर देवरूपी कारीगरोंके द्वारा बनाया हुआ रत्नोंका छत्र सुशोभित हो रहा था और नीचे बहुमूल्य मणियोंका बना हुआ दिव्य सिंहासन देदीप्यमान हो रहा था ॥१९९॥ उनके दोनों ओर ऊँचाईपर चमरोंका समूह स्वयं द्रुल रहा था तथा जिसका ऐश्वर्य प्रसिद्ध है ऐसी उनके योग्य सभाभूमि अर्थात् गन्धकुटी भी बनायी गयी थी ॥२००॥ इस प्रकार देवोंने जिनकी पूजा की है और जिन्हें केवलज्ञानरूपी ऋद्धि प्राप्त हुई है ऐसे वे योगिराज अनेक मुनियोंसे घिरे हुए इस प्रकार सुशोभित हो रहे थे मानो नक्षत्रों-से घिरा हुआ चन्द्रमा ही हो ॥२०१॥ जो घातियाकर्मोंके क्षयसे उत्पन्न हुई अर्हन्त परमेष्ठी-की अवस्थाको धारण कर रहे हैं तथा इसीलिए देव लोग जिनकी उपासना करते हैं ऐसे भगवान् बाहुबलीने समस्त पृथिवीमें विहार किया ॥२०२॥ इस प्रकार समस्त पदार्थोंको जाननेवाले बाहुबली अपने वचनरूपी अमृतके द्वारा समस्त संसारको सन्तुष्ट करते हुए, पूज्य पिता भगवान् वृषभदेवके सामीप्यसे पवित्र हुए कैलास पर्वतपर जा पहुँचे ॥२०३॥

मालिनी

सकलनृपसमाजे^१ दृष्टिमह्यस्तुयुद्धे-

विजितभरतकीर्तिर्धैः प्रववाज मुक्त्यै ।

तृणमिव विगणय्य प्राज्यसाम्राज्यभारं

चरमतनुधराणामग्रणीः सोऽवताद् वः ॥२०४॥

भरतविजयलक्ष्मीसंग^२ लब्धकर्मसूत्या

यमिनमभिसरस्ती क्षत्रियाणां समक्षम् ।

धिरतरमव^३भूतापत्रपापा^४त्रमासी-

दधिगतगुरुमार्गः सोऽवताद् दोर्बली वः ॥२०५॥

स जयति जयलक्ष्मीसंग^५माशामवन्ध्यां

विदधदधिकधामा संनिधौ पार्थिवानाम् ।

सकलजगद्गारव्यासकीर्तिस्तपस्या^६-

मभजत यशसे यः सूसुराद्यस्य धातुः ॥२०६॥

जयति भुजबलीशो बाहुवीर्यं स यस्य

प्रथितममवदधे क्षत्रियाणां निधुद्धे ।

भरतनृपतिनामा^७ यस्य नामाक्षराणि

स्मृतिपथमुपयान्ति प्राणिपुं^८दुमन्ति ते^९वज्रं ॥२०७॥

जयति भुजगवक्त्रोद्धान्तनिर्घद्गराग्निः^९

प्रशममसकृदापत् प्राप्य पादौ यदीयौ ।

सकलभुवनमान्यः खेचरस्त्रीकराग्रो-

द्वधितविततवीरुद्द्वेष्टितो दोर्बलीशः ॥२०८॥

जिन्होंने समस्त राजाओंकी सभामें दृष्टियुद्ध, मल्लयुद्ध और जलयुद्धके द्वारा भरत-
की समस्त कीर्ति जीत ली थी, जिन्होंने बड़े भारी राज्यके भारको तृणके सभान तुच्छ समझकर
मुक्ति प्राप्त करनेके लिए दीक्षा धारण की थी और जो चरमशरीरियोंमें सबसे मुख्य थे ऐसे
भगवान् बाहुबली तुम सबकी रक्षा करें ॥२०४॥ सब क्षत्रियोंके सामने भरतकी विजय-
लक्ष्मी देदीप्यमान चक्रकी मूर्तिके बहानेसे जिन बाहुबलीके समीप गयी थी परन्तु जिनके द्वारा
सदाके लिए तिरस्कृत होकर लज्जाका पात्र हुई थी और जिन्होंने अपने पिताका मार्ग (मुनिमार्ग)
स्वीकृत किया था वे भगवान् बाहुबली तुम सबकी रक्षा करें ॥२०५॥ जो अनेक राजाओंके
सामने सफल हुई जयलक्ष्मीके समागमकी आशाको धारण कर रहे थे, सबसे अधिक तेजस्वी
थे, जिनकी कीर्ति समस्त जगत्खुपी घरमें व्याप्त थी और जिन्होंने वास्तविक यशके लिए तप
धारण किया था वे आदिब्रह्मा भगवान् वृषभदेवके पुत्र सदा जयवन्त हों ॥२०६॥ जिनकी
भुजाओंका बल क्षत्रियोंके सामने भरतराजके साथ हुए मल्लयुद्धमें प्रसिद्ध हुआ था, और
जिनके नामके अक्षर स्मरणमें आते ही प्राणियोंके समूहको पवित्र कर देते हैं वे बाहुबली स्वामी
सदा जयवन्त हों ॥२०७॥ जिनके चरणोंको पाकर सर्पोंके मुँहके उच्छ्वाससे निकलती हुई
विषकी अग्नि बार-बार शान्त हो जाती थी, जो समस्त लोकमें मान्य हैं, और जिनके शरीरपर
फैली हुई लताओंको विद्याधरियाँ अपने हाथोंके अग्रभागसे हटा देती थीं वे बाहुबली स्वामी

१ समक्षे । २ भृशं ज्वलत् । ३ भुजबलिना अवधीरता । ४ लज्जाभोजनम् । ५ संगवाञ्छाम् । ६ तप इत्यर्थः ।

७ सह । ८ उपातानि भूत्वा । ९ विषाग्निः ।

जयति भरतराजप्रांशुर्मल्लप्ररको-

पल्लुलितनखेन्दुः स्वपुशस्य स्रुतः ।

भुजगकुलकलापैराकुलैर्नाकुलत्वं

धृतिबलकलितो यो योगभृच्चैव भजे ॥२०९॥

शितिभिरलिकुलाभैराभुजं लम्बमानैः

विहितभुजविटङ्को मूर्धजैर्वेष्टितायैः ।

जलधरपरिरोधध्याममूर्ध्वं भूधः

अथमपुषदन्तुर्नो दोषली यः स नोऽभ्यात् ॥२१०॥

स जयति हिमकाले यो हिमानीपरीतं

वपुरचल इवोच्चैर्भिन्नदाविर्बभूव ।

मधघनसलिलैर्धैर्यश्च धौतोऽब्दकाले

स्वरघृणि किरणानप्युष्णकाले विषेहं ॥२११॥

जगति जयिनमेनं योगिनं योगिवर्यै-

रधिगतमहिमानं मानितं माननीयैः ।

स्मरति हृदि नित्यं यः स शान्तान्तरात्मा

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीतं त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहम् ॥२१२॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीतं त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहम्

भुजबलिजलमल्लदृष्टियुद्धविजयदीक्षाकेवलसोत्पत्तिवर्णनं नाम षट्त्रिंशत्तमं पर्व ॥३६॥

सदा जयवन्त हों ॥२०८॥ भरतराजके ऊँचे मुकुटके अग्र भागमें लगे हुए रत्नोंसे जिनके चरण-
के तखरूपी चन्द्रमा अत्यन्त चमक रहे थे, जो धैर्य और बलसे सहित थे तथा जो इसलिए ही
क्षोभको प्राप्त हुए सपोंके समूहसे कभी आकुलताको प्राप्त नहीं हुए थे वे आदि ब्रह्मा भगवान्
वृषभदेवके पुत्र बाहुबली योगिराज सदा जयवन्त रहें ॥२०९॥ भ्रमरोंके समूहके समान काले,
भुजाओं तक लटकते हुए तथा जिनका अग्रभाग टेढ़ा हो रहा है ऐसे मस्तकके बालोंसे जिनकी
भुजाओंका अग्रभाग ढक गया है और इसलिए ही जो मेघोंके आवरणसे मलिन शिखरवाले
पर्वतकी पूर्ण शोभाको पुष्ट कर रहे हैं वे भगवान् बाहुबली हम सबकी रक्षा करें ॥२१०॥
जो शीतकालमें बर्फसे ढके हुए ऊँचे शरीरको धारण करते हुए पर्वतके समान प्रकट होते थे,
वर्षाऋतुमें नवीन मेघोंके जलके समूहसे प्रक्षालित होते थे - भीगते रहते थे और ग्रीष्मकालमें
सूर्यकी किरणोंको सहन करते थे वे बाहुबली स्वामी सदा जयवन्त हों ॥२११॥ जिन्होंने
अन्तरंग-बहिरंग शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर ली है, बड़े-बड़े योगिराज ही जिनकी महिमा
जान सकते हैं, और जो पूज्य पुरुषोंके द्वारा भी पूजनीय हैं ऐसे इन योगिराज बाहुबलीको
जो पुरुष अपने हृदयमें स्मरण करता है उसका अन्तरात्मा शान्त हो जाता है और वह शीघ्र
ही जिनेन्द्रभगवान्की अजय्य (जिसे कोई जीत न सके) विजयलक्ष्मी - मोक्षलक्ष्मीको प्राप्त
होता है ॥२१२॥

इस प्रकार आर्य नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहके

भाषानुवादमें बाहुबलीका जल-युद्ध, मल्ल-युद्ध और नेत्र-युद्धमें विजय प्राप्त करना,

दीक्षा धारण करना, और केवलज्ञान उत्पन्न होनेका वर्णन

करनेवाला छत्तीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ।

१ कृष्णः । २ आच्छादितबाहुबलीः । ३ वक्र । 'अविरुद्धं कुटिलं भुजं विल्लितं वक्रमित्यपि' इत्यभिधानात् ।
४ हिमसंहतिवेष्टितम् । 'हिमानी हिमसंहतिः' इत्यभिधानात् । ५ प्रावृत्तकाले । ६ सूर्यः । ७ सहति स्म ।
८ जयशीलम् । ९ पूजितम् । १० उपशान्तचित्तः ।

सप्तत्रिंशत्तमं पर्व

(सप्तत्रिंशत्तमं पर्व) (सप्तत्रिंशत्तमं पर्व) (सप्तत्रिंशत्तमं पर्व) (सप्तत्रिंशत्तमं पर्व) (सप्तत्रिंशत्तमं पर्व)

अथ निर्वर्तितशोधदिग्जयो भरतेश्वरः । पुरं साकेतमुत्केतुं प्राविशत् परया भ्रिया ॥१॥
 'तत्रास्य' नृपशावूलैरभिवेकः कृतो मुदा । 'चातुरन्तजयश्रीहते प्रथतां भुवनेष्विति ॥२॥
 तमभ्यविज्ञन् पौराश्च सान्तःपुरपुरीषसः । चिरायुः पृथिवीराज्यं 'क्रियाद् देव भवानिति ॥३॥
 राज्याभिवेचने मर्त्यैर्धौ विधिर्दृष्टमेतिनः । स सर्वोऽत्रापि तीर्थान्मुसं' मारादिः कृतो नृपैः ॥४॥
 'तथाऽभिषिक्तःस्तेनैव विधिनाऽलंकृतोऽधिराट् । तथैव जयघोषादिः प्रयुक्तः सामरैर्नृपैः ॥५॥
 तथैव सरकृता विश्वे पार्थिवाः ससनामयः । तथैव तर्पितो लोकः परया दाणसंपदा ॥६॥
 'तथाध्वनन् महाघोषा' माग्दीघोषा महानकाः । प्रक्षुभ्यदविधिनिर्वोषो येषां घोषैरथः कृतः ॥७॥
 आनन्दिन्यो महाभैर्यस्तपैवाभिहता मुहुः । संगीतविधिरारब्धः तथा प्रमदमण्डपे ॥८॥
 मूर्ध्निभिषिक्तैः प्राप्ताभिवेकस्यास्याजनि धुतिः । मेराविवाभिषिक्तस्य नाकीन्द्रैरादिभेधसः ॥९॥
 गङ्गासिन्धु सरिरेष्यौ साक्षतैस्तीर्थवारिभिः । 'अभ्यौक्षिष्टां तमभ्येत्य रत्नभूजैरसंभृतैः ॥१०॥
 कृताभिवेकमेनं च नृपासनमधिष्ठितम् । 'गणबद्धामरा भेषुः प्रणम्यैर्मणिमौलिभिः ॥११॥

अथानन्तर जिसने समस्त दिग्विजय समाप्त कर लिया है ऐसे भरतेश्वरने जिसमें अनेक ध्वजाएँ फहरा रही हैं ऐसे अयोध्यानगरमें बड़े वैभवके साथ प्रवेश किया ॥१॥ चतुरंग विजयसे उत्पन्न हुई आपकी लक्ष्मी संसारमें अतिशय वृद्धि और प्रसिद्धिको प्राप्त होती रहे यही विचार कर बड़े-बड़े राजाओंने उस अयोध्या नगरमें हर्षके साथ महाराज भरतका अभिवेक किया था ॥२॥ हे देव, आप दीर्घजीवी होते हुए चिरकाल तक पृथिवीका राज्य करें, इस प्रकार कहते हुए अन्तःपुर तथा पुरोहितोंके साथ नगरके लोगोंने उनका अभिवेक किया था ॥३॥ जो विधि भगवान् वृषभदेवके राज्याभिवेकके समय हुई थी, तीर्थोंका जल इकट्ठा करना आदि वह सब विधि महाराज भरतके अभिवेकके समय भी राजाओंने की थी ॥४॥ देवोंके साथ-साथ राजाओंने भगवान् वृषभदेवके समान ही भरतेश्वरका अभिवेक किया था, उसी प्रकार आभूषण पहनाये थे और उसी प्रकार जयघोषणा आदि की ॥५॥ उसी प्रकार परिवारके लोगोंके साथ-साथ राजाओंका सत्कार किया गया था, और उसी प्रकार दानमे दी हुई सम्पत्तिसे सब लोग सन्तुष्ट किये गये थे ॥६॥ जिनके शब्दोंने क्षोभित हुए समुद्रके शब्दको भी तिस्कृत कर दिया था ऐसे बड़े-बड़े शब्दोंवाले मांगलिक नगाड़े उसी प्रकार बजाये गये थे ॥७॥ उसी प्रकार आनन्दकी महाभैरियाँ बार-बार बजायी जा रही थीं और आनन्दमण्डपमें संगीतकी विधि भी उसी प्रकार प्रारम्भ की गयी थी ॥८॥ मेरु पर्वतपर इन्द्रोके द्वारा अभिवेक किये हुए आदिब्रह्मा भगवान् वृषभदेवकी जैसी कान्ति हुई थी उसी प्रकार राजाओंके द्वारा अभिवेकको प्राप्त हुए महाराज भरतकी भी हुई थी ॥९॥ गंगा-सिन्धु नदियोंकी अधिष्ठात्री गंगा-सिन्धु नामकी देवियोंने आकर रत्नोंके भूंगारोंमें भरे हुए अक्षत सहित तीर्थजलसे भरतका अभिवेक किया था ॥१०॥ जिनका अभिवेक समाप्त हो चुका और जो राजसिंहासनपर बैठे हुए हैं ऐसे महाराज भरतकी अनेक गणबद्धदेव अपने मणिमयी मुकुटोंकी नवान्नवाकर

१ साकेतपुर्याम् । २ चक्रिणः । ३ चतुर्दिक्षु भवा जयलक्ष्मीः । चातुरङ्ग-ल०, अ०, प०, स०, इ० । ४ मुहुः । ५ समूह । ६ यथा वृषभोऽभिषिक्तः । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् । ७ प्रथममङ्गलरथाः । ८ अभिवेकं यज्जहुः । ९ अङ्गराधेयाः ।

हिमवद्विजयार्धेणै मागधाद्याश्च देवताः । खेचराश्चोभयश्रेष्ठोस्तं नेमुनेभ्रमौलयः ॥१२॥
 सोऽभिषिक्तोऽपि नोत्सिक्तो बभूव नृपसत्तमैः । महतां हि मनोवृत्तिर्नोत्सेकपरिरम्भिणी ॥१३॥
 चामरैर्वीज्यमानोऽपि न निर्वृत्तिमगाद् विभुः । भ्रातृष्वसंविभक्ता श्रीरितीहानुशयानुराः ॥१४॥
 दीर्घलिभ्रातृसंघर्षात् नास्य तेजो विकर्षितम् । प्रस्युतोत्कर्षिहेम्नो वा घृष्टस्य निकषोपले ॥१५॥
 निष्कण्टकमिति प्राप्य साम्राज्यं भरताधिपः । बभौ भास्वानिवोद्विक्तप्रतापः शुद्धमण्डलः ॥१६॥
 क्षेमैकतानतां भेजुः प्रजास्तस्मिन् सुराजनि । योगक्षेमौ वितन्वाने मन्वानाः स्वां सनाथताम् ॥१७॥
 यथास्वं संविभज्यामी संसुक्ता निधयोऽमुना । सम्भोगः संविभागश्च फलमर्थार्जने द्वयम् ॥१८॥
 रत्नान्दपि यथाकामं निर्विघ्नानि निधीशिता । रत्नानि ननु तान्येष यानि वास्युपयोगिताम् ॥१९॥
 मनुश्चक्रभृतामायः षट्खण्डमहताधिपः । राजराजोऽधिराट् सम्राड्विष्वस्योद्घोषितं यशः ॥२०॥
 नन्दनो वृषभेशस्य भरतः शातमातुरः । इत्यस्य रोदसी स्थाप शुभा कीर्तिरनधरी ॥२१॥
 कीदृक् परिच्छदस्तस्य विमवश्चक्रवर्तिनः । इति प्रभवशादस्य विमवोद्देशकीर्तनम् ॥२२॥
 गलन्मदजलास्तस्य राजाः सुरगजोपमाः । लक्षाद्वचतुर्शसिस्ते रदैर्बद्धैः सुकल्पितैः ॥२३॥

सेवा कर रहे थे ॥११॥ हिमवान् और विजयार्ध पर्वतके अधीश्वर हिमवान् तथा विजयार्ध-
 देव, मागध आदि अन्य अनेक देव, और उत्तर-दक्षिण श्रेणीके विद्याधर अपने मस्तक शुका-
 शुकाकर उन्हें नमस्कार कर रहे थे ॥१२॥ अनेक अच्छे-अच्छे राजाओंके द्वारा अभिषिक्त
 होनेपर भी उन्हें कुछ भी अहंकार नहीं हुआ था सो ठीक ही है क्योंकि महापुरुषोंकी मनोवृत्ति
 अहंकारका स्पर्श नहीं करती ॥१३॥ यद्यपि उनके ऊपर चमर ढुंलाये जा रहे थे तथापि वे
 उससे सन्तोषको प्राप्त नहीं हुए थे क्योंकि उन्हें निरन्तर इस बातका पछतावा हो रहा था
 कि मैंने अपनी विभूति भाइयोंको नहीं बाँट पायी ॥१४॥ भाई बाहुबलीके संघर्षसे उनका
 तेज कुछ कम नहीं हुआ था किन्तु कसौटीपर घिसे हुए सोनेके समान अधिक ही हो गया था
 ॥१५॥ इस प्रकार निष्कण्टक राज्यको पाकर महाराज भरत उस सूर्यके समान देदीप्यमान
 हो रहे थे जिसका कि प्रताप बढ़ रहा है और मण्डल अत्यन्त शुद्ध है ॥१६॥ योग (अप्राप्त
 वस्तुकी प्राप्ति करना) और क्षेम (प्राप्त हुई वस्तुकी रक्षा करना) को फैलानेवाले उन उत्तम
 राजा भरतके विद्यमान रहते हुए प्रजा अपने आपको सनाथ समझती हुई कुशल मंगलको प्राप्त
 होती रहती थी ॥१७॥ महाराज भरतने निधियोंका यथायोग्य विभाग कर उनका उपभोग
 किया था सो ठीक ही है क्योंकि स्वयं सम्भोग करना और दूसरेको विभाग कर देना ये दो
 ही धन कमानेके मुख्य फल हैं ॥१८॥ निधियोंके स्वामी भरतने रत्नोंका भी इच्छानुसार
 उपभोग किया था सो ठीक ही है क्योंकि वास्तवमें रत्न वही हैं जो उपयोगमें आवें ॥१९॥
 यह सोलहवां मनु है, चक्रवर्तियोंमें प्रथम चक्रवर्ती है, षट् खण्ड भरतका स्वामी है, राजराजेश्वर
 है, अधिराट् है और सम्राट् है इस प्रकार उसका यश उद्घोषित हो रहा था ॥२०॥ यह
 भरत भगवान् वृषभदेवका पुत्र है और इसकी माताके सौ पुत्र हैं इस प्रकार इसकी कभी नष्ट
 नहीं होनेवाली उज्ज्वल कीर्ति आकाश तथा पृथिवीमें व्याप्त हो रही थी ॥२१॥ उस चक्रवर्ती-
 का परिवार कितना था ? और विभूति कितनी थी ? राजा श्रेणिकके इस प्रश्नका उत्तर
 देनेके लिए गीतमस्वामी उसकी विभूतिका इस प्रकार वर्णन करने लगे ॥२२॥ महाराज
 भरतके, जिनके गण्डस्थलसे मदरूपी जल क्षर रहा है, और जो जड़े हुए सुसज्जित दाँतोंसे सुशो-

दिव्यरत्नविनिर्माणरथास्तावन्त एव हि । मनोवायुजघाः सूर्यस्थप्रस्पर्धिरंहसः ॥२४॥
 कोटयोऽष्टादशाश्वानां भृजलाम्बस्वारिणाम् । यन्त्रुराग्राणि धौतानि पूतैस्त्रिपथगा जलैः ॥२५॥
 चतुर्भिरधिकाशीतिः कोटयोऽस्य पदातयः । येषां सुभटसंसर्गं निरुद्धं^१ पुरुषवतम् ॥२६॥
 वज्रास्थिवन्धनं^२ वाज्रैर्वलयैर्वेष्टितं वपुः । वज्रनाराचनिर्भिन्नम^३ भेषमभवत् प्रभोः ॥२७॥
 यमसप्तविभक्तां^४ जलरत्नं^५ सुसंहरति^६ । वपुः सुन्दरमस्यासीत् संस्थानेनादिना विभोः ॥२८॥
 निष्टसकनकच्छायां सखनुःषष्टिलक्षणम् । हरुषे न्यञ्जनैस्तस्य तिसर्गसुभगं वपुः ॥२९॥
 शरीरं यच्च यावच्च बलं पट्पण्यभूभुजाम् । ततोऽधिकतरं तस्य बलमासीद् बलीयसः ॥३०॥
 शासनं तस्य चक्राङ्गमासिन्धोरनिवारितम् । शिरोभिरुद्धमारुहचक्रमैः पृथिवीश्वरैः ॥३१॥
 द्वात्रिंशन्मौलिकुट्टानां सहस्राणि महीक्षिताम्^७ । कुलाचलैरिवार्द्राङ्गः स रेजे यैः परिष्कृतः ॥३२॥
 तावन्प्रेत्र सहस्राणि देशानां सुनिवेशिताम् । यैरलंकृतमाभाति चक्रभृक्षेत्रमायतम् ॥३३॥
^१कलाभिजान्यमपक्ता देव्यस्तावत्प्रमास्सृताः । रूपलाघन्यकान्तीनां याः शुद्धाकरभूमयः ॥३४॥
 म्लेच्छराजादिभिर्देवास्तावन्त्यो नृपवल्लभाः । अप्सरासंकथाः क्षोणीं यकाभिरवसारिताः ॥३५॥
 अत्ररुद्धाश्च सावन्त्यस्तन्मयः कोमलविग्रहाः । मदनोद्दीपनैर्यासां दृष्टिवाणैर्जितं जगत् ॥३६॥

भित्त हैं ऐसे ऐरावत हाथीके समान चौरासी लाख हाथी थे ॥२३॥ जिनका वेग मन और वायुके समान है अथवा जिनकी तेज चाल सूर्यके साथ स्पर्धा करनेवाली है ऐसे दिव्य रत्नोंके बने हुए उतने ही अर्थात् चौरासी लाख ही रथ थे ॥२४॥ जिनके खुरोंके अग्रभाग पवित्र गंगा-जलसे धुले हुए हैं और जो पृथिवी, जल तथा आकाशमें समान रूपसे चल सकते हैं ऐसे अठारह करोड़ घोड़े हैं ॥२५॥ अनेक योद्धाओंके मर्दन करनेमें जिनका पुरुषार्थ प्रसिद्ध है ऐसे चौरासी करोड़ पैदल सिपाही थे ॥२६॥ महाराज भरतका शरीर वज्रकी हड्डियोंके बन्धन और वज्रके ही वेष्टनोंसे वेष्टित था, वज्रमय कीलोंसे कीलित था और अभेद्य अर्थात् भेदन करने योग्य नहीं था । भावार्थ — उनका शरीर वज्रवृषभनाराचसंहननका धारक था ॥२७॥ उनका शरीर चतुरस्र था — चारों ओरसे मनोहर था, उसके अंगोपांगोंका विभाग समानरूपसे हुआ था, अंगोंकी मिलावट भी ठीक थी और समचतुरस्र नामके प्रथम संहननसे अत्यन्त सुन्दर था ॥२८॥ जिसकी कान्ति तपाये हुए सुवर्णके समान थी और जिसपर चौंसठ लक्षण थे ऐसा उसका स्वभावसे ही सुन्दर शरीर तिल आदि व्यंजनोसे बहुत ही सुशोभित हो रहा था ॥२९॥ छहों खण्डके राजाओंका जो और जितना कुछ शारीरिक बल था उससे कहीं अधिक बल उस बलवान् भरतके शरीरमें था ॥३०॥ जिसका चक्र ही चिह्न है और समुद्रपर्यन्त जिसे कोई नहीं रोक सकता ऐसे उसके शासनको बड़े-बड़े पराक्रमको धारण करनेवाले राजालोग अपने शिरपर धारण करते थे ॥३१॥ उनके बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा थे, उन राजाओंसे वेष्टित हुए महाराज भरत कुलाचलोसे घिरे हुए सुमेरु पर्वतके समान सुशोभित होते थे ॥३२॥ महाराज भरतके अच्छी-अच्छी रचनावाले बत्तीस हजार ही देश थे और उन सबसे सुशोभित हुआ चक्रवर्तीका लम्बा-चौड़ा क्षेत्र बहुत ही अच्छा जान पड़ता था ॥३३॥ उनके उतनी ही अर्थात् बत्तीस हजार ही देवियाँ थीं जो कि उच्च कुल और जातिसे सम्पन्न थीं तथा रूप लावण्य और कान्तिकी शुद्ध खानिके समान जान पड़ती थीं ॥३४॥ इनके सिवाय जिन्होंने पृथिवीपर अप्सराओंकी कथाओंको उतार लिया था ऐसी म्लेच्छ राजा आदिकोंके द्वारा दी हुई बत्तीस हजार प्रिय रानियाँ थीं ॥३५॥ इसी प्रकार जिनका शरीर अत्यन्त कोमल था और कामको उत्तेजित करने-

१ चतुरशीतिलसा एव । २ वेगाः । ३ गङ्गा । ४ प्रसिद्धम् । ५ पौरुषम् । ६ बन्धनैर्वा — ल० । ७ कीलितम् । ८ मनोहरम् । ९ सुसंहरति । १० भूभुजाम् । ११ कुलजायमि — ल० ।

नखांशुकुसुमोजेदेरारणैः पाणिपल्लवैः । तास्तनूयो भुजशाखाभिर्मैत्रुः कल्पलताश्रियम् ॥३७॥
 स्तनाब्जकुटुम्बैरास्यपङ्कजैश्च विकासिमिः । अब्जिन्य इव ता रेजुर्मदनावामभूमिकाः ॥३८॥
 मन्ये पात्राणि गात्राणि तासां कामग्रहोच्छ्रितौ । पदावेशवशादेव^१ दशां प्राप्नोऽतिवर्तिनीम् ॥३९॥
 शङ्के^२ निशातपाषाणाकखानासां मनोभुवः । यत्रोपाकृ^३तैर्दण्डैः स्त्रैरविध्यत् कामिनः शरैः ॥४०॥
 सत्यं महेषुधी जङ्गे तासां मदनधन्विनः । कामस्यारोहनिःश्रेणी^४ स्थानीयावूरुदण्डकौ ॥४१॥
 कटी कुटी मनोजस्य काञ्चीसालकृतावृत्तिः । नाभिरासां गभीरैका कूपिका क्षितजन्मनः ॥४२॥
 मनोभुवोऽतिबृद्धस्य मन्येऽवष्टम्भ^५मं वह्निका । रोमराजिः स्तनौ चासां कामरत्नकरण्डकौ ॥४३॥
 कामपाशायतौ बाहु शिरीषोद्गमकोमलौ । कामस्थोच्छ्रवसित^६ कण्ठः सुकण्ठीनां मनोहरः ॥४४॥
 मुखं रतिसुखागारप्रमुखं^७ मुखबन्धनम्^८ । वैराग्यरससंगस्य तासां च दशनच्छदः^९ ॥४५॥
 रग्विलासाः शरास्तासां कर्णान्तौ लक्ष्यतां गतौ । भ्रूवह्नी धनुर्धरिर्जिगीषोः पुष्पधन्विनः ॥४६॥
 ललाटाभोगमेतासां मन्ये बाह्यालिका^{१०} स्थलम् । अनङ्गनूपतेरिष्ट^{११} भोगकन्तुकचारिणः ॥४७॥
^{१२}अलकाः कामकृष्णाहेः शिखरः^{१३} परिपुञ्जिताः । हृष्टिताः केसवस्त्रयो मदनस्येव वायुराः^{१४} ॥४८॥

वाले जिनके नेत्ररूपी बाणोंसे यह समस्त संसार जीता गया था ऐसी बत्तीस हजार रानियाँ और भी उनके अन्तःपुरमें थीं ॥३६॥ वे छिद्यानवे हजार रानियाँ नखोंकी किरणरूपी फूलों-के खिलनेसे, कुछ-कुछ लाल हथेलीरूपी पल्लवोंसे और भुजारूपी शाखाओंसे कल्पलताकी शोभा धारण कर रहीं थीं ॥३७॥ कामदेवके निवास करनेकी भूमिस्वरूप वे रानियाँ स्तनरूपी कमलोंकी बोड़ियोंसे और खिले हुए मुखरूपी कमलोंसे कमलिनियोंके समान सुशोभित हो रही थीं ॥३८॥ मैं समझता हूँ कि उन रानियोंके शरीर कामरूपी पिशाचकी उन्नतिके पात्र थे क्योंकि उनके आवेशके वशसे ही यह कामदेव सबको उल्लंघन करनेवाली विशाल अवस्थाको प्राप्त हुआ था ॥३९॥ अथवा मुझे यह भी शंका होती है कि उन रानियोंके नख, कामदेवके बाण पੈने करनेके पाषाण थे क्योंकि वह उन्हींपर घिसकर पैसे किये हुए बाणोंसे कामी लोगों-पर प्रहार किया करता था ॥४०॥ यह भी सच है कि उनकी जंघाएँ कामदेवरूपी धनुर्धारीके बड़े-बड़े तरकस थे और ऊरुदण्ड (घुटनोंसे ऊपरका भाग) कामदेवके चढ़नेकी नसेनीके समान थे ॥४१॥ करधनीरूपी कोटसे घिरी हुई उनकी कमर कामदेवकी कुटीके समान थी और उनकी नाभि कामदेवकी गहरी कूपिका (कुदियाँ) के समान जान पड़ती थी ॥४२॥ मैं मानता हूँ कि उनकी रोमराजि कामदेवरूपी अत्यन्त बृद्ध पुरुषके सहारेकी लकड़ी थी और उनके स्तन कामदेवके रत्न रखनेके पिटारे थे ॥४३॥ शिरीषके फूलके समान कोमल उनकी दोनों भुजाएँ कामदेवके पाशके समान लम्बी थीं और अच्छे कण्ठवाले उन रानियोंका मनोहर कण्ठ कामदेवके उच्छ्वासके समान था ॥४४॥ उनका मुख रति (प्रीति) रूपी सुखका प्रधान भवन था और उनके होंठ वैराग्यरसकी प्राप्तिके मुखबन्धन अर्थात् द्वार बन्द करनेवाले कपाट थे ॥४५॥ उन रानियोंके नेत्रोंके कटाक्ष विजयकी इच्छा करनेवाले कामदेवके बाणोंके समान थे, कानके अन्तभाग उसके लक्ष्य अर्थात् निशानोंके समान थे और भौंहरूपी लता धनुषकी लकड़ीके समान थी ॥४६॥ मैं समझता हूँ कि उन रानियोंके ललाटका विस्तार इष्टभोग रूपी गेंदसे खेलनेवाले कामदेवरूपी राजाके खेलनेका मानो मैदान ही हो ॥४७॥ उनके

१ चक्री । २ शङ्कां करोमि । ३ प्राप्त । ४ सदृशी इत्यर्थः । ५ आधार । ६ जीवितम् । ७ प्रकृष्टद्वारम् । ८ पीनाहः । 'पीनाहो मुखबन्धनमस्य यत्' इत्यभिधानात् । ९ रत्नच्छदः - ल० । १० 'सेतुः । 'सेतुरालौ स्त्रियां पुमान्' । ११ इष्टभोगा एव कन्तुकः । १२ चूर्णकुन्तला । 'अलकाचूर्णकुन्तला' इत्यभिधानात् । १३ शिखरः । 'पुष्पकः शिखरः शिशुः' इत्यभिधानात् । १४ मृगबन्धनी ।

इत्यनङ्गमयीं सृष्टिं तन्वानाः स्वाङ्गसंगिनीम् । मनोऽस्य^१ जगृहुः कान्ताः कान्तैः स्वैः कामचेष्टितैः ॥४६॥
 तासां स्रुतुकरस्पर्शैः प्रेमस्निग्धैश्च वीक्षितैः । महती धृतिरस्यासीज्जल्पितैरपि मन्मथैः^२ ॥४७॥
 स्मितेष्वासां दरोज्ज्वल^३ हसितेषु विकस्पर्शः । फलितः^४ परिरम्भेषु^५ रसिकोऽभूज्जतदुमः ॥४८॥
 भूषेयन्प्रपाशाणैः इक्षुपक्षेपणीकृतैः । बहुदुर्गरणस्तासां स्मरोऽभूत् सकम्पग्रहः ॥४९॥
 ग्वरः प्रणयगमेषु कोपेष्वनुनेषु स्रुतुः । स्तब्धो व्यलीकमानेषु सुगन्धः प्रणयकैतवे ॥५०॥
 निर्दयः परिरम्भेषु सानुशान्तो मुखार्पणे । प्रतिपत्तिषु संमूढः पटुः करणचेष्टिते ॥५१॥
 संकल्पेस्वाहितोत्कर्षो मन्दः^६ प्रत्यग्रमंगमे । प्रारम्भे रसिको दीप्तः प्रान्ते करुणकातरः^७ ॥५२॥
 हृद्युच्चावचतां^८ भेजे तासां वीक्षः स मन्मथः । प्रायो मित्ररसः कामः कामिनां हृदयंगमः ॥५३॥
 प्रकाशमधुरानित्यं कामाभू^९ कामातिरेकिणः । स ताभिर्निर्विशान् रेमे^{१०} त्रयुष्मानिध मन्मथः ॥५४॥
 ताश्च तद्धितहारिण्यस्तस्यैवः प्रणयोद्वराः । बभूवुः प्राप्तसाम्राज्या इव^{११} रत्युत्सवश्रियः ॥५५॥

इकट्ठे हुए आगेके सुन्दर बाल कामदेवरूपी काले सर्पके बच्चोंके समान जान पड़ते थे तथा कुछ-कुछ टेढ़ी हुई केशरूपी लताएँ कामदेवके जालके समान जान पड़ती थीं ॥४८॥ इस प्रकार अपने शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाली काममयी रचनाको प्रकट करती हुई वे रानियाँ अपनी सुन्दर कामकी चेष्टाओंसे महाराज भरतका मन हरण करती थीं ॥४९॥ उनके कोमल हाथोंके स्पर्शसे, प्रेमपूर्ण सरस अवलोकनसे, और अव्यक्त मधुर शब्दोंसे इसे बहुत ही संतोष होता था ॥५०॥ रससे भरा हुआ सुरतरूपी वृक्ष इन रानियोंके मन्द-मन्द हँसनेपर कुछ खिल जाता था, जोरसे हँसनेपर पूर्णरूपसे खिल जाता था और आलिंगन करनेपर फलोंसे युक्त हो जाता था ॥५१॥ भौहोंके चलानेरूप यन्त्रोंसे फेंके हुए पत्थरोंके द्वारा तथा दृष्टियोंके फेंकनेरूपी यन्त्र विशेषों (गुथनों) के द्वारा उन स्त्रियोंका बहुत प्रकारका किलेबन्दीका युद्ध होता था और कामदेव उसमें सबकी छोटी पकड़नेवाला था । भावार्थ — कामदेव उन स्त्रियोंसे अनेक प्रकारकी चेष्टा कराता था ॥५२॥ कामदेव इनके प्रेमपूर्ण क्रोधके समय कठोर हो जाता था, अनुनय करने अर्थात् पतिके द्वारा मनाये जानेपर कोमल हो जाता था, झूठा अभिमान करनेपर उद्विग्न हो जाता था, प्रेमपूर्ण कपट करते समय भोला या अनजान हो जाता था, आलिंगनके समय निर्दय हो जाता था, चुम्बनके लिए मुख प्रदान करते समय आज्ञा देनेवाला हो जाता था, स्वीकार करते समय विचार मूढ़ हो जाता था, हाव-भाव आदि चेष्टाओंके समय अत्यन्त चतुर हो जाता था, संकल्प करते समय उत्कर्षको धारण करनेवाला हो जाता था, नवीन समागमके समय लज्जासे कुछ मन्द हो जाता था, सम्भोग प्रारम्भ करते समय अत्यन्त रसिक हो जाता था और सम्भोगके अन्तमें करुणासे कातर हो जाता था । इस प्रकार उन रानियोंका अत्यन्त प्रज्वलित हुआ कामदेव ऊँच-नीची अवस्थाको प्राप्त होता था अर्थात् घटता-बढ़ता रहता था सो ठीक ही है जो काम प्रायः भिन्न-भिन्न रसोंसे भरा रहता है वही कामी पुरुषोंको सुन्दर मालूम होता है ॥५३-५४॥ इस प्रकार वह चक्रवर्ती उन रानियोंके साथ अत्यन्त मधुर तथा इच्छाओंसे भी अधिक भोगोंको भोगता हुआ शरीरधारी कामदेवके समान क्रीड़ा करता था ॥५५॥ भरतके चित्तको हरण करनेवाली और प्रेमसे भरी हुई वे तरुण स्त्रियाँ ऐसी जान पड़ती थीं मानो साम्राज्यको प्राप्त हुई रत्युत्सवरूपी लक्ष्मी ही हों ॥५६॥ उनकी

१ भरतस्य । २ अव्यक्तैः । ३ ईषतिकसित । ४ फलितः ल० । ५ आलिङ्गनेषु । ६ दुर्गयुद्धसदृशः । ७ नवः । ८ करुणरसातुरः । ९ नानालंकारताम् । १० मनोरथवृद्धिकरान् । ११ मूर्तिमान् । १२ रत्युत्सवे श्रियः ल० ।

नाटकानां सहस्राणि त्रात्रिंशत्प्रमितानि वै । मातोद्यानि सगेयानि यानि रम्याणि भूमिभिः^१ ॥५९॥
 ग्रामसतिः सहस्राणि^२ पुरामिन्द्रपुरश्चियम् । स्वर्गलोक इवाभाति नृलोको वैरलंकृतः ॥६०॥
 ग्रामकोट्यश्च विज्ञेया विभोः धणवतिप्रसाः । नन्दनोद्देशजित्वर्यो^३ यात्रामारामभूमयः ॥६१॥
 द्रोणामुख्यसहस्राणि^४ नवतिर्नव चैव हि । धनधान्यसमृद्धीनामधिष्ठानानि यानि वै ॥६२॥
 पत्तनानां सहस्राणि चत्वारिंशत्तथाऽष्ट च । रत्नाकरा इवामान्ति येषामुद्धा^५ वणिक्पथाः ॥६३॥
 पोटर्गव सहस्राणि खेटानां पुरिमा मता । माकारगोपुराट्टाल^६ स्वातघप्रादिशोमिनाम् ॥६४॥
 भनेयुरन्तरद्वीपाः षट्पञ्चाशत्प्रमामिताः । कुमानुषजनाकीर्णा येऽर्णवस्य खिलायिताः^७ ॥६५॥
 संवाहानां सहस्राणि संख्यातानि^८ चतुर्दश । वहन्ति यानि लोकस्य योगक्षेमविश्रायिधिम्^९ ॥६६॥
 स्थालीनां कीटिरेकोक्ता रन्ध्रमे^{१०} या नियोजिता । पक्वरी स्थालीबिलीयानां^{११} तण्डुलानां महानसे ॥६७॥
^{१२} कोटीनां लक्षं ह्यत्र रत्नाकरा^{१३} कुलिर्भैः^{१४} कुटिर्भैः^{१५} कर्णान्तर्गते^{१६} यस्य विनियोगो निरन्तरः ॥६८॥
 तिस्रोऽस्य^{१७} वज्रकोट्यः स्युर्गोकुलैः शशदाकुलाः । यत्र मन्थरवाकृष्टास्तिष्ठन्ति स्माभ्यधाः क्षणम् ॥६९॥
^{१८} कुक्षिवासदशतान्यस्य सप्तैकोक्तानि कीविदैः । प्रत्यन्तवासिनो यत्र न्यवास्तुः^{१९} कृतसंश्रयाः ॥७०॥

विभूतिमें बत्तीस हजार नाटक थे जो कि भूमियोंसे मनोहर थे और अच्छे-अच्छे बाजों तथा गानोंसे सहित थे ॥५९॥ इन्द्रके नगर समान शोभा धारण करनेवाले ऐसे बहत्तर हजार नगर थे जिनसे अलंकृत हुआ यह नरलोक स्वर्गलोकके समान जान पड़ता था ॥६०॥ उस चक्रवर्तीके ऐसे छियानवे करोड़ गाँव थे कि जिनके बगीचोंकी शोभा नन्दन वनको भी जीत रही थी । ॥६१॥ जो धन-धान्यकी समृद्धियोंके स्थान थे ऐसे निन्यानवे हजार द्रोणामुख अर्थात् बन्दरगाह थे ॥ ६२ ॥ जिनके प्रगंसनीय बाजार रत्नाकर अर्थात् समुद्रोंके समान सुशोभित हो रहे थे ऐसे अड़तालीस हजार पत्तन थे ॥६३॥ जो कोट, कोटके प्रमुख दरवाजे, अटारियाँ, परिखाएँ और परकोटा आदिसे शोभायमान हैं ऐसे सोलह हजार खेट थे ॥६४॥ जो कुभोग-भूमि या मनुष्योंसे व्याप्त थे तथा समुद्रके सारभूत पदार्थके समान जान पड़ते थे ऐसे छप्पन अन्तरद्वीप थे ॥६५॥ जो लोगोंके योग अर्थात् नवीन वस्तुओंकी प्राप्ति और क्षेम अर्थात् प्राप्त हुई वस्तुओंकी रक्षा करना आदिकी समस्त व्यवस्थाओंको धारण करते थे तथा जिनके चारों ओर परिखा थी ऐसे चौदह हजार संवाह थे* ॥ ६६ ॥ पकानेके काम आनेवाले एक करोड़ हण्डे थे जो कि पाकशालामें अपने भीतर डाले हुए बहुत-से चावलोंको पकानेवाले थे ॥६७॥ फसल आनेके बाद जो निरन्तर खेतोंको जोतनेमें लगाये जाते हैं और जिनके साथ दोज बोनकी नाली लगी हुई है ऐसे एक लाख करोड़ हल थे ॥६८॥ दही मघनेके शब्दोंसे आकर्षित हुए पार्थक लोग जहाँ धान-भरके लिए ठहर जाते हैं और जो निरन्तर गायोंके समूहसे भरी रहती हैं ऐसी तीन करोड़ व्रज अर्थात् गौशालाएँ थीं ॥ ६९ ॥ जहाँ आश्रय पाकर समीपवर्ती लोग आकर ठहरते थे ऐसे कुक्षिवासियोंकी संख्या पण्डित लोगोंने सात-सी

१ वेपैः । २ पुराणाम् । ३ जयशीलाः । ४ नवाधिकनवतिः । ५ प्रशस्ताः । ६ घूलिकुट्टिम । ७ अप्रतिहत-स्थानायिताः । ८ द्वे खिलाग्रहते समे इत्यभिधानात् । ८ सखातानि - ल० । ९ विधानप्रकारम् । १० पचने । ११ पचनकरी । १२ स्थालीबिलमर्हन्तीति स्थालीबिलीवास्तेषाम् । पचनार्हताम् इत्यर्थः । १३ कोटीनां लक्षम् । १४ कुलिर्भैः द०, अ०, प०, स०, इ० । कुलिर्भैः ल० । कुटिर्भैः द० । १५ आसन्नफलविषयक्षेत्रकर्मणे । १६ गोस्थानकम् । १७ 'ब्रजो गोष्ठाध्वकृन्देषु' इत्यभिधानात् । १७ रत्नानां ऋषिविक्रयस्थान । १८ म्लेच्छाः । १९ निवसन्ति स्म । * पहाड़ोंपर बसनेवाले नगर संवाह कहलाते हैं । † जहाँ रत्नोंका व्यापार होता है उन्हें कुक्षिवास कहते हैं ।

दुर्गादेवी^१ सहस्राणि तस्याष्टविंशतिर्मता ।^२ वनधन्वाननिम्नादिविभागैर्वा विभागिताः ॥७१॥
 म्लेच्छराजसहस्राणि तस्याष्टदशसंख्यया ।^३ रत्नातामुद्भवक्षेत्रं यैः^४ समन्तादधिष्ठितम् ॥७२॥
 कालाख्यश्च महाकालो नैस्सर्प्यः पाण्डुकाङ्क्षया । पद्ममाणवपिङ्गाक्षः सर्वरत्नपदादिकाः ॥७३॥
 निधयो नव तस्यासनं प्रतीतिरिति नामभिः । यैरयं गृहवार्तायां^५ निश्चिन्तोऽभूजिषीश्वरः ॥७४॥
 निधिः पुण्यनिधेरस्य कालाख्यः प्रथमो मतः । यतो लौकिकशब्दादिवार्तानां प्रभवोऽन्वहम् ॥७५॥
 इन्द्रियार्था मनोज्ञा ये बीणावंशानकादयः । तान् प्रसूते यथाकालं निधिरेव विशेषतः ॥७६॥
 असिमव्यादिषट्कर्मसाधनद्रव्यसंपदः । यतः शश्वत् प्रसूयन्ते महाकालो निधिः स वै ॥७७॥
 शय्यासनालयादीनां नैःसर्प्यात् प्रभवो निधेः । पाण्डुकाङ्क्षान्पसंभूतिः षड्रसोत्पत्तिरप्यतः ॥७८॥
 पट्टांशुकदुक्कुलादिष्वस्त्राणां प्रभवो यतः । स पद्माख्यो निधिः पद्मागर्भाभिर्भाषितोऽद्युतत् ॥७९॥
 दिव्याभरणभेदानामुद्भवः पिङ्गलाक्षिणेः । माणवानीतिशास्त्राणां शस्त्राणां च समुद्भवः ॥८०॥
 शङ्खात् प्रदक्षिणावर्तात् सुवर्णो सृष्टिसुत्सृजर् । स शङ्खनिधिस्तमेङ्ग^६ दुष्कमरोष्णिर्जितार्कहक् ॥८१॥
 सर्वरत्नात्महानीलनीलस्थूलो^७ पलादयः । प्रादुःसन्ति^८ मणिच्छायारचितंन्द्रायुधविषः ॥८२॥
 रत्नानि हितवान्यस्य जीवाजीवविभागतः ।^९ क्षमाश्राणैश्वर्यसंभोगसाधनानि ८तुर्दश ॥८३॥

बतलायी है ॥७०॥ अट्टाईस हजार ऐसे सधन वन थे जो कि निर्जल प्रदेश और ऊँचे-ऊँचे पहाड़ी विभागोंमें विभक्त थे ॥७१॥ जिनके चारों ओर रत्नोंके उत्पन्न होनेके क्षेत्र अर्थात् खानें विद्यमान हैं ऐसे अठारह हजार म्लेच्छ राजा थे ॥७२॥ महाराज भरतके काल, महाकाल, नैस्सर्प्य, पाण्डुक, पद्म, माणव, पिङ्ग, शंख और सर्वरत्न इन प्रसिद्ध नामोंसे युक्त ऐसी नौ निधियाँ थीं कि जिनसे चक्रवर्ती घरकी आजीविकाके विषयमें बिलकुल निश्चिन्त रहते थे ॥७३-७४॥ पुण्यकी निधिस्वरूप महाराज भरतके पहली काल नामकी निधि थी जिससे प्रत्येक दिन लौकिक शब्द अर्थात् व्याकरण आदिके शास्त्रोंकी उत्पत्ति होती रहती थी ॥७५॥ तथा बीणा, बाँसुरी, नगाड़े आदि जो-जो इन्द्रियोंके मनोज्ञ विषय थे उन्हें भी यह निधि समया-नुसार विशेष रीतिसे उत्पन्न करती रहती थी ॥७६॥ जिससे असि, मणी आदि छह कर्मोंके साधनभूत द्रव्य और संपदाएँ निरन्तर उत्पन्न होती रहती थीं वह महाकाल नामकी दूसरी निधि थी ॥७७॥ शय्या, आसन तथा मकान आदिकी उत्पत्ति नैस्सर्प्य नामकी निधिसे होती थी । पाण्डुक निधिसे धान्योंकी उत्पत्ति होती थी । इसके सिवाय छह रसोंकी उत्पत्ति भी इसी निधिसे होती थी ॥७८॥ जिससे रेशमी सूती आदि सब तरहके वस्त्रोंकी उत्पत्ति होती रहती है और जो कमलके भीतरी भागोंसे उत्पन्न हुएके समान प्रकाशमान है ऐसी पद्म नामकी निधि अत्यन्त देदीप्यमान थी ॥७९॥ पिङ्गल नामकी निधिसे अनेक प्रकारके दिव्य आभरण उत्पन्न होते रहते थे और माणव नामकी निधिसे नीतिशास्त्र तथा अनेक प्रकारके शस्त्रोंकी उत्पत्ति होती रहती थी ॥८०॥ जो अपने प्रदक्षिणावर्त नामके शंखसे सुवर्णकी सृष्टि उत्पन्न करती थी और जिसने उछलती हुई सुवर्ण-जैसी कान्तिसे सूर्यकी किरणोंकी जीत लिया है ऐसी शंख नामकी निधि थी ॥८१॥ जिसके मणियोंकी कान्तिसे इन्द्रधनुषकी शोभा प्रकट हो रही है ऐसी सर्वरत्न नामकी निधिसे महानील, नील तथा पद्मराग आदि अनेक तरहके रत्न प्रकट होते थे ॥८२॥ इनके सिवाय भरत महाराजके जीव और अजीवके भेदसे दो विभागोंमें बँटे हुए चौदह रत्न भी थे जो कि पृथिवीकी रक्षा और ऐश्वर्यके उपभोग करनेके साधन थे ॥८३॥

१ मरुभूमि । 'समानो मरुधन्वानो' इत्यभिधानात् । २ धन्वन्निम्नानिम्नादि-द० । वनधन्वननन्नादि-ल० ।

३ कुक्षिवासम् । ४ म्लेच्छराजैः । ५ पिङ्ग पिङ्गल । अर्धज कमल । ६ व्यापारे । ७ कालनिधेः । ८ जनयन् ।

९ उच्चलत् । १० पद्मरागः । ११ प्रकटीभवन्ति । १२ पृथ्वीरक्षा ।

चक्रानयत्रदण्डासिमणयश्चर्म काकिणी । चमृगृहपतीभाभयोचितक्षपुरोधसः ॥८४॥
 चक्रासिदण्डरत्नानि सच्छत्राभ्यायुधालयात् । जातानि मणिचर्मभ्यां काकिणी श्रीगृहोदरे ॥८५॥
 स्त्रीरत्नगजवार्जनीं प्रभवो रौप्यशैलतः । रत्नान्यन्यानि साकेताज्जिरे निधिभिः समम् ॥८६॥
 निर्धनीं सङ्ग रत्नानां गुणान् को नाम वर्णयेत् । वैरावर्जितमूर्त्तिं हृदयं चक्रवर्तिनः ॥८७॥
 भेजे षट्कृतुजानिष्ठान् भोगान् पञ्चेन्द्रियोचितान् । स्त्रीरत्नसारं धिस्तद्धि निधानं सुखसंपदाम् ॥८८॥
 कान्तारत्नमभूतस्य सुमन्त्रेण्यनुपदुतम् । भद्रिकाऽसौ प्रकृत्यैव जात्या विद्याधराभवया ॥८९॥
 शिरीषसुकुमाराङ्गी चम्पकच्छदसच्छविः । बकुलामोदनिःश्वासा पाटला पाटलाधराः ॥९०॥
 प्रबुद्धपद्मसौम्यास्या नलोऽपलदलेक्षणा । सुभ्रूलिकुलानीलमृदुकुञ्जितमूर्द्धजा ॥९१॥
 तन्दरी वरारोहा वामोरुर्निविडस्तनी । मृदुबाहुलता साऽभ्रुन्मदनाभेरिवारणिः ॥९२॥
 तत्कर्म नूपुरामङ्गुजितैर्मुखरीकृतौ । भदनद्विरदस्येव तेनसुर्जयविण्ममम् ॥९३॥
 निःश्रेणीकृत्य तज्जङ्घे सवूरुद्वारबन्धनाम् । वासरोहास्त्वयाऽनङ्गस्तच्छोणी नूनमासदत् ॥९४॥

चक्र, छत्र, दण्ड, असि, मणि, चर्म और काकिणी ये सात अजीव रत्न थे और सेनापति, गृह-पति, हाथी, घोड़ा, स्त्री, सिलावट और पुरोहित ये सात सजीव रत्न थे ॥८४॥ चक्र, दण्ड, असि और छत्र ये चार रत्न आयुधशालामें उत्पन्न हुए थे तथा मणि, चर्म और काकिणी ये तीन रत्न श्रीगृहमें प्रकट हुए थे ॥८५॥ स्त्री, हाथी और घोड़ाको उत्पत्ति विजयार्थ शैलपर हुई थी तथा अन्य रत्न निधियोंके साथ-साथ अयोध्यामें ही उत्पन्न हुए थे ॥८६॥ जिनके द्वारा सेवन किया हुआ चक्रवर्तीका हृदय अतिशय बलिष्ठ हो रहा था उन निधियों और रत्नोंका वर्णन कौन कर सकता है ? ॥८७॥ वह चक्रवर्ती स्त्रीरत्नके साथ-साथ छहों ऋतुओंमें उत्पन्न होनेवाले पंचेन्द्रियोंके योग्य भोगोंका उपभोग करता था सो ठीक ही है क्योंकि स्त्री ही समस्त सुख सम्पदाओंका भण्डार है ॥८८॥ महाराज भरतके रोगादि उपद्रवोंसे रहित सुभद्रा नामकी स्त्रीरत्न थी, वह सुभद्रा स्वभावसे ही भद्रा अर्थात् कल्याणरूप थी और जातिसे विद्याधरोके वंशकी थी ॥८९॥ उसके समस्त अंग शिरीषके फूलके समान कोमल थे, कान्ति चम्पाकी फलीके समान थी, श्वासोच्छ्वास बकौली (मौलश्री) के फूलके समान सुगन्धित था, अधर गुलाबके फूलके समान कुछ-कुछ लाल थे, मुख प्रफुल्लित कमलके समान सुन्दर था, नेत्र नील कमलके दलके समान थे, भौंहें अच्छी थीं, केश भ्रमरोंके समूहके समान काले, कोमल और कुछ-कुछ टेढ़े थे, उदर कृश था, नितम्ब सुन्दर थे, जाँघें मनोहर थीं, स्तन कठोर थे और भुजा-रूपी लताएँ कोमल थीं, इस प्रकार वह सुभद्रा कामरूपी अग्निको उत्पन्न करनेके लिए अरुणिके समान थी । भावार्थ — जिस प्रकार अरुणि नामकी लकड़ीसे अग्नि उत्पन्न होती है उसी प्रकार उस सुभद्रासे दर्शकोंके मनमें कामाग्नि उत्पन्न हो उठती थी ॥९०-९२॥ नूपुरोंकी मनोहर झंकारसे वाचालित हुए उसके दोनों चरण ऐसे जान पड़ते थे मानो कामदेवरूपी हाथीके विज्ञय-के नगाड़े ही बजा रहे हों ॥९३॥ ऐसा मालूम होता था मानो कामदेव अपने निवासगृहपर पहुँचनेकी इच्छासे उस सुभद्राकी दोनों जंघाओंको नसेनी बनाकर जिसमें उत्तम ऊरु ही

१ चक्रदण्डासि-ल०, द०, अ०, प०, स०, इ० । २ उत्पत्तिः । ३ रत्नसहितानाम् । ४ रत्ननिधिभिः । ५ वशी-कृतम् । ६ सहायः । ७ स्त्रीरत्नम् । ८ स्थानम् । ९ रोगादिभिरपीडितम् । १० मङ्गलमूर्तिः । ११ स्वभावेन । १२ चम्पककुसुमदल । १३ कुबेराङ्गी । १४ ईषदक्ष । १५ उत्तमनितम्बा । “वरारोहा मत्तकाशिन्युत्तमा वरवर्णिनी” इत्यभिधानात् । १६ मनोहर । १७ अग्निमन्दनकाष्ठम् । १८ सुभद्राचरणौ । १९ कटिम् । ‘कटो ना श्रोणिफलकं कटिः श्रोणिः ककुद्मर्ता’ इत्यभिधानात् ।

निःसृत्य नाभिवत्समीकात् कामकृष्णभुजंगमः । रोमावलीललेनास्या ययौ कुचकरण्डकौ ॥९५॥
 निर्भोकमिव कामाहेः दधानोद्ध^१ स्तनांशुकम् । भुजगोमिव तद्वत्^२ सैकामेकावलीमघात् ॥९६॥
 बभ्रु हारलता कण्ठलग्ना सा नाभिलम्बिनीम् । मन्त्ररक्षामिहानर्कप्रधिता कामशीपिनीम् ॥९७॥
 हाराक्रान्तस्तनामोगा सा स्म धत्ते परां श्रियम् । सीते^३ यमकाद्रिशृङ्गप्रवाहा सरिद्युत्तमा ॥९८॥
 बाहू तस्या जितानङ्गपाशौ लक्ष्मीमुद्वहतुः^४ । कामकलशमस्येव प्ररोहौ दोसभूषणौ ॥९९॥
 रेजे करतलं तस्याः सूक्ष्मरेखाभिराततम् । जयरक्षा इवाविभ्रदम्यस्त्रीनिर्जयार्जिताः ॥१००॥
 मुखमुद्धु तद्वत्^५ स्थितिरलापाङ्गभाङ्गी । लक्ष्मिरेखा^६ मध्यस्थे^७ शिखा^८ मितमोः^९ ॥१०१॥
 वक्त्रमस्याः शशाङ्कस्य कान्तिं जित्वा स्वशोभया । दधे तु^{१०} भूपताकाङ्गं कर्णभ्यां जयपत्रकम् ॥१०२॥
^{११} हेमपत्राङ्कितौ सन्ध्याः^{१२} कर्णौ लीलामवापतुः । स्वर्वाभूनिर्जयायेव कृतपत्रावलम्बनौ ॥१०३॥
 कपोलायुज्ज्वली तस्या दधतुर्दर्पणधियम् । द्रष्टुकामस्य कामस्य^{१३} स्वा दशा दशधा स्थिताः ॥१०४॥
^{१४} मध्येचक्षुर्वीराक्ष्या नासिकाऽभ्यान्मुखोन्मुखी^{१५} । तदामोदमिवाघातं कृतयत्ना कुतूहलात् ॥१०५॥
 कृत्वा श्रोतृपदे^{१६} कर्णौ तन्नेत्रे चित्रमैमिथः । कृतस्पधे^{१७} इवाभातां पुष्पबाणे^{१८} सभापतौ ॥१०६॥

दरवाजेके बन्धन हैं ऐसे उसके नितम्बोंपर जा पहुँचा हो ॥९४॥ रोमावलीके छलसे कामदेव-
 रूपी काला सर्प उसकी नाभिरूपी बामीसे निकलकर उसके स्तनरूपी पिटारोंके समीप जा
 पहुँचा था ॥९५॥ वह सुभद्रा कामरूपी सर्पकी काँचलीके समान सुन्दर स्तनवस्त्र
 (चोली) धारण करती थी और उस कामरूप सर्पको सन्तुष्ट करनेके लिए सर्पिणीके समान
 श्रेष्ठ एकावली हारको धारण करती थी ॥९६॥ वह कण्ठमें पड़ी हुई, नाभि तक लटकती हुई
 और कामको उद्दीपित करनेवाली जिस हाररूपी लताको धारण कर रही थी वह ऐसी मालूम
 होती थी मानो कामदेवके द्वारा गुँथा हुआ और मन्त्रोंसे मन्त्रित हुआ रक्षाका डोरा ही हो ।
 ॥९७॥ जिसके स्तनोंका मध्यभाग हारसे व्याप्त हो रहा है ऐसी वह सुभद्रा इस प्रकारकी
 उत्कृष्ट शोभा धारण कर रही थी मानो जिसका प्रवाह दोनों ओरके यमक पर्वतोंको स्पर्श कर
 रहा है ऐसी उत्तम सीता नदी ही हो ॥९८॥ कामदेवके पाशको जीतनेवाली तथा देदीप्यमान
 आभूषणोंसे सुशोभित उसकी दोनों भुजाएँ ऐसी शोभा धारण कर रही थीं मानो कामरूपी
 कल्पवृक्षके दो अंकुरे ही हों ॥९९॥ सूक्ष्म रेखाओंसे व्याप्त हुआ उसका करतल ऐसा सुशो-
 भित हो रहा था मानो अन्य स्त्रियोंके पराजयसे उत्पन्न हुई विजयकी रेखाएँ ही धारण कर
 रहा हो ॥१००॥ जिसकी भीहें ऊपरको उठी हुई हैं और जिसमें चंचल कटाक्ष हो रहे हैं ऐसा
 उस कृशोदरीका मुख ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो बाण और महाधनुषसे सहित कामदेव-
 की आयुधशाला ही हो ॥१०१॥ उसका मुख अपनी शोभाके द्वारा चन्द्रमाकी कान्तिको जीत-
 कर क्या कानोंके बहानेसे भीहरूपी पताकाके चिह्नसहित विजयपत्र (जीतका प्रमाणपत्र)
 ही धारण कर रहा था ॥१०२॥ सोनेके पत्रोंसे चिह्नित उसके दोनों कान ऐसी शोभा धारण
 कर रहे थे मानो उन्होंने देवांगनाओंको जीतनेके लिए कागज-पत्र ही ले रखे हों ॥१०३॥
 उसके दोनों उज्ज्वल कपोल ऐसे जान पड़ते थे मानो अपनी दश प्रकारकी अवस्थाओंको
 देखनेकी इच्छा करनेवाले कामदेवके दर्पणकी शोभा ही धारण कर रहे हों ॥१०४॥ उस चंचल
 लोचनवाली सुभद्राकी नाक आँखोंके बीचमें मुँहकी ओर झुकी हुई थी और उससे

१-करण्डकम् द०, ल०, इ०, अ० प०, स० । २ प्रवस्तम् । ३ कामाहेः संतोषाय । ४ मुख्याम् । ५ सीता-
 नदी । ६ ददाते स्म । ७ महावापसहितम् । ८ शश्वशालाम् । ९ अनङ्गस्य । १० इव । ११ कर्णपत्र ।
 १२ तस्याः ल०, इ० । १३ आत्मोयाः । १४ चक्षुषोर्मध्ये । १५ मुखस्याभिमुखी । १६ श्रोतृजनस्थाने ।
 १७ कामे सभापतौ सति ।

अभूत् कान्तिश्चकोराक्ष्या ललाटे लुलितालकं । हेममृष्टान्तसंलक्ष्मालोत्पलविभ्रमिनी ॥१०७॥
 तस्या विनीलविश्वस्तकवरीबन्धनधुरम्^१ । केशपाशमनङ्गस्य मध्ये पाशं प्रसारितम् ॥१०८॥
 इत्यस्या रूपमुद्भूतसौष्टवं त्रिजगज्जयि । मन्वानङ्गस्तदङ्गेषु संनिधानं व्यधात् ध्रुवम् ॥१०९॥
 तद्रूपालोकनोच्चस्तद्गात्रस्पर्शनोत्सुकः । तन्मुखामोदमाजिघ्रन् रसयश्चासकृन्मुखम् ॥११०॥
 तद्गण्यकलनिकाणश्रुतिसंसक्तकर्णकः । तद्गात्रविपुलाशमे स रेमे सुखनिर्वृतः^२ ॥१११॥
 पञ्च बाणाननङ्गस्य वदन्त्येतान्^३ कुण्डितान्^४ । पुष्पेषुसंक्रयालोकं प्रसिद्धयैव गता प्रथाम् ॥११२॥
 धनुर्लतां मनोजस्य प्राहुः पुष्पमयीं^५ अञ्जलिं^६ कुक्कुमास्तरं^७ सौख्यं^८ । देवपुत्रोत्तमोऽपि^९ ॥११३॥
 पञ्चबाणाननङ्गस्य नियमयन्ति^{१०} कृतो^{११} जडाः । यदेव कामिनां हारि तदस्त्रं कामदीपनम् ॥११४॥
 स्मितमालोकितं हासो जस्यितं मदमन्मनम् । कामाङ्गमिदमेवान्यत् कैतवं तस्य^{१२} पोषकम् ॥११५॥
 आरुह्यैव नोऽध्मानो स्तनावस्या हिमागमे । रोम्णां^{१३} हृषितमस्याङ्गे शिशिरोत्थं धिनिन्यतुः^{१४} ॥११६॥
 हिमानिलैः कुचोष्णमाहितं^{१५} सा हृतवलमैः । प्रियस्करतलस्पर्शरपनिग्धं^{१६} ऽङ्गुशाघिनी ॥११७॥

वह ऐसी जान पड़ती थी मानो कौतूहलसे मुँहका सुगन्ध सूँघनेके लिए प्रयत्न ही कर रही हो ॥१०५॥ उसके दोनों नेत्र ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो कामदेवके सभापति रहते हुए कानों-को साक्षी बनाकर परस्परमें हाव-भावके द्वारा स्पर्धा ही कर रहे हों ॥१०६॥ जिसपर काली-काली अलकें बिखर रही हैं ऐसे चकोरके समान नेत्रवाली उस सुभद्राके ललाटपर जो कान्ति थी वह सुवर्णके पट्टिपेपर लटकती हुई नीलकमलकी मालाके समान बहुत ही सुन्दर जान पड़ती थी ॥१०७॥ अत्यन्त काले और नीचेकी ओर लटकते हुए कबरीके बन्धनसे सुशोभित उसके केशपाश ऐसे अच्छे जान पड़ते थे मानो फेला हुआ कामदेवका पाश ही हो ॥१०८॥ इस प्रकार जिसकी उत्तमता प्रकट है ऐसे उस सुभद्राके रूपको तीनों जगत्का जीतनेवाला जानकर ही मानो कामदेवने उसके प्रत्येक अंगोंमें अपना निवासस्थान बनाया था ॥१०९॥ उसका रूप देखनेके लिए जो सदा चक्षुओंको ऊपर उठाये रहता है, उसके शरीरका स्पर्श करनेके लिए जो सदा उत्कण्ठित बना रहता है, जो बार-बार उसके मुखकी सुगन्ध सूँघा करता है, बार-बार उसके मुखका स्वाद लिया करता है और उसके संगीतके सुन्दर शब्दोंके सुननेमें जिसके कान सदा तल्लीन रहते हैं ऐसा वह चक्रवर्ती उस सुभद्राके शरीररूपी बड़े बगीचेमें सुखसे सन्तुष्ट होकर क्रीड़ा किया करता था ॥११०-१११॥ कविलोग, जिनका कहीं प्रतिबन्ध नहीं होता ऐसा सुभद्राका रूप, कोमल स्पर्श, मुखकी सुगन्ध, ओठोंका रस और संगीतमय सुन्दर शब्द इन पाँचको ही कामदेवके पाँच बाण बतलाते हैं । लोकमें जो कामदेवके पाँचों बाणोंकी चर्चा है वह रुढ़ि मात्रसे ही प्रसिद्ध हो गयी है ॥११२॥ मूर्ख लोग कहते हैं कि कामदेवका धनुष फूलोंका है परन्तु वास्तवमें स्त्रियोंका अत्यन्त कोमल शरीर ही उसका धनुष है ॥११३॥ न जाने क्यों मूर्ख लोग कामदेवको पाँच बाण ही प्रदान करते हैं अर्थात् उसके पाँच बाण बतलाते हैं क्योंकि जो कुछ भी कामी लोगोंके चित्तको हरण करनेवाला है वह सभी कामको उत्तेजित करनेवाला कामदेवका बाण है । भावार्थ — कामदेवके अनेक बाण हैं ॥११४॥ स्त्रियोंका मन्द हास्य, तिरछी चितवन, जोरसे हँसना और कामके आवेशसे अस्पष्ट बोलना यही सब कामदेवके अंग हैं इनके सिवाय जो उनका कपट है वह इन्हीं सबका पोषण करनेवाला है ॥११५॥ जो जवानीके कारण गर्म हो रहे हैं ऐसे सुभद्राके दोनों स्तन हेमन्तऋतुमें ठण्डसे उठे हुए भरतके शरीरके रोमांचोंको दूर करते थे ॥११६॥ गोदमें शयन करनेवाली सुभद्रा शीतलवायुके

१ गलित । २ सुखतृप्तः । ३ तद्रूपादीन् । ४ अमन्दान् । ५ स्त्रिया इवम् । ६ नियमयन्ति । ७ किं कारणम् । ८ मदेनाव्यक्तभाषिणम् । ९ कामस्य । १० रोमाञ्चम् । 'रोमाञ्चो रोमहर्षणम्' इत्यभिधानात् । ११ नाशं चक्रतुरित्यर्थः । १२ कृतम् । १३ प्रियतमहस्ततल । १४ अपहरति स्म ।

साशोककलिकां चूतमञ्जरीं कर्णसंगिनीम् । दधती^१ चम्पकप्रोत्तेः^२ केशान्तैः साऽरुचन्मध्यां ॥११८॥

मध्यां^३ मधुमदारकलोचनामास्वलद्वयतिम् । बहु मने प्रियः कान्तां मूर्तामिव मदधियम् ॥११९॥

कलैरलिकुलकापीः सान्यपुष्टचिह्नजितैः । मधुरं मधुरभ्यर्ष्टान्^४ तुष्टयेवासुं^५ विशाम्पतिम् ॥१२०॥

^६कलकण्ठीकलकाण्मूर्च्छितैरलिङ्गकृतेः । व्यज्यते स्म स्मराकाण्डावस्कन्दो^७ विषिष्टमायितैः ॥१२१॥

^८पुष्पचूतवनोद्गन्धितफुल्लकमलाकरः । पप्रथे सुरभिर्मासः^९ सुरभीकृतदिग्मुखः ॥१२२॥

हृतालिकुलसंकारः संचरन्मलयानिलः । अनङ्गनृपतेरासीद् घोषयन्निव शासनम्^{१०} ॥१२३॥

संध्यारूपां कलामिन्दोर्मेने लोको जगद्भ्रमः^{११} । करालामिव ल्फाकां^{१२} दंष्ट्रां मदन्तरक्षसः ॥१२४॥

उन्मत्तकोकिले काले तस्मिन्नुन्मत्तवटपत्रे । नानुन्मत्तो जनः कोऽपि सुखजानङ्गं^{१३} द्रुहो सुनीम् ॥१२५॥

सायमुदगाहनिर्णिकैः^{१४} रङ्गैस्तुहिनर्वातलैः । ग्रीष्मे मदनतापान् सास्याङ्गं निरवापयन्^{१५} ॥१२६॥

चन्दनद्रवसंस्त्रिक्तसुन्दराङ्गलतां प्रियाम् । परिभ्रम्य^{१६} दृढं दोभ्यां स लेभे गात्रनिर्हृतिम्^{१७} ॥१२७॥

मदनज्वरतापानां तीव्रग्रीष्मोष्मनिःसहाम्^{१८} । स तां निरवापयामास स्वाङ्गस्पर्शसुखाम्बुभिः ॥१२८॥

द्वारा उत्पन्न हुई स्तनोंकी कैंपकैंपीकी बलेश दूर करनेवाले प्रिय पतिके करतलके स्पर्शसे दूर करती थी ॥११७॥ अशोकवृक्षकी कलीके छावसंस्थ कल्लोंमें लगी हुई अरुचनी मंजरीकी धारण करती हुई वह सुभद्रा वसन्तऋतुमें चम्पाके फूलोंसे गुंथी हुई चोटीसे बहुत ही अधिक सुशोभित हो रही थी ॥११८॥ वसन्तऋतुमें मधुके मदसे जिसकी आँखें कुछ-कुछ लाल हो रही हैं और जिसकी गति कुछ-कुछ लड़खड़ा रही है — स्खलित हो रही है ऐसी उस सुभद्राको भरत महाराज मूर्तिमती मदकी शोभाके समान बहुत कुछ मानते थे ॥११९॥ वह वसन्तऋतु सन्तुष्ट होकर भ्रमरोंकी सुन्दर झंकार और कोकिलाओंकी कमनीय कूकसे मानो राजा भरतकी सुन्दर स्तुति ही करता था ॥१२०॥ कोयलोंके सुन्दर शब्दोंसे मिली हुई भ्रमरोंकी झंकारसे ऐसा जान पड़ता था मानो कामदेवने तगाड़ोंके साथ अकस्मात् आक्रमण ही किया हो — छापा ही मारा हो ॥१२१॥ फूले हुए आमके वनोंसे जो अत्यन्त सुगन्धित हो रहा है, जिसमें कमलोंके समूह फूले हुए हैं और जिसने समस्त दिशाएँ सुगन्धित कर दी हैं ऐसा वह वसन्तका चैत्र मास चारों ओर फैल रहा था ॥१२२॥ भ्रमरसमूहकी झंकारकी हरण करनेवाला, चारों ओर फिरता हुआ मलयसमीर ऐसा जान पड़ता था मानो कामदेवरूपी राजाके शासनकी घोषणा ही कर रहा हो ॥१२३॥ उस समय सन्ध्याकालकी लालीसे कुछ लाल हुई चन्द्रमाकी कलाको लोग ऐसा मानते थे मानो जगत्को निगलनेवाले कामदेवरूपी राक्षसकी रबतसे भीगी हुई भयंकर डाँढ़ ही हो ॥१२४॥ जिसमें कोयल और भ्रमर सभी उन्मत्त हो जाते हैं ऐसे उम वसन्तके समय कामदेवके साथ द्रोह करनेवाले मुनियोंको छोड़कर और कोई ऐसा मनुष्य नहीं था जो उन्मत्त न हुआ हो ॥१२५॥ सायंकालके समय जलमें अवगाहन करनेसे जो स्वच्छ किये गये हैं और जो बर्फके समान शीतल हैं ऐसे अपने समस्त अंगोंसे वह सुभद्रा ग्रीष्मकालमें कामके सन्तापसे सन्तुष्ट हुए भरतके शरीरको शान्त करती थी ॥१२६॥ जिसकी शरीररूपी सुन्दर लतापर घिसे हुए चन्दनका लेप किया गया है ऐसी अपनी प्रिया सुभद्राको भरत महाराज दोनों हाथोंसे गाढ़ आलिङ्गन कर अपना शरीर शान्त करते थे ॥१२७॥ जो कामज्वरके सन्तापसे पीड़ित हो रही है और जिसे ग्रीष्मकालकी तोड़ गरमी विलकुल ही सहन

१ बध्नाग्नी ल० । २ खचितैः । ३ वसन्ते । ४ स्तीति स्म । ५ तोपेणैव । ६ कोकिला । ७ मिथितैः । ८ प्रकटोद्गियते स्म । ९ कामकालघाटीः । १० पुष्पीभवत् । पुष्पचूत—इ०, अ०, प०, स०, द०, ल० । ११ वसन्तः । १२ आज्ञाम् । १३ लोकभक्षकस्य । १४ रुधिरलिप्ताम् । १५ कामघातकान् । १६ संध्याकाल-जलप्रवेशशब्दः । १७ उर्णां परिहाय शीत्यं चकारेत्यर्थः । १८ आलिङ्ग्य । १९ शरीरमुखम् । २० असहमानाम् ।

उत्फुल्लमलिकामोदनादिभिर्गन्धैर्वाहिभिः । स^१ सार्धप्रातिकैर्मजे धृतिं रतिसुखाहरैः^२ ॥१२९॥
 उत्फुल्लपाटलोद्गन्धि मलिकामालमारिणीम्^३ । उपगृह्य^४ प्रियां प्रेम्णा नैदार्थी^५ सोऽनयजिज्ञासु ॥१३०॥
 सा घनस्तनितव्याजात् तर्जितेव मनोमुखा ॥ भुजोपपीडमाश्लिष्य^६ शिष्ये पत्या तपास्यये^७ ॥१३१॥
 नवाम्बुकलुषाः पूरा ध्वनिहन्मदकेकिनाम् । कदम्बामोदिनो घाताः कामिना^८ धृतयेऽभवन् ॥१३२॥
 आरुढकालिकां पश्यन् बलाकामालमारिणीम् । घनालीं पथिकः साश्रुर्दिशो मेनेऽन्धकारिताः ॥१३३॥
 धारास्त्रुभिरानन्दा वागुरेव^९ प्रसारिता । रोधाय पथिकेणानां^{१०} लुब्धकेनेव हृद्भुजा ॥१३४॥
 कृतावधिः प्रियो नागादगाध जलदागमः । इत्युदीक्ष्य^{११} घनाम्^{१२} काचिद् हृदि शून्याऽभवत् सती ॥१३५॥
 विभिन्दन्^{१३} केतकीसूचीस्तत्पांसूनाकिरन्मरुत् । पान्थानां दृष्टिरोधाय धूलिक्षेपमिवाकरोत् ॥१३६॥
 इत्यभ्यर्गतमे तस्मिन् काले जलदमालिनि । स वासभवने रम्ये प्रियास्मरमयन्नुहुः ॥१३७॥
 आकृष्टनिचुलामोद^{१४} तद्वक्त्रामोदमाहरन् । तस्याः स्तनतटोत्संगे सोऽनैर्धाद्^{१५} वार्धिकीं^{१६} निशाम् ॥१३८॥
 स रेमे शरदारम्भे विहरन् कान्तया समम् । घनेष्वमिनवोद्भिन्नसप्तच्छदसुगन्धिषु ॥१३९॥

नहीं हो सकती ऐसी उस सुभद्राको महाराज भरत अपने शरीरके स्पर्शसे उत्पन्न हुए सुखरूपी जलसे शान्त करते थे ॥१२८॥ खिली हुई मालतीकी सुगन्धको धारण करनेवाले तथा रति-समयमें सुख पहुँचानेवाले सार्धकाल और प्रातःकालकी वायुके द्वारा चक्रवर्ती भरत बहुत ही अधिक सन्तोष प्राप्त करते थे ॥१२९॥ फूले हुए गुलाबकी सुगन्धयुक्त मालतीकी मालाओंको धारण करनेवाली उस सुभद्राको आलिंगन कर महाराज भरत बड़े प्रेमसे ग्रीष्मकालकी रात व्यतीत करते थे ॥१३०॥ वर्षाऋतुमें मेघोंकी गर्जनाके बहानेसे भानो कामदेवने जिसे घृङ्गी दिखाकर भयभीत किया है ऐसी वह सुभद्रा भुजाओंसे आलिंगन कर पतिके साथ शयन करती थी ॥१३१॥ उस वर्षाऋतुमें जब जलस मालिन हुए नदियोंके प्रवाह, उन्मत्त मयूरोके शब्द और कदम्बके फूलोंकी सुगन्धिसे युक्त वायु ये सब कामी लोगोंके सन्तोषके लिए थे ॥१३२॥ जिसपर कालिमा छायी हुई है और जो बगुलाओंकी पवित्रको धारण कर रही है ऐसी मेघमाला-को देखते हुए पथिक आँसू डालते हुए दिशाओंको अन्धकारपूर्ण मानते थे ॥१३३॥ उस वर्षा-ऋतुमें जो जलकी धाराएँ पड़ती थीं उनसे रस्सियोंके समान व्याप्त हुई यह पृथिवी ऐसी जान पड़ती थी मानो कामदेवरूपी शिकारीने पथिकरूपी हिरणोंको रोकनेके लिए जाल ही फैलाया हो ॥१३४॥ जो आनेकी अवधि करके गया था ऐसा पति अबतक नहीं आया और यह वर्षा ऋतु आ गयी इस प्रकार बादलोंको देखकर कोई पतिव्रता स्त्री अपने हृदयमें शून्य हो रही थी अर्थात् चिन्तासे उसकी विचारशक्ति नष्ट हो गयी थी ॥१३५॥ केतकीकी बीड़ियोंको भेदन करता हुआ और उनकी धूलको चारों ओर बिखेरता हुआ वायु ऐसा जान पड़ता था मानो पथिकोंकी दृष्टि रोकनेके लिए धूलि ही उड़ा रहा हो ॥१३६॥ इस प्रकार उस वर्षाकालमें जब बादलोंके समूह अत्यन्त निकट आ जाते थे तब चक्रवर्ती भरत अपने मनोहर महलमें प्रिया सुभद्राको बार-बार प्रसन्न करता था—उसके साथ क्रीड़ा करता था ॥१३७॥ जिसने पानीमें उत्पन्न होने-वाले बेंतकी सुगन्धि खींच ली है ऐसे उस सुभद्राके मुखकी सुगन्धको ग्रहण करता हुआ चक्रवर्ती उसके स्तनतटके समीप ही वर्षाऋतुकी रात्रि व्यतीत करता था ॥१३८॥ शरद्ऋतु-

१ पतने । २ संवत्सकालप्रभातकालभेदः । ३ रतिसुखकरैरित्यर्थः । ४ विभ्रतीम् । ५ आलिङ्ग्य । उपगृह्य व०, प०, द० । उपगृह्य अ०, ल०, स० । ६ निदावसंबन्धिनीम् । ७ भुजाभ्यां पीडयित्वा । ८ वर्षाकाले । ९ सन्तोषाय । १० मृगत्रन्धिनी । ११ पान्थमृगाणाम् । १२ आलोक्य । १३ घनान्तस्तेषु प्रीयितभर्तृका द० । १४ अगान् । १५ हिज्जुल । 'निचुलो हिज्जुलोऽम्बुजः' इत्यभिधानात् । १६ वर्षाकालसंबन्धिनीम् ।

स कान्तो रमयामास हारज्योन्माञ्जितस्तनीम् । शारदीं निर्विशन् उग्रोन्मां सौधोन्मज्ञेषु हारिवु ॥१४०॥
 सोत्पलां^१ कुब्जकैर्दृष्ट्वा^२ मालां चूडान्तलम्बिनीम् । बाला पत्युस्तुरसंगाम्मेने बहुरतिप्रियम्^३ ॥१४१॥
 इति सोत्कर्षमेवास्यां प्रथयन् प्रेमनिष्ठताम्^४ । स रेमे रतिसाद्गतो^५ भोगाङ्गैर्दशधोदितैः ॥१४२॥
 मरुता निधयो दिव्याः^६ पुरं शय्यासने चमूः । नाट्यं सभाजनं^७ भोग्यं वाहनं चेति तानि वै ॥१४३॥
 दशाङ्गमिति भोगाङ्गं निर्विशन् स्वाशितं^८ भवम् । स चिरं पालयामास भुवमकोष्णवारणाम्^९ ॥१४४॥
 षोडशास्य सहस्राणि गणबद्धामराः प्रभोः । ये युक्ता धृतनिम्बिता निधिरत्नाम्बरक्षणे ॥१४५॥
 क्षितिसार^{१०} इति ख्यातः प्रकारोऽस्य गृहाष्टुतिः । गोपुरं सर्वतोभद्रं प्रोक्तसद्वर्तोरणम् ॥१४६॥
 नन्द्यावर्तो निवेशोऽस्य शिबिरस्यालधीयसः । प्रासादो वैजयन्ताख्यो यः सर्वत्र सुखावहः ॥१४७॥
 दिक्स्वस्तिका सभाभूमिः पशव्यमणिकुट्टिमा । तस्य चक्रवर्ती^{११} यष्टिः^{१२} सुविधिर्मणिनिर्मिता ॥१४८॥
 गिरिकूटकमित्यासीत् सौधं दिशावलोक्य^{१३} । वर्धमानकामिनी^{१४} मेभानुदमभूद् धिमोः ॥१४९॥
 घर्मान्तोऽस्य^{१५} महान्तासीद् धारागृहसमाङ्गयः । गृहकूटकमित्युच्चैर्वर्षावासः प्रभोरभूत् ॥१५०॥
 पुष्करावर्त्यभिष्यं च हर्म्यमस्य सुवासितम् । कुबेरकान्तमित्यासीद् भाण्डागारं यदक्षयम् ॥१५१॥

के प्रारम्भमें वह चक्रवर्ती, जिनमें नवीन खिले हुए सप्तच्छद वृक्षोंकी सुगन्ध फैल रही है ऐसे वनोंमें अपनी स्त्रीके साथ विहार करता हुआ क्रीडा करता था ॥१३९॥ राजभवनकी मनोहर छतोंपर शरदऋतुकी चाँदनीका उपभोग करता हुआ वह चक्रवर्ती हारकी कान्तिसे जिसके स्तन सुशोभित हो रहे हैं ऐसी प्रिया सुभद्राको प्रसन्न करता था — उसके साथ क्रीडा करता था ॥१४०॥ जब कभी रानी सुभद्रा पतिके वक्षःस्थलपर लेट जाती थी उस समय उसकी चोटीके अन्त भागसे लटकती हुई नील कमलयुक्त भद्रतरणीके फूलोंसे गुम्फित मालाको वह रतिकी लक्ष्मीके समान मानती थी ॥१४१॥ इस प्रकार इस सुभद्रादेवीमें प्रेमकी परवशताको अच्छी तरह प्रकट करता हुआ और रतिमुखके अधीन हुआ वह चक्रवर्ती दश प्रकारके कहे हुए भोगोंके साधनोंसे क्रीडा करता था ॥१४२॥ रत्नसहित नौ निधियाँ, रानियाँ, नगर, शय्या, आसन, सेना, नाट्यशाला, वरतन, भोजन और सवारी ये दश भोगके साधन कहलाते हैं ॥१४३॥ इस प्रकार अपनेको तृप्त करनेवाले दश प्रकारके भोगके साधनोंका उपभोग करते हुए महाराज भरतने विरकाल तक जिसपर एक ही छत्र है ऐसी पृथिवीका पालन किया ॥१४४॥ चक्रवर्ती भरतके ऐसे सोलह हजार गणबद्ध देव थे जो कि तलवार धारण कर निधि, रत्न और स्वयं उनकी रक्षा करनेमें सदा तत्पर रहते थे ॥१४५॥ उनके घरको घेरे हुए क्षितिसार नामका कोट था और देदीप्यमान रत्नोंके तोरणोंसे युक्त सर्वतोभद्र नामका गोपुर था ॥१४६॥ उनकी बड़ी भारी छावनीके ठहरनेका स्थान नन्द्यावर्त नामका था और जो सब ऋतुओंमें सुख देनेवाला है ऐसा वैजयन्त नामका महल था ॥१४७॥ बहुभूल्य मणियोंसे जड़ी हुई दिक्स्वस्तिका नामकी सभाभूमि थी और टहलनेके समय हाथमें लेनेके लिए मणियोंकी बनी हुई सुविधि नामकी लकड़ी थी ॥१४८॥ सब दिशाएँ देखनेके लिए गिरिकूटक नामका राजमहल था और उन्हीं चक्रवर्तीके नृत्य देखनेके लिए वर्धमानक नामकी नृत्यशाला थी ॥१४९॥ उन चक्रवर्तीके गरमीको नष्ट करनेवाला धारागृह नामका बड़ा भारी स्थान था और वर्षाऋतुमें निवास करनेके लिए बहुत ऊँचा गृहकूटक नामक महल था ॥१५०॥ चूनासे सफेद हुआ पुष्करावर्त नामका

१ 'कुब्जिका भद्रतरणी बृहत्पत्रातिकेशरा । महासहा' इति धन्वन्तरिः । २ रचिताम् । ३ रतिश्रीसमानामिति ।
 'पत्युस्तुरस्यस्य स्थिता संजघ्रति स्म सा' ५०, ल० । ४ स्नेहाधीनताम् । ५ रत्यधीनः । ६ देव्यः ६०, ल०,
 ५० । ७ भाजनसहितम् । ८ स्वस्य तृप्तिजनकम् । ९ सुचिरं ल० । १० एकच्छत्रम् । ११ क्षितिसार इति
 नामा । १२ आलिङ्गभूमिः, आम्बोलनभूमिरित्यर्थः । १३ सुविधिनामा । १४ दिशावलोक्यार्थम् । १५ नृत्त-
 दर्शनगृहम् । १६ घर्मान्तसंज्ञाम् ।

वसुधारकमित्यासीत् कोष्ठागारं महाव्ययम् । जीमूतनामधेयं च मञ्जनाभारसृजितम् ॥१५२॥
 रत्नमालाऽतिरोचिष्णुर्बभूवास्यावर्तसिका । देवरम्यंति रम्या सा मता दूष्यकुटी^१ पृथुः ॥१५३॥
 सिंहवाहिन्यभूच्छया सिंहैरूढा भयानकैः । सिंहासनमयोऽस्योच्चैर्गुणैर्नाम्नाऽप्यनुत्तरम् ॥१५४॥
 चामराण्युपमासान^२ न्यर्ताण्यनुपमान्यमान^३ । विजयार्धकुमारेण विनीर्णानि निधीशिने ॥१५५॥
 भास्वत्सूर्यप्रभं तस्य बभूवातपवारणम् । परार्थैरत्ननिर्माणं जितसूर्यशतप्रभम् ॥१५६॥
 नात्रा विद्युत्प्रभे चास्य रुचिरे मणिकुण्डले । जिह्वा ये^४ वैद्युती^५ दीप्तिं हरुचाते स्फुरत्विनी ॥१५७॥
 रत्नांशुर्जटिलास्तस्य पादुका विषमोचिका^६ । परेषां पदसंस्पर्शाद् मुह्यन्त्यो विषमुत्पन्नम् ॥१५८॥
 अभेद्यास्यमभूत्तस्य तनुव्राणं प्रभास्वरम् । द्विषतां शरनाशचैर्यदभेद्यं महाहवे ॥१५९॥
 रथोऽजितजयो नास्मा जयलक्ष्मीभरोद्भवः । यत्र शस्त्राणि जैत्राणि दिव्यान्यासमन्त्रनेकदाः ॥१६०॥
 चण्डाकाण्डाशनिप्रत्यन्याघाताऽकम्पिताखिलम् । जितद्वैत्यामरं तस्य वज्रकाण्डमभून्ननुः ॥१६१॥
 अमोघप्रकास्तन्यास्तन्मणिकैरुत्तवा^७ महेश्वरसाध्यजये चक्री कृतश्छाघो रणाङ्गणे ॥१६२॥
 प्रचण्डा वज्रतुण्डाख्या शक्तिरस्याखिण्डनी । बभूव वज्रनिर्माणास्त्राध्या वज्रजयेऽपि या ॥१६३॥
 कुन्तः सिंहारुको नाम यः सिंहमखरांकुरैः । स्पर्धते स्म निशाताग्रो मणिदण्डाग्रमण्डनः ॥१६४॥

खास महल था और कुबेरकान्त नामका भाण्डारगृह था जो कभी खाली नहीं होता था ॥१५१॥
 वसुधारक नामका बड़ा भारी अटूट कोठार था और जीमूत नामका बड़ा भारी स्नानगृह था ॥१५२॥ उस चक्रवर्तीके अवर्तसिका नामकी अत्यन्त देदीप्यमान रत्नोंकी माला थी और देवरम्या नामकी बहुत बड़ी सुन्दर चाँदनी थी ॥१५३॥ भयंकर सिंहोंके द्वारा धारण की हुई सिंहवाहिनी नामकी शय्या थी और गुण तथा नाम दोनोंसे अनुत्तर अर्थात् उत्कृष्ट बहुत ऊँचा सिंहासन था ॥१५४॥ जो विजयार्धकुमारके द्वारा निधियोंके स्वामी चक्रवर्तीके लिए समर्पित किये गये थे ऐसे अनुपमान नामके उनके चमर उपमाको उत्लंघन कर अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे ॥१५५॥ उस चक्रवर्तीके बहुमूल्य रत्नोंसे बना हुआ और सैकड़ों सूर्यकी प्रभाको जीतने-वाला सूर्यप्रभ नामका अतिशय देदीप्यमान छत्र था ॥१५६॥ उनके देदीप्यमान कान्तिके धारक विद्युत्प्रभ नामके दो ऐसे सुन्दर कुण्डल थे जो कि विजलीकी दीप्तिको पराजित कर सुशोभित हो रहे थे ॥१५७॥ महाराज भरतके रत्नोंकी किरणोंसे व्याप्त हुई विषमोचिका नामकी ऐसी खड़ाऊँ थी जो कि दूसरेके पैरका स्पर्श होते ही भयंकर विष छोड़ने लगती थी ॥१५८॥ उनके अभेद्य नामका कवच था जो कि अत्यन्त देदीप्यमान था और महायुद्धमें शत्रुओं-के तीक्ष्ण बाणोंसे भी भेदन नहीं किया जा सकता था ॥१५९॥ विजयलक्ष्मीके भारको धारण करनेवाला अजितजय नामका रथ था जिसपर शत्रुओंको जीतनेवाले अनेक दिव्य शस्त्र रखे रहते थे ॥१६०॥ असमयमें होनेवाले प्रचण्ड वज्रपातके समान जिसकी प्रत्यंचाके आघातसे समस्त संसारका कंप जाता था और जिसने देव, दानव — सभीको जीत लिया था ऐसा वज्रकाण्ड नामका श्रनुष उस चक्रवर्तीके पास था ॥१६१॥ जो कभी व्यर्थ नहीं पड़ते ऐसे उसके अमोघ नामके बड़े-बड़े बाण थे । इन बाणोंके द्वारा ही चक्रवर्ती जिसमें विजय पाना असाध्य हो ऐसे युद्धस्थलमें प्रशंसा प्राप्त करता था ॥१६२॥ राजा भरतके शत्रुओंको खण्डित करनेवाली वज्रतुण्डा नामकी शक्ति थी, जो कि वज्रकी बनी हुई थी और इन्द्रको भी जीतनेमें प्रशंसनीय थी ॥१६३॥ जिसकी नोक बहुत तेज थी, जो मणियोंके बने हुए डण्डेके अग्रभागपर सुशोभित

१ पटकुटी । २ उपमाप्रमाणम् । ३ भान्ति स्म । ४ कुण्डले । ५ विद्युत्सम्बन्धिनीम् । ६ विषमोचिकासंज्ञाः । ७ महाशरैः । ८ मणिमयदण्डाग्रं मण्डनम् अलंकारो यस्य ।

तस्यासि^१पुत्रिका दीप्रा रत्नानन्दस्फुरत्सरः^२ । लोहवाहिन्यभूषाम्ना जयश्रीदर्पणायिता ॥१६५॥
 कण^३पोऽस्य^४ मनोवेगो जयश्रीप्रणयावहः । द्विषत्कुलकुलक्ष्मा^५ धदलने योऽक्षर्मायितः ॥१६६॥
 सौनन्दका^६व्यमस्थाभूदसिरक्तं स्फुरद्गुप्ति । यस्मिन् करतलारूढे दोलारूढमिवाखिलम् ॥१६७॥
 प्रादुर्भूतमुख खेदं विमोभूतसुखाङ्कितम् । स्फुरताऽऽजीमुखे येन द्विषां मृत्युमुत्थायितम् ॥१६८॥
 चक्ररत्नमभूजिणोर्दिग्गजकाक्रमगक्षमम् । नास्मा सुदर्शनं दीपं यद्दुर्दृष्टमरासिभिः ॥१६९॥
 दक्ष^७गण्डव^८वेगाख्यो दण्डोऽभ्रवक्रिणः पृथुः । स यस्य विनियोगोऽभूद् बिलकण्टकशोषने ॥१७०॥
 नास्मा वज्रमथं दिव्यं चर्मरत्नमभूद् विमोः । तद्वत्तलं यद्दलाधानाक्षिस्तीर्णं^९ जलविप्लवात् ॥१७१॥
 मणिचूडामणिर्नाम चिन्तारत्नमनु^{१०}रक्तं^{११} जलचूडामणेरुप^{१२}चिरीं येनागुह्यविप्लवात् ॥१७२॥
 सा चिन्ताजननीरस्य काकिणी भास्वराऽभवत् । या रूप्यात्रिगुहाभ्रान्तविनिर्मेदकदीपिका ॥१७३॥
 चमूपतिरयोध्याख्यो नृरत्नमभवत् प्रभोः । समरेऽरिजयायस्य रोदसी न्यानशे यशः ॥१७४॥
 बुद्धिसागरनामास्य पुरोधाः पुरुधीरभूत् । धर्म्या क्रिया यदायत्ता प्रतीकारोऽपि दैविकं ॥१७५॥
 सुधीर्गृहपतिर्नास्मा कामवृष्टिरभीष्टदः । व्यथोप^{१३}व्यथचिन्तायां नियुक्तो यो मिधीशिनः^{१४} ॥१७६॥

हो रहा था और जो सिंहके नाखूनोंके साथ स्पर्धा करता था ऐसा उनका सिंहाटक नामका भाला था ॥१६४॥ जो अत्यन्त देदीप्यमान थी, जिसकी रत्नोंसे जड़ी हुई मूठ बहुत ही चमक रही थी, और जो विजयलक्ष्मीके दर्पणके समान जान पड़ती थी ऐसी लोहवाहिनी नामकी उनकी छुरी थी ॥१६५॥ मनोवेग नामका एक कणप (अस्त्रविशेष) था जो कि विजयलक्ष्मीपर प्रेम करनेवाला था और शत्रुओंके वंशरूपी कुलाचलोंको खण्डित करनेके लिए वज्रके समान था ॥१६६॥ भरतके सौनन्दक नामकी श्रेष्ठ तलवार थी जिसकी कान्ति अत्यन्त देदीप्यमान हो रही थी और जिसे हाथमें लेते ही यह समस्त जगत् झूलामें बैठे हुएके समान काँप उठता था ॥१६७॥ उनके भूतोंके मुखोंसे चिह्नित भूतमुख नामका खेद (अस्त्रविशेष) था, जो कि युद्धके प्रारम्भमें चमकता हुआ शत्रुओंके लिए मृत्युके मुखके समान जान पड़ता था ॥१६८॥ उन विजयी चक्रवर्तीके सुदर्शन नामका चक्र था, जो कि समस्त दिशाओंपर आक्रमण करनेमें समर्थ था, देदीप्यमान था और जो शत्रुओंके द्वारा देखा भी नहीं जा सकता था ॥१६९॥ जिसका नियोग गुफाके काँटे वगैरह शोधनेमें था ऐसा घण्डवेग नामका बहुत भारी प्रचण्ड (भयंकर) दण्ड उस चक्रवर्तीके था ॥१७०॥ भरतेश्वर महाराजके वज्रमय चर्मरत्न था, वह चर्मरत्न, कि जिसके बलसे उनकी सेना जलके उपद्रवसे पार हुई थी — बची थी ॥१७१॥ उनके चूडामणि नामका वह उत्तम चिन्तामणि रत्न था जिसने कि जगत्के चूडामणि-स्वरूप महाराज भरतका चित्त अनुरक्त कर लिया था ॥१७२॥ चिन्ताजननी नामकी वह काकिणी थी जो कि अत्यन्त देदीप्यमान हो रही थी और जो विजयार्थ पर्वतकी गुफाओंका अन्धकार दूर करनेके लिए मुख्य दीपिकाके समान थी ॥१७३॥ उन प्रभुके अयोध्य नामका सेनापति था जो कि मनुष्योंमें रत्न था और युद्धमें शत्रुओंको जीतनेसे जिसका यश आकाश और पृथिवीके बीच व्याप्त हो गया था ॥१७४॥ समस्त धार्मिक क्रियाएँ जिसके अधीन थीं और दैविक उपद्रव होनेपर उनका प्रतिकार करना भी जिसके आश्रित था ऐसा बुद्धिसागर नामका महा-बुद्धिमान् पुरोहित था ॥१७५॥ उनके कामवृष्टि नामका गृहपति रत्न था, जो कि अत्यन्त बुद्धिमान् था, इच्छानुसार सामग्री देनेवाला था तथा जो चक्रवर्तीके छोटे-बड़े सभी खर्चोंकी

१ क्षुरिका । 'स्याच्छस्त्री चासिपुत्री च क्षुरिका चासिधेनुका ।' इत्यभिधानात् । २ मुष्टिः । 'त्सरः खड्गादि-मुष्टिः स्याद्' इत्यभिधानात् । ३ कणवोऽस्य ल० । ४ पर्वत । ५ निस्तरणमकरोत् । ६ आय । ७ वक्रिणः ।

रत्नं संप्रतिरूप्यस्य वास्तुविद्यापदातधीः । नास्मा भद्रमुखोऽनेकप्रासादघटमे पटुः ॥१७७॥
 शैलोदग्रो महानस्य यागहस्तीक्षरन्मदः । भद्रो गिरिचरः शुभ्रो नास्मा विजयपर्वतः ॥१७८॥
 पवनस्य जयन् वेगं हयोऽस्य पवनजयः । विजयार्धगुहोरस्रं हेलया यो व्यलक्ष्यम् ॥१७९॥
 प्रागुक्तवर्णनं चास्य स्त्रीरत्नं स्तवनामकम् । रत्नान्वितमधुरं हृद्यं रत्नान्वितमिष्टमिष्टम् ॥१८०॥
 रत्नान्वेतानि दिव्यानि बभूवुश्चक्रवर्तिनः । देवताकृतरक्षाणि यान्यलक्ष्यानि विद्विषाम् ॥१८१॥
 आनन्दिन्योऽब्धिनिर्योषा मेर्योऽस्य द्वावशामवन् । द्विषदधीजनमापूर्य स्वैर्ध्वनैर्याः प्रदध्वन्तुः ॥१८२॥
 आसन् विजयघोषाख्याः पटहा द्वादशापरे । गृहकंकमिहर्द्वावैः सानन्दं श्रुतनिःस्वनाः ॥१८३॥
 गम्भीरावर्तनामानः शङ्खा गम्भीरनिःस्वनाः । चतुर्विंशतिरस्यासन् शुभाः पुण्यधिसंभवाः ॥१८४॥
 कटका रत्ननिर्माणा विभीर्त्तीराङ्गदाह्वयाः । रेणुः प्रकोष्ठभावेष्टय तद्विह्वलयविभ्रमाः ॥१८५॥
 पताकाकोटयोऽस्याष्टचत्वारिंशत्प्रमा मताः । मरुप्रोक्षोलि^१ तोत्प्रोक्षदंशुकोन्मृष्टस्वाङ्गणाः ॥१८६॥
 महाकल्याणकं नाम दिव्याशनमभूत् विभोः । वरुणाणाञ्चस्य येनास्य तृसिपुष्टीबलान्विते ॥१८७॥
 भक्ष्याभामृतगर्भाख्या रुच्यास्वादाः सुगन्धयः । नान्ये^२ जरयितुं शक्ता यान् गरिष्ठरसोत्कटान् ॥१८८॥
 स्वाद्यं^३ चामृतकल्पाख्यं हृद्यारवादं सुसंस्कृतम् । रसायनरसं दिव्यं पानकं चामृताह्वयम् ॥१८९॥

चिन्तामें नियुक्त था । ॥१७६॥ मकान बनानेकी विद्यामें जिसकी बुद्धि प्रवेश पाये हुई है और जो अनेक राजभवनोके बनानेमें चतुर है ऐसा भद्रमुख नामका उनका शिलावटरत्न (इंजीनियर) था ॥१७७॥ जो पर्वतके समान ऊँचा था, बहुत बड़ा था, पूज्य था, जिससे मद झर रहा था, भद्र जातिका था और जिसका गर्जन उत्तम था ऐसा विजयपर्वत नामका सफेद हाथी था ॥१७८॥ जिसने विजयार्धपर्वतकी गुफाके मध्यभागको लीलामात्रमें उल्लंघन कर दिया था ऐसा वायुके वेगको जीतनेवाला पवनजय नामका घोड़ा था ॥१७९॥ और जिसका वर्णन पहले कर चुके हैं, जिसका नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है, जो स्वभावसे ही मधुर है और जो किसी अन्य रसायनके समान हृदयको आनन्द देनेवाला है ऐसा सुभद्रा नामका स्त्रीरत्न था ॥१८०॥ इस प्रकार चक्रवर्तीके ये दिव्य रत्न थे जिनकी देव लोग रक्षा किया करते थे, और जिन्हें शत्रु कभी उल्लंघन नहीं कर सकते थे ॥१८१॥ उस चक्रवर्तीके समुद्रके समान गम्भीर आवाजवाली आनन्दिनी नामकी बारह भेरियाँ थीं जो अपनी आवाजको बारह योजन दूर तक फैलाकर बजती थीं ॥१८२॥ इनके सिवाय बारह नगाड़े और थे जिनकी आवाज घरके मयूर ऊँची गरदन कर बड़े आनन्दके साथ सुना करते थे ॥१८३॥ जिनकी आवाज अतिशय गम्भीर है, जो शुभ हैं, और पुण्यरूपी समुद्रसे उत्पन्न हुए हैं ऐसे गम्भीरावर्त नामके चौबीस शंख थे ॥१८४॥ उस प्रभुके रत्नोके बने हुए वीरांगद नामके कड़े थे जो कि हाथकी कलाईको घेरकर सुलोभित हो रहे थे और जिनको कान्ति बिजलीके कड़ोके समान थी ॥१८५॥ वायुके झँकोरेसे उड़ते हुए कपड़ोंसे जिन्होंने आकाशरूपी आँगनको साढ़कर साफ कर दिया है ऐसी उसकी अड़तालीस करोड़ पताकाएँ थीं ॥१८६॥ महाराज भरतके महाकल्याण नामका दिव्य भोजन था जिससे कि कल्याणमय शरीरको धारण करनेवाले उनके बलसहित तृप्ति और पुष्टि दोनों ही होती थीं ॥१८७॥ जो अत्यन्त गरिष्ठ रससे उत्कट हैं, जिन्हें कोई अन्य पचा नहीं सकता तथा जो रुचिकर, स्वादिष्ट और सुगन्धित है ऐसे उसके अमृतगर्भ नामके भक्ष्य अर्थात् खाने योग्य मोदक आदि पदार्थ थे ॥१८८॥ जिनका स्वाद हृदयको अच्छा

१ वास्तुविद्यास्थाने स्वीकृतबुद्धिः । २ पूज्य । ३ गिरिचरः ल०, प० । ४ चलनेनोच्चलत् । ५ आहारेण । ६ पुष्ट्याः । ७ जीर्णीकर्तुम् । ८ अतिगुह । ९ क्रमुकदाडिमादि । “ओदनाद्यशनं, स्वाद्यं ताम्बूलदि, जलादिकम् । पेयं, स्वाद्यमपूषाद्यं, त्याज्यान्येतानि शक्तिकैः ।”

पुण्यरूपतरोरासन् फलान्येतानि चक्रिणः । चान्यनन्योपभोग्यानि भोगाङ्गान्यनुलानि वै ॥११०॥
 पुण्याद् विना कुतस्तादृग्रूपसंपदनीदृशी । पुण्याद् विना कुतस्तादृगभयं गात्रबन्धनम् ॥१११॥
 पुण्याद् विना कुतस्तादृग्निधिरवर्द्धिरुजिता । पुण्याद् विना कुतस्तादृगिभावादिपरिच्छदः ॥११२॥
 पुण्याद् विना कुतस्तादृगन्तःपुरमहोदयः । पुण्याद् विना कुतस्तादृग् दशाङ्गो भोगसंभवः ॥११३॥
 पुण्याद् विना कुतस्तादृगाज्ञाहीपाब्धिचक्षिणी । पुण्याद् विना कुतस्तादृगजयश्रीजिन्वरी दिशाम् ॥११४॥
 पुण्याद् विना कुतस्तादृगप्रतापः प्रणतामरः । पुण्याद् विना कुतस्तादृगुद्योगो लक्षितार्णवः ॥११५॥
 पुण्याद् विना कुतस्तादृक् प्राभवं त्रिजगज्जयि । पुण्याद् विना कुतस्तादृक् नगराजजयोत्सवः ॥११६॥
 पुण्याद् विना कुतस्तादृक् सत्कारस्तत्कृतोऽधिकः । पुण्याद् विना कुतस्तादृक् सरिदेष्यमिषेचनम् ॥११७॥
 पुण्याद् विना कुतस्तादृक् खचराचलनिर्जयः । पुण्याद् विना कुतस्तादृगप्रजलाभोऽन्यदुर्लभः ॥११८॥
 पुण्याद् विना कुतस्तादृग्यतिर्मरतेऽस्थिले । पुण्याद् विना कुतस्तादृक् कीर्तिर्विद्वत्तलक्षिणी ॥११९॥
 ततः पुण्योदयोद्भूतां मत्वा चक्रभृतः श्रियम् । चिनुष्वं मो युधाः पुण्यं यत्पुण्यं सुखसंपदाम् ॥२००॥

लगनेवाला है और मसाले वगैरहसे जिनका संस्कार किया गया है ऐसे अमृतकल्प नामके उनके स्वाद्य पदार्थ थे तथा रसायनके समान रसीला अमृत नामका दिव्य पानक अर्थात् पीने योग्य पदार्थ था ॥१८९॥ चक्रवर्तीके ये सब भोगोपभोगके साधन उसके पुण्यरूपी कल्पवृक्षके फल थे, उन्हें अन्य कोई नहीं भोग सकता था और वे संसारमें अपनी बराबरी नहीं रखते थे ॥१९०॥

पुण्यके बिना चक्रवर्तीके समान अनुपम रूपसम्पदा कैसे मिल सकती है ? पुण्यके बिना वैसा अमेद्य शरीरका बन्धन कैसे मिल सकता है ? पुण्यके बिना अतिशय उत्कृष्ट निधि और रत्नोंकी ऋद्धि कैसे प्राप्त हो सकती है ? पुण्यके बिना वैसे हाथी, घोड़े आदिका परिवार कैसे मिल सकता है ? पुण्यके बिना वैसे अन्तःपुरका वैभव कैसे मिल सकता है ? पुण्यके बिना दस प्रकारके भोगोपभोग कहाँ मिल सकते हैं ? पुण्यके बिना द्वीप और समुद्रोंको उल्लंघन करनेवाली वैसी आज्ञा कैसे प्राप्त हो सकती है ? पुण्यके बिना दिशाओंको जीतनेवाली वैसी विजयलक्ष्मी कहाँ मिल सकती है ? पुण्यके बिना देवताओंको भी नम्र करनेवाला वैसा प्रताप कहाँ प्राप्त हो सकता है ? पुण्यके बिना समुद्रको उल्लंघन करनेवाला वैसा उद्योग कैसे मिल सकता है ? पुण्यके बिना तीनों लोकोंको जीतनेवाला वैसा प्रभाव कहाँ हो सकता है ? पुण्यके बिना वैसा हिमवान् पर्वतको विजय करनेका उत्सव कैसे मिल सकता है ? पुण्यके बिना हिमवान् देवके द्वारा किया हुआ वैसा अधिक सत्कार कहाँ मिल सकता है ? बिना पुण्यके नदियोंकी अधिष्ठात्री देवियोंके द्वारा किया हुआ वैसा अभिवेक कहाँ हो सकता है ? पुण्यके बिना विजयार्थ पर्वतको जीतना कैसे हो सकता है ? पुण्यके बिना अन्य मनुष्योंको दुर्लभ वैसे रत्नोंका लाभ कहाँ हो सकता है ? पुण्यके बिना समस्त भरतक्षेत्रमें वैसा सुन्दर विस्तार कैसे हो सकता है ? और पुण्यके बिना दिशाओंके किनारेको उल्लंघन करनेवाली वैसी कीर्ति कैसे हो सकती है ? इसलिए हे पण्डित जन, चक्रवर्तीकी विभूतिको पुण्यके उदयसे उत्पन्न हुई मानकर उस पुण्यका संचय करो जो कि समस्त सुख और सम्पदाओंकी दुकानके समान

शार्दूलविक्रीडितम्

इत्याविष्कृतसंपदो विजयिनस्तस्याखिलक्षमाभृतां

स्फीतामप्रतिशासनां प्रथयतः षट्खण्डराज्यश्रियम् ।

कालोऽनल्पतरोऽप्यग्रात् क्षण इव प्राक्पुण्यकर्मादया-

दुद्भृतैः प्रमदावहैः षट्पुत्रैर्भोगैरतिस्वादुभिः ॥२०१॥

नानारत्ननिधानदशविलसत्संपत्तिगुर्धामिमां

साम्राज्यश्रियमेकभोगनियतां^१ कृत्वाऽखिलां पालयन् ।

योऽभूच्चैव किलाकुलः कुलवधूमेकामिवाक्कस्थितां

सोऽयं चक्रवर्तोऽभुनक्^२ भुवममूर्मेकालपत्रां चिरम् ॥२०२॥

यन्नाम्ना भरतावनिरवमगमत् षट्खण्डभूषा^३ मही

येना^४ सेतुहिमाद्रिरक्षितमिदं क्षेत्रं कृतारिक्षयम् ।

यस्याविर्निधिरत्नसंपदुचिता लक्ष्मीरुःशायिनी

स श्रीमान् भरतेश्वरो निधिमुजामग्रेसरोऽभूत् प्रभुः ॥२०३॥

यः स्तुत्यो जगतां त्रयस्य न पुनः स्तोता स्वयं कस्यचिद्

ध्येयो योगिजनस्य यश्च न ततो ध्याता स्वयं कस्यचित् ।

यो नन्तुनपि^५ नेतुमुक्तिमलं^६ नन्तव्यपक्षे^७ स्थितः

स श्रीमान् जयताजगत्त्रयगुरुर्देवः पुरुः पावनः ॥२०४॥

है ॥१९१-२००॥ इस प्रकार जिसने सम्पदाएँ प्रकट की हैं, जिसने समस्त राजाओंको जोत लिया है, और जो दूसरेके शासनसे रहित अपने छह खण्डकी विस्तृत राज्यलक्ष्मीको निरन्तर फेलाता रहता है ऐसे उस चक्रवर्ती भरतका बड़ा भारी समय पूर्व पुण्यकर्मके उदयसे उत्पन्न हुए, सब तरहका आनन्द देनेवाले और अत्यन्त स्वादिष्ट छहों ऋतुओंके भोगोंके द्वारा क्षण-भरके समान व्यतीत हो गया था ॥२०१॥ अनेकों रत्नों, निधियों और देशोंसे सुशोभित हुई सम्पत्तिके द्वारा जो भारी गौरवको प्राप्त हो रही है ऐसी इस समस्त साम्राज्यलक्ष्मीको एक अपने ही उपभोग करनेके योग्य बनाकर उसका पालन करता हुआ जो चक्रवर्ती गोदमें बैठे हुए कुलवधूकी रक्षा करते हुऐके समान कभी व्याकुल नहीं हुआ वह भरत एक छत्रवाली इस पृथिवीका चिरकाल तक पालन करता रहा था ॥२०२॥ छह खण्डोंसे विभूषित पृथिवी जिसके नामसे भरतभूमि नामको प्राप्त हुई, जिसने दक्षिण समुद्रसे लेकर हिमवान् पर्वत तकके इस क्षेत्रमें शत्रुओंका क्षय कर उसकी रक्षा की, तथा प्रकट हुई निधि और रत्न आदि सम्पदाओंसे योग्य लक्ष्मी जिसके वक्षःस्थलपर शयन करती थी वह प्रभु - श्रीमान् भरतेश्वर निधियोंके स्वामी अर्थात् चक्रवर्तियोंमें प्रथम और मुख्य चक्रवर्ती हुआ था ॥२०३॥ जो तीनों जगत्के जीवोंके द्वारा स्तुति करनेके योग्य हैं परन्तु जो स्वयं किसीकी स्तुति नहीं करते, बड़े-बड़े योगी लोग जिनका ध्यान करते हैं परन्तु जो किसीका ध्यान नहीं करते, जो नमस्कार करनेवालोंको भी उन्नत स्थानपर ले जानेके लिए समर्थ हैं परन्तु स्वयं नमस्कार करने योग्य पक्षमें स्थित हैं अर्थात् किसीको नमस्कार नहीं करते, वे तीनों जगत्के गुरु अत्यन्त पवित्र श्रीमान् भगवान्

१ निधि । २ आत्मनः एकस्वीव भोगनियताम् । ३ पालयति स्म । ४ षट्खण्डालंकारा । ५ दक्षिणसमुद्रात् प्रारभ्य हिमवद्गिरिपर्यन्तम् । ६ नमनशीलान् । ७ समर्थः । ८ नमनयोग्यपक्षे । स्वयं कस्यापि नन्ता नेत्यर्थः ।

यं नत्वा पुनरानमन्ति न परं स्तुत्वा च यं नापरं

भव्याः संस्तुवते श्रयन्ति न परं यं संश्रिताः श्रेयसे ।

यः सत्कृत्य कृतादरं कृतधियः सत्कुर्वते नापरं

स श्रीमान् वृषभो जिने^१ भवभयाज्ज्ञायतां तीर्थकृन् ॥२०५॥

मार्गदर्शकः - आचार्य श्री तुलसीदासजी के शिष्यवृन्द

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे

भरतेश्वराभ्युदयवर्णने नाम सप्तत्रिंशत्तमं पर्व ॥२०७॥



वृषभदेव सदा जयवन्त रहें ॥२०४॥ भव्य लोग जिन्हें नमस्कार कर फिर किसी अन्यको नमस्कार नहीं करते, जिनकी स्तुति कर फिर किसी अन्यकी स्तुति नहीं करते, जिनका आश्रय लेकर कल्याणके लिए फिर किसी अन्यका आश्रय नहीं लेते, और बुद्धिमान् लोग जिनका सबने आदर किया है ऐसे जिनका सत्कार कर फिर किसी अन्यका सत्कार नहीं करते वे श्रीमान् वृषभ जिनेन्द्र तीर्थकर हम सबकी संसारके भयसे रक्षा करें ॥२०५॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहके भाषानुवादमें भरतेश्वरके वृषभका वर्णन करनेवाला यह
सैंतीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ।



अष्टत्रिंशत्तमं पर्व

जयन्त्यखिलं वाक्पातंगामिन्धः सूक्तयोऽहंताम् । भूतान्धतमसा दीप्रा यास्त्विषोऽष्टुमतामिव ॥१॥
 स जीयान् वृषभो मोहविषसुसमिदं जघान् । पटविद्येव^१ यद्विद्या सद्यः समुदतिष्ठत् ॥२॥
 तं नन्वा परमं ज्योतिर्वृषभं वीरमन्वतः । द्विजन्मनामधोत्पत्तिं वक्ष्ये श्रेणिक भोः शृणु ॥३॥
 भरतो भारतं वर्ष^२ निर्जित्य सह पार्थिवैः । षष्ठ्या वर्षसहस्रैस्तु दिशां निवृत्ते जयात् ॥४॥
 कृतकृत्यस्य तस्यान्तश्चिन्तेयमुदपद्यत । परार्थे संपदास्माकी सोपयोगा कथं भवेत् ॥५॥
 महामहमहं कृत्वा जिनेन्द्रस्य महोदयम् । प्रीणयामि जगद्विश्वं विश्वम्^३ विश्राणयन् धनम् ॥६॥
 नानगारा वसून्यस्मत् प्रतिगृह्णन्ति निःस्पृहाः । सागारः कतमः^४ पूज्यो धनधान्यसमृद्धिभिः ॥७॥
 'येऽणुव्रतधरा धीरा धौरेया' गृहमेधिनाम् । तर्पणीया हि तेऽस्माभिरीप्सितैर्वसुवाहनैः ॥८॥
 इति निश्चित्य राजेन्द्रः सत्कर्तुमुचितानिमान् । 'परीक्षिषुराह्वास्त तवा सर्वा' महीभुजः ॥९॥
 सदाचारैर्निर्जैरिष्टैरनुजीविभि^५ रन्विताः । भयास्मदुत्सवे यूयमायातेति^६ पृथक् पृथक् ॥१०॥
 हरितैरङ्कुरैः पुष्पैः फलैश्चाकीर्णमङ्गणम् । संस्पृष्टाङ्गीकर्णेषां परीक्ष्य^७ स्तुतेश्च ॥११॥
 तेष्वमता जिना संगत्^८ प्राविशन् नृपमन्दिरम् । तानेकतः समुत्सार्य^९ शेषानाह्वयत् प्रभुः ॥१२॥

जो समस्त भाषाओंमें परिणत होनेवाली है, जिसने अज्ञानरूपी गाढ़ अन्धकारको नष्ट कर दिया है और जो सूर्यकी किरणोंके समान देदीप्यमान है वह अरहन्त भगवान्की सुन्दर वाणी सदा जयवन्त हो ॥१॥ गारुडी विद्याके समान जिनकी विद्याने मोहरूपी विषसे सोये हुए इस समस्त संसारको बहुत शीघ्र जगा दिया वे भगवान् वृषभदेव सदा जयवन्त रहें ॥२॥ गौतमस्वामी राजा श्रेणिकसे कहते हैं कि हे श्रेणिक, मैं उन परमज्योति-स्वरूप भगवान् वृषभदेव तथा भगवान् महावीर स्वामीको नमस्कार कर अब यहाँसे द्विजोंकी उत्पत्ति कहता हूँ सो सुनो ॥३॥ भरत चक्रवर्ती अनेक राजाओंके साथ भारतवर्षको जीतकर साठ हजार वर्षमें दिग्विजयसे वापस लौटे ॥४॥ जब वे सब कार्य कर चुके तब उनके चित्तमें यह चिन्ता उत्पन्न हुई कि दूसरे-के उपकारमें भेरी इस सम्पदाका उपयोग किस प्रकार हो सकता है ? ॥५॥ मैं श्री जिनेन्द्रदेवका बड़े ऐश्वर्यके साथ महामह नामका यज्ञ कर धन वितरण करता हुआ समस्त संसारको सन्तुष्ट करूँ ? ॥६॥ सदा निःस्पृह रहनेवाले मुनि तो हम लोगोंसे धन लेते नहीं हैं परन्तु ऐसा गृहस्थ भी कौन है जो धन-धान्य आदि सम्पत्तिके द्वारा पूजा करनेके योग्य है ॥७॥ जो अणुव्रतको धारण करनेवाले हैं, धीर वीर हैं और गृहस्थोंमें मुख्य हैं ऐसे पुरुष ही हम लोगोंके द्वारा इच्छित धन तथा सवारी आदिक वाहनोंके द्वारा तर्पण करनेके योग्य हैं ॥८॥ इस प्रकार निश्चय कर सत्कार करनेके योग्य व्यक्तियोंकी परीक्षा करनेकी इच्छासे राजराजेश्वर भरतने उस समय समस्त राजाओंको बुलाया ॥९॥ और सबके पास खबर भेज दी कि आप लोग अपने-अपने सदाचारी इष्ट मित्र तथा नौकर-चाकर आदिके साथ आज हमारे उत्सवमें अलग-अलग आवें ॥१०॥ इधर चक्रवर्तीने उन सबकी परीक्षा करनेके लिए अपने घरके आँगनमें हरे-हरे अंकुर, पुष्प और फल खूब भरवा दिये ॥११॥ उन लोगोंमें जो अवती थे वे

१ सर्वभाषात्मिका इत्यर्थः । २ गारुडविद्या । ३ क्षेत्रम् । ४ वितरन् । ५ कश्चन । ६ अणुव्रत- ल० ।

७ धुरीणाः । ८ परीक्षितुमिच्छुः । ९ भृत्यैः । १० आगच्छत । ११ विचारात् प्रतिबन्धाद् वा ।

ते तु स्वयत्सिद्धयर्थमाहमाणा महान्वयाः । नैपुः^१ प्रवेशनं तावद् यावदाद्राक्षुराः पथि ॥१३॥
 सधान्यैर्हरितैः कीर्णमनाक्रम्य नृपाङ्गणम् । निश्चक्रमुः^२ कृपालुत्वात् केचिन् सावधमोदवः ॥१४॥
 कृतानुबन्धना^३ भूयश्चक्रिणः किल तेऽन्तिक्कम् । प्रासुकेन^४ पथाऽन्येन भेजुः क्रान्त्वा नृपाङ्गणम् ॥१५॥
 प्राक् केन हेतुना यूयं नायाताः पुनरागताः । केन व्यतिष्ठति प्रुष्टास्ते प्रत्यभाषन्त चक्रिणम् ॥१६॥
 प्रवालपत्रपुष्पादेः पर्वणि व्यपरोपणम्^५ । न कल्पतेऽथ तज्जानां^६ जन्तूनां नोऽनभिदुहाम्^७ ॥१७॥
 सन्त्येवानन्तशो जीवा हरितेष्वङ्कुराविपुः । निगोता इति सार्वजं^८ देवास्मामिः श्रुतं वचः ॥१८॥
 तस्मान्नास्माभिराक्रान्तमथत्वे^९ त्वद्गृहाङ्गणम् । कृतोपहारमार्द्रादिः^{१०} फलपुष्पाङ्कुरादिभिः ॥१९॥
 इति तद्वचनात् सर्वान् सोऽभिनन्द्य दृढयस्तान् । पूजयामास लक्ष्मीमान्^{११} दानमानादिसत्कृतौ ॥२०॥
 तेषां कृतानि चिह्नानि सूत्रैः पद्माह्वयाक्षिपेः ।^{१२} उपासैर्ब्रह्मसूत्राद्वैरेकाद्येकादशान्तकैः ॥२१॥
 गुणभूमिभूताद् भेदात्^{१३} क्लृप्तयज्ञोपवीतिनाम्^{१४} । सत्कारः कियते स्मैषामग्रताश्च बहिः कृताः ॥२२॥
 अथ तं कृतसन्मानाः चक्रिणा व्रतधारिणः । भजन्ति स्म परं दार्ढ्यं^{१५} लोकश्रैयानपूजयत् ॥२३॥
 इज्यां वार्तां च दत्तिं च स्वाध्यायं संयमं तपः । श्रुतोपासकसुश्रवणात् स तेभ्यः समुपादिशत् ॥२४॥

अर्चयन्ति । अथार्च्यं इति सूत्रेणित्येवम् । अथोपासकः

बिना किसी सोच-विचारके राजमन्दिरमें घुस आये । राजा भरतने उन्हें एक ओर हटाकर बाकी बचे हुए लोगोंकी बुलाया ॥१२॥ परन्तु बड़े-बड़े कुलमें उत्पन्न हुए और अपने व्रतकी सिद्धिके लिए चेष्टा करनेवाले उन लोगोंने जबतक मार्गमें हरे अंकुरे हैं तबतक उसमें प्रवेश करनेकी इच्छा नहीं की ॥१३॥ पापसे डरनेवाले कितने ही लोग दयालु होनेके कारण हरे धान्योसे भरे हुए राजाके आंगनका उल्लंघन किये बिना ही वापस लौटने लगे ॥१४॥ परन्तु जब चक्रवर्तीने उनसे बहुत ही आग्रह किया तब वे दूसरे प्रासुक मार्गसे राजाके आंगनकी लाँघ-कर उनके पास पहुँचे ॥१५॥ आप लोग पहले किस कारणसे नहीं आये थे, और अब किस कारणसे आये हैं ? ऐसा जब चक्रवर्तीने उनसे पूछा तब उन्होंने नीचे लिखे अनुसार उत्तर दिया ॥१६॥ आज पर्वके दिन कोंपल, पत्ते तथा पुष्प आदिका विघात नहीं किया जाता और न जो अपना कुछ बिगाड़ करते हैं ऐसे उन कोंपल आदिमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंका भी विनाश किया जाता है ॥१७॥ हे देव, हरे अंकुर आदिमें अनन्त निगोदिया जीव रहते हैं, ऐसे सर्वज्ञ-देवके वचन हमलोगोंने सुने हैं ॥१८॥ इसलिए जिसमें गीले-गीले फल, पुष्प और अंकुर आदिसे शोभा की गयी है ऐसा आपके घरका आंगन आज हम लोगोंने नहीं खँदा है ॥१९॥ इस प्रकार उनके वचनोंसे प्रभावित हुए सम्पत्तिशाली भरतने व्रतोंमें दृढ़ रहनेवाले उन सबकी प्रशंसा कर उन्हें दान मान आदि सत्कारसे सन्मानित किया ॥२०॥ पद्म नामकी निधिसे प्राप्त हुए एकसे लेकर ग्यारह तककी संख्यावाले ब्रह्मसूत्र नामके सूत्रसे (व्रतसूत्रसे) उन सबके चिह्न किये ॥२१॥ प्रतिमाओंके द्वारा किये हुए भेदके अनुसार जिन्होंने यज्ञोपवीत धारण किये हैं ऐसे इन सबका भरतने सत्कार किया तथा जो व्रती नहीं थे उन्हें वैसे ही जाने दिया ॥२२॥ अथानन्तर चक्रवर्तीने जिनका सन्मान किया है ऐसे व्रत धारण करनेवाले वे लोग अपने-अपने व्रतोंमें और भी दृढ़ताको प्राप्त हो गये तथा अन्य लोग भी उनकी पूजा आदि करने लगे ॥२३॥ भरतने उन्हें उपासकाध्ययनांगसे इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और

१ चेष्टमाताः । २ नेच्छन्ति स्म । ३ निर्गताः । ४ निर्बन्धाः । ५ मार्गेण । ६ हिंसनम् । ७ प्रवालपत्रपुष्पादि-
 जातानाम् । ८ अस्माकम् । ९ अहिसकानाम् । १० सर्वज्ञस्येशम् । ११ इदानीम् । १२ नितरामार्द्रैः ।
 १३ ब्रह्मादिदानसद्वचनादिपूजासत्कारैः । १४ स्वीकृतैः । १५ दार्शनिकादिगुणनिलयविहितात् ।
 १६ कृत । १७ जनः ।

कुलधर्मोऽयमित्येषामर्हत्पूजादिवर्णनम् । तदा भरतराजर्षिरन्वचोचदनुक्रमान् ॥२५॥
 प्रोक्ता पूजार्हतामित्रा स चतुर्धा सदाचर्चनम् । चतुर्मुखमहः कल्पद्रुमाश्चाष्टाह्निकोऽपि च ॥२६॥
 तत्र नित्यमहो नाम शशजिनगृहं प्रति । स्वगृहास्त्रीयमानाऽर्चा गन्धपुष्पाक्षतादिका ॥२७॥
 चैत्यचैत्रालयादीनां भक्स्था निर्माणं च यत् । शासनीकृत्य दानं च ग्रामादीनां सदाचर्चनम् ॥२८॥
 या च पूजा मुनीन्द्राणां नित्यदानानुषङ्गिणी । स च नित्यमहो ज्ञेयो यथा शक्त्युपकल्पितः ॥२९॥
 महामुकुटबद्धश्च क्रियमाणो महामहः । चतुर्मुखः स विज्ञेयः सर्वतोभद्र इत्यपि ॥३०॥
 दद्यात् किमिच्छकं दानं सज्जाद्भिर्यः प्रवर्त्यते । कल्पद्रुममहः सोऽयं अशदाशाग्रपूरणः ॥३१॥
 आष्टाह्निको महः सार्वजनिको रूढ एव सः । महानैन्द्रध्वजोऽभ्यस्तु सुरराजैः कृतां महः ॥३२॥
 यत्किञ्चनमित्यन्तस्त्रिंशत्कृताः सप्तमहः । तन्मेघे चिकल्पे ज्ञेयमन्यथा तादृशम् ॥३३॥
 एवंविधविधानेन या महेज्या जिनेश्विनाम् । विधिज्ञास्तामुशन्तीज्यां वृत्तिं प्राथमकल्पिकीम् ॥३४॥
 वार्ता विशुद्धवृत्त्या स्यात् कृष्यादीनामनुष्ठितिः । चतुर्धा वर्णिता वृत्तिर्दयापात्रसमान्वयैः ॥३५॥
 सानुकम्पमनुग्राहो प्राणिघृन्देऽभयप्रदा । त्रिशुद्धयनुगता सेयं दयादत्तिमता धुधैः ॥३६॥
 महातपोधनायार्चाप्रतिग्रहपुरःसरम् । प्रदानमशनादीनां पात्रदानं तदिव्यते ॥३७॥

तपका उपदेश दिया ॥२४॥ यह इनका कुलधर्म है ऐसा विचार कर राजर्षि भरतने उस समय अनुक्रमसे अर्हत्पूजा आदिका वर्णन किया ॥२५॥ वे कहने लगे कि अर्हन्त भगवान्की पूजा नित्य करनी चाहिए, वह पूजा चार प्रकारकी है सदाचर्चन, चतुर्मुख, कल्पद्रुप और आष्टाह्निक ॥२६॥ इन चारों पूजाओंमेंसे प्रतिदिन अपने घरसे गन्ध, पुष्प, अक्षत इत्यादि ले जाकर जिनालयमें श्री जिनेन्द्रदेवकी पूजा करना सदाचर्चन अर्थात् नित्यमह कहलाता है ॥२७॥ अथवा भक्तिपूर्वक अर्हन्तदेवकी प्रतिमा और मन्दिरका निर्माण कराना तथा दानपत्र लिखकर ग्राम खेत आदिका दान देना भी सदाचर्चन (नित्यमह) कहलाता है ॥२८॥ इसके सिवाय अपनी शक्तिके अनुसार नित्य दान देते हुए महामुनियोंकी जो पूजा की जाती है उसे भी नित्यमह समझना चाहिए ॥२९॥ महामुकुटबद्ध राजाओंके द्वारा जो महायज्ञ किया जाता है उसे चतुर्मुख यज्ञ जानना चाहिए । इसका दूसरा नाम सर्वतोभद्र भी है ॥३०॥ जो चक्रवर्तियोंके द्वारा किमिच्छक (मुँहमाँगा) दान देकर किया जाता है और जिसमें जगत्के समस्त जीवोंकी आशाएँ पूर्ण की जाती हैं वह कल्पद्रुप नामका यज्ञ कहलाता है । भावार्थ — जिस यज्ञमें कल्पवृक्षके समान सबकी इच्छाएँ पूर्ण की जावें उसे कल्पद्रुम यज्ञ कहते हैं, यह यज्ञ चक्रवर्ती ही कर सकते हैं ॥३१॥ चौथा आष्टाह्निक यज्ञ है जिसे सब लोग करते हैं और जो जगत्में अत्यन्त प्रसिद्ध है । इसके सिवाय एक ऐन्द्रध्वज महायज्ञ भी है जिसे इन्द्र किया करता है ॥३२॥ बलि अर्थात् नैवेद्य चढ़ाना, अभिषेक करना, तीनों सन्ध्याओंमें उपासना करना तथा इनके समान और भी जो पूजाके प्रकार हैं वे सब उन्हीं भेदोंमें अन्तर्भूत हैं ॥३३॥ इस प्रकारकी विधिसे जो जिनेन्द्रदेवकी महापूजा की जाती है उसे विधिके जाननेवाले आचार्य इज्या नामकी प्रथम वृत्ति कहते हैं ॥३४॥ विशुद्ध आचरणपूर्वक खेती आदिका करना वार्ता कहलाती है तथा दयादत्ति, पात्रदत्ति, समदत्ति और अन्वयदत्ति ये चार प्रकारकी दत्ति कही गयी हैं ॥३५॥

अनुग्रह करने योग्य प्राणियोंके समूहपर दयापूर्वक मन वचन कायकी शुद्धिके साथ उनके भय दूर करनेको पण्डित लोग दयादत्ति मानते हैं ॥३६॥ महातपस्वी मुनियोंके लिए

१ - तां नित्या सा ल० । २ नित्यमहः । 'अर्चा पूजा च नित्यमहः' । ३ भवतः किमिष्टमिति प्रश्नपूर्वकं तदभिवाञ्छितस्य दानम् । ४ सर्वजने भवः । ५ प्रथमकल्पे भवाम् । षट्कर्मसु प्रथमोक्तमित्यर्थः । ६ अनुष्ठानम् । ७ पूजास्थानविधिपूर्वकम् ।

समानायात्मनाऽऽयस्मै क्रियामन्त्रव्रतादिभिः । 'निस्तारकोत्तमायेह भूहमायतिमर्जनम्' ॥३८॥
 समानदत्तिरेषा स्यात् पात्रे मध्यमतामिते । समानप्रतिपत्त्यैव प्रवृत्ता श्रद्धयाऽन्विता ॥३९॥
 आत्मान्त्रयप्रतिष्ठार्थं सूनवे यदशेषतः । समं समग्रविज्ञाभ्यां स्वधर्मस्थातिमर्जनम् ॥४०॥
 सैषा सकलदत्तिः स्यात् स्वाध्यायः श्रुतभावना । तपोऽनशनवृत्त्यादि संयमो व्रतधारणम् ॥४१॥
 विशुद्धा वृत्तिरेषां षट्तर्याष्टा द्विजन्मनाम् । योऽतिक्रामेदिमां सोऽजो नार्क्ष्य न गुणद्विजः ॥४२॥
 तपः श्रुतं च जातिश्च त्रयं ब्राह्मण्यकारणम् । तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः ॥४३॥
 अपापोपहतां वृत्तिः स्यादेषा जातिरुत्तमा । वर्तीत्याशीति मुख्यत्वाद् व्रतशुद्ध्या सुसंस्कृता ॥४४॥
 मनुष्यजातिरेकैव जातिनामोदयोदया । वृत्तिभेदाहिताज्ञेदाद्यानुर्विध्यमिहाश्नुते ॥४५॥
 ब्राह्मण्य व्रतसंस्कारात् क्षत्रियाः शस्त्रधारणात् । वणिजोऽर्थाजनाभ्यन्तारयात् शूद्रा न्यम्बुत्तिगंश्रयान् ४६
 तपःश्रुताभ्यामेवातो जातिसंस्कार इत्यते । असंस्कृतस्तु यस्ताभ्यां जातिमात्रेण स द्विजः ॥४७॥
 द्विजातो हि द्विजन्मैः क्रियामो गर्भतश्च यः । क्रियामन्त्रविहीनस्तु केवलं नामधारकः ॥४८॥
 तदेषां जातिसंस्कारं द्रव्यकिति सोऽधिरात् । स प्रोवाच द्विजन्मैः क्रियाभेदानशेषतः ॥४९॥

सत्कारपूर्वक पढ़गाह कर जो आहार आदि दिया जाता है उसे पात्रदान कहते हैं ॥३७॥ क्रिया, मन्त्र और व्रत आदिसे जो अपने समान है तथा जो संसारसमुद्रसे पार कर देनेवाला कोई अन्य उत्तम गृहस्थ है उसके लिए पृथिवी सुवर्ण आदि देना अथवा मध्यम पात्रके लिए समान बुद्धिसे श्रद्धाके साथ जो दान दिया जाता है वह समानदत्ति कहलाता है ॥३८-३९॥ अपने वंशकी प्रतिष्ठाके लिए पुत्रको समस्त कुलपद्धति तथा धनके साथ अपना कुटुम्ब सम्पण करनेकी सकल-दत्ति कहते हैं । शास्त्रोंकी भावना (चिन्तन) करना स्वाध्याय है, उपवास आदि करना तप है और व्रत धारण करना संयम है ॥४०-४१॥ यह ऊपर कही हुई छह प्रकारकी विशुद्ध वृत्ति इन द्विजोंके करने योग्य है । जो इनका उल्लंघन करता है वह मूर्ख नाममात्रसे ही द्विज है, गुणसे द्विज नहीं है ॥४२॥ तप, शास्त्रज्ञान और जाति ये तीन ब्राह्मण होनेके कारण हैं, जो मनुष्य तप और शास्त्रज्ञानसे रहित है वह केवल जातिसे ही ब्राह्मण है ॥४३॥ इन लोगोंकी आजीविका पापरहित है इसलिए इनकी जाति उत्तम कहलाती है तथा दान, पूजा, अध्ययन आदि कार्य मुख्य होनेके कारण व्रतोंकी शुद्धि होनेसे वह उत्तम जाति और भी सुसंस्कृत हो गयी है ॥४४॥ यद्यपि जाति नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई मनुष्य जाति एक ही है तथापि आजी-विकाके भेदसे होनेवाले भेदके कारण वह चार प्रकारकी हो गयी है ॥४५॥ व्रतोंके संस्कारसे ब्राह्मण, शस्त्र धारण करनेसे क्षत्रिय, न्यायपूर्वक धन कमानेसे वैश्य और नीच वृत्तिका आश्रय लेनेसे मनुष्य शूद्र कहलाते हैं ॥४६॥ इसलिए द्विज जातिका संस्कार तपश्चरण और शास्त्रा-भ्याससे ही माना जाता है परन्तु तपश्चरण और शास्त्राभ्याससे जिसका संस्कार नहीं हुआ है वह जातिमात्रसे द्विज कहलाता है ॥४७॥ जो एक बार गर्भसे और दूसरी बार क्रियासे इस प्रकार दो बार उत्पन्न हुआ हो उसे द्विजन्मा अथवा द्विज कहते हैं परन्तु जो क्रिया और मन्त्र दोनोंसे ही रहित है वह केवल नामको धारण करनेवाला द्विज है ॥४८॥ इसलिए इन द्विजोंकी जातिके संस्कारको दृढ़ करते हुए सम्राट् भरतेस्वरने द्विजोंके लिए नीचे लिखे अनुसार क्रियाओंके समस्त भेद कहे ॥४९॥

१ संसारसागरोत्तारक । २ दानम् । ३ मध्यमस्त्रं गते । ४ प्रवृत्त्या ल० । ५ सद्धर्मधनाभ्याम् । ६ गुणद्विजः ल०, अ०, प०, स०, इ० । ७ स्वाध्याय । ८ सुसंस्कृता सती । ९ वर्तन । १० नीचवृत्ति । ११ अतः कारणात् ।

ताश्च क्रियास्त्रिधाऽऽज्ञाताः श्रावकाध्यायसंग्रहः । सद्धष्टिमिरनुष्ठेया महोदकाः शुभावहाः ॥५०॥
 गर्भान्वयक्रियाश्चैव तथा दीक्षान्वयक्रियाः । कर्त्रन्वयक्रियाश्चेति तस्मिन्धैव बुधैर्मताः ॥५१॥
 आधानाद्यास्त्रिपञ्चाशज्ज्ञेया गर्भान्वयक्रियाः । चत्वारिंशद्व्याष्टौ च स्मृता दीक्षान्वयक्रियाः ॥५२॥
 कर्त्रन्वयक्रियाश्चैव सप्त तज्ज्ञैः समुचिताः । तासां यथाक्रमं नामनिर्देशोऽयमनुच्यते ॥५३॥
 अङ्गानां सप्तमादत्राद् दुस्तरादर्णवादपि । श्लोकैरष्टाभिरुच्ये प्राप्तिं ज्ञानलब्धं मया ॥५४॥
 आधानं प्रीतिसुप्रीती धृतिर्मोदः प्रियोद्भवः । नामकर्मबहिर्यानिनिषद्याः प्राशनं तथा ॥५५॥
 व्युष्टिश्च केशवापश्च लिपिसंख्यानसंग्रहः । उपनीतिर्घृतं चर्या व्रतावतरणं तथा ॥५६॥
 विवाहो वर्णलाभश्च कुलचर्या गृहीशिता । प्रशान्तिश्च गृहत्यागो दीक्षाश्च जिनरूपता ॥५७॥
 मौनाध्ययनवृत्तत्वं तीर्थकृतस्वभावना । गुरुस्थानाभ्युपगमो गणोपग्रहणं तथा ॥५८॥
 स्वगुरुस्थानसंक्रान्तिर्निसंगत्वात्मभावना । योगनिर्वाणसंप्राप्तियोगनिर्वाणसाधनम् ॥५९॥
 इन्द्रोपपादः अभिषेको विधिदानं सुखोदयः । इन्द्रत्यागावतारौ च हिरण्योत्कृष्टजन्मता ॥६०॥
 मन्दरेन्द्राभिषेकश्च गुरुपूजोपलम्भनम् । यौवराज्यं स्वराज्यं च चक्रलामो दिशां अयः ॥६१॥
 चक्राभिषेकसाम्राज्ये निष्क्रान्तिर्योगसंग्रहः । आर्हन्त्यं तद्विहारश्च योगत्यागोऽग्रनिर्वृतिः ॥६२॥
 त्रयः पञ्चाशदेता हि मता गर्भान्वयक्रियाः । गर्भानादिनिर्वाणपर्यन्ताः परमागमे ॥६३॥
 अवतारो वृत्तलाभः स्थानलाभो गणग्रहः । पूजाराध्यपुण्ययज्ञा दृढचर्यापयोगिता ॥६४॥
 इत्युद्दिष्टाभिरष्टाभिरुपनीत्यादयः क्रियाः । चत्वारिंशत्प्रमाथुक्तास्ताः स्युर्दीक्षान्वयक्रियाः ॥६५॥

उन्होंने कहा कि श्रावकाध्याय संग्रहमें वे क्रियाएँ तीन प्रकारकी कही गयी हैं, सम्यग्दृष्टि पुरुषोंको उन क्रियाओंका पालन अवश्य करना चाहिए क्योंकि वे सभी उत्तम फल देनेवाली और शुभ करनेवाली हैं ॥५०॥ गर्भान्वय क्रिया, दीक्षान्वय क्रिया और कर्त्रन्वय क्रिया इस प्रकार विद्वान् लोगोंने तीन प्रकारकी क्रियाएँ मानी हैं ॥५१॥ गर्भान्वय क्रियाएँ, आधान आदि तिरपन जानना चाहिए और दीक्षान्वय क्रियाएँ अड़तालीस समझना चाहिए ॥५२॥ इनके सिवाय उस विषयके जानकार विद्वानोंने कर्त्रन्वय क्रियाएँ सात संग्रह की हैं । अब आगे यथाक्रमसे उन क्रियाओंका नाम निर्देश किया जाता है ॥५३॥ जो समुद्रसे भी दुस्तर है ऐसे बारह अंगोंमें सातवें अंग (उपासकाध्ययनांग) से जो कुछ मुझे ज्ञानका अंश प्राप्त हुआ है उसे मैं नीचे लिखे हुए आठ श्लोकोंसे प्रकट करता हूँ ॥५४॥ १ आधान, २ प्रीति, ३ सुप्रीति, ४ धृति, ५ मोद, ६ प्रियोद्भव, ७ नामकर्म, ८ बहिर्यान, ९ निषद्या, १० प्राशन, ११ व्युष्टि, १२ केशवाप, १३ लिपि संख्यानसंग्रह, १४ उपनीति, १५ घृतचर्या, १६ व्रतावतरण, १७ विवाह, १८ वर्णलाभ, १९ कुलचर्या, २० गृहीशिता, २१ प्रशान्ति, २२ गृहत्याग, २३ दीक्षाद्य, २४ जिनरूपता, २५ मौनाध्ययनवृत्तत्व, २६ तीर्थकृतभावना, २७ गुरुस्थानाभ्युपगम, २८ गणोपग्रहण, २९ स्वगुरु-स्थानसंक्रान्ति, ३० निःसंगत्वात्मभावना, ३१ योगनिर्वाणसंप्राप्ति, ३२ योगनिर्वाणसाधन, ३३ इन्द्रोपपाद, ३४ अभिषेक, ३५ विधिदान, ३६ सुखोदय, ३७ इन्द्रत्याग, ३८ अवतार, ३९ हिरण्योत्कृष्टजन्मता, ४० मन्दरेन्द्राभिषेक, ४१ गुरुपूजोपलम्भन, ४२ यौवराज्य, ४३ स्वराज्य, ४४ चक्रलाभ, ४५ दिग्विजय, ४६ चक्राभिषेक, ४७ साम्राज्य, ४८ निष्क्रान्ति, ४९ योगसंग्रह, ५० आर्हन्त्य, ५१ तद्विहार, ५२ योगत्याग और ५३ अग्रनिर्वृति । परमागम-में ये गर्भसे लेकर निर्वाणपर्यन्त तिरपन क्रियाएँ मानी गयी हैं ॥५५-६३॥ १ अवतार, २ वृत्तलाभ, ३ स्थानलाभ, ४ गणग्रह, ५ पूजाराध्य, ६ पुण्ययज्ञ, ७ दृढचर्या और ८ उपयोगिता १ नामसंकीर्तन । २ अनुवादयते । ३ -द्वादशाङ्गानाम् मध्ये । ४ उपासकाध्ययनात् । ५ उद्देशं करिष्ये इत्यर्थः । ६ अभ्युपगमः । ७ गर्भान्वयक्रियासु आदौ त्रयोदशक्रियाः मुक्त्वा शेषा उपनीत्यादयः ।

तास्तु कर्त्रन्वया ज्ञेया याः प्राप्याः पुण्यकर्तृभिः । फलरूपतया वृत्ताः^१ सम्मार्गाराधनस्य वै ॥६६॥
 सज्जातिः सद्गृहित्वं च पारिव्राज्यं सुरेन्द्रता । साम्राज्यं परमार्हन्त्यं परनिर्वाणमित्यपि ॥६७॥
 स्थानान्येतानि सप्त स्युः परमाणि जगत्त्रये । अर्हद्वागमृतारवादात् प्रतिलभ्यानि देहिनाम् ॥६८॥
 क्रियाकल्पोऽयमाश्नातो बहुभेदो महर्षिभिः । संक्षेपतस्तु^२ लक्ष्यं वक्ष्ये संचक्ष्यं^३ विस्तरम् ॥६९॥
 आधानं नाम गर्भादौ संस्कारो मन्त्रपूर्वकः । पत्नीमृतुमर्तो ज्ञातां पुरस्कृत्याहं दिव्यया ॥७०॥
 तत्रार्चनाविधौ चक्रग्रथं छत्रग्रथान्वितम् । जिनार्चामभितः^४ स्थाप्यं समं पुण्याग्निभिर्हिभिः ॥७१॥
 त्रयोऽमृषोऽर्हद्गणभृच्छेषकेवलनिर्घृतौ । ये हुतास्ते प्रणेताभ्याः^५ सिद्धार्चविद्युपाश्रयाः^६ ॥७२॥
 तेष्वर्हद्विज्याशेषांशैराहुतिर्मन्त्रपूर्विका । विधेया शुचिभिर्द्रव्यैः पुंसुप्तोत्पत्तिकाम्यया^७ ॥७३॥
 तन्मन्त्रास्तु यथास्मायं वक्ष्यन्तेऽन्यत्र पर्वणि^८ । सप्तधा पीठिकाजातिमन्त्रादिप्रविभागतः ॥७४॥
 विनियोगस्तु सर्वासु क्रियास्वेषां^९ मतो जिनैः । अग्न्यामोहादतस्तज्ज्ञैः प्रयोज्यास्त^{१०} उपासकैः ॥७५॥
 गर्भाधानक्रियामेतां प्रयुज्यादौ यथाविधि । सन्तानार्थं विना शशाङ्क दम्पतिभ्यां^{११} न्यवेयताम् ॥७६॥
 इति गर्भाधानम् ।

इन कहो हुई आठ क्रियाओंके साथ उपनीति नामकी चौदहवीं क्रियासे तिरपनवीं निर्वाण (अग्र-
 निर्वृति) क्रिया तककी चालीस क्रियाएँ मिलाकर कुल अड़तालीस दीक्षान्वय क्रियाएँ कहलाती
 हैं ॥ ६४-६५ ॥ कर्त्रन्वय क्रियाएँ वे हैं जो कि पुण्य करनेवाले लोगोंको प्राप्त हो सकती हैं
 और जो समीचीन मार्गकी आराधना करनेके फलस्वरूप प्रवृत्त होती हैं ॥ ६६ ॥ १ सज्जाति,
 २ सद्गृहित्व, ३ पारिव्राज्य, ४ सुरेन्द्रता, ५ साम्राज्य, ६ परमार्हन्त्य और ७ परमनिर्वाण ये सात
 स्थान तीनों लोकोंमें उत्कृष्ट माने गये हैं और ये सातों ही अर्हन्त भगवान्‌के वचनरूपी अमृतके
 आस्वादनसे जीवोंको प्राप्त हो सकते हैं ॥ ६७-६८ ॥ महर्षियोंने इन क्रियाओंका समूह
 अनेक प्रकारका माना - अनेक प्रकारसे क्रियाओंका वर्णन किया है परन्तु मैं यहाँ विस्तार छोड़-
 कर संक्षेपसे ही उनके लक्षण कहता हूँ ॥ ६९ ॥ चतुर्थ स्नानके द्वारा शुद्ध हुई रजस्वला पत्नी-
 को आगे कर गर्भाधानके पहले अर्हन्तदेवकी पूजाके द्वारा मन्त्रपूर्वक जो संस्कार किया जाता है
 उसे आधान क्रिया कहते हैं ॥ ७० ॥ इस आधान क्रियाकी पूजामें जिनेन्द्र भगवान्‌की प्रतिमाके
 दाहिनी ओर तीन चक्र, बायीं ओर तीन छत्र और सामने तीन पवित्र अग्नि स्थापित करे ॥ ७१ ॥
 अर्हन्त भगवान् (तीर्थंकर) के निर्वाणके समय, गणधरदेवोंके निर्वाणके समय और सामान्य
 केवलियोंके निर्वाणके समय जिन अग्नियोंमें होम किया गया था ऐसी तीन प्रकारकी पवित्र
 अग्नियाँ सिद्ध प्रतिमाकी वेदीके समीप ही तैयार करनी चाहिए ॥ ७२ ॥ प्रथम ही अर्हन्त देवकी
 पूजा कर चुकनेके बाद शेष बचे हुए पवित्र द्रव्यसे पुत्र उत्पन्न होनेकी इच्छा कर मन्त्रपूर्वक उन
 तीन अग्नियोंमें आहुति करनी चाहिए ॥ ७३ ॥ उन आहुतियोंके मन्त्र आगेके पर्वमें शास्त्रा-
 नुसार कहे जावेंगे । वे पीठिका मन्त्र, जातिमन्त्र आदिके भेदसे सात प्रकारके हैं ॥ ७४ ॥
 श्रीजिनेन्द्रदेवने इन्हीं मन्त्रोंका प्रयोग समस्त क्रियाओंमें बतलाया है इसलिए उस विषयके जान-
 कार श्रावकोंकी व्यामोह (प्रमाद) छोड़कर उन मन्त्रोंका प्रयोग करना चाहिए ॥ ७५ ॥ इस
 प्रकार कही हुई इस गर्भाधानकी क्रियाको पहले विधिपूर्वक करके फिर स्त्री-पुरुष दोनोंको विष-
 यानुरागके बिना केवल सन्तानके लिए समागम करना चाहिए ॥ ७६ ॥ इस प्रकार यह गर्भा-
 धान क्रियाकी विधि समाप्त हुई ।

१ प्रवृत्तिताः । २ क्रियालक्षणम् । ३ वर्जयित्वा । ४ तत्र आधानक्रियायाम् । तत्रार्चनाविधौ ल० ।
 ५ जिनविम्बस्य समन्ततः । ६ संस्कार्याः । ७ सिद्धप्रतिमाभिततित्यग्वेविसमीपाश्रिताः । ८ अग्निषु । ९ वाञ्छया ।
 १० सर्ग । ११ मन्त्राणाम् । १२ मन्त्राः । १३ विधीयताम् ल० । न्यवेयताम् द० । अभिगम्यताम् ।

गर्भाधानात् परं मासे तृतीये संप्रवर्तते । प्रीतिर्नाम क्रिया प्रीतिर्यास्तुष्टेया द्विजन्मभिः ॥७३॥
तत्रापि पूर्ववन्मन्त्रपूर्वा पूजा जिनेजिनाम् । द्वारि तोरणविन्यासः पूर्णकुम्भौ च संमत्तौ ॥७४॥
तदादि प्रत्यहं भेरीशब्दो घण्टाध्वनान्वितः^१ । यथाविभवमेधैतैः प्रयोज्यो गृहमेधिमिः ॥७५॥

इति प्रीतिः ।

आधानात् पञ्चमे मासि क्रिया सुप्रीतिरिष्यते । या सुप्रीतैः प्रयोक्तव्या परमोपासकप्रतैः ॥८०॥
तत्राप्युक्तो विधिः पूर्वः सर्वोऽहं द्विभ्वसन्निधौ । कार्यो मन्त्रविधानज्ञैः साक्षीकृत्याग्निदेवताः ॥८१॥

इति सुप्रीतिः ।

धृतिस्तु सप्तमं मासि कार्या तद्वत्क्रियाद्वयैः । गृहमेधिमिरस्यग्रमनोभिर्गर्भवुद्धयै ॥८२॥

इति धृतिः ।

नवमे मास्यतांभ्यर्घ्ये मोदा नाम क्रियाविधिः । तद्वदेवाधृतैः कार्यो गर्भपुष्टयै द्विजोत्तमैः ॥८३॥
तत्रेष्टो गात्रिकाबन्धो^२ मङ्गलयं^३ च प्रसाधनम्^४ । रक्षासूत्रविधानं^५ च गर्भिण्या द्विजसत्तमैः ॥८४॥

इति मोदः ।

प्रियोद्भवः प्रसूतायां^६ जातकर्मविधिः स्मृतः । जिनजातकमाध्याय प्रवर्त्यो यो यथाविधि ॥८५॥

अवान्तरविशेषोऽत्र क्रियामन्त्रादिलक्षणः । भूयान्^७ समस्त्यसौ श्रेयो मूलोपासकसूत्रतः ॥८६॥

^१ घण्टाध्वनितः । - आध्वर्यो यो गृहमेधिमिरस्यग्रमनोभिर्गर्भवुद्धयै

इति प्रियोद्भवः ।

गर्भाधानके बाद तीसरे माहमें प्रीति नामकी क्रिया होती है जिसे सन्तुष्ट हुए द्विज लोग करते हैं ॥ ७३ ॥ इस क्रियामें भी पहलेकी क्रियाके समान मन्त्रपूर्वक जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनी चाहिए, दरवाजेपर तोरण बाँधना चाहिए तथा दो पूर्ण कलश स्थापना करना चाहिए ॥ ७४ ॥ उस दिनसे लेकर गृहस्थोंको प्रतिदिन अपने वैभवके अनुसार घण्टा और नगाड़े बजवाने चाहिए ॥ ७५ ॥ यह दूसरी प्रीति क्रिया है ।

गर्भाधानसे पाँचवें माहमें सुप्रीति क्रिया की जाती है जो कि प्रसन्न हुए उत्तम श्रावकोंके द्वारा की जाती है ॥ ८० ॥ इस क्रियामें भी मन्त्र और क्रियाओंको जाननेवाले श्रावकोंको अग्नि तथा देवताकी साक्षी कर अर्हन्त भगवान्की प्रतिमाके समीप पहले कही हुई समस्त विधि करनी चाहिए ॥ ८१ ॥ यह तीसरी सुप्रीति नामकी क्रिया है ।

जिनका आदर किया गया है और जिनका चित्त व्याकुल नहीं है ऐसे गृहस्थोंको गर्भकी वृद्धिके लिए गर्भसे सातवें महीनेमें पिछली क्रियाओंके समान ही धृति नामकी क्रिया करनी चाहिए ॥ ८२ ॥ यह चौथी धृति नामकी क्रिया है ।

तदनन्तर नौवें महीनेके निकट रहनेपर मोद नामकी क्रिया की जाती है यह क्रिया भी पिछली क्रियाओंके समान आदरयुक्त उत्तम द्विजोंके द्वारा गर्भकी पुष्टिके लिए की जाती है ॥ ८३ ॥ इस क्रियामें उत्तम द्विजोंको गर्भिणीके शरीरपर गात्रिकाबन्ध करना चाहिए अर्थात् मन्त्रपूर्वक बीजाक्षर लिखना चाहिए, मंगलमय आभूषणादि पहनाना चाहिए और रक्षाके लिए कंकणसूत्र आदि बाँधनेकी विधि करनी चाहिए ॥ ८४ ॥ यह पाँचवीं मोदक्रिया है ।

तदनन्तर प्रसूति होनेपर प्रियोद्भव नामकी क्रिया की जाती है, इसका दूसरा नाम जातकर्म विधि भी है । यह क्रिया जिनेन्द्र भगवान्का स्मरण कर विधिपूर्वक करनी चाहिए ॥ ८५ ॥ इस क्रियामें क्रिया मन्त्र आदि अवान्तर विशेष कार्य बहुत भारी हैं इसलिए इसका पूर्ण ज्ञान मूलभूत उपासकाध्ययनाङ्गसे प्राप्त करना चाहिए ॥ ८६ ॥ यह छठवीं प्रियोद्भव क्रिया है ।

१ स्वगान्वितः ल० । २ गात्रेषु बीजाक्षराणां मन्त्रपूर्वकं न्यासः । ३ शोभनम् । ४ अलङ्कारः । ५ रक्षणार्थं कङ्कणसूत्रबन्धनविधानम् । ६ प्रसूतायां सत्याम् । ७ महान् ।

द्वादशाहात् परं नामकर्म जन्मदिनान्तम् । अनुकूले सुतस्यास्य पित्रोरपि सुखावहे ॥८७॥
यथाविभवमग्रेष्टं देवर्षिद्विजपूजनम् । शस्तं च नामधेयं तत् स्थाप्यमन्त्रयवृद्धिकृत् ॥८८॥
अष्टोत्तरसहस्राद् वा जिननामकदम्बकान् । घटपत्रविधानेन प्राङ्मन्यतमं शुभम् ॥८९॥

इति नामकर्म ।

बहिर्याजं ततो 'द्वित्रैर्मासैश्चतुरैरुत्' । यथानुकूलमिष्टेऽह्नि कार्यं सूर्यादिमङ्गलैः ॥९०॥
ततः प्रभृत्यमीष्टं हि शिकोः प्रसववेष्टनः^१ । बहिःप्रणयनं मात्रा धान्युत्सङ्गतस्य वा ॥९१॥
तत्र वन्पुजनादर्थात्सो यः पारितोषिकः^२ । स तस्योत्तरकालेऽप्यो धनं पित्र्यं मुदाप्स्यति ॥९२॥
इति बहिर्याजम् ।

ततः परं निषद्यास्य क्रिया बालस्य कल्प्यते । तद्योग्ये तस्य^३ आस्तीर्णे^४ कृतमङ्गलसन्निधौ ॥९३॥
सिद्धार्चनादिकः सर्वो विधिः पूर्ववदत्र^५ च । यतो विध्यासनाहर्त्वमस्य स्यादुत्तरोत्तरम् ॥९४॥
इति निषद्या ।

जन्मदिनसे बारह दिनके बाद, जो दिन माता पिता और पुत्रके अनुकूल हो, सुख देनेवाला हो उस दिन नामकर्मकी क्रिया की जाती है ॥८७॥ इस क्रियामें अपने वैभवके अनुसार अर्हन्तदेव और ऋषियोंकी पूजा करनी चाहिए, द्विजोंका भी यथायोग्य सत्कार करना चाहिए तथा जो वंशकी वृद्धि करनेवाला हो ऐसा कोई उत्तम नाम बालकका रखना चाहिए ॥८८॥ अथवा जिनेन्द्रदेवके एक हजार आठ नामोंके समूहसे घटपत्रकी विधिसे कोई एक शुभ नाम ग्रहण कर लेना चाहिए । भावार्थ — भगवान्के एक हजार आठ नामोंके एक हजार आठ कागजके टुकड़ोंपर अष्टगन्धसे सुवर्ण अथवा अनारकी कलमसे लिखकर उनकी गोली बना लेवे और पीले वस्त्र तथा नारियल आदिसे ढके हुए एक घड़ेमें भर देवे, कागजके एक टुकड़ेपर 'नाम' ऐसा शब्द लिखकर उसकी गोली बना लेवे इसी प्रकार एक हजार सात कोरे टुकड़ोंकी गोलियाँ बनाकर इन सबको एक दूसरे घड़ेमें भर देवे, अनन्तर किसी अबोध कन्या या बालकसे दोनों घड़ोंमेंसे एक-एक गोली निकलवाता जावे । जिस नामकी गोलीके साथ नाम ऐसा लिखी हुई गोली निकले वही नाम बालकका रखना चाहिए । यह घटपत्र विधि कहलाती है ॥८९॥ यह सातवीं नामकर्म क्रिया है ।

तदनन्तर दो-तीन अथवा तीन-चार माहके बाद किसी शुभ दिन तुरही आदि मांगलिक वाजोंके साथ-साथ अपनी अनुकूलताके अनुसार बहिर्याज क्रिया करनी चाहिए ॥९०॥ जिस दिन यह क्रिया की जावे उसी दिनसे माता अथवा धायकी गोदमें बैठे हुए बालकका प्रसूति-गृहसे बाहर ले जाना शास्त्रसम्मत है ॥९१॥ उस क्रियाके करते समय बालकको भाई बान्धव आदिसे पारितोषिक — भेंटरूपसे जो कुछ धनकी प्राप्ति हो उसे इकट्ठा कर, जब वह पुत्र पिताके धनका अधिकारी हो तब उसके लिए सौंप देवे ॥९२॥ यह आठवीं बहिर्याज क्रिया है ।

तदनन्तर, जिसके समीप मङ्गलद्रव्य रखे हुए हैं और जो बालकके योग्य हैं ऐसे बिछाये हुए आसनपर उस बालककी निषद्या क्रिया की जाती है अर्थात् उसे उत्तम आसनपर बैठा लेते हैं ॥९३॥ इस क्रियामें सिद्ध भगवान्की पूजा करना आदि सब विधि पहलेके समान ही करनी चाहिए जिससे इस बालककी उत्तरोत्तर दिव्य आसनपर बैठनेकी योग्यता होती रहे ॥९४॥ यह नौवीं निषद्या क्रिया है ।

१ द्यौ वा षयो वा द्वित्रास्तैः । २ अथवा । ३ प्रसववेष्टनः सकाशात् । ४ पारितोषे भवः । ५ शय्यायाम् ।
६ विस्तीर्णे । ७ निषद्याक्रियायाम् । ८ निषद्याक्रियायाः ।

गते मासपृथक्त्वे^१ च जन्माद्यस्थ^२ यथाक्रमम् । अक्षप्राशनमांश्रातं पूजाविधिपुरःसरम् ॥९५॥

इति अक्षप्राशनम् ।

ततोऽस्य ह्यायने^३ पूर्णे व्युष्टिर्नाम क्रिया मता । वर्षवर्धनपर्यायशब्दवाच्या यथाश्रुतम्^४ ॥९६॥

अत्रापि पूर्ववदानं जैनी पूजा च पूर्ववत् । इष्टवन्धसमाह्वानं समाशादिश्च^५ लक्ष्यताम् ॥९७॥

इति व्युष्टिः ।

केशवापस्तु केशानां शुभेऽङ्घ्रि व्यपरोपणम्^६ । क्षीरेण कर्मणां देवगुरुपूजापुरःसरम् ॥९८॥

गन्धोदकाद्विंशान् कृत्वा केशान् शेषाक्षतोचितान् । मौण्ड्यमस्य विधेयं स्यात् सखूलं^७ स्वाऽन्वयोचितम्^८
स्नपनोदकधौताङ्गमनुलिप्तं सभूषणम्^९ । प्रणमस्य^{१०} मुनीन् पश्चाद् योजयेद् बन्धुनाशिषा^{११} ॥१००॥

चौलाङ्ग्यया प्रतीतिश्च कृतपुण्याहमङ्गला । क्रियास्यासादतो लोको धत्ते परया मुदा ॥१०१॥

इति केशवापः ।

ततोऽस्य पञ्चमे वर्षे प्रथमाक्षरदर्शने । ज्ञेयः क्रियाविधिर्नास्ति लिपिसंख्यानसंग्रहः ॥१०२॥

यथाविभवमत्रापि ज्ञेयः पूजापरिच्छदः । उपाध्यायपदे चास्य ततोऽधीती^{१२} गृह्यती ॥१०३॥

इति लिपिसंख्यानसंग्रहः ।

क्रियोपनीतिर्नामास्य वर्षे गर्भाष्टमे मता । यत्रापनीतकेशस्य मौञ्जी सप्ततन्धना ॥१०४॥

जब क्रम-क्रमसे सात-आठ माह व्यतीत हो जायें तब अर्हन्त भगवान्की पूजा आदि कर बालकको अन्न खिलाना चाहिए ॥९५॥ यह दसवीं अक्षप्राशन क्रिया है ।

तदनन्तर एक वर्ष पूर्ण होनेपर व्युष्टि नामकी क्रिया की जाती है इस क्रियाका दूसरा नाम शास्त्रानुसार वर्षवर्धन है ॥९६॥ इस क्रियामें भी पहले ही के समान दान देना चाहिए, जिनेन्द्र भगवान्की पूजा करनी चाहिए, इष्टवन्धुओंको बुलाना चाहिए और सबको भोजन कराना चाहिए ॥९७॥ यह ग्यारहवीं व्युष्टि क्रिया है ।

तदनन्तर, किसी शुभ दिन देव और गुरुकी पूजाके साथ-साथ क्षीरकर्म अर्थात् उस्तरासे बालकके बाल बनवाना केशवाप क्रिया कहलाती है ॥९८॥ प्रथम ही बालोंको गन्धोदकसे गीला कर उनपर पूजाके बने हुए शेष अक्षत रखे और फिर चोटी सहित अथवा अपनी कुलपद्धतिके अनुसार उसका मुण्डन करना चाहिए ॥९९॥ फिर स्नान करानेके लिए लाये हुए जलसे जिसका समस्त शरीर साफ कर दिया गया है, जिसपर लेप लगाया गया है और जिसे उत्तम आभूषण पहनाये गये हैं ऐसे उस बालकसे भुक्तियोंको नमस्कार करावें, पश्चात् सब भाई, बन्धु उसे आशीर्वादसे युक्त करें ॥१००॥ इस क्रियामें पुण्याहमंगल किया जाता है और यह चौल क्रिया नामसे प्रसिद्ध है इस क्रियामें आदरको प्राप्त हुए लोग बड़े हर्षसे प्रवृत्त होते हैं ॥१०१॥ यह केशवाप नामकी बारहवीं क्रिया है ।

तदनन्तर पाँचवें वर्षमें बालकको सर्वप्रथम अक्षरोंका दर्शन करानेके लिए लिपिसंख्यान नामकी क्रियाकी विधि की जाती है ॥१०२॥ इस क्रियामें भी अपने वैभवके अनुसार पूजा आदिकी सामग्री जुटानी चाहिए और अध्ययन करानेमें कुशल व्रती गृहस्थको ही उस बालकके अध्यापकके पदपर नियुक्त करना चाहिए ॥१०३॥ यह तेरहवीं लिपिसंख्यान क्रिया है ।

गर्भसे आठवें वर्षमें बालककी उपनीति (यज्ञोपवीत धारण) क्रिया होती है । इस क्रियामें केशोंका मुण्डन, व्रतबन्धन तथा मौञ्जीबन्धनकी क्रियाएँ की

१ सप्ताष्टमासे । २ जन्मदिनात् प्रारम्भ । ३ संवत्सरे । 'संवत्सरो वत्सरोऽब्दो ह्यायनोऽस्त्री शरत् समा' इत्यभिधानात् । ४ शास्त्रानुसारेण । ५ तत्रापि ल० । ६ सहभोजनादिः । ७ अपनयनम् । ८ खूषासहितम् । शिखासहितमित्यर्थः । ९ चान्वयोचितम् ल० । चान्वयोचितम् द० । १० अलंकारयुक्तशिशुम् । ११ मुनिभ्यो नमनं कारयित्वा । १२ बन्धुममूहकृताशीर्वाचनेन । १३ अधीतवान् ।

कृतार्हत्पूजनस्यास्य मौञ्जीबन्धो जिनालये । गुरुसाक्षिविधातस्यो व्रतापेणपुरस्सरम् ॥१०५॥
 शिक्षी सितांशुकः सान्तव्रासा^१ निर्वेषविक्रिय^२ । व्रतचिह्नं दधत्सु^३ तदोक्तो ब्रह्मचर्यसौ ॥१०६॥
 चरणोचितमन्यश्च^४ नामधेयं तदस्य^५ वै । वृत्तिश्च भिक्षयाऽन्यत्र राजन्यादुद्धवैभवात् ॥१०७॥
 सोऽन्तःपुरे चरन् पाश्या^६ नियोग इति केवलम् । तदग्रं देवसाकृत्य^७ ततोऽसं योग्यमाहरेत्^८ ॥१०८॥
 इत्युपनीतिः ।

व्रतचर्यामसौ^१ वक्ष्ये क्रियामस्योपविभ्रतः । कक्ष्यूरःशिरोलिङ्गमनूचानव्रतोचितम् ॥१०९॥
 कटीलिङ्गं भवेदस्य मौञ्जीबन्धात्रिमिगुणैः । रत्नप्रितयशुद्धवर्णं तद्धि चिह्नं द्विजात्मनाम् ॥११०॥
 तस्येश्वरूलिङ्गं^२ च सुधीतसितशाटकम्^३ । आहृतानां कुलं पूतं विशालं चेति सूचने ॥१११॥
 उरोलिङ्गमथास्य स्याद् ग्रथितं सप्तमिगुणैः । यज्ञोपवीतकं यत्परमस्थानसूचकम् ॥११२॥
 शिरोलिङ्गं च तस्येष्टं पं मौण्ड्यमनाविलम्^४ । मौण्ड्यं मनोवचःकायगतमस्योपहृतम् ॥११३॥
 एवंप्रायेण^५ लिङ्गेन विशुद्धं धारयेद् व्रतम् । स्थूलहिंसाविरत्यादि वक्ष्येधोपहृतम् ॥११४॥
 दन्तकाष्ठग्रहो नास्य न ताम्बूलं न चाञ्जनम् । न हरिद्रादिभिः स्नानं शुद्धस्नानं दिनं प्रति ॥११५॥

जाती हैं ॥१०४॥ प्रथम ही जिनालयमें जाकर जिसने अर्हन्तदेवकी पूजा की है ऐसे उस बालकको व्रत देकर उसका मौञ्जीबन्धन करना चाहिए अर्थात् उसकी कमरमें मौँजकी रस्सी बाँधनी चाहिए ॥१०५॥ जो चोटी रखाये हुए है, जिसकी सफेद घोती और सफेद दुपट्टा है, जो वेष और विकारोंसे रहित है, तथा जो व्रतके चिह्नस्वरूप यज्ञोपवीत सूत्रको धारण कर रहा है ऐसा वह बालक उस समय ब्रह्मचारी कहलाता है ॥१०६॥ उस समय उसके आचरणके योग्य और भी नाम रखे जा सकते हैं । उस समय बड़े वैभवशाली राजपुत्रको छोड़कर सबको भिक्षावृत्तिसे ही निर्वाह करना चाहिए और राजपुत्रको भी अन्तःपुरमें जाकर माता आदिसे किसी पात्रमें भिक्षा माँगनी चाहिए, क्योंकि उस समय भिक्षा लेने का यह नियोग ही है । भिक्षामें जो कुछ प्राप्त हो उसका अग्रभाग श्री अरहन्तदेवको समर्पण कर बाकी बचे हुए योग्य अन्नका स्वयं भोजन करना चाहिए ॥१०७-१०८॥ यह चौदहवीं उपनीति क्रिया है ।

अथानन्तर ब्रह्मचर्य व्रतके योग्य कमर, जाँघ, वक्षःस्थल और शिरके चिह्नको धारण करनेवाले इस ब्रह्मचारी बालककी व्रतचर्या नामकी क्रियाका वर्णन करते हैं ॥१०९॥ तीन लरकी मौँजकी रस्सी बाँधनेसे कमरका चिह्न होता है, यह मौँजीबन्धन रत्नत्रयकी विशुद्धिका अंग है और द्विज लोगोंका एक चिह्न है ॥११०॥ अत्यन्त धुली हुई सफेद घोती उसकी जाँघका चिह्न है, वह घोती यह सूचित करती है कि अरहन्त भगवान्का कुल पवित्र और विशाल है ॥१११॥ उसके वक्षःस्थलका चिह्न सात लरका गुँथा हुआ यज्ञोपवीत है, यह यज्ञोपवीत सात परमस्थानोंका सूचक है ॥११२॥ उसके शिरका चिह्न स्वच्छ और उत्कृष्ट मुण्डन है जो कि उसके मन, वचन, कायके मुण्डनको बढ़ानेवाला है । भावार्थ - शिर मुण्डनसे मन, वचन, काय पवित्र रहते हैं ॥११३॥ प्रायः इस प्रकारके चिह्नोंसे विशुद्ध और ब्रह्मचर्यसे बड़े हुए स्थूल हिंसाका त्याग (अहिंसाणु व्रत) आदि व्रत उसे धारण करना चाहिए ॥११४॥ इस ब्रह्मचारीको वृक्षकी दातोन नहीं करनी चाहिए, न पान खाना चाहिए, न अंजन लगाना चाहिए और न हल्दी आदि लगाकर स्नान करना चाहिए, उसे प्रतिदिन केवल

१ अन्तर्वस्त्रेण सहितः । २ वेषविकाररहितः । ३ यज्ञसूत्रम् । ४ वर्तनायोग्यम् । ५ तदास्य ल० । ६ राज्ञ्यः । ७ पात्रे भिक्षां प्रार्थयेदित्यर्थः । ८ भिक्षाग्रम् । ९ देवस्य चर्तं समर्प्य । १० शेषाग्रं भुञ्जीत । ११ -महं ल० । १२ ब्रह्मचर्यव्रत । १३ धवलवस्त्रम् । १४ उष्णीषादिरहितम् । १५ एवं प्रकारेण ।

न^१ गृहदाशनं तस्य नान्याङ्गपरिग्रहम् । भूमौ केवलमेकाकी शयीत व्रतशुद्धये ॥११६॥
 यावद् विश्वासमाप्तिः स्यात् तावदस्येदं व्रतम् । ततोऽप्यूर्ध्वं व्रतं तत् स्याद् तन्मूलं गृहमेधिनाम् ॥११७॥
 मृत्रमांसापामिकं चास्य स्वादभ्येयं गुरोर्मुखात् । विनयेन तनोऽन्यच्च शास्त्रमध्यात्मगोचरम् ॥११८॥
 शब्दविद्याऽर्थशास्त्रादि^२ चाभ्येयं नास्य^३ दुष्यति । सुसंस्कारप्रशोधाय^४ वैशान्वर्यस्तयेऽपि च ॥११९॥
 "ज्योतिर्ज्ञानमथच्छन्दोज्ञानं" ज्ञानं च शाकुनम् । संख्याज्ञानमितीदं च तेनाभ्येयं विशेषतः ॥१२०॥
 इति व्रतचर्या ।
 ततोऽस्यार्थातविद्यस्य^५ व्रतमृत्यवतारणम् । विशेषविधयं तच्च स्थितस्यैतस्मिन्^६ व्रते ॥१२१॥
 मधुमांसपरित्यागः पञ्चोदुम्बरवर्जनम् । हिंसादिविरतिश्चास्य व्रतं स्यात् मार्चकालिकम् ॥१२२॥
 व्रतावतरणं चेदं गुरुमाश्लिष्टार्चनम्^७ । वस्त्राद् द्वादशादूर्ध्वमथवा षोडशान् परम् ॥१२३॥
 कृतद्विजार्चनस्यास्य व्रतावतरणोचितम् । वस्त्राभरणमाल्यादिग्रहणं गुर्वनुज्ञया ॥१२४॥
 शस्त्रोपजीविष्यश्चेद्^८ धारयेच्छस्त्रमप्यदः ।^९ स्ववृत्तिपरिरक्षार्थं शोभार्थं चास्य तद्ग्रहः ॥१२५॥
 भोगवह्नयतादेवमवतीर्णो भवेत्तदा । कामवह्नयव्रतं^{१०} त्वस्य तावद्यावत्क्रियोचरा^{११} ॥१२६॥
 इति व्रतावतरणम् ।

जलसे शुद्ध स्नान करना चाहिए ॥११५॥ उसे खाट अथवा पलंगपर नहीं सोना चाहिए, दूसरेके शरीरसे अपना शरीर नहीं रगड़ना चाहिए, और व्रतोंको विशुद्ध रखनेके लिए अकेला पृथिवीपर सोना चाहिए ॥११६॥ जबतक विद्या समाप्त न हो तबतक उसे यह व्रत धारण करना चाहिए और विद्या समाप्त होनेपर ये व्रत धारण करना चाहिए जो कि गृहस्थोंके मूलगुण कहलाते हैं ॥११७॥ सबसे पहले इस ब्रह्मचारीको गुरुके मुखसे श्रावकाचार पढ़ना चाहिए और फिर विनयपूर्वक अध्यात्मशास्त्र पढ़ना चाहिए ॥११८॥ उत्तम संस्कारोंको जागृत करनेके लिए और विद्वत्ता प्राप्त करनेके लिए इसे व्याकरण आदि शब्दशास्त्र और न्याय आदि अर्थशास्त्रका भी अभ्यास करना चाहिए क्योंकि आचार-विषयक ज्ञान होनेपर इनके अध्ययन करनेमें कोई दोष नहीं है ॥११९॥ इसके बाद ज्योतिषशास्त्र, छन्दशास्त्र, शकुनशास्त्र और गणितशास्त्र आदिका भी उसे विशेषरूपसे अध्ययन करना चाहिए ॥१२०॥ यह पन्द्रहवीं व्रतचर्या क्रिया है ।

तदनन्तर जिसने समस्त विद्याओंका अध्ययन कर लिया है ऐसे उस ब्रह्मचारीकी व्रतावतरण क्रिया होती है । इस क्रियामें वह साधारण व्रतोंका तो पालन करता ही है परन्तु अध्ययनके समय जो विशेष व्रत ले रखे थे उनका परित्याग कर देता है ॥१२१॥ इस क्रियाके बाद उसके मधुत्याग, मांसत्याग, पाँच उदुम्बर फलोंका त्याग और हिंसा आदि पाँच स्थूल पापोंका त्याग, ये सदा काल अर्थात् जीवन पर्यन्त रहनेवाले व्रत रह जाते हैं ॥१२२॥ यह व्रतावतरण क्रिया गुरुकी साक्षीपूर्वक जिनेन्द्र भगवान्की पूजा कर बारह अथवा सोलह वर्ष बाद करनी चाहिए ॥१२३॥ पहले द्विजोंका सत्कार कर फिर व्रतावतरण करना उचित है और व्रतावतरणके बाद गुरुकी आज्ञासे वस्त्र, आभूषण और माला आदिका ग्रहण करना उचित है ॥१२४॥ इसके बाद यदि वह शस्त्रोपजीवी अर्थात् क्षत्रिय वर्गका है तो वह अपनी आजीविकाकी रक्षाके लिए शस्त्र भी धारण कर सकता है अथवा केवल शोभाके लिए भी शस्त्र ग्रहण किया जा सकता है ॥१२५॥ इस प्रकार इस क्रियामें यद्यपि वह भोगोप-भोगोंके ब्रह्मव्रतका अर्थात् ताम्बूल आदिके त्यागका अवतरण (परित्याग) कर देता है तथापि

१ मञ्चक । २ नीतिशास्त्र । ३ दूष्यते ल०, द० । ४ पाष्टर्ष । ५ ज्योतिःशास्त्रम् । ६ छन्दःशास्त्रम् । ७ गणितशास्त्रम् । ८ वृत्ति जीवन । ९ साधारण । १० कृताराधनम् । ११ वर्ग भवः । १२ निजजीवन । १३ चास्य ल० । १४ अध्ययमाणा, वैवाहिकी ।

ततोऽस्य^१ गुर्वनुजानादिष्टा वैवाहिकी क्रिया । वैवाहिके^२ कुले कन्यामुचितां परिणेष्यतः ॥१२७॥
 सिद्धार्चनविधिं सम्यक् निर्वर्त्य द्विजसत्तमाः । कृतमित्रयसंपूजाः कुर्युस्तत्साक्षितां^३ क्रियाम् ॥१२८॥
 पुण्याश्रमे^४ कचित् सिद्धप्रतिमामिमुखं तयोः । दम्पत्योः परया भूया कार्यः पाणिग्रहोत्सवः ॥१२९॥
 वेद्यां^५ प्रणोतमग्नीनां त्रयं द्वयमथैककम् । ततः प्रदक्षिणीकृत्य प्रसज्य विनिवेशनम् ॥१३०॥
 पाणिग्रहणदाशायी नियुक्तस्तद्वधूवरम् । आससह^६ चरेद् ब्रह्मव्रतं देवाभिसाक्षिकम् ॥१३१॥
 क्रान्त्वा स्वस्यांशितां भूमिं तीर्थभूर्माविहार्य च । स्वगृहं प्रविशेद् भूया परया तद्वधूवरम् ॥१३२॥
 विमुक्तकङ्कणं पश्चात् स्वगृहे शयनीयकम् । अधिशय्य यथाकालं भोगाग्नैरुपलालितम् ॥१३३॥
 सन्तानार्थमृतावेव कामसेवां मिथो मजेत् । शक्तिकालव्यपेक्षोऽयं^७ क्रमोऽशक्तेष्वतोऽन्यथा ॥१३४॥
 इति विवाहक्रिया ।

एवं कृतविवाहस्य गार्हस्थ्यमनुतिष्ठतः । स्वधर्मानसिद्धयर्थं वर्णलाभमधो^८ भुवे ॥१३५॥
 अठभार्योऽप्ययं तावदस्वतन्त्रो गुरोर्गृहे । ततः स्वातन्त्र्यसिद्धयर्थं वर्णलाभोऽस्य वर्णितः ॥१३६॥
 गुरोरनुज्ञया लब्धधनधान्यादिसंपदः । पृथक्कुटालयस्यास्यै वृत्तिवर्णाप्तिरिष्यते ॥१३७॥
 तदापि पूर्ववत्सिद्धप्रतिमानर्चमग्रतः^९ । कृत्वाऽस्योपासकान्^{१०} सुखान् साक्षीकृत्यार्पयेद् धनम् ॥१३८॥

जब तक उसके आगेकी क्रिया नहीं होती तब तक वह कामपरित्यागरूप ब्रह्मव्रतका पालन करता रहता है ॥१२६॥ यह सोलहवीं व्रतावतरण क्रिया है ।

तदनन्तर विवाहके योग्य कुलमें उत्पन्न हुई कन्याके साथ जो विवाह करना चाहता है ऐसे उस पुरुषकी गुरुकी आज्ञासे वैवाहिकी क्रिया की जाती है ॥१२७॥ उत्तम द्विजोंकी चाहिए कि वे सबसे पहले अच्छी तरह सिद्ध भगवान्की पूजा करें और फिर तीनों अग्नियोंकी पूजा कर उनकी साक्षीपूर्वक उस वैवाहिकी (विवाह सम्बन्धी) क्रियाको करें ॥१२८॥ किसी पवित्र स्थानमें बड़ी विभूतिके साथ सिद्ध भगवान्की प्रतिमाके सामने वधू-वरका विवाहोत्सव करना चाहिए ॥१२९॥ वेदीमें जो तीन, दो अथवा एक अग्नि उत्पन्न की थी उसकी प्रदक्षिणाएँ देकर वधू-वरको समीप ही बैठना चाहिए ॥१३०॥ विवाहकी दीक्षामें नियुक्त हुए वधू और वरको देव और अग्निकी साक्षीपूर्वक सात दिन तक ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना चाहिए ॥१३१॥ फिर अपने योग्य किसी देशमें भ्रमण कर अथवा तीर्थभूमिमें विहारकर वर और वधू बड़ी विभूतिके साथ अपने घरमें प्रवेश करें ॥१३२॥ तदनन्तर जिनका कंकण छोड़ दिया है, ऐसे वर और वधू अपने घरमें समयानुसार भोगोपभोगके साधनोसे सुशोभित शय्यापर शयन कर केवल सन्तान उत्पन्न करनेकी इच्छासे ऋतुकालमें ही परस्पर काम-सेवन करें । काम-सेवनका यह क्रम काल तथा शक्तिकी अपेक्षा रखता है इसलिए शक्तिहीन पुरुषोंके लिए इससे विपरीत क्रम समझना चाहिए अर्थात् उन्हें ब्रह्मचर्यसे रहना चाहिए ॥१३३-१३४॥ यह सत्रहवीं विवाह-क्रिया है ।

इस प्रकार जिसका विवाह किया जा चुका है और जो गार्हस्थ्यधर्मका पालन कर रहा है ऐसा पुरुष अपने धर्मका उल्लंघन न करे इसलिए उसके अर्थ वर्णलाभ क्रियाको कहते हैं ॥१३५॥ यद्यपि उसका विवाह हो चुका है तथापि वह जबतक पिताके घर रहता है तबतक अस्वतन्त्र ही है इसलिए उसको स्वतन्त्रता प्राप्त करनेके लिए यह वर्णलाभकी क्रिया कही गयी है ॥१३६॥ पिताकी आज्ञासे जिसे धनधान्य आदि सम्पदाएँ प्राप्त हो चुकी हैं और मकान भी जिसे अलग मिल चुका है ऐसे पुरुषकी स्वतन्त्र आजीविका करने लगनेकी वर्णलाभ कहते हैं ॥१३७॥ इस क्रियाके समय भी पहलेके समान सिद्ध प्रतिमाओंका पूजन

१ गितुरनुमत्तात् । २ विवाहोचिते । ३ साक्षि तां ल० । ४ पवित्रप्रदेशे । ५ संस्कृतम् । ६ सप्तदिवसपर्यन्तम् । ७ सन्तानार्थम् ऋतुकाले कामसेवाक्रमः । ८ -मतो ल० । ९ विवाहित । १० आदौ । ११ कृत्वान्योप-ल० ।

धनमेतदुपादाय स्थित्वाऽस्मिन् स्वगृहं पृथक् । गृहिधर्मस्त्वया धार्यः कृत्स्नो दानादिलक्षणाः ॥१३९॥
यथाऽस्मिन्पुत्रदत्तेन धनेनास्माभिरर्जितम् । यशो धर्मश्च तद्वत्त्वं यशोधर्मानुपाज्य ॥१४०॥
इत्येवमनुशिष्यैर्न^१ वर्णलाभे नियोजयेत् । सदारः सोऽपि तं धर्मं सथानुष्ठानुमहति ॥१४१॥

इति वर्णलाभक्रिया ।

लब्धवर्णस्य तस्येति कुलचर्याऽनुकीर्त्यते । सा त्वित्यादत्तिवार्तादिलक्षणा प्राक् प्रपञ्चिता ॥१४२॥
विद्युद्वा वृत्तिरस्वार्थपदकर्मनुप्रवर्तनम् । गृहिणा कुलचर्येष्टा कुलधर्मोऽप्यसौ मतः ॥१४३॥

इति कुलचर्याक्रिया ।

कुलचर्यामनुप्राप्तो धर्मे दाहधर्मयोद्बहन् । गृहस्थाचार्यमावेन संश्रयेत् स गृहीशिताम् ॥१४४॥
ततो वर्णोत्तमत्वेन स्थापयेत् स्वां गृहीशिताम् । शुभवृत्तिक्रियामन्त्रविवाहैः सोत्तरक्रियैः ॥१४५॥
अनन्प्रसद्वीरेभिः श्रुतवृत्तिक्रियाविभिः । स्वशुभं नयन्नेष तदाऽहति गृहीशिताम् ॥१४६॥
वर्णोत्तमो महीदेवः सुश्रुतो द्विजसत्तमः । निस्तारको ग्रामपतिः मानार्हश्चेति मानितः ॥१४७॥

इति गृहीशिता ।

सोऽनुरूपं ततो लब्ध्वा सुनुमात्मभरक्षमम् । तत्रारोपितगार्हस्थ्यः सन् प्रशान्तिमतः श्रयेत् ॥१४८॥

कर पिता अन्य मुख्य श्रावकोंको साक्षी कर उनके सामने पुत्रको धन अर्पण करे तथा यह कहे कि यह धन लेकर तुम इस अपने घरमें पृथक् रूपसे रहो । तुम्हें दान पूजा आदि समस्त गृहस्थधर्म पालन करते रहना चाहिए । जिस प्रकार हमारे पिताके द्वारा दिये हुए धनसे मैंने यश और धर्मका अर्जन किया है उसी प्रकार तुम भी यश और धर्मका अर्जन करो । इस प्रकार पुत्रको समझाकर पिता उसे वर्णलाभमें नियुक्त करे और सदाचारका पालन करता हुआ वह पुत्र भी पिताके धर्मका पालन करनेके लिए समर्थ होता है ॥१३८-१४१॥ यह अठारहवीं वर्णलाभ क्रिया है ।

जिसे वर्णलाभ प्राप्त हो चुका है ऐसे पुत्रके लिए कुलचर्या क्रिया कही जाती है और पूजा, दत्ति तथा आजीविका करना आदि सब जिसके लक्षण हैं ऐसी कुलचर्या क्रियाका पहले विस्तारके साथ वर्णन कर चुके हैं ॥१४२॥ निर्दोषरूपसे आजीविका करना तथा आर्य पुरुषोंके करने योग्य देवपूजा आदि छह कार्य करना यही गृहस्थोंकी कुलचर्या कहलाती है और यही उनका कुलधर्म माना जाता है ॥१४३॥ यह उन्नीसवीं कुलचर्या क्रिया है ।

तदनन्तर कुलचर्याको प्राप्त हुआ वह पुरुष धर्ममें दृढ़ताको धारण करता हुआ गृहस्थाचार्यरूपसे गृहीशिताको स्वीकार करे अर्थात् गृहस्थोंका स्वामी बने ॥१४४॥ फिर उसे आपको उत्तम वर्ण मानकर आपमें गृहीशिता स्थापित करनी चाहिए । जो दूसरे गृहस्थोंमें न पायी जावे ऐसी शुभ वृत्ति, क्रिया, मन्त्र, विवाह तथा आगे कही जानेवाली क्रियाएँ, शास्त्र-ज्ञान और चारित्र्य आदिकी क्रियाओंसे अपने-आपको उन्नत करता हुआ वह गृहीश अर्थात् गृहस्थोंके स्वामी होनेके योग्य होता है ॥१४५-१४६॥ उस समय वर्णोत्तम, महीदेव, सुश्रुत, द्विजसत्तम, निस्तारक, ग्रामपति और मानार्ह इत्यादि कहकर लोगोंको उसका स्तुकार करना चाहिए ॥१४७॥ यह बीसवीं गृहीशिता क्रिया है ।

तदनन्तर वह गृहस्थाचार्य अपना भार सँभालनेमें समर्थ योग्य पुत्रको पाकर उसे अपनी

विषयेऽयमभिप्रेतः^१ नित्यत्वाध्यायशिक्षता । नाभाविघोषवासैश्च वृत्तिरिष्टा प्रशान्तता ॥ १४९ ॥

इति प्रशान्तिः ।

ततः कृतार्थमात्मानं मन्थमानो गृह्णाश्रमे । यदोद्यतो गृहस्याग्रे तदाऽस्त्यैष क्रियाविधिः ॥१५०॥

सिद्धार्थनां पुरस्कृत्य सर्वानाहुय संभतान् । तत्साक्षि सूनवे तव निवेद्यातो गृहं त्यजेत् ॥५५॥

कुलकमस्त्रया तात संपास्योऽस्मत्परोक्षतः । त्रिधा कृतं च नो^२ द्रव्यं स्वयेत्थं विनियोध्यताम् ॥ ७५२ ॥

एकोऽंशो धर्मकार्येऽतो द्वितीयः स्वगृहव्यये । तृतीयः संविभागाय भवेच्छतसहजन्मनाम् ॥ १५३ ॥

पुण्यश्च संविमागार्हाः समं पुत्रैः समाश्रितैः । त्वं तु भूत्वा कुलज्येष्ठः सन्तति नोऽनुपालय ॥ १२४ ॥

श्रुतपुस्तकविद्यामन्त्रविधिस्तत्त्वमतनिर्द्दतः । प्रपालय^३ कुलास्त्रायं गुरुं देवांश्च पूजयन् ॥ १५५ ॥

इत्येवमनुशिष्य स्व ज्येष्ठं सूनुमनाकुलः । ततो दीक्षामुपादातुं द्विजः स्वं गृहमुत्सृजेत् ॥ १५६ ॥

DATE: 1968 10 25

इति गृहत्यागः ।

त्यक्तागारस्य सदृष्टेः प्रशान्तस्य गृहीशिनः । प्राग्दीर्घापयिकात्^४ कालादंशकाटकधारिणः ॥ १५७ ॥

यत्पुरश्चरणं दीक्षाग्रहणं प्रति धार्यते । दीक्षाग्रं नाम तज्ज्ञेयं कथिाजातं^५ द्विजन्मनः ॥ १५८॥

इति दीक्षाध्यायः ।

स्वप्नवेलादिसंगस्य जैनी दीक्षामुपेयुषः^३ । धारणं जातरूपस्य यत्तत् स्वाजिनरूपता ॥१५६॥

गृहस्थीका भार सौंप दे और आप स्वयं उत्तम शान्तिका आश्रय लें ॥१४८॥ विषयोंमें आसक्त नहीं होना, नित्य स्वाध्याय करनेमें तत्पर रहना तथा नाना प्रकारके उपवास आदि करते रहना प्रशान्त वृत्ति कहलाती है ॥१४९॥ यह इक्कीसवीं प्रशान्ति क्रिया है ।

तदनन्तर गृहस्थाश्रममें अपने-आपको कृतार्थ मानता हुआ जब वह गृहत्याग करनेके लिए उद्यत होता है तब उसके यह गृहत्याग नामकी क्रियाकी विधि की जाती है ॥१५०॥ इस क्रियामें सबसे पहले सिद्ध भगवान्का पूजन कर समस्त इष्टजनोंको बुलाना चाहिए और फिर उनकी साक्षीपूर्वक पुत्रके लिए सब कुछ सौंपकर गृहत्याग कर देना चाहिए ॥१५१॥ गृहत्याग करते समय ज्येष्ठ पुत्रको बुलाकर उससे इस प्रकार कहना चाहिए कि पुत्र, हमारे पीछे यह कुलकूम तुम्हारे द्वारा पालन करने योग्य है । मैंने जो अपने धनके तीन भाग किये हैं उनका तुम्हें इस प्रकार विनियोग करना चाहिए कि उनमें-से एक भाग तो धर्मकार्यमें खर्च करना चाहिए, दूसरा भाग अपने घर खर्चके लिए रखना चाहिए और तीसरा भाग अपने भाइयोंमें बाँट देनेके लिए है । पुत्रोंके समान पुत्रियोंके लिए भी बराबर भाग देना चाहिए । हे पुत्र, तू कुलका बड़ा होकर मेरी सब सन्तानका पालन कर । तू शास्त्र, सदाचार, क्रिया, मन्त्र और विधिको जाननेवाला है इसलिए आलस्यरहित होकर देव और गुरुओंकी पूजा करता हुआ अपने कुलधर्मका पालन कर । इस प्रकार ज्येष्ठ पुत्रको उपदेश देकर वह द्विज निराकुल होवे और फिर दोक्षा ग्रहण करनेके लिए अपना घर छोड़ दे ॥१५२-१५६॥ यह बाईसवीं गृहत्याग नामकी क्रिया है ।

जिसने घर छोड़ दिया है, जो सम्यग्दृष्टि है, प्रशान्त है, गृहस्थोंका स्वामी है और दीक्षाधारण करनेके समयके कुछ पहले जिसने एक वस्त्र धारण किया है उसके दीक्षाग्रहण करनेके पहले जो कुछ आचरण किये जाते हैं उन आचरणों अथवा क्रियाओंके समूहको द्विजकी दीक्षाद्य क्रिया कहते हैं ॥१५७-१५८॥ यह तेईसवीं दीक्षाद्य क्रिया है ।

जिसने वस्त्र आदि सब परिग्रह छोड़ दिये हैं और जो जितदीक्षाको प्राप्त करना चाहता है ऐसे पुरुषका दिगम्बररूप धारण करना जिनरूपता नामकी क्रिया कहलाती है ॥१५९॥

अशक्यधारणं चेदं जन्तूनां कातरात्मनाम् । जैनं निस्संगतामुख्यं रूपं धीरनिर्वेक्ष्यते ॥१६८॥

इति जिन

कृतदीक्षोपवासस्य प्रवृत्तेः पारणाविर्था । मौनाध्ययनवृत्तत्वमिष्टमाश्रुतनिष्ठितेः ॥१६९॥

वाचंयमो विनीतात्मा विशुद्धकरणध्वजः । सोऽर्धाधीतं श्रुतं कृत्स्नमामूलाद् गुरुसन्निधे
श्रुतं हि विधिनानेन भव्यात्मभिरुपासितम् । योग्यतामिह पुष्पाति परायापि प्रसीदति ॥

इति मौनाध्यय

ततोऽर्धात्तात्त्रिकाचारः शास्त्रादिश्रुतविस्तरः । विशुद्धाचरणोऽभ्यस्येत् तीर्थकृत्वस्य भावनाम् ॥१६९॥

सा तु षोडशधाऽऽज्ञाता महाभ्युदयसाधिनी । सम्यग्दर्शनशुद्ध्यादिलक्षणा प्राक्प्रपञ्चिता ॥१६९॥

इति तीर्थकृत्साधना ।

ततोऽस्य विदिताशेषवेद्यस्य विजितात्मनः । गुरुस्थानाभ्युपगमः संसृतो गुर्वनुग्रहात् ॥१७०॥

ज्ञानविज्ञानसंपन्नः स्वगुरोरभिसंमतः । विनीतो धर्मशीलश्च यः सोऽहंति गुरोः पदम् ॥१७०॥

गुरुस्थानाभ्युपगमः ।

ततः सुविहितस्यास्य युक्तस्य गणपोषणः । गणोपग्रहणं नाम क्रियाज्ञाता महर्षिभिः ॥१७१॥

जिनका आत्मा कातर है ऐसे पुरुषोंको जिनरूप (दिगम्बररूप) का धारण करना कठिन है इसलिए जिसमें परिग्रह^१ रत्नगकी मुख्यता है^२ अर्थात् वह जिनैन्द्रदेवका रूप धीरवीर मनुष्योंके द्वारा ही धारण किया जाता है ॥१६०॥ यह चौबीसवीं जिनरूपता क्रिया है ।

जिसने दीक्षा लेकर उपवास किया है और जो पारणकी विधिमें अर्थात् विधिपूर्वक आहार लेनेमें प्रवृत्त होता है ऐसे साधुका शास्त्रकी समाप्ति पर्यन्त जो मौन रहकर अध्ययन करनेमें प्रवृत्ति होती है उसे मौनाध्ययनवृत्तत्व कहते हैं ॥१६१॥ जिसने मौन धारण किया है, जिसका आत्मा विनय युक्त है, और मन, वचन, काय शुद्ध हैं ऐसे साधुको गुरुके समीपमें प्रारम्भसे लेकर समस्त शास्त्रोंका अध्ययन करना चाहिए ॥१६२॥ क्योंकि इस विधिसे भव्यजीवोंके द्वारा उपासना किया हुआ शास्त्र इस लोकमें उनकी योग्यता बढ़ाता है और परलोकमें प्रसन्न रखता है ॥१६३॥ यह पच्चीसवीं मौनाध्ययनवृत्तित्व क्रिया है ।

तदनन्तर जिसने समस्त आचार शास्त्रका अध्ययन किया है तथा अन्य शास्त्रोंके अध्ययनसे जिसने समस्त श्रुतज्ञानका विस्तार प्राप्त किया है और जिसका आचरण विशुद्ध है ऐसा साधु तीर्थकार पदकी भावनाओंका अभ्यास करे ॥१६४॥ सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि रखना आदि जिसके लक्षण हैं, जो महान् ऐश्वर्यको देनेवाली हैं तथा पहले जिनका विस्तारके साथ वर्णन किया जा चुका है ऐसी भावनाएँ सोलह सानी गयी हैं ॥१६५॥ यह छब्बीसवीं तीर्थ-कृत्साधना नामकी क्रिया है ।

तदनन्तर जिसने समस्त विद्याएं जान ली हैं और जिसने अपने अन्तःकरणको वश कर लिया है ऐसे साधुका गुरुके अनुग्रहसे गुरुका स्थान स्वीकार करना शास्त्रसम्मत है ॥१६६॥ जो ज्ञान-विज्ञान करके सम्पन्न है, अपने गुरुको इष्ट है अर्थात् जिसे गुरु अपना पद प्रदान करना योग्य समझते हैं, जो विनयवान् और धर्मात्मा है वह साधु गुरुका पद प्राप्त करनेके योग्य है ॥१६७॥ यह सत्ताईसवीं गुरुस्थानाभ्युपगम क्रिया है ॥

तदनन्तर जो सदाचारका पालन करता है गण अर्थात् समस्त मुनिसंघके पोषण

१ श्रुतसमाप्तिपर्यन्तम् । २ मौनी । ३ अध्ययनं कुर्यात् । लिङ् । ४ -विद्यस्य ल०, द०, प० । ५ ज्ञान मोक्ष-शास्त्र । विज्ञान शिल्पशास्त्र । ६ सदाचारस्य ।

श्रावकानां धर्मिकामं च श्राविकाः संयतानदि । सम्मार्गं वर्तयेत्तेषां गणपोषणमाचरेत् ॥१६९॥

धुतार्थिभ्यः श्रुतं दद्याद् दीक्षार्थिभ्यश्च दीक्षणम् । धर्मार्थिभ्योऽपि सद्धर्मं स शश्वतं प्रतिपादयेत् ॥१७०॥

सद्ब्रह्मज्ञानं ध्यायन् सूरिस्मद्ब्रह्मज्ञानवारयन् । शोधयंश्च कृतादागोमलान् स विभ्रयाद् गणम् ॥१७१॥

इति गणोपग्रहणम् ।

गणपोषणमिन्द्राविष्कुर्वन्नाचार्यसत्तमः । ततोऽयं स्वगुरुस्थानसंक्रान्तो गन्तवान् भवेत् ॥१७२॥

अर्घानविद्यं सद्ब्रह्मैरादृतं मुनिसत्तमैः । योग्यं शिष्यमभाहूय तस्मै स्वं भारमर्पयेत् ॥१७३॥

गुरुशिष्यसंक्रान्तेऽपि गुरुस्थानावाप्तिः । गुरुवृत्तौ स्वयं निष्ठुन् वर्तयेद्विलं गणम् ॥१७४॥

इति स्वगुरुस्थानावाप्तिः ।

तत्रारोप्य भरं कृत्स्नं काले कस्मिंश्चिद्व्यथः । कुश्रदेकविहारी स निःसंगत्वात्मसाधनाम् ॥१७५॥

निःसंगवृत्तिरेकाकी विहरन् स महातपाः । चिकीर्षुरात्मसंस्कारं नान्यं संस्कर्तुमर्हति ॥१७६॥

अपि रागं समुत्सृज्य शिष्यप्रवचनादिषु । निर्ममत्वैकतानः संश्रयान् शुद्धिं तदाऽश्रयेत् ॥१७७॥

इति निःसंगत्वात्मसाधना ।

कृत्वैवमात्मसंस्कारं ततः सल्लेखनोद्यतः । कृतात्मशुद्धिरध्यात्मं योगनिर्वाणमाप्नुयान् ॥१७८॥

करनेमें जो तत्पर रहता है उसको महर्षियोने गणोपग्रहण नामकी क्रिया मानी है ॥१६८॥ इस आचार्यको चाहिए कि वह मुनि, आधिका, श्रावक और श्राविकाओंको समीचीन मार्गमें लगाता हुआ अच्छी तरह संघका पोषण करे ॥१६९॥ उसे यह भी चाहिए कि वह शास्त्र अध्ययनकी इच्छा करनेवालोंको दीक्षा देवे और धर्मात्मा जीवोंके लिए धर्मका प्रतिपादन करे ॥१७०॥ वह आचार्य सदाचार धारण करनेवालोंको प्रेरित करे, दुराचारियोंको दूर हटावे और किये हुए स्वकीय अपराधरूपी मलको शोधता हुआ अपने आश्रित गणकी रक्षा करे ॥१७१॥ यह अट्ठाईसवीं गणोपग्रहण क्रिया है ।

तदनन्तर इस प्रकार संघका पालन करता हुआ वह उत्तम आचार्य अपने गुरुका स्थान प्राप्त करनेके लिए प्रयत्न सहित हो ॥१७२॥ जिसने समस्त विद्याएँ पढ़ ली हैं और उन विद्याओंके जानकार उत्तम-उत्तम मुनि जिसका आदर करते हैं ऐसे योग्य शिष्यको बुलाकर उसके लिए अपना भार सौंप दे ॥१७३॥ गुरुकी अनुमतिसे वह शिष्य भी गुरुके स्थानपर अधिष्ठित होता हुआ उनके समस्त आचरणोंका स्वयं पालन करे और समस्त संघको पालन करावे ॥१७४॥ यह उन्तीसवीं स्वगुरु-स्थानावाप्ति क्रिया है ।

इस प्रकार सुयोग्य शिष्यपर समस्त भार सौंपकर जो किसी कालमें दुःखी नहीं होता है ऐसा साधु अकेला विहार करता हुआ 'मेरा आत्मा सब प्रकारके परिग्रहसे रहित है' इस प्रकारकी भावना करे ॥१७५॥ जिसकी वृत्ति समस्त परिग्रहसे रहित है, जो अकेला ही विहार करता है, महातपस्वी है और जो केवल अपने आत्माका ही संस्कार करना चाहता है उसे किसी अन्य पदार्थका संस्कार नहीं करना चाहिए अर्थात् अपने आत्माको छोड़कर किसी अन्य साधु या गृहस्थके सुधारकी चिन्तामें नहीं पड़ना चाहिए ॥१७६॥ शिष्य पुस्तक आदि सब पदार्थोंमें राग छोड़कर और निर्ममत्वभावनामें एकाग्र बुद्धि लगाकर उस समय उसे चारित्र्यकी शुद्धि धारण करनी चाहिए ॥१७७॥ यह तीसवीं निःसङ्गत्वात्मभावना क्रिया है ।

तदनन्तर इस प्रकार अपने आत्माका संस्कार कर जो सल्लेखना धारण करनेके लिए उद्यत हुआ है और जिसने सब प्रकारसे आत्माकी शुद्धि कर ली है ऐसा

तथा योगं समाधाय कृतप्राणवियर्जनः । इन्द्रोपपादमाप्नोति गते^१ पुण्ये पुरोगताम्^२ ॥१९०॥
 इन्द्राः स्युस्त्रिदशार्धाशास्तेषूपपादस्तपोबलान् । यः स इन्द्रोपपादः स्यात् क्रियाऽर्हन्मार्गसेविनाम् ॥१९१॥
 नभोऽसौ दिव्यशय्यायां क्षणादापूर्णयौवनः । परमानन्दसाद्भूतो दीप्तो दिव्येन तेजसा ॥१९२॥
 अणिमादिभिरष्टाभिर्युतोऽसाधारणैर्गुणैः । महजाम्बरदिव्यस्त्राणिभूषणभूषितः ॥१९३॥
 दिव्यानुभावसंभूतप्रभावं परमुद्वहन् । बोधुष्यते तदाऽस्मीयमैन्द्रं दिव्यावधिनिषा ॥१९४॥
 इति इन्द्रोपपादक्रिया ।

पर्याप्तमात्रं पदार्थं प्राप्तजन्मावबोधनः । पुनरिन्द्राभिषेकेण योज्यतेऽमरमत्तमैः ॥१९५॥
 दिव्यसंगीतवादिग्रमद्वल्लोदगीतिनिःस्वनैः । विचित्रैश्चाप्सरोनृत्यैर्निर्बृत्तेन्द्राभिषेचनः ॥१९६॥
 ति (किं)रीडमुद्वहन् दीप्तं स्त्रसास्त्राज्यैकलाञ्छनम् । सुरकोटिभिरारूढप्रमदैर्जयकारितः ॥१९७॥
 स्वर्ची सदर्शुको दीप्तो भूषितो दिव्यभूषणैः । ऐन्द्रविष्टरमारूढो महानेध महीपते ॥१९८॥
 इति इन्द्राभिषेकः ।
 ततोऽवमानतानेतान् सत्कृत्य सुरसत्तमान् । पदेषु स्थापयन् स्वेषु विधिदाने प्रवर्त्तते ॥१९९॥
 स्वविमानविधानेन प्रीणितैर्विबुधैर्बृत्तः । सोऽनुभुङ्क्ते चिरं कालं सुकृती सुखमाभरम्^३ ॥२००॥
 तत्रैतद्विधिदानेन्द्रसुखोदयविकल्पितम् । क्रियाद्वयं समाभ्यातं स्वर्लोकप्रभवोचितम् ॥२०१॥
 इति विधिदानसुखोदयो ।

ऊपर लिखे अनुसार योगोंका समाधान कर अर्थात् मन, वचन, कायको स्थिर कर जिसने प्राणोंका परित्याग किया है ऐसा साधु पुण्यके आगे-आगे चलनेपर इन्द्रोपपाद क्रियाको प्राप्त होता है ॥१९०॥ देवोंके स्वामी इन्द्र कहलाते हैं, तपश्चरणके बलसे उन इन्द्रोंमें जन्म लेना इन्द्रोपपाद कहलाता है । वह इन्द्रोपपादक्रिया अर्हत्प्रणीत मोक्षमार्गका सेवन करनेवाले जीवोंके ही होती है ॥१९१॥ तदनन्तर वह इन्द्र उसी उपपाद शय्यापर क्षण-भरमें पूर्णयौवन हो जाता है और दिव्य तेजसे देदीप्यमान होता हुआ परमानन्दमें निमग्न हो जाता है ॥१९२॥ वह अणिमा महिमा आदि आठ असाधारण गुणोंसे सहित होता है और साथ-साथ उत्पन्न हुए वस्त्र, दिव्यमाला, तथा मणिमय आभूषणोंसे सुशोभित होता है । दिव्य माहात्म्यसे उत्पन्न हुए उत्कृष्ट प्रभावको धारण करता हुआ वह इन्द्र दिव्य अवधिज्ञानरूपी ज्योतिके द्वारा जान लेता है कि मैं इन्द्रपदमें उत्पन्न हुआ हूँ ॥१९३-१९४॥ यह इन्द्रोपपाद नामकी तैंतीसवीं क्रिया है ।

पर्याप्तक होते ही जिसे अपने जन्मका ज्ञान हो गया है ऐसे इन्द्रका फिर उत्तमदेव लोग इन्द्राभिषेक करते हैं ॥१९५॥ दिव्य संगीत, दिव्य बाजे, दिव्य मंगलगीतोंके शब्द और अप्सराओंके विचित्र नृत्योंसे जिसका इन्द्राभिषेक सम्पन्न हुआ है, जो अपने साम्राज्यके मुख्य चिह्नस्वरूप देदीप्यमान मुकुटको धारण कर रहा है, हर्षको प्राप्त हुए करोड़ों देव जिसका जयजयकार कर रहे हैं, जो उत्तम मालाएँ और वस्त्र धारण किये हुए हैं तथा देदीप्यमान वस्त्राभूषणोंसे सुशोभित है ऐसा वह इन्द्र इन्द्रके पदपर आरूढ़ होकर अत्यन्त पूजाको प्राप्त होता है ॥१९६-१९८॥ यह चौतीसवीं इन्द्राभिषेक क्रिया है ।

तदनन्तर नम्रीभूत हुए इन उत्तम-उत्तम देवोंको अपने-अपने पदपर नियुक्त करता हुआ वह इन्द्र विधिदान क्रियामें प्रवृत्त होता है ॥१९९॥ अपने-अपने विमानोंकी ऋद्धि देनेसे सन्तुष्ट हुए देवोंसे घिरा हुआ वह पुण्यात्मा इन्द्र चिरकाल तक देवोंके सुखोंका अनुभव करता है ॥२००॥

१ गते सति । २ अग्नेहरत्वम् । ३ संभूती ल०, द० । ४ इन्द्रः । ५ निजविमानैरवधितरणेन ।
 ६ महारथवन्धि ।

प्रोक्तास्त्रिद्विदोपपादाभिषेकदान सुखोदयाः । इन्द्रत्यागाख्यमधुना संप्रवक्ष्ये क्रियान्तरम् ॥२०२॥
 किञ्चिन्मात्रावशिष्टायां स्वस्थामाणुःस्थितौ सुरेन्द्र^२ । बुद्ध्या स्वर्गावतारं स्वं सोऽनुशास्यमरानिति २०३
 भो भोः सुधाशना यूयमस्माभिः पालिताश्चिश्म^३ । केचित् मित्रीयिताः^४ केचित् पुत्रप्रीत्योपलालिताः ॥२०४॥
 पुरोधोमन्त्र्यमात्यानां पदे केचित्प्रियोजिताः । वयस्यर्षी^५ मदीयस्थाने दृष्टाश्च केचन ॥२०५॥
 स्वप्राणनिर्षिरोषं च^६ केचित् त्राणाय संमतः । केचित्मान्यपदे दृष्टाः पालकाः^७ स्वर्निवासिनाम् ॥२०६॥
 केचित्मूचरस्थाने^८ केचित् स्वजनास्थया । प्रजामामान्यमन्ये च केचित्छान्वराः पृथक् ॥२०७॥
 केचित् परिजनस्थाने केचित्छान्तपुरे चराः । काश्चित् बल्लभिका देव्यो महादेव्यश्च काश्चन ॥२०८॥
 इत्यसाधारणा प्रीतिर्मया युष्मासु वर्तिता । स्वामिमन्त्रिश्च युष्मामिर्मन्त्र्यसाधारणी धृता ॥२०९॥
 याग्यतं स्वर्गसंगेषु गतो मन्दैरुत्तमहम् । प्रत्यासन्ना हि मे लक्ष्मीरथ भूलोकगोचरा ॥२१०॥
 युष्मत्साक्षि ततः कृच्छं स्वःसाम्राज्यं मयोजितम् । यश्चान्यो मत्समो भावी तस्मै सर्वं समर्पितम् ॥२११॥
 इत्यनुसुक्तां तेषु भावयन्ननुशिष्यं^९ तान् । कुर्वन्निन्द्रपदत्यागं स व्यथां नैति^{१०} धीरधीः ॥२१२॥
 इन्द्रत्यागक्रिया सैषा तत्स्वर्गोत्तिसर्जनम् । धीरास्त्यजन्त्यनायासादैव्यं तारुणमप्यहो ॥२१३॥

इति इन्द्रत्यागः ।

इस प्रकार स्वर्गलोकमें उत्पन्न होनेके योग्य ये विधिदान और इन्द्र सुखोदय नामकी दो क्रियाएँ मानी गयी हैं ॥२०१॥ ये पैंतीसवीं और छत्तीसवीं विधिदान तथा सुखोदय क्रियाएँ हैं ।

इस प्रकार इन्द्रोपपाद, इन्द्राभिषेक, विधिदान और सुखोदय ये इन्द्र सम्बन्धी चार क्रियाएँ कहीं । अब इन्द्रत्याग नामकी पृथक् क्रियाका निरूपण करता हूँ ॥२०२॥ इन्द्र जब अपनी आयुकी स्थिति थोड़ी रहनेपर अपना स्वर्गसे च्युत होना जान लेता है तब वह देवोंकी इस प्रकार उपदेश देता है ॥२०३॥ कि भो देवो, मैंने त्रिकालसे आपका पालन किया है, कितने ही देवोंको मैंने पिताके समान माना है, कितने ही देवोंको पुत्रके समान बड़े प्रेमसे खिलाया है, कितने ही को पुरोहित, मन्त्री और अमात्यके स्थानपर नियुक्त किया है, कितने ही को मैंने मित्र और पीठमर्दके समान देखा है । कितने ही देवोंको अपने प्राणोंके समान मानकर उन्हें अपनी रक्षाके लिए नियुक्त किया है, कितने ही को देवोंकी रक्षाके लिए सम्मानयोग्य पद पर देखा है, कितने ही को सेनापतिके स्थानपर नियुक्त किया है, कितने ही को अपने परिवारके लोग समझा है, कितने ही को सामान्य प्रजाजन्त माना है, कितने हीको सेवक माना है, कितने हीको परिजनके स्थानपर और कितने ही को अन्तःपुरमें रहनेवाले प्रतीहारी आदिके स्थानपर नियुक्त किया है । कितनी ही देवियोंको बल्लभिका बनाया है और कितनी ही देवियोंको महादेवी पदपर नियुक्त किया है, इस प्रकार मैंने आप लोगोंपर असाधारण प्रेम दिखलाया है और आप लोगोंने भी हमपर असाधारण प्रेम धारण किया है ॥२०४-२०९॥ इस समय स्वर्गके भोगोंमें मेरी इच्छा मन्द हो गयी है और निश्चय ही पृथिवी लोककी लक्ष्मी आज मेरे निकट आ रही है ॥२१०॥ इसलिए आज तुम सबकी साक्षीपूर्वक मैं स्वर्गका यह समस्त साम्राज्य छोड़ रहा हूँ और मेरे पीछे मेरे समान जो दूसरा इन्द्र होनेवाला है उसके लिए यह समस्त सामग्री समर्पित करता हूँ ॥२११॥ इस प्रकार उन सब देवोंमें अपनी अनुत्कण्ठा अर्थात् उदासीनताका अनुभव करता हुआ इन्द्र उन सबके लिए शिक्षा दे और धीरवीर बुद्धिका धारक हो, इन्द्र पदका त्याग कर दुःखी न हो ॥२१२॥ इस तरह जो स्वर्गके भोगोंका त्याग करता है वह इन्द्रत्याग क्रिया है । यह भी एक

१ विधिदान । २ स्वराट् प०, ल० । ३ पिता इवाचरिताः । ४ कामाचार्य । ५ समानं यथा भवति तथा ।

६ लोकपाला इत्यर्थः । ७ सेनापति । ८ ततः कारणात् । ९ उपशिष्य । १० न मच्छति ।

अवतारक्रियाऽस्वप्न्या ततः संपरितर्कते । कृतार्हसूजनस्यान्ते स्वर्गादवतरिष्यतः ॥२१४॥

‘सोऽयं नृजन्मसंप्राप्त्या सिद्धिं’^१ द्वागभिलाषुकः । चेतः सिद्धनमस्यायां^२ समाधत्ते^३ सुराधिराट् ॥२१५॥

शुभैः षोडशभिः स्वर्गैः संसूचितमहोदयः । तदा स्वर्गावताराख्यां कल्याणीमश्नुते^४ क्रियाम् ॥२१६॥

इति इन्द्रावतारः ।

ततोऽवतीर्णो गर्भेऽसौ रत्नगर्भगृहोपमे । जनयिष्या^५ महादेव्या^६ श्रीदेवीमिधिशोधिते ॥२१७॥

हिरण्यवृष्टिं धमदे प्राक् षण्मासान् प्रवर्पति ।^७ अन्वायाम्यामिधानन्दान् स्वर्गसंपदि भूतलम् ॥२१८॥

अमृतवधने^८ मन्दमावाति व्याससौरभे^९ । भूदेव्या इव निःश्वासे प्रवल्से पवनामरैः^{१०} ॥२१९॥

हुन्दुमिध्वनिते मन्दसुखिते पथि घामुंचाम् । अकाशस्तनिरासकूमातन्वति क्षिप्रणिडनाम् ॥२२०॥

मन्दारखजमम्लानिमामोदाहृतषट्पदाम् । मुञ्चत्सु गुह्यकाव्येषु^{११} निकायेष्वमृताशिनान् ॥२२१॥

देवीपुष्पचरन्तीषु देवीं भुवनमातरम् । लक्ष्म्या समं^{१२} समागत्य श्रीह्रीर्वाधृतिर्कीर्तिषु ॥२२२॥

कस्मिंश्चित् सुकृतावासे^{१३} पुण्ये राजर्षिमन्दिरे । हिरण्यगर्भो धत्तेऽसौ हिरण्योत्कृष्टजन्मतम् ॥२२३॥

हिरण्यसूचितोत्कृष्टजन्यत्वान् स तथाश्रुतिम्^{१४} । विज्ञाणां तां क्रियां धत्ते गर्भस्थोऽपि त्रिविधभृत् ॥२२४॥

इति हिरण्यजन्मता ।

आश्चर्यकी बात है कि धीरवीर पुरुष स्वर्गके वैसे ऐश्वर्यको भी बिना किसी कष्टके छोड़ देते हैं ॥२१३॥ इस प्रकार यह सैंतीसवीं इन्द्रावतार क्रिया है ।

तदनन्तर—जो इन्द्र आयुके अन्तमें अरहन्तदेवका पूजन कर स्वर्गसे अवतार लेना चाहता है उसके आगेकी अवतार नामकी क्रिया होती है ॥२१४॥ मैं मनुष्य-जन्म पाकर बहुत शीघ्र मोक्ष प्राप्त किया चाहता हूँ यही विचार कर वह इन्द्र अपना चित्त सिद्ध भगवान्‌को नमस्कार करनेमें लगाता है ॥२१५॥ शुभ सोलह स्वर्गोंके द्वारा जिसने अपना बड़ा भारी अभ्युदय — माहात्म्य सूचित किया है ऐसा वह इन्द्र उस समय कल्याण करनेवाली स्वर्गावतार नामकी क्रियाको प्राप्त होता है ॥२१६॥ यह अड़तीसवीं इन्द्रावतार क्रिया है ।

तदनन्तर — वे माता महादेवीके श्री आदि देवियोंके द्वारा शुद्ध किये हुए रत्नमय गर्भागारके समान गर्भमें अवतार लेते हैं ॥२१७॥ गर्भमें आनेके छह महीने पहलेसे जब कुबेर घरपर रत्नोंकी वर्षा करने लगता है और वह रत्नोंकी वर्षा ऐसी जान पड़ती है मानो आनन्दसे स्वर्गकी सम्पदा ही भगवान्‌के साथ-साथ पृथिवीतलपर आ रही हो, जब अमृतके समान सुख देनेवाली वायु मन्द-मन्द बहकर सब दिशाओंमें फैल रही हो तथा ऐसी जान पड़ती हो मानो पवनकुमार देवोंके द्वारा निर्माण किया हुआ पृथिवीरूपी देवीका निःश्वास ही हो, जब आकाशमें उठी हुई — फैली हुई हुन्दुमि वाजोंकी गम्भीर आवाज मयूरोंकी असमय में होनेवाली मेघगर्जनाकी शंका उत्पन्न कर रही हो, जब गुह्यक नामके देवोंके समूह कभी म्लान न होनेवाली और सुगन्धिके कारण भ्रमरोंकी अपनी ओर खींचनेवाली कल्पवृक्षके फूलोंकी मालाओंको बरसा रहे हों । और जब श्री, ह्री, बुद्धि, धृति और कीर्ति नामकी देवियाँ लक्ष्मीके साथ आकर स्वयं जगन्माता महादेवीकी सेवा कर रही हों उस समय पुण्यके निवासभूत किसी पवित्र राजमन्दिरमें वे हिरण्यगर्भ भगवान् हिरण्योत्कृष्ट जन्म धारण करते हैं ॥२१८—२२३॥ जो गर्भमें स्थित रहते हुए भी तीन ज्ञानको धारण करनेवाले हैं ऐसे भगवान्, हिरण्य

१ सोऽहं ल० । २ झटिति । ३ नमस्कारे । ४ समाहितं कुर्वते । ५ गच्छति । ६ जनयित्री प्रसूयिता जननी इत्यभिधानात् । ७ श्रीह्रीं यत्पादिभिः । ८ सहानच्छन्त्याम् । ९ अमृतवदाह्लादकरमाहते । १० व्याप्तमाहते ल० । ११ वायुकुमारः । १२ देवभेदेषु । १३ स्वयं ल० । १४ पुण्यस्थाने । १५ हिरण्योत्कृष्टजन्मताभिधानम् ।

विश्वेश्वरा जगन्माता महादेवी महासती । पूज्या सुमङ्गला चेति धत्ते रुद्रि त्रिनाम्निका ॥२२५॥
कुलाद्रिनिलया देव्यः श्रीहीधीधृतिर्कीर्त्यः । समं लक्ष्म्या षडेताश्च संमता जिनमातृकाः ॥२२६॥
जन्मानन्तरमायातैः सुरैश्चैर्मैरुमूर्द्धनि । योऽभिषेकविधिः क्षीरपयोधेः शुचिभिर्जलैः ॥२२७॥
मन्दरेन्द्राभिषेकोऽसौ क्रियाऽस्य परमेष्ठिनः । सा पुनः सुप्रतीतत्वाद् भूयो नैव प्रतन्यते ॥२२८॥

इति मन्दरेन्द्राभिषेकः ।

ततो विधोपवेशोऽस्य स्वतन्त्रस्य स्वयंभुवः । शिष्यभावाव्यतिक्ताम्तिर्गुरुपूजोपलम्भनम् ॥२२९॥
तदेन्द्राः पूजयन्त्येनं^१ यातारं त्रिजगद्गुरुम् । अशिक्षितोऽपि देवत्वं संमतोऽस्तीति विस्मिताः ॥२३०॥

इति गुरुपूजनम् ।

ततः कुमारकालेऽस्य यौवराज्योपलम्भनम् । पट्टवन्धोऽभिषेकश्च तदास्य स्यान्महौजसः ॥२३१॥

इति यौवराज्यम् ।

स्वराज्यमधि राज्येऽभिषिक्तस्यास्य क्षितीर्भरः । शासतः^२ सार्णवान्नां क्षितिमप्रतिशासनाम् ॥२३२॥

इति स्वराज्यम् ।

चक्रलामो भवेदस्य निधित्ससमुद्भवे । विजयकृतिभिः^३ पूजा साभिषेकाधिराजिति ॥२३३॥

इति चक्रलाभः ।

अर्थात् सुवर्णकी वर्षासि जन्मकी उत्कृष्टता सूचित होनेके कारण हिरण्योत्कृष्ट जन्म इस सार्थक नामको धारण करनेवाली क्रियाको धारण करते हैं ॥२२४॥ यह उनतालीसवीं हिरण्योत्कृष्ट-जन्मता क्रिया है ।

उस समय वह भगवान्की माता विश्वेश्वरी, जगन्माता, महादेवी, महासती, पूज्या और सुमङ्गला इत्यादि नामोंकी धारण करती है ॥२२५॥ कुलाचलोपर रहनेवाली श्री, ह्री, बुद्धि, धृति, कीर्ति और लक्ष्मी ये छह देवियां जिनमातृका अर्थात् जिनमाताकी सेवा करनेवाली कहलाती हैं ॥२२६॥ जन्मके अनन्तर आये हुए इन्द्रोके द्वारा मेरु पर्वतके मस्तक पर क्षीरसागरके पवित्र जलसे भगवान्का जो अभिषेक किया जाता है वह उन परमेष्ठीकी मन्दराभिषेक किया है । वह क्रिया अत्यन्त प्रसिद्ध है इसलिए यहाँ उसका फिरसे विस्तार नहीं किया जाता है ॥२२७-२२८॥ यह चालीसवीं मन्दराभिषेक क्रिया है ।

तदनन्तर स्वतन्त्र और स्वयम्भू रहनेवाले भगवान्के विद्यार्थीको उपदेश होता है । वे शिष्यभावके बिना ही गुरुकी पूजाको प्राप्त होते हैं अर्थात् किसीके शिष्य हुए बिना ही सबके गुरु कहलाने लगते हैं ॥२२९॥ उस समय इन्द्र लोग आकर हे देव, आप अशिक्षित होनेपर भी सबको मान्य हैं इस प्रकार आश्चर्यकी प्राप्त होते हुए सबकी रक्षा करनेवाले और तीनों जगत्के गुरु भगवान्की पूजा करते हैं ॥२३०॥ यह इकतालीसवीं गुरुपूजन क्रिया है ।

तदनन्तर कुमारकाल आनेपर उन्हें युवराजपदकी प्राप्ति होती है, उस समय महा-प्रतापवान् उन भगवान्के राज्यपट्ट बाँधा जाता है और अभिषेक किया जाता है ॥२३१॥ यह बयालीसवीं यौवराज्य क्रिया है ।

तत्पश्चात् समस्त राजाओंने राजाधिराज (सम्राट्)के पदपर जिनका अभिषेक किया है और जो दूसरेके शासनसे रहित इस समुद्र पर्यन्तकी पृथिवीका शासन करते हैं ऐसे उन भगवान्के स्वराज्यकी प्राप्ति होती है ॥२३२॥ यह तैतालीसवीं स्वराज्य क्रिया है ।

इसके बाद निधियों और रत्नोंकी प्राप्ति होनेपर उन्हें चक्रकी प्राप्ति होती है उस समय

१ विश्वेश्वरी ल० । २ शिष्यत्वाभावः । ३ गुरुपूजाप्राप्तिः । स्वस्य स्वयमेव गुरुरिति भावः । ४ पूजयन्त्येतं ल०, द० । ५ रक्षतः । ६ आत्मीयप्रजापरिवारैः ।

दिशांजयः स विज्ञेयो योऽस्य दिग्विजयोद्यमः । चक्ररत्नं पुरस्कृत्य जयतः शार्ङ्गां महीम् ॥२३४॥

इति दिशांजयः ।

सिद्धदिग्विजयस्यास्य स्वपुरानुप्रवेशने । क्रिया चक्राभिषेकाद्वा साऽधुना संप्रकीर्त्यते ॥२३५॥
चक्ररत्नं पुरोधाय प्रविष्टः स्वं निकेतनम् । परार्थविमर्षोपेतं स्वर्णिमानापहासि यत् ॥२३६॥
तत्र क्षणमिवासीने^१ रम्ये प्रसदमण्डपे । चामरैर्वीज्यमानोऽयं सनिर्जर इवाद्रिराट् ॥२३७॥
संपूज्य निधिरत्नानि^२ कृतचक्रमहोत्सवः । दत्त्वा किमिच्छकं दानं मान्यान्^३ संमान्य पार्थिवान् ॥२३८॥
ततोऽभिषेकमाप्नोति पार्थिवैर्महितान्वयैः । नान्दीतूर्येषु गम्भीरं प्रध्वनत्सु सहस्रशः ॥२३९॥
यथावदभिषिक्तस्य तिरीदारोपणं ततः । क्रियते पार्थिवैर्मुख्यैश्चतुर्भिः प्रथिताम्बुधैः ॥२४०॥
महाभिषेकसामग्र्या कृतचक्राभिषेचनः । कृतमङ्गलनेपथ्यः^४ पार्थिवैः प्रणतोऽमितः ॥२४१॥
तिरीटं स्फुटरत्नांशु जटिलीकृतदिमुक्कम् । दधानश्चक्रसाम्राज्यककुदं^५ धृपपुङ्गवाः ॥२४२॥
रत्नांशुच्छुरितं^६ विभ्रत् कर्णाभ्यां कुण्डलद्वयम् । यद्वाग्देव्याः समाप्तीहारार्थं चक्रद्वयायितम् ॥२४३॥
ताराखितरत्नस्थूलमुक्ताफलमुखौगुहे । धारयन् हारमाण्डमिव मङ्गलतोरणम् ॥२४४॥

समस्त प्रजा उन्हें राजाधिराज मानकर उनकी अभिषेकसहित पूजा करती है ॥२३३॥ यह चक्रलाभ नामकी चौवालीसवीं क्रिया है ।

तदनन्तर चक्ररत्नको आगे कर समुद्रसहित समस्त पृथिवीको जीतनेवाले उन भगवान्का जो दिशाओंको जीतनेके लिए उद्योग करना है वह दिशांजय कहलाता है ॥२३४॥ यह दिशांजय नामकी पैंतालीसवीं क्रिया है ।

जब भगवान् दिग्विजय पूर्ण कर अपने नगरमें प्रवेश करने लगते हैं तब उनके चक्राभिषेक नामकी क्रिया होती है । अब इस समय उसी क्रियाका वर्णन किया जाता है ॥२३५॥ वे भगवान् चक्ररत्नको आगे कर अपने उस राजभवनमें प्रवेश करते हैं जो कि बहुभूल्य वैभवसे सहित होता है और स्वर्गके विमानोंकी हँसी करता है ॥२३६॥ वहाँपर वे मनोहर आनन्दमण्डपमें क्षणभर विराजमान होते हैं । उस समय उनपर चमर ढुलाये जाते हैं जिससे वे ऐसे जान पड़ते हैं मानो निर्झरनोंसहित सुमेरु पर्वत ही हो ॥२३७॥ उस समय वे निधियों और रत्नोंकी पूजा कर चक्र प्राप्त होनेका बड़ा भारी उत्सव करते हैं, किमिच्छक दान देते हैं और माननीय राजाओंका सन्मान करते हैं ॥२३८॥ तदनन्तर तुरही आदि हजारों मांगलिक बाजोंके गम्भीर शब्द करते रहनेपर वे उत्तम-उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए राजाओंके द्वारा अभिषेकको प्राप्त होते हैं ॥२३९॥ तदनन्तर — विधिपूर्वक जिनका अभिषेक किया गया है ऐसे उन भगवान्के मस्तकपर प्रसिद्ध प्रसिद्ध कुलमें उत्पन्न हुए मुख्य चार राजाओंके द्वारा मुकुट रखा जाता है ॥२४०॥ इस प्रकार महाभिषेककी सामग्रीसे जिनका चक्राभिषेक किया गया है, जिन्होंने मांगलिक वेष धारण किया है, जिन्हें चारों ओरसे राजा लोग नमस्कार कर रहे हैं, जो देदीप्यमान रत्नोंकी किरणोंसे समस्त दिशाओंको व्याप्त करनेवाले तथा चक्रवर्तीके साम्राज्यके चिह्नस्वरूप मुकुटको धारण कर रहे हैं, राजाओंमें श्रेष्ठ हैं, जो अपने दोनों कानोंमें रत्नोंकी किरणोंसे व्याप्त तथा सरस्वतीके क्रोडारथके पहियोंकी शोभा देनेवाले दो कुण्डलोंको धारण कर रहे हैं, जो वक्षःस्थलरूपी घरके सामने खड़े किये हुए मांगलिकतोरणके समान सुशोभित होनेवाले और ताराओंकी

१ क्षणपर्यन्तमेव । २ विहितचक्रपूजनः । ३ संपूज्य । ४ अलंकारः । ५ चिह्नं प्रधानं वा । ६ प्राधाने राजलिङ्गे च वृषाङ्गे ककुदोऽस्त्रियामिदमभिधानात् । ७ मिश्रितम् । ८ क्रीडानिमित्तस्वन्दन ।

विलसद्भङ्गसूत्रेण प्रविमक्ततनूततिः । तदनिर्झरसंपातरम्यमूर्तिरिवाद्रिपः ॥२४५॥

सद्वक्षकदकं प्रोक्षैः शिखरं भुजयोर्युगम् । द्वाविमश्लावि किञ्चाणः^१ कुलक्षमाध्रद्वयायितम् ॥२४६॥

कटिमण्डलसंसक्तलसक्काष्ठीपरिच्छदः । महाद्वीप इवोपान्तरववेदीपरिष्कृतः^२ ॥२४७॥

मन्दारकुसुमलालिङ्गालिकुलसकृतेः^३ । किमप्यारुधसंगीतमिव शेखरमुद्गहन् ॥२४८॥

तत्कालोचितमन्यश्च दधन्मङ्गलभूषणम् । स तदा लक्ष्यते साक्षालक्ष्म्याः पुञ्ज इवोच्छित्तः ॥ ४९॥

प्रीताश्चाभिष्टुवन्पेनं तदामी नृपसत्तमाः । विश्वजयो दिशां जेता दिव्यमूर्तिर्भवानिति ॥२५०॥

पौराः प्रकृतिमुल्याश्च कृतपादाभिवेषणाः । तत्कमार्चनमादाय कुर्यन्ति स्वशिरोधृतम् ॥२५१॥

श्रीदेव्यश्च सरिरेव्यो^४ देव्यो विश्वेश्वरा अपि । समुपेत्य नियोगः स्वैस्तर्दनं पर्युपासते ॥२५२॥

इति चक्राभिवेकः ।

चक्राभिवेक इत्येकः समाख्यातः क्रियाविधिः । तदनन्तरमस्य स्यात् साम्राज्याख्यं क्रियान्तरम् ॥२५३॥

अपर्युर्दिनारम्भे धृतगुण्यप्रसाधनः^५ । मध्ये महानृपसमं^६ नृपासतमधिष्ठितः ॥२५४॥

दीपैः प्रकीर्णकवातैः स्वर्धुनीर्साकरोज्ज्वलैः । वारनारीकराभूतैर्वीज्यमानः समन्ततः ॥२५५॥

सेवागर्तैः पृथिव्यादिदेवतांशैः^७ परिष्कृतः । धृतिप्रशान्तदीप्त्योजो^८ निर्मलत्वोपमा^९ दिभिः ॥२५६॥

पंक्तिरूपे समान चंचल तथा बड़े-बड़े मोतियोंसे युक्त हार धारण किये हुए हैं, शोभायमान यज्ञो-
पवीतसे जिनके शरीरकी उच्चता प्रकट हो रही है और इसी कारण जो तटपर पड़ते हुए
निर्झरनोंसे सुन्दर आकारवाले सुमेरु पर्वतके समान जान पड़ते हैं, जो रत्नोंके कटक अर्थात् कड़ों
(पक्षमें रत्नमय मध्यभागों) से सहित, ऊँचे-ऊँचे शिखरों अर्थात् कन्धों (पक्षमें चोटियों) से
युक्त, लम्बाईसे सुशोभित और इसलिए ही दो कुलाचलोंके समान आचरण करनेवाली दो
भुजाओंको धारण कर रहे हैं, जिनकी कमरपर देदीप्यमान करधनी सटी हुई है और उससे जो
ऐसे जान पड़ते हैं मानो चारों ओरसे रत्नमयी वेदीके द्वारा घिरा हुआ कोई महाद्वीप ही हो, जो
मन्दार वृक्षके फूलोंकी सुगन्धिके कारण आकर लगे हुए अमरोंके समूहकी झंकारोंसे कुछ गाते
हुएके समान सुशोभित होनेवाले शेखरको धारण कर रहे हैं तथा उस कालके योग्य अन्य-अन्य
मांगलिक आभूषण धारण किये हुए हैं ऐसे वे भगवान् उस समय ऐसे जान पड़ते हैं मानो
जिसकी शिखा ऊँची उठ रही है ऐसा साक्षात् लक्ष्मीका पुंज ही हो ॥२४१-२४९॥ उस समय
अन्य उत्तम-उत्तम राजा लोग सन्तुष्ट होकर उनको इस प्रकार स्तुति करते हैं कि आपने समस्त
संसारको जीत लिया है, आप दिशाओंको जीतनेवाले हैं और दिव्यमूर्ति हैं ॥२५०॥ नगरनिवासी
लोग तथा मन्त्री आदि मुख्य-मुख्य पुरुष उनके चरणोंके अभिवेक करते हैं और उनका चरणोदक
लेकर अपने-अपने मस्तकपर धारण करते हैं ॥२५१॥ श्री ह्री आदि देवियाँ, गंगा सिन्धु
आदि देवियाँ तथा विश्वेश्वरा आदि देवियाँ अपने-अपने नियोगोंके अनुसार आकर उस समय
उनकी उपासना करती हैं ॥२५२॥ यह चक्राभिवेक नामकी छियालीसवीं क्रिया है ।

इस प्रकार उनकी यह एक चक्राभिवेक नामकी क्रिया कही । अब इसके बाद साम्राज्य
नामकी दूसरी क्रिया कहते हैं ॥२५३॥ दूसरे दिन प्रातःकालके समय जिन्होंने पवित्र आभूषण धारण
किये हैं, जो बड़े-बड़े राजाओंकी सभाके बीचमें राजसिंहासनपर विराजमान हैं, जिनपर देदीप्यमान
गंगा नदीके जलके छोटोंके समान उज्ज्वल और गणिकाओंके हाथसे हिलाये हुए चमर चारों
ओरसे ढुलाये जा रहे हैं, जो धृति, शान्ति, दीप्ति, ओज और निर्मलताको उत्पन्न करनेवाले

१ दैर्घेन दसाधि । २ परिवेष्टितः । ३ ईषद् । ४ गङ्गादेव्यादयः । ५ पञ्चिचालंकारः । ६ महानृपसभायाः मध्ये ।
७ पृथिव्यादिदेवताविज्ययाशरीरैः इत्यर्थः । ८ भूषितः । ९ बलम् । 'ओजो दीप्तो बले'
इत्यभिधानात् । १० उत्पादकः ।

तान्^१ प्रजानुग्रहे नित्यं समाधानेन योजयन् । संमानदागत्रिभ्रम्भैः^२ प्रकृतीरनुरञ्जयन् ॥२५७॥
 पार्थिवान् प्रणतान् यूयं न्यायैः पालयत प्रजाः । अन्यायेषु^३ प्रवृत्ताश्चेद् वृत्तिलोपो^४ ध्रुवं हि वः ॥२५८॥
 न्यायश्च हितयो दुष्टनिग्रहः शिष्टपालनम् । सोऽयं सनातनः क्षात्रो धर्मो रक्ष्यः प्रजेश्वरैः ॥२५९॥
 दिव्यास्त्रदेवताश्चामूराराध्याः स्युर्विधानतः । तामिस्तु सुप्रसन्नाभिरवश्यं^५ भावुको जयः ॥२६०॥
 राजवृत्तिमिमां सम्यक् पालयन्निरस्तम्विरैः । प्रजासु वर्तितव्यं भी भवन्नित्यविवर्त्मना ॥२६१॥
 पालयेद्य इमं धर्मं स धर्मविजयी भवेत् । क्षमां जयेद् विजितात्मा हि क्षत्रियो न्यायजीविकः ॥२६२॥
 ब्रह्मैव^६ स्याद् यशोलाभो भूलाभश्च महोदयः । अमुन्नाभ्युदयावाप्तिः कृमात् त्रैलोक्यनिर्जयः ॥२६३॥
 इति भूयोऽस्तु^७ शिष्यैतान् प्रजापालनसंविधौ । स्वयं च^८ पालयत्येनान् योगक्षेममनुचिन्तनैः ॥२६४॥
 तदिदं तस्य साम्राज्यं नाम धर्मं क्रियान्तरम् । येनानुपालितेनाथमिहामुत्र च नन्दति ॥२६५॥
 इति साम्राज्यम् ।

एवं प्रजाः प्रजापालानपि पालयतश्चिरम् । काले कस्मिंश्चिदुत्पन्नबोधे दीक्षोद्यमो भवेत् ॥२६६॥

पृथिवी आदि देवताओंके अंशोंसे अर्थात् उनके वैक्रियिक शरीरोंसे हैं, जो उन देवताओंको समाधानपूर्वक निरन्तर प्रजाके उपकार करनेमें लगा रहे हैं और आदर सत्कार, दान तथा विश्वास आदिसे जो मन्त्री आदि प्रमुख कार्यकर्त्ताओंको आनन्दित कर रहे हैं ऐसे वे महाराज नमस्कार करते हुए राजाओंको इस प्रकार शिक्षा देते हैं कि तुम लोग न्यायपूर्वक प्रजाका पालन करो, यदि अन्यायमें प्रवृत्ति रखोगे तो अवश्य ही तुम्हारी वृत्तिका लोप हो जावेगा ॥२५४-२५८॥ न्याय दो प्रकारका है - एक दुष्टोंका निग्रह करना और दूसरा शिष्ट पुरुषोंका पालन करना । यह क्षत्रियोंका सनातन धर्म है । राजाओंको इसकी रक्षा अच्छी तरह करनी चाहिए ॥२५९॥ ये दिव्य अस्त्रोंके अधिष्ठाता देव भी विधिपूर्वक आराधना करने चाहते हैं क्योंकि इनके प्रसन्न होनेपर युद्धमें विजय अवश्य ही होती है ॥२६०॥ इस राजवृत्तिका अच्छी तरह पालन करते हुए आप लोग आलस्य छोड़कर प्रजाके साथ न्याय-मार्गसे बर्ताव करो ॥२६१॥ जो राजा इस धर्मका पालन करता है वह धर्मविजयी होता है क्योंकि जिसने अपना आत्मा जीत लिया है तथा न्यायपूर्वक जिसकी आजीविका है ऐसा क्षत्रिय ही पृथिवीको जीत सकता है ॥२६२॥ इस प्रकार न्यायपूर्वक बर्ताव करनेसे इस संसारमें यशका लाभ होता है, महान् वैभवके साथ साथ पृथिवीकी प्राप्ति होती है, और परलोकमें अभ्युदय अर्थात् स्वर्गकी प्राप्ति होती है और अनुक्रमसे वह तीनों लोकोंको जीत लेता है अर्थात् मोक्ष अवस्था प्राप्त कर लेता है ॥२६३॥ इस प्रकार वे महाराज प्रजापालनकी रीतियोंके विषयमें उन राजाओंको बार-बार शिक्षा देते हैं तथा योग और क्षेमका बार-बार चिन्तन करते हुए उनका स्वयं पालन करते हैं ॥२६४॥ इस प्रकार यह उनकी धर्मसहित साम्राज्य नामकी वह क्रिया है जिसके कि पालन करनेसे यह जीव इस लोक तथा परलोक दोनों ही लोकोंमें समृद्धिको प्राप्त होता है ॥२६५॥ यह सैता-लीसवीं साम्राज्य क्रिया है ।

इस प्रकार बहुत दिन तक प्रजा और राजाओंका पालन करते हुए उन महाराजके किसी समय भेदविज्ञान उत्पन्न होनेपर दीक्षा ग्रहण करनेके लिए उद्यम होने लगता है ॥२६६॥

१ पृथिव्यादिदेवताशान् । २ स्नेहैः विश्वासैर्वा । ३ प्रवृत्तिश्चेत् प०, ल०, द० । ४ निजनिजराज्यलोपो भवति । ५ नियमेन भवति । ६ एवं सति । ७ शिक्षां कृत्वा । ८ पालयत्येतान् ल०, प०, द० । ९ साम्राज्य-नामक्रियान्तरेण ।

सैषा निष्क्रान्तिरस्येष्टा क्रिया राज्याद् विरज्यतः । लौकान्तिकामरैर्भूयो बोधितस्य समागतैः ॥२६७॥
 कृतसज्ज्यार्पणो ज्येष्ठे सूनौ^१ पार्थिवसाक्षिकम् । संतानपालने चास्य करोतीत्यनुशासनम् ॥२६८॥
 न्वया न्यायधनेनाह भवितव्यं प्रजाधृता । प्रजा कामधुघा घेभुर्मला न्यायेन योजिता ॥२६९॥
 राजवृत्तमिदं निदि यन्न्यायेन धनार्जनम् । वर्धनं रक्षणं चास्य^२ तीर्थं च प्रतिपादनम् ॥२७०॥
 प्रजानां पालनार्थं च मतं मत्वनुपालनम्^३ । मतिर्हिताहितज्ञानमान्निकामुन्निकार्थयोः ॥२७१॥
 ततः^४ कृतेन्द्रियजयो वृद्धसंयोगसंपदा । धर्मार्थं^५ शास्त्रविज्ञानान् प्रज्ञां संस्कृतुमर्हसि ॥२७२॥
 अन्यथा विमतिर्भूयो^६ युक्तायुक्तानभिज्ञकः । अन्यथाऽन्यैः प्रणेयः^७ स्यान्मिथ्याज्ञानलवोद्धतैः ॥२७३॥
 कुलानुपालने चार्थ महान्तं यत्नमाचरेत् । अज्ञातकुलधर्मो हि दुर्वृत्तैर्नृपेण कुलम् ॥२७४॥
 तथायमात्मरक्षायां सदा यत्नपरो भवेत् । रक्षितं हि भवेत् सर्वं नृपेणात्मनि रक्षिते ॥२७५॥
 अपाथो हि सपत्नेभ्यो^८ नृपस्थारक्षितात्मनः । आत्मानुजीविवर्गाच्च कुललुब्धविमानितान्^९ ॥२७६॥
^{१०} तस्माद् रसवर्ताक्षणादीनपाचानरियोजितान्^{११} । परिहृत्य निजैरिष्टैः स्वं प्रयत्नेन पालयेत् ॥२७७॥
 स्थात् समञ्जसवृत्तिस्वमयस्यात्माभिरक्षणे^{१२} । असमञ्जसवृत्तौ हि निजैरप्यभिभूयते ॥२७८॥

जो राजासे विरक्त हो रहे हैं और अपने बड़े पुत्र को लौकान्तिक देव जिन्हें बार-बार प्रबोधित कर रहे हैं ऐसे उन भगवान् की यह निष्क्रान्त नामकी क्रिया कही जाती है ॥२६७॥ वे समस्त राजाओंकी साक्षीपूर्वक अपने बड़े पुत्रके लिए राज्य सौंप देते हैं और संतान-पालन करनेके लिए उसे इस प्रकार शिक्षा देते हैं ॥२६८॥ हे पुत्र, तुझे प्रजाके पालन करनेमें न्यायरूप धनसे मुक्त होना चाहिए अर्थात् तू न्यायको ही धन समझ, क्योंकि न्यायपूर्वक पालन की हुई प्रजा मनोरथोंको पूर्ण करनेवाली कामधेनु गाधके समान मानी गयी है ॥२६९॥ हे पुत्र, तू इसे ही राजवृत्त अर्थात् राजाओंका कर्तव्य समझ कि न्यायपूर्वक धन कमाना, उसकी वृद्धि करना, रक्षा करना तथा तीर्थस्थान अथवा योग्य पात्रोंका देना ॥२७०॥ प्रजाका पालन करनेके लिए सबसे अपनी बुद्धिकी रक्षा करनी चाहिए, इस लोक और परलोक दोनों लोकसम्बन्धी पदार्थोंके विषयमें हित तथा अहितका ज्ञान होना ही मति कहलाती है ॥२७१॥ इसलिए वृद्ध मनुष्योंकी संगतिरूपी सम्पदासे इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर तुम धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्रके ज्ञानसे अपनी बुद्धिको सुसंस्कृत बनानेके योग्य हो अर्थात् बुद्धिके अच्छे संस्कार बनाओ ॥२७२॥ यदि राजा इससे विपरीत प्रवृत्ति करेगा तो वह हित तथा अहितका जानकार न होनेसे बुद्धिभ्रष्ट हो जावेगा और ऐसी दशामें वह मिथ्याज्ञानके अंश मात्रसे उद्धत हुए अन्य कुमार्गगामियोंके वश हो जावेगा ॥२७३॥ राजाओंको अपने कुलकी भर्थादा पालन करने के लिए बहुत भारी प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि जिसे अपनी कुलमर्यादाका ज्ञान नहीं है वह अपने दुराचारोंसे कुलको दूषित कर सकता है ॥२७४॥ इसके सिवाय राजाको अपनी रक्षा करनेमें भी सदा यत्न करते रहना चाहिए क्योंकि अपने आपके सुरक्षित रहनेपर ही अन्य सब कुछ सुरक्षित रह सकता है ॥२७५॥ जिसने अपने आपकी रक्षा नहीं की है ऐसे राजाका शत्रुओंसे तथा क्रोधी, लोभी और अपमानित हुए अपने ही सेवकोंसे विनाश हो जाता है ॥२७६॥ इसलिए शत्रुओंके द्वारा किये हुए प्रारम्भमें सरल किन्तु फलकालमें कठिन अपायोंका परिहार कर अपने इष्ट वर्गोंके द्वारा प्रयत्नपूर्वक अपनी रक्षा करनी चाहिए ॥२७७॥ इसके सिवाय

१ प्रजापती निमित्तम् । २ धनस्य । ३ पात्रे । ४ निजबुद्धिरक्षणम् । ५ ततः कारणात् । ६ नीतिशास्त्र । ७ भूयो इ०, प०, स० । ८ वश्यः । ९ दायादेभ्यः शत्रुभ्यो वा । १० तिरस्कृतात् । ११ तस्मात् कारणात् । १२ रसतामास्वादं कुर्वतामकटुकादीन् रसनकाले अनुभवनकाले स्वादुरसप्रदानं विपाककाले कटुकानित्यर्थः । १३ आत्मरक्षानिमित्तम् । - त्मादिरक्षणे अ०, प०, द० ।

समञ्जसत्वमस्येष्टं प्रजास्वविषमेक्षिता^१ । अनुशंस्यमवाग्दण्डपातव्यादिविसेषितम् ॥२७९॥
 ततो जितारिषद्भगः स्वां वृत्तिं पालयन्निभाम् । स्वराज्ये सुस्थितो राजा प्रेम्^२ चेह न नन्दति ॥२८०॥
 समं समञ्जसत्वेन कुलमत्यात्मपाकनम् । प्रजामुपालनं चेति प्रोक्ता वृत्तिर्महीक्षिताम् ॥२८१॥
^३ततः क्षात्रमिमं धर्मं यथोक्तमनुपालयन् । स्थितो राज्ये वशो धर्मं विजयं च स्वमाप्नुहि ॥२८२॥
 प्रशान्तधीः समुत्पन्नबोधिरिस्थनुशिष्य तम्^४ । परिनिष्कान्तिरुपयाजे सुरेन्द्रैरभिपूजितः ॥२८३॥
 महादानमथो दत्त्वा साम्राज्यपदमुत्सृजन् । स राजराजो राजर्षिर्निष्कामति गृहाद् वनम्^५ ॥२८४॥
 औरेयैः पार्थिवैः किञ्चित् समुत्क्षिप्तो महीतलात् । स्कन्धाविरोपितां भूयः सुरेन्द्रैर्मन्त्रिनिर्मरैः ॥२८५॥
 आरूढः शिबिकां दिव्यां दीप्तरत्नविनिर्मिताम् । विमानवसतिं आनोरिवाऽऽयातां महीतलम् ॥२८६॥
 पुरस्सरेषु निःशेषनिहङ्गव्योमधीषिषु । सुरासुरेषु तत्त्वत्सु संदिग्धार्कप्रभं नभः ॥२८७॥
^६अनूत्थितेषु संप्रीत्या पार्थिवेषु सत्संभ्रमम् । कुमारमग्रतः कृत्वा प्राप्तराज्यं नवीदयम् ॥२८८॥
 अनुयायिनि तस्यागादिषु मन्त्रीमवद्ध्युतौ । निधीनां सह रत्नानां संदीप्तैः श्वर्णसंक्षये ॥२८९॥

राजाको अपनी तथा प्रजाकी रक्षा करनेमें समञ्जसवृत्ति अर्थात् पक्षपातरहित होना चाहिए क्योंकि जो राजा असमञ्जसवृत्ति होता है, वह अपने ही लोगोंके द्वारा अपमानित होने लगता है ॥२७८॥ समस्त प्रजाको समान रूपसे देखना अर्थात् किसीके साथ पक्षपात नहीं करना ही राजाका समञ्जसत्व गुण कहलाता है । उस समञ्जसत्व गुणमें क्रूरता या घातकपना नहीं होना चाहिए और न कठोर वचन तथा दण्डकी कठिनता ही होनी चाहिए ॥२७९॥ इस प्रकार जो राजा काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य इन छह अन्तरंग शत्रुओंको जीतकर अपनी इस वृत्तिका पालन करता हुआ स्वकीय राज्यमें स्थिर रहता है वह इस लोक तथा परलोक दोनों ही लोकोंमें समृद्धिवान् होता है ॥२८०॥ पक्षपातरहित होकर सबको एक समान देखना, कुलकी समर्यादाकी रक्षा करना, बुद्धिकी रक्षा करना, अपनी रक्षा करना और प्रजाका पालन करना यह सब राजाओंकी वृत्ति कहलाती है ॥२८१॥ इसलिए हे पुत्र, उपर कहे हुए इस क्षात्रधर्मकी रक्षा करता हुआ तू राज्यमें स्थिर रहकर अपना यश, धर्म और विजय प्राप्त कर ॥२८२॥ जिनकी बुद्धि अत्यन्त शान्त है और जिन्हें भेदविज्ञान उत्पन्न हुआ है ऐसे वे भगवान् उपर लिखे अनुसार पुत्रको शिक्षा देकर दीक्षाकल्याणके लिए इन्द्रोंके द्वारा पूजित होते हैं ॥२८३॥ अथानन्तर महादान देकर साम्राज्यपदको छोड़ते हुए वे राजाधिराज राजर्षि घरसे वनके लिए निकलते हैं ॥२८४॥ प्रथम ही मुख्य-मुख्य राजा लोग जिसे पृथिवीतलसे उठाकर कन्धेपर रखकर कुछ दूर ले जाते हैं और फिर भक्तिसे भरे हुए देव लोग जिसे अपने कन्धोंपर रखते हैं, जो देदीप्यमान रत्नोंसे बनी हुई है और जो पृथिवीतलपर आये हुए सूर्यके विमानके समान जान पड़ती है ऐसी दिव्य पालकीपर वे भगवान् सवार होते हैं ॥२८५-२८६॥ जिस समय समस्त आकाश-मार्गको रोकते हुए और अपनी कान्तिसे आकाशमें सूर्यकी प्रभाका सन्देह फैलाते हुए सुर और असुर आगे चलते हैं, जिसे राज्य प्राप्त हुआ है और जिसका नवीन उदय प्रकट हुआ है ऐसे कुमारको आगे कर बड़े प्रेम और सम्भ्रमके साथ जब समस्त राजा लोग भगवान्के समीप खड़े होते हैं, जिनका भगवान्के समीप रहना छूट चुका है और भगवान्के छोड़ देनेसे ही मानो जिनकी कान्ति मन्द पड़ गयी है ऐसे निधि और रत्नोंका समूह जब उनके पीछे-पीछे आता है, जिसने वायुके वेगसे उड़ती हुई ध्वजाओंके समूहसे आकाशको व्याप्त

१ समवशित्वम् । २ अनुशंस्य भावः । अवातुकस्वमित्यर्थः । ३ अथान्तरे । ४ ततः कारणात् । ५ स्वमाप्नुहि प०, ६० । ६ पुत्रम् । ७ दीक्षावनम् । ८ अस्तःस्थितेषु ल० ।

यैत्र्ये च कृतसन्नाहे क्षनैः समनुगच्छति । भरुदूतध्वजव्रतनिर्द्वपवनाध्वनि ॥२६०॥
 ध्वनस्तु सुरतूर्येषु नृत्यस्वप्नरसां गजे । गायन्तीषु कलकाणं किनरीषु च मङ्गलम् ॥२६१॥
 भगवानभिनिष्क्रान्तः पुण्ये^१ कस्मिंश्चिदाश्रमे^२ । स्थितः शिलातले स्वस्मिंश्चेतसीवातिविस्तृते ॥२६२॥
 निर्वाणदीक्षयात्मानं योजयन्ननुतोदयः । सुराधिपैः कृतानन्दमर्चितः परयेज्यया ॥२६३॥
 योऽत्र क्षौत्रो विधिर्युक्तः केशपूजाविलक्षणः । प्रागेव स तु निर्णीतो निष्क्रान्तीं वृषभेशिनः ॥२६४॥
 इति निष्क्रान्तिः ।

परिनिष्क्रान्तिरेषा स्यात् क्रिया निर्वाणदायिनी । अतः परं भवेदस्य मुमुक्षुर्योगसंमहः ॥२६५॥
 यदायं त्यक्त्वा ह्यन्तस्संगो^३ निष्क्रान्तपदे^४ सुदुर्गं^५ जितकलाम्^६ तदा ॥२६६॥
 तदाऽस्य क्षपकश्रेणीमारूढस्योचिते पदे^७ । शुक्लध्यानाग्निनिर्दग्धघातिकर्मघनाटवेः ॥२६७॥
 प्रादुर्भवति निःशेषबहिरभ्यस्तमलक्षयात् । केवलज्ञानं परं ज्योतिर्लोकालोकप्रकाशकम् ॥२६८॥
 तदेतस्मिद्धसाध्यस्य प्राप्नुषः^८ परमं महः । योगसंमह इत्याख्यामनुयते क्रियान्तरम् ॥२६९॥
 ज्ञानध्यानसमायोगो योगो यस्तत्कृतो महः । महिमातिशयः सोऽयमाज्ञातो योगसंमहः ॥३००॥
 इति योगसंमहः ।

ततोऽस्य केवलज्ञानं पूजितस्वामरेश्वरैः । बहिर्विभूतिरुद्धता प्रातिहार्यादिलक्षणा ॥३०१॥

कर लिया है ऐसी सेना अपनी विशेष रचना बनाकर जिस समय धीरे-धीरे उनके पीछे चलने लगती है तथा जिस समय देवोंके तुरही आदि बाजे बजते हैं, अप्सराओंका समूह नृत्य करता है और किन्नरी देवियाँ मनोहर शब्दोंसे मंगलगीत गाती हैं, उस समय वे भगवान् किसी पवित्र आश्रममें अपने चित्तके समान विस्तृत शिलातलपर विराजमान होकर दीक्षा लेते हैं । इस प्रकार जिनका उदय आश्चर्य करनेवाला है और जो निर्वाणदीक्षाके द्वारा अपने आपको युक्त कर रहे हैं ऐसे भगवान्की इन्द्र लोग उत्कृष्ट सामग्रीके द्वारा आनन्दके साथ पूजा करते हैं ॥२६७-२६९॥ इस क्रियामें केश लोंच करना, भगवान्की पूजा करना आदि जो भी कार्य अवशिष्ट रह गया है उस सबका भगवान् वृषभदेवकी दीक्षाके समय वर्णन किया जा चुका है ॥२९४॥ इस प्रकार यह अङ्गतालीसवीं निष्क्रान्ति क्रिया है ।

यह निर्वाणको देनेवाली परिनिष्क्रान्ति नामकी क्रिया है । अब इसके आगे मोक्षकी इच्छा करनेवाले उन भगवान्के योगसंमह नामकी क्रिया होती है ॥२९५॥ जब वे भगवान् बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहको छोड़कर निष्परिग्रह अवस्थाको प्राप्त होते हैं और अत्यन्त कठिन तथा सर्वश्रेष्ठ जिनकल्प नामके तपोयोगको धारण करते हैं तब क्षपक श्रेणीपर आरूढ़ हुए और योग्य पद अर्थात् गुणस्थानमें जाकर शुक्लध्यानरूपी अग्निसे घातियाकर्मरूपी सघन वनको जला देनेवाले उन भगवान्के समस्त बाह्य और अन्तरंग मलके नष्ट हो जानेसे लोक तथा अलोकको प्रकाशित करनेवाली केवलज्ञान नामकी उत्कृष्ट ज्योति प्रकट होती है ॥२९६-२९८॥ इस प्रकार जिनके समस्त कार्य सिद्ध हो चुके हैं और जिन्हें उत्कृष्ट तेज प्राप्त हुआ है ऐसे भगवान्के यह एक भिन्न क्रिया होती है जो कि 'योगसंमह' इस नामको धारण करती है ॥२९९॥ ज्ञान और ध्यानके संयोगको योग कहते हैं और उस योगसे जो अतिशय तेज उत्पन्न होता है वह योगसंमह कहलाता है ॥३००॥ यह योगसंमह नामकी उनचासवीं क्रिया है ।

तदनन्तर केवलज्ञान उत्पन्न होनेपर इन्द्रोंने जिनकी पूजा की है ऐसे उन भगवान्के

१ पवित्रे । २ प्रदेशे । ३ विधिमुक्त-३०, ल० । ४ नैःसंग-४०, ल०, प० । ५ सुदुर्गं प०, ल०, द० ।

६ गुणस्थाने । ७ गतवतः । प्राप्नुषः द० । प्राप्नुषः ल० ।

प्रातिहार्याष्टकं दिव्यं गगो द्वादशभोजितः । स्तूपहस्त्यावली सालवलयः कंतुमालिका ॥३०२॥
इत्यादिकामिसां भूतिमनुष्यामुपविभक्तः । स्यादाहंत्यमिति स्यात् क्रियान्तस्मनन्तरम् ॥३०३॥
इति आहंत्यक्रिया ।

विहारस्तु प्रतीतार्थो धर्मचक्रपुरस्सरः । प्रपञ्चितश्च प्रागेव ततो न पुनरुच्यते ॥३०४॥
इति विहारक्रिया ।

ततः परार्थसम्पत्तये धर्ममार्गोपदेशने । कृततीर्थविहारस्य योगत्यागः परा क्रिया ॥३०५॥
विहारस्योपसंहारः संहतिश्च समावनेः । वृत्तिश्च योगरोधार्थं योगत्यागः स उच्यते ॥३०६॥
यच्च दण्डकपाटादिप्रतीतार्थं क्रियान्तरम् । तदन्तर्भूतमेवादस्ततो न पृथगुच्यते ॥३०७॥
इति योगत्यागक्रिया ।

ततो निरुद्धनिःशेषयोगस्यास्य जिनेशिनः । प्राप्तशैलेश्यवस्थस्य प्रक्षीणा घातिकर्मणः ॥३०८॥
क्रियामनिर्वृतिर्नाम प्रनिर्वाणमायुषः । स्वभावजनितामुर्ध्वं वज्रामास्कन्दतो मता ॥३०९॥
इति अग्रनिर्वृतिः ।

इति निर्वाणपर्यन्ताः क्रिया गमादिकाः सदा । भव्यात्मभिरनुष्ठेयास्त्रिपञ्चाशत्समुच्चयान् ॥३१०॥
यथोक्तविधिनैताः स्युरनुष्ठेया द्विजन्मभिः । योऽप्यत्रान्तर्गतो भेदस्तं वच्युत्तरपर्वणि ॥३११॥

प्रातिहार्य आदि बाह्य विभूति प्रकट होती है ॥३०१॥ इस प्रकार आठ प्रातिहार्य, बारह दिव्य सभा, स्तूप, मकानोंकी पंक्तियाँ, कोटका घेरा और पताकाओंकी पंक्ति इत्यादि अद्भुत विभूति-को धारण करनेवाले उन भगवान्‌के आहंत्य नामकी एक भिन्न क्रिया कही गयी है ॥३०२-३०३॥ यह आहंत्य नामकी पचासवीं क्रिया है ।

धर्मचक्रको आगे कर जो भगवान्‌का विहार होता है वह विहार नामकी क्रिया है । यह क्रिया अत्यन्त प्रसिद्ध है और पहले ही इसका विस्तारके साथ निरूपण किया जा चुका है इसलिए फिरसे यहाँ नहीं कहते हैं ॥३०४॥ यह इक्यावनवीं विहारक्रिया है ।

तदनन्तर धर्ममार्गके उपदेशके द्वारा परोपकार करनेके लिए जिन्होंने तीर्थ विहार किया है ऐसे भगवान्‌के योगत्याग नामकी उत्कृष्ट क्रिया होती है ॥३०५॥ जिसमें विहार करना समाप्त हो जावे, सभाभूमि (समवसरण) विघट जावे, और योगनिरोध करनेके लिए अपनी वृत्ति करनी पड़े उसे योगत्याग कहते हैं ॥३०६॥ दण्ड, कपाट आदि रूपसे प्रसिद्ध जो केवलिसमुद्घात नामकी क्रिया है वह इसी योगत्याग क्रियामें अन्तर्भूत हो जाती है इसलिए अलगसे उसका वर्णन नहीं किया है ॥३०७॥ यह बावनवीं योगत्याग नामकी क्रिया है ।

तदनन्तर जिनके समस्त योगोंका निरोध हो चुका है, जो जिनके स्वामी हैं, जिन्हें शीलके ईश्वरपनेकी अवस्था प्राप्त हुई है, जिनके अघातिया कर्म नष्ट हो चुके हैं जो स्वभावसे उत्पन्न हुई ऊर्ध्वगतिको प्राप्त हुए हैं और जो उत्कृष्ट मोक्षस्थानपर पहुँच गये हैं ऐसे भगवान्‌के अग्रनिर्वृति नामकी क्रिया मानी गयी है ॥३०८-३०९॥ यह त्रिरेपनवीं अग्रनिर्वृति नामकी क्रिया है ।

इस प्रकार गर्भसे लेकर निर्वाण पर्यन्त जो सब मिलाकर त्रिरेपन क्रियाएँ हैं भव्य पुरुषोंको सदा उनका पालन करना चाहिए ॥३१०॥ द्विज लोगोंको ऊपर कही हुई विधिके अनुसार इन क्रियाओंका पालन करना चाहिए । इन क्रियाओंके जो भी अन्तर्गत भेद

शार्दूलचिकीडितम्

इत्युच्चैर्मरताधिपः स्वसमये संस्थापयन् तान् द्विजान्
 संप्रोवाच कृती ततां बहुमता गर्भान्वयोद्याः क्रियाः ।
 गर्भाद्याः पस्तिर्वृत्तिप्रगमनप्रान्तास्त्रिपञ्चाशतं
 प्रारभेऽथ पुनः प्रवक्तुमुचिता दीक्षान्वयाद्याः क्रियाः ॥३१२॥
 यस्वेताः द्विजसत्तमैरभिमता गर्भादिकाः सन्क्रियाः
 श्रुत्वा सम्यगर्थाव्यभावितमतिर्जिनेश्वरं दर्शने ।
 सामग्रीमुचितां स्वतश्च पततः सम्पादयन्नाचरेद्
 भव्यान्मास समग्रर्वास्त्रिजगति चूडामणित्वं मजेत् ॥३१३॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे
 द्विजोत्पत्ति-गर्भान्वयवर्णनं नाम अष्टत्रिंशत्तमं पर्व ॥३८॥

■

हैं उनका आगेके पर्वमें निरूपण करेगे ॥३११॥ इस प्रकार पुण्यवान् भरत महाराजने उन द्विजोंको अपने धर्ममें स्थापित करते हुए गर्भसे लेकर निर्वाणगमन पर्यन्तकी तिरेपन गर्भान्वय क्रियाएँ कहीं और उनके बाद कहने योग्य जो दीक्षान्वय क्रियाएँ थीं उनका कहना प्रारम्भ किया ॥३१२॥ उत्तम-उत्तम द्विजोंको माननीय इन गर्भाधानादि सभीचीन क्रियाओंको सुनकर तथा अच्छी तरह पढ़कर जो जिनेन्द्र भगवान्के दर्शनमें अपनी बुद्धि लगाता है और योग्य सामग्री प्राप्त कर दूसरोंसे आचरण कराता हुआ स्वयं भी इनका आचरण करता है वह भव्य पुरुष पूर्ण ज्ञानी होकर तीनों लोकोंके चूडामणिपनेको प्राप्त होता है अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर तीनों लोकोंके अग्रभागपर विराजमान होता है ॥३१३॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहके भाषानुवादमें द्विजोंकी उत्पत्ति तथा गर्भान्वय क्रियाओंका वर्णन करनेवाला अड़तीसवाँ पर्व समाप्त हुआ

■

एकोनचत्वारिंशत्तमं पर्व

अथाब्रवीद् द्विजन्मेभ्यो ^१मनुदीक्षान्वयक्रियाः । यास्ता ^२निःश्रेयसोदकाश्चत्वारिंशदधाष्ट च ॥१॥
 श्रूयतां भो द्विजन्मानो वक्ष्ये नैःश्रेयसीः ^३क्रियाः । अवतारादिनिर्वाणपर्यन्ता दीक्षितौचिताः ॥२॥
^४व्रताविष्करणं दीक्षा द्विधाज्ञातं च तद्व्रतम् । महत्पाणु च दोषाणां ^५कृत्स्नवेशनिवृत्तितः ॥३॥
 महाव्रतं भवेत् कृत्स्नहिंसाद्यागोषिवर्जितम् । विरतिः स्थूलहिंसादिदोषेभ्योऽणुव्रतं मतम् ॥४॥
 तदुन्मुखस्य ^६या वृत्तिः पुंसो दीक्षेत्स्यसौ मता । तामन्विता ^७क्रिया या तु सा स्याद् दीक्षान्वया क्रिया ॥५॥
 तस्यास्य भेदसम्बन्धानं प्राग्निर्णीतं षडष्टकम् ^८। क्रियते तद्विकल्पानामधुना लक्षमवर्णनम् ॥६॥
 तत्रावतारसंज्ञा स्यादाद्या दीक्षान्वयक्रिया । मिथ्यात्वदूषिते भव्ये सन्मार्गग्रहणोन्मुखे ॥७॥
 स तु संसृज्य योगीन्द्रं युक्ताचारं महाधियम् । गृहस्थाचार्यमथवा पुच्छतीति विचक्षणः ॥८॥
 भूय यूयं महाप्राज्ञा ^९मह्यं धर्ममनाविलम् ^{१०}। प्रायो मतानि तीर्थानि ^{११}हेयानि प्रतिभाति मे ॥९॥
^{१२}श्रौतान्यपि हि वाक्यानि संमतानि क्रियाविधौ । न विचारसहिष्णूनि ^{१३}दुःप्रणीतानि ताम्यपि ^{१४}॥१०॥

अथानन्तर-सोलहवें मनु महाराज भरत उन द्विजोंके लिए मोक्ष-फल देनेवाली अड़-तालीस दीक्षान्वय क्रियाएँ कहने लगे ॥१॥ वे बोले कि हे द्विजो, मैं अवतारसे लेकर निर्वाण पर्यन्तकी मोक्ष देनेवाली दीक्षान्वय क्रियाओंको कहता हूँ सो तुम लोग सुनो ॥२॥ व्रतोंका धारण करना दीक्षा है और वे व्रत हिंसादि दोषोंके पूर्ण तथा एकदेश त्याग करनेकी अपेक्षा महाव्रत और अणुव्रतके भेदसे दो प्रकारके माने गये हैं ॥३॥ सूक्ष्म अथवा स्थूल - सभी प्रकारके हिंसादि पापोंका त्याग करना महाव्रत कहलाता है और स्थूल हिंसादि दोषोंसे निवृत्त होनेको अणुव्रत कहते हैं ॥४॥ उन व्रतोंके ग्रहण करनेके लिए सन्मुख पुरुषकी जो प्रवृत्ति है उसे दीक्षा कहते हैं और उस दीक्षासे सम्बन्ध रखनेवाली ओ क्रियाएँ हैं वे दीक्षान्वय क्रियाएँ कहलाती हैं ॥५॥ उस दीक्षान्वय क्रियाके भेद अड़तालीस हैं जिनका कि निर्णय पहले किया जा चुका है । अब इस समय उन भेदोंके लक्षणोंका वर्णन किया जाता है ॥६॥ उन दीक्षान्वय क्रियाओंमें पहली अवतार नामकी क्रिया है जब मिथ्यात्वसे दूषित हुआ कोई भव्य पुरुष समीचीन मार्गको ग्रहण करनेके सन्मुख होता है तब यह क्रिया की जाती है ॥७॥ प्रथम ही वह चतुर भव्य पुरुष योग्य आचरणवाले महाबुद्धिमान् मुनिराजके समीप जाकर अथवा किसी गृहस्थाचार्यके समीप पहुँचकर उनसे इस प्रकार पूछता है कि ॥८॥ महाबुद्धिमन्, आप मेरे लिए निर्दोष धर्म कहिए क्योंकि मुझे अन्य लोगोंके मत प्रायः दुष्ट मालूम होते हैं ॥९॥ धार्मिक क्रियाओंके करनेमें जो वेदोंके वाक्य माने गये हैं वे भी विचारको सहन नहीं कर सकते अर्थात् विचार करनेपर वे निःसार जान पड़ते हैं, वास्तवमें वे वाक्य दुष्ट पुरुषोंके बनाये हुए

१ भरतः । २ निःश्रेयसं मोक्ष उदकम् उत्तरफलं यासु ताः । ३ मोक्षहेतून् । निःश्रेयसीः ल० । ४ व्रताधि-
 करणं प०, द०, ल० । ५ सकलनिवृत्त्येकदेशनिवृत्तितः । ६ तन्महाणुव्रताभिमुखस्य । ७ दीक्षाम् । ८ अनुगत्य ।
 ९ षण्णामष्टकं षडष्टकम् अष्टोत्तरचत्वारिंशत् इत्यर्थः । १० महाप्राज्ञा ल०, द० । ११ निर्दोषम् । १२ हेयानि
 प्रतिभाति माम् द०, स०, अ० । हतानि प्रतिभाति माम् ल०, द० । १३ वेदसम्बन्धीनि । 'श्रुतिः स्त्री वेद
 आम्नातः' इत्यभिधानात् । १४ दुष्टैः कथितानि । १५ प्रसिद्धान्यपि । तानि वै ल० ।

इति पृष्ठवत् तस्मै व्यासष्टे स^१ त्रिदावरः । सत्यं मुक्तिपथं धर्मं विचारपरिनिष्ठितम् ॥११॥
 विद्धि^२ सस्योद्यमासीयं वचः श्रेयोऽनुशासनम् । अनासोपज्ञमन्यसु वचो वाङ्मलमेव तत् ॥१२॥
 त्रिरागः सर्ववित् सार्वः सूक्तसूक्ततृप्तवाक् । आसः सन्मार्गोदशी मस्तदाभासास्ततोऽपरे^३ ॥१३॥
 रूपतेजोगुणस्थानध्यानलक्ष्म्यनुवर्तिभिः^४ । काङ्क्षयता विजयज्ञानदृष्टिवीर्यसुखामृतैः ॥१४॥
 प्रकृष्टो यो गुणैरभिश्चक्रिकरुपां धिपादिषु । स आप्तः स च सर्वज्ञः स लोकपरमेश्वरः ॥१५॥
 ततः^५ श्रेयोऽर्थिना श्रेयं मतमाप्तप्रणेतृकम् । अव्याहतमनालोडपूर्व^६ सर्वज्ञमानिभिः ॥१६॥
^७हेत्वाज्ञायुक्तमद्वैत^८ दीप्तं गम्भीरशासनम् । अल्पाक्षरमसन्दिग्धं वाक्यं स्वायम्भुवं विदुः ॥१७॥
^९इतश्च^{१०} तत्प्रमाणं स्यात् श्रुतमन्त्रक्रियादयः । पदार्थाः सुस्थितास्तत्र^{११} यतो नान्यमतोचिता ॥१८॥
 यथाक्रममतो द्रुमस्तान्पदार्थान्^{१२} प्रपञ्चतः । यैः^{१३} सनिःकृष्यमाणाः^{१४} स्युर्दुःस्थिताः परसूक्तयः^{१५} ॥१९॥
 वेदः पुराणं स्मृतयः चारित्रं च क्रियाविधिः । मन्त्राश्च देवतालिक्रमाहाराद्याश्च शुद्धयः ॥२०॥
 एतेऽर्था^{१६} यत्र तत्त्वेन प्रणीताः परमर्षिणा । स धर्मः स च सन्मार्गः तदाभासाः स्युरन्यथा ॥२१॥

हैं ॥१०॥ इस प्रकार पूछनेवाले उस भव्य पुरुषके लिए महाज्ञानी मुनिराज अथवा गृहस्थाचार्य सत्य, विचारसे परिपूर्ण तथा मोक्षके मार्गस्वरूप धर्मका व्याख्यान करते हैं ॥११॥ वे कहते हैं - हे भव्य, मोक्षका उपदेश देनेवाले आप्तके वचनको ही तू सत्य वचन मान और इसके विपरीत जो वचन आप्तका कहा हुआ नहीं है उसे केवल वाणीका मल ही समझ ॥१२॥ जो वीतराग है, सर्वज्ञ है, सबका कल्याण करनेवाला है, जिसके वचन समीचीन, सत्य और पवित्र हैं, तथा जो उत्कृष्ट - मोक्षमार्गका उपदेश देनेवाला है वह आप्त कहलाता है, इनसे भिन्न सभी आप्ताभास हैं अर्थात् आप्त न हीनपर भी आप्तके समाने खालूम होते हैं ॥१३॥ जो रूप, तेज, गुण-स्थान, ध्यान, लक्षण, ऋद्धि, दान, सुन्दरता, विजय, ज्ञान, दृष्टि, वीर्य और सुखामृत इन गुणोंसे चक्रवर्ती तथा इन्द्रादिकोंसे भी उत्कृष्ट है वही आप्त है, सर्वज्ञ है और समस्त लोकोंका परमेश्वर है ॥१४-१५॥ इसलिए जो आप्तका कहा हुआ है, जिसका कोई खण्डन नहीं कर सकती और अपने-आपको सर्वज्ञ माननेवाले पुरुष जिसका स्पर्श भी नहीं कर सके हैं ऐसा जैन मत है । कल्याणकी इच्छा करनेवाले पुरुषोंके लिए कल्याणकारण है ॥१६॥ जो युक्ति तथा आगमसे युक्त है, अनुपम है, देदीप्यमान है, जिसका शासन गम्भीर है, जो अल्पाक्षरवाला है और जिसके पढ़नेसे किसी प्रकारका सन्देह नहीं होता ऐसा वाक्य ही अरहन्त भगवान्का कहा हुआ कहलाता है ॥१७॥ चूँकि अरहन्तदेवके मतमें अन्य मतोंमें नहीं पाये जानेवाले शास्त्र, मन्त्र तथा क्रिया आदि पदार्थोंका अच्छी तरह निरूपण किया गया है इसलिए वह प्रमाणभूत हैं ॥१८॥ हे वत्स, मैं यथाक्रमसे विस्तारके साथ अपदार्थोंका निरूपण करता हूँ क्योंकि उन पदार्थोंके समीप आनेपर अन्य मतोंके वचन दुष्ट जान पड़ते हैं ॥१९॥ जिसमें वेद, पुराण, स्मृति, चारित्र, क्रियाओंकी विधि, मन्त्र, देवता, लिंग और आहार आदिकी शुद्धि इन पदार्थोंका यथार्थ रीतिसे परमर्षियोंने निरूपण किया है वही धर्म है और वही समीचीन मार्ग है । इसके

१ वीरीन्द्रः । २ सत्यवचनम् । ३ एवंविधलक्षणादन्ये । ४ लक्ष्म्यद्विदत्तिभिः अ०, प०, द०, स०, इ०, ल० । ५ कान्तता अ०, प०, इ०, स०, द०, ल० । आदरणीयता । ६ इन्द्र । ७ ततः कारणात् । ८ पूर्वस्मिन्ननालीडमस्पृष्टम् । ९ युक्त्यागमपरमागमाभ्यां कलितः । १० अद्वितीयम् । ११ आप्तवचनतः । १२ मतम् । १३ मते । १४ विस्तरतः । १५ पदार्थः । १६ निषर्षणं क्रियमाणाः । समीपं गम्यमाना वा । १७ कुतीर्थ्य-सूचकाः । १८ पदार्थाः ।

श्रुतं सुविहितं वेदो ह्यादशाङ्गमकल्मषम् । हिंसोपदेशि यद्वाक्यं न वेदोऽसौ कृतान्तवाक्^१ ॥२२॥
पुराणं धर्मशास्त्रं च^२ तन्स्याद् धर्मानिवेधि यत् । वधोपदेशि यत्तत्तु ज्ञेयं धूर्तप्रणेतृकम् ॥२३॥
साध्व्यविरतिवृत्तमार्थवद्वर्त्मलक्षणम्^३ । चातुराश्रम्यवृत्तं तु परोक्षमसवृजसौ^४ ॥२४॥
क्रियागर्भादिका यास्ता निर्वाणान्ताः परोदिताः^५ । आधानादिस्मशानान्ता न ताः सस्यक्क्रिया मताः ॥२५॥
मन्त्रास्त एव धर्म्याः स्युर्ये क्रियासु नियोजिताः । दुर्मन्त्रास्तेऽत्र विज्ञेया ये युक्ताः प्राणिमारणे ॥२६॥
विज्ञेश्वरादयो ज्ञेया देवताः शान्तिहेतवः । क्रूरास्तु देवता हेया यासां स्याद् वृत्तिशमिषैः ॥२७॥
निर्वाणसाधनं यत् स्यात्तच्छिङ्गं जिनदेशितम् ।^६ कृष्णाजिनादिविह्वं तु कुलिङ्गं तद्वि वैकृतम् ॥२८॥
स्यान्निरामिषभोजिष्वं शुद्धिराहारगोचरा । सर्वकृषास्तु^७ ते ज्ञेया ये स्युरामिषभोजिनः ॥२९॥
अहिंसाशुद्धिरेषां स्याद् ये निःसङ्गा दयालवः । रताः पशुवधे ये तु न ते शुद्धा दुराशयाः ॥३०॥
कामशुद्धिर्मता तेषां विक्रमा ये जितेन्द्रियाः । संतुष्टाश्च स्वदारेषु शेषाः सर्वे विदम्बकाः ॥३१॥
इति शुद्धं मतं यस्य विचारपरिनिष्ठितम् । स एवास्तदुज्जीतो^८ धर्मः श्रेयो हितार्थिनाम् ॥३२॥

सिवाय सब धर्माभास तथा मार्गाभास हैं ॥२०-२१॥ जिसके बारह अंग हैं, जो निर्दोष है और जिसमें श्रेष्ठ आचरणोंका विधान है ऐसा शास्त्र ही वेद कहलाता है, जो हिंसाका उपदेश देनेवाला वाक्य है वह वेद नहीं है उसे तो यमराजका वाक्य ही समझना चाहिए ॥२२॥ पुराण और धर्मशास्त्र भी वही हो सकता है जो हिंसाका निषेध करनेवाला है । इसके विपरीत जो पुराण अथवा धर्मशास्त्र हिंसाका उपदेश देते हैं उन्हें धूर्तोंका बनाया हुआ समझना चाहिए ॥२३॥ पापारम्भके कार्योंसे विरक्त होना चारित्र्य कहलाता है । वह चारित्र्य कार्य पुरुषोंके करने योग्य देवपूजा आदि शुद्ध कर्मरूप है । इसके सिवाय अन्य लोगोंने जो ब्रह्मचर्य आदि चार आश्रमोंका चारित्र्य निरूपण किया है वह वास्तवमें बुरा है ॥२४॥ क्रियाएँ जो गर्भाधानसे लेकर निर्वाणपर्यन्त पहले कही जा चुकी हैं वे ही समझनी चाहिए, इनके सिवाय गर्भसे मरणपर्यन्त जो क्रियाएँ अन्य लोगोंने कही हैं वे ठीक नहीं मानी जा सकतीं ॥२५॥ जो गर्भाधानादि क्रियाओंमें उपयुक्त होते हैं वे ही मन्त्र धार्मिक मन्त्र कहलाते हैं किन्तु जो प्राणियोंकी हिंसा करनेमें प्रयुक्त होते हैं उन्हें यहाँ दुर्मन्त्र अर्थात् छोटे मन्त्र समझना चाहिए ॥२६॥ शान्तिको करनेवाले तीर्थ-कर आदि ही देवता हैं । इनके सिवाय जिनकी भांसे वृत्ति है वे दुष्ट देवता छोड़ने योग्य हैं ॥२७॥ जो साक्षात् मोक्षका कारण है ऐसा जिनेन्द्रदेवका कहा हुआ निर्ग्रन्थपना ही सच्चा लिङ्ग है । इसके सिवाय मृगचर्म आदिको चिह्न बनाना यह कुलिङ्गियोंका बनाया हुआ कुलिङ्ग है ॥२८॥ मांसरहित भोजन करना आहार-विषयक शुद्धि कहलाती है । जो मांसभोजी हैं उन्हें सर्व-घाती समझना चाहिए ॥२९॥ अहिंसा शुद्धि उनके होती है जो परिग्रहरहित हैं और दयालु हैं, परन्तु जो पशुओंकी हिंसा करनेमें तत्पर रहते हैं वे दुष्ट अभिप्रायवाले शुद्ध नहीं हैं ॥३०॥ जो कामरहित जितेन्द्रिय मुनि हैं उन्हींके कामशुद्धि मानी जाती है अथवा जो गृहस्थ अपनी स्त्रियोंमें सन्तोष रखते हैं उनके भी कामशुद्धि मानी जाती है परन्तु इनके सिवाय जो अन्य लोग हैं वे केवल विदम्बना करनेवाले हैं ॥३१॥ इस प्रकार विचार करनेपर जिसका मत शुद्ध हो वही आप्त कहला सकता है और उसीके द्वारा कहा हुआ धर्म हित चाहनेवाले लोगोंको कल्याणकारी हो सकता है ॥३२॥ वह भव्य उन उत्तम उपदेशकसे इस प्रकारका उपदेश

१ यमस्य वचनम् । २ धर्मशास्त्रम् । ३ इज्यावार्तादतिस्वाध्यायसंयमतपोरूप । ४ ब्रह्मचर्यादिवतुराश्रमे भव । ५ निश्चयेन । ६ परोदिताः ४०, ल०, अ०, प०, इ० । ७ कृष्णाजिन । ८ तद्विधः कृतम् प०, ल०, इ० । ९ सकलविनाशका इत्यर्थः । १० तत्प्रोक्तः ।

श्रुतेति देशनां तस्मात् भव्योऽसौ देशिकोत्तमात् । सन्मार्गे मलिमाधसे दुर्मार्गरतिमुत्सृजन् ॥३३॥
गुरुर्जनयिता तत्त्वज्ञानं गर्भः सुसंस्कृतः । तदा तन्नावतीर्णोऽसौ भव्यात्मा धर्मजन्मना ॥३४॥
अवतारक्रियाऽस्यैषा गर्भाधानवद्विष्यते । यतो जन्मपरिप्राप्तिः उभयत्र न विद्यते ॥३५॥

इत्यवतारक्रिया ।

ततोऽस्थ-वृत्तलाभः स्यात् तदैव गुरुपादयोः । प्रणतस्य व्रतवातं विधानेनोपनेदुषः ॥३६॥

इति वृत्तलाभः ।

ततः कृतोपवासस्य पूजाविधिपुरासरः । स्थानलाभो भवेदस्य तन्नायमुच्यते विधिः ॥३७॥
जिनालये शुची रक्ते पञ्चमण्डलं लिखेत् । विलिखेद् वा जिनास्थानमण्डलं समवृत्तकम् ॥३८॥
इलक्षेण पिष्टचूर्णेन सलिलालोहितेन वा । वर्तनं मण्डलस्येष्टं चन्दनादिद्रव्येण वा ॥३९॥
तस्मिन्मण्डले पद्मे जैने वाऽऽस्थानमण्डले । विधिना लिखिते तज्जैर्विष्णुविश्वरचितार्चने ॥४०॥
जिनार्चामिमुखं सूरिर्विधिनैनं निवेशयेत् । तद्योपासकदोक्षेयमिति मूर्ध्नि मुहुः स्पृशन् ॥४१॥
पञ्चमुष्टिविधानेन स्पृष्ट्वैनमधिमस्तकम्^{११} । पूतोऽसि दीक्षयेत्युक्त्वा सिद्धशेषा च लभ्यसे^{१२} ॥४२॥
ततः पञ्चनमस्कारपदान्धस्मा उपादिषोत्^{१३} । मन्त्रोऽयमल्लिलात्^{१४} पापाश्वा^{१५} पुनीतादितीरयन्^{१६} ॥४३॥
कृत्वा विधिमिमं पश्चात् पारणाय विसर्जयेत् । गुरोरनुग्रहात् सोऽपि संप्रीतः स्वगृहं गजेत् ॥४४॥

इति स्थानलाभः ।

सुनकर मिथ्यामार्गमें प्रेम छोड़ता हुआ समीचीन मार्गमें अपनी बुद्धि लगाता है ॥३३॥ उस समय गुरु ही उसका पिता है और तत्त्वज्ञान ही संस्कार किया हुआ गर्भ है । वह भव्य पुरुष धर्म रूप जन्मके द्वारा उस तत्त्वज्ञानरूपी गर्भमें अवतीर्ण होता है ॥३४॥ इसकी यह क्रिया गर्भाधानक्रियाके समान मानी जाती है क्योंकि जन्मकी प्राप्ति दोनों ही क्रियाओंमें नहीं है ॥३५॥ इस प्रकार यह पहली अवतारक्रिया है ।

तदनन्तर—उसी समय गुरुके चरणकमलोंको नमस्कार करते हुए और विधिपूर्वक व्रतोंके समूहको प्राप्त होते हुए उस भव्यके वृत्तलाभ नामकी दूसरी क्रिया होती है ॥३६॥ यह वृत्तलाभ नामकी दूसरी क्रिया है ।

तत्पश्चात् जिसने उपवास किया है ऐसे उस भव्यके पूजाकी विधिपूर्वक स्थानलाभ नामकी तीसरी क्रिया होती है । इस क्रियामें यह विधि करना उचित है ॥३७॥ जिनालयमें किसी पवित्र स्थानपर आठ पांखुरीका कमल बनावे अथवा गोलाकार समवसरणके मण्डलकी रचना करे ॥३८॥ इस कमल अथवा समवसरणके मण्डलकी रचना पानी मिले हुए महीन चूर्णसे अथवा घिसे हुए चन्दन आदिसे करनी चाहिए ॥३९॥ उस विषयके जानकार विद्वानोंके द्वारा लिखे हुए उस अष्टदलकमल अथवा जिनेन्द्र भगवान्‌के समवसरणमण्डलकी जब सम्पूर्ण पूजा हो चुके तब आचार्य उस भव्य पुरुषको जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाके सन्मुख बैठावे और बार-बार उसके मस्तकको स्पर्श करता हुआ कहे कि यह तेरी श्रावककी दीक्षा है ॥४०-४१॥ पञ्चमुष्टिकी रीतिसे उसके मस्तकका स्पर्श करे तथा 'तू इस दीक्षासे पवित्र हुआ' इस प्रकार कहकर उससे पूजाके बचे हुए शेषाक्षत ग्रहण करावे ॥४२॥ तत्पश्चात् 'यह मन्त्र तुझे समस्त पापोंसे पवित्र करे' इस प्रकार कहता हुआ उसे पञ्च नमस्कार मन्त्रका उपदेश करे ॥४३॥ यह विधि करके आचार्य उसे

१ पिता । २ धर्म एव जन्म तेन । ३ यस्मात् कारणात् । ४ गर्भाधानावतारयोः । ५ व्रतविचरणशास्त्रोक्त-विधिना । ६ उपगतस्य । ७ स्थानलाभे । ८ जलमिश्रितेन वा । ९ उदरणम् । १० पञ्चमुष्टिमुद्राविधानेन । ११ मूर्ध्नि । १२ प्राप्येत् । १३ अस्मै उपदेशं कृत्वा । १४ दुष्कृतात् अपसार्प्य । १५ पवित्रं कृत्वा । १६ शुक्लम् ।

‘निर्दिष्टस्थानलाभस्य पुनरस्य गणग्रहः । स्यान्मिथ्यादेवताः स्वस्माद् विनिस्तारयतो गृहात् ॥४५॥

इयन्तं कालमज्ञानात् पूजिताः स्थ^३ कृतादस्म^४ । पूज्यास्त्रिदानीमस्माभिरस्मत्समयदेवताः ॥४६॥

ततोऽपमृ^५ पितृमालमन्यत्र स्वरमाह्वयताम् । इति प्रकाशमेवैतान् नीत्वाऽन्यत्र कचिरयजेत् ॥४७॥

गणग्रहः स एष स्मात् प्राक्तनं देवताङ्गणम् । विसृ^६भ्यार्चयतः शान्ता देवताः समयोचिताः ॥४८॥

इति ग्रहणक्रिया ।

पूजाराध्याय्यया कथाया क्रियाऽस्य स्वादतः परा । पूजोपवाससंपत्त्या शृण्वतोऽङ्गार्थसंग्रहम्^७ ॥४९॥

इति पूजाराध्यक्रिया ।

ततोऽन्धा पुण्ययज्ञाख्या क्रिया पुण्यानुबन्धिनी । शृण्वतः पूर्व^८ विद्यानामर्थं सत्रह्यचारिणः ॥५०॥

इति पुण्ययज्ञक्रिया ।

तथाऽस्य दृढचर्या स्यात् क्रिया स्वसमयश्रुतम् । निष्ठाप्य^९ शृण्वतो ग्रन्थान् बाह्यान्त्यांश्च कांश्चन ॥५१॥

इति दृढचर्याक्रिया ।

दृढमतस्य तस्यान्या क्रिया स्यादुपयोगिता ।^{१०} पर्वोपवासपर्यन्ते प्रतिसार्योगधारणम् ॥५२॥

इति उपयोगिताक्रिया ।

पारणाके लिए विदा करे और वह भव्य भी गुरुके अनुग्रहसे सन्तुष्ट होता हुआ अपने घर जावे ॥४४॥ यह तीसरी स्थानलाभ क्रिया है ।

जिसके लिए स्थानलाभकी क्रियाका वर्णन ऊपर किया जा चुका है ऐसा भव्य पुरुष जब मिथ्यादेवताओंको अपने घरसे बाहर निकालता है तब उसके गणग्रह नामकी क्रिया होती है ॥४५॥ उस समय वह उन देवताओंसे कहता है कि ‘मैंने अपने अज्ञानसे इतने दिन तक आदरके साथ आपकी पूजा की परन्तु अब अपने ही मतके देवताओंकी पूजा करूँगा इसलिए क्रोध करना व्यर्थ है । आप अपनी इच्छानुसार किसी दूसरी जगह रहिए ।’ इस प्रकार प्रकट रूपसे उन देवताओंको ले जाकर किसी अन्य स्थानपर छोड़ दे ॥४६-४७॥ इस प्रकार पहले देवताओंका विसर्जन कर अपने मतके शान्त देवताओंकी पूजा करते हुए उस भव्यके यह गणग्रह नामकी चौथी क्रिया होती है ॥४८॥ यह चौथी गणग्रह क्रिया है ।

तदनन्तर पूजा और उपवासरूप सम्पत्तिके साथ-साथ अंगोंके अर्थसमूहको सुननेवाले उस भव्यके पूजाराध्या नामकी प्रसिद्ध क्रिया होती है । भावार्थ—जिनेन्द्रदेवकी पूजा तथा उपवास आदि करते हुए द्वादशांगका अर्थ सुनना पूजाराध्य क्रिया कहलाती है ॥४९॥ यह पाँचवीं पूजाराध्य क्रिया है ।

तदनन्तर साधर्मी पुरुषोंके साथ-साथ चौदह पूर्वविद्याओंका अर्थ सुननेवाले उस भव्यके पुण्यको बढ़ानेवाली पुण्ययज्ञा नामकी भिन्न क्रिया होती है ॥५०॥ यह छठी पुण्ययज्ञा क्रिया है ।

इस प्रकार अपने मतके शास्त्र समाप्त कर अन्य मतके ग्रन्थों अथवा अन्य किन्हीं दूसरे विषयोंको सुननेवाले उस भव्यके दृढचर्या नामकी क्रिया होती है ॥५१॥ यह दृढचर्या नामकी सातवीं क्रिया है ।

तदनन्तर जिसके मत दृढ़ हो चुके हैं ऐसे पुरुषके उपयोगिता नामकी क्रिया होती है ।

१ उपदेशित । २ भव्य । ३ ततः कारणात् । ४ ईर्ष्या क्रोधेन वा । ५ प्रकटं यथा भवति तथा । ६ निजमत । ७ द्वादशाङ्गसंबन्धिद्रव्यसंग्रहादिकम् । ८ चतुर्दशविज्ञानां संबन्धिनम् । ९ सहाध्यागिसहितस्य । ‘एकग्रह्य-व्याचारा मितः सत्रह्यचारिणः ।’ इत्यभिधानात् । १० संपूर्णमधीत्य । ११ पर्वोपवासरात्रावित्यर्थः ।

क्रियाकलापेनोक्तेन शुद्धिमस्योपविभक्तः । उपनीतिरनुचानयोग्यलिङ्गग्रहो भवेत् ॥५३॥

उपनीतिर्हि वेषस्य वृत्तस्य समयस्य च । देवतागुरुसाक्षि स्याद् विधिद्वयतिपालनम् ॥५४॥

शुक्लवस्त्रोपवीतादिधारणं वेष उच्यते । आर्यवदकर्मजाविश्वं वृत्तमस्य प्रचक्ष्यते ॥५५॥

जनोपासकदीक्षा स्यात् समयः समयोचितम् । दधतो गोत्रजात्यादि नामान्तरमतः परम् ॥५६॥

इत्युपनीतिक्रिया ।

ततोऽथमुपनीतः सन् व्रतचर्या समाश्रयेत् । सूत्रमोपासकं सम्यगभ्यस्य ग्रन्थतोऽर्थतः ॥५७॥

इति व्रतचर्याक्रिया ।

व्रतावतारणं तस्य भूयो भूषादिसंग्रहः । भवेदधीतविद्यस्य यथावद्गुरुसन्निधौ ॥५८॥

इति व्रतावतरणक्रिया ।

विवाहस्तु भवेदस्य नियुञ्जानस्य दीक्षया । सुदतोचितया सम्यक् स्वां धर्मसहचारिणीम् ॥५९॥

पुनर्विवाहसंस्कारः पूर्वः सर्वोऽस्य संमतः । सिद्धार्चनां पुरस्कृत्य पत्न्याः संस्कारमिच्छतः ॥६०॥

इति विवाहक्रिया ।

पर्वके दिन उपवासके अन्तमें अर्थात् रात्रिके समय प्रतिमायोग धारण करना उपयोगिता क्रिया कहलाती है ॥५२॥ यह उपयोगिता नामकी आठवीं क्रिया है ।

ऊपर कहे हुए क्रियाओंके समूहसे शुद्धिके धारण करनेवाले उस भव्यके उत्कृष्ट पुरुषोंके योग्य चिह्नको धारण करनेरूप उपनीति क्रिया होती है ॥५३॥ देवता और गुरुकी साक्षीपूर्वक विधिके अनुसार अपने वेष, सदाचार और समयकी रक्षा करना उपनीति क्रिया कहलाती है ॥५४॥ सफेद वस्त्र और यज्ञोपवीत आदि धारण करना वेष कहलाता है, आर्योंके करने योग्य देवपूजा आदि छह कर्मोंके करनेको वृत्त कहते हैं और इसके बाद अपने शास्त्रके अनुसार गोत्र जाति आदिके दूसरे नाम धारण करनेवाले पुरुषके जो जैन श्रावककी दीक्षा है उसे समय कहते हैं ॥५५-५६॥ यह उपनीति नामकी नौवीं क्रिया है ।

तदनन्तर यज्ञोपवीतसे युक्त हुआ भव्य पुरुष शब्द और अर्थ दोनोंसे अच्छी तरह उपासकाध्ययनके सूत्रोंका अभ्यास कर व्रतचर्या नामकी क्रियाको धारण करे । भावार्थ—यज्ञोपवीत धारण कर उपासकाध्ययनांग (श्रावकाचार) का अच्छी तरहसे अभ्यास करते हुए व्रतादि धारण करना व्रतचर्या नामकी क्रिया है ॥५७॥ यह दसवीं व्रतचर्या क्रिया है ।

जिसने समस्त विद्याएँ पढ़ ली हैं ऐसा श्रावक जब गुरुके समीप विधिके अनुसार फिरसे आभूषण आदि ग्रहण करता है तब उसके व्रतावतरण नामकी क्रिया होती है ॥५८॥ यह व्रतावतरण नामकी ग्यारहवीं क्रिया है ।

जब वह भव्य अपनी पत्नीको उत्तम व्रतोंके योग्य श्रावककी दीक्षासे युक्त करता है तब उसके विवाह नामकी क्रिया होती है ॥५९॥ अपनी पत्नीके संस्कार चाहनेवाले उस भव्यके उसी स्त्रीके साथ फिरसे विवाह संस्कार होता है और उस संस्कारमें सिद्ध भगवान्की पूजाको आदि लेकर पहले कही हुई समस्त विधि करनी चाहिए ॥६०॥ यह बारहवीं विवाहक्रिया है ।

१ क्रियासमूहेन । २ प्रवचने साङ्गोऽधीती । ३ यज्ञोपवीत । 'उपवीतं यज्ञसूत्रं प्रोदधृतं दक्षिणे करे' । ४ व्रतावतरणम् ७७ । ५ धर्मपत्नीम् । ६ गर्भान्वयक्रियासु प्रोक्तः । ७ जिनदर्शनस्वीकारात् प्राग्विवाहितभार्यायाः ।

वर्णलाभस्ततोऽस्य स्यात् संबन्ध^१ संविधिस्ततः^२ । समानाजीविभिर्लब्ध^३ वर्णैरन्यैरुपासकैः ॥६१॥
चतुरः^४ श्रावकऽपेक्षानाहुय कृतसंक्रियान् । तान् श्रूयादस्यनुग्राही भवति स्वसमीकृतः^५ ॥६२॥
यूयं निस्तारका वेषब्राह्मणा लोकपूजिताः । अहं च कृतदीक्षोऽस्मि गृहीतोपासकव्रतः ॥६३॥
मया तु चरितो धर्मः पुष्कलो गृहमेधिनाम् । इत्थान्यपि च दानानि कृतं च गुरुपूजनम् ॥६४॥
अथोनिःसंभवं जन्म^६ कुर्वन्मम^७ । चिरकालं^८ पालयामासितम् ॥६५॥
व्रतसिद्धयर्थमेवाहमुपनीतोऽस्मि साम्प्रतम् । कृतविद्यश्च जातोऽस्मि^९ स्वधीतोपासकश्रुतः^{१०} ॥६६॥
व्रतावतरणस्यान्ते^{११} स्वीकृतामरणोऽस्यहम् । पत्नी च संस्कृताऽऽत्मीया कृतपाणिग्रहा पुनः ॥६७॥
एवं कृतव्रतस्याद्य वर्णलाभो समोचितः । सुलभः सोऽपि युष्माकमनुज्ञानात् सधर्मणाम् ॥६८॥
इत्युक्तास्ते च तं सत्यमेवमस्तु समञ्जसम्^{१२} । स्वयोकं^{१३} श्लाघ्यमेवैतत् कोऽन्यस्त्वरसदृशो द्विजः ॥६९॥
युष्माकमालाभे तु मिथ्यादृष्टिर्मित्यमा । समानाजीविभिः कर्तुं संबन्धोऽस्मिन्तां हि नः ॥७०॥
इत्युक्त्वा^{१४} न समाश्रास्य वर्णलाभेन युज्यते । विधिवत् सोऽपि तं लब्ध्वा याति तत्समकक्षताम् ॥७१॥

इति वर्णलाभक्रिया ।

वर्णलाभोऽयमुद्दिष्टः कुलचर्याऽपुनोच्यते । आर्यषट्कर्मवृत्तिः स्यात् कुलचर्याऽस्य पुष्कला ॥७२॥

इति कुलचर्या ।

तदनन्तर - जिन्हें वर्णलाभ हो चुका है और जो अपने समान ही आजीविका करते हैं ऐसे अन्य श्रावकोंके साथ सम्बन्ध स्थापित करनेकी इच्छा करनेवाले उस भव्य पुरुषके वर्णलाभ नामकी क्रिया होती है ॥६१॥ इस क्रियाके करते समय वह भव्य चार बड़े-बड़े श्रावकोंको आदर-सत्कार कर बुलावे और उनसे कहे कि आप लोग मुझे अपने समान बनाकर मेरा अनुग्रह कीजिए ॥६२॥ आप लोग संसारसे पार करनेवाले देव ब्राह्मण हैं, संसारमें पूज्य हैं और मैंने भी दीक्षा लेकर श्रावकके व्रत ग्रहण किये हैं ॥६३॥ मैंने गृहस्थोंके सम्पूर्ण धर्मका आचरण किया है, दान भी दिये हैं और गुरुओंका पूजन भी किया है ॥६४॥ मैंने गुरुके अनुग्रहसे योनिके बिना ही उत्पन्न होनेवाला जन्म धारण किया है, और चिरकालसे पालन किये हुए मिथ्याधर्मको छोड़कर जिसका पहले कभी चिन्तन भी नहीं किया था ऐसा सम्यक् चारित्र्य धारण किया है ॥६५॥ व्रतोंकी सिद्धिके लिए ही मैंने इस समय यज्ञोपवीत धारण किया है और श्रावकाचारके प्ररूपक श्रुतका अच्छी तरह अध्ययन कर विद्वान् भी हो गया हूँ ॥६६॥ व्रतावतरण क्रियाके बाद ही मैंने आभूषण स्वीकार किये हुए हैं, मैंने अपनी पत्नीके भी संस्कार किये हैं और उसके साथ दुबारा विवाहसंस्कार भी किया है ॥६७॥ इस प्रकार व्रत धारण करनेवाले मुझको वर्णलाभकी प्राप्ति होना उचित है और वह भी आप साधर्मि पुरुषोंकी आज्ञासे सहज ही प्राप्त हो सकती है ॥६८॥ इस प्रकार कह चुकनेपर वे श्रावक कहें कि ठीक है, ऐसा ही होगा, तुमने जो कुछ कहा है वह सब प्रशंसनीय है, तुम्हारे समान और दूसरा द्विज कौन है ? ॥६९॥ आप-जैसे पुरुषोंके न मिलनेपर हम लोगोंको समान जीविका करनेवाले मिथ्यादृष्टियोंके साथ भी सम्बन्ध करना पड़ता है ॥७०॥ इस प्रकार कहकर वे श्रावक उसे आश्वासन दें और वर्णलाभसे युक्त करावें तथा वह भव्य भी विधिपूर्वक वर्णलाभको पाकर उन सब श्रावकोंकी समानताको प्राप्त होता है ॥७१॥ यह तेरहवीं वर्णलाभ नामकी क्रिया है ।

यह वर्णलाभ क्रिया कह चुके । अब कुलचर्या क्रिया कही जाती है । आर्य पुरुषोंके करने

१ कन्याप्रदानादानादिसंबन्धम् । २ संविधातुमिच्छतः । ३ सदृशार्यषट्कर्मवृत्तिभिः । ४ विद्वज्जनेः । ५ चतुःसंख्यान् । ६ मुष्मत्सदृशोऽकृतः । ७ चिरकालसंस्कारितम् । ८ मिथ्यात्ववृत्तमित्यर्थः । ९ पूर्वस्मिन्नभावितम् । १० संपूर्णविद्यः । ११ सुष्ठ्वधीतः । १२-सकव्रतः ल०, द० । १३ सावधी-कृतकतिचिद्व्रतावतारणावसाने । १४ इष्टम् ।

विशुद्धस्तेन कृतेन ततोऽभ्येति गृहीशिताम् । वृत्ताध्ययनसंपत्त्या परानुग्रहणक्षमः ॥७३॥

प्रायश्चित्तविधानज्ञः श्रुतिस्मृतिपुराणवित् । गृहस्थाचार्यतां प्राप्तः तदा धत्ते गृहीशिताम् ॥७४॥
इति गृहीशिताक्रिया ।

ततः पूर्ववत्तेवास्य भवेदिष्टा प्रशान्तता । नानाविधोपवासादिभाषताः समुपेयुषः ॥७५॥

इति प्रशान्तताक्रिया ।

गृहत्यागस्ततोऽस्य स्याद् गृहत्यासाद् विरज्यतः । योग्यं सूनुं यथान्यायमनुशिष्य गृहोज्जनम् ॥७६॥

इति गृहत्यागक्रिया ।

वस्त्रक्षामारस्य तस्यातस्तपोवनमुपेयुषः । एकशाटकधारित्वं प्रायश्चित्तोपनिष्यते ॥७७॥

इति दीक्षाद्यक्रिया ।

ततोऽस्य जिनरूपस्त्वभिष्यते स्वकषाग्रस्य । धारणं जातरूपस्य युक्ताचाराद् गणेशिनः ॥७८॥

इति जिनरूपता ।

क्रियाशेषास्तु निःशेषा प्रोक्ता गर्भान्वये यथा । तथैव प्रतिपद्याः स्युर्न भेदोऽस्त्यत्र कश्चन ॥७९॥

यस्त्वैतास्तरवतो ज्ञात्वा भव्यः समनुतिष्ठति । सोऽधिगच्छति निर्वाणमचिरात्सुखसाक्षवन् ॥८०॥

इति दीक्षान्वयक्रिया ।

योग्य देवपूजा आदि छह कार्योंमें पूर्ण प्रवृत्ति रखना कुलचर्या कहलाती है ॥७२॥ यह कुलचर्या नामकी चौदहवीं क्रिया है ।

ऊपर कहे हुए चारित्र्यसे विशुद्ध हुआ श्रावक गृहीशिता क्रियाको प्राप्त होता है । जो सम्यक्चारित्र्य और अध्ययनरूपी सम्पत्तिसे परपुरुषोंका उपकार करनेमें समर्थ है, जो प्रायश्चित्तकी विधिका जानकार है, श्रुति, स्मृति और पुराणका जाननेवाला है ऐसा भव्य गृहस्थाचार्य पदको प्राप्त होकर गृहीशिता नामकी क्रियाको धारण करता है ॥७३-७४॥ यह गृहीशिता नामकी पन्द्रहवीं क्रिया है ।

तदनन्तर नाना प्रकारके उपवास आदिकी भावनाओंको प्राप्त होनेवाले उस भव्यके पहलेके समान ही प्रशान्तता नामकी क्रिया मानी जाती है ॥७५॥ यह सोलहवीं प्रशान्तता क्रिया है ।

तत्पश्चात् जब वह घरके निवाससे विरक्त होकर योग्य पुत्रको नीतिके अनुसार शिक्षा देकर घर छोड़ देता है तब उसके गृहत्याग नामकी क्रिया होती है ॥७६॥ यह सत्रहवीं गृहत्याग क्रिया है ।

तदनन्तर जो घर छोड़कर तपोवनमें चला गया है ऐसे भव्य पुरुषका पहलेके समान एक वस्त्र धारण करना यह दीक्षाद्य नामकी क्रिया मानी जाती है ॥७७॥ यह दीक्षाद्य नामकी अठारहवीं क्रिया है ।

इसके बाद जब वह गृहस्थ वस्त्र छोड़कर किन्हीं योग्य आचरणवाले मुनिराजसे दिगम्बर रूप धारण करता है तब उसके जिनरूपता नामकी क्रिया कही जाती है ॥७८॥ यह उन्नीसवीं जिनरूपता क्रिया है ।

इनके सिवाय जो कुछ क्रियाएँ बाकी रह गयी हैं वे सब जिस प्रकार गर्भान्वय क्रियाओंमें कही गयी हैं उसी प्रकार प्रतिपादन करने योग्य हैं । इनमें उनमें कोई भेद नहीं है ॥७९॥ जो भव्य इन क्रियाओंको यथार्थरूपसे जानकर उनका पालन करता है वह सुखके अधीन होता हुआ बहुत शीघ्र निर्वाणको प्राप्त होता है ॥८०॥ इस प्रकार यह दीक्षान्वय क्रियाओंका वर्णन पूर्ण हुआ ।

अथातः संप्रवक्ष्यामि त्रिजाः^१ कर्त्रन्वयक्रियाः । याः^२ प्रत्यासन्ननिष्ठस्य भवेद्युर्भग्यदेहिनः ॥८१॥
तत्र सजातिरिस्थाया क्रिया श्रेयोऽनुबन्धिनी । या सा^३ वासकमव्यस्य नृजन्मोपगमं भवेत् ॥८२॥
स नृजन्मपरिप्राप्तौ दीक्षायोग्ये सद्बन्धये । विशुद्धं कर्मते जन्म सैषा सजातिरिष्यते ॥८३॥
विशुद्धकुलजाभ्यादिसंपरसजातिरुच्यते । उदितोदितवंशरवं यतोऽभ्येति पुमान् कृती ॥८४॥
पितुरन्वयशुद्धिर्वा तत्कुलं परिभाष्यते । मातुरन्वयशुद्धिस्तु जातिरित्यभिरुच्यते ॥८५॥
विशुद्धिद्वयस्यास्य सजातिरनुवर्जिता । यत्प्राप्तौ^४ सुलभा^५ बोधिरयमोपै^६ नतैर्गुणैः ॥८६॥
“सजन्मप्रतिलम्बोऽयमार्यावर्त” विशेषतः । सत्यां वेदादिसामग्र्यो श्रेयः सूते हि देहिनाम् ॥८७॥
शरीरजन्मना सैषा सजातिरनुवर्जिता^७ । “पुत्रपुत्रा-य-”^८ “पुत्रोऽपुत्राभिष्टर्षिण्ड-”^९ ॥८८॥
संस्कारजन्मना चान्या सजातिरनुवर्ज्यते । “वामासाद्य द्विजन्मत्वं भव्यात्मा समुपाश्नुते ॥८९॥
विशुद्धाकरसंभूतो मणिः संस्कारयोगतः । यात्युत्कर्षं यथाऽऽत्मैवं^{१०} क्रियामन्त्रैः सुलंस्कृतः ॥९०॥
“सुवर्णधातुरथवा शुद्धयेदासाद्य संस्क्रियाम् । यथा तथैव भव्यात्मा शुद्धयथासादितक्रियः ॥९१॥
ज्ञानजः स तु संस्कारः सम्यग्ज्ञानसमुत्तरम् । यदाय कर्मते साक्षात् सर्वबिन्मुखतः कृती ॥९२॥

अथानन्तर-हे विजो, मैं आगे उन कर्त्तव्य कृत्याओंको कहता हूँ जो कि अल्पसंसारी भव्य प्राणी ही के हो सकती हैं ॥८१॥ उन कर्त्तव्य कृत्याओंमें कल्याण करनेवाली सबसे पहली कृत्वा सज्जाति है जो कि किसी निकट भव्यको मनुष्यजन्मकी प्राप्ति होनेपर होती है ॥८२॥ मनुष्यजन्मकी प्राप्ति होनेपर जब वह दीक्षा धारण करने योग्य उत्तम वंशमें विशुद्ध जन्म धारण करता है तब उसके यह सज्जाति नामकी कृत्वा होती है ॥८३॥ विशुद्ध कुल और विशुद्ध जातिरूपी सम्पदा सज्जाति कहलाती है । इस सज्जातिसे ही पुण्यवान् मनुष्य उत्तरोत्तर उत्तम उत्तम वंशोंको प्राप्त होता है ॥८४॥ पिताके वंशकी जो शुद्धि है उसे कुल कहते हैं और माताके वंशकी शुद्धि जाति कहलाती है ॥८५॥ कुल और जाति इन दोनोंकी विशुद्धिको सज्जाति कहते हैं, इस सज्जातिके प्राप्त होनेपर बिना प्रयत्नके सहज ही प्राप्त हुए गुणोंसे रत्नत्रयकी प्राप्ति सुलभ हो जाती है ॥८६॥ आर्यखण्डकी विशेषतासे सज्जातित्वकी प्राप्ति शरीर आदि योग्य सामग्री मिलनेपर प्राणियोंके अनेक प्रकारके कल्याण उत्पन्न करती है । भावार्थ-यदि आर्यखण्डके विशुद्ध वंशोंमें जन्म हो और शरीर आदि योग्य सामग्रीका सुयोग प्राप्त हो तो अनेक कल्याणोंकी प्राप्ति सहज ही हो जाती है ॥८७॥ यह सज्जाति उत्तम शरीरके जन्मसे ही वर्णन की गयी है क्योंकि पुरुषोंके समस्त इष्ट पदार्थोंकी सिद्धिका मूलकारण यही एक सज्जाति है ॥८८॥ संस्काररूप जन्मसे जो सज्जातिका वर्णन किया जाता है वह दूसरी ही सज्जाति है उसे पाकर भव्य जीव द्विजन्मपनेको प्राप्त होता है ॥८९॥ जिस प्रकार विशुद्ध ज्ञानमें उत्पन्न हुआ रत्न संस्कारके योगसे उत्कर्षकी प्राप्ति होता है उसी प्रकार कृत्याओं और मन्त्रोंसे सुसंस्कारको प्राप्त हुआ आत्मा भी अत्यन्त उत्कर्षको प्राप्त हो जाता है ॥९०॥ अथवा जिस प्रकार सुवर्ण पाषाण उत्तम संस्कारको पाकर शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार भव्य जीव उत्तम कृत्याओंको पाकर शुद्ध हो जाता है ॥९१॥ वह संस्कार ज्ञानसे उत्पन्न होता है, सबसे उत्कृष्ट ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, जिस समय वह पुण्यवान् भव्य साक्षात् सर्वज्ञ देवके मुखसे उस उत्तम ज्ञान-

१ भो विप्राः । २ प्रत्यासन्नमोक्षस्य । ३ सा आसन्न — ल० । ४ उत्तरोत्तराभ्युदयवदन्वयत्वम् । ५ यत् सज्जाती प्राप्ती सत्त्वाम् । ६ रत्नत्रयप्राप्तिः । ७ वपागतैः । ८ सज्जातिपरिप्राप्तिः । ९ आर्यावर्तः । 'आर्यावर्तः पुण्ड्रभूमिः' इत्यभिधानात् । १० एषा सज्जातिमूलं कारणं वासां ताः । ११ यतः क रणात् । १२ संस्कारद्वयसज्जातिम् । १३ उत्कर्षं याति । १४ सुवर्णपाषाणः ।

तदैव परमज्ञानगर्भात् संस्कारजम्भता । जातो भवेद् द्विजमेति वसैः शीलैश्च भूषितः ॥९३॥
 व्रतचिह्नं भवेदस्य सूत्रं^१ मन्त्रपुरःसरम् । सर्वज्ञाज्ञाप्रधानस्य ब्रह्मभावविकल्पितम् ॥९४॥
 यज्ञोपवीतमस्य स्याद् ब्रह्मवर्चसिगुणात्मकम् । सूत्रमौपासिकं^२ तु स्याद् भावार्कैश्चिभिर्गुणैः^३ ॥९५॥
 यदैव लब्धसंस्कारः परं^४ ब्रह्माधिगच्छति । तदैवमभिनन्द्याशीर्वाचोभिर्गणनायकाः^५ ॥९६॥
 लम्भयन्सुचितां शेषां जैनीं पुत्रैश्चाक्षतैः । स्थिरीकरणमेतद्धि धर्मप्रोत्साहना^६ परम् ॥९७॥
 अयोनिस्तंभं दिव्यज्ञानगर्भसमुद्भवम् । सोऽधिगम्य परं जन्म तदा सज्जातिभारभवेत् ॥९८॥
 ततोऽधिगतसज्जातिः सदगृह्णित्वमसौ मजेत् । गृहमेधीभवन्नायं पट्कर्मण्यनुपालयन् ॥९९॥
 यदुक्तं गृहचर्यायामनुष्ठानं विष्णुदिग्मतम् । तदातविहितं कृत्स्नमतस्तत्रालुः समाचरेत्^७ ॥१००॥
 जिनेन्द्राह्वयसज्जम्मा गणेन्द्रैरनुशिक्षितः । स धत्ते परमं ब्रह्मवर्चसं^८ द्विजसत्तमः ॥१०१॥
 तमेन धर्मसाद्गुतं श्लाघन्ते धार्मिका जनाः । परं तेज^९ इव ब्राह्मणवर्तीर्णं महीतलम् ॥१०२॥
 स यजन्^{१०} याजयन्^{११} धीमान्^{१२} यजमानैरुपासितः^{१३} । अभ्यापयन्नधीयानो^{१४} वेदवेदाङ्गविस्तरम् ॥

को प्राप्त करता है उस समय वह उत्कृष्ट ज्ञानरूपी गर्भसे संस्काररूपी जन्म लेकर उत्पन्न होता है और व्रत तथा शीलसे विभूषित होकर द्विज कहलाता है ॥९२-९३॥ सर्वज्ञ देवकी आज्ञा-को प्रधान माननेवाला वह द्विज जो मन्त्रपूर्वक सूत्र धारण करता है वही उसके व्रतोंका चिह्न है, वह सूत्र ब्रह्म और भावके भेदसे दो प्रकारका है ॥९४॥ तीन लरका जो यज्ञोपवीत है वह उसका ब्रह्मसूत्र है और हृदयमें उत्पन्न हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी गुणोंसे बना हुआ जो श्रावकका सूत्र है वह उसका भावसूत्र है ॥९५॥ जिस समय वह भव्य जीव संस्कारोंको पाकर परम ब्रह्मको प्राप्त होता है उस समय आचार्य लोग आशीर्वादरूप वचनोंसे उसकी प्रशंसा कर उसे पुष्प अथवा अक्षतोंसे जिनेन्द्र भगवान्की आशिषिका ग्रहण कराते हैं अर्थात् जिनेन्द्रदेवकी पूजासे बचे हुए पुष्प अथवा अक्षत उसके शिर आदि अंगोंपर रखवाते हैं क्योंकि यह एक प्रकारका स्थिरीकरण है और धर्ममें अत्यन्त उत्साह बढ़ानेवाला है ॥९६-९७॥ इस प्रकार जब यह भव्य जीव बिना योनिके प्राप्त हुए दिव्यज्ञानरूपी गर्भसे उत्पन्न होनेवाले उत्कृष्ट जन्मको प्राप्त होता है तब वह सज्जातिको धारण करनेवाला समझा जाता है ॥९८॥ यह सज्जाति नामकी पहली क्रिया है।

तदनन्तर जिसे सज्जाति क्रिया प्राप्त हुई है ऐसा वह भव्य सदगृह्णित्व क्रियाको प्राप्त होता है इस प्रकार जो सदगृहस्थ होता हुआ आर्य पुरुषोंके करने योग्य छह कर्मोंका पालन करता है, गृहस्थ अवस्थामें करने योग्य जो-जो विशुद्ध आचरण कहे गये हैं अरहन्त भगवान्के द्वारा कहे हुए उन उन समस्त आचरणोंका जो आलस्य-रहित होकर पालन करता है, जिसने श्री जिनेन्द्रदेवसे उत्तम जन्म प्राप्त किया है और गणधरदेवने जिसे शिक्षा दी है ऐसा वह उत्तम द्विज उत्कृष्ट ब्रह्मतेज - आत्मतेजको धारण करता है ॥९९-१०१॥ उस समय धर्मस्वरूप हुए उस भव्यकी अन्य धर्मात्मा लोग यह कहते हुए प्रशंसा करते हैं कि तू पृथिवीतलपर अवतीर्ण हुआ उत्कृष्ट ब्रह्मतेजके समान है ॥१०२॥ पूजा करनेवाले यजमान जिसकी पूजा करते हैं, जो स्वयं पूजन करता है, और दूसरोंसे भी कराता

१ यज्ञसूत्रम् । २ उपासकाचारसंबन्धि । ३ मनसा विकल्पितः । ४ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैः । उपलब्धि-उपयोगसंस्कारैर्वि । ५ परमज्ञानम्, परमतपो वा । ६ आचार्याः । ७ प्रापयन्ति । ८ प्रवर्तनम् । ९ समाचरेन् ५०, अ०, ल०, प०, इ०, स० । १० वृत्ताध्ययनसंपत्तिम् । 'स्याद् ब्रह्मवर्चसं वृत्ताध्ययनदिः' इत्यभिधानात् । ११ ज्ञानसंबन्धुत्कृष्टतेज इव । १२ यजनं कुर्वन् । १३ यजनं कारयन् । १४ पूजाकारकैः । १५ आराधितः । १६ अध्ययनं कारयन् । १७ आगम - आगमाङ्ग ।

स्पृशन्नपि महीं नैव स्पृष्टो दोषैर्महींगनैः । देवत्वमात्मसात्कुर्यादिहैवाभ्यर्चिनैर्गुणैः ॥१०४॥
 नाणिमा महिमैवात्य गरिमैव न लाघवम् । प्राप्तिः प्राकाभ्यर्माशित्वं वशित्वं चेति तद्गुणाः ॥१०५॥
 गुणैरेभिरुपाकृतमहिमा देवमान्नवम्^१ । विभ्रल्लोकातिगं धाम मद्यामेष महीयते ॥१०६॥
 धर्मैराचरितैः सत्यशौचक्षान्तिदमादिभिः । देवब्राह्मणतां भ्रातृणां स्वस्मिन् रुमावयन्त्यसौ ॥१०७॥
 अथ जातिमदावेशात् कश्चिन्नेन द्विजयुवः । ब्रूयादेवं किमद्यैव देवभूयं^२ गतो भवान् ॥१०८॥
 त्वमासुप्यायणः^३ किञ्च किन्ते^४ ऽग्वाऽमुष्य पुत्रिका^५ । येनैवमुत्तरो^६ भूत्वा यास्यसत्कृत्य महिषान् ॥१०९॥
 जातिः सैव कुलं तच्च सोऽसि योऽसि प्रगेतनः^७ । तथापि देवतात्मानमात्मानं मन्यते भवान् ॥११०॥
 देवतातिथिपित्रिकायैवप्रयतो^८ भवान् । गुरुद्विजातिदेवानां प्रणामाच्च पराङ्मुखः ॥१११॥
 दीक्षां जैनीं प्रपन्नस्य जातः कोऽतिशयस्तव । यतोऽद्यापि मनुष्यस्त्वं पादचारी महीं स्पृशन् ॥११२॥
 इत्युपाकृतसंश्रममु^९ पालयः^{१०} स केनचिन् । ददात्युत्तरमित्यस्मै वचोभिर्युक्तिपेशलैः^{११} ॥११३॥
 श्रूयतां मे द्विजमन्य स्वधाऽस्मादिह्येक्ष्यते^{१२} । जैनीं^{१३} जन्मथिताऽस्माकं ज्ञानं गतोऽतिनिर्मलः ॥११४॥

है, जो वेद और वेदांगके विस्तारको स्वयं पढ़ता है तथा दूसरोंको भी पढ़ाता है, जो यद्यपि पृथिवीका स्पर्श करता है तथापि पृथिवीसम्बन्धी दोष जिसका स्पर्श नहीं कर सकते हैं, जो अपने प्रशंसनीय गुणोंसे इसी पर्यायमें देवपर्यायको प्राप्त होता है, जिसके अणिमा ऋद्धि अर्थात् छोटापन नहीं है किन्तु महिमा अर्थात् बड़प्पन है, जिसके गरिमा ऋद्धि है परन्तु लघिमा नहीं है, जिसमें प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व आदि देवताओंके गुण विद्यमान हैं, उपर्युक्त गुणोंसे जिसकी महिमा बढ़ रही है, जो देवरूप हो रहा है और लोकको उल्लंघन करनेवाला उत्कृष्ट तेज धारण करता है ऐसा यह भव्य पृथिवीपर पूजित होता है ॥१०३-१०६॥ सत्य, शौच, क्षमा और दम आदि धर्मसम्बन्धी आचरणोंसे वह अपनेमें प्रशंसनीय देवब्राह्मणपनेकी सम्भावना करता है अर्थात् उत्तम आचरणोंसे अपने आपको देवब्राह्मणके समान उत्तम बना देता है ॥१०७॥

यदि अपनेको झूठमूठ ही द्विज माननेवाला कोई पुरुष अपनी जातिके अहंकारके आवेश-से इस देवब्राह्मणसे कहे कि आप क्या आज्ञा ही देवपनेको प्राप्त हो गये हैं ? ॥१०८॥ क्या तू अमुक पुरुषका पुत्र नहीं है ? और क्या तेरी माता अमुक पुरुषकी पुत्री नहीं है ? जिससे कि तू इस तरह नाक ऊँची कर मेरे ऐसे पुरुषोंका सत्कार किये बिना ही जाता है ? ॥१०९॥ यद्यपि तेरी जाति वही है, कुल वही है और तू भी वही है जो कि सबेरेके समय था तथापि तू अपने आपको देवतारूप मानता है ॥११०॥ यद्यपि तू देवता, अतिथि, पितृगण और अग्निके कार्योंमें निपुण है तथापि गुरु, द्विज और देवोंको प्रणाम करनेसे विमुख है ॥१११॥ जैनी दीक्षा धारण करनेसे तुझे कौन-सा अतिशय प्राप्त हो गया है ? क्योंकि तू अब भी मनुष्य ही है और पृथिवीको स्पर्श करता हुआ पैरोंसे ही चलता है ॥११२॥ इस प्रकार क्रोध धारण कर यदि कोई उलाहना दे तो उसके लिए युक्तिसे भरे हुए वचनोंसे इस प्रकार उत्तर दे ॥११३॥ हे अपने आपको द्विज माननेवाले, तू मेरा दिव्य जन्म सुन, श्री जिनेन्द्रदेव ही मेरा पिता है और

१ रत्नत्रयादिगुणलाभः । २ प्रकर्षणासमन्तात् सकलाभिलषणीयत्वम् । ३ देवाधीनम् । देव सादृशवन् ल०, द०, इ० । देवसादृशवेत् अ०, प०, स० । ४ देवत्वम् । ५ कुलीनः । 'प्रसिद्धपितृवत्पन्न आमुप्यायण उच्यते ।' ६ तव । ७ कुलीना पुत्री । ८ येन कारणेन । ९ उद्गतनासिकः । १० प्राग्भवः । ११ -व्यप्राकृतो ल०, द० । १२ स्वीकृतक्रोधं यथा भवति तथा । १३ द्विजितः । १४ पटुभिः । १५ अस्माकं देवोत्पत्तिः । १६ पिता ।

‘तत्रार्हतीं त्रिधा’ मित्तां शक्तिं त्रैगुण्यसंश्रिताम्^१ । स्वसायकृत्य समुज्जता वयं संस्कारजन्मना ॥११५॥
 अयोनिसंभवास्तेन देवा एव न मानुषाः । वयं वयमिवाभ्येऽपि सन्ति चेद् ब्रूहि तद्विधान्^२ ॥११६॥
 स्वायम्भुवास्तुवाजातास्ततो देवद्विजा वयम् । अतस्त्रिं च नः सूत्रं पवित्रं सूत्रदर्शितम्^३ ॥११७॥
 पापसूत्रानुगा सूत्रं न द्विजा सूत्रकण्ठकाः^४ । सन्मार्गकण्ठकास्तीक्ष्णाः केवलं मलदूषिताः ॥११८॥
 शरीरजन्म संस्कारजन्म चेति द्विधा मतम् । जन्माद्विनां मृतिश्चैवं द्विधाज्ञाता जिनागमे ॥११९॥
 देहान्तरपरिप्राप्तिः पूर्वदेहपरिक्षयात् । शरीरजन्म विज्ञेयं देहभाजा भवान्तरे ॥१२०॥
 तथा लब्ध्वात्मलाभस्य पुनः संस्कारयोगतः । द्विजन्मतापरिप्राप्तिर्जन्म संस्कारजं स्मृतम् ॥१२१॥
 शरीरमरणं स्वायुरन्ते देहविसर्जनम् । संस्कारमरणं प्राप्तव्रतस्यागः समुज्जमम् ॥१२२॥
 ‘मृतोऽयं लब्धसंस्कारो विजहाति प्रगेतनम्’^५ । मिथ्यादर्शनपर्यायं ततस्तेन^६ मृतो भवेत् ॥१२३॥
 तत्र^७ संस्कारजन्मेदमपापोऽहं पाप्मं^८ गतं नो^९ । पुन्यपुण्यान्तरे^{१०} देवद्विजा वयम् ॥१२४॥
 इत्यात्मनो गुणोत्कर्षं न्यायमन्यायवर्त्मना । गृहमेधी भवेत् प्राप्य सद्गृहित्वमनुत्तरम् ॥१२५॥
 भूयोऽपि संश्रयश्यामि ब्राह्मणान् सत्क्रियोचितान् । जातिवादावलेपस्य^{११} निरासार्थमतः परम् ॥१२६॥

ज्ञान ही अत्यन्त निर्मल गर्भ है ॥११४॥ उस गर्भमें उपलब्धि, उपयोग और संस्कार इन तीन गुणोंके आश्रित रहनेवाली जो अरहन्तदेवसम्बन्धिनी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य ये तीन भिन्न-भिन्न शक्तियाँ हैं उन्हें अपने अधीन कर हम संस्काररूपी जन्मसे उत्पन्न हुए हैं ॥११५॥ हम लोग बिना योनिसे उत्पन्न हुए हैं इसलिए देव ही हैं मनुष्य नहीं हैं, हमारे समान जो और भी हैं उन्हें भी तु देवब्राह्मण कह ॥११६॥ हम लोग स्वयम्भूके मुखसे उत्पन्न हुए हैं इसलिए देवब्राह्मण हैं और हमारे व्रतोंका चित्त शास्त्रोंमें कहा यह पवित्र सूत्र अर्थात् यज्ञोपवीत है ॥११७॥ आप लोग तो गलेमें सूत्र धारण कर समीचीन मार्गमें तीक्ष्ण कण्ठक बनते हुए पापरूप सूत्रके अनुसार चलनेवाले हैं, केवल मलसे दूषित हैं, द्विज नहीं हैं ॥११८॥ जीवोंका जन्म दो प्रकारका है एक तो शरीरजन्म और दूसरा संस्कार-जन्म । इसी प्रकार जैनशास्त्रोंमें जीवोंका मरण भी दो प्रकारका माना गया है ॥११९॥ पहले शरीरका क्षय हो जानेसे दूसरी पर्यायमें जो दूसरे शरीरकी प्राप्ति होती है उसे जीवोंका शरीरजन्म जानना चाहिए । ॥१२०॥ इसी प्रकार संस्कारयोगसे जिसे पुनः आत्मलाभ प्राप्त हुआ है ऐसे पुरुष-को जो द्विजपनेकी प्राप्ति होना है वह संस्कारज अर्थात् संस्कारसे उत्पन्न हुआ जन्म कहलाता है ॥१२१॥ अपनी आयुके अन्तमें शरीरका परित्याग करना शरीरमरण है तथा व्रती पुरुष-का पापोंका परित्याग करना संस्कारमरण है ॥१२२॥ इस प्रकार जिसे सब संस्कार प्राप्त हुए हैं ऐसा जीव मिथ्यादर्शनरूप पहलेके पर्यायको छोड़ देता है इसलिए वह एक तरहसे मरा हुआ ही कहलाता है ॥१२३॥ उन दोनों जन्मोंमेंसे जो पापसे दूषित नहीं है ऐसा संस्कारसे उत्पन्न हुआ यह उत्कृष्ट जन्म गुरुकी आज्ञानुसार मुझे प्राप्त हुआ है इसलिए मैं देवद्विज या देवब्राह्मण कहलाता हूँ ॥१२४॥ इस प्रकार न्यायमार्गसे अपने आत्माके गुणोंका उत्कर्ष प्रकट करता हुआ वह पुरुष सर्वश्रेष्ठ सद्गृहित्व अवस्थाको पाकर सद्गृहस्थ होता है ॥१२५॥ उत्तम क्रियाओंके करने योग्य ब्राह्मणोंसे उनके जातिवादका अहंकार दूर करनेके लिए इसके

१ ज्ञानगर्भे । २ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणीति त्रिप्रकारैः । ३ उपलब्ध्युपयोगसंस्कारात्मतां गताम् । ४ अयोनि-संभवप्रकारान् । अयोनिसंभवसदृशानित्यर्थः । ५ आगमप्रोक्तम् । ६ सूत्रमात्रमेव कण्ठे देषां ते । ७ यस्मात् कारणात् । ८ प्राक्तनम् । ९ मिथ्यादर्शनत्यजनरूपेणेत्यर्थः । १० शरीरजन्मसंस्कारजन्मनोः । ११ अस्माकम् । १२ गुरोरनुज्ञायाः । १३ गर्भस्य । १४ निराकरणाय ।

अथोऽप्यभिव्येवं ब्राह्मणाः समुदाहृताः । ब्रह्मा स्वयंभूर्भगवान् परमेशो जिनोत्तमः ॥१२७॥
 त्वत्पदिपरमब्रह्मा जिनेन्द्रो गुणबृंहणात् । परं ब्रह्म यदश्रयत्तमामनन्ति सुनीश्वराः ॥१२८॥
 नैराजिनयरो ब्रह्मा जटाकूर्चादिलक्षणः । यः कामगर्दभो भूत्वा प्रच्युतो ब्रह्मवर्षेऽस्तु ॥१२९॥
 दिव्यमूर्तेर्जिनेन्द्रस्य ज्ञानगर्भादनाविलान् । समासादितजन्मानो द्विजन्मानस्ततो मताः ॥१३०॥
 'वर्णान्तःपातिनो नैते मन्तव्या द्विजसत्तमाः । अतमश्चादिसंस्कारोऽपि तर्गोऽप्यत्र ॥१३१॥
 वर्णोत्तमानिमान् विप्रः क्षान्तिशीघ्रपरायणान् । संतुष्टान् प्राप्तवैशिष्ट्यान् क्लिष्टाचारभूषणान् ॥१३२॥
 'क्लिष्टाचाराः परे नैव ब्राह्मणा द्विजमानिनः । पापारम्भरता शश्वदाहत्य' पशुघातिनः ॥१३३॥
 सर्वमेधमयं धर्ममभ्युपेय पशुघ्नसाम् । का नाम गतिरेषां स्यात् पापशास्त्रोपजीविनाम् ॥१३४॥
 चोदनालक्षणं^१ धर्ममधर्मं प्रतिजानते^२ । ये तेभ्यः कर्मचाण्डालान् पश्यामो नापरां भुवि ॥१३५॥
 पाशिवैर्दण्डनीयाश्च लुण्ठाकाः^३ पापपण्डिताः । तेऽस्मी धर्मजुषां बाह्या ये निघ्नन्त्यशृणाः^४ पशून् ॥१३६॥
 'पशुहत्यासमाश्मान् क्रव्यादभ्योऽपि^५ निःकृपाः । यद्युच्छ्रिते^६ मुशन्त्येते हन्तैव धार्मिका हताः ॥१३७॥

आगे फिर भी कुछ कहता हूँ ॥१२६॥ जो ब्रह्माकी सन्तान हैं, उन्हें ब्राह्मण कहते हैं और स्वयम्भू, भगवान्, परमेशो तथा जिनेन्द्रदेव ब्रह्मा कहलाते हैं । भावार्थ — जो जिनेन्द्र भगवान्-का उद्देश सुनकर, जटाकी, शिष्य-परम्परासे, प्रतिष्ठित हुए हैं, वे ब्राह्मण कहलाते हैं ॥१२७॥ श्रीजिनेन्द्रदेव ही आदि परम ब्रह्मा हैं क्योंकि वे ही गुणोंकी बढ़ानेवाले हैं और उत्कृष्ट ब्रह्म अर्थात् ज्ञान भी उन्हींके अधीन है ऐसा मुनियोंके ईश्वर मानते हैं ॥१२८॥ जो मृगचर्म धारण करता है, जटा, दाढ़ी आदि चिह्नोंसे युक्त है तथा कामके वश गया होकर जो ब्रह्मतेज अर्थात् ब्रह्मचर्यसे भ्रष्ट हुआ वह कभी ब्रह्मा नहीं हो सकता ॥१२९॥ इसलिए जिन्होंने दिव्य मूर्तिके धारक श्री जिनेन्द्रदेवके निर्मल ज्ञानरूपी गर्भसे जन्म प्राप्त किया है वे ही द्विज कहलाते हैं ॥१३०॥ अतः, मन्त्र तथा संस्कारोंसे जिन्हें गौरव प्राप्त हुआ है ऐसे इन उत्तम द्विजोंको वर्णोंके अन्तर्गत नहीं मानना चाहिए अर्थात् ये वर्णोत्तम हैं ॥१३१॥ जो क्षमा और शीघ्र गुणके धारण करनेमें सदा तत्पर हैं, सन्तुष्ट रहते हैं, जिन्हें विशेषता प्राप्त हुई है और निर्दोष आचरण हो जिनका आभूषण है ऐसे इन द्विजोंको सब वर्णोंमें उत्तम मानते हैं ॥१३२॥ इनके सिवाय जो मलिन आचारके धारक हैं, अपनेको झूठमूठ द्विज मानते हैं, पापका आरम्भ करनेमें सदा तत्पर रहते हैं और हठपूर्वक पशुओंका घात करते हैं वे ब्राह्मण नहीं हो सकते ॥१३३॥ जो समस्त हिंसामय धर्म स्वीकार कर पशुओंका घात करते हैं ऐसे पापशास्त्रोंसे आजीविका करनेवाले इन ब्राह्मणोंकी न जाने कौन-सी गति होगी ? ॥१३४॥ जो अधर्म स्वरूप वेदमें कहे हुए प्रेरणात्मक धर्मको धर्म मानते हैं मैं उनके सिवाय इस पृथिवीपर और किसीको कर्म चाण्डाल नहीं देखता हूँ अर्थात् वेदमें कहे हुए धर्मको माननेवाले सबसे बढ़कर कर्म चाण्डाल हैं ॥१३५॥ जो निर्दय होकर पशुओंका घात करते हैं वे पापरूप कार्योंमें पण्डित हैं, लूटेरे हैं, और धर्मात्मा लोगोंसे बाह्य हैं; ऐसे पुरुष राजाओंके द्वारा दण्डनीय होते हैं ॥१३६॥ पशुओंकी हिंसा करनेके उद्योगसे जो राक्षसीसे भी अधिक निर्दय हैं यदि ऐसे पुरुष ही उत्कृष्टताको प्राप्त होते हों तब

१ परमपदे स्थितः । २ कामाद् गर्दभाकारमुख इत्यर्थः । ३ अध्ययनसंपत्तेः । ४ अकलुषात् । ५ वर्णमात्र-वर्तिन इत्यर्थः । ६ दुष्ट । ७ हठात्, साक्षात् वा । ८ हिंसामयम् । ९ हिंसां कुर्वताम् । १० वेदोक्तलक्षणम् । ११ प्रतिज्ञां कुर्वते । १२ घौराः । १३ निःकृपा । १४ पशुघ्ननप्रारम्भात् । १५ राक्षसेभ्यः । 'राक्षसः कोणपः क्रव्यात् क्रव्यादोऽप्यग आशरः' इत्यभिधानात् । १६ उन्नतिम् ।

मलिनाचरिना ह्येते कृष्णवर्गे द्विजमुवाः । जैनास्तु निर्मलाचाराः शुक्लवर्गे मता सुखैः ॥१३८॥
 ३ श्रुतिस्मृतिपुरावृत्तेषु लभ्यन्त्यक्रियाभिता । देवतालिङ्गकामान्तकृता शुद्धिर्हि जन्मनाम् ॥१३९॥
 ये विशुद्धतरा वृत्तिस्तत्कृता^१ समुपाश्रिताः । ते शुक्लवर्गे बोधव्याः शेषाः शुद्धेः अहिः कृता ॥१४०॥
 तच्छुद्धयशुद्धी^२ बोधव्ये न्यायान्यायप्रवृत्तितः । न्यायो दयात्रवृत्तिस्त्वमन्यायः प्राणिसागणम् ॥१४१॥
 विशुद्धवृत्तयस्तस्माज्जैना वर्णोत्तमा द्विजाः । वर्णान्तःप्रातिनो^३ जैने जगन्मान्या इति स्थितम् ॥१४२॥
 स्वादारका^४ च षट्कर्मजाविना गृहमंधिनाम्^५ हिंसादोषोऽनुसंगी स्वाजैनानां च द्विजन्मनाम् ॥१४३॥
 इत्यत्र^६ भूमहे सत्यमे^७ स्यात्सावयसंगतिः । तत्रास्त्येय मधाप्येषां स्याच्छुद्धिः शास्त्रदर्शिना ॥१४४॥
 अपि चैषां विशुद्धयर्जं पक्षश्चर्या च साधनम् । इति त्रितयमस्त्येव तदिदानीं विवृणुमहे ॥१४५॥
 तत्र पक्षो हि जैनाणां कृत्स्नहिंसाविवर्जनम् । मैत्रोप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थैरुपचूहितम् ॥१४६॥
 चर्या तु देवनार्थं वा मन्त्रसिद्ध्यर्थमेव वा । औषधाहारकदूपर्यै वा न हिंस्यामीति चेष्टितम् ॥१४७॥
 तथाकामकृते^८ शुद्धिः प्रायश्चित्तैर्विधीयते । पश्चाच्चात्माख्यं^९ सृता व्यवस्थाप्य गृहोज्जनम् ॥१४८॥

तो दुःखके साथ कहना पड़ेगा कि बेचारे धर्मात्मा लोग व्यर्थ ही नष्ट हुए ॥१३७॥ ये द्विज लोग मलिन आचारका पालन करते हैं और झूठमूठ ही अपनेको द्विज कहते हैं इसलिए विद्वान् लोग इन्हें कृष्णवर्ग अर्थात् पापियोंके समूहमें गणित करते हैं और जैन लोग निर्मल आचारका पालन करते हैं इसलिए इन्हें शुक्लवर्ग अर्थात् पुण्यवानोंके समूहमें शामिल करते हैं ॥१३८॥ द्विज लोगोंकी शुद्धि श्रुति, स्मृति, पुराण, सदाचार, मन्त्र और क्रियाओंके आश्रित है तथा देवताओंके चित्र धारण करने और कामका नाश करनेसे भी होती है ॥१३९॥ जो श्रुति स्मृति आदिके द्वारा की हुई अत्यन्त विशुद्ध वृत्तिको धारण करते हैं उन्हें शुक्लवर्ग अर्थात् पुण्यवानोंके समूहमें समझना चाहिए और जो इनसे शेष वचते हैं उन्हें शुद्धिसे बाहर समझना चाहिए अर्थात् वे महा अशुद्ध हैं ॥१४०॥ उनकी शुद्धि और अशुद्धि, न्याय और अन्यायरूप प्रवृत्तिसे जाननी चाहिए । दयासे कोमल परिणाम होना न्याय है और प्राणियोंका मारना अन्याय है ॥१४१॥ इससे यह बात निश्चित हो चुकी कि विशुद्ध वृत्तिको धारण करनेवाले जैन लोग ही सब वर्णोंमें उत्तम हैं । वे ही द्विज हैं । ये ब्राह्मण आदि वर्णोंके अन्तर्गत न होकर वर्णोत्तम हैं और जगत्पूज्य हैं ॥१४२॥

अब यहाँ यह शंका हो सकती है कि जो असि मशी आदि छह कर्मोंसे आजीविका करनेवाले जैन द्विज अथवा गृहस्थ हैं उनके भी हिंसाका दोष लग सकता है परन्तु इस विषयमें हम यह कहते हैं कि आपने जो कहा है वह ठीक है, आजीविकाके लिए छह कर्म करनेवाले जैन गृहस्थोंके थोड़ी-सी हिंसाकी संगति अवश्य होती है परन्तु शास्त्रोंमें उन दोषोंकी शुद्धि भी तो दिखलायी गयी है ॥१४३-१४४॥ उनकी विशुद्धिके अंग तीन हैं पक्ष, चर्या और साधन । अब मैं यहाँ इन्हीं तीनका वर्णन करता हूँ ॥१४५॥ उन तीनोंमेंसे मैत्रो, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य-भावसे वृद्धिको प्राप्त हुआ समस्त हिंसाका त्याग करना जैनियोंका पक्ष कहलाता है ॥१४६॥ किसी देवताके लिए, किसी मन्त्रकी सिद्धिके लिए अथवा किसी औषध या भोजन बनवानेके लिए मैं किसी जीवकी हिंसा नहीं करूँगा ऐसी प्रतिज्ञा करना चर्या कहलाती है ॥१४७॥ इस प्रतिज्ञामें यदि कभी इच्छा न रहते हुए प्रमादसे दोष लग जावे तो प्रायश्चित्तसे उसकी शुद्धि

१ पाप । २ पुण्य । ३ आगम । ४ धर्मसंहिता । ५ पुराण । ६ श्रुतिस्मृत्यादिकृतम् । ७ जैनद्विजोत्तरयोः शुद्धयशुद्धिः । ८ वर्णमात्रवर्तिनः । ९ शङ्का । १० 'हिंसादोषोऽनुसंगी स्यात्' इत्यत्र । ११ सत्यमित्यङ्गीकारे । १२ चेष्टिते । न्यापारे इत्यर्थः । १३ प्रमादजनिते दोषे । १४ - चात्मान्वयं द०, ल०, इ०, अ०, य०, स० ।

चर्यया गृहिणां प्रोक्ता ज्ञातितान्ते तु साधनम् । देहाहारेहितःप्रासाद्^१ ध्यानशुद्धात्मशोधनम् ॥१४५॥
त्रिवेतेषु न संस्पर्शो वधेनार्हद्विजन्मनाम् । इत्यात्मपक्षविक्षिप्तदोषाणां स्यान्निराकृतिः ॥१४६॥
चतुर्गामाश्रमाणां च शुद्धिः स्यादाहते मते ।^२ चतुराश्रम्यमन्येषामविचारितसुन्दरम् ॥१४७॥
ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः । इत्याश्रमास्तु जैनानामुत्तरोत्तरशुद्धितः ॥१४८॥
ज्ञातव्याः स्युः प्रपञ्चेन साम्तर्भेदाः पृथग्विधाः^३ । अन्तर्गौरवमीत्या नु नात्रैतेषां प्रपञ्चना ॥१४९॥
सद्गृहित्वमिदं ज्ञेयं गुणैरात्मोपबृंहणम् । पारिव्राज्यभितो वक्ष्ये सुविशुद्धं क्रियान्तरम् ॥१५०॥

इति सद्गृहित्वम् ।

गार्हस्थ्यमनुपालयैवं गृहवासाद् विरज्यतः^४ । यदीक्षाग्रहणं तद्धि पारिव्राज्यं प्रचक्ष्यते ॥१५१॥
पारिव्राज्ये परिव्राजो भावो निर्वाणदीक्षणम् । तत्र निर्ममता वृत्त्या जातरूपस्य धारणम् ॥१५२॥
प्रशस्ततिथिनक्षत्रयोगलग्नं^५ ग्रहांशकं^६ । निर्ग्रन्थाचार्यमाश्रित्य दीक्षा प्राप्ता सुमुख्युगा ॥१५३॥
विशुद्धकुलगोत्रस्य सद्ब्रुत्तस्य नृपुंसकः । दीक्षायोग्यत्वमाज्ञातं सुमुखस्य सुमेधसः ॥१५४॥
^७महोपरागग्रहणे परिवेषेन्द्रचापयोः । वक्रग्रहोदये मेघपटलस्थगितेऽम्बरे ॥१५५॥

की जाती है तथा अन्तमें अश्रम स्वरूप कुटुम्ब सुखके लिये अर्हन्तदेवको छोड़कर अश्रम में स्थित किया जाता है ॥१४८॥ यह गृहस्थ लोगोंकी चर्या कही, अब आगे साधन कहते हैं । आपके अन्त समयमें शरीर आहार और नमस्त प्रकारकी चेष्टाओंका परित्याग कर ध्यानकी शुद्धिसे जो आत्माको शुद्ध करना है उसे साधन कहते हैं ॥१४९॥ अरहन्तदेवको माननेवाले द्विजोंका पक्ष, चर्या और साधन इन तीनोंमें हिंसाके साथ स्पर्श भी नहीं होता, इस प्रकार अपने ऊपर ठहराये हुए दोषोंका निराकरण हो सकता है ॥१५०॥ चारों आश्रमोंकी शुद्धता भी श्री अर्हन्तदेवके मतमें ही है । अन्य लोगोंने जो चार आश्रम माने हैं वे विचार किये बिना ही सुन्दर हैं अर्थात् जबतक उनका विचार नहीं किया गया है तभीतक सुन्दर हैं ॥१५१॥ ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षुक ये जैनियोंके चार आश्रम हैं जो कि उत्तरोत्तर अधिक विशुद्ध होनेसे प्राप्त होते हैं ॥१५२॥ ये चारों ही आश्रम अपने-अपने अन्तर्भेदोंसे सहित होकर अनेक प्रकारके हो जाते हैं, उनका विस्तारके साथ ज्ञान प्राप्त करना चाहिए परन्तु ग्रन्थ बड़ जानेके भयसे यहाँ उनका विस्तार नहीं लिखा है ॥१५३॥ इस प्रकार गुणोंके द्वारा अपने आत्माकी वृद्धि करना यह सद्गृहित्व क्रिया है । अब इसके आगे अन्त्यन्त विशुद्ध पारिव्राज्य नामकी तीसरी क्रियाका निरूपण करेंगे ॥१५४॥ यह दूसरी सद्गृहित्व क्रिया है ।

इस प्रकार गृहस्थधर्मका पालन कर घरके निवाससे विरक्त होते हुए पुरुषका जो दीक्षा ग्रहण करना है उसे पारिव्राज्य कहते हैं ॥१५५॥ परिव्राज्यका जो निर्वाणदीक्षारूप भाव है उसे पारिव्राज्य कहते हैं, इस पारिव्राज्य क्रियामें ममत्व भाव छोड़कर दिगम्बररूप धारण करना पड़ता है ॥१५६॥ मोक्षकी इच्छा करनेवाले पुरुषको शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र, शुभ योग, शुभ लग्न और शुभ ग्रहोंके अंशमें निर्ग्रन्थ आचार्यके पास जाकर दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए ॥१५७॥ जिसका कुल और गोत्र विशुद्ध है, चरित्र उत्तम है, मुख सुन्दर है और प्रतिभा अच्छी है ऐसा पुरुष ही दीक्षा ग्रहण करनेके योग्य माना गया है ॥१५८॥ जिस दिन ग्रहोंका उपराग हो, ग्रहण लगा हो, सूर्य-चन्द्रमापर परिवेष (मण्डल) हो, इन्द्रधनुष उठा हो, दुष्ट ग्रहोंका उदय हो, आकाश मेघपटलसे ढका हुआ हो, तष्ट मास अथवा अधिक

१ नष्टमासस्याधिकमासस्य दिनयोः । २ अक्षय्यतिथौ । ३ दीक्षाविधिं मुमुक्षुणां नेच्छन्ति कृतबुद्धयः ॥ १६० ॥
 ४ सम्प्रदायमनाहत्य यस्त्विच्छेदं दीक्षयेदपि । ५ साधुभिर्बहिष्कृतो भवेत्साक्षात् पारिव्राज्यस्य लक्षणम् ॥ १६१ ॥
 ६ तत्र सूत्रपदान्याहुर्व्योमीन्द्राः सप्तविंशतिम् । ७ वैर्निर्णयैर्भवेत्साक्षात् पारिव्राज्यस्य लक्षणम् ॥ १६२ ॥
 ८ जातिमूर्तिश्च तत्रस्थः ९ लक्षणं सुन्दराकृता । १० प्रभामण्डलचक्राणि तथामिषवनाथते ॥ १६३ ॥
 ११ सिंहासनोपधाने च छत्रचामरघोषणः । १२ अशोकवृक्षनिधयो गृहशोभावाहने ॥ १६४ ॥
 १३ क्षेत्रज्ञाऽऽज्ञा सभाः कीर्तिर्वन्दनीयता वाहनानि च । १४ भाषाहारसुखानीति जात्यादिः सप्तविंशतिः ॥ १६५ ॥
 १५ जात्यादिकानिमान् सप्तविंशतिं परमेष्ठिनाम् । १६ गुणानाहुर्मजेदीक्षां स्वेष्टु १७ तेष्वकृतादरः ॥ १६६ ॥
 १८ जातिमानप्यनुस्मिकः १९ संभवेदर्हतां क्रमौ २० यतो जात्यन्तरे २१ जात्यां २२ याति जातिं २३ चतुष्टयीम् ॥
 २४ जातिरैश्वरी २५ भवेद्दिव्या चक्रिणां विजयाश्रिता । २६ परमा जातिराहंस्वये स्वात्मोत्था सिद्धिर्मयुषाम् ॥ १६७ ॥

मासका दिन हो, संक्रान्ति हो अथवा क्षयतिथिका दिन हो उस दिन बुद्धिमान् आचार्य मोक्षकी इच्छा करनेवाले भव्योंके लिए दीक्षाकी विधि नहीं करना चाहते हैं अर्थात् उस दिन किसी शिष्यको नवीन दीक्षा नहीं देते हैं ॥ १५९-१६० ॥ जो मन्दबुद्धि आचार्य इस सम्प्रदायका अनादर कर नवीन शिष्यको दीक्षा दे देता है वह वृद्ध पुरुषोंके उल्लंघन करनेमें तत्पर होनेसे अन्य साधुओंके द्वारा बहिष्कार कर देने योग्य है । भावार्थ — जो आचार्य असमयमें ही शिष्योंको दीक्षा दे देता है वह वृद्ध आचार्योंकी मान्यताका उल्लंघन करता है इसलिए साधुओंको चाहिए कि वे ऐसे आचार्योंको अपने संघसे बाहर कर दें ॥ १६१ ॥ मुनिराज इस पारिव्राज्य क्रियामें उन सत्ताईस सूत्र पदोंका निरूपण करते हैं जिनका कि निर्णय होनेपर पारिव्राज्यका साक्षात् लक्षण प्रकट होता है ॥ १६२ ॥ जाति, मूर्ति, उसमें रहनेवाले लक्षण, शरीरकी सुन्दरता, प्रभा, मण्डल, चक्र, अभिषेक, नाथता, सिंहासन, उपधान, छत्र, चामर, घोषणा, अशोक वृक्ष, निधि, गृहशोभा, अवगाहन, क्षेत्रज्ञ, आज्ञा, सभा, कीर्ति, वन्दनीयता, वाहन, भाषा, आहार और सुख ये जाति आदि सत्ताईस सूत्रपद कहलाते हैं ॥ १६३-१६५ ॥ ये जाति आदि सत्ताईस सूत्रपद परमेष्ठियोंके गुण कहलाते हैं । उस भव्य पुरुषको अपने जाति आदि गुणोंसे आदर न करते हुए दीक्षा धारण करना चाहिए । भावार्थ — ये जाति आदि गुण जिस प्रकार परमेष्ठियोंमें होते हैं उसी प्रकार दीक्षा लेनेवाले शिष्यमें भी यथासम्भव रूपसे होते हैं परन्तु शिष्यको अपने जाति आदि गुणोंका सन्मान नहीं कर परमेष्ठियोंके ही जाति आदि गुणोंका सन्मान करना चाहिए । क्योंकि ऐसा करनेसे वह शिष्य अहंकार आदि दुर्गुणोंसे बचकर अपने-आपका उत्थान शीघ्र ही कर सकता है ॥ १६६ ॥ स्वयं उत्तम जातिवाला होनेपर भी अहंकाररहित होकर अरहन्तदेवके चरणोंकी सेवा करनी चाहिए क्योंकि ऐसा करनेसे वह भव्य दूसरे जन्ममें उत्पन्न होनेपर दिव्या, विजयाश्रिता, परमा और स्वा इन चार जातियोंको प्राप्त होता है ॥ १६७ ॥ इन्द्रके दिव्या जाति होती है, चक्रवर्तियोंके विजयाश्रिता, अरहन्तदेवके परमा और मोक्षको प्राप्त हुए जीवोंके अपने आत्मासे उत्पन्न होनेवाली स्वा-

१ नष्टमासस्याधिकमासस्य दिनयोः । २ अक्षय्यतिथौ । ३ संपूर्णमतयः । ४ आम्नायम् (परम्परा) ।
 ५ मीमांसा स्वीकुर्यात् । ६ बुद्धातिक्रमणे तत्परः । ७ पारिव्राज्ये । ८ निश्चितः । ९ प्रत्यक्षम् । १० मूर्तिस्थितम् ।
 तत्रार्थं ल० । ११ अभिषेकश्च अभिषेको नाथता च स्वामित्वं च । १२ आत्मीयेषु । १३ जात्यादिषु ।
 १४ अगर्हित । १५ चरणी । १६ जन्मान्तरे । १७ उत्पत्तौ सत्याम् । १८ दिव्यजातिविजयजातिः परमजातिः
 स्वात्मोत्थजातिरिति । १९ इन्द्रस्य इयम् ।

मूर्त्यादिवर्षि^१ नेतव्या कल्पनेयं चतुष्टयी । पुराणैरसंमोहान् कचिच्च^२ त्रितयी मता ॥१६५॥
 कर्शयेन्मूर्तिमान्मीयां रक्षन्मूर्तीः शरीरिणाम् । तर्वाऽभितिष्ठेद् दिव्यादिमूर्तीरासुमना मुनिः ॥१७०॥
 स्वलक्षणमनिर्देश्य^३ मन्त्रमात्रं जिनेशिताम् । लक्षणान्यभिसंधाय^४ तपस्येत् कृतलक्षणः^५ ॥१७१॥
 मलापयन्^६ स्वाङ्गप्रान्दयं मुनिरुग्रं तपश्चरेत् । बाण्डुन्दिव्यादिसौन्दर्यमनिवारं परम्परम् ॥१७२॥
 मल्लीमस्राङ्गो व्युत्पृष्टस्वकायप्रभवप्रभः । प्रभोः^७ प्रभा मुनिर्ध्यायन् भवेत् क्षिप्रं प्रभास्वरः ॥१७३॥
 एवं मणिच्छेह^८ दीपादिनेजोऽपास्य जिनं भजन् । तेजोमथमयं योगी स्वासेजोवलयाऽज्ज्वलः ॥१७४॥
 त्यक्त्वाऽस्त्रं वस्त्रं^९ शस्त्राणि^{१०} प्राक्तनानि प्रशान्तिनाक् । जिनमाराध्य योगीन्द्रो धर्मचक्रादिपो भवेत् ।
 त्यक्तस्नानादिसंस्कारः संश्लिष्य स्नातकं^{११} जिनम् । मूर्तिं मेरोरत्राप्रोशि परं जन्माभिषेचनम् ॥१७५॥
 स्त्रं^{१२} स्वाऽयमैहिकं त्यक्त्वा परमस्वामिनं जिनम् । सेविष्या सेवनीयत्वमेवत्येष जगज्जनैः ॥१७६॥
 स्वोचितासनभेदानां त्यागात्यक्ताम्बरो मुनिः । सैहं विष्टरमध्यास्य तीर्थप्रख्यापको भवेत् ॥१७७॥
 स्वोपधानाद्यनादस्य योऽभूद्विरप^{१३} धिर्भुवि । शयानः स्थण्डिले बाहुमात्रावित्तशिरस्तटः ॥१७८॥

जाति होती है ॥१६८॥ इन चारोंकी कल्पना मूर्ति आदिमें कर लेनी चाहिए, अर्थात् जिस प्रकार जातिके दिव्या आदि चार भेद हैं उसी प्रकार मूर्ति आदिके भी समझ लेना चाहिए । परन्तु पुराणोंको जाननेवाले आचार्य मोहरहित होनेसे किसी-किसी जगह तीन ही भेदोंकी कल्पना करते हैं । भावार्थ — सिद्धोंमें स्वा मूर्ति नहीं मानते हैं ॥१६९॥ जो मुनि दिव्य आदि मूर्तियोंको प्राप्त करना चाहता है उसे अपना शरीर कृश करना चाहिए तथा अन्य जीवोंके शरीरोंकी रक्षा करते हुए तपश्चरण करना चाहिए ॥१७०॥ इसी प्रकार अनेक लक्षण धारण करनेवाला वह पुरुष अपने लक्षणोंको निर्देश करनेके अयोग्य मानता हुआ जिनेन्द्रदेवके लक्षणोंका चिन्तन कर तपश्चरण करे ॥१७१॥ जिनकी परम्परा अनिवार्य है ऐसे दिव्य आदि सौन्दर्योंकी इच्छा करता हुआ वह मुनि अपने शरीरके सौन्दर्यको मलिन करता हुआ कठिन तपश्चरण करे ॥१७२॥ जिसका शरीर मलिन हो गया है, जिसने अपने शरीरसे उत्पन्न होनेवाली प्रभाका त्याग कर दिया है और जो अर्हन्तदेवकी प्रभाका ध्यान करता है ऐसा साधु शीघ्र ही देदीप्यमान हो जाता है अर्थात् दिव्यप्रभा आदि प्रभाओंको प्राप्त करता है ॥१७३॥ जो मुनि अपने मणि और तेलके दोषक आदिका तेज छोड़कर तेजोमय जिनेन्द्र भगवान्की आराधना करता है वह प्रभामण्डलसे उज्ज्वल हो उठता है ॥१७४॥ जो पहलेके अस्त्र, वस्त्र और शस्त्र आदिको छोड़कर अत्यन्त शान्त होता हुआ जिनेन्द्रभगवान्की आराधना करता है वह योगिराज धर्मचक्रका अधिपति होता है ॥१७५॥ जो मुनि स्नान आदिका संस्कार छोड़कर केवली जिनेन्द्रका आश्रय लेता है अर्थात् उनका चिन्तन करता है वह मेरुपर्वतके मस्तकपर उत्कृष्ट जन्माभिषेकको प्राप्त होता है ॥१७६॥ जो मुनि अपने इस लोक-सम्बन्धी स्वामीपनेको छोड़कर परमस्वामी श्रीजिनेन्द्रदेवकी सेवा करता है वह जगत्के जीवोंके द्वारा सेवनीय होता है अर्थात् जगत्के सब जीव उसकी सेवा करते हैं ॥१७७॥ जो मुनि अपने योग्य अनेक आसनोंके भेदोंका त्याग कर दिगम्बर हो जाता है वह सिंहासनपर आरूढ़ होकर तीर्थको प्रसिद्ध करनेवाला अर्थात् तीर्थंकर होता है ॥१७८॥ जो मुनि अपने तकिया आदिका अनादर कर परिग्रह-

१ दिव्यमूर्तिविजयमूर्तिः परममूर्तिः स्वात्मोत्थमूर्तिरिति एवमुत्तरत्रापि योजनीयम् । २ सिद्धादौ । ३ नामसंकीर्तनं कर्तुमयोग्यमिति । ४ ध्यात्वा । ५ गुणैः प्रतीतः । 'गुणैः प्रतीते तु कृतलक्षणाहितलक्षणो' इत्यभिधानात् । ६ मलानि कुर्वन् । ७ जिनस्य । ८ तैलाभ्यङ्गनम् । ९ दिव्यास्त्रं । १० -व्यस्त्र-ट० । करमुक्तः । ११ सामान्यास्त्रं । १२ प्रकृष्टज्ञानातिशयम् । १३ स्वामित्वम् । १४ निजोपवर्हासनादिः । 'उपधानं तूपवर्हम्' इत्यभिधानात् । १५ निःपरिग्रहः ।

स महाभ्युदयं प्राप्य जिनो भूत्वाऽऽसक्तक्रियाः । देवैर्विरचितं दीपमास्कन्दस्युपधानकम् ॥१८०॥
 स्वकशीनातपत्राणैः सकलात्मपरिच्छदः । त्रिभिश्छत्रैः समुज्जसिरत्रैरुद्भासते स्वयम् ॥१८१॥
 विविधव्यजनं त्यागादनुष्ठिततपोविधिः । चामराणां चतुःषष्ट्या वीज्यते जिनपर्यधे ॥१८२॥
 उज्जितानकसंगीतघोषः कृत्वा तपोविधिम् । स्याद् दुन्दुभुभिनिर्घोषैर्बुधमानजयोदयः ॥१८३॥
 उद्यानादिहृतां छायासपास्य स्वां तपो व्यधात् । यतोऽयमत एवास्य स्यादशोकमहाधुमः ॥१८४॥
 स्वं स्वापतेयमुचिनं त्यक्त्वा निर्ममतामृतः । स्वयं निधिमिरभ्येत्य सेव्यते ह्यारि दूरतः ॥१८५॥
 गृहशोभां कृताश्रमां दूरीकृत्य तपस्यतः । श्रीमण्डपादिशोभास्य स्वतोऽभ्येति पुरोगताम् ॥१८६॥
 तपोऽवगाहनादस्य गहनान्यधितिष्ठतः । त्रिजगज्जनसास्थानसहं स्यादवगाहनम् ॥१८७॥
 क्षेत्रवास्तुममुत्सर्गात् क्षेत्रज्ञत्वमुपेयुषः । स्वार्धानत्रिजगत्क्षेत्रसैव्यमस्थोपजायते ॥१८८॥
 आज्ञाभिमानमुत्सृज्य मौनभास्थितधानयम् । प्राप्नोति परमाभाज्ञां सुरासुरशिरोधृताम् ॥१८९॥
 भ्यामिष्टभृत्यशब्वादिभ्यमाहुत्सृष्टवानयम् । परमातपदप्राप्तावध्यास्ते त्रिजगत्सभाम् ॥१९०॥

रहित हो जाता है और केवल अपनी भुजापर शिरका किनारा रखकर पृथिवीके ऊँचे-नीचे प्रदेशपर शयन करता है वह महाअभ्युदय (स्वर्गादिकी विभूति) को पाकर जिन हो जाता है, उस समय सब लोग उसका आदर-सत्कार करते हैं और वह देवोंके द्वारा बने हुए देदीप्यमान तक्रियाको प्राप्त होता है ॥१७९-१८०॥ जो मुनि शीतल छत्र आदि अपने समस्त परिग्रहका त्याग कर देता है वह स्वयं देदीप्यमान रत्नोंसे युक्त तीन छत्रोंसे सुशोभित होता है ॥१८१॥ अनेक प्रकारके पंखाओंके त्यागसे जिसने तपश्चरणकी विधिका पालन किया है ऐसा मुनि जिनेन्द्रपर्यायमें चौसठ चमरोंमें वीजित होता है अर्थात् उसपर चौसठ चमर दुलाये जाते हैं ॥१८२॥ जो मुनि नगाड़े तथा संगीत आदिकी घोषणाका त्याग कर तपश्चरण करता है उसके विजयका उदय स्वर्गके दुन्दुभियोंके गम्भीर शब्दोंसे घोषित किया जाता है ॥१८३॥ चूँकि पहले उसने अपने उद्यान आदिके द्वारा की हुई छायाका परित्याग कर तपश्चरण किया था इसलिए ही अब उसे (अरहन्त अवस्थामें) महाअशोक वृक्षकी प्राप्ति होती है ॥१८४॥ जो अपना योग्य धन छोड़कर निर्ममत्वभावको प्राप्त होता है वह स्वयं आकर दूर दरवाजेपर खड़ी हुई निधियोंसे सेवित होता है अर्थात् समवसरण भूमिमें निधियाँ दरवाजेपर खड़े रहकर उसकी सेवा करती हैं ॥१८५॥ जिसकी रक्षा सब ओरसे की गयी थी ऐसी घरकी शोभाको छोड़कर इसने तपश्चरण किया था इसीलिए श्रीमण्डपकी शोभा अपने-आप इसके सामने आती है ॥१८६॥ जो तप करनेके लिए सघन वनमें निवास करता है उसे तीनों जगत्के जीवोंके लिए स्थान दे सकनेवाली अवगाहन शक्ति प्राप्त हो जाती है अर्थात् उसका ऐसा समवसरण रचा जाता है जिसमें तीनों लोकोंके समस्त जीव सुखसे स्थान पा सकते हैं ॥१८७॥ जो क्षेत्र भूकान आदिका परित्याग कर शुद्ध आत्माको प्राप्त होता है उसे तीनों जगत्के क्षेत्रको अपने अधीन रखनेवाला ऐश्वर्य प्राप्त होता है ॥१८८॥ जो मुनि आज्ञा देनेका अभिमान छोड़कर मौन धारण करता है उसे सुर और असुरोंके द्वारा शिरपर धारण की हुई उत्कृष्ट आज्ञा प्राप्त होती है अर्थात् उसकी आज्ञा सब जीव मानते हैं ॥१८९॥ जो यह मुनि अपने इष्ट सेवक तथा भाई आदिकी सभाका परित्याग करता है इसलिए उत्कृष्ट अरहन्त पदकी प्राप्ति होनेपर

१ उपबर्हम् । २ छत्र । ३ चामर । ४ अहत्पर्यायि सति । ५ स्वदुन्दुभिः । ६ धनम् । 'द्रव्यं वृत्तं स्वापतेषां रिषयं द्रव्यं धनं वसु' इत्यभिधानात् । ७ निर्गमत्वं गतः । ८ अग्रेसरताम् । ९ प्रवेशनात् । १० आत्मस्वरूपत्वम् । 'क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः' इत्यभिधानात् ।

स्वगुणोत्कीर्तनं त्यक्त्वा त्यक्तकामो महातपाः । स्तुतिनिन्दासमो भूयः कान्तेने भुवनेश्वरः ॥१६१॥
 वन्दित्वा वन्द्यमर्हन्तं यतोऽनुष्ठितं तपः । ततोऽयं वन्द्यते वन्द्यैर्निन्द्यगुणसंनिधिः ॥१६२॥
 तपोऽयमनुपानरकः पादचारी विवाहनः । कृतवान् पद्मगर्भेण चरणन्यासमर्हति ॥१६३॥
 वाग्गुप्ती हितवाग्बुद्ध्या यतोऽयं तपसि स्थितः । ततोऽयं दिव्यसाधने स्थितिं प्राप्यन्धविजितं सनाम् ॥
 'अनाश्वान्नियसाहारपात्रणोऽस्तस' यत्तपः । तदस्य दिव्यविजयं परमामृततृप्तयः ॥१६४॥
 त्यक्तकामसुखो भूत्वा तपस्यस्थाश्विरं यतः । ततोऽयं सुखसाद्भूत्वा परमानन्दधुं मजेत् ॥१६५॥
 किमत्र बहुनोक्तेन यद्यदिष्टं यथाविधम् । त्यजेन्मुनिरसंकल्पः तत्तस्मिन्नेऽस्य तत्तपः ॥१६६॥
 प्राप्तोऽयं तदस्य स्यात्तपश्चिन्तामणेः फलम् । यतोऽर्हजातिमूर्त्यादिप्राप्तिः सैषाऽनुवर्जिता ॥१६७॥
 जैनेश्वरी परमाज्ञां सूत्रोद्दिष्टां प्रमाणयन् । तपस्यां यदुपाधत्ते पारिव्राज्यं तदाऽजसम् ॥१६८॥
 अन्यच्च बहुवाग्जाले निबद्धं युक्तिबाधितम् । पारिव्राज्यं परित्रय्यं ग्राह्यं 'वेदमनुत्तरम्' ॥२००॥
 इति पारिव्राज्यम् ।

वह तीनों लोकोंकी सभा अर्थात् समवसरण भूमिमें विराजमान होता है ॥१६०॥ जो सब प्रकारकी इच्छाओंका परित्याग कर अपने गुणोंकी प्रशंसा करना छोड़ देता है और महातपश्चरण करता हुआ स्तुति तथा निन्दामें समान भाव रखता है वह तीनों लोकोंके इन्द्रोंके द्वारा प्रशंसित होता है अर्थात् सब लोग उसकी स्तुति करते हैं ॥१६१॥ इस मुनिने वन्दना करने योग्य अर्हन्त-देवकी वन्दना कर तपश्चरण किया था इसीलिए यह वन्दना करने योग्य पूज्य पुरुषोंके द्वारा वन्दना किया जाता है तथा प्रशंसनीय उत्तम गुणोंका भाण्डार हुआ है ॥१६२॥ जो जूता और सवारीका परित्याग कर पैदल चलता हुआ तपश्चरण करता है वह कमलोंके मध्यमें चरण रखनेके योग्य होता है अर्थात् अर्हन्त अवस्थामें देव लोग उसके चरणोंके नीचे कमलोंकी रचना करते हैं ॥१६३॥ चूँकि यह मुनि वचनगुप्तिको धारण कर अथवा हित मित वचनरूप भाषासमितिका पालन कर तपश्चरणमें स्थित हुआ था इसलिए ही इसे समस्त सभाको सन्तुष्ट करनेवाली दिव्य ध्वनि प्राप्त हुई है ॥१६४॥ इस मुनिने पहले उपवास धारण कर अथवा नियमित आहार और पारणाएँ कर तप तपा था इसलिए ही इसे दिव्यतृप्ति, विजय-तृप्ति, परमतृप्ति और अमृततृप्ति ये चारों ही तृप्तियाँ प्राप्त हुई हैं ॥१६५॥ यह मुनि काम जनित सुखको छोड़कर चिरकाल तक तपश्चरणमें स्थिर रहा था इसलिए ही यह सुखस्वरूप होकर परमानन्दको प्राप्त हुआ है ॥१६६॥ इस विषयमें बहुत कहनेसे क्या लाभ है ? संक्षेपमें इतना ही कह देना ठीक है कि मुनि संकल्परहित होकर जिस प्रकारकी जिस-जिस वस्तुका परित्याग करता है उसका तपश्चरण उसके लिए वही-वही वस्तु उत्पन्न कर देता है ॥१६७॥ जिस तपश्चरणरूपी चिन्तामणिका फल उत्कृष्ट पदकी प्राप्ति आदि मिलता है और जिससे अर्हन्तदेवकी जाति तथा मूर्ति आदिकी प्राप्ति होती है ऐसी इस पारिव्राज्य नामकी क्रियाका वर्णन किया ॥१६८॥ जो आगममें कही हुई जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाको प्रमाण मानता हुआ तपस्या धारण करता है अर्थात् दीक्षा ग्रहण करता है उसीके वास्तविक पारिव्राज्य होता है ॥१६९॥ अनेक प्रकारके वचनोंके जालमें निबद्ध तथा युक्तिसे बाधित अन्य लोगोंके पारिव्राज्य

१ यस्मात् कारणात् । २ गणधरादिभिः । ३ पादवाणरहितः । ४ पादन्यासस्य योग्यो भवति । ५ अनशनव्रती । ६ अकरोत् । ७ यत् कारणात् । ८ दिव्यतृप्तिविजयतृप्तिपरमतृप्त्यमृततृप्तयः । ९ आनन्दम् । १० प्रसिद्धं तपः । ११ परमाश्रितम् । १२ अर्हत्संबन्धि पारिव्राज्यम् । १३ --मनुत्तमम् ल० ।

सा सुरेन्द्रपदप्राप्तिः पारिव्राज्यफलोदयात्^१ । सैषा सुरेन्द्रता नाम क्रिया प्रागनुवर्णिता ॥२०१॥

इति सुरेन्द्रता ।

साम्राज्यसाधिराज्यं स्वाश्वक्ररत्नपुरःसरम् । निधिरत्नसमुद्भूतं भोगसंपत्परम्परम् ॥२०२॥

साधकपदिक - साधकः जो सुखीपदप्राप्तिः परं पदं प्राप्नोति

इति साम्राज्यम् ।

आर्हन्त्यमर्हन्तो भावो कर्म वेति परा क्रिया । यत्र स्वर्गावतारादिमहाकल्याणसंपदः ॥२०३॥

आर्हन्त्यं दिव्यं स्वर्गावस्थ प्राप्तिः कल्याणसंपदाम् । तदाहर्हन्त्यमिति ज्ञेयं त्रैलोक्यसौभकाणाम् ॥२०४॥

इत्याहर्हन्त्यम् ।

भवबन्धनमुक्तस्य बावस्या परमात्मनः । परिनिर्वृत्तिरिष्टा सा परं निर्वाणमित्यपि ॥२०५॥

कृत्स्नकर्ममलापात्रात् संशुद्धिर्थाऽन्तरात्मनः । सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः सा^२ नाभावो न गुणोच्छिदा^३ ॥

इति निर्वृत्तिः ।

इत्यागमानुसारेण प्रोक्ताः कर्तृन्वयक्रियाः । सप्तैताः परमस्थानसंगतिर्यत्र योगिनाम् ॥२०६॥

योऽनुतिष्ठत्यनन्दाद्युः क्रिया क्षेतास्त्रिभोदिताः । सोऽधिगच्छेत् परं धाम यत्संप्राप्तां परं शिवम् ॥२०७॥

पुष्पितामायुत्तम्

जिनमतविहितं पुराणधर्मं च इममनुस्मरति क्रियानिबद्धम् ।

अनुचरति च पुण्यधीः स भव्यो भवमयबन्धनमाशु निर्धुनाति ॥२०९॥

को छोड़कर इसी सर्वोत्कृष्ट पारिव्राज्यको ग्रहण करना चाहिए ॥२००॥ यह तीसरी पारिव्राज्य क्रिया है ।

पारिव्राज्यके फलका उदय होनेसे जो सुरेन्द्र पदकी प्राप्ति होती है वही यह सुरेन्द्रता नामकी क्रिया है इसका वर्णन पहले किया जा चुका है ॥२०१॥ यह चौथी सुरेन्द्रता क्रिया है ।

जिसमें चक्ररत्नके साथ-साथ निधियों और रत्नोंसे उत्पन्न हुए भोगोपभोगरूपी सम्पदाओंकी परम्परा प्राप्त होती है ऐसा चक्रवर्तीका बड़ा भारी राज्य साम्राज्य कहलाता है ॥२०२॥ यह पाँचवीं साम्राज्यक्रिया है ।

अर्हत् परमेष्ठीका भाव अथवा कर्मरूप जो उत्कृष्ट क्रिया है उसे आर्हन्त्य क्रिया कहते हैं । इस क्रियामें स्वर्गावतार आदि महाकल्याणकरूप सम्पदाओंकी प्राप्ति होती है ॥२०३॥ स्वर्गसे अवतीर्ण हुए अर्हन्त परमेष्ठीको जो पंचकल्याणकरूप सम्पदाओंकी प्राप्ति होती है उसे आर्हन्त्य क्रिया जानना चाहिए, यह आर्हन्त्यक्रिया तीनों लोकोंमें क्षोभ उत्पन्न करनेवाली है ॥२०४॥ यह छठी आर्हन्त्यक्रिया है ।

संसारके बन्धनसे मुक्त हुए परमात्माकी जो अवस्था होती है उसे परिनिर्वृत्ति कहते हैं । इसका दूसरा नाम परनिर्वाण भी है ॥२०५॥ समस्त कर्मरूपी मलके नष्ट हो जानेसे जो अन्तरात्माकी शुद्धि होती है उसे सिद्धि कहते हैं, यह सिद्धि अपने आत्मतत्त्वकी प्राप्तिरूप है अभाव-रूप नहीं है और न ज्ञान आदि गुणोंके नाशरूप ही है ॥२०६॥ यह सातवीं परिनिर्वृत्ति क्रिया है ।

इस प्रकार आगमके अनुसार ये सात कर्तृन्वय क्रियाएँ कही गयी हैं, इन क्रियाओंका पालन करनेसे योगियोंको परम स्थानकी प्राप्ति होती है ॥२०७॥ जो भव्य आलस्य छोड़कर निरूपण की हुई इन तीन प्रकारकी क्रियाओंका अनुष्ठान करता है वह उस परमधाम (मोक्ष) को प्राप्त होता है जिसके प्राप्त होनेपर उसे उत्कृष्ट सुख मिल जाता है ॥२०८॥ पवित्र बुद्धिको धारण करने

१ फलोदये प० । २ तुच्छाभावरूपो न । ३ 'बुद्धिसुखदुःखादिनयानामात्मगुणानामत्यन्तोच्छित्तिर्मोक्ष' इति मतप्रोक्तो मोक्षो न । ४ सुखम् ।

परमजिनपद्मानुरक्तधी-

र्मजति पुमान् य इमं क्रियाविधिम् ।

स धुतनिष्कलकर्मबन्धनो

जननजरामरणान्तं कृत् सवेत् ॥२१०॥

शादूलविक्रीडितम्

भय्यात्मा समवाप्य जातिमुच्चितां जातस्ततः सद्गृही

पारिमाज्यमनुत्तरं गुरुमतादासाद्य यातो दिवम् ।

तत्रैन्द्रो श्रियमाप्तवान् पुनरर्तं ह्ययुक्त्वा गतश्चक्रितो

प्राप्तारुन्धपदः सम्ममहिमा प्राप्नोष्यतो निर्वृतिम् ॥२११॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे

दीक्षाकर्त्तव्यक्रियावर्णनं नाम एकोनचत्वारिंशत्तमं पर्व ॥३६॥



वाला जो भव्य पुरुष उक्त क्रियाओंसहित जिनमतमें कहे हुए इस पुराणके धर्मका अथवा प्राचीन धर्मका स्मरण करता है और उसीके अनुसार आचरण करता है वह संसारसम्बन्धी भयके बन्धनोंको शीघ्र ही तोड़ देता है-नष्ट कर देता है ॥२०६॥ जिसकी बुद्धि अत्यन्त उत्कृष्ट जिनेन्द्रभगवान्के चरणकमलोंमें अनुरागको प्राप्त हो रही है ऐसा जो पुरुष इन क्रियाओंकी विधिका सेवन करता है वह समस्त कर्मबन्धनको नष्ट करता हुआ जन्म, बुढ़ापा और मरणका अन्त करनेवाला होता है ॥२१०॥ यह भव्य पुरुष प्रथम ही योग्य जातिको पाकर सद्गृहस्थ होता है फिर गुरुकी आज्ञासे उत्कृष्ट पारिव्रज्यको प्राप्त कर स्वर्ग जाता है, वहाँ उसे इन्द्रकी लक्ष्मी प्राप्त होती है, तदनन्तर वहाँसे च्युत होकर चक्रवर्ती पदको प्राप्त होता है, फिर अरहन्त पदको प्राप्त होकर उत्कृष्ट महिमाका धारक होता है और इसके बाद निर्वाणको प्राप्त होता है ॥२११॥

इस प्रकार आर्ष नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहके

भाषानुवादमें दीक्षान्वय और कर्त्तव्य क्रियाओंका वर्णन

करनेवाला उनतालीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ।



चत्वारिंशत्तमं पर्व

अथानः संप्रवक्ष्यामि क्रियासुत्तरचूलिकाम्^१ । विशेषनिर्णयो यत्र क्रियाणां^२ तिसृणामपि ॥१॥
तत्रादौ तद्वदुक्तेषु^३ क्रियाकल्पनकल्पये^४ । मन्त्रोद्धारं क्रियासिद्धिर्मन्त्राधीना हि योगिनाम् ॥२॥
आधानादि क्रियारम्भे पूर्वमेव निवेशयेत् । त्रीणिच्छत्राणि चक्राणां त्रयं त्रींश्च हविर्भुजः^५ ॥३॥
मध्येवेदि जिनेन्द्राचार्यः स्थापयेच्च यथाविधि^६ । मन्त्रकल्पोऽथमाज्ञातस्तत्र^७ तत्पूजनविधिं^८ ॥४॥
नमोऽन्तो नीरजशब्दश्चतुर्थ्यन्तोऽथ पठ्यताम् । जलेन भूमिबन्धार्थं^९ परा शुद्धिस्तु तत्फलम्^{१०} ॥५॥
(नीरजसे नमः)

तदनन्तरं दर्पमधनाय नमः पदम् ॥६॥

(दर्पमधनाय नमः)

गन्धप्रदानमन्त्रश्च शीलगन्धाय नमः ।

(शीलगन्धाय नमः)

पुष्पप्रदानमन्त्रोऽपि विमलाय नमः पदम् ॥७॥

(विमलाय नमः)

अथानन्तर—आगे इन क्रियाओंकी उत्तरचूलिकाका कथन करेंगे जिससे कि इन तीनों क्रियाओंका विशेष निर्णय किया गया है ॥१॥ इस उत्तरचूलिकामें भी सबसे पहले क्रियाकल्प अर्थात् क्रियाओंके समूहकी सिद्धिके लिए मन्त्रोंका उद्धार कहेगा अर्थात् मन्त्रोंकी रचना आदि-का निरूपण कहेगा सो ठीक ही है क्योंकि मुनियोंके कार्यकी सिद्धि भी मन्त्रोंके ही अधीन होती है ॥२॥ आधानादि क्रियाओंके प्रारम्भमें सबसे पहले तीन छत्र, तीन चक्र और तीन अग्नियाँ स्थापित करना चाहिए ॥३॥ और वेदीके मध्य भागमें विधिपूर्वक जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमा विराजमान करनी चाहिए । उक्त क्रियाओंके प्रारम्भमें उन छत्र, चक्र, अग्नि तथा जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाकी जो पूजा की जाती है वह मन्त्रकल्प कहलाता है ॥४॥ इन क्रियाओंके करते समय जलसे भूमि शुद्ध करनेके लिए जिसके अन्तमें नमः शब्द लगा हुआ है ऐसे नीरजस् शब्दको चतुर्थीके एकवचनका रूप पढ़ना चाहिए अर्थात् 'नीरजसे नमः' (कर्मरूप भूलसे रहित जिनेन्द्र भगवान्को नमस्कार हो) यह मन्त्र बोलना चाहिए । इस मन्त्रका फल उत्कृष्ट विशुद्धि होना है ॥५॥ तदनन्तर डाभका आसन ग्रहण करना चाहिए और उसके बाद विघ्नोंको शान्त करने के लिए 'दर्पमधनाय नमः' (अहंकारको नष्ट करनेवाले भगवान्को नमस्कार हो) इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए ॥६॥ गन्ध समर्पण करनेका मन्त्र है 'शीलगन्धाय नमः' (शील रूप सुगन्ध धारण करनेवाले जिनेन्द्रदेवको नमस्कार हो) । तथा पुष्प देनेका मन्त्र है 'विमलाय

१ उपरितर्नाशं यत् चूलिकायाम् । २ गर्भान्वयादीनाम् । ३ वक्ष्ये । ४ क्रियाकलापकरणार्थम् । ५ अग्निं ।

६ वेदिमध्ये । ७ गर्भान्वानादिक्रियारम्भे । ८ छत्रत्रयादिपूजन । ९ भूमिसंयोगार्थं भूमिसेवनार्थमित्यर्थः ।

१० जलसेचनफलम् ।

कुर्वाक्षतपूजार्थमक्षताय नमः पदम् ।

(अक्षताय नमः)

धूपार्थं श्रुतधूपाय नमः पदमुदाहरेत् ॥८॥

(श्रुतधूपाय नमः)

ज्ञानोद्योताय पूर्वं च दीपदाने नमः पदम् ।

(ज्ञानोद्योताय नमः)

मन्त्रः परमसिद्धाय नमः इत्यमृतोद्भूता^१ ॥९॥

(परमसिद्धाय नमः)

मन्त्रैरेभिस्तु संस्कृत्य यथावज्जागतीक्षलेम् । ततोऽन्वक्^२ पीठिकामन्त्रः पञ्चीयो द्विजोत्तमैः ॥१०॥

पीठिकामन्त्रः -

सत्यजानपदं पूर्वं चतुर्थ्यन्तं नमः परम् । ततोऽर्हज्जातशब्दश्च तदन्तस्तत्परो^३ मतः ॥११॥

ततः परमजाताय नम इत्यपरं पदम् । ततोऽनुपमजाताय नम इत्युत्तरं पदम् ॥१२॥

ततश्च स्वप्रधानाय नम इत्युत्तरो ध्वनिः^४ । अचलाय नमः शब्दादक्षयाय नमः परम् ॥१३॥

अध्याबाधपदं चान्यदनन्तज्ञानशब्दनम् । अनन्तदर्शनानन्तवीर्यशब्दौ ततः पृथक् ॥१४॥

अनन्तसुखशब्दश्च नीरजःशब्द एव च । निर्मलाच्छेद्यशब्दौ च तथाऽभेद्याजरश्रुती ॥१५॥

नमः' (कर्ममलसे रहित जितेन्द्रभगवान्को लिए नमस्कार हो) ॥७॥ अक्षतसे पूजा करनेके लिए 'अक्षताय नमः' (क्षयरहित जितेन्द्रभगवान्को नमस्कार हो) यह मन्त्र बोले और धूपसे पूजा करते समय 'श्रुतधूपाय नमः' (प्रसिद्ध वासनावाले भगवान्को नमस्कार हो) इस मन्त्रका उच्चारण करे ॥८॥ दीप चढ़ाते समय 'ज्ञानोद्योताय नमः' (ज्ञानरूप उद्योत-प्रकाश) को धारण करनेवाले जितेन्द्रभगवान्को नमस्कार हो) यह मन्त्र पढ़े और अमृत अर्थात् नैवेद्य चढ़ाते समय 'परमसिद्धाय नमः' (उत्कृष्ट सिद्धभगवान्को नमस्कार हो) ऐसा मन्त्र बोले ॥९॥ इस प्रकार इन मन्त्रोंसे विधिपूर्वक भूमिका संस्कार कर उसके बाद उन उत्तम द्विजोंको पीठिका मन्त्र पढ़ना चाहिए ॥१०॥ पीठिका मन्त्र इस प्रकार है - सबसे पहले, जिसके आगे 'नमः' शब्द लगा हुआ है और चतुर्थी विभक्ति अन्तमें है ऐसे सत्यजात शब्दका उच्चारण करना चाहिए अर्थात् 'सत्यजाताय नमः' (सत्यरूप जन्मको धारण करनेवाले जितेन्द्रभगवान्को नमस्कार हो) बोलना चाहिए; उसके बाद चतुर्थ्यन्त अर्हज्जात शब्दके आगे 'नमः' पद लगाकर 'अर्हज्जाताय नमः' (प्रशंसनीय जन्मको धारण करनेवाले जितेन्द्रभगवान्को नमस्कार हो) यह मन्त्र बोले ॥११॥ तदनन्तर 'परमजाताय नमः' (उत्कृष्ट जन्मग्रहण करनेवाले अर्हन्तदेवको नमस्कार हो) बोलना चाहिए और उसके बाद 'अनुपमजाताय नमः' (उपमारहित जन्म धारण करनेवाले जितेन्द्रको नमस्कार हो) यह मन्त्र पढ़ना चाहिए ॥१२॥ इसके बाद 'स्वप्रधानाय नमः' (अपने-आप ही प्रधान अवस्थाको प्राप्त होनेवाले जिनराजको नमस्कार हो) यह मन्त्र बोले और उसके पश्चात् 'अचलाय नमः' (स्वरूपमें निश्चल रहनेवाले वीतरागको नमस्कार हो) तथा 'अक्षयाय नमः' (कभी नष्ट न होनेवाले भगवान्को नमस्कार हो) यह मन्त्र पढ़ना चाहिए ॥१३॥ इसी प्रकार 'अध्याबाधाय नमः' (बाधाओंसे रहित परमेश्वरको नमस्कार हो), 'अनन्तजानाय नमः' (अनन्तज्ञानको धारण करनेवाले जिनराजको नमस्कार हो), 'अनन्तदर्शनाय नमः' (अनन्तदर्शन-केवल दर्शनको धारण करनेवाले जितेन्द्रदेवको नमस्कार हो), 'अनन्तवीर्याय नमः' (अनन्त बलके धारक अर्हन्तदेवको नमस्कार हो) 'अनन्तसुखाय नमः' (अनन्तसुखके भाण्डार जितेन्द्रभगवान्को नमस्कार हो), 'नीरजसे

ततोऽमराप्रमेयोक्ती^१ सागर्भावासशब्दने^२ । ततोऽक्षोभ्याविलीनोक्ती परमाविर्धनध्वनिः^३ ॥१६॥
 पृथक्पृथगिमे^४ शब्दास्तद्वन्तास्तत्परा^५ मताः । उत्तराण्यनुसंधाय पदान्धेभिः पदैर्वदेत् ॥१७॥
 आदौ परमकाष्ठेति योगरूपाय वाक्परम् । नमःशब्दमुदीर्यान्ते मन्त्रविन्मन्त्रमुद्धरेत् ॥१८॥
 लोकाग्रवासिनेशब्दात्पुनः कार्यो नमो नमः^६ । एवं परमुक्तिर्योऽर्थोऽर्हत्सिद्धेभ्य इत्यपि ॥१९॥
 एवं केवलसिद्धेभ्यः पदाद् भूयोऽन्तकृत्पदात् । सिद्धेभ्य इत्यमुष्माच्च परम्परपदादपि^७ ॥२०॥
 अनादिपदपूर्वाच्च तस्मादेव^८ पदात्परम् । अनाद्यनुपमाविभ्यः सिद्धेभ्यश्च नमो नमः ॥२१॥

नमः' (कर्मरूपो धूलिसे रहित जिनराजको नमस्कार हो), 'निर्मलाय नमः' (कर्मरूप मलसे रहित जिनेन्द्रभगवान्को नमस्कार हो) 'अच्छेद्याय नमः' (जिनका कोई छेदन नहीं कर सके ऐसे जिनेन्द्रदेवको नमस्कार हो), 'अभेद्याय नमः' (जो किसी तरह भिद नहीं सके ऐसे अरहन्त-को नमस्कार हो), 'अजराय नमः' (जो बुढ़ापासे रहित है उसे नमस्कार हो), 'अमराय नमः' (जो मरणसे रहित है उसे नमस्कार हो), 'अप्रमेयाय नमः' (जो प्रमाणसे रहित है—छद्मस्थ पुरुषके ज्ञानसे अगम्य है, उसे नमस्कार हो), 'अगर्भवासाय नमः' (जो जन्म-मरणसे रहित होनेके कारण किसीके गर्भमें निवास नहीं करते ऐसे जिनराजको नमस्कार हो), 'अक्षोभ्याय नमः' (जिन्हें कोई क्षोभ उत्पन्न नहीं कर सकता ऐसे भगवान्को नमस्कार हो), 'अविलीनाय नमः' (जो कभी विलीन—नष्ट नहीं होते उन परमात्माको नमस्कार हो) और 'परमधनाय नमः' (जो उत्कृष्ट धनरूप हैं—उन्हें नमस्कार हो) इन अव्याबाध आदि शब्दोंके आगे चतुर्थी-विभक्ति तथा नमः शब्द लगाकर ऊपर लिखे अनुसार अव्याबाधाय नमः आदि मन्त्र पदों-का उच्चारण करना चाहिए ॥१४-१७॥ तदनन्तर मन्त्रको जाननेवाला द्विज जिसके आदिमें 'परमकाष्ठ' है और अन्तमें योगरूपाय है ऐसे शब्दका उच्चारण कर उसके आगे 'नमः' पद लगाता हुआ 'परमकाष्ठयोगाय नमः' (जिनका योग उत्कृष्ट सीमाको प्राप्त हो रहा है ऐसे जिनेन्द्रको नमस्कार हो) इस मन्त्रका उच्चारण करे ॥१८॥ फिर लोकाग्रवासिने शब्दके आगे 'नमो नमः' लगाना चाहिए इसी प्रकार परम सिद्धेभ्यः और अर्हत्सिद्धेभ्यः शब्दोंके आगे भी नमो नमः शब्दका प्रयोग करना चाहिए अर्थात् क्रमसे 'लोकाग्रवासिने नमो नमः' (लोकके अग्रभाग-पर निवास करनेवाले सिद्ध परमेष्ठीको बार-बार नमस्कार हो) 'परमसिद्धेभ्यो नमो नमः' (परम सिद्धभगवान्को बार-बार नमस्कार हो) और 'अर्हत्सिद्धेभ्यो नमो नमः' (जिन्होंने अरहन्त अवस्थाके बाद सिद्ध अवस्था प्राप्त की है ऐसे सिद्ध महाराजको बार-बार नमस्कार हो) इन मन्त्रोंका उच्चारण करना चाहिए ॥१९॥ इसी प्रकार 'केवलसिद्धेभ्यो नमो नमः' (केवली सिद्धोंको नमस्कार हो) 'अन्तःकृत्सिद्धेभ्यो नमो नमः' (अन्तकृत् केवली होकर सिद्ध होनेवालोंको नमस्कार हो), 'परम्परसिद्धेभ्यो नमः' (परम्परासे हुए सिद्धोंको नमस्कार हो) 'अनादिपरम्परसिद्धेभ्यो नमः' (अनादि कालसे हुए परम सिद्धोंको नमस्कार हो,) और 'अनाद्यनुपमसिद्धेभ्यो नमो नमः' (अनादिकालसे हुए उपमारहित सिद्धोंको नमस्कार हो) इन मन्त्र पदोंका उच्चारण कर नीचे लिखे पद पढ़ना चाहिए । इन नीचे लिखे शब्दोंको सम्बोधनरूपसे दो-दो बार बोलना चाहिए । प्रथम ही हे सम्यग्दृष्टे हे सम्यग्दृष्टे, हे आसन्नभव्य

१ अमराप्रमेयशब्दौ । २ सागर्भावासशब्दसहिते । ३ परमधनशब्दः । ४ अव्याबाधपदमित्यादयः । ५ चतुर्थ्यन्ताः । ६ नमःशब्दपराः । ७ परम्परशब्दात् । ८ सिद्धेभ्य इति पदान् ।

इति मन्त्रपदानुक्त्वा पदानीमान्यतः पठेत् । द्विसक्त्वाऽऽमभ्यं^१ वक्तव्यं सम्यग्दृष्टिपदं ततः ॥२२॥
आसन्नभयशब्दश्च द्विर्वाक्यस्तद्वदेव^२ हि । निर्वाणादिष्व पूजार्हः स्वाहान्तोऽग्नीन्द्र इत्यपि ॥२३॥
काम्यमन्त्रः

ततः स्वकाम्यसिद्ध्यर्थमिदं^३ पदमुदाहरेत् । सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु तत्परम्^४ ॥२४॥

अपमृत्युविनाशनं भवत्वन्तं^५ पदं भवेत् । भवत्वन्तमतो वाच्यं समाधिमरणक्षरम्^६ ॥२५॥

चूर्णिः 'सत्यजाताय नमः, अर्हजाताय नमः, परमजाताय नमः, अनुपमजाताय नमः, स्वप्रधानाय नमः, अचलाय नमः, अक्षयाय नमः, अव्याबाधाय नमः, अनन्तज्ञानाय नमः, अनन्तदर्शनाय नमः, अनन्त-
वीर्याय नमः, अनन्तसुखाय नमः, नीरजसे नमः, निर्मलाय नमः, अच्छेद्याय नमः, अमेद्याय नमः, अजराय
नमः, अमराय नमः, अप्रमेयाय नमः, अगर्भवासाय नमः, अक्षोभ्याय नमः, अबिलीनाय नमः परमघनाय
नमः, परमकाष्ठायोगरूपाय नमः, लोकाग्रवासिने नमो नमः, परमसिद्धेभ्यो नमो नमः, अर्हसिद्धेभ्यो नमो
नमः, केवलसिद्धेभ्यो नमो नमः, अन्तकृतसिद्धेभ्यो नमो नमः, परम्परसिद्धेभ्यो नमः, अनादिपरम्पर-
सिद्धेभ्यो नमो नमः, अनाद्यनुपमसिद्धेभ्यो नमो नमः, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे आसन्नभय आसन्नभय
निर्वाणपूजार्ह निर्वाणपूजार्ह अग्नीन्द्र स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु,
समाधिमरणं भवतु ।

पीठिका मन्त्र एष स्यात् पदैरभिः समुच्चितैः । जातिमन्त्रमितो वक्ष्ये यथाश्रुतमनुक्रमतः ॥२६॥

सत्यजन्मपदं तान्तमार्गं शरणमभ्यस्तः । प्रपद्यामीति वाच्यं स्वादहजन्मपदं तथा ॥२७॥

हे आसन्नभय, हे निर्वाणपूजार्ह, हे निर्वाणपूजार्ह, और फिर अग्नीन्द्र स्वाहा इस प्रकार उच्चारण करना चाहिए (इन सबका अर्थ यह है कि हे सम्यग्दृष्टि, हे निकटभय, हे निर्वाण कल्याणकी पूजा करने योग्य, अग्निकुमार देवोंके इन्द्र, तेरे लिए यह हवि समर्पित करता हूँ) ॥२०-२३॥ (अब इसके आगे काम्य मन्त्र लिखते हैं) । तदनन्तर अपनी इष्ट-
सिद्धिके लिए नीचे लिखे पदका उच्चारण करना चाहिए 'सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अप-
मृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु' अर्थात् मुझे सेवाके फलस्वरूप छह परम स्थानोंकी प्राप्ति हो, अपमृत्युका नाश हो और समाधिमरण प्राप्त हो ॥२४-२५॥ ऊपर कहे हुए सब मन्त्रोंका संग्रह इस प्रकार है :

सत्यजाताय नमः, अर्हजाताय नमः, परमजाताय नमः, अनुपमजाताय नमः, स्व-
प्रधानाय नमः, अचलाय नमः, अक्षयाय नमः, अव्याबाधाय नमः, अनन्तज्ञानाय नमः, अनन्त-
दर्शनाय नमः, अनन्तवीर्याय नमः, अनन्तसुखाय नमः, नीरजसे नमः, निर्मलाय नमः, अच्छेद्याय
नमः, अमेद्याय नमः, अजराय नमः, अमराय नमः, अप्रमेयाय नमः, अगर्भवासाय नमः, अक्षो-
भ्याय नमः, अबिलीनाय नमः, परमघनाय नमः, परमकाष्ठायोगरूपाय नमः, लोकाग्रवासिने
नमो नमः, परमसिद्धेभ्यो नमो नमः, अर्हसिद्धेभ्यो नमो नमः, केवलसिद्धेभ्यो नमो नमः, अन्त-
कृतसिद्धेभ्यो नमो नमः, परम्परसिद्धेभ्यो नमो नमः, अनादिपरम्परसिद्धेभ्यो नमो नमः, अनाद्यनु-
पमसिद्धेभ्यो नमो नमः, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे आसन्नभय आसन्नभय निर्वाणपूजार्ह निर्वाणपूजार्ह
अग्नीन्द्र स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्यु विनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु ।

इस प्रकार इन समस्त पदोंके द्वारा यह पीठिका मन्त्र कहा, अब इसके आगे शास्त्रोंके अनुसार अनुक्रमसे जातिमन्त्र कहते हैं ॥२६॥ तान्त अर्थात् षष्ठीविभक्त्यन्त सत्यजन्म पदके आगे शरण और उसके आगे प्रपद्यामि शब्द कहना अर्थात् 'सत्यजन्मनः शरणं प्रपद्यामि' (मैं
१ संबोधनं कृत्वा । २ आमन्त्रणं कृत्वेत्यर्थः । ३ अभीष्टम् । ४ तस्मादुपरि । ५ भवतुशब्दोऽन्ते यस्य तत् ।
६ पठेत् ४०, ल०, अ०, प०, स०, इ० । ७ समाधिमरणपदम् । ८ आगमानतिक्रमेण । ९ नास्त्यमिति पाठः,
नकारः अन्ते यस्य तत् ।

अर्हन्मातृपदं^१ तद्वत्स्वन्तमर्हन्सुताश्रमम् । अनादिगमनस्येति तथाऽनुपमजन्मनः ॥२८॥

रत्नत्रयस्य शरणं प्रपद्यामीत्यतः परम् । बोद्धव्यन्तं^२ च ततः सम्यग्दृष्टिं^३ द्वित्वेन^४ योजयेत् ॥२९॥

ज्ञानमूर्तिपदं तद्वत्सरस्वतिपदं तथा^५ षट्परमस्थानं^६ भवतु^७ अपमृत्युविनाशनं^८ भवतु^९ समाधिमरणं^{१०} भवतु ।

चूर्णिः — सत्यजन्मनः शरणं प्रपद्यामि, अर्हजन्मनः शरणं प्रपद्यामि, अर्हन्मातुः शरणं प्रपद्यामि, अर्हन्सुतस्य शरणं प्रपद्यामि, अनादिगमनस्य शरणं प्रपद्यामि, अनुपमजन्मनः शरणं प्रपद्यामि, रत्नत्रयस्य शरणं प्रपद्यामि, हे सम्यग्दृष्टे हे सम्यग्दृष्टे, हे ज्ञानमूर्ते, ज्ञानमूर्ते, हे सरस्वति, हे सरस्वति स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु ।

जातिसन्त्रोष्यमन्त्रातो^१ जातिभेदकारकाणाम् । मन्त्रं निस्तारकादि च यथाग्राह्यमितो भुवे ॥३१॥

निस्तारकमन्त्रः

स्वाहान्तं सत्यजाताय पदमादावनुस्मृतम् । तद्वन्तमर्हज्जातायपदं स्यात्तदनन्तरम् ॥३२॥

ततः षट्कर्मणे स्वाहा पदमुच्चारयेद् द्विजः । स्याद्ग्रामयतये स्वाहा पदं तस्मादनन्तरम् ॥३३॥

अनादिश्रोत्रियायेति श्रूयान् स्वाहापदं ततः । तद्वच्च स्नातकायेति श्रावकायेति च द्वयम् ॥३४॥

सत्यरूप जन्मको धारण करनेवाले जिनेन्द्रदेवका शरण लेता हूँ), इस प्रकार कहना चाहिए । इसके बाद 'अर्हजन्मनः शरणं प्रपद्यामि' (मैं अरहन्त पदके योग्य जन्म धारण करनेवालेका शरण लेता हूँ) 'अर्हन्मातुः शरणं प्रपद्यामि' (अर्हन्तदेवकी माताका शरण लेता हूँ,) 'अर्हन्सुतस्य शरणं प्रपद्यामि' (अरहन्तदेवके पुत्रका शरण लेता हूँ), 'अनादिगमनस्य शरणं प्रपद्यामि' (अनादि ज्ञानको धारण करनेवालेका शरण लेता हूँ), अनुपमजन्मनः शरणं प्रपद्यामि' (उपमारहित जन्मको धारण करनेवालेका शरण लेता हूँ) और 'रत्नत्रयस्य शरणं प्रपद्यामि' (रत्नत्रयका शरण ग्रहण करता हूँ) ये मन्त्र बोलना चाहिए । तदनन्तर सम्बोधन विभक्त्यन्त सम्यग्दृष्टि, ज्ञानमूर्ति और सरस्वती पदका दो-दो बार उच्चारण कर अन्तमें स्वाहा शब्द बोलना चाहिए अर्थात् सम्यग्दृष्टे, सम्यग्दृष्टे, ज्ञानमूर्ते, ज्ञानमूर्ते, सरस्वति, सरस्वति, स्वाहा (हे सम्यग्दृष्टे हे सम्यग्दृष्टे, हे ज्ञानमूर्ते हे ज्ञानमूर्ते, हे सरस्वति, हे सरस्वति, मैं तेरे लिए हवि समर्पण करता हूँ) यह मन्त्र कहना चाहिए और फिर काम्य मन्त्र पहलेके समान ही पढ़ना चाहिए ॥२७-३०॥ ऊपर कहे हुए पीठिका मन्त्रोंका संग्रह इस प्रकार है :

'सत्यजन्मनः शरणं प्रपद्यामि, अर्हजन्मनः शरणं प्रपद्यामि, अर्हन्मातुः शरणं प्रपद्यामि, अर्हन्सुतस्य शरणं प्रपद्यामि, अनादिगमनस्य शरणं प्रपद्यामि, अनुपमजन्मनः शरणं प्रपद्यामि, रत्नत्रयस्य शरणं प्रपद्यामि, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे, ज्ञानमूर्ते ज्ञानमूर्ते, सरस्वति सरस्वति स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु ।'

ये मन्त्र जातिसंस्कारका कारण होनेसे जाति मन्त्र कहलाते हैं अब इसके आगे निस्तारक मन्त्र कहते हैं ॥३१॥ सबसे पहले 'सत्यजाताय स्वाहा' (सत्यरूप जन्मको धारण करनेवालेके लिए मैं हवि समर्पण करता हूँ) इस मन्त्रका स्मरण किया गया है फिर 'अर्हज्जाताय स्वाहा' (अरहन्तरूप जन्मको धारण करनेवालेके लिए मैं हवि समर्पित करता हूँ) यह मन्त्र बोलना चाहिए और इसके बाद षट्कर्मणे स्वाहा (देवपूजा आदि छह कर्म करनेवालेके लिए हवि समर्पित करता हूँ), इस मन्त्रका द्विजको उच्चारण करना चाहिए । फिर 'ग्रामयतये स्वाहा' (ग्रामयतिके लिए समर्पण करता हूँ), यह मन्त्र बोलना चाहिए ॥३२-३३॥ फिर

१ तु शब्दः अस्ते यस्य तत् । २ संयुद्धघन्तम् । ३ सम्यग्दृष्टिपदम् । ४ द्विः कृत्वा योजयेदित्यर्थः । ५ षट्परमस्थानेत्यादि । ६ प्रोक्तः । ७ स्वाहान्तम् ।

स्वादेवब्राह्मणावेति स्वाहेत्यन्तमतः पदम् । सुब्राह्मणाय स्वाहान्तः स्वाहान्ताऽनुपमाय गीः ॥३५॥
सम्यग्दृष्टिपदं चैव तथा निधिपतिश्रुतिम् । ब्रूयाद् वैश्रवणोक्तिं च द्विः स्वाहेति ततः परम् ॥३६॥
काम्यमन्त्रमस्तौ ब्रूयात् पूर्वजन्मन्त्रविद् द्विजः । ऋषिमन्त्रमितौ वक्ष्ये यथाऽऽहोपासकश्रुतिः ॥३७॥

चूर्णिः — सत्यजाताय स्वाहा, अर्हज्जाताय स्वाहा, षट्कर्मणे स्वाहा, ग्रामयतये स्वाहा, अनादि-
श्रोत्रियाय स्वाहा, स्नातकाय स्वाहा, श्रावकाय स्वाहा, देवब्राह्मणाय स्वाहा, सुब्राह्मणाय स्वाहा, अनुपमाय
स्वाहा, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे निधिपते निधिपते वैश्रवण वैश्रवण स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु,
अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु ।

ऋषिमन्त्रः

प्रथमं सत्यजाताय नमः पदसुदीर्येत् । गृहीयाद् अर्हज्जाताय नमः शब्दं ततः परम् ॥३८॥

निर्ग्रन्थाय नमो वीतरागाय नम इत्यपि । महाव्रताय पूर्व च नमः पदमन्तरम् ॥३९॥

त्रिगुप्ताय नमो महायोगाय नम इत्यन्ते । ततो विविधयोगाय नम इत्यनुपठयताम् ॥४०॥

विविधर्षिपदं चास्माकमः शब्देन योजितम् । ततोऽङ्गधरपूर्वं च पठेत् पूर्वधरस्थितिम् ॥४१॥

‘अनादिश्रोत्रियाय स्वाहा’ (अनादिकालीन श्रुतके अध्येताको समर्पण करता हूँ), यह मन्त्र-
पद बोलना चाहिए । तदनन्तर इसी प्रकार ‘स्नातकाय स्वाहा’ और ‘श्रावकाय स्वाहा’ ये दो
मन्त्र पढ़ना चाहिए (केवली अरहन्त और श्रावकके लिए समर्पण करता हूँ) ॥३४॥ इसके
बाद ‘देवब्राह्मणाय स्वाहा’ (देवब्राह्मणके लिए समर्पण करता हूँ), ‘सुब्राह्मणाय स्वाहा’
(सुब्राह्मणके लिए समर्पण करता हूँ), और ‘अनुपमाय स्वाहा’ (उपमारहित भगवान्के
लिए हवि समर्पित करता हूँ), ये शब्द बोलना चाहिए ॥३५॥ तदनन्तर सम्यग्दृष्टि, निधि-
पति और वैश्रवण शब्दको दो-दो बार कहकर अन्तमें स्वाहा शब्दका प्रयोग करना चाहिए
अर्थात् सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे निधिपते निधिपते वैश्रवण वैश्रवण स्वाहा’ (हे सम्यग्दृष्टि
हे निधियोंके अधिपति, हे कुबेर, मैं तुम्हें हवि समर्पित करता हूँ) यह मन्त्र बोलना चाहिए ॥३६॥
इसके बाद मन्त्रोंको जाननेवाला द्विज पहलेके समान काम्यमन्त्र बोले । अब इसके आगे
उपासकाध्ययन-शास्त्रके अनुसार ऋषिमन्त्र कहता हूँ ॥३७॥ जातिमन्त्रोंका संग्रह इस
प्रकार है :

‘सत्यजाताय स्वाहा, अर्हज्जाताय स्वाहा, षट्कर्मणे स्वाहा, ग्रामयतये स्वाहा, अनादि-
श्रोत्रियाय स्वाहा, स्नातकाय स्वाहा, श्रावकाय स्वाहा, देवब्राह्मणाय स्वाहा, सुब्राह्मणाय
स्वाहा, अनुपमाय स्वाहा, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे निधिपते निधिपते वैश्रवण वैश्रवण स्वाहा,
सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु ।

ऋषिमन्त्र-प्रथम ही ‘सत्यजाताय नमः’ (सत्यजन्मको धारण करनेवालेको नमस्कार
हो) यह पद बोलना चाहिए और उसके बाद ‘अर्हज्जाताय नमः’ (अरहन्त रूप जन्मको धारण
करनेवालेके लिए नमस्कार हो) इस पदका उच्चारण करना चाहिए ॥३८॥ तदनन्तर
‘निर्ग्रन्थाय नमः’ (परिग्रहरहितके लिए नमस्कार हो), ‘वीतरागाय नमः’ (रागद्वेषरहित जिनेन्द्र
देवको नमस्कार हो), ‘महाव्रताय नमः’ (महाव्रत धारण करनेवालोंके लिए नमस्कार हो),
‘त्रिगुप्ताय नमः’ (तीनों गुप्तियोंको धारण करनेवालेके लिए नमस्कार हो), ‘महायोगाय नमः’
(महायोगको धारण करनेवाले ध्वनियोंको नमस्कार हो) और ‘विविधयोगाय नमः’ (अनेक
प्रकारके योगोंको धारण करनेवालोंके लिए नमस्कार हो) ये मन्त्र पढ़ना चाहिए ॥३९-४०॥
फिर नमः शब्दके साथ चतुर्थी विभक्त्यन्त विविधर्षि शब्दका पाठ करना चाहिए अर्थात् ‘विवि-

नमः शब्दपरीं चेतीं चतुर्थ्यं गवावनुस्मृतौ । ततो गणधरायेति पदं युक्तनमः पदम् ॥४२॥

परमर्षिभ्य इत्यस्मात्परं वाच्यं नमो नमः । ततोऽनुपमजाताय नमो नम इतीत्येत् ॥४३॥

सम्यग्दृष्टिं स्वर्गं लोभ्यन्तं किञ्चादृष्टेः ततो भूपतिशब्दश्च नगरपदः पतिः ॥४४॥

द्विर्वाच्यौ ताविमौ शब्दौ बोध्यन्तौ मन्त्रवेदिभिः । मन्त्रशेषोऽप्ययं तस्मादनन्तरमुदीर्यताम् ॥४५॥

कालश्रमणशब्दं च द्विरुक्त्वाऽऽमन्त्रणे ततः । स्वाहेति पदमुच्चार्य प्राग्यत्काम्यानि चोद्धरेत् ॥४६॥

चूर्णिः—सत्यजाताय नमः, अर्हज्जाताय नमः, निर्ग्रन्थाय नमः, वीतरागाय नमः, महाव्रताय नमः, त्रिगुप्ताय नमः, महायोगाय नमः, विविधयोगाय नमः, विविधर्षये नमः, अङ्गधराय नमः, पूर्वधराय नमः, गणधराय नमः, परमर्षिभ्यो नमो नमः, अनुपमजाताय नमो नमः, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे भूपते भूपते नगरपते नगरपते कालश्रमण कालश्रमण स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिभरणं भवतु ।

मुनिमन्त्रोऽयमाग्नातो मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः । वक्ष्ये सुरेन्द्रमन्त्रं च यथा 'स्माहार्षर्षी' श्रुतिः ॥४७॥

प्रथमं सत्यजाताय स्वाहेत्येतत्पदं पठेत् । ततः स्वादुर्हज्जाताय स्वाहेत्येतत्परं पदम् ॥४८॥

वर्द्धये नमः' (अनेक ऋद्धियोंको धारण करनेवालेके लिए नमस्कार हो) ऐसा उच्चारण करना चाहिए । इसी प्रकार जिनके आगे नमः शब्द लगा हुआ है ऐसे चतुर्थ्यन्त अंगधर और पूर्वधर शब्दोंका पाठ करना चाहिए अर्थात् 'अङ्गधराय नमः' (अंगोंके जाननेवालेको नमस्कार हो) और 'पूर्वधराय नमः' (पूर्वोंके जाननेवालोंको नमस्कार हो) ये मन्त्र बोलना चाहिए । तदनन्तर 'गणधराय नमः' (गणधरको नमस्कार हो) इस पदका उच्चारण करना चाहिए ॥४१-४२॥ फिर परमर्षिभ्यः शब्दके आगे नमो नमः का उच्चारण करना चाहिए अर्थात् 'परमर्षिभ्यो नमो नमः' (परम ऋषियोंको बार-बार नमस्कार हो) यह मन्त्र बोलना चाहिए और इसके बाद 'अनुपमजाताय नमो नमः' (उपमारहित जन्मधारण करनेवालेको बार-बार नमस्कार हो) इस मन्त्रका उच्चारण करना चाहिए ॥४३॥ फिर अन्तमें सम्बोधन विभक्त्यन्त सम्यग्दृष्टि पदका दो बार उच्चारण करना चाहिए । और इसी प्रकार मन्त्रोंको जाननेवाले द्विजोंको सम्बोधनान्त भूपति और नगरपति शब्दका भी दो-दो बार उच्चारण करना चाहिए । तदनन्तर आगे कहा जानेवाला मन्त्रका अवशिष्ट अंश भी बोलना चाहिए । कालश्रमण शब्दको सम्बोधन विभक्तिमें दो बार कहकर उसके आगे स्वाहा शब्दका उच्चारण करना चाहिए और फिर यह सब कह चुकनेके बाद पहलेके समान काम्यमन्त्र पढ़ना चाहिए ॥४४-४६॥ इन सब ऋषिमन्त्रोंका संग्रह इस प्रकार है :

'सत्यजाताय नमः, अर्हज्जाताय नमः, निर्ग्रन्थाय नमः, वीतरागाय नमः, महाव्रताय नमः, त्रिगुप्ताय नमः, महायोगाय नमः, विविधयोगाय नमः, विविधर्षये नमः, अङ्गधराय नमः, पूर्वधराय नमः, गणधराय नमः, परमर्षिभ्यो नमो नमः, अनुपमजाताय नमो नमः, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे भूपते भूपते नगरपते नगरपते कालश्रमण कालश्रमण स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिभरणं भवतु ।

तत्त्वोंके जाननेवाले मुनियोंके द्वारा ये ऊपर लिखे हुए मन्त्र मुनिमन्त्र अथवा ऋषिमन्त्र माने गये हैं । अब इनके आगे भगवान् ऋषभदेवको श्रुतिने जिस प्रकार कहा है उसी प्रकार मैं सुरेन्द्र मन्त्रोंको कहता हूँ ॥४७॥

प्रथम ही मैं 'सत्यजाताय स्वाहा' (सत्यजन्म लेनेवालेको हवि समर्पण करता हूँ) यह पद पढ़ना चाहिए, फिर 'अर्हज्जाताय स्वाहा' (अरहन्तके योग्य जन्म लेनेवालेको हवि

१ वदन्ति स्म । २ ऋषभप्रोक्ता ।

ततश्च दिव्यजाताय स्वाहेत्येवमुदाहरेत् । ततो दिव्यार्च्यजाताय स्वाहेत्येतत्पदं पठेत् ॥४९॥
 द्रूयाच्च नेमिनाथाय स्वाहेत्येतदनन्तरम् । सौधर्माय पदं चास्मात्स्वाहोक्त्यन्तमनुस्मरेत् ॥५०॥
 कल्पाधिपतये स्वाहापदं चाध्यस्तः परम् । भूयोऽप्यनुचरायार्दि स्वाहाशब्दमुदीरयेत् ॥५१॥
 ततः परम्परेन्द्राय स्वाहेत्युच्चारयेत्पदम् । संपठेदहमिन्द्राय स्वाहेत्येतदनन्तरम् ॥५२॥
 ततः परमार्हताय स्वाहेत्येत । पदं पठेत् । ततोऽप्यनुपमायेति पदं स्वाहापदान्वितम् ॥५३॥
 सम्यग्दृष्टिपदं चास्माद् बोध्यन्तं द्विरुदीरयेत् । तथा कल्पपतिं चापि दिव्यमूर्तिं च संपठेत् ॥५४॥
 द्विर्वाच्यं वज्रनामेति ततः स्वाहेति संहरेत् । पूर्ववत् काम्यमन्त्रोऽपि पाठ्योऽस्यान्ते त्रिभिः पदैः ॥५५॥

चूर्णिः—सत्यजाताय स्वाहा, अर्हज्जाताय स्वाहा, दिव्यजाताय स्वाहा, दिव्यार्च्यजाताय स्वाहा, नेमिनाथाय स्वाहा, सौधर्माय स्वाहा, कल्पाधिपतये स्वाहा, अनुचराय स्वाहा, परम्परेन्द्राय स्वाहा, अहमिन्द्राय स्वाहा, परमार्हताय स्वाहा, अनुपमाय स्वाहा, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे कल्पपते कल्पपते दिव्यमूर्ते दिव्यमूर्ते वज्रनामन् वज्रनामन् स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपातृषुविनाशनं भवतु, समाधि-मरणं भवतु ।

समर्पण करता हूँ) यह उत्कृष्ट पद पढ़ना चाहिए ॥४९॥ फिर 'दिव्यजाताय स्वाहा' (जिसका जन्म दिव्यरूप है उसे हवि समर्पण करता हूँ) ऐसा उच्चारण करना चाहिए और फिर 'दिव्या-र्च्यजाताय स्वाहा' (दिव्य तेजःस्वरूप जन्म धारण करनेवालेके लिए हवि समर्पण करता हूँ) यह पद पढ़ना चाहिए ॥४९॥ तदनन्तर 'नेमिनाथाय स्वाहा' (धर्मचक्रकी धुरीके स्वामी जिनेन्द्र-देवको समर्पण करता हूँ) यह पद बोलना चाहिए और इसके बाद 'सौधर्माय स्वाहा' (सौधर्मेन्द्र-के लिए समर्पण करता हूँ) इस मन्त्रका स्मरण करना चाहिए ॥५०॥ फिर 'कल्पाधिपतये स्वाहा' (स्वर्गके अधिपतिके लिए समर्पण करता हूँ) यह मन्त्र कहना चाहिए और उसके बाद 'अनुचराय स्वाहा' (इन्द्रके अनुचरोके लिए समर्पण करता हूँ) यह शब्द बोलना चाहिए ॥५१॥ फिर 'परम्परेन्द्राय स्वाहा' (परम्परासे होनेवाले इन्द्रोंके लिए समर्पण करता हूँ) इस पदका उच्चारण करे और उसके अनन्तर 'अहमिन्द्राय स्वाहा' (अहमिन्द्रके लिए समर्पण करता हूँ) यह मन्त्र अच्छी तरह पढ़े ॥५२॥ फिर 'परमार्हताय स्वाहा' (अरहन्तदेवके परम-उत्कृष्ट उपासकको समर्पण करता हूँ) यह मन्त्र पढ़ना चाहिए और उसके पश्चात् 'अनुपमाय स्वाहा' (उपमारहितके लिए समर्पण करता हूँ) यह पद बोलना चाहिए ॥५३॥ तदनन्तर सम्बोधनान्त सम्यग्दृष्टि पदका दो बार उच्चारण करना चाहिए तथा सम्बोधनान्त कल्पपति और दिव्यमूर्ति शब्दको भी दो-दो बार पढ़ना चाहिए इसी प्रकार सम्बोधनान्त वज्रनामन् शब्द-को भी दो बार बोलकर स्वाहा शब्दका उच्चारण करना चाहिए और अन्तमें तीन-तीन पदोंके द्वारा पहलेके समान काम्य मन्त्र पढ़ना चाहिए अर्थात् सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे कल्पपते कल्पपते दिव्यमूर्ते दिव्यमूर्ते वज्रनामन् वज्रनामन् स्वाहा (हे सम्यग्दृष्टि, हे स्वर्गके अधिपति, हे दिव्य-मूर्तिको धारण करनेवाले, हे वज्रनाम, मैं तेरे लिए हवि समर्पण करता हूँ) यह बोलकर काम्य मन्त्र पढ़ना चाहिए ॥५४-५५॥

ऊपर कहे हुए सुरेन्द्र मन्त्रोंका संग्रह इस प्रकार है,

'सत्यजाताय स्वाहा, अर्हज्जाताय स्वाहा, दिव्यजाताय स्वाहा, दिव्यार्च्यजाताय स्वाहा, नेमिनाथाय स्वाहा, सौधर्माय स्वाहा, कल्पाधिपतये स्वाहा, अनुचराय स्वाहा, परम्परेन्द्राय स्वाहा, अहमिन्द्राय स्वाहा, परमार्हताय स्वाहा, अनुपमाय स्वाहा, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे कल्प-पते कल्पपते दिव्यमूर्ते दिव्यमूर्ते वज्रनामन् वज्रनामन् स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु

सुरेन्द्रमन्त्र एषः स्यात् सुरेन्द्रस्यानुत्तर्पणम् । मन्त्रं परमराजादि ब्रह्मामीतो यथाश्रुतम् ॥५६॥
 प्रागत्र सत्यजाताय स्वाहेत्येतत् पदं पठेत् । ततः स्यादहंजाताय स्वाहेत्येतत्परं पदम् ॥५७॥
 ततश्चानुपमेन्द्राय स्वाहेत्येतत्पदं मतम् । विजयार्घ्यादिजाताय पदं स्वाहान्तमभवत् ॥५८॥
 ततोऽपि नेमिनाथाय स्वाहेत्येतत्पदं पठेत् । ततः परमराजाय स्वाहेत्येतदुदाहरेत् ॥५९॥
 परमाहंताय स्वाहा पदमस्मात्परं पठेत् । स्वाहान्तमनुपायोक्तिरतो वाच्या द्विजन्ममिः ॥६०॥
 सम्यग्दृष्टिपदं चास्माद् बोध्यन्तं त्रिलोकीरयेत् । उग्रतेजः पदं चैव दिशाञ्जयपदं तथा ॥६१॥
 नेम्यादिविजयं चैव कुर्यात् स्वाहापदोत्तरम् । काम्यमन्त्रं च तं ब्रूयात् प्राग्वदन्ते पदैस्त्रिभिः ॥६२॥

चूर्णिः-सत्यजाताय स्वाहा, अहंजाताय स्वाहा, अनुपमेन्द्राय स्वाहा, विजयार्घ्यजाताय स्वाहा, नेमिनाथाय स्वाहा, परमराजाय स्वाहा, परमाहंताय स्वाहा, अनुपमाय स्वाहा, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे उग्रतेजः उग्रतेजः दिशाञ्जय दिशाञ्जय नेमिविजय नेमिविजय स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु ।

मन्त्रः परमराजादिर्मन्तोऽयं परमेष्ठिनाम् । परं मन्त्रमितो ब्रह्मे यथाऽऽह परमा श्रुतिः ॥६३॥

अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु ।

यह सुरेन्द्रको सन्तुष्ट करनेवाला सुरेन्द्र मन्त्र कहा । अब आगे शास्त्रोंके अनुसार परम-राजादि मन्त्र कहते हैं ॥५६॥ इन मन्त्रोंमें सर्वप्रथम 'सत्यजाताय स्वाहा' (सत्य जन्म धारण करनेवालेको हवि समर्पण करता हूँ) यह पद पढ़ना चाहिए, फिर 'अहंजाताय स्वाहा' (अरहन्त पदके योग्य जन्म लेनेवालेको समर्पण करता हूँ) यह उत्कृष्ट पद पढ़ना चाहिए ॥५७॥ इसके बाद 'अनुपमेन्द्राय स्वाहा' (उपमारहित इन्द्र अर्थात् चक्रवर्तीके लिए समर्पण करता हूँ) यह पद कहना चाहिए । तदनन्तर 'विजयार्घ्यजाताय स्वाहा' (विजयरूप तथा तेजःपूर्ण जन्मको धारण करनेवालेके लिए समर्पण करता हूँ) इस पदका उच्चारण करना चाहिए ॥५८॥ इसके पश्चात् 'नेमिनाथाय स्वाहा' (धर्मरूप रथके प्रवर्तकको समर्पण करता हूँ) यह पद पढ़ना चाहिए और उसके बाद 'परमजाताय स्वाहा' (उत्कृष्ट जन्म लेनेवालेको समर्पण करता हूँ) यह पद बोलना चाहिए ॥५९॥ फिर 'परमाहंताय स्वाहा' (उत्कृष्ट उपासकको समर्पण करता हूँ) यह पद पढ़ना चाहिए और इसके बाद द्विजोंको 'अनुपमाय स्वाहा' (उपमारहितके लिए समर्पण करता हूँ) यह मन्त्र बोलना चाहिए ॥६०॥ तदनन्तर सम्बोधनान्त सम्यग्दृष्टि पदका दो बार उच्चारण करना चाहिए तथा इसी प्रकार सम्बोधनान्त उग्रतेजः पद, दिशाञ्जय पद और नेमिविजय पदको दो बार बोलकर अन्तमें स्वाहा शब्दका उच्चारण करना चाहिए और अन्तमें पहलेके समान तीन-तीन पदोंसे काम्य मन्त्र बोलना चाहिए अर्थात् सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे उग्रतेजः उग्रतेजः दिशाञ्जय दिशाञ्जय नेमिविजय नेमिविजय स्वाहा (हे सम्यग्दृष्टि, हे प्रथण्ड प्रतापके धारक, हे दिशाओंको जीतनेवाले, हे नेमिविजय, मैं तुम्हें हवि समर्पण करता हूँ) यह मन्त्र बोलकर काम्यमन्त्र पढ़ना चाहिए ॥६१-६२॥

परमराजादि मन्त्रोंका संग्रह इस प्रकार है :

'सत्यजाताय स्वाहा, अहंजाताय स्वाहा, अनुपमेन्द्राय स्वाहा, विजयार्घ्यजाताय स्वाहा, नेमिनाथाय स्वाहा, परमजाताय स्वाहा, परमाहंताय स्वाहा, अनुपमाय स्वाहा, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे, उग्रतेजः उग्रतेजः, दिशाञ्जय दिशाञ्जय, नेमिविजय नेमिविजय स्वाहा, सेवाफलं षट्-परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु ।

ये मन्त्र परमराजादि मन्त्र माने गये हैं । अब यहाँसे आगे जिस प्रकार परम शास्त्रमें

तत्रादौ सत्यजाताय नमः पदमुदीरयेत् । वाच्यं ततोऽर्हज्जाताय नम इत्युत्तरं पदम् ॥६४॥
 ततः परमजाताय नमः पदमुदाहरेत् । परमार्हतशब्दं च चतुर्थ्यन्तं नमः परम् ॥६५॥
 ततः परमरूपाय नमः परमतेजसे । नम इत्युभयं वाच्यं पदमध्यात्मदर्शिमिः ॥६६॥
 परमादिगुणायेति पदं चान्यन्नमोयुतम् । परमस्थानशब्दश्च चतुर्थ्यन्तो नमोऽन्वितः ॥६७॥
 उदाहार्यं क्रमं ज्ञात्वा ततः परमयोगिने । नमः परमभाग्याय नम इत्युभयं पदम् ॥६८॥
 परमर्द्धिपदं चान्यच्चतुर्थ्यन्तं नमः परम् । स्यात्परमप्रसादाय नम इत्युत्तरं पदम् ॥६९॥
 स्यात्परमकाङ्क्षिताय नम इत्यत उत्तरम् । स्यात्परमविजयाय नमः इत्युत्तरं वचः ॥७०॥
 स्यात्परमविज्ञानाय नमो वाक्यतदनन्तरम् । स्यात्परमदर्शनाय नमः पदमतः परम् ॥७१॥
 ततः परमवीर्याय पदं चास्मात्तमः परम् । परमादिसुखायेति पदमस्मादनन्तरम् ॥७२॥
 सर्वज्ञाय नमोवाक्यमर्हते नम इत्यपि । नमो नमः पदं चास्मान्त्यात्परं परमेष्ठिने ॥७३॥
 परमादिपञ्चाक्षेत्र इत्यस्माच्च नमो नमः । सम्भारद्विपदं चान्ते बोध्यन्तं द्विः प्रयुज्यताम् ॥७४॥

कहा है उसी प्रकार परमेष्ठियोंके उत्कृष्ट मन्त्र कहता हूँ ॥६३॥ उन परमेष्ठी मन्त्रोंमें सबसे पहले 'सत्यजाताय नमः' (सत्यरूप जन्म लेनेवालेके लिए नमस्कार हो) यह पद बोलना चाहिए और उसके बाद 'अर्हज्जाताय नमः' (अरहन्तके योग्य जन्म लेनेवालेके लिए नमस्कार हो) यह पद पढ़ना चाहिए ॥६४॥ तदनन्तर 'परमजाताय नमः' (उत्कृष्ट जन्म लेनेवालेके लिए नमस्कार हो) यह पद कहना चाहिए और इसके बाद चतुर्थी विभक्त्यन्त परमार्हत शब्दके आगे नमः पद लगाकर 'परमार्हताय नमः' (उत्कृष्ट जिनधर्मके धारकके लिए नमस्कार हो) यह मन्त्र पढ़ना चाहिए ॥६५॥ तत्पश्चात् अध्यात्म शास्त्रको जाननेवाले द्विजोंको 'परमरूपाय नमः' (उत्कृष्ट निर्गन्धरूपको धारण करनेवालेके लिए नमस्कार हो) और 'परमतेजसे नमः' (उत्तम तेजको धारण करनेवालेके लिए नमस्कार हो) ये दो मन्त्र बोलना चाहिए ॥६६॥ फिर नमः शब्दके साथ परमगुणाय यह पद अर्थात् 'परमगुणाय नमः' (उत्कृष्ट गुणवालेके लिए नमस्कार हो) यह मन्त्र बोलना चाहिए और उसके अनन्तर नमः शब्दसे सहित चतुर्थी विभक्त्यन्त परमस्थान शब्द अर्थात् 'परमस्थानाय नमः' (मोक्षरूप उत्तमस्थानवालेके लिए नमस्कार हो) यह पद पढ़ना चाहिए ॥६७॥ इसके पश्चात् क्रमको जानकर 'परमयोगिने नमः' (परम योगीके लिए नमस्कार हो) और 'परमभाग्याय नमः' (उत्कृष्ट भाग्यशालीको नमस्कार हो) ये दोनों पद बोलना चाहिए ॥६८॥ तदनन्तर जिसके आगे नमः शब्द लगा हुआ है और चतुर्थी विभक्ति जिसके अन्तमें है ऐसा परमर्द्धि पद अर्थात् 'परमर्द्धये नमः' (उत्तम ऋद्धियोंके धारकके लिए नमस्कार हो) और 'परमप्रसादाय नमः' (उत्कृष्ट प्रसन्नताको धारण करनेवालेके लिए नमस्कार हो) ये दो मन्त्र पढ़ना चाहिए ॥६९॥ फिर 'परमकाङ्क्षिताय नमः' [उत्कृष्ट आत्मानन्दकी इच्छा करनेवालेके लिए नमस्कार हो] और 'परमविजयाय नमः' [कर्मरूप शत्रुओंपर उत्कृष्ट विजय पानेवालेके लिए नमस्कार हो] ये दो मन्त्र बोलना चाहिए ॥७०॥ तदनन्तर 'परमविज्ञानाय नमः' [उत्कृष्ट ज्ञानवालेके लिए नमस्कार हो] और उसके बाद 'परमदर्शनाय नमः' [परम दर्शनके धारकके लिए नमस्कार हो] यह पद पढ़ना चाहिए ॥७१॥ इसके पश्चात् 'परमवीर्याय नमः' (अनन्त बलशालीके लिए नमस्कार हो) और फिर 'परमसुखाय नमः' [परम सुखके धारकको नमस्कार हो] ये मन्त्र कहना चाहिए ॥७२॥ इसके अनन्तर 'सर्वज्ञाय नमः' [संसारके समस्त पदार्थोंको जाननेवालेके लिए नमस्कार हो] 'अर्हते नमः' [अरहन्तदेवके लिए नमस्कार हो], और फिर 'परमेष्ठिने नमो नमः' (परमेष्ठीके लिए बार-बार नमस्कार हो) ये मन्त्र बोलना चाहिए ॥७३॥ तदनन्तर 'परमनेत्रे नमो नमः' (उत्कृष्ट नेत्राके लिए नमस्कार हो) यह मन्त्र

द्विः^१ स्तां^२ त्रिलोकविजयधर्ममूर्तिपदे ततः । धर्मनेमिपदं वाच्यं द्विः स्थाहेति ततः परम् ॥७५॥

काम्यमन्त्रमतो ज्ञ्यात्पूर्ववद्विधिष्वद्विजः । काम्यसिद्धिप्रधाना हि सर्वे मन्त्राः स्मृता बुधैः ॥७६॥

चूर्णिः-सत्यजाताय नमः, अहंजाताय नमः, परमजाताय नमः, परमार्हताय नमः, परमरूपाय नमः, परमतेजसे नमः, परमगुणाय नमः, परमस्थानाय नमः, परमयोगिने नमः, परमभाग्याय नमः, परम-
र्द्धये नमः, परमप्रसादाय नमः, परमकाङ्क्षिताय नमः, परमविजयाय नमः, परमविज्ञानाय नमः, परमदर्श-
नाय नमः, परमवीर्याय नमः, परमसुखाय नमः, सर्वज्ञाय नमः, अहंते नमः, परमेष्ठिने नमो नमः, परमनेत्रे
नमो नमः, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे त्रिलोकविजय धर्ममूर्ते धर्ममूर्ते धर्मनेमे धर्मनेमे स्वाहा,
सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अपमृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु ।

एते तु पीठिकामन्त्राः सप्त श्रेया द्विजोत्तमैः । एतैः सिद्धाद्यं कुर्यादाधौ नादिक्रियाविधौ ॥७७॥

क्रियामन्त्रास्त एते स्युराधानादिक्रियाविधौ । सूत्रे गणधरोद्धार्ये यान्ति साधनमन्यताम् ॥७८॥

सन्ध्यास्वग्नित्रये देवपूजने नित्यकर्मणि । भवन्त्याहुतिमन्त्राश्च त एते विधिसिद्धिदाः ॥७९॥

सिद्धार्चासंनिधौ मन्त्रान् जपेदष्टोत्तरं शतम् । गन्धपुष्पाभताज्जिनिवेदनपुरःसरम् ॥८०॥

सिद्धविद्यस्ततो मन्त्रैरेभिः कर्म समाचरेत् । शुक्लवासाः शुचिर्यज्ञोपवीत्यभ्यग्नमानसः ॥८१॥

कहना चाहिए और उसके बाद सम्बोधनान्त सम्यग्दृष्टि पदका दो बार प्रयोग करना चाहिए ॥७४॥ तथा इसी प्रकार त्रिलोकविजय, धर्ममूर्ति और धर्मनेमि शब्दको भी दो-दो बार उच्चारण कर अन्तमें स्वाहा पद बोलना चाहिए अर्थात् सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे, त्रिलोकविजय त्रिलोकविजय, धर्ममूर्ते धर्ममूर्ते, धर्मनेमे धर्मनेमे स्वाहा (हे सम्यग्दृष्टि, हे तीनों लोकोंको विजय करनेवाले, हे धर्ममूर्ति और हे धर्मके प्रवर्तक, मैं तेरे लिए हवि समर्पण करता हूँ) यह मन्त्र बोलना चाहिए ॥७५॥ तत्पश्चात् द्विजोंको पहलेके समान विधिपूर्वक काम्यमन्त्र पढ़ना चाहिए क्योंकि विद्वान् लोग सब मन्त्रोंसे अभोष्ट फलकी प्राप्ति होता ही मुख्य फल मानते हैं ॥७६॥

परमेशी मन्त्रोंका संग्रह इस प्रकार है :

सत्यजाताय नमः, अहंजाताय नमः, परमजाताय नमः, परमार्हताय नमः, परम-
रूपाय नमः, परमतेजसे नमः, परमगुणाय नमः, परमस्थानाय नमः, परमयोगिने नमः, परम-
भाग्याय नमः, परमर्द्धये नमः, परमप्रसादाय नमः, परमकाङ्क्षिताय नमः, परमविजयाय नमः,
परमविज्ञानाय नमः, परमदर्शनाय नमः, परमवीर्याय नमः, परमसुखाय नमः, सर्वज्ञाय नमः,
अहंते नमः, परमेष्ठिने नमो नमः, परमनेत्रे नमो नमः, सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे, त्रिलोकविजय
त्रिलोकविजय, धर्ममूर्ते धर्ममूर्ते, धर्मनेमे धर्मनेमे स्वाहा, सेवाफलं षट्परमस्थानं भवतु, अप-
मृत्युविनाशनं भवतु, समाधिमरणं भवतु ।

ब्राह्मणोंको ये ऊपर लिखे हुए सात पीठिका मन्त्र जानना चाहिए और गर्भाधानादि क्रियाओंकी विधि करनेमें इनसे सिद्धपूजन करना चाहिए ॥७७॥ गर्भाधानादि क्रियाओंकी विधि करनेमें ये मन्त्र क्रियामन्त्र कहलाते हैं और गणधरोंके द्वारा कहे हुए सूत्रमें ये ही साधन मन्त्रपनेको प्राप्त हो जाते हैं ॥७८॥ विधिपूर्वक सिद्ध किये हुए ये ही मन्त्र सन्ध्याओंके समय तीनों अग्नियोंमें देवपूजनरूप नित्य कर्म करते समय आहुति मन्त्र कहलाते हैं ॥७९॥ सिद्ध भगवान्को प्रतिमाके सामने पहले गन्ध, पुष्प, अक्षत और अर्घ्य आदि समर्पण कर एक सौ आठ बार उक्त मन्त्रोंका जप करना चाहिए ॥८०॥ तदनन्तर जिसे विद्याएँ सिद्ध हो गयी हैं, जो

अयोऽग्नयः प्रगेयाः^१ स्युः कर्मारम्भे द्विजोत्तमैः । रत्नत्रितयसंकल्पादग्नीन्द्रमुकुटोद्भवाः ॥८२॥
 तीर्थकृद्गणमुच्छे^२ षकेवस्यन्तमहोत्सवे^३ । पूजाङ्गत्वं^४ समासाद्य पवित्रत्वमुपागताः ॥८३॥
 कुण्डत्रये प्रगेतव्यास्त्रय एते महाग्नयः । गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्निप्रसिद्धयः ॥८४॥
 अहिमग्नित्रये पूजां मन्त्रैः कुर्वन् द्विजोत्तमः । आहिताग्निरिति ज्ञेयो नित्येऽथवा यस्य सग्ननि ॥८५॥
 "हविष्याके च धूपे च दीपोद्बोधनसंविधौ । बह्वीनां^५ विनियोगः स्यादग्नीषां नित्यपूजने ॥८६॥
 प्रयत्नेनाभिरक्ष्यं स्यादिदमग्नित्रयं गृहे । जैव दातव्यमन्येभ्यस्तोऽन्ये ये स्युरमस्कृताः^६ ॥८७॥
 न स्वतोऽग्नेः पयिग्रयं देवतारूपमेव वा । किंस्वहृदित्यमूर्तीज्यासंबन्धात् पावनोऽनलः ॥८८॥
 ततः पूजाङ्गतामस्य मन्त्राचिन्ता द्विजोत्तमाः । निर्वाणक्षेत्रपूजान्तस्पूजाऽतो^७ न दुष्यति ॥८९॥
 व्यवहारनवापेक्षा तस्येष्टा पूज्यता द्विजैः । जैनैरव्यवहार्योऽयं^८ नयोऽद्यत्वेऽग्नजन्मनः^९ ॥९०॥
 साधारणास्त्रिमे मन्त्राः सर्वत्रैव क्रियाविधौ । यथा संभवमुज्ज्वल्ये^{१०} विशेषविषयाश्च तान् ॥९१॥

सफेद वस्त्र पहने हुए हैं, पवित्र हैं, यज्ञोपवीत धारण किये हुए हैं और जिसका चित्त आकुलतासे रहित है ऐसा द्विज इन मन्त्रोंके द्वारा समस्त क्रियाएँ करें ॥८१॥ क्रियाओंके प्रारम्भमें उत्तम द्विजोंको रत्नत्रयका संकल्प कर अग्निकुमार देवोंके इन्द्रके मुकुटसे उत्पन्न हुई तीन प्रकारकी अग्नियाँ प्राप्त करनी चाहिए ॥८२॥ ये तीनों ही अग्नियाँ तीर्थकर, गणधर और सामान्य केवलीके अन्तिम अर्थात् निर्वाणमहोत्सवमें पूजाका अंग होकर अत्यन्त पवित्रताको प्राप्त हुई मानी जाती हैं ॥८३॥ गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि नामसे प्रसिद्ध इन तीनों महाअग्नियोंको तीन कुण्डोंमें स्थापित करना चाहिए ॥८४॥ इन तीनों प्रकारकी अग्नियोंमें मन्त्रोंके द्वारा पूजा करनेवाला पुरुष द्विजोत्तम कहलाता है और जिसके घर इस प्रकारकी पूजा नित्य होती रहती है वह आहिताग्नि अथवा अग्निहोत्री कहलाता है ॥८५॥ नित्य पूजन करते समय इन तीनों प्रकारकी अग्नियोंका विनियोग नैवेद्यके पकानेमें, धूप खेनेमें और दीपक जलानेमें होता है अर्थात् गार्हपत्य अग्निसे नैवेद्य पकाया जाता है, आहवनीय अग्निमें धूप खेई जाती है और दक्षिणाग्निसे दीपक जलाया जाता है ॥८६॥ घरमें बड़े प्रयत्नके साथ इन तीनों अग्नियोंकी रक्षा करनी चाहिए और जिनका कोई संस्कार नहीं हुआ है ऐसे अन्य लोगोंको कभी नहीं देनी चाहिए ॥८७॥ अग्निमें स्वयं पवित्रता नहीं है और न वह देवतारूप ही है — किन्तु अरहन्तदेवकी दिव्य मूर्तिकी पूजाके सम्बन्धसे वह अग्नि पवित्र हो जाती है ॥८८॥ इसलिए ही द्विजोत्तम लोग इसे पूजाका अंग मानकर इसकी पूजा करते हैं अतएव निर्वाणक्षेत्रकी पूजाके समान अग्निकी पूजा करनेमें कोई दोष नहीं है । भावार्थ — जिस प्रकार जिनेन्द्रदेवके सम्बन्धसे क्षेत्र भी पूज्य हो जाते हैं उसी प्रकार उनके सम्बन्धसे अग्नि भी पूज्य हो जाती है अतएव जिस प्रकार निर्वाण आदि क्षेत्रोंकी पूजा करनेमें दोष नहीं है उसी प्रकार अग्निकी पूजा करनेमें भी कोई दोष नहीं है ॥८९॥ ब्राह्मणोंकी व्यवहार नयकी अपेक्षा ही अग्निकी पूज्यता इष्ट है इसलिए जैन ब्राह्मणोंको भी आज यह व्यवहारनय उपयोगमें लाना चाहिए ॥९०॥ ये ऊपर कहे हुए मन्त्र साधारण मन्त्र हैं, सभी क्रियाओंमें काम आते हैं । अब विशेष क्रियाओंसे सम्बन्ध रखनेवाले विशेष मन्त्रोंको यथासम्भव कहता हूँ ॥९१॥

१ संस्कार्याः । २ केवली । ३ परिनिर्वाणमहोत्सवे । ४ कारणत्वम् । ५ चरूपचने । ६ गार्हपत्यादीनाम् अग्नित्रयाणाम् । यथासंख्येन हविःपाकादिषु त्रिषु विनियोगः स्यात् । ७ गर्भाधानादिसंस्काररहिताः । ८ अग्नित्रय-पूजा । ९ कारणात् । १० व्यवहर्तुं योग्यः । ११ विप्रस्य । — जन्मभिः ६०, ८०, १००, १२०, १४०, १६० । १२ लृट् । वक्ष्ये ।

गर्भाधानमन्त्रः—

सज्जातिभागी भव, सद्गृहिभागी भवेति च । पदद्वयमुदीर्यादौ पदानिमाध्वतः पठेत् ॥९२॥

आदौ मुनीन्द्रभागीति मवेत्यन्ते पदं वदेत् । सुरेन्द्रभागी परमराज्यभागीति च द्वयम् ॥९३॥

आर्हन्त्यभागी भवेति पदमस्मादन्तरम् । ततः परमनिर्वाणभागी भव पदं भवेत् ॥९४॥

आधाने मन्त्र एव स्यात् पूर्वमन्त्रपुरःसरः^१ । विनियोगश्च मन्त्राणां यथास्मायं प्रदर्शितः ॥९५॥

चूर्णिः—सज्जातिभागी भव, सद्गृहिभागी भव, मुनीन्द्रभागी भव, सुरेन्द्रभागी भव, परमराज्य-
भागी भव, आर्हन्त्यभागी भव, परमनिर्वाणभागी भव, (आधानमन्त्रः)

स्यात्प्रीतिमन्त्रश्चैलोक्यनाथो भवपदादिकः । त्रैकाल्यज्ञानी भव त्रिरत्नस्वामी भवेत्ययम् ॥९६॥

चूर्णिः—त्रैलोक्यनाथो भव, त्रैलोक्यज्ञानी भव, त्रिरत्नस्वामी भव, (प्रीतिमन्त्रः) ?

^२ मन्त्रोऽवतारकल्याणभागी भवपदादिकः । सुप्रीतो मन्दरेन्द्राभिषेककल्याणवाक्परः ॥९७॥

भागीभव पदोपेतस्ततो निष्क्रान्तिकाव्यसु । कल्याणमध्यमो भागी भवेत्येतेन योजितः ॥९८॥

ततश्चार्हन्त्यकल्याणभागी भव पदान्वितः । ततः परमनिर्वाणकल्याणपदसंगतः ॥९९॥

गर्भाधानके मन्त्र — प्रथम ही 'सज्जातिभागी भव' (उत्तम जतिको प्राप्त होओ) और 'सद्गृहिभागी भव' (उत्तम गृहस्थ अवस्थाको प्राप्त होओ) इन दो पदोंका उच्चारण कर पश्चात् नीचे लिखे पद पढ़ना चाहिए ॥९२॥ पहले 'मुनीन्द्रभागी भव' (महामुनिका पद प्राप्त करनेवाला हो) यह पद बोलना चाहिए और फिर 'सुरेन्द्रभागी भव' (इन्द्र पदका भोक्ता हो) तथा 'परमराज्यभागी भव' (उत्कृष्ट राज्यका उपभोग करनेवाला हो) इन दो पदोंका उच्चारण करना चाहिए ॥९३॥ तदनन्तर 'आर्हन्त्यभागी भव' (अरहन्त पदका प्राप्त करनेवाला हो) यह मन्त्र पढ़ना चाहिए और फिर 'परमनिर्वाणभागी भव' (परम निर्वाण पदको प्राप्त करनेवाला हो), यह पद कहना चाहिए ॥९४॥ गर्भाधानकी क्रियामें पहलेके मन्त्रोंके साथ-साथ यह मन्त्र काममें लाना चाहिए इस प्रकार यह आम्नायके अनुसार मन्त्रोंका विनियोगका क्रम दिखलाया है ॥९५॥

गर्भाधानके समय काम आनेवाले विशेष मन्त्रोंका संग्रह इस प्रकार है :

सज्जातिभागी भव, सद्गृहिभागी भव, मुनीन्द्रभागी भव, सुरेन्द्रभागी भव, परमराज्य-
भागी भव, आर्हन्त्यभागी भव, परमनिर्वाणभागी भव ।

अब प्रीतिमन्त्र कहते हैं — 'त्रैलोक्यनाथो भव' (तीनों लोकोंके अधिपति होओ)
'त्रैकाल्यज्ञानी भव' (तीनों कालका जाननेवाला हो) और 'त्रिरत्नस्वामी भव' (रत्नत्रय-
का स्वामी हो) ये तीन प्रीतिक्रियाके मन्त्र हैं ॥९६॥

संग्रह — 'त्रैलोक्यनाथो भव, त्रैकाल्यज्ञानी भव, त्रिरत्नस्वामी भव' ।

अब सुप्रीति क्रियाके मन्त्र कहते हैं—सुप्रीति क्रियामें 'अवतारकल्याणभागी भव' (गर्भ-
कल्याणकको प्राप्त करनेवाला हो), 'मन्दरेन्द्राभिषेककल्याणभागी भव,' (सुमेरु पर्वतपर इन्द्रके
द्वारा जन्माभिषेकके कल्याणको प्राप्त हो), 'निष्क्रान्तिकल्याणभागी भव' (निष्क्रमण कल्याणको
प्राप्त करनेवाला हो), 'आर्हन्त्यकल्याणभागी भव' (अरहन्त अवस्था — केवलज्ञानकल्याणकको
प्राप्त करनेवाला हो), और 'परमनिर्वाणकल्याणभागी भव' [उत्कृष्ट निर्वाण कल्याणकको

१ गर्भाधाने । २ पीठिकामन्त्रादिपुरःसरः । ३ अवतारादिकल्याणादिपरमनिर्वाणपदान्तानां सर्वपदानाम् । मन्त्र
इति पदं विशेष्यपदं भवति ।

भागी भवपदान्तश्च क्रमाद्वाच्यो मन्त्रीभिः । धृतिसन्त्रमित्यो वक्ष्ये प्रीत्या शृणुत सो द्विजः ॥१००॥

चूर्णिः—अवतारकल्याणभागी भव, मन्दरेन्द्राभिषेककल्याणभागी भव, निष्क्रान्तिकल्याणभागी भव, आर्हन्त्यकल्याणभागी भव, परमनिर्वाणकल्याणभागी भव, (सुप्रीतिसन्त्रः) ।

धृतिक्रियामन्त्रः—

आधानमन्त्र एवात्र सर्वत्राहितदातृवाक् । मध्ये यथाक्रमं वाच्यो नान्यो भेदोऽत्र कश्चन ॥१०१॥

चूर्णिः—सज्जातिदातृभागी भव, सद्गृहिदातृभागी भव, मुनीन्द्रदातृभागी भव, सुरेन्द्रदातृभागी भव, परमराज्यदातृभागी भव, आर्हन्त्यपददातृभागी भव, परमनिर्वाणदातृभागी भव, (धृतिक्रियामन्त्रः) ।

मोदक्रियामन्त्रः—

मन्त्री मोदक्रियायां च मतोऽयं मुनिसत्तमैः । पूर्वं सज्जातिकल्याणभागी भव पदं वक्ष्ये ॥१०२॥

ततः सद्गृहिकल्याणभागी भव पदं पठेत् । ततो वैवाहिकल्याणभागी भव पदं मनस् ॥१०३॥

ततो मुनीन्द्रकल्याणभागी भव पदं स्मृतम् । पुनः सुरेन्द्रकल्याणभागी भव पदात्परम् ॥१०४॥

मन्दराभिषेककल्याणभागीति च भवेति च । तस्माच्च यौवराज्यादिकल्याणपदसंयुतम् ॥१०५॥

प्राप्त करनेवाला हो) ये मन्त्र विद्वानोंको अनुक्रमसे बोलना चाहिए । अब आगे धृतिसन्त्र कहते हैं सो हे द्विजो, उन्हें तुम प्रीतिपूर्वक सुनो ॥१०७-१००॥

संग्रह—‘अवतारकल्याणभागी भव, मन्दरेन्द्राभिषेककल्याणभागी भव, निष्क्रान्तिकल्याणभागी भव, आर्हन्त्यकल्याणभागी भव, परमनिर्वाणकल्याणभागी भव’ ।

धृतिक्रियाके मन्त्र—गर्भाधान क्रियाके मन्त्रोंमें सब जगह दातृ शब्द लगा देनेसे धृति क्रियाके मन्त्र हो जाते हैं, विद्वानोंको अनुक्रमसे उन्हींका प्रयोग करना चाहिए, आधान क्रियाके मन्त्रोंसे इन मन्त्रोंमें और कुछ भेद नहीं है । भावार्थ—‘सज्जातिदातृभागी भव’ (सज्जाति-उत्तम जातिको देनेवाला हो), ‘सद्गृहिदातृभागी भव’ (सद्गृहस्थपदका देनेवाला हो), ‘मुनीन्द्रदातृभागी भव’ (महामुनिपदका देनेवाला हो), ‘सुरेन्द्रदातृभागी भव’ (सुरेन्द्रपदको देनेवाला हो), ‘परमराज्यदातृभागी भव’ (उत्तमराज्य—चक्रवर्तीके पदका देनेवाला हो), आर्हन्त्यदातृभागी भव’ (अरहन्त पदका देनेवाला हो) तथा ‘परमनिर्वाणदातृभागी भव’ (उत्कृष्ट निर्वाण पदका देनेवाला हो) धृति क्रियामें इन मन्त्रोंका पाठ करना चाहिए ॥१०१॥

संग्रह—‘सज्जातिदातृभागी भव, सद्गृहिदातृभागी भव, मुनीन्द्रदातृभागी भव, सुरेन्द्रदातृभागी भव, परमराज्यदातृभागी भव, आर्हन्त्यदातृभागी भव, परमनिर्वाणदातृभागी भव’ ।

अब मोदक्रियाके मन्त्र कहते हैं—उत्तम मुनियोंने मोदक्रियाके मन्त्र इस प्रकार माने हैं सबसे पहले ‘सज्जातिकल्याणभागी भव’ (सज्जातिके कल्याणको धारण करनेवाला हो) यह पद बोलना चाहिए, फिर सद्गृहिकल्याणभागी भव उत्तम गृहस्थके कल्याणका धारण करनेवाला हो) यह पद पढ़ना चाहिए, तदनन्तर ‘वैवाहिकल्याणभागी भव’ (विवाहके कल्याणको प्राप्त करनेवाला हो) इस पदका उच्चारण करना चाहिए, फिर ‘मुनीन्द्रकल्याणभागी भव’ (महामुनि पदके कल्याणको प्राप्त करनेवाला हो) यह मन्त्र बोलना चाहिए, इसके बाद ‘सुरेन्द्रकल्याणभागी भव’ ॥१०२॥ [इन्द्र पदके कल्याणका उपभोग करनेवाला हो], यह पद कहना चाहिए, फिर ‘मन्दराभिषेककल्याणभागी भव’ [सुमेरु पर्वतपर अभिषेकके कल्याणको प्राप्त हो] यह मन्त्र पढ़ना चाहिए, अनन्तर ‘यौवराज्यकल्याणभागी भव’ [युवराज पदके कल्याणका उपभोग करनेवाला हो] यह पद कहना चाहिए, तत्पश्चात् मन्त्रोंके प्रयोग करनेमें विद्वान् लोगोंको ‘महाराज्यकल्याणभागी भव’ [महाराज पदके कल्याणका उपभोक्ता हो] यह

भार्गीभवपदं वाच्यं मन्त्रयोगविशारदैः । स्वान्महाराज्यकल्याणभागी भव पदं परम् ॥१०६॥

भूयः परमराज्यादिकल्याणोपहितं^१ मतम् । भार्गी भवैत्यथार्हन्त्यकल्याणेन च योजितम् ॥१०७॥

चूर्णिः—सज्जातिकल्याणभागी भव, सद्गृहिकल्याणभागी भव, वैवाहिकल्याणभागी भव, मुनीन्द्र-
कल्याणभागी भव, सुरेन्द्रकल्याणभागी भव, मन्दराभिषेककल्याणभागी भव, यौवराज्यकल्याणभागी भव,
महाराज्यकल्याणभागी भव, परमराज्यकल्याणभागी भव, आर्हन्त्यकल्याणभागी भव, (मोदकिया मन्त्रः) ।

प्रियोद्भवमन्त्रः—

प्रियोद्भवे च मन्त्रोऽयं सिद्धार्चनपुरःसरम् । दिव्यनेमिविजयाय पदात्परमनेमिषाक् ॥१०८॥

विजयायेत्यथार्हन्त्यनेम्यादिविजयाय च । युक्तो मन्त्राश्चरैरेभिः स्वाहान्तः संमतो द्विजैः ॥१०९॥

चूर्णिः—दिव्यनेमिविजयाय स्वाहा, परमनेमिविजयाय स्वाहा, आर्हन्त्यनेमिविजयाय स्वाहा ।
(प्रियोद्भवमन्त्रः) ।

जन्मसंस्कारमन्त्रोऽयमेतेनामंकमादितः । सिद्धाभिषेकगन्धास्तुसंसिक्तं शिरसि स्थितम् ॥११०॥

कुलजातिव्योरुपगुणैः शीलप्रजान्वयैः । भाग्याविधवाशौच्यमूर्तिभिः सम्यग्दृष्टिः ॥१११॥

सम्यग्दृष्टिस्तथास्त्रेयमतस्त्वमपि पुत्रकः । संप्रीतिमाप्नुहि त्रीणि^२ प्राप्य चक्राण्यनुक्रमात् ॥११२॥

इत्यङ्गानि सृष्टोदस्य प्रायः सारूप्ययोगतः^३ । तत्रार्थायात्मसंकल्पं^४ ततः सूक्तमिदं पठेत् ॥११३॥

मन्त्र बोलना चाहिए, फिर 'परमराज्यकल्याणभागी भव' (परमराज्यके कल्याणको प्राप्त हो) यह पद पढ़ना चाहिए और उसके बाद 'आर्हन्त्यकल्याणभागी भव' (अरहन्त पदके कल्याणका उपभोग करनेवाला हो) यह मन्त्र बोलना चाहिए ॥१०३-१०७॥

संग्रह—'सज्जातिकल्याणभागी भव, सद्गृहिकल्याणभागी भव, वैवाहिकल्याणभागी भव, मुनीन्द्रकल्याणभागी भव, सुरेन्द्रकल्याणभागी भव, मन्दराभिषेककल्याणभागी भव, यौवराज्य-
कल्याणभागी भव, महाराज्यकल्याणभागी भव, परमराज्यकल्याणभागी भव, आर्हन्त्यकल्याण-
भागी भव' ।

अब प्रियोद्भव मन्त्र कहते हैं — प्रियोद्भव क्रियामें सिद्ध भगवान्की पूजा करनेके बाद नीचे लिखे मन्त्रोंका पाठ करना चाहिए —

'दिव्यनेमिविजयाय', 'परमनेमिविजयाय', और 'आर्हन्त्यनेमिविजयाय' इन मन्त्रा-
क्षरोंके साथ द्विजोंको अन्तमें स्वाहा शब्दका प्रयोग करना अभीष्ट है अर्थात् 'दिव्यनेमिविजयाय
स्वाहा' (दिव्यनेमिके द्वारा कर्मरूप शत्रुओंपर विजय प्राप्त करनेवालेके लिए हवि समर्पण
करता हूँ), 'परमनेमिविजयाय स्वाहा' (परमनेमिके द्वारा विजय प्राप्त करनेवालेके लिए
समर्पण करता हूँ) और 'आर्हन्त्यनेमिविजयाय स्वाहा' (अरहन्त अवस्थारूप नेमिके द्वारा
कर्म शत्रुओंको जीतनेवाले जिनेन्द्रदेवके लिए समर्पण करता हूँ) ये तीन मन्त्र बोलना चाहिए
॥१०८-१०९॥

संग्रह—'दिव्यनेमिविजयाय स्वाहा, परमनेमिविजयाय स्वाहा, आर्हन्त्यनेमिविजयाय स्वाहा' ।

अब जन्म संस्कारके मन्त्र कहते हैं — प्रथम ही सिद्ध भगवान्के अभिषेकके गन्धोदकसे
सिंचन किये हुए बालकको यह मन्त्र पढ़कर शिरपर स्पर्श करना चाहिए और कहना चाहिए कि
यह तेरी माता कुल, जाति, अवस्था, रूप आदि गुणोंसे सहित है, शीलवती है, सन्तानवती
है, भाग्यवती है, अवैधव्यसे युक्त है, सौम्यशान्तमूर्तिसे सहित है और सम्यग्दृष्टि है इसलिए
हे पुत्र, इस माताके सम्बन्धसे तू भी अनुक्रमसे दिव्य चक्र, विजयचक्र और परमचक्र तीनों
चक्रोंको पाकर सत्प्रीतिको प्राप्त हो ॥११०-११२॥ इस प्रकार आशीर्वाद देकर पिता

१ सहितम् । २ कुलजात्यादियथाशौच्यगुणैरधिष्ठितः । ३ दिव्यचक्रविजयचक्रपरमचक्राणि । ४ समानरूपत्व-
संबन्धात् । ५ बालके । ६ विधाय । ७ निजसंकल्पम् ।

अङ्गादङ्गात्संभवति हृदयादपि जायते । आत्मा वै पुत्र नामासि स जीव शरदः^१ शतम् ॥११४॥
क्षीराज्यममृतं^२ घृतं नामात्रावर्ज्यं^३ मुक्तिभिः^४ । घातिजयो मवेत्यस्य^५ हासयेन्नाभिनालकम्^६ ॥११५॥
श्रीदेव्यो जात^७ ते जातक्रियां कुर्वन्त्विति^८ भुवन् । तत्तनुं चूर्णवासेन^९ शनैरुदस्यं यत्नतः ॥११६॥
त्वं मन्दराभिषेकाहो भवेति स्तपयेत्ततः । गन्धाम्बुमिश्रितं जीव्या^{१०} इत्याशास्याक्षतं क्षिपेत् ॥११७॥
नद्यात्कर्ममलं कृत्स्नमित्यास्येऽस्य^{११} सनासिके । घृतमौषधसंमिश्रमावे^{१२} पेन्मात्रया^{१३} द्विजः ॥११८॥
ततो विश्वेश्वरोस्तन्यभागी^{१४} भूया इतीत्यन्^{१५} । मातुस्तनसुपामन्थ्य चदनेऽस्य समासजेत्^{१६} ॥११९॥
प्राग्वर्णितमथानन्दं प्रीतिदानपुरःसरम् । विधाय विधिवत्तस्य जातकर्म समापयेत्^{१७} ॥१२०॥
जरायुपटलं चास्य नामिनालसमायुतम् । छुचौ भूमौ निखाताया विक्षिपेन्मन्त्रमापठन् ॥१२१॥
सम्यग्दृष्टिपदं बोधये सर्वमातेति चापरम् । वसुन्धरापदं चैव स्वाहान्तं द्विरुदाहरेत् ॥१२२॥
चूर्णिः—सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे सर्वमातः सर्वमातः वसुन्धरे वसुन्धरे स्वाहा ।

मन्त्रेणानेन संमन्थ्य भूमौ सोदकसक्षतम् । क्षिपत्वा गर्भमलं^{१८} न्यस्तपञ्चरत्नतले क्षिपेत् ॥१२३॥

उसके समस्त अंगोंका स्पर्श करे और फिर प्रायः अपने समान होनेसे उसमें अपना संकल्प कर अर्थात् यह मैं ही हूँ ऐसा आरोप कर नीचे लिखे हुए सुभाषित पढ़े ॥११३॥ हे पुत्र, तू मेरे अंग अंगसे उत्पन्न हुआ है और मेरे हृदयसे भी उत्पन्न हुआ है इसलिए तू पुत्र नामको धारण करनेवाला मेरा आत्मा ही है । तू सैकड़ों वर्षों तक जीवित रह ॥११४॥ तदनन्तर दूध और घीरूपी पवित्र अमृत उसकी नाभिपर डालकर 'घातिजयो भव' (तू घातिया कर्मोंको जीतने-वाला हो) यह मन्त्र पढ़कर युक्तिसे उसकी नाभिका नाल काटना चाहिए ॥११५॥ तत्पश्चात् 'हे जात, श्रीदेव्यः ते जातक्रियां कुर्वन्तु' अर्थात् हे पुत्र, श्री, ह्री आदि देवियाँ तेरी जन्मक्रियाका उत्सव करें यह कहते हुए धीरे-धीरे यत्नपूर्वक सुगन्धित चूर्णसे उस बालकके शरीरपर उबटन करे । फिर 'त्वं मन्दराभिषेकाहो भव' अर्थात् तू मेरे पर्वतपर अभिषेक करने योग्य हो यह मन्त्र पढ़कर सुगन्धित जलसे उसे स्नान करावे और फिर 'चिरं जीव्याः' अर्थात् तू चिरकाल तक जीवित रह इस प्रकार आशीर्वाद देकर उसपर अक्षत डाले ॥११६-११७॥ इसके अनन्तर द्विज, 'नद्यान् कर्ममलं कृत्स्नम्'—अर्थात् तेरे समस्त कर्ममल नष्ट हो जावें यह मन्त्र पढ़कर उसके मुख और नाकमें, औषधि मिलाकर तैयार किया हुआ घी मात्राके अनुसार छोड़े ॥११८॥ तत्पश्चात् 'विश्वेश्वरोस्तन्यभागी भूयाः' अर्थात् तू तीर्थंकरकी माताके स्तनका पान करने-वाला हो ऐसा कहता हुआ माताके स्तनको मन्त्रित कर उसे बालकके मुहमें लगा दे ॥११९॥ तदनन्तर जिस प्रकार पहले वर्णन कर चुके हैं उसी प्रकार प्रीतिपूर्वक दान देते हुए उत्सव कर विधिपूर्वक जातकर्म अथवा जन्मकालकी क्रिया समाप्त करनी चाहिए ॥१२०॥ उसके जरायु पटलको नाभकी नालके साथ-साथ किसी पवित्र जमीनको खोदकर मन्त्र पढ़ते हुए गाड़ देना चाहिए ॥१२१॥ उसकी प्रक्रिया इस प्रकार है कि सम्बोधनान्त सम्यग्दृष्टि पद, सर्वमाता-पद और वसुन्धरा पदको दो-दो बार कहकर अन्तमें स्वाहा शब्द कहना चाहिए । अर्थात् सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे सर्वमातः सर्वमातः वसुन्धरे वसुन्धरे स्वाहा (सम्यग्दृष्टि, सर्वकी माता पृथ्वीमें यह समर्पण करता हूँ) इस मन्त्रसे मन्त्रित कर उस भूमिमें जल और अक्षत डालकर पाँच प्रकारके रत्नोंके नीचे गर्भका वह मल रख देना चाहिए और फिर कभी 'त्वत्पुत्रा इव

१ बहुसंवत्सरमित्यर्थः । २ क्षीराज्यरूपममृतम् । ३ सिक्त्वा । ४ मुक्तितः ल० । भक्तितः द० । ५ बालस्य । ६ लङ्ग्वं कुर्वन् । छिन्नादित्यर्थः । ७ पुत्र । ८ जातकर्म । ९ परिमलचूर्णेन । १० जीव । ११ वक्त्रे । १२ मात्राज्येष्टि, क्षिपेद् वा । १३ किञ्चित् परिमाणेन । १४ जिनजननीस्तन्यभागी भव । १५ ब्रुवन् । १६ संयोजयेत् । १७ संप्रापयेत् । १८ जरायुपटलम् ।

त्वत्पुत्रा इव मत्पुत्रा भूयासु चिरजीविनः । इत्युदाहृत्य मस्याङ्गे तन्मन्त्रेण सहीनते ॥१२४॥

क्षीरवृक्षोपशान्तामिरुपहृत्य च भूतलम् । स्नाप्या तत्रास्य माताऽसौ सुशोभितमन्त्रितजलैः ॥१२५॥

सम्यग्दृष्टिपदं बोध्यविषयं द्विरुदीरयेत् । पदमासन्नभवेति तद्वद् विश्वेश्वरस्यपि ॥१२६॥

तत्र ऊर्जितपुण्येति जिनमातृपदं तथा । स्वाहान्तो मन्त्र पश्च स्नात्मानः सुस्नातसंविधौ ॥१२७॥

चूर्णिः—सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे आसन्नभव्ये आसन्नभव्ये विश्वेश्वरे विश्वेश्वरे ऊर्जितपुण्ये ऊर्जितपुण्ये जिनमातः जिनमातः स्वाहा ।

यथा जिनाम्बिका पुत्रकल्याणाभ्यभिषेचति । तथेयमपि मत्पत्नीत्यास्थयेयं विधिं भजेत् ॥१२८॥

तृतीयेऽहनि चानन्तज्ञानदर्शी भवेत्समुम् । आलोक्येत्समुच्छिष्य निशि ताराङ्गिनं नभः ॥१२९॥

पुण्याहवोषणापूर्वं कुर्याद् दानं च शक्तिः । यथायोग्यं विदध्याच्च सर्वस्याभयवोषणाम् ॥१३०॥

जातकर्मविधिः सोऽयमाभ्यातः पूर्वसूरिभिः । यथायोगमनुष्ठेयः सोऽद्यम्बेऽपि द्विजोत्तमैः ॥१३१॥

नामकर्मविधाने च मन्त्रोऽयमनुकीर्त्यते । सिद्धार्चनविधौ सतः मन्त्राः प्रागनुवर्णिताः ॥१३२॥

ततो दिव्याष्टसहस्रनामभागी भवादिकम् । पद्वितयमुच्चार्य मन्त्रोऽग्र परिवर्त्यताम् ॥१३३॥

चूर्णिः—‘दिव्याष्टसहस्रनामभागी भव, विजयाष्टसहस्रनामभागी भव, परमाष्टसहस्रनामभागी भव’ ।

मत्पुत्राः चिरंजीविनो भूयासुः (हे पृथ्वी तेरे पुत्र-कुलपर्वतोंके समान मेरे पुत्र भी चिरजीवी हों) यह कहकर धान्य उत्पन्न होनेके योग्य खेतमें जमीनपर वह मल डाल देना चाहिए ॥१२२-१२४॥ तदनन्तर क्षीर वृक्षकी डालियोंसे पृथिवीको सुशोभित कर उसपर उस पुत्रकी माताको बिठाकर मन्त्रित किये हुए सुहाते गरम जलसे स्नान कराना चाहिए ॥१२५॥ माताको स्नान करानेका मन्त्र यह है — प्रथम ही सम्बोधनान्त सम्यग्दृष्टि पदको दो बार कहना चाहिए फिर आसन्नभव्या, विश्वेश्वरी, ऊर्जितपुण्या, और जिनमाता इन पदोंको भी सम्बोधनान्त कर दो-दो बार बोलना चाहिए और अन्तमें स्वाहा शब्द पढ़ना चाहिए । भावार्थ — सम्यग्दृष्टे सम्यग्दृष्टे आसन्नभव्ये आसन्नभव्ये विश्वेश्वरि विश्वेश्वरि ऊर्जितपुण्ये ऊर्जितपुण्ये जिनमातः जिनमातः स्वाहा (हे सम्यग्दृष्टि, हे निकटभव्य, हे सबकी स्वामिनी, हे अत्यन्त पुण्य संचय करनेवाली, जिनमाता तू कल्याण करनेवाली हो) यह मन्त्र पुत्रकी माताको स्नान कराते समय बोलना चाहिए ॥१२६-१२७॥ जिस प्रकार जिनेन्द्रदेवकी माता पुत्रके कल्याणोंको देखती है उसी प्रकार यह मेरी पत्नी भी देखे ऐसी श्रद्धासे यह स्नानकी विधि करनी चाहिए ॥ १२८॥ तीसरे दिन रातके समय ‘अनन्तज्ञानदर्शी भव’ (तू अनन्तज्ञानको देखनेवाला हो) यह मन्त्र पढ़कर उस पुत्रको गोदीमें उठाकर ताराओंसे सुशोभित आकाश दिखाना चाहिए ॥ १२९ ॥ उसी दिन पुण्याहवाचनके साथ-साथ शक्तिके अनुसार दान करना चाहिए और जितना बन सके उतना सब जीवोंके अभयकी घोषणा करनी चाहिए ॥ १३० ॥ इस प्रकार पूर्वाचार्योंने यह जन्मोत्सवकी विधि मानी है — कही है । उत्तम द्विजको आज भी इसका यथायोग्य रीतिसे अनुष्ठान करना चाहिए ॥ १३१ ॥

अब आगे नामकर्म करते समय जिन मन्त्रोंका प्रयोग होता है उन्हें कहते हैं—इस विधिमें सिद्ध भगवान्की पूजा करनेके लिए जिन सात पीठिका मन्त्रोंका प्रयोग होता है उन्हें पहले ही कह चुके हैं । उनके आगे ‘दिव्याष्टसहस्रनामभागी भव’ आदि तीनों पदोंका उच्चारण कर मन्त्र परिवर्तित कर लेना चाहिए अर्थात् ‘दिव्याष्टसहस्रनामभागी भव’ (एक हजार आठ दिव्य नामोंका पानेवाला हो), ‘विजयाष्टसहस्रनामभागी भव’ (विजयरूप एक हजार आठ

शेषो विधित्सु निःशेषः प्रागुक्तो नाच्यते पुनः । ब्रह्मिर्दानक्रियामन्त्रः ततोऽयमनु गम्यताम् ॥ १३७ ॥

ब्रह्मिर्दानक्रिया —

तत्रोपनयनिष्क्रान्तिभागी भव पदोत्परेम् । भवेत् वैवाहनिष्क्रान्तिभागी भव पदं ततः ॥ १३४ ॥

क्रमान्मुनीन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव पदं वदेत् । ततः सुरेन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव पदं स्मृतम् ॥ १३५ ॥

मन्दराभिवेकनिष्क्रान्तिभागी भव पदं ततः । यौवराज्यमहाराज्यपदे भागी भवान्निवरे ॥ १३६ ॥

निष्क्रान्तिपदमध्ये स्तोत्रं परराज्यपदं तथा । आर्हन्त्यराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव शिष्यापदम् ॥ १३७ ॥

पदैर्भित्तं मन्त्रस्तद्विद्विरेभुज्यताम् । प्रागुक्ता विधिन्यस्तु निषद्यामन्त्र उत्तरः ॥ १३८ ॥

चृणिः—उपनयनिष्क्रान्तिभागी भव, वैवाहनिष्क्रान्तिभागी भव, मुनीन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव, सुरेन्द्र-
निष्क्रान्तिभागी भव, मन्दराभिवेकनिष्क्रान्तिभागी भव, यौवराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव, महाराज्यनिष्क्रान्ति-
भागी भव, परमराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव, आर्हन्त्यनिष्क्रान्तिभागी भव, (ब्रह्मिर्दानमन्त्रः)

निषद्या —

दिव्यसिंहासनपदाद् भागी भव पदं भवेत् । एवं विजयपरमसिंहासनपदद्वयान् ॥ १३९ ॥

नामोंका धारक हो और 'परमाष्टसहस्रनामभागी भव' (अत्यन्त उत्तम एक हजार आठ नामोंका पानेवाला हो) ये मन्त्र पढ़ना चाहिए ।

संग्रह—'दिव्याष्टसहस्रनामभागी भव, विजयाष्टसहस्रनामभागी भव, परमाष्टसहस्रनामभागी भव' ॥ १३२-१३३ ॥ बाकीकी समस्त विधि पहले कही जा चुकी है इसलिए दुबारा नहीं कहते हैं । अब आगे ब्रह्मिर्दान क्रियाके मन्त्र नीचे लिखे अनुसार जानना चाहिए ॥ १३४ ॥

सबसे पहले 'उपनयनिष्क्रान्तिभागी भव', (तू यज्ञोपवीतके लिए निकलनेवाला हो) यह पद बोलना चाहिए और फिर 'वैवाहनिष्क्रान्तिभागी भव' (विवाहके लिए बाहर निकलने-
वाला हो) यह मन्त्र पढ़ना चाहिए ॥ १३५ ॥ तदनन्तर अनुक्रमसे 'मुनीन्द्रनिष्क्रान्तिभागी' भव' (मुनिपदके लिए निकलनेवाला हो) यह मन्त्र कहना चाहिए और उसके बाद 'सुरेन्द्र-
निष्क्रान्तिभागी भव' (सुरेन्द्र पदकी प्राप्तिके लिए निकलनेवाला हो) यह पद बोलना चाहिए ॥ १३६ ॥ तत्पश्चात् 'मन्दरेन्द्राभिवेकनिष्क्रान्तिभागी भव' (सुमेरुपर्वतपर अभिवेकके लिए निकलनेवाला हो) इस मन्त्रका उच्चारण करना चाहिए और फिर 'यौवराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव' (युवराज पदके लिए निकलनेवाला हो) यह मन्त्र कहना चाहिए ॥ १३७ ॥ तदनन्तर 'महाराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव' (महाराज पदकी प्राप्तिके लिए निकलनेवाला हो) यह पद बोलना चाहिए और उसके बाद 'परमराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव' (चक्रवर्तीका उत्कृष्ट राज्य पानेके लिए निकलनेवाला हो) यह मन्त्र पढ़ना चाहिए और इसके अनन्तर 'आर्हन्त्यराज्य-
भागी भव' (अरहन्त पदकी प्राप्तिके लिए निकलनेवाला हो) यह मन्त्र कहना चाहिए ॥ १३८ ॥ इस प्रकार मन्त्रोंको जानेवाले द्विजोंको इन उपर्युक्त पदोंके द्वारा मन्त्रोंका जाप करना चाहिए । बाकी समस्त विधि पहले कह चुके हैं अब आगे निषद्या मन्त्र कहते हैं ॥ १३९ ॥

संग्रह—'उपनयनिष्क्रान्तिभागी भव, वैवाहनिष्क्रान्तिभागी भव, मुनीन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव, सुरेन्द्रनिष्क्रान्तिभागी भव, मन्दराभिवेकनिष्क्रान्तिभागी भव, यौवराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव, महाराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव, परमराज्यनिष्क्रान्तिभागी भव, आर्हन्त्यनिष्क्रान्तिभागी भव ।

निषद्यामन्त्र :—'दिव्यसिंहासनभागी भव' (दिव्य सिंहासनका भोक्ता हो — इन्द्रके

चूर्णिः—दिव्यसिंहासनभागी भव, विजयसिंहासनभागी भव, परमसिंहासनभागी भव (इति निषद्यामन्त्रः) ।

अन्नप्राशनक्रिया—

प्राशनेऽपि तथा मन्त्रं पर्वस्त्रिमिरुदाहरेत् । तानि ह्युद्विष्यद्विजयाक्षीणामृतपदानि वै ॥१४१॥

भागी भव पदेनान्ते युक्तेनानुगतानि तु । अर्द्धरेभिरक्षेत्रैः प्रोक्तैः प्रोक्तैः ॥१४२॥

चूर्णिः—दिव्यामृतभागी भव, विजयामृतभागी भव, अक्षीणामृतभागी भव ।

व्युष्टिः—

व्युष्टिक्रियाश्रितं मन्त्रमितो वक्ष्ये यथाश्रुतम् । तत्रोपनयनं जन्मवर्षवर्द्धनवाग्युतम् ॥१४३॥

भागी भव पदं श्रेयसादौ शेषपदाष्टके । वैवाह्यनिष्ठवर्षवर्द्धनमुनिजन्मपदेन च ॥१४४॥

सुरेन्द्रजन्मना मन्दराभिषेकपदेन च । यौवराज्यमहाराज्यपदाभ्यामप्यनुक्रमात् ॥१४५॥

परमार्हन्त्यराज्याभ्यां वर्षवर्द्धनसंयुतम् । भागी भव पदं योज्यं ततो मन्त्रोऽयमुद्भवेत् ॥१४६॥

चूर्णिः—उपनयनजन्मवर्षवर्द्धनभागी भव, वैवाह्यनिष्ठवर्षवर्द्धनभागी भव, मुनीन्द्रजन्मवर्षवर्द्धनभागी भव, सुरेन्द्रजन्मवर्षवर्द्धनभागी भव, मन्दराभिषेकवर्षवर्द्धनभागी भव, यौवराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव, महाराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव, परमराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव, आर्हन्त्यराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव, (व्युष्टिक्रियामन्त्रः)

आसनपर बैठनेवाला हो) 'विजयसिंहासनभागी भव' (चक्रवर्तीके विजयोल्लसित सिंहासनपर बैठनेवाला हो) और 'परमसिंहासनभागी भव' (तीर्थंकरके उत्कृष्ट सिंहासनपर बैठनेवाला हो) ये तीन मन्त्र कहना चाहिए ॥१४०॥

संग्रह—'दिव्यसिंहासनभागी भव, विजयसिंहासनभागी भव, परमसिंहासनभागी भव' ।

अब अन्नप्राशन क्रियाके मन्त्र कहते हैं — अन्नप्राशन क्रियाके समय तीन पदोंके द्वारा मन्त्र कहने चाहिए और वे पद दिव्यामृत, विजयामृत और अक्षीणामृत इनके अन्तमें भागी भव ये योग्य पद लगाकर बनाने चाहिए । विद्वानोंको अन्नप्राशन क्रियामें इन पदोंके द्वारा मन्त्रका प्रयोग करना चाहिए । भावार्थ — इस क्रियामें निम्नलिखित मन्त्र पढ़ने चाहिए—'दिव्यामृतभागी भव' (दिव्य अमृतका भोग करनेवाला हो), 'विजयामृतभागी भव' (विजयरूप अमृतका उपभोक्ता हो) और 'अक्षीणामृतभागी भव' (अक्षीण अमृतका भोक्ता हो) ॥१४१—१४२॥

संग्रह — 'दिव्यामृतभागी भव, विजयामृतभागी भव, अक्षीणामृतभागी भव' ।

अब यहाँसे आगे शास्त्रानुसार व्युष्टि क्रियाके मन्त्र कहते हैं — सबसे पहले 'उपनयन' के आगे 'जन्मवर्षवर्द्धन' पद लगाकर 'भागी भव' पद लगाना चाहिए और फिर अनुक्रमसे वैवाह्यनिष्ठ, मुनीन्द्रजन्म, सुरेन्द्रजन्म, मन्दराभिषेक, यौवराज्य, महाराज्य, परमराज्य और आर्हन्त्यराज्य इन शेष आठ पदोंके साथ 'वर्षवर्द्धन' पद लगाकर 'भागी भव' यह पद लगाना चाहिए । ऐसा करनेसे व्युष्टिक्रियाके सब मन्त्र बन जावेंगे । भावार्थ — व्युष्टिक्रियामें निम्नलिखित मन्त्रोंका प्रयोग करना चाहिए — 'उपनयनजन्मवर्षवर्द्धनभागी भव' (यज्ञोपवीतरूप जन्मके वर्षका बढ़ानेवाला हो) 'वैवाह्यनिष्ठवर्षवर्द्धनभागी भव' (विवाह क्रियाके वर्षका वर्धक हो), 'मुनीन्द्रजन्मवर्षवर्द्धनभागी' (मुनि पद धारण करनेवाले वर्षकी वृद्धिसे युक्त हो), 'सुरेन्द्रजन्मवर्षवर्द्धनभागी भव' (इन्द्र जन्मके वर्षका बढ़ानेवाला हो), 'मन्दराभिषेकवर्षवर्द्धनभागी भव' (सुमेरु पर्वतपर होनेवाले अभिषेककी वर्ष वृद्धि करनेवाला हो), 'यौवराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव' (युवराज पदकी वर्षवृद्धि करनेवाला हो), 'महाराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव' (महाराज पदकी वर्षवृद्धिका उपभोक्ता हो) 'परमराज्यवर्षवर्द्धनभागी भव' (चक्रवर्तीके उत्कृष्ट राज्य

चौलकर्म —

चौलकर्मण्यथो मन्त्रः स्यादुपनयनादिकम् । मुण्डभागी भवान्तं च पदमादावनुस्यूतम् ॥१४८॥

ततो निर्ग्रन्थमुण्डादिभागी भवपदं परम् । ततो निष्क्रान्तिमुण्डादिभागी भव पदं परम् ॥१४८॥

स्यात्परमनिस्तारककेशभागी भवेत्यतः । परमेन्द्रपदादिश्च केशभागी भवध्वनिः ॥१४९॥

परमार्हन्त्यराज्यादिकेशभागीति बाह्यद्वयम् । भवेत्यन्तपदोपेतं मन्त्रोऽस्मिन्स्याच्छिष्टापदम् ॥१५०॥

शिरसांतेन मन्त्रेण स्थापयेद्विधिवद् द्विजः । ततो मन्त्रोऽयमाकालो लिपिसंख्यानसंग्रहे ॥१५१॥

चूर्णिः—उपनयनमुण्डभागी भव, निर्ग्रन्थमुण्डभागी भव, परमनिस्तारककेशभागी भव, परमेन्द्र-
केशभागी भव, परमराज्यकेशभागी भव, आर्हन्त्यराज्यकेशभागी भव । ('इति चौलक्रियामन्त्रः')

शब्दपारभागी भव अर्थपारभागी भव । पदं शब्दार्थसंबन्धपारभागी भवेत्यपि ॥१५२॥

चूर्णिः—शब्दपारगामी (भागी) भव, अर्थपारगामी (भागी) भव, शब्दार्थपारगामी (भागी)
भव, (लिपिसंख्यानमन्त्रः)

उपनीतिक्रियामन्त्रं स्मरन्तीमं द्विजोत्तमाः । परमनिस्तारकादिलिङ्गभागी भवेत्यतः ॥१५३॥

की वर्षवृद्धि करनेवाला हो) और 'आर्हन्त्यराज्यवर्षवर्धनभागी भव' (अरहन्त पदवीरूपी राज्य-
के वर्षका बढ़ानेवाला हो) ॥१४३—१४६॥

संग्रह — 'उपनयनजन्मवर्षवर्धनभागी भव, देवाहनिष्ठवर्षवर्धनभागी भव, मुनीन्द्रजन्म-
वर्षवर्धनभागी भव, सुरेन्द्रजन्मवर्षवर्धनभागी भव, मन्दराभिषेकवर्षवर्धनभागी भव, यौवराज्य-
वर्षवर्धनभागी भव, महाराज्यवर्षवर्धनभागी भव, परमराज्यवर्षवर्धनभागी भव, आर्हन्त्य-
राज्यवर्षवर्धनभागी भव' ।

अब चौलक्रियाके मन्त्र कहते हैं — जिसके आदिमें उपनयन शब्द है और अन्तमें 'मुण्ड-
भागी भव' शब्द है ऐसा पहला मन्त्र जानना चाहिए अर्थात् 'उपनयनमुण्डभागी भव' (उपनयन
क्रियामें मुण्डन करनेवाला हो) यह चौलक्रियाका पहला मन्त्र है ॥१४७॥ फिर 'निर्ग्रन्थ-
मुण्डभागी भव' (निर्ग्रन्थ दीक्षा लेते समय मुण्डन करनेवाला हो) यह दूसरा मन्त्र है और उसके
बाद 'निष्क्रान्तिमुण्डभागी भव' (मुनि अवस्थामें केशलोच करनेवाला हो) यह तीसरा मन्त्र
है ॥१४८॥ तदनन्तर 'परमनिस्तारककेशभागी भव' (संसारसे पार उत्तारनेवाले आचार्यके
केशोंको प्राप्त हो) यह चौथा मन्त्र है और उसके पश्चात् 'परमेन्द्रकेशभागी भव' (इन्द्र पदके
केशोंको धारण करनेवाला हो) यह पाँचवाँ मन्त्र बोलना चाहिए ॥१४९॥ इसके बाद
'परमराज्यकेशभागी भव' (चक्रवर्तिके केशोंको प्राप्त हो) यह छठा मन्त्र है और 'आर्हन्त्य-
राज्यकेशभागी भव' (अरहन्त अवस्थाके केशोंको धारण करनेवाला हो) यह सातवाँ मन्त्र
बोलना चाहिए । द्विजोंको इन मन्त्रोंसे विधिपूर्वक चोटी रखवाना चाहिए । अब आगे लिपि-
संख्यानके मन्त्र कहते हैं ॥१५०—१५१॥

संग्रह—'उपनयनमुण्डभागी भव, निर्ग्रन्थमुण्डभागी भव, निष्क्रान्तिमुण्डभागी भव,
परमनिस्तारककेशभागी भव, परमेन्द्रकेशभागी भव, परमराज्यकेशभागी भव, आर्हन्त्यराज्य-
केशभागी भव' ।

लिपिसंख्यानके मन्त्र—'शब्दपारभागी भव' (शब्दोंका पारगामी हो), 'अर्थपारगामी
भागी भव' (सम्पूर्ण अर्थका जाननेवाला हो) और 'शब्दार्थसंबन्धपारभागी भव' (शब्द
तथा अर्थ दोनोंके सम्बन्धका पारगामी हो) ये पद लिपिसंख्यानके समय कहने चाहिए ॥१५२॥

संग्रह—'शब्दपारगामी भव, अर्थपारगामी भव, शब्दार्थपारगामी भव' ।

उत्तम द्विज नीचे लिखे हुए मन्त्रोंको उपनीति क्रियाके मन्त्ररूपसे स्मरण करते हैं —

युक्तं परमर्षिलिङ्गभागी भवति । परमेन्द्रलिङ्गभागी भवपदं परम् ॥१५४॥

एवं परमराज्यादि परमार्हन्त्यलिङ्गभागी च कथ्यते । युक्तं परमनिर्वाणपदेन च शिवापदम् ॥१५५॥

चूर्णिः—परमनिस्तारकलिङ्गभागी भव, परमर्षिलिङ्गभागी भव, परमेन्द्रलिङ्गभागी भव, परमराज्यलिङ्गभागी भव, परमार्हन्त्यलिङ्गभागी भव, परमनिर्वाणलिङ्गभागी भव । इत्युपनीतिक्रियामन्त्रः ।

अन्त्रेणानेन शिष्यस्य कृत्वा संस्कारमादितः । निर्विकारेण वस्त्रेण कृयन्तिनं सदाससम् ॥१५६॥

कौपीनाच्छादने चैतन्मन्त्रवासेन कारयेत् । मौज्जीवन्वसनः कुर्यादनुवृत्तत्रिमलकम् ॥१५७॥

सूत्रं गणधरदेव्यं व्रतचिह्नं त्रियोजनेन । मन्त्रपूजितो यज्ञोपवीतो स्यादसौ द्विजः ॥१५८॥

जायेत ब्राह्मणः पूर्वमिदानीं व्रतवस्कृतः । द्विजातो द्विज इत्येवं रुद्धिमास्तिष्ठन्तं गुणैः ॥१५९॥

देवान्यणुव्रतान्यस्मै गुरुभाशि यथाविधिः । गुणशालानुगुणैर्न संस्कुर्वीद् व्रतजातकैः ॥१६०॥

मनोऽस्तिबालविद्यार्थिनां यागादस्य निर्दिशेत् । द्वापोपासकाध्ययनं नामापि चरणोचितम् ॥१६१॥

ततोऽयं कृतवस्कारः सिद्धार्चनपुरःसरम् । यथाविधानमाचार्यपूजां कुर्यादितः परम् ॥१६२॥

नान्दिने प्रविष्टस्य भिक्षार्थं जातिवेक्षसु । योऽर्थलामः स वेषः स्यादुपाध्यायाय सादरम् ॥१६३॥

सबसे पहले 'परमनिस्तारकलिङ्गभागी भव' (परमनिस्तारकके चिह्नको धारण करनेवाला हो), फिर 'परमर्षिलिङ्गभागी भव' (परमर्षियोंके चिह्नको धारण करनेवाला हो) और 'परमेन्द्रलिङ्गभागी भव' (परम इन्द्रपदके चिह्नको धारण करनेवाला हो) ये मन्त्र बोलना चाहिए । इसी प्रकार अनुक्रमसे परम राज्य, परमार्हन्त्य और परम निर्वाण पदको 'लिङ्गभागी भव' पदसे युक्त कर 'परमराज्यलिङ्गभागी भव' (परमराज्यके चिह्नको धारण करनेवाला हो), 'परमार्हन्त्यलिङ्गभागी भव' (उत्कृष्ट अरहन्तदेवके चिह्नको धारण करनेवाला हो) और 'परमनिर्वाणलिङ्गभागी भव' (परमनिर्वाणके चिह्नको धारक हो) ये मन्त्र बना लेना चाहिए ॥१५३-१५५॥

संग्रह—'परमनिस्तारकलिङ्गभागी भव, परमर्षिलिङ्गभागी भव, परमेन्द्रलिङ्गभागी भव, परमराज्यलिङ्गभागी भव, परमार्हन्त्यलिङ्गभागी भव, परमनिर्वाणलिङ्गभागी भव' ।

इन मन्त्रोंसे प्रथम ही शिष्यका संस्कार कर उसे विकाररहित वस्त्रके द्वारा वस्त्रसहित करना चाहिए अर्थात् साधारण वस्त्र पहनाना चाहिए ॥१५६॥ इसे वस्त्रके भीतर लँगोटी देनी चाहिए और उसपर तीन लड़की बनी हुई मौजकी रस्सी बाँधनी चाहिए ॥१५७॥ तदनन्तर गणधरदेवके द्वारा कहा हुआ, व्रतोंका चिह्नस्वरूप और मन्त्रोंसे पवित्र किया हुआ सूत्र अर्थात् यज्ञोपवीत धारण कराना चाहिए । यज्ञोपवीत धारण करनेपर वह बालक द्विज कहलाने लगता है ॥१५८॥ पहले तो वह केवल जन्मसे ही ब्राह्मण था और अब व्रतोंसे संस्कृत होकर दूसरी बार उत्पन्न हुआ है इसलिए दो बार उत्पन्न होनेरूप गुणोंसे वह द्विज ऐसी रुद्धिको प्राप्त होता है ॥१५९॥ उस समय उस पुत्रके लिए विधिके अनुसार गुरुकी साक्षीपूर्वक अणुव्रत देना चाहिए और गुणव्रत तथा शिक्षाव्रत रूपशीलसे सहित व्रतोंके समूहसे उसका संस्कार करना चाहिए । भावार्थ — उसे पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस प्रकार व्रत और शील देकर उसके संस्कार अच्छे बनाना चाहिए ॥१६०॥ तदनन्तर गुरु उसे उपासकाध्ययन पढ़ाकर और चारित्रिके योग्य उसका नाम रखकर अतिबाल विद्या आदिका नियोगरूपसे उपदेश दे ॥१६१॥ इसके बाद जिसका संस्कार किया जा चुका है ऐसा वह पुत्र सिद्ध भगवान् की पूजा कर फिर विधिके अनुसार अपने आचार्यकी पूजा करे ॥१६२॥ उस दिन उस पुत्रको

१ वस्त्रस्यास्तः । २ त्रिगुणात्मकम् । ३ ब्रह्मसूत्रम् । ४ प्राप्नोति । ५ समूहः । ६ वक्ष्यमाणान् ।

शेषां विधिस्तु प्राक्प्राक्तः तमनन्तं समाचरेत् । यथास्तोत्रादिविधिः सन् भजते सवह्यचरिताम् ॥१६४॥
 अधातोऽस्य प्रवक्ष्यामि व्रतचर्यामनुक्रमान् । स्याद्यज्ञोपासकाध्यायः समासेनानुसृतः ॥१६५॥
 शिरान्निद्रामुरोलिङ्गं लिङ्गकट्यूरुसंश्रितम् । लिङ्गमस्योपवीतस्य प्रागनिर्णयं अनुविधम् ॥१६६॥
 तस्य स्यादभिपूज्या वा मध्या कृष्या वणिज्यया । यथास्वे व्रतमानानां सद्दृष्टीनां द्विजन्मनाम् ॥१६७॥
 कुतश्चिन् कारणाद् यस्य कुलं संप्राप्तदूषणम् । सोऽपि राजादिमंसं वा शोभयेत् स्वयं वा कुलम् ॥१६८॥
 तदास्योपनयाहोत्रं पुत्रपौत्रादिसन्तती । न निषिद्धं हि दीक्षाहोत्रं कुले चरस्य पूर्वजाः ॥१६९॥
 अदीक्षाहोत्रं कुले जाना विद्याशिरस्योपजीविनः । एतेषामुपनीत्यादिसंस्कारो नाभिलक्षितः ॥१७०॥
 निष्ठां स्यादुचितं लिङ्गं स्वयम्यव्रतधारिणाम् । एकशतकधारित्वं संन्यासमरणावधि ॥१७१॥
 स्याच्चिरमिषभोजित्वं^१ कुलस्त्रीसेवनव्रतम् । अनारम्भमव्योत्सर्गो^२ ह्यभक्ष्यापेयवर्जनम् ॥१७२॥
 इति शुद्धतरां वृत्तिं घनपूनामुपेयिवान् । यो द्विजस्तस्य संपूर्णो व्रतचर्याविधिः स्मृतः ॥१७३॥
 दशाधिकारास्तस्योक्ताः सूत्रेणैषामिकेन हि । तान्यथाक्रममुद्देशमात्रेणानुप्रवक्ष्यमहे ॥१७४॥

अपनी जाति या कुटुम्बके लोगोंके घरमें प्रवेश कर भिक्षा माँगना चाहिए और उस भिक्षामें जो कुछ अर्थका लाभ हो उसे आदर सहित उपाध्यायके लिए सौंप देना चाहिए ॥१६३॥ वांकीकी सब विधि पहले कही जा चुकी है । उसे पूर्णरूपसे करना चाहिए । इसके सिवाय वह जबतक विद्या पढ़ता रहे जबतक उसे ब्रह्मचर्यव्रत पालन करना चाहिए ॥१६४॥

अथानन्तर जिसमें उपासकाध्ययनका संक्षेपसे संग्रह किया है ऐसी इसकी व्रतचर्या-को अनुक्रमसे कहता हूँ ॥१६५॥ जिसका यज्ञोपवीत हो चुका है ऐसे बालकके लिए शिरका चिह्न (मुण्डन), वक्षःस्थलका चिह्न-यज्ञोपवीत, कमरका चिह्न - मूँजकी रस्सी और जाँघका चिह्न - सफेद धोती ये चार प्रकारके चिह्न धारण करना चाहिए । इनका निर्णय पहले हो चुका है ॥१६६॥ जो लोग अपनी योग्यताके अनुसार तलवार आदि शस्त्रोंके द्वारा, स्याही अर्थात् लेखनकलाके द्वारा, खेती और व्यापारके द्वारा अपनी आजीविका करते हैं ऐसे सद्दृष्टि द्विजोंको वह यज्ञोपवीत धारण करना चाहिए ॥१६७॥ जिसके कुलमें किसी कारणसे दोष लग गया हो ऐसा पुरुष भी जब राजा आदिकी सम्मतिसे अपने कुलको शुद्ध कर लेता है तब यदि उसके पूर्वज दीक्षा धारण करनेके योग्य कुलमें उत्पन्न हुए हों तो उसके पुत्र पौत्र आदि सन्ततिके लिए यज्ञोपवीत धारण करनेकी योग्यताका कहीं निषेध नहीं है । भावार्थ-यदि दीक्षा धारण करने योग्य कुलमें किसी कारणसे दोष लग जावे तो राजा आदिकी सम्मतिसे उसको शुद्ध हो सकती है और उस कुलके पुरुषको यज्ञोपवीत भी दिया जा सकता है । न केवल उसी पुरुषको किन्तु उसके पुत्र पौत्र आदि सन्तानके लिए भी यज्ञोपवीत देनेका कहीं निषेध नहीं है ॥१६८-१६९॥ जो दीक्षाके अयोग्य कुलमें उत्पन्न हुए हैं तथा नाचना गाना आदि विद्या और शिल्पसे अपनी आजीविका करते हैं ऐसे पुरुषोंको यज्ञोपवीत आदि संस्कारोंकी आज्ञा नहीं है ॥१७०॥ किन्तु ऐसे लोग यदि अपनी योग्यतानुसार व्रत धारण करें तो उनके योग्य यह चिह्न हो सकता है कि वे संन्यासमरण पर्यन्त एक धोती पहनें ॥१७१॥ यज्ञोपवीत धारण करनेवाले पुरुषोंको मांस-रहित भोजन करना चाहिए, अपनी विवाहिता कुलस्त्रीका सेवन करना चाहिए, अनारम्भी हिंसाका त्याग करना चाहिए और अभक्ष्य तथा अपेय पदार्थका परित्याग करना चाहिए ॥१७२॥ इस प्रकार जो द्विज व्रतोंसे पवित्र हुई अत्यन्त शुद्ध वृत्तिको धारण करता है उसके व्रतचर्याको पूर्ण विधि समझनी चाहिए ॥१७३॥ अब उन द्विजोंके लिए उपासकाध्ययन सूत्रमें जो दश

तत्रातिबालविद्याऽया कुलावधिरनन्तरम् । वर्णोत्तमत्वपात्रत्वे तथा सृष्ट्यधिकारिणा ॥१७५॥
 व्यवहारेक्षिताऽन्या स्यादवध्यत्वमदण्ड्यता । मानार्हता प्रजासम्बन्धान्तरं चैव्यनुक्रममात् ॥१७६॥
 दशाधिकारिवस्तूनि स्थुल्पासकसंग्रहे । तामीमानि यथोद्देशं संक्षेपेण विवृण्महे ॥१७७॥
 बाल्यात्प्रभृति यथा विद्याशिक्षोद्योगाद् द्विजन्मनः । प्रोक्तातिबालविद्येति सा क्रिया द्विजसंमता ॥१७८॥
 तस्यामसन्ध्यां मूर्धात्मा हेयादेयानभिज्ञकः । मिथ्याश्रुतिं प्रपद्येत द्विजन्मान्यैः प्रचारितः ॥१७९॥
 काश्य एव ततोऽभ्यस्येद् द्विजन्मीपासिको धृतिम् । स तथा प्राप्तसंस्कारः स्वपरोक्षारको भवेत् ॥१८०॥
 कुलावधिः कुलाचाररक्षणं स्यात् द्विजन्मनः । तस्मिन्सत्यस्य नष्टक्रियोऽन्यकुलतां भजेत् ॥१८१॥
 वर्णोत्तमत्वं वर्णेषु सर्वेष्वधिक्यमस्य वै । तेनायं इलाध्यतामेति स्वपरोक्षारणधमः ॥१८२॥
 वर्णोत्तमत्वं यद्यस्य न स्यात् स्यात्प्रकृष्टता । अप्रकृष्टश्च नात्मानं शोधयेत् परानपि ॥१८३॥
 ततोऽयं शुद्धिकामः सन् सेवेताम्यं कुलिङ्गिनम् । कुब्रह्म वा ततस्तज्जान् दोषान् प्राप्नोष्यसंशयम् ॥१८४॥
 प्रदानार्हत्वमस्येष्टं पात्रत्वं गुणगौरवान् । गुणाधिकोऽहि लोकेऽस्मिन् पूज्यः स्यात्लोकपूजितैः ॥१८५॥
 ततो गुणकृतां स्वस्मिन् पात्रतां व्रजयेद्द्विजः । तदभावे विमान्यत्वाद् द्विजतेऽस्य धनं सृष्टैः ॥१८६॥

अधिकार कहे हैं उन्हें यथाक्रमसे नामके अनुसार कहता हूँ ॥१७४॥ उन दश अधिकारोंमें पहला अतिबाल विद्या, दूसरा कुलावधि, तीसरा वर्णोत्तमत्व, चौथा पात्रत्व, पाँचवाँ सृष्ट्यधिकारिता, छठा व्यवहारेक्षिता, सातवाँ अवध्यत्व, आठवाँ अदण्ड्यता, नौवाँ मानार्हता और दशवाँ प्रजासम्बन्धान्तर है । उपासकसंग्रहमें अनुक्रमसे ये दश अधिकारवस्तुएँ बतलायी गयी हैं । उन्हीं अधिकार वस्तुओंका उनके नामके अनुसार यहाँ संक्षेपसे कुछ विवरण करता हूँ । ॥१७५-१७७॥ द्विजोंको जो बाल्य अवस्थासे ही लेकर विद्या सिखलानेका उद्योग किया जाता है उसे अतिबालविद्या कहते हैं, यह विद्या द्विजोंको अत्यन्त इष्ट है ॥१७८॥ इस अतिबाल विद्याके अभावमें द्विज मूर्ख रह जाता है उसे हेय उपादेयका ज्ञान नहीं हो पाता और वह अपनेको झूठमूर्ख द्विज माननेवाले पुरुषोंके द्वारा ठगाया जाकर मिथ्या शास्त्रके अध्ययनमें लग जाता है ॥१७९॥ इसलिए द्विजोंको उचित है कि वे बाल्य अवस्थामें ही श्रावकाचारके शास्त्रोंका अभ्यास करें क्योंकि उपासकाचारके शास्त्रोंके द्वारा जिसे अच्छे संस्कार प्राप्त हो जाते हैं वह निज और परको सारनेवाला हो जाता है ॥१८०॥ अपने कुलके आचारकी रक्षा करना द्विजोंकी कुलावधि क्रिया कहलाती है । कुलके आचारकी रक्षा न होनेपर पुरुषकी समस्त क्रियाएँ नष्ट हो जाती हैं और वह अन्य कुलको प्राप्त हो जाता है ॥१८१॥ समस्त वर्णोंमें श्रेष्ठ होना ही इसकी वर्णोत्तम क्रिया है, इस वर्णोत्तम क्रियासे ही यह प्रशंसाकी प्राप्त होता है और निज तथा परका उद्धार करनेमें समर्थ होता है ॥१८२॥ यदि इसके वर्णोत्तम क्रिया नहीं है अर्थात् इसका वर्ण उत्तम नहीं है तो इसके उत्कृष्टता नहीं हो सकती और जो उत्कृष्ट नहीं है वह न तो अपने-आपको शुद्ध कर सकता है और न दूसरेको ही शुद्ध कर सकता है ॥१८३॥ जो स्वयं उत्कृष्ट नहीं है ऐसे द्विजको अपनी शुद्धिकी इच्छासे अन्य कुलिङ्गियों अथवा कुब्रह्मकी सेवा करनी पड़ती है और ऐसी दशामें वह निःसन्देह उन लोगोंमें उत्पन्न हुए दोषोंको प्राप्त होता है । भावार्थ—सदा ऐसे ही कार्य करना चाहिए जिससे वर्णकी उत्तमतामें बाधा न आवे ॥१८४॥ गुणोंका गौरव होनेसे दान देनेके योग्य पात्रता भी इन्हीं द्विजोंमें होती है क्योंकि जो गुणोंसे अधिक होता है वह संसारमें सब लोगोंके द्वारा पूजित होनेवाले लोगोंके द्वारा भी पूजा जाता है ॥१८५॥ इसलिए द्विजोंको चाहिए कि वे अपने-आपमें गुणों-

१ यो विद्याशिक्षोद्योगी द्विजन्मनः द०, ल०, अ०, स०, द० । २ द्विश्रमन्यैः द० । ३ भजेत् द०, ल० । ४ कुत्सितब्रह्माणम् । ५ कुलिङ्गकृद्ब्रह्मसेवनात् ।

रक्ष्यः सृष्ट्याधिकारोऽपि द्विजैरुत्तमसृष्टिभिः । असदृष्टिकृतां सृष्टिं परिहृत्य विदूरतः ॥१८५॥
 अन्यथा सृष्टिवादेन कुट्टेन^१ कुट्टयः । लोकं नृपांश्च संमोह्य नयन्त्युत्पथगामिताम् ॥१८६॥
 सृष्ट्यन्तरमतो वृत्तमपास्य नयतरववित् । अनादिक्षत्रियैः^२ रच्यैः धर्मसृष्टिः^३ प्रकाशयेत् ॥१८७॥
 तीर्थं कृत्त्रियं सृष्टा धर्मसृष्टिः सनातनी । तां^४ संश्रिताकृपानेव^५ सृष्टिहेतून् प्रकाशयेत् ॥१८८॥
 अन्यथाऽन्यकृतां सृष्टिं प्रपन्नाः स्युर्नृपोत्तमाः । ततो नैश्वर्यमेवां स्यात्तद्वत्त्वाच्च स्थुरार्हताः ॥१८९॥
 व्यवहारेक्षितां प्राहुः प्रायश्चित्तादिकर्मणि । स्वतन्त्रतां द्विजस्यास्य श्रितस्य परमां श्रुतिम् ॥१९०॥
 तदभावे स्वमन्यांश्च न शोधयितुमर्हति । अशुद्धः परतः शुद्धिमभीप्सन्त्यक्कृतो^६ भवेत् ॥१९१॥
 स्यादवध्याधिकारोऽपि स्थिरात्मा द्विजसत्तमः । ब्राह्मणो हि गुणोत्कर्षोऽन्यतो^७ वधमर्हति ॥१९२॥
 सर्वः प्राणी न हन्तव्यो ब्राह्मणस्तु विशेषतः । गुणोत्कर्षापकर्षाभ्यां च वेऽपि द्वयात्मता^८ मता ॥१९३॥
 तस्माद्वध्यतामेव पोषयेद् धार्मिके जने । धर्मस्य तद्धि माहात्म्यं तत्त्वो यत्प्रामिभूयते ॥१९४॥
 तदभावे च वध्यत्वमयमृच्छति सर्वतः । एवं च सति धर्मस्य नश्येत् प्रामाण्यमर्हताम् ॥१९५॥

के द्वारा की हुई पात्रताको हट करे अर्थात् गुणी पात्र बनें क्योंकि पात्रताके अभावमें मान्यता नहीं रहती और मान्यताके न होनेसे राजा लोग भी धन हरण कर लेते हैं ॥१८६॥ जिनकी सृष्टि उत्तम है ऐसे द्विजोंको मिथ्यादृष्टियोंके द्वारा की हुई सृष्टिको दूरसे ही छोड़कर अपनी सृष्टिके अधिकारोंकी रक्षा करनी चाहिए ॥१८७॥ अन्यथा मिथ्यादृष्टि लोग अपने दूषित सृष्टिवादसे लोगोंको और राजाओंको मोहित कर कुमार्गगामी बना देंगे ॥१८८॥ इसलिए नय और तत्त्वोंको जाननेवाले द्विजको चाहिए कि मिथ्यादृष्टियोंकी अन्यसृष्टिको दूरसे ही छोड़कर अनादिक्षत्रियोंके द्वारा रची हुई धर्मसृष्टिकी ही प्रभावना करे ॥१८९॥ तथा इस धर्मसृष्टिका आश्रय लेनेवाले राजाओंसे ऐसा कहे कि तीर्थं करोके द्वारा रची हुई यह सृष्टि अनादिकालसे चली आयी है । भावार्थ — यह धर्मसृष्टि तीर्थं करोके द्वारा रची हुई है और अनादि कालसे चली आ रही है इसलिए आप भी इसकी रक्षा कीजिए ॥१९०॥ यदि द्विज राजाओंसे ऐसा नहीं कहेंगे तो वे अन्य लोगोंके द्वारा की हुई सृष्टिको मानने लगेंगे जिससे उनका ऐश्वर्य नहीं रह सकेगा तथा अरहन्तके मतको माननेवाले लोग भी उसी धर्मको मानने लगेंगे ॥१९१॥ परमागमका आश्रय लेनेवाले द्विजोंको जो प्रायश्चित्त आदि कार्योंमें स्वतन्त्रता है उसे ही व्यवहारेक्षिता कहते हैं ॥१९२॥ व्यवहारेक्षिताके अभावमें द्विज न अपने आपको शुद्ध कर सकेगा और न दूसरेको ही शुद्ध कर सकेगा तथा स्वयं अशुद्ध होनेपर यदि दूसरेसे अपनी शुद्धि करना चाहे तो वह कभी कृती नहीं हो सकेगा ॥१९३॥ जिसका अन्तःकरण स्थिर है ऐसा उत्तम द्विज अवध्याधिकारमें भी स्थित रहता है अर्थात् अवध्य है क्योंकि ब्राह्मण गुणोंकी अधिकताके कारण किसी दूसरेके द्वारा वध करने योग्य नहीं होता ॥१९४॥ सब प्राणियोंको नहीं मारना चाहिए और विशेषकर ब्राह्मणोंको नहीं मारना चाहिए । इस प्रकार गुणोंकी अधिकता और हीनतासे हिंसामें भी दो भेद माने गये हैं ॥१९५॥ इसलिए यह धार्मिक जनोंमें अपनी अवध्यताको पुष्ट करे । यथार्थमें वह धर्मका ही माहात्म्य है कि जो इस धर्ममें स्थित रहकर किसीसे तिरस्कृत नहीं हो पाता ॥१९६॥ यदि वह अपनी अवध्यताको पुष्ट न करेगा तो सब लोगोंसे वध्य हो जावेगा अर्थात् सब लोग उसे मारने लगेंगे और ऐसा होनेपर अर्हन्तदेवके धर्मकी

१ असमीक्षितेन कुट्टेनान्तेन वा । २ तां धर्मसृष्टिं प्रकाशयेदित्यर्थः । ३ आत्मानमाश्रिता । अथवा पूर्व तां संश्रिता बोधयेत् तद्वक्त्यर्थम् । ४ -प्रकृतो ल० । -प्रकृती २० । ५ नृपादेः सकाशात् । ६ द्विरूपता (दृष्टनिग्रहशिष्टप्रतिपालनता) ।

नतः पञ्चप्रयत्नेन रक्ष्यो धर्मः सनातनः । स हि संरक्षितो रक्षां करोति सचराचरे ॥१९८॥
 स्यादण्ड्यधमपदेवमस्य धर्मो स्थिरात्मनः । धर्मस्थो हि जनोऽन्यस्य दण्डप्रस्थापने प्रभुः ॥१९९॥
 'तदर्थं स्यात् यमाज्ञाय' ॥२००॥ धर्मदर्शिनोऽपि ॥२०१॥ अथ धर्मस्थोऽपि दण्डप्रस्थापने प्रभुः ॥२०२॥
 गतिर्यथा यथा देवगुरुद्रव्यं द्वितार्थिभिः । ब्रह्मस्य च तथाभूतं न दण्डार्हस्ततो द्विजः ॥२०३॥
 युक्त्यातया गुणाधिक्यमात्मन्यारोपयन् वर्या । अदण्ड्यपक्षे स्वात्मानं स्थापयेदण्डधारिणाम् ॥२०४॥
 अधिकारं त्वमग्नस्मिन् स्यादण्ड्योऽयं यथेतरः । ततश्च निस्स्वतां प्राप्सो नेहामुत्र च नन्दति ॥२०५॥
 मान्यत्वमस्य संयत्ते मानार्हत्वं सुभाषितम् । गुणाधिको हि मान्यः स्यात् वन्द्यः पूज्यश्च सत्तमैः ॥२०६॥
 अग्न्यस्मिन्मान्यत्वमस्य स्यात् समतैर्जनैः । ततश्च स्थानमानादिलाभमाभावात् ॥२०७॥
 तन्मादयं 'गुणैर्यथाऽत्मन्यारोपयतां द्विजैः' । यतश्च ज्ञानवृत्तादिसंपत्तिः सोऽचर्यतां तृपैः ॥२०८॥
 स्यात् प्रजान्तरसंबन्धे ॥२०९॥ स्वोत्तरेपरिप्लुतिः । याऽस्य सोक्ता प्रजासंयन्धान्तर्गुणः नामतो गुणः ॥२१०॥
 यथा कालायमात्रिहं ॥२११॥ स्वर्णं याति विषण्णताम् । न तथाऽस्थान्यसंबन्धे स्वगुणोत्कर्षविप्लवः ॥२१२॥

प्रामाणिकता नष्ट हो जावेगी ॥१९७॥ इसलिए सब प्रकारके प्रयत्नोंसे सनातनधर्मकी रक्षा करनी चाहिए । क्योंकि अच्छी तरह रक्षा किया हुआ धर्म ही चराचर पदार्थोंसे भरे हुए संसार-में उसकी रक्षा कर सकता है ॥१९८॥ इसी प्रकार धर्ममें जिसका अन्तःकरण स्थिर है ऐसे इस द्विजको अपने अदण्ड्यत्वका भी अधिकार है क्योंकि धर्ममें स्थिर रहनेवाला मनुष्य ही दूसरेके लिए दण्ड देनेमें समर्थ हो सकता है ॥१९९॥ इसलिए धर्मदर्शी लोगोंके द्वारा दिखलायी हुई यमाज्ञा जनोकी आज्ञायाका विचार करता हुआ ही धार्मिक राजा अधर्मी जनोको दण्ड देता है ॥२००॥ जिस प्रकार अपना हित चाहनेवाले पुरुषोंके द्वारा देवद्रव्य और गुरुद्रव्य त्याग करने योग्य है उसी प्रकार ब्राह्मणका धन भी त्याग करने योग्य है । इसलिए ही द्विज दण्ड देनेके योग्य नहीं है ॥२०१॥ इस युक्तिसे अपनेमें अधिक गुणोंका आरोप करता हुआ वह जितेन्द्रिय दण्ड देनेवाले राजा आदिके समक्ष अपने आपको अदण्ड्य अर्थात् दण्ड न देने योग्य पक्षमें ही स्थापित करता है । भावार्थ—वह अपने आपमें इतने अधिक गुण प्राप्त कर लेता है कि जिससे उसे कोई दण्ड नहीं दे सकते ॥२०२॥ इस अधिकारके अभावमें अन्य पुरुषोंके समान ब्राह्मण भी दण्डित किया जाने लगेगा जिससे वह दरिद्र हो जावेगा और दरिद्र होनेसे न तो इस लोकमें सुखी हो सकेगा और न परलोकमें ही ॥२०३॥ यह ब्राह्मण जो अच्छी तरह सन्मानके योग्य होता है वही इसका मान्यत्व अधिकार है सो ठीक ही है क्योंकि जो गुणोंसे अधिक होता है अर्थात् जिसमें अधिक गुण पाये जाते हैं वही पुरुषोंके द्वारा सन्मान करने योग्य, वन्दना करने योग्य और पूजा करने योग्य होता है ॥२०४॥ इस अधिकारके न होनेसे उत्तम पुरुष इसका सन्मान नहीं करेंगे और उसके स्थान मान लाभ आदिका अभाव होनेके कारण वह अपने पदसे च्युत हो जावेगा । इसलिए द्विजको चाहिए कि वह यह गुण (मान्यत्व गुण) बड़े यत्नसे अपने आपमें आरोपित करे क्योंकि ज्ञान चारित्र्य आदि सम्पदाएँ ही उसका यत्न है इसलिए राजाओंको उसकी पूजा करनी चाहिए ॥२०५—२०६॥ प्रजान्तर अर्थात् अन्य धर्मावलम्बियोंके साथ सम्बन्ध होनेपर भी जो अपनी उन्नतिसे च्युत नहीं होना है वह इसका प्रजासम्बन्धान्तर नामका गुण है ॥२०७॥ जिस प्रकार काले लोहके साथ मिला हुआ सुवर्ण

१ तत्कारणम् । २ धर्मसंबन्धिनम् । ३ आगमम् । ४ धर्माचार्यमतात् दण्डं करोतीति तात्पर्यम् । ५ धारिणम् अ०, प०, इ०, स० । ६ अमान्यत्वात् । ७ पूर्वस्थितस्य स्थानमानादिलाभमभ्याभावात् । ८ गुणो द० । ९ द्विजः ल० । १० सोऽचर्यतां न तैः द० । ११ संबन्धे सति । १२ अयोग्यतम् ।

किन्तु प्रजान्तरं स्वेन संबद्धं स्वगुणानयम् । प्रापन्नत्यचिरादेव लोहधातुं यथा रसः ॥२०६॥

अतो महानयं धर्मप्रभावोद्योतको गुणः । येनार्थं स्वगुणैरन्यानात्मसात्कर्तुमर्हति ॥२०७॥

असत्यस्मिन् गुणेऽन्यस्मात् प्राप्नुयात् स्वगुणव्युत्तिम् । सत्येवंगुणव्युत्तिरयं निर्वृण्येत^१ द्विजन्मनः ॥२०८॥

अतोऽतिबालविद्यादीक्रियोगान् दशयोदितान्^२ । येषां भावसात्कुर्वन् द्विजः स्वगुणैः कर्तुमर्हति ॥२०९॥

गुणेष्वेव विशेषोऽन्यो यो ब्राह्म्यो बहुविस्तरः । स उपासकसिद्धान्तादधिगम्यः प्रपद्यतः ॥२१०॥

क्रियामन्त्रानुपक्रमेण व्रतचर्याक्रियाविधि^३ । दशाधिकारा व्याख्याताः सद्ब्रह्मसैराहता द्विजैः ॥२११॥

क्रियामन्त्रास्त्विह ज्ञेया ये पूर्वमनुवर्णिताः । सामान्यविषयाः सप्त पीठिकामन्त्ररूपाः ॥२१२॥

ते हि साधारणाः सर्वक्रियासु विनियोगिनः । ततः औत्सर्गिकानेतान् मन्त्रान् मन्त्रविद्वां विदुः ॥२१३॥

विशेषविषया मन्त्राः क्रियासूक्तासु दर्शिताः । इतः प्रभृति चाभ्यूह्यास्ते यथाज्ञायमग्रजैः ॥२१४॥

मन्त्रानिमान् यथायोगं यः क्रियासु नियोजयेत् । स लोके संमतिं याति युक्ताचारो द्विजोत्तमः ॥२१५॥

क्रियामन्त्रविहीनास्तु प्रयोक्तृणां न सिद्ध्ये । यथा सुकृतसंनाहाः^४ सेनाध्यक्षा विनायकाः^५ ॥२१६॥

विवर्णताको प्राप्त हो जाता है उस प्रकार अन्य पुरुषोंके साथ सम्बन्ध होनेपर इस ब्राह्मणके अपने गुणोंके उत्कर्षमें कुछ बाधा नहीं आती है । भावार्थ—लोहेके सम्बन्धसे सुवर्णमें तो खराबी आ जाती है परन्तु उत्तम द्विजमें अन्य लोगोंके सम्बन्धसे खराबी नहीं आती ॥२०८॥ किन्तु जिस प्रकार रसायन अपने साथ सम्बन्ध रखनेवाले लोहेको शीघ्र ही अपने गुण प्राप्त करा देता है उसी प्रकार यह ब्राह्मण भी अपने साथ सम्बन्ध रखनेवाले पुरुषोंको शीघ्र ही अपने गुण प्राप्त करा देता है ॥२०९॥ इसलिए कहना चाहिए कि यह प्रजासम्बन्धान्तर गुण, धर्मकी प्रभावनाको बढ़ानेवाला सबसे बड़ा गुण है क्योंकि इसीके द्वारा यह द्विज अपने गुणोंसे अन्य लोगोंको अपने आधीन कर सकता है ॥२१०॥ इस गुणके न रहनेपर ब्राह्मण अन्य लोगोंके सम्बन्धसे अपने गुणोंकी हानि कर सकता है और ऐसा होनेपर इसकी गुणवत्ता ही नष्ट हो जावेगी ॥२११॥ इसलिए जो अतिबालविद्या आदि दश प्रकारके नियोग निरूपण किये हैं उन्हें यथायोग्य रीतिसे स्वीकार करनेवाला द्विज ही सब लोगोंको मान्य हो सकता है ॥२१२॥ इन गुणोंमें अन्य विशेष गुण बहुत विस्तारके साथ विवेचन करनेके योग्य हैं उन्हें उपासकाध्ययन-शास्त्रसे विस्तारपूर्वक समझ लेना चाहिए ॥२१३॥ इस प्रकार व्रतचर्या क्रियाकी विधिका वर्णन करते समय उस क्रियाके योग्य मन्त्रोंके प्रसंगसे उत्तम आचरणवाले द्विजोंके द्वारा माननीय दश अधिकारोंका निरूपण किया ॥२१४॥ इस प्रकरणमें जिनका वर्णन पहले कर चुके हैं उन्हें क्रियामन्त्र जानना चाहिए और जो सात पीठिकामन्त्र इस नामसे प्रसिद्ध हैं उन्हें सामान्यविषयक समझना चाहिए अर्थात् वे मन्त्र सभी क्रियाओंमें काम आते हैं ॥२१५॥ वे साधारण मन्त्र सभी क्रियाओंमें काम आते हैं इसलिए मन्त्रोंके जाननेवाले विद्वान् उन्हें औत्सर्गिक अर्थात् सामान्य मन्त्र कहते हैं ॥२१६॥ इनके सिवाय जो विशेष मन्त्र हैं वे ऊपर कही हुई क्रियाओंमें दिखला दिये गये हैं । अब व्रतचर्यासे आगेके जो मन्त्र हैं वे द्विजोंको अपनी आम्नाय (शास्त्र परम्परा) के अनुसार समझ लेना चाहिए ॥२१७॥ जो इन मन्त्रोंको क्रियाओंमें यथायोग्य रूपसे काममें लाता है वह योग्य आचरण करनेवाला उत्तम द्विज लोकमें सन्मानको प्राप्त होता है ॥२१८॥ जिस प्रकार अस्त्र-शस्त्र धारण कर तैयार हुए मुख्य-मुख्य योद्धा

१ प्रजान्तरसंबन्धेन । २ द्विजः । ३ संबध्येत । नश्येदित्यर्थः । ४ अधिकारान् । ५ क्रियाणां मन्त्राः क्रियामन्त्रा-
स्तेषामनुपङ्गो योगस्तेन । ६ पूर्वोक्तव्रतचर्याक्रियाविधाने । ७ साधारणान् । ८ यथायुक्ति । 'योगस्सग्रहणो-
पायध्यानसंगतियुक्तिषु' इत्यभिधानात् । ९ सुविहितकवचाः । १० स्वामिरहिताः ।

ततो विधिसमुं शस्यरावगम्य धृताशमः^१ । विधानेन प्रयोज्यः क्रियामन्त्रपुरस्कृताः ॥२२०॥

वसन्ततिलकाधृतम्

इत्थं स धर्मविजयी भरताधिराजो

धर्मक्रियासु^२ कृतधीर्नृपलोकसाक्षि ।

तान् मुञ्चतान् द्विजवृन्दान् विनियम्य सम्यक्

धर्मप्रियः समसृजत् द्विजलोकसर्गम् ॥२२१॥

मालिनी

इति भरतनरेन्द्रात् प्राप्तसत्कारयोगा

^३व्रतपरिषयचारुदारवृत्ताः श्रुताः^४ ।

जिनवृषभमतानु^५द्वज्यया पूज्यमानाः

जगति बहुमतास्ते ब्राह्मणाः स्वात्मिसीयुः ॥२२२॥

शार्दूलविक्रीडितम्

वृत्तस्थान^६ं च तान् विधाय सभवानिश्वाकुकुलचूडामणिः^७

जने धर्मनि सुस्थितान् द्विजवरान् संमानयन् प्रत्यहम् ।

स्वं मेने कृत्तिनं सुदर्^८ परिगता^९ स्थां सृष्टिमुच्चैः कृतां

पश्यन् कः सुकृती कृतार्थपदवीं नात्मानमारोपयेत् ॥२२३॥

इत्यापे^{१०} भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे

द्विजोत्पत्तौ-क्रियामन्त्रानुवर्णनं नाम चत्वारिंशत्तमं पर्व ॥४०॥



सेनापतिके बिना कुछ भी नहीं कर सकते उसी प्रकार मन्त्रोंसे रहित क्रियाएँ भी प्रयोग करने-
वाले पुरुषोंकी कुछ भी सिद्धि नहीं कर सकती ॥२१९॥ इसलिए शास्त्रोंका अभ्यास करनेवाले
द्विजोंको यह सब विधि अच्छी तरह जानकर मन्त्रोच्चारणके साथ-साथ सब क्रियाएँ विधि-
पूर्वक करनी चाहिए ॥२२०॥ इस प्रकार जिसने धर्मके द्वारा विजय प्राप्त की है, जो धार्मिक
क्रियाओंमें निपुण है और जिसे धर्म प्रिय है ऐसे भरतक्षेत्रके अधिपति महाराज भरतने राजा
लोगोंकी साक्षीपूर्वक अच्छे-अच्छे व्रत धारण करनेवाले उन उत्तम द्विजोंको अच्छी शिक्षा
देकर ब्राह्मणवर्णकी सृष्टि की अर्थात् ब्राह्मणवर्णकी स्थापना की ॥२२१॥ इस प्रकार महाराज
भरतसे जिन्हें सत्कारका योग प्राप्त हुआ है, व्रतोंके परिषयसे जिनका चारित्र्य सुन्दर और उदार
हो गया है, जो शास्त्रोंके अर्थोंको जाननेवाले हैं और श्री वृषभ जिनेन्द्रके मतानुसार धारण की
हुई बोक्षासे जो पूजित हो रहे हैं ऐसे वे ब्राह्मण संसारमें बहुत ही प्रसिद्धिको प्राप्त हुए और
खूब ही उनका आदर-सन्मान किया गया ॥२२२॥ तदनन्तर इक्ष्वाकुकुलचूडामणि महाराज
भरत जैनमार्गमें अच्छी तरह स्थित रहनेवाले उन ब्राह्मणोंको सदाचारमें स्थिर कर प्रतिदिन
उनका सन्मान करते हुए अपने आपको धन्य मानने लगे सो ठीक ही है क्योंकि आनन्दसे युक्त
तथा उत्कृष्टताको प्राप्त हुई अपनी सृष्टिको देखता हुआ ऐसा कौन पुण्यवान् पुरुष है जो अपने
आपको कृतकृत्य न माने ॥२२३॥

इस प्रकार आर्षनामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहके

भाषानुवादमें द्विजोंकी उत्पत्तिमें क्रियामन्त्रोंका वर्णन करनेवाला

यह चालीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ।

दृष्ट्वा गुरवो नित्यं प्रष्टव्याश्च हिताहितम् । महोदयया च यष्टव्याः^१ शिष्टानामिष्टमोदकम् ॥१३॥
 इत्यात्मगतमालोच्य शय्योत्संगात् परार्द्धयतः । प्रातस्तत्रां समुत्थाय कृतप्राभातिकक्रियः ॥१४॥
 ततः क्षणमिव स्थित्वा महास्थाने नृपैर्वृतः । वन्दनाभक्तये गन्तुमुद्यतोऽभूद् विशांपतिः ॥१५॥
 वृतः परिमितैरेव मौलिचक्रैरनुस्थितैः । प्रतस्थे वन्दनाहोतोर्विभूत्या परयान्वितः ॥१६॥
 ततः क्षेपार्थं^२ एवासी गत्वा सैन्यैः परिष्कृतः । सम्राट् प्राप तमुद्देशं यत्रास्ते स्म जगद्गुरुः ॥१७॥
 दूरादेव जिनास्थानभूमिं पश्यन्निर्धाम्नः । प्रणनाम चलन्मौलिघटिताञ्जलिकुङ्कुमलः ॥१८॥
 स तां प्रदक्षिणीकृत्य शक्तिभक्तिं सद्योऽचनिम् । प्रविवेश विशार्माशः कान्त्वा कक्षाः पृथग्विधाः^३ ॥१९॥
 मानस्तम्भमहाचैत्यवृक्षं मासिद्धार्थपादपान् । प्रक्षमाणी व्यसीयाय स्तूपान्श्चाचिनपूजितान् ॥२०॥
 चतुष्टयीं वनध्रेणीं ध्वजांश्च हर्म्यावलीमपि । तत्र तत्रैक्षमाणोऽसौ तां तां कक्षामलङ्घयत् ॥२१॥
 प्रतिक्रमं सुस्त्रीणां गीतैर्नृतैश्च हारिभिः । रज्यमानमनोवृत्तिस्तत्रास्यासीत् परा धृतिः ॥२२॥
 ततः प्राविशदुत्तुङ्गगोपुरद्वारवर्त्मना । गणैरधुषितां भूमिं श्रीमण्डपपरिष्कृताम् ॥२३॥
 त्रिमंखलस्य पीठस्य प्रथमां मंखलामतः । सोऽधिरुह्य परीयाय^४ धर्मचक्राणि पूजयन् ॥२४॥

दर्पणको देखकर ही मुझे स्वप्नोंके यथार्थ रहस्यका निर्णय करना उचित है और वहीं छोटे स्वप्नोंका शान्तिकर्म करना भी उचित है ॥ १२ ॥ इसके सिवाय मैंने जो ब्राह्मण लोगोंकी नवीन सृष्टि की है उसे भी भगवान्‌के चरणोंके समीप जाकर निवेदन करना चाहिए ॥ १३ ॥ फिर अच्छे पुरुषोंका यह कर्तव्य भी है कि वे प्रतिदिन गुरुओंके दर्शन करें, उनसे अपना हित-अहित पूछा करें और बड़े वैभवसे उनकी पूजा किया करें ॥ १४ ॥ इस प्रकार मनमें विचारकर महाराज भरतने बड़े सबेरे बहुमूल्य शय्यासे उठकर प्रातःकालकी समस्त क्रियाएँ कीं और फिर थोड़ी देर तक सभामें बैठकर अनेक राजाओंके साथ भगवान्‌की वन्दना की तथा भक्तिके अर्थ जानेके लिए उद्यम किया ॥ १५ ॥ जो साथ ही साथ उठकर खड़े हुए कुछ परिमित मुकुटबद्ध राजाओंमें घिरे हुए हैं और उत्कृष्ट विभूतिसे सहित हैं ऐसे महाराज भरतने वन्दनाके लिए प्रस्थान किया ॥ १६ ॥ तदनन्तर सेना सहित सम्राट् भरत शीघ्र ही वहाँ पहुँच गये जहाँ जगद्गुरु भगवान् विराजमान थे ॥ १७ ॥ दूरसे ही भगवान्‌के समवसरणकी भूमिको देखते हुए निधियोंके स्वामी भरतने नस्त्रीभूत मस्तकपर कमलकी बाँड़ीके समान जोड़े हुए दोनों हाथ रखकर नमस्कार किया ॥ १८ ॥ उन महाराजने पहले उस समवसरण भूमिके बाहरी भागकी प्रदक्षिणा दी और फिर अनेक प्रकारकी कक्षाओंका उल्लंघन कर भीतर प्रवेश किया ॥ १९ ॥ मानस्तम्भ, महाचैत्यवृक्ष, सिद्धार्थवृक्ष और पूजाकी सामग्रीसे पूजित स्तूपोंको देखते हुए उन सबका उल्लंघन करते गये ॥ २० ॥ अपने-अपने निश्चित स्थानोंपर चारों प्रकारकी वनकी पवित्रियों, ध्वजाओं और हर्म्यावलीको देखते हुए उन्होंने उन कक्षाओंका उल्लंघन किया ॥ २१ ॥ समवसरणकी प्रत्येक कक्षामें होनेवाले देवांगनाओंके मनोहर गीत और नृत्योंसे जिनके चित्तकी वृत्ति अनुरक्त हो रही है ऐसे महाराज भरतको बहुत ही संतोष हो रहा था ॥ २२ ॥ तदनन्तर बहुत ऊँचे गोपुर दरवाजोंके मार्गसे उन्होंने जहाँ गणधरदेव विराजमान थे और जो श्रीमण्डपसे सुशोभित हो रही थी ऐसी सभाभूमिमें प्रवेश किया ॥ २३ ॥ वहाँपर तीन कटनीवाले पीठकी प्रथम कटनीपर चढ़कर धर्मचक्रकी पूजा करते हुए प्रदक्षिणा दी ॥ २४ ॥ तदनन्तर चक्रवर्ती दूसरी कटनीपर महाध्वजाओंकी पूजा कर तीनों जगत्‌की लक्ष्मीको तिरस्कृत करनेवाली गन्ध-

१ यजनीयाः । २ क्षणपर्यन्तम् । ३ सहोत्थितैः । ४ अतिशयेन क्षिप्रम् । ५ प्रदेशम् । ६ सभाभूमिम् ।

७ नानाप्रकाराः । ८ -सार्धवान् ल०, म० । ९ प्रदक्षिणां चक्रे ।

मेघलायां द्वितीयस्य^१ वरिचस्यन् महाध्वजाम् । प्रापद् गन्धकुटीं चर्त्ता न्य^२ ककुनप्रिजराच्छिद्यम् ॥२५॥
 देवदानवगन्धर्वसिद्धविश्राधरं दितम् । भगवन्तमथालोक्य प्राणमद् भक्तिनिर्भरः ॥२६॥
 सन्तुष्टा सन्तुतिभिरीशानमभ्यर्च्य च यथाविधि । निषमार्दं यथास्थानं धर्माभूतपिपासितः^३ ॥२७॥
 भक्त्या प्रणमतस्वस्य भगवत्पादपङ्कजे । विशुद्धिपरिणामार्त्तं^४ भवविज्ञानमुद्वर्त्ता ॥२८॥
 पीत्वाऽथो धर्मपीयूषं परां नृत्तिमवाविशान् । स्वप्नोगतमित्युच्चैर्भगवन्तं व्यजिज्ञपद् ॥२९॥
 मया सृष्टा द्विजन्मानः श्रावकाचारखुड्बवः^५ । श्वद्गीतोपासकाध्यायसूत्रमार्गोनुगामिनः ॥३०॥
 एकाद्येकादशान्तानि^६ दत्तान्येभ्यो मया विभो । प्रतचिह्नानि सूत्राणि गुणभूमिविभागतः ॥३१॥
 विश्वस्य धर्मसर्गस्य^७ त्वयि साक्षात्प्रयेतरि । स्थिते मयातिबालिष्याद्दि^८ दमाचरितं विभो ॥३२॥
 दोषः कोऽत्र गुणः कोऽत्र किमेतन् साध्वतं^९ न वा । दोलायमानमिति मे मनः स्थापय निश्चिन्ता^{१०} ॥३३॥
 अपि चाय मया स्वप्ना निशान्ते शौडसेक्षिताः । मायोऽनिष्टफलाश्चैतं मया देवामिलक्षिताः ॥३४॥
 यथादृष्टमुपन्यस्ये^{११} तानिमान् परमेश्वरः । यथास्वं तत्फलान्यस्मत्प्रतीतिविषयं^{१२} नय ॥३५॥
 सिंहो मृगेन्द्रपोतश्च तुरगः करिभारभृत्^{१३} । लागा वृक्षलतागुरुमशुष्कपत्रोपमोगिनः^{१४} ॥३६॥
 शाखासृगा द्विपस्कन्धमारुहाः कौशिकाः^{१५} खगैः । विहितोपद्रवा ध्वाङ्गैः^{१६} प्रमथाश्च^{१७} प्रमोदिनः ॥३७॥

कुटीके पास जा पहुँचे ॥२५॥ वहाँपर भक्तिसे भरे हुए भरतने देव, दानव, गन्धर्व, सिद्ध और विद्याधर आदिके द्वारा पूज्य भगवान् वृषभदेवको देखकर उन्हें नमस्कार किया ॥२६॥ महाराज भरत उन भगवान्की अनेक स्तोत्रोंके द्वारा स्तुति कर और विधिपूर्वक पूजा कर धर्मरूप अमृतके पीनेकी इच्छा करते हुए योग्य स्थानपर जा बैठे ॥२७॥ भक्तिपूर्वक भगवान्के चरण-कमलोंकी प्रणाम करते हुए भरतके परिणाम इतने अधिक विगुह हो गये थे कि उनके उसी समय अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया ॥२८॥ तदनन्तर धर्मरूपी अमृतका पान कर वे बहुत ही सन्तुष्ट हुए और उच्च स्वरसे अपने हृदयका अभिप्राय भगवान्से इस प्रकार निवेदन करने लगे ॥२९॥ कि हे भगवन्, मैंने आपके द्वारा कहे हुए उपासकाध्याय सूत्रके मार्गपर चलनेवाले तथा श्रावकाचारमें निपुण ब्राह्मण निर्माण किये हैं अर्थात् ब्राह्मण वर्णकी स्थापना की है ॥३०॥ हे विभो, मैंने इन्हें ग्यारह प्रतिमाओके विभागसे व्रतोंके चिह्न स्वरूप एकसे लेकर ग्यारह तक यज्ञोपवीत दिये हैं ॥३१॥ हे प्रभो, समस्त धर्मरूपी सृष्टिको साक्षात् उत्पन्न करनेवाले आपके विद्यमान रहते हुए भी मैंने अपनी बड़ी मूर्खतासे यह काम किया है ॥३२॥ हे देव, इन ब्राह्मणोंकी रचनामें दोष क्या है ? गुण क्या है ? और इनकी यह रचना योग्य हुई अथवा नहीं ? इस प्रकारे झूलाके समान झूलते हुए मेरे चित्तको किसी निश्चयमें स्थिर कीजिए अर्थात् गुण, दोष, योग्य अथवा अयोग्यका निश्चय कर मेरा मन स्थिर कीजिए ॥३३॥ इसके सिवाय हे देव, आज मैंने रात्रिके अन्तिमभागमें सोलह स्वप्न देखे हैं और मुझे ऐसा जान पड़ता है कि ये स्वप्न प्रायः अनिष्ट फल देनेवाले हैं ॥३४॥ हे परमेश्वर, वे स्वप्न मैंने जिस प्रकार देखे हैं उसी प्रकार उपस्थित करता हूँ । उनका जैसा कुछ फल हो उसे मेरी प्रतीतिका विषय करा दीजिए ॥३५॥ (१) सिंह, (२) सिंहका बच्चा, (३) हाथीके भारको धारण करनेवाला ओढ़ा (४) वृक्ष, लता और झाड़ियोंके सूखे पत्ते खानेवाले बकरे, (५) हाथीके स्कन्धपर बैठे हुए

१ पूजयन् । २ अधःकृत । ३ नमस्करीति त्म । ४ निविष्टवान् । ५ पातुमिच्छामितः सन् । ६ कारणम् । ७ प्रतीताः । ८ दशानि ल०, म० । ९ सृष्टेः । १० मूर्खत्वेन । 'अज्ञे मुख्यथाजातमूर्खवैश्वेयबालिषाः' इत्यमरः । ११ युक्तम् । १२ निश्चये । १३ विज्ञापयामि । १४ ज्ञानम् । १५ करिणो भारं विभति । १६ भक्षिणः । १७ उलूकाः । १८ कर्कः । 'काके तु करटारिष्टबलिपुष्टकृत्प्रजाः । व्याङ्ग्यात्मघोषपरभृद्बलि-भुग्वायसा अपि ॥' इत्यभिधानात् । १९ भूताः ।

शुक्लमध्यं तद्वर्गं च पर्यन्तप्रचुरोदकम् । पौशुभूसरितो^१ रत्नराशिः स्वार्थं^२ भुगर्हितः^३ ॥३८॥
 तारुण्यशाली वृषभः शीतोऽंशुः परिवेषयुक् । मिथोऽङ्गीकृतसाङ्ग्यौ पुङ्गवौ सङ्गलच्छियौ ॥३९॥
 रविराशौ वपूरक्षवत्सोऽब्दैस्तिरोहितः । संशुष्कस्तत्तरच्छायो जीर्णवर्णसमुच्चयः ॥४०॥
 षोडशैतेऽथ यामिभ्यां दृष्टाः स्वप्ना विदो वर । फलविप्रतिपत्तिं^४ स तद्गतां त्वमपाकुरु ॥४१॥
 इति तत्फलविज्ञाननिपुणोऽप्यवधिषिषा । सभाजनप्रबोधार्थं पप्रच्छ निधिराट् जिनम् ॥४२॥
 "तत्प्रश्नावसिताविर्था व्याचष्टे स्म जगद्गुरुः । वचनान्मृतसंसेकैः प्रीणयन्नखिलं सत् ॥४३॥
 भगवद्विष्यवागर्थं शुश्रूषावदितं^५ तदा । ध्यानोपगमिवाभूत्तत्सदश्चित्रगतं नु वा ॥४४॥
 साधु वत्स कृतं साधु धार्मिकद्विजपूजनम् । किन्तु दोषानुषङ्गोऽयं^६ कोऽप्यस्ति स निश्चयताम् ॥४५॥
 आयुष्मन् भवता सृष्टा य एते गृहमेधिनः । ते तावदुचिताचारा यावत्कृतं युगस्यसिः ॥४६॥
 ततः 'कलियुगेऽभ्यर्णे'^७ जातिनादावलेपतः^८ । भ्रष्टाचाराः प्रपश्यन्ते^९ सम्मार्गप्रत्यनीकताम्^{१०} ॥४७॥
 तेऽमी जातिमदाविष्टा वयं लोकाधिका इति ।^{११} पुरा दुरागमैर्लोकं मोहयन्ति^{१२} भनाशया ॥४८॥
 सत्कारलाभसंबुद्धगर्वा मिथ्यामदोद्धताः । जनान् प्रतारयिष्यन्ति^{१३} स्वयमुपाय दुःश्रुतीः^{१४} ॥४९॥

वानर, (६) कौआ आदि पक्षियोंके द्वारा उपद्रव किये हुए उलूक, (७) आनन्द करते हुए भूत, (८) जिसका मध्यभाग सूखा हुआ है और किनारोंपर खूब पानी भरा हुआ है ऐसा तालाब, (९) धूलिसे बूसरित रत्नोंकी राशि, (१०) जिसकी पूजा की जा रही है ऐसा नैवेद्यको खानेवाला कुत्ता, (११) जवान बैल, (१२) मण्डलसे युक्त चन्द्रमा, (१३) जो परस्परमें मिल रहे हैं और जिनकी शोभा नष्ट हो रही है ऐसे दो बैल, (१४) जो दिशारूपी स्त्रीरत्नोंके-से बने हुए आभूषणके समान है तथा जो मेघोंसे आच्छादित हो रहा है ऐसा सूर्य, (१५) छाया रहित सूखा वृक्ष और (१६) पुराने पत्तोंका समूह । हे जानियोंमें श्रेष्ठ, आज मैंने रात्रिके समय ये सोलह स्वप्न देखे हैं । हे नाथ, इनके फलके विषयमें जो मुझे सन्देह है, उसे दूर कर दीजिए ॥३६-४१॥ अद्यपि निधियोंके अधिपति महाराज भरत अपने अवधिज्ञानके द्वारा उन स्वप्नोंका फल जाननेमें निपुण थे तथापि सभाके लोगोंको समझानेके लिए उन्होंने भगवान्से इस प्रकार पूछा था ॥४२॥ भरतका प्रश्न समाप्त होनेपर जगद्गुरु भगवान् वृषभदेव अपने वचनरूपी अमृतके सिंचनसे समस्त सभाको सन्तुष्ट करते हुए इस प्रकार व्याख्यान करने लगे ॥४३॥ उस समय भगवान्की दिव्य ध्वनिके अर्थको सुननेकी इच्छासे सावधान हुई वह सभा ऐसी जान पड़ती थी मानो ध्यानमें मग्न हो रही हो अथवा चित्रकी बनी हुई हो ॥४४॥ वे कहने लगे कि हे वत्स, तूने जो धर्मात्मा द्विजोंकी पूजा की है सो बहुत अच्छा किया है परन्तु इसमें कुछ दोष है उसे तू सुन ॥४५॥ हे आयुष्मन्, तूने जो गृहस्थोंकी रचना की है सो जबतक कृतयुग अर्थात् चतुर्थ-कालकी स्थिति रहेगी तबतक तो ये उचित आचारका पालन करते रहेंगे परन्तु जब कलियुग निकट आ जायगा तब ये जातिवादके अभिमानसे सदाचारसे भ्रष्ट होकर समीचीन मोक्ष-मार्गके विरोधी बन जायेंगे ॥४६॥ पंचम कालमें ये लोग, हम सब लोगोंमें बड़े हैं, इस प्रकार जातिके मदसे युक्त होकर केवल धनकी आशासे खोटे-खोटे शास्त्रोंके द्वारा लोगोंको मोहित करते रहेंगे ॥४७॥ सत्कारके लाभसे जिनका गर्व बढ़ रहा है और जो मिथ्या मदसे उद्धत हो रहे हैं ऐसे ये ब्राह्मण लोग स्वयं मिथ्या शास्त्रोंको बना-बनाकर लोगोंको ठगा करेंगे ॥४८॥ जिनकी चेतना पापसे दूषित हो रही है ऐसे ये मिथ्यादृष्टि लोग इतने समय

१ ईष्टपाण्डुरितः । २ चरुमुक् । ३ पूजितः । ४ संदेहम् । ५ तस्य प्रस्तावसाने । ६ अवधानपरम् । ७ योगः । ८ चतुर्थकालः । ९ पञ्चमकाले । १० समीपे सति । ११ गर्वतः । १२ यास्यन्ति । १३ प्रतिकूलताम् । १४ पञ्चम-काले । १५ 'पुरायावतोलङ्घिते' भविष्यत्यर्थे लङ् । १६ वञ्चयिष्यन्ति । १७ दुःशास्त्राणि ।

त इमे कालपर्यन्ते विक्रियां प्राप्य दुर्दशः । धर्मद्रुहो^१ भविष्यन्ति पापीपहतचेतनाः ॥५०॥
 सर्वोपधातनिरता मधुमांसाशनप्रियाः । प्रवृत्तिरक्षणं^२ धर्मं दोषयित्वन्यधार्मिकाः ॥५१॥
 अहिंसालक्षणं धर्मं दूषयित्वा दुराशयाः । चोदनालक्षणं धर्मं पोषयित्वन्यमी यतः ॥५२॥
 पापसूत्रधरा धूर्ताः प्राणिमारणतत्पराः ।^३ वत्स्यधुने प्रवर्त्यन्ति सन्मार्गपरिपन्थिनः^४ ॥५३॥
 द्विजातिसर्जनं^५ तस्मात्तत्र यद्यपि दोषकृतः । स्यादोषबीजमायत्नो^६ कुपलब्धप्रवर्तनात् ॥५४॥
 इति कालान्तरे दोषबीजमप्येतदज्ञसा । नाधुना परिहर्तव्यं धर्मसृष्ट्यनतिक्रमात् ॥५५॥
 यथाकमुपयुक्तं सत् क्वचित्कस्यापि दोषकृतः । तथाऽप्यपरिहार्यं तद् बुधैर्बहुगुणास्थया ॥५६॥
 तत्केदमपि मन्तव्यमद्यत्वे गुणवत्तया । पुंसामाशयवैषम्यात् पश्चाद् यद्यपि दोषकृतः ॥५७॥
 इदमेवं गतं हन्त यद्य ते स्वमदर्शनम् । तदप्येवमुद्युगे धर्मस्थितिहासस्य सूक्ष्मम् ॥५८॥
 ते च स्वमा द्विधाऽऽघ्राताः स्वस्थास्वस्थात्मगोचराः । समैस्तु धातुभिः स्वस्था विषमैरितो मताः ॥५९॥
 तथ्याः स्युः स्वस्य संदष्टाः मिथ्यास्वमा विपर्ययात् । जगत्प्रतीतमेतच्चि विद्धि स्वमविमर्शनम् ॥६०॥
 स्वमानं द्वैतमस्यम्यदोषवैषम्यमुद्भवम् । दोषप्रकोपजा मिथ्यातथ्याः स्युर्द्वैवमममताः ॥६१॥

तक विकारभावको अर्थात् छोटे ब्राह्मणोंकी रचना यद्यपि आज दोष उत्पन्न करनेवाली नहीं है तथापि जावेंगे ॥५३॥ इसलिये यह ब्राह्मणोंकी रचना यद्यपि आज दोष उत्पन्न करनेवाली नहीं है तथापि आगामी कालमें छोटे पाखण्ड मतोंकी प्रवृत्ति करनेसे दोषका बीजरूप है ॥५४॥ इस प्रकार यद्यपि यह ब्राह्मणोंकी सृष्टि कालान्तरमें दोषका बीजरूप है तथापि धर्म सृष्टिका उल्लंघन न हो इसलिये इस समय इसका परिहार करना भी अच्छा नहीं है ॥५५॥ जिस प्रकार खया हुआ अन्न यद्यपि कहीं किसीको दोष उत्पन्न कर देता है तथापि अनेक गुणोंकी आस्थासे विद्वान् लोग उसे छोड़ नहीं सकते उसी प्रकार यद्यपि ये पुछोंके अभिप्रायोंकी विषमतासे आगामी कालमें दोष उत्पन्न करनेवाले हो जावेंगे तथापि इस समय इन्हें गुणवान् ही मानना चाहिये ॥५६-५७॥ इस प्रकार यह तेरी ब्राह्मण रचनाका उत्तर तो हो चुका, अब तूने जो स्वप्न देखे हैं, खेद है, कि वे भी आगामी युग (पंचम काल) में धर्मकी स्थितिके ह्रासको सूचित करनेवाले हैं ॥५८॥ वे स्वप्न दो प्रकारके माने गये हैं एक अपनी स्वस्थ अवस्थामें दिखनेवाले और दूसरे अस्वस्थ अवस्थामें दिखनेवाले । जो धातुओंकी समानता रहते हुए दिखते हैं वे स्वस्थ अवस्थाके कहलाते हैं और जो धातुओंकी विषमता-न्यूनाधिकता रहते हुए दिखते हैं वे अस्वस्थ अवस्थाके कहलाते हैं ॥५९॥ स्वस्थ अवस्थामें दिखनेवाले स्वप्न सत्य होते हैं और अस्वस्थ अवस्थामें दिखनेवाले स्वप्न असत्य हुआ करते हैं इस प्रकार स्वप्नोंके फलका विचार करनेमें यह जगत्प्रसिद्ध बात है ऐसा तू समझ ॥६०॥ स्वप्नोंके और भी दो भेद हैं एक दोषसे उत्पन्न होनेवाले और दूसरे दैवसे उत्पन्न होनेवाले । उनमें दोषोंके प्रकोप-

१ धर्मघातिनः । २ चोदनालक्षणम् । ३ भावि । ४ प्राणिहृत् । ५ मृष्टिः । ६ उत्तरकाले । 'उत्तरः काल आयतिः' इत्यभिधानात् । ७ भविष्यधुमे । ८ विचारणम् ।

कल्याणाङ्गस्वमेकान्ताद् देवताधिष्ठितश्च यत्^१ । न मिथ्या तदिमे स्वप्नाः फलमेवो^२ निबोध मे^३ ॥६२॥
 दृष्टाः स्वप्ने भुगार्थीशा ये श्रयोर्विशतिप्रमाः । निस्सपत्नां विहस्येमां क्षमां क्षमाभृत्पूटमाश्रिताः^४ ॥६३॥
 तत्फलं सन्मतिं मुक्त्वा शेषतीर्थकरोदये । दुर्नयानामनुभूतिव्यापनं लक्ष्यतां स्फुटम् ॥६४॥
 पुनरेकाकिनः सिंहपीतस्थान्वक्^५ मृगोक्षणात् । मवेयुः सन्मतेस्तीर्थे सानुषङ्गाः^६ कुलिङ्गिनः ॥६५॥
 करीन्द्रमारनिभुम्पट्टस्थान्वस्य वीक्षणात् । कृत्स्नान् तपोगुणान्वोढुं भालं दुष्यमस्ताधवः ॥६६॥
 मूलोत्तरगुणेष्वस्तसङ्गराः केचनालसाः । भक्ष्यन्ते मूलतः केचित्तेषु यास्यन्ति मन्दताम् ॥६७॥
 'निध्यानादजगृथस्य शुष्कपत्रोपयोगिनः । यान्त्यसद्वृत्ततां त्यक्तसदाचाराः पुरा नराः ॥६८॥
 करीन्द्रकन्धरारुद्रशाखासृगविलोकनात् । आदिक्षत्रान्वयोच्छित्तौ क्षमां^७ पात्यश्चकुलीनकाः ॥६९॥
 काकैरलूकसंवाधदर्शनाद्भ्रमकाम्यया । मुक्त्वा जैनान्मुनीनन्यमतस्थानन्वियुज्जनाः ॥७०॥
 प्रवृत्ततां प्रभूतानां^८ भूतानामीक्षणात् प्रजाः । मजेयुर्नामकर्मक्षौर्व्यन्तरान् देवतास्थथा^९ ॥७१॥
 शुष्कमध्यतडागत्य पर्यन्तेऽम्बुस्थितीक्षणात् । प्रवृत्त्यार्यनिवासात् स्वाद्धर्मः प्रत्यन्तवासिषु^{१०} ॥७२॥
 पांसुभूत्सरस्त्रीधनिध्यानादद्विसत्तमाः । नैव प्रादुर्भविष्यन्ति मुनयः पञ्चमे युगे ॥७३॥
 शुनोऽर्चितस्य सत्कारैश्च हभाजनदर्शनान् । गुणव्याघ्रसत्कारमाप्स्यस्यव्रतिनो द्विजाः ॥७४॥

से उत्पन्न होनेवाले झूठ होते हैं और देवसे उत्पन्न होनेवाले सच्चे होते हैं ॥६१॥ हे कल्याणरूप, चूँकि तू अवश्य ही देवताओंसे अधिष्ठित है इसलिए तेरे ये स्वप्न मिथ्या नहीं हैं । तू इनका फल मुझसे समझ ॥६२॥ तूने जो स्वप्नमें इस पृथ्वीपर अकेले विहार कर पर्वतके शिखरपर चढ़े हुए तेईस सिंह देखे हैं उसका स्पष्ट फल यही समझ कि श्रीमहावीर स्वामीको छोड़कर शेष तेईस तीर्थ'करोके समयमें दुष्ट नियोंकी उत्पत्ति नहीं होगी । इस स्वप्नका फल यही बतलाता है ॥६३-६४॥ तदनन्तर दूसरे स्वप्नमें अकेले सिंहके बच्चेके पीछे चलते हुए हरिणोंका समूह देखनेसे यह प्रकट होता है कि श्री महावीर स्वामीके तीर्थमें परिग्रहको धारण करनेवाले बहुत-से कुलिङ्गी हो जायेंगे ॥६५॥ बड़े हाथीके उठाने योग्य बोझसे जिसकी पीठ झुक गयी है ऐसे घोड़ेके देखनेसे यह मालूम होता है कि पंचम कालके साधु तपश्चरणके समस्त गुणोंको धारण करनेमें समर्थ नहीं हो सकेंगे ॥६६॥ कोई मूलगुण और उत्तरगुणोंके पालन करनेकी प्रतिज्ञा लेकर उनके पालन करनेमें आलसी हो जायेंगे, कोई उन्हें मूलसे ही भंग कर देंगे और कोई उनमें मन्दता या उदासीनताको प्राप्त हो जायेंगे ॥६७॥ सूखे पत्ते खानेवाले बकरीका समूह देखनेसे यह मालूम होता है कि आगामी कालमें मनुष्य सदाचारको छोड़कर दुराचारी हो जायेंगे ॥६८॥ गजेन्द्रके कन्धेपर चढ़े हुए वानरोंके देखनेसे जान पड़ता है कि आगे चलकर प्राचीन क्षत्रिय वंश नष्ट हो जायेंगे और नीच कुलवाले पृथ्वीका पालन करेंगे ॥६९॥ कौवोंके द्वारा उलूकको त्रास दिया जाना देखनेसे प्रकट होता है कि मनुष्य धर्मकी इच्छासे जैनमुनियोंको छोड़कर अन्य मतके साधुओंके समीप जायेंगे ॥७०॥ नाचते हुए बहुत-से भूतोंके देखनेसे मालूम होता है कि प्रजाके लोग नामकर्म आदि कारणोंसे व्यन्तरोको देव समझकर उनकी उपासना करने लगेंगे ॥७१॥ जिसका मध्यभाग सूखा हुआ है ऐसे तालाबके चारों ओर पानी भरा हुआ देखनेसे प्रकट होता है कि धर्म आर्यखण्डसे हटकर प्रत्यन्तवासी-म्लेच्छ खण्डोंमें ही रह जायेगा ॥७२॥ धूलिसे मलिन हुए रत्नोंकी राशिके देखनेसे यह जान पड़ता है कि पंचम-कालमें ऋद्धिधारी उत्तम मुनि नहीं होंगे ॥७३॥ आदर-सत्कारसे जिसकी पूजा की

१ यस्मात् कारणात् । २ जानीहि । ३ मम सकाशात् । ४ -मास्थिताः ८० । ५ अनुगच्छत् । ६ सपरिग्रहाः । ७ दर्शनात् । ८ पालयिष्यन्ति । ९ भूरीणाम् । १० देवबुद्ध्या । ११ म्लेच्छदेशेषु 'प्रत्यन्तो म्लेच्छदेशः स्यात् ।'

तदणस्य वृषस्योच्चैर्नदतो विहृतीक्षणात् । तारुण्य एव श्रामण्यं स्थास्यन्ति न द्रुमान्तरे ॥७५॥
परिवेषोपरक्तस्य श्वेतमानोर्निशामनात् । नोत्पत्स्यते तपोभूत्सु समनःपर्ययोऽवधिः ॥७६॥
अन्योन्यं सह संभूय वृषयोर्ममनेक्षणात् । वरस्यन्ति मुनयः साहचर्यान्नेकविहारिणः ॥७७॥
वनावरणरुद्धस्य दर्शनादंशुमालिनः । केवलार्कोदयः प्रायो न भवेत् पञ्चमे युगे ॥७८॥
पुंसां स्त्रीणां च चारित्र्यव्युत्तिः शुष्कद्रुमेक्षणात् । महावधिरसोच्छेदो जीर्णपर्णावलोकनात् ॥७९॥
स्वप्नानेवंफलानेताद् विद्धि तूरविपाकिनः । नाद्य दोषस्ततः कोऽपि फलमेवां युगान्तरे ॥८०॥
इति स्वप्नफलान्यस्माद् बुध्वा वत्सं यथा तथा । धर्मं मतिं इह धत्स्व विश्वविष्णोपशान्तये ॥८१॥
इत्याकण्य गुरोर्वाक्यं स वर्णाश्रमपालकः । सन्देहकर्ममापायात् स प्रसन्नमधान्मनः ॥८२॥
भूयो भूयः प्रणम्येवं समापृच्छय पुनः पुनः । पुनस्तु पुनस्तु पुनस्तु पुनस्तु पुनस्तु पुनस्तु ॥८३॥
ततः प्रविश्य साकेतपुरमाकृतोरणम् । केतुमालाकुलं पौरैः सानन्दमभिनन्दिनः ॥८४॥
शान्तिक्रियामतश्चक्रे तुः स्वप्नानिदृशान्तरे । जिनामिषेकसत्पायदानाद्यैः पुण्यचेष्टितैः ॥८५॥
गोदीहैः प्लाविता धात्री पूजिताश्च महर्षयः । महादानानि दत्तानि प्रीणितः प्रणयी जनः ॥८६॥
निर्मापितास्ततो घण्टा जिनविम्बैरलङ्किताः । परार्धैरलनिर्माणाः संबद्धा हेमरज्जुभिः ॥८७॥

गयी है ऐसे कुत्तेको नैवेद्य खाते हुए देखनेसे मालूम होता है कि अंतरहित ब्राह्मण गुणी पात्रोंके समान सत्कार पायेंगे ॥७४॥ ऊँचे स्वरसे शब्द करते हुए तरुण बेलका विहार देखनेसे सूचित होता है कि लोग तरुण अवस्थामें ही मुनिपदमें ठहर सकेंगे, अन्य अवस्थामें नहीं ॥७५॥ परिमण्डलसे घिरे हुए चन्द्रमाके देखनेसे यह ज्ञान पड़ता है कि पंचमकालके मुनियोंमें अधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान नहीं होगा ॥७६॥ परस्पर मिलकर जीते हुए दो बेलोंके देखनेसे यह सूचित होता है कि पंचमकालमें मुनिजन साथ-साथ रहेंगे, अकेले विहार करनेवाले नहीं होंगे ॥७७॥ मेघोंके आवरणसे ढके हुए सूर्यके देखनेसे यह मालूम होता है कि पंचमकालमें प्रायः केवल-ज्ञानरूपी सूर्यका उदय नहीं होगा ॥७८॥ सूखा वृक्ष देखनेसे सूचित होता है कि स्त्री-पुरुषोंका चारित्र्य भ्रष्ट हो जायेगा और जीर्ण पत्तोंके देखनेसे मालूम होता है कि महाऔषधियोंका रस तृप्त हो जायेगा ॥७९॥ ऐसा फल देनेवाले इन स्वप्नोंको तु दूरविषाकी अर्थात् बहुत समय बाद फल देनेवाले समझ इसलिए इनसे इस समय कोई दोष नहीं होगा, इनका फल पंचमकालमें होगा ॥८०॥ है वत्स, इस प्रकार मुझसे इन स्वप्नोंका यथार्थ फल जानकर तू समस्त विघ्नोंकी शान्तिके लिए धर्ममें अपनी बुद्धि कर ॥८१॥ वर्णाश्रमकी रक्षा करनेवाले भरतने गुरुदेवके उपर्युक्त वचन सुनकर सन्देहरूपी कीचड़के नाश होनेसे अपना चित्त निर्मल किया ॥८२॥ वे भगवान्को बार-बार प्रणाम कर तथा बार-बार उनसे पूछकर गुरुदेवके अनुग्रहसे प्रसन्न होते हुए बड़ी कठिनाईसे वहांसे लौटे ॥८३॥ तदनन्तर नगरके लोग आनन्दके साथ जिनका अभिनन्दन कर रहे हैं ऐसे उन महाराज भरतने जिसमें जगह-जगह तोरण बाँधे गये हैं और जो पताकाओंकी पंक्तियोंसे भरा हुआ है ऐसे अयोध्या नगरमें प्रवेश कर छोटे स्वप्नोंसे होनेवाले अनिष्टकी शान्तिके लिए जिनेन्द्रदेवका अभिषेक करना, उत्तम पात्रको दान देना आदि पुण्य क्रियाओंसे शान्ति कर्म किया ॥८४-८५॥ उन्होंने गायके दूधसे पृथिवीका सिञ्चन किया, महर्षियोंकी पूजा की, बड़े-बड़े दान दिये और प्रेमीजनोंको सन्तुष्ट किया ॥८६॥ तदनन्तर उन्होंने बहुमूल्य रत्नोंसे बने हुए, सुवर्णकी रस्सियोंसे बँधे हुए और जिनेन्द्रदेवकी प्रति-

१ घ्वनतः । २ विहरण । ३ चन्द्रस्य । ४ दर्शनात् । ५ नोदेष्यति । ६ भक्षम् । ७ दूरोदयात् । ८ गोक्षीरैः ।

९ बन्धुः ।

लम्बिताश्च पुरद्वारि^१ ताश्चतुर्विंशतिप्रमाः । राजवेश्ममहाद्वारगोपुरेष्वप्यनुक्रमात् ॥८८॥
 यदा किल विनिर्याति प्रविशत्यप्यथ प्रभुः । तदा मौल्यमलमामिरस्थ स्यादर्हतां स्मृतिः ॥८९॥
 स्मृत्वा ततोऽर्हदर्शनां भक्त्या कृत्वाभिनन्दनाम् । पूजयत्यभिनिष्कामन् प्रविशंश्च स पुण्यधीः ॥९०॥
 रेजुःसूत्रेषु संप्रोक्ता घण्टास्ताः परमेष्ठिनाम् । सदर्धंघटिताष्टीका ग्रन्थानामिव पेशलाः ॥९१॥
 लोकचूडामणेरस्तस्य मौलिलगना विरेजिरे । पादच्छाया जिनस्येव घण्टास्ता लोकसंसृताः ॥९२॥
 रत्नतोरणविभ्यासे स्थापितास्ता निधीशिना । दृष्ट्वाहर्द्वन्द्वनाहेतोर्लोकोऽप्यासीत्सदादरः ॥९३॥
 पौरैर्जनैरतः स्वेषु^२ वैभक्तोरण्यदामसु । यथाविभवमावद्धा घण्टास्ता सपरिच्छदाः^३ ॥९४॥
 आदिराजकृतां सृष्टिं प्रजास्तां बहुमेजिरे । प्रत्यगारं यतोऽद्यापि लक्ष्या वन्दनमालिकाः ॥९५॥
 वन्दनार्थं कृता माला यतस्ता भरतेशिना । ततो वन्दनमालाख्यां प्राप्य रुद्धिं गताः क्षितौ ॥९६॥
 धर्मशीले महीपाले यान्ति तच्छीलतां^४ प्रजाः । अताच्छील्यमतच्छीलै^५ यथा राजा तथा प्रजाः ॥९७॥
 तदा कालानुभावेन प्रायो धर्मप्रिया नराः । साधीयः साधुवृत्तेऽस्मिन् स्वामिभ्यासन् हिते रताः ॥९८॥
 सुकालश्च सुराजा च लभं ससिद्धितं द्वयम् । ततो धर्मप्रिया जाताः प्रजास्तदनुरोधतः ॥९९॥

माओंसे सजे हुए बहुत-से घण्टे बनवाये तथा ऐसे-ऐसे चौबीस घण्टे बाहरके दरवाजेपर, राजभवन-के महाद्वारपर और गोपुर दरवाजोंपर अनुक्रमसे टेंगवा दिये ॥८७-८८॥ जब वे चक्रवर्ती उन दरवाजोंसे बाहर निकलते अथवा भीतर प्रवेश करते तब मुकुटके-अग्रभागपर लगे हुए घण्टाओंसे उन्हें चौबीस तीर्थंकरोंका स्मरण हो आता था । तदनन्तर स्मरण कर उन अरहन्तदेवकी प्रतिमाओंको वे नमस्कार करते थे इस प्रकार पुण्यरूप बुद्धिको धारण करनेवाले महाराज भरत निकलते और प्रवेश करते समय अरहन्तदेवकी पूजा करते थे ॥८९-९०॥ सूत्र अर्थात् रस्सियोंसे सम्बन्ध रखनेवाले वे परमेष्ठियोंके घण्टा ऐसे अच्छे जान पड़ते थे मानो उत्तम-उत्तम अर्थोंसे भरी हुई और सूत्र अर्थात् आगम वाक्योंसे सम्बन्ध रखनेवाली ग्रन्थोंकी सुन्दर टीकाएँ ही हों ॥९१॥ महाराज भरत स्वयं तीनों लोकोंके चूडामणि थे उनके मस्तक-पर लगे हुए वे लोकप्रिय घण्टा ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो जिनेन्द्रदेवके चरणोंकी छाया ही हो ॥९२॥ निधियोंके स्वामी भरतने अर्हन्तदेवकी वन्दनाके लिए जो घण्टा रत्नोंके तोरणोंकी रचनामें स्थापित किये थे उन्हें देखकर अन्य लोग भी उनका आदर करने लगे थे अर्थात् अपने-अपने दरवाजेके तोरणोंकी रचनामें घण्टा लगवाने लगे थे । उसी समयसे नगरवासी लोगोंने भी अपने-अपने घरकी तोरणमालाओंमें अपने-अपने वैभवके अनुसार जिनप्रतिमा आदि सामग्रीसे युक्त घण्टा बाँधे थे ॥९३-९४॥ उस समय प्रथम राजा भरतकी बनायी हुई इस सृष्टिकी प्रजाके लोगोंने बहुत माना था, यही कारण है कि आज भी प्रत्येक घरपर वन्दन मालाएँ दिखाई देती हैं ॥९५॥ चूँकि भरतेश्वरने वे मालाएँ अरहन्तदेवकी वन्दनाके लिए बनवायी थीं इसलिए ही वे वन्दनमाला नाम पाकर पृथिवीमें प्रसिद्धिको प्राप्त हुई हैं ॥९६॥ यदि राजा धर्मात्मा होता है तो प्रजा भी धर्मात्मा होती है और राजा धर्मात्मा नहीं होता है तो प्रजा भी धर्मात्मा नहीं होती है, यह नियम है कि जैसा राजा होता है वैसी ही प्रजा होती है ॥९७॥ उस समय कालके प्रभावसे प्रायः सभी लोग धर्मप्रिय थे सो ठीक ही है क्योंकि सदाचारी भरतके राजा रहते हुए सब लोग अपना हित करनेमें लगे हुए थे ॥९८॥ उस समय अच्छा राजा और अच्छी प्रजा दोनों ही एक साथ मिल गये थे इसलिए राजाके अनुरोधसे प्रजा

१ बहिर्द्वारि ल०, म०, द० । २ रत्नाविसम्पन्नार्थः । ३ तोरणमालासु । ४ जिनविभ्यादिपरिकरसहिताः । ५ धर्मशीलताम् । ६ अधर्मत्वम् । ७ अधर्मशीले सति ।

एष धर्मप्रियः सम्राट् धर्मस्थानभिनन्दति । मत्वेति निखिलो लोकस्तदा धर्मे रतिं व्यधात् ॥१००॥
 स धर्मविजयी सम्राट् सद्गुणः शुचिरुजितः । प्रकृतिष्वनुरक्तोऽस्य धर्मादरम् ॥१०१॥
 भरतोऽभिरतो धर्मे तथे तदनुजीविनः । इति तद्गुणमन्वीर्यमौलिबद्धा महीक्षितः ॥१०२॥
 सोऽयं साधितकामार्थश्चक्री चक्रानुभावतः । चक्रिणोऽपि तस्मिन् लेले धर्मेऽनुरक्तम् ॥१०३॥
 दानं पूजां च शीलं च दिने पर्वण्युपोषितम् । धर्मश्चतुर्विधः सोऽयमाज्ञातो गृहमेधिनम् ॥१०४॥
 ददौ दानमसौ सद्भ्यो मुनिभ्यो विहितादरम् । समेतो नवभिः पुण्यैः गुणैः सप्तभिरन्वितः ॥१०५॥
 सोऽथाद् विशुद्धमाहारं यथायोगं च भेषजम् । प्राणिभ्योऽभयदानं च दानस्यैतावतो गतिः ॥१०६॥
 जिनेषु भक्तिमातन्वंस्तत्पूजायां प्रति दधौ । पूज्यानां पूजनाल्लोके पूज्यत्वमिति भावयन् ॥१०७॥
 शैत्यचैत्यालयादीनां निर्माणपुरस्सरम् । स चक्र परमामिथो कल्पवृक्षपृथुप्रधानम् ॥१०८॥
 शीलानुपालने यत्नो मनस्यस्य विभोरभूत् । शीलं हि रक्षितं यत्नादात्मानमनुरक्षति ॥१०९॥
 व्रतानुपालनं शीलव्रतान्युक्तान्यगारिणाम् । स्थूलहिंसाविरम्यादिलक्षणानि च लक्षणैः ॥११०॥
 सभावनानि तान्येष यथायोगं प्रपश्यन् । प्रजानां पालकः सोऽभूद् धीरेयो गृहमेधिनम् ॥१११॥
 पर्वोपवासमास्थाय जिनागारे समाहितः । कुर्वन् सामयिकं सोऽधानुनिवृत्तं च तत्क्षणम् ॥११२॥

धर्मप्रिय हो गयी थी ॥१०९॥ यह सम्राट् स्वयं धर्मप्रिय है और धर्मात्मा लोगोंका सन्मान करता है यही मानकर उस समय लोग धर्ममें प्रीति करने लगे थे ॥११०॥ वह चक्रवर्ती धर्मविजयी था, सदाचारी था, पवित्र था और बलिष्ठ था इसलिए ही वह अपनेपर प्रेम रखनेवाली प्रजामें धार्मिक क्रियाओंका आदर करता था अर्थात् प्रजाको धार्मिक क्रियाएँ करनेका उपदेश देता था ॥१०१॥ 'भरत धर्ममें तत्पर है और हम लोग उसके सेवक हैं' यही समझकर मुकुटबद्ध राजा उनके आचरणका अनुसरण करते थे । भावार्थ—अपने राजाको धर्मात्मा जानकर आश्रित राजा भी धर्मात्मा बन गये थे ॥१०२॥ चक्रके प्रभावसे अर्थ और काम दोनों ही जिनके स्वाधीन हो रहे हैं ऐसे चक्रवर्ती भरत अर्थ और कामकी सफलता होनेपर केवल धर्ममें ही एकाग्रताको प्राप्त हो रहे थे ॥१०३॥ दान देना, पूजा करना, शील पालन करना और पर्वके दिन उपवास करना यह गृहस्थोंका चार प्रकारका धर्म माना गया है ॥१०४॥ नव प्रकारके पुण्य और सात गुणोंसे सहित भरत उत्तम मुनियोंके लिए बड़े आदरके साथ दान देते थे ॥१०५॥ वे विशुद्ध आहार, योग्यतानुसार औषधि और समस्त प्राणियोंके लिए अभय दान देते थे सो ठीक ही है क्योंकि दानकी यही तीन गति हैं ॥१०६॥ संसारमें पूज्य पुरुषोंकी पूजा करनेसे पूज्यपना स्वयं प्राप्त हो जाता है ऐसा विचार करते हुए महाराज भरत जिनेन्द्रदेवमें अपनी भक्ति बढ़ाते हुए उनकी पूजा करनेमें बहुत ही संतोष धारण करते थे ॥१०७॥ उन्होंने अनेक जिनबिम्ब और जिनमन्दिरोंकी रचना कराकर कल्पवृक्ष नामका बहुत बड़ा यज्ञ (पूजन) किया था ॥१०८॥ उनके मनमें शीलकी रक्षा करनेका प्रयत्न सदा विद्यमान रहता था सो ठीक ही है क्योंकि प्रयत्नपूर्वक रक्षा किया हुआ शील आत्माकी रक्षा करता है ॥१०९॥ व्रतोंका पालन करना शील कहलाता है और स्थूलहिंसाका त्याग करना (अहिंसाणु व्रत) आदि जो गृहस्थोंके व्रत हैं वे लक्षणोंके साथ पहले कहे जा चुके हैं ॥११०॥ उन व्रतोंकी भावनाओं सहित यथायोग्य रीतिसे पालन करते हुए प्रजापालक महाराज भरत गृहस्थोंमें मुख्य गिने जाते थे ॥१११॥ वे पर्वके दिन उपवासकी प्रतिज्ञा लेकर चित्तको स्थिर कर सामायिक करते

१ प्रजापरिवारेण । २ भरतो निरतो ल०, म० । ईशतोऽभिरतो अ०, स० । ३ अनुगच्छन्ति स्म । ४ नृपाः । ५ स्वाधीन —ल०, म०, स०, अ०, प० । ६ धर्मे अनन्यवृत्तिताम् । 'एकतान अनन्यवृत्तिः' इत्यभिधानात् । ७ उपवासः । ८ कथितः । ९ मैत्रीप्रमोदादिभावनासहितानि । १० प्रतिज्ञां कृत्वा । —भाष्याय ल०, प० । ११ सामायिककालपर्यन्तम् ।

जिनानुस्मरणे तस्य समाधानमुपेयुषः । शैथिल्याद् गात्रबन्धस्य ^१सस्तान्याभरणान्यहो ॥११३॥
 तथापि बहुचिन्तस्य धर्मचिन्ताऽभवद् दृढा । धर्मेहि चिन्तिते सर्वं चिन्त्यं स्यादनुचिन्तितम् ॥११४॥
 तस्यालिलाः क्रियारम्भा धर्मचिन्तापुरस्तराः । जाता जातमहोदकं पुण्यपाकोत्थसंपदः ॥११५॥
 प्रातरुन्मीलिताक्षः सन् सन्ध्यारागाख्या दिशः । स मेनेऽर्हत्पदाम्भोजरागेनेवानुरजिताः ॥११६॥
 प्रातरुदन्तमुद्धूतनैशान्धतमसं ^२रविम् । भगवत्कैवल्यकंस्य प्रतिबिम्बममस्त सः ॥११७॥
 प्रभातमस्तोद्धूतप्रबुद्धकमलाकरात् । हृदि सोऽधाजिनालापकलापानिव शीतलान् ॥११८॥
 धार्मिकस्यास्य कामार्थचिन्ताऽभूदानुषङ्गिका ^३ । तात्पर्यं त्वभवद्धर्मे कृत्स्नश्रेयोऽनुबन्धिनि ॥११९॥
 प्रातस्तथाय धर्मस्थैः ^४कृतधर्मानुचिन्तनः । ततोऽर्थकामसंपत्तिं सहस्रमायैर्न्यरूपयत् ^५ ॥१२०॥
 तत्पादुविधितमाश्रोऽसौ संपूज्य गुरुवैश्वतम् । कृतमङ्गलनेपथ्यो ^६धर्मासनमधिष्ठितः ॥१२१॥
 प्रजानां सदत्तद्वृत्तचिन्तनैः क्षणमासितः । तत आयुक्तकान् स्वेपु नियोगेष्वन्वशाद् विभुः ॥१२२॥
 नृपासनमधाभ्यास्य महादर्शनमध्यगः ^७ । नृपान् संमन्त्रयान् सः सेविवत्सुकाक्षक्षेणः ॥१२३॥
 काञ्चिदालोकनैः काञ्चिस्मिन्नैराभाषणैः परान् । काञ्चित्समानदानार्थैस्तर्पयामास पार्थिवान् ॥१२४॥
 हुए जिनमन्दिरमे ही रहते थे और उस समय ठीक मुनियोंका आचरण धारण करते थे ॥११२॥
 जिनेन्द्रदेवका स्मरण करनेमें वे समाधानको प्राप्त हो रहे थे — उनका चित्त स्थिर हो रहा था और
 आश्चर्य है कि शरीरके बन्धन शिथिल होनेसे उनके आभूषण भी निकल पड़े थे ॥११३॥ यद्यपि
 उन्हें बहुत पदार्थोंकी चिन्ता करनी पड़ती थी तथापि उनके धर्मकी चिन्ता अन्यन्त दृढ़ थी सो
 ठीक ही है क्योंकि धर्मकी चिन्ता करनेपर चिन्ता करने योग्य समस्त पदार्थोंका चिन्तवन अपने
 आप हो जाता है ॥११४॥ बड़े भारी फल देनेवाले पुण्यकर्मके उदयमें जिन्हें अनेक सम्पदाएँ
 प्राप्त हुई हैं ऐसे भरतकी समस्त क्रियाओंका प्रारम्भ धर्मके चिन्तवनपूर्वक ही होता था अर्थात्
 महाराज भरत समस्त कार्योंके प्रारम्भमें धर्मका चिन्तवन करते थे ॥११५॥ वे प्रातःकाल आँख
 खोलकर जब समस्त दिशाओंकी सबेरकी लालिमासे लाल लाल देखते थे तब ऐसा मानते थे मानो
 ये दिशाएँ जिनेन्द्रदेवके चरणकमलोंकी लालिमासे ही लाल-लाल हो गयी हैं ॥११६॥ जिसने
 रात्रिका गाढ़ अन्धकार नष्ट कर दिया है ऐसे सूर्यको प्रातःकालके समय उदय होता हुआ
 देखकर वे ऐसा समझकर उठते थे मानो यह भगवान्‌के केवलज्ञानका प्रतिबिम्ब ही हो ॥११७॥
 प्रातःकालकी दायुके चलनेसे खिले हुए कमलोंके समूहको वे अपने हृदयमें जिनेन्द्र भगवान्‌-
 की दिव्यध्वनिके समूहके समान शीतल समझते थे ॥११८॥ वे बहुत ही धर्मात्मा थे, उनके
 काम और अर्थकी चिन्ता गौण रहती थी तथा उनका मुख्य तात्पर्य सब प्रकारका कल्याण
 करनेवाले धर्ममें ही रहता था ॥११९॥ वे सबेर उठकर पहले धर्मात्मा पुरुषोंके साथ धर्मका
 चिन्तवन करते थे और फिर मन्त्रियोंके साथ अर्थ तथा कामरूप सम्पदाओंका विचार करते
 थे ॥१२०॥ वे शय्यासे उठते ही देव और गुरुओंकी पूजा करते थे और फिर मांगलिक वेष
 धारण कर धर्मासनपर आरुढ़ होते थे ॥१२१॥ वहाँ प्रजाके सदाचार और असदाचारका विचार
 करते हुए वे क्षण-भर ठहरते थे तदनन्तर अधिकारियोंको अपने-अपने कामपर नियुक्त करते
 थे अर्थात् अपना-अपना कार्य करनेकी आज्ञा देते थे ॥१२२॥ इसके बाद सभाभवनके बीचमें
 जाकर राजसिंहासनपर विराजमान होते तथा सेनाके लिए अवसर चाहनेवाले राजाओं-
 का सन्मान करते थे ॥ १२३ ॥ वे कितने ही राजाओंको दर्शनसे, कितनों ही को मुस्कानसे,
 १ गलितानि । २ निशासंबन्धि । ३ विकसित । ४ अमरुषा । ५ धर्मस्थैः सह । ६ विचारमकरोत् ।
 ७ मङ्गलालंकारः । ८ आसनमण्डलविशेषम् । ९ तत्परान् । १० सभादर्शन-अ०, स० । सभासदन- प०, ल०,
 म० । महद्दर्शनं येषां ते महादर्शनस्तेषां मध्यगः । सम्प्रजनमध्यवर्ती सन्नित्यर्थः ।

सत्रोपायनसंप्रथा समायासान् महत्तमान्^१ । वसोहरांश्च^२ संमान्य कृतकार्यान् व्यसर्जयत् ॥१२५॥
 कलाविदश्च नृत्यादिदर्शनैः समुपस्थितान् ।^३ पारितोषिकदानेन महता समतर्पयत् ॥१२६॥
 ततो विसर्जितास्थानः प्रोत्थाय नृपविष्टरान् । स्वेच्छाविहारमकरोद् विनोदः सुकुमारकैः^४ ॥१२७॥
 ततो मध्यदिनेऽभ्यर्णं कृतमजनसंविधिः । तनुस्थितिं स निर्घर्त्य निरविक्षत् प्रसाधनम्^५ ॥१२८॥
 श्यामरोक्षेपताम्बूलदानसंवाहनादिभिः । परिचरुष्वेत्यैनं परिवाराङ्गनाः स्वतः ॥१२९॥
 ततो भुक्तोत्तरास्थाने स्थितः कतिपयैर्नृपैः । समं^६ विदग्धमण्डलया विद्यागोष्ठीरमावयत् ॥१३०॥
 तत्र वारविलासिन्यो नृपवल्लभिकाश्च तम् । परिषदुत्पारुहताह्वयमदृक्कक्षाः ॥१३१॥
^७ तासामालापसंस्लापपरिहासकथादिभिः । सुखासिकामसौ भेजे मोगाङ्गैश्च मुहूर्तकम् ॥१३२॥
 ततस्तुर्यावशेषेऽङ्गि पर्यटन्मणिकुट्टिमे । वीक्षते स्म परो शोभामभितो राजवेदमनः ॥१३३॥
 सनर्मलचित्रं^८ कंचित् समालम्ब्यासपीठके^९ । परिक्रामञ्चितश्चेतो^{१०} रेजे सुरकुमारकम् ॥१३४॥
 रजन्यामपि यत्कृत्यमुचितं चक्रवर्तिनः । तदाश्वरम् सुखेनैव^{११} प्रियामामस्यवाहयत् ॥१३५॥
 कदाचिदुचितां^{१२} बैलां नियोग इति केवलम् । मन्त्रयामास मन्त्रजैः कृतकार्योऽपि चक्रवर्त् ॥१३६॥
 सन्त्रावायगता चिन्ता नास्यासीद् विजितक्षितेः । तन्त्र^{१३} धिस्तैव मन्त्रस्य स्वतन्त्रस्वैह मारते ॥१३७॥

कितनों ही को वार्तालापसे, कितनों ही को सम्मानसे और कितनी ही को दान आदिसे सन्तुष्ट करते थे ॥१२४॥ वे वहाँपर भेंट ले-लेकर आये हुए बड़े-बड़े पुरुषों तथा दूतोंको सम्मानित कर और उनका कार्य पूरा कर उन्हें बिदा करते थे ॥१२५॥ नृत्य आदि दिखानेके लिए आये हुए कलाओंके जाननेवाले पुरुषोंको बड़े-बड़े पारितोषिक देकर सन्तुष्ट करते थे ॥१२६॥ तदनन्तर सभा विसर्जन करते और राजसिंहासनसे उठकर कोमल क्रीड़ाओंके साथ-साथ अपनी इच्छानुसार विहार करते थे ॥१२७॥ तत्पश्चात् दोपहरका समय निकट आनेपर स्नान आदि करके भोजन करते और फिर अलंकार धारण करते थे ॥१२८॥ उस समय परिवारकी स्त्रियाँ स्वयं आकर चमर ढोलना, पान देना और पैर दाबना आदिके द्वारा उनकी सेवा करती थीं ॥१२९॥ तदनन्तर भोजनके बाद बैठने योग्य भवनमें कुछ राजाओंके साथ बैठकर चतुर लोगोंकी मण्डलीके साथ-साथ विद्याकी चर्चा करते थे ॥१३०॥ वहाँ जवानीके मदसे जिन्हें उद्विग्नता प्राप्त हो रही है ऐसी वेश्याएँ और प्रियरानियाँ आकर उन्हें चारों ओरसे घेर लेती थीं ॥१३१॥ उनके आभाषण, परस्परकी बातचीत और हास्यपूर्ण कथा आदि भोगोंके साधनोंसे वे वहाँ कुछ देर तक सुखसे बैठते थे ॥१३२॥ इसके बाद जब दिनका चौथाई भाग शेष रह जाता था तब मणियोंसे जड़ी हुई जमीनपर टहलते हुए वे चारों ओर राजमहलकी उत्तम शोभा देखते थे ॥१३३॥ कभी वे क्रीडासचिव अर्थात् क्रीडामें सहायता देनेवाले लोगोंके कन्धोंपर हाथ रखकर इधर-उधर घूमते हुए देवकुमारोंके समान सुशोभित होते थे ॥१३४॥ रातमें भी चक्रवर्तीके योग्य जो कार्य थे उन्हें करते हुए वे सुखसे रात्रि व्यतीत करते थे ॥१३५॥ यद्यपि वे चक्रवर्ती कृतकृत्य हो चुके थे अर्थात् विजय आदिका समस्त कार्य पूर्ण कर चुके थे तथापि केवल नियोग समझकर कभी-कभी उचित समयपर मन्त्रियोंके साथ सलाह करते थे ॥१३६॥ जिन्होंने

१ महत्तरान् । २ दूतान् । ३ पारितोषे भवः । ४ मुद्रुभिः । ५ मध्याह्ने । ६ अन्वभभवत् । ७ अनुलेपनम् । वस्त्र-
 माल्याभरणादि । 'आकल्पवेशो तेष्वयं प्रतिकर्म प्रसाधनम्' । ८ पादमर्दन । ९ परिचर्या चक्रिरे । १० भोज-
 नान्ते स्थानं योयास्थाने । ११ विद्वत्समूहेन । १२ मिथोभाषण । 'संलग्नो भाषणं मिथः' इत्यभिधानात् ।
 १३ सुखस्थलम् । १४ क्रीडासहाय । 'क्रीडा लीला च नर्म च' इत्यभिधानात् । १५ अंसो भुजधिर एव पीठस्त-
 स्मिन् । १६ इतस्ततः । १७ रात्रि नयति स्म । १८ उचितकालपर्यन्तम् । १९ स्वराष्ट्रचिन्ताम् । अथवा
 नास्थचिन्ताम् । 'तन्त्रः प्रधाने सिद्धान्ते सूत्रवाये परिच्छेदे' इत्यभिधानात् ।

तेन^१ षाड्गुण्यमभ्यस्तमपरिज्ञानहानये । शासतोऽस्याधिपक्षं^२ इमां कृतं^३ मध्यादिचर्चया^४ ॥१३८॥
 राजविद्याश्चतस्रोऽभूः कदाचिच्च कृतक्षणः^५ । व्याचलयौ^६ राजपुत्रेभ्यः ख्यातये स विचक्षणः ॥१३९॥
 कदाचिन्निधिरवानामकरोत्स निरोक्षणम् । भाण्डान्गारपदे तानि तस्य तन्त्रं पदेऽपि च ॥१४०॥
 कदाचिद्धर्मशास्त्रेषु याः स्युर्विप्रसिपसयः^७ । निराचकार^८ ताः कुरुताः ख्यापयन्^९ विश्वविन्मत्तम्^{१०} ॥१४१॥
 आसौपज्ञेषु तत्त्वेषु काश्चित् संजातसंशयान् । ततोऽपाकृत्य संशीतेस्तत्त्व^{११} निरणीनयन्^{१२} ॥१४२॥
 तथाऽभ्यास्यशास्त्रार्थं^{१३} कामनीतौ च पुष्कलम् । प्रावीण्यं प्रथमामास यथात्र न परः कृती^{१४} ॥१४३॥
 हस्तितन्त्रेऽश्वतन्त्रे च हष्ट्वा स्वातन्त्र्यमीशितुः । मूलतन्त्रस्य^{१५} कर्ताऽयमित्यास्था^{१६} तद्विदामभूत् ॥
 आयुर्वेदे स दीर्घायुरायुर्वेदो नु मूर्तिमान् । इति लोको निरारंभं^{१७} इलायते स्म निधीशिनम् ॥१४५॥
 सोऽर्थाती^{१८} पदविद्यायां स कृती^{१९} बागलंकृतौ^{२०} । स छन्दसां प्रतिप्लव्न्द^{२१} इत्यासीत् संमतः सताम् ॥१४६॥
 तदुपज्ञं निमित्तानि शाकुनं^{२२} तदुपकसम्^{२३} । तत्सर्गो^{२४} ज्योतिषो^{२५} ज्ञानं तन्मतं तेन^{२६} तत्त्रयम्^{२७} ॥१४७॥

समस्त पृथिवी जीत ली है और जो इस भरतक्षेत्रमें स्वतन्त्र हैं ऐसे उन भरतको अपने तथा परराष्ट्रकी कुछ भी चिन्ता थी, यदि चिन्ता नहीं थी, तो केवल तन्त्र अर्थात् स्वराष्ट्रकी ही चिन्ता थी ॥१३७॥ उन्होंने अपना अज्ञान नष्ट करनेके लिए ही छह गुणोंका अभ्यास किया था क्योंकि जब वे शत्रुरहित पृथिवीका पालन करते थे तब उन्हें सन्धि विग्रह आदिकी चर्चासि क्या प्रयोजन था ॥१३८॥ अतिशय विद्वान् महाराज भरत केवल प्रसिद्धिके लिए ही कभी-कभी बड़े उत्साहके साथ राजपुत्रोंके लिए आन्वोक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति इन चार राजविद्याओंका व्याख्यान करते थे ॥१३९॥ वे कभी-कभी निधियों और रत्नोंका भी निरोक्षण करते थे । क्योंकि निधियों और रत्नोंमें-से कुछ तो उनके भाण्डारमें थे और कुछ उनकी सेनामें थे ॥१४०॥ कभी-कभी वे सर्वज्ञदेवका मत प्रकट करते हुए धर्मशास्त्रमें जो कुछ विवाद थे उन सबका निराकरण करते थे ॥१४१॥ भगवान् अरहन्तदेवके कहे हुए तत्त्वोंमें जिन किन्हींको सन्देह उत्पन्न होता था उन्हें वे उस सन्देहसे हटाकर तत्त्वोंका यथार्थ निर्णय कराते थे ॥१४२॥ इसी प्रकार वे अर्थशास्त्रके अर्थमें और कामशास्त्रमें अपना पूर्ण चातुर्य इस तरह प्रकट करते थे कि फिर इस संसारमें उनके समान दूसरा चतुर नहीं रह जाता था ॥१४३॥ हस्तितन्त्र और अश्वतन्त्रमें महाराज भरतकी स्वतन्त्रता देखकर उन शास्त्रोंके जाननेवाले लोगोंको यही विश्वास हो जाता था कि इन सबके मूल शास्त्रोंके कर्ता यही हैं ॥१४४॥ आयुर्वेद के विषयमें तो सब लोग निधियोंके स्वामी भरतकी बिना किसी शंकाके यही प्रशंसा करते थे कि यह दीर्घायु क्या मूर्तिमान् आयुर्वेद ही है अर्थात् आयुर्वेदने ही क्या भरतका शरीर धारण किया है ॥१४५॥ इसी प्रकार सज्जन लोग यह भी मानते थे कि वे व्याकरण-विद्यामें कुशल हैं, शब्दालंकारमें निपुण हैं, और छन्दशास्त्रके प्रतिबिम्ब हैं ॥१४६॥ निमित्तशास्त्र सबसे पहले उन्हींके बनाये हुए हैं, शाकुनशास्त्र उन्हींके कहे हुए हैं और ज्योतिष शास्त्रका ज्ञान उन्हीं-

१ चक्रिणा । २ परहितम् । अलमित्यर्थः । ३ सन्धिविग्रहभावादिविचारेण । ४ आन्वोक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चतस्रो राजविद्याः । ५ कृतोत्साहः । ६-वदति स्म । ७ सैन्यस्थाने परिग्रहे बभूवुरित्यर्थः । ८ विसंवादाः । ९ निराकृतवान् । १० प्रकटीकुर्वन् । ११ सर्वज्ञमतम् । १२ संशयान् । १३ निर्णयमकारयत् । १४ नीतिशास्त्रार्थः । १५ कुशलः । १६ गजशास्त्रे । १७ मूलशास्त्रस्य । १८ इति बुद्धिः । १९ वैद्यशास्त्रे । २० निःशङ्कम् । २१ व्याकरणशास्त्रमधीतवान् । २२-कुशलः । २३ शब्दालंकारे । २४ प्रतिनिधिः । २५ तदुपज्ञनिमित्तानि ल०, म० । तेन प्रथमोक्तम् । २६ शाकुनशास्त्रम् । २७ तेन प्रथममुक्तान्तम् । २८ तस्य भरतस्य सृष्टिः । २९ ज्योतिषशास्त्रम् । ३० तेन कारणेन । ३१ निमित्तादित्रयम् ।

स निमित्तं^१ निमित्तानां^२ तन्त्रे मन्त्रे शशाकुने । वैवज्ञाने^३ परं दैवमित्यभूत्संमतोऽधिकम्^४ ॥१४८॥
 तत्संभूतौ^५ सुदभूतमभूत् पुरुषलक्षणम् । उदाहरणमन्त्रश्च लक्षितं येने तत्तज्जोः^६ ॥१४९॥
 अन्येष्वपि कलाशास्त्रसंग्रहेषु कृतागमाः^७ । तमेवादर्शं^८ मालोक्य संशयांशाद् व्यरंसिषुः^९ ॥१५०॥
 येनास्थ सहजा प्रज्ञा पूर्वजन्मानुपक्रिणा^{१०} । तेनैवा विश्वविद्यासु जाता परिणतिः परा ॥१५१॥
 इत्थं-सर्वेषु शास्त्रेषु कलासु सकलासु च । लोके स संमतिं प्राप्य तद्विद्यानां मतोऽभवत् ॥१५२॥
 किमत्र बहुनोक्तेन प्रज्ञापारमिसौ मनुः । कृत्स्नस्य लोकवृत्तस्य स भेजे सूत्रधारताम् ॥१५३॥
 राजसिद्धान्तनखजो^{११} धर्मशास्त्रार्थतत्त्ववित् । परिख्यात्वा कलाज्ञाने सोऽभून्मूर्ध्नि सुमेधसाम् ॥१५४॥
 इत्यादिराजं^{१२} तस्मिन्नाहो राजर्विनायकम्^{१३} ।^{१४} तत्सार्वभौममित्यस्य दिशासूच्यलक्षितं यशः ॥१५५॥

आदिपर्वः - अध्यायः ३९ सुविदितः सर्वे विद्वान्

मालिनी

इति^{१५} सकलकलामामेकमोकः^{१६} स चक्री
 कृतमतिभिरजयं^{१७} संगतं संविधिरसम् ।
 बुधसदसि^{१८} सदस्यान् बोधयन् विश्वविद्या
 व्यवृणुत्^{१९} बुधचक्रीस्थुच्छेलकीर्तिकेतुः^{२०} ॥१५६॥

की सृष्टि है इसलिए उक्त तीनों शास्त्र उन्हींके मत हैं ऐसा समझना चाहिए ॥१४७॥ वे निमित्त शास्त्रोंके निमित्त हैं, और तन्त्र, मन्त्र, शकुन तथा ज्योतिष शास्त्रमें उत्तम अधिष्ठाता देव हैं इस प्रकार सब लोगोंमें अधिक मान्यताकी प्राप्त हुए थे ॥१४८॥ महाराज भरतके उत्पन्न होनेपर पुरुषके सब लक्षण उत्पन्न हुए थे इसलिए दूसरी जगह उनके शरीरके उदाहरण ही देखे जाते थे ॥१४९॥ शास्त्रोंके जाननेवाले पुरुष ऊपर कहे हुए शास्त्रोंके सिवाय अन्य कला-शास्त्रोंके संग्रहमें भी भरतको ही दर्पणके समान देखकर संशयके अंशोंसे विरत होते थे अर्थात् अपने-अपने संशय दूर करते थे ॥१५०॥ चूँकि उनकी स्वाभाविक बुद्धि पूर्वजन्मसे सम्पर्क रखने-वाली थी इसलिए ही उनकी समस्त विद्याओंमें उत्तम प्रगति हुई थी ॥१५१॥ इस प्रकार समस्त शास्त्र और समस्त कलाओंमें प्रतिष्ठा पाकर वे भरत उन विद्याओंके जाननेवालोंमें मान्य हुए थे ॥१५२॥ इस विषयमें बहुत कहनेसे क्या लाभ है ? इतना कहना ही पर्याप्त है कि बुद्धिके पारंगामी कुलकर भरत समस्त लोकाचारके सूत्रधार हो रहे थे ॥१५३॥ वे राज-शास्त्रके तत्त्वोंको जानते थे, धर्मशास्त्रके जानकार थे, और कलाओंके ज्ञानमें प्रसिद्ध थे । इस प्रकार उत्तम विद्वानोंके मस्तकपर सुशोभित हो रहे थे अर्थात् सबमें श्रेष्ठ थे ॥१५४॥ अहो, इनका प्रथम राज्य कैसा आश्चर्य करनेवाला है, यह सम्राट् हैं, राजधियोंमें मुख्य हैं, इनका सार्वभौम पद-भी आश्चर्यजनक है इस प्रकार उनका यश समस्त दिशाओंमें उछल रहा था ॥१५५॥ इस प्रकार जो समस्त कलाओंका एकमात्र स्थान है, जो बुद्धिमान् पुरुषोंके साथ अविनाशी मिश्रता करना चाहता है और 'यह विद्वानोंमें चक्रवर्ती है अथवा विद्वान् चक्रवर्ती है' इस प्रकार जिसकी कीर्तिरूपी पताका फहरा रही है ऐसा वह चक्रवर्ती भरत विद्वानोंकी सभामें समस्त विद्याओंका उपदेश देता हुआ समस्त विद्याओंका व्याख्यान करता था ॥१५६॥

१ कारणम् । २ निमित्तशास्त्राणाम् । ३ ज्योतिःशास्त्रे । ४ स मतोऽधिकम् ६० । स गतोऽधिकम् ल०, म० ।
 ५ संपूर्णशास्त्रम् । ६ मुकुरम् । ७ विरमन्ति स्म । ८ कारणेन । ९ अनुसंवन्धिनी । १० नृपविद्यास्वरूपज्ञः ।
 ११ आदिराजस्य प्रथा । १२ राजर्विनायकस्य प्रथा । १३ सर्वभूमीशस्य प्रकाश । १४ मुख्यः । १५ गृहः ।
 १६ अविनाशी । १७ सदसि योग्यान् । १८ विवरणमकरोत् । १९ विवृण्वन् ।

जिनविहितमनूतं संस्मरन् धर्ममार्गं
 स्वयमधिगततत्त्वो बोधयन् मार्गमन्यान् ।
 कृतमतिरखिलां क्षमां पालयन्तिः सपत्नीं
 चिरमरमत भोगैर्भूरिसारैः स सम्राट् ॥१५७॥

शार्दूलविक्रीडितम्

लक्ष्मीवाग्वमितासमागमसुखस्यैकाधिपत्यं दधन्
 बुरोत्सारितदुर्णयः प्रशमिनीं तेजस्वितामुद्वहन् ।
 न्यायोपार्जितवित्तकामघटनः शस्त्रे च शस्त्रे कृती
 शार्दूलः पद्मोदयो जिनसेनाचार्यः समस्तः लोकावत् ॥१५८॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे
 भरतराजस्वप्नदर्शनतत्त्वस्तोपवर्णनं नाम एकचत्वारिंशत्तमं पर्व ॥४१॥



जिसने समस्त तत्त्वोंको जान लिया है और जिसकी बुद्धि परिपक्व है ऐसा सम्राट् भरत, जिनेन्द्रदेवके कहे हुए न्यूनतारहित धर्ममार्गका स्मरण करता हुआ तथा वही मार्ग अन्य लोगोंको समझाता हुआ और शत्रुरहित सम्पूर्ण पृथिवीका पालन करता हुआ सारपूर्ण भोगोंके द्वारा चिरकाल तक क्रीड़ा करता रहा था ॥१५७॥ जो लक्ष्मी और सरस्वतीके समागमसे उत्पन्न हुए सुखके एक स्वामित्वको धारण कर रहा है, जिसने सपस्न दुष्ट नय दूर हटा दिये हैं, जो शान्तियुक्त तेजस्वीपनेको धारण कर रहा है, जिसने न्यायपूर्वक कमाये हुए धनसे कामका संयोग प्राप्त किया है, जो शस्त्र और शास्त्र दोनोंमें ही निपुण है, राजर्षि है और जिसका अभ्युदय अतिशय उत्कृष्ट है ऐसा वह भरत जिनेन्द्रदेवकी सेवा करनेवालोंमें अग्रेसर अर्थात् सबसे श्रेष्ठ था ॥१५८॥

इस प्रकार आर्षभामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहके भाषानुवादमें भरतराजके स्वप्न तथा उनके फलका वर्णन करनेवाला इकतालीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ।



द्विचत्वारिंशत्तमं पर्व

^१सर्वेष्वेवमयान्तेषु निविष्टो^२ हरिविष्टरे । क्षात्रं^३ वृत्तमुपादिक्षत्संहितान्^४ पार्थिवान् प्रति ॥१॥
 श्रूयतां^५ भो महात्मानः सर्वे^६ क्षत्रियपुरुषाः । अतश्चाणे नियुक्ताः स्थ^७ यूयमाद्येन वेधसा ॥२॥
 तस्मादेव नियुक्तानां कृतं^८ धः पञ्चधोदितम् । तन्निशम्य^९ यथाज्ञायं प्रवर्तध्वं प्रजाहिते ॥३॥
 तथेदं कुलमस्यात्मप्रजानामनुपालनम् । समञ्जसत्वं चेत्थेवमुचिष्टं पञ्चभेदमाक् ॥४॥
 कुलानुपालनं तत्र कुलाम्नायानुरक्षणम् । कुलोचितसमाचारपरिरक्षणैरुक्षणम् ॥५॥
 क्षत्रियाणां कुलाम्नायः कीदृशश्चेन्निशम्यताम् । आद्येन वेधसा सृष्टः सर्गोऽयं क्षत्रपूर्वकः^{१०} ॥६॥
 स चैव भारत^{११} वर्षमवतीर्णो दिक्षोऽग्रतः । पुरा^{१२} भवे समाराध्य रत्नत्रितयमूर्जितम् ॥७॥
 द्विरष्टौ भावनास्तत्र तीर्थकृत्वीपपादिनीः । भावयित्वा शुभोदकां शुलोकाममधिष्ठतः^{१३} ॥८॥
 तेनास्मिन् भारते वर्षे धर्मतीर्थप्रवर्तने । ततः^{१४} कृतावतारेण क्षात्रसर्गः प्रवर्तितः ॥९॥
 तत्कथं कर्मभूमित्वादद्यत्वे द्वितर्या प्रजा । कर्तव्या^{१५} रक्षणीयैका प्रजान्या रक्षणोद्यता ॥१०॥
 रक्षणाभ्युद्यता येऽत्र क्षत्रियाः स्युस्तदन्वयाः । सोऽन्वयोऽनादिसंस्तया बीजवृक्षवदिष्यते ॥११॥

अथानन्तर—किसी एक दिन सभाके बीचमें सिंहासनपर बैठे हुए भरत इकट्ठे हुए राजाओंके प्रति क्षात्रधर्मका उपदेश देने लगे ॥१॥ वे कहने लगे कि हे समस्त क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ महात्माओ, आप लोगोंको आदिब्रह्मा भगवान् वृषभदेवने दुःखी प्रजाकी रक्षा करनेमें नियुक्त किया है ॥२॥ दुःखी प्रजाकी रक्षा करनेमें नियुक्त हुए आप लोगोंका धर्म पाँच प्रकारका कहा है उसे सुनकर तुम लोम शास्त्रके अनुसार प्रजाका हित करनेमें प्रवृत्त होओ ॥३॥ वह तुम्हारा धर्म कुलका पालन करना, बुद्धिका पालन करना, अपनी रक्षा करना, प्रजाकी रक्षा करना और समञ्जसपना इस प्रकार पाँच भेदवाला कहा गया है ॥४॥ उनमें-से अपने कुलाम्नायकी रक्षा करना और कुलके योग्य आचरणकी रक्षा करना कुल-पालन कहलाता है ॥५॥ अब क्षत्रियोंका कुलाम्नाय कैसा है ? सो सुनिए । आदिब्रह्मा भगवान् वृषभदेवने क्षत्रपूर्वक ही इस सृष्टिकी रचना की है अर्थात् सबसे पहले क्षत्रियवर्णकी रचना की है ॥६॥ जिन्होंने पहले भवमें अतिशय श्रेष्ठ रत्नत्रयकी आराधना कर तथा तीर्थकर पद प्राप्त करानेवाली और शुभ फल देनेवाली सोलह भावनाओंका चिन्तन कर स्वर्गलोकके सबसे ऊपर अर्थात् सर्वार्थसिद्धिमें निवास किया था वे ही भगवान् सर्वार्थसिद्धिसे आकर इस भारतवर्षमें अवतीर्ण हुए हैं ॥७-८॥ जिसमें धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति करनी है ऐसे इस भारतवर्षमें सर्वार्थसिद्धिसे अवतार लेकर उन्होंने क्षत्रियोंकी सृष्टि प्रवृत्त की है ॥९॥ वह क्षत्रियोंकी सृष्टि किस प्रकार प्रवृत्त हुई थी ? इसका समाधान यह है कि आज कर्मभूमि होनेसे प्रजा दो प्रकारकी पायी जाती है । उनमें एक प्रजा तो वह है जिसकी रक्षा करनी चाहिए और दूसरी वह है जो रक्षा करनेमें तत्पर है ॥१०॥ जो प्रजाकी रक्षा करनेमें तत्पर है उसीकी वंशपरम्पराको क्षत्रिय कहते हैं यद्यपि यह वंश अनादिकालकी सन्ततिसे बीज वृक्षके समान अनादि कालका है तथापि

१ सभामध्ये । २ निविष्टो ल०, म० । ३ क्षत्रियसंबन्धि । ४ मिलितान् । ५ सर्व-प०, ल०, म० । ६ भव प० । ७ श्रुत्वा । ८ श्रूयताम् । ९ क्षत्रशब्द । १० क्षेत्रम् । ११ पूर्वस्मिन् । १२ आश्रितः । १३ कृतावतारेण १०, स०, अ० । १४ रक्षितुं योग्या ।

विशेषतस्तु तत्सर्गः क्षेत्रकालव्यपेक्षया^१ । तेषां लसुचिताचारः प्रजायं न्यायवृत्तिता ॥१२॥
 स तु न्यायोऽनतिक्रान्त्या धर्मस्यार्थसमर्जनम् । रक्षणं धर्मनं चास्य पात्रे च विनियोजनम् ॥१३॥
 सैषा चतुष्टयी वृत्तिन्यायः सन्निरुद्धीरितः^२ । जैनधर्मानुवृत्तिश्च न्यायो लोकोत्तरो मतः ॥१४॥
 दिव्यमूर्तेरुत्पद्य जिनादुत्पादयजिनान् । रत्नत्रयं तु^३ तद्योनिर्नृपास्तस्माद्योनिजाः ॥१५॥
 ततो महान्वयोत्पन्ना नृपा लोकोत्तमा मताः । पथिस्थिताः स्वयं धर्म्यं स्थापयन्तः पराभयि ॥१६॥
 तैस्तु सर्वप्रयत्नेन कार्यं स्वान्वयरक्षणम् । तत्पालनं कथं कार्यमिति चेत्तदनुद्यते^४ ॥१७॥
 स्वयं महान्वयवत्त्वेन महिम्नि क्षत्रियाः स्थिताः । धर्मस्थया न शेषादि^५ प्राङ्गं तैः परलिङ्गिनाम् ॥१८॥
 तच्छेषादिग्रहे दोषः कश्चेन्माहात्म्यविद्युतिः । अपाया बहुवद्वास्मिन्नस्तत्परिवर्जनम् ॥१९॥
 माहात्म्यप्रद्युतिस्तावत् कृत्वाऽन्यस्य शिरोनतिम् । ततः^६ शेषाद्युपादाने स्यात्किञ्चिद्व्यवस्थितम् ॥२०॥
 प्रविषन् परपाषण्डी विषपुष्पाणि निक्षिपेत् । यद्यस्य मूर्ध्नि नन्वेवं स्यादपायो महीपतेः ॥२१॥
 वशीकरणपुष्पाणि निक्षिपेद्यदि मोहने^७ । ततोऽयं मूढवद्बुत्तिरुपेयादन्यवश्यताम् ॥२२॥
 तच्छेषाशीर्वचः^८ शान्तिवचनाद्यन्यलिङ्गिनाम्^९ । पार्थिवैः परितर्क्यं भवेन्नयक्^{१०} कुलताऽन्यथा^{११} ॥२३॥

विशेषता इतनी है कि क्षेत्र और कालकी अपेक्षासे उसकी सृष्टि होती है । तथा प्रजाके लिए न्यायपूर्वक वृत्ति रखना ही उनका योग्य आचरण है ॥११-१२॥ धर्मका उल्लंघन न कर धनका कमाना, रक्षा करना, बढ़ाना और योग्य पात्रमें दान देना ही उन क्षत्रियोंका न्याय कहलाता है ॥१३॥ इस चार प्रकारकी प्रवृत्तिको सज्जन पुरुषोंने क्षत्रियोंका न्याय कहा है तथा जैनधर्मके अनुसार प्रवृत्ति करना संसारमें सबसे उत्तम न्याय माना गया है ॥१४॥ दिव्य-मूर्तिको धारण करनेवाले श्री जिनेन्द्रदेवसे उत्पन्न होकर तीर्थंकरोंको उत्पन्न करनेवाला जो रत्नत्रय है^३ वह क्षत्रियोंकी धीनि है^४ अर्थात् क्षत्रिय पदकी प्राप्ति रत्नत्रयके प्रतापसे ही होती है । यही कारण है कि क्षत्रिय लोग अयोनिज अर्थात् बिना योनिके उत्पन्न हुए कहलाते हैं ॥१५॥ इसलिए बड़े-बड़े वंशोंमें उत्पन्न हुए राजा लोग लोकोत्तम पुरुष माने गये हैं । ये लोग स्वयं धर्ममार्गमें स्थित रहते हैं तथा अन्य लोगोंको भी स्थित रखते हैं ॥१६॥ उन क्षत्रियोंको सर्वप्रकारके प्रयत्नोंसे अपने वंशकी रक्षा करनी चाहिए । वह वंशकी रक्षा किस प्रकार करनी चाहिए यदि तुम लोग यह जानना चाहते हो तो मैं आगे कहता हूँ ॥१७॥ बड़े-बड़े वंशोंमें उत्पन्न होनेसे क्षत्रिय लोग स्वयं बड़प्पनमें स्थिर हैं इसलिए उन्हें अन्यमर्तियोंके धर्ममें श्रद्धा रखकर उनके शेषाक्षत आदि ग्रहण नहीं करना चाहिए ॥१८॥ उनके शेषाक्षत आदिके ग्रहण करनेमें क्या दोष है ? कदाचित् कोई यह कहे तो उसका उत्तर यह है कि उससे अपने महत्त्वका नाश होता है और अनेक विघ्न या अनिष्ट आते हैं इसलिए उनका परित्याग ही कर देना चाहिए ॥१९॥ अन्य मतावलम्बियोंको शिरोनति करनेसे अपने महत्त्वका नाश हो जाता है इसलिए उनके शेषाक्षत आदि लेनेसे अपनी निष्कृष्टता हो सकती है ॥२०॥ सम्भव है द्वेष करनेवाला कोई पाषण्डी राजाके शिरपर विषपुष्प रख दे तो इस प्रकार भी उसका नाश हो सकता है ॥२१॥ यह भी हो सकता है कि कोई वशीकरण करनेके लिए इसके शिरपर वशीकरण पुष्प रख दे तो फिर यह राजा पागलके समान आचरण करता हुआ दूसरोंकी वक्ष्यताको प्राप्त हो जावेगा ॥२२॥ इसलिए राजाओंको अन्यमर्तियोंके शेषाक्षत, आशीर्वाद और शान्तिवचन

१ भरतक्षेत्रावसर्पिण्डसर्पिणीकाल । २-वशाहतः ब०, ल०, म० । ३ क्षत्रियाणामुत्पत्तिस्थानम् । ४ तस्मात् कारणात् । ५ अनुकल्पते ।-दनुच्यते प०, ल०, म० । ६ शेषाक्षतस्नानोदकादिकम् । ७ अन्यलिङ्गिनः । ८ शेषादिदातुः सकाशात् । ९ मोहने निमित्ते । ११ तत् कारणात् । १२ शान्तिमन्त्रपुष्पाहवाचनादि । १३ नीचकुलता । १४ तच्छेषादिस्वीकारप्रकारेण ।

जैनास्तु पार्थिवास्तेषामर्हत्पादोपसेविनाम् । तच्छेषानुमतिर्न्याया यतः पापक्षयो भवेत् ॥२४॥
 रत्नत्रयमूर्तिस्वादादिक्षत्रियवंशजाः । जिनाः सनामयोऽमीषाम् तस्तच्छेषधारणम् ॥२५॥
 यथा हि कुलपुत्राणां मान्यं गुरुशिरोद्धृतम् । माभ्यमेवं जिनेन्द्राक्षस्पर्शमालयादिभूषितम् ॥२६॥
 कथं मुनिजनादेशं शेषोपादानमित्यपि । नाशङ्क्यं तत्सजातीयास्ते राजपरमर्षयः ॥२७॥
 क्षत्रियाश्च वृक्षस्थाः क्षत्रिया एव दीक्षिताः । यतो रत्नत्रयावत्तज्जन्मना तेऽपि तद्गुणाः ॥२८॥
 ततः स्थितमिदं जैनाभ्युदयमवस्थिताः । क्षत्रियाणां न शेषादिमदानेऽधिकृता इति ॥२९॥
 कुलानुपालने यत्नमतः कुर्वन्तु पार्थिवाः । अभ्युदयः प्रतापैरन् पुराणाभासदेशनात् ॥३०॥
 कुलानुपालनं प्रोक्तं वक्ष्ये मत्पुत्रपालनम् । मतिर्हिताहितज्ञानमात्रिकामुन्निकार्ययोः ॥३१॥
 तत्पालनं कथं स्याच्छेदविद्यापरिचर्जनात् । मिथ्याज्ञानमविद्या स्यादतस्त्वे तत्त्वभावना ॥३२॥
 आसोपशं मनेस्सर्वमासा दायावृत्तिं क्षयात् । तस्मात्तन्मतमभ्यस्यन्मनोमलमपासितुम् ॥३३॥

आदिका परित्याग कर देना चाहिए अन्यथा उनके कुलमें हीनता हो सकती है ॥२३॥ राजा लोग जैन हैं इसलिए अरहन्तदेवके चरणोंकी सेवा करनेवाले उन राजाओंको अरहन्तदेवके शेषाक्षत आदि ग्रहण करनेकी अनुमति देना न्याययुक्त ही है क्योंकि उससे उनके पापका क्षय होता है ॥२४॥ रत्नत्रयकी मूर्तिरूप होनेसे आदि क्षत्रिय श्री वृषभदेवके वंशमें उत्पन्न हुए जिनेन्द्रदेव इन राजाओंके एक ही गोत्रके भाई-बन्धु हैं इसलिए भी इन्हें उनके शेषाक्षत आदि धारण करना चाहिए । भावार्थ—रत्नत्रयकी मूर्ति होनेसे जिस प्रकार अन्य तीर्थंकर भगवान् वृषभदेवके वंशज कहलाते हैं उसी प्रकार ये राजा लोग भी रत्नत्रयकी मूर्ति होनेसे भगवान् वृषभदेवके वंशज कहलाते हैं । एक वंशमें उत्पन्न होनेसे ये सब परस्परमें एक गोत्रवाले भाई-बन्धु ठहरते हैं इसलिए राजाओंको अपने एकगोत्री जिनेन्द्रदेवके शेषाक्षत आदिका ग्रहण करना उचित ही है ॥२५॥ जिस प्रकार कुलपुत्रोंको गुरुदेवके शिरपर धारण की हुई माला मान्य होती है उसी प्रकार जिनेन्द्रदेवके चरणोंके स्पर्शसे सुशोभित हुई माला आदि भी राजाओंको मान्य होनी चाहिए ॥२६॥ कदाचित् कोई यह कहे कि राजाओंको मुनियोंसे शेषाक्षत आदि किस प्रकार ग्रहण करना चाहिए तो उनकी यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि राजर्षि और परमर्षि दोनों ही सजातीय हैं ॥२७॥ जो क्षत्रिय नहीं हैं वे भी दीक्षा लेकर यदि सम्यक्चारित्र्य धारण कर लेते हैं तो क्षत्रिय ही हो जाते हैं इसलिए रत्नत्रयके अधीन जन्म होनेसे मुनिराज भी राजाओंके समान क्षत्रिय माने जाते हैं ॥२८॥ उपर्युक्त उल्लेखसे यह बात निश्चित हो चुकी कि जैन मतसे भिन्न मतवाले लोग क्षत्रियोंको शेषाक्षत आदि देनेके अधिकारी नहीं हैं ॥२९॥ इसलिए राजा लोगोंको अपने कुलकी रक्षा करनेमें सदा यत्न करते रहना चाहिए अन्यथा अन्य मतावलम्बी लोग झूठे पुराणोंका उपदेश देकर उन्हें ठग लेंगे ॥३०॥ इस प्रकार क्षत्रियोंका कुलानुपालन (कुलके आम्नायकी रक्षा करना) नामका पहला धर्म कह चुके अब दूसरा मत्पुत्रपालन (बुद्धिकी रक्षा करना) नामका धर्म कहते हैं । इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी पदार्थोंके हित-अहितका ज्ञान होना बुद्धि कहलाती है ॥३१॥ उस बुद्धिका पालन किस प्रकार हो सकता है ? यदि यह जानना चाहो तो उसका उत्तर यह है कि अविद्याका नाश करनेसे ही उसका पालन होता है । मिथ्या ज्ञानको अविद्या कहते हैं और अतत्त्वोंमें तत्त्वबुद्धि होना मिथ्या ज्ञान कहलाता है ॥३२॥ जो अरहन्तदेवका कहा हुआ ही वही तत्त्व

राजविद्यापरिज्ञानाद्वैदिकेऽर्थे दृढा मतिः । धर्मशास्त्रपरिज्ञानात्मतिलोकद्वयाश्रिता ॥३४॥
 क्षत्रियास्तीर्थसुत्याश्च येऽभूवन् परमर्षयः । ते महादेवशब्दाभिधेया माहात्म्ययोगतः ॥३५॥
 आदिक्षत्रियवृत्तस्थाः पार्थिवा ये महाम्वयाः । महत्त्वानुगतास्तेऽपि^१ महादेवप्रार्थिताः ॥३६॥
 तदेव्यश्च महादेव्यो महामिजन^२योगतः । महद्भिः परिणीतत्वात्^३ प्रसूतेश्च महारमनाम् ॥३७॥
 इत्येषमास्थिते^४ पक्षे जैमैरन्यमताश्रयी । यदि कश्चित् प्रतिब्रूयान्मिथ्याबोधताशयः ॥३८॥
 वयमेव महादेवा जगत्तिस्तारका वयम् । नास्मदासात्^५ परोऽस्याहो मतं नास्मन्मतात्परम् ॥३९॥
 इत्यत्र ब्रूमहे जैतत्सारं^६ संसारवारिधेः । यः समुत्तरणोपायः स मार्गो जिमदेशितः ॥४०॥
 आसौऽर्हन्वातदोषावादात्समन्यास्ततोऽपरे । तेषु वागात्मभाग्यातिशयानामविभाषनार्त् ॥४१॥
 वागाद्यतिशयोपेतः सार्धः सर्वार्थरग्जिनः । स्यादासः परमेष्ठी^७ च परमात्मा समातनः ॥४२॥
 स वागतिशयो जंयो येनायं विशुरक्रमात् । वयसैकेन दिव्येन प्रीणयत्यखिलां सभाम् ॥४३॥
 तथाऽऽत्मातिशयोऽप्यस्य दोषावरणसंक्षयात् । अनन्तज्ञानदग्धीर्यसुखातिशयसंनिधिः ॥४४॥
 प्रातिहार्यमयी भूतिरुद्भूतिश्च सभाधनेः । गणाश्च द्वादशेत्येष स्वाज्ञाग्यातिशयोऽर्हतः ॥४५॥

हो सकता है और अरहन्त भी वही हो सकता है जो जानावरण दर्शनावरण मोहनीय और अन्तराय कर्मका क्षय कर चुका हो । इसलिए अपने मनका मल दूर करनेके लिए अरहन्तदेवके मतका अभ्यास करना चाहिए ॥३३॥ राजविद्याका परिज्ञान होनेसे इस लोक सम्बन्धी पदार्थोंमें बुद्धि दृढ़ हो जाती है और धर्मशास्त्रका परिज्ञान होनेसे इस लोक तथा परलोक दोनों लोक सम्बन्धी पदार्थोंमें दृढ़ हो जाती है ॥३४॥ जो क्षत्रिय तीर्थ उत्पन्न कर परमर्षि हो गये हैं वे अपने माहात्म्यके योगसे महादेव कहलाते हैं ॥३५॥ बड़े-बड़े वंशोंमें उत्पन्न हुए जो राजा लोग आदिक्षत्रिय-भगवान् वृषभदेवके चारित्र्यमें स्थिर रहते हैं वे भी माहात्म्यके योगसे महादेव इस प्रसिद्धिको प्राप्त हुए हैं ॥३६॥ ऐसे पुरुषोंकी स्त्रियाँ भी बड़े पुरुषोंके साथ सम्बन्ध होनेसे, बड़े पुरुषोंके द्वारा विवाहित होनेसे और महापुरुषोंको उत्पन्न करनेसे महादेवियाँ कहलाती हैं ॥३७॥ इस प्रकार जैनियोंके द्वारा अपना पक्ष स्थिर कर लेनेपर मिथ्यादर्शनसे जिसका हृदय नष्ट हो रहा है ऐसा कोई अन्यमतावलम्बी पुरुष यदि कहे कि हम ही महादेव हैं, संसारसे तारनेवाले भी हम ही हैं, हमारे देवके सिवाय अन्य कोई देव नहीं है और हमारे धर्मके सिवाय अन्य कोई धर्म नहीं है ॥३८-३९॥ परन्तु इस विषयमें हम यही कहते हैं कि उसका यह कहना सारपूर्ण नहीं है क्योंकि संसारसमुद्रसे तिरनेका जो उपाय है वह जिनेन्द्रदेवका कहा हुआ मार्ग ही है ॥४०॥ रागद्वेष आदि दोषोंसे रहित होनेके कारण एक अर्हन्तदेव ही आप्त हैं उनके सिवाय जो अन्य देव हैं वे सब आप्तम्मन्य हैं अर्थात् झूठमूठ ही अपनेको आप्त मानते हैं क्योंकि उनमें वाणी, आत्मा और भाग्यके अतिशयका कुछ भी निश्चय नहीं है ॥४१॥ जिनेन्द्र भगवान् वाणी आदिके अतिशयसे सहित हैं, सबका हित करनेवाले हैं, समस्त पदार्थोंको साक्षात् देखनेवाले हैं, परमेष्ठी, हैं, परमात्मा हैं और सनातन हैं इसलिए वे ही आप्त हो सकते हैं ॥४२॥ भगवान् अरहन्तदेव अपनी जिस एक दिव्य वाणीके द्वारा समस्त सभाको सन्तुष्ट करते हैं वही उनकी वाणीका अतिशय जानना चाहिए ॥४३॥ इसी प्रकार जानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्मके अत्यन्त क्षय हो जानेसे जो उनके अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त बलकी समोपता प्रकट होती है वही उनके आत्माका अतिशय है ॥४४॥ तथा आठ प्रातिहार्यरूप विभूति प्राप्त होना, समवसरणभूमिकी रचना होना

१ प्रवचनम् । २ नृगमास्तेऽपि प०, अ०, स०, इ०, ल०, म० । ३ महाकुल । ४ विवाहितत्वात् । ५ प्रतिज्ञाते । ६ अस्माकमाप्तात् । ७ न्याय्यम् । ८ अनिश्चयात् । ९ परमपदस्थः ।

तन्नेन्द्रियिकसौन्दर्यः स्नानमाख्यानुलेपनैः । विभूषणैश्च सौन्दर्यं संस्कर्तुममिलयति ॥५९॥
 दोषान्तुमलस्थानं देहमैन्द्रियिकं बहन् । पुमान्विध्वाणं भैषज्यतद्रक्षास्वाकुलो भवेत् ॥६०॥
 दोषान्पश्यैश्च जात्यादीन् वेहार्तस्तज्जिह्वासया^१ । प्रेक्षाकारी तपः कर्तुं प्रयस्यति यदा कदा ॥६१॥
 स्वीकुर्वन्निद्रियावासं^२ सुखमायुश्च तद्गतम् । आवासान्तरमन्विष्येत् प्रेक्षमाणः^३ प्रणव्वरम् ॥६२॥
 यस्त्वतीन्द्रियविज्ञानदृष्टीर्यसुखसंततिः । शरीरावाससौन्दर्यैः स्वात्मभूतैरधिष्ठितः ॥६३॥
 तस्योक्तदोषसंस्पर्शो^४ मवेन्नैव कदाचन ।^५ तद्धानासस्ततो^६ शेषः स्यादनासस्वस्तद्गुणः ॥६४॥
 स्फुटीकरणमस्यैव^७ वाक्यार्थस्याधुनोच्यते । यतोऽनाविष्कृतं तत्त्वं तत्त्वतो^८ नावबुध्यते ॥६५॥
 तस्यथाऽतीन्द्रियज्ञानः शास्त्रार्थं^९ न परं श्रेष्ठम् । शास्ता स्वयं त्रिकालशः केवलामललोचनः ॥६६॥
 तस्यऽतीन्द्रियदृष्टार्थो स्यादपूर्वार्थदर्शने । तेनादृष्टं न वै किञ्चिद्युगपद्विद्वद्वचना ॥६७॥
 आयिकानन्तवीर्यं च नान्यसाधि^{१०} समीक्षते । कृतकृत्यः स्वयं प्रासलोकाग्रशिखरालयः ॥६८॥

अत्यन्त उत्कृष्टत होता हुआ इन्द्रियोके विषयोकी तृष्णासे पराधीन सुखकी इच्छा करता है ॥५९॥ इसी प्रकार इन्द्रियोसे उत्पन्न होनेवाली सुन्दरतासे युक्त पुरुष स्नान, माला, विलेपन और आभूषण आदिसे अपनी सुन्दरताका संस्कार करना चाहता है । भावार्थ—आभूषण आदि धारण कर अपने शरीरकी सुन्दरता बढ़ाना चाहता है ॥५९॥ दोष, धातु और मलके स्थान स्वरूप इस इन्द्रिजनित शरीरको धारण करता हुआ पुरुष भोजन और औषधि आदिके द्वारा उसकी रक्षा करनेमें सदा व्याकुल रहता है ॥६०॥ जन्म मरण आदि अनेक दोषोंको देखता हुआ और शरीरसे दुःखी हुआ कोई विचारवान् पुरुष जब उसे छोड़नेकी इच्छासे तप करनेका प्रयास करता है तब वह इन्द्रियोके निवास स्वरूप शरीरको, उससे सम्बन्ध रखनेवाले सुख और आयुको भी स्वीकार करता है और अन्तमें उसे भी नष्ट होता हुआ देखकर दूसरे ऐन्द्रियिक निवासकी इच्छा करता है । भावार्थ—तपश्चरण करनेका इच्छुक पुरुष यद्यपि शरीरको हेय समझकर छोड़ना चाहता है परन्तु साधन समझकर उसे स्वीकार करता है और जबतक इष्ट-मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो जाती तबतक प्रथम शरीरके जर्जर हो जानेपर द्वितीय शरीरकी इच्छा करता रहता है ॥६१-६२॥ परन्तु जिसके अतीन्द्रिय ज्ञान, अतीन्द्रिय दर्शन, अतीन्द्रिय बल और अतीन्द्रिय सुखकी सन्तान है और जो अपने आत्मस्वरूप शरीर, आवास तथा सुन्दरता आदिसे सहित है उसके ऊपर कहे हुए दोषोंका स्पर्श कभी नहीं होता है, इसलिए जिसके अतीन्द्रिय ज्ञान, वीर्य और सुखकी सन्तान है उसे ही आप्त जानना चाहिए और जिसके उक्त गुण नहीं हैं उसे अनाप्त समझना चाहिए ॥६३-६४॥ अब आगे इसी वाक्यार्थका स्पष्टीकरण करते हैं क्योंकि जबतक किसी पदार्थका स्पष्टीकरण नहीं हो जाता है तबतक उसका ठीक-ठीक ज्ञान नहीं होता है ॥६५॥ जिसके अतीन्द्रिय ज्ञान है ऐसा पुरुष किसी दूसरे शास्त्रके अर्थका आश्रय नहीं लेता, किन्तु केवलज्ञानरूपी निर्मल नेत्रोंको धारण करनेवाला और तीनों कालोंके सब पदार्थोंको जाननेवाला वह स्वयं सबको उपदेश देता है ॥६६॥ इसी प्रकार जिसके अतीन्द्रिय दर्शन हैं ऐसा जीव कभी अपूर्व पदार्थके देखनेकी इच्छा नहीं करता क्योंकि जो एक साथ समस्त पदार्थोंको देखता है उसका न देखा हुआ कोई पदार्थ भी तो नहीं है ॥६७॥ जिसके क्षायिक अनन्तवीर्य है वह पुरुष भी किसी अन्य जीवकी सहायता नहीं चाहता किन्तु

१ आहार । २ देहरक्षणम् । ३ उत्पत्त्यादीन् । ४ शरीरपीडितः । ५ तस्यामेच्छया । ६ समीक्ष्यकारी । ७ प्रयत्नं करोति । ८ इन्द्रियमुखहेतुप्रासादिकम् । ९ विचारयन् । १० स्पर्शनम् । ११ अतीन्द्रियविज्ञानादिमान् । १२ ततः कारणात् । १३ अतीन्द्रियेत्यादिलोकद्वयार्थस्य । १४ निश्चयेन । १५ शास्त्रनिमित्तम् । १६ अन्यसहायत्वम् ।

अतीन्द्रियसुखोऽप्यात्मा स्थाद्वर्गेरुत्सुको न वै । मोक्षस्तुगता चिन्ता जायते नास्य जायते ॥६६॥

प्राप्तातीन्द्रियसौन्दर्यो नेच्छेन्नानादिसंक्रियाम् । स्नातको नित्यशुद्धात्मा बहिरन्तर्मलक्षयान् ॥६७॥

अतीन्द्रियात्मदेहश्च नाहारादीनपेक्षते । क्षुब्ध्याधिविषशस्त्रादिव्याध्यासीततनुः स वै ॥६८॥

भवेद्य न तपःशमो र्वातजातिजरामृतिः । नावासान्तरमन्त्रिच्छेदात्मवाने च सुस्थितः ॥६९॥

यद्यमन्त्रिच्छेदं विमुक्तो मुक्तोऽस्ति तद्वद्विमुक्तः । परमेश्वरं ज्योतिः परमेष्ठीनि गीयते ॥७०॥

कामरूपित्वमाप्तस्य लक्षणं चेन्न साम्प्रतम्^१ । सरागः कामरूपी श्यादकृतार्थश्च सोऽञ्जना ॥७१॥

प्रकृतिस्थेन^२ रूपेण प्राप्तुं यो^३ नालमोप्सितम्^४ । स वैकृतेन^५ रूपेण कामरूपी कथं सुखी ॥७२॥

इति पुरुषनिर्दर्शनम् ।

निगलस्थो^६ यथानेष्टं गन्तुं देशमलंतराम् । कर्मबन्धनबद्धोऽपि नेष्टं धाम^७ तथेयुषाम्^८ ॥७३॥

यथेह बन्धनान्मुक्तः परं स्वातन्त्र्यमृच्छति । कर्मबन्धनमुक्तोऽपि तथोपायं^९ न स्वतन्त्रताम् ॥७४॥

निगलस्थो विषादश्च स पूर्वकः पुमान्यथा । कर्मबद्धो विमुक्तश्च स पृथात्मा मतस्तथा ॥७५॥

इति निगलनिर्दर्शनम् ।

मुक्तेतरामनोर्व्यक्त्यै त्रयमेतन्निर्दिशितम्^{१०} । तद्दृष्टीकरणयेष्टं^{११} सत्यंसारिनिर्दर्शनम् ॥७६॥

वह स्वयं कृतकृत्य होकर लोकके अग्र शिखरपर सिद्धालयमें जा पहुँचता है ॥६८॥ इसी-प्रकार अतीन्द्रिय सुखको धारण करनेवाला पुरुष भी भोगोंसे उत्कण्ठित नहीं होता, क्योंकि उसे भोग करने योग्य वस्तुओंकी चिन्ता ही कभी नहीं होती है ॥६९॥ जिसे अतीन्द्रिय सौन्दर्य प्राप्त हुआ है वह भी कभी स्नान आदि क्रियाओंकी इच्छा नहीं करता, क्योंकि बहिरंग और अन्तरंग मलका क्षय हो जानेसे वह स्वयं स्नातक कहलाता है और उसका आत्मा निरन्तर शुद्ध रहता है ॥७०॥ इसी प्रकार जिसके अतीन्द्रिय आत्मा ही शरीर है वह आहार आदिकी अपेक्षा नहीं करता क्योंकि उसका आत्मारूप शरीर क्षुधा, व्याधि, विष और शस्त्र आदिकी बाधासे रहित होता है ॥७१॥ जिसके जन्म, जरा और मरण नष्ट हो चुके हैं वह कभी तपकी इच्छा नहीं करता तथा जो आत्मारूपी घरमें सुखसे स्थित रहता है वह कभी दूसरे आवासकी इच्छा नहीं करता ॥७२॥ इस प्रकार जो समस्त दोषोंसे रहित है, समस्त गुणोंसे सहित है, परमात्मा है और उत्कृष्ट ज्योति स्वरूप है वही परमेष्ठी कहलाता है ॥७३॥ कदाचित् आप यह कहें कि कामरूपित्व अर्थात् इच्छानुसार अनेक अवतार धारण करना आप्तका लक्षण है तो आपका यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि जो कामरूपी होता है वह अवश्य ही रागसहित तथा अकृतकृत्य होता है ॥७४॥ जो स्वाभाविक रूपसे अपना इष्ट प्राप्त करनेके लिए समर्थ नहीं है वह कामरूपी विकृत रूपसे कैसे सुखी हो सकता है ? ॥७५॥ यह पुरुषका उदाहरण कहा, अब निगलका उदाहरण कहते हैं ।

जिस प्रकार निगल अर्थात् बेड़ीमें बँधा हुआ जीव अपने इष्ट स्थानपर जानेके लिए समर्थ नहीं होता है उसी प्रकार कर्मरूप बन्धनसे बँधा हुआ जीव भी अपने इष्ट स्थानपर नहीं पहुँच सकता ॥७६॥ जिस प्रकार इस लोकमें बन्धनसे छूटा हुआ पुरुष परम स्वतन्त्रताको प्राप्त होता है उसी प्रकार कर्मबन्धनसे छूटा हुआ पुरुष भी स्वतन्त्रताको प्राप्त होता है ॥७७॥ और जिस प्रकार बेड़ीसे बँधा हुआ तथा बेड़ीसे छूटा हुआ पुरुष एक ही माना जाता है उसी प्रकार कर्मोंसे बँधा हुआ तथा कर्मोंसे छूटा हुआ पुरुष भी एक ही माना जाता है ॥७८॥ यह निगलका उदाहरण है, इस प्रकार मुक्त और संसारी आत्माओंको प्रकट करनेके लिए ये दो

१ युक्तम् । २ स्वभावस्थेन । ३ अशक्तः । ४ विकारजेन । ५ शृङ्खलाबन्धनस्यः । ६ स्वातन्त्र्यम् । ७ गच्छेत् ।

८ गच्छेत् । ९ निर्दर्शनम् ५०, ६०, ७० । १० पुष्टार्थवृद्धिकरणाय ।

यत्संसारिणमात्मानमसूरीकृत्यान्यतन्त्रताम्^१ । तस्योपदेशे मुक्तस्य स्वातन्त्र्योपनिर्देशनम् ॥८०॥
 मतः संसारिदृष्टान्तः सोऽयमाप्तोयदर्शने^२ । मुक्तात्मनां सवेदेवं^३ स्वातन्त्र्यं प्रकटीकृतम् ॥८१॥
 तद्यथा संसृता देही न स्वतन्त्रः कथंचन । कर्मबन्धवशीभावाज्जीवायन्याश्रितश्च यत्^४ ॥८२॥
 ततः परप्रधानत्वमस्यैतन्^५ प्रतिपादितम् । स्याच्चलत्वं च पुंसोऽस्य वेदनासहनादिभिः^६ ॥८३॥
 वेदनाभ्याकुलीभावश्चलत्वमिति लक्ष्यताम्^७ । क्षयवत्त्वं^८ च देवादिभवे^९ लब्धद्विगंक्षयात् ॥८४॥
 बाध्यत्वं ताडनानिष्टवचनप्राप्तिरस्य वै । अन्तवक्षास्य^{१०} विज्ञानमक्षबोधः^{११} परिक्षया^{१२} ॥८५॥
 अन्तवर्णनं चास्य स्वादेन्द्रियिकदर्शनम् । वीर्यं च तद्विधं तस्य शरीरबलमल्पकम् ॥८६॥
 स्यादस्य^{१३} सुखमप्येवमप्रायमिन्द्रियगोचरम् । रजस्वलत्वमप्यस्य स्वात्कर्मार्शः कलङ्कनम् ॥८७॥
 सवेत् कर्ममलावेशादत एव मलीमसः । छेद्यत्वं चास्य शास्त्राणां द्विधाभावेन सण्डनम् ॥८८॥
 मुद्गराद्यभिघातेन भेद्यत्वं स्याद् विदारणम् । जरावत्त्वं वयोहानिः प्राणव्यासो मृत्तिर्मता ॥८९॥
 अशेषत्वं^{१४} परिच्छिन्नदेहहृत्संश्लेषता^{१५} । गर्भप्रसोऽर्भकत्वेन जनन्युदरदुःस्थितिः ॥९०॥

उदाहरण कहे, अब उक्त कथनको दृढ़ करनेके लिए संसारी जीवोंका उदाहरण कहना चाहिए ॥७९॥ संसारी जीवोंको लेकर जो उनकी परतन्त्रताका कथन करना है उनकी उसी परतन्त्रता-के उपदेशमें मुक्त जीवोंकी स्वतन्त्रताका उदाहरण हो जाता है । भावार्थ—संसारी जीवोंकी परतन्त्रताका वर्णन करनेसे मुक्त जीवोंकी स्वतन्त्रताका वर्णन अपने आप हो जाता है क्योंकि संसारी जीवोंकी परतन्त्रताका अभाव होना ही मुक्त जीवोंकी स्वतन्त्रता है ॥८०॥ अरहन्त देवके मतमें संसारीका उदाहरण वही माना गया है कि जिसमें मुक्त जीवोंकी स्वतन्त्रता प्रकट हो सके ॥८१॥ आगे इसी उदाहरणको स्पष्ट करते हैं—संसारमें यह जीव किसी प्रकार स्वतन्त्र नहीं है क्योंकि कर्मबन्धनके वश होनेसे यह जीव अन्यके आश्रित होकर जीवित रहता है ॥८२॥ यह संसारी जीवकी परतन्त्रता बतलायी, इसी प्रकार सुख-दुःख आदिकी वेदनाओंके सहनेसे इस पुरुषमें चंचलता भी होती है ॥८३॥ सुख-दुःख आदिकी वेदनाओंसे जो व्याकुलता उत्पन्न होती है उसे चंचलता समझना चाहिए और देव आदिकी पर्यायमें प्राप्त हुई ऋद्धियोंका जो क्षय होता है उससे इस जीवके क्षयपना (नश्वरता) जानना चाहिए ॥८४॥ इस जीवको जो ताड़ना तथा अनिष्ट वचनोंकी प्राप्ति होती है वही इसकी बाध्यता है और इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान क्षय होनेवाला है इसलिए वह अन्तसहित है ॥८५॥ इसका दर्शन भी इन्द्रियोंसे उत्पन्न होता है इसलिए वह भी अन्तसहित है और इसका वीर्य भी वैसा ही है अर्थात् अन्तसहित है क्योंकि इसके शरीरका बल अत्यन्त अल्प है ॥८६॥ इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाला इसका सुख भी प्रायः ऐसा ही है तथा कर्मके अंशोंसे जो कलंकित हो रहा है वही इसका मेलापन है ॥८७॥ कर्मरूपी मलके सम्बन्धसे मलिन भी है और शरीरके दो-दो टुकड़े होनेसे इसमें छेद्यत्व अर्थात् छिन्न-भिन्न होनेकी शक्ति भी है ॥८८॥ मुद्गर आदिके प्रहारसे इसका शरीर विदीर्ण हो जाता है इसलिए इसमें भेद्यत्व भी है, जो इसकी अवस्था कम होती जाती है वही इसका बुद्धपा है, और जो प्राणोंका परित्याग होता है वह इसकी मृत्यु है ॥८९॥ यह जो परिमित

१ पराधीनत्वमिति यत् । २ परतन्त्रस्य । ३ सर्वज्ञमते । ४ एव च सति । ५ यत् कारणात् । ६ संसारिणः । ७ वेदनाभयनादिभिः । ८ लक्षणम् ६० । ९ क्षयोऽस्यास्तीति क्षयवान् तस्य भावः क्षयवत्त्वम् । १० देवाधिभवे ८० । देवाधित्वे । ११ अन्तोऽस्यास्तीति अन्तवत् । १२ इन्द्रियज्ञानम् । १३ स्वयं परिक्षयित्वादिति हेतुगमित-विशेषणमेतत् । एवमुत्तरोत्तराऽपि योज्यम् । १४ एवंविधम् । अन्तवदित्यर्थः । १५ धूलिधूसरत्वम् । १६ प्रमातु योग्यत्वम् । १७ परिमित ।

अथवा कर्मनोकर्मगर्भेऽस्य परिवर्तनम् । गर्भवासो विलीनत्वं स्याद् देहान्तरसंक्रमः ॥९१॥
 क्षुभितत्वं च संक्षोभः क्रोधाद्याविष्टचेतसः । भवेद् विविधयोगोऽस्य नानायोनिषु संक्रमः ॥९२॥
 संसारावास गुणोऽस्य चतुर्गतिविवर्तनम् । प्रतिजन्मान्यथाभावो ज्ञानादीनामपि नृता ॥९३॥
 सुखासुखं बलाहारौ देहावासौ च देहिनाम् । विवर्तन्ते तथा ज्ञानं दृक्शक्ती^१ च रजोबुधार्म् ॥९४॥
^२एवंप्रायास्तु ये गावाः संसारिषु विनश्वराः । मुक्तात्मनां न सन्त्येते भावास्तेषां ह्यनश्वराः ॥९५॥
 मुक्तात्मनां भवेद् भावः^३ स्वप्रधानरत्नसमिमम् । प्रतिलब्धाभिलाषायाश्च परद्रव्यानापेक्षणम् ॥९६॥
 वेदनाभिभवाभावादचलत्वं गम्भीरता । स्यादक्षयत्वमक्षय्यं क्षयिकातिशयोदयः ॥९७॥
 अव्याबाधत्वमस्थेष्टं जीवार्जवैर^४ शाय्यता । भवेद् अनन्तज्ञानत्वं विश्वार्थाक्रमबोधनम् ॥९८॥
 अनन्तदर्शनत्वं च विश्वतत्त्वा^५ क्रमेक्षणम् । योऽन्यैरप्रतिघातोऽस्य सा मतानन्तवीर्यता ॥९९॥
 भोगेष्वर्थेष्वनोरसुख्यमनस्तसुखता मता । नीरजस्रं भवेदस्य व्यपायः पुण्यपापयोः ॥१००॥
 निर्मलत्वं तु तस्येष्टं बहिरन्तर्मलक्ष्युतिः । स्वभावविमलोऽनादिसिद्धो नास्तीह कश्चन ॥१०१॥
 योऽस्य जीवधनाकारपरिणामो^६ मलक्षयात् । तदच्छेद्यस्वमात्मातमभेद्यत्वं च तत्कृतम् ॥१०२॥
 अक्षरत्वं च मुक्तस्य क्षरणाभावतो मतम् । अग्रमेवैवमात्मोत्थैर्गुणैरुद्धैरमेयता ॥१०३॥

शरीरमें रुका रहता है वह इसका प्रमेयपना है और जो बालक होकर माताके पेटमें दुःखसे रहता है वह इसका गर्भवास है ॥९०॥ अथवा कर्म नोकर्मरूपी गर्भमें जो इसका परिवर्तन होता रहता है इसका गर्भवास है और एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जो संक्रमण करना है वह विलीनता है ॥९१॥ क्रोध आदिसे आक्रान्त चित्तमें जो क्षोभ उत्पन्न होता है वह इसका क्षुभितपना है, और नाना योनियोंमें परिभ्रमण करना इसका विविध योग कहलाता है ॥९२॥ चारों गतियोंमें परिवर्तन करते रहना इस जीवका संसारावास कहलाता है और प्रत्येक जन्ममें ज्ञानादि गुणोंका अन्य-अन्य रूप होते रहना असिद्धता कहलाती है ॥९३॥ कर्मरूपी रजसे युक्त रहनेवाले इन संसारी जीवोंके जिस प्रकार सुख-दुःख, बल, आहार, शरीर और घर बदलते रहते हैं उसी प्रकार उनके ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य भी बदलते रहते हैं ॥९४॥ इस प्रकार संसारी जीवोंके जो विनश्वरभाव हैं वे मुक्त जीवोंके नहीं हैं, उनके सब भाव अविनश्वर हैं ॥९५॥ मुक्त जीवोंके उन भावोंमें आत्मस्वरूपकी प्राप्ति होनेसे परद्रव्यकी अपेक्षासे रहित जो सर्वश्रेष्ठ स्वतन्त्रपना है वही पहला भाव है ॥९६॥ सुख दुःख आदिकी वेदनासे होनेवाले परभावका अभाव होनेसे जो अचंचलता होती है वही उनकी गम्भीरता है और कर्मोंके क्षयसे जो अतिशयोंकी प्राप्ति होती है वही उनका अविनाशी अक्षयपना है ॥९७॥ किसी भी जीव अथवा अजीवसे इन्हें बाधा नहीं पहुँचती यही इनका अव्याबाधपना है और संसारके समस्त पदार्थोंको एक साथ जानते हैं यही इनका अनन्तज्ञानीपन है ॥९८॥ समस्त तत्त्वोंको एक साथ देखना ही इनका अनन्तदर्शनपन है और अन्य पदार्थोंके द्वारा प्रतिघातका न होना अनन्तवीर्यपना है ॥९९॥ भोग करने योग्य पदार्थोंमें उत्कण्ठा न होना अनन्तसुखपना माना जाता है और पुण्य तथा पापका अभाव हो जाना नीरजसपन कहलाता है ॥१००॥ बहिरंग और अन्तरंग मलका नाश होता ही इसका निर्मलपना कहलाता है क्योंकि इस संसारमें ऐसा कोई भी पुरुष नहीं है जो स्वभावसे ही निर्मल हो और अनादि कालसे सिद्ध हो ॥१०१॥ कर्मरूपी मलके नाश होनेसे जो जीवके प्रदेशोंका घनाकार परिणमन होता है वही इसका अच्छेद्यपना है और उसी कर्मरूपी मलके नाश होनेसे इसके अभेद्यपना माना जाता है ॥१०२॥ मुक्त जीवका

वहिरन्तर्मलापायादगर्भवसतिर्मला । कर्मनोकर्मविश्लेषात् स्यादगौरवलाघवम् ॥१०४॥
 तादवस्थं^१ गुणैरुन्ने^२ रक्षोभ्यत्वमतो भवेत् । अविलीनत्वमाप्सीयैर्गुणैरप्यवृत्तता^३ ॥१०५॥
 प्राग्देहाकारमूर्तिं च यदस्याहेयमक्षरम् । साऽमीष्टा परमा काष्ठा योगरूपत्वमात्मनः ॥१०६॥
 लोकाग्रवास^४ लोकाग्रस्थि^५ स्थितिः^६ लोकाग्रवर्धन^७ विष्णो^८ परमसिद्धता ॥१०७॥
 यः समग्रैर्गुणैरेसिर्जानादिमिरलंकृतः । किं तस्य कृतकृत्यस्य परद्रव्योपसर्पणैः ॥१०८॥
 एष संसारिदृष्टान्तो व्यतिरेकेण^९ साधयेत् । परमात्मानमात्मानं प्रभुमप्रतिशासनम् ॥१०९॥
 त्रिभिर्निर्दृशैर्नैर्मिराविकृतमहोदयः । स आसस्तन्मते धीरैरावेया मतिरात्मनः ॥११०॥
 एवं हि क्षत्रियश्रेष्ठो भवेत् दृष्टपरम्परः । मताम्स्तरेषु दौःस्थित्यं भावयन्पपत्तिभिः ॥१११॥
 दिगन्तरेभ्यो व्यावर्त्य प्रभुत्वां मतिमात्मनः । सन्मार्गे स्थापयन्नेव^{१०} कुर्यान्मत्यनुपालनम् ॥११२॥
 आत्रिकासुत्रिकापायात् परिरक्षणमात्मनः । आत्मानुपालनं नाम तद्विदानीं त्रिवृण्महे ॥११३॥
 आत्रिकापायसंरक्षा सुप्रतीतैव धीमताम् । विषमास्त्रापायानां परिरक्षणलक्षणा ॥११४॥

कभी क्षरण अर्थात् विनाश नहीं होता इसलिए इसमें अक्षरता अर्थात् अविनाशीपन है और आत्मासे उत्पन्न हुए श्रेष्ठ गुणोंसे इसका प्रमाण नहीं किया जा सकता इसलिए इसमें अप्रमेय-पना है ॥१०३॥ वहिरंग और अन्तरंग मलका नाश हो जानेसे इसका गर्भावास नहीं माना जाता है और कर्म तथा नोकर्मका नाश हो जानेसे इसमें गुरुता और लघुता भी नहीं होती है ॥१०४॥ यह आत्मासे उत्पन्न हुए प्रशंसनीय गुणोंसे अपने स्वरूपमें अवस्थित रहता है इसलिए इसमें अक्षोभ्यपना है और आत्माके गुणोंसे कभी रहित नहीं होता इसलिए अविलीनपना है ॥१०५॥ जो कभी न छूटने योग्य और कभी न नष्ट होने योग्य पहलेके शरीरके आकार इसकी मूर्ति रहती है वही इसकी परम हृद् है और वही इसकी योगरूपता है ॥१०६॥ तीनों लोकोंके शिखरपर जो इसकी सदा रहनेवाली स्थिति है वही इसका लोकाग्रवास गुण है और जो समस्त पुरुषार्थोंकी पूर्णता है वही इसकी परमसिद्धता है ॥१०७॥ इस प्रकार जो इन ज्ञान आदि समस्त गुणोंसे अलंकृत है उस कृतकृत्य हुए मुक्त जीवको अन्य द्रव्योंकी प्राप्तिसे क्या प्रयोजन है ? अर्थात् कुछ नहीं ॥१०८॥ यह संसारी जीवका दृष्टान्त व्यतिरेक रूपसे आत्माको, जिसपर किसीका शासन नहीं है और जो प्रभुरूप है ऐसा परमात्मा सिद्ध करता है । भावार्थ— इस संसारी जीवके उदाहरणसे यह सिद्ध होता है कि यह आत्मा ही परमात्मा हो जाता है ॥१०९॥ इस प्रकार इन तीन उदाहरणोंसे जिसका महोदय प्रकट हो रहा है वही आप्त है, उसी आप्तके मतमें धीर-वीर पुरुषोंको अपनी बुद्धि लगानी चाहिए ॥११०॥ इस तरह जिसने सब परम्परा देख ली है, और जो अन्य मतोंमें युक्तियोंसे दुष्टताका चिन्तन करता है वही सब क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ कहलाता है ॥१११॥ क्षत्रियको चाहिए कि वह अपनी जागृत बुद्धिको अन्य दिशाओं अर्थात् मतोंसे हटाकर समीचीन मार्गमें लगाता हुआ उसकी रक्षा करे ॥११२॥ इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी अपायोंसे आत्माकी रक्षा करना आत्माका पालन करना कहलाता है । अब आगे इसी आत्माके पालनका वर्णन करते हैं ॥११३॥ विष शस्त्र आदि अपायोंसे अपनी रक्षा करना ही जिसका लक्षण है ऐसी इस लोकसम्बन्धी अपायोंसे

१ अगुलघुत्वम् । २ स्वरूपावस्थानम् । ३ न केवलं देहादिभिः । ज्ञानादिगुणैरपि । ४ अत्यक्तता । —रूप-वृत्तता । 'अपवृत्तता' इति पाठे अपवर्तनत्वं गुणगुणीभावराहित्यम् । ५ निष्पत्तिः । परिसमाप्तिरित्यर्थः । ६ व्यतिरेकिदृष्टान्तेन । ७ एवं कृते सति । ८—नेव इ०, ल०, म० ।

तत्त आमुत्रिकापायरक्षाविधिर्नृणाम् । तदक्षयं च धर्मेण धर्मो ह्यापत्तिक्रिया ॥११५॥
 धर्मो रक्षत्यपायेभ्यो धर्मोऽभीष्टफलप्रदः । धर्मः श्रेयस्करोऽमुत्र धर्मो ह्यभिनन्द्युः ॥११६॥
 तस्माद्धर्मैकतानः सन् कुर्याद्विषयप्रतिक्रियाम् । एवं हि रक्षितोऽपायाद् भवेदात्मा भवान्तरं ॥११७॥
 शङ्कपायमिदं राज्यं त्याज्यमेव मनस्विनाम् । यत्र पुत्राः ससौदर्या^१ वैरायन्ते^२ निरन्तरम् ॥११८॥
 अपि घातं मनःखेदबहुले का सुखासिका^३ । ममसो निवृत्तिं सौख्यमुशन्तीह विचक्षणाः ॥११९॥
 राज्ये न सुखलेशोऽपि दुरन्ते दुरितावहं । सर्वतः शङ्कमानस्य प्रत्युताग्रासुखं महत् ॥१२०॥
 ततो राज्यमिदं ह्येवमपथ्यमिव भेषजम् । उपादेयं तु विद्वज्जिस्तपः पथ्यमिवाशनम् ॥१२१॥
 इति प्रागेव निर्दिष्टं^४ राज्यं भोगं त्यजेत् सुधीः । तथा त्यक्तुमशक्तोऽन्ते त्यजेद् राज्यपरिच्छदम् ॥१२२॥
 कालज्ञानिभिरादिष्टे निर्णीते स्वयमेव वा । जीवितान्ते तनुत्यागमतिं दध्यादतः सुधीः ॥१२३॥
 त्यागो हि परमो धर्मस्त्याग एव परं तपः । त्यागादिह यशोलाभः परन्नाभ्युदयो महान् ॥१२४॥
 मत्वेति तनुमाहारं राज्यं च सपरिच्छदम् । त्यजेदायतने^५ पुण्ये^६ पूजाविधिपुरस्सरम् ॥१२५॥

होनेवाली रक्षा तो विद्वान् पुरुषोंको विदित ही है । ॥११४॥ इसलिए अब परलोक सम्बन्धी अपायोंसे होनेवाली रक्षाकी विधि कहते हैं । परलोक सम्बन्धी अपायोंसे रक्षा धर्मके द्वारा ही हो सकती है क्योंकि धर्म ही ममस्त आपत्तियोंका प्रतिकार है—उनसे बचनेका उपाय है ॥११५॥ धर्म ही अपायोंसे रक्षा करता है, धर्म ही मनचाहा फल देनेवाला है, धर्म ही परलोकमें कल्याण करनेवाला है और धर्मसे ही इस लोकमें आनन्द प्राप्त होता है ॥११६॥ इसलिए धर्ममें एकचित्त होकर भविष्यत् कालमें आनेवाली विपत्तियोंका प्रतिकार करना चाहिए क्योंकि ऐसा करनेसे ही आत्माकी दूसरे भवमें विपत्तिसे रक्षा हो सकती है ॥११७॥ जिस राज्यके लिए पुत्र तथा सगे भाई आदि भी निरन्तर शत्रुता किया करते हैं और जिसमें बहुत अपाय हैं ऐसा यह राज्य बुद्धिमान् पुरुषोंको अवश्य ही छोड़ देना चाहिए ॥११८॥ एक बात यह भी है कि जिसमें मानसिक खेदकी बहुलता है ऐसे इस राज्यमें सुखपूर्वक कैसे रहा जा सकता है क्योंकि इस संसारमें पण्डितजन मनकी निराकुलताको ही सुख कहते हैं ॥११९॥ जिसका अन्त अच्छा नहीं है और जिसमें निरन्तर पाप उत्पन्न होते रहते हैं ऐसे इस राज्यमें सुखका लेश भी नहीं है बल्कि सब ओरसे शंकित रहनेवाले पुरुषको इस राज्यमें बड़ा भारी दुःख बना रहता है ॥१२०॥ इसलिए विद्वान् पुरुषोंको अपथ्य औपधिके समान इस राज्यका त्याग कर देना चाहिए और पथ्य भोजनके समान तप ग्रहण करना चाहिए ॥१२१॥ इस तरह बुद्धिमान् पुरुषको चाहिए कि वह राज्यके विषयमें पहलेसे ही विरक्त होकर भोगोपभोगका त्याग कर दे, यदि वह इस प्रकार त्याग करनेके लिए समर्थ न हो तो कमसे कम अन्त समय उसे राज्यके आढम्बरका अवश्य ही त्याग कर देना चाहिए ॥१२२॥ इसलिए यदि कालको जाननेवाला निमित्तज्ञानी अपने जीवनका अन्त समय बतला दे अथवा अपने आप ही उसका निर्णय हो जावे तो बुद्धिमान् क्षत्रियको चाहिए कि वह उस समयसे शरीर परित्यागकी बुद्धि धारण करे अर्थात् सल्लेखना धारण करनेमें बुद्धि लगावे ॥१२३॥ क्योंकि त्याग ही परम धर्म है, त्याग ही परम तप है, त्यागसे ही इस लोकमें कीर्तिकी प्राप्ति होती है और त्यागसे ही परलोकमें महान् ऐश्वर्य प्राप्त होता है ॥१२४॥ ऐसा मानकर क्षत्रियको किसी पवित्र स्थानमें रहकर पूजा आदिकी विधि करके शरीर आहार और धमर छत्र आदि उपकरणोंसे सहित राज्यका परित्याग कर देना

१ अतः अ०, स०, म०, ल० । २ एकोदरे जाता । ३ वैरं कुर्वन्ति । ४ सुखास्थता । ५ पुनः किमिति चेत् । ६ वैराभ्यपरो भूत्वा । ७ आवासे । ८ पवित्रे ।

गुरुसाक्षि तथा त्यक्तदेहाहारस्य तस्य वै । परीषहजयायत्ता सिद्धिरिष्टा महात्मनः ॥१२६॥
 ततो ध्यायेदनुप्रेक्षाः कृती जेतुं परीषहान् । दिनाऽनुप्रेक्षणेऽश्वत्तसमाधानं हि दुर्लभम् ॥१२७॥
 'प्रागभावितमेवाहं भावयामि न भावितम्' । भावयामीति भावेन भावयेत्तत्त्वभावनाम् ॥१२८॥
 समुत्सृजेदनात्मीयं शरीरादिपरिग्रहम् । आत्मीयं तु स्वसान्कुर्व्याद् रत्नत्रयमनुत्तरम् ॥१२९॥
 मनोऽव्याक्षेपरक्षार्थं^१ ध्यायन्निति स धीरधीः । प्राणान् विसर्जयेदन्ते संस्मरन् परमेष्ठिनाम् ॥१३०॥
 तथा विसर्जितप्राणः प्रणिधानपराधनः^२ । शिथिलिकृत्य कर्माणि शुभां गतिमवाप्नुते^३ ॥१३१॥
 तस्मिन्नेव भवे शक्तः कृत्वा कर्मपरिक्षयम् । सिद्धिमाप्नोत्यशक्तस्तु त्रिदिवाग्रमवाप्नुयात् ॥१३२॥
 ततश्च्युतः परिप्राप्तमानुष्यः परमं तपः । कृत्वान्ते निर्वृतिं याति निर्धूनात्त्रिवन्धनः ॥१३३॥
 क्षत्रियो यस्येनात्मजः कुर्यान्नात्मानुपालनम् । विषशस्त्रादिभिस्तस्य दुर्मूर्तिर्भुवमाक्षिणी ॥१३४॥
 दुर्मूर्तश्च दुरभ्येऽस्मिन् मवावर्ते दुरुत्तरे । पतिस्वाऽमुत्र दुःखानां दुर्गतां भाजनं भवेत् ॥१३५॥
 ततो मतिमताऽऽत्मीयविनिपातानुरक्षणे । विधेयोऽस्मिन् महायत्नो लोकद्वयहितावहे ॥१३६॥
 कृतात्मरक्षणश्चैव प्रजानामनुपालने । राजा यत्नं प्रकुर्वीत राज्ञो मौलो ह्ययं गुणः ॥१३७॥

चाहिए ॥१२५॥ इस प्रकार जिसने गुरुकी साक्षीपूर्वक शरीर और आहारका त्याग कर दिया है ऐसे महात्मा पुरुषको इष्टसिद्धि परीषहोंके विजय करनेके अधीन होती है अर्थात् जो परीषह सहन करता है उसीके इष्टकी सिद्धि होती है ॥१२६॥ इसलिए निपुण पुरुषको परीषह जीतनेके लिए अनुप्रेक्षाओंका चिन्तन करना चाहिए क्योंकि अनुप्रेक्षाओंके चिन्तन किये बिना चित्तका समाधान कठिन है ॥१२७॥ जिसका पहले कभी चिन्तन नहीं किया था ऐसे सम्यक्त्व आदिका चिन्तन करता हूँ और जिसका पहले चिन्तन किया था ऐसे मिथ्यात्व आदिका चिन्तन नहीं करता इस प्रकारके भावोंसे तत्त्वोंकी भावनाओंका चिन्तन करना चाहिए ॥१२८॥ जो आत्माके नहीं है ऐसे शरीर आदि परिग्रहका त्याग कर देना चाहिए और जो आत्माके हैं ऐसे सर्वोत्कृष्ट रत्नत्रयका ग्रहण करना चाहिए ॥१२९॥ धीर वीर बुद्धिको धारण करनेवाले पुरुषको मनकी चंचलता नष्ट करनेके लिए इस प्रकार ध्यान करते हुए और पंचपरमेष्ठियोंका स्मरण करते हुए आयुके अन्तमें प्राणत्याग करना चाहिए ॥१३०॥ जो पुरुष ध्यानमें तत्पर रहकर ऊपर लिखे अनुसार प्राणत्याग करता है वह कर्मोंको शिथिल कर शुभ गतिको प्राप्त होता है ॥१३१॥ जो समर्थ है वह उसी भवमें कर्मोंका क्षय कर मोक्षको प्राप्त होता है और जो असमर्थ है वह स्वर्गके अग्रभाग अर्थात् सर्वार्थसिद्धिको प्राप्त होता है ॥१३२॥ वह वहाँसे च्युत हो मनुष्यपर्याय प्राप्त कर और परम तपश्चरण कर आयुके अन्तमें समस्त कर्मबन्धनको नष्ट करता हुआ निर्वाणको प्राप्त होता है ॥१३३॥ आत्माका स्वरूप न जाननेवाला जो क्षत्रिय अपने आत्माकी रक्षा नहीं करता है उसकी विष, शस्त्र आदिसे अवश्य ही अपमृत्यु होती है ॥१३४॥ और अपमृत्युसे मरा हुआ प्राणी दुःखदायी तथा कठिनाईसे पार होने योग्य इस संसाररूप आवर्तमें पड़कर परलोकमें दुर्गतियोंके दुःखका पात्र होता है ॥१३५॥ इसलिए बुद्धिमान् क्षत्रियको दोनों लोकोंमें हित करनेवाले, आत्माके इस विघ्नबाधाओंसे रक्षा करनेमें महाप्रयत्न करना चाहिए ॥१३६॥ इस प्रकार जिसने आत्माकी रक्षाकी है ऐसे राजाको प्रजाका पालन करनेमें प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि यह राजाओंका मौलिक गुण है ॥१३७॥

^१ सम्प्रवृत्तादिकम् । ^२ मिथ्यात्वादिकम् । ^३ मानसबाधाया नाशार्थम् । ^४ एकाग्रतां गतः । ^५—मुपाप्नुते अ, प०, स०, इ०, ल०, म० । ^६ प्रजापालनयत्नः ।

कथं च पालनीयास्ताः प्रजाश्चेत्तत्प्रपञ्चतः^१ । पुष्टं^२ गोपालदृष्टान्तं^३ मूरीकृत्य विवृण्वहे ॥१३८॥
 गोपालको यथा यथाद् गाः संरक्षन्त्यतन्द्रितः^४ । क्षमापालश्च प्रयत्नेन तथा रक्षेज्जिताः प्रजाः ॥१३९॥
 तद्यथा यदि गौः कश्चिदपराधी^५ स्वगोकुले । तमङ्गच्छेदनाथुप्रदण्डैस्तीक्ष्णयोजयन्^६ ॥१४०॥
 पालयेन्नुरूपेण दण्डेनैव नियन्त्रयन्^७ । यथा गोपस्तथा भूपः प्रजाः स्वाः प्रतिपालयेत्^८ ॥१४१॥
 तीक्ष्णदण्डो हि नृपतिस्तीक्ष्णमुद्वेजयेत्प्रजाः । ततो विरक्तप्रकृतिं^९ जह्युरेनममः प्रजाः ॥१४२॥
 यथा गोपालको मौलं पशुवर्गं स्वगोकुले । पोषयन्नेव पुष्टः स्थाद् गोपोषं^{१०} प्राज्यगोधनः^{११} ॥१४३॥
 तथैव नृपतिमौलं^{१२} तन्मसार्षा^{१३} धमेकतः^{१४} । पोषयन्पुष्टिमाप्नोति स्वे परस्मिह्य मण्डले ॥१४४॥
 पुष्टो मौलेन तन्त्रेण यो हि पार्थिवकुञ्जरः । स जयेत् पृथिवीमेना सागरान्तामयजतः ॥१४५॥
 प्रमज्जचरणं किञ्चिद् गोत्रव्यं^{१५} चेत् प्रमादतः । गोपालस्तस्य संधानं कुर्याद् बन्धाद्युपक्रमैः ॥१४६॥
 बद्धाय च नृणाञ्चस्मै दत्त्वा दाढ्यं नियोजयेत् । उपद्रवान्तरेऽप्येवमाशु कुर्यात् प्रतिक्रियाम् ॥१४७॥
 यथा तथा नरेन्द्रोऽपि स्वबले वणितं मदम् । प्रतिकुर्याद्^{१६} मित्रवर्षाक्षियोज्यौषधसंपदा ॥१४८॥
 दवीकृतस्य चास्योद्धे^{१७} जीवनादि^{१८} प्रचिन्तयेत् । सत्येवं भृत्यवर्गोऽस्य शश्वदाप्नोति नन्दधुम्^{१९} ॥१४९॥

उस प्रजाका किस प्रकार पालन करना चाहिए यदि आप यह जानना चाहते हैं तो हम ग्वालिये-
 का सुदृढ़ उदाहरण लेकर विस्तारके साथ उसका वर्णन करते हैं ॥१३८॥ जिस प्रकार ग्वालिया
 आलस्यरहित होकर बड़े प्रयत्नसे अपनी गायोंकी रक्षा करता है उसी प्रकार राजाको बड़े
 प्रयत्नसे अपनी प्रजाकी रक्षा करनी चाहिए ॥१३९॥ आगे इसीका खुलासा करते हैं—यदि
 अपनी गायोंके समूहमें कोई गाय अपराध करती है तो वह ग्वालिया उसे अंगछेदन आदि कठोर
 दण्ड नहीं देता हुआ अनुरूप दण्डसे नियन्त्रण कर जिस प्रकार उसकी रक्षा करता है उसी प्रकार
 राजाको भी अपनी प्रजाकी रक्षा करनी चाहिए ॥१४०-१४१॥ यह निश्चय है कि कठोर
 दण्ड देनेवाला राजा अपनी प्रजाको अधिक उद्विग्न कर देता है इसलिए प्रजा ऐसे राजाको
 छोड़ देती है तथा मन्त्री आदि प्रकृतिजन भी ऐसे राजासे विरक्त हो जाते हैं ॥१४२॥ जिस
 प्रकार ग्वालिया अपनी गायोंके समूहमें मुख्य पशुओंके समूहकी रक्षा करता हुआ पुष्ट अर्थात्
 सम्पत्तिशाली होता है क्योंकि गायोंकी रक्षा करके ही यह मनुष्य विशाल गोधनका स्वामी
 हो सकता है, उसी प्रकार राजा भी अपने मुख्य वर्गकी मुख्य रूपसे रक्षा करता हुआ अपने और
 दूसरेके राज्यमें पुष्टिको प्राप्त होता है ॥१४३-१४४॥ जो श्रेष्ठ राजा अपने-अपने मुख्य बलसे
 पुष्ट होता है वह इस समुद्रान्त पृथिवीको बिना किसी यत्नके जीत लेता है ॥१४५॥ यदि
 कदाचित् प्रमादसे किसी गायका पैर टूट जाय तो ग्वालिया उसे बाँधना आदि उपायोंसे उस
 पैरको जोड़ता है, गायको बाँधकर रखता है—बैधी हुई गायके लिए घास देता है और उसके पैर-
 को मजबूत करनेमें प्रयत्न करता है तथा इसी प्रकार उन पशुओंपर अन्य उपद्रवोंके आनेपर
 भी वह शीघ्र ही उनका प्रतिकार करता है ॥१४६-१४७॥ जिस प्रकार अपने आश्रित गायों-
 की रक्षा करनेके लिए ग्वालिया प्रयत्न करता है उसी प्रकार राजाको भी चाहिए कि वह अपनी
 सेनामें घायल हुए योद्धाको उत्तम वैद्यसे औषधिरूप सम्पदा दिलाकर उसकी विपत्तिका प्रतिकार
 करे अर्थात् उसकी रक्षा करे ॥१४८॥ और वह बीर जब अच्छा हो जावे तो राजाको उसकी
 उत्तम आजीविका कर देनेका विचार करना चाहिए क्योंकि ऐसा करनेसे भृत्यवर्ग सदा

१ प्रपञ्चनम् ल०, म० । प्रपञ्चते अ०, स० । २ समृद्धम् । ३ स्वीकृत्य । ४ अनालस्यः । ५ दोषी ।
 ६ संयोजनमकुर्वन् । ७ नियमयन् । ८ उद्वेगं कुर्यात् । ९ त्यक्तानुरागप्रजापरिवारवन्तम् । १० गाः पोषयन्तीति
 गोपोषस्तम् । ११ बहुगोश्रवः । १२ बलम् । १३ एकस्मिन् स्थाने । १४ गोधनम् । १५ प्रतिकारं कुर्यात् ।
 १६ वैद्यश्रेष्ठात् । १७ अधिकम् । १८ जीवितादिकम् । १९ आनन्दम् ।

यथैव खलु गोपालो मध्यस्थिचलने गवाम् । तद्विधं स्थापयन् प्राग्वत् कुर्याद्योग्यां प्रतिक्रियाम् ॥१५०॥
 तथा नृपोऽपि मंग्रामे भृत्यमुख्यं ध्यसौ^१ सति । तत्पदे पुत्रमेवास्य आतरं वा नियोजयेत् ॥१५१॥
 यति चैवं कृतज्ञोऽयं नृप इत्यनुरक्तताम् । उपैति भृत्यवर्गोऽस्मिन् भवेच्च भुवयोधनः^२ ॥१५२॥
 यथा गवदपि गोपालः कृमिद्वे गवाङ्गणे । तद्योग्यमौषधं दत्वा करोम्यस्य प्रतिक्रियाम् ॥१५३॥
 तथैव पृथिवीपालो दुर्विधं^३ स्वानुजीविनम्^४ । विमनस्कं विदित्वैवं सौचित्यं^५ संनियोजयेत् ॥१५४॥
 विरक्तोऽप्यानुजीवी^६ स्यादलब्धोचितजीवनः^७ । प्रभोर्विमानं^८ नास्त्रैवं तस्माजैनं विरुक्षयेत्^९ ॥१५५॥
^१ तद्दीर्घं व्रणस्थानकृमिसंभवसञ्जिभम् । विदित्वा तत्प्रतीकारमाधु कुर्याद्विशां पतिः ॥१५६॥
 बहुनापि न दत्तेन सौचित्यमनुजीविनाम् । उचितान् स्वामिसन्मानाद् यथैवां जायते घृतिः ॥१५७॥
 गोपालको यथा यूधे स्वे महोक्षं^{१०} सरक्षसम् । ज्ञात्वास्य नस्यकर्मादि विदध्याद् गात्रपुष्टये ॥१५८॥
 तथा नृपोऽपि सैन्ये स्वे योद्धारं भटसत्तमम् । ज्ञात्वैनं जीवनं प्राज्यं दत्वा संमानयेत् कृती ॥१५९॥
 कृतापदानं^{११} तथोरयैः सत्कारैः प्रीणयन् प्रभुः । न मुष्यतेऽनुरक्तैः स्वैरनुजीविमिस्त्वं हम् ॥१६०॥
 यथा च गोपो गोयूथं कण्टकोपलवर्जिते । शीतातपादिशोभाभिरुज्जिते चारयन्^{१२} वने ॥१६१॥

आनन्दको प्राप्त होते रहते हैं—सन्तुष्ट^१ होते हैं ॥१५०॥ जिस प्रकार ग्वालिया योग्य स्थानसे गायोंकी हड्डियोंके विचलित हो जानेपर उस हड्डीको वहीं पैठालता हुआ उसका योग्य प्रतिकार करता है उसी प्रकार राजाको भी युद्धमें किसी मुख्य भृत्यके मर जानेपर उसके पदपर उसके पुत्र अथवा भाईको नियुक्त करना चाहिए ॥१५०-१५१॥ ऐसा करनेसे भृत्य लोग 'यह राजा बड़ा कृतज्ञ है' ऐसा मानकर उसपर अनुराग करने लगेंगे और अवसर पड़नेपर निरन्तर युद्ध करनेवाले बन जायेंगे ॥१५२॥ कदाचित् गायोंके समूहको कोई कीड़ा काट लेता है तो जिस प्रकार ग्वालिया योग्य औषधि देकर उसका प्रतिकार करता है उसी प्रकार राजाको भी चाहिए कि वह अपने सेवकको दरिद्र अथवा खेदविध्न जानकर उसके चित्तको सन्तुष्ट करे ॥१५३-१५४॥ क्योंकि जिस सेवकको उचित आजीविका प्राप्त नहीं है वह अपने स्वामीके इस प्रकारके अपमानसे विरक्त हो जायेगा इसलिये राजाको चाहिए कि वह कभी अपने सेवकको विरक्त न करे ॥१५५॥ सेवककी दरिद्रताको घावके स्थानमें कीड़े उत्पन्न होनेके समान जानकर राजाको शीघ्र ही उसका प्रतिकार करना चाहिए ॥१५६॥ सेवकोंको अपने स्वामीसे उचित सन्मान पाकर जैसा सन्तोष होता है वैसा सन्तोष बहुत धन देनेपर भी नहीं होता है ॥१५७॥ जिस प्रकार ग्वाला अपने पशुओंके झुण्डमें किसी बड़े बैलको अधिक भार धारण करनेमें समर्थ जानकर उसके शरीरकी पुष्टिके लिए नस्य कर्म आदि करता है अर्थात् उसकी नाकमें तेल डालता है और उसे खली आदि खिलाता है उसी प्रकार चतुर राजाको भी चाहिए कि वह अपनी सेनामें किसी योद्धाको अत्यन्त उत्तम जानकर उसे अच्छी आजीविका देकर सन्मानित करे ॥१५८-१५९॥ जो राजा अपना पराक्रम प्रकट करनेवाले वीर पुरुषको उसके योग्य सत्कारोंसे सन्तुष्ट रखता है उसके भृत्य उसपर सदा अनुरक्त रहते हैं और कभी भी उसका साथ नहीं छोड़ते हैं ॥१६०॥ जिस प्रकार ग्वाला अपने पशुओंके समूहको कंटि और पत्थरोंसे रहित तथा शीत और गरमी आदिकी बाधासे शून्य वनमें चराता हुआ बड़े प्रयत्नसे उसका

१ विगतप्राणे । २ नृपे । ३ योद्धा । युद्धकारोत्पथः । ४ दरिद्रम् । ५ निजभृत्यम् । ६ शोभनचित्तत्वे । ७ विरक्तो-
 ऽप्यानुजीवी । ८ जीवित । ९ अवमाननात् । १० कर्कशं न कुर्यात् । स्नेहरहितमित्यर्थः । ११ विमनस्कत्वम् ।
 १२ महान्तमनइवाहम् । १३ कृतपराक्रमम् । १४ मक्षणं चारयन् ।

पोषयन्त्यतिशयेन तथा भूपोऽप्यविलम्बे । देशोऽप्युत्तरादिभूतः ॥१६२॥
 राज्यादिपरिवर्तेषु^३ जनोऽयं पीड्यतेऽन्यथा^४ । चौरडोमरकैः^५पैरपि^६ प्रत्यन्तनाथकः ॥१६३॥
^७प्रमत्तश्च तथाभूतान् वृत्तिच्छेदेन योजयेत् । कण्टकोद्धरणेनैव प्रजानां श्रेयधारणम् ॥१६४॥
 यथैव गोपः संजालं वर्त्म मात्रासहामुकम्^८(नुगम्) । दिनमेकमवस्थाप्य ततोऽप्येयुर्द्वार्वर्धीः ॥१६५॥
 विधाय चरणे तस्य^९ शनैर्वन्धनसंक्षिपिम् । नाभिनालं पुनर्गर्भनाले^{१०}नापाम्य यत्नतः ॥१६६॥
 जन्तुसंभवशङ्कायां प्रतीकारं विधाय च । श्रीरोपयोगदानार्थैर्वर्त्येन प्रतिवात्यम् ॥१६७॥
 भूपोऽप्येवमुपायजं वृत्तये^{११} स्वमुपासितुम्^{१२} । यथाऽनुरूपैः संमार्तैः^{१३}स्वाकुर्यान्नुर्जाविनम् ॥१६८॥
 स्वीकृतस्य च तत्सोद्वर्जनावनादिप्रचिन्तया । योगक्षेमं प्रयुज्जीत कृतकलेशस्य व्यादरम् ॥१६९॥
 यथैव ग्बलु गोपालः पशून् केमु^{१४} समुद्यतः । श्रीरावलोकनार्थैस्तान् परीक्ष्य गुणवत्तमान्^{१५} ॥१७०॥
 क्रीणानि शकुनादीनामवधारणतत्परः । कुलपुत्राण्युपोऽप्येवं क्रीणीयात् सुपरीक्षितान् ॥१७१॥
 क्रीताश्च वृत्तिमुखेन तान् यथावसरं प्रभुः । कृत्येषु^{१६} विनियुज्जीत सूर्यैः साध्यं फलं हि सन् ॥१७२॥
^{१७}यद्वच्च प्रतिभुः कश्चिद् यो क्रये प्रतिगृह्यते । बलवान् प्रतिभूस्तद्व्याघ्रो^{१८} भृत्योपमं ग्रहे ॥१७३॥
^{१९}याममात्रावशिष्टायां रात्रादुत्थाय यत्नतः । चारयिष्योचिते देशे गाः प्रभूतनृणोदके ॥१७४॥

पोषण करता है उसी प्रकार राजाको भी अपने सेवक लोगोंको किसी उपद्रवहीन स्थानमें रखकर उनकी रक्षा करनी चाहिए ॥१६१-१६२॥ यदि वह ऐसा नहीं करेगा तो राज्य आदिका परिवर्तन होनेपर चोर, डाकू तथा समीपवर्ती अन्य राजा लोग उसके इन सेवकोंको पीड़ा देने लगेंगे ॥१६३॥ राजाको चाहिए कि वह ऐसे चोर डाकू आदिकी आजोबिका जबरन नष्ट कर दे क्योंकि कांटोंको दूर कर देनेसे ही प्रजाका कल्याण हो सकता है ॥१६४॥ जिस प्रकार ग्वाला हालके उत्पन्न हुए बच्चेको एक दिन तक माताके साथ रखता है, दूसरे दिन दयावृद्धिसे मुक्त हो उसके पैरमें धीरेसे रस्सी बाँधकर खूँटीसे बाँधता है, उसकी जरायु तथा नाभिके नालको बड़े यत्नसे दूर करता है, कीड़े उत्पन्न होनेकी शंका होनेपर उसका प्रतीकार करता है, और दूध पिलाना आदि उपायोंसे उसे प्रतिदिन बढ़ाता है ॥१६५-१६७॥ उसी प्रकार राजाको भी चाहिए कि वह आजीविकाके अर्थ अपनी सेवा करनेके लिए आये हुए सेवकको उसके योग्य आदर सन्मानसे स्वीकृत करे और जिन्हें स्वीकृत कर लिया है तथा जो अपने लिए क्लेश सहन करते हैं ऐसे उन सेवकोंकी प्रशस्त आजीविका आदिका विचार कर उनके साथ योग और क्षेमका प्रयोग करना चाहिए अर्थात् जो वस्तु उनके पास नहीं है वह उन्हें देनी चाहिए और जो वस्तु उनके पास है उसकी रक्षा करनी चाहिए ॥१६८-१६९॥ जिस प्रकार शकुन आदि के निश्चय करनेमें तत्पर रहनेवाला ग्वाला जब पशुओंको खरीदनेके लिए तैयार होता है तब वह दूध देखना आदि उपायोंसे परीक्षा कर उनमेंसे अत्यन्त गुणी पशुओंको खरीदता है उसी प्रकार राजाको भी परीक्षा किमे हुए उच्चकुलीन पुत्रोंको खरीदना चाहिए ॥१७०-१७१॥ और आजीविकाके मूल्यसे खरीदे हुए उन सेवकोंको समयानुसार योग्य कार्यमें लगा देना चाहिए क्योंकि वह कार्यरूपी फल सेवकोंके द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है ॥१७२॥ जिस प्रकार पशुओंके खरीदनेमें किसीको जामिनदार बनाया जाता है उसी प्रकार सेवकोंका संग्रह करनेमें भी किसी बलवान् पुरुषको जामिनदार बनाना चाहिए ॥१७३॥ जिस प्रकार ग्वाला रात्रिके

१ मूलबलम् । २ -रक्षयेत् ल०, म० । ३ परिवर्ततेऽस्य ल०, म० । राज्यादि मुक्त्वा राज्यान्तरप्राप्तिषु ।
 ४ अरक्षणप्रकारेण । ५ घाटीकारः युद्धकारिभिर्वा । ६ स्लेच्छनायकैः । ७ हठात्कारेण । ८ वत्सस्य ।
 ९ जरायुमा । १० जीवनाय । ११ सेवां कर्तुम् । १२ क्रयणाय । १३ अतिशयेन गुणवतः । १४ कार्येषु ।
 १५ यथैव ल०, म० । १६ घरकः । १७ प्रहर । १८ भक्षयित्वा ।

प्रातस्तमसमधानीय वत्सवीतावशिष्टकम् । पयो दोग्धि यथा गोपौ नवमीतादिलिप्सया ॥१७५॥
 तथा भूपोऽप्यनन्त्रालुर्भक्तग्रामेषु कारयेत् । कृषिं कर्मान्तिकैर्बीजप्रदानाद्यैरुपक्रमैः ॥१७६॥
 देशोऽपि कारयेत् कृत्स्ने कृषिं सम्यक्कृषीवलैः । धान्यानां संग्रहार्थं च न्याय्यमंशं ततो हरेत् ॥१७७॥
 मन्थेवं पुष्टतन्त्रः स्याद् भाण्डागारदिसंपदा । पुष्टो देशश्च तस्यैवं स्याद् धान्यैराशितम्भवैः ॥१७८॥
 स्वदेशे वाक्षरम्लेच्छान् प्रजायाधाविधागिनः । कुलशुद्धिप्रदानाद्यैः स्वसात्कुर्यादुपक्रमैः ॥१७९॥
 विक्रियां न भजन्त्येते प्रभुणा कृतसन्क्रियाः । प्रभोरलब्धसमाना विक्रियन्ते हि तेऽप्यहम् ॥१८०॥
 ये केचिन्वाक्षरम्लेच्छाः स्वदेशे प्रचरिष्यन्तः । तेऽपि कर्षकसामान्यं कर्तव्याः करदा नृपैः ॥१८१॥
 तान्प्राहुरक्षरम्लेच्छाः येऽमी देशोपजीविनः । अधमक्षरमपाठैर्लोकन्यामोहकारिणः ॥१८२॥
 यतोऽक्षरकृतं गर्वमयिद्यालतस्तके । वहन्त्यतोऽक्षरम्लेच्छाः पापसूत्रोपजीविनः ॥१८३॥
 म्लेच्छाचारो हि हिंसायां रतिर्मासाशनेऽपि च । बलात्परस्वहरणं निर्बृत्तमिति स्मृतम् ॥१८४॥
 सोऽस्त्वमीषां च यद्देशास्त्रार्थमधमद्विजाः । तारुणं बहुमन्यन्ते जातिवादावलेपतः ॥१८५॥
 प्रजासामान्यतैर्वैषां मत्ता वा स्यान्निकृष्टता । ततो न मान्यताऽस्त्येषां द्विजा साम्याः स्युरार्हताः ॥१८६॥

प्रहरमात्र शेष रहनेपर उठकर जहाँ बहुत-सा घास और पानी होता है ऐसे किसी योग्य स्थानमें गायोंको बड़े प्रयत्नसे चराता है तथा बड़े सबेरे ही वापिस लाकर बछड़ेके पीनेसे बाकी बचे हुए दूधको मक्खन आदि प्राप्त करनेकी इच्छासे दुह लेता है उसी प्रकार राजाको भी आलस्य-रहित होकर अपने आधीन ग्रामोंमें बीज देना आदि साधनों-द्वारा किसानोंसे खेती कराना चाहिए ॥१७४-१७६॥ राजाको चाहिए कि वह अपने समस्त देशमें किसानों-द्वारा भली भाँति खेती करावे और धान्यका संग्रह करनेके लिए उनसे न्यायपूर्ण उचित अंश लेवे ॥१७७॥ ऐसा होनेसे उसके भांडार आदिमें बहुत सी सम्पत्ति इकट्ठी हो जावेगी और उससे उसका बल बढ़ जावेगा तथा सन्तुष्ट करनेवाले उन धान्योंसे उसका देश भी पुष्ट अथवा समृद्धिशाली हो जावेगा ॥१७८॥ अपने आश्रित स्थानोंमें प्रजाको दुःख देनेवाले जो अक्षरम्लेच्छ अर्थात् वेदसे आजीविका करनेवाले हों उन्हें कुलशुद्धि प्रदान करना आदि उपायोंसे अपने आधीन करना चाहिए ॥१७९॥ अपने राजासे सत्कार पाकर वे अक्षरम्लेच्छ फिर उपद्रव नहीं करेंगे । यदि राजाओंसे उन्हें सन्मान प्राप्त नहीं होगा तो वे प्रतिदिन कुछ-न-कुछ उपद्रव करते ही रहेंगे ॥१८०॥ और जो कितने ही अक्षरम्लेच्छ अपने ही देशमें संचार करते हों उनसे भी राजाओं-को सामान्य किसानोंकी तरह कर अवश्य लेना चाहिए ॥१८१॥ जो वेद पढ़कर अपनी आजी-विका करते हैं और अधर्म करनेवाले अक्षरोंके पाठसे लोगोंको ठगा करते हैं उन्हें अक्षरम्लेच्छ कहते हैं ॥१८२॥ चूँकि वे अज्ञानके बलसे अक्षरों-द्वारा उत्पन्न हुए अहंकारको धारण करते हैं इसलिए पापसूत्रोंसे आजीविका करनेवाले वे अक्षरम्लेच्छ कहलाते हैं ॥१८३॥ हिंसा और मांस खानेमें प्रेम करना, बलपूर्वक दूसरेका धन हरण करना और धूर्तता करना (स्वेच्छा-चार करना) यही म्लेच्छोंका आचार माना गया है ॥१८४॥ चूँकि यह सब आधरण इनमें हैं और जातिके अभिमानसे ये नीच द्विज हिंसा आदिको प्ररूपित करनेवाले वेद शास्त्रके अर्थको बहुत कुछ मानते हैं इसलिए इन्हें सामान्य प्रजाके समान ही मानना चाहिए अथवा उससे भी कुछ निकृष्ट मानना चाहिए । इन सब कारणोंसे इनकी कुछ भी मान्यता नहीं रह जाती

१ आरम्भग्रामेन्द्रियर्थः । २ कृषीवलभृत्यैः । ३ कृषीबलेभ्यः । ४ स्वीकुर्यात् । ५ तृप्तिकरैः । ६ प्रवेशे अ०, सं०, ल०, म० । ७ कृषीवलसामान्यं यथा भवति तथा । ८ अज्ञानबलात् । ९ कुटिष्ठतास्ते । १० यत् कारणात् । ११ हिंसनादिप्रकारम् । १२ गर्वतः । १३ प्रजासामान्यत्वमेव । १४ प्रजाभ्यः ।

वयं निस्तारका देवब्राह्मणा लोकसंमताः । धान्यभागमतो राजे न दद्यादिति चेन्मतम् ॥१८७॥
 वैशिष्ट्यं किङ्कृतं शेषवर्णभ्यो भक्षतामिह । न जातिमात्राद् वैशिष्ट्यं जातिभेदाप्रतीतितः ॥१८८॥
 गुणतोऽपि न वैशिष्ट्यमस्ति वो नामधारकाः । वृत्तिनो ब्राह्मणा जैना ये त एव गुणाधिकाः ॥१८९॥
 निर्वाता निर्नमस्कारा निर्धृणाः पशुवातिनः । म्लेच्छाचारपरा यूयं न स्थाने^१ धार्मिका द्विजः ॥१९०॥
 तस्मादन्ते कुरु म्लेच्छा इव तेऽमी महोभुजाम् । प्रजासामान्यधान्यांशदानाद्यैरविवक्षिताः ॥१९१॥
 किमत्र बहुनोक्तेन जैनाभ्युक्त्वा द्विजोत्तमान् । नान्ये माभ्या नरेन्द्राणां प्रजासामान्यजीविकाः ॥१९२॥
 अन्यच्च गोधनं गोपो व्याघ्रचोराद्युपक्रमात्^२ । यथा रक्षत्यतन्द्रालुभूपोऽप्येव निजाः प्रजाः ॥१९३॥
 यथा च गोकुलं^३ गोमिन्यायाले संविदक्षया । सोपचारमुपेत्यैनं तोषयेद् धनसम्पदा^४ ॥१९४॥
 भूपोऽप्येवं बलीं कश्चित् स्वराष्ट्रं यद्यभिद्रवेत्^५ । तदा हृदयैः समालोच्य संदध्यात्^६ पणचन्धतः^७ ॥१९५॥
 जनक्षयाय संग्रामो बहुपायो दुरुत्तरः । तस्मादुपप्रदानाद्यैः^८ संघेयोऽरिर्विलाधिकः ॥१९६॥
 इति गोपालदृष्टान्तमूरीकृत्य नरेश्वरः । प्रजानां पालने यत्नं^९ विदध्यान्नयवर्त्मना ॥१९७॥

है, जो द्विज अरहन्त भगवान्‌के भक्त हैं वही मान्य गिने जाते हैं ॥१८४-१८६॥ “हम ही लोगोंको संसार-सागरसे तारनेवाले हैं, हम ही देव ब्राह्मण हैं और हम ही लोकसंमत हैं अर्थात् सभी लोग हम ही को मानते हैं इसलिए हम राजाको धान्यका उचित अंश नहीं देते” इस प्रकार यदि वे द्विज कहें तो उनसे पूछना चाहिए कि आप लोगोंमें अन्य वर्णवालोंसे विशेषतः क्यों है ? कदाचित् यह कहो कि हम जातिकी अपेक्षा विशिष्ट हैं तो आपका यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि जातिकी अपेक्षा विशिष्टता अनुभवमें नहीं आती है, कदाचित् यह कहो कि गुणकी अपेक्षा विशिष्टता है सो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि आपलोग केवल नामके धारण करनेवाले हो, जो व्रतोंको धारण करनेवाले जैन ब्राह्मण हैं वे ही गुणोंसे अधिक हैं। आप लोग व्रतरहित, नमस्कार करनेके अयोग्य, दयाहीन, पशुओंका घात करनेवाले और म्लेच्छों-के आचरण करनेमें तत्पर हो इसलिए आप लोग धर्मात्मा द्विज नहीं हो सकते। इन सब कारणों-से राजाओंको चाहिए कि वे इन द्विजोंको म्लेच्छोंके समान समझें और उनसे सामान्य प्रजाकी तरह ही धान्यका योग्य अंश ग्रहण करें। अथवा इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या लाभ है ? जैनधर्मको धारण करनेवाले उत्तम द्विजोंको छोड़कर प्रजाके समान आजीविका करनेवाले अन्य द्विज राजाओंके पूज्य नहीं हैं ॥१८७-१९२॥

जिस प्रकार ग्वाला आलस्यरहित होकर अपने गोधनकी व्याघ्र चोर आदि उपद्रवोंसे रक्षा करता है उसी प्रकार राजाको भी अपनी प्रजाकी रक्षा करनी चाहिए ॥१९३॥ जिस प्रकार ग्वाला उन पशुओंके देखनेकी इच्छासे राजाके आनेपर भेंट लेकर उसके समीप जाता है और धन सम्पदाके द्वारा उसे संतुष्ट करता है उसी प्रकार यदि कोई बलवान् राजा अपने राज्यके सन्मुख आवे तो वृद्ध लोगोंके साथ विचार कर उसे कुछ देकर उसके साथ सन्धि कर लेना चाहिए। चूँकि युद्ध बहुत-से लोगोंके विनाशका कारण है, उसमें बहुत-सी हानियाँ होती हैं और उसका भविष्य भी बुरा होता है अतः कुछ देकर बलवान् शत्रुके साथ सन्धि कर लेना ही ठीक है ॥१९४-१९६॥ इस प्रकार राजाको ग्वालाका दृष्टान्त स्वीकार कर नीतिमार्गसे

१ न भवथ । २ -युपद्रवात् ल०, म०, प० । ३ गोमती । गोमान् गोमीत्यभिधानात् । गोमत्या- म०, ल०, प० । ४ क्षीरघृतादिविक्रयाज्जातधनसमृद्ध्या । ५ अभिगच्छेत् । ६ सन्धानं कुर्यात् । ७ निष्कप्रदाना-वित्यर्थः । ८ उचितवस्तुवाहनप्रदानाद्यैः । ९ सन्धिं कर्तुं योग्यः । १० कुर्यात् ।

प्रजानुपालनं श्रेष्ठं पार्थिवस्य जित्वात्मनः । समञ्जसस्त्वमधुना वक्ष्यामस्तद्गुणान्तरम् ॥१९८॥
 राजा चित्तं समाधाय यत्कुर्याद् दुष्टनिग्रहम् । शिष्टानुपालनं चैव तत्सामञ्जसमुच्यते ॥१९९॥
 द्विषस्तमथवा पुत्रं निगृह्णन्निग्रहोचितम् । अपक्षपतितो दुष्टमिष्टं चेत्तद्विनाशकम् ॥२००॥
 मध्यस्थवृत्तिरेवं यः समदर्शो समञ्जसः । समञ्जसत्वं तद्भावः प्रजास्वविषमैक्षिता ॥२०१॥
 गुणैर्जैतेन शिष्टानां पालनं न्यायपूर्वकविनाश । दुष्टानां निग्रहं चैव तपः कुर्यात् कृतागलाम् ॥२०२॥
 दुष्टा हिंसादिदोषेषु निरताः पापकारिणः । शिष्टास्तु क्षान्तिशान्तिश्चादिगुणैर्धर्मपरा नराः ॥२०३॥

वसन्ततिलकावृत्तम्

इत्थं मनुः सकलचक्रवर्त्तादिराजः

तान् क्षत्रियान् नियमयन् पथि सुप्रणीतः ।

उष्णवज्रैर्गुरुमसैकचित्तेन चोभिः

शास्ति स्म वृत्तमखिलं पृथिवीश्वराणाम् ॥२०४॥

शार्दूलचिक्रीडितम्

इत्युषैर्भरतशिनामुकथितं सर्वोयमुर्ध्वेश्वराः

आश्रं धर्ममनुप्रवृत्त सुदिताः स्वां वृत्तिमन्वैयहः ।

योगक्षेमपथेषु तेषु सहिताः सर्वे च वर्णाश्रमाः

स्वे स्वे वर्त्मनि सुस्थिता वृत्तिमधुर्धर्मोन्मिश्रैः प्रत्यहम् ॥२०५॥

प्रजाका पालन करनेमें प्रयत्न करना चाहिए ॥१९८॥ इस प्रकार इन्द्रियोंको जीतनेवाले राजाका प्रजापालन नामका गुण कहा । अब समञ्जसत्व नामका अन्ध गुण कहते हैं ॥१९९॥

राजा अपने चित्तका समाधान कर जो दुष्ट पुरुषोंका निग्रह और शिष्ट पुरुषोंका पालन करता है वही उसका समञ्जसत्व गुण कहलाता है ॥१९९॥ जो राजा निग्रह करने योग्य शत्रु अथवा पुत्र दोनोंका निग्रह करता है, जिसे किसीका पक्षपात नहीं है, जो दुष्ट और मित्र, सभी-को निरपराध बनानेकी इच्छा करता है और इस प्रकार मध्यस्थ रहकर जो सबपर समान दृष्टि रखता है वह समञ्जस कहलाता है तथा प्रजाओंको विषम दृष्टिसे नहीं देखना अर्थात् सबपर समान दृष्टि रखना ही राजाका समञ्जसत्व गुण है ॥२००-२०१॥ इस समञ्जसत्व गुणसे ही राजाको न्यायपूर्वक आजीविका करनेवाले शिष्ट पुरुषोंका पालन और अपराध करनेवाले दुष्ट पुरुषोंका निग्रह करना चाहिए ॥२०२॥ जो पुरुष हिंसा आदि दोषोंमें तत्पर रहकर पाप करते हैं वे दुष्ट कहलाते हैं और जो क्षमा, संतोष आदि गुणोंके द्वारा धर्म धारण करनेमें तत्पर रहते हैं वे शिष्ट कहलाते हैं ॥२०३॥ इस प्रकार सोलहवें मनु तथा समस्त चक्रवर्तियोंमें प्रथम राजा महाराज भरतने उन क्षत्रियोंको भगवत्प्रणीत मार्गमें नियुक्त करते हुए, अपने पिता श्री वृषभदेवको इष्ट ऊँचे नीचे योग्य वचनोंसे राजाओंके समस्त आचारका उपदेश दिया ॥२०४॥

इस प्रकार भगवत्पुत्रने जिसका अच्छी तरह प्रतिपादन किया है ऐसे सबका हित करने-वाले, क्षत्रियोंके उत्कृष्ट धर्मको स्वीकार कर सब राजा लोग प्रसन्न हो अपने अपने आचरणोंका पालन करने लगे और उन राजाओंके योग (नवीन वस्तुकी प्राप्ति) तथा क्षेम (प्राप्त हुई वस्तुकी रक्षा) में प्रवृत्त रहनेपर अपना हित चाहनेवाले सब वर्णाश्रमोंके लोग अपने-अपने

१ पक्षपातरहितः । २ अपराधरहितम् । ३ समञ्जसत्वसद्भावः अ०, प०, स०, ल०, म० । ४ सुष्ठु प्रोक्ते ।
 ५ सर्वेभ्यो हितम् । ६ अनुग्रहः । ७ गतो लुङि । ह्यादिवात् शपः श्लुपि विभक्ति, सेजुसिति उत्तरश्लुका-
 रस्य अकारादेशे, पूर्वश्लुकारस्य इत्के, पुनरपिदिशेऽपि च कृते, 'एयरः' इति सिद्धिः । ७ उर्वीश्वरेषु ।
 ८ हितेन सहिताः ।

जातिक्षत्रियवत्तमञ्जिततरं रत्नत्रयाविष्कृतं
 तीर्थक्षत्रियवृत्तमप्यनुजगौ यच्चक्रिणामग्रणीः ।
 तत्सर्वं मगधाधिपस्य भगवान् वाचस्पतिर्गीतमो
 व्याचक्ष्यावखिलायंतश्चविषयां जैनीं श्रुतिं श्रुत्वापयन् ॥२०६॥
 बन्दारोभरताधिपस्य जगतां भर्तुः क्रमौ वेधतः
 तस्यानुस्मरतो गुणान् प्रणमतस्तं देवमायं किनम् ।
 तत्सर्वेषोपचितिं^३ सुरासुरगुरोर्भक्त्या मुहुस्तन्यतः
 कालोऽनल्पतरः सुखाद् व्यतिगतो^४ नित्योत्सवैः संभृतः^५ ॥२०७॥

मन्दाक्रान्ता

जैर्नामिष्यां चितन्त्रक्षियतमनुदिनं प्रीणयन्नधिसार्थं
 शश्वद्विश्वम्भरेशैरवनिधृतलसन्मौलिभिः सेव्यमानः ।
 क्षमां कृत्स्नामापयोधेरपि^६ च हिमवतः पालयन्निस्त्वपत्नां
 रम्यैः स्वेच्छाविनोर्दनिर्निर्विश^७ अधिराड् भोगसारं दशाङ्गम् ॥२०८॥

इत्यादिभिरुक्त्या चैव भगवत्प्रतिपादितं त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे
 भरतराजवर्णाश्रमस्थितिप्रतिपादनं नाम द्विचत्वारिंशत्तमं पर्व ॥४२॥*

मार्गमें स्थिर रहकर प्रतिदिन धर्मात्सव करते हुए सन्तोष धारण करने लगे ॥२०५॥ चक्र-
 वर्तियोंमें अग्रेसर महाराज भरतने जो अत्यन्त उत्कृष्ट जातिक्षत्रियोंका चरित्र तथा रत्नत्रयसे
 प्रकट हुआ तीर्थक्षत्रियोंका चरित्र कहा था वह सब, समस्त पदार्थोंके स्वरूपको विषय करने-
 वाले जैन शास्त्रोंको प्रकट करते हुए वाचस्पति (श्रुतकेवलो) भगवान् गौतम गणधरने मगध
 देशके अधिपति श्रेणिकके लिए निरूपण किया ॥२०६॥ तीनों लोकोंके स्वामी भगवान्
 वृषभदेवके चरणोंकी बन्दना करनेवाले, उन्हीं परब्रह्मके गुणोंका स्मरण करनेवाले, उन्हीं
 प्रथम जिनेन्द्रदेवको नमस्कार करनेवाले और सुर तथा असुरोंके गुरु उन्हीं भगवान् वृषभदेवकी
 भक्तिपूर्वक बार-बार पूजा करनेवाले भरतेश्वरका निरन्तर होनेवाले उत्सवोंसे भरा हुआ
 भारी समय सुखसे व्यतीत हो गया ॥२०७॥ जो नियमित रूपसे प्रतिदिन जिनेन्द्र भगवान्-
 की पूजा करता है, जो प्रतिदिन याचकोंके समूहको सन्तुष्ट करता है, पृथिवीपर झुके हुए मुकुटों-
 से सुशोभित होनेवाले राजा लोग जिसकी निरन्तर सेवा करते हैं और जो हिमवान् पर्वतसे
 लेकर समुद्रपर्यन्तकी शत्रुरहित समस्त पृथिवीका पालन करता है ऐसा वह सम्राट् भरत अपनी
 इच्छानुसार क्रीड़ाओंके द्वारा दश प्रकारके उत्तम भोगोंका उपभोग करता था ॥२०८॥

इस प्रकार आर्य नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहके
 हिन्दी भाषानुवादमें भरतराजकी वर्णाश्रमकी रीतिका प्रतिपादन
 करनेवाला ब्यालीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ॥४२॥

१ उवाच । २ प्रकटीकुर्वन् । ३ पूजाम् । ४ व्यतिक्रान्तः । ५ सम्पोषितः । ६ समुद्रादारम्य हिमवत्पर्यन्तम् ।
 ७ अम्बभूत् । ८ दिव्यपुररत्ननिधिसेनाभाजनशयनासनवाहननाट्यादीनि दशाङ्गानि यस्य स तम् ।
 * ल० म० इ० प० पुस्तकेषु निम्नांकितः पाठोऽधिको दृश्यते । त० ब० अ० स० पुस्तकेष्वेव पाठो न दृश्यते ।

अनुष्टुप्

वृषभाय नमोऽशेषस्थितिप्रभवहेतवे । त्रिकालगोचरानन्तप्रमेयाक्रान्तमूर्त्ये ॥१॥
नमः सकलकल्याणपथनिर्माणहेतवे । आदिदेवाय संसारसागरोत्तारसेतवे ॥२॥

पृथ्वीच्छन्दः

जयन्ति जितमृत्यवो विपुलवीर्यभाजो जिना जगत्प्रमदहेतवो विपदमन्दकन्दच्छिदः ॥
सुरासुरशिरःस्फुरितरागरत्नामालीबिलम्बकिरणोत्कशरुणितसारुपाद्भयाः ॥३॥
कृतिर्महाकवेर्भगवतः श्रीजिनसेनाचार्यस्येति ।

सर्वोत्कर्षः - १/१११११ श्री सुविष्णोस्त्वस्तु श्री भगवन्

वसन्ततिलका

धर्मोऽत्र मुक्तिपदमत्र कवित्वमत्र तीर्थेजिनश्चरितमत्र महापुराणे ।
यद्वा कवीन्द्रजिनसेनमुखारविन्दनिर्यद्वाचसि न हरन्ति मनांसि केषाम् ॥४॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते महापुराणे
आद्यं खण्डं समाप्तिमगमत् ।

■

जो समस्त मर्यादाकी उत्पत्तिके कारण हैं और जिनकी केवलज्ञानरूपी मूर्ति त्रिकाल-विषयक अनन्त पदार्थोंसे व्याप्त है उन वृषभदेवके लिए नमस्कार हो ॥१॥ जो सब कल्याणोंके मार्गकी रचनामें कारण हैं और जो संसाररूपी समुद्रसे पार करनेके लिए पुलके समान हैं ऐसे प्रथम तीर्थंकर भगवान् वृषभदेवको नमस्कार हो ॥२॥ जिन्होंने मृत्युको जीत लिया है, जो अनन्त बलको धारण करनेवाले हैं, जो जगत्के आनन्दके कारण हैं, जो विपत्तियोंकी बहुत भारी जड़को काटनेवाले हैं, और सुर तथा असुरोंके मस्तकपर चमकते हुए पद्मराग-मणियोंकी पंक्तिसे निकलती हुई किरणोंके समूहसे जिनके दोनों सुन्दर चरणकमल कुछ-कुछ लाल हो रहे हैं ऐसे जिनेन्द्रदेव सदा जयवन्त हों ॥३॥

(इस प्रकार महाकवि भगवान् जिनसेनाचार्यकी कृति समाप्त हुई)

इस महापुराणमें धर्मका निरूपण है, मोक्ष पद अथवा मोक्षमार्गका कथन है, उत्तम कविता है और तीर्थंकर भगवान्का चरित है अथवा इस प्रकार समझना चाहिए कि कवियोंमें श्रेष्ठ श्री जिनसेनके मुखकमलसे निकले हुए वचन किसके मनको हरण नहीं करते हैं ? ॥४॥

(इस प्रकार आर्य नामसे प्रसिद्ध भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीत महापुराणका प्रथम खण्ड समाप्त हुआ)

■

आदिपुराणम्

[उत्तरखण्डम्]

त्रिचत्वारिंशत्तमं पर्व

धियं तनोतु स श्रीमान् वृषभो वृषभध्वजः । यस्यैकस्य ^१गतेर्मुक्तेश्चित्रं ^२सहानभूत् ॥ १॥
विक्रमं कर्मचक्रस्य ^३यश्शक्राभ्यर्चितक्रमः । आक्रम्य धर्मचक्रेण चक्रे त्रैलोक्यचक्रिताम् ॥ २॥
योऽस्मिन्नतुर्थकालादौ ^४दिनादौ वा ^५दिवाकरः । जगदुद्योतयामास प्रोद्गच्छद्वाग्भमस्तिमिः ॥ ३॥
नष्टमष्टादशाम्भोधिकोटीकोटीषु कालयोः ^६ । निर्वाणमार्गं निर्दिश्य ^७येन सिद्धाच्च वर्द्धिताः ॥ ४॥
तीर्थकृत्सु ^८स्वतः ^९प्राग्यो ^{१०}नामादानपराभवः ^{११} । यमस्मि ^{१२}अस्पृशन्नासौ स्वसूनुमिव चक्रिषु ॥ ५॥
येन ^{१३}प्रकाशिते ^{१४}सुक्तेर्मार्गेऽस्मिन्नपरेषु तत् ^{१५} । प्रकाशितप्रकाशोक्तवैयर्थ्यं तीर्थकृत्स्वभूत् ॥ ६॥

अथानन्तर, जिनकी ध्वजामें वृषभका चिह्न है और सबसे बड़ा आश्चर्य यह है कि जिन एकके जानेसे ही बहुत बड़ा मोक्षका मार्ग बन गया ऐसे अन्तरंग बहिरंग लक्ष्मीको धारण करनेवाले श्री वृषभदेव सबका कल्याण करें ॥१॥ जिनके चरणकमलकी इन्द्र स्वयं पूजा करता है और जिन्होंने धर्मचक्रके द्वारा कर्मसमूहके पराक्रमपर आक्रमण कर तीनों लोकोंका चक्रवर्तीपना प्राप्त किया है ॥२॥ दिनके प्रारम्भमें सूर्यकी तरह इस * चतुर्थकालके प्रारम्भमें उदय होकर जिन्होंने फैलती हुई अपनी वाणीरूपी किरणोंसे समस्त जगत्को प्रकाशित किया है अर्थात् दिव्य ध्वनिके-द्वारा समस्त तत्त्वोंका उपदेश दिया है ॥३॥ उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी कालके अठारह कोड़ी सागर तक जो मोक्षका मार्ग नष्ट हो रहा था उसका निर्देश कर जिन्होंने सिद्धोंकी संख्या बढ़ायी है । ॥४॥ जिस प्रकार चक्रवर्तियोंमें अपने पुत्र भरत चक्रवर्तीको उसके पहले किसी अन्य चक्रवर्तीका नाम लेनेसे उत्पन्न हुआ पराभव नहीं छू सका था उसी प्रकार तीर्थ-करोंमें अपने पहले किसी अन्य तीर्थकरका नाम लेनेसे उत्पन्न हुआ पराभव जिन्हें छू भी नहीं सका था । भावार्थ—जिस प्रकार भरत इस युगके समस्त चक्रवर्तियोंमें पहले चक्रवर्ती थे उसी प्रकार जो इस युगके समस्त तीर्थकरोंमें पहले तीर्थकर थे ॥५॥ जिनके द्वारा इस मोक्षमार्गके प्रकाशित किये जानेपर अन्य तीर्थकरोंमें प्रकाशित हुए मोक्षमार्गको प्रकाशित करनेके कारण उपदेशकी व्यर्थता हुई थी । भावार्थ—इस समय जो मोक्षका मार्ग चल रहा है उसका उपदेश सबसे पहले भगवान् वृषभदेवने ही दिया था उनके पीछे होनेवाले अन्य तीर्थकरोंने भी उसी मार्गका उपदेश दिया है इसलिए उनका उपदेश पुनरुक्त होनेके कारण व्यर्थ-सा जान पड़ता

१ गमनात् । २ मुक्तिमार्ग—प०, ल०, म० । ३ कर्मराजसैन्यस्य । ४ जित्वा । ५ चतुर्थकालस्यादौ । ६ इव । ७ उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योः । ८ उपदेशं कृत्वा । ९ अजितादिषु । १० आत्मनः पुरुजिनात् । ११ पूर्वस्मिन् काले । १२ सामदानपराभवः इति पाठस्य ल० पुस्तके संकेतः । नामदानपराभवः इति पाठस्य 'द०' पुस्तके संकेतः । अदानपराभवः—आहारादिदानाभाव इति पराभवः । नामदानपराभव इति पाठे कीर्तिदानघोरभाव इति पराभवः । १३ चतुर्थकालस्यादौ । १४ वृषभेण । १५ चतुर्थकालादौ । १६ मोक्षमार्गप्रकाशनम् । १७ प्रकाशितस्य प्रकाशने प्रोक्तवैयर्थ्यत्वम् ।

* भगवान् वृषभदेव तृतीय कालके अन्तमें उत्पन्न हुए और तृतीय कालमें ही मोक्ष पवारे है इसलिए आचार्य गुणभद्रने चतुर्थकालके आदिमें होना किस दृष्टिसे लिखा है यह विचारणीय है ।

युगभारं^१ वह्नोक्तेश्वरं धर्मरथं पृथुम् । व्रतशीलगुणपूर्णं चित्रं वर्तयति स्म यः ॥७॥
 तमेकमक्षरं^२ ध्यात्वा ध्यात्तमेकमिवाक्षरम्^३ । वक्ष्ये समीक्ष्य लक्ष्याणि^४ तत्पुराणस्य^५ चूलिकाम् ॥८॥
 स्त्रोके^६ प्रयुक्ताः सर्वे नो रसानुसुखभरेण मे^७ । अहादिह^८ बहुसूत्रान्^९ मन्त्र्या^{१०} तानुपयुज्यसे ॥९॥
 रागादीन् दूरतस्त्यक्त्वा शृङ्गारादिरसोक्तिभिः । पुराणकारकाः शुद्धबोधाः शुद्धा मुमुक्षवः ॥१०॥
 निर्मितोऽस्य पुराणस्य सर्वसारो महात्मभिः^{११} । तच्छ्रेये यत्मानानां प्राग्वादस्यैव^{१२} नः श्रमः ॥११॥
 पुराणे प्रौढशब्दार्थे सगन्धफलशालिनि । वृक्षांसि पल्लवानीव कर्णे कुर्वन्तु मे वृथाः ॥१२॥
 अर्थं^{१३} गुरुभिरंवाच्यं^{१४} पूर्वं निष्पादिनं परैः^{१५} । परं^{१६} निष्पादयमानं^{१७} यच्छन्दोवृक्षात्तिसुन्दरम् ॥१३॥
 द्वांशोऽस्माकं पूर्वार्धमेवामादि^{१८} रसावहम् । यथा तथास्तु^{१९} निष्पत्तिरिति प्ररिभ्यसे मया ॥१४॥
 अनन्विष्टं^{२०} मयि प्रौढं श्रमोऽयमिति गृह्यताम् । चादुर्के^{२१} स्वादु मयच्छन्ति न भोक्तारस्तु भोजनम् ॥१५॥

है ॥६॥ और आश्चर्य है कि जिन्होंने अकेले ही बहुत काल तक इस अवसर्पिणी युगके भारको (पक्षमें जुवागीके बोझको) धारण करते हुए व्रत, शील आदि गुणोंसे भरे हुए बड़े भारी धर्म-रथको चलाया था ॥७॥ ऐसे उन अद्वितीय अविनाशी भगवान् वृषभदेवको एक प्रसिद्ध ओम् अक्षरके समान ध्यान कर तथा पूर्वशास्त्रोंका विचार कर इस महापुराणकी चूलिका कहता हूँ ॥८॥ हमारे गुरु जिनसेनाचार्यने हमारे स्नेहसे अपने द्वारा कहे हुए पुराणमें सब रस कहे हैं इसलिए उनकी भक्तिसे छोड़े गये रसोंका ही हम आगे इस ग्रन्थमें उपयोग करेंगे ॥९॥ राग आदिकी दूरसे ही छोड़कर शृंगार आदि रसोंका निरूपण कर पुराणोंकी रचना करने-वाले शुद्ध ज्ञानी, पवित्र और मोक्षकी इच्छा करनेवाले होते हैं ॥१०॥ इस पुराणका समस्त सार तो महात्मा जिनसेनाचार्यने पूर्ण ही कर दिया है अब उसके बाकी बचे हुए अंशमें प्रयत्न करनेवाले हम लोगोंका परिश्रम ऐसा समझना चाहिए जैसा कि किसी मकानके किसी बचे हुए भागको पूर्ण करनेके लिए थोड़ा-सा परिश्रम करना पड़ा हो ॥११॥ यह पुराणरूपी वृक्ष शब्द और अर्थसे प्रौढ़ है तथा उत्तम-उत्तम पत्ते और फलोंसे सुशोभित हो रहा है इसमें मेरे वचन नवीन पत्तोंके समान हैं इसलिए विद्वान् लोग उन्हें अवश्य ही अपने कर्णोंपर धारण करें । भावार्थ—जिस प्रकार वृक्षके नये पत्तोंको लोग अपने कानोंपर धारण करते हैं उसी प्रकार विद्वान् लोग हमारे इन वचनोंको भी अपने कानोंमें धारण करें अर्थात् स्नेहसे श्रवण करें ॥१२॥ इस पुराणका पूर्व भाग गुरु अर्थात् जिनसेनाचार्य अथवा दीर्घ वर्णोंसे बना हुआ है और उत्तर भाग पर अर्थात् गुरुसे भिन्न शिष्य (गुणभद्र) अथवा लघु वर्णोंके द्वारा बनाया जाता है इसलिए क्या वह छन्दके समान सुन्दर नहीं होगा ? अर्थात् अवश्य होगा । भावार्थ—जिस प्रकार गुरु और लघु वर्णोंसे बना हुआ छन्द अत्यन्त सुन्दर होता है उसी प्रकार गुरु और शिष्यके द्वारा बना हुआ यह पुराण भी अत्यन्त सुन्दर होगा ॥१३॥ 'जिस प्रकार ईश्वरका पूर्वार्ध भाग ही रसीला होता है उसी प्रकार इस पुराणका भी पूर्वार्ध भाग ही रसीला हो' यह विचार कर मैं इसके उत्तरभागकी रचना प्रारम्भ करता हूँ ॥१४॥ मुझमें प्रौढ़ता (योग्यता) की खोज न कर इसे केवल धर्म समझकर ही ग्रहण करना चाहिए क्योंकि भोजन करनेवाले प्रिय वचन

१ चतुर्थकालधुरम् । २ दण्डभेदं च । ३ अविनश्वरम् । ४ ओङ्कारमिव । ५ पूर्वोक्तशास्त्राणि । ६ पुरुषार्थ-पुराणस्य । ७ अग्रम् । ८ आत्मना प्रणीते पुराणे । ९ अस्माकम् । १० मयि प्रेम्णः । ११ उत्तरपुराणे । १२ तज्जिनसेनाचार्येणावशेषितान् (प्रणीतानेव) । १३ रसान् । १४ महात्मकः व० । १५ निर्मितप्रासादावशेषे यत्मानानामिव । १६ जिनसेनाचार्यः । १७ छन्दः पक्षे सुबद्धरैः । १८ पुराणस्य । १९ अस्मदशदिभिः । पक्षे लघ्वक्षरैः अल्पाक्षरैः । २० अपरार्धम् । २१ उक्तात्युक्तादिछन्दोभेदवत् । २२ निश्चितम् । २३ निष्ठा । २४ अविमृश्य । २५ प्रियवचने ।

अथवाऽग्रं भवेदस्य त्रिरसं नेति निश्चयः । धर्माग्रं ननु केनापि नादृशि विरसं कथितं ॥ १९ ॥
 गुरुणामेव माहात्म्यं यद्यपि स्वादु मन्त्रवः । तरुणां हि प्रमाथेन यत्फलं स्वादु जायते ॥ १७ ॥
 निर्व्यामिश्रं हृदयोद्भास्यं हृदये भवेत्तु गुरुवः सिद्धयः । ते तत्र संस्करिष्यन्ते तत्र मेऽत्र परिश्रमः ॥ १८ ॥
 इदं शुश्रूषवो मध्याः कथितोऽर्थो जिनेश्वरैः । तस्याभिधायकाः शब्दास्तत्र निन्दाऽत्र वर्तते ॥ १९ ॥
 दोषान् गुणान् गुणी गृह्णन् गुणान् दोषान्स्तु दोषवान् । सदसज्जानयोश्चिन्मत्र माहात्म्यमीदृशम् ॥ २० ॥
 गुणिनां गुणमादाय गुणी भवतु सज्जनः । असदोषसमादानाद् दोषवान् दुर्जनोऽनुत्तमः ॥ २१ ॥
 सज्जने दुर्जनः कोपं कामं कर्तुमिहार्हति । तद्वैरिणामनाथानां गुणानामाश्रयो यतः ॥ २२ ॥
 यथा स्वानुगमहन्ति सदा स्तोत्रं कवीश्वराः । तथा निन्दितुमस्वानुवृत्तं कुकवयोऽपि माम् ॥ २३ ॥
 कविरेव कवेरेति कामं काव्यपरिश्रमम् । बन्ध्या स्तनंधयोत्पत्तिवेदनामिव नाकशिः ॥ २४ ॥
 गृहाणेहास्ति चेदोषं स्वं धनं न निबिध्यते । खलासि प्रार्थितो भूयस्त्वं गुणाश्च ममाग्रहीः ॥ २५ ॥

कहनेपर ही स्वादिष्ट भोजनकी इच्छा नहीं करते । भावार्थ — जिस प्रकार भोजन करनेवाले पुरुष प्रिय वचनोंकी अपेक्षा न कर स्वादिष्ट भोजनका ही विचार करते हैं उसी प्रकार धर्मात्मा लोग मेरी योग्यताकी अपेक्षा न कर केवल धर्मका ही विचार करें — धर्म समझकर ही इसे ग्रहण करें ॥ १५ ॥ अथवा इस पुराणका अग्रभाग भी नीरस नहीं होगा यह निश्चय है क्योंकि धर्मका अग्रभाग कहीं किसी पुरुषने नीरस नहीं देखा है ॥ १६ ॥ यदि मेरे वचन स्वादिष्ट हों तो इसमें गुरुओंका ही माहात्म्य समझना चाहिए क्योंकि जो फल मीठे होते हैं वह वृक्षोंका ही प्रभाव समझना चाहिए ॥ १७ ॥ चूँकि वचन हृदयसे निकलते हैं और मेरे हृदयमें गुरु विद्यमान है इसलिए वे मेरे वचनोंमें अवश्य ही संस्कार करेंगे अर्थात् उन्हें सुधार लेंगे अतः मुझे इस ग्रन्थके बनानेमें कुछ भी परिश्रम नहीं होगा ॥ १८ ॥ इस पुराणको सुननेकी इच्छा करनेवाले भव्य जीव हैं, इसका अर्थ जिनेन्द्रदेवने कहा है और उसके कहनेवाले शब्द हैं इसलिए इसमें निन्दा (दोष) नहीं है ॥ १९ ॥ गुणी लोग दोषोंको भी गुणरूपसे ग्रहण करते हैं और दोषी लोग गुणोंको भी दोषरूपसे ग्रहण करते हैं, इस संसारमें सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञानका यह ऐसा ही विचित्र माहात्म्य है ॥ २० ॥ सज्जन पुरुष गुणी लोगोंके गुण ग्रहण कर गुणी हों यह ठीक है परन्तु दुष्ट पुरुष अविद्यमान दोषोंको ग्रहण कर दोषी हो जाते हैं यह आश्चर्यकी बात है ॥ २१ ॥ इस संसारमें दुर्जन पुरुष सज्जनोंपर इच्छानुसार क्रोध करनेके योग्य हैं क्योंकि वे उन दुष्टोंके शत्रु स्वरूप, अनाथ गुणोंके आश्रयभूत हैं । भावार्थ — चूँकि सज्जनोंने दुर्जनोंके शत्रुभूत, अनाथ गुणोंको आश्रय दिया है इसलिए वे सज्जनोंपर यदि क्रोध करें हैं तो उचित ही है ॥ २२ ॥ जिस प्रकार कवीश्वर लोग अपने अनुकूल चलनेवालेकी सदा स्तुति करनेके योग्य होते हैं उसी प्रकार कवि भी अपने अनुकूल नहीं चलनेवाले मेरी निन्दा करनेके योग्य हैं । भावार्थ — उत्तम कवियोंके मार्गपर चलनेके कारण जहाँ वे मेरी प्रशंसा करेंगे वहाँ कुकवियोंके मार्गपर न चलनेके कारण वे मेरी निन्दा भी करेंगे ॥ २३ ॥ कवि ही कविके काव्य करनेके परिश्रमको अच्छी तरह जान सकता है, जिस प्रकार बन्ध्या स्त्री पुत्र उत्पन्न करनेकी वेदनाको नहीं जानती उसी प्रकार अकवि कविके परिश्रमको नहीं जान सकता ॥ २४ ॥ रे दुष्ट, यदि मेरे इस ग्रन्थमें दोष हों तो उन्हें तू ग्रहण कर, क्योंकि वह तेरा ही धन है उसके लिए तुझे रुकावट नहीं है, परन्तु

१ उत्तरार्द्धम् । २ यद्यपि प०, ल०, म० । ३ प्रभावोज्जी अ०, प०, इ०, स०, ल०, म० । ४ गुरुवः । ५ श्रोतुमिच्छवः । ६ तत् कारणात् । ७ दुर्जनवैरिणाम् । ८ सज्जनः । आचारः । ९ यतः कारणात् । १० मिजानुवर्तिनम् ।

गुणगुणानभिज्ञेन कृता निन्दाऽथवा स्तुतिः । जात्यन्धस्येव दृष्टस्य रूपे हासाय केवलम् ॥२६॥
 अथवा सोऽनभिज्ञेऽपि निन्दतु स्तौतु वा कृतिम् । विदग्धपरिहासानामन्यथा कास्तु विश्रमः ॥२७॥
 गणयन्ति महान्तः किं क्षुद्रोपद्रवमवयवत । दास्यं तृणाग्निना तूलं पत्युस्तापोऽपि नास्मत्साम् ॥२८॥
 काष्ठजोऽपि दहत्यग्निः काष्ठं तं तत्तु^१ वर्जयेत् । अग्नीष्विदमेतावत्^२ सदनमथ मोक्षने^३ ॥२९॥
 स्तुतिनिन्दं कृतिं ध्रुत्वा करोतु गुणदोषयोः । ते^४ तस्य कुलतः कीर्तिमकर्तुरपि सत्कृतेः ॥३०॥
 सत्कवेरर्जुनस्येव शराः शब्दास्तु योजिताः । कर्णं दुस्संस्कृतं प्राप्य तुवन्ति हृदयं भृशम् ॥३१॥
 प्रवृत्तेयं कृतिः कृत्वा गुरुन् पूर्वकवीश्वरान् । भाविनोद्यतनाश्वास्या^५ विदधुः शुद्ध्यन्तुमहम् ॥३२॥
 मतिर्मे केवलं सूते कृतिं राज्ञीव तत्सुताम् । धियस्तां वर्तयिष्यन्ति धात्रीकल्पाः कवीश्विनाम् ॥३३॥
 हृदं बुधा ग्रहीष्यन्ति मा गृहीषुः पृथग्जनाः । किमतीत्यानि शानि^६ कीणन्त्यकृतपुण्यकाः ॥३४॥
 हृदि धर्ममहारत्नमागमाभोषिसंभवम् । कौस्तुभादधिकं मत्वा दधानु पुरुषोत्तमः^७ ॥३५॥

मैं तुझसे यह फिर भी प्रार्थना करता हूँ कि तू मेरे गुणोंका ग्रहण मत कर । भावार्थ — दुर्जनोंके द्वारा दोष ग्रहण किये जानेपर रचना निर्दोष हो जावेगी और निर्दोष होनेसे सबको रुचिकर होगी परन्तु गुण ग्रहण किये जानेपर वह निर्गुण हो जानेसे किसीको रुचिकर नहीं होगी अतः यहाँ आचार्यने दुर्जन पुरुषसे कहा है कि तू मेरी इस रचनाके दोष ग्रहण कर क्योंकि वह तेरा धन है परन्तु गुणोंपर हाथ नहीं लगाना ॥ २५ ॥ जिस प्रकार जन्मके अन्धे किसी धृष्ट पुरुषके द्वारा की हुई किसीके रूपकी स्तुति या निन्दा उसकी हँसीके लिए होती है उसी प्रकार गुण और दोषोंके विषयमें अज्ञानकार पुरुषके द्वारा की हुई स्तुति या निन्दा केवल उसकी हँसीके लिए होती है ॥ २६ ॥ अथवा वह अज्ञानकार मनुष्य भी मेरी रचनाकी निन्दा या स्तुति करे क्योंकि ऐसा न करनेसे चतुर पुरुषोंको हास्यका स्थान कहाँ प्राप्त होगा । भावार्थ — जो मनुष्य उस विषयका जानकार न होकर भी किसीकी निन्दा या स्तुति करता है चतुर मनुष्य उसकी हँसी ही करते हैं ॥ २७ ॥ महापुरुष क्या तुच्छ मनुष्योंके समान छोटे-छोटे उपद्रवोंको गिना करते हैं ? अर्थात् नहीं । तृणकी आगसे सई जल सकती है परन्तु उससे समुद्रके जलको सन्ताप नहीं हो सकता ॥ २८ ॥ काष्ठसे उत्पन्न हुई अग्नि काठको जला देती है परन्तु काठ उसे बढ़ाता ही है, ये दोनों उदाहरण अच्छे और बुरे भावोंको प्रकट करनेके विषयमें दीपकके समान आचरण करते हैं ॥ २९ ॥ दुष्ट पुरुष मेरी रचनाको सुनकर गुणोंकी स्तुति और दोषोंकी निन्दा करें क्योंकि यद्यपि वे उत्तम रचना करना नहीं जानते तथापि मेरी रचनाकी स्तुति अथवा निन्दा ही उनकी कीर्तिको करनेवाली होगी ॥ ३० ॥ उत्तम कविके वचन ठीक अर्जुनके बाणोंके समान होते हैं क्योंकि जिस प्रकार अर्जुनके बाण काममें लानेपर खोटे संस्कारवाले कर्ण (कर्ण नामका राजा) को पाकर उसके हृदयको दुःख पहुँचाते थे उसी प्रकार उत्तम कविके वचन काममें लानेपर खोटे संस्कारवाले कर्ण (श्रवण इन्द्रिय) को पाकर हृदयको अत्यन्त दुःख पहुँचाते हैं ॥ ३१ ॥ पहलेके कवीश्वरोंको गुरु मानकर ही यह रचना की गयी है इसलिए जो कवि आज विद्यमान हैं अथवा आगे होंगे वे सब इसे शुद्ध करनेकी कृपा करें ॥ ३२ ॥ जिस प्रकार रानी किसी उत्तम कन्याको केवल उत्पन्न करती है उसका पालन-पोषण धाय करती है उसी प्रकार मेरी बुद्धि इस रचनाको केवल उत्पन्न कर रही है उसका पालन-पोषण धायके समान कवीश्वरोंकी बुद्धि ही करेगी ॥ ३३ ॥ मेरे इस काव्यको पण्डितजन ही ग्रहण करेंगे अन्य मूर्ख लोग भले ही ग्रहण न करें क्योंकि जिन्होंने पुण्य नहीं किया है ऐसे दरिद्र पुण्य क्या अमूल्य रत्नोंको खरीद सकते हैं ? अर्थात् नहीं ॥ ३४ ॥ पुरुषोत्तम (नारायण अथवा उत्तम मनुष्य) आगमरूपी

^१ कर्तव्य । ^२ अग्निकाष्ठप्रयोगम् । ^३ स्तुतिनिन्दे । ^४ कृतेः । ^५ आदर्शन । ^६ कृष्य इति द्रवनिः ।

ओत्रपात्राञ्जलिं कृत्वा पीत्वा धर्मरसायनम् । अजरामरतां प्राप्तुमुपयुज्यन्वमिदं^१ बुधाः ॥३६॥
 नूनं पुण्यं पुराणाब्धेर्मध्यमध्यासितं मया । तत्सुभाषितरत्नानि संचितानीति निश्चितिः ॥३७॥
 सुवृत्तपात्रगम्भीरमिति नात्र मयं भम । पुरोगा गुरुषः सन्ति प्रह्लाः सर्वत्र दुर्लभाः ॥३८॥
 पुराणस्यास्य संसिद्धिर्माग्निना स्वेनैव सूचिता । निर्वक्ष्याम्यत्र नो वेति ततो नास्म्यहमाकुलः ॥३९॥
 पुराणं मार्गमासाद्य जिनसेनानुगां ध्रुवम् । मयाब्धेः पारमेष्ठ्यं पुराणस्य किमुच्यते ॥४०॥
 अर्थो मनसि जिह्वाग्रे शब्दः 'सालंकृति'स्तयोः^२ । अतः पुराणसंसिद्धेर्नास्ति कालविलम्बनम् ॥४१॥
 आकरेणिव रत्नानामूहानां नाशये क्षयः । विचित्रालंकृतीः^३ कर्तुं दीर्घार्थं किं कवेः कृतीः^४ ॥४२॥
 विचित्रपदविन्यासा रसिका सर्वसुवर्षा^५ । कृतिः सालंकृतिर्न स्यात् कस्येवं कामसिद्धये ॥४३॥
 संचितस्यैनसो हन्त्री^६ नियन्त्री^७ चागमिष्यतः । आमन्त्रिणी^८ च पुण्यानां ध्यातव्येवं कृतिः शुभा ॥४४॥

समुद्रसे उत्पन्न हुए इस धर्मरूपी महारत्नको कौस्तुभ मणिसे भी अधिक मानकर अपने हृदयमें धारण करें ॥३६॥ पण्डितजन कामरूपी पात्रकी अंजलि बना इस धर्मरूपी रसायनको पीकर अजर अमरपना प्राप्त करनेके लिए उद्यम करें ॥३६॥ मुझे यह निश्चय है कि मैंने अवश्य ही इस पुराणरूपी समुद्रके पवित्र मध्यभागमें अधिष्ठान किया है और उससे सुभाषित-रूपी रत्नोंका संचय किया है ॥३७॥ यह पुराणरूपी समुद्र अत्यन्त गम्भीर है, इसका किनारा बहुत दूर है इस विषयका मुझे कुछ भी भय नहीं है क्योंकि सब जगह दुर्लभ और सबमें श्रेष्ठ गुह जिनसेनाचार्य मेरे आगे हैं ॥३८॥ इस पुराणकी सिद्धि अपने महापुराण इस नामसे ही सूचित है इसलिए मैं इसे कह सकूंगा अथवा इसमें निर्वाह पा सकूंगा या नहीं इसकी मुझे कुछ भी आकुलता नहीं है ॥३९॥ जिनसेनाचार्यके अनुगामी शिष्य प्रशस्त मार्गका आलम्बन कर अवश्य ही संसाररूपी समुद्रसे पार होनेकी इच्छा करते हैं फिर इस पुराणके पार होनेकी बात तो कहना ही क्या है ? भावार्थ—जिनसेनाचार्यके द्वारा बतलाये हुए मार्गका अनुसरण करनेसे जब संसाररूपी समुद्रका पार भी प्राप्त किया जा सकता है तब पुराणका पार (अन्त) प्राप्त करना क्या कठिन है ? ॥४०॥ अर्थ मनमें है, शब्द जिह्वाके अग्रभागपर हैं और उन दोनोंके अलंकार प्रसिद्ध हैं ही अतः इस पुराणकी सिद्धि (पूर्ति) होनेमें समयका विलम्ब नहीं है अर्थात् इसकी रचना शीघ्र ही पूर्ण होगी ॥४१॥ जिस प्रकार खानिमें रत्नोंकी कमी नहीं है उसी प्रकार जिसके मनमें तर्क अथवा पदार्थोंकी कमी नहीं है फिर भला जिसमें अनेक प्रकारके अलंकार हैं ऐसे काव्यके बनानेवाले कविको दरिद्रता किस बातकी है ? ॥४२॥ मेरी यह रचना अत्यन्त सुन्दरी स्त्रीके समान है क्योंकि जिस प्रकार सुन्दर स्त्री विचित्र पदन्यासा अर्थात् अनेक प्रकारसे चरण रखनेवाली होती है उसी प्रकार यह रचना भी विचित्र पदन्यासा अर्थात् अनेक प्रकारके सुश्रुत तिङन्त रूप पद रखनेवाली है, जिस प्रकार सुन्दर स्त्री रसिका अर्थात् रसीली होती है उसी प्रकार यह रचना भी रसिका अर्थात् अनेक रसोंसे भरी हुई है, और जिस प्रकार सुन्दर स्त्री सालंकारा अर्थात् कटक कुण्डल आदि आभूषणोंसे सहित होती है उसी प्रकार यह रचना भी सालंकारा अर्थात् उपमा रूपक आदि अलंकारोंसे सहित है । इस प्रकार मेरी यह रचना सुन्दरी स्त्रीके समान भला किसके मनोरथकी सिद्धिके लिए न होगी ? भावार्थ—इसके पढ़नेसे सबके मनोरथ पूर्ण होंगे ॥४३॥ यह शुभ रचना पहलेके संचित पापोंकी नष्ट

१ उपयुज्यञ्जीघ्रम् । २ प्रसिद्धा । ३ अलङ्कारश्च जिह्वाग्रे वर्तते । ४ शब्दार्थयोः । ५ -लङ्कृतेः कर्तुर्दीर्घार्थं अ०, प०, ल०, म० । -लङ्कृतेः कर्तुं दीर्घार्थं इ०, स० । ६ कृतेः अ०, प०, ल०, म०, इ०, स० । ७ -सुवर्षी ल०, म० । ८ नियन्त्रिणी । ९ प्रतिनिधी । १० आमन्त्रिणी म० ।

संस्कृतानां^१ हिते^२ प्रीतिः प्राकृतानां^३ प्रियं^४ प्रियम्^५ । एतद्धितं^६ प्रियं चातः सर्वान् सन्तोषयत्यलम् ॥४५॥
इदं निष्पन्नमेवात्र स्थितमेवायुगान्तरम् । इत्यादिर्भावितोत्साहः प्रस्तुते^७ प्रस्तुतां कथाम् ॥४६॥

इति पीठिका ।

अथातः श्रेणिकः पीत्वा पुरोः^८ सुचरितामृतम् । आसिन्वाद्यिषः^९ शेषं^{१०} हस्तलग्नमिषोऽसुकः ॥४७॥
समुत्थाय^{११} लज्जामध्ये भ्राजालः प्रणतो मनाक्^{१२} । पुनर्विज्ञापयामास गौतमं गणनायकम् ॥४८॥
त्वत्प्रसादाच्छ्रुतं सम्यक्पुराणं परमं पुरोः । निवृत्तोऽसौ यथास्थान्ते तथाहं चातिनिवृत्तः^{१३} ॥४९॥
किञ्च तस्मिन् जयो नाम तीर्थेऽभूत् पार्थिवाग्रणीः ।^{१४} यस्याद्यापि जितार्कस्य प्रतापः प्रथते क्षितौ ॥५०॥
यस्य दिग्विजये मेघकुमारसिजये स्वयम् । वीरपट्टं समुद्धृत्य बबन्ध भरतेश्वरः ॥५१॥
पुरस्तीर्थकृतां पूर्वशक्तिणां भरतेश्वरः । दानतीर्थकृतां श्रेयांश्च किलासौ^{१५} च स्वयंवरं ॥५२॥
अर्ककीर्तिं पुरोः पौत्रं^{१६} संगरे कृतसंगरः^{१७} । जित्वा निगलयामास^{१८} किलैकाकी सहैलया ॥५३॥
सेनान्तो वृषभः कुम्भो रथान्तो दृढसंज्ञकः । धनुरन्तः शतो देवशर्मा भावान्तदेवभाक् ॥५४॥
नन्दनः सोमदत्ताङ्गः सूरदत्तो गुणैर्गुहः । वायुशर्मा यशोबाहुर्देवाग्निश्चाग्निदेवभाक् ॥५५॥
अग्निगुप्तोऽथ मित्राग्निर्हलभृत् समहीधरः । महेन्द्रो वसुदेवश्च ततः पश्चाद्वसुन्धरः ॥५६॥

करनेवाली है, आनेवाले पापोंको रोकनेवाली है और पुण्योंको बुलानेवाली है इसलिए इसका सदा ध्यान करते रहना चाहिए ॥४४॥ उत्तम मनुष्योंकी हितमें प्रीति होती है और साधारण मनुष्यको जो इष्ट है वही प्रिय होता है, यह पुराण हितरूप भी है और प्रिय भी है अतः सभी-को अच्छी तरह सन्तुष्ट करता है ॥४५॥ यह तैयार हुआ पुराण अवश्य ही इस संसारमें युगान्तर तक स्थिर रहेगा इस प्रकार जिसे उत्साह प्रकट हुआ है ऐसा मैं अब प्रकृत कथाका प्रारम्भ करता हूँ ॥४६॥ (इस प्रकार पीठिका समाप्त हुई ।)

अथानन्तर—राजा श्रेणिक भगवान् वृषभदेवके उत्तम चरितरूपी अमृतको पीकर हाथमें लगे हुए की तरह उसके शेष भागको भी आस्वादन करनेकी इच्छा करता हुआ अत्यन्त उत्कण्ठित हो उठा ॥४७॥ उसने सभाके बीचमें खड़े होकर हाथ जोड़े, कुछ शिर झुकाकर नमस्कार किया और फिर गौतम गणधरसे इस प्रकार प्रार्थना की कि हे भगवान्, मैंने आपके प्रसादसे श्री वृषभदेवका यह उत्कृष्ट पुराण अच्छी तरह श्रवण किया है । जिस प्रकार भगवान् वृषभदेव इस पुराणके अन्तमें निर्वाणको प्राप्त होकर सुखी हुए हैं उसी प्रकार मैं भी इसे सुनकर अत्यन्त सुखी हुआ हूँ । ऐसा सुना जाता है कि भगवान् वृषभदेवके तीर्थमें सब राजाओंमें श्रेष्ठ जयकुमार नामका वह राजा हुआ था, जिसने अर्ककीर्तिको भी जीता था और जिसका प्रताप आज भी पृथिवीपर प्रसिद्ध है । दिग्विजयके समय मेघकुमारको जीत लेनेपर जिसके लिए स्वयं महाराज भरतने वीरपट्ट निकालकर बाँधा था, जिस प्रकार तीर्थ'करोमें वृषभदेव, चक्रवर्तियोंमें सम्राट् भरत और दान तीर्थकी प्रवृत्ति करनेवालोंमें राजा श्रेयांस सर्वप्रथम हुए हैं उसी प्रकार जो स्वयंवरकी विधि चलानेमें सर्वप्रथम हुआ है, जिसने युद्धमें प्रतिज्ञा कर श्री वृषभदेवके पोते अर्ककीर्तिको अकेले ही लीलामात्रमें जीतकर बाँध लिया था तथा वृषभसेन १, कुम्भ २, दृढरथ ३, शतधनु ४, देवशर्मा ५, देवभाव ६, नन्दन ७, सोमदत्त ८, गुणोंसे श्रेष्ठ सूरदत्त ९, वायुशर्मा १०, यशोबाहु ११, देवाग्नि १२, अग्निदेव १३, अग्निगुप्त १४, मित्राग्नि १५, हलभृत् १६,

१ उत्तमपुरुषाणाम् । २ परिक्रमनमुत्साहधे । ३ साधारणानाम् । ४ आपातरमणीयम् । अनुभवकाले सुन्दर-
मिस्त्रधः । ५ इष्टम् । ६ पुराणम् । ७ प्रारम्भे । ८ वृषभस्य । ९ आस्वाद्यितुमिच्छुः । १० हस्तालग्न-अ०,
प०, ल०, म० । ११ ईषत् । १२ अतिसुखी । १३ जयस्य । १४ जयकुमारः । १५ नष्टारम् । १६ कृत-
प्रतिज्ञः । १७ बबन्ध ।

अचलो मेरुसंज्ञश्च ततो मेरुधनाङ्गयः । मेरुभूतिर्यशोयज्ञप्रान्तसर्वाभिधानकौ ॥५७॥
 सर्वयज्ञः सर्वयज्ञः सर्वयज्ञः । सर्वयज्ञः सर्वयज्ञः । सर्वयज्ञः सर्वयज्ञः । सर्वयज्ञः सर्वयज्ञः ॥५८॥
 विजयमित्रो विजयिलोऽपराजितमङ्गकः । वसुमित्रः सविश्वादिसेनः सेनान्तसाधुवाक् ॥५९॥
 देवान्तसत्यः सत्यान्तदेवो गुप्तान्तसत्यवाक् । सत्यमित्रः सती ज्येष्ठः संमितो निर्मलो गुणैः ॥६०॥
 विनीतः संवरो गुप्तो मुन्यादिमुनिदत्तवाक् । मुनियज्ञो मुनिदेवप्रान्तो यज्ञान्तगुप्तवाक् ॥६१॥
 मित्रयज्ञः स्वयम्भूश्च देवदत्तमङ्गकौ भगौ । भगादिफल्गुः फल्गुस्तगुप्तो मित्रादिफल्गुकः ॥६२॥
 प्रजापतिः सर्वसन्धो वरुणो धनपालकः । मघवान् राक्षसतलेजो महावीरो महारथः ॥६३॥
 विशालाक्षो महाबालः शुचिशालस्ततः परः । वज्रश्च वज्रसारश्च चन्द्रचूलसमाङ्गयः ॥६४॥
 जयो महारसः कच्छमहाकच्छावमुच्छकौ । नमिर्विनमिरन्यौ च बलातिबलसंज्ञकौ ॥६५॥
 बलान्तमग्नौ नन्दी च महामागी परस्ततः । मित्रान्तनन्दी देवान्तकामोऽनुपमलक्षणः ॥६६॥
 चतुर्मिरभिकाशीतिरिति सप्तद्वर्गणाधिपाः । एते सप्तर्दिसंयुक्ताः सर्वे वेद्यनुवादिनः ॥६७॥
 स एवासीद् गृहस्थागादेतेष्वप्युदितोदितः । एकसप्तसि संख्यानसंप्राप्तगणनो गणी ॥६८॥
 पुराणं तस्य मे ऋद्धि महस्तत्रास्ति कौतुकम् । सव्यचातकवृन्दस्य प्रघणो भगवानिति ॥६९॥
 ततः स्वस्य समालक्ष्य गणाधीशादनुग्रहम् । अलङ्कार स्वस्थानमिहितज्ञा हि धीधनाः ॥७०॥
 यत्प्रष्टुमिष्टमस्माभिः पृष्टं शिष्टं त्वयैव तत् । चेत्तो जिह्वा स्वमस्माकमित्यस्तावीत् समा च तम् ॥७१॥

प्रसिद्ध महीधर १७, महेन्द्र १८, वसुदेव १९, उसके अनन्तर वसुन्धर २०, अचल २१, मेरु २२, तदनन्तर मेरुधन २३, मेरुभूति २४, सर्वयज्ञ २५, सर्वयज्ञ २६, सर्वगुप्त २७, सर्वप्रिय २८, सर्वदेव २९, सर्वविजय ३०, विजयगुप्त ३१, फिर विजयमित्र ३२, विजयिल ३३, अपराजित ३४, वसुमित्र ३५, प्रसिद्ध विश्वसेन ३६, साधुसेन ३७, सत्यदेव ३८, देवसत्य ३९, सत्यगुप्त ४०, सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ सत्यमित्र ४१, गुणोंसे युक्त निर्मल ४२, विनीत ४३, संवर ४४, मुनिगुप्त ४५, मुनिदत्त ४६, मुनियज्ञ ४७, मुनिदेव ४८, गुप्तयज्ञ ४९, मित्रयज्ञ ५०, स्वयंभू ५१, भगदेव ५२, भगदत्त ५३, भगफल्गु ५४, गुप्तफल्गु ५५, मित्रफल्गु ५६, प्रजापति ५७, सर्वसंध ५८, वरुण ५९, धनपालक ६०, मघवान् ६१, तेजोराशि ६२, महावीर ६३, महारथ ६४, विशालाक्ष ६५, महाबाल ६६, शुचिशाल ६७, फिर वज्र ६८, वज्रसार ६९, चन्द्रचूल ७०, जय ७१, महारस ७२, अतिशय श्रेष्ठ कच्छ ७३, महाकच्छ ७४, नमि ७५, विनमि ७६, बल ७७, अतिबल ७८, भद्रबल ७९, नन्दी ८०, फिर महाभागी ८१, नन्दिमित्र ८२, कामदेव ८३ और अनुपम ८४ । इस प्रकार भगवान् वृषभदेवके ये ८४ गणधर थे, ये सभी सातों ऋद्धियोंसे सहित थे और सर्वज्ञ देवके अनुरूप थे । इन चौरासी गणधरोंमें जो घरका त्याग कर अत्यन्त प्रभावशाली, गुणवान् और इकहत्तरवीं सख्याको प्राप्त करनेवाला अर्थात् इकहत्तरवीं गणधर हुआ था, उन्हीं जयकुमारका पुराण मुझे कहिए क्योंकि उसमें बहुत भारी कौतुक है । आप भव्यजीवरूपी चातक पक्षियोंके समूहके लिए उत्तम भेषके समान हैं ॥ ४८-६९ ॥

तदनन्तर गणधरदेवसे अपना अनुग्रह जानकर राजा श्रेणिक अपने स्थानको अलङ्कृत करने लगा अर्थात् अपने स्थानपर जा बैठा सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धिमान् पुरुष संकेतको जाननेवाले होते हैं ॥ ७० ॥ 'हे शिष्ट' जिसे हम लोग पूछना चाहते थे वही तूने पूछा है इसलिए

१ सर्वयज्ञः सर्वयज्ञः । २ देवदत्तभगदत्तौ । ३ सर्वज्ञमुदुशः । ४ पर्यभ्युदयवान् । प्रतिख्यात इत्यर्थः । ५ एतेषु चतुरशीतिगणधरदेवैकसप्तसि संख्यां प्राप्तगणनाः । ६ गुणी ल०, म० । ७ जयस्य । ८ प्रकृष्टमेव इति विज्ञापयामास । ९ ज्ञात्वैत्यर्थः । १० स्तुतिमकरोत् ।

गणी तेनेति संपुष्टः प्रवृत्तस्तदनुग्रहे । नार्थिनो विमुखान् सन्तः कुर्वन्ते तद्धि तद्वत्तम् ॥७२॥

शृणु श्रेणिक संप्रदानस्त्वयाप्राप्तसरे कृतः । नाराधयन्ति कान्वाते सन्तोऽवसरवेदिनः ॥७३॥

कथामुखम्

इह जम्बूमति द्वीपे दक्षिणे भरते महान् । वर्णाश्रमसमाकीर्णो देशोऽस्ति कुलजाङ्गलः ॥७४॥

धर्मार्थकाममोक्षाणामेको लोकेऽयमाकरः । भाति स्वर्ग इव स्वर्गे विमानं वाऽमरेक्षितुः ॥७५॥

हास्तिनाख्यं पुरं तत्र विचित्रं सर्वसंपदा । संभवं सृष्टयद्वाहौ लक्ष्म्याः कुलगृहायितम् ॥७६॥

पतिः पतिर्वा ताराणामस्य सोमप्रभोऽभवत् । कुर्वन् कुवलयह्लादं सत्करैः स्वैर्बुधाश्रयः ॥७७॥

तस्य लक्ष्मीमनाक्षिप्य वक्षःस्थलनिवासिनी । लक्ष्मीरियं द्वितीयेति प्रेक्ष्या लक्ष्मीवती सती ॥७८॥

तथोज्ज्वलोऽभवत् सूनुः प्रज्ञाचिक्रमयोरिव । तन्वत्ताजम्भतः कीर्तिं लक्ष्मीमिव गुणार्जिताम् ॥७९॥

सुतादृष्टपूर्वशास्यान्ये जज्ञिरे विजयादयः । गुणैर्मनून् स्यतिक्रान्ताः संख्यया सप्तशोऽपि ते ॥८०॥

प्रवृद्धनिजचेतोमिस्तैः पञ्चदशभिर्भृशम् । कान्तैः कलाविशेषैर्वा राजराजो रराज सः ॥८१॥

तू हो हमारा मन है और तू ही मेरी जीम है' इस प्रकार समस्त सभाने उसकी प्रशंसा की थी ॥ ७१ ॥ राजा श्रेणिकके द्वारा इस प्रकार पूछे गये गौतम गणधर उसका अनुग्रह करनेके लिए तत्पर हुए सो ठीक ही है क्योंकि सज्जन पुरुष याचकोंको विमुख नहीं करते, निश्चयसे यही उनका व्रत है ॥ ७२ ॥ गौतम स्वामी कहने लगे कि हे श्रेणिक ! सुन, तूने यह प्रश्न अच्छे अवसरपर किया है अथवा यह ठीक है कि अवसरको जाननेवाले सत्पुरुष अन्तमें किसको वश नहीं कर लेते ॥ ७३ ॥

इस जम्बू द्वीपके दक्षिण भरतक्षेत्रमें वर्ण और आश्रमोंसे भरा हुआ कुलजांगल नामका बड़ा भारी देश है ॥ ७४ ॥ संसारमें यह देश धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंकी एक खान है । तथा यह देश स्वर्गके समान है अथवा स्वर्गमें भी इन्द्रके विमानके समान है ॥ ७५ ॥ उस देशमें हस्तिनापुर नामका एक नगर है जो कि सब प्रकारकी सम्पदाओंसे बड़ा ही विचित्र है तथा जो समुद्रमें लक्ष्मीकी उत्पत्तिको झूठा सिद्ध करता हुआ उसके कुलगृहके समान जान पड़ता है ॥ ७६ ॥ उस नगरका राजा सोमप्रभ था जो कि ठीक चन्द्रमाके समान जान पड़ता था क्योंकि जिस प्रकार चन्द्रमा अपने उत्तम कर अर्थात् किरणोंसे कुवलय अर्थात् कुमुदोंको आनन्दित-विकसित करता हुआ बुध अर्थात् बुध ग्रहके आश्रित रहता है उसी प्रकार वह राजा भी अपने उत्तम कर अर्थात् दैवसे कुवलय अर्थात् महीमण्डलको आनन्दित करता हुआ बुध अर्थात् विद्वानोंके आश्रयमें रहता था ॥ ७७ ॥ उस राजाकी लक्ष्मीवती नामकी अत्यन्त सुन्दरी पतिव्रता स्त्री थी जो कि ऐसी जान पड़ती थी मानो उसकी लक्ष्मीका तिरस्कार न कर वक्षःस्थलपर निवास करनेवाली दूसरी ही लक्ष्मी हो ॥ ७८ ॥ जिस प्रकार बुद्धि और पराक्रमसे जय अर्थात् विजय उत्पन्न होती है उसी प्रकार उन लक्ष्मीमती और सोमप्रभके जय अर्थात् जयकुमार नामका पुत्र उत्पन्न हुआ जो कि जन्मसे ही गुणों-द्वारा उपार्जन की हुई लक्ष्मी और कीर्तिको विस्तृत कर रहा था ॥ ७९ ॥ राजा सोमप्रभके विजयको आदि लेकर और भी चौदह पुत्र उत्पन्न हुए थे जो कि संख्यामें समान होनेपर भी गुणोंके द्वारा कुलकरोको उल्लंघन कर रहे थे ॥ ८० ॥ जिस प्रकार अतिशय सुन्दर विशेष कलाओंसे चन्द्रमा सुशोभित होता है उसी

१ स्वाधीनान् कुर्वन्ति । २ कान्वते अ०, स० । कान्वान्ते ल०, म० । ३ इव । ४ उत्पत्तिम् । ५ अनृतं कुर्वत् । ६ अयं लक्ष्मीशब्दः सम्भवं कुलगृहायितमित्युभयापि योजनीयः । ७ कुवलयानन्दं कैरवानन्दं च । ८ विद्वज्-नाश्रयः । सोमसुताश्रयश्च । ९ तिरस्कारमकृत्वा । १० दर्शनीया । ११ पतिव्रता । १२ जननकालात् प्रारम्भ । - जन्मतः ल०, म० । १३ मनुभिः समाना अपि । १४ वा राजा राजा इत्यपि पाठः । चन्द्र इव ।

राजा राजप्रभो^१ लक्ष्मीमती देवी प्रियानुजः । श्रेयान् व्यायान् जयः पुत्रस्तद्राज्यं पूज्यते न कैः ॥८२॥
 स पुत्रविटपाटोपः^२ सोमकल्पाङ्घ्रिप्रभिरम् । भोग्यः संभृतपुण्यानां स्वस्य चाभूत्तददभुतम् ॥८३॥
 अथान्यथा जगत्कामभोगवद्भून् विधुप्रभः^३ । अनित्याशुचिदुःखान्यान्मत्वा याथास्थवीक्षणः^४ ॥८४॥
 विरज्य राज्यं संयोज्य^५ धुर्यं शौर्योजिते जये । अजयौदार्यवीर्यदिप्राज्यराज्यसमुत्सुकः^६ ॥८५॥
 अभ्येत्य वृषभाभ्याशं^७ दीक्षित्वा मोक्षमन्त्रवन्तः । श्रेयसा^८ सह^९ नार्पत्यमनुजेन यथा पुरा^{१०} ॥८६॥
 पितुः पदमधिष्ठाय^{११} जयोज्जापि^{१२} महीं महान् । महतोऽनुमन्तुं भोगान् संविमज्यानुजैः समम्^{१३} ॥८७॥
 एकदाऽयं विहारार्थं बाह्योद्यानमुपागतः । तत्रासीनं समालोक्य शीलगुप्तं^{१४} महामुनिम् ॥८८॥
 त्रिःपरीत्य नमस्कृत्य तुत्वा भक्तिमराम्बितः । श्रुत्वा धर्मं व्रमापृच्छ्य प्रीत्या प्रत्यविशत् पुरीम् ॥८९॥
 तस्मिन् वने वसन्नागमिथुनं सह भूभुजा । श्रुत्वा धर्मं सुधां मत्वा पपी प्रीत्या श्वात्सरम् ॥९०॥
 कदाचित् प्राबुद्धास्मभे प्रचण्डासनितादितः । मृत्वाऽसौ शान्तिमादाय नागो नामामरोऽभवत् ॥९१॥

प्रकार अपने तेजको बढ़ानेवाले, अतिशय सुन्दर और विशेष कलाओंको धारण करनेवाले उन पन्द्रह पुत्रोंसे राजाधिराज सोमप्रभ सुशोभित हो रहे थे ॥८१॥ जिस राज्यका राजा सोमप्रभ था, लक्ष्मीमती रानी थी, प्रिय छोटा भाई श्रेयांस था और बड़ा राजपुत्र जयकुमार था भला वह राज्य किसके द्वारा पूज्य नहीं होता ? ॥८२॥ जिसपर पुत्ररूपी शाखाओंका विस्तार है ऐसा वह राजा सोमप्रभरूपी कल्पवृक्ष, पुण्य संवय करनेवाले अन्य पुरुषोंको तथा स्वयं अपने-आपको भोग्य था यह आश्चर्यकी बात है । भावार्थ—पुत्रों-द्वारा वह स्वयं सुखी था तथा अन्य सब लोग भी उनसे सुख पाते थे ॥८३॥

अथानन्तर किसी समय, पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको जाननेवाले राजा सोमप्रभ संसार, शरीर, भोग और भाइयोंको क्रमशः अनित्य, अपवित्र, दुःखस्वरूप और अपनेसे भिन्न मानकर विरक्त हुए तथा कभी नष्ट न होनेवाले अनन्त वीर्य आदि गुणोंसे श्रेष्ठ मोक्षरूपी राज्यके पानेमें उत्सुक हो, शूरवीर तथा धुरन्धर जयकुमारको राज्य सौंपकर भगवान् वृषभदेवके समीप गये और वहाँ अपने छोटे भाई श्रेयांसके साथ दीक्षा लेकर मोक्षमुखका अनुभव करने लगे । जिस प्रकार वे पहिले यहाँ अपने छोटे भाईके साथ राज्यमुखका उपभोग करते थे उसी प्रकार मोक्षमें भी अपने छोटे भाईके साथ वहाँका सुख उपभोग करने लगे । भावार्थ—दोनों भाई मोक्षको प्राप्त हुए ॥८४-८६॥ इधर श्रेष्ठ जयकुमार पिताके पदपर आसीन होकर पृथिवीका पालन करने लगा । और अपने बड़े भारी भोगोपभोगोंको बाँटकर छोटे भाइयोंके साथ-साथ उनका अनुभव करने लगा ॥८७॥ एक दिन वह जयकुमार क्रीड़ा करनेके लिए नगरके बाहर किसी उद्यानमें गया । उसने वहाँ विराजमान शीलगुप्त नामके महामुनिके दर्शन कर उनकी तीन प्रदक्षिणाएँ दीं, बड़ी भारी भक्तिके साथ-साथ नमस्कार किया, स्तुति की, प्रीतिपूर्वक धर्म सुना और फिर उनसे आज्ञा लेकर नगरको वापिस लौटा ॥८८-८९॥ उसी वनमें साँपोंका एक जोड़ा रहता था उसने भी राजाके साथ-साथ धर्म श्रवणकर उसे अमृत मान बड़े प्रेमसे दयारूपी रसका पान किया था ॥९०॥ किसी समय वर्षाऋतुके प्रारम्भमें प्रचण्ड वज्रके पड़नेसे उस जोड़ेमें-का वह सर्प शान्तिधारण कर मरा जिससे नागकुमार जातिका देव हुआ ॥९१॥

१ सोमप्रभः । २ शाखातिशयः । ३ सोमप्रभः । ४ यथात्मस्वरूपदर्शी । ५ धुरन्धरे । ६ अक्षय्य । ७ महत्त्व । ८ प्रकृष्टराज्योत्कण्ठित इत्यर्थः । ९ समीपम् । १० निजानुजेन । ११ नृपतित्वम् । १२ राज्यकाले यथा । १३ आश्रित्य । १४ पालयति स्म । १५ सह ल०, म० । १६ -गुप्तमहा-ल०, म० ।

अन्येधरिभमास्तु पुनस्तद्वनमापत् । नागी^२ श्रुतवती^३ धर्म^४ राजाऽश्वैव सहात्मना ॥१२॥
 वीक्ष्य^५ काकोदरेणामा^६ जातकोपो विजातिना । लीलामीलोल्लेखनाहन्^७ धृष्यती तौ धिगित्यसौ ॥१३॥
 पलायमानौ पाषाणैः काष्ठैर्लोष्टैः पदातयः । अध्वन्^८ सर्वे न को वाऽन्न दुश्चरित्राय कुप्यति^९ ॥१४॥
 पापः स तद्गणैर्मृत्वा वेदनाकुलधीस्तदा । नाम्नाऽजायत गङ्गायां कालीति जलदेवता ॥१५॥
 संजालालुशया साऽपि धृष्टा धर्म^{१०} कृदि स्थिरम् । भूत्वा प्रिया स्वनागस्य^{११} राज्ञा स्वमृतिममवीत् ॥१६॥
 नागामरोऽपि तां पश्यन् कोपादेधममन्यत । वर्षात्तेन^{१२} खलेनैवा वराकी^{१३} हा हता धृषा ॥१७॥
 विधवेति विवेदाधीनैश्च मांसि^{१४} धधम्^{१५} । न तत्प्राणान् हरे पावद् भुजङ्गा केन वाऽस्म्यहम् ॥१८॥
 इत्यतोऽसौ^{१६} विदधुस्तं जयं तद्गृहमासदत् । न सहस्ते नमु स्त्रीणां तिर्यञ्चोऽपि पराभवम् ॥१९॥
 वासनेहे जयो रात्रौ श्रीमस्थाः^{१७} कौतुकं प्रिये । शृण्वेकं दृष्टमित्याख्यन् तच्चुजङ्गीविशेष्टितम् ॥२०॥
 आभिजात्यं जयो रूपं विद्यां यशः श्रियम् । विभुत्वं विक्रमं कान्तिमीहिकं पारलौकिकम् ॥२१॥
 प्रीतिमप्रीतिमादेयमनादेयं कृपां क्षमाम् । हानिं वृद्धिं गुणान् दोषान् गणयन्ति न योचितः ॥२२॥
 धर्मः कामश्च^{१८} सन्नेपोचितेनायं तु सत्पथः । क्रीणन्त्यर्थं^{१९} स्त्रियस्ताभ्यां भिक् तासां दूश्चगृभ्युताम्^{२०} ॥२३॥

किसी दूसरे दिन वही राजा जयकुमार हाथीपर सवार होकर फिर उसी वनमें गया और वहाँ अपने साथ-साथ मुनिराजसे धर्म श्रवण करनेवाली सर्पिणीको काकोदर नामके किसी विजातीय सर्पके साथ देखकर बहुत ही कुपित हुआ तथा उन दोनों सर्प सर्पिणीको धिक्कार देकर क्रीड़ाके नील कमलसे उन दोनोंका ताड़न किया ॥१२-१३॥ वे दोनों वहाँसे भागे किन्तु पैदल चलने-वाले सेनाके सभी लोग भागते हुए उन दोनोंको लकड़ी तथा ढेलोंसे मारने लगे सो उचित ही है क्योंकि इस संसारमें दुराचारी पुरुषोंपर कौन क्रोध नहीं करता है ? ॥१४॥ उन घावोंके द्वारा दुःखसे व्याकुल हुआ वह पापी सर्प उसी समय मरकर गंगा नदीमें काली नामका जल-देवता हुआ ॥१५॥ जिसे भारी पश्चात्ताप हो रहा है ऐसी वह सर्पिणी हृदयमें निश्चल धर्मको धारण कर मरी और मरकर अपने पहलेके पति नागकुमारदेवकी स्त्री हुई । वहाँ जाकर उसने उसे राजाके द्वारा अपने मरणकी सूचना दी ॥१६॥ वह नागकुमार देव भी उसे देखकर क्रोधसे ऐसा मानने लगा कि इस दुष्ट राजाने अहंकारसे इस बेधारी सर्पिणीको व्यर्थ ही मार दिया ॥१७॥ उस मूर्खने इसे विधवा जाना, यह न जाना कि इसका मेरा जैसा पति है इसलिए मैं जबतक उसका प्राण हरण न करूँ तबतक सर्प (नागकुमार) कैसे कहला सकता हूँ ? ऐसा सोचता हुआ वह नागकुमार जयकुमारको काटनेकी इच्छासे शीघ्र ही उसके घर आया सो ठीक ही है क्योंकि तिर्यञ्च भी स्त्रियोंका पराभव सहन नहीं कर सकते हैं ॥१८-१९॥ जयकुमार रात्रिके समय शयनागारमें अपनी रानी श्रीमतीसे कह रहा था कि हे प्रिये, आज मैंने एक कौतुक देखा है उसे सुन, ऐसा कहकर उसने उस सर्पिणीकी सब कुचेष्टाएँ कहीं ॥२०॥ इसी प्रकरणमें वह कहने लगा कि देखो, स्त्रियाँ कुलीनता, अवस्था, रूप, विद्या, चारित्र्य, यश, लक्ष्मी, प्रभुता, पराक्रम, कान्ति, इहलोक-परलोक, प्रीति, अप्रीति, ग्रहण करने योग्य, ग्रहण न करने योग्य, दया, लज्जा, हानि, वृद्धि, गुण और दोषको कुछ भी नहीं गिनती हैं ॥२१-२२॥ धनके द्वारा धर्म और कामका संचय करना चाहिए यह तो

१ आगच्छत् । २ सर्पिणीम् । ३ आकर्णितवतीम् । ४ अन्यजातिसर्पेण सह कामक्रीडां कुर्वतीम् । ५ ताडयति स्म । ६ घ्नन्ति स्म । ७ कोपं करोति । ८ निजभर्तृवरनागामरस्य । ९ नृपेण जातनिजमरणम् । १० जयेन । ११ अगतिः । १२ पतिम् । १३ तत्प्राणान् हरे ल०, म०, अ० । १४ दंशितुमिच्छुः । १५ शय्यागृहे । १६ निजप्रियायाः । १७ कुलजत्वम् । १८ संवेतुं योग्यः । १९ धर्मकामाभ्याम् । २० समृद्धाभिलाषिताम् ।

वृश्चिकस्य विषं पश्चात् पञ्चमस्य विषं पुरः । योधितां दूषितेच्छानां^१ विश्वतो विषमं विषम् ॥१०४॥
 सत्याभासैर्नतैः स्त्रीणां वञ्चिता ये न धीधनाः । दुःश्रुतीनामिवैताभ्यो मुक्तास्ते मुक्तिवद्भवाः ॥१०५॥
 तासां किमुच्यते क्रोधः प्रसादोऽपि भयंकरः । हृत्पथधीकान्^२ प्रविश्यान्तरगाधसरितां यथा ॥१०६॥
 'जालकैरिन्द्रजालेन' वञ्चया ग्राम्या^३ हि मायया । ताभिः^४ सेन्द्रो^५ 'गुरुर्वञ्च्यस्तन्मायामातरः'^६ स्त्रियः ॥
 ताः श्रयन्ते गुणाश्चैव नाशभीत्या यदि श्रिताः । सिद्ध्यन्ति न विरं प्रान्ते नश्यन्त्यपि च ते स्थिताः ॥१०८॥
 दोषाः किं तन्मयास्तासु दोषाणां किं समुद्रधः । तासां दोषेभ्य इत्थत्र न कस्यापि विनिष्कयः ॥१०९॥
 निर्गुणान् गुणिनो मन्तुं गुणिनः खलु निर्गुणान् । 'नाशकत् परमात्माऽपि मन्थ्यते ता'^७ हि हेतुया ॥
 मोक्षो गुणमयो नित्यो^८ 'दोषमयः स्त्रियश्चलाः । तासां नेच्छन्ति निर्वाणमत एवाससूक्तिषु ॥१११॥
 लक्ष्मीः सरस्वती कीर्तिर्भुक्तिस्त्वमिति विभुताः । दुर्लभास्तासु वल्लीषु कल्पवृक्षे इव प्रिये ॥११२॥
 हृत्पथेऽहं तत्पथुस्त्वा तं^९ 'जिघांसुरहिस्तदा । पापिना चिन्तितं पापं मया पापापकृत्यतः'^{१०} ॥११३॥

समीचीन मार्ग है परन्तु स्त्रियाँ धर्म और कामसे धन खरीदती हैं अतः उनकी इस बड़ी हुई लोलुपताको विषकार हो ॥१०३॥ विष बिच्छूके पोछे (पूँछपर) और साँपके आगे (मुँहमें) रहता है परन्तु जिनकी इच्छाएँ दुष्ट हैं ऐसी स्त्रियोंके सभी ओर विषम विष भरा रहता है ॥१०४॥ खोटी श्रुतियोंके समान इन स्त्रियोंके सत्याभास (ऊपरसे सत्य दिखानेवाले परन्तु वास्तवमें झूठे) नमस्कारोंसे जो बुद्धिमान् नहीं ठगे जाते हैं—इनसे बचे रहते हैं वे ही मुक्तिरूपी स्त्रीके वल्लभ होते हैं । भावार्थ—जिस प्रकार कुशास्त्रोंसे न ठगाये जाकर उनसे सदा बचे रहनेवाले पुरुष मुक्त होते हैं उसी प्रकार इन स्त्रियोंके हावभाव आदिसे ठगाये जाकर उनसे बचे रहनेवाले—दूर रहनेवाले पुरुष ही मुक्त होते हैं ॥१०५॥ जिन स्त्रियोंकी प्रसन्नता ही भयंकर है उनके क्रोधका क्या कहना है । जिस प्रकार गहरी नदियोंकी निर्मलता मूर्ख लोगोंको भीतर प्रविष्ट कर मार देती है उसी प्रकार स्त्रियोंकी प्रसन्नता भी मूर्ख पुरुषोंको अपने अधीन कर नष्ट कर देती है ॥१०६॥ इन्द्रजाल करनेवाले अपने इन्द्रजाल अथवा मायासे मूर्ख ग्रामीण पुरुषोंको ही ठगा करते हैं परन्तु स्त्रियाँ इन्द्र सहित बृहस्पतिको भी ठग लेती हैं इसलिए स्त्रियाँ मायाचारकी माताएँ कही जाती हैं ॥१०७॥ प्रथम तो गुण स्त्रियोंका आश्रय लेते ही नहीं हैं यदि कदाचित् आश्रयके अभावमें अपना नाश होनेके भयसे आश्रय लेते भी हैं तो अधिक समय तक नहीं ठहरते और कदाचित् कुछ समयके लिए ठहर भी जाते हैं तो अन्तमें अवश्य ही नष्ट हो जाते हैं ॥१०८॥ दोषोंका तो पूछना ही क्या है ? वे तो स्त्रीस्वरूप ही हैं अथवा दोषोंकी उत्पत्ति स्त्रियोंमें है अथवा दोषोंसे स्त्रियोंकी उत्पत्ति होती है इस बातका निश्चय इस संसारमें किसीको भी नहीं हुआ है ॥१०९॥ निर्गुणोंको गुणी और गुणियोंको निर्गुण माननेके लिए परमात्मा भी समर्थ नहीं है परन्तु स्त्रियाँ ऐसा अनायास हो मान लेती हैं ॥११०॥ मोक्ष गुण स्वरूप और नित्य है परन्तु स्त्रियाँ दोषस्वरूप और चंचल हैं मानो इसीलिए अरहन्तदेवके शास्त्रोंमें उनका मोक्ष होना नहीं माना गया है ॥१११॥ हे प्रिये, जिस प्रकार लताओंमें कल्पलता दुर्लभ है उसी प्रकार स्त्रियोंमें लक्ष्मी, सरस्वती, कीर्ति, भुक्ति और तू ये प्रसिद्ध स्त्रियाँ अत्यन्त दुर्लभ हैं ॥११२॥ यह सब जयकुमारने अपनी स्त्रीसे कहा, उसे सुनकर जयकुमारको

१ दुष्टकाञ्छानाम् । २ दुष्टकाश्चाणाम् । ३ प्रवेशं कारयित्वा । ४ वञ्चकः । ५ इन्द्रजालसंजातया माययेति संबन्धः । ६ परीक्षाशास्त्रबहिर्भूताः । ७ स्त्रीभिः । ८ इन्द्रजालादिदेवताभूतेन्द्रसहितः । ९ सदिन्द्रमन्त्री बृहस्पतिः । १० तत् कारणात् । ११ नाशकत् । १२ स्त्रियः । १३ दोषवत्य—ल०, म० । १४ हन्तुमिच्छः । १५ पापिष्ठायाः निह्नुवात् । 'अपलापस्तु निह्नुवः' इत्यभिधानात् ।

आर्याणामपि वाग्भूयां विचार्या कार्यवेदिभिः । वर्ज्याः किं पुनर्तार्याः कामिनां का विचारणा ॥११४॥
 भवेऽस्मिन्नेव भव्योऽयं भविष्यति मयान्तकः । तन्नास्य मयमन्येभ्यो भयमेतन्नयैषिणाम् ॥११५॥
 अहं कृतः कृतो धर्मः संसारविषयः सोऽहम्भुजः । उगेह सुक्तिपर्यन्तो नान्यत् सरसंगमादितम् ॥११६॥
 इत्यनुध्याय निःकोपः कृतवेदी जयं स्वयम् । रक्षैरनर्थैः संपूज्य स्वप्रपन्नं निगद्य च ॥११७॥
 मां स्वकार्ये स्मरेत्युक्त्वा स्वावासं प्रत्यसौ गतः । हस्ताऽभ्युर्जितपुण्यानां भवत्यभ्युदयावहः ॥११८॥
 स चक्रिणा सहाक्रम्य दिक्चक्रं व्यक्तविक्रमः । क्रमाश्रित्यभ्य'भ्यायाम' संयमीव कामं भितः ॥११९॥
 ज्वलत्प्रतापः सौम्योऽपि निर्गुणोऽपि गुणाकरः । सुसर्वाङ्गोऽयमक्रामः सुखेन स्वपुरे स्थितः ॥१२०॥
 अथ त्रेशोऽस्ति विस्तीर्णः काशिस्तत्रैव' विभ्रुतः । पिण्डीभूता मयात्काललुप्टाकादिषु' भोगभूः ॥१२१॥
 तदापि खलु विचन्ते कल्पवल्लीपरिष्कृताः । दुभाः कल्पद्रुमाभासाश्चिन्तास्तत्र कश्चित् कश्चित् ॥१२२॥
 सत्रैवामीष्टमावर्ज्य' यत्तत्रै' वासुभूयते । ते' तज्जेतेति निःशङ्कं शङ्के स्वर्गापवर्गयोः ॥१२३॥

भारतेकी इच्छा करनेवाला वह नागकुमार अपने मनमें कहने लगा कि देखो उस स्त्रीके पाप छिपानेसे ही मुझ पापीने इस पापका चिन्तवन किया है ॥११३॥ कार्यके जाननेवाले पुरुषोंको सज्जनोंके वचनोंपर भी एक बार पुनः विचार करना चाहिए फिर त्याग करने योग्य स्त्रियोंके वचनोंकी तो बात ही क्या है ? उनपर तो अवश्य ही विचार करना चाहिए परन्तु कामी जनोको यह विचार कहाँ हो सकता है ? ॥११४॥ यह भव्य जीव इसी भवमें संसारका नाश करनेवाला होगा, इसलिए इसे अन्य लोगोंसे कुछ भय होनेवाला नहीं है बल्कि जो इसे भय देना चाहते हैं उन्हें ही यह भय है ॥११५॥ मैं कहाँ ? और यह धर्म कहाँ ? यह धर्म भी मुझे इसीके संसर्गसे प्राप्त हुआ है इसलिए इस संसारमें मुझे मोक्ष प्राप्त होने तक सज्जनोंके समागम-के सिवाय अन्य कुछ कल्याण करनेवाला नहीं है ॥११६॥ ऐसा विचारकर वह नागकुमार क्रोधरहित हुआ, उपकारको जानकर उसने अमूल्य रत्नोंसे स्वयं जयकुमारकी पूजा की, उसे मारने आदिके जो विचार हुए थे वे सब उससे कहे और अपने कार्यमें मुझे स्मरण करना इस प्रकार कहकर वह अपने स्थानको लौट गया सो ठीक ही है क्योंकि जिसका पुण्य तेज है उसका मारनेवाला भी कल्याण करनेवाला हो जाता है ॥११७-११८॥ व्यक्त पराक्रमको धारण करनेवाला वह जयकुमार चक्रवर्ती भरत महाराजके साथ-साथ सब दिशाओंपर आक्रमण कर और अनुक्रमसे इधर-उधरका फिरना बन्द कर संयमीके समान शान्तभावका आश्रय करने लगा ॥११९॥ जो सौम्य होनेपर भी प्रज्वलित प्रतापका धारक था, निर्गुण (गुणरहित, पक्षमें सबमें मुख्य) होकर भी गुणाकर (गुणोंकी खानि) था और सुसर्वांग (जिसके सब अंग सुन्दर हैं ऐसा) होकर भी अनङ्गाभ (शरीररहित, पक्षमें कामदेवके समान कान्तिवाला) था ऐसा वह जयकुमार सुखसे अपने नगरमें निवास करता था ॥१२०॥

अथानन्तर—इसी भरतक्षेत्रमें एक प्रसिद्ध और बहुत बड़ा काशी नामका देश है जो कि ऐसा विदित होता है मानो कालरूपी लुटेरेके भयसे भोगभूमि ही आकर एक जगह एकत्रित हो गयी हो ॥१२१॥ वहाँपर कहीं-कहीं उस समय भी कल्पलताओंसे घिरे हुए कल्पवृक्षोंके समान अनेक प्रकारके वृक्ष विद्यमान थे ॥१२२॥ चूँकि अपनी अभीष्ट वस्तुओंको प्राप्त कर उनका उपभोग उसी देशमें किया जाता था इसलिए मैं ऐसा समझता हूँ कि वह काशी देश

१ कृतज्ञः । २ घातकः । ३ निरुद्धः । विविधव्यापारमिति शेषः । त्यक्त्वा विविधव्यापारमित्यर्थः । ४ विविध-गमनम् । ५ अप्रमानरहितोऽपि । “गुणोऽप्रधाने कृपाक्षी मोक्ष्यां शूके वृकोदरे । शुभे सत्त्वादिसंख्यादिविद्यादि-हरितादिषु” इत्यभिधानात् । ६ भरतक्षेत्रे । ७ दुःकालचोरात् सज्जातात् । ८ स्त्रीकृत्य । ९ यस्मात् कारणात् । १० देशे । ११ देशः । १२ तस्मात् कारणात् ।

वाराणसी पुरी तत्र जिखा तामामरीं पुरीम् ।^१ भ्रमणैस्तद्विमानानि स्वसौधैरिव^२ साऽहसीत्^३ ॥१२४॥
 प्राक् समुच्चितदुष्कर्मा न^४ तत्रोत्पत्सुमर्हति । प्रमादादपि तजोऽपि स्यात् किं पापी नभस्यपि ॥१२५॥
 एवं भवन्नयश्चेयःसूचनी धर्मवर्त्मनि । विनेयान् जिनविद्येव^५ साऽवस्थानं^६ व्यवीवृतत्^७ ॥१२६॥
 नामैव कम्पितारातिस्तस्याः पतिरकम्पनः । विनीत^८ इव विद्यायाः स्वाभिप्रेतार्थसंपदः^९ ॥१२७॥
 पुरोपाजितपुण्यस्य वर्द्धने रक्षणे श्रियः । न नीतिः^{१०} किन्तु कामे च धर्मे चास्योपयोगिनी ॥१२८॥
 न हर्ता केवलं दाता न हन्ता पाति केवलम् । सर्वास्त^{११} त्पालयामास स^{१२} धर्मविजयी प्रजाः ॥१२९॥
 पारमात्ये पदे पूज्यो भरतेन यथा पुरः । गृहाश्रमे तथा सोऽपि सा तस्य कुलवृद्धता ॥१३०॥
 तस्यासीत्सुप्रभादेवी श्रीतांशोर्वा प्रभा तथा । सुसुप्ते कुमुदाबोधं विदधत् स कलाश्रयः ॥१३१॥
 न लक्ष्मीरपि तन्मील्यै सती सा सुप्रजा^{१३} यथा । सफला इव सहस्रवः पुत्रवत्यः श्रियः प्रियाः ॥१३२॥

निःसन्देह स्वर्ग और मोक्षको जीतनेवाला था ॥ १२३ ॥ उस काशीदेशमें एक वाराणसी (बनारस) नामकी नगरी थी जो कि अपने अपरिमित राजभवनोंसे अमरपुरीको जीतकर उसके विमानोंकी हँसी करती हुई-सी जान पड़ती थी ॥ १२४ ॥ जिसने पूर्वजन्ममें पापकर्मोंका संचय किया है ऐसा जीव उस वाराणसी नगरीमें उत्पन्न होने योग्य नहीं था । तथा उसमें उत्पन्न हुआ जीव प्रमादसे भी क्या कभी मनमें भी पापी हो सकता था ? अर्थात् नहीं ॥ १२५ ॥

इस तरह भूत, भविष्यत् और वर्तमानसम्बन्धी तीनों भवोंके कल्याणको सूचित करने-वाली वह नगरी जिनवाणीके समान दूसरी जगह रहनेवाले शिष्य लोगोंको भी धर्ममार्गमें प्रवृत्त कराती थी ॥ १२६ ॥ जिस प्रकार विनयी मनुष्य विद्याका स्वामी होता है उसी प्रकार अपने नामसे ही शत्रुओंको कम्पित कर देनेवाला राजा अकम्पन उस नगरीका स्वामी था । जिस प्रकार विद्या अपने अभिलषित पदार्थोंको देनेवाली होती है उसी प्रकार वह नगरी भी अभिलषित पदार्थोंको देनेवाली थी ॥ १२७ ॥ पूर्व जन्ममें पुण्य उपार्जन करनेवाले उस राजा-की नीति केवल लक्ष्मीके बढ़ाने और उसकी रक्षा करनेमें ही काम नहीं आती थी किन्तु धर्म और कामके विषयमें भी उसका उपयोग होता था ॥ १२८ ॥ वह राजा केवल प्रजासे कर वसूल ही नहीं करता था किन्तु उसे कुछ देता भी था और केवल दण्ड ही नहीं देता था किन्तु रक्षा भी करता था । इस प्रकार धर्म-द्वारा विजय प्राप्त करनेवाला वह राजा समस्त प्रजाका पालन करता था ॥ १२९ ॥ राजा अकम्पनके कुलका बड़प्पन यही था कि भरतमहाराज परमात्म-पदमें जिस प्रकार भगवान् वृषभदेवको पूज्य मानते थे उसी प्रकार गृहस्थाश्रममें उसे पूज्य मानते थे ॥ १३० ॥ उसके सुप्रभा नामकी देवी थी जो कि चन्द्रमाकी प्रभाके समान थी । जिस प्रकार चन्द्रमा अनेक कलाओंका आश्रय हो अपनी प्रभासे कुमुदाबोध अर्थात् कुमुदिनियों-का विकास करता हुआ प्रसन्न (निर्मल) रहता है उसी प्रकार वह राजा भी अनेक कलाओं-विद्याओंका आश्रय हो अपनी सुप्रभा देवीसे कुमुदाबोध अर्थात् पृथिवीके समस्त जीवोंके आनन्द-का विकास करता हुआ प्रसन्न रहता था ॥ १३१ ॥ उत्तम सन्तान उत्पन्न करनेवाली वह पतिव्रता सुप्रभादेवी जिस प्रकार राजाको आनन्दित करती थी उस प्रकार लक्ष्मी भी उसे आनन्दित नहीं कर सकती थी सो ठीक ही है क्योंकि जिस प्रकार अच्छे फल देनेवाली उत्तम लताएँ प्रिय

१ प्रमाणातीतः । २ पुरी । ३ हसति स्म । ४ नगर्याम् । ५ दिव्यभाषेव । ६ नगरी । ७ देशान्तरस्थान् ।
 ८ वर्तयति स्म । ९ विनेयपरः । १० निजाभीष्टार्थसम्पदं यस्यां सा तस्याः । ११ नयनं करणम् । १२ तत्
 कारणत् । १३ अकम्पनः । १४ शोभनाः प्रजा अपत्यानि यस्याः सा सुप्रजाः । सत्पुत्रवतीत्यर्थः ।

तस्यां तन्नायवंशाग्रगण्यस्येवांशो रवेः । प्राच्या दीपत्यासदिकचक्राः सहस्रमभवन् सुताः ॥१३३॥

हेमाङ्गदसुकेतुश्रीसुकान्ताद्याङ्कुरैः स तैः । वेष्टितः संन्यदीपिष्ट शक्रः सामानिकैरिव ॥१३४॥

हिमवत्पद्मयोगाङ्गासिन्धु इव ततस्तयोः^१ । सुते सुलोचना लक्ष्मीमती चास्तां सुलक्षणे ॥१३५॥

सुलोचनाऽसौ बालेव लक्ष्मीः सर्वमनोरमा । कलागुणैरभासिष्ट चन्द्रिकेव प्रवर्जिता ॥१३६॥

सुमस्याद्याऽमलाः शुक्लनिषेवावर्जयत् कलाः । भात्री शशाङ्करेखायास्तस्याः सातिमनोहराः ॥१३७॥

अभूत् रागी स्वयं^२ रागस्त^३ क्रमाञ्जं समाश्रितः । रागाय कस्य वा न स्यात् स्फोचितस्थानसंश्रयः ॥१३८॥

नखेन्दुचन्द्रिका तस्याः शशत्कुवलयं किल । विश्वमाह्लादय^४ चित्रमनुवृत्त्या^५ क्रमाञ्जयोः ॥१३९॥

रेजुरंगुलयस्तस्याः कमयोर्नखरोजिषा । इयन्त इति महेशाः^६ स्मरेणेव निवेदिताः ॥१४०॥

नताशेषो जयः^७ स्नेहादमंसीत्^८ ततस्तयोः । या श्रीः क्रमाञ्जयोस्तस्याः सा किमस्ति सरोरुहं ॥१४१॥

होती है उसी प्रकार उत्तम पुत्र उत्पन्न करनेवाली स्त्रियां भी प्रिय होती हैं ॥ १३२ ॥ जिस प्रकार पूर्व दिशासे अपनी कान्तिके द्वारा समस्त दिशाओंको प्रकाशित करनेवाली सूर्यकी किरणें उत्पन्न होती हैं उसी प्रकार उस सुप्रभादेवीसे नाथवंशके अग्रगण्य राजा अकम्पनके अपनी दीप्ति अथवा तेजके द्वारा दिशाओंको वश करनेवाले हजार पुत्र उत्पन्न हुए थे ॥ १३३ ॥ हेमाङ्गद, सुकेतुश्री और सुकान्त आदि उन पुत्रोंसे घिरा हुआ वह राजा ऐसा सुशोभित होता था जैसा कि सामानिक देवोंसे घिरा हुआ इन्द्र सुशोभित होता है ॥ १३४ ॥ जिस प्रकार हिमवान् पर्वत और पद्म नामकी सरसीसे गंगा और सिन्धु ये दो नदियाँ निकलती हैं उसी प्रकार राजा अकम्पन और रानी सुप्रभाके सुलोचना तथा लक्ष्मीमती ये उत्तम लक्षणोंवाली कन्याएँ उत्पन्न हुई थीं ॥ १३५ ॥ वह बालिका सुलोचना लक्ष्मीके समान सबके मनको आनन्दित करनेवाली थी और अपने कलारूपी गुणोंके द्वारा चाँदनीके समान वृद्धिको प्राप्त होती हुई सुशोभित हो रही थी ॥ १३६ ॥ जिस प्रकार शुक्ल पक्षकी रात्रि चन्द्रमाकी रेखाओंकी अत्यन्त मनोहर कलाओंको बढ़ाती है उसी प्रकार सुमित्रा नामकी धाय उस सुलोचनाकी अतिशय मनोहर कलाओंको बढ़ाती थी—उसके शरीरका लालन-पालन करती थी ॥ १३७ ॥ राग अर्थात् लालिमा उस सुलोचनाके चरण-कमलोंका आश्रय पाकर स्वयं रागी अर्थात् राग करनेवाला अथवा लाल गुणसे युक्त हो गया था सो ठीक ही है क्योंकि अपने योग्य स्थानका आश्रय किसके रागके लिए नहीं होता ? ॥ १३८ ॥ आश्चर्य है कि उसके नखरूपी चन्द्रमाकी चाँदनी दोनों चरण-कमलोंके अनुकूल रहकर भी समस्त कुवलय अर्थात् कुमुदिनियोंको अथवा पृथ्वीमण्डलके आनन्दको निरन्तर विकसित करती रहती थी । भावार्थ — चाँदनी कभी कमलोंके अनुकूल नहीं रहती, वह उन्हें निमीलित कर देती है परन्तु सुलोचनाके नखरूपी चन्द्रमाकी चाँदनी उसके चरणकमलोंके अनुकूल रहकर भी कुवलय — नीलकमल (पक्षमें महीमण्डल) को विकसित करती थी यह आश्चर्यकी बात थी ॥ १३९ ॥ उसके दोनों पैरोंकी अँगुलियाँ नखोंकी किरणोंसे ऐसी अच्छी जान पड़ती थीं मानो मेरे वेग इतने ही हैं यही समझकर कामदेवने ही स्थापन की हों । भावार्थ—अभिलाषा, चिन्ता आदि कामके दश वेग हैं और दोनों पैरोंकी अँगुलियाँ भी दश हैं इसलिए वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो कामदेवने अपने वेगोंकी संख्या बतलानेके लिए ही उन्हें स्थापित किया हो ॥ १४० ॥ जिसे सब लोग नमस्कार करते हैं ऐसा जयकुमार भी जिन्हें

१ तेजसा । २ अकम्पनसुप्रभयोः । ३ अरुणगुणः । ४ सुलोचनाचरण । ५ मोदति स्म । ६ अनुकूलवृत्त्या । ७ मम सदृशावस्थाः । ८ जयकुमारः । ९ नमस्करोति स्म । १० क्रमाञ्जे ।

* "अभिलाषश्चिन्तास्मृतिगुणकथनोद्वेगसंप्रलापाश्च ।

उन्मादोऽथ व्याधिर्जडता मूर्तिरिति दशाश्च कामदशाः ॥"—साहित्यदर्पणे ।

न स्थूले न कृशो न रज्जु न वक्रं न च सङ्कटे^१ । विकटे^२ न च तज्जङ्घे शोभाऽन्यैर्नयोरस्मा^३ ॥१४२॥
 काञ्चीस्थानं^४ तदालोच्येवोरु स्थूले सुसङ्गते । कायगर्भगृहद्वारस्तम्बवद्व्याकृती कृते ॥१४३॥
 वेदिकेन मनोजस्य शिरो वा^५ स्मरदन्तिनः । सानुर्वाऽनङ्गशैलस्य शुशुभेऽस्याः कटीतटम् ॥१४४॥
 कृत्वा कृशं भृशं मध्यं बद्धं भङ्गमवादिब । रज्जुभिस्तिग्मभिर्धात्रा^६ वलिभिर्गोदभाजम् ॥१४५॥
 नाभिकूपप्रवृत्तास्या^७ रसमार्गसमुद्गता । श्यामा शाङ्खलमालेव^८ रोमराजिर्धराजस ॥१४६॥
 भिक्षो युक्ती मृदुस्तब्धा^९ उष्णी सन्तापहारिणी । स्तनौ विस्तृधर्माणौ स्याद्वादस्थितिमूहतुः ॥१४७॥
 सहवक्षोनिवासिन्या समावलिप्य जयः श्रिया । स्वीकृतो यदि चेत्ताभ्यां^{१०} वषर्धेले तद्भुजौ कथम् ॥१४८॥
 वीरलक्ष्मीपरिवृत्तजयदक्षिणबाहुना । सवामेन^{११} परिवृत्त^{१२} स्तरकण्ठस्तद्वत् कोणमा ॥१४९॥
 निःकृपी^{१३} पेशली^{१४} श्लक्ष्णी तत्कपोली विलेसतुः । कान्तौ कलभदन्तामौ जयवक्त्राब्जदर्पणा^{१५} ॥१५०॥
 वटविम्बप्रवालादिनोपमेयमपीप्यते^{१६} । अधरस्थातिवृत्त्वात् वर्णाकाररसादिभिः ॥१५१॥

बड़े स्नेहसे नमस्कार करेगा ऐसे उसके दोनों चरणकमलोंमें जो शोभा थी वह क्या कमलोंमें हो सकती है ? अर्थात् नहीं ॥१४१॥ उसकी दोनों जंघाएँ न स्थूल थीं, न कृश थीं, न सीधी थीं, न टेढ़ी थीं, न मिली हुई थीं और न दूर-दूर ही थीं । उसकी दोनों जंघाओंकी शोभा निरालो ही थी ॥१४२॥ उसके करवनी पहननेके स्थान—नितम्बस्थलको देखकर ही मानो स्थूल, परस्परमें मिले हुए और कामदेवके गर्भगृहसम्बन्धी दरवाजेसे खम्भोंकी लकड़ीके समान दोनों ऊँच बनाये गये थे ॥१४३॥ उसका नितम्ब प्रदेश ऐसा अच्छा जान पड़ता था मानो कामदेवकी वेदी ही हो अथवा कामदेवरूपी हाथीका शिर ही हो अथवा कामदेवरूपी पर्वतका शिखर ही हो ॥१४४॥ उसका मध्यभाग ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो विधाताने उसे पहले तो अत्यन्त कृश बनाया हो और फिर टूट जानेके भयसे त्रिवलीरूपी तीन रस्सियोंसे मजबूत बाँध दिया हो ॥१४५॥ नाभिरूपी कुण्डसे निकली हुई उसकी रोमराजि ऐसी अच्छी सुशोभित हो रही थी मानो जलमार्गसे निकली हुई हरी-हरी छोटी घासकी पङ्क्ति ही हो ॥१४६॥ उसके स्तन भिन्न-भिन्न होकर भी (स्थूल होनेके कारण) एक दूसरेसे मिले हुए थे, कोमल होकर भी (उन्नत होनेके कारण) कठोर थे, और उष्ण होकर भी (आह्लादजनक होनेके कारण) संतापको दूर करनेवाले थे, इस प्रकार विरुद्ध धर्मोंको धारण करनेवाले उसके दोनों स्तन स्याद्वादकी स्थितिको धारण कर रहे थे ॥१४७॥ चूँकि उसकी दोनों भुजाओंने वक्षस्थलपर निवास करनेवाली लक्ष्मीके साथ आलिङ्गन कर जयकुमारको स्वीकृत किया है इसलिए उनका वर्णन भला कैसे किया जा सकता है ? ॥१४८॥ उसका कण्ठ वीर लक्ष्मीसे सुशोभित जय-कुमारके दायें और बायें दोनों हाथोंसे आलिङ्गनको प्राप्त हुआ था अतः उसकी उपमा क्या हो सकती है । भावार्थ—उसकी उपमा किसके साथ दी जा सकती है ? अर्थात् किसीके साथ नहीं—वह अनुपम था ॥१४९॥ हाथीके बच्चेके दाँतकी आभाको धारण करनेवाले उसके निष्कूप, कोमल और विकने दोनों कपोल ऐसे अच्छे जान पड़ते थे मानो जयकुमारका मुखकमल देखनेके लिए सुन्दर दर्पण ही हों ॥१५०॥ वटकी कोपल, विम्बी फल और मूंगा आदि प्रदार्थ, वर्ण, आकार और रस आदिमें ओठोंसे बहुत दूर हैं अर्थात् उसके ओठोंके समान न तो

१ सङ्कीर्ण । २ विशाले । ३ विलक्षण । ४ कटीतटम् । ५ आलोक्य । ६ द्वय । ७ ब्रह्मणा । ८ सुलोचनायाः । ९ जलमार्ग । १० हरितपङ्क्तिः । 'शाङ्खलः शादहरिते' इत्यभिधानात् । आङ्खल-
 ल०, म०, अ०, ॥ ११ कटिनी । १२ सुलोचनाभुजाभ्याम् । १३ वामभुजसहितेन । १४ आलिङ्गितः ।
 १५ जनसन्तापहेतुत्वात् । १६ कोमली । १७ रज्जुः । १८ जयकुमारमुख । १९ अपिशब्दात् केवल-
 मुपमायं न ।

चिताः सिताः समाः स्निग्धा दम्भाः कामलाः प्रमान्विताः । अमृतः करोति तद्वक्त्रं तामेव कथमन्यथा ॥१५१॥
 कुतः^१ कृता समुत्तङ्गा स्वादमानास्यसौरभम् । मध्येवक्त्रं किमप्यास्ते न सती यदि नासिका^२ ॥१५२॥
 कर्णान्तगामिनी नेत्रे^३ दृष्टे^४ नरशरोपमे । सोमवंश्यस्य कः श्रेयः^५ पद्मोत्पलजये तथो^६ ॥१५३॥
 तत्कर्णविव कर्णेषु कृतपुष्पौ प्रियाश्रया^७ । तत्प्रेमालापगीतानां^८ पात्रे^९ प्रागेव तौ यतः ॥१५४॥
 तद्भूशरासनः^{१०} कामस्तत्कटाक्षशरावलिः^{११} । स्वरूपेणाजितं^{१२} मत्वा जयं मन्ये न्यजेष्ट सः ॥१५५॥
 तस्याललाटिको^{१३} वैकः कामो वीराप्रणीः स्वयम् । जयोऽपि नोद्यतिः कस्माल्ललाटस्य श्रितश्रियः ॥१५६॥
 मृदवस्तनवः स्निग्धाः कृष्णास्तस्याः सकुञ्चिताः । कामिनां केवलं कालबालभ्यालाः^{१४} शिरोरुहाः ॥१५७॥
 भाति तस्याः पुरोमागो भूषितो नयनादिभिः । सुखं^{१५} ह्यपादयत्यो^{१६} याभाति स्वयमेव सः ॥१५८॥
 ये तस्यास्तनुनिर्माणं वेधसां साधनोक्ताः^{१७} । अणवस्त्वनृणवच्छेषास्त एव परमाणवः^{१८} ॥१५९॥

इनका वर्ण है, न आकार है और न रस ही है इसलिए ही उसके ओठोंको इनमें-से किसीकी भी उपमा नहीं दी सकती थी ॥१५१॥ अवश्य ही उसके दाँत एक दूसरेसे मिले हुए थे—छिद्ररहित थे, सफेद थे, समान थे, चिकने थे, सुन्दर थे, और चमकीले थे, यदि ऐसा न होता तो सुलोचनाका मुख उन्हें भीतर ही क्यों करता ? ॥१५२॥ मुखकी सुगन्धिका स्वाद लेती हुई उसकी नाक यदि इतनी अच्छी नहीं होती तो वह इतनी ऊँची क्यों बनाई जाती ? तथा मुखके बीचमें कैसे ठहर सकती ? ॥१५३॥ अर्जुनके बाणके समान कर्णके (राजा कर्ण अथवा कानके) समीप तक जानेवाले उसके दोनों नेत्र अत्यन्त विशाल थे, उन्होंने लाल कमल और नीलकमल दोनोंको जीत लिया था फिर भला सोमवंश अर्थात् चन्द्रमापर कौन-सा आक्षेप बाकी रह गया था अथवा सोमवंश अर्थात् जयकुमारपर कौन-सा श्रेय अर्थात् कटाक्ष करना बाकी रह गया था ? ॥१५४॥ उसके कान ही सब कानोंमें अधिक पुण्यवान् थे क्योंकि वे पहलेसे ही अपने प्रिय—जयकुमारकी आज्ञासे उनके प्रेमसम्भाषण और गीतोंके पात्र हो गये थे ॥१५५॥ मैं तो ऐसा मानता हूँ कि कामदेवने जयकुमारको अपने रूपसे अजेय मानकर सुलोचनाकी भीहुरूपी घनुष और उसीके कटाक्षरूपी बाणोंके समूहसे ही उसे जीता था ॥१५६॥ उस सुलोचनाका सेवक अकेला कामदेव ही नहीं था किन्तु वीरशिरोमणि जयकुमार भी स्वयं उसका सेवक था, फिर भला शोभाको धारण करनेवाले उसके ललाटकी उन्नति—उच्चता अथवा उत्तमता क्यों न होती ? ॥१५७॥ कोमल, बारीक, चिकने, काले और कुछ-कुछ टेढ़े उसके शिरके बाल कामी पुरुषोंको केवल काले साँपोंके वच्चोंके समान जान पड़ते थे ॥१५८॥ उस सुलोचनाका आनेका भाग नेत्र आदिसे विभूषित होकर सुशोभित हो रहा था और पिछला भाग किसी सुन्दर वस्तुके समान अपने-आप ही सुशोभित हो रहा था ॥१५९॥ विधाताने उसका शरीर बनानेमें जिन अणुओंको साधन बनाया था यथार्थमें वे ही अणु परमाणु अर्थात्

१ निश्छिद्रा इत्यर्थः । २ उन्नतगुणा न सन्ति चेत् । ३ किञ्चिभित्तं निर्मिता इत्येवं पृच्छति । ४ यदि सती प्रशस्ता नासिका न स्यात् तर्हि मध्येवक्त्रं मुख्यमध्ये किं वस्तु अप्यास्ते । नासिकां मुक्ता न किमपि अधिवसितुं योग्यमित्यर्थः । ५ ध्वनी कर्णराजस्य विनाशे वर्तमाने । ६ दृष्टे किं न भक्तः, भवत एव । ७ वंशस्य ल०, म०, अ० । जयकुमारस्य । ध्वनी अर्जुनस्य । ८ तिरस्कारः । ९ नेत्रयोः । १० जयकुमार-प्रसिद्ध्या । ११ —लापनोतानां अ०, म०, ल० । १२ भाजनम् । १३ तस्या भ्रुवाद्येव शरासनं यस्य । १४ —लाटिकाः प्रभोर्भविश्रीं कार्याक्षमद्वयः । इत्यभिधानात् । न सेवकी भवति चेत् । १५ कृष्णबालभुजङ्गाः । १६ मनोज्ञपदार्थ उक्त्वा । १७ पृष्ठमान । १८ अणवस्तुनकारणीकृताः । १९ अणवो इत्यर्थः । २० उच्छिष्टाणवः ।

अतिवृद्धः क्षयासक्तः स्पष्टलक्ष्माहिमोचरः^१ । पूर्णः शेषोऽप्यसंपूर्णो^२ न तद्वक्त्रोपमो विभुः ॥१६१॥
न पश्चात्त पुरा लक्ष्मीर्बोधी^३ पक्षे क्षणे क्षणे । वक्ष्यम्यां गृह्णी शोभां सा^४ स्याद्वाद् तदानने ॥१६२॥
तन्द्रे तीव्रकरोत्सवा^५ पक्षे शीतकराहता । लक्ष्मीः साऽन्यैव तद्वक्त्रे^६ जयलक्ष्मीकरग्रहात् ॥१६३॥
रात्राविन्दुर्दिवसभोजं क्षयान्बुर्लानिवारिजम् । पूर्णदेव विकास्येव तद्वक्त्रं भान्यहर्दिवम्^७ ॥१६४॥
लक्ष्मीस्तस्येक्षितुस्तेन^८ वीक्षितस्यापि निश्चिता । किं पक्षे तादृशं येन^९ तद्वक्त्रमुपमीयते^{१०} ॥१६५॥
कुमार्यां त्रिजगजेता जितः पुष्पशरासमः^{११} । स वीरः कः परो लोके यो न जय्योऽग्रतोऽभया^{१२} ॥१६६॥
कुमार्यैव जितः कामो वीरः पञ्चाजयो जितः । स्त्रीमृष्टिः कियती नाम विजयेऽस्याः सहस्रिषा ॥१६७॥

उत्कृष्ट अणु थे और उनसे बाकी बचे हुए अणु तृणके समान तुच्छ थे ॥१६०॥ चन्द्रमा उसके मुखकी उपमाके योग्य नहीं था क्योंकि यदि पूर्ण चन्द्रमाकी उपमा देते हैं तो वह बहुत बृद्ध अर्थात् बड़ा है, उसका क्षय निकट है, कलंक उसका स्पष्ट दिखलाई देता है और राहु उसे दबा देता है । यदि अपूर्ण चन्द्रमाकी उपमा देते हैं तो वह स्वयं अपूर्ण है—अधूरा है । भावार्थ—उसका मुख तरुण, अविनश्वर, निष्कलंक और पूर्ण था इसलिए पूर्ण अथवा अपूर्ण कोई भी चन्द्रमा उसके मुखकी उपमाके योग्य नहीं था ॥१६१॥ यदि कमलकी उपमा दी जावे सो भी ठीक नहीं है क्योंकि कमलमें विकसित होनेके पहले लक्ष्मी नहीं थी और न पीछे रहती है वह तो क्षण-क्षणमें विकसित होती रहती है परन्तु उसके मुखपर-की लक्ष्मी एक विलक्षण शोभाको ग्रहण करती हुई स्याद्वादका स्वरूप प्रकट करती थी । भावार्थ—उसके मुखकी शोभा सदा एक-सी रहकर भी क्षण-क्षणमें विलक्षण शोभा धारण करती थी इसलिए कमलकी शोभासे कहीं अच्छी थी और इस प्रकार स्याद्वादका स्वरूप प्रकट करती थी क्योंकि जिस प्रकार स्याद्वाद द्रव्याधिक नयसे एकरूप रहकर भी पर्यायाधिक नयसे नवीन-नवीन रूपको प्रकट करता है उसी प्रकार उसके मुखकी लक्ष्मी भी सामान्यतया एकरूप रहकर भी प्रतिक्षण विलक्षण शोभा धारण करती हुई अनेकरूप प्रकट करती थी ॥१६२॥ चन्द्रमाको शोभा सूर्यसे नष्ट हो जाती है और कमलकी शोभा चन्द्रमासे नष्ट हो जाती है परन्तु उसके मुखकी शोभा जयकुमारकी लक्ष्मीका हस्त ग्रहण करनेसे विलक्षण ही हो रही थी ॥१६३॥ चन्द्रमा रातमें सुशोभित होता है और कमल दिनमें प्रफुल्लित रहता है, चन्द्रमाका क्षय हो जाता है और कमल मुरझा जाता है परन्तु उसका मुख पूर्ण ही था, विकसित ही था और रात-दिन सुशोभित ही रहता था ॥१६४॥ सुलोचनाके मुखको जो देखता था उसकी शोभा बढ़ जाती थी और सुलोचनाका मुख जिसे देखता था उसकी शोभा भी निश्चित रूपसे बढ़ जाती थी । कमलमें क्या ऐसा गुण है जिससे कि उसे सुलोचनाके मुखकी उपमा दी जा सके ? ॥१६५॥ उसने कुमारी अवस्थामें ही तीनों जगत्को जीतनेवाला कामदेव जीत लिया था फिर भला संसारमें ऐसा दूसरा कौन वीर था जो आगे युवावस्थामें उसके द्वारा न जीता जाये ? ॥१६६॥ इसने कुमारी अवस्थामें कामदेवको जीत लिया था और तरुण अवस्थामें जयकुमारकी जीता था फिर भला इसके जीतनेके लिए

१ राहुमोचरः । (विपयः) । २ कलाशेषोऽपि । कलाहीन इत्यर्थः । बालचन्द्रोऽपि । ३ विकासशीला ।
४ लक्ष्मीः । ५ हता । ६ जयस्य लक्ष्मीः । ७ -स्यहर्दिवम् अ०, प०, स०, इ०, ल०, म० । ८ धर्मस्व ।
९ वक्त्रेण । १० येन धर्मेण सतः । ११ तादृशं धर्मं पक्षे किमस्ति ? नास्तीत्यर्थः । वीक्षितस्यापि अपिशब्दात्
तद्धर्मो न दृष्टोऽस्ति । ननुपि पुण्यस्य तस्य पश्यस्थितधर्मस्य लक्ष्मीः शोभा तेन सह तद्वक्त्रेण सह ईक्षितुः
वीक्षमाणस्य जनस्य विजयिता स्यात् । १२ पुष्पशरासमो जितः इत्यनेन कामेन पश्यते मेन्द्रनि इत्यर्थः ।
१३ योवने ।

मृगाङ्गस्य कलङ्कोऽयं मन्येऽहं कन्ययाऽनया । स्वकान्त्या निजितस्याभूद् रोगराजं च चिन्तया^१ ॥१६८॥
 सार्धं कुवलयेनेन्दुः सह लक्ष्म्या सरोरुहम् । तद्वक्त्रेण जितं व्यक्तं किमन्यथेह जीयते ॥१६९॥
 जलाब्जं जलवासेन स्थलाब्जं सूर्यरश्मिभिः । प्राप्तुं तद्वक्त्रजां शोभां मन्येऽद्यापि तपस्यनि^२ ॥१७०॥
 शनैर्बालेन्दुरेखेव सा कलामिरवर्द्धत । वृद्धास्तस्याः प्रवृद्धाया विधुमिः स्पर्धिनौ^३ गुणाः ॥१७१॥
 इति संपूर्णसर्वाङ्गशोभां शुद्धान्ववायजाम्^४ । स्मरो^५ जयमयाह्वता^६ न तदाऽप्यकरोत् करे^७ ॥१७२॥
 काश्यन्ती जिनेन्द्रार्चाश्चित्रा^८ मणिसयीर्बहुः । तासां^९ हिरण्मयान्येव विश्वोपकरणान्यपि ॥१७३॥
 तत्प्रतिष्ठाभिषेकान्ते महापूजाः प्रकुर्वती । मुहुः स्तुतिभिरर्घ्याभिः^{१०} स्तुवती भक्तितोऽर्हतः^{११} ॥१७४॥
 ददती पात्रदानानि भानयन्ती^{१२} महामुनीन् । शृण्वती धर्ममाकण्यं भावयन्ती मुहुर्मुहुः ॥१७५॥
 आसागमपदार्थाश्च प्राप्तसम्यक्स्वशुद्धिका । अथ काश्युननन्दीश्वरेऽसौ भक्त्या जिनेश्वरिणाम् ॥१७६॥
 विधायाष्टाङ्गिकीं पूजामभ्यर्च्यार्चा यथाविधि । कृतोपवासा तन्वङ्गी शेषा^{१३} दामुसुपागता ॥१७७॥
 नृपं सिंहासनासीनं सोऽप्युत्थाय कृताञ्जलिः । तद्वत्शेषाभादाय^{१४} निधाय शिरसि स्वयम् ॥१७८॥

लक्ष्मीके साथ-साथ कितनी-सी स्त्रियोंकी सृष्टि बाकी रही थी ? भावार्थ—इसने लक्ष्मी आदि उत्तम-उत्तम स्त्रियोंको जीत लिया था ॥१६७॥ चन्द्रमाके बीच जो यह कलंक दिखता है उसे मैं ऐसा मानता हूँ कि इस कन्याने अपनी कान्तिसे चन्द्रमाको जीत लिया है इसीलिए मानो उसे चिन्ताके कारण क्षयरोग हो गया हो ॥१६८॥ उस सुलोचनाके मुखने चन्द्रमाके साथ कुवलय अर्थात् कुमुदको जीत लिया था और लक्ष्मीके साथ-साथ कमलको भी जीत लिया था फिर भला इस संसारमें और रह ही क्यों जाता है जो उसके मुखके द्वारा जीता न जा सके ॥१६९॥ मैं तो ऐसा मानता हूँ कि उसके मुखकी शोभा प्राप्त करनेके लिए जलकमल जलमें रहकर और स्थलकमल सूर्यकी किरणोंके द्वारा आजतक तपस्या कर रहा है ॥१७०॥ वह सुलोचना द्वितीयाके चन्द्रमाकी रेखाके समान कलाओंके द्वारा धीरे-धीरे बढ़ती थी और ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती थी त्यों-त्यों चन्द्रमाकी कान्तिके साथ स्पर्धा करनेवाले उसके गुण भी बढ़ते जाते थे ॥१७१॥ इस प्रकार जो समस्त अंगोंकी शोभासे परिपूर्ण है और शुद्ध वंशमें जिसकी उत्पत्ति हुई है ऐसी उस सुलोचनाको कामदेव जयकुमारके भयसे युवावस्थामें भी अपने हाथमें नहीं कर सका था ॥१७२॥

उस सुलोचनाने श्री जिनेन्द्रदेवकी अनेक प्रकारकी रत्नमयी बहुत-सी प्रतिमाएँ बनवायी थीं और उनके सब उपकरण भी सुवर्ण हीके बनवाये थे । प्रतिष्ठा तथा तत्सम्बन्धी अभिषेक हो जानेके बाद वह उन प्रतिमाओंकी महापूजा करती थी, अर्थपूर्ण स्तुतियोंके द्वारा श्री अर्हन्त-देवकी भक्तिपूर्वक स्तुति करती थी, पात्र दान देती थी, महामुनियोंका सन्मान करती थी, धर्मको सुनती थी तथा धर्मको सुनकर आप्त आगम और पदार्थोंका बार-बार चिन्तन करती हुई सम्यग्दर्शनकी शुद्धताको प्राप्त करती थी । अथानन्तर—फाल्गुन महीनेकी अष्टाङ्गिकामें उसने भक्तिपूर्वक श्री जिनेन्द्रदेवकी अष्टाङ्गिकी पूजा की, विधिपूर्वक प्रतिमाओंकी पूजा की, उपवास किया और वह कुशांगी पूजाके शेषाक्षत देनेके लिए सिंहासनपर बैठे हुए राजा अकम्पनके

१ क्षयव्याधिः । २ मनोबुद्धेन । ३ तपवचरति । ४ अवयवैः । ५ विधुभास्पर्धिनौ ल०, म०, अ०, प०, इ०, स० । ६ शुद्धवंशजातात् ॥ ७ जयकुमारभयादिव । ८ सुलोचनाम् । ९ यौवनकालेऽपि । १० करग्रहणं नाकरोत् । तस्याः कामविकारो नाभूदित्यर्थः । ११ प्रतिमाः । १२ प्रतिमानाम् । १३ सदर्थयुक्ताभिः । १४ अर्हद्देवान् । १५ पूजयन्ती । १६ शेषाम् ल०, म० । १७ —नादाय ल०, म० ।

उपवासपरिभ्रान्ता पुत्रिके त्वं प्रयाहि^१ ते^२ । शरणं^३ पारणाकाल इति कन्यां व्यसर्जयत् ॥१७९॥
 तां विलोक्य महीपालो बालामातृण्योन्नताम् । निर्विकारो सचिन्तः सन् तस्याः^४ परिणयोत्सवे ॥१८०॥
 शुभे श्रुतार्थसिद्धार्थसर्वार्थसुमतिश्रुतीन्^५ । कोष्ठादिमतिभेदान्वा^६ दिने व्याहृत्य मन्त्रिणः ॥१८१॥
 वृणते सर्वभूपालाः कन्यां नः कुलजीवितम् । द्यूत कस्मै प्रदास्यामो विमृश्येमां सुलोचनाम् ॥१८२॥
 इत्यप्राक्षीतदा प्राह श्रुतार्थः श्रुतसागरः । अत्र सङ्गन्धुसंबन्धो जामाताऽत्र महान्वयः ॥१८३॥
 सर्वस्वस्य व्यथोऽन्नाथ^७ जन्मराज्यफलं च नः । ततः संचिन्त्यमेवैतत् कार्यं नयविशारदैः ॥१८४॥
 बन्धवः स्युर्नृपाः सर्वे संबन्धश्चक्रवर्तिना । इक्ष्वाकुवंशवत्पूज्यो भवद्वंशश्च जायते ॥१८५॥
 कुलरूपवयोविद्यावृत्तश्रीपौरुषादिकम् । यद्वरेषु समन्वेद्यं^८ सर्वं तत्तत्र^९ पिण्डितम् ॥१८६॥
 ततो नास्त्यत्र नश्चर्य्यं^{१०} दिगन्तव्याप्तकीर्तये । जितार्कमूर्तये देया कन्यै^{११} वैश्यर्ककीर्तये ॥१८७॥
 सिद्धार्थोऽन्नाह तत्सर्वमस्ति^{१२} किं च पुराविदः^{१३} । कनीयसोऽपि^{१४} संबन्धं मेच्छन्ति ज्यायसा सह^{१५} ॥
 ततः प्रतीतभूपालपुत्रा वरगुणान्विताः । प्रभञ्जनो रथवरो बलिर्वज्रायुधाद्वयः ॥१८८॥

पास गयी । राजाने भी उठकर और हाथ जोड़कर उसके दिये हुए त्रेपाक्षत लेकर स्वयं अपने मस्तकपर रखे तथा यह कहकर कन्याको विदा किया कि हे पुत्रि, तू उपवाससे खिल हो रही है, अब घर जा, यह तेरे पारणाका समय है ॥१७३-१७९॥ राजा पूर्ण यौवनको प्राप्त हुई उस विकारशून्य कन्याको देखकर उसके विवाहोत्सवकी चिन्ता करने लगा ॥१८०॥ उसने किसी शुभ दिनको कोष्ठबुद्धि, बीजबुद्धि, पदानुसारी और सम्भिन्नश्रोतृ इन चारों बुद्धि ऋद्धियों-के समान श्रुतार्थ, सिद्धार्थ, सर्वार्थ और सुमति नामके मन्त्रियोंको बुलाया ॥१८१॥ और पूछा कि हमारे कुलके प्राणस्वरूप इस कन्याके लिए सभी राजा लोग प्रार्थना करते हैं इसलिए तुम लोग विचार कर कहो कि यह कन्या किसको दी जाय ? ॥१८२॥ इस प्रकार पूछनेपर शास्त्रोंका समुद्र श्रुतार्थ नामका मन्त्री बोला कि इस विवाहमें सज्जन बन्धुओंका समा-गम होना चाहिए, जमाई बड़े कुलका होना चाहिए, इस विवाहमें बहुत-सा धन खर्च होगा और हम लोगोंको अपने जन्म तथा राज्यका फल मिलेगा इसलिए नीतिनिपुण पुरुषोंको इस कार्यका अच्छी तरह विचार करना चाहिए ॥१८३-१८४॥ यदि यह सम्बन्ध चक्रवर्तीके साथ किया जाय तो सब राजा अपने बन्धु हो सकते हैं और आपका वंश भी इक्ष्वाकु वंशकी तरह पूज्य हो सकता है ॥१८५॥ कुल, रूप, वय, विद्या, चारित्र, शोभा और पौरुष आदि जो जो गुण वरोंमें खोजना चाहिए वे उसमें इकट्ठे हो गये हैं । इसलिए इसमें कुछ चर्चाकी आवश्य-कता नहीं है जिसकी कीर्ति सब दिशाओंमें फैल रही है और जिसने अपने तेजसे सूर्यके प्रति-बिम्बको भी जीत लिया है ऐसे चक्रवर्तीके पुत्र अर्ककीर्तिके लिए यह कन्या दी जाय ॥१८६-१८७॥ इसी समय सिद्धार्थ मन्त्री कहने लगा कि आपका यह सब कहना ठीक है परन्तु पूर्व व्यवहारको जाननेवाले छोटे लोगोंका बड़ोंके साथ सम्बन्ध होना भी अच्छा नहीं समझते हैं ॥१८८॥ इसलिए वरके गुणोंसे सहित प्रभञ्जन, रथवर, बलि, वज्रायुध, मेघेश्वर (जयकुमार) और भीमभुज आदि अनेक प्रसिद्ध राजपुत्र हैं जो एकसे एक बढ़कर वैभवशाली हैं तथा चतुर

१ गच्छ । २ तव । ३ गृहम् । 'शरणं गृहरक्षितोः' इत्यभिधानात् । ४ विवाह । ५ नामधेयान् । ६ कोष्ठबुद्धि-बीजबुद्धिपदानुसारिसंभिन्नश्रोतृभेदानिच । ७ वृणते ल०, म०, प०, स०, इ० । प्रार्थयन्ते । ८ विचार्य । ९ पृच्छति स्म । १० धनस्य । ११ अथ वा जन्मतः फलं राज्यस्य फलम् । १२ मृग्यम् । १३ अर्ककीर्ती । १४ विचार्यम् । १५ इति प्राहेति संबन्धः । १६ -मस्तु ल०, म०, प० । १७ पूर्ववेदिनः । १८ अल्पस्य । १९ महता सह । ज्यायसां ल०, व० ।

मेघस्वरो भीमभुजस्तथाऽप्युदितोदिताः^१ । कृतिनो बहवः सन्ति तेषु^२ यत्राशयोत्सवः ॥१९०॥
 शिष्टान् वृद्धा च^३ दैवशास्त्रिरीक्ष्य शकुनानि च । स हितः^४ समसंबन्धस्तस्मै कन्येति दीयताम् ॥१९१॥
 श्रुत्वा सर्वार्थविल्लस्य सर्वार्थः प्रत्युवाच^५ तत् । भूमिगोचरसंबन्धः स नः प्रागपि विद्यते ॥१९२॥
 अपूर्वलाभः इत्याद्यश्च विद्याधरसमाश्रयः । विचार्य तत्र कस्मैचिदेयेयमिति निश्चितम् ॥१९३॥
 सुमतिस्तं निशम्यार्थं^६ युक्तानामाह युक्तवित् । न युक्तं वन्मुमप्येतत्^७ सर्ववैरानुबन्धकम् ॥१९४॥
 किं भूमिगोचरेष्वस्या वरो नास्तीति चेत्तसि । चक्रिणोऽपि भवेत्किञ्चिद् वैरस्यं प्रस्तुतश्रुतः^८ ॥१९५॥
 दृष्टः सम्यगुपायोऽयं मयाऽत्रैकोऽविशोधकः । श्रुतः^९ पूर्वपुराणेषु स्वयंवरविधिर्वरः ॥१९६॥
 संप्रत्यकम्पनोपक्रमं^{१०} तदस्त्वायुगावधि^{११} । पुस्तकपुत्रवत्सृष्टि^{१२} ख्यातिरस्यापि जायताम् ॥१९७॥
 दीयतां कृतपुण्याय कस्मैचित् कन्यका स्वयम् । वेधसा^{१३} विप्रियं^{१४} नोऽमा भाभूद्भूभूत्सु^{१५} केनचित् ॥
 इत्येवमुक्तं तत्सर्वैः संमतं सहभूभुजा । महि मत्सरिणः सन्तो म्यायमार्गानुसारिणः ॥१९८॥
 तान्^{१६} संपूज्य विसर्ज्याभूद्^{१७} भूभूत्^{१८} सत्कार्यतत्परः । स्वयमेव गृहं गत्वा सर्वं तत्संबिधानकम्^{१९} २००

हैं उनमें जिसके लिए अपना चित्त प्रसन्न हो उसके लिए शिष्ट जन तथा ज्योतिषियोंसे पूछकर और उत्तम शकुन देखकर कन्या देनी चाहिए क्योंकि बराबरीवालोंके साथ सम्बन्ध करना ही कल्याणकारी हो सकता है ॥१८६-१९१॥ यह सब सुनकर समस्त विषयोंको जानने-वाला सर्वार्थ नामका मन्त्री बोला कि भूमिगोचरियोंके साथ तो हम लोगोंका सम्बन्ध पहलेसे ही विद्यमान है, हाँ, विद्याधरोंके साथ सम्बन्ध करना हम लोगोंके लिए अपूर्व लाभ है तथा प्रशंसनीय भी है इसलिए विचारकर विद्याधरोंमें ही किसीको यह कन्या देनी चाहिए ऐसा मेरा निश्चित मत है ॥१९२-१९३॥ तदनन्तर वहाँपर एकत्रित हुए सब लोगोंका अभिप्राय जानकर योग्य बातको जाननेवाला सुमति नामका मन्त्री बोला कि यह सब कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि ये सभी बातें शत्रुता उत्पन्न करनेवाली हैं ॥ १९४ ॥ विद्याधरको कन्या दी है यह सुननेसे चक्रवर्तीके चित्तमें भी 'क्या भूमिगोचरियोंमें इसके योग्य कोई वर नहीं है' यह सोचकर कुछ बुरा लगेगा ॥ १९५ ॥ इस विषयमें किसीसे विरोध नहीं करनेवाला एक अच्छा उपाय मैंने सोचा है और वह यह है कि प्राचीन पुराणोंमें स्वयंवरकी उत्तम विधि सुनी जाती है । यदि इस समय सर्वप्रथम अकम्पन महाराजके द्वारा उस विधिका प्रारम्भ किया जाय तो भगवान् वृषभदेव और उनके पुत्र सम्राट् भरतके समान संसारमें इनकी प्रसिद्धि भी युगके अन्त तक हो जाय ॥ १९६-१९७ ॥ इसलिए यह कन्या स्वयंवरमें जिसे स्वीकार करे ऐसे किसी पुण्य-शाली राजकुमारको देनी चाहिए । ऐसा करनेसे हम लोगोंका आदिब्रह्मा भगवान् वृषभदेव अथवा युगव्यवस्थापक सम्राट् भरतसे कुछ विरोध नहीं होगा, और न राजाओंका भी परस्परमें किसी-के साथ कुछ वैर होगा ॥ १९८ ॥ इस प्रकार सुमति नामके मन्त्रीके द्वारा कही सब बातें राजाके साथ-साथ सबने स्वीकृत कीं सो ठीक ही है क्योंकि नीतिमार्गपर चलनेवाले पुरुष मात्सर्य नहीं करते ॥ १९९ ॥ तदनन्तर राजाने सन्मान कर मन्त्रियोंको विदा किया और स्वयं

१ उपर्युपर्यभ्युदयवन्तः । २ पुंसि । ३ चित्तोत्सवोऽस्ति । ४ ज्योतिष्कान् । ५ अस्माभिः सह संबन्धः संबन्धवान् वा । ६ तम् अ०, प०, स०, इ०, ल०, म० । ७ भूचर । ८ अभिप्रायम् । ९ मिलितानाम् । श्रुतापीदीनाम् । १० सर्वं वैरा - प०, ल० । ११ विवाहवार्ताश्रवणात् । १२ पूर्वस्मिन् श्रुतः । १३ अकम्प-
 तेन प्रक्रमोपक्रान्तम् । १४ स्वयंवरनिर्माणम् । १५ पुरुजित्भरतराजवत् । १६ स्रष्टुः ट० । स्वयंवरस्य स्रष्टा
 इति प्रसिद्धिः । सृष्टिरिति पाठे स्वयंवरस्य सृष्टिप्रसिद्धिः । १७ ब्रह्मणा । 'स्रष्टा प्रजापतिर्वेधा विधाता
 विश्वसृष्टविधिः' इत्यभिधानात् । १८ विरुद्धम् । अप्रियमित्यर्थः । १९ तृपेण । २० मन्त्रिणः । २१ अकम्पनः ।
 २२ स्वयंवरकार्यम् । २३ प्रस्तुतं कृत्यम् ।

निवेद्य सुप्रभायाश्च हृष्टो हेमाङ्गदस्य^१ च । वृद्धैः कुलक्रमायातैरालोच्य च सनाभिभिः ॥२०१॥
 अत्रैकेषां^२ निमृष्टार्थान्^३ मितार्थानपराण्^४ प्रति । परेषां^५ प्राप्नुतान्तःस्थपत्रान् शासनहारिणः^६ ॥२०२॥
 स दानमानैः संपूज्य निवेद्यैतत्प्रयोजनम्^७ । समाप्ते तु महीपालाद् सर्वदिक्^८ समादिशत् ॥२०३॥
 ज्ञात्वा तदाशु तद्वन्धुर्विचित्राङ्गदसंज्ञकः^९ । सौधर्मकल्पादागत्य देवीऽवधिविलोचनः ॥२०४॥
 अकम्पनमहाराजमालोक्य वयमागताः । सुलोचनायाः पुण्यायाः^{१०} स्वयंवरमवेक्षितुम् ॥२०५॥
 इत्युक्त्वोपपुरे^{११} योग्ये रम्ये राजाभिसंमतः^{१२} । ब्रह्मस्थानोत्तरे भागे प्रधीरे^{१३} वरवास्तुनि^{१४} ॥२०६॥
 प्राङ्मुखं सर्वतोभद्रं मङ्गलद्रव्यसंभृतम् । विवाहमण्डपोपेतं प्रासादं बहुभूमिकम्^{१५} ॥२०७॥
 चित्रप्रतीलीप्राकारपरिकर्मगृहावृतम्^{१६} । मास्तरं मणिभर्माभ्यां^{१७} विधाय विधिवत् सुधीः ॥२०८॥
 तं परीत्य विशुद्धोऽसुविमलमर्हातलम् । चतुरस्रं चतुर्दशालगोपुरसंयुतम्^{१८} ॥२०९॥
 रत्नतोरणसंकीर्णकेतुमालाविलासितम् । हटस्कूटाग्रनिर्भासि भर्मकुम्भाभिर्भाषितम्^{१९} ॥२१०॥
 स्थूलनीलोत्पलावदस्फुरद्भासिचरातलम् । विचित्रनैत्रविस्तीर्णवितानाति विराजितम् ॥२११॥

कार्य करनेमें जुट गया । उसने सबसे पहले घर जाकर ऊपर लिखे हुए समाचार सुप्रभादेवी और हेमाङ्गद नामके ज्येष्ठ पुत्रको कह सुनाये तथा कुलपरम्परासे आये हुए वृद्ध पुरुषों और सगोत्री बन्धुओंके साथ पूर्वापर विचार किया ॥२००-२०१॥ कितने ही राजाओंके पास निमृष्टार्थ अर्थात् स्वयं विचार कर कार्य करनेवाले दूत भेजे, कितनों ही के पास मितार्थ अर्थात् कहे हुए परिमित समाचार सुनानेवाले दूत भेजे और कितनों ही के पास उपहारके भीतर रखे हुए पत्रको ले जानेवाले दूत भेजे । इस प्रकार दान और सन्मानके द्वारा पूजित कर तथा स्वयं-वरका प्रयोजन बतलाकर राजाने भूपालोंको बुलानेके लिए सभी दिशाओंमें अपने दूत भेजे ॥२०२-२०३॥ यह सब समाचार जानकर अवधिज्ञानरूपी नेत्रोंको धारण करनेवाला विचित्राङ्गद नामका देव जो कि पूर्वभवंमें राजा अकम्पनका भाई था सौधर्म स्वर्गसे आया और अकम्पन महाराजके दर्शन कर कहने लगा कि मैं पुण्यवती सुलोचनाका स्वयंवर देखनेके लिए आया हूँ ॥२०४-२०५॥ ऐसा कहकर उसने राजाकी आज्ञानुसार नगरके समीप ब्रह्मस्थानसे उत्तरदिशाकी ओर अत्यन्त शाश्वत, उत्कृष्ट, योग्य और रमणीय स्थानमें एक सर्वतोभद्र नामका राजभवन बनाया जिसका मुख पूर्व दिशाकी ओर था, जो मङ्गलद्रव्योंसे भरा हुआ था, विवाहमण्डपसे सहित तथा कई खण्डका था ॥२०६-२०७॥ वह राजभवन अनेक प्रकारकी गलियों, कोटों तथा शृङ्गार करनेके धरोसे विरा हुआ था, देदीप्यमान था और मणियों तथा सुवर्णसे बना हुआ था । इस प्रकार उस बुद्धिमान् देवने विधिपूर्वक राजभवनकी रचना कर उसके चारों ओर स्वयंवरका महाभवन बनाया था जो कि विशुद्ध था, बड़ा था, जिसका पृथ्वीभाग अलग-अलग विभागोंमें विभक्त था, जो चौकोर था, जिसमें चार दरवाजे थे, जो कोट तथा गोपुरद्वारोंसे सुशोभित था, रत्नोंके तोरणोंसे मिली हुई पताकाओंकी पंक्तियोंसे शोभायमान हो रहा था, देदीप्यमान शिखरोंके अग्रभागपर चमकते हुए सुवर्णके कलशोंसे अलंकृत

१ सुप्रभायाश्च अ०, प० । २ निजज्येष्ठपुत्रश्च । ३ केषांचिन्नृपाणाम् । ४ स्वयमेव विचारितकार्यानि । ५ परिमितकार्यार्थान् । ६ उपायन । ७ वचोहरान् । -पत्रशासन-ल० । ८ स्वयंवरकार्यम् । ९ स्वयंवर-दिशाम् । १० अकम्पनस्य मित्रम् । ११ पवित्रायाः । १२ पुरसमीपे । १३ पदविन्यासान्विशिक्तमव्यभागस्पोत्तरे । १४ अतिगम्भीरे । १५ वरवास्तुदेशे । 'वेदम भूर्वास्तुरस्त्रियाम्' इत्यभिधानात् । १६ -भूमिपम् ल०, म० । १७ गोपुररथ्या वा । १८ शृङ्गारगृह । १९ 'भर्मं स्वर्मं हाटकं शातकुम्भम्' इत्यभिधानपाठादन्तः । २० सर्वतोभद्रं परिवेष्टय । २१ द्वारं शाल-ल०, म०, अ०, प०, स०, इ० । २२ कनककलश । २३ वस्त्रविशेष ।

संगोपमोगयोरभोरुसर्ववस्तुसमाधितम् । यथास्थानगताशेषरत्नकाञ्चननिर्मितम् ॥२१२॥
 मुदा निष्पादयामास स्वयंवरमहागृहम् । न साध्यन्ति केऽभीष्टं पुंसां शुभविपाकतः ॥२१३॥
 तं निरीक्ष्य क्षितेर्मर्त्या लक्ष्मीलीलागृहायितम् । नालीत् स्वाङ्गे स संतोषात् सन्मित्रात् क्लिप्त जायते ॥
 अथ प्रातुरभूत् कालः सुरमिमं तमन्मथः । मुदं मदं च संधिन्वन् कामिषु भ्रमरेषु च ॥२१४॥
 वयं मन्दं गजोद्घुहचन्दनद्वयसारभृत् । एलालवङ्गसंसर्गपङ्क्तौ मलयानिलः ॥२१५॥
 मलयानिलमाश्लेष्टुं संधिघ्नमुपागतम् । लताकुमाः सुशाखानां प्रसारणमिवादधुः ॥२१६॥
 यमसंबन्धिदिव्यागं विभोत् इवाकरोत् । मदेन कोकिलाः काले कृजन्ति स्म निरंकुशम् ॥२१७॥
 पुष्पमार्तवमासा नः शाखा न स्पृशतेति तान् । अलीन् वासं निधिष्यन्तश्चम्पकाश्चलपङ्क्तयैः ॥२१८॥
 वसन्तध्रीवियोगो वा सशोकोऽशोकभूरुहः । सपुष्पपङ्क्तवो नामे सार्धं तत्संगमाद् व्यधात् ॥२१९॥
 मूलस्कन्धाग्रमध्येषु चूलाद्यैरिव मत्सरात् । सुरभीणि प्रसूनानि सुरमिष्व ॥२२०॥ तदा दधे ॥२२१॥

था, जिसका धरातल बड़े-बड़े नीलमणियोसे जड़ा हुआ होनेके कारण जगमगा रहा था, जो त्रेत्र जातिके वस्त्रोसे बने हुए बड़े-बड़े चन्दोवोंसे सुशोभित था, भोग उपभोगके योग्य समस्त बड़ी-बड़ी वस्तुओसे भरा हुआ था और योग्य स्थानपर लगाये हुए सब प्रकारके रत्नों तथा सुवर्णसे बना हुआ था । इस प्रकारका स्वयंवरका यह महाभवन उस देवने बड़ी प्रसन्नतासे बनाया था सो ठीक ही है क्योंकि पुष्पोदयसे पुरुषोंके अभीष्ट अर्थको कौन-कौन सिद्ध नहीं करते हैं अर्थात् सभी करते हैं ॥२०८-२१३॥ लक्ष्मीके लीलागृहके समान उस स्वयंवर भवनको देखकर राजा अकम्पन सन्तोषसे अपने शरीरमें नहीं समा रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि उत्तम मित्रोसे क्या नहीं होता है ? अर्थात् सभी कुछ होता है ॥२१४॥

अथानन्तर—कामको उन्मत्त करनेवाले तथा कामी लोगों और भ्रमरोसे क्रमशः आनन्द और मदको बढ़ानेवाले वसन्तऋतुका प्रारम्भ हुआ ॥२१५॥ हाथियोंके द्वारा बिसे हुए चन्दन-वृक्षोंके निष्यन्दरूपी सारको धारण करनेवाला तथा इलायची और लवंगके संसर्गसे कुछ-कुछ पीला हुआ मलयपर्वतका वायु धीरे-धीरे बहने लगा ॥२१६॥ उस समय लताओं और वृक्षोंकी जो शाखाएँ फैल रही थीं उनसे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो समीप आये हुए अपने सम्बन्धी मलयानिलका आलिगन करनेके लिए ही भुजारूप शाखाएँ फैला रहे हों ॥२१७॥ उस समय सूर्यने मानो डरकर ही यम सम्बन्धी-दक्षिण दिशाका त्याग कर दिया था अर्थात् उत्तरायण हो गया था और कोयलें मदसे निरंकुश होकर मधुर शब्द कर रही थीं ॥२१८॥ 'ये हमारी शाखाएँ आर्तव अर्थात् वसन्त ऋतुमें उत्पन्न होनेवाले अथवा रजस्वला अवस्थामें प्रकट होने-वाले पुष्पको प्राप्त हो रही हैं—धारण कर रही हैं इसलिए इन्हें मत छुओ' यही कहते हुए मानो चम्पाके वृक्ष अपने हिलते हुए पल्लवोंके द्वारा भ्रमरोको वहाँपर निवास करनेका निषेध कर रहे थे ॥२१९॥ जो वसन्त ऋतुरूपी लक्ष्मीके वियोगमें सशोक था अर्थात् शोक धारण कर रहा था ऐसा अशोकका वृक्ष उस वसन्त ऋतुके सम्बन्धसे फूल और पल्लवोंसे सहित हो अपना अशोक नाम सार्थक कर रहा था ॥२२०॥ उस समय चमेलीने आम आदि वृक्षोंके साथ ईर्ष्या

१ संभृतम् । २ प्रदेशमनतिक्रम्य । ३ शुभकर्मोदयात् । ४ हर्षेण निजशरीरे न ममावित्यर्थः । नामात् ल०, म०, अ०, स०, प०, इ० । ५ वसन्तः । 'वसन्ते पुष्पसमयः सुरभिर्ग्रीष्म उष्मकः ।' इत्यभिधानात् । ६ पदवैकल्यवान् । ७ आलिङ्गनाय । ८ करप्रसारणमिव । ९ चक्रिरे । १० ऋतुं पुष्पोत्पत्तिनिमित्तभूतकाल-विशेषं रजोत्पत्तिनिमित्तं कालविशेषं च । ११ अस्माकम् । १२ वियोगे ल० । १३ सल्लकीतृहः । 'गन्धिनी गजभक्ष्या तु सुवहा सुरभी रसा । महैरणा कुन्दुकीं सल्लकीं ह्लादिनीति च' इत्यभिधानात् ।

आकृष्टदिग्गजालीनि^१ वकुलानि वने वने । हानी^२ गुणाधिकान्यासंस्तुलितानि^३ कुलोद्गतैः^४ ॥२२२॥
 क्रीडनासक्तकान्ताभिर्बाध्यमानाः सगीतिभिः । आन्दोलाः स्तम्भसंभूतैः समाक्रोशस्त्रिव^५ स्वनैः ॥२२३॥
 सुन्दरेष्वपि कुन्देषु मधुपा मन्दस्रवः । माधवीमधुपानेन मुवा मधुरमाह्वयन्^६ ॥२२४॥
 भवेदन्यत्र^७ कामस्य रूपयितादि^८ साधनम् । कालैकसाधनः^९ सोऽस्मिन्ना^{१०} वनस्पति^{११} जृम्भते^{१२} ॥२२५॥
 नरविद्याधराधीशान् गत्वा^{१३} तत्कालसाधनात् । कृताः स्वयंचरालापं सर्वास्तान् सम्बोधयन् ॥२२६॥
 ततो नानानकध्वानप्रोत्कर्णकृतदिग्विधाः । निजाङ्गनानमाम्भोजपरिस्लानिविधायिनः ॥२२७॥
 विद्यद्विभूतिमाक्रम्य विमार्गगतमानकैः^{१४} । सद्यो विद्याधराधीशा द्योतमानदिगाननाः ॥२२८॥
 सुलोचनाभिधाकृष्टि^{१५} विद्याकृष्टाः समापतन्^{१६} । कामिनां न पराकृष्टि^{१७} विद्यामुक्त्वेप्सितस्त्रियः ॥२२९॥

होनेके कारण ही मानो जड़, स्कन्ध, मध्यभाग और ऊपर-सभी जगह सुगन्धित फूल धारण किये थे ॥२२१॥ जिन्होंने दिग्गजोंके भ्रमरोंको भी अपनी ओर खींच लिया है और जो उच्च-कुलमें उत्पन्न हुए बड़े पुरुषोंके समान हैं ऐसे मौलश्रीके वृक्ष प्रत्येक वनमें अपनी हानि होनेपर भी गुणोंकी अधिकता ही धारण कर रहे थे । भावार्थ—जिस प्रकार कुलीन मनुष्य हानि होनेपर भी अपना गुण नहीं छोड़ते हैं उसी प्रकार मौलश्रीके वृक्ष भी भ्रमरों-द्वारा रसका पान किया जाना रूप हानिके होनेपर भी अपना सुगन्धिरूप गुण नहीं छोड़ रहे थे ॥२२२॥ जो गीत गा रही हैं तथा खेलनेमें लगी हुई हैं ऐसी सुन्दर स्त्रियाँ जो झूला झूल रही थीं और उनके झूलनेसे जो उनके खम्भोसे चूँ चूँ शब्द हो रहा था उनसे वे झूले ऐसे जान पड़ते थे मानो उन स्त्रियोंके द्वारा पीड़ित होकर ही चिल्ला रहे हों ॥२२३॥ जिन्हें कुन्दके सुन्दर फूलोंपर अच्छी तृप्ति नहीं हुई है ऐसे भ्रमर माधवी (मधुकामिनी) लताका रस पीकर आनन्दसे मधुर शब्द कर रहे थे ॥२२४॥ वसन्तको छोड़कर अन्य ऋतुओंमें अच्छा रूप होना आदि भी कामदेवके साधन हो सकते हैं परन्तु इस वसन्तऋतुमें एक समय ही जिसका साधन है ऐसा यह काम वनस्पतियों तक फैल जाता है । भावार्थ—अन्य ऋतुओंमें सौन्दर्य आदिसे भी कामकी उद्भूति हो सकती है परन्तु वसन्तऋतुमें कामकी उद्भूतिका कारण समय ही है । उस समय सौन्दर्य आदिका अभाव होनेपर भी केवल समयकी उत्तेजनासे कामकी उद्भूति देखी जाती है और उसका क्षेत्र केवल मनुष्यों तक ही सीमित नहीं रहता किन्तु वनस्पतियों तकमें फैल जाता है ॥२२५॥ उस वसन्तऋतुकी सहायतासे उन दूतोंने भूमिगोचरी और विद्याधर राजाओंके पास जाकर उन सबको स्वयंवरके समाचार बतलाये ॥२२६॥

तदनन्तर अनेक नगाड़ोंके शब्दोंसे दिग्गजोंके कान खड़े करनेवाले, अपनी स्त्रियोंके मुखरूपी कमलोंको म्लान करनेवाले, सब दिशाओंके मुखको प्रकाशित करनेवाले और सुलोचना इस नामरूपी आकर्षिणी विद्यासे आकर्षित हुए अनेक विद्याधरोंके अधिपति अपने अनेक विमानों-से आकाशके विस्तारको कम करते हुए बहुत शीघ्र आ पहुँचे सो ठीक ही है क्योंकि कामी लोगों-को अपनी अभीष्ट स्त्रियोंको छोड़कर और कोई उत्तम आकर्षिणी विद्या नहीं है ॥२२७-२२९॥

१ आकृष्टा दिग्गजगण्डवत्यल्यो यैस्तानि । २ पुष्पामोदत्यागे सति । ३ गन्धगुणाधिकानि । उपकारादिगुणाधिकानि । ४ सदुशीकृतानि । ५ विशुद्धवंशोद्भूतैः । ६ आक्रोशं चक्रिरे । ७ ध्वनन्ति स्म । ८ अन्यस्मिन् काले । ९ स्त्रीपुंसां रूपधनभूषणादि । १० काल एक एव साधनं यस्य सः । ११ वसन्तकाले । १२ वनस्पतिपर्यन्तम् । १३ अदर्शते । १४ वसन्तकाल । १५ आकाशविस्तृतिम् । १६ अपरिच्छिन्नप्रमाणकैः । अपरिमितैरित्यर्थः । —तत्तमानकैः ल०, म० । १७ सुलोचनानामेव आकर्षणविद्या तथा आकृष्टा आकर्षिता । १८ आगच्छन्ति स्म । १९ आकर्षणविद्या ।

अभिगम्य^१ नृपः^२ क्षिप्रं स्वयमाविष्कृतोत्सवः । चेतः सौलोचनं^३ कैतान् प्रीतान् प्रावेशयत्पुरम् ॥२३०॥
 स्वर्गहाविषु संप्रीत्या समुद्रोत्सवध्वजः । आकम्पनिभिराविष्कृतादरैः परिवारितः ॥२३१॥
 सांशुकर्ममिवोद्यत्तमर्ककीर्तिं सहानुजम् । अकम्पननृपोऽभ्येत्य^४ भरतं^५ याऽनयत्पुरम् ॥२३२॥
 स्वादरेणैव^६ संसिद्धिं भाविनीं तस्य सूचयन् । नाथवंशाग्रणीमिधस्वरं चानेतुमभ्ययात् ॥२३३॥
 ततो महीभृतः सर्वे त्रिसमुद्रान्तरस्थिताः । पूरा इव पर्योराशिं प्रापुः स्फीतीकृतध्रियः ॥२३४॥
 स्वयमर्धपथं गत्वा केषांचित् सर्वसंपदा । केषांचिद् गमयित्वाऽन्यान् साम्बान् हेमाङ्गदादिकान् ॥२३५॥
 ये ये यथा यथा प्राप्ताः पुरीस्तां स्तांस्तथा तथा । आह्वयन्तीं पताकामिर्बोचिष्वतामिस्वीधिशम्^७ ॥२३६॥
 तदा तं राजगेहस्थं नरविद्याधराधिपैः । वृत्तं सुलोचनाऽकार्षीत् पितरं जितचक्रिणम् ॥२३७॥
 वाराणसी जितायोध्या^८ स्वनाम्नस्तां^९ निराकरोत् । कन्यारत्नात् परं^{१०} नाभ्यदिष्यन्नाहुः प्रभृत्पतः २३८
 तान् स्वयंवरशालावामर्ककीर्तिपुरस्सरान् । निवेश्य प्रीणयामास कृताभ्यागतसत्क्रियः ॥२३९॥

अनेक उत्सवोंको प्रकट करनेवाले राजा अकम्पनने स्वयं ही बहुत शीघ्र उन राजाओंकी अगवानी की और प्रसन्न हुए उन राजाओंको सुलोचनाके चित्तके समान वाराणसी नगरीमें प्रवेश कराया ॥२३०॥ जिसने बड़े प्रेमसे अपने घर आदिमें उत्सवकी ध्वजाएँ बँधायी हैं और आदरको प्रकट करनेवाले हेमांगद आदि पुत्र जिसके साथ हैं ऐसे राजा अकम्पनने किरणों सहित उदय होते हुए सूर्यके समान अपने छोटे भाइयों सहित आये हुए अर्ककीर्तिकी अगवानी कर उसे महाराज भरतके समान नगरमें प्रवेश कराया ॥२३१-२३२॥ इसी प्रकार अपने आदरसे ही मानो उसकी आगे होनेवाली सिद्धिको सूचित करता हुआ नाथवंशका अग्रणी राजा अकम्पन जयकुमारको लेनेके लिए उसके सामने गया ॥२३३॥ तदनन्तर जिस प्रकार पूर समुद्रकी ओर जाता है उसी प्रकार तीनों (पूर्व, पश्चिम, दक्षिण) समुद्रोंके बीचके रहनेवाले सब राजा लोग अपनी अपनी शोभा बढ़ाते हुए वाराणसी आ पहुँचे ॥२३४॥ राजा अकम्पन कितने ही राजाओंके सामने तो अपनी सब विभूतिके साथ स्वयं आधी दूर तक गया था और कितनों ही के सामने उसने मान्य हेमांगद आदिको भेजा था ॥२३५॥ जो राजा जिस-जिस प्रकारसे आ रहे थे उन्हें उसी-उसी प्रकारसे उसने, अपनी कहुराती हुई पताकाओंसे जो मानो बुला ही रही हों ऐसी बनारस नगरीमें प्रवेश कराया था ॥२३६॥ उस समय सुलोचनाने राजमहलमें विराजमान तथा भूमिगोचरी और विद्याधर राजाओंसे घिरे हुए अपने पिताको चक्रवर्तीको भी जीतनेवाला बना दिया था । भावार्थ—महलमें इकट्ठे हुए अनेक राजाओंसे राजा अकम्पन चक्रवर्तीके समान जान पड़ता था ॥२३७॥ उस समय अयोध्याको भी जीतनेवाली वाराणसी नगरी अपने नामसे ही उसका तिरस्कार कर रही थी । क्योंकि उस स्वयंवरके समयसे ही लेकर इस संसारमें कन्यारत्नके सिवाय और कोई उत्तम रत्न नहीं है, यह बात प्रसिद्ध हुई है । भावार्थ—कदाचित् कोई कहे कि चक्रवर्तीकी राजधानी होनेसे चौदह रत्न अयोध्यामें ही रहते हैं इसलिए वही उत्कृष्ट नगरी हो सकती है न कि वाराणसी भी; तो इसका उत्तर यह है कि संसारमें सर्वोत्कृष्ट रत्न कन्यारत्न है जो कि उस समय वाराणसीमें ही रह रहा था अतः उत्कृष्ट रत्नका निवास होनेसे वाराणसीने अयोध्याका तिरस्कार कर दिया था ॥२३८॥ अतिथियोंका सत्कार

१ अभिमुखं गत्वा । २ अकम्पनः । ३ सुलोचनाचित्तमिव । ४ अकम्पनस्यापत्येः । ५ अभिमुखं गत्वा । ६ भरतमिव । ७ अकम्पनस्यादरेण । ८ वृद्धीकृत । ९ प्रावेशयत् । १० अयोध्यानिधानात् । ११ अयोध्योक्तिम् । अथवा मोदुमशक्या अयोध्या एतल्लक्षणं तदा तस्या अयोध्याया नास्तौति भावः । १२ उत्कृष्टम् ।

पुरोपार्जितसद्वर्मान् सर्वमेतत्ततः^१ पुरा^२ । धर्म एव समभ्यर्च्य इति संचित्य विद्वरः^३ ॥२४०॥
 कृत्वा जैनेश्वरीं पूजां दीनानाथवनीषकान्^४ । अनर्थिनः^५ समभ्यर्थांश्च^६ सर्वध्यागोत्सवीद्यतः ॥२४१॥
 तां लक्ष्मीमक्षयां मत्वा सफलां चाप्तसद्व्ययाम् । स तदाभूत् क्षतेरेकमोग्यः^७ क्षितिर्विवात्मनः ॥२४२॥
 एवं विहिततत्पूजः^८ प्रकृतार्थ^९ प्रचक्रमे । प्रारम्भाः सिद्धिमाधान्ति पूज्यपूजापुरस्सराः^{१०} ॥२४३॥
 आस्फालिता तदा भेरी विवाहोत्सवशंसिनी । व्याप्नोत्^{११} प्रमोदः प्राक् चैतः पश्चात् कर्णेषु तद्व्यनिः ॥
 पुष्पोपहारिभूभागानुत्थक्तेतुनमस्तला । निजिताब्धिमहातूर्यध्वानाधमातदिगान्तरा ॥२४४॥
 विशोषितमहावीधिदेशा प्रोद्बद्धतोरणा । पुनर्नवसुधाक्षोदधवलीकृतसौधिका^{१२} ॥२४५॥
 रञ्जिताजनसन्नेत्रा मालाभारिशिरोरुहा । संस्कृतभ्रूलतोपेता सविशेषललाटिका^{१३} ॥२४६॥
^{१४} मणिकुण्डलमारेण प्रलम्बध्रुवणोज्ज्वला । सचित्रकरविम्बस्तपत्रचित्रकपोलिका^{१५} ॥२४७॥
 ताम्बूलरससंस्पर्शद् द्विगुणारुणितधरा । मुक्ताभरणभामारभासिबन्धुरकणिका^{१६} ॥२४८॥
 सचन्दनरसस्फारहारवक्षःकुचाञ्चिता^{१७} । महासण्मयूखातिभास्वद्भुजलतातता ॥२४९॥

करनेवाले राजा अकम्पनने उन अर्ककीर्ति आदि राजाओंको स्वयंवरशालामें ठहराकर प्रसन्न किया था ॥२३९॥ यह सब पहले उपार्जन किये हुए समीचीन धर्मसे ही होता है इसलिए सबसे पहले धर्म ही पूजा करनेके योग्य है ऐसा विचार कर विद्वानोंमें श्रेष्ठ राजा अकम्पन श्री जिनेन्द्र-देवकी पूजा कर तथा दीन, अनाथ और याचकोंको अयाचक बनाकर सबका त्याग करनेरूप उत्सवके लिए शीघ्र ही तैयार हो गया । वह अच्छे कामोंमें खर्च की हुई लक्ष्मीको क्षयरहित और सफल मानने लगा तथा जिस प्रकार उसकी पृथिवी उसके उपभोग करनेके योग्य थी उसी प्रकार उस समय वह समस्त पृथिवीके उपभोग करने योग्य हो गया था । भावार्थ—पृथिवीके सब लोग उसके राज्यका उपभोग करने लगे थे ॥२४०-२४२॥ इस प्रकार उसने जिनेन्द्रदेवकी पूजा कर अपना प्रकृत कार्य प्रारम्भ किया सो ठीक ही है क्योंकि पूज्य पुरुषोंकी पूजापूर्वक किये हुए कार्य अवश्य ही सफलताको प्राप्त होते हैं ॥२४३॥ उसी समय विवाहके उत्सवको सूचित करनेवाली भेरी बज उठी सो पहले सबके चित्तमें आनन्द छा गया और पीछे भेरीकी आवाज कानोंमें व्याप्त हुई ॥२४४॥ उस समय वहाँ पृथिवीपर जहाँ-तहाँ फूलोंके उपहार पड़े हुए थे, आकाशमें पताकाएँ नृत्य कर रही थीं, समुद्रकी गर्जनाको जीतनेवाले बड़े-बड़े तगाड़ोंसे दिशाएँ शब्दायमान हो रही थीं, वहाँकी बड़ी-बड़ी गलियाँ शुद्ध की गयी थीं, उनमें तोरण बाँधे गये थे और बड़े-बड़े महल नये चूनाके चूणसे पुनः सफेद किये गये थे ॥२४५-२४६॥ वहाँकी स्त्रियोंके उत्तम नेत्र कज्जलसे रंगे हुए थे, शिरके केश मालाओंको धारण कर रहे थे, भीह्रूपी लताएँ संस्कार की हुई थीं, उनके ललाटपर सुन्दर तिलक लगा हुआ था, उज्ज्वल कर्ण मणियोंके बने हुए कुण्डलोंके भारसे कुछ-कुछ नीचेकी ओर झुक रहे थे, कपोलोंपर हाथसे बनायी हुई पत्ररचनाके चित्र बने हुए थे, पानके रसके सम्बन्धसे उनके ओठोंकी लाली दूनी हो गयी थी, उनके कण्ठ मोतियोंके आभूषणोंकी कान्तिके भारसे बहुत ही सुशोभित हो रहे थे, उनका वक्षःस्थल चन्दनका लेप, बड़ा हार और स्तनोंसे शोभायमान हो रहा था, उनकी भुजा-रूपी लताएँ बड़े-बड़े मणियोंकी किरणोंसे देदीप्यमान हो रही थीं, उनका विशाल नितम्बस्थल

१ सतः कारणात् । २ पूर्वम् । ३ विदां वरः । ४ याचकान् । ५ अनिच्छन् । ६ प्रकाश्य । ७ सर्वजनस्य । ८ कृत-जितपूजः । ९ प्रकृतकार्यम् । १० पूजयानां पूजा पुरस्सरा येषु ते । ११ प्रसरति स्म । १२ नूतनसुधाक्षेपधवली-धर्म्या । १३ तिलकसहितभालस्थला । १४ रत्नकर्णवेष्टन । १५ प्रशस्तचित्रिकाजनचित्रितमकरिकापत्रादि-चनान्नद्रगण्डमण्डला । १६ मनोज्ञरीवा । १७ प्रशस्तश्रीलङ्ककर्मकलितवक्षसास्फुरणहारान्वितकुचाभ्यां । १८ मयूखाभा 'त०' पुस्तकं विहाय सर्वत्र ।

रशनाऽऽहुविभ्राजिसुविशालकटीतटी । मणिनूपुरनिर्घोषमर्षिताञ्जकमाञ्जिका ॥२५१॥

जितामरपुरीशोभा सौन्दर्यात् सा पुरी तदा । प्रसाधनमयं^१ कायम^२ धिताचिन्त्यवैभवम् ॥२५२॥

उत्सवो राजमहलस्य नगरेणैव वर्णितः । अगाधो यदि पर्यन्तो मध्यमब्धेः^३ किमुच्यते ॥२५३॥

न चित्रं तत्र^४ मञ्जिती^५ सोत्सवोऽन्तर्बहिश्च तत् । तद्वत्स्वभूषणं यस्मात्^६ कुत्रापि विचेतनम् ॥२५४॥

भोक्तृशून्यं न भोगाङ्गं^७ न भोक्ता भोगवर्जितः । तत्र सन्निहितोऽनङ्गो लक्ष्मीश्चात्रिकृतोदया ॥२५५॥

पश्य पुण्यस्य माहात्म्यमिहापीति^८ तदुत्सवम्^९ । विच्छिन्नं कृतधर्माणः^{१०} पुरस्थान् बहु मेनिरे ॥२५६॥

^{११} उदसुन्वन् फलं मत्वा धर्मस्य सुनयोऽपि तत् । धर्माधर्मफलालोकात् स्वभावः स हि तादृशाम् ॥२५७॥

कन्यागृहात्तदा कन्यामन्यां वा कमलालयाम्^{१२} । पुरोभूय^{१३} पुरम्भ्यस्तामीषलज्जाससाधवसाम्^{१४} ॥

विवाहविधिवेदिन्यः कृततत्कालसत्क्रियाम् । समानीय सदैवशा^{१५} महातूर्यैरवाञ्जिताम् ॥२५८॥

सर्वमङ्गलसंपूर्णं मुक्तालम्बु^{१६} षभूषिते । चतुःकाञ्चनसुस्तम्भे भूरिरत्नस्फुरत्स्विपि ॥२५९॥

प्रमोदात् सुप्रभादेशाद्^{१७} विवाहोत्सवमण्डपे । कलधौतमये पट्टे^{१८} निवेश्य प्राङ्मुखीं सुखम् ॥२६०॥

करधनीरूपी रज्जुसे सुशोभित हो रहा था, और उनके चरणकमल मणिमयी नूपुरोंकी झनकारसे कमलोंका तिरस्कार कर रहे थे ॥२४७-२५१॥ इस प्रकार अपनी सुन्दरतासे स्वर्गपुरीकी शोभाको जीतनेवाली वह नगरी उस समय अजित्य वैभवशाली अलंकारमय शरीरको धारण कर रही थी ॥२५२॥ राजमहलका उत्सव तो नगर ही कह रहा था क्योंकि समुद्रके किनारेका भाग ही उत्सव है नव-उत्सवोंकी तुलना में तो उत्सव ही है । भावार्थ—जब नगरमें ही भारी उत्सव हो रहा था तब राजमहलके उत्सवका क्या पूछना था ? ॥२५३॥ वहाँके सचेतन प्राणी अन्तरंग और बहिरंग सब जगह उत्सव मना रहे थे इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है क्योंकि वहाँकी दीवालें आदि अचेतन पदार्थ भी तो अपने अलंकारों-द्वारा सचेतन प्राणियोंके समान हो उत्सव मना रहे थे । भावार्थ—दीवालें आदि अचेतन पदार्थ भी अलंकारोंसे सुशोभित किये गये थे जिससे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो उल्लाससे अलंकार धारण कर स्वयं ही उत्सव मना रहे हों ॥२५४॥ वहाँपर भोगोपभोगका कोई भी पदार्थ भोक्तासे रहित नहीं था और न कोई भोक्ता भी भोगोपभोगके पदार्थसे रहित था, वहाँपर कामदेव सदा समीप ही रहता था और लक्ष्मी उदयरूप रहती थीं ॥२५५॥ इस जन्ममें ही पुण्यका माहात्म्य देखो ऐसा सोचते हुए कितने ही धर्मात्मा लोग वहाँका उत्सव देखकर उस नगरके रहनेवाले लोगोंको बड़े आदरकी दृष्टिसे देख रहे थे ॥२५६॥ मुनि लोग भी उसे धर्मका फल मानकर प्रसन्न हुए थे सो ठीक है क्योंकि धर्मका फल देखकर प्रसन्न होना धर्मात्मा लोगोंका स्वभाव है और अधर्मका फल देखकर प्रसन्न होना अधर्मात्मा लोगोंका स्वभाव है ॥२५७॥ उसी समय विवाहकी विधिको जाननेवाली सौभाग्यवती स्त्रियाँ, जिसने तात्कालिक सत्क्रियाएँ की हैं, जो लज्जासे कुछ भयभीत हो रही हैं, जिसके आगे बड़े-बड़े नगाड़ोंके शब्द हो रहे हैं, ज्योतिष शास्त्रको आननेवाले अनेक विद्वान् जिसके साथ हैं और जो दूसरी लक्ष्मीके समान जान पड़ती है ऐसी उस कन्याको उसके सामने आकर उसके घरसे सब प्रकारके मंगल द्रव्योंसे भरे हुए, मोतियोंके आभूषणोंसे सुशोभित, सुवर्णके बने हुए चार उत्तम खम्भोंसे युक्त और अनेक रत्नोंकी कान्तिसे जगमगाते हुए

१ अलंकारस्वरूपम् । २ विभक्ति स्म । ३-पठ्यो ल० । ४ पुण्याम् । ५ चेतनवान् । ६ उत्सववत् । ७ यस्मात् कारणात् । ८ लक्ष्मिचन्दनादि । ९ नगरे । १० अस्मिन् जन्मन्यपि । किं पुनस्तत्तज्जन्मनीत्यपि शब्दार्थः । ११ तत्पुरोत्सवम् । १२ कृतपुण्याः । १३ उत्सवं प्राप्ताः । उदास्तन्वत् ल० । १४ लक्ष्मीम् । १५ पुरस्कृत्य । १६ कुटुम्बिन्यः । 'स्यात् कुटुम्बिनी पुरम्भो' इत्यभिधानात् । पुरं पोष्यबहुजनसमूहं घत इति पुरम्भो । पुत्रादि-पोष्यवर्गशालिन्याः स्त्रिया नाम । १७ लज्जया स्वीकृत । १८ ज्योतिष्कसहिताः । १९ माला । २० सुप्रभामहा-देवीनिरूपणात् । २१ फलके ।

कलशैर्मुखविभ्यस्तविलसत्पल्लवाभरैः । अभिविष्य विशुद्धाम्बुपूर्णैः स्वर्णमयैः शनैः^१ ॥२६२॥
 कृतमङ्गलनेपथ्यां नीरवा नित्यमनोहरम्^२ । पूजयित्वाऽर्हतो भक्त्या सर्वकल्याणकारिणः ॥२६३॥
 सिद्धशेषां^३ समादाय क्षिप्त्वा शिरसि साशिषम् । स्थिताः प्रसीक्ष्य^४ सल्लभं तत्रावृत्याहितादरम्^५ ॥२६४॥
 इतो महंशसम्पदेशान्^६ नरखेचरनायकाः । आस्ते प्रसाधितान् कृत्वा प्रसाधनविदस्तदा ॥२६५॥
 निजोचितासनाह्वयः प्ररुद्धः श्रीसमुज्ज्वलाः । चलन्नामरसंपर्या कान्त्या चास्मरसज्जिताः ॥२६६॥
 कुमार्या निर्जितः कामः प्राक् स्वमेव^७ विकृत्य^८ किम् । समाशंसत्^९ पुनर्जेतुमिति^{१०} शक्त्वाविधायिनः^{११} ॥
 कंचिदेकं^{१२} धृणीतेऽसाविति^{१३} ज्ञात्वाऽप्यहंयवः^{१४} । जेतुं सर्वेऽपि तां तस्थुः^{१५} आशा हि महती नृणाम् ॥
 केरलीकठिनोत्सुककुचकोटिविलङ्घनं^{१६} । श्रमापानीतसामर्थ्यात् परिक्षीणपरिक्रमम्^{१७} ॥२६७॥
 माधन्यमलवमातङ्गकटकण्डूचिनोदनात्^{१८} । क्षतचन्दननिष्पन्दसाम्प्र^{१९} सौगन्ध्यबन्धुरम् ॥२६८॥
 कावेरीवारिजास्वादप्रहृष्टाण्डजनिभर- । क्रीडोच्छलजलस्थूलकणमुक्तातिभूषणम् ॥२६९॥
 दक्षिणानिलभापल^{२०} कोत्कशनलदीपनम् । कोकिलाहिकलालापैर्वाचलमनुकूलघनम् ॥२७०॥

विवाहोत्सव मण्डपमें बड़े हथके साथ महारानी सुप्रभाकी आज्ञासे आयीं और पूर्व दिशाकी ओर मुख कर सुखपूर्वक सोनेके पाटपर बिठा दिया । तदनन्तर मुखपर रखे हुए शोभायमान पल्लवोंको धारण करनेवाले तथा विशुद्ध जलसे भरे हुए सुवर्णमय शुभ कलशोंसे उसका अभिवेक किया । फिर मांगलिक वस्त्राभूषणोंको धारण करनेवाली कन्याको नित्यमनोहर नामक चैत्यालयमें ले जाकर वहाँ उसको राजका कल्याण करनेवाले श्री अर्जुनदेवकी पूजा करायी । उसके बाद सिद्ध शेषाक्षत लेकर आशीर्वादपूर्वक उसके शिरपर रखे और इतना सब कर चुकनेके बाद वे स्त्रियाँ उसका आदर-सत्कार करती हुई शुभ लग्नकी प्रतीक्षामें उसे घेरकर वहीं ठहर गयीं ॥२६८-२६९॥ इधर महाराज अकम्पनके सन्देशसे, सजावटको जाननेवाले वे सब भूमिगोचरी और विद्याधरोंके अधिपति अपने-आपको सजाकर अपने-अपने योग्य आसनों-पर जा बैठे । वे प्रकृष्ट शोभासे उज्ज्वल थे, बुलते हुए चमरोकी सम्पत्ति और कान्तिसे देवोंके समान जान पड़ते थे और ऐसी शंका उत्पन्न कर रहे थे मानो इस कुमारीने पहले ही कामदेवको जीत लिया था इसलिए वह कामदेव ही अपने बहुत-से रूप धारण कर उसे जीतनेके लिए पुनः आया हो ॥२६५-२६७॥ यह सुलोचना किसी एकको ही स्वीकार करेगी, ऐसा जानकर भी वे सब राजा लोग अहंकार करते हुए उसे जीतनेके लिए वहाँ बैठे थे सो ठीक ही है क्योंकि मनुष्योंकी आशा बहुत ही बड़ी होती है ॥२६८॥ जो स्त्रियोंके मद्यके कुरलों तथा नूपुरोंकी झनकारसे सुशोभित बायें पैरोंके द्वारा वृक्षोंको भी कामी बना रहा है, जो बायें हाथमें फूलोंका धनुष धारण कर दूसरे हाथसे आमकी मंजरीको खूब फिरा रहा है, जिसका पराक्रम प्रसिद्ध है और जिसने वसन्त ऋतुरूपी सेवकके द्वारा फूलरूपी सनस्त शस्त्र बुला लिये हैं, ऐसा कामदेव, केरल देशकी स्त्रियोंके कठिन और ऊँचे करोड़ों कुचोंको उल्लंघन करनेसे उत्पन्न हुई थकावटके कारण जिसकी घूमनेकी शक्ति क्षीण हो गयी है अर्थात् जो धीरे-धीरे चल रहा है, मलय पर्वतके

१ शनैः अ०, प०, स०, म०, ल०, इ० । २ नित्यमनोहरनाम चैत्यालयम् । ३ शेष ल० । ४ प्रसीक्षां कृत्वा । ५ चैत्यालये । ६ कृतादरं यथा भक्ति तथा । ७ अकम्पनवाचिकात् । ८ अलङ्कृतान् । ९ प्रसिद्ध । १० आत्मानम् । ११ राजकुमाररूपेण वैकुण्ठेण कृत्वा । १२ सङ्गतवान् । १३ सुलोचनां जेतुम् । १४ प्रेक्षकाणां शङ्कां कुर्वाणाः । १५ अनिदिष्टं कंचिदेकं पुरुषम् । १६ स्वीकरोति । १७ अहंकारवन्तः । 'अहंकारवानहंयुः' इत्यभिधानात् । १८ निजोचितासनाह्वयः सन्तस्तरथुरिति सम्बन्धः । १९ केरलस्त्री । २० श्रमापनीतसामर्थ्यं । २१ लङ्घनाज्जातश्रमेणापसारितसामर्थ्येन परिक्षीणगमनम् । २२ मलयाचलोत्पन्नकरिकपोलकण्डूपापनयनात् । २३ द्वयप्रलवण । २४ विरहतीव्रानिःसमुत्पादनम् ।

योषितां मधूगण्डूषैर्नूपुरावराजितैः । कुर्वन् वामाङ्घ्रिभिश्चालमङ्घ्रिपानपि^१ कामुकान् ॥२७३॥

कौसुमं^२ धनुरादाय^३ वामेनारुढचक्रमः । चूतसूतं^४ करेणोच्चैः परेण^५ परिवर्तयन्^६ ॥२७४॥

वसन्तानुचरानीतनिःशेषकुसुमायुधः । जित्वा तदास्त्रिलान् देशानप्यायात्^७ कुसुमायुधः ॥२७५॥

तदा पुरात् समागत्य कृती जितपुरन्दरः । समाविर्भूतसाम्राज्यो राज्यचिह्नपुरस्सरः ॥२७६॥

खलुदमीच्याससर्वाशः सुप्रभासहितः पतिः^८ । स्वस्यात्^९ स्वयंवरशारे स्वोचिन्ते^{१०} स्वजनैर्वृतः ॥२७७॥

चित्रं^{११} महेन्द्रदत्ताख्यो देवदत्तं^{१२} रथं धृष्टुम् । सजीकृतं समारोप्य कन्यामायात्तु कञ्चुकी ॥२७८॥

समस्तखलसन्दोहं सभ्यक् सन्नाह्यं^{१३} सानुजः । हेमाङ्गदो जितानङ्गः प्रीत्याऽयात् परितो रथम् ॥२७९॥

तूर्यध्वानाहतिप्रेङ्ख^{१४} शिख्याकर्णपूरिका । संछक्कच्छत्रनिश्छिद्रच्छायाच्छादितभास्करा ॥२८०॥

लक्ष्मीः पुरीमिवायोध्यां चक्रिद्विजयशामे । शालां^{१५} प्रविश्य राजन्यलोचनाध्यां सुलोचना ॥२८१॥

सर्वतोभद्रमारुह्य कञ्चुकीप्रेरिता नृपान् ।^{१६} न्यविञ्चल्लोचनैर्लोलेर्नीलोत्पलदलैरिव ॥२८२॥

चातका^{१७} वाऽन्वृष्टधा^{१८} ते तदृष्ट्या तुष्टिभागमन् । आह्लादः कस्य वा न स्यादीप्सितार्थसमागमे ॥२८३॥

मदोन्मत्त हाथियोंके गण्डस्थलोंकी खाज खुजलानेसे टूटे हुए चन्दन वृक्षोंके निष्यन्दकी घनी सुगन्धिसे जो व्याप्त हो रहा है, कावेरी नदीके कमलोंके आस्वादसे हर्षित हुए पक्षियोंकी अलहड़ प्रीतिसे उछलती हुई अलकी बड़ी बड़ी बूँदें ही जिसके मोतियोंके आभूषण हैं, जो विरहरूपी तीव्र अग्निको प्रज्वलित करनेवाला है और कोयल तथा भ्रमरोंके मनोहर शब्दोंसे जो वाचालित हो रहा है ऐसे दक्षिणके वायुको अनुकूल करता हुआ सब देशोंको जीतकर उस समय वहाँ आ पहुँचा था ॥२७९-२७५॥ उसी समय, जिसने अपनी शोभासे इन्द्रको भी जीत लिया है, जिसका साम्राज्य प्रकट है, दृवजा आदि राज्यके चिह्न जिसके आगे-आगे चल रहे हैं, अपनी शोभासे जिसने समस्त दिशाएँ व्याप्त कर ली हैं, सुप्रभा रानी जिसके साथ है, और जो अपने कुटुम्बीजनोंसे घिरा हुआ अर्थात् परिवारके लोग जिसके साथ-साथ चल रहे हैं ऐसा पुण्यवान् राजा अकम्पन नगरसे आकर स्वयंवर मण्डपमें अपने योग्य स्थानपर आ विराजमान हुआ ॥२७६-२७७॥ उसी समय महेन्द्रदत्त नामका कञ्चुकी चित्रांगददेवके द्वारा दिये हुए, आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले बहुत बड़े अलंकृत रथपर कन्याको बैठाकर लाया ॥२७८॥ कामको जीतनेवाला हेमांगद अपने छोटे भाइयोंसहित, समस्त सेनाके समूहको अच्छी तरह सजाकर बड़े प्रेमसे कन्याके रथके चारों ओर चल रहा था ॥२७९॥ जिसके आगे-आगे बजनेवाले नगाड़ोंके शब्दोंके आघातसे दिशारूपी कन्याओंके कर्णपूर हिल रहे थे, जिसपर अच्छी तरह लगे हुए छत्रकी छिद्ररहित छायासे सूर्य भी ढँक गया था, और जो राजाओंके नेत्रोंसे पूजी जा रही थी अर्थात् समस्त राजा लोग जिसे अपने नेत्रोंसे देख रहे थे ऐसी सुलोचनाने, चक्रवर्तीके दिग्विजयसे लौटनेपर जिस प्रकार लक्ष्मी अयोध्यामें प्रवेश करती है उसी प्रकार स्वयंवर-शालामें प्रवेश किया और वहाँ वह सर्वतोभद्र नामक महलपर चढ़कर कञ्चुकीके द्वारा प्रेरित हो नीलकमलके दलके समान अपने चंचल नेत्रोंके द्वारा राजाओंको सींचने लगी ॥२८०-२८२॥ जिस प्रकार चातक पक्षी मेघोंके बरसनेसे सन्तुष्ट होता है उसी प्रकार सब राजा लोग सुलोचनाके देखनेसे ही सन्तुष्ट हो गये थे सो ठीक ही है क्योंकि अपने अभीष्ट पदार्थके समागम

१ अत्यर्थम् । २ कुसुमनिमित्तम् । ३ वासहस्तेन । ४ माकण्डप्रसूनम् । ५ दक्षिणकरेण । ६ परिवर्तयन् । ७ वसन्त एवानुचरो मृत्युस्तेन समानीत । ८ आजगाम । ९ अवस्पनः । १० सुखेन स्थितवतः । ११ निजोचितस्थाने । १२ आश्चर्ययुक्तम् । १३ विचित्राङ्गददेवेन वितोर्यम् । १४ सन्नद्धं कृत्वा । १५ चलत् । १६ स्वयंवरशालाम् । १७ सिञ्चति स्म । अयोजयदित्यर्थः । १८ इव । १९ नृपाः ।

स्वसौभाग्यवशात् सर्वान् साऽप्यालोचयामुपश्रामम् । श्लाघ्यं तद्योषितां पुंसां शौर्यं वा निजितद्विषाम् ॥
ततः कञ्चुकिनिर्देशाद् बाला लीलाविलोकिताः^१ । आरुण्यं हृदयं नेत्रां तल्लोभात् सपञ्चातरत्^२ ॥२८५॥
यस्य^३ यत्र गता स्याद्दृक् सा तत्रैवेव कीलिता । तत्तेऽस्यामवख्ण्वायां^४ विज्ञा वा तदनीक्षकाः^५ ॥२८६॥
किङ्किणीकृतप्रकारारावरम्यं रथं ततः । व्यूढं^६ रुद्धं^७ हृयैः स्वर्णकर्णशामरशोभिभिः ॥२८७॥
उत्पतन्निपतत्केतुबाहुं नीरूपरूपिणाम्^८ । साक्षादपङ्कवाहाने^९ कुर्वन्तमिव सन्ततम् ॥२८८॥
पुनरध्यास्य^{१०} हज्जन्मषिघेव^{११} हृदयप्रिया । मुक्ताभूषाप्रभामध्ये शारदीव तडिहलता ॥२८९॥
वीज्यमाना विधुस्पर्द्धिहंसासामलचामरैः^{१२} । जनानां दृष्टिदोषान् वा भुञ्जन्निर्द्वरतो मुहुः ॥२९०॥
अवधूतः^{१३} पुरानङ्गः सम्प्रति स्वीकृतोऽनया । प्रयोजनवशात् प्राज्ञैः प्रास्तोऽपि^{१४} परिगृह्यते ॥२९१॥
अस्याग्रह इवानङ्गः सद्यः सर्वाङ्गसङ्गतः । विकारमकरोत् स्वैरं भूयो भूनेप्रवज्जन्तम् ॥२९२॥
साङ्गो^{१५} यद्येतयाऽद्यैवमेकीभावं प्रजामि किम् । इत्यनङ्गोऽप्यनङ्गत्वं स्वं मन्ये^{१६} साध्वस्तुष्यत ॥२९३॥
लक्ष्मीः सा सर्वभोग्याऽभूद् रतिर्ध्वङ्गेन^{१७} भुज्यते । जितानङ्गानिमानेधा न्यक्कृत्य^{१८} जयमाप्स्यति ॥२९४॥

होनेपर किसे आनन्द नहीं होता है ? ॥२८३॥ वह सुलोचना भी अपने सौभाग्यके वशसे आये हुए समस्त राजाओंको देखकर अत्यन्त संतुष्ट हुई थी सो ठीक ही है क्योंकि जिस प्रकार शत्रुओंको जीतनेवाले पुरुषोंका शूरवीरपना प्रशंसनीय होता है उसी प्रकार स्त्रियोंका सौभाग्य भी प्रशंसनीय होता है ॥ २८४ ॥ तदनन्तर वह सुलोचना लीलापूर्वक अवलोकनके द्वारा उन राजाओंका हृदय अपनी ओर आकर्षित कर कंचुकीके कहनेसे उस महलसे नीचे उतरती ॥२८५॥ जिसकी दृष्टि उसके शरीरपर जहाँ पड़ गयी थी वह मानो वहीं कीलित सी हो गयी थी तथा उसके नीचे उतर आनेपर वे राजा लोग उसे न देखकर बहुत ही खेदग्रस्त हुए थे ॥२८६॥ तदनन्तर, जो कामदेवकी विद्याके समान सबके हृदयको प्रिय है, जो मीतियोंके आभूषणोंकी कान्तिके बीचमें शरदऋतुकी बिजलीकी लताके समान जान पड़ती है और जिसपर मानो मनुष्योंकी दृष्टिके दोषोंको दूरसे ही दूर करते हुए, तथा चन्द्रमाके साथ स्पर्धा करनेवाले और हंसोंके पंखोंके समान निर्मल चमर बार-बार हराये जा रहे हैं ऐसी वह सुलोचना, जो छोटी-छोटी घंटियोंके रुणझुण शब्दोंसे रमणीय है, कानोंके समीप लगे हुए सोनेके चमरोंसे शोभायमान बड़े-ऊँचे घोड़े जिसमें जुते हुए हैं, नीचे-ऊपरको उड़ती हुई ध्वजाएँ ही जिसकी भुजाएँ हैं और जो उन उड़ती हुई ध्वजाओंसे ऐसा जान पड़ता है मानो कुरूप मनुष्यका साक्षात् निरन्तर निराकरण ही कर रहा हो और सुरूप (सुन्दर) मनुष्योंको साक्षात् बुला रहा ही हो' ऐसे रथपर सवार हुई ॥ २८७-२९० ॥ सुलोचनाने कामदेवका पहले तो तिरस्कार किया था परन्तु अब उसे स्वीकृत किया सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धिमान् पुरुष हटाये हुंको भी अपने प्रयोजनके वश फिर स्वीकार कर लेते हैं ॥२९१॥ पिशाचके समान शीघ्र ही इसके सब अंगोंमें प्रविष्ट हुआ कामदेव अपनी इच्छानुसार बार-बार भौंह नेत्र और मुखमें उत्पन्न होनेवाले विकारोंको प्रकट कर रहा था ॥ २९२ ॥ यदि मैं शरीररहित होता तो क्या इस तरह इस सुलोचनाके साथ एकीभाक्को प्राप्त हो सकता ? अर्थात् इसके शरीरमें प्रवेश कर पाता ? ऐसा विचार करता हुआ कामदेव मानो अपने शरीररहितपनेको ही अच्छा समझता था ॥ २९३ ॥ वह

१ अवलोकनैः । २ अवतरति स्म । ३ यस्मिन्नवयवे । ४ ते तस्या-ल० । तत् कारणात् । ५ अवतरणं कुर्वन्त्या सस्याम् । ६ तां कव्यकामीक्षमाणाः न बभूवुरित्यर्थः । ७ भूतम् । ८ प्रसिद्धैः । ९ रूपहीनानां रूपवतां च । १० क्रमेण निराकरणं चाह्वानं च । ११ एवंविधं रथमध्यास्येति सम्बन्धः । १२ कामविद्या । १३ मरालपक्ष । १४ निराकृतः । १५ प्रतिक्षिप्तः । १६ सशरीरः । १७ शिष्टमिति । १८ अनङ्गेन विकलाङ्गेमेति ध्वनिः । १९ निराकृत्य । २० विजयं जयकुमारं च ।

करग्रहेण लक्ष्मीवान् स्याच्च वा वारिधेर्भुवः^१ । अस्याः करग्रहो यस्य तस्य लक्ष्मीः करे स्थिता ॥२९५॥
 लावण्यमम्बुधौ पुंसु^२ स्त्रीष्वस्यामेव संभृतम्^३ । यत्प्राप्ताः सरितः^४ सर्वास्तमेतां सर्वपार्थिवाः ॥२९६॥
 समस्तमेतसंपीतमप्यस्या वर्धतेतराम् । लावण्यमम्बुधिस्त्वक्तः श्रिया बहत्^५ तत्कथम् ॥२९७॥
 रत्नाकरखड्गुर्गर्भमम्बुधिः ध्रियते वृथा । कन्यारत्नमिदं^६ यत्र^७ तयोरेतद्^८ विराजते ॥२९८॥

प्रसिद्ध लक्ष्मी सबके द्वारा उपभोग करने योग्य है और रति शरीररहित कामदेवके द्वारा भोगी जाती है परन्तु यह सुलोचना कामदेवको जीतनेवाले इन सभी राजाओंका तिरस्कार कर जय अर्थात् विजय अथवा जयकुमारको प्राप्त होगी । भावार्थ — संसारमें दो ही प्रसिद्ध स्त्रियाँ हैं एक लक्ष्मी और दूसरी रति । इनमेंसे लक्ष्मी तो सर्वपुरुषोंके द्वारा उपभोग योग्य होनेके कारण पुँश्चलीके समान निन्द्य है और रति शरीररहित पिशाच (पक्षमें कामदेव) के द्वारा उपभोग योग्य होनेसे दूषित है परन्तु यह सुलोचना अपनी शोभासे कामदेवको जीतनेवाले इन सभी राजाओंका तिरस्कार कर जय—जीत (पक्षमें जयकुमार) को प्राप्त होगी अर्थात् यह सुलोचना लक्ष्मी और रतिसे भी श्रेष्ठ है ॥ २९४ ॥ समुद्रपर्यन्त इस पृथिवीका करग्रह अर्थात् टैक्स वसूल करनेसे कोई पुरुष लक्ष्मीवान् हो अथवा नहीं भी हो परन्तु जिसके इस सुलोचनाका करग्रह अर्थात् पाणिग्रहण होगा लक्ष्मी उसके हाथमें ही स्थित समझनी चाहिए ॥ २९५ ॥ पुरुषोंमें लावण्य (खारापन) समुद्रमें है और स्त्रियोंमें लावण्य (सौन्दर्य) इसी सुलोचनामें भरा हुआ है यही कारण है कि सब नदियाँ समुद्रके पास पहुँची हैं और सब राजा लोग इसके समीप आ पहुँचे हैं । भावार्थ—लावण्य शब्दके दो अर्थ हैं — एक खारापन और दूसरा सौन्दर्य । यहाँ कविने दोनोंमें शाब्दिक अभेद मानकर निरूपण किया है । श्लोकका भाव यह है — लावण्य पुरुषोंमें भी होता है और स्त्रियोंमें भी परन्तु उसके स्थान दोनोंमें नियत है । पुरुषका लावण्य समुद्रमें नियत है और स्त्रीका लावण्य सुलोचनामें । पुरुषके लावण्यके प्रति स्त्रियोंका आकर्षण रहता है और स्त्रियोंके लावण्यके प्रति पुरुषका आकर्षण रहता है । यही कारण है कि नदीरूपी स्त्रियाँ आकर्षित होकर समुद्रके पास पहुँची हैं और सब राजा लोग (पुरुष) सुलोचनाके प्रति आकर्षित होकर उसके समीप आ पहुँचे हैं ॥ २९६ ॥ इसका लावण्य सबके नेत्रोंके द्वारा पिया जानेपर भी बढ़ता ही जाता है परन्तु समुद्रको तो लक्ष्मीने छोड़ दिया है इसलिए वह उसे कैसे धारण कर सकता है ? भावार्थ — ऊपरके श्लोकमें लावण्यके दो स्थान बतलाये थे — एक समुद्र और दूसरा सुलोचना । परन्तु यहाँ लावण्य शब्दका केवल सौन्दर्य अर्थ हृदयमें रखकर कवि समुद्रमें उसका अभाव बतला रहे हैं । यहाँ कवि लावण्य उस पदार्थको कह रहे हैं जिसकी निरन्तर वृद्धि ही होती रहे और जिसे देखकर दर्शक उसे कभी छोड़ना न चाहे । कविका मनोगत लावण्य सुलोचनामें ही था क्योंकि उसे देखकर नेत्र कभी उसे छोड़ना नहीं चाहते थे और निरन्तर उसकी वृद्धि होती रहती थी । समुद्रमें लावण्यका होना कविको दृष्ट नहीं है क्योंकि उसे लक्ष्मीने छोड़ दिया है यदि उसमें वास्तवमें लावण्य होता तो उसे लक्ष्मी क्यों छोड़ती ? (लक्ष्मी-द्वारा समुद्रका छोड़ा जाना कविसम्प्रदायमें प्रसिद्ध है ।) ॥२९७॥ समुद्र अपने रत्नाकरपनेका छोटा अहंकार व्यर्थ ही धारण करता है क्योंकि जिनके यह कन्यारूपी रत्न है उन्हीं राजा अकम्पन और रानी सुप्रभाके यह रत्नाकरपना सुशोभित होता है ॥२९८॥

१ लक्ष्मीः । २ सुलोचनायाः । ३ पुरुषेषु । ४ परिपूर्णम् । ५ यत् कारणात् । ६ तं समुद्रम् । एताम् सुलोचनाम् । ७ लावण्यम् । ८ ययोः । ९ अकम्पनसुप्रभायोः । १० रत्नाकरत्वम् ।

इति स्तुताः सौभाग्यमाय^१रूपादिसंभृता । जनैः स्वयं वरागारमागमद् गोमिनी^२ सा ॥२९९॥
 परिभूतिर्हि^३धा सात्रं भाविनी^४ केति वा तदा । प्रीतिशोकान्तरे केचिद् रसं राजकमन्वभूत् ॥३००॥
 स्थिरा महेन्द्रदत्तोऽपि^५ रत्नमालाधरो धुरि^६ । रथं प्रचोदयामास प्रतिविद्याधराधिपान् ॥३०१॥
 दक्षिणोत्तरयोः श्रेण्योर्नमेद्वच विनमैः सुतौ । पतिः सुमतिरेषोऽयमितः सुविनमिः श्रियः ॥३०२॥
 अन्येऽभी च खगाधीशा विद्याविक्रमशालिनः । पतिं हृणीन्व त्वं कैषु^७ स्वेच्छामेकत्र पूरय ॥३०३॥
 इति कञ्चुकिनिर्दिष्टं नामादाय पृथक् पृथक् । कर्णेकस्यास्यमात्^८ सर्वान् रुचिश्चित्रा हि देहिनाम् ॥३०४॥
 पश्चात् सर्वाङ्गिरीक्ष्यैषा कञ्चुसु विहरीषते^९ । तथैवेति खमास्तस्थुः किं वाशानात्रलम्बते ॥३०५॥
 एवाज्ज^{१०} ग्लुर्मुखाब्जानि तद्वधाद् व्यकसम्पूरः । रवेरिवोदये राज्ञां संसृतेः स्थितिरीदृशी ॥३०६॥
 उवाचा^{११}ऽबुधुव^{१२} चिन्ममभिभूमि^{१३} चरं रथः । कञ्चुकी कथयामास नामभिस्ताम्रपांस्तदा ॥३०७॥
 निराकृत्यार्ककीर्त्यादीन् साऽजेया जयमाणमन् । हित्वा शेषान् धुमांश्चूतं मर्धा मधुकरी यथा ॥३०८॥
 गृहीतप्रग्रहस्तत्र^{१४} कञ्चुकीचित्तचित्तदा । वचो व्यापारयामास जयव्याचर्णनं प्रति ॥३०९॥

इस प्रकार लोग जिसकी स्तुति कर रहे हैं ऐसे अपने सौभाग्य, भाग्य और रूप आदिसे भरी हुई वह सुलोचना लक्ष्मीके समान स्वयंवर भवनमें आ पहुँची ॥२९९॥ इस संसारमें पराभूति दो प्रकारकी है—एक पराभूति अर्थात् उत्कृष्ट सम्पद् और दूसरी पराभूति अर्थात् पराभव—तिरस्कार, सो इन दोनोंमें न जाने कौन सी पराभूति अथवा परा-भूति होनेवाली है ऐसा विचार करता हुआ राजाओंका समूह उस समय प्रेम और शोकके बीच किसी अव्यक्त रसका अनुभव कर रहा था ॥३००॥

रत्नोंकी मालाको धारण करनेवाला महेन्द्रदत्त नामका कंचुकी भी धुरापर बैठकर विद्याधर राजाओंकी ओर रथ चलाने लगा ॥३०१॥ और सुलोचनासे कहने लगा कि ये विजयार्धकी दक्षिण तथा उत्तर श्रेणीके राजा नमि और विनमिके पुत्र हैं । यह लक्ष्मीका स्वामी सुनमि हैं और यह इस ओर सुविनमि हैं ॥३०२॥ विद्या और पराक्रमसे शोभायमान ये और भी अनेक विद्याधरोंके अधिपति विराजमान हैं इनमें-से तू किसी एकको वर अर्थात् पतिरूपसे स्वीकार कर और एक हीमें अपनी इच्छा पूर्ण कर ॥३०३॥ इस प्रकार कंचुकीने अलग-अलग नाम लेकर कुछ कहा था उसे कानमें डालकर—सुनकर वह सबको छोड़ती हुई आगे चली सो ठीक ही है क्योंकि प्राणियोंकी रुचि अनेक प्रकारकी होती है ॥३०४॥ यह कन्या सबको देखकर बादमें किसीको वरना चाहती है यह विचारकर विद्याधर लोग ज्योंके त्यों बैठे रहें सो ठीक ही है क्योंकि आशा किसका आश्रय नहीं लेती है ? ॥३०५॥ जिस प्रकार सूर्यके उदय होनेसे कमल विकसित हो जाते हैं और अस्त होनेसे मुरझा जाते हैं उसी प्रकार राजाओंके मुखरूपी कमल सुलोचनाके रथ सामने आनेसे पहले तो प्रफुल्लित हुए किन्तु रथके चले जानेपर बादमें मुरझा गये थे सो ठीक ही है क्योंकि संसारकी स्थिति ही ऐसी है ॥३०६॥ तदनन्तर वह रथ विद्याधरोंकी ऊँची भूमिसे नीचे भूमिगोचरियोंकी ओर उतरा, उस समय वह कंचुकी नाम ले लेकर राजाओंका निरूपण करता जाता था ॥३०७॥ जिस प्रकार वसन्तऋतुमें कोयल सब वृक्षोंको छोड़कर आमके पास पहुँचती है उसी प्रकार वह अजेय सुलोचना अर्क-कीर्ति आदि राजाओंको छोड़कर जयकुमारके पास जा पहुँची ॥३०८॥ उसी समय चित्तकी

१ पुण्य । २ लक्ष्मी । ३ अवज्ञा सम्पन्न । पराभूति—ख०, म०, अ०, प०, स०, इ० । ४ अवज्ञासम्पन्नोः । ५ भविष्यत् । ६ कञ्चुकी । ७ रथमुखे । ८ निजवाञ्छाम् । ९ अतिक्रान्तवती । १० वरितुमिच्छति । ११ म्लानान्यभवन् । १२ उन्नतप्रदेशान् । १३ अगमत् । १४ मूषराणां नमिमुखम् । १५ धृतास्वरज्जुः ।

प्रदीपः स्वकुलस्यायं प्रभुः सोमप्रभात्मजः । श्रीमानुत्साहभेदैर्वा^१ जयोऽयमनुजैर्दृतः ॥३१०॥
 न रूपमस्य व्यावर्ण्यं तदेतदतिममथम्^२ । स^३ दर्पणोऽर्पणीयः किं करकङ्कणदर्शने ॥३११॥
 जित्वा मेघकुमाराख्यानुत्तरे भरते सुरान् । सिंहनादः कृतोऽनेन जिततन्मेघनिस्त्वनः^४ ॥३१२॥
 वीरपट्टं^५ प्रबध्वास्य स्वभुजाभ्यां समुद्धतम् । न्यधात्रि निधिनाथेन हृष्टा मेघस्वरामिधा ॥३१३॥
 आत्मसम्पन्नगुणैर्भुक्तः समेतश्चाभिगामिकैः^६ । प्रज्ञोत्साहविशेषैश्च^७ ततोऽयमुदितोदितः ॥३१४॥
 चित्रं जगत्प्रवस्यास्य गुणाः संख्यं^८ सांप्रतम्^९ । व्यावृताः^{१०} सर्वमावेन^{११} तत्र भावानुरजने^{१२} ॥३१५॥
 अयमेकोऽस्ति दोषोऽस्य^{१३} चक्षुः सन्ति चोदितः^{१४} । श्रीः कीर्तिवीरलक्ष्मीश्च वाग्देवी चातिबलभाः ॥३१६॥
 जितमेघकुमारोऽयमेकः प्राक्^{१५} त्वजयेऽधुना । च्युतधैर्यं हवालक्ष्ये^{१६} यत्सहायीकृतः स्मरः ॥३१७॥
 अलिनोर्युधयोर्मध्ये वर्तमानो जिगीषतोः^{१७} । द्वैधीमात्रं^{१८} समापन्नः पाद्गुण्यनिपुणः स्मरः ॥३१८॥
 कीर्तिः कुचलयाह्लादी पद्माह्लादी प्रभाऽस्य हि । सूर्याचन्द्रमसौ तस्मादनेन हतशक्तिकौ ॥३१९॥

बातको जाननेवाला कंचुकी घोड़ोंकी रास पकड़कर जयकुमारका वर्णन करनेके लिए अपने वचनोंको व्यापृत करने लगा अर्थात् जयकुमारके गुणोंका वर्णन करने लगा ॥३०९॥ उसने कहा कि यह श्रीमान् स्वामी जयकुमार है, यह अपने कुलका दीपक है, महाराज सोमप्रभका पुत्र है और उत्साहके भेदोंके समान अपने छोटे भाइयोंसे आवृत्त है—घिरा हुआ है ॥३१०॥ कामदेवको तिरस्कृत करनेवाला इसका यह रूप तो वर्णन करने योग्य ही नहीं है क्योंकि हाथका कंकण देखनेके लिए क्या दर्पण दिया जाता है ? ॥३११॥ इसने उत्तर भरतश्रेष्ठमें मेघकुमार नामके देवोंको जीतकर उन देवोंके कृत्रिम बादलोंकी गर्जनाको जीतनेवाला सिंहनाद किया था ॥३१२॥ उस समय निधियोंके स्वामी महाराज भरतने हर्षित होकर अपनी भुजाओं-द्वारा धारण किया जानेवाला वीरपट्ट इसे बाँधा था और मेघस्वर इसका नाम रखा था ॥३१३॥ यह आत्माके समीचीन गुणोंसे युक्त है तथा आदरणीय उत्तम पुरुषोंके साथ सदा संगति रखता है इसलिए बुद्धि और विशेष उत्साहोंके द्वारा यह श्रेष्ठोंमें भी श्रेष्ठ गिना जाता है ॥३१४॥ यह भी आश्चर्यकी बात है कि इसके गुण तीनों लोकोंको प्रसन्न कर अब तेरे अन्तःकरणको अनुरक्त करनेके लिए पूर्ण रूपसे लींटे हैं । भावार्थ—इसने अपने गुणोंसे तीनों लोकोंके जीवोंको प्रसन्न किया है और अब तुझे भी प्रसन्न करना चाहता है ॥३१५॥ यदि इसमें दोष है तो यही एक, कि इसके निम्नलिखित चार स्त्रियाँ हैं, श्री, कीर्ति, वीरलक्ष्मी और सरस्वती । ये चारों ही स्त्रियाँ इसे अत्यन्त प्रिय हैं ॥३१६॥ जिसने पहले अकेले ही मेघकुमारको जीत लिया था ऐसा यह जयकुमार इस समय तुझे जीतनेके लिए धैर्यरहित-सा हो रहा है अर्थात् ऐसा जान पड़ता है मानो इसका धैर्य छूट रहा हो यही कारण है अब इसने कामदेवको अपना सहायक बनाया है ॥३१७॥ एक दूसरेको जीतनेकी इच्छा करनेवाले तुम दोनों बलवानोंके बीचमें पड़ा हुआ यह सन्धि विग्रह आदि छहों गुणोंमें निपुण कामदेव द्वैधीभावको प्राप्त हो रहा है अर्थात् कभी उसका आश्रय लेता है और कभी तेरा ॥३१८॥ इसकी कीर्ति तो कुचल्य अर्थात् रात्रिमें खिलनेवाले कमलोंको (पक्षमें महीमण्डलको) आनन्दित करती है और प्रभा पक्ष अर्थात् दिनमें खिलनेवाले कमलोंको (पक्षमें पद्मा-लक्ष्मीको) विकसित

१ शक्तिविशेषः । २ दृश्यमानम् । ३ अतिक्रान्तममथम् । ४ प्रसिद्धः । ५ निजितमेघकुमारघनध्वनिः । ६ प्रमुष्वास्य ल० । ७ अभिगमार्हः । आदरणीयैरित्यर्थः । ८ ततः कारणात् । ९ आत्मग्यनुरक्तं विधाय । १० अधुना । ११ व्यापारमकुर्वन् । १२ सकलस्वरूपेण । १३ चित्तानुरञ्जने । १४ भावः सत्ता स्वभावाभिप्रायच्छेदात्मजन्मसु इत्यभिधानात् । १५ दर्शनीयः । १६ यत् कारणात् । १७ परस्परं जेतुमिच्छतोः । १८ उभयावलम्बनत्वम् ।

कीर्तिर्बहिर्वचरा लक्ष्मीरतिवृद्धा सरस्वती । जीर्णतरापि शान्तेव^१ लक्ष्यते क्षतविद्विषः^२ ॥३२०॥
 ततस्त्वयि त्रयोरुपशीलादिगुणमागच्छाम् । प्रीतिर्लतेव^३ रक्पुष्पा प्रवृद्धास्य फलिष्यति ॥३२१॥
 युवाभ्यां निर्जितः कामः संप्रत्यभ्यन्तरीकृतः । स^४ वामपजमायाभूदरिर्विश्वम्भितो^५ऽप्यरिः ॥३२२॥
 निष्ठुरं जृम्भतेऽमुष्मिन्^६ मयारिरपि स्मरः । भवेव त्वां स्त्रियं भूयो भटेषु भटमन्वरः ॥३२३॥
 विख्यातविजयः श्रीमान् यानमात्रेण^७ निर्जितः । स्वयाऽयमत एवात्र जयो न्यायागतस्तव ॥३२४॥
 प्राध्वंक्य^८ गले रत्नमालया रक्शरैर्जितम् । जयलक्ष्मीस्तवैवास्तु तत्त्वमेतं^९ करे कुरु ॥३२५॥
 इति तस्य वचः श्रुत्वा स्मरषाद्गुण्यवेदिनः । शनैर्विगलितश्रीर्वा^{१०} लोललीलावलोकनः ॥३२६॥
 तदा जन्मान्तरखेहश्चाक्षुषी^{११} सुन्दराकृतिः । कुन्दभासा^{१२} गुणास्तस्य श्रावणाः^{१३} पुण्यसायकः ॥३२७॥

करती है इसलिए इसने सूर्य और चन्द्रमा दोनोंको शक्तिरहित कर दिया ॥३१६॥ समस्त
 शत्रुओंको नष्ट करनेवाले इस जयकुमारकी कीर्ति तो सदा बाहर रहती है, लक्ष्मी अत्यन्त वृद्ध
 है, सरस्वती जीर्ण है और वीर लक्ष्मी शान्त-सी दिखती है इसलिए दृष्टिरूपी पुष्पोसे युक्त और
 खूब बड़ी हुई इसकी प्रीतिरूपी लता वय, रूप, शील आदि गुणोंसे सहित तुझमें ही अच्छी तरह
 फलीभूत होगी । भावार्थ—३१६ वें श्लोकमें बतलाया था कि इसके चार प्रिय स्त्रियाँ हैं कीर्ति,
 लक्ष्मी, सरस्वती और वीरलक्ष्मी परन्तु उनसे तुझे सपत्नीजन्य दुःखका अनुभव नहीं करना
 पड़ेगा । क्योंकि कीर्ति नामकी स्त्री तो सदा बाहर ही घूमती रहती है—अन्तःपुरमें उसका प्रवेश
 नहीं हो पाता (पक्षमें उसकी कीर्ति समस्त संसारमें फैली हुई है), लक्ष्मी अत्यन्त वृद्ध है—
 वृद्धावस्था युक्त है (पक्षमें बड़ी हुई है), सरस्वती भी जीर्ण अर्थात् वृद्धावस्थाके कारण शिथिल
 शरीर हो रही है (पक्षमें परिपक्व है) इसलिए इन तीनोंपर उसका खास प्रेम नहीं रहता ।
 अब रह जाती है वीरलक्ष्मी, यद्यपि वह तरुण है और सदा उसके पास रहती है परन्तु अत्यन्त
 शान्त है—शृंगार आदिकी ओर उसका आकर्षण नहीं है (पक्षमें क्षमायुक्त गूरवीरता है)
 इसलिए इन चारोंसे राजाकी प्रीति हटकर तुझपर ही आरुढ़ होगी क्योंकि तू वय, रूप, शील
 आदि गुणोंसे सहित है ॥३२०—३२१॥ तुम दोनोंने पहले जिस कामदेवको जीतकर दूर हटाया
 था उसे अब अपने अन्तःकरणमें बैठा लिया है, अथवा खास विश्वासपात्र बना लिया है परन्तु
 अब वही कामदेव तुम दोनोंका पराजय करनेके लिए तैयार हो रहा है सो ठीक ही है क्योंकि
 शत्रुका कितना ही विश्वास क्यों न किया जाय वह अन्तमें शत्रु ही रहता है ॥३२२॥ यद्यपि
 यह कामदेव तुम दोनोंका शत्रु है तथापि तुझे स्त्री मानकर इसी एकपर बड़ी निष्ठुरताके
 साथ अपना प्रभाव बढ़ा रहा है सो ठीक ही है क्योंकि योद्धाओंकी ईर्ष्या योद्धाओंपर ही होती है ।
 भावार्थ—वह तुझे स्त्री समझ कायर मानकर अधिक दुःखी नहीं करता है परन्तु जयकुमारपर
 अपना पूरा प्रभाव डाल रहा है ॥३२३॥ जिसका विजय सर्वत्र प्रसिद्ध है ऐसे श्रीमान् जय-
 कुमारको तूने यान अर्थात् आगमन (पक्षमें युद्धके लिए किये हुए प्रस्थान) मात्रके द्वारा जीत
 लिया है इसलिए इस जगह न्यायसे तेरी ही विजय हुई है ॥३२४॥ तू अपने दृष्टिरूपी बाणोंके
 द्वारा जीते हुए इस जयकुमारको रत्नोंकी मालासे गलेमें बाँधकर अपने हाथमें कर, विजय-
 लक्ष्मी तेरी ही हो ॥३२५॥ इस प्रकार कामदेवके सन्धि विग्रह आदि छह गुणोंको जाननेवाले
 कंचुकीके वचन सुनकर धीरे-धीरे जिसकी लज्जा छूटती जा रही है, जिसकी लीला-
 पूर्ण दृष्टि बड़ी चंचल है तथा उस समय जन्मान्तरका स्नेह नेत्रोंके द्वारा देखी

१ वीरलक्ष्मीः । २ जयकुमारस्य । ३ वां युवयोः वामपजमाया — ल० । ४ विश्वासितः । ५ जये । ६ गमन-
 मात्रेण । ७ बन्धहेतुकमानुकूल्यं कृत्वा, बद्ध्वेत्यर्थः । ८ तत् कारणात् । ९ लज्जा । १० चक्षुषा कृप्यमाणा ।
 ११ कुन्दवद भासमानाः । १२ श्रावणज्ञानविषयाः । श्रावणहिता वा ।

इत्येभिः स्वयंभवादेना^१ समुत्थित्यापरोपिता । रत्नमालां समादाय कन्या कञ्चुकिनः करात् ॥३२८॥
 अवध्नाद् बन्धुरां तस्य कण्ठेऽतिप्रेमनिर्भरा । सा त्रायकात् समध्यास्य वक्षोलक्ष्मीरिवापरा ॥३२९॥
 सहसा सर्वतूर्याणामुदतिष्ठन्महाध्वनिः । श्रावयन्निव दिक्कन्याः कन्यासामाभ्यमुत्सवम् ॥३३०॥
 वस्त्रवारिजवासिन्धा^३ नरविद्याधरं शिनाम् । श्रिया जयमुक्ताभोजमाश्रितं वा तदात्यभान् ॥३३१॥
 गताशा^४ वारयो मलानसुखावजाक्षुपलश्रियः । खभूषणनृपाः कष्टमासन् शुष्कस्तरस्समाः ॥३३२॥

मालिनीच्छन्दः

अभिमतफलसिद्धया वर्द्धमानप्रमोदो निजदुहि^५ तृप्तमेतं प्राक् पुरोधाय^६ पूज्यम् ।

जयममरतरुं वा^७ कल्पवल्लीसनाथं^८ नगरमविशदुर्ध्वैर्नाथवंशाधिनाथः ॥३३३॥

शार्दूलविक्रीडितम्

आसोऽयं^९ महिते स्वयंवरविधौ^{१०} यद्भोग्यसौभाग्यभाग्

^{११} यस्माद्वाजसरोन्द्रवक्त्रघनजश्रीवारयोविद्धृतः ।

मालामानगुणा^{१२} यतोऽस्य^{१३} शरणे मन्दारमालायते

^{१४} तत्कलशावधिर्वा^{१५} धमस्य^{१६} विपुलं विश्वं^{१७} यशो व्यश्नुते^{१८} ॥३३४॥

वसन्ततिलका

भास्वत्प्रभाप्रसरणप्रतिकुङ्कुमः^{१९} प्राप्सोदयः प्रतिविधाय^{२०} पश्यमावस्य^{२१} ।

^{२२} बन्धुप्रजाकुमुदः^{२३} विराज्यकालिर्लज्जि^{२४} रत्नः^{२५} भ्रातृद्विजयोर्विजयी^{२६} जल्लक्ष्मीः^{२७} ॥३३५॥

हुई जयकुमारकी सुन्दर आकृति, कुन्दके फूलके समान सुने हुए उसके गुण और कामदेव इन सबने उठाकर जिसे रथसे नीचे उतारा है ऐसी कन्या सुलोचनाने कंचुकीके हाथसे रत्नमाला लेकर तथा अतिशय प्रेममें निमग्न होकर, वह मनोहरमाला उस जयकुमारके गलेमें डाल दी । उस समय वह माला जयकुमारके वक्षःस्थलपर अधिरुढ़ हो दूसरी लक्ष्मीके समान सुशोभित हो रही थी ॥३२६-३२९॥ उस समय अकस्मात् सब बाजोंकी बड़ी भारी आवाज ऐसी उठी थी मानो दिशारूपी कन्याओंके लिए सुलोचनाका असाधारण उत्सव ही सुना रही हो ॥३३०॥ उस समय जयकुमारका मुखरूपी कमल बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहा था और ऐसा जान पड़ता था मानो भूमिगोचरी तथा विद्याधर राजाओंके मुखरूपी कमलोंपर निवास करनेवाली लक्ष्मी उसी एकके मुखपर आ गयी हो ॥३३१॥ जिनका आशारूपी जल नष्ट हो गया है और जिनके मुखरूपी कमल तथा नेत्ररूपी उत्पलोंकी शोभा म्लान हो गयी है ऐसे भूमिगोचरी और विद्याधर राजा सूखे सरोवरके समान बड़े ही दुःखी हो रहे थे ॥३३२॥ अभीष्ट फलकी सिद्धि होनेसे जिसका आनन्द बढ़ रहा है ऐसा उत्कृष्ट नाथवंशका अधिपति राजा अकम्पन, कल्पलतासे सहित कल्पवृक्षके समान पृथ्वीसे युक्त पूज्य जयकुमारको आगे कर अपने उत्कृष्ट नगरमें प्रविष्ट हुआ ॥३३३॥ चूँकि भाग्य और सौभाग्यको प्राप्त होनेवाला यह जयकुमार स्वयंवरकी सम्माननीय विधिमें सबसे पहला था, भूमिगोचरी और विद्याधर राजाओंके मुखकमलोंकी शोभारूपी वीरांगनाओंसे घिरा हुआ था और अम्लानगुणोंवाली माला उसकी शरणमें आकर कल्पवृक्षोंकी मालाके समान आचरण करने लगी थी, अतएव उसका बहुत बड़ा निर्मल यश कल्पान्तकाल तक समस्त संसारमें व्याप्त रहेगा ॥३३४॥ जिसकी देदीप्यमान प्रभाके प्रसारसे कर्मल खिल उठते थे, दूसरों (शत्रुओं अथवा नक्षत्र आदिकों) के प्रभावका तिरस्कार कर जिसका उदय हुआ था और जो भाईबन्धु तथा प्रजारूपी कुमुदोंको

१ समुद्रतः । २ मुखकमलनिवासिन्याः । ३ गतात्यवारणः ट० । विगतमुखरसाः । ४ पृथ्वी । ५ अग्रे कृत्वा । ६ इव । ७ सहितम् । ८ आसोऽयं इ०, प०, अ०, स० । ९ यत् कारणात् । भाग्य पुण्य । १० यस्मात् कारणात् । ११ यस्मात् कारणात् । १२ जयस्य । १३ परित्राणे, गृहे । १४ तस्मात् कारणात् । १५ कल्पपर्यन्तम् । १६ निर्मलम् । १७ जगत् । १८ व्याप्नोति । १९ प्रबुद्धलक्ष्मीः । विकसितकमलः । २० निराकृत्य । २१ शत्रुसामर्थ्यम् । नक्षत्रादिसमृद्धयर्थं च । २२ बन्धवश्च प्रजाश्च बन्धुप्रजाः, बन्धुप्रजा एव कुमुदानि तेषां बन्धुश्चन्द्रः ।

त्रिचत्वारिंशत्तमं पर्व

३८५

मालिनी

प्रियवृत्तिरमेतां नाथवंशाम्बरन्दोरमुमुषेनयति स्म स्पष्टसौभाग्यलक्ष्मीः ।

^३ अवलितमहसमन्यां वीरलक्ष्मीं च कीर्तिं कथयति नयतीति ^४ प्राप्तिभजानमुदयैः ॥३३६॥

शार्दूलविक्रीडितम्

पुण्यमयं सुरुपमहिमा सौभाग्यलक्ष्मीरियं जातोऽस्मिन् जनकः स योऽस्य जनिका सैवास्य या सुप्रजा ^५ ॥

पूज्योऽयं जगदेकमङ्गलमणिश्चामणिः श्रीभूतामिस्तुक्तिर्जयमागजयं प्रति जनैर्जातोऽस्यैर्जसिपता ॥३३७॥

मालिनी

कुवलयपरिभोषं संदधानः समन्तात् संततवित्तवृत्तिः सुप्रतिष्ठः ^६ प्रसन्नः ।

परिणतिनिजसौख्येणार्कमाक्रम्य दिक्षु प्रथितपृथुलकीर्त्या चर्द्धमानो जयः स्तात् ^७ ॥३३८॥

इति समुपगता श्रीः सर्वकल्याणभाजं जिनपतिमतभाक्त्वात्पुण्यभाजं जयं तम् ।

तदुत्कृतमुपाध्वं हे बुधाः श्रद्धाः परमजिनपदाब्जद्वन्द्वमद्वन्द्ववृत्त्या ॥ ३३९ ॥

इत्यार्षे भगवज्जिनसेनाचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे

स्वयंवरमालारोपणकल्याणकं नाम त्रिचत्वारिंशत्तमं पर्व ॥३३९॥

प्रफुल्लित करनेके लिए बन्धुके समान था और जिसकी कान्ति अचिन्त्य थी ऐसा सूर्य और चन्द्रमाको जीतनेवाला वह जयकुमार अत्यन्त सुशोभित हो रहा था ॥३३५॥ जिसकी सौभाग्य-रूपी लक्ष्मी स्पष्ट प्रकट हो रही है ऐसे उस जयकुमारने नाथवंशरूपी आकाशके चन्द्रमा स्वरूप राजा अकम्पनकी प्रिय पुत्री सुलोचनाको विवाहा था सो ठीक ही है क्योंकि प्रतिभाशाली मनुष्योंका उत्कृष्ट ज्ञान यही कहता है कि देदीप्यमान प्रतापके धारक पुरुषको ही अनोखी वीर-लक्ष्मी और कीर्ति प्राप्त होती है ॥३३६॥ उस समय जिन्हें आनन्द प्राप्त हो रहा है ऐसे लोगों-के द्वारा, जयकुमारके प्रति उसकी विजयको सूचित करनेवाली निम्नप्रकार बातचीत हो रही थी कि इस संसारमें यही पुण्य है, यही उत्तम रूपकी महिमा है, यही सौभाग्यकी लक्ष्मी है, जिसके यह उत्पन्न हुआ है वही पिता है, जिसने इसे उत्पन्न किया है वही उत्तम सन्तानवती माता है, यही लक्ष्मीवान् पुरुषोंमें चूड़ामणि स्वरूप है और संसारका कल्याण करनेवाले रत्नके समान यही एक पूज्य है ॥३३७॥ जो चारों ओरसे कुवलय अर्थात् पृथ्वीमण्डल (पक्षमें रात्रि विकासी कमलों) को प्रसन्न अथवा प्रफुल्लित करता रहता है, जिसकी कान्ति सदा फैली रहती है, जिसकी प्रतिष्ठा उत्तम है और जो सदा प्रसन्न रहता है ऐसा यह (चन्द्रमाका सादृश्य धारण करनेवाला) जयकुमार अपने परिपक्व प्रतापसे सूर्यपर भी आक्रमण कर दिशाओंमें फैली हुई बड़ी भारी कीर्तिसे सदा बढ़ता रहे ॥३३८॥

इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान्के मतकी उपासना करनेसे बहुत भारी पुण्यका उपार्जन करनेवाले और सब प्रकारके कल्याणोंको प्राप्त होनेवाले जयकुमारको लक्ष्मी प्राप्त हुई थी इसलिए हे श्रद्धावन्त विद्वान् पुरुषो, तुम लोग भी निराकुल होकर परम दयालु सर्वोत्कृष्ट जिनेन्द्र-देवके दोनों चरणकमलोंकी उपासना करो ॥३३९॥

इस प्रकार आर्य नामसे प्रसिद्ध भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण संग्रहके

हिन्दी भाषानुवादमें सुलोचनाके स्वयंवरका वर्णन करनेवाला

यह तैत्तलीसवाँ पर्व पूर्ण हुआ ।

१ पुत्रीम् । २ अधमुप-त०, इ०, अ०, प०, स० । ३ जयकुमारम् । ४ प्रतिभैव प्राप्तिभं तच्च तद्ज्ञानं च । प्रतिपुण्यसमुद्भूतप्रतिभाज्ञानमित्यर्थः । ५ लोके । ६ माता । ७ सुपुत्रवती । ८ मङ्गलदर्पणः । ९ सुसूर्य-वान् । १० भूयात् ।

चतुश्चत्वारिंशत्तमं पर्व

अथ दुर्मर्षणो नाम दुष्टस्तस्या^१ सहिष्णुकः । सर्वानुदीपयन्^२ पापी सोऽर्ककीर्त्यनुजीवकः ॥१॥
 अकम्पनः खलः क्षुद्रो घृथैश्चर्यमदोद्धतः । मृषा युष्मान् समाहूय क्लृप्तमानः स्वसंपदम् ॥२॥
 पूर्वमेव समालोच्य मालामालञ्जयज्जये । पराभूति^३ विधित्सुर्धः स्थायिनीमायुगान्तरम् ॥३॥
 इति प्रवाणः संप्राप्य सत्रीञ्च चक्रिणः सुतम् । इह यद्वत्खण्डरंजानां स्वामिनौ त्वं पिता च ते ॥४॥
 रत्नं रत्नेषु कन्यैव तत्राप्येषैव^४ कन्यका । तस्यां स्वगृहमानीष दौष्ट्यं^५ पश्यास्य दुर्मतेः ॥५॥
 जयो नामात्र कस्त्रस्मै दत्तवान् मृग्युचोदितः । तेनागतोऽस्मि वीर्यं तदेतत् सोऽहुमक्षमः ॥६॥
 प्राकृतोऽपि न सोऽव्ययः प्राकृतैरपि^६ किं पुनः । आहूतः स्त्रीसमुद्भूतो मानभङ्गो मनस्विभिः ॥७॥
 तदादिश^७ दिशाम्यस्मै पदं वैवस्वतास्पदम्^८ । दिशाम्यादेशमात्रेण^९ समालां तेऽपि कन्यकाम् ॥८॥
 इत्यसाध्वी^{१०} क्षुधं मर्तुः स्ववाचैवासुखत् खलः । सदसत्कार्यनिर्वृत्ती^{११} शक्तिः सदसतोः^{१२} समा ॥९॥
 सद्वचःपथन^{१३} प्रौढक्रोधधूमध्वजारुणः^{१४} । अमक्षिलोचनाङ्गारः^{१५} क्रुद्धाग्निसुरसक्तिमः ॥१०॥

अथानन्तर—दुर्मर्षण नामका एक दुष्ट पुरुष राजकुमार अर्ककीर्तिका सेवक था । वह जयकुमारके उस वैभवको नहीं सहन कर सका इसलिए उस पापीने सब राजाओंको इस प्रकार उत्तेजित किया । वह कहने लगा कि अकम्पन दुष्ट है, नीच है, झूठमूठके ऐश्वर्यके मदसे उद्धत हो रहा है, अपनी सम्पदाओंको प्रशंसा करते हुए उसने व्यर्थ ही आप लोगोंको बुलाया है । वह तुम लोगोंका दूसरे युग तक स्थिर रहनेवाला अपमान करना चाहता है इसलिए उसने पहले-से सोच-विचारकर जयकुमारके गलेमें माला डलवायी है, इस प्रकार कहता हुआ वह दुर्मर्षण लज्जित हुए चक्रवर्तीके पुत्र अर्ककीर्तिके पास आया और कहने लगा कि इन छहों खण्डोंमें उत्पन्न हुए रत्नोंके दो ही स्वामी हैं एक तू और दूसरा तेरा पिता ॥१-४॥ रत्नोंमें कन्या ही रत्न है और कन्याओंमें भी यह सुलोचना ही उत्तम रत्न है इसलिए ही अकम्पनने तुझे अपने घर बुलाकर तेरा तिरस्कार किया है, जरा इस दुष्टकी दुष्टताको तो देखो ॥ ५ ॥ भला, जय-कुमार है कौन ? जिसके लिए मृत्युसे प्रेरित हुए अकम्पनने अपनी पुत्री दी है । मैं यह दुराचार सहन करनेके लिए असमर्थ हूँ इसलिए ही आपके पास आया हूँ ॥ ६ ॥ जब कि नीच लोग भी छोटे-छोटे मानभंगको नहीं सहन कर पाते हैं तब भला आप-जैसे तेजस्वी पुरुष स्त्रीसे उत्पन्न हुआ मानभंग कैसे सहन कर सकेंगे ? ॥ ७ ॥ इसलिए मुझे आशा दीजिए मैं आपकी आज्ञा-मात्रसे ही इस अकम्पनको यमराजका स्थान दे सकता हूँ और माला सहित वह कन्या आपके लिए दे सकता हूँ ॥८॥ इस प्रकार उस दुष्टने अपने वचनोंसे ही अपने स्वामीको दुष्ट क्रोध उत्पन्न करा दिया सो ठीक ही है क्योंकि अच्छा और बुरा कार्य करनेके लिए सज्जन तथा दुर्जनों-की एक-सी शक्ति रहती है ॥ ९ ॥ उस दुर्मर्षणके वचनरूपी वायुसे अग्नी हुई क्रोधरूपी अग्निसे

१ तमसहमाणः । २ कोपाग्नि प्रउल्लमन् । ३ परिभूतिम् । ४ कन्यारत्नेष्वपि । ५ तां त्वां तं, व० । ६ दुष्ट-
 र्वम् । ७ तेन कारणेन । ८ प्रकृते भवः पराभवोऽपि । अथवा तुच्छकार्यमपि । ९ नीचैरपि । नष्टान्वयप्रभव-
 रित्यर्थः । १० तत् कारणात् । ११ आदेशं देहि । १२ यमपुरम् । 'कालो दण्डधरः' आददेवो
 वैवस्वतोऽन्तकः' इत्यभिधानात् । १४ निरूपणमात्रेण । १५ अक्षुभम् । १६ निष्पत्तौ । १७ सज्जनदुर्जनयोः ।
 १८ प्रबुद्ध । 'प्रबुद्धप्रोक्तमेधितमित्यभिधानात् । १९ अग्निः । २० कुपिताग्निकुमारसदृशः । क्रुद्धा - ल०, म० ।

उज्जगारं^१ ज्वलत्स्थूलविस्फुलिङ्गोपमा गिरः । अर्ककीर्तिर्द्विषोऽशेषान् दिवश्चरिव^२ वाचया ॥११॥
 मामधिक्षिप्य^३ कन्येयं येन दत्ता दुःशस्त्रना । तेन प्रागेव मूढेन दत्तः स्वस्मै जलाञ्जलिः ॥१२॥
 अतिक्रान्ते^४ रथे^५ तस्मिन् प्रोत्थितः क्रोधपावकः । तदैव किञ्चु को दाह्य इत्यजानन्नहं स्थितः ॥१३॥
 नास्त्रातिसन्धितो^६ मूढो मग्न्यते स्वमकम्पनम् । क्रुद्धे मयि न वेत्सीति कम्पते सधरा धरा^७ ॥१४॥
 मरुवङ्गवारिवा^८ राशि^९ रास्तां तावदगोचरः । संहरन्त्यखिलान् शत्रून् यलवेलैव^{१०} हंलया ॥१५॥
 प्ररुद्धशुष्कनाथेन्दुदुर्बलशिपुलाटवी । मत्क्रोधप्रस्फुरद्दह्निमस्मिताऽस्मिन्^{११} रोक्ष्यति^{१२} ॥१६॥
 वीरपट्टस्तदा सौख्यं भुवो^{१३} मनुर्भयान्नया । कथमर्थं^{१४} लब्धं मोलां स्वर्थसौभाग्यलोपिनीम् ॥१७॥
 मयशः कुसुमाभ्रानमालेवास्त्वायुगावधि । जयलक्ष्म्या सहायतां^{१५} हरेयं^{१६} जयवक्षसः ॥१८॥
 जलदानं पेलवान्^{१७} जिह्वा मरुन्मात्रविलापिनः^{१८} । अद्य पश्यामि दत्तस्य जयस्य जयमाहवे ॥१९॥
 इति^{१९} निर्मिन्नमर्यादः कार्याकार्यविमूढयोः । अनिवार्यो विनिर्जिह्व कालान्तजलधिध्वनिम् ॥२०॥
 अनलस्यानिलो वाऽस्य^{२०} साहाय्यमगमंस्तदा । केऽपि पापक्रियारम्भे सुलभाः सामवायिकाः^{२१} ॥२१॥

जो लाल-लाल हो रहा है, जिसके नेत्ररूपी अंगारे घूम रहे हैं, और क्रोधसे जो अग्निकुमार देवोंके समान जान पड़ता है ऐसा वह अर्ककीर्ति अपने वचनोंसे ही समस्त शत्रुओंको जलानेकी इच्छा करता हुआ ही मानो जलते हुए बड़े-बड़े फुलियोंके समान वचन उगलने लगा ॥१०-११॥ वह बोला जिस दुष्टने मेरा अपमान कर यह कन्या दी है उस मूर्खने अपने लिए पहले ही जला-जलि दे रखी है ॥१२॥ उस समय कन्याका रथ आगे निकलते ही मेरी क्रोधरूपी अग्नि भड़क उठी थी परन्तु जलने योग्य कौन है ? यह नहीं जानता हुआ मैं चुप बैठा रहा था ॥१३॥ केवल नामसे ठगाया हुआ वह मूर्ख अपने आपको अकम्पन मानता है परन्तु वह यह नहीं जानता कि मेरे कुपित होनेपर पर्वतों सहित पृथिवी भी कंपने लगती है ॥१४॥ मेरी तलवाररूपी जलकी धाराका विषय तो दूर ही रहे मेरी सेनारूपी लहर ही समस्त शत्रुओंको अनायास ही नष्ट कर देती है ॥१५॥ बहुत बड़े और सूखे हुए नाथवंश तथा चन्द्रवंशरूपी दुष्ट बाँसोंकी बड़ी भारी अटवी मेरे क्रोधरूपी प्रज्वलित अग्निसे भस्म हो जायगी और फिर इस संसारमें कभी नहीं उग सकेगी ॥१६॥ उस समय पृथिवीके अधिपति चक्रवर्ती महाराजने जयकुमारको जो वीरपट्ट बाँधा था उसे तो मैंने उनके डरसे सह लिया था परन्तु आज अपने सब सौभाग्यको नष्ट करनेवाली इस चरमालाकी कैसे सह सकता हूँ ? ॥१७॥ मेरे यशरूपी फूलोंकी अम्लान माला ही इस युगके अन्त तक विद्यमान रहे । इस मालाको तो मैं जयलक्ष्मीके साथ-साथ जयकुमारके वक्षःस्थलसे आज ही हरण किये लेता हूँ ॥१८॥ केवल वायुमात्रसे विलीन हो जानेवाले कोमल मेघोंको जीतकर अहंकारकण्ठे प्राप्त हुए जयकुमारकी जीत आज मैं पुद्गमें देखूँगा ॥१९॥ इस प्रकार जिसने मर्यादा तोड़ दी है, कार्य अकार्यके करनेमें जिसकी बुद्धि विचाररहित हो रही है और जो किसीसे निवारण नहीं किया जा सकता ऐसे अर्ककीर्तिने उस समय अपने शब्दोंसे प्रलयकालके समुद्रकी गर्जनाको भी जीत लिया था और जिस प्रकार अग्नि-को भड़कानेके लिए वायु सहायक होता है उसी प्रकार उसका क्रोध भड़कानेके लिए किसने

१ उवाच । २ दग्धुमिच्छुः । ३ तिरस्कृत्य । ४ मामूल्लङ्घ्य गते । ५ कन्यारुद्धस्यन्दने । ६ अकम्पन इति नाम्ना । ७ अधिक्षितः । ८ क्रुद्धे ल० । ९ पर्वतसहिता भूमिः । 'महीध्रे शिखरिदमाभृदहार्यधरपर्वताः' इत्यभिधानात् । १० अस्मदायुधधाराजलः । ११ बारिधारासि प०, ल० । १२ सेनावेला । १३ प्रवृद्धनिस्सारदुष्ट-नाथवंशसोमवंशविद्यालविपिन इत्यर्थः । १४ अस्मिन् लोके । १५ न अनिध्यते । १६ अक्रिणः । १७ सहायि । १८ अस्मत्कीर्तिः । १९ मालाम् । २० स्वीकृत्याम् । २१ मूढम् । २२ विनाशिनः । २३ इति उज्जगारेति सम्बन्धः । २४ सहायता । २५ समवायं सहायतां प्राप्ताः ।

तदा सर्वोपशान्तो मन्त्री जानपदादिभिः^१ । अनवद्यमतिर्नाम लक्षितो मन्त्रिलक्षणैः^२ ॥२२॥
 धर्ममर्थं यशस्सारं ससौष्ठवमनिष्टुरम् । सुविचार्य वचो न्याय्यं पथ्यं प्रोक्तुं प्रचक्रमे ॥२३॥
 मही ध्योम शशी सूर्यः सरिदीशोऽनिलोऽनलः । खं स्वत्पिता धनाः कालो जगत्क्षेमविधाधिनः^३ ॥२४॥
 विपर्यासे विपर्येति^४ भवतामनुवर्तनात् । वर्तते सृष्टिरेषा^५ हि न्यक्तं युष्मासु^६ तिष्ठते ॥२५॥
 गुणाः क्षमादयः^७ सर्वे व्यस्तास्तेषु क्षमादिषु^८ । समस्तास्ते जगद्बुद्धयै^९ चक्रिणि त्वयि च स्थिताः २६
 न्यवर्तन्ते^{१०} स्वस्थितेः काले कचित्तेऽपि क्षमादयः । न स कालोऽस्ति यः कर्ता प्रच्युतेर्बुधयोः^{११} स्थितेः ॥२७॥
 सृष्टिः पितामहेनेयं^{१२} सृष्टेना^{१३} तत्सम्पिताम्^{१४} । पाति सन्नाट्^{१५} पिता तेऽयं^{१६} तस्यास्त्वमनुपलकाः २८
 दैवमानुषवाधाभ्यः क्षतिः कस्यापि या क्षितौ । समैवेयमिति स्मृत्वा समाधेया^{१७} स्वयैव सा^{१८} ॥२९॥
 क्षतात् त्रायत इत्यासीत् क्षत्रोऽयं भरतेश्वरः । सुतस्तस्यौरसो^{१९} ज्येष्ठः क्षत्रियस्त्वं^{२०} तदादिमः ॥३०॥
 एवतो न्यायाः प्रवर्तन्ते नूतना ये पुरातनाः । तेषु स्वपालिता एव मधन्त्यत्र पुरातनाः ॥३१॥

ही राजा लोग उसके सहायक हो गये थे सो ठीक ही है क्योंकि पापक्रियाओंके प्रारम्भमें सहायता देनेवाले सुलभ होते हैं ॥२०-२१॥ उस समय जो सब उपधाओसे शुद्ध हैं तथा जनपद आदि मन्त्रियोंके लक्षणोंसे सहित हैं ऐसा निर्दोषबुद्धिका धारक अनवद्यमति नामका मन्त्री अच्छी तरह विचारकर धर्मयुक्त, अर्थपूर्ण, यशके सारभूत, उत्तम, कठोरतारहित, न्यायरूप और हितकारी वचन कहने लगा ॥२२-२३॥ उसने कहा कि पृथिवी, आकाश, चन्द्रमा, सूर्य, समुद्र, वायु, अग्नि, तू, तेरा पिता, मेघ और काल ये सब पदार्थ संसारमें कल्याण करनेवाले हैं ॥२४॥ आप लोगोंमें उलट-पुलट होनेसे यह संसारकी सृष्टि उलट-पुलट हो जाती है और आपके अनुकूल रहनेसे अच्छी तरह विद्यमान रहता है इससे स्पष्ट है कि यह सृष्टि आप लोगोंपर ही अवलम्बित है ॥२५॥ क्षमा आदि गुण अलग-अलग तो पृथिवी आदिमें भी रहते हैं परन्तु इकट्ठे होकर संसारका कल्याण करनेके लिए चक्रवर्तीमें और तुल्यमें ही रहते हैं ॥२६॥ पृथिवी आदि पदार्थ किसी समय अपनी मर्यादासे च्युत भी हो जाते हैं परन्तु ऐसा कोई समय नहीं है जो तुम दोनोंको अपनी मर्यादासे च्युत कर सके ॥२७॥ तुम्हारे पितामह भगवान् वृषभदेवने इस कर्मभूमिरूपी सृष्टिकी रचना की थी, उनके द्वारा सौंपी हुई इस पृथिवीका पालन इस समय तुम्हारे पिता भरत महाराज कर रहे हैं और उनके बाद इसका पालन करनेवाले तुम ही हो ॥२८॥ इस पृथिवीमें यदि किसीकी भी दैव या मनुष्यकृत उपद्रवोंसे कुछ हानि होती हो तो 'यह मेरी' ही है ऐसा समझकर आपको ही उसका समाधान करना चाहिए ॥२९॥ जो क्षत अर्थात् संकटसे रक्षा करे उसे क्षत्र कहते हैं, भरतेश्वर सबकी रक्षा करते हैं इसलिए वे क्षत्र हैं और तुम उनके सबसे बड़े औरस पुत्र हो इसलिए तुम सबसे पहले क्षत्रिय हो ॥३०॥ इस संसारमें नवीन न्याय तुमसे ही प्रवृत्त होते हैं और जो पुरातन अर्थात् प्राचीन हैं वे तुम्हारे द्वारा पालित होकर ही पुरातन कहलाते हैं । भावार्थ-आपसे नवीन न्याय मार्गकी प्रवृत्ति

१ धर्मार्थकामभोगेषु ध्याजेन परचित्तपरोक्षणमुपधा तथा शुद्धः । 'उपधा धर्मार्थैर्यत्परीक्षणम्' इत्यभिधानात् ।
 २ जनपदभवन्पुत्रपुरजनादिभिः । ३ लोकस्य क्षेमकारिणः । ४ विपर्यासमेति । ५ जगत्सृष्टिः । ६ युष्मासु सहोपभृतिषु प्रकाशते । ७ क्षान्त्यवगाहनसंज्ञानसंतापहरणप्रकाशनादिगुणाः । ८ विकलाः । एकैकस्मिन्नेकैकश एवेत्यर्थः । ९ पृथिव्याकाशादिषु । १० जगद्बुद्धी प०, ल०, म० । ११ प्रच्युता भवन्ति । १२ भरतार्क-कोत्थीः । १३ पितृपित्रा आदिब्रह्मणा । 'पितामहः पितृपिता' इत्यभिधानात् । १४ सृष्टा तां अ०, स० । सृष्टयैतां इ०, प०, ल० । १५ आदिब्रह्मणा विस्तीर्णम् । १६ चक्री । १७ सृष्टेः । १८ निवर्तनीया । १९ क्षतिः । २० उरसि भवः । साक्षात्सुतः न दत्तपुत्रः । २१ क्षत्राज्जातः ।

सनातनोऽस्ति मार्गोऽयं श्रुतिस्मृतिषु भाषितः । विवाहविधिभेदेषु वरिष्ठो हि स्वयंवरः ॥ ३२ ॥
 यदि स्यात् सर्वसंप्राप्त्या कन्यैका पुण्यभाजनम् । अविरोधो व्यवहार्यश्च दैवायसो विधिर्बुधैः ॥ ३३ ॥
 मध्यं महाकुलानेषु कंचिदेकमर्मास्ति तम् । सलक्ष्मीकमलक्ष्मीकं गुणितं गुणदुर्गतम् ॥ ३४ ॥
 चित्रं रूपिणं चापि वृणीतेऽसौ विधेयं शात् । न तत्र भस्तरः कार्यः शेषैर्न्यायोऽयमिदम् ॥ ३५ ॥
 लब्ध्यते यदि केनापि न्यायो रक्ष्यस्वयैव सः । नेयं तत्रोचितं यथापि पाता स्यात्पारिपान्थिकः ॥ ३६ ॥
 मन्वकुलाचलस्योभौ नाथसोमाश्वर्यौ पुरा । संशोर्निषधर्नालौ वा सत्पशौ पुरुषा कृता ॥ ३७ ॥
 सकलक्षत्रियज्येष्ठः पूज्योऽयं राजराजवत् । अकम्पनमहाराजो राजैव ज्योतिषां गणैः ॥ ३८ ॥
 निर्विरोधं पुरोरेनं मन्यते भरतेश्वरः । पूज्यातिलकनं प्राहुर्भयं शत्रुमावहम् ॥ ३९ ॥
 पश्य सादृशं पुराणं सोमवंशोऽपि कथ्यते । धर्मतीर्थं भवदंशाद् दानतीर्थं ततो यतः ॥ ४० ॥
 पुरस्सरणमात्रेण क्षात्र्यं चक्रं त्रिंशं विभोः ॥ प्रायो दुस्साधनसिद्धौ क्षात्र्ये जयमेव सः ॥ ४१ ॥
 एतस्य दिग्जये सर्वैर्दृष्टमेवेह पौरुषम् । अनेन च कृतः प्रेषः स्मर्तव्यो ननु स त्वया ॥ ४२ ॥
 ज्ञात्वा सभास्यशौचोक्तं स भाग्यो वर्तुल्लिख्यः । दृष्टारः स्वसाध्येऽर्थं साधितार्थः किमुष्यते ॥ ४३ ॥

चलती है और पुराने न्यायमार्गोंकी रक्षा होती है ॥ ३१ ॥ विवाहविधिके सब भेदोंमें यह स्वयं-
 वर ही श्रेष्ठ है । श्रुतियों और स्मृतियोंमें कहा गया यह स्वयंवर ही सनातन (प्राचीन) मार्ग
 है ॥ ३२ ॥ यदि पुण्यके पात्र स्वरूप किसी एक कन्याकी याचना सब मनुष्य करने लग जायें तो
 उस समय परस्परका विरोध दूर करनेके लिए विद्वानोंने केवल भाग्यके अधीन होनेवाली इस
 स्वयंवर विधिका विधान किया है ॥ ३३ ॥ बड़े-बड़े कुलोंमें उत्पन्न हुए पुरुषोंके मध्यमें वह
 कन्या भाग्यवशा अपनी इच्छानुसार किसी एकको स्वीकार करती है चाहे वह लक्ष्मीसहित हो
 या लक्ष्मीरहित, गुणवान् हो या निर्गुण, सुरूप हो या कुरूप । अन्य लोगोंको इसमें ईर्ष्या नहीं
 करनी चाहिए क्योंकि यह ऐसा ही न्याय है ॥ ३४-३५ ॥ यदि किसीके द्वारा इस न्यायका
 उल्लंघन किया जाय तो तुम्हें ही इसकी रक्षा करनी चाहिए इसलिए यह सब तुम्हारे लिए
 उचित नहीं है । क्या कभी रक्षक भी चोर या शत्रु होता है ॥ ३६ ॥ जिस प्रकार निषध और
 नील कुलाचल मेरुपर्वतके उत्तम पक्ष हैं, उसी प्रकार भगवान् आदिनाथने पहले नाथवंश और
 चन्द्रवंश दोनों ही आपके कुलरूपी पर्वतके उत्तम पक्ष अर्थात् सहायक बनाये थे ॥ ३७ ॥ जिस
 प्रकार चन्द्रमा समस्त ज्योतिषी देवोंके समूहके द्वारा पूज्य है उसी प्रकार समस्त क्षत्रियोंमें
 बड़े महाराज अकम्पन भी भरत चक्रवर्तीके समान सबके द्वारा पूज्य हैं ॥ ३८ ॥ महाराज भरत
 इन अकम्पनको भगवान् वृषभदेवके समान ही मानते हैं इसलिए तुम्हें भी इनके प्रति नम्रताका
 व्यवहार करना चाहिए क्योंकि पूज्य पुरुषोंका उल्लंघन करना दोनों लोकोंमें अकल्याण करने-
 वाला कहा गया है ॥ ३९ ॥ और देखो यह सोमवंश भी नाथवंशके समान ही कहा जाता है ।
 क्योंकि जिस प्रकार तुम्हारे वंशसे धर्मतीर्थकी प्रवृत्ति हुई है उसी प्रकार सोमवंशसे दानतीर्थकी
 प्रवृत्ति हुई है ॥ ४० ॥ चक्रवर्तीका चक्ररत्न आगे-आगे चलने मात्रसे प्रशंसनीय अवश्य है
 परन्तु कठिनाईसे सिद्ध होने योग्य कार्योंमें वे प्रायः जयकुमारकी ही प्रशंसा करते हैं ॥ ४१ ॥
 दिग्विजयके समय इसका पुरुषार्थ संसारमें सबने देखा था । उस समय इसने जो पराक्रम
 दिखाया था वह भी तुम्हें याद रखना चाहिए ॥ ४२ ॥ जिस योद्धामें शूरवीरपनेकी सम्भावना हो

१ अतिशयेन वरः । २ कृतः । ३ - देकं समोप्यतम् ल०, म०, अ०, प०, इ०, स० । ४ गुणदग्निम् ।
 ५ रक्षकः । ६ सत्सहायी । सत्पक्षती च । ७ चक्रिवत् । ८ चन्द्र इव । ९ समानम् । १० इहामुत्र च ।
 ११ सोमवंशात् । १२ यतः कारणात् । १३ चक्रिणः । १४ चक्री । १५ जयस्य । १६ यः ल० । १७ बलानि-
 योगः । १८ भाविशौर्य इत्यर्थः ।

विना चक्राद् विना रत्नैर्मौग्येयं श्रीस्त्वया तदा । जयात्ते^१ मानुषी^२ सिद्धिर्देवी पुण्योदयाद्यथा ॥४४॥
 तृणकल्पोऽपि^३ संवाह्यस्तव नीतिरियं कथम् । नाथेन्दुवंशावुच्छेद्यौ लक्ष्याः साक्षाद्भुजायितौ ॥४५॥
 बन्धुभृत्यश्रयाद्भूयस्तुभ्यं चक्षुषि कुप्यति । अधर्मश्चायुगस्यायी त्वया स्वातः संप्रवर्तितम्^४ ॥४६॥
 परदारामिलाषस्य प्राथम्यं^५ मा वृथा कृथाः । अवश्यमाहताप्येषा न कन्या ते भविष्यति ॥४७॥
 सप्रतापं यशः स्थास्तु जयस्य स्यादहयंथा । तव रात्रिस्विकीर्तिः स्थायिन्यत्र मलीमसा ॥४८॥
 सर्वमेतन्ममैवेति मा मस्था साधनं युधः^६ । बहवोऽप्यत्र भूपालाः सन्ति तत्पक्षपातिनः ॥४९॥
 पुरुषार्थत्रयं पुष्पिर्दुःप्रापं तत्त्वयाऽर्जितम् । न्यायमार्गं समुल्लङ्घ्य वृथा तर्कि विनाशयेः ॥५०॥
 अकम्पनस्य सेनेभ्यो जयः प्रागिव चक्रिणः । वीरलक्ष्यास्तुलारोहं मुधा त्वं किं विधास्यसि ॥५१॥
 ननु न्यायेन बन्धोस्ते^७ बन्धुपुत्री समर्पिता । उत्सवे का पराभूतिरक्षमा^८ अत्र परामवः ॥५२॥
 कन्यारत्नानि संप्रदत्तं ब्रह्मन्वन्द्यानि भूभुजाभिः । इह तानि सरस्त्रानि संधायिष्यन्^९ यामि ते ॥५३॥
 इति नीतिलतावृद्धिविधाव्यपि वचः पयः । व्यधात् तद्धेतसः शोभं तप्तैलस्य वा भृशम् ॥५४॥

राजाओंको जानकर उसका भी सम्मान करना चाहिए फिर भला जिसका पराक्रम देखा जा चुका है और जिसने अत्यन्त असाध्य कार्यको भी सिद्ध कर दिया है उसकी तो बात ही क्या है ? ॥४३॥ आगे चलकर जिस समय बिना चक्र और बिना रत्नोंके यह लक्ष्मी तुम्हारे उपभोग करने योग्य होगी उस समय तुम्हारी देवी सिद्धि जिस प्रकार पुण्य कर्मके उदयसे होगी उसी प्रकार तुम्हारी मानुषी अर्थात् मनुष्योंसे होनेवाली सिद्धि जयकुमारसे ही होगी ॥ ४४ ॥ जब कि तृणके समान तुच्छ पुरुषकी भी रक्षा करनी चाहिए यह आपकी नीति है तब राज्य लक्ष्मीके साक्षात् भुजाओंके समान आचरण करनेवाले नाथ वंश और सोम वंश उच्छेद करने योग्य कैसे हो सकते हैं ? ॥४५॥ इन भाइयोंके समान सेवकोंका नाश करनेसे चक्रवर्ती भी तुमपर अधिक क्रोध करेंगे और युगके अन्त तक टिकनेवाला यह अधर्म भी तुम्हारे-द्वारा चलाया हुआ समझा जायगा ॥४६॥ तुम्हें व्यर्थ ही परस्त्रीकी अभिलाषाका प्रारम्भ नहीं करना चाहिए क्योंकि यह निश्चय है, यह कन्या जबरदस्ती हरी जाकर भी तुम्हारी नहीं होगी ॥ ४७ ॥ जयकुमारका प्रताप सहित यश दिनके समान सदा विद्यमान रहेगा और तुम्हारी मलिन अकीर्ति रात्रिके समान सदा विद्यमान रहेगी ॥ ४८ ॥ ये सब राजा लोग युद्धमें मेरी सहायता करेंगे ऐसा मत समझिए क्योंकि इनमें भी बहुत-से राजा लोग उनके पक्षपाती हैं ॥ ४९ ॥ जो धर्म अर्थ और कामरूप तीन पुरुषार्थ पुरुषोंको अत्यन्त दुर्लभ हैं वे तुझे प्राप्त हो गये हैं इसलिए अब न्यायमार्गका उल्लंघन कर उन्हें व्यर्थ ही क्यों नष्ट कर रहे हो ॥ ५० ॥ यह जयकुमार जिस प्रकार पहले चक्रवर्तीका सेनापति बना था उसी प्रकार अब अकम्पनका सेनापति बना है तुम व्यर्थ ही वीरलक्ष्मीको तुलापर आरुढ़ क्यों कर रहे हो । भावार्थ — वीरलक्ष्मीको संशयमें क्यों डाल रहे हो ॥ ५१ ॥ निश्चयसे तेरे एक भाईकी पुत्री तेरे दूसरे भाईके लिए न्यायपूर्वक समर्पण की गयी है, ऐसे उत्सवमें तुम्हारा क्या तिरस्कार हुआ ? हाँ, तुम्हारी असह्यशीलता ही तिरस्कार हो सकती है ? भावार्थ — हितकारी होनेसे जिस प्रकार जयकुमार तुम्हारा भाई है उसी प्रकार अकम्पन भी तुम्हारा भाई है । एक भाईकी पुत्री दूसरे भाईके लिए न्यायपूर्वक दी गयी है इसमें तुम्हारा क्या अपमान हुआ ? हाँ, यदि तुम इस बातको सहन नहीं कर सकते हो तो यह तुम्हारा अपमान हो सकता है ॥ ५२ ॥ सुलोचनाके सिवाय राजाओंके और भी तो बहुत-से कन्यारत्न हैं, रत्नालंकार सहित उन सभी कन्याओंको मैं आज तुम्हारे लिए यहाँ ला देता हूँ ॥ ५३ ॥ इस प्रकार

१ तव । २ पुरुषकृता । ३ रक्षणीयः । ४ संप्रवर्तितः स०, ल०, अ०, प०, इ० । ५ प्रथमतवम् । ६ मा कार्षीः । ७ युद्धस्य । ८ तव । ९ असह्यमानता । १० प्रापयामि । ११ व्याधात् ल० ।

सर्वमेतत् समाख्यं बुद्धि कर्मानुसारिणीम् । स्पष्टयन्निव दुर्बुद्धिरिति प्रत्याह भारतीम् ॥५५॥
 अस्ति स्वयंवरः पन्थाः परिणीतो^१ चिरन्तनः । पितामहकृतो मान्यो वयोज्येष्ठस्त्वकम्पनः ॥५६॥
 किन्तु सोऽयं जयस्नेहात्तस्योत्कर्षं चिकीर्षुकः । स्वसुतायाश्च सीमाभ्यप्रतीतिप्रविधिरुक्तः ॥५७॥
 सर्वभूपालसंदोहसमाविर्भावितयात्^२ । स्वयं चक्रीमितुं^३ चैव व्यधत्त कपटं शत्रुः^४ ॥५८॥
 प्राक्समर्थितमन्त्रेण^५ प्रदायास्मै स्वचेतसा । कृतसंकेतया माला सुतयाऽऽरोपिता मृषा ॥५९॥
 युगादौ कुलवृद्धेन^६ मायेयं संप्रवर्तिता । मयापि यद्युपेक्ष्येत^७ कल्पान्ते नैव धावन्ते ॥६०॥
 न चक्रिणोऽपि कोपाय स्यादन्यायनिषेधनम् । प्रवर्तयत्यसौ दण्डं भव्यव्यन्यायवर्तिनि ॥६१॥
 जयोऽप्येवं^८ समुत्सि^९ कस्तत्पट्टेन^{१०} च मालया । प्रतिस्वं लब्धरम्भो^{११} मां करोम्यो^{१२} रम्भकनपुरा ॥६२॥
 समूलतूलमुच्छिद्य सर्वद्विषममुं युधि । अभुरागं जनिष्यामि राजन्यानां मयि स्थिरम् ॥६३॥
 द्विधा भवतु वा मा या बलं ते न किमाशुगाः^{१३} । मालां प्रस्थानविध्यन्ति जयवक्षो विभिद्य मे ॥६४॥
 नाहं सुलोचनाथ्यस्मि मत्सरी^{१४} मच्छरैरयम्^{१५} । परासुरधुनैव स्यात् किं मे विधवया त्वया ॥६५॥

अनवद्यमति मन्त्रीका वचनरूपी जल यद्यपि नीतिरूपी लताको बढ़ानेवाला था तथापि उसने तपे हुए तेलसे जलन लकड़ीलिके तिलको और भी अधिक क्षोभित कर दिया था ॥५४॥ यह सब सुनकर 'बुद्धि कर्मोंके अनुसार ही होती है,' इस बातको स्पष्ट करता हुआ वह दुर्बुद्धि इस प्रकार वचन कहने लगा ॥५५॥ मैं मानता हूँ कि विवाहकी विधियोंमें स्वयंवर ही पुरातन मार्ग है और यह भी स्वीकार करता हूँ कि हमारे पितामह भगवान् वृषभदेवके द्वारा स्थापित होने तथा वयमें ज्येष्ठ होनेके कारण अकम्पन महाराज मेरे मान्य हैं परन्तु वह जयकुमारपर स्नेह होनेसे उसीका उत्कर्ष करना चाहता है और सबपर अपनी पुत्रीके सीमाभ्यकी प्रतीति करना चाहता है । समस्त राजाओंके समूहके द्वारा प्रकट हुए बड़प्पनसे अपने आपको चक्रवर्ती बनानेके लिए ही उस मूर्खने यह कपट किया है ॥ ५६-५८॥ 'यह कन्या जयकुमारको ही देनी है' ऐसी सलाह अकम्पन पहले ही कर चुका था और उसी सलाहके अनुसार अपने हृदयसे जयकुमारके लिए कन्या दे भी चुका था परन्तु यह सब छिपानेके लिए जिसे पहले ही संकेत किया गया है ऐसी पुत्रीके द्वारा उसने यह माला झूठमूठ ही डलवायी है ॥५९॥ युगके आदिमें उच्चकुलीन अकम्पनके द्वारा की हुई इस मायाकी यदि आज मैं उपेक्षा कर दूँ तो फिर कल्प-कालके अन्त तक भी इसका निवारण नहीं हो सकेगा ॥ ६० ॥ अन्यायका निराकरण करना चक्रवर्तीके भी क्रोधके लिए नहीं हो सकता क्योंकि जब मैं अन्यायमें प्रवृत्ति कर बैठता हूँ तब वे मुझे भी तो दण्ड देते हैं । भावार्थ—चक्रवर्ती अन्यायको पसन्द नहीं करते हैं, और मैं भी अन्यायका ही निराकरण कर रहा हूँ इसलिए वे मेरे इस कार्यपर क्रोध नहीं करेंगे ॥६१॥ यह जयकुमार भी पहले वीरपट्ट बाँधनेसे और अब मालाके पड़ जानेसे बहुत ही अभिमानी हो रहा है । यह छिद्र पाकर पहलेसे ही मेरे लिए कुछ-न-कुछ आरम्भ करता ही रहता है ॥६२॥ यह सबका शत्रु है इसलिए युद्धमें इसे आमूलचूल नष्ट कर सब राजाओंका स्थिर प्रेम अपनेमें ही उत्पन्न करूँगा ॥६३॥ सेना फूटकर दो भागोंमें विभक्त हो जाय अथवा न भी हो, उससे मुझे क्या ? मेरे बाण ही जयकुमारका वक्षःस्थल भेदन कर वरमालाको ले आवेंगे ॥६४॥ मैं सुलोचनाको भी नहीं चाहता क्योंकि सबसे ईर्ष्या करनेवाला यह जयकुमार मेरे बाणोंसे अभी

१ विवाहे । २ अम्पुदयं प्राप्यमाश्रित्य । ३ चक्रोत्पादितम् ॥ ४ मयावी । ५ दृष्ट्वा । ६ अकम्पनेन । ७ -पेक्षेत ल० । ८ -प्येवं ल० । ९ गवितः । १० वीरपट्टेन । ११ प्राप्तावसरः । १२ व्यापारम् । १३ कारणसहितम् । १४ शराः । १५ मत्सरवान् । १६ मम बाणैः । १७ गतप्राणः । 'परासुप्राप्तपंचतत्परतमेत-संस्थिताः ।' इत्यभिधानात् ।

दुराचारनिषेधेन त्रयं धर्मादि वर्धते । कारणे सति कार्यस्य किं हानिर्दृश्यते क्वचित् ॥६६॥
 व्ययो मे विक्रमस्यास्तां शरस्याप्यत्र न व्ययः । वधे प्रत्युत धर्मः स्याद् दुष्टस्याहः कुतो भवेत् ॥६७॥
 कीर्तिर्विख्यातकीर्तेर्मे नार्ककीर्तेर्विनश्यति^१ । अकीर्तिरनिवार्या स्याद्व्यायस्यानिषेधनात् ॥६८॥
 तस्य^२ मेऽयशसः कीर्तेर्मेऽवभिर्यदुदाहृतम्^३ । भवेत्सत्यसंवादि^४ शीतकोऽस्यत्र यद्यहम् ॥६९॥
 युयमाश्वं ततस्तूष्णीमु^५ णकोऽहमिदं प्रति । धर्म्यमर्थ्यं यशस्यं च मा निषेधि^६ हितैषिभिः ॥७०॥
 एवं मन्त्रिणमुल्लङ्घ्य कुधीर्वा बुध्रंहाहितः^७ । सेनापतिं समाहूय प्रत्यासन्नपराभवः ॥७१॥
 कथयित्वा महीशामां सर्वेषां रणनिश्चयम् । भेरीमास्फालयामास जगत्त्रयभयप्रदाम् ॥७२॥
 अनुभेरीरवं सद्यः सस्याधाम^८ महीभुजाम् । नटभटभुजास्फोटचटुलाराव^९ निश्चुरः ॥७३॥
 करिकण्टस्फुटोद्घोषघण्टाटङ्कारमैरवः । जितकण्ठीश्वारावहयद्देवाधिभीषणः ॥७४॥
 षलद्धरिस्फुरोद्बटकठोरध्वाननिमरः । पदातिपङ्क्ति^{१०} प्रोद्यद्भूरिभूस्थभीवहः^{११} ॥७५॥
^{१२} स्पन्दस्त्यन्दनचक्रोत्थपृथुर्चीत्कारभीकरः । धनुः सजीकियासक्तगुणास्फालनकर्कशः ॥७६॥
 प्रतिध्वनितदिग्भिस्सर्वानकभयानकः । बलकोलाहलः कालमिवाह्लातं समुद्यतः ॥७७॥

ही मर जावेगा तब उस विधवासे मुझे क्या प्रयोजन रह जावेगा ॥६५॥ दुराचारका निषेध करनेसे धर्म आदि तीनों बढ़ते हैं, क्योंकि कारणके रहते हुए क्या कहीं कार्यकी हानि देखी जाती है ? ॥६६॥ इस काममें मेरे पराक्रमका नाश होता तो दूर रहा मेरा एक बाण भी खर्च नहीं होगा वल्कि दुष्टके मारनेमें धर्म ही होगा, पाप कहाँसे होगा ? ॥६७॥ ऐसा करनेसे प्रसिद्ध कीर्तिवाले मुझ अर्ककीर्तिकी कीर्ति भी नष्ट नहीं होगी परन्तु हाँ, यदि इस अन्यायका निषेध नहीं करता हूँ तो किसीसे निवारण न करने योग्य मेरी अपकीर्ति अवश्य होगी ॥६८॥ तुमने जो मेरी अपकीर्ति और उसकी कीर्ति होनेका उदाहरण किया है सो यदि मैं इस विषयमें मन्दो-योगी हो जाऊँ तो यह आपका निरूपण सत्य हो सकता है ॥६९॥ इसलिए तुम लोग चुप बैठो, मैं इस कार्यमें उष्ण हूँ — क्रोधसे उत्तेजित हूँ । हित चाहनेवालोंको धर्म, अर्थ तथा यश बढ़ाने वाले कार्योंका कभी निषेध नहीं करना चाहिए ॥७०॥ इस प्रकार जिसका पराभव निकट है और जो छोटे हठसे युक्त है ऐसे दुर्बुद्धि अर्ककीर्तिने मन्त्रीका उल्लंघन कर सेनापतिको बुलाया और सब राजाओंसे युद्धका निश्चय कहकर तीनों लोकोंको भय उत्पन्न करनेवाली भेरी बजवायी ॥७१-७२॥ जो राजाओंके प्रत्येक डेरेमें भेरीके शब्दोंके साथ ही साथ बहुत शीघ्र नाचते हुए घोड़ाओंकी भुजाओंकी ताड़नासे उत्पन्न होनेवाले चंचल शब्दोंसे कठोर है, जो हाथियोंके गलोंमें स्पष्ट रूपसे जोर जोरका शब्द करनेवाले घण्टाओंकी टंकारसे भयंकर है, जो सिंहोंकी गर्जनाको जोतनेवाले घोड़ोंकी हिनहिनाहटसे भीषण है, जो चलते हुए घोड़ोंके खुरोंके संघटनसे उठनेवाले कठोर शब्दोंसे भरा हुआ है, जो पैदल सेनाके पैरोंकी चोटसे उत्पन्न हुए पृथिवीके बहुत भारी शब्दोंसे भयंकर है, जो चलते हुए रथोंके पहियोंसे उत्पन्न होनेवाले बहुत भारी चीत्कार शब्दोंसे भय पैदा करनेवाला है, जो धनुष तैयार करनेके लिए लगायी हुई डोरीके आस्फालनसे कठोर है, जिसने दिशारूपी दीवालोंको प्रतिध्वनिसे युक्त कर दिया है और जो सब प्रकारके नगाड़ोंसे भयानक हो रहा है ऐसा बहुत भारी सेनाका कोलाहल उठा सो ऐसा जान पड़ता

१ आस्तां तावदित्यध्याहारः । २ पापः । ३ विनाशमेष्यति । ४ जयस्य । ५ यदुदाहरणम् । ६ सत्येन अविपरीतप्रतिपत्तिकम् । सत्येन एकवाशोपेतं वा । ७ मन्दः । ८ पटुः । ९ दक्षे तु चतुरपेशलपटवः सुत्यान ओष्णश्च इत्यभिधानात् । १० न निषिध्यते स्म । ११ स्वीकृतः । १२ विजितं प्रति क्षिप्रं प्रति । १३ नवस्थिता । १४ ध्वनिः । १५ पादहतिः । १६ भूमिध्वनिना भयंकरः । १७ बलत् ।

शिक्षिताः कलिनः घृष्टाः शूराः सकेतवः । गजाः समन्तात् सप्ताह्याः प्राक्खेलुरखलोपमाः ॥७८॥
 मुरङ्गमास्तराभाः सङ्ग्रामाब्धेः सयमंकाः^१ । अनुदग्धि^२ नदन्तोऽयान्^३ विक्रामन्तः^४ समन्ततः ॥७९॥
 सचक्रं^५ धेहि संयोज्य सधुरं^६ प्राज वाजिनः । इति संभ्रमिणोऽप्यन्तं^७ रथास्त्रदनु सध्वजाः ॥८०॥
 चपलाः कोदण्डकुन्ताविप्रायचक्रादिभीकराः । यान्ति स्मानुरथं क्रुता रुक्खिक्काः पदातयः ॥८१॥
 अर्ककीर्तिर्वह्निर्भास्वदस्यु^८ घतभयावृतः । ज्योतिःकुलाचलैर्वाक्यैश्चालाभ्यचलाधिपम्^९ ॥८२॥
 आरुहानेकपानेकभूपालपरिवारितः । मेरीनिन्दुरनिर्घोषमीषिताशेषदिग्विपः ॥८३॥
 चक्रध्वजं समुत्थाप्य मय्यगाविष्कृतोक्ततिः । गजं विजयघोषालयमाह्वयद्विषरोसमम् ॥८४॥
 अर्ककीर्तिर्वह्निर्भास्वदस्यु^८ घतभयावृतः । ज्योतिःकुलाचलैर्वाक्यैश्चालाभ्यचलाधिपम्^९ ॥८५॥
 किंवदन्तीं^{१०} विदित्वैतांभूपो भूत्वा कुलाकुलः^{११} । स्वालोचितं^{१२} च कर्तव्यं^{१३} विधिना क्रियतेऽन्यथा ॥८६॥
 इति स्वसचिवैः सार्धमालोक्य च अयादिभिः । प्रत्यर्ककीर्त्यया^{१४} दिक्षद्^{१५} कृतं संप्राप्य सत्वरम् ॥८७॥
 कुमार तव किं युक्तमेवं सीमासिलङ्घनम् । प्रसीद प्रलयो^{१६} दूरं तस्मा कार्ष्णिभृषागमम् ॥८८॥

धा मानो कालको बलानेके लिए ही उठा हो ॥ ७३-७७ ॥ उस समय जो शिक्षित हैं, बलवान् हैं, शूरवीर हैं, जिनपर योद्धा बैठे हुए हैं, पताकाएँ फहरा रही हैं, जो सब तरहसे तैयार हैं और पर्वतोंके समान ऊँचे हैं ऐसे हाथी सब ओरसे आगे-आगे चल रहे थे ॥ ७८ ॥ जो संग्रामरूपी समुद्रकी लहरोंके समान हैं, कवच पहने हुए हैं, हींस रहे हैं और क्रुद्ध रहे हैं ऐसे घोड़े उन हाथियोंके पीछे-पीछे चारों ओर जा रहे थे ॥ ७९ ॥ पहिये जल्दी लगाओ, धुराको ठीक कर जल्दी लगाओ, इस प्रकार कुछ जल्दी करनेवाले, तथा जिनमें शीघ्रगामी घोड़े जुते हुए हैं और ध्वजाएँ फहरा रही हैं ऐसे रथ उन घोड़ोंके पीछे-पीछे जा रहे थे ॥ ८० ॥ उन रथोंके पीछे धनुष, भाला, तलवार, प्रास और चक्र आदि शस्त्रोंसे भयंकर, फैलकर सब दिशाओंको रोकनेवाले, क्रोधी और बलवान् पैदल सेनाके लोग जा रहे थे ॥ ८१ ॥ उस समय हाथी हाथीको, घोड़ा घोड़ाको, रथ रथको और पैदल पैदलको धक्का देकर युद्धके लिए जल्दी-जल्दी जा रहे थे ॥ ८२ ॥ तदनन्तर - हाथियोंपर चढ़े हुए अनेक राजाओंसे घिरा हुआ, नगाड़ोंके कठोर शब्दोंसे समस्त दिग्गजोंको भयभीत करनेवाला, चक्रके चिह्नवाली ध्वजाको ऊँचा उठाकर अपनी ऊँचाईको अच्छी तरह प्रकट करनेवाला और चमकीली तलवार हाथमें लिये हुए योद्धाओंसे आवृत अर्ककीर्ति, मेरु पर्वतके समान उत्तम विजयघोष नामक हाथीपर सवार हो अचलाधिप (अचला अधिप) अर्थात् पृथ्वीके अधिपति राजा अकम्पनकी ओर इस प्रकार चला मानो ज्योतिर्मण्डल और कुलाचलोंके साथ-साथ सूर्य ही अचलाधिप (अचल अधिप) अर्थात् सुमेरुकी ओर चला हो ॥ ८३-८५ ॥ महाराज अकम्पन यह बात जानकर बहुत ही व्याकुल हुए और सोचने लगे कि अच्छी तरह विचारकर किया हुआ कार्य भी दैवके द्वारा उलटा कर दिया जाता है । इस प्रकार उन्होंने अपने मन्त्री तथा जयकुमार आदिके साथ विचारकर अर्ककीर्तिके प्रति शीघ्र ही एक शीघ्रगामी दूत भेजा ॥ ८६-८७ ॥ दूतने जाकर कहा कि हे कुमार, क्या तुम्हें इस प्रकार सीमाका उल्लंघन करना उचित है ? प्रलयकाल अभी दूर है इसलिए प्रसन्न होजिए

१ संनद्धाः कृताः । २ अनुवसहिताः । ३ दन्तिना पदवात् । ४ ध्वनन्तः । ५ अगच्छन् । ६ लङ्घनं कुर्वन्तः । ७ चक्रेण सह किञ्चिद् धेहि धारय । ८ धुरा सह किञ्चिद् धेहि । ९ प्रेरय । १० आशुपवाजने प्रयुक्ताः । त्वरावन्तः । ११ अगच्छन् । १२ अपवः । 'वाहोऽस्वस्तुरगो वाजी हयो धुर्यगुरंगमः' इति घनंशयः । १३ संग्रामनिमित्तम् । १४ उद्धृताति । १५ अकम्पनं महाराज प्रति । मेरुश्च । १६ जनवार्ताम् । १७ अधिकाकुलः । १८ सुदृढालोचितम् । १९ कार्यम् । २० अर्ककीर्ति प्रति । २१ प्राहिणोत् । २२ प्रलयः षष्ठकालान्ते भवतीत्यागमम् । मुपा मा कुरु ।

इति सामाद्विभिः^१ स्वोक्तैरशान्तमवगम्य तम् । प्रत्येयं तत्तथा सर्वमाश्रवाजी^२ गमनूपमम् ॥८९॥
 काशिराजस्यदाकर्ण्य विषादचलिताशयः । महामोहाहितो^३ वाऽऽसीद् दुष्कार्ये^४ को न मुञ्चति ॥९०॥
 अत्र चिन्त्यं न वः किञ्चिन्न्यायस्तेनैव^५ लङ्कितः । तिष्ठतेहैव^६ संरक्ष्य सुनियुक्ताः^७ सुलोचनाम् ॥९१॥
 इदानीमेव दुर्घटं शृङ्खलालिङ्गनोत्सुकम् । साखास्रगमिवानेप्ये बध्वा दाराततायिनम्^८ ॥९२॥
 इन्द्रदीर्घं जयो मेघकुमारविजयार्जितम् । मेघघोषाभिधां भेरीं^९ प्रण्टेनास्फोटयद्^{१०} स्रवा ॥९३॥
 द्रोणादिप्रक्षयारम्भघनाघनघनध्वनिम् । तदध्वनिम्यापि^{११} निर्जित्य निर्भिष्य हृदयं द्विषाम् ॥९४॥
 तत्रवाकर्णनाद् दूर्णितार्णवप्रतिमे^{१२} बले । अतिवेलोत्सवोऽत्रासीदुत्सवो विजये^{१३} यथा ॥९५॥
 तद्दीर्घभिन्नकटशान्तप्रक्षरन्मदपायिनः । स्वमदेनैव मातङ्गाः प्रोत्तुङ्गाः प्रोन्मदिष्णयः ॥९६॥
 सुस्वनन्तः खनन्तः खं वाजिनोवायुरंहसः^{१४} । कृतोत्साहा^{१५} रणोत्साहाद् रेजुस्तजस्विता हि सा ॥९७॥

और आगमको झूठा मत कीजिए । भावार्थ—लङ्ककर असमयमें ही प्रलय काल न ला दीजिए । दूतने इस प्रकार बहुत-से साम, दान आदिके वचन कहे परन्तु तो भी उसे अशान्त जानकर वह लौट आया और शीघ्र ही ज्योंके त्यों सब समाचार अकम्पनसे कह दिये ॥ ८८-८९ ॥ उन समाचारोंको सुनकर काशीराज अकम्पनका चित्त विषादसे विचलित हो उठा और वे स्वयं महामोहसे मूर्च्छित हो गये सो ठीक ही है क्योंकि बुरे कामोंमें कौन मूर्च्छित नहीं होता ॥ ९० ॥ जयकुमारने अकम्पनको चिन्तित देखकर कहा कि इस विषयमें हम लोगोंको कुछ भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए क्योंकि न्यायका उल्लंघन उसीने किया है, आप सावधान होकर सुलोचना-को रक्षा करते हुए यहीं रहिए । दुराचारी, स्त्रियोंपर उपद्रव करनेवाले और इसलिए ही साँकलोंसे आलिंगन करनेकी इच्छा करनेवाले उस अर्ककीर्तिको बन्दरके समान बाँधकर मैं अभी लाता हूँ ॥ ९१-९२ ॥ इस प्रकार कहकर जयकुमारने क्रोधमें आकर, युद्धमें आगे जानेवाले पुरुषके द्वारा मेघकुमारोंको जीतनेसे प्राप्त हुई मेघघोषा नामकी भेरी बजवायी ॥ ९३ ॥ प्रलयकालके प्रारम्भमें प्रकट होनेवाले द्रोण आदि मेघोंकी घोर गर्जनाको जीतकर तथा शत्रुओंका हृदय विदारण कर वह भेरीकी आवाज सब ओर फैल गयी ॥ ९४ ॥ जिस प्रकार शत्रुके विजय करनेपर उत्सव होता है उसी प्रकार उस भेरीका शब्द सुनकर लहराते हुए समुद्रके समान चंचल जयकुमारकी सेनामें माला डालनेके उत्सवसे भी कहीं अधिक उत्सव होने लगा ॥ ९५ ॥ उस समय फटे हुए गण्डस्थलके समीपसे झरते हुए मदका पान करनेवाले और अपने उसी मदसे ही मानो उन्मत्त हुए ऊँचे-ऊँचे हाथी युद्धके उत्साहसे सुशोभित हो रहे थे । तथा इसी प्रकार अच्छी तरह हींसते हुए, पेरोंसे आकाशको खोदते हुए और वायुके समान वेगवाले उत्साही घोड़े भी युद्धके उत्साहसे सुशोभित हो रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि उनका तेजस्वीपना

१ सोक्तैः ८० । वचनसहितैः । २ शीघ्रं आपितवान् । ३ अकम्पनः । ४ महामूर्च्छागृहीत इव । ५ अत्र कार्ये । ६ अर्ककीर्तिनैव । ७ निवसतः । ८ राजभवने । ९ सावधानाः भूत्वा । १० दाराततायिनम् ८० । दारेषु कृतागमनम् । स्त्रीनिमित्तमागतमर्ककीर्तिमित्यर्थः । दाराततायिनमिति पाठे दारार्थं बधोद्यतम् । 'आत-तायी बधोद्यतः' इत्यभिधानात् । ११ अग्रगामिना पुरुषेण । १२ आस्फालनं कारयति स्म । प्रण्टेना-स्फालयद् ल०, अ०, प०, इ०, स० । १३ द्रोणादि द्रोणकालपुष्करादि । प्रक्षयारम्भ प्रलयकालप्रारम्भ । द्रोणादयश्च ते प्रक्षयारम्भघनाघनास्तेषां ध्वनिम् । १४ व्याप्नोति स्म । १५ समाने । 'प्रतिमानं प्रतिबिम्बं प्रतिमा प्रतिमानना प्रतिच्छाया । प्रतिकृतिरर्चा पुंसि प्रतिमिधिरुपमोपमानं स्यात् ।' १६ अधिकोत्सवः । 'अतिवेलभृशार्यर्थातिमानं पादनिर्भरम्' इत्यभिधानात् । अतिमालोत्सवो ल०, अ०, प०, इ० । १७ विविचये । १८ पवनवेगाः । १९ कृतोद्योगाः ।

रथाः प्रागिव^१ पर्यास्ताः^२ पूर्णसर्वायुधायुधः^३ । महाबाहसमायुक्ताः प्रतुल्यत्वंतुवाहवः ॥९८॥
 शोषितोऽप्यभटायन्त^४ पाट्यान् संयुगं प्रति^५ । ततः^६ प्रतिबलात्तत्र भूयांसो वा^७ पदातयः ॥९९॥
 वर्द्धमानो ध्वनिस्तूयं रणरङ्गे मविष्यतः । वीरलक्ष्मीप्रवृत्तस्य प्रोद्ययौ गुणयन्त्रिव^८ ॥१००॥
 वनान्नयं वयश्शिक्षालक्षणेर्वीक्ष्य निग्रहम्^९ । सुवर्माणं सुधर्मणं^{१०} कामवन्तं^{११} क्षरन्मदम् ॥१०१॥
 सामजं विजयार्द्धायं विजयार्द्धमिवापरम् । बहुशो दृष्टसंग्रामं^{१२} गजध्वजधिराजितम् ॥१०२॥
 अधिष्ठाय^{१३} जयः सर्वसाधनेन सहानुजः । निर्जंगाम युगप्रान्तकाललीलां विलङ्घयन् ॥१०३॥
 कुर्वन्ती शान्तिपूजां त्वं तिष्ठ माचेति^{१४} सादरम् । प्रवेक्ष्य चैषधामाग्र्यं^{१५} सुतां नित्यमनोहरम् ॥१०४॥
 समग्रबलसंपत्त्या चचाल चलयशिलाम्^{१६} । अकम्पः कम्पितारातिः^{१७} साकम्पनिश्कम्पनः ॥१०५॥
 सुकेतुः सूर्यमित्राख्यः श्रीधरो जयवर्मणा । देवकीर्तिर्जयं जग्मुरिति भूपाः ससाधनाः ॥१०६॥
 इमे मुकुटबद्धे पद्म विख्यातकीर्तयः । परे च शूरा नाथेन्दुवंशगृध्राः^{१८} समाययुः ॥१०७॥
 संप्रभ्रा संव्यापिप्रभाभ्युदितलला रिजमल्लोदतः सार्द्धमर्द्धविधाधरैरगात् ॥१०८॥

वही था ॥९६-९७॥ जो सब प्रकारके शस्त्रोंसे पूर्ण है, जिनमें बड़े-बड़े घोड़े जुते हुए हैं, और जिनकी ध्वजारूपी भुजाएँ नृत्य कर रही हैं ऐसे युद्धके रथ पहलेके समान ही सब ओर फैल रहे थे ॥९८॥ जयकुमारकी सेनामें युद्धमें चतुर होनेके कारण स्त्रियाँ भी योद्धाओंके समान आचरण करती थीं इसलिए अन्य राजाओंकी अपेक्षा उसकी पैदल सेनाकी संख्या अधिक थी ॥९९॥ उस समय जो बाजोंका शब्द बढ़ रहा था वह ऐसा जान पड़ता था मानो रणके मैदानमें जो वीरलक्ष्मीका उत्तम नृत्य होनेवाला है उसे कई गुना करता हुआ ही बढ़ रहा हो ॥१००॥

तदनन्तर-जो वनमें उत्पन्न हुआ है, वय, शिक्षा और अच्छे-अच्छे लक्षणोंसे जिसका शरीर देखने योग्य है, जिसका स्वभाव अच्छा है, शरीर अच्छा है, जो कामवान् है, जिसके मद क्षर रहा है, जिसने अनेक बार युद्ध देखे हैं, जो हाथीके चिह्नवाली ध्वजाओंसे सुशोभित है और दूसरे विजयार्ध पर्वतके समान जान पड़ता है ऐसे विजयार्ध नामके हाथीपर सवार होकर वह जयकुमार सब सेना और सब छोटे भाइयोंके साथ-साथ युगके अन्त कालकी लीलाको उल्लंघन करता हुआ निकला ॥१०१-१०३॥ इधर शत्रुओंको कम्पित करनेवाले और स्वयं अकम्प (निश्चल) रहनेवाले महाराज अकम्पनने भी 'तू अपनी माताके साथ आदरपूर्वक शान्ति-पूजा करती हुई बैठ' इस प्रकार कहकर पुत्री सुलोचनाको नित्यमनोहर नामके उत्तम चैत्यालयमें पहुँचाया और स्वयं अपने पुत्रोंको साथ लेकर समस्त सेनारूपी सम्पत्तिके द्वारा पृथिवीको कँपाते हुए निकले ॥१०४-१०५॥ सुकेतु, सूर्यमित्र, श्रीधर, जयवर्मा और देवकीति ये सब राजा अपनी-अपनी सेनाओंके साथ जयकुमारसे जा मिले ॥ १०६ ॥ मुकुटबद्ध राजाओंमें जिनकी कीर्ति अत्यन्त प्रसिद्ध है ऐसे ऊपर कहे हुए सुकेतु आदि पाँच राजा तथा नाथवंश और सोमवंशके आश्रित रहनेवाले अन्य शूरवीर लोग, सभी जयकुमारसे आ मिले ॥१०७॥ जिसने अपनी तीक्ष्ण तलवारकी प्रभासे आकाशतलको व्याप्त कर लिया है और जो विद्याके बलसे

१ दिग्विजये यथा । २ समन्तात् प्राप्ताः । पर्यस्ताः ल० । ३ रणस्य । पूर्णसर्वायुधायुध इति समस्तपदपक्षे पूर्णसर्वायुधानि च भटाश्च येषु ते । ४ भटा इवाचरिताः । ५ युद्धं प्रति । ६ ततः कारणात् । ७ प्रतिबले विलोचयमाने सतीत्यर्थः । ८ जयकुमारबले । ९ इव । १० अतिशयं कुर्वन्निव । ११ दशनीयमूर्तिम् । १२ सुवर्माणं सुवर्माणं अ०, प०, स०, इ० । सुधर्मणं सुवर्माणं ल० । १३ शोभनस्वभावम् । १४ आरोहकस्य वशवर्तिगमनवन्तम् । १५ गजरूपध्वज । १६ आरुह्य । १७ जनन्या सह । १८ श्रेष्ठम् । १९ भूमिम् । २० अकम्पनस्यापत्थानि आकम्पनयस्तैः सहितः । २१ नाथवंशसोमवंशाश्रिताः ।

बलं विभज्य भूभागं विशाले सकलं समे । प्रकृत्यै मकरव्यूहं^१ विरोधिबलघस्मरः^२ ॥१०६॥
 उच्चैरुज्जिततूर्यात्रिभिर्यजिर्धोर्भीषणः^३ । जितमेघस्वरो गर्जन् रेजे मेघस्वरस्तदा ॥१०७॥
 चक्रव्यूहं^४ विभक्त्यै मभूरिसाधकं^५ यजिः । अर्ककीर्तिं^६ मयि रश्मिः परितोहि ताकदन् ॥१०८॥
 क्रुद्धाः स्त्रे स्त्रेचराधीशाः सुनमिप्रमुखाः पृथक् । गरुडत्रयद्वयापाय तस्थुश्चक्रिसुताज्ञया ॥१०९॥
 अष्टचन्द्राः^७ खगाः खयाताश्चक्रिणः परितः सुतम् । शरीररक्षकरेण भेलुर्विद्यामदाब्धताः ॥११०॥
 अकालप्रलयारम्भजृम्भितामोदगर्जितम् । निर्जित्य तूर्णं तूर्याणि दध्वन्तुः सेनयोः समम् ॥१११॥
 धानुर्कैर्मार्गं^८ यैर्मार्गः समरस्य पुरस्सरैः । प्रवर्तयितुमारम्भे घोरोधैः सबलितम् ॥११२॥
 मयामनाङ्कारम्भसूत्रधाया धनुर्वराः । रणरङ्गं विशन्ति स्म गर्जन्तूर्यपुरस्सरम् ॥११३॥
 आश्रय स्थानकं^९ पूर्वं रणरङ्गे धनुर्वरैः । पुष्पाञ्जलिरिव व्यस्तो^{१०} मुक्तः^{११} शितशरोष्करः ॥११४॥
 तीक्ष्णा मर्मण्यभिजनन्तः पूर्वं कलहकारिणः । पश्चात्प्रवेशिनः^{१२} शङ्खत् खलकश्चा^{१३} धनुर्वरः ॥११५॥

उद्धत हो रहा है ऐसा मेघप्रभ नामका विद्याधर भी अपने आगे विद्याधरोंके साथ निकला ॥१०८॥ जो शत्रुओंकी सेनाको नष्ट करनेवाला है, बड़े-बड़े बाजोंके समूहसे निकलती हुई आवाजके समान भयंकर है और जिसने अपनी आवाजसे मेघोंकी गर्जनाको भी जीत लिया है ऐसा जयकुमार उस समय विशाल और सम (ऊँची-नीची रहित) पृथ्वीपर अपनी समस्त सेनाका विभाग कर तथा मकरव्यूहकी रचना कर गर्जता हुआ बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहा था ॥१०६--११०॥ उधर चक्रव्यूहकी रचना कर अपनी बहुत भारी सेनाके बीच खड़ा हुआ अर्ककीर्ति भी परिवेषसे युक्त सूर्यके समान सुशोभित हो रहा था ॥ १११ ॥ क्रोधित हुए सुनमि आदि विद्याधरोंके अधिपति भी गरुडव्यूहकी रचना कर चक्रवर्तीके पुत्र--अर्ककीर्तिको आज्ञासे आकाशमें अलग ही खड़े थे ॥११२॥ विद्याके मदसे उद्धत हुए आठ चन्द्र नामके प्रसिद्ध विद्याधर शरीररक्षकके रूपमें चारों ओरसे अर्ककीर्तिको सेवा कर रहे थे ॥ ११३ ॥ उन दोनों सेनाओंमें असामयिक प्रलयकालके प्रारम्भमें बढ़ती हुई मेघोंकी गर्जनाको जीतकर शीघ्र-शीघ्र एक साथ बहुत-से बाजे बज रहे थे ॥११४॥ युद्धके आगे-आगे जानेवाले और भयंकर गर्जना करनेवाले धनुर्वारी योद्धाओंने बाणों-द्वारा अपना मार्ग बनाना प्रारम्भ किया था । भावार्थ--धनुष चलानेवाले योद्धा बाण चलाकर भीड़को तितर-बितर कर अपना मार्ग बना रहे थे ॥११५॥ जो संग्रामरूपी नाटकके प्रारम्भमें सूत्रधारके समान जान पड़ते थे ऐसे धनुष-को धारण करनेवाले वीर पुरुष गर्जते हुए बाजोंको आगे कर युद्धरूपी रंगभूमिमें प्रवेश कर रहे थे ॥११६॥ धनुष धारण करनेवाले पुरुषोंने रणरूपी रंगभूमिमें सबसे पहले अपना स्थान जमाकर जो तीक्ष्ण बाणोंका समूह छोड़ा था वह ऐसा जान पड़ता था मानो उन्होंने पुष्पाञ्जलि ही बिखेरी हो ॥११७॥ वे धनुषपर चढ़ाये हुए बाण सदा दुष्टोंके समान जान पड़ते थे क्योंकि जिस प्रकार दुष्ट तीक्ष्ण अर्थात् क्रूर स्वभाववाले होते हैं उसी प्रकार वे बाण भी तीक्ष्ण अर्थात् पैने थे, जिस प्रकार दुष्ट मर्मभेदन करते हैं उसी प्रकार बाण भी मर्मभेदन करते थे, जिस प्रकार दुष्ट कलह करनेवाले होते हैं उसी प्रकार बाण भी कलह करनेवाले थे और जिस प्रकार दुष्ट पहले मधुर वचन कहकर फिर भीतर घुस जाते हैं उसी प्रकार वे बाण भी मनोहर शब्द

१ कृत्वा । २ मकरसमूहरचनाविशेषम् । ३ विनाशक इत्यर्थः । ४ निर्घोषभीषणं यथा भवति तथा । ५ विभक्त्यात्म-प०, ल० । ६ प्राप्त । ७ अष्टचन्द्राख्याः । ८ बाणैः । ९ क्रियाविशेषणम् । उत्प्लवनसहितं यथा । १० आलीढप्रत्यालीढादि । ११ क्षिप्तः । १२ निशात । १३ शरीरं प्रवेधिनः । १४ बाणः ।

उभयोः^१ पाद्वयोर्बन्धा बाणधी^२ कृतद्वलनाः । धन्विनः खेचराकारा^३ रंजुराजौ^४ जितश्रमाः ॥११६॥
 ऋजुत्वाद् दूरदर्शित्वात् सद्यः कार्यप्रसाधनात् । शास्त्रमार्गानुसारित्वात् शराः सुसचिदैः^५ समाः ॥१२०॥
 ऋष्यासूयिनः^६ पत्रवाहिनीं^७ दूरपातिनः । लक्ष्येषु ह्यतीक्ष्णस्याः खगाः^८ पंतुः खगोपमाः^९ ॥१२१॥
 धर्मेण^{१०} गुणयुक्तेन^{११} प्रेरिता हृदयं गता । शूरान्^{१२} शुद्धिरिवावर्षाद्^{१३} गतिं पत्रिपरम्परा^{१४} ॥१२२॥
 पुंसां संस्पर्शमात्रेण हृदयता रक्तवाहिनी^{१५} । क्षिप्रं न्यर्मास्यस्त्रे^{१६} श्रेष्ठेव विशिखावली^{१७} ॥१२३॥
 त्यक्तवेशं खेचरास्त्रातिवृष्टीं^{१८} युद्धतमस्ततौ^{१९} । परोऽम्बिप्य कराद्वया जारयेव वर्षाकृतः ॥१२४॥

करते हुए पीछेसे भीतर घुस जाते थे ॥११८॥ जो दोनों बगलोंमें तरकस बांधकर उछल-कूद कर रहे हैं तथा जिन्होंने परिश्रमको जीत लिया है ऐसे धनुषधारी लोग उस युद्धमें पक्षियोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥११९॥ और ऋजु अर्थात् सरल मन्त्री अर्थात् सरल (मायाचाररहित) होते हैं उसी प्रकार बाण भी सरल अर्थात् सीधे थे, जिस प्रकार अच्छे मन्त्री दूरदर्शी होते हैं अर्थात् दूरतककी बातको सोचते हैं उसी प्रकार बाण भी दूरदर्शी थे अर्थात् दूर तक जाकर लक्ष्यभेदन करते थे, जिस प्रकार अच्छे मन्त्री शीघ्र ही कार्य सिद्ध करनेवाले होते हैं उसी प्रकार बाण भी शीघ्र करनेवाले थे अर्थात् जल्दीसे शत्रुको मारनेवाले थे और जिस प्रकार अच्छे मन्त्री शास्त्रमार्ग अर्थात् नीतिशास्त्रके अनुसार चलते हैं उसी प्रकार बाण भी शास्त्रमार्ग अर्थात् धनुषशास्त्रके अनुसार चलते थे । ॥१२०॥ मांस और खूनको पीनेवाले, पंख धारण करनेवाले, दूर तक जाकर पड़नेवाले और पीने मुखवाले वे बाण पक्षियोंके समान उड़कर अपने निशानोंपर जाकर पड़ते थे । भावार्थ—वे बाण पक्षियोंके समान मालूम होते थे, क्योंकि जिस प्रकार पक्षी मांस और खून पीते हैं उसी प्रकार बाण भी शत्रुओंका मांस और खून पीते थे, जिस प्रकार पक्षियोंके पंख लगे होते हैं उसी प्रकार बाणोंके भी पंख लगे थे, जिस प्रकार पक्षी दूर जाकर पड़ते हैं उसी प्रकार बाण भी दूर जाकर पड़ते थे और जिस प्रकार पक्षियोंका मुख तीक्ष्ण होता है उसी प्रकार बाणोंका मुख (अग्रभाग) भी तीक्ष्ण था । इस प्रकार पक्षियोंकी समानता धारण करनेवाले बाण उड़-उड़कर अपने निशानोंपर पड़ रहे थे ॥१२१॥ जिस प्रकार गुणयुक्त धर्मके द्वारा प्रेरणा की हुई और हृदयमें प्राप्त हुई विशुद्धि पुरुषोंको मोक्ष प्राप्त करा देती है उसी प्रकार गुणयुक्त (डोरी सहित) धर्म (धनुष) के द्वारा प्रेरणा की हुई और हृदयमें चुभी हुई बाणोंकी पंक्ति दूरवीर पुरुषोंको परलोक पहुँचा रही थी ॥१२२॥ जिस प्रकार हृदयमें प्राप्त हुई और रक्तवाहिनी अर्थात् अनुराग धारण करनेवाली अथवा रागी पुरुषोंको वश करनेवाली वेद्या स्पर्शमात्रसे ही पुरुषोंके नेत्र बन्द कर देती है उसी प्रकार हृदयमें लगी हुई और रक्तवाहिनी अर्थात् रुधिरकी बहानेवाली बाणोंकी पंक्ति स्पर्शमात्रसे शीघ्र ही पुरुषोंके नेत्र बन्द कर देती थी — उन्हें मार डालती थी ॥१२३॥ जिस प्रकार बहुत वर्षा होने और अन्धकारका समूह छा जानेपर

१ निजशरीरपाद्वयोः । २ इपुधी द्वौ । ३ पक्षे सदृशाः । ४ युद्धे । ५ चापशास्त्रीवत्क्रमेण । प्रयोजनमार्ग-
 शरणत्वात् । ६ बाणाः । ७ मन्त्रिभिः । ८ ऋष्यासूयपितः ८० । आममांसरक्तभोजिनः । ९ पत्रैर्वहन्ति
 गच्छन्तीति पत्रवाहिनः । १० बाणाः । 'शरार्कविहगाः खगाः' । ११ पक्षिसदृशाः । १२ धनुषा । १३ ज्यास-
 हितेन । अतिशययुक्तेन च । १४ विगुह्यपरिणाम इव । १५ आनयति स्म । १६ शरसन्तति । १७ रक्तं
 प्रापयन्ती । आत्मन्यनुरक्तं प्रापयन्ती च । १८ इतोऽग्रे पुनः 'भारा' नगरात् समायातटिप्यणपुस्तकात् टिप्यण-
 समुदारः क्रियते । १९ उपरिस्थितखेचररुधिरवर्ष । २० दाक्षाय्यतमसमूहः । 'आतापिचित्तौ दाक्षाय्यगृद्धौ'
 इत्यभिधानात् । *भावे क्तः ।

प्रगुणा^१ मुष्टि^२ संवाह्या दूरं दृष्ट्यनुवर्तिनः^३ । गच्छेष्टं साधयन्ति स्म सद्भुत्या इव सायकाः ॥१२५॥
 प्रयोज्याभिसुखं तीक्ष्णान् बाणान् परशरान्प्रति । तत्रैव^४ पातयन्ति स्म धानुष्काः सा^५ हि धीर्धियाम्^६ ॥
 जाताश्चापधृताः^७ केचिदन्धोन्यशरखण्डने । ध्यातृताः श्लाघिताः पूर्व^८ रणे किञ्चित्करोपमाः^९ ॥१२७॥
 हस्त्यश्वरथपत्न्यौघमुद्भिद्यास्पष्टलक्ष्यवत्^{१०} । शराः पेतुः स्व^{११} पातमेवास्ता^{१२} ददमुष्टिभिः ॥१२८॥
 पूर्व^{१३} विहितसन्धानाः^{१४} स्थित्वा किञ्चिच्छरासनै^{१५} । यानमध्यास्य^{१६} मध्यस्था^{१७} द्वैधीभावमुपागता ॥
 विग्रह^{१८} हस्तशक्तित्वाद्भक्त्या शत्रुसंश्रयाः । बाणा^{१९} गुणितपाङ्गुण्या इव सिद्धिं प्रपेदिरे ॥१३०॥

व्यभिचारिणी स्त्री अपना पति छोड़ किसी परपुरुषको खोजकर बश कर लेती है उसी प्रकार विद्याधरोंके खूनको बहुत वर्षा होने और गूढ़ पक्षीरूपी अन्धकारका समूह फैल जानेपर बाणोंकी पंक्ति अपने स्वामीको छोड़ खोज-खोजकर शत्रुओंको बश कर रही थी ॥१२४॥ अथवा वे बाण अच्छे नौकरोंके समान दूर-दूरतक जाकर दृष्ट कामोंको सिद्ध करते थे क्योंकि जिस प्रकार अच्छे नौकर प्रगुण अर्थात् श्रेष्ठ गुणोंके धारक अथवा सीधे होते हैं उसी प्रकार बाण भी प्रगुण अर्थात् सीधे अथवा श्रेष्ठ डोरीसे सहित थे, अच्छे नौकर जिस प्रकार मुष्टियोंसे दिये हुए अन्नपर निर्वाह करते हैं उसी प्रकार वे बाण भी मुष्टियोंद्वारा चलाये जाते थे और अच्छे नौकर जिस प्रकार मालिककी दृष्टिके अनुसार चलते हैं उसी प्रकार वे बाण भी मालिककी दृष्टिके अनुसार चल रहे थे ॥१२५॥ धनुषको धारण करनेवाले योद्धा जहाँ-जहाँ शत्रुओंके बाण थे वहीं-वहीं देखकर अपने पने बाण फेंक रहे थे सोंठीक ही हैं क्योंकि शत्रुओंके वश होने बुद्धि होती है ॥१२६॥ जो बाण एक दूसरेके बाणोंको तोड़नेके लिए चलाये गये थे, धारण किये गये थे अथवा उस व्यापारमें लगाये गये थे वे युद्धमें नौकरोंके समान सबसे पहले प्रशंसाको प्राप्त हुए थे ॥१२७॥ मजबूत मुष्टियोंवाले योद्धाओंके द्वारा छोड़े हुए बाण अस्पष्ट लक्ष्यके समान दिखाई नहीं पड़ते थे और हाथी, घोड़े, रथ तथा पियादोंके समूहको भेदन कर अपने पड़नेसे स्थानपर ही जाकर पड़ते थे ॥१२८॥ जिस प्रकार सन्धि विग्रह आदि छह गुणोंको धारण करनेवाले राजा सिद्धिको प्राप्त होते हैं उसी प्रकार वे बाण भी सन्धि आदि छह गुणोंको धारण कर सिद्धिको प्राप्त हो रहे थे क्योंकि जिस प्रकार राजा पहले सन्धि करते हैं उसी प्रकार वे बाण भी पहले डोरीके साथ सन्धि अर्थात् मेल करते थे, जिस प्रकार राजा लोग अपनी परिस्थिति देखकर कुछ समय तक ठहरे रहते हैं उसी प्रकार वे बाण भी धनुषपर कुछ देर तक ठहरे रहते थे, जिस प्रकार राजा लोग युद्धके लिए अपने स्थानसे चल पड़ते हैं उसी प्रकार वे बाण भी शत्रुको मारनेके लिए धनुषसे चल पड़ते थे, जिस प्रकार राजा लोग मध्यस्थ बनकर द्वैधीभावको प्राप्त होते हैं अर्थात् भेदनीतिद्वारा शत्रुके संगठनको छिन्नभिन्न कर डालते हैं उसी प्रकार वे बाण भी मध्यस्थ (शत्रुके शरीरके मध्यमें स्थित) हो द्वैधीभावको प्राप्त होते थे अर्थात् शत्रुके टुकड़े-टुकड़े कर डालते थे और अन्तमें राजा लोग जिस प्रकार युद्ध करनेकी

१. अवक्राः । २. मुष्टिना संवाह्यन्ते गम्यन्ते मुष्टिसंवाह्याः । आशावशवर्तिनश्च । ३. नयनैरनुवर्तमानाः आलोकन-
 मात्रेण प्रभोरभिप्रायं ज्ञात्वा कार्यकराश्च । ४. यत्र शत्रुशराः स्थितास्तत्रैव । ५. सैव परशरखण्डनरूपा ।
 ६. बुद्धीनां मध्ये । धीर्धियाम् ल० । ७. बाणाः । ८. किङ्करसमानाः । ९. अस्पष्टलक्ष्यवत् । १०. स्वयोभ्यपतन-
 स्थानं गत्वेवेत्यर्थः । ११. क्षिप्ताः । १२. कृतसंयोजनाः कृतसन्धयश्च । १३. चापे क्षेत्रे च । १४. गमनमध्यास्य ।
 १५. मध्यस्थाः सन्तः । १६. द्विधाखण्डनत्वम्, पक्षे उभयव्याश्रयत्वम् । १७. वक्रिण्यभावे । अथवा शरीरे ।
 १८. अम्यस्त ।

धारा वीररसस्येव रेजे रक्तस्य कस्यचित् । पतन्ती सततं धैर्यादावन्त्पाटिताश्रुगम् ॥१३१॥

^१सायकोद्भिन्नमालोक्य कान्तस्य हृदयं प्रिया । परासुरासीच्चित्तस्य वदन्तीवात्मनः स्थितिम् ॥१३२॥

छिन्नदण्डैः फलैः कश्चित् ^२सर्वाङ्गीणैर्मटाग्रणैः । कीलितासुरिवाकम्प्रस्तथैव युयुधे चिरम् ॥१३३॥

विलोक्य विलयज्वालि ^३ज्वालालोलशिखोपमैः । शिलीमुखैर्बलं ^४छिन्नं स्व विपश्चनुर्धरैः ॥१३४॥

गृहीत्वा वज्रकाण्डाण्यं सजीकृत्य शरासनम् । स्वयं योद्धुं समारब्धं सक्रोधः सानुजो जयः ॥१३५॥

^५कर्णाभ्यर्णोकृतास्तस्य गुणयुक्ताः सुयोजिताः । ^६पथैर्लघुसमुत्थानाः कालक्षेपाविधायिनः ॥१३६॥

मार्गे प्रगुणसञ्चाराः प्रविश्य हृदयं ^७द्विषाम् । कृष्णार्थं ^८साधयन्ति स्म ^९निस्तृष्टार्थसमाः शराः ॥१३७॥

पञ्चवक्त्रः प्रतापोमाः ^{१०}समया विप्रदे हुताः । अज्ञातपातिनश्चक्रुः कृत्युद्धं शिलीमुखाः ॥१३८॥

सामर्थ्यसे रहित शत्रुको वश कर लेते हैं उसी प्रकार वे बाण भी शत्रुको वश कर लेते थे ॥१२९-१३०॥ निकाले हुए बाणके पीछे बहुत शीघ्र धीरतासे निरन्तर पड़ती हुई किसी पुरुषके रुधिरकी धारा वीररसकी धाराके समान सुशोभित हो रही थी ॥१३१॥ कोई स्त्री अपने पतिका हृदय बाणसे विदीर्ण हुआ देखकर प्राणरहित हो गयी थी मानो वह कह रही थी कि मेरा निवास इसीके हृदयमें है ॥१३२॥ जिनके दण्ड टूट गये हैं और जो सब शरीरमें घुस गये हैं ऐसे बाणोंकी नोकोंसे जिसके प्राण मानो कीलित कर दिये गये हैं ऐसा कोई योद्धा पहलेकी तरह ही निश्चल हो बहुत देर तक लड़ता रहा था ॥१३३॥ शत्रुओंके घनुषधारी योद्धाओंने प्रलयकालकी जलती हुई अग्निकी चंचल शिखाओंके समान तेजस्वी बाणोंके द्वारा मेरी सेनाको छिन्नभिन्न कर दिया है यह देख जयकुमारने अपने छोटे भाइयों सहित क्रोधित हो वज्रकाण्ड नामका घनुष लिया और उसे सजाकर स्वयं युद्ध करना प्रारम्भ किया ॥१३४-१३५॥ उस समय जयकुमारके बाण निःसृष्टार्थ (उत्तम) दूतके समान जान पड़ते थे क्योंकि जिस प्रकार उत्तम दूत स्वामीके कानके पास रहते हैं अर्थात् कानसे लगकर बातचीत करते हैं उसी प्रकार बाण भी जयकुमारके कानके पास रहते थे अर्थात् कान तक खींचकर छोड़े जाते थे, जिस प्रकार उत्तम दूत गुण अर्थात् रहस्य रक्षा आदिसे युक्त होते हैं उसी प्रकार बाण भी गुण अर्थात् डोरीसे युक्त थे, जिस प्रकार उत्तम दूतकी योजना अच्छी तरह की जाती है उसी प्रकार बाणोंकी योजना भी अच्छी तरह की गयी थी, जिस प्रकार उत्तम दूत पत्र लेकर जल्दी उठ खड़े होते हैं उसी प्रकार बाण भी अपने पंखोंसे जल्दी-जल्दी उठ रहे थे—जा रहे थे, जिस प्रकार उत्तम दूत व्यर्थ समय नहीं खोते हैं उसी प्रकार बाण भी व्यर्थ समय नहीं खोते थे, जिस प्रकार उत्तम दूत मार्गमें सीधे जाते हैं उसी प्रकार बाण भी मार्गमें सीधे जा रहे थे और जिस प्रकार उत्तम दूत शत्रुओंके हृदयमें प्रवेश कर कठिनसे कठिन कार्यको सिद्ध कर लेते हैं उसी प्रकार बाण भी शत्रुओंके हृदयमें घुसकर कठिनसे कठिन कार्य सिद्ध कर लेते थे ॥१३६-१३७॥ अथवा ऐसा

१ सायिकोद्भिन्न-ल० । २ सर्वाङ्ग्याविभिः । ३ प्रलयाग्निः । ४ छिन्नमित्यपि पाठः । छादितं खण्डितं वा । ५ आत्मोद्यम् । ६ आकर्णमाकृष्टाः । कर्णसमीपे कृताश्च । ७ पक्षैः सन्देशपत्रैः । ८ आशुविधायिन इत्यर्थः । ९ हृदयम् अभिप्रायं च । १० असाध्यार्थम् । ११ असकृत् सम्पादितप्रयोजनदूतसमाः । १२ प्रकृष्टसन्तापभीकराः । भयङ्कराः । शराजाओंके छह गुण ये हैं—“सन्धिविग्रहयानानि संस्थाप्यासजमेव च । द्विधीभावश्च विज्ञेयः षड्गुणा नीतिवेदिनाम् ।” १ जो दोनोंका अभिप्राय लेकर स्वयं उत्तर-प्रत्युत्तर करता हुआ कार्य सिद्ध करता है । उसे निःसृष्टार्थ दूत कहते हैं । यह दूत उत्तम दूत कहलाता है ।

प्रस्फुरद्भिः फलोपेतैः सुप्रमाणैः सुकल्पितैः । विरोधोद्भाविना विश्वगोचरैर्विजयावहैः ॥१३९॥
 वादिनेव जयनोच्चैः कीर्तिं क्षिप्रं जिघृक्षुणा । प्रतिपक्षः प्रतिक्षिप्तः^१ शस्त्रैः शास्त्रैर्जिगीषुण ॥१४०॥
 खगाः^२ खगाम्प्रति प्रास्ताः^३ प्रोद्भिद्युगानं गताः । निवर्तन्ते न यावत्^४ ते भियेवापतन्मृताः ॥१४१॥
 सुतीक्ष्णा र्वाक्षणासीलाः^५ प्रज्वलन्तः समन्ततः । सूर्द्धस्वशनिवप्येतुः खाद् विमुखाः खगैः शराः ॥१४२॥
 शरमह्नातसञ्छान् गृध्रपक्षान्धकारितान् । अदृष्टमदृशपातं^६ नभोगा नभसो^७ व्यधुः ॥१४३॥
 चण्डैर^८ काण्डसूयुधैश्च^९ काण्डैरापाद्यतादिभैः^{१०} । युगेऽस्मिन् किं किमस्तांशुभासिभिर्नाशुमै^{११} सवेत् ॥१४४॥
 दूपाताय नो^{१२} किन्तु दूपाताय खेचरैः । खगाः कर्णान्तमाकृष्य मुक्ता^{१३} हन्युर्विपादिकान् ॥१४५॥
 अधोमुखाः खगैर्मुक्ता रक्तपानात् पलाशनात्^{१४} । वृषकाः साहसो^{१५} वेयुनरकं^{१६} वाऽवमेरधः^{१७} ॥१४६॥

जान पड़ता था मानो वे बाण कपट युद्ध कर रहे हों क्योंकि जिस प्रकार कपट युद्ध करनेवाले पञ्चवंत अर्थात् सवारों सहित और प्रतापसे उग्र होते हैं उसी प्रकार वे बाण भी पञ्चवंत अर्थात् पंखों सहित और अधिक सन्तापसे उग्र थे, जिस प्रकार कपटयुद्ध करनेवाले युद्धमें शीघ्र जाते हैं और सबसे आगे रहते हैं उसी प्रकार वे बाण भी युद्धमें शीघ्र जा रहे थे और सबसे आगे थे तथा कपट युद्ध करनेवाले जिस प्रकार बिना जाने सहसा आ पड़ते हैं उसी प्रकार वे बाण भी बिना जाने सहसा आ पड़ते थे ॥१३८॥ जिस प्रकार विजयके द्वारा उत्तम कीर्तिको शीघ्र प्राप्त करनेवाला और जीतनेकी इच्छा रखनेवाला वादी प्रकाशमान, अज्ञाननाशादि फलोंसे युक्त, उत्तम प्रमाणोंसे सहित, अच्छी तरह रचना किये हुए, संसारमें प्रसिद्ध और विजय प्राप्त करानेवाले शास्त्रोंसे विरोधी-प्रतिवादीको हराता है उसी प्रकार विजयके द्वारा शीघ्र ही उत्तम कीर्ति सम्पादन करनेवाले, जीतनेकी इच्छा रखनेवाले तथा विरोध प्रकट करनेवाले जयकुमारने देदीप्यमान, नुकीले, प्रमाणसे बने हुए, अच्छी तरह चलाये हुए, संसारमें प्रसिद्ध और विजय प्राप्त करानेवाले शस्त्रोंसे शत्रुओंकी सेना पीछे हटा दी थी ॥१३९-१४०॥ जयकुमारने विद्याधरोंके प्रति जो बाण चलाये थे वे आकाशको भेदन कर आगे चले गये थे और वहाँसे वे जबतक लौटे भी नहीं थे तबतक वे विद्याधर मानो भयसे ही डरकर गिर पड़े थे ॥१४१॥ जो अत्यन्त तीक्ष्ण हैं, देखनेमें भयंकर हैं, और चारों ओरसे जल रहे हैं ऐसे विद्याधरोंके द्वारा आकाशसे छोड़े हुए बाण योद्धाओंके मस्तकोंपर वजूके समान पड़ रहे थे ॥१४२॥ जो बाणोंके समूहसे ढक गये हैं, गीधके पंखोंसे अन्धकारमय हो रहे हैं और जिन्हें मुद्गरोंके आघात तक दिखाई नहीं पड़ते हैं ऐसे योद्धाओंको विद्याधर लोग आकाशसे धायल कर रहे थे ॥१४३॥ इस युगमें उन तीक्ष्ण बाणोंने सबसे पहले अकालमृत्यु उत्पन्न की थी सो ठीक ही है क्योंकि जिन्होंने सूर्यका प्रताप भी कम दिया है ऐसे लोगोंसे क्या-क्या अशुभ काम नहीं होते हैं ? ॥१४४॥ दूर जानेके लिए नहीं किन्तु मजबूतीके साथ पड़नेके लिए विद्याधरोंने जो बाण कान तक खींचकर छोड़े थे उन्होंने बहुत-से हाथी आदिको मार डाला था ॥१४५॥ जिस प्रकार रक्त पीने और मांस खानेसे पापी जीव नीचा मुख कर तरकमें जाते हैं उसी प्रकार विद्याधरों

१ निराकृतः । २ बाणाः । ३ विद्याधरान् । ४ मुक्ताः । ५ विद्याधराः । ६ दर्शने भयावहाः । ७ मुद्गराघातान् ल०, म० । ८ गगनमाश्रित्य । ९ अकालः । १० बाणैः । ११ उत्पादितः । १२ 'अस्त्राशुगाशिभिः' इति पाठे अस्त्राभ्ये-
 वाशुगाशिनः पवनानामाः तैः सर्पैरित्यर्थः । 'आशुगो वायुविशिक्षी' इत्यभिधानात् । १३ न । १४ प्लन्ति स्म ।
 १५ मांसाशनात् । १६ सपापाः । १७ वा इव । ईयुः गच्छन्ति स्म । १८ भूमेरधः स्थितम् ।

१ भूमिर्निर्गन्धुरं २ शिखादिष्ठानुकृष्य यष्टयः ३ ययुर्वरं दिवं दूतीदेशीयां दिव्ययोषिताम् ॥ १४७ ॥
 चक्रिणश्चक्रमेकं ४ तत्र ततः ५ कस्यचिरक्षतिः ६ चक्रेकालचक्राभैर्बहवस्तत्र जग्निरे ॥ १४८ ॥
 समवेगैः ७ समं ८ मुक्तैः शरैः ९ खड्गभूचरैः १० व्योम्यन्योन्यमुखालग्नैः स्थितं कतिपयक्षणे ११ ॥ १४९ ॥
 खड्गभूचरशरैश्छले खे परस्पररोधिभिः १२ १३ अन्योन्याबीक्षणात्तेषामभूद् रणनिषेधनम् ॥ १५० ॥
 स्वास्त्रैः १४ शस्त्रैर्नभोगान्तां शरैश्चाबाधितं भृशम् १५ स्वसैन्यं वीक्ष्य खोक्षिप्तवीक्षणोऽग्राशुशुक्षणिः १६ ॥ १५१ ॥
 सद्यः संहारसंकुक्षसमवर्तिसमो १७ जयः १८ प्रारब्ध १९ योद्धुं वज्रेण वज्रकाण्डेन वज्रिवत् ॥ १५२ ॥
 निर्जिताशनिनिर्घोषत्रयव्याघोषभीलुकाः २० २१ चापसायकवैतांसि प्राक्षिपन् २२ सह शयवः ॥ १५३ ॥
 चापसाकर्णमाकृष्य ज्याक्षिपेन्निर्घोषयुक्तः २३ २४ स्रग्धराकण्डोऽग्राशुशुक्षणिः २५ विप्रक्षिपन् २६ क्षणम् ॥ १५४ ॥
 न मध्ये न शरीरेषु दृष्टास्तथोजिताः शराः २७ दृष्टास्ते केवलं भूमौ सद्यः पतिताः परे ॥ १५५ ॥
 निमील्यन्तश्चक्षुषि उवल्यन्तः शिलीमुखाः २८ मुखानि ककुभां वज्रुः २९ ३० खादुल्कालीविभीषणाः ३१ ॥ १५६ ॥

के द्वारा छोड़े हुए बाण शत्रुओंका रक्त पीने और भांस खानेसे पापी हो नीचा मुख कर पृथिवी-
 के नीचे जा रहे थे—जमीनमें गड़ रहे थे ॥१४६॥ इसी प्रकार भूमिगोचरियों-द्वारा निर्दयताके
 साथ छोड़े हुए बाण शत्रुओंको भेद कर आकाशमें बहुत दूर तक इस प्रकार जा रहे थे मानो
 देवांगनाओंकी दासियाँ ही हों ॥१४७॥ चक्रवर्तीका चक्र तो एक ही होता है उससे किसीकी
 हानि नहीं होती परन्तु उस युद्धमें अकाल चक्रके समान बहुत-से चक्रोंसे अनेक जीव मारे गये
 थे ॥१४८॥ विद्याधर और भूमिगोचरियोंके द्वारा एक साथ छोड़े हुए समान वेगवाले बाण
 आकाशमें एक दूसरेके मुखसे मुख लगाकर कुछ देर तक ठहर गये थे ॥१४९॥ परस्पर एक
 दूसरेको रोकनेवाले विद्याधर और भूमिगोचरियोंके बाणोंसे आकाश ढक गया था और
 इसीलिए एक दूसरेके न दिख सकनेके कारण उनका युद्ध बन्द हो गया था ॥१५०॥ अपने
 और शत्रुओंके शस्त्रों तथा विद्याधरोंके बाणोंसे अपनी सेनाको बहुत कुछ धायल हुआ देखकर
 नेत्ररूपी भयंकर अग्निको आकाशकी ओर फेंकनेवाला और संहार करनेके लिए क्रुपित हुए
 यमराजकी समानता धारण करनेवाला जयकुमार इन्द्रकी तरह वज्रकाण्ड नामके धनुषसे
 युद्ध करनेके लिए तैयार हुआ ॥१५१-१५२॥ वज्रकी गर्जनाको जीतनेवाले जयकुमारके
 धनुषकी डोरीके शब्द मात्रसे डरे हुए कितने ही शत्रुओंने धनुष, बाण और हृदय—सब फेंक
 दिये । भावार्थ—भयसे उनके धनुष-बाण गिर गये थे और हृदय विक्षिप्त हो गये थे ॥१५३॥
 कान तक धनुष खींचकर जिसने डोरीपर बाण रखा है और जो बड़ी शीघ्रतासे बाणोंको रखता
 तथा छोड़ता है ऐसा जयकुमार क्षण-भरके लिए ऐसा जान पड़ता था मानो प्रहार ही नहीं कर
 रहा हो अर्थात् बाण चला ही नहीं रहा हो ॥१५४॥ जयकुमारके द्वारा चलाये हुए बाण न
 बीचमें दिखते थे, और न शरीरमें ही दिखाई देते थे, केवल घावसहित जमीनपर पड़े हुए शत्रु
 ही दिखाई देते थे ॥१५५॥ जो देखनेवालोंके नेत्र बन्द कर रहे हैं, सबको जला रहे हैं और
 उल्काओंके समूहके समान भयंकर हैं ऐसे जयकुमारके बाणोंने दिशाओंके मुख ढक लिये थे

१ भूमौ स्थितः । २ शत्रून् । ३ उद्भिद्य । ४ बाणाः । ५ दूतीसदृशाः । ६ —मेकान्तं न ल० । ७ चक्रात् ।
 ८ समन्तात् कृतान्तसमूहसमानैः । ९ हताः । १० अभयत्रावि समानजवैः । ११ युगपत् । १२ खड्ग—ल०,
 अ०, प०, स०, इ० । १३ —क्षणात् ल०, अ०, प०, स०, इ० । १४ परस्परावलोकनाभावात् । १५ आत्मी-
 यानात्मीयैः । स्वास्त्रैः अ० । १६ अग्निः । १७ संहारार्थं क्रुपितयमसदृशः । १८ उपक्रान्तवान् । १९ भौरवः ।
 २० त्यक्तवन्तः । २१ दृष्टः । २२ शरास्तमुष्पन्नैव । २३ वेष्टयन्ति स्म । २४ गगनाग्निरगच्छन्त इत्यर्थः ।
 २५ उल्कासमूहभीकराः ।

तिर्यग्गोष्फणपाषाणैर्दृष्ट्वाज्यजिराद्^१ बहिः । पतितान्^२ स्रचरान्नुः सतनून् स्वर्गतान्^३ जघ्नाः ॥१५७॥
 शरसंरुग्णं^४ विद्याधन्मुकुटैभ्योऽगलन्^५ सुरैः । मणयो गुणगूढैर्वा जयस्थोपायनीकृताः ॥१५८॥
^६पतन्मृतत्वगान्नीलप्रियाभिः स्वाश्रुवारिणा ।^७वारिदानमिवाचर्य^८ कृपामासादितो जयः ॥१५९॥
 अन्तकः^९ समवर्तते^{१०} तद्वानेव न चेत्तथा । कथं षक्रिसुतस्यैव जले प्रेताधिपो^{११} भवेत् ॥१६०॥
 वधं विधाय न्यायेन जयेनान्यायवर्तिनाम् ।^{१२}यमस्तीक्ष्णोऽन्यभूद्धर्मस्तत्र^{१३} दिव्यानलोपमः^{१४} ॥१६१॥
^{१५}तावज्जेषितनिर्घोषैर्मपीयन्तो द्विषो हयाः । बलमाश्रायन्तः स्वं स्वीयकुश्चाक्रिसूनवः^{१६} ॥१६२॥
 प्राभ्यान्प्रस्फुरत्स्तीक्ष्णात्स्तीक्ष्णं वादबहिनिः^{१७} । आवर्तयन्तः संप्रापन् यमस्येषाग्रगा भटाः ॥१६३॥
 जयोऽपि स्वयमारुह्य जयी जयतुरङ्गमम् । क्रुद्धः प्रासान् समुद्धृत्य योद्धुमद्वीयमादिकान् ॥१६४॥
 अभूत् प्रहतगम्भीरभम्भा^{१८} दिध्वनिमीषणः । बलार्णवदचलस्थूलकस्तूल इव वाजिभिः ॥१६५॥

॥१५६॥ तिरछे जानेवाले गोष्फण रूप पत्थरोके द्वारा युद्धके आंगनसे बाहर गिराये हुए विद्या-
 धरोको न देखकर मूर्ख लोग कहने लगे थे कि देखो विद्याधर शरीर सहित ही स्वर्ग चले गये हैं
 ॥१५७॥ बाणोंकी चोटसे छिन्न-भिन्न हुए विद्याधरोके मुकुटोंसे जो मणि गिर रहे थे वे ऐसे जान
 पड़ते थे मानो गुणोंसे वश होनेवाले देवोंने जयकुमारको भेंट ही किये हों ॥१५८॥ गिर-गिरकर
 मरे हुए विद्याधरोके साथ आयो हुई स्त्रियाँ अपने अश्रुरूपी जलसे जो उन्हें जलाञ्जलि-सी दे
 रही थीं उसे देखकर जयकुमारको दया आ गयी थी ॥१५९॥ यमराज समवर्ती है अर्थात्
 सबको रामान दृष्टिसे देखता है यह केवल कहावत ही है यदि ऐसा न होता तो वह केवल चक्र-
 वर्तीके पुत्र अर्ककीर्तिकी सेनामें ही क्यों प्रेतोंका राजा होता ? अर्थात् उसीकी सेनाकी क्यों
 मारता ? ॥१६०॥ जयकुमारके द्वारा अन्यायमें प्रवृत्ति करनेवाले लोगोंको वध कराकर वह
 तीक्ष्ण यमराज भी उस युद्धमें दिव्य अग्निके समान धर्मस्वरूप हो गया था । भावार्थ—पूर्वकाल-
 में साक्षी आदिके न मिलनेपर अपराधीकी परीक्षा करनेके लिए उसे अग्निमें प्रविष्ट कराया
 जाता था, अथवा जलते हुए अंगार उसके हाथपर रखाये जाते थे । अपराधी मनुष्य उस
 अग्निमें जल जाते थे परन्तु अपराधरहित मनुष्य सीता आदिके समान नहीं जलते थे । उसी
 आगको दिव्य अग्नि कहते हैं सो जिस प्रकार दिव्य अग्नि दुष्ट होनेपर भी अपराधीको ही
 जलाती है अपराधरहितको नहीं जलाती उसी प्रकार यमराजने दुष्ट होकर भी अन्यायी
 मनुष्योंका ही वध कराया न कि न्यायी मनुष्योंका भी, इसलिए वह यमराज दुष्ट होनेपर भी
 मानो उस समय दिव्य अग्निके समान धर्मस्वरूप हो गया था ॥१६१॥ इतनेमें ही हिन-
 हिनाहटके शब्दोंसे शत्रुओंको डराते हुए और अपनी सेनाको धीरज बँधाते हुए चक्रवर्तीके
 पुत्र—अर्ककीर्तिके घोड़े सामने आये ॥१६२॥ यमराजके अग्रगामी योद्धाओंके समान, देदीप्य-
 मान और पैने भालोंको बार-बार घुमाते हुए घुड़सवार भी सामने आये ॥१६३॥ विजय
 करनेवाले जयकुमारने भी क्रोधित हो, जयतुरंगम नामके घोड़ेपर सवार होकर अपनी घुड़सवार
 सेनाको भाला लेकर युद्ध करनेकी आज्ञा दी ॥१६४॥ घोड़ोंके द्वारा जिसमें चंचल और
 बड़ी-बड़ी लहरें-सी उठ रही हैं ऐसा वह सेनारूपी समुद्र बजते हुए गम्भीर नगाड़े आदिके शब्दों

१ शस्त्रविशेषः । २ रणाङ्गणात् । ३ पतितान् ल०, स०, अ०, म० । ४ स्वर्ग गतान् । ५ भुग्न । ६ गलन्ति
 स्म । ७ गतप्राणविद्याधरानुगत । ८ जलाञ्जलिम् । ९ विधाय । १० बालवृद्धादिषु हननक्रियायां समानेन
 वर्तमानः । ११ यमः । १२ अन्तकः । १३ जये । १४ वापयाम्निस्मः । १५ अदबनिनाद । १६ षक्रिसूनोः
 संबन्धिनः । १७ अश्वारोहाः । १८ भम्भेत्यनुकरणम् ।

असिसंघट्टनिष्कृतविस्फुल्लिङ्गो रणेऽनलः । भावणे शरसंवाते व्यधापेष्ट धरावते ॥१६६॥
 धाजिनः प्राक्कशाधामादधावन्तामिसायकम् । त्रियन्ते न सहन्ते हि परिभूतिं सतेजसः ॥१६७॥
 हिप्रताः पश्चिमपादाभ्यां बद्धामर्षाः परस्परम् । पतिं केचिदिवावन्तो युध्यन्ते स्म चिरं हयाः ॥१६८॥
 समुद्रताम्रं संप्रवृत्तलसहलोलासिपत्रकैः । नभस्तर्हरमाद् भूयस्तदा पल्लवितो यथा ॥१६९॥
 पतितान्धसिनिर्घातात् सुवूरं स्वामिनां वक्रचित् । झुन्धासनाः शिरांस्युच्चैरन्वेष्टुं वा भ्रमन्तयाः ॥१७०॥
 पशून् विशृङ्खान्सत्वाऽऽश्वान् कृपया कौऽपि नावधीत् । ते स्वदन्तसुरैरेव क्रुधाः प्राघ्नन् परपस्म् ॥
 वंशमात्रावशिष्टाङ्गैर्मण्डलाग्रैश्चिरं क्रुधा । लोहदण्डैरिवाखण्डैर्धौरा युयुधिरे धुरि ॥१७१॥
 शिरःप्रहरणेनान्योऽप्यस्त्राभ्यां प्रकुर्वता । सर्वरोगसिराविद्धो दृष्ट्वा पश्चादयुद्धं सः ॥१७२॥
 हयान् प्रतिष्कषीकृत्य धनुस्तत्कपिशिर्षकम् । अकुप्यत पुनः सुष्ठु तदा द्विगुणयद्गणम् ॥१७३॥
 जयोऽयात् सानुजस्तावदाविष्कृत्य यमाकृतिः । केन्द्रीरयमिवास्त्रं हयमस्युद्यतः क्रुधा ॥१७४॥
 बाहयन्तं तमालोप्य कल्पान्तज्वालिर्भाषणम् । विवेश विहिङ्गशाली वेलेत्र स्ववलाम्बुधिम् ॥

से भयंकर हो रहा था ॥१६३॥ उस युद्धमें पृथिवीपर जो भयंकर बाणोंका समूह पड़ा हुआ था उसमें तलवारोंकी परस्परकी चोटसे निकले हुए फुल्लिङ्गोंसे अग्नि प्रज्वलित हो उठी थी ॥१६६॥ घोड़े कोड़ोंकी चोटके पहले ही बाणोंके सामने दौड़ रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि तेजस्वी पुरुष मर जाते हैं परन्तु पराभव सहन नहीं करते ॥१६७॥ परस्पर एक दूसरेपर क्रोधित हो पिछले पैरोंसे खड़े हुए कितने ही घोड़े चिरकाल तक इस प्रकार युद्ध कर रहे थे मानो अपने स्वामीकी रक्षा ही कर रहे हों ॥१६८॥ उस समय ऊपर उठायी हुई और दधिरसे रंगी हुई तलवाररूपी चञ्चल पत्तोंसे आकाशरूपी वृक्ष ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो उसपर फिरसे नवीन पत्ते निकल आये हों ॥१६९॥ कहींपर खाली पीठ लिये घोड़े इस प्रकार दौड़ रहे थे मानो तलवारकी चोटसे बहुत दूर पड़े हुए अपने स्वामियोंके शिर ही खोज रहे हों ॥१७०॥ घोड़ोंको बिना सींगके पशु मानकर दयासे कोई नहीं मारता था परन्तु वे क्रोधित होकर दाँत और खुरोंसे एक दूसरेको मारते थे ॥१७१॥ उस युद्धमें कितने ही योद्धा क्रोधित होकर अखण्ड लोहेके ढण्डेके समान जिनमें बाँसमात्र ही शेष रह गया है ऐसी तलवारोंसे चिरकाल तक युद्ध करते रहे थे ॥१७२॥ अन्य कोई योद्धा, अन्धा करनेवाली शिरकी चोटसे यद्यपि कुछ देख नहीं सक रहा था तथापि गलेकी पीछेकी पत्तोंसे शिरकी जुड़ा हुआ देखकर वह फिर भी युद्ध कर रहा था ॥१७३॥ उस समय कितने ही योद्धा घोड़ोंकी सहायता ले कपिशिर्षक नामक धनुषोंसे युद्धको द्विगुणित करते हुए अच्छी तरह लड़ रहे थे ॥१७४॥ इतनेमें ही तलवार हाथमें लिये हुए जयकुमार अपने छोटे भाइयोंके साथ-साथ यमराज सरीखा आकार प्रकट कर और सिंहके समान घोड़ेपर सवार होकर क्रोधसे आगे बढ़ा ॥१७५॥ कल्पान्त कालकी अग्निके समान भयंकर जयकुमारको घोड़ेपर सवार हुआ देखकर शत्रुके घोड़ोंकी पंक्ति लहरके समान अपने सेनारूपी समुद्रमें जा घुसी ॥१७६॥ जिनपर पताकाएँ नृत्य कर रही हैं और वेगशाली घोड़े

१ ज्वलति स्म । २ भूमावुपचिते । ३ आयुधस्याभिमुखम् । ४ बद्धक्रुधः । ५ रक्षन्तः । ६ युद्धन्ते - ल० ।
 ७ तास्यस-ल० । ८ स्वामिरहितपृष्ठाः । ९ न हन्ति स्म । १० ते च दत्त-ल० । ११ घनन्ति स्म । १२ वेगु-
 मात्रावशिष्टस्वरूपेः । १३ कौक्षेयकैः 'कौक्षेयको मण्डलाग्रः करवालः कृपाणवत्' इत्यभिधानात् । १४ मस्तक-
 वातेन । १५ किंचिदपि नालोकयन् । १६ गलस्य पश्चिमसिरान्तितः । १७ गलपश्चिमभागं कटुस्पर्शनालोक्य ।
 १८ युयुजे । १९ सहायीकृत्य । 'प्रतिष्कशः सहाये स्याद् वार्ताहरपरागयोः' इत्यभिधानात् । २० चापविशेषः ।
 धन्विन इत्यर्थः । २१ यमाकृतिम् ल० । २२ उद्यतातिः सन् । २३ अश्वमारोहयन्तम् । २४ प्रलयान्तिवद्भयं-
 करम् । २५ शत्रुवाजिसमूहः । २६ स्वसैन्यसागरम् ।

चिरान् पर्याय^१मासाद्य^२ प्रनृत्त्यरकेतवो रथाः । जविमिर्व्याजिभिर्व्यूढा प्राधावन् विद्विषः^३ प्रति ॥१७७॥
 निशेषहं^४ सिपूर्णेषु रथेषु रथनाथकाः । तुलां^५ जगज्जुरारुह्य पिञ्जरैः^६ कुञ्जरारिभिः ॥१७८॥
 अक्रसंधट्संपिष्टशवासुग्मांसकर्दमे । रथकल्याणचरन्ति स्म तत्रादधौ मन्दपोतवत्^७ ॥१७९॥
 कुन्तासिप्रासचक्रादिसंकीर्णं प्रणितक्रमाः^८ । अक्रामन् कृच्छुकृच्छ्रेण रणे रथसुरक्रमाः ॥१८०॥
 तदा संनद्धसंयुक्तसर्वायुधनृत^९ रथम् । संक्रम्य^{१०} वृषभं^{११} वाऽकः समारूढपराक्रमः ॥१८१॥
 पुरोज्वलस्समुत्सर्पच्छरतीक्ष्णांशुसंततिः । शत्रुसन्तमसं भिम्बन् बालार्कमजयज्जयः ॥१८२॥
^{१४}मण्डलाप्रसमुत्सृष्टदुष्टास्त्रः शस्त्रकर्मवित् । जयो भिषजमन्वैर्यः^{१५} शत्रुशल्यं ससुद्धरन् ॥१८३॥
 ध्वजस्योपरि धूमो वा तनाकुष्ठो^{१६} नु^{१७} सायकः । पपात तापमापाथ सूचयत्तुभं द्विषाम् ॥१८४॥
 ध्वजदण्डान् समालम्ब्य^{१८} विद्विषोऽन्वीतपौरुषान् । कुर्वन् सर्वान् स^{१९} निर्वशान् सोमवंशध्वजायतं ॥१८५॥
 विच्छिन्नकैतवः केचित् क्षणं तस्थुर्मृता इव । प्राणैर्न प्राणिनः^{२०} किन्तु मानप्राणा हि मानिनः ॥१८६॥
 प्रज्वलन्तं^{२१} जयन्तं ते जयं तं सोढुमक्षमाः । सह सर्वेऽपि^{२२} संपेतुर^{२३} अग्नि शलभा यथा^{२४} ॥१८७॥

जिनमें जुते हैं ऐसे शस्त्रोंके कालों में लड़ने लगे शत्रुओंके प्रति दौड़ने लगे ॥१७७॥ रथोंके स्वामी, सम्पूर्ण शस्त्रोंसे भरे हुए रथोंपर सवार हो पिंजरोंमें बन्द हुए सिंहोंकी तुलना धारण करते हुए गरज रहे थे ॥१७८॥ उस युद्धमें पहियोंके संधट्टनसे पिसे हुए मुरदोंके खून और मांसकी कोचड़में रथोंके समूह ऐसे चल रहे थे मानो किसी समुद्रमें छोटी-छोटी नावें ही चल रही हों ॥१७९॥ बरछा, तलवार, भाले और अक्र आदिसे भरे हुए युद्धक्षेत्रमें घायल पैरोंवाले रथके घोड़े बड़े कष्टसे चल रहे थे ॥१८०॥ उसी समय तैयार हुए तथा जुड़े हुए सब प्रकारके शस्त्रोंसे व्याप्त रथपर आरूढ़ होनेसे जिसका पराक्रम वृषभ राशिपर आरूढ़ हुए सूर्यके समान बढ़ रहा है, जिसके आगे चलते हुए बाणरूपी तीक्ष्ण किरणोंका समूह प्रकाशमान हो रहा है और जो शत्रुरूपी अन्धकारका भेदन कर रहा है ऐसे उस जयकुमारने उदय होता हुआ बाल-सूर्य भी जीत लिया था ॥१८१-१८२॥ अथवा वह जयकुमार किसी अच्छे वैद्य या डाक्टरका अनुकरण कर रहा था क्योंकि जिस प्रकार वैद्य शस्त्रकी नोंकसे बिगड़ा हुआ खून निकाल देता है उसी प्रकार वह जयकुमार भी तलवारकी नोंकसे दुष्ट-शत्रुओंका खून निकाल रहा था, जिस प्रकार वैद्य शस्त्र चलानेकी क्रियाको जानता है उसी प्रकार वह जयकुमार भी शस्त्र चलानेकी क्रिया जानता था और वैद्य जिस प्रकार शल्यको निकाल देता है उसी प्रकार जयकुमार भी शत्रुरूपी शल्यको निकाल रहा था ॥१८३॥ उसके द्वारा चलाये हुए बाण शत्रुओंको सन्ताप उत्पन्न कर अशुभकी सूचना देते हुए धूमकेतुके समान उनकी ध्वजाओंपर पड़ रहे थे ॥१८४॥ उस समय शत्रुओंकी ध्वजाओंके दण्डोंको खण्ड-खण्ड कर सब शत्रुओंको पौरुषहीन तथा वंशरहित करता हुआ जयकुमार सोमवंशकी ध्वजाके समान आचरण कर रहा था ॥१८५॥ जिनकी पताकाएँ छिन्न-भिन्न हो गयी हैं ऐसे कितने ही शत्रु क्षण-भरके लिए मरे हुएके समान खड़े थे सो ठीक ही है क्योंकि प्राणोंसे ही प्राणी नहीं गिने जाते किन्तु अभिमानी मनुष्य अभिमानको ही प्राण समझते हैं ॥१८६॥ अच्छी तरह जलते हुए

१ अवसरम् । 'पर्यायोऽवसरे क्रमे' इत्यभिधानात् । २ प्राप्य । ३ विद्विष प्रति ल० । ४ आयुष । ५ साम्यम् । ६ गर्जन्ति स्म । ७ पिञ्जरैः ल० । ८ रणे । ९ मन्दनोरिव । १० क्षतपादाः । ११ सज्जीकृतं । १२ संप्राप्य । १३ वृषभराशिमिव । १४ करवालेन समुत्सृष्टदुष्टास्त्रः । १५ अनुगतवान् । ऋ गतौ लङि रूपम् । मन्वीयः ल० । १६ समुत्सृष्टः । १७ इव । १८ अनुगत । १९ जयः । २० न जीवन्ति । २१ जयतीति जयन् तम् । २२ अभिमुखपागताः । २३ अग्निमभि पतङ्गाः । २४ शलभा इव ल० ।

संनद्धस्थन्नुनाश्चण्डास्तदा हेमाङ्गदादयः । कोदण्डास्फालनध्वाननिरुद्धहरितः^१ क्रुधा ॥१८८॥
 वर्युर्वर्द्धिदृष्टिं वा यागवृष्टिं प्रति द्विषः । बावत्ते^२ लक्ष्यता^३ नेयुस्तावदात्रिकृतोद्यमाः ॥१८९॥
 निरुध्यामन्तसेनादिशस्त्रजालं रणार्णवे । स्वन्दनाश्चोद्यमानासुः पोताम्बा खातरंहसः^४ ॥१९०॥
 वज्रह्वास्त्रसंघट्टसमुत्पन्नाशुशुक्षणिम्^५ । पेतुर्वाहाः^६ वरं^७ तेजस्तेजस्वी सहसे कथम् ॥१९१॥
 क्षम्योऽन्यं खण्डयन्ति स्म तेषां शस्त्राणि तद्वणे ।^८ नैकमध्यपराम्भापुश्चित्रमस्त्रेषु कौशलम् ॥१९२॥
 न मृता वणिता ब्रैव न जयो न पराजयः । युद्धमानेऽप्यहो तेषु नाहवोऽप्याहवायसे ॥१९३॥
 युद्ध्वाऽप्येषं चिरं शोकुर्न जेतुं ते परस्परम् । जयः सेनाद्वये तस्मिन्^९ जयादभ्येन दुर्लभः ॥१९४॥
 अन्तर्हासो जयः सर्वं तत्तद्ऽऽलोक्य लीलया । शरैः संच्छादयामास सैन्यं पुत्रस्य चक्रिणः ॥१९५॥
 निष्पन्दीभूतमालोक्य चक्रिसूनुः स्वसाधनम् । रक्षोत्पलदलच्छायासुच्छिद्य^{१०} नयनसिंघा ॥१९६॥
 जयः परस्य^{११} नो मेऽद्य जयो^{१२} जयमहं रणे । विध्वंस्य^{१३} सुवने युद्धमकल्पं स्थापये यशः ॥१९७॥
 विदध्यामद्य नाथेन्दुप्रसरद्वंशवर्द्धनम् ।^{१४} जयलक्ष्मीर्वशीकृत्य विधेयान्मेऽधुना सुखम्^{१५} ॥१९८॥

और सबको जीतते हुए उस जयकुमारको सहन करनेके लिए असमर्थ होकर वे सब शत्रु उसपर इस प्रकार टूट पड़े मानो अग्निपर पतंगे ही पड़ रहे हों ॥१८७॥ इतनेमें ही जिनके रथ तैयार हैं, जो बड़े क्रोधी हैं, जिन्होंने क्रोधसे धनुष खींचकर उनके शब्दोंसे सब दिशाएँ भर दी हैं और शत्रु जबतक अपने लक्ष्य तक पहुँचने भी न पाये थे कि तबतक ही जिन्होंने अपना सब उद्यम प्रकट कर दिखाया है ऐसे हेमांगद आदि राजकुमार शत्रुओंपर अग्नि वर्षा की समान बाणोंकी वर्षा करने लगे ॥१८८-१८९॥ वे अनन्तसेन आदिके बाणोंका समूह रोककर वायुके समान वेगवाले रथोंको रणरूपी समुद्रमें जहाजोंके समान दौड़ाने लगे ॥१९०॥ वे रथोंके छोड़े दोनों सेनाओं सम्बन्धी शस्त्रोंके संघट्टनसे उत्पन्न हुई अग्निपर पड़ रहे थे सो ठीक ही है क्योंकि तेजस्वी मनुष्य दूसरेका तेज कैसे सह सकता है ? ॥ १९१॥ उस युद्धमें दोनों सेनाओंके शस्त्र एक दूसरेको खण्ड-खण्ड कर देते थे, एक भी शस्त्र शत्रुओं तक नहीं पहुँचने पाता था सो ठीक ही है क्योंकि उनकी अस्त्रोंके चलानेकी कुशलता आश्चर्य करनेवाली थी ॥१९२॥ आश्चर्य है कि उन योद्धाओंके युद्ध करते हुए न सो कोई मरा था, न किसीको घाव लगा था न किसीकी जीत हुई थी और न किसीकी हार ही हुई थी, और तो क्या उनका वह युद्ध भी युद्ध-सा नहीं मालूम होता था ॥१९३॥ इस प्रकार बहुत समय तक युद्ध करके भी वे एक दूसरेको जीत नहीं सके थे सो ठीक ही है क्योंकि उन दोनों सेनाओंमें जयकुमारके सिवाय और किसीको विजय प्राप्त होना दुर्लभ था ॥१९४॥ उस समय यह सब देखकर मन ही मन हँसते हुए जयकुमारने चक्रवर्तीके पुत्र—अर्ककीतिकी सब सेनाको लीलापूर्वक ही बाणोंसे ढक दी ॥१९५॥ अपनी सेनाको चेष्टारहित देखकर चक्रवर्तीका पुत्र—अर्ककीति अपने नेत्रोंकी कान्तिसे लाल कमलके दलकी कान्तिकी जीतता हुआ अर्थात् क्रोधसे लाल-लाल आँखें करता हुआ कहने लगा कि आज शत्रुकी जीत नहीं हो सकती, मेरी ही जीत होगी, मैं युद्धमें जयकुमारको मारकर संसारमें कल्पान्त काल तक टिकनेवाला शुद्ध यश स्थापित करूँगा तथा आज ही बढ़ते हुए नाथ-

१ विशः । 'दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितवच ताः' । इत्यभिधानात् । २ रयिनः । ३ रणाङ्गणे अभिमुखं समागत्य मुख्यताम् । ४ न मच्छन्ति स्म । ५ वायुवेगिनः । ६ अग्निम् । ७ जग्मुः । ८ अववाः । ९ अन्मत् । १० एकं शस्त्रमपि । ११ जयकुमारात् । १२ अभिशब्देत्यर्थः । १३ न । मे नो जयः इति दुर्ध्वनिः । १४ जयकुमारम् । १५ विनाश्य । अविनाश्येति दुर्ध्वनिः । १६ जयस्य लक्ष्मीः इति दुर्ध्वनिः । १७ सुखमिति दुर्ध्वनिः । 'आ०' प्रती असुखमिति दुर्ध्वनिः ।

शुभं स कल्पनादुष्टमिति^१ स्वानिष्टसूचनम् । द्विपं प्रबोदयामास क्रुधेवाजयमारमन्तः^२ ॥१९६॥
 प्रविवातसमुद्भूतपश्चाद्गतपताकिक्काः । मन्दं मन्दं ववणद्वयं^३ कुण्ठितस्वबलोस्तत्राः ॥२००॥
 संश्रुत्यदानं निष्यन्दकट्दीनाननश्रियः । निर्वाणालातनिर्मासनि-शेषाश्वमराक्षमाः ॥२०१॥
 आधोरणैः कृतोत्साहैः^४ कृच्छकृच्छ्रेण चोदिताः । आक्रमदमिव कुर्वन्तः कुण्ठितैः कण्ठगर्जिनैः ॥२०२॥
 भीतभीता^५ युधोऽन्यैश्च सिंहैरशुभसूचिभिः । गजा गताजवाश्चेलुरचला इव जङ्गमाः ॥२०३॥
 मन्दमन्दं प्रकृत्यैव^६ मन्दा युद्धमयान्मृगाः^७ । जग्मुर्निर्दोषं^८ मद्रास्तदशुभसूचनम्^९ ॥२०४॥
 विजिर्गाषोर्विपुण्यस्थ द्यूथा प्रणिधयो^{१०} यथा । तथाऽर्ककीर्तयन्नुणां^{११} ते गजेषु नियोजिताः ॥२०५॥
 लङ्घयन्नेग्रयोदी^{१२} पारिभद्रोद्गमच्छविम् । प्रकटभ्रुकुटीबन्धसंधानितशरासनः ॥२०६॥
 रिपुं^{१३} कुपितमोगीन्द्रस्फुटाटोपमयंकरः । कुर्वन्बिलोक्तं^{१४} नातप्तसीधनाराचगोचरम् ॥२०७॥
 गिरीन्द्रशिखराकारमाश्रय हरिचिह्नमः । गजेन्द्रं विजयाद्वीर्यं^{१५} गर्जन्मेघस्वरस्तदा ॥२०८॥

वंश और सोमवंशका छेदन कलंगा, विजयलक्ष्मी मुझे अभी वश कर सुखी करेगी, इस प्रकार अभिप्रायसे दुष्ट तथा अपना ही अनिष्ट सूचित करनेवाला वचन कहते हुए अर्ककीर्तिने क्रोधसे अपने पराजयके समान अपना हाथी आगे बढ़ाया ॥१९६-१९९॥ प्रतिकूल वायु चलनेसे जिनकी ध्वजाएँ पीछेकी ओर उड़ रही हैं, जिनके ध्वज धीरे-धीरे बज रहे हैं, जिन्होंने अपनी सेनाके उत्सवको कुण्ठित कर दिया है, गण्डस्थलके मदका निष्यन्द सुख जानेसे जिनके मुखकी शोभा मलिन हो गयी है, जिनकी शोभा बुझे हुए अलातचक्रके समान है, जो सम्पूर्ण शस्त्रोंका भार धारण करनेमें असमर्थ है, उत्साह दिलाते हुए महावत जिन्हें बड़ी कठिनाईसे ले जा रहे हैं, जो कुण्ठित हुई कण्ठकी गर्जनासे मानो रुदन ही कर रहे हैं, जो युद्धसे तथा अशुभको सूचित करनेवाले अन्य अनेक चिह्नोंसे अत्यन्त भयभीत हो रहे हैं और जिनका वेग नष्ट हो गया है ऐसे हाथी चलते फिरते पर्वतोंके समान चल रहे थे ॥२००-२०३॥ मन्द जातिके हाथी स्वभावसे ही मन्द-मन्द चल रहे थे, मृग जातिके हाथी युद्धके भयसे धीरे-धीरे जा रहे थे और भद्र जातिके हाथी बिना ही कारण धीरे-धीरे चल रहे थे परन्तु युद्धमें उनका धीरे-धीरे चलना अशुभको सूचित करनेवाला था ॥२०४॥ जिस प्रकार विजयकी इच्छा करनेवाले किन्तु पुण्यहीन मनुष्यके गुप्त सेवक व्यर्थ हो जाते हैं--अपना काम करनेमें सफल नहीं हो पाते हैं उसी प्रकार अर्ककीर्तिके लिए उन हाथियोंसे कही हुई महावत लोगोंकी प्रार्थनाएँ व्यर्थ हो रही थीं ॥२०५॥ उधर जो अपने दोनों नेत्रोंकी कान्तिसे कल्पवृक्षके फूलकी कान्तिको जीत रहा है, जिसने अपनी मौंहोंकी रचनाके समान ही प्रकटरूपसे बाण चढ़े धनुषका आकार बनाया है, क्रोधित हुए महा सर्पके समान जिसका शरीर कुछ ऊपर उठा हुआ है और इसीलिए जो भयंकर है, जो अपने शत्रुको अपनी दृष्टि तथा तपे हुए बाणोंका निशाना बना रहा है, एवं सिंहके समान जिसका पराक्रम है ऐसा मेघस्वर जयकुमार उस समय गर्जता हुआ मेरुके शिखरके समान आकारवाले विजयाश्रं नामके उत्तम हाथीपर सवार होकर, अनुकूल वायु चलनेसे

१ अभिप्रायदुष्टम् । २ निजानिष्ट । ३ अगजयम् । ४ प्रतिकूलवायुः । ५ मन्दमन्द-अ०, प०, स०, इ०, ल० ।
 ६ मदस्त्रवण । नष्टोत्सुकसदृशः । ७ हस्तिपकेः । ८ कृतोद्योगः । ९ रोदनम् । १० अधिकभीताः । ११ सङ्क्रा-
 मात् । १२ स्वभावेनैव जडाः । मन्दा इति जातिभेदावयव । १३ मृगरादृशाः मृगजातयश्च । १४ भद्रजातयः ।
 १५ मन्दगमनम् । १६ वाञ्छाः चराश्च । 'प्रणिधिः प्रार्थने चरे' इत्यभिधानात् । १७ गजारोहकाणाम् ।-कीर्तये
 नृणां ल० । १८ मनोरथाः । १९ मन्शरकुसुमच्छविम् । 'पारिभद्रो निम्बतरुर्मन्दारः पारिजातकः ।' इत्यभिधा-
 नात् । २० नटोपो भयंकरः ल०, प० । २१ निजालोकनान्येव अतप्ततोक्ष्यबाणास्तेषां विषयम् । २२ जयकुमारः ।

अनुकूलानिलोत्थितपुरःपरं ध्वजशुभैः । क्रान्तद्विपारित्रिक्रान्तविरघातारुहयोधनैः^१ ॥२०९॥
 प्रस्फुरणसंघसंघातर्दासिर्दपितदिङ्मुखैः ।^२ धूमदुन्दुभिसन्ध्वानबृहद्दृष्टिभीषणैः ॥२१०॥
 घण्टामधुरनिर्घोषनिर्मलभुवनप्रयैः । सद्यः समुत्तरद्वैरपि सिंहान् जिर्गायुभिः ॥२११॥
 प्रापथुजोरुचुः सार्द्धं गर्जविजयसूचिभिः ।^३ अयवेलाभिलोद्धतसिन्धुवेलां विडम्बयन्^४ ॥२१२॥
 महाहास्तिकविस्तारस्थूलनीलवलाहकः^५ । समन्तात् संपतच्छङ्कु^६ समूहसहस्रानकः ॥२१३॥
 प्रोत्थातासिलताविशुन्सदुल्लसितभासुरः^७ । नानाकमहाध्वानगम्भीरघनगर्जितः ॥२१४॥
^८ नवलोलिहताम्रान्धुनिरुद्धधरणीतलः । नितान्तनिष्ठुरापातमुग्रराशनिसंलतिः^९ ॥२१५॥
 चालन्वितपताकालिवलाका^{१०} च्छादिताम्बरः । सङ्ग्रामः प्रावृषो लक्ष्मीमशेषामपुषत्तदा^{११} ॥२१६॥
 सुचिरं नवसंदोहसंघुप्तसमराङ्गणे । सेनयोः सर्वशास्त्राणां व्यत्ययो^{१२} बहुशोऽभवत् ॥२१७॥
 निरुद्धमूर्ध्वं^{१३} गृध्राधर्मस्यमुग्रध्वजशुभैः । सेनाद्वयत्रिनिर्मुक्तैः शस्त्रैर्धात्रो च सा तता^{१४} ॥२१८॥
 जयलक्ष्मीं नयोद्यायाः^{१५} सपरनीभिच्छता नवाम् । तदार्ककीर्तिसुदृश्य जयेनाचोद्यत^{१६} द्विषः ॥२१९॥
 अष्टचन्द्राः पुरोभूयः^{१७} भूयः^{१८} प्राग्दृष्टाक्षयः^{१९} । क्षपक^{२०} वांऽहमा^{२१} भेदा न्यरुद्धैस्त^{२२} निनक्ष्वः^{२३} ॥

जिनकी ध्वजाओंके वस्त्र उड़कर आगेकी ओर जा रहे हैं, आक्रमण करते हुए सिंहके समान प्रसिद्ध पराक्रमवाले योद्धा जिनपर बैठे हैं, देदीप्यमान शस्त्रोंके समूहकी दीप्तिसे जिन्होंने समस्त दिशाओंके मुख प्रकाशित कर दिये हैं, वज्रते हुए नगाड़ोंके बड़े-बड़े शब्दोंसे बढ़ती हुई गर्जनाओंसे जो भयंकर हैं, घण्टाओंके मधुर शब्दोंसे जिन्होंने तीनों लोक भर दिये हैं, तत्काल उठते हुए अहंकारसे जो सिंहोंको भी जीतना चाहते हैं और जो विजयकी सूचना करनेवाले हैं ऐसे हाथियोंके साथ, प्रलय कालकी वायुसे उठी हुई समुद्रकी लहरोंको विडम्बित करता हुआ युद्धकी उत्कण्ठा से आ पहुँचा ॥२०९-२१२॥ जिसमें बड़े-बड़े हाथियोंके समूहका विस्तार ही बड़े-बड़े काले बादल है, चारों ओरसे पड़ते हुए बाणोंके समूह ही मयूर है, ऊपर उठायी हुई तलवाररूपी बिजलियोंकी चमकसे जो प्रकाशमान हो रहा है, अनेक नगाड़ोंके बड़े-बड़े शब्द ही जिसमें मेघोंकी गम्भीर गर्जनाएँ हैं, नवीन रुधिरके प्रवाहरूपी जलसे जिसमें पृथ्वीतल भर गया है, बड़ी निर्दयताके साथ पड़ते हुए मुद्गर ही जिसमें वज्रोंका समूह है और फहराती हुई सफेद पताकाओंके समूहरूप बगलाओंसे जिसमें समस्त आकाश आच्छादित हो रहा है ऐसा वह युद्ध उस समय वर्षाऋतुकी सम्पूर्ण शोभाको पुष्ट कर रहा था ॥२१३-२१६॥ बहुत देर तक सब योद्धाओंके समूहसे घिरे हुए युद्धके मैदानमें दोनों सेनाओंके सब शस्त्रोंका अनेक बार व्यत्यय (अदला-बदली) हुआ था ॥२१७॥ उस समय ऊपरका आकाश गीधोंके समूहसे भर गया था, मध्य भाग फहराती हुई ध्वजाओंके वस्त्रोंसे भर गया था और पृथिवी दोनों सेनाओंके द्वारा छोड़े हुए शस्त्रोंसे भर गयी थी ॥२१८॥ उसी समय जयलक्ष्मीको नवीन विवाहिता सुलोचनाकी नयी सौत बनानेकी इच्छा करते हुए जयकुमारने अर्ककीर्तिको उद्देश्य कर अपना हाथी आगे बढ़ाया ॥२१९॥ जिस प्रकार कर्मोंके भेद क्षपकश्रेणीवाले मुनिको रोकते हैं उसी प्रकार अष्टचन्द्र नामके विद्याधर जिनकी कि शक्ति पहले देखनेमें आयी थी फिरसे सामने आकर

१ आक्रान्तसिंहपराक्रमप्राप्तिदाकारणाधोरणैः । २ ताडित । ३ व्याप्त । ४ प्रलयकाल । ५ विडम्बयन् ल०, म०, अ०, प०, इ०, स० । ६ गजसमूह । ७ कालमेष । ८ शय्यायुधसमूहमयूरकः । ९ स्फुरण । १० नूतन-रक्त । ११ द्रुघण । १२ विषकण्ठिका । १३ पुष्पाति स्म । १४ व्यत्यय इति संबन्धिनः इतरेण हरणम् । ('ता०' प्रती व्यत्ययः इतरसंबन्धिनः इतरेण हरणम्) । १५ व्याप्ता । तदा ल० । १६ नूतनविवाहितायाः सुलोचनायाः । १७ प्रेरितः । १८ अग्ने भूत्वा । १९ पुनः पुनः । २० पूर्व दृष्टपराक्रमाः । २१ क्षपकश्रेण्या-रुद्धम् । २२ इव । २३ कर्मणाम् । २४ जयम् । २५ नाशितुमिच्छतः ।

जयोऽपि सुचिरात्प्रतिपक्षो व्यदीप्यलम् । लब्धेव रन्धनं बद्धिः^१ उत्साहाग्निस्तोषिष्ठः^२ ॥२२१॥
 तद्दोभयलक्षयातगाजद्विशिखरस्थिताः । योद्धुमारेभिरे राजराजसिंहाः^३ परस्परम् ॥२२२॥
 अन्योन्यरदनोद्भिन्नौ तत्र कौञ्चिद् व्यसू^४ गजौ । चिरं^५ परस्पराधारावामार्ता यमलाद्विघत्^६ ॥२२३॥
 समन्ततः शरैश्छक्ता रेजुराजौ गजाधिपाः । क्षुब्धेणुगणाकीर्णसंस्वरद् गिरिसन्निभाः^७ ॥२२४॥
 दानिनो भानिनस्तुंगाः^८ कामवन्तोऽन्तकोपभाः । महाभूतः सर्वसत्त्वेभ्यो न युद्धवन्ता^९ कथं गजाः ॥२२५॥
 मृगैर्मृ^{१०} गैरिवापात^{११} मात्रभग्नैर्मयाद् द्विपैः । स्वसैन्यमेव संक्षुण्णं^{१२} धिक् स्थौल्यं भीतचेतसाम् ॥२२६॥
 निःशक्तीन्^{१३} शक्तिभिः^{१४} शक्ताः^{१५} शक्ताश्चकुरशक्तकान् ।
 शक्तियुक्तानशक्ताश्च निःशक्तीन्^{१६} धिग्धिगूनताम्^{१७} ॥२२७॥

शस्त्रनिर्मितसर्वाङ्गा निमीलितविलोचनाः । सम्यक्^{१८} संहतसंरम्भाः संभावितपराक्रमाः ॥२२८॥
 बुद्धयैत्र^{१९} बद्धपत्यकृत्सत्यक्तसर्वपरिच्छदाः ।^{२०} समस्थाधुरसूक्ष्मरा^{२१} निधाय हृदयेऽर्हतः ॥२२९॥

जयकुमारको रोकने लगे ॥२२०॥ जिस प्रकार बहुत-से इन्धनको पाकर वायुसे उद्दीपित हुई अग्नि देदीप्यमान हो उठती है उसी प्रकार उत्साहरूपी वायुसे बढ़ा हुआ वह जयकुमार भी बहुत देरमें शत्रुको पाकर अत्यन्त देदीप्यमान हो रहा था ॥२२१॥ उस समय दोनों सेनाओं-में प्रसिद्ध हाथीरूपी पर्वतोंके शिखरपर बैठे हुए अनेक राजारूपी सिंहोंने भी परस्पर युद्ध करना आरम्भ कर दिया था ॥२२२॥ उस युद्धमें एक दूसरेके दाँतोंके प्रहारसे विदीर्ण होकर मरे हुए कोई दो हाथी मिले हुए दो पर्वतोंके समान एक दूसरेके आधारपर ही चिरकाल तक खड़े रहे थे ॥२२३॥ चारों ओरसे बाणोंसे ढके हुए बड़े-बड़े हाथी उस युद्धमें छोटे-छोटे बाँसों-से व्याप्त और चलते हुए पर्वतोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥२२४॥ जो दानी हैं-जिनसे मद झर रहा है, मानी हैं, ऊँचे हैं, यमराजके समान हैं और सब जीवोंसे बड़े हैं ऐसे भद्र जातिके हाथी भला क्यों न युद्ध करते ? ॥२२५॥ जिस प्रकार हरिण भयभीत होकर भागते हैं उसी प्रकार मृगजातिके हाथी भी प्रारम्भमें ही पराजित होकर भयसे भागने लगे थे और उससे उन्होंने अपनी ही सेनाका चूर्ण कर दिया था इससे कहना पड़ता है कि भीरु हृदयवाले मनुष्यों-के स्थूलपनको धिक्कार हो ॥२२६॥ शक्तिशाली (सामर्थ्यवान्) योद्धा अपने शक्ति नामक शस्त्रसे, जिनके पास शक्ति नामक शस्त्र नहीं है ऐसे शक्तिशाली (सामर्थ्यवान्) योद्धाओंको शक्तिरहित-सामर्थ्यहीन कर रहे थे और जिनके पास शक्ति नामक शस्त्र था किन्तु स्वयं अशक्त-सामर्थ्यरहित थे उन्हें भी शक्तिरहित-शक्ति नामक शस्त्रसे रहित कर रहे थे-उनका शस्त्र छुड़ा रहे थे इसलिए आचार्य कहते हैं कि ऊनता अर्थात् आवश्यक सामग्रीकी कमीको धिक्कार हो ॥२२७॥ जिनके समस्त अंग शस्त्रोंसे छिन्न-भिन्न हो गये हैं, नेत्र बन्द हो गये हैं, जिन्होंने युद्धकी इच्छाका अच्छी तरह संकोच कर लिया है, जो अपना पराक्रम दिखा चुके हैं, जिन्होंने बुद्धिसे ही पत्यकासन बाँध लिया है और सब परिग्रह छोड़ दिये हैं ऐसे कितने ही

१ रन्धनम् इन्धनम् । लब्धेर्वद्धेन्धनं ल०, म०, अ०, प०, स०, इ०, व०, । २ उत्साहवायुना समृद्धः । ३ राज-
 राजमुख्याः । सिंहाः इति ध्वनिः । ४ विगतप्राणी । ५ अन्योन्यार्वलम्बनौ । ६ यमकगिरिघत् । ७ संवलद्गिरि-
 ल०, अ०, प०, स०, इ०, म० । ८ आरोहकानुकूला इत्यर्थः । ९ युद्धवन्ते ल० । १० मृगजातिभिः ।
 भक्त्यान्वेषणीयैर्वा । ११ हरिणैरिव । १२ प्रथमदिशायामेव । १३ संचूर्णमभवत् । १४ शक्त्यायुधरहितम् ।
 १५ शक्त्यायुधैः । १६ समर्थाः । १७ समर्थान् । १८ शक्त्यायुधयुक्तान् । १९ शक्त्यायुधरहितान् ।
 २० सामग्रीविकलताम् । २१ सम्यगुत्सृष्टसमारम्भाः । २२ मनसैव कृतपर्यङ्कासनाः । २३ सम्यक्
 त्यक्तवन्तः । २४ प्राणान् ।

कस्यचिद् क्रोधसंहारः स्मृतिश्च परमेष्ठिनि । निष्ठायामायुषोऽश्वसीदभ्यासात् किं न जायते ॥२३०॥
 हृदि नाराचनिर्मिता वक्रात् खड्गदसकृत्प्लवाः । शिवाकृष्टाम्ब्रतन्त्रान्ताः पर्यन्तव्यस्तपस्कराः ॥२३१॥
 गृद्धप्रभानिलोच्छिन्नमूर्च्छाः संप्राप्तसंशकाः । समाधाय हि ते शुद्धां शूरगतिं गताः ॥२३२॥
 छिन्नैश्चक्रेण शूराणां शिरोऽम्भोजैर्विकसिभिः । रणाङ्गणोऽर्चितो कामात् नृपैः जयजयभिः ॥२३३॥
 स्वामिसंमाननानादिमहोप कृतिनिर्मराः । प्राप्याधर्मगतं प्राणैः सेवां संपाद्य सेवकाः ॥२३४॥
 स्वप्राणव्ययस्तुष्टैस्त्वभ्यसदभिः स्वभूतः । लब्धपूजान् विद्याधान्ये धन्या नैर्ऋत्यभागमन् ॥
 जयमुक्ता मृतं पेतुरविमुक्तजयाः शराः । अष्टचन्द्रान् प्रति प्रोक्ष्यैः प्रदीप्योत्कोपमाः समम् ॥२३५॥
 जयप्रहितशस्त्राली नैर्मिथिदा च विद्या । ज्वलन्ती परितश्चन्द्रान् परिवेषाकृतिर्बभौ ॥२३६॥
 विश्वविद्याभरात्रीशमा विराजात्मजस्तदा । द्विषो निःशेषशेषानित्याह सुनमि रुषा ॥२३७॥
 सोऽपि सर्वैः खगैः सार्द्धं निर्द्धूतारतिविक्रमः । बह्विष्टमिवाकाशे वर्षं शरसंततिम् ॥२३८॥

शूरवीरोने हृदयमें अर्हन्त भगवान्को स्थापन कर प्राण छोड़े थे ॥२२८-२२९॥ किसी योद्धाके आयुकी समाप्तिके समय क्रोध शान्त हो गया था और परमेष्ठियोंका स्मरण होने लगा था सो ठीक है क्योंकि अभ्याससे क्या-क्या सिद्ध नहीं होता ? ॥२३०॥ जिनके हृदय बाणोंसे छिन्न-भिन्न हो गये हैं, मुँहसे रुधिरका प्रवाह बह रहा है, सियारोंने जिनकी अँतड़ियोंकी ताँतोंके अन्तभाग तकको खींच लिया है और जिनके हाथ-पैर फट गये हैं ऐसे कितने ही योद्धा गोधोंके पंखोंकी हवासे मूर्च्छारहित होकर कुछ-कुछ सचेत हो गये थे और शुद्ध श्रद्धा धारण कर शूरगति-स्वर्ग गतिको प्राप्त हुए थे ॥२३१-२३२॥ चक्र नामक शस्त्रसे कटे हुए शूरवीरोंके प्रफुल्लित मुखरूपी कमलोंसे भरी हुई वह युद्धकी भूमि ऐसी सुशोभित हो रही थी मानो जयकुमारकी विजयलक्ष्मीके नृत्योंसे ही सुशोभित हो रही हो ॥२३३॥ स्वामीके द्वारा पाये हुए आदर सत्कार आदि बड़े-बड़े उपकारोंसे दबे हुए कितने ही सेवक लोग अपने प्राणों-द्वारा स्वामीकी सेवा कर ऊर्ध्व अवस्थाको प्राप्त हुए थे और कितने ही धन्य सेवक, अपने-अपने प्राण देकर सन्तुष्ट हुए शत्रु राजाओंसे अपने स्वामियोंकी पूजा-प्रतिष्ठा कराकर कर्जरहित हुए थे । भावार्थ—कितने ही सेवक लड़ते-लड़ते मर गये थे और कितने ही शत्रुओंको मारकर कृतार्थ हुए थे ॥२३४-२३५॥ जिन्होंने विजय प्राप्त करना छोड़ा नहीं है और जो अपनी बड़ी भारी कान्तिसे उत्क्रांते समान जान पड़ते हैं ऐसे जयकुमारके छोड़े हुए बाण अष्टचन्द्र विद्याधरोंके पास बहुत शीघ्र एक साथ पड़ रहे थे ॥२३६॥ जयकुमारके द्वारा छोड़ी हुई शस्त्रोंकी पंक्तियोंको उन विद्याधरोंने अपने विद्या बलसे रोक दिया था । इसलिए वे उनके चारों ओर जलती हुई खड़ी थीं और ऐसी सुशोभित हो रही थीं मानो चन्द्रमाओंके चारों ओर गोल परिधि ही लग रही हो ॥२३७॥ उसी समय आदि सम्राट्—भरतके पुत्र अर्ककोतिने बड़े क्रोधसे सब विद्याधरोंके अधिपति सुनमिसे कहा कि तुम समस्त शत्रुओंको नष्ट करो ॥२३८॥ और शत्रुओंके पराक्रमको नष्ट करनेवाला सुनमिकुमार भी अग्नि वर्षाके समान आकाशमें बाणोंके समूहकी वर्षा करने लगा ॥२३९॥ जो अत्यन्त

१ परिसमाप्तौ सत्याम् । २ रणे । ३ साध्यते ल० । ४ जम्बुकाकृष्टपुरीतत्समूहाया । अन्वगतशस्त्राया वा । ५ सन्वाया-ट० । ६ विक्षिप्तपादपाणयः । ७ स्पृहाम् । ८ स्वर्गम् । इन्द्रियजयवर्ता गतिमित्यर्थः । ९ रण-रङ्गोऽन्विते-ल० । १० नर्तनाय । ११ जयकुमारस्य जयलक्ष्म्याः । १२ सहोपकारातिशयाः । १३ ऋणप्राप्ति-ताम् । १४ शत्रुभूयः । १५ निजनुपतीन् । १६ ऋणबुद्धधनम् । ऋणाभिष्कान्तत्वम् । १७ जयकुमारेणोत्सृष्टाः । १८ अत्यक्तजयाः । १९ प्रदीप्योत्कोपमाः ल० । २० युगपत् । २१ जयकुमारेणाविद्य । २२ शत्रुभिः । २३ अष्टचन्द्रान् परितः, मृगाङ्गान् परितः । २४ अर्ककोतिः । २५ शत्रून् । २६ विनाशय । २७ सुनमिः ।

अथ विष्णुः । अथ विष्णुः । अथ विष्णुः । अथ विष्णुः ।

भीकराः किङ्कराकाराः^१ रुदन्ती रुददिङ्मुखाः । कांस्कान्^२ शृणाम नेतीष सुतीक्ष्णाः^३ शरवोऽपतन् ॥२४०॥
 मेघप्रभो जयादिसादिभेन्द्र^४ वा मृगाधिपः । आक्रम्य विक्रमी शस्त्र^५ ररोत्सीत्^६ विहायसि ॥२४१॥
 तमोऽग्निगजमेघादिविद्याः सुनमियोजिताः । तुच्छीकृत्य^७ स^८ विच्छिद्य (?) सहसा भास्करादिभिः^९ ॥२४२॥
 जयपुण्योदयात्सद्यो विजिग्यं^{१०} स्वचराधिपम् । संग्रामेऽनुगुणे देवे^{११} क्षोदिमा बहिमेति^{१२} न ॥२४३॥
 प्रवृत्तप्रावृत्तारम्भमभ्युत्तमभोधरावलिम् । श्लिष्टदृष्ट्यानेकपानीकं^{१३} कौमारं^{१४} जयमारुणत्^{१५} ॥२४४॥
 जयोऽप्यभिमुखीकृत्य विजयाद्धं गजाधिपम् । धीरोद्धतं^{१६} हवा प्राप्तं^{१७} धीरोदात्तोऽजवीन्द्रिदम् ॥२४५॥
 न्यायमार्गाः प्रवर्त्यन्ते सम्यक् सर्वेऽपि चक्रिणाः^{१८} संधामेभिर्दुराचरैः^{१९} कृतस्त्वं पारिपन्थिकः^{२०} ॥२४६॥
 बुद्धिमांस्त्वं तवाहार्यबुद्धिस्त्वमपि^{२१} दूषणम् । कुमार नीयसे^{२२} पापैस्तृतीयं^{२३} तद्विगर्हितम्^{२४} ॥२४७॥
 अन्तःकोपोऽप्ययं^{२५} पापैर्महानुत्थापितो पृथा । सर्वतश्चक्षयो मत्तुः^{२६} सहसा येन^{२७} तादृशः ॥२४८॥

भयंकर हैं, किंकरोंके समान काम करनेवाले हैं, वेगके कारण शब्द कर रहे हैं और जिन्होंने सब दिशाएँ रोक ली है ऐसे वे तीक्ष्ण बाण हम किस किसको नष्ट नहीं करें ? अर्थात् सभीको नष्ट करें यही सोचकर मानो सब सेनापर पड़ रहे थे ॥२४०॥ जिस प्रकार सिंह हाथीपर आक्रमण करता है उसी प्रकार खूब पराक्रमी मेघप्रभ नामके विद्याधरने जयकुमारकी आज्ञासे उस सुनमिपर आक्रमण कर उसे शस्त्रोंके द्वारा आकाशमें ही रोक लिया ॥२४१॥ मेघप्रभने सुनमिके द्वारा चलाये हुए तमोबाण, अग्निबाण, गजबाण और मेघबाण आदि विद्यामयी बाणोंको सूर्यबाण, जलबाण, सिंहबाण और पवनबाण आदि अनेक विद्यामयी बाणोंसे तुच्छ समझकर बहुत शीघ्र नष्ट कर दिया ॥२४२॥ इस प्रकार मेघप्रभने उस युद्धमें जयकुमारके पुण्योदयसे विद्याधरोंके अधिपति सुनमिकी शीघ्र ही जीत लिया सो ठीक ही है क्योंकि देवके अनुकूल रहनेपर छोटापन और बड़प्पनका व्यवहार नहीं होता है । भावार्थ—भाग्यके अनुकूल होनेपर छोटा भी जीत जाता है और बड़ा भी हार जाता है ॥२४३॥ बड़ी हुई वर्षाऋतुके प्रारम्भमें इकट्ठी हुई मेघमालाके समान हाथियोंकी सेनाको उल्लंघन कर अर्ककीतिके पक्षके लोगोंने जयकुमारको रोक लिया ॥२४४॥ इधर धीर और उदात्त जयकुमारने भी अपना विजयार्ध नामका श्रेष्ठ हाथी क्रोधसे प्राप्त हुए धीर तथा उद्धत अर्ककीतिके सामने चलाकर उससे इस प्रकार कहना शुरू किया ॥२४५॥ वह कहने लगा कि चक्रवर्तीके द्वारा सभी न्याय-मार्ग अच्छी तरह चलाये जाते हैं परन्तु इन दुराचारी लोगोंने तुझे उन न्यायमार्गोंका शत्रु बना दिया है ॥२४६॥ हे कुमार, यद्यपि तू बुद्धिमान है परन्तु आहार्य बुद्धिवाला होना अर्थात् दूसरेके कहे अनुसार कार्य करना यह तेरा दोष भी है । इसके सिवाय तू पाप या पापी पुरुषोंके अनुकूल हो रहा है सो यह भी तेरा तीसरा दूषण है ॥२४७॥ इन पापी लोगोंने तेरे अन्तःकरणमें यह बड़ा भारी क्रोध व्यर्थ ही उत्पन्न कर दिया है जिससे भरत महाराजकी सब सेनाका ऐसा एक साथ क्षय हो रहा है ॥२४८॥

१ किङ्करस्वभावाः । २ रुदन्तः । ३ कान् शत्रून् शृणाम काम् शत्रून् न शृणाम न हन्म इति इव । शृ कृ मु हिंसायाम् । लोट् । ४ बाणाः । ५ विद्याधरः । ६ गजाधिपम् । अनेन समबलत्वं सूचितम् । ७ ररोध । ८ सुनमिम् । ९ असाराः कृत्वा । १० विच्छेद तः, बः, पुस्तके विहाय सर्वत्र । ११ सूर्यजलसिंहबाणादिभिः । १२ अजयत् । १३ देवे सहाये सति । १४ क्षुद्रत्वम् । १५ महत्त्वम् । १६ अतिशय । १७ गजबलम् । १८ अर्ककीतिसम्बन्धि । १९ जयकुमारं शरोध । २० अर्ककीतिम् । २१ जयकुमारः । २२ मार्गाणाम् । २३ प्रतीयमानः । २४ विरोधी भूत्वा । २५ प्रेरकोपनीतबुद्धित्वम् । २६ पापोपेतः । २७ मोहनोयं कामं वा । २८ सद्भिः निन्दितम् । २९ पापिष्ठः । ३० कोपेन ।

आहवोऽपरिहार्योऽयं^१ समाद्य भवता सह । अकीर्तिश्चावयो^२ रस्मिन्नाकरूपस्थायिनी ध्रुवम् ॥२४६॥
 चक्री सुतेषु राज्यस्य योग्यं स्वामेव मन्यते । स्यात्तस्यापि मनःपीडा न वेत्यन्यायवर्तनात् ॥२४७॥
^३द्रोणधूमन्यायस्य भूमर्तुस्तव चैतस्ततः क्षणात् । बुधान् सखेचरान् सर्वान् बध्वाद्य भवतोऽप्यथे ॥२४८॥
 नागमाच्छ्रुत्^४ तिष्ठ त्वं काष्ठान्तं^५ प्राप्तिं तो मया । अन्यायो हि पराभूतिर्न तस्यागो^६ महीयसः ॥२४९॥
 कुमार, समरे हानिस्तवैव महती मया । हन्त्यात्माभमनुन्मत्तः^७ कः स तीक्ष्णासिमा स्वयम् ॥२५०॥
 अभव्य इव सङ्घर्मपक्ष्मैस्त्युदीरितम्^८ ।^९आघातयितुमारेभे गजेन स^{१०} गजाधिपम् ॥२५१॥
 तदा जयोऽन्यतिकुद्धो गजयुद्धविशारदः । नवभिर्विजयार्द्धेन दन्तघातैरपातयत्^{११} ॥२५२॥
 नवापि क्रुपितेभेद्रवदन्ताहतिक्षताः । अष्टचन्द्रार्ककीर्तीनां प्रपेतुर्हतदम्बिनः ॥२५३॥
 चक्रिसूनोः पुनः सेनापरितोऽप्याद्^{१२} युयुस्वया^{१३} । तदा तदायुवा^{१४} रक्षदहः^{१५} क्षयमपद्यत् ॥२५४॥
 सोढुमर्कः खलस्तेजो^{१६} जयस्याशक्नुवन्निव । जयन् जयोद्गो^{१७} मञ्छायां संहताशेषदीक्षितः ॥२५५॥
^{१८}शरैरिवोच्चैरारक्तैर्विमुक्तैः खचरान् प्रति । जयीयैः^{१९} स्वाङ्गसंलग्नैः^{२०} क्षरत्क्षतजरञ्जितैः ॥२५६॥
 गतप्रतापः^{२१} कुच्छात्मा सर्वनेत्राग्रिभस्तदा । पपात कातरीभूय करालम्बितभूधरः ॥२५७॥

मेरा आपके साथ जो युद्ध चल रहा है वह आज ही बन्द कर देने योग्य है क्योंकि इससे हम दोनोंकी कल्पान्तकाल तक टिकनेवाली अपकीर्ति अवश्य होगी ॥२४९॥ चक्रवर्ती सब पुत्रोंमें राज्यके योग्य आपको ही मानता है, क्या आपके इस अन्यायमें प्रवृत्ति करनेसे उसके मनको पीडा नहीं होगी ? ॥२५०॥ भरत महाराजके न्यायमार्गका द्रोह करनेवाले तुम्हारे इन सभी दुष्ट पुरुषोंको विद्याधरोंके साथ-साथ बाँधकर आज क्षणभरमें ही तुम्हें सौंप देता हूँ ॥२५१॥ मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप हाथीपर चढ़े हुए यहाँ क्षण भर ठहरिए क्योंकि महा-पुरुषोंका अन्याय करना ही तिरस्कार करना है, अन्यायका त्याग करना तिरस्कार नहीं है ॥२५२॥ हे कुमार, मेरे साथ युद्ध करनेमें तुम्हारी ही सबसे बड़ी हानि है क्योंकि ऐसा कौन सावधान है जो पैनी तलवारसे अपनी आत्माका स्वयं घात करे ॥२५३॥ जिस प्रकार अभव्य जीव समीचीन धर्मको नहीं सुनता उसी प्रकार जयकुमारके कहे हुए वचन अर्ककीर्तिने नहीं सुने और अपने हाथीसे जयकुमारके उत्तम हाथीपर प्रहार करवाना शुरू कर दिया ॥२५४॥ उस समय हाथियोंके साथ युद्ध करनेमें अत्यन्त निपुण जयकुमार भी अधिक क्रोधित हो उठा, उसने अपने विजयार्ध हाथीके द्वारा दाँतोंके नौ प्रहारोंसे अर्ककीर्ति तथा अष्टचन्द्र विद्याधरोंके नौ हाथियोंको घायल करवा दिया ॥२५५॥ अर्ककीर्ति तथा अष्टचन्द्र विद्याधरोंके नौके नौ ही हाथी क्रोधित हुए विजयार्ध हाथीके दाँतोंके नौ प्रहारोंसे घायल होकर जमीनपर गिर पड़े ॥२५६॥ जिस समय जयकुमारने युद्धकी इच्छासे अर्ककीर्तिकी सेनाको चारों ओरसे घेरा उसी समय मानो उसकी आयुकी रक्षा करता हुआ ही दिन अस्त हो गया ॥२५७॥ जो अपनी कान्तिसे जासौनके फूलकी कान्तिको जीत रहा है, जिसने अपनी सब किरणें संकोच ली हैं, जो लाल-लाल किरणोंसे ऐसा जान पड़ता है मानो जयकुमारने विद्याधरोंके प्रति जो बाण छोड़े थे वे सब ही विद्याधरोंके निकलते हुए रुधिरसे अनुरंजित होकर उसके शरीरमें जा लगे हों, जिसका सब प्रताप नष्ट हो गया है, जो क्रूर है और सबके नेत्रोंको अग्रिय है ऐसा वह दुष्ट

१ आहवः परि-ल० । २ युद्धे सति । ३ हस्तुमिच्छन् । ४ तिष्ठात्र ल०, इ०, प०, अ०, स० । ५ क्षणपर्यन्तम् । ६ अन्यायत्यागः । ७ महात्मनः । ८ बुद्धिमान् । ९ एवमुक्तवचनं श्रुत्वा । १० मारयितुम् । ११ अर्ककीर्तिः । १२-रघातयत् ल०, अ०, प०, स०, इ० । १३ अगमत् । १४ योद्धुमिच्छया । १५ यदा इ०, अ०, प० । १६ इव । १७ रक्षतीति रक्षत् । १८ दिवसः । १९ जयकुमारस्य । २० कुसुम । २१ किरणः । २२ जयकुमारसम्बन्धिभिः । २३ लवत् । २४ दुःक्षकारिस्वभावः ।

अर्ककीर्तिं स्वकीर्तिं^१ वा मत्वा रोषेण^२ भास्करः । अस्तं^३ जयजयस्यायात् कुर्वन् कालविलम्बनम् ॥२६१॥
 'स्फुटालोकोऽपि' सद्बृत्तोऽप्यगादस्तमहर्षतिः^४ । आश्रित्य वारुणीं^५ रक्तः^६ को न रात्र्यध्यधोगतिम् ॥२६२॥
 उदये^७ वर्धितच्छायां^८ व्याप्य विश्वं प्रतापवान्^९ । 'दिनेनेनोऽप्यनश्यत्'^{१०} कस्तिष्ठतीव्रकरः परः ॥२६३॥
 इमं^{११} स्वच्छानि विच्छाद्य^{१२} तापहारीणि वा भृशम् । द्रष्टुं सरांस्यनिच्छन्ति^{१३} कक्षाक्षीणि शुचा^{१४} ज्यधुः ॥२६४॥
 'अयनिस्त्रिंशनिस्त्रिंशनिपातपतितान् श्वान् । 'प्राविशन्तिजमीजानि'^{१५} वीक्षितुं विक्षमाः खगाः^{१६} ॥२६५॥
 न प्रतापः प्रभासाऽस्य साहि सदैकपूज्यता । पातः^{१७} प्रत्यहमर्कस्याप्यतर्क्यः^{१८} कर्कशो विधिः^{१९} ॥२६६॥
 कीर्त्त्योपमानतां यातो यातोऽर्कश्चैवदृश्यताम् । उपमेयस्य का वातैत्यवादीश्चिदुषां गणः ॥२६७॥

सूर्य मानो जयकुमारके तेजको न सह सकनेके कारण हो कातर हो अपने करों—किरणोंसे (हाथों—से) अस्ताचलको पकड़कर नीचे गिर पड़ा ॥२५८—२६०॥ वह सूर्य अर्ककीर्तिको अपनी कीर्ति मानकर क्रोधसे जयकुमारके जीतमें विलम्ब करता हुआ अस्त हो गया ॥२६१॥ जिसका आलोक प्रकाश (ज्ञान) स्पष्ट है और जो सद्बृत्त—गोल (सदाचारी) है ऐसे सूर्यको भी अस्त होना पड़ा सो ठीक ही है क्योंकि वारुणी अर्थात् पश्चिम दिशा अथवा मद्यकां सेवन करनेवाला ऐसा कौन है जो नीचेको न जाता हो—अस्त न होता हो—नरक न जाता हो । भावार्थ—जिस प्रकार मद्य पीनेवाला ज्ञानी और सदाचारी होकर भी नीच गतिको जाता है उसी प्रकार सूर्य भी प्रकाशमान और गोल होकर भी पश्चिम दिशामें जाकर अस्त हो जाता है ॥२६२॥ उदय कालसे लेकर निरन्तर जिसकी कान्ति बढ़ती रहती है और जो संसारमें व्याप्त होकर तपता रहता है ऐसा तीव्रकर अर्थात् तीव्र किरणोंवाला सूर्य भी जब एक ही दिनमें नष्ट हो गया तब फिर भला तीव्रकर अर्थात् अधिक टंक्स लगानेवाला और सन्ताप देनेवाला अन्य कौन है जो संसारमें ठहर सके ॥२६३॥ सन्तापको दूर करनेवाले स्वच्छ सरोवर अतिशय कान्तिरहित सूर्यको देखना नहीं चाहते थे इसलिए ही मानो उन्होंने शोकसे अपने कमलरूपी नेत्र बन्द कर लिये थे ॥२६४॥ सब पक्षी अपने-अपने घोंसलोंमें इस प्रकार चले गये थे मानो वे जयकुमारकी तीक्ष्ण तलवारकी चोटसे गिरे हुए विद्याधरोंको देखनेके लिए समर्थ नहीं हो सके हों ॥२६५॥ सूर्यका असाधारण प्रताप है, असाधारण कान्ति है और असाधारण रूपसे ही सब उसकी पूजा करते हैं फिर भी प्रतिदिन उसका पतन हो जाता है इससे जान पड़ता है कि निष्ठुर दैव तर्कका विषय नहीं है । भावार्थ—ऐसा क्यों करता है इस प्रकारका प्रश्न दैवके विषयमें नहीं हो सकता है ॥२६६॥ उस समय विद्वानोंका समूह यह कह रहा था कि जब अर्ककीर्तिके साथ उपमानता—को प्राप्त हुआ सूर्य भी अदृश्य हो गया तब उपमेयकी क्या बात है ? भावार्थ—अर्ककीर्तिके लिए सूर्यकी उपमा दी जाती है परन्तु जब सूर्य ही अस्त हो गया तब अर्ककीर्तिकी तो बात ही

१ निजनामधेयमिव । २ पीडया । ३ जयकुमारस्य । ४ व्यक्तोद्योतोऽपि । व्यक्तदर्शनोऽपीति ध्वनिः । 'आलोको दर्शनोद्योती' इत्यभिधानात् । ५ सद्बृत्तुलमण्डलोऽपीति । सञ्चारित्रोऽपीति ध्वनिः । ६ रविः । ७ पश्चिमाशाम् । मध्यमिति ध्वनिः । ८ अक्षयः अनुरक्तश्च । ९ उद्गमे अग्न्युदये च । १० कान्तिः पक्षे उत्क्रोशः । "छाया स्यादातपाभावे प्रतिबिम्बार्कयोर्वितीः । पालनोत्क्रोशयोः कान्तिसञ्छोभापंक्तिषु स्मृता" इत्यभिधानात् । ११ दिवसेन च । इमः सूर्यः प्रभुश्च । 'इमः सूर्ये प्रभौ' इत्यभिधानात् । १२ अदृश्योऽभूत् । १३ सूर्यम् । १४ विगतकान्तिम् । १५ अनिच्छन्ति । १६ दधति स्म । १७ जयकुमारस्य निशितास्त्रघातेन पतितान् । १८ प्रविष्टाः । १९ आत्मीयकुलायान् । 'कुलायो नीडमस्त्रियाम् ।' इत्यभिधानात् । २० पक्षिणः । २१ पतनम् । २२ क्रूरः । २३ नियतिः कर्म च ।

दुर्निरीक्ष्यः^१ करस्तीक्ष्णैः संतप्तमिजमण्डलः । अलं कुवलयध्वंसी दुस्तुतो^२ दुर्मतिस्तुतः ॥२६८॥

निस्तहायो^३ निरालम्बोऽत्यसोढा^४ परतेजसाम् । सिंहराशिश्चलः क्रूरः सहस्रोच्छ्वित्य^५ मूर्धगः^६ ॥२६९॥

पापरोगी^७ परप्रेयो^८ रवित्रिषममार्गः । रक्तशक्^९ सकलद्वेषी^{१०} वधितामोऽक्रमाग्रगः^{११} ॥२७०॥

^{१२} सता बुधेन मित्रेण^{१३} गुरुणा^{१४} अत्यस्तमाश्रयन् । बहुदोषी^{१५} निषग्वर्षे^{१६} दुश्चिक्षिस्त्य द्वातुः^{१७} ॥२७१॥

तदा बलद्वयामात्याः धित्वा बद्धरूपो नृपः । इत्यध्वर्यं निशायुद्धमनुवय^{१८} न्यषेधयन् ॥२७२॥

ताभ्यां^{१९} तत्रैव सा रात्रिर्नेतमिष्टा रणाक्रमणे । मटतीक्ष्णनासहध्वेदनारावर्भाषणे ॥२७३॥

क्या है ? ॥ २६७ ॥ जो बड़ी कठिनतासे देखा जाता है, अपनी किरणोंसे तीक्ष्ण—ऊष्ण है, जिसने अपना मण्डल भी सन्तप्त कर लिया है, जो कुवलय अर्थात् कुमुदोंका ध्वंस करनेवाला है, बड़े कष्टसे जिसका उदय होता है अथवा जिसका पुत्र — शनि दुष्ट है, दुर्बुद्धि लोग ही जिसकी स्तुति करते हैं, जो सहायरहित है, आधाररहित है, जो चन्द्र आदि ज्योतिषियोंका तेज सह नहीं सकता, सिंह राशिपर है, चंचल है, क्रूर है, सहसा उछलकर मस्तकपर चलता है, पाप रोगी है, दूसरेके सहारेसे चलता है, विषममार्ग — आकाशमें चलता है, रक्तशक्—लाल किरणोंवाला है, सकल — कलासहित—चन्द्रमाके साथ द्वेष करनेवाला है, दिशाओंको बढ़ानेवाला है और पैररहित—अरुण नामका सारथि जिसके आगे चलता है, ऐसा सूर्य, बुधग्रह और गुरु (बृहस्पति ग्रह) नामके सज्जन मित्रोंके साथ होनेपर भी अच्छे-अच्छे वैद्य भी जिसका इलाज नहीं कर सकते ऐसे बहुदोषी—अनेक दोषवाले (पक्षमें रात्रिवाले) रोगीके समान अस्त हो गया सो ठीक ही है क्योंकि दुष्ट होनेके कारण जिसकी ओर कोई देख भी नहीं सकता है, जो अधिक टेंक्स वसूल करनेके कारण तीक्ष्ण है, जो अपने परिवारके लोगोंको भी सन्ताप देनेवाला है । कुवलय अर्थात् पृथिवीमण्डलका खूब नाश करनेवाला है, जिसका पुत्र खराब है, मूर्ख ही जिसकी स्तुति करते हैं, जो सहायक मित्रोंसे रहित है, दुर्ग आदि आधारोंसे रहित है, अन्य प्रतापी राजाओंके प्रतापको सहन नहीं करता है, सिंह राशिमें जिसका जन्म हुआ है, चञ्चल है, निर्दय है, जरा-जरा सी बातोंमें उछलकर शिरपर सवार होता है — असहनशील है, बुरे रोगोंसे घिरा हुआ है, दूसरेके कहे अनुसार चलता है, विषम मार्ग—अन्याय मार्गमें चलता है, रक्तशक्—जिसे खूनकी बीमारी है, जो सबके साथ द्वेष करता है, जिसकी तृष्णा बड़ी हुई है और बिना क्रमके प्रत्येक कार्यमें आगे आगे आता है, ऐसे अनेक दोषवाले राजाका लाइलाज रोगीकी तरह बुद्धिमान् मित्र और सज्जन गुरुके साथ होनेपर भी नाश होता ही है ॥२६८—२७१॥ उस समय दोनों सेनाओं-के मन्त्रियोंने क्रोधित हुए उन दोनों राजाओंके पास जाकर रात्रिमें युद्ध करना अधर्म है ऐसा नियम कर उन्हें युद्ध करनेसे रोका ॥ २७२ ॥ उन दोनोंने योद्धाओंके तीव्र घावोंकी असह्य वेदनाजनित चिल्लाहटसे भयंकर उसी रणके मैदानमें रात्रि व्यतीत करना अच्छा समझा

१—स्तीक्ष्णाः अ०, प०, स०, इ०, ल० । २ कष्टोत्पत्तिः अशोभनपुत्रवत् । ३ त्यसोढा ट० । ४ प्रदोषानां शत्रूणां च तेजसाम् । ५ सिंहराशिस्थितः । ६ ऊर्ध्वगो भूत्वा । ७ शिरसा गच्छन् । ८ कुष्ठरोगी । ९ रक्त-किरणः । रक्तरोगी च रक्तानां घातको वा । १० चन्द्रद्वेषी सकलजनद्वेषी च । ११ बद्धितदिक् बद्धिता-भिलाषश्च । १२ अनूर्वग्रगामी । 'सूरसूतोऽरुणोऽनूहः' इत्यभिधानात् । अक्रमाग्रगामी च । १३ उत्कृष्टेन विश्रमामेनेति च । १४ सोमसुतेन । विदुषा च । १५ बृहस्पतिना, उपदेशकेन सहितोऽपीत्यर्थः । १६ प्रचुर-राशिः । वातदोषवांश्च । १७ व्याधिपीडित । १८ निर्बन्धं कृत्वा । १९ अर्ककीतिजयकुमाराम्याम् ।

प्रतीची^१ येन^२ जायेऽहमगिल^३ हस्करम्^४ । इति सन्ध्याच्छलेना^५ हस्तत्र^६ कोपमिवागतम् ॥२७४॥
 लज्जे^७ संपर्कमर्केण कर्तुं लोचनगोचरं^८ । इयं वेलेति वा सन्ध्याऽप्यन्वगावात्तविग्रहा^९ ॥२७५॥
 अगादहः^{१०} पुरस्कृत्य मामर्को रात्रिगामिना । तेन^{११} पश्चात्कृतेऽतीव शोकात् सन्ध्या व्यलीयत^{१२} ॥२७६॥
 तमः सर्व^{१३} तदा व्यापत् क्वचिदूर्जनं गुहादिषु । शत्रुशेषं न कुर्वन्ति तत एव त्रिचक्षणाः ॥२७७॥
 अवकाशं प्रकाशस्य यथास्मानमभात् पुरा । तथैव तमसः पश्चाद् धिक्महर्षं विहायसः^{१४} ॥२७८॥
 तमोक्लान् प्रदीपादिप्रकाशाः प्रदिर्वापिरे^{१५} । जिनेनेव विनेनेन^{१६} कली कण्ट कुलिङ्गिनः ॥२७९॥
 तमोविमोहित^{१७} विह्वल^{१८} प्रक्षोभयितुमुद्धतः । विधिनेव सुधाकुम्भो^{१९} दीर्घर्णो विधुस्त्वयौ ॥२८०॥
 चन्द्रमाः^{२०} करनालीभिरपिबद् बहलं तमः । वृद्धकास^{२१} क्षय^{२२} हातुं धूमपानमिवाचरन् ॥२८१॥
 निःशेषं नाशकदम्बं ध्वास्तं हरिणलान्छनः । अशुद्धमण्डलो हन्याद्विधतापः कथं रिपून् ॥२८२॥
 विधुं तत्करसंस्पर्शाद् बृशभासन् त्रिकासिभिः । सरस्यो ह्लादयन्त्यो^{२३} वा मुदा कुमुदलोचनैः ॥२८३॥

॥२७३॥ सन्ध्याके बहानेसे दिन लाल लाल हो गया, मानो जिससे मैं पैदा हुआ हूँ उस सूर्यको यह पश्चिम दिशा निगल रही है यही समझकर उसे क्रोध आ गया हो ॥ २७४ ॥ मैं सबके देखते हुए सूर्यके साथ सम्बन्ध करनेके लिए लज्जित होती हूँ यही समझकर मानो सन्ध्या-की बेला भी शरीर धारण कर सूर्यके पीछे पीछे चली गयी ॥२७५॥ सूर्य जब दिनके पास गया था तब मुझे आगे कर गया था परन्तु अब रात्रिके पास जाते समय उसने मुझे पीछे छोड़ दिया है इस शोकसे ही मानो सन्ध्या वहीं विलीन हो गयी थी ॥ २७६ ॥ दिनके समय जो अन्धकार किन्हीं गुफा आदि स्थानोंमें छिप गया था उस समय वह सबका सब आकर फैल गया था सो ठीक ही है क्योंकि चतुर लोग इसलिए ही शत्रुको बाकी नहीं छोड़ते हैं — उसे समूल नष्ट कर देते हैं ॥ २७७ ॥ आकाशने जिस प्रकार पहले प्रकाशके लिए अपनेमें स्थान दिया था उसी प्रकार पीछेसे अन्धकारके लिए भी स्थान दे दिया इसलिए आचार्य कहते हैं कि आकाशके इस बड़प्पनको धिक्कार हो । भावार्थ — बड़ा होनेपर भी यदि योग्य-अयोग्यका ज्ञान न हुआ तो उसका बड़प्पन किस कामका है ? ॥ २७८ ॥ जिस प्रकार कलिकालमें जिनेन्द्रदेवके न होनेसे अज्ञानके कारण अनेक कुलिङ्गियोंका प्रभाव फैलने लगता है उसी प्रकार उस समय सूर्यके न होनेसे अन्धकारके कारण अनेक दीपक आदिका प्रकाश फैलने लगा था ॥ २७९॥

इतनेमें चन्द्रमाका उदय हुआ जो ऐसा जान पड़ता था मानो अन्धकारसे मोहित हुए समस्त संसारको जगानेके लिए विधाताने अमृतसे भरा हुआ चाँदीका कलश ही उठाया हो ॥२८०॥ उस समय चन्द्रमा अपनी किरणरूपी नालियोंके द्वारा गाढ़ अन्धकारको पी रहा था और उससे ऐसा जान पड़ता था मानो जिसमें खाँसी बढ़ी हुई है ऐसे क्षय रोगका नाश करनेके लिए धूम्रपान ही कर रहा हो ॥ २८१ ॥ चन्द्रमा सम्पूर्ण अन्धकारको नष्ट करनेके लिए समर्थ नहीं हो सका था सो ठीक ही है क्योंकि जिसका मण्डल अशुद्ध है और जो प्रतापरहित है वह शत्रुओंको कैसे नष्ट कर सकता है ? ॥ २८२ ॥ तालाबोंमें चन्द्रमाके किरणोंके स्पर्शसे कुमुद खूब फूल रहे थे और उनसे वे ऐसे जान पड़ते थे मानो खिले हुए कुमुदरूपी नेत्रोंके द्वारा चन्द्रमा

१ अहस्करेण । २ प्रादुर्भवामि । ३ गिलति स्म । ४ दिवसः । ५ प्रतीच्याम् । ६ ह्रीवती भवानि । ७ दृष्टि-विषये प्रवेशे । बहुजनप्रवेशे इत्यर्थः । ८ स्वीकृतशरीराः । ९ आगच्छति स्म । १० दिवसम् । ११ पुष्ते कृताह-मिति । १२ विलयं गता । १३ सर्वत्र विश्वं जगत् । १४ आकाशस्य । १५ तिमिरप्राबल्यात् । पक्षे आकाश-सामर्थ्यात् । १६ प्रकाशन्ते स्म । १७ रक्षिणा । १८ मूढीकृतम् । १९ जगद् । २० राजतः । २१ किरण-नालीभिः । २२ कुत्सितगतिम् वृद्धप्रकाशं वा । २३ क्षयव्याधिम् । २४ कलंकयुतमण्डलः । शत्रुसहितमण्डलश्च । २५ मुदं नयन्ति वा ।

उत्थितः^१ पिलकोऽस्माकं विधुर्गण्डस्य^२ ओपरि । का^३ जीविकेति^४ निर्विण्णाः प्रायः^५ प्रोषितयोषितः^६ ॥ २८४ ॥
लघ्वचन्द्रबलस्योच्चैः स्मरस्य परितोषिणः । अट्टहास इवाशेषं साक्रदचन्द्रात्पोऽत^७ ॥ २८५ ॥
रुद्धो रागाङ्कुरश्चित्ते प्रम्लानो भानुमानुभिः । तदा चन्द्रिकया^८ प्राच्यवृष्टयेवावर्द्धताङ्गिनाम् ॥ २८६ ॥
खण्डितानां तथा तापो नामूद्भास्कररश्मिभिः । यथांशुभिस्तु^९ पारांशोर्विचित्रा द्रव्यशक्तयः ॥ २८७ ॥
खण्डनादेव^{१०} कान्तानां^{११} ज्वलितो मदनानलः । जाडवलीत्ययमे^{१२} तेने^{१३} त्यस्यजन्मधु^{१४} काश्चन ॥ २८८ ॥
बृथाभिमानविभ्रंसी नापरं मधुना विना । कलहान्तरिताः काश्चिरसखीभिरतिपायिताः^{१५} ॥ २८९ ॥
प्रेम नः^{१६} कृत्रिमं नैतत् किमनेनेति^{१७} काश्चन । दूराद्देवात्यजन् स्मरधाः श्राविका वाऽऽसवारिकम्^{१८} ॥ २९० ॥
मधु त्रिगुणितस्वादु^{१९} पीतं कान्तकरापितम्^{२०} । कान्ताभिः^{२१} कामदुर्गारमातङ्गमदुर्गहनम् ॥ २९१ ॥
इत्यादिभिर्वितानङ्गरसास्ताः प्रियसङ्गमात् । प्रीतिं वाग्गोचरातीतां स्वीचक्रवर्कशीक्षणाः^{२२} ॥ २९२ ॥

को हर्षसे प्रसन्न ही कर रहे हों । विशेष—इस श्लोकमें सरसी शब्दके स्त्रीलिंग होने तथा कर शब्दके श्लिष्ट हो जानेसे यह अर्थ ध्वनित होता है कि जिस प्रकार स्त्रियाँ अपने पतियोंके हाथका स्पर्श पाकर प्रसन्न हुए नेत्रोंसे उन्हें हर्षपूर्वक आनन्दित करती हैं उसी प्रकार सरसियाँ भी चन्द्रमाके कर अर्थात् किरणोंका स्पर्श पाकर प्रफुल्लित हुए कुमुदरूपी नेत्रोंसे उसे हर्षपूर्वक आनन्दित कर रही थीं ॥ २८३ ॥ प्रायः विरहिणी स्त्रियाँ यह सोच-सोचकर विरक्त हो रही थीं कि यह चन्द्रमा हमारे गालपर फोड़ेके समान उठा है अर्थात् फोड़ेके समान दुःख देनेवाला है इसीलिए अब जीवित रहनेसे क्या लाभ है ? ॥ २८४ ॥ जिसे चन्द्रमाका बल प्राप्त हुआ है और इसीलिए जो जोरसे शरीरमें मग्न हुआ है उसे कामदेवके अट्टहासके समान चन्द्रमाका गाढ़ प्रकाश सब ओर फैल गया था ॥ २८५ ॥ मनुष्योंके हृदयमें उत्पन्न हुआ जो रागका अंकुरा सूर्यकी किरणोंसे सुरक्षा गया था वह भारी अथवा पूर्व दिशासे आनेवाली वर्षाके समान फैली हुई चाँदनीसे उस समय खूब बढ़ने लगा था ॥ २८६ ॥ खण्डिता स्त्रियोंको सूर्यकी किरणोंसे वैसा संताप नहीं हुआ था जैसा कि चन्द्रमाकी किरणोंके स्पर्शसे हो रहा था सो ठीक ही है क्योंकि पदार्थोंकी शक्तियाँ विचित्र प्रकारकी होती हैं ॥ २८७ ॥ प्रिय पतिके विरहसे ही जो कामरूपी अग्नि जल रही थी वह इस मद्यसे ही जल रही है ऐसा समझकर कितनी ही विरहिणी स्त्रियोंने मद्य पीना छोड़ दिया था ॥ २८८ ॥ मद्यके सिवाय व्यर्थके अभिमानको नष्ट करने-वाला और कोई पदार्थ नहीं है यही सोचकर कितनी ही कलहान्तरिता स्त्रियोंको उनकी सखियोंने खूब मद्य पिलाया था ॥ २८९ ॥ हमारा यह प्रेम बनावटी नहीं है इसलिए इस मद्यके पीनेसे क्या होगा ? यही समझकर कितनी ही प्रेमिकाओंने श्राविकाओंके समान मद्य आदिको दूर से ही छोड़ दिया था ॥ २९० ॥ कितनी ही स्त्रियाँ कामदेवरूपी दुर्निवार हाथीके भदको बढ़ाने-वाले स्वादिष्ट मद्यको पतिके हाथसे दिया जानेके कारण दूना पी गयी थीं ॥ २९१ ॥ इस प्रकार जिनके कामका रस प्रकट हुआ है और जिनकी दृष्टि कुछ-कुछ तिरछी हो रही है ऐसी स्त्रियाँ

१ पिटको ल०, अ०, इ०, स०, प० । पिटकः स्फोटकः । 'विस्फोटः पिटकस्त्रिषु' इत्यभिधानात् ।
२ गलगण्डस्य । 'गलगण्डो गण्डमाला' इत्यभिधानात् । ३ जीवितम् । ४ उद्वेगपराः । दुःखे तत्परा इत्यर्थः ।
५ विमुक्तभर्तृकाः स्त्रियः । ६ व्याप्नोति स्म । ७ प्रथमवृष्ट्या । ८ विरहिणीनां योषिताम् । ९ चन्द्रस्य ।
१० वियोगात् । ११ प्रियतमानां पुंसाम् । १२ भूषं ज्वलति । १३ दावाग्निः । १४ मध्येन । १५ मद्यम् ।
१६ मद्यपानं कारिताः । १७ अस्माकम् । १८ मध्येन । १९ मद्यादिकम् । २० त्रिगुणितं स्वादु इत्यपि पाठः ।
२१ प्रियतमकरेण दत्तम् । २२ कामदुःपूरः — ट० । पूरयितुमशक्यः । २३ वामलोकनाः ।

तत्र काचिद् प्रिय वीक्ष्य कथाशेषं ह्रियच्छरेः । स्वयं कामशरैरश्रुताङ्गी खिन्नमभूद् व्यसुः^१ ॥ २९३ ॥
 शरीरनुपलक्ष्याङ्गं वीक्ष्य काममजानती । परा परासुता^२ प्रापञ्चात्वाऽऽत्मविहितव्रणैः^३ ॥ २९४ ॥
 मया निवारितोऽप्यार्या वीरलक्ष्मीप्रियः प्रिय । तत्कठोरव्रणैरेवं जातोऽसीति मृता^४ परा ॥ २९५ ॥
 मां निवार्य सहायान्तो कीर्तिं स्वीकर्तुमागमः^५ । निर्मलेति विपर्यस्तो^६ जानन्नपि बहिष्करीभू ॥ २९६ ॥
 स्थिता तत्रैव सा कीर्तिः किं^७ वदन्ति^८ नरोऽन्तरम् । इतिसासू^९ यमुक्त्वाऽन्या^{१०} प्रायासीत्^{११} प्रियपद्वतिम् ।
 न किं निवारिताऽप्यार्या^{१२} स्वया साङ्गं विचेतना^{१३} । सन्निधौ मे किमेवं त्वां नयन्ति गणिकाप्रमाः^{१४} ॥ २९७ ॥
 अस्तु किं^{१५} यातमद्यापि तत्र^{१६} त्वान हराणि^{१७} किम् । विलप्यैवं कलालापा काचित्^{१८} कान्तानुगाऽभवत् ॥ २९८ ॥
 शरनिर्मितसर्पाङ्गः कीलितासुरिन्नापरः । कान्तागमं प्रतीक्ष्यस्त लोचनस्थितजीवितः ॥ ३०० ॥
 कोपदष्टधिमूर्कौर्ध्वं कास्तमालोक्य कामिनी । वीरलक्ष्म्या कृतासूया क्षणकोपाऽसुसम्यजत् ॥ ३०१ ॥
 हृदि निर्मिन्ननाराचो सत्त्वा कान्तां हृदि स्थिताम् । हा मृतेयं वराकीर्तिं^{१९} प्राणान् कश्चिद् व्यसर्जयत् ॥ ३०२ ॥

पतिके समागम होनेसे वचनातीत आनन्दका अनुभव कर रही थीं ॥ २९२ ॥ उन स्त्रियोंमें-से कोई स्त्री अपने पतिको शत्रुओंके बाणोंसे मरा हुआ देखकर आश्चर्य है कि कामके बाणोंसे शरीर क्षत न होनेपर भी स्वयं मर गयी थी ॥ २९३ ॥ अन्य कोई अजान स्त्री घावोंसे जिसके अंग उपांग ठीक-ठीक नहीं दिखाई देते ऐसे अपने प्रिय पतिको देखकर और उन्हें अपने-द्वारा ही किये हुए घाव समझकर प्राणरहित हो गयी थीं ॥ २९४ ॥ हे प्रिय, तुम्हें वीर लक्ष्मी बहुत ही प्यारी थी इसीलिए मेरे रोकनेपर भी तुम उसके पास आये थे अब उसी वीरलक्ष्मीके कठोर घावोंसे तुम्हारी यह दशा हो रही है यह कहती हुई कोई अन्य स्त्री मर गयी थी ॥ २९५ ॥ हे प्रिय, मैं उसी समय आपके साथ आ रही थी परन्तु आप मुझे रोककर कीर्तिको स्वीकार करनेके लिए यहाँ आये थे, यद्यपि आप यह जानते थे कि कीर्ति सदा बाहर घूमनेवाली (स्वैरिणी-व्यभिचारिणी) है तथापि यह शुद्ध है ऐसा आपको अम हो गया, अब देखिए, वह कीर्ति वहाँ रह गयी, हाय, क्या मनुष्य हृदय अथवा विरहको जानते हैं ? इस प्रकार ईर्ष्याके साथ कहकर अन्य कोई स्त्री अपने पतिके मार्गपर जा पहुँची थी अर्थात् पतिको मरा हुआ देखकर स्वयं भी मर गयी थी ॥ २९६-२९७ ॥ हे प्रिय, रोकी जाकर भी मैं मूर्खा आपके साथ क्यों नहीं आयी ? क्या मेरे समीप रहते ये नीच वेश्याएँ (स्वर्गकी अप्सराएँ) इस प्रकार तुम्हें ले जातीं ? खैर, अब भी क्या गया ? क्या मैं वहाँ उनसे तुम्हें न छीन लूँगी ! इस प्रकार विलाप कर मधुर स्वरवाली कोई स्त्री अपने पतिकी अनुगामिनी हुई थी अर्थात् वह भी मर गयी थी ॥ २९८-२९९ ॥ जिसका सब शरीर बाणोंसे छिन्न-भिन्न हो गया है, और इसलिए ही जिसके प्राण कीलित-से हो गये हैं तथा नेत्रोंमें ही जिसका जीवन अटका हुआ है ऐसा कोई योद्धा अपनी स्त्री-के आनेकी प्रतीक्षा कर रहा था ॥ ३०० ॥ जिसने क्रोधसे अपने ओठ डसकर छोड़ दिये हैं ऐसे अपने पतिको देखकर क्षण-भर क्रोध करती और वीरलक्ष्मीके साथ ईर्ष्या करती हुई किसी अन्य स्त्रीने अपने प्राण छोड़ दिये थे ॥ ३०१ ॥ जिसके हृदयमें बाण धुस गया है ऐसे किसी योद्धाने

१ वार्तयेवावशिष्टं प्रियं श्रुत्वेत्यर्थः । २ वैरिणां बाणैरुपलक्षितम् । ३ विगतप्राणः । ४ व्रणैः । ५ पञ्चत्वम् । ६ प्राप ल०, अ०, स०, इ०, प० । ७ आत्मना नखदन्तकृतव्रणैः । ८ आगमः । ९ वीरलक्ष्म्या निष्ठुरम् । १० ममार । ११ आगच्छ । १२ वैपरीतं नीतः । १३ वञ्चित इत्यर्थः । १४ विदन्ति ल० । १५ नरः मनुष्याः अन्तरं विरहम् । १६ नरोत्तरमिति पाठे उत्तमपुरुषम् । १७ अमूयासहितं यथा भवति तथा । १८ आगात् । १९ प्रियतमस्य मर्गम् । मृतिमित्यर्थः । १८ आगच्छम् । १९ वराक्यहम् । २० अमुक्यदेवस्थियः । २१ भवतु वा । २२ गमनम् । २३ स्वर्गं । २४ अपि तु हराण्येव । २५ प्रियतमस्यानुगामिन्यभूत् । कान्तास्मरणेन स्मरवशोऽभूदित्यर्थः । २६ सद्यः प्राणान् व्यसर्जयत् ल० ।

शस्त्रात्मिष्वसर्वाङ्गमन्तको नेतुमानतः । कान्ता चिन्तापरं कन्तुस्वद्वस्ताद्वत्तापरम् ॥३०३॥
 कण्ठे^१ चालिङ्गितः प्रेमशोकाभ्यां प्रियया परः । ध्यात्वा तं स्यन्देहोऽगात् निर्माणं^२ मयमनया ॥३०४॥
 श्वः^३ स्वर्गे किं किमग्रे^४ संगमो नी^५ न संशयः । तत्र^६ त्वं शत्रुकान्तोऽस्य^७ रमेऽस्य^८ न्याह मयनम् ॥३०५॥
 अत्र वाऽमुत्र^९ वासोऽस्तु किं तथा चिन्तयावयोः । वियोगः क्वापि नास्तीति कान्ता कान्तमनयेन ॥३०६॥
 सद्यतो वीरलक्ष्मीं^{१०} च क्रीडति^{११} वैहि^{१२} विशयुषां । हन्ते^{१३} मातृव्यं कामोऽस्य^{१४} कान्ताऽवदद्रुपा ॥३०७॥
 जयस्य विजयः प्राणैस्तवैतद् विनिश्चितम् । मयतावय यास्यावो दिवसिन्यग्र्यान् परम् ॥३०८॥
 शराः पौष्पास्तव त्वं च^{१५} संयुक्तेष्वतिकीर्तनः^{१६} । तत्र^{१७} विज्ञानसारोऽसि पुरुषेभ्यो भयं नव ॥३०९॥
 भावसाः^{१८} सात्यकाः काम एवमप्यस्माकमन्तकः । इति कामं समुद्दिश्य खण्डिताः^{१९} स्वगतं^{२०} जगुः^{२१} ॥३१०॥
 सा रात्रिरिति संहारं^{२२} प्रेमप्राणैरनीयत । तावन् संध्याऽगता रागाद् राक्षसीवेक्षितुं रणम् ॥३११॥

अपनी स्त्रीको अपने हृदयमें स्थित मानकर तथा हाथ, यह बेचारी इस बाणसे व्यर्थ ही मरी जा रही है ऐसा समझकर शीघ्र ही अपने प्राण छोड़ दिये थे ॥३०२॥ जिसका सब शरीर शस्त्रोंसे छिन्न-भिन्न हो गया है ऐसे किसी अन्य योद्धाको यमराज लेनेके लिए आ गया था परन्तु स्त्रीकी चिन्तामें लगे हुए उसे कामदेवने यमराजके हाथसे छुड़ा लिया था ॥३०३॥ प्रेम और शोकके कारण अपनी स्त्रीके द्वारा गलेसे आलिङ्गन किया हुआ कोई घावसहित योद्धा उसी प्रियाका ध्यान कर तथा शरीर छोड़कर उसीके साथ मर गया ॥३०४॥ किसी योद्धाने व्रत धारण कर लिये थे इसलिए उसकी स्त्री उससे कह रही थी कि कल स्वर्गमें न जाने क्या-क्या होगा ? इसमें कुछ भी संशय नहीं है कि हम दोनोंका समागम यहाँ हो सकता है, चूँकि तुम्हें स्वर्गमें बहुत-सी स्त्रियाँ मिल जायेंगी इसलिए मैं आज यहाँ ही क्रीड़ा करूँगी ॥३०५॥ हम दोनोंका निवास चाहे यहाँ हो, चाहे परलोकमें हो, उसकी चिन्ता ही नहीं करनी चाहिए । क्योंकि हम लोगोंका वियोग तो कहीं भी नहीं हो सकता है इस प्रकार कहती हुई कोई स्त्री अपने पतिको सन्तुष्ट कर रही थी ॥३०६॥ कोई स्त्री क्रोधपूर्वक अपने पतिसे कह रही थी कि तुम तो व्रत धारण कर वीर लक्ष्मी और कीर्तिको प्राप्त होओ — उनके पास जाओ, दीर्घ आयु होनेके कारण यह कामदेव मुझे ही मारे ॥३०७॥ कोई स्त्री अपने पतिसे कह रही थी कि यह निश्चित है कि जयकुमारकी जीत तेरे ही प्राणोंसे होगी और व्रतोंके धारण करनेवाले हम दोनों ही आज स्वर्ग जावेंगे ॥३०८॥ खण्डिता स्त्रियाँ कामदेवको उद्देश्य कर अपने मनमें कह रही थी कि अरे काम, संयोगी पुरुषोंपर पड़ते समय तेरे बाण फूलोंके हो जाते हैं और तू भी बहुत छण्डा हो जाता है, उन पुरुषोंके पास तेरे बलकी सब पराज हो जाती है, वास्तवमें तू पुरुषोंसे डरता है परन्तु हम स्त्रियोंपर पड़ते समय तेरे बाण लोहेके ही रहते हैं, और तू भी यमराज बन जाता है । भावार्थ — तू पुरुषोंको उतना दुःखी नहीं करता जितना कि हम स्त्रियोंको करता है ॥३०९—३१०॥ प्रेमरूपी प्राणोंको धारण करनेवाले स्त्री-पुरुषोंने इस प्रकारकी बातचीतके द्वारा ज्यों ही वह रात्रि पूर्ण की त्यों ही रागसे संग्राम देखनेके लिए आयी हुई राक्षसीके समान सन्ध्या (सवेरेकी लाली) आ गयी ॥३११॥

१ कण्ठेनालिङ्गितः ६०, अ०, स०, प० । २ मरणम् । ३ अनन्तरागामिदिते । ४ स्यादिति न जाने इति संबन्धः । ५ आवयोः । ६ स्वर्गे । ७ क्रीडामि । ८ स्वर्गे । ९ सनियमः । १० गच्छ । ११ सनियमावावाम् । १२ संगतेषु स्त्रीपुरुषेषु । १३ अतिशयेन सुखहेतुः । १४ संयुक्तस्त्रीपुरुषेषु । १५ अयस्संबन्धितः । १६ पुरुष-विमुक्ताः । १७ स्वाभिप्रायम् । १८ भणन्ति स्म । १९ मिथो भावणैः । २० प्रेम इव प्राणा मेवा तैः ।

प्राभातानककोटीनां निःस्वनः सेनयोः समम्^१ । आक्रामति स्म दिक्चक्रमक्रमेणोच्चरैस्तदा ॥३१२॥
 प्रनीच्याऽपि युतश्चन्द्रो मयैवोदेति भास्करः । इति स्नेहादिषु प्राची प्रागभाकुदयाद्वेः ॥३१३॥
 सरसां^२ कमलाक्षिभ्यः प्रबुधानां तदा मुदा । निर्यया स्वार्थमादाय निद्रेष अमरावली ॥३१४॥
 गतायां स्वेन गङ्गायं पशिन्यां स्वोदये रविः । लक्ष्मीं निजकरेणोच्चैर्विदधे सा हि मित्रता^३ ॥३१५॥
 रक्तः^४ करः यमाक्षिप्य संख्यां सद्यो व्यरज्यते^५ । वदन्निव रविर्मोगान् पर्यस्त^६ विरसान् स्फुटम् ॥३१६॥
^७पर्यन्तं^८ पूरेयतां स्वां सन्ध्यामिति केर्यया^९ । इति रक्तगणितं स्थित्यै^{१०} प्राप्यक्षमतं^{११} न क्षणम् ॥३१७॥
^{१२}शयिन्वा^{१३} वीरशय्यायां निशां नीत्वा नियामिनः^{१४} । ज्ञात्वा सर्वपिताशेषदीनामाथवनीपकाः ॥३१८॥
 अस्त्रिणा विविना स्तुन्वा जिनेन्द्रास्त्रिजगत्तान् ।^{१५} अतिष्ठन्नायकाः सर्वे परिरिक्त्य रणेनमुखाः ॥३१९॥
 अरिज्यालयमारुह्य रथं श्वेताश्वयोजितम् । गृहीत्वा बज्रकाण्डं च दत्तं यक्षकिणा द्वयम्^{१६} ॥३२०॥
 बन्दिमाराधयन्नेन^{१७} बन्धमानाङ्गमालिकः । गजध्वजं^{१८} समुत्थाप्य जयलक्ष्मीसमुत्सुकः ॥३२१॥
 जयो ज्यास्फालनं कुर्वन् कृताभ्युक्तिताकृतिः । द्विपानां^{१९} भयणस्तस्थौ दिशामव्याहरन् मदम् ॥३२२॥
^{२०}उपोदयायशस्कीर्तिः अर्ककीर्तिश्च्युतच्छविः ।^{२१} कारागारमिषाध्याप्य स्यन्दनं मन्दवाजिनम् ॥३२३॥

उसी समय दोनों सेनाओंमें साथ-साथ उठनेवाले प्रातःकालीन करोड़ों बाजोंके शब्दोंने एक साथ सब दिशाएँ भर दीं ॥३१२॥ यद्यपि चन्द्रमा पश्चिम दिशाके साथ है तथापि सूर्य तो मेरे ही साथ उदय होगा इसी प्रेमसे मानो पूर्व दिशा सूर्योदयसे पहले ही सुशोभित होने लगी थी ॥३१३॥ उस समय भ्रमरोंकी पंक्ति तालाबोंके फूले हुए (पक्षमें जागे हुए) कमलरूपी नेत्रोंसे अपना इष्ट पदार्थ लेकर निद्राके समान बड़ी प्रसन्नताके साथ निकल रही थी ॥३१४॥ कमलिनी मेरे अस्त होते ही संकुचित हो गयी थी, इसलिए सूर्यने अपना उदय होते ही अपने ही किरणरूपी हाथोंसे उसपर बहुत अच्छी शोभा की थी सो ठीक ही है क्योंकि मित्रता यही कहलाती है ॥ ३१५ ॥ रक्त अर्थात् लाल (पक्षमें प्रेम करनेवाला) सूर्य, कर अर्थात् किरणों (पक्षमें हाथों) से सन्ध्याका आलिंगन कर शीघ्र ही विरक्त अर्थात् लालिमारहित (पक्षमें रागहीन) हो गया था सो मानो वह यही कह रहा था कि ये भीम अन्त समयमें नीरस होते हैं ॥३१६॥ इस सूर्यने पहलेके समान ही अपनी सन्ध्यारूपी स्त्रीका आलिंगन किया है इस ईर्ष्यासे ही मानो पूर्व दिशाने सूर्यको प्रेमपूर्ण अथवा लाल वर्ण होनेपर भी अपने पास क्षण-भर भी नहीं ठहरने दिया था ॥३१७॥ व्रत-नियम पालन करनेवाले सेनापतियोंने वीरशय्यापर शयन कर रात्रि व्यतीत की । सवेरे स्नान कर सत्र दीन, अनाथ तथा याचकोंको सन्तुष्ट किया, त्रिजगद्वन्द्व जिनेन्द्र देवकी विधिपूर्वक पूजा कर स्तुति की और फिर वे अपनी-अपनी सेनाका विभाग कर युद्धके लिए उत्सुक हो खड़े हो गये ॥३१८-३१९॥ बन्दीजन और माराध लोगोंका समूह जिसके नामके अक्षरोंकी स्तुति करते हैं जो विजयलक्ष्मीके लिए उत्सुक हो रहा है, जिसका आकार यमराजके समान विकृत है, जो दिग्गजोंके भी मदको हरण करनेवाला है और भयंकर है ऐसा जयकुमार सफेद घोड़ोंसे जुते हुए अरिजय नामके रथपर सवार होकर और बज्रकाण्ड नामका वह धनुष जो कि पहले चक्रवर्तीने दिया था, लेकर हाथीकी ध्वजाको उड़ाता तथा धनुषकी डोरीका आस्फालन करता हुआ खड़ा हो गया ॥३२०-३२२॥ जिसकी अपकीर्तिका उदय

१ युगपत् । २ सरोवराणाम् । ३ बृद्धी वृद्धिः क्षये क्षयश्च । ४ अरुणः अनुरक्तश्च । ५ विरक्तोऽभूत् । ६ अवसाने निस्साराणि इति वदन्ति वेति संबन्धः । ७ आलिलिङ्ग । ८ अनुरक्तम् । ९ निवसनाय । १० पूर्वादिक् । ११ न सहते स्म । १२ शयनं कृत्वा । १३ नियमवन्तः । १४ तिष्ठन्ति स्म । १५ रथबज्रकाण्डबाणद्वयम् । पुरा ल० । १६ स्तूयमान । १७ गजाङ्कितध्वजम् । १८ भयंकरः । १९ उदयप्राप्तापकीर्तिः । २० बन्धनालयम् ।

अष्टचन्द्रान् सखी कुर्वन् न चन्द्रोपमा युधः^१ । स्रोत्पातकेतुं संकाशचक्रकेतूपलक्षितः ॥३२४॥

^३प्रत्यायातमहाबालविहतस्वजवैः शरैः । विध्यन्मध्यन्दिनार्कं वा सुमनःशतहेतुभिः ॥३२५॥

जयं शत्रुशूलोर्कं ज्वलत्तेजोमयं स्मरन्^४ । कलभो वाज्रामद्धारिं^५ प्रेरितः खलकर्मणा ॥३२६॥

जयोऽपि शरसन्तानघनी^६ कृत्यघनाघनः । सहार्ककीर्तिमर्केण कुर्वन् विनिहतप्रभम् ॥३२७॥

प्रतीयायाम्तरे छिन्दन्^७ रिपुप्रहितसायकान् । शराश्चास्य पुरो भावन्^८ मधनस्येवोदयेऽश्वः ॥३२८॥

अप्लैत्सी^९ छत्रमस्त्राणि वैजयन्ती^{१०} च दुर्जयः । जयोऽर्ककीर्तिरौदस्यं विहत्य विनिनीपया^{११} ॥३२९॥

अष्टचन्द्रास्तदाभ्येस्य^{१२} विद्याबलविजृम्भणान् । श्वेधेधन् जयस्येपूनम्भोदा वा रवेः करान् ॥३३०॥

भुजबलयादयोऽभ्येयुषोर्दुर्मेमाङ्गदं क्रुधा । सानुजं सिंहसङ्घातं सिंहसङ्घ इवापरः ॥३३१॥

सानुजोऽनन्तसेनोऽपि प्राप मेघस्वरानुजान् । आङ्गरेयो यथा यूथः कलिङ्गजं मतङ्गजान् ॥३३२॥

अभ्येऽभ्यन्त्याश्च भूपाला भूपालान् कोपिनस्तदा । आनिपेतुः कुलाद्रीन्वा संवरन्तः^{१३} कुलाचलाः ॥३३३॥

नास्त्येषामीहसी शक्तिर्विद्येयमिति विद्यया । जयो युद्धाय सन्नद्धस्तदा^{१४} मिश्रभुजङ्गमः ॥३३४॥

हो रहा है, कान्ति नष्ट हो गयी है, युद्धके नष्ट चन्द्रोंके समान अष्टचन्द्र विद्याधरोंको जिसने अपना मित्र बनाया है, जो अपना अनिष्ट सूचित करनेवाले धूमकेतुके समान चक्रके चिह्नवाली ध्वजासे सहित है, और उलटी चलनेवाली तेज वायुसे जिनका वेग नष्ट हो गया है ऐसे देवताओंका घात करनेवाले बाणोंसे जो दोपहरके सूर्यपर प्रहार करता हुआ-सा जान पड़ता है, ऐसा अर्ककीर्ति धीरे चलनेवाले घोड़ोंसे जुते हुए जेलखानेके समान अपने रथपर बैठकर, शत्रु जिसे देख भी नहीं सकते और जो जलते हुए तेजके समान है ऐसे जयकुमारपर बड़े अभिमानसे इस प्रकार आया जिस प्रकार कि हाथी पकड़नेवालोंके क्रूर व्यापारसे प्रेरित होता हुआ हाथीका बच्चा अपने बँधनेके स्थानपर आता है ॥३२३-३२६॥ बाणोंके समूहसे मेघोंको सघन करने-वाला जयकुमार भी सूर्यके साथ-साथ अर्ककीर्तिको प्रभारहित करता तथा शत्रुके द्वारा छोड़े हुए बाणोंको छेदन करता हुआ सामने आया और जिस प्रकार उदयकालमें सूर्यकी किरणें उसके सामने जाती हैं उसी प्रकार उसके द्वारा छोड़े हुए बाण ठीक उसके सामने जाने लगे ॥३२७-३२८॥ बड़ी कठिनाईसे जीते जाने योग्य जयकुमारने अर्ककीर्तिको हटानेकी इच्छासे उसका उद्धतपना नष्ट कर, उसका छत्र शस्त्र तथा ध्वजा सब छेद डाली ॥३२९॥ जिस प्रकार मेघ सूर्यकी किरणोंको रोक लेते हैं उसी प्रकार उस समय अष्टचन्द्रोंने आकर अपनी विद्या और बलके विस्तारसे जयकुमारके बाण रोक लिये थे ॥३३०॥ जिस प्रकार एक सिंहोंका समूह दूसरे सिंहोंके समूहपर आ पड़ता है उसी प्रकार भुजबली आदि भी बड़े क्रोधसे छोटे भाइयोंके साथ खड़े हुए हेमाङ्गदसे लड़नेके लिए उसके सम्मुख आये ॥३३१॥ जिस प्रकार अंगरदेशमें उत्पन्न हुए हाथियोंका समूह कलिङ्ग देशमें उत्पन्न हुए हाथियोंपर पड़ता है उसी प्रकार अनन्तसेन भी अपने छोटे भाइयोंसहित जयकुमारके छोटे भाइयोंके सामने जा पहुँचा ॥३३२॥ उस समय और भी राजा लोग क्रोधित होते हुए अन्य राजाओंपर इस प्रकार जा टूटे मानो कुलाचल कुलाचलोंपर टूट पड़ रहे हों ॥३३३॥ इन मेरे पक्षवालोंकी न तो ऐसी शक्ति है

१ युद्धस्य । २ निजविनाशहेतुकजयसमान । ३ प्रतिकूलमायात । ४ मध्याह्नमिव । मध्याह्नरविमण्डलाभिमुखं मुक्ता शरा यथा स्वशरीरे पतन्ति तद्वदित्यर्थः । ५ गर्वात् । ६ गजपतनहेतुमर्तम् । ७ निविडोक्त । ८ अभिमुखं जगाम । ९ शत्रुविसर्जित । १० रवेः । ११ विच्छेद । १२ ध्वजाम् । १३ निराकरणेच्छया नेतुमिच्छया वा । १४ सम्मुखमागत्य । १५ अभिमुखमाजगमुः । १६ निजानुजसहितः । १७ अङ्गरदेशे भवः । आङ्गरेयो ल० । १८ कलिङ्गदेशे भवः । १९ प्राप्नुवन्ति स्म । अभिपेतुः ल०, इ०, स०, प० । २० सञ्चलन्तः कुलादयः । ल० । २१ पूर्व मुनेर्धर्मध्वजज्जातनागराजः ।

विदित्वा विष्टराजपाञ्चयं संप्राप्य सादरः । नागपाशं शरं चार्द्धचन्द्रं दृष्ट्वा ययावर्त्ता ॥३३५॥
 तं^१ सहस्रसहस्रांशुस्फुरदंशुप्रभास्वरम् । कौरवः^२ सारमादाय वज्रकाण्डं^३ प्रयोजयन्^४ ॥३३६॥
 हत एष सुतो^५ मर्तुर्भुवोऽने^६ मेति सम्प्रभम् । नरविद्याधराधीना महान्तमुद्रपादयन्^७ ॥३३७॥
 रथाग्नव तथा दुष्टानष्टवन्द्वा^८ ससारथीन् । स^९ शरो मस्मयामास शस्त्राणि च यथाऽशानिः ॥३३८॥
 छिन्नवृत्तकरो दन्तीद्वान्तको वा हतायुधः । ज्वनमानः कुमारोऽज्यात्^{१०} धिक्कटं^{११} खेपिशं विधेः ॥३३९॥
 इति दत्तग्रहं^{१२} वीरं गजं वा पादपाशकैः^{१३} । अपायुधैरुपायैर्विधिज्ञस्तम^{१४} जीग्रहन्^{१५} ॥३४०॥
 तच्छौर्यं यत्पशन्मूनेः प्राक् प्राप्तपरिभूतिभिः । यत्पश्चात्साहसं धाष्टर्यात्^{१६} स द्वितीयः पराभवः ॥३४१॥
 सोऽन्वयः स पिता तादृक् पदं सा सैन्यसंहतिः । तस्याप्यासीदवस्थेयमुष्मार्गं कं न पीडयेत् ॥३४२॥
 वीरपट्वेन बद्धोऽयं चक्रिणानेन तत्सुतः । वणपट्वपदं नीतः पश्य कार्यविपर्ययम् ॥३४३॥
^{१७}पतत्पतङ्गस्तङ्गाशमर्ककीर्तिमनायुधम् । स्वरथे स्थापयित्वा चैराक्ष्यानेकं स्वयम् ॥३४४॥
 विपक्षलग्नभूपालान् नागपाशेन पाशिवन्^{१८} । निष्पद्यं निर्जितारातिर्भ्यमंसीत्^{१९} सिंहचक्रमान् ॥३४५॥

और न यह विद्या ही है ऐसा समझकर जयकुमार स्वयं युद्धके लिए तैयार हुआ, उसी समय उसका मित्र सर्पका जीव जो कि देव हुआ था आसन कम्पित होनेसे सब समाचार जानकर बड़े आदरके साथ जयकुमारके पास आया और नागपाश तथा अर्द्धचन्द्र नामका बाण देकर चला गया ॥३३४-३३५॥ जो हजार सूर्यकी चमकती हुई किरणोंके समान देदीप्यमान हो रहा था ऐसा वह बाण लेकर जयकुमारने अपने वज्रकाण्ड नामके धनुषपर चढ़ाया ॥३३६॥ इस बाणसे चक्रवर्तीका पुत्र अवश्य ही मारा जायेगा यह जानकर भूमिगोचरी और विद्याधरोंके अधिपति राजाओंने बड़ा भारी क्षोभ उत्पन्न किया ॥३३७॥ उस बाणने नौ रथ, सारथिसहित आठों अर्द्धचन्द्र और सब बाण वज्रकी तरह भस्म कर दिये ॥३३८॥ जिसका मान भंग हो गया है ऐसा अर्ककीर्ति, जिसके दाँत और सूँढ़ कट गये है ऐसे हाथीके समान अथवा जिसका शस्त्र नष्ट हो गया है ऐसे यमराजकी तरह चेष्टारहित खड़ा था इसलिए कहना पड़ता है कि देवकी इस दुःख देनेवाली चेष्टाको धिक्कार हो ॥३३९॥ जिस प्रकार शस्त्ररहित किन्तु उपायको जाननेवाले पुरुष पैरोंकी पाशसे दाँतोंको दबोचकर वीर हाथको पकड़ लेते हैं उसी प्रकार जयकुमारने अर्ककीर्तिको पकड़ लिया ॥३४०॥ तिरस्कार होनेके पहले-पहले जो लड़ना है वह शूरवीरता है और तिरस्कार प्राप्त कर धृष्टतावश जो पीछेसे लड़ता है वह दूसरा तिरस्कार है ॥३४१॥ यद्यपि उस अर्ककीर्तिका लोकोत्तर वंश था, चक्रवर्ती पिता थे, युवराज पद था और भारी सेनाका समूह उसके पास था तो भी उसकी यह दशा हुई इससे कहना पड़ता है कि दुराचार किसे पीड़ित नहीं करता है ? ॥३४२॥ चक्रवर्तीने जयकुमारको वीरपट्ट बाँधा था परन्तु इसने उनके पुत्रको घावोंकी पट्टियोंका स्थान बना दिया, जरा कार्यकी इस उलट-पुलटको तो देखो ॥३४३॥ सब शत्रुओंको जीतनेवाले जयकुमारने अग्निपर पड़ते हुए पतंगके समान तथा हथियाररहित अर्ककीर्तिको अपने रथमें डालकर और स्वयं एक ऊँचे हाथीपर आरुढ़ होकर सिंहके समान पराक्रमी शत्रुभूत विद्याधर राजाओंको वरुणके

१ अर्द्धचन्द्रशरम् । २ सहस्ररवि । ३ जयकुमारः । ४ वज्रकाण्डकोदण्डे । ५ प्रवर्तयन् । ६ चक्रिणः । ७ जयेन । ८ सम्प्रान्तिम् । ९ उत्पादितवान् । १० अर्द्धचन्द्रबाणः । ११ कृतग्रहणम् । दन्तग्रहं ल० । १२ गजबन्धन-कुशलैः । १३ अपगतशस्त्रैः । १४ अर्ककीर्तिम् । १५ ग्राहयति स्म । १६ धृष्टत्वात् । १७ पतत्सूर्यसदृशम् । १८ पाशपाणिवत् भवन्तीत्यर्थः । 'प्रचेताः वरुणः पाली यदसां पतिरप्यसिः' इत्याभिधानात् । १९ नियमितवान् ।

इति सुलोचने युद्धे समिद्धे शमिते^१ तथा । पपात^२ पञ्चभूजभ्यो वृष्टिः सुमनसां दिवः^३ ॥३४६॥
जयधो^४ बुजंयस्वामितनूजविजयाजिता । नोत्सेकायेति^५ नास्यैनं^६ अपैव^७ प्रायुताश्रयत् ॥३४७॥
जयनास्थानं^८ सङ्ग्रामजयायातेति लज्जया । दूरीकृतेव तत्कीर्तिर्विगन्तमगमत्तदा ॥३४८॥
अकम्पनमर्हाशस्य यूथेशं^९ वा वनद्विपैः । भूपैः संयमितैः^{१०} सार्धमर्ककीर्तिं समर्प्य सः ॥३४९॥
विजयार्द्धमहागन्धसिन्धुरस्कन्दसंघृतः । निर्भाल्लतोदय^{११} क्षमाभृन्मूर्धस्थवर्धनं^{१२} मण्डलः ॥३५०॥
रणभूमिं समालोक्य समस्ताद्बहुविस्मयः । कृतानां^{१३} प्रेतसंस्कारं^{१४} जीवतां जीविकाक्रियाम्^{१५} ॥३५१॥
कारयित्वा पुरीं सर्वसम्मदाविष्कृतोदयाम् । प्राविशत् प्रकटैश्वर्यः सह मेघप्रमादिभिः ॥३५२॥
अकम्पनोऽप्यनुप्राप्य^{१६} वृत्तैरस्तःसमाकुलः । राजकण्डीरवै^{१७} वामा^{१८} राजपुत्रशतैः^{१९} पुरम् ॥३५३॥
सरश्चान् धृतभूपालान् कुमारं च नियोगिभिः । आश्वत्थाश्वत्थकुशलैर्यथा स्थानमवापयत् ॥३५४॥
विचिन्त्य विष्णुविघ्नानां विनाशोऽर्द्धप्रसादतः । इति वन्दितुमाजग्मुः सर्वे नित्यमनोहरम्^{२०} ॥३५५॥
दूरादेवावहणारमवाहेभ्यः^{२१} शास्तृषेतसः । परीत्यार्थानिरागत्य^{२२} तुहुहुः स्तुतिभिर्जिनात् ॥३५६॥

समान नागपाशसे इस प्रकार बाँधा जिससे वे हिल-डुल न सकें ॥३४४-३४५॥ इस प्रकार जब सुलोचना-सम्बन्धी प्रचण्ड युद्ध शान्त हो गया तब स्वर्गके पाँच प्रकारके कल्पवृक्षों-से फूलोंकी वर्षा हुई ॥३४६॥ अपने दुर्जेय स्वामी (भरत) के पुत्र अर्ककीर्तिके जीतनेसे उत्पन्न हुई विजयलक्ष्मी जयकुमारके अहंकारके लिए नहीं हुई थी बल्कि इसके विपरीत लज्जाने ही उसे आ घेरा था ॥३४७॥ 'यह अयोग्य समयमें किये हुए संग्रामके जीतनेसे आयी है' इस लज्जा-के कारण जयकुमारके द्वारा दूर की हुई के समान उसकी वह कीर्ति उसी समय दिशाओंके अन्त तक चली गयी थी ॥३४८॥ जिस प्रकार समर्थ पुरुष जंगली हाथियोंके समान झुण्डके मालिक बड़े हाथीको पकड़कर राजाके लिए सौंपते हैं उसी प्रकार जयकुमारने बँधे हुए अनेक राजाओं-के साथ अर्ककीर्तिको महाराज अकम्पनके लिए सौंप दिया, तदनन्तर उदयाचलके शिखरपर स्थित सूर्यमण्डलको तिरस्कृत करता हुआ विजयार्ध नामके बड़े भारी मदोन्मत्त हाथीके स्कन्धपर सवार होकर युद्धका मैदान देखनेके लिए निकला, चारों ओरसे युद्धका मैदान देखकर उसे बहुत आश्चर्य हुआ, उसने मरे हुए लोगोंका दाहसंस्कार कराया और जीवित पुरुषोंके अच्छे होनेका उपाय कराया, इस प्रकार जिसका ऐश्वर्य प्रकट हो रहा है ऐसे जयकुमारने मेघप्रभ आदिके साथ-साथ सबको आनन्द मिलनेसे जिसकी शोभा खूब प्रकट की गयी है ऐसी काशीनगरी-में प्रवेश किया ॥३४९-३५२॥ महाराज अकम्पनने भी सैकड़ों राजपुत्रों तथा सिंहके समान तेजस्वी राजाओंके साथ-साथ नगरमें पहुँचकर रक्षा करनेवाले जिनके साथ हैं ऐसे बँधे हुए अनेक राजाओं तथा अर्ककीर्तिको समझानेमें कुशल नियुक्त किये हुए पुरुषों-द्वारा समझा-बुझाकर उन्हें उनके योग्य स्थानपर पहुँचाया ॥३५३-३५४॥ अरहन्तदेवके प्रसादसे ही सब विघ्नोंका नाश होता है ऐसा विश्वासकर सब लोग वन्दना करनेके लिए नित्यमनोहर नामके चैत्यालयमें आये ॥३५५॥ उन सभीने दूरसे ही अपनी-अपनी सबारियोंसे उतरकर शान्तचित्त हो मन्दिरमें प्रवेश किया और प्रदक्षिणाएँ देकर अर्धसे भरी हुई स्तुतियोंसे जिनेन्द्रदेवकी स्तुति की ॥३५६॥

१ सुलोचनासम्बन्धिनि । २ उपपत्तये । ३ 'मन्दारः पारिजातकः । सन्तानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिश्चम्पनम्' इति पञ्चमुरभूजेभ्यः । ४ स्वर्गात् । ५ गर्वाय । ६ तस्यैनम् ल० । ७ एनम् जयकुमारम् । ८ पुनः किमिति चेत् । ९ जयकुमारेण । १० अनुचितस्थानकृतयुद्धविजयात् समुपागता । ११ गजयूषाधिपम् । १२ बट्टैः । १३ उदयाचलः । १४ रविः । १५ शवः । १६ जीवन्तीति जीवन्तस्तेषाम् । १७ जीवन्तोपायमित्यर्थः । १८ अभिलक्षितैः । १९ इव । २० सह । २१ सहस्रैः । २२ नित्यमनोहराख्यं चैत्यालयम् । २३ निजवाहनेभ्यः । २४ स्तुति चक्रः ।

जयोऽपि जगदीशानमित्यासां विजयोदयः । ^१अस्तावीदस्तकर्माणं भक्तिनिर्भरचेतसा ॥३५७॥

विद्योगिनी

धर्मिताखिलविघ्नसंस्तवस्त्वयि तुच्छोऽप्युपयात्यनुकृताम् ।

शुचिशुक्तिपुटेऽम्बु संप्रतं ननु मुक्ताफलतां प्रपद्यते ॥३५८॥

घटयन्ति न विघ्नकोटयो

निकटे स्वकमयोर्निवासिनाम् ।

पटवोऽपि फलं दवाग्निभि-

र्भयमस्त्यैम्बुधिमध्यवर्तिनाम् ॥३५९॥

हृदये स्वयि सन्निधापिते^४

विषयः केऽपि मयं विभित्सवः^५ ।

अमृताशिशु^६ संस्तु संस्तु^७

विषमोदार्पितविप्लवः कुतः ॥३६०॥

उपयान्ति समस्तसंपदो

विपदो विद्युतिमाप्नुवन्त्यलम् ।

वृषभं^८ वृषमार्गदेशिनं

श्वकेतुद्विषमाप्नुषां सतान् ॥३६१॥

वसन्ततिलकम्

इत्थं भवन्तमतिभक्तिपथं निनीषोः^९

प्रागेव बन्धकलयः^{१०} प्रलयं व्रजन्ति ।

पश्चाद्नभ्रमयाचितमप्यवश्यं

^{११}सम्पत्स्यतेऽस्य विलसद्गुणभद्रभद्रम्^{१२} ॥३६२॥

जिसे विजयका ऐश्वर्य प्राप्त हुआ है ऐसा जयकुमार भी भक्तिसे भरे हुए हृदयसे समस्त कर्मों-
को नष्ट करनेवाले जगत्पति-जिनेन्द्रदेवकी इस प्रकार स्तुति करने लगा ॥३५७॥ हे समस्त
विघ्नोंको नष्ट करनेवाले जिनेन्द्रदेव, आपके विषयमें किया हुआ स्तवन थोड़ा होकर
भी बड़े महत्त्वको प्राप्त हो जाता है सो ठीक ही है क्योंकि पवित्र सीपके सम्पुटमें पड़ी हुई पानी-
की एक बूँद भी मोतीपनेको प्राप्त हो जाती है-मोतीका रूप धारण कर लेती है ॥३५८॥
हे देव, फल देनेमें चतुर करोड़ों विघ्न भी आपके चरणोंके समीप निवास करनेवाले पुरुषों-
को कुछ फल नहीं दे सकते सो ठीक ही है क्योंकि क्या समुद्रके बीचमें रहनेवाले लोगोंको दावा-
नलसे कभी भय होता है ? ॥३५९॥ हे प्रभो, आपको हृदयमें धारण करनेपर फिर ऐसे
कौन शत्रु रह जाते हैं जो भय देनेकी इच्छा कर सकें, निरन्तर अमृतभक्षण करनेवाले पुरुषोंमें
किसी विषसे उत्पन्न हुआ उपद्रव कैसे हो सकता है ? ॥३६०॥ धर्मके मार्गका उपदेश देने-
वाले और कामदेवके शत्रु श्रीवृषभदेवकी शरण लेनेवाले सज्जन पुरुषोंको सब सम्पदाएँ अपने-
आप मिल जाती हैं और उनकी सब आपत्तियाँ अच्छी तरह नष्ट हो जाती हैं ॥३६१॥
हे शोभायमान गुणोंसे कल्याण करनेवाले जिनेन्द्र, इस प्रकार जो आपको अतिशय भक्तिके
मार्गमें ले जाना चाहता है उसके कर्मबन्धके सब दोष पहले ही से प्रलयको प्राप्त हो जाते हैं
और फिर पीछेसे कभी नष्ट नहीं होनेवाला मोक्षरूपी कल्याण बिना मगि ही अवश्य प्राप्त हो

१ प्राप्त । २ स्तोति स्म । ३ अस्ति किम् । ४ सन्निधानीकृते । ५ परिभवम् । ६ विधातुमिच्छवः । ७ अमृत-
मदनस्तीति अमृताशिनस्तेषु । ८ धर्ममार्गोपदेशकम् । ९ प्राप्नुवताम् । १० नेतुमिच्छोः । ११ बन्धदोषाः ।
१२ सम्पन्नं भविष्यति । १३ कल्याणम् ।

मालिनी

परिणतपरितापान्स्वेदधारां बिलक्षो^१
विगलितविभुभावो विह्वलीभूतचेताः ।
अधित विधिविधानं^२ चिन्तयँश्चक्रिन्नु-
विरहविधुरवृत्तिं^३ वीरलक्ष्मीविद्योगे ॥३६३॥

यसन्ततिलकम्

येषामयं^४ जितसुरः समरे महाय-
स्तानप्यहं कृतरतिः समुपासयामि ।
धुर्योऽयमेव यदि काऽत्र विलम्बनेति
मन्वेव मरुक्षु^५ समियाय जयं^६ जयश्रीः ॥३६४॥

मालिनी

स^{११} बहुतरमरा^{१३} जन्मोच्छितान्^{१४} शत्रुवासून्^{१५}
मृतमिति समयित्वा वृष्टिभिः स्वायकानाम् ।
उपगतहरिभूमिः^{१७} प्राप्य भूस्त्रितार्थं^{१८}
दिनकर इव कन्यासंप्रयोगाभिलाषी ॥३६५॥

शार्दूलनिक्रीडितम्

सौभाग्येन यदा स्ववक्षसि धृता माला तदैवापरं
वीरो^{२०} वीधमधार्यवीर्यविभवो विभ्रश्य^{२१} विश्वद्विषः ।
वीरश्रीविहितं^{२२} दधौ स शिरसाऽम्बुलानं यशः शीलरं
लक्ष्मीमान् विदधाति साहससत्तः^{२३} किंवा न पुण्योदये^{२४} ॥३६६॥

जाता है ॥ ३६२ ॥ प्राप्त हुए सन्तापसे जिसे पसीना आ रहा है, जो लज्जित हो रहा है, 'मैं सबका स्वामी हूँ' ऐसा अभिप्राय जिसका नष्ट हो गया है, जिसका चित्त विह्वल हो रहा है, और जो भाग्यकी गतिका विचार कर रहा है ऐसे अर्ककोतिने वीरलक्ष्मीका वियोग होनेपर उसके विरहसे विधुर वृत्ति धारण की थी ॥ ३६३ ॥ देखोको जीतनेवाला यह जयकुमार युद्धमें जिनकी सहायता करता है मैं उनकी भी बड़े प्रेमसे उपासना करती हूँ, फिर यदि यह ही सबमें मुख्य हो तो इसमें बिलम्ब क्यों करना चाहिए ऐसा मानकर ही मानो विजयलक्ष्मी जयकुमारके पास बहुत शीघ्र आ गयी थी ॥ ३६४ ॥ इस प्रकार बाणोंकी वर्षासे ऊपर उठी हुई शत्रुरूपी धूलिको शीघ्र ही नष्ट कर पराक्रमके द्वारा सिंहका स्थान प्राप्त करनेवाला और अब कन्याके संयोगका अभिलाषी जयकुमार उस सूर्यकी तरह बहुत ही अधिक सुशोभित हो रहा था जो कि सिंह राशिपर रहकर कन्या राशिपर आना चाहता है ॥ ३६५ ॥ जिसकी पराक्रमरूपी सम्पत्तिका कभी कोई निवारण नहीं कर सकता ऐसे शूरवीर जयकुमारने जिस समय सौभाग्यके वशसे अपने वक्षःस्थलपर माला धारण की थी उसी समय सब शत्रुओंको नष्ट कर वीरलक्ष्मीका बना हुआ तथा कभी नहीं मुरझानेवाला यशरूपी दूसरा सेहरा भी उसने अपने मस्तकपर धारण किया था, सो ठीक ही है क्योंकि जो लक्ष्मीमान् है, साहसका मित्र है और जिसके पुण्य

१ विस्मयान्वितः । २ विभुस्वरहितः । ३ धरति स्म । ४ कर्ममेवम् । ५ विरहविकलवस्थ वर्तनम् । ६ जयकुमारः । ७ धुरंधरः । ८ कालक्षेपः । ९ शीघ्रम् । १० जयकुमारम् । ११ जयः । १२ अरण्यविक्रमम् । १३ विराजति स्म । १४ उपगतान् । १५ रेणुन् । १६ शीघ्रम् । १७ प्राप्तशक्रपदः । प्राप्तसिंहराशिस्थानपथः । १८ संतापम्, प्रभावम् । १९ सुलोचनासङ्गाभिलाषी । कन्याराशिगतसंप्रयोगाभिलाषी च । २० शुभम् । २१ पातयित्वा । २२ कृतम् । २३ साहस एव सत्ता । २४ पुण्योदये ज०, अ०, प०, स०, इ० ।

‘जयोऽमासोऽयश्च’ प्रभवति गुणेभ्यो गुणगणः
 सदाचाराण्योऽपि तत्र विहितवृत्तिः श्रुतमपि ।
 प्रणीतं सर्वज्ञैर्विदितसकलास्ते खलु जिना-
 स्ततस्तान् विद्वान् संश्रयतु जयमिच्छन् जय इव ॥३६७॥

इत्यार्षे त्रिपष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते
 जयविजयवर्णनं नाम चतुश्चत्वारिंशत्तमं पर्व ॥४४॥



उदय है वह क्या नहीं कर सकता है ? ॥ ३६६ ॥ इस संसारमें विजय पुण्यसे होती है, वह पुण्य गुणोंसे होता है, गुणोंका समूह सदाचारसे होता है, उस सदाचारका निरूपण शास्त्रोंमें है, शास्त्र सर्वज्ञ देवके कहे हुए हैं और सर्वज्ञ सब पदार्थोंको जाननेवाले जिनेन्द्रदेव हैं इसलिए विजयकी इच्छा करनेवाले विद्वान् पुरुष जयकुमारके समान उन्हीं जिनेन्द्रदेवोंका आश्रय करें — उन्हींकी सेवा करें ॥ ३६७ ॥

इस प्रकार आर्य नामसे प्रसिद्ध गुणभद्राचार्य विरचित त्रिपष्टिलक्षण महापुराणसंग्रहके हिन्दी भाषानुवादमें जयकुमारकी विजयका वर्णन करनेवाला चौवालीसवाँ पर्व समाप्त हुआ ।



पञ्चचत्वारिंशत्तमं पद्यं

अथ मेघस्वरौ गत्वा प्रथमानपराक्रमः । मथितारातिदुर्गवः पृथुं स्वावासपादितः ॥ १ ॥
 स्वयं च संचिताधानि हन्तुं स्तुष्या जिनेशिनः । अकम्पनमहाराजः यमार्जुनस्य सुलोचनाम् ॥ २ ॥
 कृताहारपरिभ्यागनियोगामायुस्तदा । सुप्रभातपुष्टिं कार्याभरणेण सुसिताम् ॥ ३ ॥
 सर्वशान्तिकरी ध्याति ध्यायतीं स्थिरचित्तया । धर्म्यैकाग्र्यनिष्पन्ना जिनेन्द्राभिमुखी मुदा ॥ ४ ॥
 समभ्यष्य समाश्वास्य प्रशस्य बहुशो गुणान् । भवन्माहात्म्यतः पुत्रि शान्तं सर्वममङ्गलम् ॥ ५ ॥
 प्रतिष्वस्तानि पापानि नियाममुसंहर । इत्युक्तिपक्तागुत्तवा पुष्कलस्य सुतां सुतैः ॥ ६ ॥
 हृष्टः सुप्रमया चामा राजगोहं प्रविश्य सः । याहि पुत्रि निजागारं विमर्ष्येति सुलोचनाम् ॥ ७ ॥
 अन्यथा चिन्तितं कार्यं दैवेन कृतमन्यथा । इति कर्तव्यतामृदः सुश्रुतादिमिरिद्वधीः ॥ ८ ॥
 औत्पत्तिक्यादि धीभेदैर्वाः छेद्य सचिवोत्तमैः । विशाधरधराधीशान् विपार्शीकृत्य कृत्यविन् ॥ ९ ॥
 निश्चानावृत्तास्तु तपोरथैः सामसारैर्हरितैः । सम्यग्विहितस्नकाः स्नानवस्त्रासनादिभिः ॥ १० ॥
 कुमारवंशो युष्माभिर्घृहीतो वधितो च नः । तद्विदमयोऽप्येति यतोऽभूत् ततः क्षयम् ॥ ११ ॥

अथानन्तर—प्रसिद्ध पराक्रमका धारक और शत्रुओंके मिथ्या अभिमानको नष्ट करनेवाला जयकुमार अपने विशाल निवासस्थानमें जाकर ठहर गया ॥ १ ॥ इधर महाराज अकम्पन-ने स्वयं संचित किये हुए पाप नष्ट करनेके लिए श्री जिनेन्द्रदेवकी स्मृति की और फिर जिसने युद्ध समाप्त होनेतक आहारके त्याग करनेका नियम ले रखा है, माता सुप्रभा जिसके समीप बैठी हुई है, जो कायोत्सर्गसे खड़ी हुई है, स्थिरचित्तसे सब प्रकारकी शान्ति करनेवाला धर्म-ध्यान कर रही है, एकाग्र मनसे निश्चल है और आनन्दसे जिनेन्द्रदेवके सन्मुख खड़ी है ऐसी सुलोचनाको देखकर उसका सत्कार किया, आश्वासन देकर उसके गुणोंकी अनेक बार प्रशंसा की तथा इस प्रकार शब्द कहे—‘हे पुत्रि, तुम्हारे माहात्म्यसे सब अमंगल शान्त हो गये हैं, सब प्रकारके पाप नष्ट हो गये हैं, अब तू अपने निषर्गोंका संकोच कर ।’ ऐसा कहकर उन्होंने हाथ जोड़कर खड़ी हुई सुलोचनाको आगे किया और राजपुत्रों तथा रानी सुप्रभाके साथ-साथ राज-भवनमें प्रवेश किया । फिर ‘हे पुत्रि ! तू अपने महलमें जा’ ऐसा कहकर सुलोचनाको बिदा किया ॥ २-७ ॥ पुनः यह कार्य अन्य प्रकार सोचा गया था और दैवने अन्य प्रकार कर दिया अब क्या करना चाहिए इस विषयमें मूढ़ताको प्राप्त हुए अतिशय बुद्धिमान् महाराज अकम्पनने औत्पत्तिकी आदि ज्ञानके भेदोंके समान सुश्रुत आदि उत्तम मन्त्रियोंके साथ विचार कर विद्याधर राजाओंको छोड़ दिया । फिर कार्यको जाननेवाले उन्होंने अकम्पनने बड़ी शान्तिसे उनके योग्य कहे हुए वचनोंसे उन सबको आश्वासन देकर स्नान, वस्त्र, आसन आदिसे सबका अच्छी तरह सत्कार किया ॥ ८-१० ॥ तथा अर्ककीतिसे कहा कि ‘हे कुमार ! हमारे नाथवंश और सोम-

१ प्रकाशमान । २ स्वावासगृहे स्थितः । ३ युद्धावसानपर्यन्तम् । ४ निजजननीविहितरक्षाजित्पूजादिपरिधायि ।
 ५ ध्यानम् । ६ एकाग्रत्वेन निश्चलम् । ७ नियमम् । ८ त्यज । ९ गच्छ । १० सुश्रुतप्रभृतिमन्त्रिभिः ।
 ११ जन्मव्रतनियमोपघतपोभिरुत्पन्नज्ञानभेदैः । १२ नागपाशवन्धनं गोपयित्वा । १३ साम्नां सारैः । १४ वचनैः ।
 १५ हे अर्ककोतौ । १६ नाथवंशसोमवंशौ । १७ कृतौ । १८ जयरथ अग्रमाकं च । १९ यस्मात् पुरुषात् ।
 २० संजातम् ।

पुत्रमनुपदार्तिनामपराधशतान्यपि । क्षमन्ते हि महात्मानस्तत्रि तेषां विभूषणम् ॥ १२ ॥
 भवेद्देवादपि स्वामिन्यपराधविधायिनाम् । आकृत्यमयशः पापं चानुबन्धमिवन्धनम् ॥ १३ ॥
 अपराधः कुतोऽस्माभिरैकोऽयमविशेकिभिः । ययं चो^१ बन्धुभृत्यास्त^२ कुमार क्षन्तुमर्हमि ॥ १४ ॥
 मया कीर्तिरयं चैतन् प्रसादान्ने प्रशाम्यति । शापानुग्रहयोः शक्तस्त्वं विशुद्धिं विधेहि नः ॥ १५ ॥
 अर्केणालोकनारोधि हन्यते जगत्तमसः । अस्माकं स भवानर्कस्तस्मादन्तस्वामी हरेत् ॥ १६ ॥
 प्रातिवृत्ते तत्रास्मासु स्तन्यदोरे^३ स्तनंधये^४ । अस्मज्जन्मान्तरा^५ दृष्टपरिषाकविशेषतः ॥ १७ ॥
 विश्वविश्वम्भशङ्कादी यदि क्षिपति वासिदः । कदाऽप्यशनिमेक^६ स्मिस्तत्तत्स्वैवाशुर्भादयः ॥ १८ ॥
 हयेनेव दुरारोहाज्जयेनेहामि पातितः । स ते प्रेक्ष्य^७ किमवास्ति नैमनस्यस्य कारणम् ॥ १९ ॥
 मुलोचनेति का वार्ता सर्वस्वं नस्तर्धैव नन । निषिद्धेश्वरेवया पूर्व^८ क्रियते किं स्वयंवरः ॥ २० ॥
 लक्ष्मीमतीं गृहाणेमामैक्षमालापरमिधाम् । निर्मलां वा यशोमालां किं ते^९ पाषाणमालया ॥ २१ ॥

वंश दोनों ही आपके द्वारा बनाये गये हैं और आपके द्वारा ही बढ़ रहे हैं । विषका वृक्ष भी जिससे उत्पन्न होता है उससे फिर नाशको प्राप्त नहीं होता ॥११॥ महात्मा लोग पुत्र, बन्धु तथा पियादे लोगोंके संकड़ों अपराध क्षमा कर देते हैं क्योंकि उनको शोभा इसीमें है ॥ १२ ॥ औरों-की बात जाने दीजिए जो देवके भी अधीन होकर स्वामीका अपराध करते हैं उनका अपयश कल्पान्त काल तक बना रहता है और उनका यह पाप भी अनेक दोषोंका बढ़ानेवाला होता है ॥१३॥ हम मूर्खोंने आपका यह एक अपराध किया है । चूँकि हम लोग आपके भाइयों और भृत्योंमें-से हैं इसलिए हे कुमार, यह अपराध क्षमा कर देने योग्य है ॥१४॥ यह हमारी अपकीर्ति और पाप आपके प्रसादसे शान्त हो सकता है क्योंकि आप शाप देने तथा उपकार करने-दोनोंमें समर्थ हैं इसीलिए हम लोगोंकी शुद्धता अवश्य कर दीजिए ॥१५॥ प्रकाशको रोकनेवाला संसारका अन्धकार सूर्यके द्वारा नष्ट किया जाता है परन्तु हमारे लिए तो आप ही सूर्य हैं इसलिए हमारे अन्तःकरणके अन्धकारको आप ही नष्ट कर सकते हैं ॥१६॥ पूर्वजन्मके पाप कर्मोंके विशेष उदयसे हम लोगोंके लिए जो आपका यह विरोध उपस्थित हुआ है वह मानो पुत्रके लिए माताके दूधका विरोध उपस्थित हुआ है । भावार्थ-जिस प्रकार माताके दूधके बिना पुत्र नहीं जीवित रह सकता है उसी प्रकार आपकी अनुकूलताके बिना हम लोग जीवित नहीं रह सकते हैं ॥१७॥ समस्त पृथिवीको आनन्दित करनेवाला बादल यदि कदाचित् किसी एक पर वज्र पटक देता है तो इसमें बादलका दोष नहीं है किन्तु जिसपर पड़ा है उसीके अशुभ कर्मका उदय होता है ॥१८॥ चढ़ना कठिन होनेसे जिस प्रकार घोड़ा किसीको गिरा देता है उसी प्रकार जयकुमारने आपको गिरा दिया है परन्तु वह तो आपका सेवक है इसमें बुरा माननेका कारण ही क्या है ? ॥१९॥ सुलोचना, यह कितनी-सी बात है ? हमारा जो सर्वस्व है वह आपका ही है । यदि आप पहले ही रोक देते तो स्वयंवर ही क्यों किया जाता ? ॥२०॥ जिसका दूसरा नाम अक्षमाला है ऐसी मेरी दूसरी पुत्री लक्ष्मीमतीको आप ग्रहण कीजिए । यह लक्ष्मीमती यशकी मालाके समान निर्मल है, पाषाण (रत्नों) की मालासे आपको क्या प्रयो-

१ अलब्धलाभः लब्धपरिरक्षणं रक्षितविवर्द्धनं चेत्यनुबन्धः ते एव निबन्धनं कारणं यस्य । २ युष्माकम् ।
 ३ तत् कारणान् । तं द० । ४ स्तनक्षोरस्य । ५ शिशो । यथा स्तनक्षोरस्य प्रातिकूल्यं शिशोर्जीवनाय न स्यात् तथा तव प्रातिकूल्यमपि अस्माकम् । ६ अशुभकर्म । ७ एकस्मिन् पुंसि । ८ जयः । ९ तव किकरः ।
 १० स्वयंवरे क्षिप्तपाषाणमालया । सुलोचनयाक्षिप्तस्तनमालया ।

आहारस्य^१ यथा तस्य विकारोऽयं विना त्वया । जीविकास्ति किमस्माकं प्रसीदतु विमो भवान् ॥२२॥
यह्यं सिद्धमयदि त्वय्यवार्थेऽम्बुधाविब । तत्तेऽवशिष्टाः पुण्येन भवप्रेषणकारिणः ॥२३॥
त्वं ब्रह्मिणेव केनापि पापिना विद्वज्जितः^२ । उष्णीकृतोऽसि प्रस्यस्मान् शीतोभव हि वारि^३ वा^४ ॥२४॥
न^५ चेदिमान् सुतान् दारान् प्रतिग्राह्य पालय । मम तावाश्रयां यामि पुरुषां पादपाश्र्पी ॥२५॥
वृत्ति प्रसाद्य संतोष्य समारोप्य गजाधिपम् । अर्ककीर्तिं पुरोधाय^६ वृतं भूचरस्त्वेवैरः ॥२६॥
शान्तिपूजां विधायाष्टौ दिनानि विविधद्विकाम् । महाभिवेकपर्यन्तां सर्वपापोपशान्तये ॥२७॥
जयमानीय संधाय^७ संधानविधिविस्तदा । नितरां प्रीतिमुत्पाद्य कृत्वैकीभावमक्षरम् ॥२८॥
^{१०}अक्षिमालां महाभूत्या दत्त्वा सर्वार्थसंपदा । संदूज्य गमयिष्वैनम^{११} नुराम्य^{१२} यथोचितम् ॥२९॥
तथेतरोश्च संमाम्य नरविद्याधराधिपान् । सद्यो विसर्जयामास सद्रुग्गजवाजिभिः ॥३०॥
ते स्वदुर्गयलज्जास्तवैराः^{१३} स्व^{१४} स्वमगुः^{१५} पुरम् । सा धीर्दवा^{१६} पराधस्य^{१७} प्रतिकर्त्री हि याऽचिरात् ॥३१॥

जन है ? ॥२१॥ आज यह आपका विकार आहारके विकारके समान है, क्या आपके बिना हम लोगोंका जीविका रह सकती है ? इसलिए हे प्रभो, हम लोगोंपर प्रसन्न हुईए । भावार्थ — जिस प्रकार भोजनके बिना कोई जीवित नहीं रह सकता उसी प्रकार आपकी प्रसन्नताके बिना हम लोग जीवित नहीं रह सकते इसलिए हम लोगोंपर अवश्य ही प्रसन्न हुईए ॥२२॥ हम लोग तो इधर-उधर भेजने योग्य सेवक हैं और आप जिसका निवारण न हो सके ऐसे समुद्रके समान हैं । हे नाथ, आपके मर्यादा छोड़नेपर भो जो हम लोग जीवित बच सके हैं सो आपके पुण्यसे ही बच सके हैं ॥२३॥ आप पानीके समान सबको जीवित करनेवाले हैं जिस प्रकार अग्नि पानीको गरम कर देती है उसी प्रकार किसीने हम लोगोंके प्रति आपको भी गरम अर्थात् क्रोधित कर दिया है इसलिए अब आप पानीके समान ही शीतल हो जाइए ॥२४॥ यदि आप शान्त नहीं होना चाहते हैं तो इन पुत्रों और स्त्रियोंको स्वीकार कीजिए, इनकी रक्षा कीजिए, मैं हम आप दोनोंके आश्रय श्रीवृषभदेवके चरणरूपी वृक्षोंके समीप जाता हूँ ॥२५॥ इस प्रकार भूमिगोचरी और विद्याधरोसे घिरे हुए अर्ककीर्तिको प्रसन्न कर, सन्तुष्ट कर और उत्तम हाथी-पर सवार कराकर सबसे आगे किया तथा सब पापोंकी शान्तिके लिए आठ दिन तक बड़ी विभूतिके साथ महाभिवेक होने पर्यन्त शान्तिपूजा की । मेलमिलापकी विधिको जाननेवाले अकम्पनने जयकुमारको भी वहाँ बुलाया और उसी समय सन्धि कराकर दोनोंमें अत्यन्त प्रेम उत्पन्न करा दिया तथा कभी न नष्ट होनेवाली एकता करा दी । तदनन्तर अर्ककीर्तिको बड़े वैभव और सब प्रकारकी धनरूप सम्पदाओंके साथ-साथ अक्षमाला नामकी कन्या दी, अच्छा आदर-सत्कार किया और उनकी योग्यताके अनुसार थोड़ी दूर तक साथ जाकर उन्हें बिदा किया । इसी प्रकार अच्छे-अच्छे रत्न, हाथी और घोड़े देकर अन्य भूमिगोचरी और विद्याधर राजाओंका सन्मान कर उन्हें भी शीघ्र ही बिदा किया ॥२६-३०॥ अपने अन्यायके कारण उत्पन्न हुई लज्जासे जिनका वैर दूर हो गया है ऐसे वे सब लोग अपने-अपने नगरको चले गये, सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धि वही है जो भाग्यवश हुए अपराधका शीघ्र ही प्रतिकार कर लेती

१ आहारी यथा विनाशयति । २ विश्वेषां जीवनं यस्मात् स विश्वजीवितः । विश्वजीवनः अ०, प०, स०, इ०, ल० । ३ जलम् । ४ इव । ५ एवं न चेत् । ६ प्रतिग्रहं कुरु । ७ अग्रे कुरुवा । ८ अन्योन्यसंबन्धं कृत्वा । ९ अविनश्वरम् । १० अक्षमालाम् अ०, स०, इ०, ल० । ११ अर्ककीर्तिम् । १२ किञ्चिदन्तरं गत्वा । १३ निरस्त । १४ स्वां स्वामगुः पुरीम् द०, अ०, स० । १५ जगुः । १६ वाजनातापराधस्य । १७ प्रति-विधानं करिष्यति ।

सदा 'पूर्वोदितो देवः समागत्य सुसंपदा । सुलोचनाविवाहोत्सवस्यार्ण समपादयत् ॥३२॥
 मेघप्रभसुकेषादिसरसहायान् सहानुजः^१ । जयोऽप्यगमयत् सर्वान् सन्तर्प्यार्थैर्बहुप्रियः^२ ॥३३॥
 'नाथवंशाग्रणीश्चामा^३ । जामात्राऽलोच्य सत्वरम् । सुधीः सगृहसाराणि^४ बध्वा रत्नान्नुपायनम्^५ ॥३४॥
 विदितप्रस्तुताधोऽसि यथाऽर्सा^६ नः प्रसीदति । तथा कुर्विति चक्रेशं^७ सुमुखस्यभजीगमत्^८ ॥३५॥
 आशु गत्वा निषेधासां^९ दृष्ट्वेशं^{१०} धरणीं^{११} तनुम् । क्षिप्त्वा प्रणम्य दत्त्वा च प्राभृतं निवृत्ताञ्जलिः^{१२}
 देवस्यानुचरो देव प्रणम्यकम्पनो भवान् । देवं विशोपयत्येवं प्रसार्दं कुरु तच्छृणु ॥३६॥
 सुलोचनेति नः^{१३} 'कन्यासारस्वत्किङ्किनश्रिये'^{१४} । स्वयंवरविधानेन संप्रादायि^{१५} जयाय सा ॥३७॥
 'तस्मागत्य कुमारोऽपि प्राक् सर्वमनु^{१६} मय तत्^{१७} । विद्याधरभराजीशैः स्वप्रसूतैः सह स्थितः ॥३८॥
 पश्चात् कोऽपि ग्रहः क्रूरः स्थित्वा सह^{१८} शुभग्रहम् । खली बलाशयाऽस्मभ्यं वृथा कोपयति स्म तम् ॥३९॥
 विशासमेव देवेन सर्वं^{१९} तत्संविधातकम् । 'चारुधनुश्च वेश्येतत्किं पुनः^{२०} सावधिर्भवान् ॥४०॥
 'कुमारो हि कुमारोऽसौ नापराधोऽस्ति कश्चन । 'तत्र तस्य सदोषाः^{२१} स्मो^{२२} वयमेव प्रमादिनः ॥४१॥

है ॥३१॥ उसी समय पहले कहे हुए देवने आकर बड़े वैभवके साथ सुलोचनाके विवाहका उत्सव सम्पन्न किया ॥३२॥ सबके प्यारे जयकुमारने भी अपने छोटे भाइयोंके साथ साथ मेघप्रभ सुकेतु आदि अच्छे-अच्छे सब सहायकोंको धन-द्वारा सन्तुष्ट कर विदा किया ॥३३॥

तदनन्तर नाथवंशके शिरोमणि अतिशय बुद्धिमान् अकम्पनने अपने जमाई जयकुमारके साथ सलाह की और अपने घरके अच्छे-अच्छे रत्न भेंटमें देनेके लिए बांधकर सुमुख नामक दूत-को यह कहकर चक्रवर्तीके पास भेजा कि तू वर्तमानका सब समाचार जानता ही है, चक्रवर्ती जिस प्रकार हम लोगोंपर प्रसन्न हों वही काम कर ॥३४-३५॥ उस दूतने शीघ्र ही जाकर पहले अपने आनेकी खबर भेजी फिर चक्रवर्तीके दर्शन कर पृथिवीपर अपना शरीर डाल प्रणाम किया और फिर हाथ जोड़कर साथमें लायी हुई भेंट देकर कहा कि हे देव, अकम्पन नामका राजा आपका अनुचर है वह प्रणाम कर भयसे आपसे इस प्रकार प्रार्थना करता है सो प्रसन्नता कीजिए और उसे सुन लीजिए ॥३६-३७॥ उसने कहा है कि सुलोचना नामकी मेरी एक उत्तम कन्या थी वह मेने स्वयंवर-विधिसे आपने ही जिसकी लक्ष्मी अथवा शोभा बढ़ायी है ऐसे जयकुमारके लिए दी थी ॥३८॥ कुमार अर्ककोर्तिने भी उस स्वयंवरमें पधारकर पहले सब बात स्वीकार कर ली थी और वे प्रसन्न हुए विद्याधर राजाओंके साथ-साथ वहाँ विराजमान थे ॥३९॥ तदनन्तर जिस प्रकार कोई दुष्ट शुभ ग्रहके साथ ठहरकर उसे भी दुष्ट कर देता है उसी प्रकार किसी दुष्टने जबरदस्ती हम लोगोंपर व्यर्थ ही उन्हें क्रोधित कर दिया ॥४०॥ इसके बाद वहाँ जो कुछ भी हुआ था वह सब समाचार आपको विदित ही है क्योंकि गुप्तचर रूप नेत्रोंको धारण करनेवाला साधारण राजा भी जब यह सब जान लेता है तब फिर भुला आप तो अवधिज्ञानी हैं, आपका क्या कहना है ? ॥ ४१ ॥ कुमार तो अभी कुमार (लड़का) ही हैं इसमें उनका कुछ भी दोष नहीं है, प्रमाद करनेवाले केवल हम लोग ही उसमें सदोष हैं

१ स्वयंवरनिर्माणे प्रोक्तविचित्राङ्गकमुरः । २ सहानुजान् ५०, ६०, ८०, ८० । ३ बहवः प्रियाणि मित्राणि यस्य सः । ४ अकम्पनः । ५ पुत्र्याः प्रियेण सह । ६ निजगृहे स्थितेषूत्कृष्टानि । ७ प्राभृतम् । ८ चक्री । ९ सुमुखा-ह्वयदूतम् । १० गमयति स्म । ११ दूतः । १२ भूम्याम् । १३ स्थिराञ्जलिः । १४ कन्यामूत्कृष्टत्वात् । १५ स्वया कृतैस्वयंय जयाय संप्रादामीति संबन्धः । १६ दत्ता । १७ स्वयंवरः । १८ अनुमतिं कृत्वा । १९ स्वयंवरविधानम् । २० चन्द्रादिशुभग्रहान्वितं यथा भवति तथा स्थित्वा कोपयति तं तथेति संबन्धः । २१ तद्वृत्तान्तम् । २२ चारा गृह्यरूपा एव चक्षुर्भवेत् । २३ अवधिज्ञानसहितः । २४ बालकः । २५ संविधाने । २६ सापराधाः । २७ भवामः ।

तस्मै कन्यां गृहाणेति नास्माभिः सा समर्पिता । आराधकस्य दोषोऽस्ती यत् प्रकुप्यन्ति देवताः ॥४३॥
 'मयैव' विहिताः सन्यक् दयिता बन्धवोऽपि नः । स्निग्धाश्च^३ कथमेतेषां विदधामि विनिग्रहम् ॥४४॥
 इत्येतेनैव मा मैस्थाः स्यान् सदोषो यदि त्वया । कुमारोऽपि निगृह्येत न्यायोऽयं त्वदुपक्रमः^४ ॥४५॥
 तदादिश^५ विधेयोऽयं को दण्डस्त्रिविधोऽपि नः । किञ्चिदः किं परिकलेशः किं वार्थहरणं प्रभो ॥४६॥
 तवादेशविधानेन नितरां कृतिनो वयम् । इहामुत्र च तदेव यथार्थमनुशाधि^६ नः ॥४७॥
 इति प्रश्रयणीं वागीं निगद्य हृदयप्रियाम् । सुमुखो राजराजेश्वर^७ कर्त्तव्यं करसंज्ञया ॥४८॥
 सतां वचांसि चेतांसि हरन्त्यपि हि रक्षसाम् । किं पुनः सामसाराणि^८ तादृशां^९ समतादृशान्^{१०} ॥४९॥
 ईदृहाति^{११} प्रसन्नोऽभ्या प्रफुल्लवदनाम्बुजः । उपसिंहासन^{१२} चक्री^{१३} निरुष्टाय^{१४} निवेद्य तम् ॥५०॥
 अकम्पनः किमित्येवमुदीर्य प्रहितो^{१५} भवान् । पुरुषो^{१६} निर्विशेषास्ते सर्वभ्येष्टाश्च सम्प्रति ॥५१॥
 गृहाश्रमं त^{१७} एवाच्योस्तीरेवाहं च बन्धुमान् । निषेदारः प्रवृत्तस्य ममाप्यभ्याध्वरमनि ॥५२॥
 पुरवो मोक्षमार्गस्य गुरुर्वा दानसन्ततः । श्रेयांसव चक्रिणां वृत्तेर्यथेहास्म्यहमप्रणीः ॥५३॥
 तथा स्वयंचरस्येमे नाभूवन् यद्यकम्पनाः । कः प्रवर्तयित्वाऽन्योऽस्य मार्गस्यैव^{१८} सनातनः ॥५४॥

॥ ४२ ॥ 'तुम इस कन्याको ग्रहण करो' ऐसा कहकर तो मैंने जयकुमारके लिए दी नहीं थी, तथापि देवता जो कुपित हो जाते हैं उसमें देवताका नहीं किन्तु आराधना करनेवाले ही का दोष समझा जाता है ॥ ४३ ॥ ये सब वंश मेरे ही बनाये हुए हैं, मेरे ही बढ़ाये हुए हैं, मेरे ही भाई हैं और मुझसे ही सदा स्नेह रखते हैं इसलिए इनका निग्रह कैसे करूँ ऐसा आप मत मानिए क्योंकि यदि आपका पुत्र भी दोषी हो तो उसे भी आप दण्ड देते हैं, इस न्यायका प्रारम्भ आपसे ही हुआ है । इसलिए हे प्रभो, आज्ञा दीजिए कि इस अपराधके लिए हम लोगोंको तीनों प्रकारके दण्डोंमें-से कौन-सा दण्ड मिले जो हमें है कि क्या स्त्रीको? कि क्या बालेको? अथवा क्या धन हरण कर लेना ? ॥ ४४-४६ ॥ हे देव, आपकी आज्ञा पालन करनेसे ही हम लोग इस लोक तथा परलोकमें अत्यन्त धन्य हो सकेंगे इसलिए आप अपराधके अनुसार हमें अवश्य दण्ड दीजिए ॥ ४७ ॥ इस प्रकार नम्रतासे भरे हुए और हृदयको प्रिय लगनेवाले वचन कहकर वह सुमुख दूत राजराजेश्वर - चक्रवर्तीके हाथके इशारेसे चुप हो गया ॥ ४८ ॥ जब कि सज्जन पुरुषोंके वचन राक्षसोंके भी चित्तको मोहित कर लेते हैं तब सबको समान दृष्टिसे देखनेवाले भरत-जैसे महापुरुषोंके शान्तिपूर्ण चित्तकी तो बात ही क्या है ? ॥ ४९ ॥ जिनका मुखरूपी कमल प्रफुल्लित हो रहा है ऐसे चक्रवर्तीने 'यहाँ आओ' इस प्रकार प्रसन्नता-भरे वचनोंसे उस दूतको अपने सिंहासनके निकट बैठाकर उससे इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया कि 'महाराज अकम्पनने इस प्रकार कहकर आपको क्यों भेजा है ? वे तो हमारे पिताके तुल्य हैं और इस समय हम सभीमें ज्येष्ठ हैं ॥ ५०-५१ ॥ गृहस्थाश्रममें तो मेरे वे ही पूज्य हैं, उन्हींसे मैं भाई-बन्धुवाला हूँ, औरकी क्या बात ? अभ्यायमार्गमें प्रवृत्ति करनेपर वे मुझे भी रोकनेवाले हैं ॥ ५२ ॥ इस युगमें मोक्षमार्ग चलानेके लिए जिस प्रकार भगवान् वृषभदेव गुरु हैं, दानकी परम्परा चलानेके लिए राजा श्रेयांस गुरु हैं और चक्रवर्तियोंकी वृत्ति चलानेमें मैं मुख्य हूँ, उसी प्रकार स्वयंचरकी विधि चलानेके लिए वे ही गुरु हैं । यदि ये अकम्पन महाराज नहीं होते तो इस स्वयंचर मार्गका चलानेवाला दूसरा कौन था ? यह मार्ग अनादि कालका है

१ जयाय । २ भरतेनैव । ३ स्नेहिता । ४ त्वया प्रथमोपक्रान्तः । ५ तत् कारणात् । ६ दोषे । ७ नियामय । ८ तूष्णीं स्थितः । ९ राक्षसानाम् । १० वचांसि साम्नां साराणि चेत् । ११ सताम् । १२ समत्वनेषाणाम् । १३ अत्रागच्छेति । १४ सिंहासनसमीपे । १५ हृतमुख्यम् । १६ प्रेषितः । १७ पुरुजिनेभ्यः । गुरुभ्यो अ०, प०, म०, ल०, इ०, स० । १८ अकम्पना एव । १९ स्वयंचरमार्गः ।

मार्गाश्चिन्तयन्तान्^१ येऽयं^२ भोगभूमितिरोहितान् । कुर्वन्ति नूतनान् सन्तः सन्निः पूज्यास्त एव हि ॥५५॥
 न चक्रेण न रत्नैश्च शेषैर्न निधिभिरस्य^३ । बलेन न बद्धश्रेण नापि पुत्रैर्मया च न ॥५६॥
 तत्रैतत् सार्वभौमत्वं जयेनैकेन केवलम् । सर्वत्र शौर्यकार्येषु तेनैव विजयो मम ॥५७॥
 म्लेच्छराजान् विनिर्जित्य नामिशैले यशोमयम् । मन्नाम स्थापितं तेन^४ किमत्राग्नेन केनचित् ॥५८॥
 अर्ककीर्तिरकीर्तिं मे कीर्तनीयामकीर्तिषु । आशशाङ्कमिहाकाशंमर्षामाघमलीमलाम् ॥५९॥
 अमुना^५ऽन्यायवर्त्मैव प्रावर्तते^६ न केवलम् । इह स्वयं च दण्ड्यानां^७ प्रथमः परिकल्पितः ॥६०॥
 अभूदयशसो रूपं मत्प्रदीपादिवाजनम् । नार्ककीर्तिरसौ स्पन्दमयशःकीर्तिरेव हि ॥६१॥
 जय एव मद्देशादीश्वरोऽन्यायवर्तिनः ।^८ सर्माकुर्यात्तत्तन्म स साधु दमितो युधि ॥६२॥
 सद्योचो यदि निर्गच्छो ज्येष्ठपुत्रोऽपि भूभुजा । इति मार्गमहं^९ तस्मिन्नद्य वर्तयितुं स्थितः ॥६३॥
 अक्षिमाला^{१०} किल प्रज्ञा^{११} तस्मै कन्याऽवलेपिने^{१२} । मन्त्रभिरशिरस्यैतद्^{१३} विरूपकमनुष्ठितम् ॥६४॥
 पुरस्कृत्येह तामिमां^{१४} नीतः सोऽपि प्रतीक्ष्यताम्^{१५} । सकलहृक्तेति किं मूर्तिः परिहर्तुं भवेद्दिशोः ॥६५॥
 उपेक्षितः सद्योचोऽपि स्वपुत्रदण्डवर्तिना । इतीदमयशः स्थापि^{१६} न्यभायि तदुक्तम्पतेः ॥६६॥
 इति सन्तोष्य विश्वेशः सौमुख्यं सुमुखं नयन् । हित्वा ज्येष्ठं मुजं^{१७} लोकं^{१८} मकरोन्व्यायमौरसम् ॥६७॥

॥५३-५४॥ इस युगमें भोगभूमिसे छिपे हुए प्राचीन मार्गोंको जो नवीन कर देते हैं वे सत्पुरुष ही सज्जनों-द्वारा पूज्य माने जाते हैं ॥ ५५ ॥ मेरा यह प्रसिद्ध चक्रवर्तीपना न तो चक्ररत्नसे मिला है, न शेष अन्य रत्नोंसे मिला है, न निधियोंसे मिला है, न छह अंगोंवाली सेनासे मिला है, न पुत्रोंसे मिला है और न मुझसे ही मिला है, किन्तु केवल एक जयकुमारसे मिला है क्योंकि शूरवीरताके सभी कार्योंमें मेरी जीत उसीसे हुई है ॥ ५६-५७ ॥ म्लेच्छ राजाओंको जीतकर ताभि पर्वतपर मेरा कीर्तिमय नाम उसीने स्थापित किया था, इस विषयमें और किसीने क्या किया है ? ॥ ५८ ॥ इस अर्ककीर्तिने तो अकीर्तियोंमें गिनने योग्य तथा स्थाही और उड़दके समान काली मेरी अकीर्ति जबतक चन्द्रमा है तबतकके लिए संसार-भरमें फैला दी ॥ ५९ ॥ इसने अन्यायका मार्ग चलाया है केवल इतना ही नहीं है । किन्तु संसारसे दण्ड देने योग्य लोगोंमें अपने आपको मुख्य बना लिया है ॥६०॥ जिस प्रकार दीपकसे काजल उत्पन्न होता है उसी प्रकार यह अकीर्तिरूप मुझसे उत्पन्न हुआ है, यह अर्ककीर्ति नहीं है किन्तु साक्षात् अयशस्कीर्ति है ॥ ६१ ॥ मेरी आज्ञासे जयकुमार ही अन्यायमें प्रवृत्ति करनेवाले इस प्रकारके लोगोंको दण्ड देता है इसलिए इसने युद्धमें जो उसे दण्ड दिया है वह अच्छा हो किया है ॥६२॥ औरको क्या बात ? यदि बड़ा पुत्र भी अपराधी हो तो राजाको उसे भी दण्ड देना चाहिए यह नीतिका मार्ग अर्ककीर्तिपर चलानेके लिए आज मैं तैयार बैठा हूँ ॥ ६३ ॥ आप लोगोंने विचार किये बिना ही उस अभिमानीके लिए अक्षमाला नामकी कन्या दे दी यह बुरा किया है ॥ ६४ ॥ अथवा उस प्रसिद्ध अक्षमाला कन्याकी भेंट देकर आपने उस अर्ककीर्तिको भी पूज्यता प्राप्त करा दी है सो ठीक ही है क्योंकि यह कलंकसहित है यह समझकर क्या चन्द्रमाकी मूर्ति छोड़ी जाती है ? ॥ ६५ ॥ परन्तु चक्रवर्तिने अपराध करनेपर भी अपने पुत्रकी उपेक्षा कर दी — उसे दण्ड नहीं दिया इस मेरे अपयशको महाराज अकम्पनने स्थायी बना दिया है ॥ ६६ ॥ इस

१ पुरातनात् पुंसः । २ युगादौ । ३ जयेन । ४ अर्ककीर्तिना । ५ प्रवर्तितम् । ६ दण्डितुं योग्यानाम् । ७ सम-
 दण्डं कुर्यात् । ८ अर्ककीर्तौ । ९ अक्षमाला अ०, म०, इ०, स०, ल० । १० दत्ता । ११ गविताय ।
 १२ कष्टम् । १३ लक्ष्मीमालाम् । १४ पूज्यताम् । १५ अकारि । १६ पुत्रम् । १७ न्यायमेव प्रथमकरोत् ।

मार्गाश्चिन्तनान्^१ येऽयं भोगभूमितिरोहितान् । कुर्वन्ति नूतनान् सन्तः सन्निः पृथ्वास्त एव हि ॥५५॥
 न चक्रेण न रत्नैश्च शेषैर्न निधिभिरस वा । बलेन न षडङ्गेन नापि पुत्रैर्मया च न ॥५६॥
 तत्रैतत् सार्वभौमत्वं जयेनैकेन केवलम् । सर्वत्र शौर्यकार्येषु तेनैव विजयो मम ॥५७॥
 म्लेच्छराजान् विनिर्दिष्ट्वा लज्जामिवैले जयतोऽयम् । साक्षात् दण्डयितुं शक्तः किमत्राप्येन केनचित् ॥५८॥
 अर्ककीर्तिरकीर्तिं मे कीर्तनीयामकीर्तिषु । आशशाङ्कमिहाकाशेन्मर्षमाघमलीमसाम् ॥५९॥
 अमुनाऽन्यायवर्त्मैव प्रावर्तयति^२ न केवलम् । इह स्वयं च दण्डयानां^३ प्रथमः परिकल्पितः ॥६०॥
 अभूद्यशसो रूपं मध्यदीपादिवाञ्जनम् । नार्ककीर्तिरसौ स्पृष्टमयशःकीर्तिरेव हि ॥६१॥
 अय एव मदादेशादीरक्षोऽन्यायवर्तिनः ।^४ सर्माकुर्यात्तस्मै न स साधु दमितो युधि ॥६२॥
 सदीपो यदि निर्ग्राह्यो ज्येष्ठपुत्रोऽपि भूभुजा । इति मार्गमहं तस्मिन्नद्य वर्तयितुं स्थितः ॥६३॥
 अक्षिमाला^५ किल प्रज्ञा^६ तस्मै कन्याऽवस्तेपिने^७ । मन्त्रद्विभिरविचार्यैतद्^८ विरूपकमनुष्ठितम् ॥६४॥
 पुरस्कृत्येह तामेतां^९ नीतः सोऽपि प्रतीक्ष्यताम्^{१०} । सकलङ्केति किं मूर्तिः परिहर्तुं भवेद्भिषोः ॥६५॥
 उपेक्षितः सदीपोऽपि स्वपुत्रदण्डवर्तिना । इतीदमयशः स्थायि^{११} व्यधायि तदकम्पनैः ॥६६॥
 इति सन्तोष्य विश्वेशः सौमुख्यं सुमुखं नयन् । हित्वा ज्येष्ठं मुजं^{१२} लोकं^{१३} मकराभ्याघर्मासम् ॥६७॥

॥५३-५४॥ इस युगमें भोगभूमिमें छिपे हुए प्राचीन मार्गोंको जो नवीन कर देते हैं वे सत्पुरुष ही सज्जनों-द्वारा पूज्य माने जाते हैं ॥ ५५ ॥ मेरा यह प्रसिद्ध चक्रवर्तीपना न तो चक्ररत्नसे मिला है, न शेष अन्य रत्नोंसे मिला है, न निधियोंसे मिला है, न छह अंगोंवाली सेनासे मिला है, न पुत्रोंसे मिला है और न मूषसे ही मिला है, किन्तु केवल एक जयकुमारसे मिला है क्योंकि शूरवीरताके सभी कार्योंमें मेरी जीत उसीसे हुई है ॥ ५६-५७ ॥ म्लेच्छ राजाओंको जीतकर ताभि पर्वतपर मेरा कीर्तिमय नाम उसीने स्थापित किया था, इस विषयमें और किसीने क्या किया है ? ॥ ५८ ॥ इस अर्ककीर्तिने तो अकीर्तियोंमें गिनने योग्य तथा स्थाही और उड़दके समान काली मेरी अकीर्ति जबतक चन्द्रमा है तबतकके लिए संसार-भरमें फैला दी ॥ ५९ ॥ इसने अन्यायका मार्ग चलाया है केवल इतना ही नहीं है । किन्तु संसारसे दण्ड देने योग्य लोगोंमें अपने आपको मुख्य बना लिया है ॥ ६० ॥ जिस प्रकार दीपकसे काजल उत्पन्न होता है उसी प्रकार यह अकीर्तिरूप मुझसे उत्पन्न हुआ है, यह अर्ककीर्ति नहीं है किन्तु साक्षात् अयशस्कीर्ति है ॥ ६१ ॥ मेरी आज्ञासे जयकुमार ही अन्यायमें प्रवृत्ति करनेवाले इस प्रकारके लोगोंको दण्ड देता है इसलिए इसने युद्धमें जो उसे दण्ड दिया है वह अच्छा हो किया है ॥ ६२ ॥ औरको क्या बात ? यदि बड़ा पुत्र भी अपराधी हो तो राजाको उसे भी दण्ड देना चाहिए यह नीतिका मार्ग अर्ककीर्तिपर चलानेके लिए आज मैं तैयार बैठा हूँ ॥ ६३ ॥ आप लोगोंने विचार किये बिना ही उस अभिमानिके लिए अक्षमाला नामकी कन्या दे दी यह बुरा किया है ॥ ६४ ॥ अथवा उस प्रसिद्ध अक्षमाला कन्याकी भेंट देकर आपने उस अर्ककीर्तिको भी पूज्यता प्राप्त करा दी है सो ठीक ही है क्योंकि यह कलंकसहित है यह समझकर क्या चन्द्रमाकी मूर्ति छोड़ी जाती है ? ॥ ६५ ॥ परन्तु चक्रवर्तीने अपराध करनेपर भी अपने पुत्रकी उपेक्षा कर दी — उसे दण्ड नहीं दिया इस मेरे अपयशको महाराज अकम्पनने स्थायी बना दिया है ॥ ६६ ॥ इस

१ पुरातनात् पुंसः । २ युगादी । ३ जयेन । ४ अर्ककीर्तिना । ५ प्रवर्तितम् । ६ दण्डितुं योग्यानाम् । ७ सम-
 दण्डं कुर्यात् । ८ अर्ककीर्तौ । ९ अक्षमाला अ०, म०, इ०, स०, ल० । १० दत्ता । ११ गर्विताय ।
 १२ कष्टम् । १३ लक्ष्मीमालाम् । १४ पूज्यताम् । १५ अकारि । १६ पुत्रम् । १७ न्यायमेव प्रथमकरोत् ।

सुमुखस्तथा^१ मारमिव बौद्धं^२ तदाक्षमः । स जयोऽकम्पनो देव देवस्य नमसि कर्म ॥६८॥
 लब्धप्रसाद इत्युक्त्वा क्षिप्त्वाऽङ्गानि प्रणम्य तम् । विकसद्भूतनाम्भोज समुत्थाय कृताञ्जलिः ॥६९॥
 हस्त एषोन्मुखौ तौ^३ त्व^४ त्वसीच्छन्तौ^५ मदागतिम्^६ । आस्थातां चातको घृष्टिं प्रावृषो वाऽदिवा^७ मुचः ॥७०॥
 इति विज्ञाप्य चक्रेणात्^८ कृतानुज्ञः कृतस्वरः । संप्राप्याकम्पनं नत्वा सजयं विहितादरम् ॥७१॥
 गोभिः^९ प्रकाश्य रक्तस्य प्रसादं चक्रवर्तिनः । रवेर्वा घाम^{१०} रारम्भस्तद्वक्त्राञ्जं व्यकामयत ॥७२॥
 माधुवादैः सदानैश्च संमानैस्तौ च तं तदा ।^{११} आनिम्यतुरनिर्घातिं कृतजा द्वि महीभृतः ॥७३॥
 इत्यतर्कोदयावासिविभासितशुभोदयः ।^{१२} अनुषिवान् जयः श्रीमान् सुखेन श्वासुरै^{१३} कुलम् ॥७४॥
 सुलोचनामुत्ताम्भोजवदपदायितलोचनः । अतद्भाषणुवाप्यैकतूणीरायिसविग्रहः ॥७५॥
 तथा प्रवृत्ते सङ्ग्रामे सायकैरक्षतः क्षतः^{१४} ।^{१५} पेलवैः कुसुमैरेभिर्विचित्रा त्रिधिवृतयः ॥७६॥
 अस्मितां तस्मितां कुर्वन्नहसन्तीं सहासिकाम्^{१६} । सभयां निर्भयां बालामाकुलां तामनाकुलाम् ॥७७॥

प्रकार सबके स्वामी महाराज भरतने सुमुख नामके दूतको सन्तुष्ट कर उसका मुख प्रसन्न किया और अनेक पुत्रको ओझर धामकी वही अपनने अस्स पुत्र बनाया । भावार्थ—न्यायके सामने बड़े पुत्रका भी पक्ष नहीं किया ॥६७॥ उसी समय चक्रवर्तीकी दयाका भार वहन करनेके लिए मानो असमर्थ हुआ सुमुख कहने लगा कि 'हे देव, जिन्हें आपका प्रसाद प्राप्त हो चुका है ऐसे जयकुमार और अकम्पन दोनों ही आपके चरणोंकी नमस्कार करते हैं, ऐसा कहकर उस दूतने अपने समस्त अंग पृथ्वीपर डालकर चक्रवर्तीको प्रणाम किया और जिसका मुखरूपी कमल विकसित हो रहा है तथा जिसने हाथ जोड़ रखे हैं ऐसा वह दूत खड़ा होकर फिर कहने लगा कि "जिस प्रकार दो चातक वर्षा ऋतुके पहले बादलसे वर्षा होनेकी इच्छा करते हैं उसी प्रकार जयकुमार और अकम्पन आपके समीपसे मेरे आनेकी इच्छा करते हुए इसी ओर उन्मुख होकर बैठे होंगे" ऐसा निवेदन कर जिसने चक्रवर्तीसे आज्ञा प्राप्त की है ऐसे उस दूतने बड़ी शीघ्रतासे जाकर आदरके साथ महाराज अकम्पन और जयकुमारको नमस्कार किया तथा वचनोंके द्वारा अनुराग करनेवाले चक्रवर्तीकी प्रसन्नता प्रकट कर उन दोनोंके मुखकमल इस प्रकार प्रफुल्लित कर दिये जिस प्रकार कि दिनका प्रारम्भ समय (प्रातःकाल) किरणोंके द्वारा लाल सूर्यकी प्रसन्नता प्रकट कर कमलोंको प्रफुल्लित कर देता है ॥६८-७२॥ उस समय उन दोनों राजाओंने धन्यवाद, दान और सम्मानके द्वारा उस दूतको अत्यन्त प्रसन्न किया था सो ठीक ही है क्योंकि राजा लोग किये हुए उपकार माननेवाले होते हैं ॥७३॥ इस प्रकार विचारातीत वैभवकी प्राप्तिसे जिसके शुभ कर्मका उदय प्रकट हो रहा है ऐसा वह श्रीमान् जयकुमार सुखसे श्वासुरके घर रहने लगा ॥७४॥ जिसके नेत्र सुलोचनाके मुखरूपी कमलपर भ्रमरके समान आचरण करते थे और जिसका शरीर कामदेवके बड़े-बड़े बाण रखनेके लिए तरकसके समान हो रहा था ऐसा वह जयकुमार युद्ध होनेपर बाणोंसे उस प्रकार घायल नहीं हुआ था जिस प्रकार कि अत्यन्त कोमल कामदेवके इन फूलोंके बाणोंसे घायल हो गया था सो ठीक ही है क्योंकि देवलीला बड़ी विचित्र होती है ॥७५-७६॥ वह जयकुमार मुसकराहटसे रहित सुलोचनाको मुसकराहटसे युक्त करता था, न हँसनेपर जोरसे हँसाता था, भययुक्त होनेपर निर्भय करता था, आकुल होनेपर निराकुल करता था, वार्तालाप न करनेपर

१ चक्रकृपा । २ अकम्पनजयकुमारो । ३ त्वत्तः । ४ वाञ्छन्तौ । ५ मदागमनम् । ६ प्रथममेधात् । ७ चक्रवर्तिनः । ८ वाग्भिः किरणैश्च । ९ दिवसारम्भः । १० नीतवन्ती । ११ स्थितवान् । १२ मातुलसम्बन्धिनि गृहे । १३ पीडितः । १४ मनुभिः । १५ हाससहिताम् ।

अनालपन्नामालाप्य लोचमानो विलोकिनीम् । अस्पृशन्तीं समामृष्ट्य व्यवाद् वीहाविलोपनम् ॥७८॥
 कृतं भवान्तरावृतस्नेहवल्गुशालिना^१ । सुलोचनायाः कौश्यः कामं^२ कामं कामुकः ॥७९॥
 सुलोचनामनोवृत्ती रागाभूतकरोद्धुरा^३ । क्रमाच्चाल वेलेव कामनामसहामुधेः ॥८०॥
 मुकुले वा मुखे चक्रे विकासोऽस्याः क्रमात्पदम्^४ । आक्रान्तशूर्पकारातिग्रहानक्षरसूचनः ॥८१॥
 सखीमुखानि संवीक्ष्य जज्ञपित्वा^५ दिशामसा^६ । स्वैरं हसितुमारब्धं गृहीतमदनग्रहा ॥८२॥
 सिसृक्षेऽसितलं संकीर्णक्षेत्रीभरं^७ । अथ तत्पूजितं कृत्वा नृपमतिष्कशम्^८ ॥८३॥
 सस्यध्वसा सलज्जा सा विध्याध विविधैर्मनाक् । अनालोकनवेलायामति^९ सन्निधयैव तम् ॥८४॥
 न सुजज्ञेन संदष्टा नापि संसेवितासया । न श्रमेण समाक्रान्ता तथापि^{१०} स्वस्थति स्म सा ॥८५॥
 स्थलन्ति स्म^{११} कलालापाशकस्य हृदयं भूषाम् । चलान्यालोकितान्यासन्नचक्षो वारमनश्च^{१२} सा ॥८६॥
 प्रक्षालितं लज्जाश्यात् सुदय्याः स्वैर्द्वारिभिः । वागिमवर्णैर्व्यर्द्धपिष्ट विचित्रश्चित्तजोऽनलः^{१३} ॥८७॥
 तावत्प्रया भयं तावत्ताश्चकृभ्यविचारणा । तावद्व श्रुतिर्वाविजृम्भनं न स्मरज्वरः ॥८८॥

उससे वार्तालाप करता था, अपनी ओर देखनेपर उसे देखता था, और स्पर्श न करनेपर उसका स्पर्श करता था । इस प्रकार यह सब करते हुए जयकुमारने सुलोचनाकी लज्जा दूर की थी ॥७७-७८॥ पूर्व पर्यायमें बंधे हुए स्नेहरूपी वलसे शोभमान कामदेवने इच्छानुसार जयकुमारको सुलोचनाका सेवक बना लिया था ॥७९॥ रागरूपी चन्द्रमाके सम्बन्धसे बढ़ी हुई, कामदेव नामक महासागरकी वेलाके समान सुलोचनाके मनकी वृत्ति क्रम-क्रमसे चंचल हो रही थी ॥८०॥ सब शरीरमें घुसे हुए कामदेवरूपी पिशाचके द्वारा बिना कुछ बोले ही जिसकी सूचना हो रही है ऐसे विकासने सुलोचनाके मुखरूपी मुकुलपर धीरे-धीरे अपना स्थान जमा लिया था ॥८१॥ कामरूपी पिशाचकी ग्रहण करनेवाली सुलोचना सखियोंके मुख देखकर दिशाओंसे बातचीत कर अर्थात् निरर्थक वचन बोलकर इच्छानुसार हँसने लगी ॥८२॥ उस समय भय और लज्जा सहित सुलोचना कामदेवको जोतनेवाले जयकुमारको न देखने योग्य समयमें मानो ठगनेकी इच्छासे ही कामदेवकी अपना सहायक बनाकर सफेद काले इन दोनों रंगोंसे मिले हुए चंचल कटाक्षोंसे भरी हुई दृष्टिरूपी अनेक तोमर नामके हथियारोंसे धीरे-धीरे मार रही थी ॥८३॥ जब जयकुमार उसकी ओर नहीं देखता था उस समय भी वह सफेद, काले और चंचल कटाक्षोंसे भरी दृष्टिसे उसे देखती रहती थी और उससे ऐसा मालूम होता था मानो यह उसे ठगना ही चाहती है ॥८४॥ उस समय उसे न तो सर्पने काटा था, न उसने मद्य ही पिया था, और न परिश्रमसे ही वह आक्रान्त थी तथापि वह पसीनेसे तर हो रही थी ॥८५॥ उसके मधुर भाषण स्खलित हो रहे थे, हृदय अत्यन्त कंप रहा था, दृष्टि चंचल हो रही थी और वह ऐसी जान पड़ती थी मानो अपने बक्षमें ही न हो ॥८६॥ सुन्दर दाँतोंवाली सुलोचनाकी लज्जा इस प्रकार तट्ट हो गयी थी मानो उसके पसीनारूपी जलसे धुल ही गयी हो और कामदेवरूपी विचित्र अग्नि वचनरूपी ईंधनसे ही मानो खूब प्रज्वलित हो रही थी ॥८७॥ जबतक कामदेवरूपी ज्वर नहीं बढ़ता है तबतक ही लज्जा रहती है, तबतक ही भय रहता है, तबतक ही करने योग्य कार्यका विचार रहता है और तबतक ही धैर्य रहता है ॥८८॥

१ सामर्थ्य । २ अत्यर्थम् । ३ इच्छुः । ४ अनुरागचन्द्रेणोत्कटा । ५ स्थानम् । ६ प्राप्तकामग्रहमक्षरेण बिना सूचकः । ७ सहचरो । ८ निरर्थकादिदोषदुष्प्रमुक्त्वा । ९ उपक्रान्तवती । १० श्वेतकृष्णसंघट्ट । ११ सहायम् । १२ वञ्चनेच्छया । १३ स्वैरवती बभूव । १४ मनोज्ञवचनानि । १५ स्वस्थ पराधीनेव अथवा आत्मनः यो अघोने न वा नासीदिति । १६ चित्तजानलः अ०, य०, इ०, स०, ल० ।

विषयीकृत्य सर्वेषामिन्द्रियाणां परस्परम् । परामवापतुः प्रीतिं दम्पती तौ पृथक् पृथक् ॥८९॥
 अत्यासङ्गात् क्रमग्राहिकरणैस्तावत्प्रीतिः । अनिन्दसामशेषैककरणाकारिणं विधिम् ॥९०॥
 अम्योन्यविषयं सौख्यं स्वकत्वाऽशेषान्यगोचरम् । स्लोकेन सुखमप्राप्तं प्रापतुः परमात्मनः ॥९१॥
 संप्राप्तभावपर्यन्तौ विदुर्न स्वयं च तौ । सुखैकं शं सहैवोद्यस्वक्रियोद्वेकमममम् ॥९२॥
 रतावसाने^१ निःशक्योर्गाहौत्सुक्यात् प्रपश्यतोः^२ । तयोस्त्योन्यमामातो^३ नेत्रयोरिव पुत्रिके ॥९३॥
 अवापि या तथा प्रीतिस्तस्मात्तेन^४ च या ततः^५ । तयोस्त्योन्यमेवासीदुपमानोपमेयता ॥९४॥
 सुखमात्मभरित्वेन^६ यत्सुखं परमात्मना । ततोऽप्यधिकमासीद्वा^७ संश्रितोऽपि^८ तस्योः ॥९५॥
 इत्यन्योन्यसमुद्भूतप्रीतिस्फीतामृतात्मसि । कामाभ्युधौ निमग्नी तौ स्वैर^९ चिक्रीडतुश्चिरम् ॥९६॥
 नदा स्वमन्त्रिप्र^{१०} हितगूढपद्मार्धचोदितः । जयो जिगमिषुस्तूष्णं^{११} स्वस्थानीयं^{१२} धियो वशः ॥९७॥

वे दोनों दम्पती परस्पर पृथक्-पृथक् सब इन्द्रियोके विषयोका सेवन कर परम आनन्दको प्राप्त हो रहे थे ॥८९॥ अत्यन्त आसक्तिके कारण, क्रम-क्रमसे एक-एक विषयको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियोसे वे सन्तुष्ट नहीं होते थे इसलिए सब इन्द्रियोको एक इन्द्रियरूप न करनेवाले विधाता-की वे निन्दा करते रहते थे । भावार्थ — उन दोनोंकी विषयासक्ति इतनी बड़ी हुई थी कि वे एक साथ ही सब इन्द्रियोके विषय ग्रहण करना चाहते थे परन्तु इन्द्रियां अपने प्राकृतिक नियमके अनुसार एक समयमें एक ही विषयको ग्रहण कर पाती थीं अतः वे असन्तुष्ट होकर सब इन्द्रियोको एक इन्द्रियरूप न बनानेवाले नामकर्तृरूपी ब्रह्माकी सदा निन्दा करते रहते थे ॥९०॥ उन दोनोंने सब साधारण लोगोंको मिलनेवाला परस्परका सुख छोड़कर आत्माका वह उत्कृष्ट सुख प्राप्त किया था जो कि अन्य छोटे-छोटे लोगोंको दुष्प्राप्य था ॥९१॥ जिनके भावोंका अन्त आ चुका है ऐसे वे दोनों ही एक साथ उत्पन्न हुई अपनी क्रियाओंके उद्वेकसे उत्पन्न होनेवाले एक सुखको छोड़कर और कुछ नहीं जानते थे ॥९२॥ सम्भोग क्रीड़ाके अन्तमें अशक्त हुए तथा गाढ़ उत्कण्ठाके कारण परस्पर एक दूसरेको देखते हुए उनके नेत्रोंकी पुतलियां एक दूसरेके नेत्रोंकी पुतलियोंके समान ही सुशोभित हो रही थीं । (यहाँ अनन्वयालंकार होनेसे उपमेय ही उपमान हो गया है) ॥९३॥ सुलोचनाने जयकुमारसे जो सुख प्राप्त किया था और जय-कुमारने सुलोचनासे जो सुख पाया था उन दोनोंका उपमानोपमेय भाव परस्पर — उन्हीं दोनोंमें था ॥९४॥ परमात्माने स्वावलम्बी होकर जिस सुखका अनुभव किया था उन दोनोंका वह सुख परस्परमें विभक्त होनेपर भी उससे कहीं अधिक था । भावार्थ — यद्यपि उन दोनोंका सुख एक दूसरेके संयोगसे उत्पन्न होनेके कारण परस्परमें विभक्त था, तथापि परिमाणकी अपेक्षा परमात्माके पूर्ण सुखसे भी कहीं अधिक था । (यहाँ ऐसा अतिशयोक्ति अलंकारसे कहा गया है वास्तवमें तो वह परमात्माके सुखका अनन्तवां भाग भी नहीं था) ॥९५॥ इस प्रकार परस्परमें उत्पन्न होनेवाले प्रेमामृतरूपी जलसे भरे हुए कामरूप समुद्रमें डूबकर वे दोनों चिरकाल तक इच्छानुसार क्रीड़ा करते रहे ॥९६॥ उसी समय एक दिन जो अपने मन्त्रीके द्वारा

१ अत्यासङ्गतः । २ क्रमवृत्त्या पदार्थग्राहीन्द्रियैः । ३ निन्दां चक्रतुः । ४ सकलेन्द्रियविषयाणामेकमेवेन्द्रिय-मकुर्वन्तम् । ५ सामान्यपुरुषेण । ६ उत्तमम् । ७ स्वस्य । परमात्मनः परमपुरुषस्येति ध्वनिः । ८ स्त्रीला । ९ बुबुधात् । १० आत्मनो । ११ सुखम् । १२ सहैव प्रादुर्भवन्निजचुम्बनादिसमृत्कटसंभूतम् । १३ सुरत-क्रीडावसाने । १४ परस्परमालोकमानयोः सतोः । १५ व्यराजताम् । १६ जयकुमारात् । १७ सुलोचनायाः । १८ प्रीत्योः । १९ स्वोदरपूरकत्वेन । 'उभावात्मभरिः स्वोदरपूरके' इत्यभिधानात् । २० परमात्मसुखात् । २१ वा अवधारेण । २२ विभजने । २३ सुखम् । २४ प्रेरितः । २५ शीघ्रम् । २६ स्वां पुरीम् । स्वं स्थानं-ल० ।

भवन्मिर्भाषितैश्चर्यं मां सदीया^१ दिदृक्षवः^२ । इति मामं^३ समभ्येक्ष्य^४ प्रस्थानार्थमनुवृत्त^५ ॥१८॥
 तदनुवृत्त्या नाश्रयंशोभः^६ किञ्चिदार्मान् ससंभ्रमः । जयं^७ जिगमिषौ स्वस्मात् स्यात् कस्याकुलं मनः ॥
 विचारं कार्यपर्यायं^८ तथास्तिवत्याह तं नृपः । स्नेहानुवर्तिनीं नैति^९ दीपिकां वा धियं सुधीः^{१०} ॥१९॥
 प्रादात्^{११} प्रागेव सर्वस्वं तस्मै दत्तमुलोचनः । तथापि लौकिकाचारं परिपालयितुं प्रभुः ॥१९॥
 दत्त्वा कौशादि सर्वस्वं स्त्रीकृत्य^{१२} प्रीतिमान्मनः । अनुगम्य स्वयं दूरं शुभेऽहनि वधूवरम् ॥१९॥
 कथं कथमपि व्यक्त्वा स^{१३} सजानिर्जनाग्रणीः^{१४} । व्यावर्तनतः शोकी^{१५} पुण्यविशो गो हि वुः सहः ॥१९॥
 विजया^{१६} समारम्भे जयाशये संसुलोचनः^{१७} । आरुदसामजैः सर्वैः स्वानुजैर्विजयादिभिः ॥१९॥
 हेमाङ्गदकुमारेण सानुजेन च सोत्सवः । प्रवर्तयन् कथाः पथ्याः^{१८} परिहासं मनोहराः ॥१९॥
 वृत्तः शशीव नक्षत्रैरनुगङ्गं^{१९} यथा शमैः । इलां संचालयन् प्राग्धा^{२०} श्रीमान् स जयसाधनः ॥१९॥
 स्कन्धावारं^{२१} यथास्थानं पारेगङ्गं^{२२} श्यर्वाविशत् । वीक्ष्य कञ्चपुटत्वेन प्रशास्ता^{२३} शास्त्रविस्तदा ॥१९॥
 हृत्पटकुटीकोटिनिकटाटोपनिर्गमः । कमासे^{२४} शिबिरावातः स्वर्गवास इवापरः ॥१९॥

मेजे हुए पत्रके गुह्य अर्थसे प्रेरित हो रहा है, बुद्धिमान् हैं, और शीघ्रसे शीघ्र अपने स्थानपर पहुँचनेकी इच्छा कर रहा है ऐसे जयकुमारने मामा (स्वसुर) के पास जाकर अपने जानेकी सूचना दी कि हे माम, आपने जिसका ऐश्वर्य बढ़ाया है ऐसे मुझे मेरी प्रजा देखना चाहती है । ॥१७-१८॥ यह जानकर नाथवंशका स्वामी अकम्पन कुछ घबड़ाया सो ठीक ही है क्योंकि अपनेसे जय (जयकुमार अथवा विजय) के जानेकी इच्छा करनेपर किसका मन व्याकुल नहीं होता है ? ॥१९॥ तदनन्तर कार्योका पूर्वापर विचार कर राजा अकम्पनने जयकुमारसे 'तथास्तु' कहा सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धिमान् मनुष्य दीपिकाके समान स्नेह (तेल अथवा प्रेम) का अनुवर्तन करनेवाली बुद्धिको नहीं प्राप्त होते हैं । भावार्थ—बुद्धिमान् मनुष्य स्नेहके पीछे बुद्धिको नहीं छोड़ते हैं ॥१९॥ यद्यपि महाराज अकम्पन, सुलोचनाको देकर पहले ही जयकुमारको सब कुछ दे चुके थे तथापि लौकिक व्यवहार पालन करनेके लिए अपने प्रेमके अनुसार खजाना आदि सब कुछ देकर उन्होंने किसी शुभ दिनमें वधू-वरको विदा किया । सब मनुष्योंमें श्रेष्ठ महाराज अकम्पन अपनी पत्नीसहित कुछ दूर तक तो स्वयं उन दोनोंके साथ-साथ गये फिर जिस किसी तरह छोड़कर शोक करते हुए वहाँसे वापस लौट आये सो ठीक ही है क्योंकि सन्तानका वियोग बड़े दुःखसे सहा जाता है ॥१९१-१९३॥ जयकुमार भी सुलोचना सहित विजयार्थ नामके हाथीपर सवार होकर अन्य-अन्य हाथियोंपर बैठे हुए विजय आदि अपने सब छोटे भाइयों तथा लघु सहोदरोंसे युक्त हेमाङ्गदकुमारके साथ बड़े उत्सवसे मार्गमें कहने योग्य हँसी विनोदकी मनोहर कथाएँ कहता हुआ और पृथिवीको हिलाता हुआ नक्षत्रोंसे घिरे हुए चन्द्रमाकी तरह गंगाके किनारे धीरे-धीरे इस प्रकार चला जिस प्रकार कि पहले दिग्विजयके समय सेनाके साथ-साथ चला था ॥१९४-१९६॥ शास्त्रोंके जाननेवाले और सबपर शासन करनेवाले जयकुमारने उस समय गंगाके किनारे यथायोग्य स्थानपर घासवाली जमीन देखकर सेनाके डेरे कराये ॥१९७॥ देदीप्यमान कपडोंके करोड़ों तम्बुओंके समीप ही जिसमें आने-जानेका मार्ग

१ अस्मदीयाः बन्धुमित्रादयः । २ द्रष्टुमिच्छन्तः । ३ स्वसुरम् । ४ संप्राप्य । ५ गमनप्रयोजनम् । ६ आपयति स्म । ७ अकम्पनः । ८ विजये इति ध्वनिः । ९ कार्यकम्पम् । १० न गच्छति किम् । ११ शोभना धीरस्य सः । १२ ददाति स्म । १३ स्वस्य प्रीतिमेकामेव स्वीकृत्य । १४ स्त्रीसहितः । १५ अकम्पनः । १६ व्याघ्र-टितवान् । १७ पुत्रवियोगः । १८ विजयाद्विगमम् । १९ पथि हिताः । २० गङ्गामनु । २१ पूर्वदिग्विजये यथा । २२ शिबिरम् । २३ गंगातीरे । २४ जयकुमारः । २५ शुभमद्वेषकुटीसमूहामश्वविस्तृतनिर्गमः । २६ रराज ।

तत् (तं) प्राप्य म्बिधुरं रुधा स राजद्वारि राजकम् । विसृज्योच्चैः प्रविश्यान्तरवर्तार्थं निपाद्य तम् ॥
 राजा सुलोचनां चावरोप्य स्वभुजलम्बिनीम् । निविश्य स्वोचिते स्थाने मृदुशय्यातले मुखम् ॥११०॥
 तत्कालोचितवृत्तजः प्रियां संतर्पयन् प्रियैः । स्नानभोजनवाग्वाद्यगीतनृत्यप्रिनोदनैः ॥१११॥
 नीत्वा रात्रिं सुखं तत्र प्रत्याग्य प्रत्ययं^१ स्थितः । तां निवेद्य समाश्वास्य हेमाङ्गदपुरस्सरान् ॥११२॥
 निधीज्य स्वानुजान् सर्वान् सभ्यककटकेक्षणैः । आप्तैः कतिपयैरेव प्रत्ययोध्यमिधाय सः ॥११३॥
 अर्ककीर्त्यादिभिः प्रष्टैः^२ प्रत्यागत्य प्रतीक्षितः । सस्नेहं सादरं भूयः कुमारंणालपन् पुरीम् ॥११४॥
 सानुरागाद् स्वयं रागाद् प्राविशद्वा विशां पतिः^३ । न पूजयन्ति के षाऽन्ये पुरुषं राजपूजितम् ॥११५॥
 इन्द्रो वेमाद् वह्निर्द्वाराजिनस्योत्तोर्यं भूपतेः ।^४ समागेहं समासाद्य मणिकुट्टिमभूतलम् ॥११६॥
 मध्ये^५ तस्य स्फुरद्गजखचितस्तम्भसम्भूते ।^६ विचित्रनेत्रविम्वस्तसद्वितानविराजिते ॥११७॥
 मणिमुक्ताफलप्रौ^७ तलम्बलम्बूषभूषणे^८ । पराधररत्नभाजालजटिले मणिमण्डपे^९ ॥११८॥
 विभुं ज्योतिर्गोमे^{१०} त्रिशक्तिम्^{११} रुद्रकीर्ति^{१२} त्रैलोक्यमणं^{१३} सुसल्लभभिः ॥११९॥

बनाया गया है ऐसा वह सेनाका आवास (पड़ाव) इस प्रकार सुशोभित हो रहा था मानो स्वर्गका दूसरा आवास ही हो ॥११०८॥ जयकुमारने अपने डेरेके पास जाकर उसके बड़े दरवाजेके समीप ही अपना हाथी रोका, वहीं सब राजाओंको विदा किया फिर ऊँचे तम्बूके भीतर प्रवेश कर हाथीको बैठाया—स्वयं उतरे, अपनी भुजाओंका सहारा लेनेवाली सुलोचनाको भी उतारा और अपने योग्य स्थानमें कोमल शय्यातलपर सुखसे विराजमान हुए । फिर उस समयके योग्य समाचारोंको जाननेवाले जयकुमारने स्नान, भोजन, वार्तालाप, बाजे, गीत, नृत्य आदि मनोहर विनोदोंसे सुलोचनाको सन्तुष्ट किया, रात्रि वहीं सुखसे बितायी, वहाँ ठहरनेका कारण बतलाया, उसे समझा-बुझाकर बहीपर रखा, हेमाङ्गद आदि सुलोचनाके भाइयोंको भी वहाँ रखा, अपने सब छोटे भाइयोंको अच्छी तरह सेनाकी रक्षा करनेमें नियुक्त किया और फिर कुछ आप्त पुरुषोंके साथ अयोध्याकी ओर समन किया ॥११०९-११३॥ अयोध्या पहुँचनेपर अर्ककीर्ति आदि अच्छे-अच्छे पुरुषोंने सामने आकर जिसका स्वागत किया है, तथा जो बड़े स्नेह और आदरके साथ अर्ककीर्तिसे वार्तालाप कर रहा है ऐसे राजा जयकुमारने अनुराग करनेवालोंके साथ-साथ बड़े प्रेमसे अयोध्यापुरीमें प्रवेश किया सो ठीक ही है क्योंकि अन्य ऐसे पुरुष कौन हैं जो राजमान्य पुरुषकी पूजा न करें ॥११४-११५॥ जिस प्रकार इन्द्र समवसरणके बाह्य दरवाजेपर पहुँचकर हाथीसे उतरता है उसी प्रकार जयकुमार भी राजभवनके बाह्य दरवाजेपर पहुँचकर हाथीसे उतरा और सभागृहमें पहुँचा । उस सभागृहकी जमीन मणियोंसे जड़ी हुई थी, उसके मध्यमें एक रत्नमण्डप था जो कि देदीप्यमान रत्नोंसे जड़े हुए खम्भोंसे भरा हुआ था, अनेक प्रकारके रेशमी वस्त्रोंके तने हुए चन्देवोंसे सुशोभित था, मणियों और मोतियोंसे गुथे हुए लम्बे-लम्बे फनूस रूप आभूषणसे युक्त था, और बहुमूल्य रत्नोंको कान्तिके जालसे व्याप्त था । जिस प्रकार उदयाचलपर सूर्य सुशोभित होता है उसी प्रकार उस रत्नमण्डपमें ऊँचे सिंहासनपर बैठे हुए महाराज भरत सुशोभित हो रहे थे । जिस प्रकार ज्योतिषी देवोंके समूहसे चन्द्रमा सुशोभित होता है उसी प्रकार महाराज भरत भी अनेक राजाओंसे सुशोभित हो रहे थे, उनपर अपनी कीर्तिके समान निर्मल चमर दुलाये जा रहे थे, इन्द्रके

१ राजसमूहम् । २ उपविश्य । ३ तं गजम् । ४ प्रतिबोध्य । ५ कारणम् । ६ अयोध्यां प्रति । ७ मुखैः । ८ पूजितः । ९ चक्रवर्ति । १० समवसरणमिव भूपतेः सभागृहमिति संभवः । ११ सभागृहस्य । १२ पट-प्रस्वकृत । १३ खचित । १४ दाम । १५ रत्नमण्डपे ल० । १६ चामरैः ।

‘देवेनान्यसामान्यमाननां मम कुर्वता ।’^१ ऋणीकृतः क्व^२ वाऽऽनृत्यं भवान्तरशतेष्वपि ॥ १३३ ॥
 नाथेन्दुवंशमशोभौ^३ पुरुषा विहितौ त्वया । वर्द्धितौ पालितौ स्थापितौ च याचकसत्तलम् ॥ १३४ ॥
 इति प्रश्रयणीं याणीं श्रुत्वा तस्य निर्धाद्वरः । तुष्ट्या संपूज्य पूजाविद्वत्प्रामर्यवाहनैः ॥ १३५ ॥
 दत्त्वा सुलोचनायै च तद्योग्यं विसर्ज्य तम् । महीं प्रियामिवालिङ्ग्य तं^४ प्रणम्य ययौ जयः ॥ १३६ ॥
 संपत्संपन्नपुण्यानामनुबध्नाति^५ संपदम् । पौरैर्वनी पकानीकैः स्तूयमानस्वसाहसः ॥ १३७ ॥
 पुराद् गतं समारुह्य^६ निष्कस्ये^७ सुर्मनःप्रियाम् । सद्यो गङ्गां समासक्तः दृष्टमनोवेगबोधितः ॥ १३८ ॥
 शुष्कभूरुहशालाग्रे संमुखीभूय भास्वतः^८ । ‘स्वन्तं’^९ ध्वाङ्क्ष्मालोष्य कान्तायाश्चिन्तयन्मथम् ॥
 मूर्च्छितः प्रेमसद्भावात् तादृशो धिक् सुखं रतेः । समाश्वास्य तदीपायैः सुखमास्ते सुलोचना ॥ १४० ॥
 जलाद् भयं भवेत् किञ्चिद्भ्रमाकं शकुनादितः । हन्युदीर्घैर्जितशेन शकुनशेन सान्त्वितः^{१०} ॥ १४१ ॥
 सुरदेवस्य^{११} तद्वाक्यं कृत्वा प्राणायलम्बनम् । वज्रं स सत्वरं^{१२} मोहादनीर्धेऽधोदयद् गजम् ॥ १४२ ॥
 हेयोपेयविवेकः^{१३} कः कामिलां मुग्धचेतसाम् । उरगुत्तरं स्फुरदन्तं^{१४} प्रोद्यत्प्रतिमानकम् ॥ १४३ ॥

सबमें कौन हैं ? — मेरी गिनती ही क्या है ? ॥ १३२ ॥ हे देव, जो दूसरे साधारण पुरुषोंको न प्राप्त हो सके ऐसा मेरा सन्मान करते हुए आपने मुझे ऋणी बना लिया है सो क्या सैकड़ों भवोंमें भी कभी इस ऋणसे छूट सकता हूँ ? ॥ १३३ ॥ हे स्वामिन्, ये नाथवंश और चन्द्र वंशरूपी अंकुर भगवान् आदिनाथके द्वारा उत्पन्न किये गये थे और आपके द्वारा वर्द्धित तथा पालित होकर जबतक पृथिवी है तबतकके लिए स्थिर कर दिये गये हैं ॥ १३४ ॥ आदर-सत्कारको जाननेवाले महाराज भरत इस प्रकार विनयसे भरी हुई जयकुमारकी वाणी सुनकर बहुत ही सन्तुष्ट हुए, उन्होंने वस्त्र, आभूषण तथा सवारी आदिके द्वारा जयकुमारका सत्कार किया तथा सुलोचनाके लिए भी उसके योग्य वस्त्र, आभूषण आदि देकर उसे विदा किया । जयकुमारने भी प्रियाके समान पृथिवीका आलिङ्गन कर महाराज भरतको प्रणाम किया और फिर वहाँसे चल दिया । इसलिए कहना पड़ता है कि पुण्य सम्पादन करनेवाले पुरुषोंकी सम्पदाएँ सम्पदाओंको बढ़ाती हैं । इस प्रकार नगरनिवासी लोग और याचकोंके समूह जिसके साहसकी प्रशंसा कर रहे हैं ऐसा वह जयकुमार हाथीपर सवार होकर नगरसे बाहर निकला और अपनी हृदयवल्लभाको प्राप्त करनेकी इच्छा करता हुआ अपने मनके वेगसे प्रेरित हो शीघ्र ही गंगाके किनारे आ गया ॥ १३५-१३८ ॥ वहाँपर सूखे वृक्षकी डालोके अग्रभागपर सूर्यकी ओर मुँह कर रोते हुए कौण्ठको देखकर वह कुमार प्रियाके भयको आशंका करता हुआ वैसा शूरवीर होनेपर भी प्रेमके वश मूर्च्छित हो गया । आचार्य कहते हैं कि ऐसे रागसे उत्पन्न हुए सुखको भी धिक्कार है । चेष्टासे हृदयकी बातको समझनेवाले और शकुनको जाननेवाले पुरोहितने उसी समय अनेक उपायोंसे सचेत कर आश्वासन दिया और कहा कि सुलोचना तो अच्छी तरह है । इस शकुनसे यही सूचित होता है कि हम लोगोंको जलसे कुछ भय होगा इस प्रकार कहकर पुरोहितने जयकुमारको शान्त किया ॥ १३९-१४१ ॥ उस पुरोहितके वचनोंको प्राणोंका सहारा मानकर वह जयकुमार शीघ्र ही आगे चला और भूलसे उसने अघाटमें ही हाथी चला दिया सो ठीक ही है, क्योंकि विचारहीन कामी पुरुषोंको हेय उपादेयका ज्ञान कहाँ होता है ?

१ अकम्पनेन । २ ऋणेन तद्वान् कृतः । ३ कस्मिन् भवान्तरे । ४ वा अवधारणे । अनृत्यम् आनृत्यम् । ५ जन्मनी । ६ चक्रिणम् । ७ जनयति । ८ याचक । ९ प्राप्तुमिच्छुः । १० रवेः । ११ ध्वनन्तम् । १२ वाय-
 सम् । ‘काके तु करटारिष्टबलिपुष्टसङ्कल्पनाः । ध्वाङ्क्षात्मघोषपरमूवबलिभुग्वायसा अपि ।’ इत्यभिधानात् ।
 १३ सामवचनं नीतः । १४ वाकुनिकस्य । १५ अजलोत्तारप्रदेशे । ‘तीर्थं प्रवचने पात्रे लब्धास्नाये विदां परे ।
 पुण्यारण्ये जलोत्तारे महानद्या महामुनी ।’ १६ उपादेय । १७ प्रोद्यत्कुम्भस्थसस्याबोभागप्रदेशकम् । ‘अधः
 कुम्भस्य वाहीत्यर्थं प्रतिमानमधोऽस्य यत् ।’ इत्यभिधानम् ।

तस्तं^१ मकराकारं मध्ये^२दृग्मिमाधिवम् । देवी कालीति पूर्वोक्ता^३ सरयवाः^४ सङ्गमे^५अहीनः ॥१४४॥
 नक्राकृत्या स्वदेशस्थः क्षुद्रोऽपि महतां बली । दृष्ट्वा गर्वं निमज्जन्तं प्रयागस्थं^६ तटे स्थिताः ॥१४५॥
 संस्रमं नहापेत्^७ हृदं हेमाङ्गदादयः । सुलोचनाऽपि तान्नीक्ष्य कुलपञ्चनमस्कृतिः ॥१४६॥
 मन्त्रमूर्तिं न ममाधाय हृदये भक्तितां^८हृतः । उपसर्गापसर्गान्तं^९ त्यक्त्वाहारशरीरिका ॥१४७॥
 प्राविशद् बहुभिः सार्धं गङ्गां गङ्गेव देवता ।^{१०} गङ्गापतप्रतिष्ठानगङ्गाकूटाधिदेवता ॥१४८॥
 विबुध्यासनकम्पेन कृतज्ञाऽगत्य सत्वरम् ।^{११} तदानयत्तटं सर्वान् संतज्य स्वकालिकाम् ॥१४९॥
 स्वयमागत्य केनात्र रक्षन्ति कृतपुण्यकान् । गङ्गातटे विकृत्याक्षु^{१२} भवन् सर्वसंपदा ॥१५०॥
 मणिर्पाठे समास्थाय पूजयित्वा सुलोचनाम् । तव^{१३} दत्तनमस्काराज्जं^{१४} गङ्गाधिदेवता ॥१५१॥
 स्वयमागदिदं^{१५} सर्वमवकुलामरेशिनः । तपेभ्युक्ते^{१६} जयाऽप्येतत्^{१७} किमिव्याह सुलोचनाम् ॥१५२॥
 उपविन्ध्याद्रि^{१८} विख्यातां विन्ध्यपुर्यामभूद् विभुः । विन्ध्यकेतुः प्रिया तस्य प्रियङ्गुश्रीस्तयोः सुता ॥१५३॥

वह हाथी पानीमें चलने लगा, उस समय उसकी सूँड़का अग्रभाग ऊँचा उठा हुआ था, दाँत चमक रहे थे, गण्डस्थल पानीके ऊपर था और आकार मगरके समान जान पड़ता था, इस प्रकार तैरता हुआ हाथी एक गढ़के बीच जा पहुँचा । उसी समय दूसरे सर्पके साथ समागम करते समय जिस सर्पिणको पहले जयकुमारके सेवकोंने मारा था और जो मरकर काली देवी हुई थी उसने मगरका रूप धरकर जहाँ सरयू गंगा नदीसे मिलती है उस हाथीको पकड़ लिया सो ठीक ही है क्योंकि अपने देशमें रहनेवाला क्षुद्र भी बड़ों-बड़ोंसे बलवान् हो जाता है । हाथीको दृबता हुआ देखकर कितने ही स्त्रोत्रश्रीष्टकार किङ्कारेष्टकार^{१४} अक्षेष्टकार^{१५} पश्यन्तु^{१६} हेमाङ्गद आदि धवड़ाकर उसी गढ़में एक साथ घुसने लगे । सुलोचनाने भी उन सबको गढ़में घुसते देख पंच नमस्कार मन्त्रका स्मरण किया, उसने मन्त्रकी मूर्तिस्वरूप अर्हन्त भगवान्को बड़ी भक्तिसे अपने हृदयमें धारण किया और उपसर्गकी समाप्ति तक आहार तथा शरीरका त्याग कर दिया ॥१४२-१४७॥ सुलोचना भी अनेक सखियोंके साथ गंगामें घुस रही थी और उस समय ऐसी जान पड़ती थी मानो गंगादेवी ही अनेक सखियोंके साथ गंगा नदीमें प्रवेश कर रही हो । इतनेमें ही गंगाप्रपात कुण्डके गङ्गाकूटपर रहनेवाली गंगादेवीने आसन कम्पायमान होनेसे सब समाचार जान लिया और किये हुए उपकारको माननेवाली वह देवी बहुत शीघ्र आकर दुष्ट कालिका देवीको डाँटकर उन सबको किनारेपर ले आयी ॥१४८-१४९॥ सो ठीक ही है क्योंकि इस संसारमें ऐसे कौन हैं जो पुण्य करनेवालोंकी स्वयं आकर रक्षा न करें । तदनन्तर उस देवीने गंगा नदीके किनारेपर बहुत शीघ्र अपनी विक्रिया-द्वारा सब सम्पदाओंसे सुशोभित एक भवन बनाया, उसमें मणिमय सिंहासनपर सुलोचनाको बैठाकर उसकी पूजा की और कहा कि तुम्हारे दिये हुए नमस्कार मन्त्रसे ही मैं गंगाकी अधिष्ठात्री देवी हुई हूँ, और सौधमेंन्द्रकी नियोगिनी भी हूँ, यह सब तेरे ही प्रसादसे हुआ है ! गंगादेवीके इतना कह चुकनेपर जयकुमारने भी सुलोचनासे पूछा कि यह क्या बात है ? ॥१५०-१५२॥ सुलोचना कहने लगी कि विन्ध्याचल पर्वतके समीप विन्ध्यपुरी नामकी नगरीमें विन्ध्यकेतु नामका एक सिद्ध

१-तस्तीति तस् तम् । २-हृदस्य मध्ये । ३-पूर्वस्मिन् भवे जयेन सह बने धर्म श्रुतवत्या नाय्या सह स्थित-
 विजातीयसहचरी । ४-सरयूनद्याः । ५-गङ्गाप्रदेशस्थाने । ६-कुम्भोराकारेण । 'नक्रस्तु कुम्भोरः' इत्यभिधानात् ।
 ७-अभियुज्यमागत्य । ८-हृदे प्रविष्टवन्तः । ९-उपसर्गापसर्गान्तम् । १०-गङ्गापतनकुण्डस्थान । ११-ताना-
 ल०, इ०, अ०, स०, प० । १२-निमवि । १३-त्वया विलीनपंचनमस्कारपदात् । १४-अभूजम् । १५-विका-
 सिनो (नियोगिनीति यावत्) । १६-गङ्गादेव्या । १७-जयकुमारोऽप्येतत् किमिति पृष्टवान् ।
 १८-विन्ध्याचलसमीपे ।

विन्ध्यश्रीस्तां पिना तस्याः शिक्षितुं सकलां गुणान् । मया सह मयि स्नेहात्महीनस्य^१ सम्पद्यन् ॥१५४॥
 तदन्तर्निहितोऽसौ^२ विन्ध्यः दृष्ट्वा तत्समया दत्तनमस्कारपदान्यलम् ॥१५५॥
 भावयन्ती मृताऽयेथं भूत्वायात् स्नेहिनी मयि । इत्यग्रयीदसी^३ सोऽपि ज्ञात्वा सन्तुष्टचेनसा ॥१५६॥
 तत्कालोचितसामोक्त्या गङ्गादेवीं विसर्ज्य ताम् । सबलाकं^४ प्रकुर्वन्तं स्वं बलकं नुमालया ॥१५७॥
 स्वाश्रासं संप्रविश्योष्णैः सप्रियः सहबन्धुभिः । सस्नेहं राजराजोक्तमुक्त्वा^५ तत्प्रहितं स्वयम् ॥१५८॥
 पृथक् पृथक् प्रदायातिमुदमासाद्य^६ बलभाम् । नीत्वा^७ तत्रैव तां रात्रिं प्रातरुत्थाय भानुवत् ॥१५९॥
 विधातुमनुत्क्रान्तां^८ भुक्तिं^९ मय्यतितां खिलः^{१०} । अनुगच्छं प्रयान् प्रेम्णा कामिभ्याः कुर्वन् स्वयम्^{११} ॥१६०॥
 कमनीयैरतिप्रीतिमालापरितनोत्तराम् । आहूत्वा^{१२} दक्षितावर्तनाभिः कूलनितम्बिका ॥१६१॥
 चतुर्लोज्ज्वलपाठीनलोचना रमणीयमुखी^{१३} । तरङ्गबाहुभिर्गाङ्गमालिङ्गनममुत्सुका ॥१६२॥
 स्वभावसुभगा दृष्टदया स्वच्छतागुणात् । तद्व्यवनीकुलसुमनोमालभारिणी ॥१६३॥
 अतिवृत्तरसा^{१४} वेगं संधर्तुमसहा द्रुतम् । पश्य कान्ते प्रियं याति स्वानुरूपं पर्यानिधिम् ॥१६४॥
 रतेः कामाद् विना नेष्टा न नीचेऽपूतमस्पृहा । संगमे^{१५} उन्मयी जाता प्रेम नामैका गतम् ॥
 साफल्यमेतया^{१६} निश्चमेति लाभयमम्बुधेः* ॥१६५॥

राजा रहता था । उसकी स्त्रीका नाम प्रियंगुश्री था । उन दोनोंके विन्ध्यश्री नामकी पुत्री थी । उसके पिताने मुझपर प्रेम होनेसे मेरे साथ सब गुण सीखनेके लिए उसे महाराज अकम्पनको सौंप दिया ॥१५३-१५४॥ वह विन्ध्यश्री किसी एक दिन उपवनमें क्रीड़ा कर रही थी, वहींपर उसे किसी साँपने काट लिया जिससे मेरे द्वारा दिये हुए पंच नमस्कार मन्त्रका चिन्तन करती हुई मरकर यह देवी हुई है और मुझपर स्नेहके कारण यहाँ आयी है यह जानकर जयकुमारने सन्तुष्टचित्त हो शान्तिमय वचन कहकर गंगादेवीको विदा किया । तदनन्तर अपनी प्रिया सुलोचना और इष्ट-बन्धुओंके साथ-साथ, फहराती हुई पताकाओंके द्वारा अपने-आपको बगुलाओंसे सहित करते हुएके समान जान पड़नेवाले अपने ऊँचे डेरेमें प्रवेश किया । बड़े स्नेहसे महाराज भरतके कहे वचन सबको सुनाये, उनको दी हुई भेंट सबको अलग-अलग दी । सुलोचनाको अत्यन्त प्रसन्न किया, वह रात्रि वहीं बितायी और सबेरा होते ही उठकर अपनेमें अनुराग रखनेवाले लोगोंके भोजनके लिए सूर्यके समान समस्त दिशाओंको प्रकाशित करता हुआ वह कुर्वशियोंका प्यारा जयकुमार सुलोचनाके प्रेमसे गंगा नदीके किनारे-किनारे चलने लगा ॥१५५-१६०॥ वह जाते समय मनोहर वचनोंसे सुलोचनाको बहुत ही सन्तुष्ट करता जाता था । वह कहता था कि हे प्रिये, देखो यह गंगा नदी अपने अनुरूप समुद्ररूपी पति-के पास बड़ी शीघ्रतासे जा रही है, यह अपनी नाभिरूपी भौर दिखला रही है, दोनों किनारे ही इसके नितम्ब हैं, चंचल और उज्ज्वल मछलियाँ ही नेत्र हैं, यह पति अर्थात् समुद्रकी प्राप्तिके लिए उन्मुख है, तरंगरूपी भुजाओंके द्वारा गाढ़ आलिङ्गनके लिए उत्कण्ठित-सी जान पड़ती है, स्वभावसे सुन्दर है, अपने स्वच्छतारूपी गुणोंसे सबका हृदय हरनेवाली है, दोनों किनारोंपर वनके फूले हुए पुष्पोंकी माला धारण कर रही है, इसका रस अथवा पानी सब ओरसे बढ़ रहा है और अपना वेग नहीं सँभाल सक रही है ॥१६१-१६४॥ सो ठीक ही है क्योंकि कामदेवके बिना

१ अकम्पनस्थ । २ विन्ध्यश्रीः । ३ आगच्छति स्म । ४ सुलोचना । ५ विसकण्ठिकासहितम् । 'बलाका विसकण्ठिका' इत्यभिधानात् । ६ चक्रिणा प्रोक्तम् । ७ भणित्वा । ८ चक्रिप्रेषितम् । ९ वरणा । १० प्रापय्य । ११ स्कन्धावारे । १२ कर्तुम् । १३ असिमध्यादिव्यापारविभवजम् । १४ प्रकाशितसकललोकः । १५ जयः । १६ गंगा । 'गंगाविष्णुपदी जह्नु तनया सुरनिम्नगा' इत्यभिधानात् । १७ चंचल । १८ समुद्रेण सह रति-कोडोन्मुखी । निजपतिसमुद्राभिमुखी वा । १९ अभिवृद्ध-ल० । २० जलस्यासमगताद् वेगम् । रागोद्रेकं च । २१ समुद्रस्वरूपा । २२ गंगया । *षट्पादोऽयं श्लोकश्चिन्त्यः ।

उत्पत्तिर्भूत^१ पत्युर्धरण्यां वर्धिता सती^२ । वाधिरेव पतिस्तस्मादेवा^३ धृतः पाप्मनाहिनी^४ ॥ १६५ ॥
 चत्वा धार्मिकैर्मन्या सतीनामुपमानताम् । गता कवीश्वरैः सर्वैः स्तूयते देवसेति च ॥ १६७ ॥
^५गुणिनश्चेन्न के नान्धाः संस्तुवन्ति गुणप्रियाः । इति गङ्गागतैः अन्यैरन्यैश्चातिमनोहरैः ॥ १६८ ॥
 ततः कतिपयैरेव प्रयाणैः कुरुजाङ्गलम् । प्राप्य तद्वर्णनान्याजान्मोदयन् काशिपात्मजाम्^६ ॥ १६९ ॥
^७आप्तजानपदानीतफलपुष्पादिभिश्च सः । विकसशीलनीरेजसरोजातित्रिराजितैः ॥ १७० ॥
 प्रत्येस्येयं प्रपश्यन्तीं सरोनेत्रैर्वधूवरम् । सद्रजयनामोसां वापीकूपोरुनामिकाम् ॥ १७१ ॥
 परीतजातरूपोच्चप्राकारकटिसूत्रिकासम् । अलंकृतमहावीथिविलसद्बाहुबल्लरीम् ॥ १७२ ॥
 सीधोत्तङ्गकुचां भास्वद्गोपुराननशोभिनीम् । कुङ्कुमागुल्फैरुदमार्द्रितगात्रिकाम् ॥ १७३ ॥
 नानाप्रसवसन्द्बधमालाधमिस्रलधारिणीम् । तोरणाबद्धरत्नादिमालालंकृतविग्रहाम् ॥ १७४ ॥
 आह्वयन्तीमिषोर्ध्वाधः पतत्केचग्रहस्तकैः । द्वारासंवृत्तिविश्रम्भनेत्रा^८ वायान्तरुसुकाम् ॥ १७५ ॥
 पुरोहितैः^९ पुरन्धीभिर्मन्त्रिभिर्वैद्यविश्रुतैः । दत्तशेषः पुरः स्थित्वा साशीर्वादैः समुत्सुकैः ॥ १७६ ॥

रतिकी इच्छा नहीं होती है, उत्तम पुरुषोंकी इच्छाएँ नीच पदार्थोंपर नहीं होती हैं, यह नदी समुद्रमें जाकर समुद्ररूप ही हो गयी है सो ठीक ही है क्योंकि प्रेम ऐसा ही होता है, इसके समा-गमसे ही समुद्रका लावण्य (सौन्दर्य अथवा खारापन) सदा सफल होता है ॥ १६५ ॥ इस गंगा नदीकी उत्पत्ति पर्वतोंके पति — हिमवान् पर्वतसे है, पृथिवीपर यह बड़ी है और समुद्र ही इसका पति है इसलिए ही यह संसारमें पापोंका नाश करनेवाली हुई है ॥ १६६ ॥ यह सफेद है, धर्मात्मा लोगोंके द्वारा मान्य है, सतियोंको इसकी उपमा दी जाती है और सब कवीश्वर यदि गुणीजनोंकी स्तुति न करें तो फिर कौन किसकी स्तुति करेगा ? इस प्रकार सुननेके योग्य गंगा सम्बन्धी तथा अन्य अत्यन्त मनोहर कथाओं-द्वारा मार्ग तय किया ॥ १६७-१६८ ॥ तदनन्तर कुछ ही पड़ावों-द्वारा कुरुजांगल देश पहुँचकर उसके वर्णनके बहानेसे सुलोचनाको आनन्दित करते हुए जयकुमारने अपनी उस हस्तिनापुरी नामकी राजधानीमें प्रवेश किया जो कि देशके प्रधान-प्रधान पुरुषों-द्वारा लाये हुए फल-पुष्प आदिकी भेंट तथा खिले हुए नील कमल और सफेद कमलोंसे अत्यन्त सुशोभित सरोवररूपी नेत्रोंसे ऐसी जान पड़ती थी मानो आगे आकर वधू वरको देख ही रही हो । उत्तम धूलीसाल ही जिसका विस्तृत जघन प्रदेश था, बावड़ी और कुएँ ही जिसकी विशाल नाभि थी, चारों ओर खड़ा हुआ सुवर्णका ऊँचा परकोटा ही जिसको करधनी थी, सजी हुई बड़ी-बड़ी गलियाँ ही जिसकी सुशोभित बाहुलताएँ थीं, राज-भवन ही जिसके ऊँचे कुच थे, देदीप्यमान गोपुररूपी मुखसे जो सुशोभित हो रही थी, केशर, अगुरु और कपूरके विलेपनसे जिसका शरीर गोला हो रहा था, जो अनेक प्रकारके फूलोंसे गुँथी हुई मालारूपी केशपाशको धारण कर रही थी, तोरणोंमें बाँधी गयी रत्न आदिकी मालाओंसे जिसका शरीर सुशोभित हो रहा था, जो ऊपर नीचे उड़ती हुई पताकाओंके अग्रभागरूपी हाथों-से बुलाती हुई-सी जान पड़ती थी, खुले हुए दरवाजे ही जिसके विश्वासपूर्ण नेत्र थे, जो घर-घर होनेवाले उत्सवोंसे उत्कण्ठित-सी जान पड़ती थी और इस प्रकार जो दूसरी सुलोचनाके समान सुशोभित हो रही थी । महाराजके दर्शन करनेके लिए उत्कण्ठित हो आशीर्वाद देने-

१ हिमवद्गिरेः । २ प्रशस्ता । ३ गुणवज्जनान् । ४ अनन्याः । कान्का अ०, प०, इ०, स०, ल० । ५ इति गङ्गागतैरित्यनेन सह कमनीयैरतिप्रतिमालापैरिति संबन्धः । ६ सुलोचनाम् । ७ संप्राप्तजनपदजनानीत । ८ अभिमुखमागत्य । ९ प्रशस्तधूलिकुट्टिमधनविस्ताराम् । १० क्वाटपिधानरहितद्वारनयनामित्यर्थः । ११ गृह-मध्ये सोत्सवान् । १२ कुटुम्बिनीभिः ।

तूर्यमङ्गलनिर्घोषैः पुनन्दर इवापरः । सुलोचनामिवान्या स्वां प्रविश्य नगरीं जयः ॥१७७॥
 राजगेहं महानन्दविधायि विविधर्द्धिभिः । आवसत कान्तया साद्धं नगर्या हृदयं मुदा ॥१७८॥
 तिथ्यादिपञ्चभिः शुद्धैः शुद्धे लग्ने महोत्सवम् । सर्वसंतोषणं कृत्वा जिनपूजापुरःसरम् ॥१७९॥
 विधमङ्गलसंपत्त्या स्वीचितासनसुस्थिताम् । हेमाङ्गदादिसान्निध्ये राजा जातमहोदयः ॥१८०॥
 सुलोचनां महादेवीं पट्टबन्धं आभूषणम् । स्त्रीषु संचितापूज्यासु पश्युरेतावती रतिः ॥१८१॥
 हेमाङ्गदं सखोदर्यमुपचर्य ससंभ्रमम् । पुरोभूय स्वयं सर्वभोग्यैः प्राचूर्णकोचितैः ॥१८२॥
 नृत्यगीतसुखालापैर्वरिणारोहणादिभिः । वनवापीसरःकांडाकन्दुकादिविनोदनैः ॥१८३॥
 अहानि स्थापयिष्वेवं सुखेन कतिचिच्छ्रुती । तदीप्सितराजाश्चास्त्रगणिकाभूषणादिकम् ॥१८४॥
 प्रदाय परिवारं च तोषयित्वा यथोचितम् । चतुर्विधेन^१ कोशेन^२ तत्पुरीं^३ तमजीगमत्^४ ॥१८५॥
 सुखप्रमाणैः संप्राप्य दृष्ट्वा भूपं^५ ससुप्रमम्^६ । प्रणम्याह्लादयन्नस्थात् स बभूव्वरचार्तया ॥१८६॥
 सुखं कालं गलत्येवमकम्पनमहीपतिः । तदा संचिन्तयामास विरक्तः कामभोगयोः ॥१८७॥
 अहो मया प्रमत्तेन विषयान्धेन नेक्षिता । कष्टं शरीरसंसारभोगनिस्तारता चिरम् ॥१८८॥

वाले पुरोहित, सौभाग्यवती स्त्रियाँ, मन्त्री और प्रसिद्ध-प्रसिद्ध सेठ लोग सामने खड़े होकर जिसे शेषाक्षत दे रहे हैं ऐसे उस जयकुमारने तुरही आदि मांगलिक बाजोंके शब्दोंके साथ-साथ दूसरे इन्द्रके समान अपनी उस हस्तिनागपुरीमें प्रवेश कर अनेक प्रकारकी विभूतियोंसे बहुत भारी आनन्द देनेवाले तथा उस नगरीके हृदयके समान अपने राजभवनमें प्रिया सुलोचनाके साथ-साथ बड़े आनन्दसे निवास किया ॥१८९-१७८॥

तदनन्तर बड़े भारी अभ्युदयकी धारण करनेवाले महाराज जयकुमारने शुद्ध तिथि, शुद्ध नक्षत्र आदि पाँचों बातोंसे निर्दोष लग्नमें बड़ा भारी उत्सव कराकर सबको सन्तुष्ट किया और फिर जिनपूजापूर्वक सब मंगल-सम्पदाओंके साथ-साथ हेमाङ्गद आदि भाइयोंके सामने ही अपने योग्य आसनपर बैठी हुई सुलोचनाको बड़े हर्षसे पट्टबन्ध बाँधा अर्थात् पट्टरानी बनाया सो ठीक ही है क्योंकि पुण्यसंचय करनेवाली स्त्रियोंमें पतिका ऐसा ही प्रेम होता है ॥१७९-१८१॥ उसके बाद कुशल जयकुमारने स्वयं आगे होकर पाहुनोंके योग्य सब प्रकारके भोगोप-भोगोंसे, नृत्य, गीत और सुख देनेवाले वचनोंसे, हाथी आदिकी सवारीसे, वन, वापिका, तालाब आदिकी क्रीड़ाओंसे और गेंद आदिके खेलोंसे प्रसन्नतापूर्वक हेमाङ्गद और उनके भाइयोंकी सेवा की, कुछ दिन तक उन्हें बड़े सुखसे रखा और फिर उनको अच्छे लगनेवाले हाथी, घोड़े, अस्त्र, गणिका तथा आभूषण आदि देकर उनके परिवारके लोगोंको यथायोग्य सन्तुष्ट किया और फिर रत्न, सोना, चाँदी तथा रुपये-पैसे आदि चारों प्रकारका खजाना साथ देकर उन्हें उनके नगर बनारसको विदा किया । ॥१८२-१८५॥ सुखपूर्वक कितने ही पहाव बलकर वे हेमाङ्गद आदि बनारस पहुँचे और माता सुप्रभाके साथ राजा अकम्पनके दर्शन कर उन्हें प्रणाम किया और जयकुमार तथा सुलोचनाकी बातचीतसे माता-पिताको आनन्दित करते हुए रहने लगे ॥१८६॥

इस प्रकार सुपूर्वक बहुत-सा समय व्यतीत होनेपर एक दिन महाराज अकम्पन काम-भोगोंसे विरक्त होकर इस प्रकार सोचने लगे ॥१८७॥ कि मुझ प्रमादीने विषयोंसे अन्धा

१ निवसति स्म । २ नगरीजनचित्ते इत्यर्थः । ३ तिथिग्रहनक्षत्रयोगकरणीः । तिथिनक्षत्रहोरावारमुहूर्तैर्वा । ४ महोत्सवे ल० । ५ चकार । ६ ससानुजम् । ७ अग्रे भूत्वा । पुरस्कृत्य वा । ८ अतिथिः । ९ दिनानि । १० रत्नसुवर्णरजतव्यवहारयोग्यताणकम् इति चतुर्विधेन । ११ वाराणसीम् । १२ हेमाङ्गदम् । १३ गमयति स्म । १४ अकम्पनम् । १५ सुप्रभादेवीसहितम् ।

^१ आदावशुश्रूषादानमशुश्रूषयव्यात्मकम् । विश्वाशुचिकरं पापं दुःखदुःखेष्टितालयम् ॥१८९॥

निरन्तरध्वौकोथनवद्वारशरीरकम्^२ ।^३ कृमिपुञ्जवितामस्मविष्टानिष्टं चित्तधरम् ॥१९०॥

^४ तदध्युष्य^५ जडो जन्तुस्तप्तः पञ्चन्द्रियाग्निभिः । विश्वेन्धनैः^६ कुलिङ्गीष भूयोऽप्यात्^७ कुसितां गतिम् ॥

साऽऽशाखनिः^८ किलात्रैव^९ यत्र^{१०} विश्वमणूपमम् । तां^{११} पुपूषुः^{१२} किलाद्याहं धनैः संख्यातिबन्धनैः^{१३} ॥

^{१४} यदादाय भवेज्जन्मी यन्मुक्त्वा मुक्तिभागयम् । तद्याथाव्यमिति^{१५} ज्ञात्वा कथं पुण्याति^{१६} धीधनः ॥

हा हतोऽमि चिरं जन्तो मोहेनाद्यापि^{१७} ते यतः । नास्ति कायाशुचिज्ञानं तस्यागः^{१८} क्वासिदुर्लभः ॥

दुःखी सुखी सुखो दुःखी दुःखी दुःख्येव केवलम् ।^{१९} धन्यधन्योऽधनो^{२०} धन्यो निर्धनो निर्धनः सदा ॥

पूर्वविधैस्त्रिभिर्जन्तुरीप्सितानीप्सितैश्चिरम् ।^{२१} यतुर्थं मङ्गमप्राप्य वरुजमीति भवान्^{२२} ॥१९६॥

^{२३} यां^{२४} वष्टयमसौ वष्टि^{२५} परं वष्टि स चापराम् । साऽपि वष्टयपरं कष्टमनिष्टेष्टपरम्परं^{२६} ॥१९७॥

होकर इतने दिन तक शरीर, संसार और भोगोंकी असारता नहीं देखी यह बड़े खेदकी बात है ॥१८८॥ प्रथम तो यह शरीर अपवित्र उपादानों (माता-पिताके रज वीर्य) से बना है, फिर इसके सब अवयव अपवित्र हैं, यह सबको अपवित्र करनेवाला है, पापरूप है और दुःख देनेवाली खोटी-खोटी चेष्टाओंका घर है ॥१८९॥ इसके नौ द्वारोंसे सदा मल-मूत्र बहा करता है और अन्तमें यह बिनद्वर शरीर कीड़ोंका समूह, चिताकी राख तथा विष्टा बनकर नष्ट हो जानेवाला है ॥१९०॥ ऐसे शरीरमें रहकर यह मूर्ख प्राणी, जिनमें संसारके सब पदार्थ ईंधन रूप हैं ऐसी पाँचों इन्द्रियोंकी अग्निपोंसे तपाया जाकर कुलिगी जीवके समान फिरसे नीच गतिपोंमें पहुँचता है ॥१९१॥ जिसमें यह सारा संसार एक परमाणुके समान है ऐसा वह प्रसिद्ध आशारूपी गढ़ा इसी शरीरमें है, इसी आशारूपी गढ़ेकी मैं आज थोड़े-से धनसे पूरा करना चाहता हूँ ॥१९२॥ जिस शरीरको लेकर यह जीव जन्म धारण करता है — संसारी बन जाता है और जिसे छोड़कर यह जीव मुक्त हो जाता है इस प्रकार शरीरकी वास्तविकता जानकर भी बुद्धिमान् लोग न जाने क्यों उसका भरण-पोषण करते हैं ॥१९३॥ हे जीव, खेद है कि तू मोहकर्मके द्वारा चिरकालसे ठगा गया है, क्योंकि तुझे आजतक भी अपने शरीरकी अपवित्रताका ज्ञान नहीं हो रहा है, जब यह बात है तब अत्यन्त दुर्लभ उसका त्याग भला कहाँ मिल सकता है ॥१९४॥ इस संसारमें जो दुःखी हैं वे सुखी हो जाते हैं, जो सुखी हैं वे दुःखी हो जाते हैं और कितने ही दुःखी दुःखी ही बने रहते हैं इसी प्रकार धनी निर्धन हो जाते हैं, निर्धन धनी हो जाते हैं और कितने ही निर्धन सदा निर्धन ही बने रहते हैं । इस तरह यह जीव जो सुखी है वह सुखी ही रहे और जो धनी है वह धनी ही बना रहे यह थोथा भंग नहीं पाकर केवल ऊपर कहे हुए तीन तरहके भंगोंसे ही संसाररूपी समुद्रमें चिरकाल तक भ्रमण करता रहता है । ॥१९५-१९६॥ यह पुरुष जिस स्त्रीको चाहता है वह स्त्री किसी दूसरे पुरुषको चाहती है, जिसको वह चाहती है वह भी किसी अन्य स्त्रीको चाहता है इस प्रकार यह इष्ट अनिष्टकी

१ अशुविशुक्लशोणितमुष्णकारणम् । २ पूतिगन्धित्वम् । ३ कृमिनां पुञ्जः चितायां भस्म विष्टा पुरीषो निष्ठा-
याम्भस्ते यस्मिन् तत् । ४ तस्मिन् शरीरे । ५ स्थित्वा । ६ सकलविषयेन्धनैः । ७ गच्छेत् । ८ अभिनिवे-
शाकरः । ९ जन्तावेव । १० आशाखनी । ११ सकलवस्तु । १२ आशाखनिम् । १३ पूरयितुमिच्छुः ।
१४ गणनाविधौषः । १५ शरीरम् । १६ तच्छरीरस्य यथास्वरूपम् । १७ पुष्टि मयति । १८ वैराग्योत्पन्न-
कालेऽपि । १९ शरीरत्यागः । २० कृत्रास्ति । २१ धनवान् । २२ धनरहितः । २३ सुखी सुखीति धनी
धनोति यतुर्थभेदम् । २४ स्त्रियम् । २५ वष्टि वष्टति । अयम् पुमान् । २६ अन्यपुरुषम् । २७ अनिष्टवाञ्छा-
संसृतिः । 'वष्टि योगेच्छयोः' इत्यभिधानात् ।

यदिष्टं तदनिष्टं स्याद् यदनिष्टं तदिष्टं तै । इष्टेष्टानिष्टयोरिष्टा नियमेन न हि स्थितिः ॥१९८॥

१ सा सा स तत्तद्वैषा सा स स्यात् सोऽपि तत्पुनः । तत्स स्यात्तत्तदेवात्र चक्रके वक्रमक्रमः ॥१९९॥

अन्तमस्य विधास्पृमि चिन्तयित्वा जिनेद्रितम् । संततं जन्मकान्तरभ्रान्तो भोतोऽहमन्तकाम् ॥२००॥

भोगोऽयं भोगिनो भोगो भोगिनो भोगिनामकृतम् । तावन्मात्रोऽपि नास्माकं भोगो भोगेति विवृणुवम् ॥

भुज्यते यः स भोगः स्याद् भुक्तिर्वा भोग इत्येतत् । तद्वद्वयं नरकेऽप्यस्ति तस्माद् भोगेषु का रतिः ॥२०२॥

भोगास्तृष्णानि संवद्व्ये दीपनीया धोषमाः । पुभिः प्रवृद्धनृप्यारनेः शान्त्यै चिन्त्यमिहापरम् ॥२०३॥

इत्यतो न सुधीः सखो बान्तृष्णाविधौ भृशम् । हेमांगदं समाहूय पूज्यपूजापुरस्सरम् ॥२०४॥

अभिषिष्य चलां मत्वा बन्धा पट्टेन वाऽचलम् । लक्ष्मीं समर्प्य गणेशायैव भ्यासं वृषभेशितुः ॥२०५॥

प्रव्रज्य बहुभिः शान्त्यै धर्म्यैः शान्त्यैः शान्त्यैः शान्त्यैः शान्त्यैः शान्त्यैः शान्त्यैः शान्त्यैः शान्त्यैः ॥२०६॥

अथ जन्मान्तरापातमहास्नेहातिनिर्भरः । सुलोचनामनानन्दं नेन्दुविम्बात् सुतां सुधाम् ॥२०७॥

उन्मीलकाल्पनीरेजराजिमिलोक्तैः पिवन् । पूरयन् श्रेष्ठपात्राभ्यां तद्गोर्गोतरसायनम् ॥२०८॥

परम्परा बहुत ही दुःख देनेवाली है ॥१९७॥ जो इष्ट है वह अनिष्ट हो जाता है और जो अनिष्ट है वह इष्ट हो जाता है, इस प्रकार संसारमें इष्ट-अनिष्टकी स्थिति किसी एक स्थानपर नियमित नहीं रहती ? ॥१९८॥ आजका पुरुष अगले जन्ममें स्त्री हो जाता है, स्त्री नपुंसक हो जाती है, नपुंसक स्त्री हो जाता है, वही स्त्री फिर पुरुष हो जाता है, वह पुरुष भी नपुंसक हो जाता है, वह नपुंसक फिर पुरुष हो जाता है अथवा नपुंसक नपुंसक ही बना रहता है, इस प्रकार इस चक्रमें बड़ा टेढ़ा संक्रमण करना पड़ता है ॥१९९॥ इसलिए श्रीजिनेन्द्रदेवके कहे हुए वचनोंका चिन्तन कर मैं अवश्य ही इस संसारका अन्त करूँगा क्योंकि निरन्तर संसाररूपी वनके भीतर परिभ्रमण करनेमें मैं अब यमराजसे डर गया हूँ ॥२००॥ भोग करनेवाले मनुष्योंके ये भोग ठीक सर्पके फणाके समान हैं और भोगनेवाले जीवको भोगी नाम देनेवाले हैं । तथा इतना सब होनेपर भी उन भोगोंमें-से एक भोग भी हमारा नहीं है यह निश्चय है ॥२०१॥ जिसका भोग किया जाता है उसे भोग कहते हैं अथवा उपभोग किया जाना भोग कहलाता है वे दोनों प्रकारके भोग नरकमें भी हैं इसलिए उन भोगोंमें क्या प्रेम करना है ? ॥२०२॥ जिस प्रकार औषधसे पेटकी अग्नि प्रदीप्त हो जाती है उसी प्रकार इन भोगोंसे भी तृष्णारूपी अग्नि प्रदीप्त हो उठती है अतः इन भोगोंसे बढ़ी हुई तृष्णारूपी अग्निको शान्तिके लिए कोई दूसरा ही उपाय सोचना चाहिए ॥२०३॥ इस प्रकार तृष्णारूपी विषको उगल देनेवाले बुद्धिमान् राजा अकम्पनने बहुत शीघ्र हेमांगदको बुलाकर पूज्य-परमेश्वरियोंकी पूजापूर्वक उसका राज्याभिषेक किया, लक्ष्मीको चंचल समझ पट्टबन्धसे बाँधकर उसे अचल बनाया और हेमांगदकी साँपकर श्रीभगवान् वृषभदेवके समीप जाकर अनेक राजाओं और रानी सुप्रभाके साथ वीक्षा धारण की तथा अनुक्रमसे श्रेणियाँ चढ़कर केवलज्ञान उत्पन्न किया ॥२०४-२०६॥

अथानन्तर अन्य जन्मसे आये हुए बहुत भारी स्नेहसे भरा हुआ जयकुमार खुले हुए नीलकमलोंके समान सुशोभित होनेवाले अपने नेत्रोंसे सुलोचनाके मुखरूपी आनन्ददायी

- १ इष्टं भवति । २ स पुमान् । ३ सा स्त्री स्यात् । ४ तत् नपुंसकम् । ५ एषा स्त्री स्यात् । ६ तत् नपुंसकम् । ७ तदेव पुनपुंसकमेव स्यात् । ८ चक्रवद्वर्तमानसंसारं । ९ संसारस्य । १० सर्वस्य । ११ भोगीति नामकृतम् । भोगीति नामकरः । सर्वनामकृदित्यर्थः । १२ भोगीति नामकृन्मात्रोऽपि । १३ पदार्थः । १४ पदार्थानुभव-क्रिया । १५ दीपनहेतुः । १६ भोगैः । १७ उपशान्तिकारणम् । १८ परमेश्वरपूजापूर्वकम् । १९ निश्चलं यथा भवति तथा । पट्टेन बद्ध्वा वा निबन्धनं कृत्वेव समर्प्येति संबन्धः । २० क्षत्रियैः । २१ सुप्रभादेवी-सहितः । २२ आनन्दहेतुचन्द्रः । २३ निमृताम् । २४ कांतिम् । २५ त्रिकसंश्लोकराजमार्गः । २६ नेत्रैः । - लोचनैः तं विहाय सर्वत्र । २७ सुलोचनावचनरूपगीतम् ।

^१हरन् करिकराकास्करालिङ्गनसंगतः^२ । ^३तद्गन्धकूपिकान्तःस्थं रसं^४ स्पर्शनवेदिनम् ॥२०६॥
 तद्विम्बाभरसम्भावितामृतास्वादोत्सुकः । तद्वक्त्रावारिजामोदामोदमानोऽनिशं भृशम् ॥२१०॥
^५अत्रैव न पुनर्वैति^६ मम वामासमागमः^७ । ^८स सुलोचनया स्वानि चक्षुरादीन्यतर्पयत् ॥२११॥
^९प्रमाणकालभावेभ्यो यद्रतः समस्ता तयोः । ततः संभोगशृंगारावारापारान्तर्गौ हि तौ ॥२१२॥

मालिनी

^{१०}अतिपरिणतस्या^{११} लोपितालेपनादिः^{१२}
 स सकलकरणानां^{१३} गोचरीभूय^{१४} तस्याः ।
 हितपरविषयाणां^{१५} साऽपि^{१६} तस्यैवमेतौ
 समरतिकृतसाराय्यन्वभृतां^{१७} सुखानि ॥२१३॥
 मनसि मनसिजस्यावापि^{१८} सौख्यं न ताम्भ्यां
 पृथगनुगतभावं^{१९} संगताभ्यां नितान्तम् ।
^{२०}करणमुखसुखैस्तैस्तन्मनः^{२१} प्रीतिमापत्
 भवति^{२२} परमुखं च ववापि सौख्यं सुतृप्त्यै ॥२१४॥
 शिशिरसुरभिमन्दोच्छ्वासजैः^{२३} स्वैः समारै-
^{२४}स्तेषुमधुरवोमिः^{२५} स्वादनीयप्रदेशैः ।
 छलिततनुलताभ्यां^{२६} मार्दवैकाकराभ्या-
 मखिलमनयतां तौ सौख्यमाप्तेन्द्रियाणि ॥२१५॥

चन्द्रमास शरते हुए अमृतका पीता था, सुलोचनाके वचन और गीतरूपी रसायनको अपने कानरूपी पात्रोंसे भरता था, हाथोंकी सूँडके समान आकारवाले हाथोंके आलिङ्गनसे युक्त हो स्पर्शन इन्द्रियसे जानने योग्य उसके शरीररूपी कुईयाके भीतर रहनेवाले रसको ग्रहण करता था, बिम्बो फलके समान सुशोभित उसके ओठोंमें रहनेवाले अमृतका आस्वाद लेनेमें सदा उत्सुक रहता था, उसके मुखरूपी कमलको सुगन्धिसे रात-दिन अत्यन्त हर्षित होता रहता था और 'स्त्री समागम मुझे इसी भवमें है अन्यभवमें नहीं है, ऐसा मानकर ही मानो सुलोचनाके द्वारा अपनी वक्षु आदि इन्द्रियोंको सन्तुष्ट करता रहता था ॥२०७-२११॥ चूँकि प्रमाण, काल और भावसे इन दोनोंके प्रेममें समानता थी इसलिए हो वे दोनों सम्भोग शृंगाररूपी समुद्रके अन्त तक पहुँच गये ॥२१२॥ खूब बड़े हुए प्रेमसे जिसने विलेपन आदि छोड़ दिया है ऐसा वह जयकुमार सुलोचनाकी सब इन्द्रियोंका विषय रहता था और सुलोचना भी जयकुमारके हित करनेवाले विषयोंमें तत्पर रहती थी इस प्रकार ये दोनों ही समान प्रीति करना ही जिनका सारभाग है ऐसे सुखोंका उपभोग करते थे ॥२१३॥ पृथक्-पृथक् उत्पन्न हुए परिणामोंसे खूब मिले हुए उन दोनोंने अपने मनमें कामदेवका सुख नहीं पाया था किन्तु इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुए उन-उन सुखोंसे उनके मन प्रीतिको अवश्य प्राप्त हुए थे सो ठीक ही है क्योंकि दूसरेके द्वारा उत्पन्न हुआ सुख क्या कहीं उत्तम तृप्तिके लिए हो सकता है ? ॥२१४॥ अपने स्वासोच्छ्वासके उत्पन्न हुए शीतल सुगन्धित और मन्द पवनसे, कोमल और मधुर वचनोंसे, स्वाद

१ स्वीकुर्वन् । २ आलिङ्गने हृदयङ्गमः 'संगतं हृदयङ्गमम्' इत्यभिधानात् । ३ सुलोचनाशरीररसकूपमध्यस्थितः । ४ स्पर्शजनकम् । ५ इह जन्मन्येव । ६ उत्तरभवे नास्तीति वा । ७ स्वीसंगः । प्रतीपदक्षिणौ वामा वनिता महिला तथा इत्यभिधानात् । ८ विजयः । ९ योनिपुष्पादिप्रमाणात् समरतिप्रभृतिकालात् अन्योन्यानुरागादिभावा-
 ष्व । १० अतीव प्रबुद्धः । ११ लुप्तश्रीलण्डकुम्भचर्चामात्याभरणादिः । १२ समस्तेन्द्रियाणाम् । १३ विषयीभूत्वा । १४ हितसकृच्छादनादिविषयाणाम् । १५ सुलोचनापि । १६ जयस्य । १७ न प्राप्यते स्म । १८ पदार्थः । १९ इन्द्रियोपायजनितसुखैः । २० परम् अन्यवरतु मुखं द्वारमुपायो यस्य तत् । परमुखं क्वापि भवति न कुत्रा-
 पीत्यर्थः । २१ आस्वादितुं योग्याघरादिप्रदेशैः ।

हृतसरसिजसारिरिष्टचेदीयमानैः^१

सततरनिमिसैर्जालैर्भागेप्रवृत्तैः ।

मृदुशिशिरतरैः संप्रापनुस्तौ समीरैः

सुरत^२विरतिजातस्वेदविच्छेदसौख्यम् ॥२१६॥

यसन्ततिलका

तां तस्य वृत्तिरनुवर्तयति इमं तस्या-

इष्टेन^३ तदेव रतिवृत्तिनिमित्तमासीत् ।

प्रेमापद^४ निज^५भावमचिन्त्यमन्त्र-

सातोदयश्च मवभूतिफलं^६ तदेव ॥२१७॥

कामोऽगमत् सुरतवृत्तिषु तस्य शिष्य-

भावं सुधीरिति रतिश्च सुलोचनायाः ।

को गर्वमुद्धहति चेन्न वृथाभिमाना

स्वैष्टार्थसिद्धिविषयेषु गुणाधिकेषु ॥२१८॥

एवं सुखानि तनुजाप्नुनुभूय तां च

नैवेद्यतुश्चिररतेऽप्यमिलाषकोटिम्^७ ।

अधिकृष्टमिष्टविषयोत्थसुखं सुखाय

तद्दीप्तविश्वविषयाय वृथा यतध्वम्^८ ॥२१९॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणश्रीमहापुराणसंग्रहे जयसुलोचना-

सुखानुभवव्यावर्णनं नाम पञ्चचत्वारिंशत्तमं पर्व ॥४५॥

लेने योग्य अधर आदि प्रदेशोंसे और कोमलताकी एक खान स्वरूप सुन्दर शरीररूपी लतासे वे दोनों अपनी इन्द्रियोंको समस्त सुख पहुँचाते थे ॥२१५॥ जिसने कमलका सार भाग हरण कर लिया है, जो प्रिय दासके समान आचरण करता है, निरन्तर सम्भोगका साधन रहता है, झरोखेके मार्गसे आता है और अत्यन्त कोमल (मन्द) तथा शीतल है ऐसे पवनसे वे दोनों ही सम्भोगके बाद उत्पन्न हुए पसीना सूखनेका सुख प्राप्त करते थे ॥२१६॥ जयकुमारकी प्रवृत्ति सुलोचनाके अनुकूल रहती थी और सुलोचनाकी प्रवृत्ति जयकुमारके अनुकूल रहती थी । उन दोनोंका परस्पर एक दूसरेके अनुकूल रहना ही उनके रतिजन्य सन्तोषका कारण था जो चिन्तनमें न आ सके ऐसा प्रेम इन्हीं दम्पतियोंमें पूर्णताको प्राप्त हुआ था, इन्हींके सातावेदनीयका अन्तिम उदय था और यही सब इनके जन्म लेनेका फल था ॥२१७॥ बुद्धिमान् कामदेव, सम्भोग चेष्टाओंके समय जयकुमारका शिष्य बन गया था और रति सुलोचनाकी शिष्या बन गयी थी सो ठीक ही है क्योंकि मनुष्य यदि व्यर्थका अभिमानी न हो तो ऐसा कौन हो जो अपने इष्ट पदार्थकी सिद्धिके विषयभूत अधिक गुणवाले पुरुषोंके साथ अभिमान करे ? ॥२१८॥

इस प्रकार शरीरसे उत्पन्न हुए सुखोंका अनुभव कर चिरकाल तक रमण करनेपर भी वे दोनों इच्छाओंकी अन्तिम अवधिको प्राप्त नहीं थे - उनकी इच्छाएँ पूर्ण नहीं हुई थीं । इसलिए कहना पड़ता है कि इष्ट विषयोसे उत्पन्न हुए सुखको भी धिक्कार है । हे पण्डितों, तुम उसी सुखके लिए प्रयत्न करो जो कि संसारके सब विषयोंसे अतीत है ॥२१९॥

इस प्रकार आर्य नामसे प्रसिद्ध भगवद्गुणभद्राचार्य प्रणीत त्रिषष्टिलक्षण महापुराण-संग्रहके हिन्दी भाषानुवादमें जयकुमार और सुलोचनाके सुखभोगका वर्णन करनेवाला पैतालोसवाँ पर्व समाप्त हुआ ।

१ इष्टव्यस्यायमानैः । २ गवाक्षपथ । ३ सुरतावसानजात । ४ अन्योन्यानुवर्तनमेव । ५ प्रापत् । ६ जयसुलो-
चनायोः । ७ निजयोर्दम्पत्योर्भावो यत्र तत् । ८ अपरिचमसुखोदयश्च । ९ जन्मप्राप्तिफलम् । १० नैव प्रापतुः ।
११ अन्तम् । १२ कारणात् । १३ प्रयत्नं कुरुष्वम् ।

षट्चत्वारिंशत्तमं पर्व

॥ अथ जयकुमारः ॥

जयः प्रासादमध्यास्य^१ दन्तावलगलो मुद्रा । यद्यप्यन्यदालोक्य वरुहन्तौ खगदम्पती^२ ॥ १ ॥
 हा मे प्रभावतीत्येतद् आलपन्नतिविह्वलः । रतिमेवाहितः^३ सद्यः सहायीकृत्य मूर्च्छया ॥ २ ॥
 तथा पारावतद्वन्द्वं^४ तत्रैवालोक्य कामिनी । हा मे रतिवरेत्युक्त्वा साऽपि मूर्च्छामुपागता ॥ ३ ॥
 दक्षचेष्टजनश्चिप्रकृतशीतक्रिया क्रमान् । सद्यः कुमुदिनीवापं प्रबोधं शीतदीधितेः ॥ ४ ॥
 हिमवन्दनममिश्रवारिभिर्मन्दमाश्रितैः । सोऽप्यमूर्च्छां विनाः पश्यन् मन्दमन्दतनुवपः^५ ॥ ५ ॥
 यूयं सर्वेऽपि^६ सायन्तनाम्भोजानुकृताननाः । किमेतदिति तत्सर्वं जानानोऽपि स सागरः^७ ॥ ६ ॥
 अनेकानुनयोपायैर्गोत्रस्पर्शनं^८ दुःखिताम् । सुलोचनां समाश्वास्य स्मरन् जन्मान्तरप्रियाम् ॥ ७ ॥
 आकारसंवृत्तिं कृत्वा तामेवालपयन्^९ स्थितः । वञ्चनामुञ्चयः^{१०} सर्वे प्रायः कान्तासु कामिनः ॥ ८ ॥
 तथोर्जन्मान्तरात्मीयवृत्तान्तस्मृत्यनन्तरम् । स्वर्गादनुगतो बोधस्तृतीयो^{११} व्यथितमीयिवान्^{१२} ॥ ९ ॥
 तद्विलोक्य सपरन्ध्रोऽस्या^{१३} श्रीमती सशिवंकरा । पताञ्च मत्सरोत्रेकादिस्थान्योम्यं तदामुवन्^{१४} ॥ १० ॥

अथानन्तर किसी अन्य समय जयकुमार अपने महलकी छतपर आरुढ़ हो शोभाके लिए बनवाये हुए कृत्रिम हाथीपर आनन्दसे बैठा था कि इतनेमें ही अपनी इच्छानुसार जाते हुए विद्याधर दम्पती दिखे, उन्हें देखकर 'हा मेरी 'प्रभावती' इस प्रकार कहता हुआ वह बहुत ही बेचैन हुआ और मूर्च्छाकी सहायता पाकर शीघ्र ही प्रेमको प्राप्त हुआ । भावार्थ—पूर्वभवका स्मरण होनेसे मूर्च्छित हो गया ॥ १-२ ॥ इसी प्रकार सुलोचना भी उसी स्थानपर कबूतरोंका युगल देखकर 'हा मेरे रतिवर' ऐसा कहकर मूर्च्छाको प्राप्त हो गयी ॥ ३ ॥ जिस प्रकार चन्द्रमासे कुमुदिनी शीघ्र ही प्रबोधको प्राप्त हो जाती है—खिल उठती है उसी प्रकार चतुर दासी जनोके द्वारा किये हुए शीतलोपचारके क्रमसे वह सुलोचना शीघ्र ही प्रबोधको प्राप्त हुई थी—मूर्च्छा-रहित हो गयी थी ॥ ४ ॥ कपूर और चन्दन मिले हुए जलसे तथा मन्द-मन्द वायुसे कुछ लज्जित हुआ और दिशाओंकी ओर देखता हुआ वह जयकुमार भी मूर्च्छारहित हुआ ॥ ५ ॥ यद्यपि वह चतुर जयकुमार सब कुछ समझता था तथापि पूछने लगा कि तुम लोगोंके मुँह सन्ध्याकालके कमलोंका अनुकरण क्यों कर रहे हैं ? अर्थात् कान्तिरहित क्यों हो रहे हैं ? ॥ ६ ॥ पतिके मुँहसे दूसरी स्त्रीका नाम निकल जानेके कारण दुःखी हुई सुलोचनाका जयकुमारने अनेक प्रकारके अनुनय-विनय आदि उपायोंसे समझाया तथा दूसरे जन्मकी प्रिया प्रभावती समझकर अपने मुँह-का आकार छिपा वह उसीके साथ बातचीत करने लगा सो ठीक ही है क्योंकि सभी कामी पुरुष स्त्रियोंके ठगनेमें अत्यन्त चतुर होते हैं ॥ ७-८ ॥ उन दोनोंके जन्मान्तर सम्बन्धी अपना समाचार स्मरण होनेके बाद ही स्वर्ग पर्यायसे सम्बन्ध रखनेवाला अवधिज्ञान भी प्रकट हो गया ॥ ९ ॥ यह सब देखकर श्रीमती शिवंकरा तथा और भी जो सुलोचनाकी सौतेली थीं वे उस समय ईर्ष्याके

१ शोभायै विन्यस्तकृत्रिमगज । दन्तावलमनो ल० । २ विद्याधरदम्पती । ३ प्रीतिम् । ४ प्राप्तः । स्वीकृतो । ५ कपोत । ६ सौधाग्रे । ७ चतुर । ८ कपूर । ९ ईषल्लज्जानान् । १० अस्तमयकाल । ११ निपुणः । १२ प्रभावतीति नामान्तरग्रहण, सुलोचनाया अप्रे प्रभावतीति अन्यस्त्रीनामग्रहण । १३ जन्मान्तरप्रियास्मरण-जातरोमाञ्चप्रभृत्याकारप्रावरणम् । १४ सम्भाषयन् । 'संभाषणमाभाषणमालापः कुरुकुञ्चिका' इति वेजयन्ती । १५ प्रतीताः । १-वञ्चयः ल० । १६ अवधिज्ञानम् । १७ गतवान् । १८ सुलोचनायाः । १९ ऊचुः ।

स्त्रीषु मायेति या वार्ता सत्यां तामद्य कुर्वन्ती । पतिमूर्च्छां स्वमूर्च्छायाः^१ प्रत्ययीकृत्य मायया ॥११॥
 पश्य कृत्रिममूर्च्छातभावनाध्यक्तसंभृतिः ।^२ सन्ततान्तःस्थितप्रौढप्रेमप्रेरितचेतना ॥१२॥
 कन्याव्रतविलोपात्तगोत्रस्खलनदूषिता । पति रतिवरेत्युक्त्वा^३ याम्मूर्च्छां कुलदूषिणी ॥१३॥
 इयं शीलवतीन्येना^४ निस्स्वनम्^५ वर्णयत्ययम् । प्रायो रक्तस्य दोषोऽपि गुणवत् प्रतिभासते ॥१४॥
 प्रभावतीति संमुद्य क्लितवः^६ कोपिनीमिमाम् ।^७ प्रसिखादयिषुः शोकं तत्प्रीत्या चिदधाति नः ॥१५॥
^८ एतान् सर्वास्तवालापान् जयोऽवधिविलोचन । विदित्वा सस्मितं पश्यन् प्रियायाः स्मरमाननम् ॥१६॥
 कान्ते जम्भान्तरावाप्तं विद्वं वृत्तान्तमावयोः । व्यावर्त्यमां समां लुष्टिकौतुकापहृतां कुरु ॥१७॥
 इति^९ प्राचोदयत् साऽपि प्रिया तद्भाववेदिनी । कथां कथयितुं कृत्स्नां प्राकंस्तं^{१०} कलभाषिणी ॥१८॥
 इह जम्बूमति द्वीपे विदेहे प्राचि^{११} पुष्कलावती विधयमध्यस्थः वर्गते पुण्डरीकिणी ॥१९॥
 तन्नामधत् प्रजापालः प्रजा राजा प्रपालयन् । फलं धर्माधिकामानां स्वीकृत्य कृत्तिनां वरः ॥२०॥
 कुबेरमित्रस्तस्यासीद् राजश्रेष्ठी^{१२} प्रतिष्ठितः । द्वात्रिंशद्धनवत्याद्या भार्यास्तस्य मनःप्रियाः ॥२१॥
 गृहे तस्य समुत्तुङ्गे नानामवनवेष्टिते । वसन् रतिवरो नाम्ना धीमान् पारावतोत्तमः ॥२२॥

उद्वेकसे परस्परमें इस प्रकार कहने लगीं ॥१०॥ देखो, यह सुलोचना मायाचारसे पतिकी मूर्च्छाकी अपनी मूर्च्छाका कारण बनाकर 'स्त्रियोंमें माया रहती है' इस कहावतको कैसा सत्य सिद्ध कर रही है । और इस प्रकार जिसने कृत्रिम मूर्च्छाके द्वारा प्रकट हुई भावनाओंका साफ-साफ संवरण कर लिया है, जिसकी चेतना सदासे हृदयमें बैठे हुए प्रौढ प्रेमसे प्रेरित हो रही है जो कन्याव्रतके भंग करनेसे प्राप्त हुए गोत्रस्खलन (भूलसे दूसरे पतिका नाम लेने) से दूषित है तथा कुलको दूषण लगानेवाली है ऐसी यह सुलोचना अपने पहलेके पतिको 'हे रतिवर' इस प्रकार कहकर बनावटी मूर्च्छाको प्राप्त हुई है ॥११-१३॥ यह जयकुमार इसे 'यह बड़ी शीलवती है, इस प्रकार कहता हुआ वर्णन करता है सो ठीक ही है क्योंकि रागी पुरुषको प्रायः दोष भी गुणके समान जान पड़ते हैं ॥१४॥ 'हे प्रभावति' ऐसा कहकर मूर्च्छित हो, क्रोध करनेवाली इस सुलोचनाको प्रसन्न करनेकी इच्छा करता हुआ यह धूर्त कुमार उसके प्रेमसे ही हम लोगोंको शोक उत्पन्न कर रहा है ॥१५॥ अवधिज्ञानरूपी नेत्रको धारण करनेवाला जयकुमार उन लोगोंकी इन सब बातोंको जानकर मन्द हँसीके साथ-साथ सुलोचनाके मुसकुराते हुए मुखको देखता हुआ कहने लगा कि 'हे प्रिये ! तू हम दोनोंके पूर्वभवका सब वृत्तान्त कहकर इस सभाको सन्तुष्ट तथा कौतुकके वशीभूत कर !' यह सुनकर पतिके अभिप्रायको जाननेवाली और मधुर भाषण करनेवाली सुलोचनाने भी पूर्वभवकी सब कथा कहनी प्रारम्भ की ॥१६-१८॥

इस जम्बू द्वीपके पूर्व विदेह क्षेत्रमें एक पुण्डरीकिणी नामकी नगरी है जो कि पुष्कलावती देशके मध्यमें स्थित है । उस नगरीका राजा प्रजापाल था जो कि समस्त प्रजाका पालन करता हुआ धर्म, अर्थ तथा कामका फल स्वीकार कर सब पुण्यवानोंमें श्रेष्ठ था ॥१९-२०॥ उस राजाका कुबेरमित्र नामक एक प्रसिद्ध राजसेठ था और उसकी हृदयकी प्रिय लगनेवाली धनवस्ती आदि बस्तीस स्त्रियाँ थीं ॥२१॥ अनेक भवनोंसे घिरे हुए उस सेठके अत्यन्त ऊँचे महलमें एक रतिवर नामका कबूतर रहता था जो कि अतिशय बुद्धिमान् और सब कबूतरोंमें

१ कारणीकृत्य 'प्रत्ययोऽधीनशपथज्ञानविज्ञानहेतुषु' इत्यभिधानात् । २ रतिवरेत्युक्तपुरुषे प्रवृद्धस्नेहेन प्रेरित-मनसा । ३ अगच्छत् । ४ -त्येवं ल० । -त्येतां अ०, स०, इ०, प० । ५ निस्तनम् ट० । वृषन् । ६ अनुरक्तस्य । ७ मूर्च्छां गत्वा । ८ धूर्तः । ९ प्रभावतीनामग्रहणात् कुपिताम् । १० प्रसादयितुमिच्छुः । ११ एतान् । १२ अवादीत् । १३ उपक्रान्तवती । १४ पूर्वविदेहे । १५ धीमानित्यर्थः ।

कदाचिद् राजगेहागनेन वैश्येशिना स्वयम् । स्नेहेन सस्मितालापैः स्वहस्तेन समुन्नतः ॥२३॥
 कदाचित् कामिनीकान्तकराजपित्तशर्करा-संमिश्रितान् सुशालीयतण्डुलानभिमक्षयन् ॥२४॥
 कदाचिच्छ्रेष्ठिनोद्दिष्टं^१ हेतुदृष्टान्तपूर्वकम् । अहिंसालक्षणं चर्म^२ भावयन् प्राणिनेहितम् ॥२५॥
 कदाचिद् भवनायात-निपादसरोजजम् । रेणुजालं^३ निराकुर्वन् पक्षाभ्यां प्रायुपागतः^४ ॥२६॥
 स^५ कदाचिद् शक्तिः का स्यात् पापापापात्मनामिति । कुतूहलेन पृष्टः सन् जनैस्तुण्डेन निर्दिशन् ॥२७॥
 अधोभागमथोर्ध्वं च मौनीवागमपारगः । क्षयोपशममाहात्म्यातिशयोऽपि विवेकिनः ॥२८॥
 क्रीडनानाप्रकारेण कान्तयः^६ रतिषेण^७ । स^८ रतिषेणं^९ किं कुतूहलं^{१०} कदाचिद्^{११} ॥२९॥
 असौ रतिवरः कान्तस्त्वमहं सा तत्र प्रिया । रतिषेणा भवावर्ते जन्तुः किं किं न जायते ॥३०॥
 सुतः कुबेरमित्रस्य धनवत्याश्च पुण्यवान् । जातः कुबेरकान्ताख्यः कुबेरो^{१२} वा परः सुधीः ॥३१॥
 द्वितीय इव सस्यासीन् प्राणः सोऽनुचराग्रणीः^{१३} । प्रियसेनाद्वयो बाल्यादारभ्य कृतसंगतिः ॥३२॥
 आजन्मनः^{१४} कुमारस्य कामधेनु रनुत्तमा^{१५} । मनोऽमिलवितं दुग्धे समस्तसुखदाधनम् ॥३३॥
 क्षेत्रं निष्पादयत्येकं गन्धशालिमनारतम् । इक्षूनमृतदर्शया^{१६} नन्यत्^{१७} स्थूलास्तनुत्वचः ॥३४॥
 स्वयं मनोहरं वीणा दन्धवनीति^{१८} निरन्तरम् । तस्मान्नानसमये सर्वरोगस्वेदमलापहम् ॥३५॥

श्रेष्ठ था ॥२२॥ कभी तो राजभवनसे आये हुए सेठ कुबेरमित्र बड़े स्नेहसे हँस-हँसकर वार्ता-
 लाप करते हुए उसे अपने हाथपर उठा लेते थे, कभी वह स्त्रियोंके सुन्दर करकमलों-द्वारा दिये
 हुए और शक्कर मिले हुए उत्तम धानके चावलोंको खाता था, कभी सेठके द्वारा हेतु तथा
 दृष्टान्तपूर्वक कहे हुए प्राणिहितकारी अहिंसा धर्मका चिन्तवन करता था, कभी भवनमें आये हुए
 मुनिराजके चरणकमलोंकी धूलिको उनके समीप जाकर अपने पंखोंसे दूर करता था, जब कभी
 कोई कुतूहलवश उससे पूछता था कि पापी तथा पुण्यात्मा लोगोंकी क्या गति होती है ? तब
 वह शास्त्रोंके जाननेवाले किसी मौनी महाशयके समान इशारेसे चोंचके द्वारा नीचेका भाग
 दिखाता हुआ पापी लोगोंकी गति कहता था और उसी चोंचके द्वारा ऊपरका भाग दिखाता
 हुआ पुण्यात्मा लोगोंकी गति कहता था सो ठीक ही है क्योंकि क्षयोपशमके माहात्म्यसे तिर्यच
 भी विवेकी हो जाते हैं ॥२३-२८॥ इस प्रकार वह कबूतर अपनी रतिषेणा नामकी कबूतरकी
 साथ नाना प्रकारकी क्रीड़ा करता हुआ वहाँ सुखसे समय बिताता था ॥२९॥ सुलोचना
 कह रही है कि वह रतिवर ही आप मेरे पति हैं और वह रतिषेणा ही मैं आपकी प्रिया हूँ ।
 देखो इस संसाररूपी आवर्तमें भ्रमण करता हुआ यह जीव क्या-क्या नहीं होता है ? ॥३०॥
 उस कुबेरदत्त सेठके धनवती स्त्रीसे एक कुबेरकान्त नामका पुत्र हुआ था जो कि अतिशय
 पुण्यवान्, वृद्धिमान् तथा दूसरे कुबेरके समान जान पड़ता था ॥३१॥ उस कुबेरकान्तका एक
 प्रियसेन नामका श्रेष्ठ मित्र था जो कि बाल्य अवस्थासे ही उसके साथ रहता था और उसके
 दूसरे प्राणोंके समान था ॥३२॥ एक अत्यन्त उत्तम कामधेनु कुमार कुबेरकान्तके जन्मसे
 ही लेकर उसकी इच्छाके अनुकूल सुखके सब साधनोंको पूरा करती थी । वह कामधेनु प्रति
 दिन एक खेत तो सुगन्धित धान्यका उत्पन्न करती थी और एक खेत अमृतके समान मोठे,
 पतले छिलकेवाले बड़े-बड़े ईखोंका उत्पन्न करती थी ॥३३-३४॥ इसके सिवाय वही कामधेनु
 कुमारके सामने निरन्तर मनोहर वीणा बजाती थी, और उसी कामधेनुके प्रतापसे उसके स्नानके

१ दृष्ट-ल० । २ धूलिसमूहम् । ३ अपसारयन् । ४ अभिमुखागतः सन् । ५ पारावतः । ६ अधामिकाणां
 धामिकाणाम् । ७ रतिषेणसंज्ञया निजभार्यया पारावत्या । ८ गमयति स्म । ९ धनद इव । १० मित्र ।
 ११ जननकालादारभ्य । १२ न विद्यते उत्तमा यस्याः सकाशात् इत्यनुत्तमा, अनुपमेत्यर्थः । १३ सुधासदृशान् ।
 १४ परं द्वितीयं क्षेत्रम् । १५ भृशं ध्वनति ।

सुगन्धिसलिलं गच्छन्^१ गम्भीरमधुरं^२ ध्वनन् । अम्भोधरो नभोमारावातझादवमुञ्चति ॥३६॥
 कल्पद्रुमद्वयं वस्त्रभूषणानि प्रयच्छति । अद्यमानं ददात्यन्यद् द्वयं कल्पमहीरुहः^३ ॥३७॥
 एवमन्यच्च भोगाङ्गमशेषं देवनिर्मितम् । शश्वन्निर्विशतस्तस्य पूर्णं प्राश्रमिकं वयः ॥३८॥
 तद्दीक्ष्य पितरावेषं^४ किमेकामभिलाषुकः^५ । किं बह्नीरिति चिन्तेन^६ संदिहानीं समाकुली ॥३९॥
 प्रियसेनं^७ समाहूय तत्प्रदनात्तन्मनोगतम्^८ । अवादीधरतां मैत्री सैव या त्वेकचित्ता ॥४०॥
 ततः समुद्रदत्ताख्यो धनवत्या^९ सहाभवत् । स्वसा^{१०} कुबेरमित्रस्य^{११} तस्मामैवैतयोः^{१२} सुता ॥४१॥
 प्रियदत्ताह्वया तस्याश्चेष्टिका^{१३} रतिकारिणी । कथ्यकास्तां विधायार्दि द्वात्रिंशत्सुन्दराकृतीः ॥४२॥
 श्रेष्ठी कदाचिदुद्याने यक्षपूजाक्षिधौ सुधीः । सुपरीक्ष्य निमित्तेन^{१४} प्रियदत्तां गुणान्विताम् ॥४३॥
 अवधार्यास्य पुत्रस्य^{१५} पञ्चनारायलान्विते । दिने महाविभूषैना^{१६} कल्याणविधिनाऽग्रहीत् ॥४४॥
 दक्षिणपरीक्षायामवलोकितुमावते । सुते गुणवती राज्ञो^{१७} यशस्वत्यभिधा परा ॥४५॥
 मातम^{१८} मक्षसपूणमदत्तवति^{१९} माकुलं^{२०} (१) स्वाभ्या^{२१} लज्जामरानम्रवदने जातनिर्विदे^{२२} ॥४६॥

समय समीपवती आकाशसे आकर मधुर तथा गम्भीर गर्जना करते हुए, मेघ, मन्त्र प्रकारके रोग, पसीना और मलको हरण करनेवाला गंगा नदीका सुगन्धित जल बरसाने थे ॥ ३५-३६ ॥
 उस कुमारके लिए एक कल्पवृक्ष वस्त्र देता था, एक आभूषण देता था, एक अन्न देता था और एक पेय पदार्थ देता था ॥ ३७ ॥ इस प्रकार इनके सिवाय देवोंके दिये हुए और भी सब प्रकारके भोगोंका निरन्तर उपभोग करते हुए उस कुमारकी पहली अवस्था पूर्ण हुई थी ॥ ३८ ॥
 पहली अवस्थाको पूर्ण हुआ देखकर माता-पिताको चिन्ता हुई कि यह एक कन्या चाहता है अथवा बहुत । उसी चिन्तासे वे कुछ सन्देह कर रहे थे और कुछ व्याकुल भी हो रहे थे । उन्होंने कुबेरकान्तके मित्र प्रियसेनको बुलाकर उसके मनकी बात पूछी और उसको कहनेपर उन्होंने निश्चय कर लिया कि इसके 'एक पत्नीव्रत है' - यह एक ही कन्या चाहता है, सो ठीक ही है क्योंकि दोनोंका एक व्रत हो जाना ही मित्रता कहलाती है ॥ ३९-४० ॥

तदनन्तर - उसी नगरमें समुद्रदत्त नामका एक सेठ था, जो कि कुबेरमित्रकी स्त्री धनवतीका भाई था और उसे कुबेरमित्रकी बहन कुबेरमित्रा व्याही गयी थी । इन दोनोंके प्रियदत्ता नामकी एक पुत्री हुई थी और रतिकारिणी उसकी दासी थी । समुद्रदत्त सेठके प्रियदत्ता आदि बत्तीस कन्याएँ थीं । किसी एक दिन उस वृद्धिमान् सेठने एक बागमें यक्षकी पूजा करते समय सुन्दर आकारवाली उन बत्तीसों कन्याओंकी निमित्तवश परीक्षा की और उन सबमें प्रियदत्ताको ही गुणयुक्त समझा । फिर सूर्य, चन्द्र, गुरु, शुक्र और मंगल इन पाँचों ताराओंके बलसे सहित किसी शुभ दिनमें बड़े वैभवके साथ कल्याण करनेवाली विधिसे उस प्रियदत्ताको अपने पुत्रके लिए स्वीकार किया ॥ ४१-४४ ॥ राजा प्रजापालकी गुणवती यशस्वती नामकी

१ गच्छानं वन्धि । २ गम्भीरं मधुरं ब०, अ०, प०, स०, इ०, ल० । ३ कल्पवृक्षस्य । ४ अनुभवतः । ५ जननीजनकी । ६ एतामित्यपि पाठः । स्थिरम् । ७ सन्देहं कुर्वन्ती । ८ कुबेरकान्तस्य मित्रम् । ९ कुबेरकान्तस्याभिप्रायम् । १० एकपत्नीव्रतधारणमित्यवधारितवन्ती । ११ कुबेरमित्रस्य भार्यया धनवत्या सहोत्पन्न इत्यर्थः । १२ भगिनी । १३ कुबेरमित्राह्वया । १४ समुद्रदत्तकुबेरमित्रयोः । १५ सखी । १६ द्वात्रिंशद्भाजनेषु विविधभक्ष्यपायसवृत्तं पूरयित्वा एकस्मिन् भाजने अनर्घ्यं रत्नं निक्षिप्य यक्षाग्रे संस्थाप्य द्वात्रिंशत्कन्यकानामेकैकस्य एकैकं भाजनं दत्तं यस्या हस्ते अनर्घ्यं रत्नं समागतं सा मम पुत्रस्य प्रियेति सुपरीक्ष्य । १७ तिथ्यादिपञ्चनक्षत्रयलान्विते । १८ प्रियदत्ताम् । १९ प्रजापालनृपस्य । २० भक्ष - ल०, ब०, इ०, प०, अ०, स० । २१ अवदति मति । २२ मातुले अ०, प०, स०, इ०, ल०, ट० । निज मामे श्रेष्ठिति । २३ आत्मभ्याम् । २४ उत्पन्नवैराग्ये ।

अमितानमृतमन्यार्थिकाभ्यामो^१ संयमं परम् । आददाते स्म यत्थेवं काले तस्मिन् महीपती ॥४७॥
 लोकपालाय दत्त्वाऽऽनलक्ष्मीं संयममागते । शीलगुप्तगुरोः पार्श्वे शिवकृत्स्नमान्तरे ॥४८॥
 देव्यः कनकमालाद्याः^२ परे^३ शोपाययुस्तपः । दुर्गमं च वज्रन्यदृषाः प्रभुर्यदि पुरस्सरः ॥४९॥
 लोकपालोऽपि गंग्रासराज्यश्रीर्विबुधतोदयः । कुबेरमित्रबुद्ध्यैव भरित्रीं प्रत्यपालयत् ॥५०॥
 मन्त्री च फल्गुमत्याख्यो बालोऽसत्यवचः प्रियः । सवयस्को^४ मृपस्थाक्षः^५ प्रकृत्या चपलः^६ गलः ॥५१॥
 तत्प्रमोषं^७ नृपेणामा यद्वा तद्वा सुखागतः । शङ्कमानो वचो वक्तुं श्रेष्ठवपार्यं विचिन्त्य सः ॥५२॥
 स्वीकृत्य^८ शयनाध्यक्षं^९ सामन्तानैस्त्वया मित्रि । देवतावत्सिरोभय राजन् पितृसमं गुरुम्^{१०} ॥५३॥
 विनयाद् विच्युतं राजश्रेष्ठिनं तव संनिधौ । विधाय सर्वथा मा स्याः^{११} कार्यकाले स हूयताम्^{१२} ॥५४॥
 इति वक्तव्यमित्याख्यत्^{१३} सोऽपि सर्वं तथाकरोत् । अर्थाधिभिरकर्तव्यं न लोके नाम किञ्चन ॥५५॥
 श्रुत्वा तद्वचनं राजा^{१४} समीराहूय मातुलम् । नागस्तव्यमनाहूतैस्त्रिजनालोच्य^{१५} सोऽवर्षात् ॥५६॥
 पश्चाद् विषविपाकिभ्यः^{१६} प्रागनालोक्षितोक्तयः । श्रेष्ठी तद्वचनान् सद्यः सोद्देश्यं^{१७} स्वगृहं ययौ ॥५७॥

दो कन्याएँ भी वह नैमित्तिक परीक्षा देखनेके लिए आयी थीं, जब मामा कुबेरमित्रने भोजनसे भरे हुए पात्र उन्हें नहीं दिये तब अपने आप ही लज्जाके भारसे उनके मुख नीचे हो गये और उसी समय उन्हें वैराग्य उत्पन्न हो गया ॥ ४५-४६ ॥ उन्होंने उसी समय अमितमति और अनन्तमति आर्थिकाके समीप उत्तम संयम धारण कर लिया । इस प्रकार कितना ही समय व्यतीत होनेपर राजा प्रजापालने भी अपनी सब लक्ष्मी लोकपाल नामक पुत्रके लिए देकर शिवंकर नामके वनमें शीलगुप्त नामक मुनिराजके समीप संयम धारण कर लिया । इसी प्रकार कनकमाला आदि रानिमोंने भी कठिन तपश्चरण धारण किया था सो ठीक ही है क्योंकि यदि राजा आगे चलता है तो अल्प शक्तिके धारक लोग भी उसी कठिन रास्तेसे चलने लगते हैं ॥ ४७-४९ ॥ इधर जिसे राज्यलक्ष्मी प्राप्त हुई है और जिसका वैभव सब जगह प्रसिद्ध हो रहा है ऐसा राजा लोकपाल भी कुबेरमित्रकी सम्मतिके अनुसार ही पृथिवीका पालन करने लगा ॥ ५० ॥ उस राजाका फल्गुमति नामका एक मन्त्री था, जो अज्ञानी था, असत्य बोलनेवाला था, राजाकी समान उमरका था, मूर्ख था और स्वभावसे चंचल तथा दुर्जन था ॥ ५१ ॥ वह मन्त्री कुबेरदत्त सेठके सामने राजाके साथ मुँहपर आये हुए यद्वा-तद्वा वचन कहनेमें कुछ डरता था इसलिए वह सेठको राजाके पाससे हटाना चाहता था । उसने राजाके शयनगृहके मुख्य पहरेदारको सम्झा-बुझाकर और कुछ धन देकर अपने वश कर लिया, उसे समझाया कि तू रातके समय देवताके समान तिरोहित होकर राजासे कहना कि हे राजन्, राजसेठ कुबेरमित्र पिताके समान बड़े हैं, सदा अपने पास रखनेमें उनकी विनय नहीं हो पाती इसलिए उन्हें हमेशा अपने पास नहीं रखिए, कार्यके समय ही उन्हें बुलाया जाय इस प्रकार फल्गुमतिने शयनगृहके अध्यक्षसे कहा और उसने भी सब काम उसीके कहे अनुसार कर दिया सो ठीक ही है क्योंकि धन चाहनेवाले लोगोंके द्वारा नहीं करने योग्य कार्य इस संसारमें कुछ भी नहीं है ॥ ५२-५५ ॥ शयनगृहके अधिकारीकी बात सुनकर राजाको भी कुछ भय हुआ और उसने बिना विचारे ही मामा (कुबेरमित्र) को बुलाकर कह दिया कि आप बिना बुलाये न आवें ॥ ५६ ॥ जो बात पहले बिना विचार किये ही कही जाती है उसका फल पीछे विषके

१ समीपे । २ पुरो ल० । ३ प्राप्तवन्तः । ४ समानवयस्कः । ५ नृपश्चान्यः इत्यपि पाठः । द्वितीयो नृपः । मन्त्रीत्यर्थः । ६ असमर्थः । ७ कुबेरमित्रसंनिधौ । ८ यत्किञ्चित् । ९ स्ववशं कृत्वा । १० प्रियवचनमुवर्ण-
 रत्नादिदानैः । ११ पूज्यम् । १२ मा स्म तिष्ठ । १३ आहूयताम् । १४ शयनाध्यक्षः । १५ सभयः । १६ अनाहूयमानीः भर्वाद्भूः । १७ अविचार्य । १८ विषवद् विपाकवत्तयः । १९ उद्देश्यसहितम् ।

राजा कदाचिद्वाजीद् घटया ललितालयया । विहारार्थं वनं तत्र वाप्यामालोक्य त्रिस्मयात् ॥५८॥
तदगुण्योत्रिपासजशाखाप्रस्थपरिस्फुरन् । परार्थ्यवायसानांतपचरागमणिप्रभाम् ॥५९॥
मणिं मत्वा प्रविश्यान्तर्नेषु केन पथं लब्धव्यम् । भ्रान्त्या प्रवर्तमानानां कुतः क्लेशाद् विना फलम् ॥६०॥
चिरं निरीक्ष्य निर्विण्णाः सर्वे ते पुरमागमन् । बुद्धिर्नाग्रेसरी यस्य न निर्वन्धः फलस्यसौ ॥६१॥
कदाचिद् भूपतिः श्रेष्ठिसुतया रक्तचित्तया । वसुमत्या विभावर्यामात्मनोभाग्यसूचिना ॥६२॥
अमेण^{१०} कुङ्कुमाट्रेण ललाटे स्फुटमङ्कितः^{११} । कान्ताः किं किं न कुर्वन्ति स्वमागपतिते नरे ॥६३॥
पट्टबन्धात् परं मत्वा तत्कृत्वाङ्कं महीपतिः । प्रातरास्थानमध्यास्य मन्त्र्यादीनिस्वयंबुधत् ॥६४॥
ललाटे यदि केनापि राजा पादेन ताडितः । कर्तव्यं तस्य किं वाच्यं^{१२} ततो मन्त्र्यद्वयीदिदम् ॥६५॥
पट्टात् ललाटो नान्येन स्पृश्यः स यदि ताडितः । पादेन केनचिद् वध्यः स प्राणान्तमिति स्फुटम् ॥६६॥
तदाकर्ण्यवधूयै^{१३} स्मितेनाहूय मातुलम् । नृपोऽप्राश्नीत् स^{१४} चाहृतत् प्रस्तुतं प्रस्तुतार्थवित् ॥६७॥
तस्य पूजा विधातव्या सर्वालंकारसंपदा । इति तद्वचनात्तद्वा मणिचार्ता न्यवेदयत् ॥६८॥

समान होता है । राजाके वचन सुनकर सेठ भी दुःख सहित शीघ्र ही अपने घर चला गया ॥५७॥ किसी एक दिन राजा ललितघट नामक लक्ष्मीपूजक विहार करनेके लिए वनमें गया, उस वनमें एक बावड़ी थी, उसके तटपर एक सुखा वृक्ष था, उसकी एक शाखा बावड़ीके निकटसे निकली थी, उस शाखाके अग्रभागपर एक कौवेने कहींसे देदीप्यमान बहुमूल्य पचराग मणि लाकर रख दी । बावड़ीमें उस मणिकी कान्ति पड़ रही थी, राजा तथा उसके सब साथियों-ने उस कान्तिको मणि समझा और यह देखकर सबको आश्चर्य हुआ — उस मणिको लेनेके लिए सब बावड़ीके भीतर घुसे परन्तु उनमें-से वह मणि किसीको भी नहीं मिली सो ठीक ही है क्योंकि भ्रान्तिसे प्रवृत्ति करनेवाले पुरुषोंको क्लेशके सिवाय और क्या फल मिल सकता है ॥५८-६०॥ उन सब लोगोंने बावड़ीमें वह मणि बहुत देर तक देखी परन्तु जब नहीं मिली तब उदास हो अपने नगरको लौट आये सो ठीक ही है क्योंकि जिस प्रयत्नमें बुद्धि अग्रेसर नहीं होती वह प्रयत्न कभी सफल नहीं होता ॥६१॥ किसी समय प्रेमसे भरी हुई वसुमती नामकी सेठकी पुत्रीने रात्रिके समय अपने सौभाग्यको सूचित करनेवाले तथा कुङ्कुमसे गीले अपने पैरसे राजाके ललाट-में स्पष्ट चिह्न बना दिया सो ठीक ही है क्योंकि पुरुषके अपने अधीन होनेपर स्त्रियाँ क्या-क्या नहीं करती हैं ? ॥६२-६३॥ राजाने उस पैरके चिह्नको पट्टबन्धसे भी अधिक माना और सबेरा होते ही सभामें बैठकर मन्त्री आदिसे इस प्रकार पूछा कि यदि कोई पैरसे राजाके ललाट-पर ताड़न करे तो उसका क्या करना चाहिए ? यह सुनकर फल्गुमति मन्त्रीने कहा कि राजा-का जो ललाट पट्टके सिवाय किसी अन्य वस्तुके द्वारा छुआ भी नहीं जा सकता उसे यदि किसीने पैरसे ताड़न किया है तो उसे प्राण निकलने तक मारना चाहिए ॥६४-६६॥ यह सुनकर राजाने उस मन्त्रीका तिरस्कार किया तथा मन्द-मन्द हँसीके साथ मामा कुबेरमिश्रको बुलाकर उनसे सब हाल पूछा । प्रकृत बातकी जाननेवाला कुबेरमिश्र कहने लगा कि जिसने आपके शिरपर पैरसे प्रहार किया है उसकी सब प्रकारके आभूषणरूपी सम्पदासे पूजा करनी चाहिए । इस प्रकार उसके वचनोंसे सन्तुष्ट होकर राजाने वनविहारके समय बावड़ीमें दिखनेवाले मणिकी

१. अगमत् । प्राप्राजीत् ल० । २ परार्थ्यमिति पचरागस्य विशेषणम् । ३ ललितघटालयजनेषु । ४ लब्धः । ५ मणिः । ६ पुरुषस्य । तस्य ट० । ७ अविच्छिन्नप्रवृत्तिः । ८ न फलप्रदो भवति । ९ निजभार्यया । १० पादेन । ११ ताडित इत्यर्थः । १२ अविच्छिन्नवक्तव्यम् । १३ परित्यज्य । १४ कुबेरमिश्रः ।

पानी-पानी ॥ ७५० ॥ ७५१ ॥ ७५२ ॥ ७५३ ॥ ७५४ ॥ ७५५ ॥ ७५६ ॥ ७५७ ॥ ७५८ ॥ ७५९ ॥ ७६० ॥

मणिं जलमध्येऽस्ति तद्वत्तत्पर्यवितः । प्रभाव्यप्यामिति प्राह तद्विचिन्त्य^१ वणिक्वरः ॥ ६५॥
 तदा कुबेरमित्रस्य प्रज्ञामज्ञानमात्मनः । दौष्ट्यं च मन्त्रिणो ज्ञात्वा पश्चात्तापमहीपतिः ॥ ७०॥
 पश्य धृतराष्ट्रं मूढो वञ्चितोऽस्मीति सर्वदा । श्रेष्ठिनं प्राहसंमानं^२ प्रत्यामर्शं व्यधात् सुधैः ॥ ७१॥
 तन्प्रावायमहामारं^३ ततः प्रभृति भूतिः । तस्मिन्नारोप्य निर्व्यग्रः सधर्मं काममन्वभूत् ॥ ७२॥
 कदाचित् कान्तया दृष्टालितो निजमूर्द्धनि । श्रेष्ठी तां सत्यमद्य त्वं धर्मपत्नीत्यभिभूवन् ॥ ७३॥
 द्यूता विमोच्य^४ राजानं वरधर्मगुरोस्तपः^५ । सार्धं समुद्रदत्ताद्यैरादाय सुरभूधरं^६ ॥ ७४॥
 तादुमौ ब्रह्मलोकान्तेऽभूतां लौकान्तिकौ सुरौ । किं न साध्यं यथाकालपरिस्थित्या मनीषिभिः ॥ ७५॥
 अन्वेषुः प्रियदत्ता^७ दत्ता दानं मुनीशिने । भवत्या विपुलमत्याख्यचारणाय यथोचितम् ॥ ७६॥
 संप्राप्य नवधा पुण्यं तपसः संनिधिर्मम । किमस्तौत्यधर्वाद् व्यक्तवितया मुनिपुङ्गवम् ॥ ७७॥
 पुत्रलामार्थं तद्विषं विदिष्याऽवधिलोचनः । वामेतरकरे धीमान् स्पष्टमङ्गुलिपञ्चकम् ॥ ७८॥
 कनिष्ठमङ्गुलिं वामहस्तेऽर्शं समदर्शयत् । पुत्रान्कालान्तरे पञ्च साऽऽर्चैकमात्मजामपि^८ ॥ ७९॥
 ते^९ कदाचिज्जगत्पालचक्रेशस्य सुते समम् । अमितानन्तमत्याख्यं^{१०} गुणज्ञं गुणभूषणे ॥ ८०॥

बात निवेदन की ॥ ६७-६८॥ वेश्योंमें श्रेष्ठ कुबेरमित्रने विचारकर कहा कि वह मणि पानीके भीतर नहीं थी किनारेपर खड़े हुए वृक्षपर थी, बावड़ीमें केवल उसकी कान्ति पड़ रही थी ॥ ६९॥ यह सुनकर उस समय राजा लोकपाल कुबेरमित्रकी बुद्धिमत्ता, अपनी भूर्खता और मन्त्रीकी दुष्टता जानकर पश्चात्ताप करता हुआ इस प्रकार कहने लगा — “देखो इन धूर्तोंने मुझ मूर्खको खूब ही ठगा ।” इस प्रकार कहकर वह बुद्धिमान् राजा सेठका आदर-सत्कार कर उसे सदा अपने पास रखने लगा ॥ ७०-७१॥ उस दिनसे राजाने तन्त्र अर्थात् अपने राष्ट्रकी रक्षा करना और अवाय अर्थात् परराष्ट्रोंसे अपने सम्बन्धका विचार करना इन दोनोंका बड़ा भारी भार सेठको सौंप दिया और आप निर्द्वन्द्व होकर धर्म तथा काम पुरुषार्थका अनुभव करने लगा ॥ ७२॥ किसी समय सेठकी स्त्रीने सेठके शिरमें पका बाल देखकर सेठसे कहा । सेठने यह कहते हुए उसकी बड़ी प्रशंसा की कि तू आज सचमुच धर्मपत्नी हुई है । उस सेठने बड़ी प्रसन्नताके साथ राजाको छोड़कर समुद्रदत्त आदि अन्य सेठोंके साथ-साथ देवगिरि नामक पर्वतपर वरधर्मगुरुके समीप तप धारण किया और दोनों ही तपकर ब्रह्मलोकके अन्तमें लौकान्तिक देव हुए सो ठीक ही है क्योंकि समयके अनुकूल होनेवाली परिस्थितिसे बुद्धिमानोंको क्या-क्या सिद्ध नहीं होता ? ॥ ७३-७५॥

किसी दूसरे दिन प्रियदत्ता (समुद्रदत्तकी पुत्री और कुबेरकान्तकी स्त्री) ने विपुलमति नामके चारण ऋद्धिधारी महामुनिको नवधा भक्तिपूर्वक दान देकर पुण्य सम्पादन किया और फिर विनय प्रकट कर उन्हीं मुनिराजसे पूछा कि मेरे तपका समय समीप है या नहीं ! ॥ ७६-७७॥ अवधिज्ञान ही हैं नेत्र जिनके ऐसे बुद्धिमान् मुनिराजने यह जानकर कि इसका वित्त सन्तानको चाह रहा है अपने दाहिने हाथकी पाँच अँगुली और बायें हाथकी छोटी अँगुली दिखायी और उससे सूचित किया कि पाँच पुत्र और एक पुत्री होगी । तथा कालान्तरमें उस प्रियदत्ताने भी पाँच पुत्र और एक पुत्री दिखलायी अर्थात् उत्पन्न की ॥ ७८-७९॥ किसी समय गुणरूप आभूषणोंको धारण करनेवालो, जगत्पाल चक्रवर्तीकी पुत्री, अमितमति और अनन्तमति नाम-

१ विचार्य । २ -संमानं अ०, प०, स०, इ०, ल० । ३ स्वराष्ट्रपरराष्ट्रमहाधुरम् । ४ आत्मानं राजा मोचयित्वेश्वर्यः । ५ वरधर्मगुरोः समीपे । ६ सुरनाम्नि कस्मिन्विचद् गिरौ । ७ कुबेरदत्त-समुद्रदत्तौ । ८ -परिच्छित्या ट० । कालानुरूपेण ज्ञानेन । ९ कुबेरकान्तप्रिया । १० एका पुत्रीम् । ११ प्रसिद्धे । १२ गणित्यो अ०, प०, स०, इ० । गुणित्यो ल० ।

प्रजापालतनूजाभ्यां यशस्वत्या तपोभ्या । गुणवत्या च संप्राप्ते पुरं^१ तत्परमर्द्धिकम् ॥८१॥
 राजा^२ शान्तः पुरः श्रेष्ठा^३ घनयोर्निकटे चिरम् । श्रुत्वा सद्धर्मसद्भावं दानाद्युद्योगमायया ॥८२॥
 कदाचिच्छ्रेष्ठिनो गेहं जङ्घाचारणयोर्दुःखम् । प्राविशद् भक्तितो स्थापयतां तौ दम्पती मुदा ॥८३॥
 तद्दृष्टिमात्रविज्ञातप्रान्भयं तत्पदाभ्युजम् । कपोतमिधुनं पक्षैः परिस्पृश्यामिनम्य^४ तत् ॥८४॥
 गलितान्योन्यसंप्रीति वभूषालोक्य तन्मुनी^५ । जातसंसारनिर्वेगौ निर्गम्यापगतौ गृहात् ॥८५॥
 प्रियदत्तं जितज्ञैतद्व्रगत्याम्यदा^६ तु ताम् । रतिपेणामपृच्छते नाम प्राग्जन्मनीति किम् ॥८६॥
 सा पुण्डेनालिखन्नाम रतिवेगेति व्रीक्ष्य तम्^७ । ममैषा पूर्वमायैति कपोतः प्रीतिर्मायिवान् ॥८७॥
 तथा रतिवरः पृष्ठः स्वनाम^८ प्रियदत्तया । सुकान्तोऽस्यहमित्येषोऽप्यक्षराण्यलिखद् भुवि ॥८८॥
 तस्मिन्नेष्य ममैवायं पतिरित्यभिलाषुका । रतिपेणाऽप्यमासेन संगमं^९ विध्यनुग्रहात् ॥८९॥
 तत्समावर्तिनामेतत् श्रुत्वा प्रीतिरभूदलम् । पुनः शुश्रूषवश्चासन् कथाशेषं^{१०} सकौतुकाः ॥९०॥
 अन्यथाकर्णितं दृष्ट्वाचाम्यां यदि चेशया । ज्ञायते तच्च वक्तव्यमित्युक्तयति कौरवे^{११} ॥९१॥
 निजवागमृताम्भोमिः सिद्ध्यन्ती तां सभां शुभाम् । सुलोचनाऽमवीत् सम्प्रज्ञायते श्रूयतामिति ॥९२॥

की गणिनी (आर्थिकाओंकी स्वामिनी), तप धारण करनेवाली, प्रजापालकी पुत्री यशस्वती और गुणवतीके साथ-साथ उत्कृष्ट विभूतिसे सुशोभित उस पुण्डरीकिणी नगरीमें पधारिं ॥८०-८१॥ सब अन्तःपुरके साथ-साथ राजा लोकपाल और सेठ कुबेरकान्त भी उन आर्थिकाओंके समीप गये और चिरकाल तक समीचीनधर्मका अस्तित्व सुनकर दान देना आदि उद्योगको प्राप्त हुए ॥८२॥ किसी एक दिन सेठ कुबेरकान्तके घर दो जंघाचारण मुनि पधारे । दोनों ही दम्पतियोंने बड़ी भक्ति और आनन्दके साथ उनका पङ्गाहन किया ॥८३॥ उन मुनियोंके दर्शन मात्रसे ही जिसने अपने पूर्वभवके सब समाचार जान लिये हैं ऐसे कबूतर कबूतरी (रति-वर-रतिपेणा) के जोड़ेने अपने पंखोंसे मुनिराजके चरणकमलोंका स्पर्श कर उन्हें नमस्कार किया और परस्परकी प्रीति छोड़ दो । यह देखकर उन मुनियोंको भी संसारसे वैराग्य हो गया और दोनों ही निराहार सेठके घरसे निकलकर बाहर चले गये ॥८४-८५॥ इशारोंको समझनेवाली प्रियदत्ताने यह सब जानकर किसी समय रतिपेणा कबूतरीसे पूछा कि पूर्वजन्ममें तुम्हारा क्या नाम था ? ॥८६॥ उसने भी चौंचसे 'रतिवेगा' यह नाम लिख दिया । उसे देखकर यह पूर्वजन्मकी मेरी स्त्री है यह जानकर कबूतर बहुत प्रसन्न हुआ ॥८७॥ इसी प्रकार प्रियदत्ताने रतिवर कबूतरसे भी उसके पूर्वजन्मका नाम पूछा तब उसने भी मैं पूर्व जन्ममें सुकान्त नामका था ऐसे अक्षर जमीनपर लिख दिये ॥८८॥ उन्हें देखकर और यह मेरा ही पति है यह जानकर उसीके साथ रहनेकी अभिलाषा करती हुई रतिपेणा भी देवके अनुग्रहसे उसीके साथ समागमको प्राप्त हुई-दोनों साथ-साथ रहने लगे ॥८९॥ यह सब सुनकर सभामें बैठे हुए सभी लोगोंको बहुत भारी प्रसन्नता हुई और कथाका शेष भाग सुननेकी इच्छा करते हुए सभी लोग बड़ी उत्कण्ठासे बैठे रहे ॥९०॥ 'इसके सिवाय हम दोनोंने और भी जो कुछ देखा या सुना है उसे यदि जानती हो तो कहो' इस प्रकार जयकुमारके कहनेपर अपने वचनामृतरूपी जलसे उस शुभ सभाको सींचती हुई सुलोचना कहने लगी-'हाँ, अच्छी तरह

१ पुण्डरीकिणीपुरम् । २ लोकपालः । ३ कुबेरकान्तः । ४ अमितानन्तमत्योः । ५ जङ्घाचारणद्वयावलोकन-
 मात्र । ६ नत्वा । ७ विगलितपरस्परान्तस्नेहवदित्यर्थः । ८ कपोतमिधुनम् । ९ गलितमोहमिति ज्ञात्वा ।
 गम्यान्य-ल०, अ०, प०, इ० । १० लिखितनामाक्षरम् । ११ निजपूर्वजन्मनाम् । १२ सुकान्ताख्योऽह-ल० ।
 १३ विधेरानुकूल्यात् । १४ जयकुमारसभावतिनाम् । सपत्न्यादीनाम् । १५ जातनिर्वेदात् भिक्षामगृहीत्वा
 निर्गत्य गतचारणादिशेषकथाम् । १६ जयकुमारे ।

तदा मुनेर्गृहाद् भिक्षां त्यक्त्वा गमनकारणम् । अजात्वा भूपतः^१ प्रश्नादा^२हामितमतिः^३ श्रुतम् ॥९३॥
 विषयेऽस्मिन्^४ खगक्षमाभृत्प्रत्यासन्नं^५ वनं महत् । अस्ति धान्यकमालाख्यं तदभ्यर्गे^६ पुरं परम् ॥९४॥
 शोभानगरमस्येशः^७ प्रजापालमहीपतिः । देवर्षीस्तस्य देव्यासीत् सुखदा श्रीस्त्रिपरा ॥९५॥
 शक्तिपेणोऽस्य^८ नामन्तस्तस्याभूत् प्रीतिदायिनी । अटवीश्रीस्तयोः^९ सत्यदेवः सूनुरिमं^{१०} समम् ॥९६॥
 सर्वेऽप्यासन्नमभ्यर्त्वाद् अस्मत्पा^{११} दसमाश्रयात् । श्रुत्वा धर्मं नृपेणासा समापन्नमद्यमांसयोः ॥९७॥
 त्यागं पर्वोपवासं च शक्तिपेणोऽपि भक्तिमान् । मुनिबेलाख्ये^{१२} भुक्तिमं^{१३} ग्रहीत् स गृहिमत्सम् ॥९८॥
^{१४} तत्पत्नी^{१५} शुक्लपक्षादिदिनेऽष्टम्यामथापरे । पक्षे^{१६} पञ्चसमास्त्यागमाहारस्य समग्रहीत् ॥९९॥
 अनुप्रबृद्धकल्याणनामधेयमुपाधितम्^{१७} । सत्यदेवश्च साधूनां^{१८} स्तवनं प्रत्यपद्यत^{१९} ॥१००॥
 इत्यभूच्चामी श्रद्धाविहीनमृतभूषणाः । स मृणालवतीं नेतुं कदाचिदटवीश्रियम् ॥१०१॥
 पित्रोः^{२०} पुरीं^{२१} प्रवृत्तः सन् शक्तिपेणः ससम्यक् । वने धान्यकमालाख्ये प्राप्य सर्पसरोवरम् ॥१०२॥
 निविष्टयानिहं चान्यत् प्रकृतं नत्र कथ्यते । पतिमृणालवत्याख्यनगर्या धरणीपतिः^{२२} ॥१०३॥

जानती हूँ, सुनिए ॥९१-९२॥ उस समय वे मुनि आहार छोड़कर सेठके घरसे चले गये थे । जब राजाको उनके इस तरह चले जानेका कारण मालूम नहीं हुआ तब इसने अमितमति गणिनी (आधिका) से पूछा । अमितगतिने भी जैसा सुना था वैसा वह कहने लगी ॥९३॥

इसी पुष्कलावती देशमें विजयार्ध पर्वतके निकट एक 'धान्यकमाल' नामका बड़ा भारी वन है और उस वनके पास ही शोभानगर है । उस नगरका स्वामी राजा प्रजापाल था और उसकी स्त्रीका नाम था देवश्री । वह देवश्री दूसरी लक्ष्मीके समान सुख देनेवाली थी ॥९४-९५॥ राजा प्रजापालके एक शक्तिपेण नामका सामन्त था, उसकी प्रीति उत्पन्न करनेवाली अटवीश्री नामकी स्त्री थी । उन दोनोंके सत्यदेव नामका पुत्र था । किसी समय निकटभय्य होनेके कारण इन सभीने मेरे चरणोंके आश्रयसे धर्मका उपदेश सुना । राजा भी इनके साथ था । उपदेश सुनकर सभीने मद्य-मांसका त्याग किया और पर्वके दिन उपवास करनेका नियम लिया । भक्ति करनेवाले शक्तिपेणने भी गृहस्थके व्रत धारण किये और साथमें यह नियम लिया कि मैं मुनियोंके भोजन करनेका समय टालकर भोजन करूँगा ॥९६-९७॥ शक्तिपेणकी स्त्री अटवीश्रीने पाँच वर्षतक शुक्ल पक्षका प्रथम दिन और कृष्णपक्षकी अष्टमीको आहार त्याग करनेका नियम किया, अनुप्रबृद्ध कल्याण नामका उपवास व्रत ग्रहण किया तथा सत्यदेवने भी साधुओंके स्तवन करनेका नियम लिया ॥९९-१००॥ इस प्रकार ये सब सम्यग्दर्शनके बिना ही व्रतरूप आभूषणको धारण करनेवाले हो गये । किसी एक दिन सेनापति शक्तिपेण अपनी सेनाके साथ अटवीश्रीको लेनेके लिए उसके माता-पिताकी नगरी मृणालवतीको गया था । वहाँसे लौटते समय वह धान्यकमाल नामके वनमें सर्पसरोवरके समीप ठहरा । उसी समय एक दूसरी घटना हुई जो इस प्रकार कही जाती है ।

- १ लोकपालस्य । २ वक्ति । ३ अमितमत्याधिका । ४ स्वयं चारणमुनिनिकटे आकणितम् । ५ पुष्कलावत्याम् । ६ विजयार्धगिरिसमीपम् । ७ समीपे । ८ नगरस्य । ९ नायकः । १० सत्यदेवनामा स्त्रीकृतपुत्रः संजातः । ११ इमे सर्वे देवश्रीदेव्यादयः समं धर्मं श्रुत्वेति संबन्धः । १२ अमितगतिनामास्मत्पादसमाश्रयात् । १३ मुनिचर्याकाले अतिशान्ते सति । १४ आहारं स्वीकरोमीति व्रतम् । १५ शक्तिपेणभार्या । १६ शुक्लपक्षप्रतिपदिने । अपरे पक्षे अष्टम्यां दिने च । १७ पञ्चवर्षाणि । १८ उपवासव्रतं समग्रहीत् । १९ परमेष्ठिनां स्तोत्रम् । २० गृहीतवान् । २१ जननीजनकयोः । २२ मृणालवतीनामनगरीम् । २३ भूपतिः ।

सुकेंतुस्तत्र^१ वैश्वेशस्तनूजो रतिवर्मणः । भवदेवोऽभवत्तस्य विपुण्यः कनकश्रियाम्^२ ॥१०४॥
 तत्रैव^३ दुहिता जाता श्रीदत्तस्यातिवल्लभा । विमलादिश्रियाख्याता रतिवेगाख्यया सती ॥१०५॥
 सुकान्तोऽशोकदेवेष्टजिनदत्तासुतोऽजनि । भवदेवस्य दुर्धृत्वा^४ दुर्मुखाल्लोऽप्यजायत ॥१०६॥
 स एव द्रव्यभावस्य रतिवेगां जिघृक्षुकः^५ । वाणिज्यार्थं गतः^६ स्तस्मात्तायात^७ इति सा^८ तदा ॥१०७॥
 मातापितृभ्यां प्राजायि^९ सुजायाय^{१०} दुर्मुखाय^{११} । देशान्तरात् स्वमातुलं तद्वार्ताश्रवणाद् भूशम् ॥१०८॥
 दुर्मुखे कुपिते भीत्वा तदानीं तद्वधूवरम्^{१२} । अजिन्या^{१३} शक्तिषेणस्य शरणं समुपागतम्^{१४} ॥१०९॥
 तद्दुर्मुखोऽपि^{१५} निर्धन्यादनुगत्य^{१६} वधूवरम् । शक्तिषेणभयाद् बह्वैरो निवृत्ते^{१७} ततः^{१८} ॥११०॥
 तत्रैकस्मै^{१९} विषयधारणद्वन्द्वाय समापुषे^{२०} । शक्तिषेणो ददावर्षं पाथेयं^{२१} परजन्मनः ॥१११॥
 तत्रैवागत्य सार्धशो^{२२} निविष्टो बहुभिः सह । विभुर्मेरुकदत्ताख्यः श्रेष्ठो भार्यास्य धारिणी ॥११२॥
 मन्त्रिणस्तस्य^{२३} भूतार्थः शकुनिः सवृहस्पतिः । धन्वन्तरिश्च चत्वारः सर्वे शास्त्रविशारदाः ॥११३॥
 एभिः परिवृताः श्रेष्ठो हीनाङ्गः^{२४} कञ्चिदागतम् । समीक्ष्यैनं कुतो हेतोर्जातोऽयमिति^{२५} तान् जगौ ॥११४॥

मृणालवती नगरीका राजा धरणीपति था । उसी नगरीमें सुकेतु नामका एक सेठ रहता था जो कि रतिवर्माका पुत्र था । सुकेतुकी स्त्रीका नाम कनकश्री था और उन दोनोंके एक भवदत्त नामका पुण्यहीन पुत्र था ॥१०१-१०४॥ उसी नगरमें एक श्रीदत्त सेठ थे । उनकी स्त्रीका नाम था विमलश्री और उनके दोनोंके अत्यन्त प्यारी रतिवेगा नामकी सती पुत्री थी ॥१०५॥ उसी नगरके अशोकदेव सेठ और जिनदत्ता नामकी उनकी स्त्रीसे पैदा हुआ सुकान्त नामका एक पुत्र था । जिसका वर्णन ऊपर कर आये हैं ऐसा भवदेव बड़ा दुराचारी था और उस दुराचारीपनके कारण ही उसका दूसरा नाम दुर्मुख भी हो गया था ॥१०६॥ वह भवदेव धन उपार्जन कर रतिवेगाके साथ विवाह करना चाहता था इसलिए व्यापारके निमित्त वह बाहर गया था, परन्तु जब वह विवाहके अवसर तक नहीं आया तब माता-पिताने वह कन्या अत्यन्त तेजस्वी सुकान्तके लिए दे दी । जब दुर्मुख (भवदेव) देशान्तरसे लौटकर आया और रतिवेगाके विवाहकी बात सुनी तब वह बहुत ही कुपित हुआ । उसके डरसे वधू और वर दोनों ही भागकर शक्तिषेणकी शरणमें पहुँचे ॥१०७-१०९॥ दुर्मुखने भी हठसे वधू और वरका पीछा किया परन्तु शक्तिषेणके डरसे अपना बैर अपने ही मनमें रखकर वहाँसे लौट गया ॥११०॥ शक्तिषेणने वहाँ पधारे हुए दो चारण मुनियोंके लिए अपने आगामी जन्मके कलेवाके समान आहार दान दिया था ॥१११॥ उसी सरोवरके समीप धनी और सब संघके स्वामी मेरुकदत्त नामका सेठ बहुत लोगोंके साथ आकर ठहरा हुआ था । उसकी स्त्रीका नाम धारिणी था । उस सेठके चार मन्त्री थे—१ भूतार्थ, २ शकुनि, ३ बृहस्पति और ४ धन्वन्तरि । ये चारों ही मन्त्री अपने-अपने शास्त्रोंमें पण्डित थे ॥११२-११३॥ एक दिन सेठ इन सबसे घिरा हुआ

१ मृणालवत्याम् । २ वणिगमुख्यस्य । ३ कनकश्रियः । ४ श्रीदत्तविमलश्रियोः । ५ पुत्री । ६ अशोकदेवस्य प्रियतमाया जिनदत्तायाः सुतः । ७ दुर्मुख इति नामान्तरमपि । स दुर्मुखः स्वमातुलं श्रीदत्तं रतिवेगां याचितवान् । मातुलो भणितवान् त्वं व्यवसायहीनो न ददामीति । दुर्मुखोऽबोचत्—यावदहं द्वीपान्तरेषु द्रव्यमावर्ज्यागच्छामि तावद् रतिवेगा कस्यापि न दातव्या इति द्वादशवर्षाणि कालावधिं दत्त्वा । ८ धनमर्जयित्वा । ९ गृहीषु-मिच्छुः । १० कृत्वा दशवर्षादिः सकाशात् । ११ नागतः । १२ रतिवेगा । १३ दीयते स्म । १४ सुकान्तरति-वेगादयम् । १५ गत्वा । १६ समुपाश्रयत् । १७ अविच्छेदेन । १८ पृष्ठतो गत्वा । १९ व्यापुटितवान् । २० सर्वसरोवरस्थितशक्तिषेणशिविरात् । २१ सर्वसरोवरे । २२ गगनधारण । २३ आगताय । समीपुषे ल०, इ०, अ०, म०, प०, स० । २४ संवलम् । २५ वणिक्संघाधिपः । २६ मेरुकदत्तस्य । २७ विकलावयवम् । २८ इति पृष्टवान् तं श्रेष्ठिनम् ।

तपो विधाय कालान्ते समापन् लोकपालताम्^१ । वधूवरं^२ च दानानुमोदपुण्यमवाप्नवत्^३ ॥१२६॥
 "तदाकर्ण्य मन्त्रीशस्य^४ देवी^५ वसुमती तदा । स्वजन्मान्तरं^६ संबोधमूर्च्छानन्तरवोधिता ॥१२७॥
 अहं पूर्वोक्त^७ देवश्रीस्त्वत्प्रसादादिमा^८ श्रियम् । प्राप्ता^९ तदातनो राजा^{१०} वद क्वाण प्रवर्तते ॥१२८॥
 इति तस्याः परिप्रश्ने स प्रजापालभूतिः ।^{११} लोकपालोऽयमिन्धुक्ते प्रियदत्ता स्वपूर्वजम् ॥१२९॥
 जन्मावधुक्ष्य तन्दिन्वा साऽऽनीश्वरीरियं स्वहम् । शक्तिषेणो मम प्रेयानसौ क्वाण प्रवर्तते ॥१३०॥
 इति^{१२} पृष्ट्वाऽनदच्छक्तिषेणस्ते^{१३} ऽयं^{१४} मनोरमः^{१५} ।^{१६} कुबेरदक्षितः सत्यदेवोऽभूत्तनुजस्तत्र ॥१३१॥
 देवभूतं^{१७} गताः श्रेष्ठिसचिवास्त्वत्पते^{१८} भृशम् ।^{१९} आरभ्य जन्मनः स्नेहान् परिचर्यां प्रकुर्वते ॥१३२॥
 कुबेरदक्षितस्यापि पिता प्राप्यः^{२०} स सत्यकः । पाता^{२१} गत्यन्तरस्थाश्च पुण्यान् स्निह्यन्ति देहिनिः ॥१३३॥
 भवदेवेन^{२२} निर्दग्धं द्विजावेसौ^{२३} वधूवरम् । सार्धेणो^{२४} आरिणी चेह^{२५} पशुस्ते^{२६} पितराविमो^{२७} ॥१३४॥

दत्तके चारों मन्त्रियोंने सब परिग्रहका परित्याग कर तप धारण किया और आयुके अन्तमें लोकपालकी पर्याय प्राप्त की । इसी प्रकार सुकान्त और रतिवेगा नामके वधू-वरने भी दानकी अनुमोदना करनेसे प्राप्त हुआ बहुत भारी पुण्य प्राप्त किया ॥ १२३-१२६ ॥ यह सब सुनकर राजा लोकपालकी रानी वसुमतीको अपने पूर्वजन्मकी सब बात याद आ गयी जिससे वह मूर्च्छित हो गयी और सुचेत होनेपर अमितमति आर्यिकासे कहने लगी कि मैं पूर्वजन्ममें शोभानगरके राजा प्रजापालकी रानी देवश्री थी, आपके प्रसादसे ही मैं इस लक्ष्मीको प्राप्त हुई हूँ, मेरे उस जन्मके पति राजा प्रजापाल आज कहाँ हैं ? यह कहिए ॥ १२७-१२८ ॥ इस प्रकार वसुमतीका प्रश्न समाप्त होनेपर अमितमति आर्यिकाने कहा कि यह लोकपाल ही पूर्वजन्मका प्रजापाल राजा है । इतना कहते ही प्रियदत्ताको भी अपने पूर्वभवकी याद आ गयी । उसने आर्यिकाको वन्दना कर कहा कि शक्तिषेणकी स्त्री अटवीश्री तो मैं ही हूँ, कहिए मेरा पति शक्तिषेण आज कहाँ है ? इस प्रकार पूछा जानेपर अमितमतिने कहा कि यह तेरा पति कुबेरकान्त ही उस जन्मका शक्तिषेण है और यह कुबेरदयित ही उस जन्मका सत्यदेव है जो कि तुम्हारा पुत्र हुआ है । सेठ मेरुकदत्तके जो भूतार्थ आदि चार मन्त्री थे वे देवपर्यायको प्राप्त हो स्नेहके कारण जन्मसे ही लेकर तुम्हारे पतिकी भारी सेवा कर रहे हैं — कामधेनु और कल्पवृक्ष बनकर सेवा कर रहे हैं ॥ १२९-१३२ ॥ कुबेरदयितका पूर्व जन्मका पिता सत्यक भी देव होकर उसकी रक्षा करता है सो ठीक ही है क्योंकि पुण्यके प्रभावसे दूसरी मतिमें रहनेवाले जीव भी स्नेह करने लग जाते हैं ॥ १३३ ॥ भवदेवने पूर्वोक्त वधू-वर (रतिवेगा और सुकान्त) को जला दिया था इसलिए वे दोनों ही मरकर ये कबूतर-कबूतरी हुए हैं । सेठ मेरुकदत्त और उनकी

१ लोकपालमूर्त्तवत् । २ सुकान्तरतिवेगेति मिथुनम् । ३ प्राप्तम् । ४ पुण्यम् । प्राप्तमित्यादिवचनम् । ५ प्रजापालपुत्रलोकपालस्य । ६ भार्या कुबेरमित्रस्य, पौत्री वसुमती । ७ निजभगवन्तरपरिज्ञानजात । ८ शोभानगरपतिप्रजापालमन्त्रीपतेर्भार्या देवश्रीः । ९ हे अमितमत्यायिके, भवत्प्रसादात् । १० प्राप्तवत्यहम् । ११ शोभानगरप्रतिपालप्रजापाल इत्यर्थः । १२ तव भर्ता लोकपालः । १३ आर्यिका । १४ तव प्रियदत्तयाः । १५ पुरोवर्ती । १६ कुबेरकान्तः । १७ शक्तिषेणस्य स्वीकृतपुत्रः । कुबेरदयित इति तव पुत्रोऽभूदिति सम्बन्धः । १८ देवत्वम् । १९ तव भर्तुः कुबेरकान्तस्य । २० जननकालादारम्य कामधेनुहस्तमेति श्लोकोक्तसेवां कुर्वते । २१ पूर्वभवसंबन्धिपिता सत्यकः । २२ रक्षकोऽभूत् । २३ रतिवर्मकनकश्रियोः सूनुर्या भवदेवेन । क्रोधात् शक्तिषेणकालान्तरेण निर्दग्धं वधूवरं सुकान्तरतिवेगेति द्वयम् । २४ कपीतपक्षिणावभूतामिति संबन्धः । २५ मेरुकदत्तः । २६ अम्वां पुर्याम् । पुण्डरीकिष्णाम् । २७ तव भर्तुः कुबेरकान्तस्य । २८ कुबेरमित्रधनवत्यो ।

इत्युक्त्वा सन्दमयाह तगाचलसमीपगे । वसन्तौ चारणावदौ मुनी मलयकाञ्चने ॥१३५॥
 'पूर्वं वननिवेशं' ती भिक्षार्थं समुपागतौ । तत्र पुत्रसमुत्पत्तिमुपविश्य गतौ ततः ॥१३६॥
 अन्धेवृत्तसुधारादिहेतुभूतौ कपोतकौ । दृष्ट्वा सकरुणौ भिक्षामनादाय वनं गतौ ॥१३७॥
 गुर्वंगुल्वं शुवयोरुपयातौ तयोरिदम् । उपदेशात् समाकर्ण्य सर्वमुक्तं यथाश्रुतम् ॥१३८॥
 इति तेऽमितमत्युक्तकथावगमनन्तः^{१०} । स्वरूपं संसृतेः सम्यक् मुहुर्मुहुरभाषयन् ॥१३९॥
 गवं प्रयाति कालेऽसौ प्रियदत्ता प्रसंगतः । यशस्वतीगुणवत्यौ युवाम्भौ केन हेतुना ॥१४०॥
 इयं दीक्षा गृहीतेति पप्रच्छोत्पन्नकौतुका । तं^{११} च तत्कारणं स्पष्टं यथाश्रुतमवोचताम्^{१२} ॥१४१॥
 तप्तो धनवती^{१३} दीक्षां गणिन्याः^{१४} सन्निधौ ययौ । माता^{१५} कुबेरसेना च तयोरायिकयोर्द्वयोः ॥१४२॥
 तावन्मेषुः कपोतौ च प्रामान्तरमुपाश्रितौ^{१६} । तण्डुलाद्युपयोगाय^{१७} समवर्तिप्रचोदितौ^{१८} ॥१४३॥
 'मन्त्रदेवचरणानुव्रज्यैरेण पापिना । दृष्टमात्रोत्थकोपेन^{१९} मारितौ पुरुदंशसा^{२०} ॥१४४॥
 तदाऽद्विजयार्द्धस्य दक्षिणश्रेणिमाश्रिते । गान्धारविषयोऽशीरवत्यालयनगरेऽधिपः ॥१४५॥

स्त्री धारिणी यहाँ तेरे पति कुबेरकान्तके माता-पिता हुए हैं ॥ १३४ ॥ इतना कहकर अमित-
 मति यह भी कहने लगी कि विजयार्द्ध पर्वतके समीप मलयकाञ्चन नामके पर्वतपर दो मुनिराज
 रहते थे, जब पूर्वजन्ममें शक्तिषेण सर्पसरोवरके समीप डेरा डालकर वनमें ठहरा हुआ था तब
 वे भिक्षाके लिए तेरे यहाँ आये थे और तेरे अंगुलियोंके इशारेसे पाँच पुत्र तथा एक पुत्री होगी
 ऐसा कहकर चले गये थे । तदनन्तर रत्नवृष्टि आदि पंचाश्चर्योंके कारणस्वरूप वे मुनिराज इस
 जन्ममें भी किसी समय तेरे घर आये थे परन्तु कबूतर-कबूतरीको देखकर दयायुक्त हो बिना
 भिक्षा लिये ही वनको लौट गये थे । वे ही तेरे पिता और तेरे पतिके गुरु हुए हैं । उन्हींके
 उपदेशसे मैंने यह सब सुनकर अनुक्रमसे कहा है ॥ १३५-१३८ ॥ इस प्रकार जो पुरुष
 अमितमति आर्यिकाके द्वारा कही हुई कथाके सुननेमें तल्लीन हो रहे थे वे संसारके सच्चे
 स्वरूपका बार-बार चिन्तन करने लगे ॥ १३९ ॥ इस प्रकार कुछ समय व्यतीत होनेपर किसी
 दिन प्रियदत्ताने प्रसंग पाकर यशस्वती और गुणवतीसे पूछा कि आप लोगोंने यह दीक्षा किस
 कारण ग्रहण की है ? मुझे यह जाननेका कौतुक हो रहा है । तब उन दोनोंने स्पष्ट रूपसे अपनी
 दीक्षाका कारण बतला दिया ॥ १४०-१४१ ॥ तदनन्तर कुबेरमित्रकी स्त्री धनवतीने संघकी
 स्वामिनी अमितमतिके पास दीक्षा धारण कर ली और उन दोनों आर्यिकाओंकी माता कुबेर-
 सेनाने भी अपनी पुत्रीके समीप दीक्षा धारण की ॥ १४२ ॥

किसी एक दिन यमराजके द्वारा प्रेरित हुए ही क्या मानो वे दोनों कबूतर-कबूतरी
 चावल चुगनेके लिए किसी दूसरे गाँव गये । वहाँ एक बिलाव था जो कि भवदेवका जीव था ।
 उस पापीको पूर्व जन्मसे बँधे हुए बैरके कारण कबूतर-कबूतरीको देखते ही पापकी भावना
 जागृत हो उठी और उसने उस दोनोंको मार डाला ॥ १४३-१४४ ॥ उसी पुष्कलावती
 देशके विजयार्द्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणीमें एक गान्धार नामका देश है और उसमें अशीरवती

१ अमितमत्यायिका । २ विजयार्द्धपर्वत । ३ निवसन्तौ । ४ शक्तिषेणादिकीश्रीभवे । ५ सर्पसरोवरनिवेशे ।
 ६ कुबेरमित्रसमुद्रदत्तयोः । ७ कुबेरकान्तप्रियदत्तयोः गुरुत्वमुपयातौ यौ द्वौ तयोरेव चारणयोः । ८ यथाक्रमम्
 ल० । ९ लोकपालादायः । १० परिजाने रताः । ११ यशस्वतीगुणवत्यौ । १२ मम मातुलकुबेरदत्ताद् विविध-
 भक्ष्यपूर्वभोजनालाभाज्जातलज्जया तपो गृहीतम् । १३ कुबेरमित्रस्य भार्या । १४ अमितमत्यायिकायाः ।
 १५ जगत्पालचक्रवर्तिपुण्योरमितमत्यनन्तमत्योर्जन्तौ । १६ जम्बूद्वीपम् । १७ भक्षणाय । १८ अन्तकप्रेरितौ ।
 १९ पूर्वस्मिन् भवदेवेन । २० पापेन ल० । २१ जम्बूद्वीपस्य कदलीवनस्थमाजिरिण ।

आदित्यगतिरस्यास्तीन्महादेवी शशिप्रभा । तयोर्हिरण्यवर्मण्यः सुतो रतिवरोऽभवत् ॥१४६॥
तस्मिन्नेवोत्तरश्रेण्यां गौरीविषयविश्रुते । पुरं भोगपुरं वायुरथो विद्याधराधिपः ॥१४७॥
तस्य स्वयंप्रभदेव्यां रतिवेणा प्रभावती । वभूव जैनधर्मांशोऽप्यभ्युत्तरसि द्रेहिनः ॥१४८॥
माता पिताऽपि या यश्च सुकान्तरतिवेगयोः । जन्मन्यस्मिन् किलाभूतां चित्रं तावेवं संसृतिः ॥१४९॥
हा मे प्रभावतीत्याह जयश्चन्द्रे ससुलोचनः^१ । रूपादिवर्णनं तस्याः किं पुनः कियते पृथक् ॥१५०॥
यौवनेन समाक्रान्तां कन्यां दृष्ट्वा प्रभावतीम् । कस्मै देयेयमित्याह स्वगेशो मन्त्रिणस्तवः (ततः) ॥१५१॥
शशिप्रभा^२ रससा देव्या^३ भ्रातादित्यगतिस्तथा^४ । परं च खचराधीशः प्रीत्याऽयाचन्त कन्यकाम् ॥१५२॥
ततः स्वयंवरो युक्तो विरोधस्तत्र केनचित् । इत्यभाषन्त निश्चित्य 'तद्भूपोऽप्यभ्युपागमन्' ॥१५३॥
ततः सर्वेऽपि तद्गार्तार्कण्णदागमन् वराः । कमप्येतेषु सा कन्या नाग्रहीत् रत्नमालया ॥१५४॥
मातापितृभ्यां तद् दृष्ट्वा संपृष्टा प्रियकारिणी^५ । यो अयेद् गतियुद्धे मां मालां संयोजयाम्यहम् ॥१५५॥
कण्ठे तस्येति वक्ष्येता प्राणित्याह सखी तयोः^६ । श्रुत्या तत्र दिने सर्वानुचितोपत्या व्यसर्जयत् ॥१५६॥

नामकी एक नगरी है । उसके राजा थे आदित्यगति और उनकी रानीका नाम था शशिप्रभा । रतिवर कबूतर मरकर उन दोनोंके हिरण्यवर्मा नामका पुत्र हुआ ॥१४६-१४६॥ उसी विजयार्थ पर्वतकी उत्तर श्रेणीमें एक गौरी नामका देश है उसके भोगपुर नामके प्रसिद्ध नगरमें विद्याधरोंका स्वामी राजा वायुरथ राज्य करता था उसकी स्वयंप्रभा नामकी रानी थी । रतिवेणा कबूतरी मरकर उन्हीं दोनोंको प्रभावती नामकी पुत्री हुई सो ठीक ही है क्योंकि जैनधर्मका एक अंश भी प्राणियोंका उद्धार कर देता है ॥१४७-१४८॥ सुकान्त और रतिवेगा-के जो पहले माता-पिता थे वे ही इस जन्ममें भी माता-पिता हुए हैं सो ठीक ही है क्योंकि यह संसार बड़ा ही विचित्र है । भावार्थ - सुकान्तके पूर्वभवके माता-पिता अशोक और जिनदत्ता इस भवमें आदित्यगति और शशिप्रभा हुए हैं तथा रतिवेगाके पूर्वभवके माता-पिता विमलश्री और श्रीदत्ता इस भवमें वायुरथ तथा स्वयंप्रभा हुए हैं ॥१४९॥ जब जयकुमारने सुलोचनाके साथ बैठकर 'हा' मेरी प्रभावती' ऐसा कहा तब फिर उसके रूप आदिका वर्णन अलगसे क्या किया जाय ? ॥१५०॥ प्रभावती कन्याको यौवनसे सम्पन्न देखकर विद्याधरोंके अधिपति वायुरथने अपने मन्त्रियोंसे कहा कि यह कन्या किसे देनी चाहिए ? ॥१५१॥

मन्त्रियोंने परस्परमें निश्चय कर कहा कि 'शशिप्रभा आपकी बहन है, और आदित्यगति आपकी पट्टराज्ञीका भाई है । ये दोनों तथा इनके सिवाय और भी अनेक विद्याधर राजा बड़े प्रेमसे कन्याकी याचना कर रहे हैं इसलिए स्वयंवर करना ठीक होगा क्योंकि ऐसा करनेसे किसीके साथ विरोध नहीं होगा ।' मन्त्रियोंकी यह बात राजाने भी स्वीकार की ॥१५२-१५३॥ तदनन्तर स्वयंवरकी बात सुनकर सभी राजकुमार आये परन्तु कन्या प्रभावतीने इन सबमेंसे किसीको भी रत्नमालाके द्वारा स्वीकार नहीं किया - किसीके भी गलेमें रत्नमाला नहीं डाली ॥१५४॥ यह देखकर माता-पिताने उसकी सखी प्रियकारिणीसे इनका कारण पूछा, सखीने उन दोनोंसे कहा कि यह पहले कहती थी कि 'जो मुझे गतियुद्धमें जीतेगा मैं उसीके गलेमें माला डालूँगी' यह सुनकर राजाने उस दिन यथायोग्य कहकर सबको बिदा किया ॥१५५-१५६॥

१ रतिवरनामकपोतः । २ रतिवेणा नाम कपोतो । ३ श्रीदत्तविमलश्रियो । अशोकदेवजिनदत्ते द्वे च अभूतां वायुरथस्वयंप्रभादेव्यो आदित्यगतिशशिप्रभे च पितरावभूतामिति । ४ सुलोचनाया सहितः । ५ तत्र शशिप्रभेति भगिनी । ६ वायुरथस्य तव भार्यायाः । ७ स्वयंप्रभादेव्या भ्राता आदित्यगतिश्च सोऽपि स्वपुत्राय याचितवान् इत्यर्थः । ८ एवं सति । ९ तथास्त्वित्यनुमतिमकरोत् । १० कन्यायाः सखी । ११ वायुरथस्वयंप्रभयोः ।

अन्येषुः खषराधीशो घोषयित्वा^१ स्वयंवरम् । सिद्धकूटाख्यचैत्यालयस्य मालां पुरःस्थिताम् ॥१५०॥
 अपातयन्महामेघं^२ त्रिः^३ परीत्य महीतलम् । अस्पृष्टां खषराः केचित्तां ग्रहीतुमनीश्वराः ॥१५१॥
 त्रयो गताः समादाय प्रभावत्या विनिजिताः । समो ननु न मृत्युश्च मानमङ्गुलं मानिनाम् ॥१५२॥
 ततो हिरण्यवर्माऽद्याद् गतियुद्धविशारदः । मालामास्रजयामास^४ तत्कण्ठे तेन निजिता ॥१५३॥
 तथोर्जन्मान्तस्नेहसमृद्धसुखसंपदा । काले गच्छति कस्मिंश्च (चित्) कपोतद्वयदर्शनात् ॥१५४॥
 ज्ञातप्रारम्भसंश्रब्धा सुविरक्ता प्रभावती । स्थिताशोककुलैकैव^५ चिन्तयन्ती किमप्यसौ ॥१५५॥
 हिरण्यवर्मणा ज्ञातजन्मना लिखितं स्फुटम् । पटकं प्रियकारिण्या^६ हस्ते^७ समवलोक्य तम् ॥१५६॥
 न च लब्धमिदमित्याख्यत् प्राह सापि प्रियेण ते । लिखितं चेदकस्तस्य^८ सुकान्तो मे समर्पयत् ॥१५७॥
 इति तद्वचनं श्रुत्वा स्वयमप्यात्मवृत्तकम् । प्राक्तनं^९ पटके तस्या लिखित्वाऽसौ^{१०} करे ददौ ॥१५८॥
 तद्विलोक्य कुमारीऽभूत् प्रभावत्या प्रसक्तधीः । साऽपि तस्मिन् तयोः प्रीतिः प्राक्तन्या^{११} द्विगुणाऽभवत्^{१२}
 संभूय बान्धवाः सर्वे वत्याणामिषवं तयोः । अकुर्वन्निव कल्याणं द्वितीयं ते चिकीर्षवः ॥१५९॥
 दशम्यां^{१३} सिद्धकूटाग्रे स्नानपूजाविधौ^{१४} सुवित्^{१५} । हिरण्यवर्मणा वीक्ष्य परमावधिचारणः ॥१६०॥

दूसरे दिन राजाने स्वयंवरकी घोषणा कराकर कहा कि 'एक माला सिद्धकूट नामक चैत्यालयके द्वारसे नीचे छोड़ी जायगी' जो कोई विद्याधर माला छोड़नेके बाद महामेघ पर्वतकी तीन प्रदक्षिणाएँ देकर प्रभावतीके पहले उसे जमीनपर पड़नेके पहले ही ले लेगा वही इसका पति होगा' यह सुनकर बहुत से विद्याधरोंने प्रयत्न किया परन्तु पूर्वोक्त प्रकारसे माला न ले सके इसलिए प्रभावतीसे हारकर लज्जित होते हुए चले गये सो ठीक ही है क्योंकि मृत्यु भी अभिमानी लोगोंके मानभंगको बराबरी नहीं कर सकती है ॥१५७-१५९॥ तदनन्तर गतियुद्ध करनेमें चतुर हिरण्यवर्मा आया और उससे हारकर प्रभावतीने वह माला उसके गलेमें डाल दी ॥१६०॥ पूर्व जन्मके स्नेहसे बड़ी हुई सुखरूप सम्पत्तिसे जब उन दोनोंका कितना ही समय व्यतीत हो गया तब किसी एक दिन कबूतर-कबूतरीका जोड़ा देखनेसे प्रभावतीको पूर्वभवका सम्बन्ध याद आ गया, वह विरक्त होकर शोकसे व्याकुल होती हुई अकेली बैठकर कुछ सोचने लगी ॥१६१-१६२॥ इधर हिरण्यवर्माको भी जाति स्मरण हुआ था, उसने एक पटियेपर अपने पूर्वजन्मका सब हाल साफ-साफ लिखकर प्रभावतीकी सखी प्रियकारिणीको दिया था, प्रभावतीने प्रियकारिणीके हाथमें वह पटिया देखकर कहा कि यह चित्रपट तुझे कहाँ मिला है? सखीने कहा कि 'यह चित्रपट तेरे पतिने लिखा है और उनके नौकर सुकान्तने मुझे दिया है, इस प्रकार सखीके वचन सुनकर प्रभावतीने भी एक पटियेपर अपने पूर्वजन्मका सब वृत्तान्त लिखकर सखीके हाथमें दिया ॥१६३-१६४॥ वह चित्रपट देखकर हिरण्यवर्मा प्रभावतीपर बहुत अनुराग करने लगा और प्रभावती भी हिरण्यवर्मापर बहुत अनुराग करने लगी, उन दोनोंका प्रेम पूर्ण पर्यायके प्रेमसे कहीं दूना हो गया था ॥१६५॥ कुटुम्बके सब लोगोंने मिलकर उन दोनोंका मंगलाभिषेक किया मानो वे उनका दूसरा कल्याण ही करना चाहते हों ॥१६७॥ किसी समय दशमीके दिन ये दोनों सिद्धकूटके चैत्यालयमें अभिषेक पूजन आदि कर रहे थे उसी समय हिरण्य-

१ स्वयंवरमिति घोषयित्वा-तद्दिने व्यसर्जयदिति संबन्धः । २ भूमौ पातयति स्म । ३ मेरोस्त्रिः ल० । ४ संयोजयति स्म । ५ असहायैव । ६ प्रभावत्याः सख्याः । ७ हस्ते स्थितम् । ८ हिरण्यवर्मणाः । ९ प्राग्भवम्, पुरातनमित्यर्थः । १० प्रभावतो । ११ पुरातनी । १२ आ समन्ताद् द्विगुणा । १३ विवाहदिनाद् दशमदिने । १४ अभिषेकपूजाविधौ । १५ प्रत्यक्षज्ञानम् । प्रत्यक्षज्ञानी ता० टि० । न्वचित् अ०, प०, स०, इ०, ल० ।

प्रभावस्था च दृष्टोऽसौ स्वं पूर्वभवहृत्कर्म^१ । अभाषत मुनेश्चैवमनुग्रहधिया तयोः ॥१६९॥
 तृतीयजन्मनीतोऽत्र संसृतौ वणिजां कुले । रतिवेगा सुकान्तश्च प्राक् मृणालवतीपुरे ॥१७०॥
 भर्तुं मार्याभिसंजघं^२ संप्राप्यारिभयाद्^३ गर्तौ^४ । कृत्वाऽनुमोदनं शक्तिषेणदाने सपुण्यकी ॥१७१॥
 पारावतभवे चाप्य^५ धर्मं जातौ युवामिति । विधाय पितरौ^६ वैश्यजन्मनोर्याविहापि तौ ॥१७२॥
 तृतीयजन्मनो^७ युष्मद्गुरवोऽहं^८ च संगताः । रतिषेणगुरोः पार्श्वे गृहीतप्रोषधाश्चिरम् ॥१७३॥
 जिनेन्द्रभवने भक्त्या नानोपकरणैः सदा । विधाय पूजां समजायामहीह^९ खगाधिपाः ॥१७४॥
 पिताऽहं भवदेवस्य रतिवर्माभिधस्तदा । भूत्वा^{१०} श्रीधर्मनामाऽतः संयमं प्राप्य शुद्धधीः ॥१७५॥
 चारणत्वं तृतीयं च ज्ञानं प्रापमिहेत्यदः । श्रुत्वा मुनिवचः प्रीतिमापद्येतान्तरं च तौ^{११} ॥१७६॥
 एवं सुखेन वात्येया^{१२} काले वायुरथः पृथुम् । विशारदं^{१३} समालोचय स्तनयितुं^{१४} प्रतिक्षणम् ॥१७७॥
 विद्वं^{१५} त्रिनश्वरं पश्यन् शश्वच्छाश्वतिकीं मतिम् । जनः करोति सर्वत्र दुस्तरं किमिदं तमः^{१६} ॥१७८॥
 इति याथास्त्यमासाय दत्त्वा राज्यं विरज्य^{१७} सः । मनोरथाय नैस्संग्यं^{१८} प्रपितुरभवत्तदा ॥१७९॥
 आदिभक्तिमयेश्वरीया^{१९} सर्वेश्वरीया^{२०} प्रभवा^{२१} देया भवतेयं रतिप्रभा ॥१८०॥

वर्मनि परमावधि ज्ञानको धारण करनेवाले चारणमुनि देखे, प्रभावतीने उनसे अपने पूर्वभवका वृत्तान्त पूछा, मुनिराज भी अनुग्रह बुद्धिसे उन दोनोंके पूर्वभवका वृत्तान्त इस प्रकार कहने लगे ॥१६८-१६९॥ कि तुम दोनों इस जन्मसे तीसरे जन्ममें मृणालवती नगरीके वैश्य कुलमें रतिवेगा तथा सुकान्त हुए थे ॥१७०॥ स्त्री पुरुषका सम्बन्ध पाकर तुम दोनों शत्रुके भयसे भागकर शक्तिषेणकी शरण गये थे । वहाँ शक्तिषेणने मुनिराजके लिए जो आहार दान दिया था उसकी अनुमोदना कर तुम दोनोंने पुण्यबन्ध किया था, उसके बाद कबूतर-कबूतरीके भवमें धर्म लाभ कर यहाँ विद्याधर-विद्याधरी हुए हो । तुम दोनोंके वैश्य जन्मके जो माता-पिता थे वे ही इस जन्मके भी तुम्हारे माता-पिता हुए हैं । तीसरे जन्मके तुम्हारे माता-पिता तथा मैंने मिलकर एक साथ रतिषेण गुरुके समीप प्रोषध व्रत लिया था, और उसका चिरकाल तक पालन करते हुए श्रीजिनेन्द्रदेवके मन्दिरमें भक्तिपूर्वक अनेक उपकरणोंसे सदा पूजा की थी उसीके फलस्वरूप हमलोग यहाँ विद्याधर हुए हैं । मैं पूर्वभवमें रतिवर्म नामका भवदेवका पिता था, अब श्रीधर्म नामका विद्याधर हुआ हूँ, मैंने शुद्ध हृदयसे संयम धारण कर चारणश्रद्धा और तीसरा अवधि ज्ञान प्राप्त किया है । इस प्रकार मुनिराजके वचन सुनकर हिरण्यवर्मा और प्रभावती दोनों ही बहुत प्रसन्न हुए ॥१७१-१७६॥

इस तरह इन सबका समय सुखसे व्यतीत हो रहा था कि किसी एक समय प्रभावतीके पिता वायुरथ विद्याधरने प्रत्येक क्षण नष्ट होनेवाला मेघ देखकर ऐसा विचार किया कि यह समस्त संसार इसी प्रकार नष्ट हो जानेवाला है, फिर भी लोग इसे स्थिर रहनेवाला समझते हैं, यह अज्ञानरूपी घोर अन्धकार सब जगह क्यों छाया हुआ है ? इस प्रकार यथार्थ स्वरूपका विचार कर विरक्त हो मनोरथ नामक पुत्रके लिए राज्य दे दिया और स्वयं निर्ग्रन्थ अवस्था धारण करनेकी इच्छा करने लगे ॥१७७-१७९॥ उसी समय वायुरथके सभी भाई-बन्धुओंने बड़े

१ स्वपूर्व-अ०, प०, इ०, स०, ल० । २ दम्पतिसंबन्धम् । ३ भवदेवभयात् । ४ पलायितौ । ५ प्राप्य । ६ श्रीदत्तविमलश्रियौ । अशोकदेवजिनदत्ते च । ७ युवयोः पितरः । श्रीदत्तविमलश्री-अशोकदेवजिनदत्ताः । ८ भवदेवस्य पिता रतिवर्मा । ९ जाताः स्म । १० श्रीधर्मसङ्गाधिपतिः । ११ हिरण्यवर्माप्रभावती । १२ वायुरथादीनाम् । १३ त्रिनश्वरशीलम् । १४ मेघम् । 'अत्र मेघो वारिवाहः स्तनयितुर्बलाहकः' इत्यभिधानात् । १५ पुत्रमित्रकलत्रस्रक्खन्दनादिकम् । १६ अज्ञानम् । १७ विरक्तो भूत्वा । १८ प्राप्तुमिच्छुः । १९ वायुरथस्य बन्धुजनाः ।

मनोरथस्य पुत्राय कन्या चित्ररथाय सा । इत्याहुः^१ सोऽप्यनुज्ञाय^२ कृत्वा बन्धुविसर्जनम् ॥१८१॥
 हिरण्यवर्मणः सर्वस्वराजाभिषेचनम् । विधाय बहुभिः सार्धं संप्राप्य मुनिपुङ्गवम् ॥१८२॥
 संयमं प्रतिपन्नः सन् सहवायुरधः^३ स्वयम्^४ । तपो द्वादशधा प्रोक्तं यथाविधि समाचरत् ॥१८३॥
 इत्युक्त्वा रतिवेगाऽष्टं रतिपेणा^५ प्रभावती । चाहमवेति^६ सम्भारानां^७ निजगाद^८ सुलोचना ॥१८४॥
 तदाकर्ण्य जयोऽप्याह पतिस्तासामहं^९ कृमात् । जाये स्म^{१०} तत्र तथेति विश्वविस्मयकृद्भवः ॥१८५॥
 पुनः प्रियां जयः प्राह प्रकृतं किञ्चिदप्यतः । अवशिष्टं तदप्युष्मैस्त्वया कान्ते निगद्यताम् ॥१८६॥
 इति पशुः परिग्रहाद्शनज्योत्स्नया सभाम् । मूर्तिः कुमुदनीं वेन्दोर्विकासमुपनीयताम् ॥१८७॥
 साऽध्वरीदिति तद्ब्रूतं स्वपुण्यपरिपाकजम् । सुखं राश्यासमुद्भूतं यथेष्टमपि निर्विशन्^{११} ॥१८८॥
 परेषुः कान्तया साह^{१२} स्वेच्छया विहरन् वनम् । सरो धान्यकमालाख्यं वीक्ष्यादित्यरातेः^{१३} सुतः ॥१८९॥
 स्वप्राप्यभयसंयमं प्रत्यक्षमिव लक्षयन् । काललब्धिवलात्स्वर्धनिर्वन्दो विदुषां वरः ॥१९०॥
 भङ्गुरः^{१४} संगमः सर्वोऽप्यङ्गिनामभिवाङ्कितः । किं नाम सुखमग्रेदमल्पसंकल्पसंभवम् ॥१९१॥
 आयुर्वायुचलं आयो हेय एवामयालयः । साम्राज्यं भुज्यते^{१५} लोलैर्वालि^{१६} शैवंद्रोषलम्^{१७} ॥१९२॥
 अदूरपारः^{१८} कायोऽयमसारां दुरिताश्रयः । तादात्म्यप्राप्तमनोऽनेन^{१९} भिगेनमङ्गुचिप्रियम्^{२०} ॥१९३॥

प्रेमसे आदित्यगतिके समीप जाकर प्रार्थना की 'कि यह प्रभावतीकी पुत्री रतिप्रभा कन्या आप मेरे मनोरथके पुत्र चित्ररथके लिए दे दीजिए।' आदित्यगतिने भी स्वीकार कर समागत बन्धुओंको बिदा किया ॥१८०-१८१॥ महाराज आदित्यगति सब विद्याधरोंके राज्यपर हिरण्यवर्माका अभिषेक कर अनेक लोगोंके साथ किन्हीं मुनिराजके समीप पहुँचे, और वायुरथके साथ-साथ स्वयं भी संयम धारण कर विधिपूर्वक शास्त्रोंमें कहे हुए बारह प्रकारके तपश्चरण करने लगे ॥१८२-१८३॥ यह सब कहकर सुलोचनाने सब सभासदोंसे कहा कि वह रतिवेगा भी मैं ही हूँ, रतिपेणा (कबूतरी) भी मैं ही हूँ और प्रभावती भी मैं ही हूँ ॥१८४॥ यह सुनकर जयकुमारने भी सबको आश्चर्य करनेवाले वचन कहे कि उन तीनों भवोंमें अनुक्रमसे मैं ही उन रतिवेगा आदिका पति हुआ हूँ ॥१८५॥ जयकुमार फिर अपनी प्रिया सुलोचनासे कहने लगा कि हे प्रिये, कुछ बात बाकी और रह गयी है उसे भी तू अच्छीतरह कह दे ॥१८६॥ जिस प्रकार चन्द्रमाकी मूर्ति कुमुदिनीको विकसित कर देती है उसी प्रकार वह सुलोचना भी अपने पतिके पूर्वोक्त प्रवचनसे दांतोंकी कान्तिके द्वारा सभाको विकसित-हर्षित करती हुई अपने पुण्यके फलसे होनेवाले समाचारोंको इस प्रकार कहने लगी कि वह हिरण्यवर्मा राज्यसे उत्पन्न हुए सुखका इच्छानुसार उपभोग करने लगा । किसी एक दिन अपनी वल्लभाके साथ विहार करता हुआ वह आदित्यगतिका पुत्र हिरण्यवर्मा धान्यकमाल नामके वनमें जा पहुँचा । वहाँ सर्पसरोवर देखकर उसे अपने पूर्वभक्तके सब सम्बन्ध प्रत्यक्षकी तरह दिखने लगे, 'काललब्धिके निमित्तसे जिसे वैराग्य उत्पन्न हुआ है और जो विद्वानोंमें श्रेष्ठ है ऐसा वह हिरण्यवर्मा सोचने लगा कि प्राणियोंकी इच्छाका विषयभूत यह सभी समागम क्षणभंगुर है, इस समागममें थोड़े-से संकल्पसे उत्पन्न हुआ यह सुख क्या वस्तु है ? यह आयुके समान चंचल है । अनेक रोगोंका घर स्वरूप यह शरीर छोड़ने योग्य ही है । अनेक दोषोंको देनेवाले राज्यको चंचल

१ वायुरथस्य विद्योगादाहुः । २ तथास्त्वित्यनुमति कृत्वा । ३ अयं श्लोकः ल० 'म० पुस्तकयोर्न दृश्यते । ४ वायुरथेन सहितः । ५ आदित्यगतिः । ६ रतिपेणेति कपोती । ७ सुलोचना । ८ सभाजनानाम् । ९ अभापत । १० रतिवेगादीनाम् । ११ जातोऽस्मि । १२ अनुभवन् । १३ प्रभावत्या सह । १४ हिरण्यवर्मा । १५ पूर्वभव । १६ क्षयशीलः । १७ आसक्तः । १८ मूर्त्तिः । १९ बहुद्रोषप्रदम् । २० आसन्नावसाना । २१ तत्स्वरूपत्वम् । २२ कायेन । २३ आत्मानम् ।

देहवासो^१ भयं नास्य^२ यानमस्मान्महद् भयम् । देहिनः किल मार्गस्य^३ विपर्ययोऽत्र^४ निवृत्तेः ॥ १९४ ॥
नीरूपोऽयं स्वरूपेण रूपी देहैरूपता । निर्वाणसिन्तो हेयो देह एव यथा तथा^५ ॥ १९५ ॥
बन्धः सर्वोऽपि सर्वन्धो^६ भोगो रोगो रिपुर्वपुः । दीर्घमायासमस्यायुस्तृष्णाग्नेरिन्धनं भवम् ॥ १९६ ॥
आदौ जन्म जरा रोगा मध्येऽन्तेऽप्यन्नकः खलः । इति चक्रकर्मभ्रान्तिः जन्तोर्मध्ये भवार्णवम्^७ ॥ १९७ ॥
भोगिनो भोगवद्^८ भोगा न^९ भोगा नाम भोग्यकाः । एवं भावयतो भोगान् भूयोऽभूदन् मयावहाः ॥ १९८ ॥
निषेध्यमाणा विषया विषमा विषसन्निभाः । देदीप्यन्ते^{१०} बुभुक्षाभिर्दीपनीयैरिवापयेः^{११} ॥ १९९ ॥
न तृप्तिरेभिरिवेष^{१२} एव दोषो न पोषकाः । तृष्यन्ते^{१३} विषवहलयाः संसृतेश्चावलम्बनम् ॥ २०० ॥
वन्ति तातनुसंभूतकामाग्निः^{१४} स्नेहसेवनैः । कामिनं भस्मसाद्भावमनीत्वा न निवर्तते ॥ २०१ ॥
जन्तोर्मणेषु भोगान्ते सर्वत्र^{१५} विरतिर्भुजा । स्थैर्यं तस्माः^{१६} प्रयत्नोऽस्य क्रियायोगो^{१७} मर्नषिणः ॥ २०२ ॥
प्रापितोऽप्यसङ्कटदुःखं भोगैस्तानेव याचते । धत्तेऽवतादितोऽप्यहिं मायास्या एव बालकः ॥ २०३ ॥

और मूर्ख लोग ही भोगते हैं, इस शरीरका अन्त निकट है, यह असार है, और पापका आश्रय है, इसी शरीरके साथ इस आत्माका तादात्म्य हो रहा है, इसलिए अपवित्र पदार्थोंसे प्रेम करने-वाले इस प्राणीको धिक्कार हो, इस प्राणीको शरीरमें निवास करनेसे तो भय मालूम नहीं होता परन्तु उसमें निकलनेमें बड़ा भय मालूम होता है, निश्चयसे इस संसारमें मोक्षमार्गसे विपरीत प्रवृत्ति ही होती है ॥ १९७-१९८ ॥ यह जीव स्व स्वरूपकी अपेक्षा रूपरहित है परन्तु शरीरके सम्बन्धसे रूपी हो रहा है, रूपरहित होना ही मोक्षकी प्राप्ति है इसलिए जिस प्रकार बने उसी प्रकार शरीरको अवश्य ही छोड़ना चाहिए ॥ १९५ ॥ सब प्रकार सम्बन्ध ही बन्ध है, भोग ही रोग है, शरीर ही शत्रु है, लम्बी आयु ही तो दुःख देती है और धन ही तृष्णारूपी अग्निका ईंधन है ॥ १९६ ॥ इस जीवको पहले तो जन्म धारण करना पड़ता है, मध्यमें बुढ़ापा तथा अनेक रोग हैं और अन्तमें दुष्ट मरण है, इस प्रकार संसाररूप समुद्रके मध्यमें इस जीवको चक्रकी तरह भ्रमण करना पड़ता है ॥ १९७ ॥ भोग करनेवाले लोगोंको ये भोग सर्पके फणोंके समान हैं इसलिए भोग करने योग्य नहीं हैं इस प्रकार भोगोंका बार-बार विचार करनेवाले पुरुषके लिए ये भोग बड़े भयंकर जान पड़ने लगते हैं ॥ १९८ ॥ ये सेवन किये हुए विषय विषके समान हैं, जिस प्रकार उत्तेजक ओषधियोंसे पेटको आग भभक उठती है उसी प्रकार भोगकी इच्छाओंसे ये विषय भभक उठते हैं ॥ १९९ ॥ इन विषयोंसे तृप्ति नहीं होती केवल इतना ही दोष नहीं है किन्तु तृष्णाको पुष्ट करनेवाले भी हैं और संसाररूपी विषकी बेलको सहारा देनेवाले भी हैं ॥ २०० ॥ स्त्रियोंके शरीरसे उत्पन्न हुई यह कामरूपी अग्नि स्नेहरूपी तेलसे प्रज्वलित होकर कामी पुरुषोंको भस्म किये बिना नहीं लौटती है ॥ २०१ ॥ भोग करनेके बाद इन समस्त भोगोंमें जीवोंको वैराग्य अवश्य होता है, बुद्धिमान् लोगोंको जो तपश्चरण आदि क्रिया करना पड़ती है वे सब इस वैराग्यको स्थिर रखनेका उपाय ही है ॥ २०२ ॥ यद्यपि यह जीव भोगोंसे अनेक बार दुःखको प्राप्त है तथापि ये जीव उन्हीं भोगोंको चाहते हैं सो ठीक ही है क्योंकि माता बालकको जिस पैरसे ताड़ती हैं बालक उसी-उसी प्रकार माताके चरणको पकड़ते हैं ॥ २०३ ॥

१ शरीरे निवसनम् । २ निर्गमनम् । ३ देहवासत् । ४ व्यस्यः । ५ देहिनि । ६ येन केन प्रकारेण । ७ पुनः मित्रादिसंबन्धः । ८ भवार्णवे ल०, अ०, प० । ९ सर्पस्य । १० शरीरवत् । फणवद् वा । 'भोगः सुखे विषादिसंबन्धः । ८ भवार्णवे ल०, अ०, प० । ९ सर्पस्य । १० शरीरवत् । फणवद् वा । 'भोगः सुखे स्त्रियादिभूतावहेश्च फणकाययोः' इत्यभिधानात् । ११ भूयः वदन्ति । १२ भोक्तुमिच्छाभिः । १४ दीपनहेतुभिः । १५ भोगैः । १६ तृष्णायाः । १७ स्नेहः प्रीतिः तैलं च । स्नेह-सेवनैः अ०, स० । स्नेहदीपनैः प०, ल० । १८ सर्वेषु । १९ अप्रीतिः । २० विरतिः । २१ अनुष्ठानयोगः ।

अधुवत्त्वं गृणं मन्ये भोगाद्युः^१ कायसंपदाम् । ध्रुवेष्वेव कृतो मुक्तिर्विना मुक्तेः कृतः सुखम् ॥२०४॥
 विस्मयभजनैः पूजं पश्चात् प्राणार्थहारिभिः ।^२ पारिपन्थिकसङ्घातैर्विपयैः कथ्य तापदः^३ ॥२०५॥
 तद्दुःखस्यैव माहात्म्यं स्यात् सुखं विषयैश्च यत् ।^४ अकारवल्लिका स्वादुः प्रामर्शं तन्नुत्प्लुभः^५ ॥२०६॥
 संकल्यसुखसंतोषाद् विमुक्त्वस्वात्मजान् सुखात् । गुञ्जामिनापयंतुष्टशास्त्रासृगसमो जनः ॥२०७॥
 यदास्ति निर्जरा नासौ युवस्य बन्धव्युत्पन्निना ।^६ तच्छ्रुतिश्च हनेर्बन्धहेतोस्तत्तद्वर्मा यते^७ ॥२०८॥
 केन मोक्षः कथं जीव्यं^८ कृतः भौख्यं कथं वा मनिः ।^९ परिग्रहाग्रहग्राहगृहीतस्य भवार्णवे ॥२०९॥
 किं^{१०} भव्यः किमभव्योऽयमितिसंशरेत्^{११} बुधाः । ज्ञात्वाऽप्यनित्यतां^{१२} लक्ष्मीकटाक्षशशाग्निने ॥२१०॥
 अयं कायद्रुमः^{१३} काष्ठाघततीतनिवेष्टितः । जरिष्वा^{१४} जन्मकान्तारे^{१५} कालाग्निग्राममाप्स्यति ॥२११॥
 यदि धर्मकणादिभ्यः^{१६} निदानविषदूषितान्^{१७} । सुखं धर्मासृताभ्योपिमज्जनेन किमुच्यते ॥२१२॥

भोग, आयु, काल और सम्पदाओंमें जो अस्थिरपना है उसे मैं एक प्रकारका गुण ही मानता हूँ क्योंकि यदि ये सब स्थिर हो गये तो मुक्ति कैसे प्राप्त होगी ? और मुक्तिके बिना सुख कैसे प्राप्त हो सकेगा ? ॥ २०४ ॥ पहले तो विश्वास उत्पन्न करनेवाले और पीछे प्राण तथा धनका अपहरण करनेवाले शत्रु तुल्य इन विषयोंसे किसे भला आपदाएँ प्राप्त नहीं होती हैं ? ॥ २०५ ॥ इन विषयोंसे जो सुख होता है वह दुःखका ही माहात्म्य है क्योंकि जो करेला मोटा लगता है वह भूखका ही प्रभाव है ॥ २०६ ॥ यह जीव कल्पित सुखोंसे सन्तुष्ट होकर आत्मासे उत्पन्न होनेवाले वास्तविक सुखसे विमुख हो रहा है इसलिए यह जीव गुमचियोंके तापनेसे सन्तुष्ट होनेवाले बानरके समान है । भावार्थ — जिस प्रकार गुमचियोंके तापनेसे बन्दरकी ठण्ड नहीं दूर होती है उसी प्रकार इन कल्पित विषयजन्य सुखोंसे प्राणियोंकी दुःख-रूप परिणति दूर नहीं होती है ? ॥ २०७ ॥ इस जीवके निर्जरा तो सदा होती रहती है परन्तु बन्धका अभाव हुए बिना वह मोक्षका कारण नहीं हो पाती है, बन्धका अभाव बन्धके कारणोंका नाश होनेसे हो सकता है इसलिए मैं बन्धके कारणोंका नाश करनेमें ही प्रयत्नशील हूँ ॥ २०८ ॥ इस संसाररूपी समुद्रमें जिन्हें परिग्रहके ग्रहण करने रूप पिशाच लग रहा है उन्हें भला मोक्ष किस प्रकार मिल सकता है ? उनका जीवन किस प्रकार रह सकता है ? उन्हें सुख कहाँसे मिल सकता है और उन्हें बुद्धि हो कहाँ उत्पन्न हो सकती है ? ॥ २०९ ॥ लक्ष्मीके कटाक्षरूपी बाणोंसे सुलाये हुए (नष्ट हुए) पुरुषमें अनित्यताको जानकर भी विद्वान् लोग 'यह भव्य है ? अवयव अभव्य है ?' इस प्रकार व्यर्थ संशय करने लगते हैं ॥ २१० ॥ स्त्रीरूपी लताओंके समूहसे घिरा हुआ यह शरीररूपी वृक्ष संसाररूपी अटवीमें जीर्ण होकर कालरूपी अग्निका प्राप्त हो जायगा ॥ २११ ॥ जब कि निदानरूपी विषसे दूषित कर्मके एक अंशसे मुझे ऐसा सुख मिला है तब धर्मरूपी अमृतके समुद्रमें अवगाहन करनेसे जो सुख प्राप्त होगा उसका तो

१ काल — ल० । २ विश्वासजनकः । ३ शत्रुतदृशः । ४ न विपत्तयः । ५ कटुकास्वादः शाकविशेषः । कारवेल्लिकं स्वादु प०, द०, स०, अ०, ल० । ६ बुभुक्षायाः । ७ विमुक्त्वस्वात्मजान् ल०, प०, इ०, अ० । ८ तत् कारणात् । ९ यत्नं करोमि । १० जीवनम् । ११ परिग्रहस्वीकारनक्रम्बीकृतस्य । १२ विशिष्टेष्ट-परिणामेन किं भविष्यति । १३ संशयं कुर्वन्ति । १४ अपाङ्गदर्शनवाणतनूकृतशरीरे पुंसि । १५ भार्यालता । १६ जीर्णीभूत्वा । १७ यमशास्त्राग्निः । १८ धर्मलेशात् । १९ कपोतजन्मनि कुबेरमित्रेण स्वेन कृतदामपूष्यस्य-काशः कपोतस्य दत्तः विद्याधरविमानं दिलोक्य कपोतः श्रेष्ठिदत्तपुण्यांशान् मम विद्याधरत्वं भवतिविति कृतनिदानविषदूषितत्वात् ।

॥ मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये बन्धनके कारण हैं ।

अशोधद्वेषरागात्मा संसारस्तद्विपर्ययः । मोक्षद्वेषेद् वीक्षितो विद्धिः कः क्षेपो^१ मोक्षसाधन ॥२१३॥
यदि^२ देशादिसाकल्ये न तपस्तपुनः कुतः । मध्येऽर्णवं यतो^३ वेगात् करामप्युत्तरन्वयन् ॥२१४॥
आत्मैस्त्वं परमात्मानमात्मन्यात्मानमात्मना । हिरा कुरात्मतामात्मनो^४ ऽन्नं चरन्^५ कुरु ॥२१५॥
इति संचिन्तयन् गत्वा पुरं^६ परमतश्चवित् । सुवर्णवर्मणे राज्यं साभिपेकं वितीर्य स्वः ॥२१६॥
अवतीर्य^७ महीं प्राप्य श्रीपुरं श्रीनिकेतनम्^८ । दीक्षां जनेश्वरीं प्राप श्रीपालगुरुर्मनिना ॥२१७॥
परिग्रहग्रहान्मुक्तो दीक्षित्वा स तपोऽशुभिः । हिरण्यवर्मा^९ चर्माशुनिर्मलो वसन्तनगराम् ॥२१८॥
प्रभावती च तन्मात्रा^{१०} गुणवत्यास्ततोऽगमत् । कुतश्चन्द्रमसं मुक्त्वा चन्द्रिकायाः स्थितिः पृथक् ॥
सद्वृत्तस्तपसा दीप्तो दिगम्बरविभूषणः^{११} । निस्तंगो^{१२} ऽधोमगार्ग्येकविहारी त्रिश्च वन्दितः ॥२१९॥
नित्योद्यो^{१३} भुवार्थाशो विश्वदृष्टा^{१४} विरोचनः^{१५} । स कदाचित् यमागच्छन्मोदयन् पुण्डरीकिणीम् ॥२२०॥

कहना ही क्या है ? ॥२१२॥ यह संसार अज्ञान, द्वेष और राग रक्ख है तथा मोक्ष इससे विपरीत है अर्थात् सम्यग्ज्ञान और समता स्वरूप है । यदि विद्वान् लोग ऐसा देखने रहें तो फिर मोक्ष होनेमें देर ही क्या लगे ? ॥२१३॥ जिस प्रकार वेगसे जाते हुए पुरुषके हाथमें वीच समुद्रमें छूटा हुआ रत्न फिर नहीं मिल सकता है उसी प्रकार देश-काल आदिकी सामग्री मिलनेपर भी यदि तप नहीं किया तो वह तप फिर कैसे मिल सकता है ? ॥२१४॥ इसलिए हे आत्मन्, तू आत्माका हित करनेवाले मोक्षमार्गमें दुरात्मता छोड़कर अपने आत्माके द्वारा अपने ही आत्मामें परमात्मा रूप अपने आत्माको ही स्वीकार कर ॥२१५॥ इस प्रकार चिन्तन करते हुए परमं तत्त्वके जाननेवाले राजा हिरण्यवर्मने अपने नगरमें जाकर अपने पुत्र सुवर्णवर्माके लिए अभिषेकपूर्वक राज्य सौंपा और फिर विजयाद्वार पर्वतसे पृथ्वीपर उतरकर लक्ष्मीके गृहस्वरूप श्रीपुर नामके नगरमें श्रीपाल गुरुके समीप जनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली ॥२१६-२१७॥ परिग्रहरूपी पिशाचसे युक्त हो दीक्षा धारण कर सूर्यके समान निर्मल हुआ वह राजा हिरण्यवर्मा तपश्चरणरूपी किरणोंसे बहुत ही देदीप्यमान हो रहा था ॥२१८॥ प्रभावतीने भी हिरण्यवर्माकी माता-शशिप्रभाके साथ गुणवती आर्यिकाके समीप तप धारण किया था सो ठीक ही है क्योंकि चन्द्रमाको छोड़कर चाँदनीकी पृथक् स्थिति भला कहाँ हो सकती है ? ॥२१९॥ वे हिरण्यवर्मा मुनिराज ठीक सूर्यके समान जान पड़ते थे क्योंकि जिस प्रकार सूर्य सद्वृत्त अर्थात् गोल है उसी प्रकार वे मुनिराज भी सद्वृत्त अर्थात् निर्दोष चारित्र्यको धारण करनेवाले थे । जिस प्रकार सूर्य तप अर्थात् गरमीसे देदीप्यमान रहता है उसी प्रकार मुनिराज भी तप अर्थात् अतशनादि तपश्चरणसे देदीप्यमान रहते थे, जिस प्रकार सूर्य दिगम्बर अर्थात् दिशा और आकाशका आभूषण है उसी प्रकार मुनिराज भी दिगम्बर अर्थात् दिशारूप वस्त्रको धारण करनेवाले निर्ग्रन्थ सुनिर्माके आभूषण थे, जिस प्रकार सूर्य निःसंग अर्थात् सहायता-रहित अकेला होता है उसी प्रकार मुनिराज भी निःसंग अर्थात् परिग्रहरहित थे, जिस प्रकार सूर्य आकाशमें गमन करता है उसी प्रकार चारणऋद्धि होनेसे मुनिराज भी आकाशमें गमन करते थे, जिस प्रकार सूर्य अकेला ही घूमता है उसी प्रकार मुनिराज भी अकेले ही घूमते थे — एकविहारी थे, जिस प्रकार सूर्यको सब वन्दना करते हैं उसी प्रकार मुनिराजको भी सब वन्दना

१ अज्ञान । २ बुद्धिः । ३ कालयापना । ४ सुदेशकुलजात्यादिसामग्र्ये । ५ गच्छतः । ६ आत्मन् स्वं ल० । ७ आत्महिते । ८ मार्गे । ९ वरं ल०, प० । रति कुह अ०, स० । १० चान्यकमालवतात् निजनगरं प्राप्य । ११ विजयाद्वारचलात् भुवं प्राप्य । १२ श्रीगुहम् । १३ आदित्यः । १४ हिरण्यवर्मणो जनन्या शशिप्रभया सह । १५ गुणवत्यापिकायाः समीपे । १६ रविपक्षे दिशेष्वधोमगं च विभूषयतीति । १७ गगनचारिणः । १८ सर्वकालोत्कृष्टबोधः । १९ अगज्यक्षुः । २० रविरिव ।

सप्रभा चन्द्रलेखेव सह तत्र प्रभावती । गुणवत्या समागँस्त^१ संगतिः स्याद्यदृच्छया ॥२२२॥
 गुणवत्यायिकां दृष्ट्वा नखीकृता प्रियदत्तया । कुतोऽग्यो^२ गणिनीत्याग्यत् स्वर्गोत्ति^३ प्रभावती ॥२२३॥
 तच्छ्रुत्वा नेत्रभूता^४ मौ सैवेति^५ शुभमागता । कुतः प्रीतिस्तयेत्युक्ता साऽमवीन प्रियदत्तया ॥२२४॥
 न स्मरिष्यमि किं पारावतद्वन्द्वं भवद्गृहे । तत्राहं रतिषेणेति तच्छ्रुत्वा विस्मिताऽबदन् ॥२२५॥
 क्वासौ रतिवरोऽद्येति सोऽपि विद्याधराधिपः । हिरण्यवर्मा^६ कर्मरिषेतिरयेति^७ सायबान ॥२२६॥
 प्रियदत्ताऽपि तं^८ गत्वा वन्दिष्येति^९ महामुनिम् । प्रभावती परिग्रहान् पश्युरग्राह वृत्तकम् ॥२२७॥
 विजयार्द्धगिरिरस्य गान्धारनगरादिह^{१०} । विहर्तुं रतिषेणोऽस्मा गान्धार्या प्रिययाऽगम ॥२२८॥
 गान्धारी सर्वदृष्टाऽहमिति तत्र भूषा स्थिता । मन्त्रौषधाः प्रयोज्यास्याः अष्टौ^{११} विद्याधरश्च सः ॥२२९॥

.....

करते थे, जिस प्रकार सूर्यका नित्य उदय होता है उसी प्रकार मुनिराजके भी ज्ञान आदिका नित्य उदय होता रहता था, जिस प्रकार सूर्य बुध अर्थात् बुधग्रहका स्वामी होता है उसी प्रकार मुनिराज भी बुध—अर्थात् विद्वानोंके स्वामी थे, जिस प्रकार सूर्य विष्वदृश्वा अर्थात् सब पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाला है उसी प्रकार मुनिराज भी विष्वदृश्वा अर्थात् सब पदार्थोंको जाननेवाले थे, जिस प्रकार सूर्य विरोचन अर्थात् अत्यन्त देदीप्यमान रहता है अथवा विरोचन नामको धारण करनेवाला है उसी प्रकार मुनिराज भी विरोचन अर्थात् अत्यन्त देदीप्यमान थे अथवा रुचिरहित उदासीन थे और जिस प्रकार सूर्य पुण्डरीकिणी अर्थात् कमलिनीको प्रफुल्लित करता है उसी प्रकार मुनिराज भी पुण्डरीकिणी अर्थात् विदेह क्षेत्रकी एक विशेष नगरीको आनन्दित करते थे इस प्रकार सूर्यकी समानता रखनेवाले मुनिराज हिरण्यवर्मा किसी समय पुण्डरीकिणी नगरीमें पधारे ॥२२०—२२१॥ प्रभामहिता चन्द्रमाको कलाके समान आश्रिका-प्रभावती भी वहाँ आयी और गुणवती-गणिनीके साथ मिलकर रहने लगी सो ठीक ही है क्योंकि समागम अपनी इच्छानुसार ही होता है ॥२२२॥ गुणवती गणिनीको देखकर प्रियदत्ताने नमस्कार कर पूछा कि संघाधिकारिणी अमितमति कहाँ है ? तब उसने कहा कि 'वह तो स्वर्ग चली गयी है' यह सुनकर प्रभावती कुछ शोक करने लगी और कहने लगी कि 'हम दोनोंकी आँखें वहीं थीं,' तब प्रियदत्ताने पूछा कि उनके साथ तुम्हारा प्रेम कैसे हुआ ? उत्तरमें प्रभावती कहने लगी कि आपको क्या स्मरण नहीं है आपके घरमें जो कवूतर-कवूतरीका जोड़ा रहता था उनमें-से मैं रतिषेणा नामकी कवूतरी हूँ, यह सुनकर प्रियदत्ता आश्चर्यसे चकित होकर कहने लगी कि 'वह रतिवर कवूतर आज कहाँ है तब प्रभावतीने कहा कि वह भी विद्याधरोंका राजा हिरण्यवर्मा हुआ है और कर्मरूपी शत्रुओंको नाश करनेवाला वह आज इसी पुण्डरीकिणी नगरीमें विराजमान है । प्रियदत्ताने भी जाकर महामुनि-हिरण्यवर्माकी वन्दना की और फिर प्रभावतीके पूछनेपर अपने पतिका वृत्तान्त इस प्रकार कहने लगी ॥२२३—२२७॥

एक रतिषेण नामका विद्याधर अपनी स्त्री गान्धारीके साथ-साथ इसी विजयार्ध पर्वतके गान्धार नगरसे विहार करनेके लिए यहाँ आया था ॥२२८॥ मुझे सर्पने काट खाया है इस प्रकार झूठ-झूठ बहाना कर गान्धारी यहाँ पड़ रही, सेठ कुबेरकान्त और विद्याधरने बहुत-सी औषधियोंका प्रयोग किया परन्तु गान्धारीने मायाचारीसे कह दिया कि 'अभी मुझे

१ पुण्डरीकिण्याम् । २ समागतवती संगतवती वा । ३ गुणवत्यादिका ट० । गुणवती शशिप्रभावत्यायिकाः । ४ क्वासौ । ५ यशस्वती । ६ अनन्तमतिसहिताऽमितमत्यायिका । ७ गुणवती जगाद । ८ नार्क प्राप्तेति । ९ नेत्रसदृशी । १० प्रियदत्ता । ११ पारावतद्वन्द्वे । १२ कर्मरिषेति ल०, प० । १३ अस्मिन् पुरे तिष्ठतीति । १४ प्रभावती । १५ हिरण्यवर्ममुनिम् । १६ पुत्ररागत्य । १७ पुण्डरीकिण्याम् । १८ कुबेरकान्तः ।

मायया नास्मि शान्तेति तदाकथान् खेदमागता^१ । आह तु स्वपती याते वन^२ शक्तिमर्दाषधम्^३ ॥२३०॥
 गान्धारी^४ बन्धकीभावं^५ सुपेत्य स्मरुविक्षियाम् । दर्शयन्ती निरीक्ष्याह वणिग्वयं दृढवतः ॥२३१॥
 अहं^६ वर्षधरो वेत्सि न किं मामित्युपायवित् । व्यधाद् विरक्तचित्तो तां तदेव हि धियः फलम् ॥२३२॥
 तदातीमागतं पत्यौ स्वे स्वास्थ्यमहमागता । पूर्वोपधप्रयोगात्पुत्रत्वाऽगान् सपतिः पुरम् ॥२३३॥
 दक्षितान्तकुबेरान्यो मिथान्तश्च कुबेरवाक् । पः कुबेरदत्तश्च कुबेरश्चान्तदेववाक् ॥२३४॥
 कुबेरादिप्रियश्चान्यः पक्षेन संचितधुताः । कलाकौशलमापकाः संपन्नवर्मावताः ॥२३५॥
 एतैः स्वसूनुभिः सार्धमारुह्य शिविको वनम् । धृत्वा कुबे^७ रश्रीगर्भं मां जिह्मुं समागतम् ॥२३६॥
 दृष्ट्वा कदाचिद् गान्धारी पृथक्^८ पृथ्वती पुमान् । त्वच्छ्रेष्ठा^९ मेति तत्सत्यमुत्^{१०} नेत्यन्ववादिशम् ॥२३७॥
 तत्सत्यमेव^{११} मत्तोऽन्यां प्रत्यसौ न पुमानिति । तदाकथं चिरज्यासौ^{१२} सपतिः संयमं भिता ॥२३८॥
 पुनस्तत्रागता^{१३} दृष्टा दीक्षेयं केन हेतुना । तवेति सा मया पृष्टा प्रपन्नस्य प्रियोक्तिभिः ॥२३९॥
 श्रेष्ठेव ते तपोहेतुरिति प्रत्यमव्रीदसौ । निगूढं तद्वचः श्रेष्ठा श्रुत्वाऽऽगत्य पुरः स्थितः ॥२४०॥
 मामर्जषीत्^{१४} सखाऽसौ मे^{१५} क्वाधेति परिपृष्टवान् । सोऽपि सत्कारणमैव गृहीत्वैहागमत्तपः^{१६} ॥२४१॥
 इति तद्वचनाच्छ्रेष्ठा नृपश्चाभ्येत्य तं मुनिम् । वन्दिष्याधर्ममापृच्छ्य काललब्ध्या महीपतिः^{१७} ॥२४२॥

शान्ति नहीं हुई है, यह सुनकर उसके पति रतिपेणको बहुत दुःख हुआ । वह अधिक शक्ति-
 वाली औषधि लानेके लिए वनमें चला गया, इधर उसके चले जानेपर गान्धारीने कुलटापन
 धारण कर कामकी चेष्टाएँ दिखायीं, यह देखकर उपायको जाननेवाले और अपने वनमें दृढ़ रहने-
 वाले सेठ कुबेरकान्तने कहा कि अरे, मैं तो नर्पुंगक हूँ — क्या तुझे मालूम नहीं ? ऐसा कहकर
 सेठने उसे अपनेसे विरक्तचित्त कर दिया सो ठीक ही है क्योंकि बुद्धिका फल यही है ॥२३९—
 २३२॥ इतनेमें ही उसका पति वापस आ गया, तब गान्धारीने कह दिया कि मैं पहले दी हुई
 औषधिके प्रयोगसे ही स्वस्थ हो गयी हूँ ऐसा कहकर वह पतिके साथ नगरमें चली गयी ॥२३३॥
 कुबेरदत्त, कुबेरमित्र, कुबेरदत्त, कुबेरदेव और कुबेरप्रिय ये पाँच मेरे पुत्र थे । वे पाँचों ही
 समस्त शास्त्रोंको जाननेवाले, कला-कौशलमें निपुण तथा नव यौवनसे सुशोभित थे । किसी एक
 दिन जब कि कुबेरश्री कन्या मेरे गर्भमें थी तब मैं अपने पूर्वोक्त पुत्रोंके साथ पालकीमें बैठकर
 वनमें विहार करनेके लिए गयी थी उसी समय गान्धारीने मुझे देखकर और अलग ले जाकर
 मुझसे पूछा कि 'आपके सेठ पुरुष नहीं हैं' क्या यह बात सच है अथवा झूठ ? तब मैंने उत्तर
 दिया कि बिल्कुल सच है क्योंकि वे मेरे सिवाय अन्य स्त्रियोंके प्रति पुरुष नहीं हैं यह सुनकर
 उसने विरक्त हो अपने पतिके साथ-साथ संयम धारण कर लिया ॥२३४—२३८॥ किसी
 एक दिन वह गान्धारी आयिका यहाँ फिर आयी तब मैंने दर्शन और प्रणाम कर प्रिय वचनों-द्वारा
 पूछा कि 'आपने यह दीक्षा किस कारणसे ली है ?' उसने उत्तर दिया था कि 'मेरे तपस्वरण-
 का कारण तेरा सेठ ही है, सेठ भी गुप्तरूपसे यह बात सुनकर सामने आकर खड़े हो गये
 और पूछने लगे कि जिसने मुझे जीत लिया है ऐसा मेरा मित्र आज कहाँ है ?
 तब गान्धारी आयिकाने कहा कि 'वे भी मेरे ही कारण तप धारण कर यहाँ पधारे हैं,
 ॥२३९—२४१॥ यह सुनकर सेठ और राजा दोनों ही उन मुनिराजके समीप गये और दोनोंने

१—मागते ल० । २ ती द्वी खेदमानती अ०, स० । ३ विजयाह्वनम् । ४ विषाणहरणसामर्थ्यावन्महीपथम् ।
 ५ गान्धारी ल० । ६ कुलटात्वम् । ७ दर्शयन्ती ल० । ८ वर्षधरः ल० । पण्डः । ९ पतिमहिता । १० कुबेर-
 देवः । ११ कुबेरश्रियः संबन्धि गर्भम् । १२ एकान्ते । १३ पुमान् न भवतीति । १४ असत्त्वं वा । १५ मत् ।
 १६ गान्धारी । १७ पुण्डरीकिण्याम् । १८ जितवती । १९ मम मित्रं रतिपेणः । १९ कुत्र तिष्ठतीति ।
 २० गतस्तपः ल०, अ०, प०, स० । २१ लोकपालः ।

गुणपालाय तद्राज्यं दद्यात् संयममादधे^१ । निकटे रतिषेणस्य विद्याधरमुनीशितुः^२ ॥२४३॥
 पञ्चमं^३ स्वपदे सूनुं नियोज्यान्त्यैः^४ सहात्मजैः । ययौ श्रेष्ठो^५ च तत्रैव दीक्षां मोक्षामिलायुक्तः ॥२४४॥
 तथोक्त्वा कान्तवृत्तान्तं^६ सा^७ समुत्पन्नसंविदा^८ । विरभ्य गृहसंवासात् कुबेरादिप्रियं सतीम्^९ ॥२४५॥
^{१०}गुणपालाय दत्त्वा स्वां सुतां गुणवतीं^{११} श्रिता । प्रभावस्थुपदेशेन प्रियदत्ताऽप्यदीक्षत^{१२} ॥२४६॥
 मुनिं हिरण्यवर्मणं कदाचित् प्रेतभूतले^{१३} । दिनानि सप्त संगोर्यं^{१४} प्रतिमायोगधारिणम् ॥२४७॥
 वन्दित्वा नागराः^{१५} सर्वे तत्पूर्वमवसंकथा । कुर्वाणा पुरमागच्छन् विद्युच्चोरोऽप्युदीरितात्^{१६} ॥२४८॥
 चेद्वय्याः प्रियदत्तायास्तःसुनेः प्राप्तं न सवम् । विदित्वा तद्गतकोभातदोत्पन्नविमङ्गकः^{१७} ॥२४९॥
 मुनिपूवकप्रवेशस्थां^{१८} प्रतिमायोगमास्थिताम्^{१९} । प्रभावतीं च संयोज्य चित्तिकायां^{२०} दुराशयः ॥२५०॥
 एकस्यामेव लिङ्गित्वाधाक्षीं^{२१} दधजिष्ठक्षया^{२२} । सोढवा तदुपसर्गं तौ विशुद्धपरिणामतः ॥२५१॥
 स्वर्गं समुदपद्येतां^{२३} क्षमया किं न जायते । सुवर्णवर्मा तज्ज्ञात्वा विद्युच्चोरस्य निग्रहम् ॥२५२॥
 करिष्यामीति कोपेन पापिनः संगं व्यधात्^{२४} । विदित्वाऽवधिवोधेन तत्ती^{२५} स्वर्गनिवासिनौ ॥२५३॥
 प्राप्य संयमरूपेण सुतां धर्मकथादिभिः । तत्रैव श्रद्धाप्य^{२६} तं कोपादपास्य कृपयाऽऽहितौ^{२७} ॥२५४॥

ही वन्दना कर धर्मका स्वरूप पूछा । काललब्धिका निमित्त पाकर राजा लोकपालने अपने पुत्र गुणपालके लिए राज्य दिया और उसहीं विद्याधर मुनि रतिषेणके निकट संयम धारण कर लिया ॥२४२-२४३॥ मोक्षके अभिलाषी सेठने भी अपने पाँचवें पुत्र - कुबेरप्रियको अपने पदपर नियुक्त कर अन्य सब पुत्रोंके साथ-साथ वहीं दीक्षा धारण की ॥२४४॥ इस प्रकार प्रियदत्ता अपने पतिका वृत्तान्त कहकर उत्पन्न हुए आत्मज्ञानके द्वारा गृहवाससे विरक्त हो गयी थी, उस सतीने अपनी कुबेरश्री पुत्री राजा गुणपालको दी और स्वयं गुणवती आर्थिकाके समीप जाकर प्रभावतीके उपदेशसे दीक्षा धारण कर ली ॥२४५-२४६॥ किसी समय मुनिराज हिरण्यवर्मणसे सात दिनका नियम लेकर श्मशानभूमिमें प्रतिमा योग धारण किया, नगरके सब लोग उनकी वन्दना करनेके लिए गये थे । वन्दना कर उनके पूर्वभवकी कथाएँ कहते हुए जब सब लोग नगरको वापस लौट आये तब एक विद्युच्चोरने भी प्रियदत्ताकी चेटीसे उन मुनिराजका वृत्तान्त सुना, सुनकर उसे उनके प्रति कुछ क्रोध उत्पन्न हुआ और उसी क्रोधके कारण उसे विभंगावधि भी प्रकट हो गया, उस विभंगावधिसे उसने मुनिराजके पूर्वभवके सब समाचार जान लिये । यद्यपि मुनिराज प्रतिमायोग धारण कर अलग ही विराजमान थे और प्रभावती भी अलग विद्यमान थी तो भी उस दुष्टने पापसंचय करनेकी इच्छासे उन दोनोंको मिलाकर और एक ही चितापर रखकर जला दिया वे दोनों विशुद्ध परिणामोंसे उपसर्ग सहन कर स्वर्गमें उत्पन्न हुए सो ठीक ही है क्योंकि क्षमासे क्या-क्या नहीं होता ? जब सुवर्णवर्माको इस बातका पता चला तब उसने प्रतिज्ञा की कि मैं विद्युच्चोरका निग्रह अवश्य ही करूँगा - उसे अवश्य ही मारूँगा । यह प्रतिज्ञा स्वर्गमें रहनेवाले हिरण्यवर्मा और प्रभावतीके जीव देव-देवियोंने अवधिज्ञानसे जान ली, शीघ्र ही संयमोका रूप बनाकर पुत्रके पास पहुँचे, दया

१ -माददी अ०, ल०, प०, स०, इ० । २ मुनीशितः ल० । ३ चरमपुत्रं कुबेरप्रियम् । ४ कुबेरव्यतिरिभिः । ५ कुबेरकान्तः । ६ प्रियस्य वृत्तकम् । ७ प्रियदत्ता । ८ समुत्पन्नज्ञानेन । ९ सती ल० । १० लोकपालस्य सुताय । ११ गुणवत्यायिकाम् । १२ दीक्षामग्रीत् । १३ प्रेतभूतले ल० । १४ चित्तियोगमहीतले । १५ परेतभूमा-वित्यर्थः । १६ प्रतिज्ञां कृत्वा । १७ नगरजनाः । १८ वचनात् । उदीरिताम् ल०, अ०, प०, स०, इ० । १९ विभङ्गतः ल०, अ०, स०, इ० । २० नित्यमण्डितचैत्यालयस्य पुरः प्रतिमायोगस्थितामित्यर्थः । प्रवेशस्थे ल० । २१ -मास्थिताम् ल० । २२ शवशय्यायाम् । २३ वहति स्व । २४ पापं गृहीतुमिच्छया । २५ कनकप्रभ-देवकनकप्रभदेवयो समुत्पन्नी । २६ हिरण्यवर्मणः सुतः । २७ प्रतिज्ञामकरोत् । २८ हिरण्यवर्मप्रभावतीचरदेव-देवयो । २९ विश्वासं नीत्वा । ३० दयायां स्वीकृतौ ।

दिव्यरूपं समादाय निगद्य निजश्रुतकम् । प्रदायाभरणं तस्मै पराद्वयं स्वपदं गतौ ॥२५५॥
 कदाचिद् वत्सविषये सुस्तीमा नगरे मुनेः । शिवघोषस्य कैवल्यं मुदपाद्यस्तथासिनः ॥२५६॥
 शक्रप्रिये^१ शची मेनका च नत्वा जिनेश्वरम् । समाश्रित्य सुशधीकं स्थिते प्रह्लाते सुरेशितुः ॥२५७॥
 अत्रैव सप्तमेऽङ्कि^२ प्राक्^३ समाप्तश्रावकव्रते । नाम्ना पुष्पवती साम्भ्या^४ प्रथमा पुष्पपालिता ॥२५८॥
 कुसुमावचयासक्ते वने सर्पाग्निहेतुना^५ । मृते देव्यावजायेतामित्याहासी स्म तीर्थकृत् ॥२५९॥
 प्रभावतीचरी देवी भ्रुत्वा देवश्च तत्पतिः । स्वपूर्वभवसंबन्धं तन्नागातां सभावनेः^६ ॥२६०॥
 निजा^७ जन्मसंख्यानुमतदेशास्त्रिजैच्छया । आलोकयन्तौ तत्सर्पसरोवरणसमीपगौ ॥२६१॥
 सह सार्धेन^८ भीमाग्न्यं साधुं दृष्ट्वा समागतम् । विनयेनाभिबन्धनं धर्मं तौ समपृच्छताम् ॥२६२॥
 मुनिस्तद्वचनं श्रुत्वा नाहं धर्मोपदेशने । सर्वागमार्थवित्कार्थेऽसमर्थो नवसंयतः ॥२६३॥
 प्ररूपयिष्यते किंचित्^९ स युष्मदनुरोधतः । मया तथापि श्रोतव्यं यथाशक्त्यवधानवत्^{१०} ॥२६४॥
 इति सम्यक्त्वसत्पात्रदानादि श्रावकाश्रयम् । यमाद्विषयसंबन्धं धर्मं गतिचतुष्टयम् ॥२६५॥
 तद्वेतुफलपर्यन्तं भुक्तिमुक्तिनिबन्धनम्^{११} । जीवादिद्रव्यत्वं च यथावत् प्रत्यपादयत् ॥२६६॥

धारण करनेवाले उन देव-देवियों ने धर्मकथाओं आदिके द्वारा तत्त्वश्रद्धान कराकर उसका क्रोध दूर किया और अन्तमें अपना दिव्यरूप प्रकट कर अपना सब हाल कहा तथा उसे बहुमूल्य आभूषण देकर दोनों ही अपने स्थानपर चले गये ॥२४७-२५५॥ किसी एक दिन वत्स देशमें सुसीमानगरीके समीप घातिया कर्म नष्ट करनेवाले शिवघोष मुनिराजको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ ॥२५६॥ उस उत्सवमें शची और मेनका नामकी देवांगनाएँ भी इन्द्रके साथ आयीं और श्रीजिनेन्द्रदेवको नमस्कार कर इन्द्रके पास ही बैठ गयीं । इन्द्रने भगवान्से पूछा कि ये दोनों किस कारणसे देवियाँ हुई हैं ? तब तीर्थंकर देव कहने लगे कि दोनों ही पूर्वभवमें मालिनकी लड़कियाँ थीं, पहलीका नाम पुष्पपालिता था और दूसरीका पुष्पवती । इन दोनोंने आजसे सातवें दिन पहले श्रावकव्रत लिये थे । एक दिन ये वनमें फूल तोड़नेमें लगी हुई थीं कि सर्परूपी अग्निके कारण मर गयीं और मरकर देवियाँ हुई हैं ॥२५७-२५९॥ हिरण्यवर्मा और प्रभावतीके जीव जो देव-देवी हुए थे उन्होंने भी उस समय समवसरणमें अपने पूर्वभवके सम्बन्ध सुने और फिर दोनों ही सभाभूमिसे निकलकर इच्छानुसार पूर्वभव सम्बन्धी सुखानुभवतके स्थानोंको देखते हुए सर्पसरोवरके समीपवाले वनमें पहुँचे ॥२६०-२६१॥ उस वनमें अपने संबन्धके साथ-साथ एक भीम नामके मुनि भी आये हुए थे, दोनोंने उन्हें देखकर विनयपूर्वक नमस्कार किया और धर्मका स्वरूप पूछा ॥२६२॥ उनके वचन सुनकर मुनि कहने लगे कि अभी नवदीक्षित हैं, धर्मका उपदेश देना तो समस्त शास्त्रोंका अर्थ जाननेवाले मुनियोंका कार्य है इसलिए यद्यपि मैं धर्मोपदेश देनेमें समर्थ नहीं हूँ तथापि तुम्हारे अनुरोधसे शक्तिके अनुसार कुछ कहता हूँ तुम लोगोंको सावधान होकर सुनना चाहिए ॥२६३-२६४॥ यह कहकर उन्होंने सम्यग्दर्शन तथा सत्पात्रदान आदि श्रावक सम्बन्धी और यम आदि मुनि सम्बन्धी धर्मका निरूपण किया । चारों गतिर्या, उनके कारण और फल, स्वर्ग मोक्षके निदान एवं जीवादि द्रव्य और तत्त्व इन

१ दिव्यं रूपं स०, प०, द० । २ समुत्पन्नम् । ३ इन्द्रस्य वल्लभे । ४ इमे पूर्वजन्मनिके इति इन्द्रस्य प्रण-
 वणात् तीर्थकृदाह । ५ आ सप्तदिनात् पूर्वमित्यर्थः । ६ पूर्वजन्मनि । ७ सम्यक्स्वीकृत । ८ साम्भ्या ल० ।
 ९ पुष्पकरण्डकनाम्नि वने पुष्पवाटो कुसुमावचयार्थमासक्ते इत्यर्थः । १० अहिविषाग्निकारणेन । ११ सम-
 सवरणात् । १२ वणिक्छिबिरेण । १३ धर्मः । १४ क्रियाविशेषणम् । १५ संयम । १६ मुक्तिकारणम् ।

तच्छ्रुत्वा पुनरप्याभ्यां भवता केन हेतुना । प्रमज्येत्यनुयुक्तोऽसौ वक्तुं प्रक्रान्तवान् मुनिः ॥२६७॥
 विदेहं पुष्कलावत्यां नगरीं पुण्डरीकिणीं । तत्राहं भीमनामाऽऽसं स्वपापाद् दुर्गते कुले ॥२६८॥
 अन्येयुर्यतिमासाद्य किंचित्कालादिलब्धितः । श्रुत्वा धर्मं ततो लेभे गृहिमूलगुणाष्टकम् ॥२६९॥
 तज्ज्ञात्वा मत्पिता पुत्र किमेभिर्गुणैर्वृथा । दारिद्र्यकर्ममालिप्तदेहानां मिष्कलैरिह ॥२७०॥
 व्रतान्प्रतानि दास्यामस्तस्मै स्वर्गलोककाङ्क्षिणे । ऐहिकं फलमिच्छामो भवेद्येनेह जीविका ॥२७१॥
 व्रतं दत्तवतः स्थानं तस्य मे दशंशतसौ । मामवादीद् गृहीत्वैनमावजगहमन्तरे ॥२७२॥
 वज्रकेतोर्महावीर्यां देवतागृहकुक्कुटम् । भास्वकिरणसंशोष्यमाणधान्योपयोगिनम् ॥२७३॥
 पुंसो हतवतो दण्डं जिनदेवाधिने धनम् । कामोदपक्षुवानस्य धनदेवस्य दुर्मतेः ॥२७४॥
 स्मनोत्पादनं हारमनर्घ्यमणिनिर्मितम् । श्रद्धिनः प्रायश्चित्तैर्गणिकायै समर्पणात् ॥२७५॥
 रतिपिङ्गलसंज्ञस्य शूले सलवारपणम् । निशि मानुः कर्नाथस्याः कामनिर्लुप्तसंविदः ॥२७६॥
 पुण्या गेहं गतस्थाङ्गच्छेदनं पुररश्मिणः १२ । क्षेत्रलोभाजिजे ज्येष्ठे मृते दण्डहते १३ सति ॥२७७॥
 लोलस्यान्वर्थमंशस्य १४ त्रिलाप १५ देशनिर्गमे । धूने सागरदत्तेन प्रभूते निर्जिते धने ॥२७८॥

सबका भी यथार्थ प्रतिपादन किया ॥२६५-२६६॥ यह सुनकर उन देव-देवियोंने फिर पूछा कि आपने किस कारणसे दीक्षा धारण की है इस प्रकार पूछे जानेपर मुनिराज कहने लगे ॥२६७॥

विदेहक्षेत्रके पुष्कलावती देशमें एक पुण्डरीकिणी नगरी है वहाँपर मैं अपने पापोंके कारण एक अत्यन्त दरिद्र कुलमें उत्पन्न हुआ था । मेरा नाम भीम है ॥२६८॥ किसी अन्य दिन थोड़ी-सी काललब्धि आदिके निमित्तसे मैं एक मुनिराजके पास पहुँचा और उनसे धर्मश्रवण कर मैंने गृहस्थोंके आठ मूल गुण धारण किये ॥ २६९ ॥ जब हमारे पिताको इस बातका पता चला तब वे कहने लगे कि "दरिद्रतालपी कीचड़से जिनका समस्त शरीर लिप्त हो रहा है ऐसे हम लोगोंको इन व्यर्थके कठिन व्रतोंसे क्या प्रयोजन है । इनका फल इस लोकमें तो मिलता नहीं है, इसलिए आओ, ये व्रत स्वर्गलोककी इच्छा करनेवाले उसी मुनिके लिए दे आवें । हम तो इस लोकसम्बन्धी फल चाहते हैं जिससे कि जीविका चल सके ॥२७०-२७१॥ व्रत देनेवाले गुरुका स्थान मुझे दिखा" ऐसा मेरे पिताने मुझसे कहा तब मैं उन्हें साथ लेकर चला । रास्तेमें मैंने देखा कि वज्रकेतु नामके एक पुरुषको दण्ड दिया जा रहा है । पितासे मैंने उसका कारण पूछा, तब कहने लगे कि यह सूर्यकी किरणोंमें अपना अनाज सुखा रहा था और किसी मन्दिरका मुर्गा उसे खा रहा था । इसने उसे इतना मारा कि बेचारा मर गया । इसलिए ही लोग इसे दण्ड दे रहे हैं । आगे चलकर देखा कि जिनदेवके द्वारा रखी हुई धरोहरको लोभसे छिपानेवाले दुर्युद्धि धनदेवकी जीभ उखाड़ी जा रही है । कुछ आगे चलकर देखा कि एक सेठके घरसे बहुमूल्य मणियोंका हार चुराकर वेश्याको देनेके अपराधमें रतिपिङ्गलको कोतवाल शूलीपर चढ़ा रहा है, किसी जगह देखा कि कामवासनासे जिसका सब ज्ञान नष्ट हो गया है ऐसा एक कोतवाल रातमें अपनी माताकी छोटी बहनकी पुत्रीके घर गया था इसलिए राज्यकर्मचारी उसका अंग काट रहे हैं । दूसरी जगह देखा कि सार्थक नाम धारण करनेवाले एक लोल नामके किसानने खेतके लोभसे अपने बड़े लड़केको ढण्डोंसे मार-मारकर मार डाला है, इसलिए उसे देशनिकालेकी सजा

१ देवदेवीभ्याम् । २ पृष्ठः । ३ प्रारभते स्म । ४ अभूवम् । ५ दरिद्रे कुले । ६ अस्माकम् । ७ पितरम् । ८ अदन्तम् । ९ भक्षयन्तमित्यर्थः । १० जिनदेवाख्येन वृत्तम् । ११ वज्रचयतः । १२ निरस्तज्ञानस्य । १३ सल-वरस्य । १४ लोलैः हते । १५ लोल इति नाम्नः । १५ परिदेवनम् ।

दातुं समुद्रदत्तस्य निश्शक्तेरानये क्रुधा । परिवर्द्धितदुर्गन्धधृमान्तर्धर्तिनश्चिरम् ॥ २७३ ॥
 निरोधमभयं लोपणायामानन्ददेशनात् । अद्रकस्थ नृपोरञ्जनातिनः करखण्डनम् ॥ २७४ ॥
 आनन्दराजपुत्रस्य तद्भुक्त्याऽवस्कराशनम् । मद्यत्रिकषणे बालं कंचिदाभरणेच्छया ॥ २७५ ॥
 हत्वा भूर्मा विनिक्षिप्तव्यास्तम्बविधानकम् । प्रकाशितवर्ता स्वात्मजे शुण्डायाश्च निग्रहम् ॥ २७६ ॥
 पापान्येतानि कर्माणि पश्यन् हिंसादिदोषतः । अत्रामुत्र च पापस्य परिपाकं वृत्ततरम् ॥ २७७ ॥
 अवधार्यानभिप्रेतव्रतत्यागो भवाद् भवान् । अेषमोषमृषायोषाश्लेषहिंसादिदूषिताः ॥ २७८ ॥
 नायैव किन्त्वमुत्रापि तत्तद्विचित्रवधोचिताः । अस्माकमपि दीर्घान्धं प्राक्तनान् पापकर्मणः ॥ २७९ ॥
 इदं तस्मान् समुच्चेयं पुण्यं सच्चेष्टितैः पुरः । इति तं भोचयित्वाऽअर्हीषं दीक्षां समुत्थया ॥ २८० ॥
 मद्यो गुरुप्रसादेन सर्वशास्त्राब्जिगासः । विशुद्धमतिरन्येषुः समीपे सर्ववेदिनः ॥ २८१ ॥
 मद्दृष्टपूर्वजन्मानि समर्थाय यथाश्रुतम् । कथयिष्याम्यहं तानि कर्तुं वा कौतुकं मम ॥ २८२ ॥
 इहैव पुष्कलावत्यां त्रियये पुण्डरीकिणीम् । परिपालयति प्रीत्या वसुपालमर्हीषुभिः ॥ २८३ ॥
 विद्युद्देगाङ्ग्यं चोरमवष्टम्भ्य करस्थितम् । धनं स्थाकृत्य शेषं च सवता दीयतामिति ॥ २८४ ॥

दी जा रही है और वह विलाप कर रहा है । आगे जानेपर देखा कि सागरदत्तने जूआमें समुद्र-
 दत्तका बहुत-सा धन जीत लिया था परन्तु समुद्रदत्त देनेमें असमर्थ था इसलिए उसने क्रोधसे उसे
 बहुत देर तक दुर्गन्धित धुआँके बीच धूपमें बैठा ल रखा है, किसी जगह देखा कि आनन्द महा-
 राजकी अभय घोषणा कराये जानेपर भी उनके पुत्र अंगकने राजाका मेढ़ा मारकर खा लिया है
 इसलिए उसके हाथ काटकर उसे बिछा खिलाया जा रहा है और अन्य स्थानपर देखा कि मद्य
 पीनेवाली स्त्रीने मद्य खरीदनेके लिए आभूषण लेनेकी इच्छासे किसी बालकको मारकर जमीनमें
 गाड़ दिया था, वह यह समाचार अपने पुत्रसे कह रही थी कि किसी राज कर्मचारीने उसे सुन
 लिया इसलिए उसे दण्ड दिया जा रहा है । हिंसा आदि दोषोंसे उत्पन्न हुए इन पाप कार्योंको
 देखकर मैंने निश्चय किया कि पापका फल इस लोक तथा परलोक दोनों ही जगह बुरा होता
 है । मैंने संसारके भयसे व्रत छोड़ना उचित नहीं समझा । मैं सोचने लगा कि हिंसा, झूठ, चोरी,
 परस्त्रीसेवन आदिसे दूषित हुए पुरुषोंको इसी जन्ममें अनेक प्रकारके बध-बन्धनका दुःख भोगना
 पड़ता हो सो बात नहीं किन्तु परलोकमें भी वही दुःख भोगने पड़ते हैं, हमारी यह दरिद्रता भी
 तो पहलेके पापकर्मोंसे मिली है, इसलिए सदाचारी पुरुषोंको इस पुण्यका अधिकसे अधिक संचय
 करना चाहिए यह सोचकर मैंने अपने पिताको छोड़कर मोक्षकी इच्छासे दीक्षा धारण कर
 ली है ॥ २७२-२८६ ॥ गुरुके प्रसादसे मैं शीघ्र ही सब शास्त्ररूपी समुद्रका पारगामी हो गया
 और मेरी बुद्धि भी विशुद्ध हो गयी । किसी अन्य दिन मैंने सर्वज्ञ देवके समीप दोषोंसे भरे हुए
 अपने पूर्वजन्म सुने थे सो उसीके अनुसार आप लोगोंका बड़ा भारी कौतुक करनेके लिए उन्हें
 कहता हूँ ॥ २८७-२८८ ॥

इसी पुष्कलावती देशकी पुण्डरीकिणी नगरीको राजा वसुपाल बड़े प्रेमसे पालन करते
 थे ॥ २८९ ॥ किसी एक दिन कोतवालने विद्युद्देग नामका चोर पकड़ा, उसके हाथमें जो धन
 था उसे लेकर कहा कि वाकीका धन और दो, धन न देनेपर रक्षकोंने उसे दण्ड दिया तब उसने

१ घोषणायां सत्याम् । २ आनन्दारूपनृपस्य निवेशनात् । ३ एलक (एडक) घातकस्य । ४ तद्भुक्त्या
 इत्यपि पाठः । ५ गूयभक्षणम् । ६ मद्यव्यवहारनिमित्तम् । ७ बालघातिन्याः सुते । ८ मद्यपायिन्याः ।
 ९ अनिष्टो व्रतत्यागो यन्मव अननुमत्तव्रतत्याग इत्यर्थः । १० हिंसाचौर्यादौ तत्रापाकृत्य बहुपरिग्रहः । रोषमोषमृषा-
 योषा हिंसादिश्लेषादि.....ल० । ११ दारिद्र्यम् । १२ मोक्षमुचिच्छया । १३ सर्वज्ञस्य । १४ शृणोमि स्म ।
 १५ युक्तयोः । १६ रक्षति सति । १७ बलात्कारेण गृहीत्वा ।

आरक्षिणो^१ निगृहीयुर्दत्तं विमते^२ धनम् । इत्यब्रवीन् स^३ सोऽन्याह गृहीतं न मयेति तत्^४ ॥२९१॥
 विमतेरेव तद्गृहं दण्डोपायेन केनचित् । दण्डकारणिकैः^५ प्रोक्तं सृस्ना पात्रीश्वयोन्मितम् ॥२९२॥
 शक्तो^६ भक्षणं मरुतैस्त्रिंशन्मुष्ट्यभिताडनम् । सर्वस्वहरणं चैतत्प्रयं जीवितवाञ्छया ॥२९३॥
 'स सर्वमनुभूयायात् प्राणान्ते नारकीं गतिम् । त्रिगुच्छोरस्त्वया हन्यतामित्यारक्षको नृपात् ॥२९४॥
 लब्धदेशोऽप्यहं हस्मि^७ येन हिंसादिजर्जनम् । प्रतिज्ञातं मया साधोरित्याज्ञां नाकरोदसौ ॥२९५॥
 गृहीतोऽन्धो^८ इत्येव^९ चोरारक्षकयोर्नृपः । शृङ्खलाबन्धनं कृत्वा कारयामास निर्घृणम्^{१०} ॥२९६॥
 त्वयोक्तं हि तुना केन हतो नेत्यनुवृत्तवान् । प्रतुष्ट्यारक्षकं चोरः सोऽप्येवं प्रत्यपादयत् ॥२९७॥
 एतत्पुरमसुखैव राजः पितरि रक्षति । गुणपाले महाश्रेष्ठी कुबेरप्रियसंज्ञया ॥२९८॥
 अत्रैव नाटकाचार्यतनूजा नाट्यमालिका । आस्थायिकायां मायेन स्थायिनानृत्यदुद्रसम् ॥२९९॥
 तदालोक्य महोपालो बहुविस्मयमागमत् । गणिकोत्पलमालाख्यत् किमत्राश्चर्यमीश्वर ॥३००॥
 श्रेष्ठिनोऽस्य^{११} मिथोऽभ्येषुः प्रतिमायोगधारिणः । सोपवासस्य पूज्यस्य गत्वा चालयितुं मनः ॥३०१॥
 नाशकं^{१२} तदिन्द्राश्चर्यमित्याख्यद् भूभुजापि सा । गुणप्रिये वृणांत्वेति^{१३} प्रोक्ता शीलामिरक्षणम् ॥३०२॥
 अर्भीष्टं मम देहीति तद्वत्तं जनमग्रहीत् । अन्यदा तद्गृहं^{१४} सर्वरक्षिताख्यः समागमत् ॥३०३॥

कहा कि मैंने बाकीका धन विमतिके लिए दे दिया है । जब विमतिसे पूछा गया तब उसने कह दिया कि मैंने नहीं लिया है, इसके बाद कोतवालने वह धन किसी उपायसे विमतिके घर ही देख लिया, उसे दण्ड देना निश्चित हुआ, दण्ड देनेवालोंने कहा कि या तो मिट्टीकी तीन घाली भरकर विष्ठा खाओ, या मल्लोके तीस मुक्कोंकी चोट सहो या अपना सब धन दो । जीवित रहनेकी इच्छासे उसने पूर्वोक्त तीनों दण्ड सहे और अन्तमें मरकर नरक गतिको प्राप्त हुआ । राजाने एक चाण्डालको आज्ञा दी कि तू विद्युच्चोरको मार डाल, परन्तु आज्ञा पाकर भी उसने कहा कि मैं इसे नहीं मार सकता क्योंकि मैंने एक मुनिसे हिंसादि छोड़नेकी प्रतिज्ञा ले रखी है ऐसा कहकर उसने जब राजाकी आज्ञा नहीं मानी तब राजाने कहा कि इसने कुछ घूस खा ली है इसलिए उसने क्रोधित होकर चोर और चाण्डाल दोनोंको निर्दयतापूर्वक साँकलसे बँधवा दिया ॥ २९०-२९६ ॥ चोरने सन्तुष्ट होकर चाण्डालसे पूछा कि तूने किस कारणसे मुझे नहीं मारा तब चाण्डाल इस प्रकार कहने लगा कि ॥ २९७ ॥ पहले इस नगरकी रक्षा इसी राजाके पिता गुणपाल करते थे और उनके पास कुबेरप्रिय नामका एक बड़ा सेठ रहता था ॥ २९८ ॥ इसी नगरीमें नाट्यमालिका नामकी नाटकाचार्यकी एक पुत्री थी । एक दिन उसने राजसभामें रति आदि स्थायी भावों-द्वारा शृंगारादि रस प्रकट करते हुए नृत्य किया ॥२९९॥ वह नृत्य देखकर राजाको बड़ा आश्चर्य हुआ तब उत्पलमाला नामकी वेश्या बोली कि हे देव, इसमें क्या आश्चर्य है ? एक दिन अत्यन्त शान्त और पूज्य कुबेरप्रिय सेठने उपवासके दिन प्रतिमा योग धारण किया था, उस दिन मैं उनका मन विचलित करनेके लिए गयी थी परन्तु उसमें समर्थ नहीं हो सकी । इस संसारमें यही बड़े आश्चर्यकी बात है । यह सुनकर राजाने कहा कि "हे गुणप्रिये ! तुझे गुण बहुत प्यारे लगते हैं इसलिए जो इच्छा हो सो माँग ।" तब उसने कहा कि मुझे शीलव्रतकी रक्षा करना दण्ड है यही वर दीजिए । राजाने वह वर उसे

१ तलवराः । २ निग्रहं कुर्युः । ३ विमतिनामधेयाय । ४ चोरः । विमतिरपि । ५ धनम् । ६ कारणज्ञैः 'पुरोहितादिघर्मकारिभिरित्यर्थः । ७ गूढस्य । 'उच्चारणवत्करो यमलं शक्यत् । पुरोध उरकोच गूढवर्चस्कमस्वी विष्ठाविशौ स्त्रियाम् ।' इत्यभिधानात् । ८ विमतिः । ९ न वर्षं करोमि । १० 'लब्ध उत्कोच जामिषः,' इत्यभिधानात् । ११ तलवरः । १२ निष्कृपं यथा भवति तथा । १३ प्रतुष्ट्या अ०, स०, इ०, प० । १४ आस्थाने । १५ श्रेष्ठिनः समितोज्येष्ठ्युः ल०, अ०, प०, इ०, स० । १६ न समर्थोऽभूवमहम् । १७ बाष्पितं प्राथम्य । १८ उत्पलमालागृहम् ।

रात्रौ तलवरो दृष्ट्वा तं बाह्याऽद्येति तेन^१ तत् ।^२ प्रतिपादनवेलायामेवायाम्मन्त्रिणः सुतः ॥३०४॥
 नृपतेर्मैथुनो नाम्ना पृथुधीस्तं निरीक्ष्य सा । मञ्जूषायां विनिश्चित्य गणिका सर्वरक्षितम् ॥३०५॥
 त्वया मदीयामरणं सत्यवत्यै समर्पितम् । त्वद्भगिन्मै तदानेयमित्याह नृपमैथुनम् ॥३०६॥
 सोऽपि प्राक्^३ प्रतिपाद्यैतद् व्रतग्रहणसंश्रुतेः । प्रातिकूलयमगादीर्ष्यावान् द्वितीयदिने पुनः ॥३०७॥
 साक्षिणं परिकल्प्यैनं मञ्जूषास्थं महीपतेः । सन्निधौ चाशितो जितमस्तापुःपलमालया ॥३०८॥
 न गृहीतं मयेत्यस्मिन्मिथ्यावादिनि भूभुजा । पूषा सत्यवती तस्य पुरस्तान्वयक्षिपद्भनम् ॥३०९॥
 मैथुनाय नृपः क्रुद्धा खलोऽयं हन्यतामिति । आज्ञापयत्पदाधीन् स्वान् युक्तं तन्न्यायवर्तिनः ॥३१०॥
 'पठन्मुनीन्द्रसद्वर्मशास्त्रसंश्रवणाद् द्रुतम् । अन्येषुः प्राप्तं जन्म विदित्वा शममागते ॥३११॥
 याताहस्तिनि मांसस्य पिण्डदानमनिच्छति । तद्दीक्ष्योपायविच्छेष्टी विबुध्यानेकपेक्षितम् ॥३१२॥
 सर्वैर्बुधैर्मिश्रशस्त्रैश्चैव सर्वैर्यत्नैः । दिग्दं वाप्येन्द्रमोऽपि द्विरदस्तमुपाहरन्^४ ॥३१३॥
 तदा तुष्टा महीनाथो वृणीष्वेष्टं तवेति तम् । प्राह पश्चाद् ग्रहीष्यामीत्यभ्युपेक्ष्य स्थितः स तु^५ ॥३१४॥
 सचिवस्य सुतं दृष्ट्वा नीयमानं शुचा नृपात् । वरमादाय तद्घातात् कुर्वन्तं सं व्यमोचयत् ॥३१५॥

दिया और उस दिनसे उसने शील व्रत ग्रहण कर लिया । किसी दूसरे दिन सर्वरक्षित नामका कोतवाल रातके समय उसके घर गया, उसे देखकर उत्पलमालाने उससे कहा कि आज मैं बाहिर की हूँ — रजस्वला हूँ । इधर इन दोनोंकी यह बात चल रही थी कि इतनेमें ही मन्त्रीका पुत्र और पृथुधी नामका राजाका साला आया, उसे देखकर उत्पलमालाने सर्वरक्षितको एक सन्दूकमें छिपा दिया और राजाके सालेसे कहा कि आपने जो मेरे आभूषण अपनी बहन सत्यवती-के लिए दिये थे वे लाइए । उसने पहले तो कह दिया कि हाँ अभी लाता हूँ परन्तु बादमें जब उसने सुना कि उसने शील व्रत ले लिया है तब वह ईर्ष्या करता हुआ प्रतिकूल हो गया । दूसरे दिन वह वेश्या सन्दूकमें बैठे हुए कोतवालको गवाह बनाकर राजाके पास गयी और वहाँ जाकर पृथुधीसे अपना धन माँगने लगी ॥३००-३०८॥ पृथुधीने राजाके सामने भी झूठ कह दिया कि मैंने इसका धन नहीं लिया है । जब राजाने सत्यवतीसे पूछा तो उसने सब धन लाकर राजाके सामने रख दिया ॥३०९॥ यह देखकर राजा अपने सालेपर बहुत क्रोधित हुआ, उसने अपने नौकरोंको आज्ञा दी कि यह दुष्ट शीघ्र ही मार डाला जाय । सो ठीक ही है क्योंकि न्याय-मार्गमें चलनेवालेको यह उचित ही है ॥३१०॥ किसी एक दिन पाठ करते हुए मुनिराजसे धर्मशास्त्र सुनकर राजाके मुख्य हाथीको अपने पूर्व भवका स्मरण हो आया, वह अत्यन्त शान्त हो गया और उसने मांसका पिण्ड लेना भी छोड़ दिया, यह देख उपायोंके जानने-वाले सेठने हाथीको सब चेष्टाएँ समझकर घी, गुड़ और दूध मिला हुआ शालि चावलोंका भात उसे खानेके लिए दिया और हाथीने भी वह शुद्ध भोजन खा लिया ॥३११-३१३॥ उस समय सन्तुष्ट होकर राजाने कहा कि जो तुम्हें इष्ट हो सो माँगो । सेठने कहा — अच्छा यह वर अभी अपने पास रखिए, पीछे कभी ले लूँगा, ऐसा कहकर वह सेठ सुखसे रहने लगा ॥३१४॥ इसी समय मन्त्रीका पुत्र मारनेके लिए ले जाया जा रहा था उसे देखकर सेठको बहुत शोक हुआ और उसने राजासे अपना पहलेका रखा हुआ वर माँगकर उस दुराचारी मन्त्रीके पुत्रको

१ तलवरेण सह । २ अथ याहीत्येतत्प्रतिपादन । ३ आनयामीत्यनुमत्य । ४ प्रसङ्गापातकयान्तरमिह ज्ञातव्यम् ।

५ नीतम् । ६ भूङ्क्ते स्म । ७ तम् ल०, अ०, प०, सं०, इ० । ८ मन्त्रिणः पुत्रम् । पृथुमतिम् ।

श्रेष्ठिनैव निकारोऽयं^१ समाकारीत्यमस्त सः । पापिनामुपकारोऽपि^२ सुभुजकृपयापते ॥३१६॥
 अन्यद्युर्मेशुनो राज्ञः स्वेच्छया विहरन् वने । स्नेहसामुद्रिकामापत्^३ कामरूपविधाचिनीम् ॥३१७॥
 कराङ्गुलीं विनिक्षिप्य तां वसोः^४ स्वकनीयसः^५ । संकल्प्य श्रेष्ठिनो^६ रूपं सत्यवत्या निकेतनम् ॥३१८॥
 प्रवेश्य (प्रविश्य) पापघ्नी राजन्मसीपं स्वयमास्थितः^७ । वसुं गृहीत्वा श्रेष्ठीस्वरूपं वीक्ष्य महीपतिः ॥३१९॥
 श्रेष्ठी किमर्थमायातोऽकाल^८ इत्यवदत्तदा । अनात्मजोऽयमायातः पापी सत्यवतीं प्रति ॥३२०॥
 मदनालसंतप्त इति सैथुनिकोऽयवीत् । तद्वाक्यादपरीक्ष्यैव तमेवाह प्रहन्यताम् ॥३२१॥
 श्रेष्ठो जनेति श्रेष्ठो^९ च कुबेरजेह हिने शिल्पिः^{१०} । स्वगृहे प्रतिमायोगधारको भावयन् स्थितः ॥३२२॥
 पृथुधीस्तमवष्टभ्य^{११} गृहीत्वा घोषयन् जने । अपराधममन्तं^{१२} च नीत्वा प्रेतमहीतलम् ॥३२३॥
 आरक्षककणे हस्तमुपेयामास पापभाक् । सोऽपि राजनिदेशोऽयमित्यहस्तहिना^{१३} रक्षम् ॥३२४॥
 नस्य वक्षःस्थले नम्र प्रहारो मणिहारताम् । प्राप शीलव्रतो भक्तस्याहंपरमदेवते ॥३२५॥
 दण्डनादपरीक्षयास्य^{१४} महोत्पातः पुनोऽजनि । क्षयः स येन सर्वेषां किं नादृष्टधाद् भवेत् ॥३२६॥
 नरेशां नागराश्चेतदालोक्य भयविह्वलाः । तमेव शरणं गन्तुं श्मशानाभिमुखं ययुः ॥३२७॥
 यदोपसर्गनिर्गतो विस्मयश्चाकवासितः । शीलप्रभावं व्यावर्ण्य वणिग्वर्यमपूजयन् ॥३२८॥

छुड़वा दिया ॥३१५॥ परन्तु मन्त्रीके पुत्रने समझा कि मेरा यह तिरस्कार सेठने ही कराया है, सो ठीक ही है क्योंकि पापी पुरुषोंका उपकार करना भी साँपको दूध पिलानेके समान है ॥३१६॥ किसी अन्य दिन वह राजाका साला अपनी उच्छासे वनमें घूम रहा था, उसे वहाँ एक विद्याधरसे इच्छानुसार रूप धना देनेवाली अँगूठी मिली ॥३१७॥ उसने वह अँगूठी अपने छोटे भाई वसुके हाथकी अँगूलीमें पहना दी एवं उसका सेठका रूप बनाकर उसे सत्यवतीके घर भेज दिया । और पाप बुद्धिको धारण करनेवाला पृथुधी स्वयं राजाके पास जाकर बैठ गया । सेठका रूप धारण करनेवाले वसुको देखकर राजाने कहा कि 'यह सेठ असमयमें यहाँ क्यों आया है ?' उसी समय पृथुधीने कहा कि 'अपने आपको नहीं जाननेवाला यह पापी कामरूपी अग्निसे सन्तप्त होकर सत्यवतीके पास आया है' इस प्रकार उसके कहनेसे राजाने परीक्षा किये बिना ही उसी पृथुधीको आज्ञा दी कि तुम सेठको मार दो । सेठ उस दिन अपने घरपर ही प्रतिमायोग धारण कर वस्तुस्वरूपका चिन्तन कर रहा था ॥३१८-३२२॥ पृथुधीने उसे वहीं कसकर बाँध लिया और जो अपराध उसने किया नहीं था लोगोंमें उसकी घोषणा करता हुआ उसे श्मशानकी ओर ले गया ॥३२३॥ वहाँ जाकर उस पापीने मारनेके लिए चाण्डालके हाथमें साँप दिया । चाण्डालने भी यह राजाकी आज्ञा है ऐसा समझकर उसपर तलवारका मजबूत प्रहार किया ॥३२४॥ परन्तु क्या ही आश्चर्य था कि श्री अरहन्त परमदेवके भक्त और शीलव्रत पालन करनेवाले उस सेठके वक्षःस्थलपर वह तलवारका प्रहार मणियोंका हार बन गया ॥३२५॥ बिना परीक्षा किये उस सेठको दण्ड देनेसे नगरमें ऐसा बड़ा भारी उपद्रव हुआ कि जिससे सबका क्षय हो सकता था सो ठीक ही है क्योंकि सज्जन पुरुषोंके वधसे क्या नहीं होता है ? ॥३२६॥ राजा और नगरके सब लोग यह उपद्रव देखकर भयसे घबड़ाये और उसी सेठकी शरणमें जानेके लिए श्मशानकी ओर दौड़े ॥३२७॥ जब सब उसकी शरणमें पहुँचे तब कहीं वह उपद्रव दूर हुआ, स्वर्गमें रहनेवाले देवोंने बड़े आश्चर्य-

१ तिरस्कारः वञ्चना च । २ क्रियते स्म । ३ -मुपकारोऽयं अ०, स० । ४ -माप काम-इ०, अ०, स० ।
 ५ वसुनामधंपत्य । ६ निजानुजस्य । ७ कुबेरप्रियस्य । ८ समीपमागत्य स्थितः । ९ अबलायाम् । १० बला-
 त्कारेण बद्ध्वा । ११ अविद्यमानम् असत्यं वा । १२ हिनस्ति स्म । १३ श्रेष्ठिनः ।

अपरीक्षितकार्याणामस्माकं क्षन्तुमर्हसि । इति तेषु भयप्र^१स्तमानतेषु नृपादिषु ॥३२६॥
 अस्मन्जितदुष्कर्मपरिपाकाद्भूदिदम् । विषादस्तत्र कर्तव्यो न भवद्भिरिति ध्रुवम् ॥३२७॥
 वैमनस्यं निरस्यैषां श्रेष्ठी प्रष्टुः क्षमावताम् । सर्वैः पुरस्कृतः पूज्यो विभूत्या प्राविशत् पुरम् ॥३२८॥
 एवं प्रयाति कालेऽस्य चारिषेणां सुतां नृपः । वसुपालाय पुत्राय स्वस्यादत्त विभूतिमत्^२ ॥३२९॥
 अधान्येषुः सभामध्ये पृष्ठवान् श्रेष्ठिनं नृपः । विरुद्धं किं न वाऽभ्योन्यं धर्मादीनि^३ चतुष्टयम् ॥३३०॥
 परस्परानुक्कलास्ते^४ सम्यग्दृष्टिषु लाघुपु^५ । न मिथ्यादृष्टिवर्ति^६ प्राह श्रेष्ठी धर्मादितत्त्वविन् ॥३३१॥
 इति तद्वचनान् राजा तुष्टोऽभ्योष्टं त्वयोच्यताम् । दास्यामीत्याह सोऽप्याख्यज्जातिमृत्युक्षयाविनि^७ ॥३३२॥
 न मया तद्वद्व्यं साध्यमिति प्रस्थाह भूपतिः । मां मुञ्च साधयामीति तमबोधद्वणिग्वरः ॥३३३॥
 तदाकर्ण्य गृहत्यागमहं च सह^८ तेऽधुना । करोमि किन्तु मे पुत्रा बालका इति चिन्तयन् ॥३३४॥
^९सद्योभिषाण्डकोद्भूतान् मक्षिकादानतत्परान् । क्षुधार्पीडाहतान् वीक्ष्य सहसा गृहकोकिलान् ॥३३५॥
 सर्वेऽपि जीवमोषायं जन्तवो जानतेतराम् । स्वेषां विनोपदेशेन^{१०} तर्कि मे बलचिन्तया ॥३३६॥
 इत्यसौ वसुपालाय दत्त्वा राज्यं यथाविधि । विधाय यौवराज्यं च श्रीपालस्य सपट्टकम् ॥३३७॥

से शीलव्रतके प्रभावका वर्णन कर उस सेठकी पूजा की ॥३२८॥ जिनके मन भयसे उद्विग्न हो रहे हैं ऐसे राजा आदिने सेठसे कहा कि हम लोगोंने परीक्षा किये बिना ही कार्य किया है अतः आप हम सबको क्षमा कर दीजिए, ऐसा कहनेपर क्षमा धारण करनेवालोंमें श्रेष्ठ सेठने कहा कि यह सब हमारे पूर्वोपार्जित अशुभ कर्मके उदयसे ही हुआ है । निश्चयसे इस विषयमें आपको कुछ भी विषाद नहीं करना चाहिए ऐसा कहकर उसने सबका वैमनस्य दूर कर दिया । तदवस्थामें राजा लोगोंने तब आगे किये हुए पुण्यजोड-धुबेरप्रियने बड़ी विभूतिके साथ नगरमें प्रवेश किया ॥३२९-३३१॥ इस प्रकार समय व्यतीत होनेपर वैभवशाली राजाने चारिषेणा नामकी इसी सेठकी पुत्री अपने पुत्र वसुपालके लिए ग्रहण की ॥३३२॥ किसी अन्य दिन राजाने सभाके बीच सेठसे पूछा कि ये धर्म आदि चारों पुरुषार्थ परस्पर एक दूसरेके विरुद्ध हैं अथवा नहीं ? ॥३३३॥ तब धर्म आदिके तत्त्वको जाननेवाले सेठने कहा कि सम्यग्दृष्टि सज्जनोंके लिए तो ये चारों ही पुरुषार्थ परस्पर अनुकूल हैं परन्तु मिथ्यादृष्टियोंके लिए अनुकूल नहीं है ॥३३४॥ सेठके इन वचनोंसे राजा बहुत ही सन्तुष्ट हुआ, उसने सेठसे कहा कि 'जो तुम्हें इष्ट हो माँग लो मैं दूँगा' तब सेठने कहा कि मैं जन्म-मरणका क्षय चाहता हूँ ॥३३५॥ इसके उत्तरमें राजाने कहा कि ये दोनों तो मेरे साध्य नहीं हैं तब वैश्यवर सेठने कहा कि अच्छा मुझे छोड़ दीजिए मैं स्वयं उन दोनोंको सिद्ध कर लूँगा ॥३३६॥ यह सुनकर राजाने कहा कि तेरे साथ मैं भी घर छोड़ता परन्तु मेरे पुत्र अभी बालक हैं - छोटे-छोटे हैं इस प्रकार राजा विचार कर ही रहा था कि ॥३३७॥ अचानक उसकी दृष्टि छिपकलीके उन बच्चोंपर पड़ी जो उसी समय विदीर्ण हुए अण्डेसे निकले थे, भूखकी पीड़ासे छटपटा रहे थे और इसलिए ही मक्खियाँ पकड़नेमें तत्पर थे, उन्हें देखकर राजा सोचने लगा कि अपनी-अपनी आजीविकाके उपाय तो सभी जीव बिना किसीके उपदेशके अपने-आप अच्छी तरह जानते हैं इसलिए मुझे अपने छोटे-छोटे पुत्रोंकी चिन्ता करनेसे क्या लाभ है ? यही विचार कर गुणपाल महाराजने वसुपालके लिए विधिपूर्वक राज्य दिया और श्रीपालको पट्ट सहित युवराज बनाया । तदनन्तर

१ प्रस्त-प०, ल० । २ मुख्यः । ३ पुरीम् ल० । ४ विभूतिमान् प०, ल०, इ० । ५ धर्मार्थकाममोक्षाः । ६ ते धर्मादयः । ७ सज्जनेषु । ८ मिथ्यादृष्टिषु । ९ धर्मार्थकाममोक्षस्वरूपवेदी । १० जन्ममरणविनाशो ममेष्टाविति । ११ त्वया सह । १२ तत्क्षणे स्फुटितकोशजातान् । १३ तत् कारणात् ।

गुणालमहाराजः सकुबेरप्रियोऽग्रहीत् । बहुभिर्भुजैः सार्धं तपो यतिवरं श्रितः ॥३४१॥
 श्रेष्ठद्विंशतिफलालोकान्मयाऽव्यग्राहि तद्व्रतम् । तस्मात्त्वं न हतोऽसीति^३ तत्तत्पुत्राव^४ सोऽपि तम्^५ ॥
 इत्युक्त्वा^६ सोऽग्रवीर्यं^७ प्राक् मृणालवतीपुरे । भूत्वा त्वं^८ भवदेवालयो रतिवेगासुकांतयोः ॥३४२॥
 बद्धवैरो^९ निहन्ताऽभूः पाराव्रतभवंऽग्रनु^{१०} । मार्जारः सन्मृतिं^{११} गत्वा पुनः^{१२} खच्चरजन्मनि ॥३४३॥
 विशुचोरस्वमासाद्य सोपसर्गं मृतिं व्यधाः । तत्पापाश्रयके दुःखमनुमूयागतस्ततः ॥३४४॥
 अत्रेयासिलवेद्युक्तं^{१३} व्यक्तवाग् विसरः स्फुटम् । व्यधात् सुधीः स्ववृत्तान्तं भीमसाधुः सुधाशिनोः ।
 त्रिः प्राक् स्वप्नारितायावामिति^{१४} शुद्धिश्चाश्विती^{१५} । जातसद्वर्गसद्भावभावमिवन्मृतिं^{१६} गतौ ॥३४५॥
 इति व्याहृत्य^{१७} हेमाङ्गदानुजेदं^{१८} च साऽग्रवीत्^{१९} । भीमसाधुः पुरे पुण्डरीकिण्यां घातिघातनात् ॥३४६॥
 रत्नं शिवं केशिनां पद्ममङ्गनपूजितः । तस्थिवांस्तं^{२०} तस्मात्पथं चतस्रो देवयोधितः ॥३४७॥
 वन्दित्वा धर्ममाकर्ण्य पापादस्मरतिमृतः । त्रिलोकेशं वदात्माकं पतिः कोऽन्यो भविष्यति ॥३४८॥
 इत्युक्त्वा^{२१} चाह पुरेऽस्मिन्नं^{२२} भोजकः^{२३} । सुरवेद्याह्यस्तस्य वसुषेणा वसुधरा ॥३४९॥

सेठ कुबेरप्रिय तथा अन्य अनेक राजाओंके साथ-साथ मुनिराजके समीप जाकर तप धारण किया ॥३४८-३४९॥ वह चाण्डाल कहने लगा कि सेठके अहिंसा व्रतका फल देखकर मैंने भी अहिंसा व्रत ले लिया था यही कारण है कि मैंने तुम्हें नहीं मारा है यह सुनकर उस विद्युच्चर चोरने भी उसकी बहुत प्रशंसा की ॥३४९॥

इतना कहकर वे भीम मुनि सामने बैठे हुए देव-देवियोंसे फिर कहने लगे कि सर्वज्ञ-देवने मुझसे स्पष्ट अक्षरोंमें कहा है कि 'तू पहले मृणालवती नगरीमें भवदेव नामका वैश्य हुआ था वहाँ तूने रतिवेगा और सुकांतसे वर बाँधकर उन्हें मारा था, मरकर वे दोनों कबूतर-कबू-तरी हुए सो वहाँ भी तूने बिलाव होकर उन दोनोंको मारा था, वे मरकर विद्याधर-विद्याधरी हुए थे सो उन्हें भी तूने विद्युच्चोर होकर उपसर्ग-द्वारा मारा था, उस पापसे तू नरक गया था' और वहाँके दुःख भोगकर वहाँसे निकलकर यह भीम हुआ हूँ । इस प्रकार उन बुद्धिमान् भीम मुनिने सामने बैठे हुए देव-देवियोंके लिए अपना सब वृत्तान्त कहा ॥३४३-३४६॥ जिन्हें आपने पहले तीन बार मारा है वे दोनों हम ही हैं ऐसा कहकर जिनके मन, वचन, काय — तीनों शुद्ध हो गये हैं और जिन्हें सद्धर्मकी सद्भावना उत्पन्न हुई है ऐसे वे दोनों देव-देवी उन भीममुनिकी वन्दना कर अपने स्थानपर चले गये ॥३४७॥

यह कहकर हेमाङ्गकी छोटी बहन सुलोचना फिर कहने लगी कि एक समय पुण्डरी-किणी नगरीके शिवंकर नामके सुन्दर उद्यानमें घातिया कर्म नष्ट करनेसे जिन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है ऐसे भीममुनिराज विराजमान थे, सभी लोग उनकी पूजा कर रहे थे, उसी समय वहाँपर चार देवियोंने आकर उनकी वन्दना की, धर्मका स्वरूप सुना और पूछा कि हे तीन लोकके स्वामी, हम लोगोंके पापसे हमारा पति मर गया है । कहिए — अब दूसरा पति कौन

१ तस्मात् कारणात् । २ एवं तलवरोऽवारीत् । ३ तलवरवचनान्तरम् । ४ स्तीति स्म । ५ विशुचोरः । ६ अहिंसाव्रतम् । तस्मात् त्वं न हतोऽसीति श्लोकस्य सोऽप्येवं प्रत्यपादयदित्यनेन सह संबन्धः । ७ उक्त-प्रकारेण प्रतिपाद्य । स मुनिः पुनरप्यात्मनः सर्वज्ञेन प्रतिपादितनिजवृत्तकं सुरदम्पत्योराह । ८ वक्ष्यमाण-प्रकारेण । ९ पूर्वजन्मनि । १० हे भीममुने, भवान् । ११ घातुकाः । १२ कपोतभवेऽपि मार्जारः सन् तयोर्निहन्ताऽभूति संबन्धः । १३ कृत्वा ल०, अ०, प०, स०, इ० । १४ तद्दम्पत्योर्विद्याधराभवे । खच्चरजन्मनि प०, इ० । १५ सर्वज्ञप्रोक्तम् । १६ हिरण्यवर्मप्रभावतीचरी । १७ मनोवाककायशुद्धिमुक्तौ । १८ भीममुनिम् । १९ उक्त्वा । २० सुलोचना । २१ भीमः साधुः प०, इ०, ल० । २२ आस्तं स्म । २३ भीमकेवली । २४ पुण्डरीकिण्याम् । २५ पालकः ।

धारिणी पृथिवी चेति चतस्रो योधितः प्रियाः । श्रीमती वीतशोकाख्या विमला सवसन्तिका ॥३५२॥
 चतस्रश्चेष्टिकास्तासां सन्धेस्तु वनान्तरे । सर्वा यतिवराभ्यां धर्मं दानादिनाऽऽददुः ॥३५३॥
 तत्फलमाच्युतं कल्पे प्रतीन्द्रस्य प्रियाः क्रमात् । रतिषेणा सुसीमाख्या मुख्याख्या च सुखावती ॥३५४॥
 सुभगेति च देव्यस्ता सूर्य ताश्चेष्टिकाः पुनः । चित्रषेणा क्रमाच्चित्रवेगा धनवती सती ॥३५५॥
 धनश्रीरित्यजायन्त वनवेदेषु^१ कन्यकाः । सुरदेवेऽप्यभून्मृत्वा पिङ्गलः पुररक्षकः^२ ॥३५६॥
 स तत्र निजदोषेण प्रापक्षिगलबन्धनम् । मातुस्तस्य सुरदेवस्य प्राप्ता या राजसूनुताम् ॥३५७॥
 श्रीपालाख्यकुमारस्य ग्रहणे^३ बन्धमोक्षणे । सर्वेषां पिङ्गलाख्योऽपि मुक्तः संन्यस्य संप्रति ॥३५८॥
 भूत्वा बुधविमानेऽसौ^४ इहागत्य भविष्यति । स्वामी युष्माकमित्येतत्तत्त्वेतो हरणं तदा ॥३५९॥
 परमार्थं कृतं तनं^५ तर्थागत्य मुनेर्वचः । पृष्ट्वानु^६ कथ्य^७ काश्चैनमात्मनो^८ भाविनं पतिम् ॥३६०॥
 पूर्वोक्तपिङ्गलाख्यस्य सुनुर्नाम्नाऽतिपिङ्गलः । सोऽपि संन्यस्य युष्माकं^९ रतिदायी भविष्यति ॥३६१॥
 इति तत्प्रोक्तमाकर्ण्य गत्वा^{१०} तत्पूजनाविधौ^{११} । स्वसो निरीक्षणात्^{१२} कामसंमोहप्रकृतं महत् ॥३६२॥
 रतिकूलाभिधानस्य^{१३} संविधानं^{१४} मुनेः श्रुतम् । तत्पितुर्मणिनागादिदत्तस्य प्रकृतं^{१५} तथा ॥३६३॥

होगा ? तब सर्वज्ञ -- भीम मुनिराज कहने लगे कि इसी नगरमें सुरदेव नामका एक राजा था उसकी वसुषेणा, वसुन्धरा, धारिणी और पृथिवी ये चार रानियाँ थीं तथा श्रीमती, वीतशोका, विमला और वसन्तिका ये चार उन रानियोंकी दासियाँ थीं । किसी एक दिन उन सबने वनमें जाकर किन्हीं मुनिराजके समीप दान आदिके द्वारा धर्म करना स्वीकार किया था । उस धर्मके फलसे वे अच्युत स्वर्गमें प्रतीन्द्रकी देवियाँ हुई हैं । क्रमसे उनके नाम इस प्रकार हैं -- रतिषेणा, सुसीमा, सुखावती और सुभगा । वह देवियाँ तुम्हीं सब हो, तथा तुम्हारी दासियाँ चित्रषेणा, चित्रवेगा, धनवती और धनश्री नामकी व्यन्तर देवोंकी कन्याएँ हुई हैं । राजा सुरदेव मरकर पिङ्गल नामका कोतवाल हुआ है और वह अपने ही दोषसे कारागारको प्राप्त हुआ था, सुरदेवकी माता राजाकी पुत्री हुई है और श्रीपालकुमारके साथ उसका विवाह हुआ है । विवाहोत्सवके समय सब कैदी छोड़े गये थे उनमें पिङ्गल भी छूट गया था, अब संन्यास लेकर अच्युत स्वर्गमें उत्पन्न होगा और वही तुम सबका पति होगा ! इधर मुनिराज ऐसे मनोहर वचन कह रहे थे कि उधर पिङ्गल संन्यास धारण कर अच्युत स्वर्गमें उत्पन्न हुआ और वहाँसे आकर उसने मुनिराजके वचन सत्य कर दिखाये । इतनेमें ही चारों व्यन्तर कन्याएँ आकर सर्वज्ञदेवसे अपने होनहार पतिको पूछने लगीं ॥ ३४८--३६० ॥ मुनिराज कहने लगे कि पूर्वोक्त पिङ्गल नामक कोतवालके एक अतिपिङ्गल नामका पुत्र है वही संन्यास धारण कर तुम्हारा पति होगा ॥३६१॥ भीम केवलीके ये वचन सुनकर चारों ही देवियाँ जाकर अतिपिङ्गलकी पूजा करने लगीं, उसे देखनेसे उन देवियोंको कामका अधिक विकार हुआ था ॥३६२॥ उन देवियोंने रतिकूल नामके मुनिका चरित्र सुना, उनके पिता मणिनागदत्तका चरित्र सुना, मुकेतुका

१ स्वीकुर्वन्ति स्म । २ व्यन्तरदेवेषु । ३ तलवरः । ४ विवाहसमये । ५ अच्युतविमानेऽसौ ६०, ५०, ८० । बुधविमानेशः, इत्यपि पाठः । बुधविमानाधिपतिः । ६ स्वामी युष्माकमित्यसौ चाहेत्यनेन सह संबन्धः । ७ पिङ्गलचरदेवेन । ८ केवत्युक्तप्रकारेण (क्रमेण) । ९ सर्वज्ञस्य । १० अनन्तरम् । ११ व्यन्तरकन्याः । १२ भीमकेवलिनम् । १३ पुरुषः । १४ अतिपिङ्गलस्य समीपं प्राप्य । १५ अतिपिङ्गलस्य परिचर्याविधौ । १६ चित्रसेनादिव्यन्तरकन्यकानाम् । तासाम् ८०, ५०, ८० । १७ कामसंमोहेन प्रकर्षेण कृतम् । १८ रतिकूलाभिधानस्य पुरुषस्य । १९ व्यापारम् । २० भीमकेवलिनः सकाशात् । २१ आकर्णितम् । २२ रतिकूलस्य जनकस्य । २३ चेष्टितम् ।

^१सुकेतोश्चाखिलं तस्मिन्सत्यभूते^२ मुनीश्वरम् । ताः सर्वाः परितोषेण गताः समभिवन्द्य तम् ॥३६४॥
आत्रामपि^३ तदा वन्दनाय सद्य गताविदम् । श्रुत्वा दृष्ट्वा गतौ प्रीतिपरीतहृदयौ दिवम् ॥३६५॥

शार्दूलविक्रीडितम्

हृत्पाथमीयभवावलीमनुगतैर्मान्यैर्मनोरजनैः

स्पष्टैरस्त्रकितैः^४ कलैरविरलैरप्याकुलैर्जल्पितैः^५ ।

आत्मोपात्तशुभाशुभोदयवशोद्भूतोऽयमीचस्थिति^६

संसर्पद्दशानांशुभूषितसभासभ्यान्^७ सावभ्यभार्त् ॥३६६॥

श्रुत्वा तां हृदयप्रियोक्तिमतुषस्कान्तो^८ रतान्ते यथा

संसच्च^९ व्यक्तसत्तरां शरदि वा लक्ष्मीः सद्यसंश्रया ।

कान्तानां^{१०} वदनेनदुष्कान्तिरगलतद्वाग्दिनेशोद्गते^{११}

रस्थाने कृतमत्सरोऽसुखकरस्या^{१२} ज्यस्ततोऽसौ^{१३} शुभैः ॥३६७॥

कान्तोऽसौ रतिवेणया रतिवरो मेहे कपोतो विशाम्^{१४} ।

संजातो रतिवेणया रतिवरो मेहे कपोतो विशाम्^{१५} ।

चरित्र सुना और सबके सत्य सिद्ध होनेपर बड़े सन्तोषके साथ मुनिराजकी वन्दना कर अपने-अपने स्थानोंकी ओर प्रस्थान किया ॥३६३-३६४॥ उस समय हम दोनों भी मुनिराजकी वन्दना करनेके लिए बहाँ गये और यह सब देख-सुनकर प्रसन्नचित्त होते हुए स्वर्ग चले गये थे ॥३६५॥

इस प्रकार अपने द्वारा उपार्जन किये हुए शुभ-अशुभ कर्मोंके उदयवश जिसे ऊँची-नीची अवस्था प्राप्त हुई और जिसने अपने दाँतोंकी फैलती हुई किरणोंसे समस्त सभाको सुशोभित कर दिया है ऐसी सुलोचनाने सब सभासदोंको क्रमबद्ध मान्य, मनोहर, स्पष्ट, अस्त्रकित, मधुर, अविरल और आकुलतारहित वचनों-द्वारा अपने पूर्वभवकी परम्परा कह सुनायी ॥३६६॥

हृदयको प्रिय लगनेवाले सुलोचनाके वचन सुनकर जयकुमार उस प्रकार सन्तुष्ट हुए जिस प्रकार कि सम्भोगके बादमें सन्तुष्ट होते । वह सभा उस तरह विकसित हो उठी जिस तरह कि शरदऋतुमें सरोवरकी शोभा विकसित हो उठती है । और सुलोचनाके वचनरूपी सूर्यके उदय होनेसे अन्य स्त्रियोंके मुखरूपी चन्द्रमाओंकी कान्ति नष्ट हो गयी थी सो ठीक ही है क्योंकि अयोग्य स्थानपर की हुई ईर्ष्या दुःखी करनेवाली होती है इसलिए विद्वानोंको ऐसी ईर्ष्या अवश्य ही छोड़ देनी चाहिए ॥३६७॥ सुलोचनाने जयकुमारसे कहा कि मैं पहले रतिवेगा थी और आप मेरे ही साथ मेरे पति सुकान्त वैश्य हुए, फिर मैं सेठके घर रतिवेणा कबूतरि हुई और आप मेरे ही साथ रतिवर नामक कबूतर हुए, फिर मैं प्रभावती विद्याधरी हुई और आप मेरे ही साथ हिरण्यवर्मा विद्याधर हुए उसके बाद मैं स्वर्गमें महादेवी हुई और आप मेरे ही साथ अतिशाय

१ मृणालवतीपुरपतेः सुकेतोरपि ज्यैष्ठितं मुनेः सकाशाच्चश्रुतमिति संबन्धः । एतत् कथाश्रयं ग्रन्थान्तरे द्रष्टव्यम् ।

२ सत्योभूते ल०, १०, ६०, स० । ३ प्रभावतीचरीहिरण्यवर्मचरमुरदम्पती । ४ सुन्दरैः । ५ सम्पूर्णैः ।

६ स्थितिः ल० । ७ सुलोचना । ८ उवाच । ९ जयः । १० सभा च । ११ जयस्य श्रीमतीशिवशङ्करादिविषयताम् ।

१२ सुलोचनावचनादित्योदये सति । १३ दुःखकरः । १४ मत्सरः । १५ वैश्यानाम् ।

व्याप्तप्रभयाऽभक्त्यगपतिर्वर्मा हिरण्यादिवाक्^३

देवः कल्पगतो मया^४ सह महादेव्याऽजनीडयो ममान् ॥३६८॥

मालिनी

सकलमधिकलं तत्सप्रपञ्चं रमण्या

सुखकमलरसाक्तं^५ श्रोत्रपात्रे निधाय ।

तदुदितमपरं च श्रोतुकामो जयोऽभू-

त् ॥ रसिकदयितोक्तैः कामुकास्तृणुषन्ति ॥३६९॥

इत्याषे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे जयसुलोचना-
भवान्तरवर्णनं नाम षट्चत्वारिंशत्तमं पर्व ॥३६॥

आर्यसंस्कृत-भाषा-में श्री सुलोचनासंग्रह-में श्री भगवद्गुण

पूज्य देव हुए ॥३६८॥ इस प्रकार जयकुमार प्रियाके सुखरूपी कमलके रससे भोगे हुए मनोहर, पूर्ण और विस्तारयुक्त वचनोंको अपने कर्णरूपी पात्रमें रखकर उसके द्वारा कहे हुए अन्य वृत्तान्तको सुननेकी इच्छा करने लगा सो ठीक ही है क्योंकि कामी पुरुष स्त्रियोंके रसीले वचनोंसे कभी तृप्त नहीं होते हैं ॥३६९॥

इस प्रकार आर्यनामसे प्रसिद्ध भगवद्गुणभद्राचार्य विरचित त्रिषष्टिलक्षण
महापुराण संग्रहके हिन्दी भाषानुवादमें जयकुमार और सुलोचनाके
भवान्तर वर्णन करनेवाला छियालीसवां पर्व समाप्त हुआ ।

सप्तचत्वारिंशत्तमं पर्व

कान्ते तत्रान्यदप्यस्ति प्रस्तुतं स्मर्यते त्वया । श्रीपालचक्रिसंयन्धमित्यप्राक्षीत् स तां पुनः ॥१॥
 बाहं स्मरामि सौभाग्यभागिनस्तस्य वृत्तकम् । तवैवाद्येक्षितं वेति सा प्रवक्तुं प्रचक्रमे ॥२॥
 जम्बूद्वीपे विदेहेऽस्मिन् पूर्वस्मिन्पुण्डरीकिणी । नगरी नगरीवासो वासवस्यातिविश्रुता ॥३॥
 जननी वसुपालस्य कुबेरश्रीर्दिनेऽभ्यधा । वनपाले समागत्य केवलावगमोऽभवत् ॥४॥
 गुणपालमुनीशोऽस्मत्पतेः सुरगिराधिति । निवेदितवति क्वाप्त्वा पुरः सप्तपदान्तरम् ॥५॥
 प्रणम्य वनपालाय दत्वाऽसौ पारितोषिकम् । पौराः सपर्यया सर्वेऽध्याययुरिति घोषणाम् ॥६॥
 विधाय प्राक् स्वयं प्राप्य भगवन्तमवन्दत् । श्रीपालवसुपालौ च ततोऽनु समुद्रौ गतौ ॥७॥
 प्रमदाख्यं वनं प्राप्य सद्गुप्तैरन्यमस्तरे । प्रागजगत्पालचक्रेशो यस्मिन्मयोध^१पादपे ॥८॥
 देवताप्रतिमालक्ष्ये स्थित्वा जग्राह संयमम् । तस्याधस्तात्^२ समीक्ष्येक्ष्यं^३ प्रवृत्तां नृत्यमादरात् १०
 तथोः^४ कुमारः श्रीपालः पुरुषो नर्तयत्पयम् । अस्तु^५ स्त्रीवेषधारयन् स्त्री वेषरूपधारिणी ॥९॥
 स्यादेव स्त्री प्रनृत्यन्ती नृत्तं धुक्मिदं भवेत् । इत्याह तद्वचः श्रुत्वा नटी मूर्च्छामुपागता ॥१०॥

यह सुनकर जयकुमारने सुलोचनासे फिर पूछा कि हे प्रिये, इस कही हुई कथामें श्रीपाल चक्रवर्तीसे सम्बन्ध रखनेवाली एक कथा और भी है, वह तुझे याद है या नहीं ? सुलोचनाने कहा हाँ, सौभाग्यशाली श्रीपाल चक्रवर्तीकी कथा तो मुझे ऐसी याद है मानो मैंने आज ही देखी हो, यह कहकर वह उसकी कथा कहने लगी ॥१-२॥ इस जम्बू द्वीपके पूर्व विदेह क्षेत्रमें एक पुण्डरीकिणी नामकी नगरी है जो कि इन्द्रकी नगरी-अमरावतीके समान अत्यन्त प्रसिद्ध है ॥३॥ सूर्य और चन्द्रमा अथवा नय और पराक्रमके समान श्रीपाल और वसुपाल नामके दो भाई समस्त पृथिवीको जीतकर साथ ही साथ उसका पालन करते थे ॥४॥ किसी एक दिन मालीने आकर वसुपालकी माता कुबेरश्रीसे कहा कि सुरगिरि नामक पर्वतपर आपके स्वामी गुणपाल मुनिराजको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है, यह सुनकर उसने सामने सात पैँड चलकर नमस्कार किया, मालीको पारितोषिक दिया और नगरमें घोषणा करायी कि सब लोग पूजाकी सामग्री साथ लेकर भगवान्‌के दर्शन करनेके लिए चलें, उसने स्वयं सबसे पहले जाकर भगवान्‌की वन्दना की । माताके पीछे ही श्रीपाल और वसुपाल भी बड़ी प्रसन्नतासे चले ॥५-६॥ मार्गमें वे एक उत्तम वनमें पहुँचे जो कि अच्छे-अच्छे वृक्षोंसे सुन्दर था और जिसमें देवताकी प्रतिमासे युक्त किसी बट वृक्षके नीचे खड़े होकर महाराज जगत्पाल चक्रवर्तीने संयम धारण किया था । उसी वृक्षके नीचे एक दर्शनीय नृत्य हो रहा था, उसे दोनों भाई बड़े आदरसे देखने लगे ॥७-१०॥ देखते-देखते कुमार श्रीपालने कहा कि यह स्त्रीका वेष धारण कर पुरुष नाच रहा है और पुरुषका रूप धारण कर स्त्री नाच रही है । यदि यह स्त्री स्त्रीके ही वेषमें नृत्य करती तो बहुत ही अच्छा नृत्य होता । श्रीपालकी यह बात सुनकर नटी मूर्च्छित

१ तत्रैवा-अ०, स० । यथैवा-ल०, प०, इ० । २ प्रत्यक्षं दृष्टमिव । ३ चितौ ट० । संयोजितौ । ४ अवारक्ष-
 ताम् । ५ मुनीशस्य । ६ सुरगिरिनाम्नि पर्वते । ७ कुबेरश्रीः । ८ पूजया । ९ आगच्छेयुः । १० शुभवृक्षः ।
 ११ बट । 'न्यग्रोधो बहुपाद् बटः' इत्यभिधानात् । १२ बटस्य । १३ आलोच्य । १४ दर्शनीयम् । १५ वसु-
 पालश्रीपालयोः । १६ वेत् ।

उपायैः प्रतिबोधयन्तां तदा प्रश्रयपूर्वकम् । इति विज्ञापयामास काचिनं भाविष्यकिणम् ॥१३॥
 सुरभ्यविषये श्रीपुराधिपः श्रीधराह्वयः । तद्देवी श्रीमती तस्याः सुता जयवतीस्त्रभूम् ॥१४॥
 तज्जातौ^१ चक्रिणी देवी भाविनीत्यादिशन्निदः^२ । अभिज्ञानं च तस्यैतत् नटनट्योविवेति^३ यः ॥१५॥
 भेदं य चक्रवर्तीति सत्परीक्षितुमागताः । पुष्पाद् दृष्टस्त्वमस्माभिर्निधिवत्सपो यदृच्छया ॥१६॥
 अहं प्रियरतिर्नामा^४ सुनेयं नर्तकी मम । ज्ञेया भदनवेगाख्या पुरुषाकारधारिणी ॥१७॥
 नटोऽयं वासवो नाम ख्यातः स्त्रीवेषधारकः । तरङ्गुत्वा नृपतिस्तुष्टा तां जनार्थं यथोचितम् ॥१८॥
 गुरुं वन्दितुमात्मीयं गच्छन् सुरगिरिं ततः^५ । अत्र केनचिदातीतमाख्यामन्तरेण ॥१९॥
^६अभावयदसौ^७ किञ्चिदन्तरं धरणीतले । गत्वा गगनमारुह्य व्यक्तीकृतम्यगाकृतिः^८ ॥२०॥
 न्यग्रोधपादुपाङ्गस्थप्रतिमावामिना भृशम् । देवेन नर्तितो भीत्वाऽऽशनिवेगोऽमुचत् खगः ॥२१॥
 कुमारं पर्णलघुविद्यायां स्वमियुक्तया । रत्नावर्तगिरेर्मूर्ध्नि स्थितं तं सन्ति भाविनः ॥२२॥
 बहवोऽप्यस्य लम्भा इत्यग्रहीत्वा निवृत्तवान् । देवः सरसि कस्मिंश्चित् स्नानादिविधिना श्रमम् ॥२३॥
 मार्गजं स्थितमुद्गम्य तमेकस्मान् सुधागृहान् । आगत्य राजपुत्रोऽयमिति ज्ञात्वा यथोचितम् ॥२४॥
 दृष्ट्वा ध्वराजकन्यास्ताः स्ववृत्तान्तं न्यवेदयन् । स्वगोत्रकुलनामादि निर्दिश्य स्वचरोजिना ॥२५॥
 चलादशनिवेगेन वयमस्मिन्निवेशिताः । इति तत्प्रोक्तमाकर्ण्य कुमारस्यानुकम्पिनः ॥२६॥

हो गयी ॥११-१२॥ उसी समय अनेक उपायोसे नटीको सचेत कर कोई स्त्री उस होनहार चक्रवर्ती श्रीपालसे विनयपूर्वक इस प्रकार कहने लगी ॥१३॥ कि सुरभ्य देशके श्रीपुर नगरके राजाका नाम श्रीधर है उसकी रानीका नाम श्रीमती है और उसके जयवती नामकी पुत्री है ॥१४॥ उसके जन्मके समय ही निमित्तज्ञानिजोने कहा था कि यह चक्रवर्तीकी पट्टरानी होगी और उस चक्रवर्तीकी पहचान यही है कि जो नट और नटीके भेदको जानता हो वही चक्रवर्ती है, हम लोग उसीकी परीक्षा करनेके लिए आये हैं, पुण्योदयसे हम लोगोंने निधिके समान इच्छानुसार आपके दर्शन किये हैं ॥१५-१६॥ मेरा नाम प्रियरति है, यह पुष्पका आकार धारण कर नृत्य करनेवाली भदनवेगा नामकी मेरी पुत्री है और स्त्रीका वेष धारण करनेवाला यह वासव नामका नट है । यह सुनकर राजाने सन्तुष्ट होकर उस स्त्रीको योग्यतानुसार सन्तोषित किया और स्वयं अपने पिताकी वन्दना करनेके लिए सुरगिरि नामक पर्वतकी ओर चला, मार्गमें कोई पुरुष घोड़ा लाया उसपर आसक्तचित्त हो श्रीपालने सवारी की और दौड़ाया । कुछ दूर तक तो वह घोड़ा पृथिवीपर दौड़ाया परन्तु फिर अपना विद्याधरका आकार प्रकट कर उसे आकाशमें ले उड़ा । उस बट वृक्षके नीचे स्थित प्रतिमाके समीप रहनेवाले देवने उस विद्याधरको ललकारा, देवकी ललकारसे डरे हुए अशनिवेग नामके विद्याधरने अपनी भेजो हुई पर्णलघु विद्यासे उस कुमार श्रीपालको रत्नावर्त नामके पर्वतके शिखरपर छोड़ दिया । देवने देखा कि उस पर्वतपर रहकर ही उसे बहुत लाभ होनेवाला है इसलिए वह कुमारको साथ लिये बिना ही लौट गया । कुमार भी किसी तालाबमें स्नान आदि कर मार्गमें उत्पन्न हुए परिश्रमको दूर कर बैठे ही थे कि इतनेमें एक सकेद महलसे छह राजकन्याएँ निकलकर आयीं और कुमारको 'यह राजाका पुत्र है' ऐसा समझकर यथायोग्य रीतिसे दर्शन कर अपना समाचार निवेदन करने लगीं । उन्होंने अपने गोत्र-कुल और नाम आदि बतलाकर कहा कि 'अशनिवेग नामके विद्याधरने हम लोगोंको यहाँ जबरदस्ती लाकर पटक दिया है' कन्याओंकी यह बात

१ जयवत्या जननसमये । २ विद्वांसः ३ परिचायकं चित्तम् । ४ विशेषेण जानाति ।
 ५ नाम्ना ल०, अ०, प०, स०, इ० । ६ घनात् (प्रमथवनात्) । ७ गमयति स्म । ८ मायावः ।
 ९ विद्याधराकारः ।

निजागमनवृत्तान्तकथनावसरे परा । विद्युद्वेगाभिधा विद्याधरी तत्र समागता ॥२७॥
 पापिनाऽशनिवेगेन हन्तुमेनं^१ प्रयोजिता । समीक्ष्य मदनाक्रान्ताऽभूच्चित्राच्चित्तधृत्तयः ॥२८॥
 मृतुः स्तनितवेगस्य राज्ञो राजपुत्रंशितुः^२ । खगेशोऽशनिवेगाख्यो^३ ज्योतिर्वेगाख्यमातृकः ॥२९॥
 त्वमत्र तेन सौहार्दादानीतः स ममाग्रजः । विद्युद्वेगाह्वयाऽहं च प्रेषिता ते स मैथुनः ॥३०॥
 रत्नावर्तगिरिं याति स्थितस्तत्रेति सादरम् । भवत्समीपं प्राप्तेवमिति रक्तविषेष्टितम् ॥३१॥
 दर्शयन्ती समीपस्थं यावत् सौधगृहान्तरम् । इत्युक्त्वाऽनमिलार्धं च ज्ञात्वा तस्य महात्मनः ॥३२॥
 तत्रैव विषया सौधगोहं निर्माप्य निरुप्रा । स्थिता तत्राजकन्याभिः सह का कामिनां त्रया ॥३३॥
 पृथानङ्गपताकाऽस्या^४ स्तं मर्त्यात्समबोधत^५ । स्वयितुर्गुणपालस्य सन्निधाने जिनेशिनः^६ ॥३४॥
 ज्योतिर्वेगागुरुं प्रीत्या कुबेरश्रीः समादिशत् । निजजामातरं^७ कापि श्रीपालस्वामिनं मम ॥३५॥
 स्वयं स्तनितवेगोऽसौ सुतमन्वेषयेदिति । प्रतिपन्नः स^८ तत्प्रोक्तं भवन्तं मैथुनस्तथ ॥३६॥
 आनीतवानि हेत्येतद्वद्व्यात्मनो द्विषम् । पतिं मत्सोत्तरश्रेणोराशङ्क्यान्लवेगकम् ॥३७॥
 स्वयं तदा समालोच्य निवार्य खचराधिपम्^९ । उद्गीयन्वेषणोपायं स्वस्नेहाहितचेतसः ॥३८॥
 आनीयतां प्रयत्नेन कुमार इति बाणधन्वाः । आवां प्रियसकाशं ते प्राह्वैपुस्तं^{१०} दिहागते ॥३९॥

मुनकर कुमारको उनपर दया आयी और वह भी अपने आनेका वृत्तान्त कहनेके लिए उद्यत हुआ । वह जिस समय अपने आनेका समाचार कह रहा था उसी समय विद्युद्वेगा नामकी एक दूसरी विद्याधरी वहाँ आयी । पापी अशनिवेगने कुमारको मारनेके लिए इसे भेजा था परन्तु वह कुमारको देखकर कामसे पीड़ित हो गयी थी ठीक ही है क्योंकि चित्तकी वृत्ति विचित्र होती है ॥१७-२८॥ वह कहने लगी कि अशनिवेग नामका विद्याधर राजपुरके स्वामी राजा स्तनितवेगका पुत्र है, उसकी माताका नाम ज्योतिर्वेगा है ॥२९॥ वह अशनिवेग मित्रताके कारण आपको यहाँ लाया है, वह मेरा बड़ा भाई है, मेरा नाम विद्युद्वेगा है और उसीने मुझे आपके पास भेजा है, अब वह आपका साला होता है ॥३०॥ उसने मुझसे कहा था कि तू रत्नावर्त पर्वतपर जा, वे वहाँ विराजमान हैं इसलिए ही मैं आदर सहित आपके पास आयी हूँ ऐसा कहकर उसने रागपूर्ण चेष्टाएँ दिखलायीं और कहा कि यह समीप ही जूनेका बना हुआ पक्का मकान है परन्तु इतना कहनेपर भी जब उसने उन महात्माकी इच्छा नहीं देखी तब वहींपर विद्याके द्वारा मकान बना लिया और निर्लज्ज होकर उन्हीं राजकन्याओंके साथ बैठ गयी सो ठीक ही है क्योंकि कामी पुरुषोंको लज्जा कहाँसे हो सकती है ? ॥३१-३३॥ इतनेमें विद्युद्वेगाकी सखी अनङ्गपताका आकर कुमारसे इस प्रकार कहने लगी कि 'आपकी माता कुबेरश्री आपके पिता श्रीगुणपाल जिनेन्द्रके समीप गयी हुई थी वहाँ उसने बड़े प्रेमसे ज्योतिर्वेगाके पितासे कहा कि मेरा पुत्र श्रीपाल कहीं गया है उसे ले आओ । ज्योतिर्वेगाके पिताने अपने जामाता स्तनितवेगसे कहा कि मेरे स्वामी श्रीपाल कहीं गये हैं उन्हें ले आओ । स्तनितवेगने स्वयं अपने पुत्र अशनिवेगको भेजा, पिताके कहनेसे ही अशनिवेग आपको यहाँ लाया है, वह आपका साला है । उत्तरश्रेणीका राजा अनलवेग इनका शत्रु है उसकी आशंका कर तुम्हारे स्नेहसे जिनका चित्त भर रहा है ऐसे सब भाई-बन्धुओंने स्वयं विचारकर आपके खोजनेका उपाय बतलाया और कहा कि कुमारको बड़े प्रयत्नसे यहाँ लाया जाय । वे सब विद्याधरोंके अधिपति अनलवेगको रोकनेके लिए गये हैं और हम दोनोंको आपके पास भेजा है । यहाँ आनेपर यह विद्युद्वेगा

१ श्रीपालम् । २ पुरेशिनः अ०, प०, स०, ल० । ३ ज्योतिर्वेगाख्या माता यस्यासौ । ४ विद्युद्वेगायाः । ५ श्रीपालम् । ६ जिनेशिनः ल०, प०, । ७ अशनिवेगस्य मातुर्ज्योतिर्वेगायाः पितरम् कुबेरश्रीः समादिशदिति संबन्धः । ८ स्तनितवेगजामातरम् । ९ ज्योतिर्वेगापिता । १० अशनिवेगम् । ११ तत्कारणात् ।

विद्युद्वेगाऽवलोक्य स्वामनुरक्तऽभवावया । न त्वाजयेति तदाकर्ण्य^१ स विचिन्त्योचितं वचः ॥४०॥
 मथोपनयनेऽग्राहिं^२ मतं गुरुभिरर्पितम् । मुक्त्वा गुरुजनानीतां स्वीकरोमि न आपराम्^३ ॥४१॥
 इत्यवोचत्तस्ताश्च शृङ्गाररसचैष्टितैः । नानाविधै रजयितुं प्रवृत्ता नाशकंस्तदा^४ ॥४२॥
 विद्युद्वेगा ततोऽगच्छन् स्वमानुषित्संनिधौ । पिधाय द्वारमारोप्य सौधामं प्राणवल्लभम् ॥४३॥
 तावानेतुं^५ कुमारोऽपि सुखवान् रक्तकम्बलम् । प्राधुर्यं तं समालोक्य भेरुण्डः^६ पिशितोच्चयम्^७ ॥४४॥
 मत्वा नीत्वा द्विजः^८ सिद्धकूटप्रेखावितुं स्थितः । कलन्तं वीक्ष्य^९ सोऽस्याक्षीत् स^{१०} तेषां^{११} जातिजो गुणः ४५
 ततोऽवतीर्थ श्रीपालः स्नान्वा सरसि भक्तिमान्^{१२} । सुगन्धौलि सुगन्धीनि सभादधि जिनालयम् ॥४६॥
 परीत्य स्तानुमारोभे विवृत्तं^{१३} द्वास्तवा^{१४} स्वयम् । तस्मिन् विषयं प्रसन्नस्वप्नभ्यर्च्य जिनपुंगवान् ॥४७॥
 अमित्रं च यथाकामं विधिवत्तत्र सुस्थितः । तमभ्येत्य स्वगः कश्चित् समुद्धृत्य नमःपथे ॥४८॥
 गच्छन्मनोरमे राष्ट्रे शिवंकरपुरेशिनः । नृपस्यानिपवेगस्य कान्ता कान्तवतीत्यभूत् ॥४९॥
 तयोः सुतां भोगवतीमाकाशस्फटिकालये । मृदुशय्यावले सुतां का कुमारीयमित्यसौ^{१५} ॥५०॥
 अपृच्छत्^{१६} सोऽभवीदेषा भुजंगी विषमेति च । तदुक्तेः^{१७} स क्रुधा कृत्वा कन्यापितृसमीपगम्^{१८} ॥५१॥

आपको देखकर आपमें अत्यन्त अनुरक्त हो गयी है अतः आपको यह छोड़नी नहीं चाहिए । कुमारने ये सब बातें सुनकर और अच्छी तरह विचारकर उचित उत्तर दिया कि मैंने यज्ञोपवीत संस्कारके समय गुरुजनोंके द्वारा दिया हुआ एक व्रत ग्रहण किया था और वह यह है कि मैं माता-पिता आदि गुरुजनोंके द्वारा दी हुई कन्याको छोड़कर और किसी कन्याको स्वीकार नहीं करूँगा । जब कुमारने यह उत्तर दिया तब वे सब कन्याएँ अनेक प्रकारकी शृंगाररसकी चेष्टाओंसे कुमारको अनुरक्त करनेके लिए तैयार हुई परन्तु जब उसे अनुरक्त नहीं कर सकीं तब विद्युद्वेगा प्राणपति श्रीपालको मकानकी छतपर छोड़कर और बाहरसे दरवाजा बन्द कर माता-पिताको बुलानेके लिए उनके पास गयी । इधर कुमार श्रीपाल भी लाल कम्बल ओढ़कर सो गये, इतनेमें एक भेरुण्ड पक्षीकी दृष्टि उनपर पड़ी, वह उन्हें मांसका पिण्ड समझकर उठा ले गया और सिद्धकूट-चैत्यालयके अग्रभागपर रखकर खानेके लिए तैयार हुआ परन्तु कुमारको हिलता-डुलता देखकर उसने उन्हें छोड़ दिया सो ठोक ही है क्योंकि यह उन पक्षियोंका जन्मजात गुण है ॥३४-४५॥ तदनन्तर श्रीपालने सिद्धकूटके शिखरसे नीचे उतरकर सरोवरमें स्नान किया और अच्छे-अच्छे सुगन्धित फूल लेकर भक्तिपूर्वक श्री जिनालयकी प्रदक्षिणा दी और स्तुति करना प्रारम्भ किया, उसी समय चैत्यालयका द्वार अपने-आप खुल गया, यह देखकर वह बहुत ही प्रसन्न हुआ और विधिपूर्वक इच्छानुसार श्रीजिनेन्द्रदेवकी पूजा-वन्दना कर सुखसे वहीपर बैठ गया । इतनेमें ही एक विद्याधर सामने आया और कुमारको उठाकर आकाश-मार्गमें ले चला, चलते-चलते वे मनोरम देशके शिवंकरपुर नगरमें पहुँचे, वहाँके राजाका नाम अनिलवेग था, और उसकी स्त्रीका नाम था कान्तवती, उन दोनोंके भोगवती नामकी पुत्री थी, वह भोगवती आकाशमें बने हुए स्फटिकके महलमें कोमल शय्यापर सो रही थी उसे देखकर उस विद्याधरने श्रीपालकुमारसे पूछा कि यह कुमारी कौन है ? कुमारने उत्तर दिया कि

१ संविचि-ल०, प०, अ० । २ स्वीकृतः । ३ कन्यकाजननीजनकानुमतेन दत्ताम् । ४ संरक्षताम् । ५ शक्ताः न बभूवुः । ६ रत्नाकर्तृगिरेः । ७ निजमातापितरौ । ८ प्रच्छाद्य । ९ पक्षिविशेषः । १० मांसपिण्डम् । ११ भेरुण्डः । १२ मुमोच । १३ सजीवस्य त्यागः । १४ पक्षिणाम् । १५ सिद्धकूटप्रात् । १६ उद्धाटितम् । १७ द्वारम् । १८ विद्याधरः । १९ श्रीपालः । २० श्रीपालवचनात् । २१ भोगवतीजनकस्य समीपस्थं कृत्वा तेन अनिलवेगेन सह विद्याधरो वदति । किमिति ? अस्मत्कन्यकां भोगवतीमेव खलः श्रीपालः विषमभुजंगीति अकवीदिति ।

तमस्मत्कन्यकामेष भुजंगीति खलोऽब्रवीत् ।^१ इत्यवोचततः^२ क्रुद्धा दुर्धो निक्षिप्यतामयम्^३ ॥५२॥
 दुर्द्धरोस्तपोभारधारियोग्ये घने वने । इत्यभ्यधातृपस्तस्य वचनानुगमादसौ^४ ॥५३॥
 विजयाद्धौत्तरश्रेणिसनोहरपुरास्तिके । स्मशाने शीतवैतालविद्याया तं^५ शुमाकृतिम् ॥५४॥
 कृत्वा व्यस्यक्षिपत् पापी जरतीरुपधारिणम् । तत्रास्पृश्यकुले जाता काऽपि जामातरं स्वयम् ॥५५॥
 स्वं ग्राममृगरूपेण स्त्रसुताचरणद्वये । समस्ताल्लुठितं कृत्वा तां प्रसाद्य^६ भृशं ततः ॥५६॥
^७ तं पुरातनरूपेण समवस्थापयत् खला ।^८ तद्विलोप्य कुमारोऽसौ खगाः खामिमसाकृतिम् ॥५७॥
^९ निनिवर्तयितुं रुक्मा इत्याशङ्क्य विचिन्तयन् ।^{१०} यमाप्रयायिसंकाशकाशप्रसंबहासिनिः^{११} ॥५८॥
 शिरोरुहैर्जराभोधितरङ्गाभतनुत्वया^{१२} । समेतमात्मनो रूपं दृष्ट्वा दुष्टविभावितम्^{१३} ॥५९॥
 लज्जाशोकाभिभूतः सन् मङ्गलु गच्छेत्ततः परम्^{१४} । तत्र^{१५} भोगवती^{१६} भ्रातुर्हरिकेतोः सुसिद्धया ॥६०॥
 वियया हावरूपेण सद्यः प्रार्थितया करे । कुमारस्य^{१७} समुद्रज्य^{१८} निर्वाण्तमविचारयन् ॥६१॥
 उद्धत्येदं विशङ्कस्त्वं पिबेत्सुक्तं प्रपीतवान्^{१९} ।^{२०} तं दृष्ट्वा हरिकेतुस्त्वां सर्वभ्याधिविनाशिनी ॥६२॥
 विद्याश्रितेति संग्रीतः प्रयुज्य वचनं गतः । ततः स्वरूपमापन्नः^{२१} कुमारो वटभूकः^{२२} ॥६३॥
 गच्छन् स्थितमधोभागे दृष्ट्वा कंचिन्नमश्रमम् । प्रदेशः कोऽयमित्येतदपृच्छत्^{२३} सोऽब्रवीदिदम् ॥६४॥

यह विषम सर्पिणी है । श्रीपालक^१ ऐसा कहनेपर वह विद्याधर क्रुद्ध होकर उस कन्याके पिताके पास ले गया और कहने लगा कि यह दुष्ट हम लोगोंकी कन्याको सर्पिणी कह रहा है । यह सुनकर कन्याके पिताने भी क्रुद्ध होकर कहा कि 'इस दुष्टको कठिन तपका भार धारण करनेके योग्य किसी सघन वनमें छोड़वा दो ।' राजाके अनुसार, उस पापी विद्याधरने शीत-वैताली विद्याके द्वारा सुन्दर आकारवाले श्रीपालकुमारको वृद्धका रूप धारण करनेवाला बनाकर विजयाध पर्वतकी उत्तर श्रेणिके मनोहर नगरके समीपवाले स्मशानमें पटक दिया । वहाँ अस्पृश्य कुलमें उत्पन्न हुई किसी स्त्रीने अपने जमाईको कुत्ता बनाकर अपनी पुत्रीके दोनों चरणोंपर खूब लोटाया और इस तरह अपनी पुत्रीको अत्यन्त प्रसन्न कर फिर उस दुष्टा चाण्डालिनीने उसका पुराना रूप कर दिया । यह देखकर कुमार कुछ भयभीत हो चिन्ता करने लगा कि ये विद्याधर लोग इच्छानुसार रूप बनानेमें समर्थ हैं । उस समय वह मानो यमराजके सामने जानेवालेके समान ही था — अत्यन्त वृद्ध था, उसके बाल काशके फूले हुए फूलोंकी हैसी कर रहे थे, और शरीरमें बुढ़ापा रूपी समुद्रकी तरंगोंके समान सिकुड़नें उठ रही थीं । इस प्रकार दुष्ट विद्याधरके द्वारा किया हुआ अपना रूप देखकर वह लज्जा और शोकसे दब रहा था । इसी अवस्थामें वह शीघ्र ही आगे चला । वहाँ भोगवती^{१६} के भाई हरिकेतुको विद्या सिद्ध हुई थी उससे उसने प्रार्थना की तब विद्याने मुरदेका रूप धारण कर श्रीपाल कुमारके हाथपर कुछ उगल दिया और कहा कि तू बिना किसी विचारके निशंक हो इसे उठाकर पी जा, कुमार भी उसे शीघ्र ही पी गया । यह देखकर हरिकेतुने कुमारसे कहा कि तुझे सर्वभ्याधिविनाशिनी विद्या प्राप्त हुई है, यह कहकर और विद्या देकर हरिकेतु प्रसन्न होता हुआ वहाँ चला गया । इधर कुमार भी अपने असली रूपको प्राप्त हो गया । कुमार आगे बढ़ा तो उसने एक वट वृक्षके

१ इत्युवाच ततः क्रुद्धा दुष्टो अ०, प०, इ०, स०, ल० । २ तद्वचनाकर्णनान्तरम् । ३ अनिलवेगः प्रकुप्य । ४ श्रीपालः । ५ खगः । ६ श्रीपालम् । ७ स्मशाने । ८ सारमेयरूपेण । ९ प्रसन्नतां नीत्वा । १० जामातरम् । ११ मायास्वरूपम् । १२ विनिर्मातुम् । १३ कृतान्तस्य पुरोगामिसदृशः । १४ हरिभिः क० । १५ जराम्भो-धेस्तरङ्गाभ इत्यपि पाठः । १६ दुष्टविद्याधरेण समुत्पादितम् । १७ तस्मादन्यप्रदेशम् । १८ स्मशाने । १९ पूर्वोक्तभोगवतीकन्याप्रसन्नस्य । २० श्रीपालकुमारस्य । २१ वचनं कृत्वा । २२ पिबति स्म । २३ श्रीपालम् । २४ निजरूपं प्राप्तः । २५ न्यग्रोधवृक्षस्य । वटभूकम् ल० । २६ वक्ष्यमाणमित्येवम्—ल०, प०, अ०, स०, इ० ।

रुगादेः पूर्वदिग्भागे नीलाद्वेरपि पश्चिमं । सुसीमाख्योऽस्ति देशोऽत्र महानगरमप्यदः ॥६५॥
 तद्भूतवनमंतरत्वं सम्यक् चित्तेऽवधारय । अस्मिन्नेताः शिलाः सप्त परस्परधृताः कृताः ॥६६॥
 येनाऽसौ चक्रवर्त्तिस्त्वं प्राप्तैरथादेश ईदृशः । इति तद्वचनाधेयं वास्तथा कृतवास्तदा ॥६७॥
 दृष्ट्वा तत्साहसं वक्तुं सोऽगमन्नगरं शिनः । कुमारोऽपि विनिर्गन्ध ततो निर्विण्णचेतसा ॥६८॥
 कौन्दिनरावती कुस्यदारीरां कस्यचित्तरोः । अवस्थितामधोभागे विषयं पुष्कलावतीम् ॥६९॥
 वद प्रयाति कः पन्था इत्यप्राप्तीम् प्रियं वहन् १० । जिना गगनमार्गेण प्रयातुं नैव शक्यते ॥७०॥
 ११ स गन्धूतिशतौत्सेधविजयार्द्धमिररपि । परस्मिन्नित्यसावाह १२ तदाकर्ण्य नृपात्मजः ॥७१॥
 बृहि तत्प्रापणोपायमिति तां प्रत्यभाषत । इह जम्बूमति द्वीपे विषयो वत्सकावती ॥७२॥
 तत्खेचरगिरौ राजपुरे खेचरचक्रिणः । देवी धरणीकम्पस्य सुप्रभा १३ वा प्रभाकरी ॥७३॥
 तमोरक्षं तनूजास्मि विख्याताऽद्या सुखावती । त्रिप्रकारोरुविद्यानां पारगाऽन्येद्युरागता ॥७४॥
 विषये वत्सकावत्यां विजयार्द्धमर्हधरे १४ । अकम्पनमुतां पिप्पलाख्यां प्राणसमां सखीम् ॥७५॥
 ममाभिवीक्षितुं तत्र १५ विश्रमालोक्य कम्बलम् । कथयायं कुतस्थस्ते तम्बोति प्रश्नतो मम ॥७६॥

नीचे बैठे हुए किसी विद्याधरको देखकर उससे पूछा कि यह कौन-सा देश है ? तब वह विद्याधर कहने लगा कि ॥४६-६४॥ विजयार्ध पर्वतकी पूर्वदिशा और नीलगिरिकी पश्चिमकी ओर यह सुसीमा नामका देश है, इसमें यह महानगर नामका नगर है और यह भूतारण्य वन है, यह तू अपने मनमें अच्छी तरह निश्चय कर ले, इधर इस वनमें ये सात शिलाएँ पड़ी हैं जो कोई इन्हें परस्पर मिलाकर एकपर एक रख देगा वह चक्रवर्ती पदको प्राप्त होगा ऐसी सर्वज्ञ देवकी आज्ञा है' विद्याधरके यह वचन सुनकर श्रीपालकुमारने उन शिलाओंको उसी समय एकके ऊपर एक करके रख दिया ॥६५-६७॥ कुमारका यह साहस देखकर वह विद्याधर नगरके राजाको खबर देनेके लिए चला गया और इधर कुमार भी कुछ उदासचित्त हो वहाँसे निकलकर आगे चला । आगे किसी वृक्षके नीचे निन्द्य शरीरको धारण करनेवाली एक बुढ़ियाको देखकर मधुर वचन बोलनेवाले कुमारने उससे पूछा कि पुष्कलावती देशको कौन-सा मार्ग जाता है, बताओ, तब बुढ़ियाने कहा कि वहाँ आकाश मार्गके बिना नहीं जाया जा सकता क्योंकि वह देश पच्चीस योजन ऊँचे विजयार्ध पर्वतसे भी उस ओर है, यह सुनकर राजपुत्र श्रीपालने उससे फिर कहा कि वहाँ जानेका कुछ भी तो मार्ग बतलाओ । तब वह कहने लगी - इस जम्बू द्वीपमें एक वत्सकावती नामका देश है, उसके विजयार्ध पर्वतपर एक राजपुर नामका नगर है । उसमें विद्याधरोका चक्रवर्ती राजा धरणीकम्प रहता है, उसकी कान्तिको फेलानेवाली सुप्रभा नामकी रानी है, मैं उन्हीं दोनोंकी प्रसिद्ध पुत्री हूँ, सुखावती मेरा नाम है और मैं जाति विद्या, कुल विद्या तथा सिद्ध की हुई विद्या इन तीनों प्रकारकी बड़ी-बड़ी विद्याओंकी पारगामिनी हूँ । किसी एक दिन मैं वत्सकावती देशके विजयार्ध पर्वतपर अपने प्राणोंके समान प्यारी सखी, राजा अकम्पनकी पुत्री पिप्पलाको देखनेके लिए गयी थी । वहाँ मैंने एक विचित्र कम्बल देखकर उससे पूछा कि हे सखि, कह, यह कम्बल तुझे कहाँसे प्राप्त हुआ है ? उसने कहा कि 'यह कम्बल मेरी ही आज्ञासे प्राप्त हुआ है' । कम्बल प्राप्तिके समयसे ही कम्बलवालेका ध्यान करती हुई वह अत्यन्त विह्वल हो रही है ऐसा सुनकर उसकी सखी मदनवती उसे देखनेके लिए उसी

१ बने । २ एकैकस्माः उपर्युपरिस्थिताः । ३ विहिता । ४ प्राप्स्यति । ५ शीतलाः । ६ नगरेक्षितुः ल०, प०, अ०, स०, द० । ७ वनात् । ८ निन्द्य । ९ अधः- ल० । १० प्रियं वदः ल० । ११ पुष्कलावतीविषयः । १२ पञ्चविंशतियोजन । १३ अपरभागे । १४ जरती । १५ चन्द्रिकेव । १६ नातिकुलसाधितविधानम् । १७ महीतले ल०, प० । १८ पिप्पलायाम् ।

जगाद् साऽपि मामेष^१ प्रायादेशवशादिति ।^२ कम्बलावाप्तितस्तद्वन्तं^३ समाध्याय विद्वलाम् ॥३७॥
 एतां^४ तस्याः^५ सर्वा भ्रूया समन्वेष्टुं समागता । काञ्चनाख्यपुरात्राम्ना मदनादिवती तदा ॥३८॥
 दृष्ट्वा तत्कम्बलस्थान्ते निवन्तां रत्नमुद्रिकाम् । तत्र^६ श्रीपालनामाक्षराणि चादेशसंस्मृतेः^७ ॥३९॥
 अकावसायकोद्भिन्नहृदयाऽभूदहं^८ ततः । कथं वैद्याधरं लोकमिमं श्रीपालनामभृत् ॥४०॥
 समागतः स इत्येतन्निश्चेतुं पुण्डरीकिणीम् । उपगत्य जिनागारे वन्दित्वा ससुपस्थिता ॥४१॥
 स्वप्नवासकया^९ सर्वा तव मातुः प्रजल्पनात् । विदिखा विस्तरेण स्वामानेष्यामीति निश्चयात् ॥४२॥
 आगच्छन्ती भवद्वार्ता विद्युद्देगामुखोद्गताम् । अत्रगन्ध स्वधा साह्यं योजयिष्यामि ते प्रियम् ॥४३॥
 न^{१०} विषादो विधातव्य इत्याश्वास्य भवस्त्रियाम् । विनिर्गत्य ततोऽभ्येत्य सिद्धकूटजिनालयम् ॥४४॥
 अभिवन्द्यागता^{११} ऽस्येहि^{१२} मयाऽमा पुण्डरीकिणीम् । मातरं भ्रातरं चान्यास्त्वद्बुद्धिं समीक्षितुम् ॥४५॥
 यदीच्छास्ति तवेत्याह सा तच्छ्रुत्वा^{१३} पुनः कुतः । त्वमेव जरती जतित्यग्रवात् स^{१४} सुखावतीम् ॥४६॥
 कुमारवचनाकर्णनेन^{१५} वार्द्धक्यमागतम् । भवतश्च न किं वेत्सीत्यपहस्य तयोदितम् ॥४७॥
 जरामिभूतभालावय स्वशरीरमिदं^{१६} शृणु । कुतस्त्वंविधं कैः हेतुहेतुलभमुक्तात् ॥४८॥
 तच्छ्रुत्वा साऽग्रवादेवं पिप्पलाख्यायोदिता । मदनादिवती या च मैथुनी विभ्रुतौ तयोः ॥४९॥
 बलवान् धूमवेगाद्यस्तादृशरिवरोऽपि च । तद्भयारवां^{१७} तिरोधाय पुरं^{१८} प्रापयितुं मया ॥५०॥
 मायारूपद्वयं^{१९} विद्याप्रभावात् प्रकटीकृतम् । कुमार, मत्करस्यामृतास्वादफलभक्षणात् ॥५१॥

समय कांचनपुर नगरसे आयी । उसने वह कम्बल देखा, कम्बलके छोरमें बैधी हुई रत्नोंकी अँगूठी और उसपर खुदे हुए श्रीपालके नामाक्षर देखकर मुझे अपने गुरुकी आज्ञाका स्मरण हो आया, उसी समय मेरा हृदय कामदेवके बाणोंसे भिन्न हो गया, मैं सोचने लगी कि श्रीपाल नामको धारण करनेवाला यह भूमिगोचरी विद्याधरोंके इस लोकमें कैसे आया ? इसी बातका निश्चय करनेके लिए मैं पुण्डरीकिणी पुरी पहुँची, वहाँ जिनालयमें भगवान्की वन्दना कर बैठी ही थी कि इतनेमें वहाँ आणकी माता आ पहुँची, उनके कहनेसे मैंने विस्तारपूर्वक आपके प्रवासकी कथा मालूम की और निश्चय किया कि मैं आपको अवश्य ही ढूँढ़कर लाऊँगी । उसी निश्चयके अनुसार मैं आ रही थी, रास्तेमें विद्युद्देगाके मुखसे आपका सब समाचार जानकर मैंने उससे कहा कि 'तू अभी विवाह मत कर, मैं तेरे इष्टपतिको तुझसे अवश्य मिला दूँगी' इस प्रकार आपकी भावी प्रियाको विश्वास दिलाकर वहाँसे निकली और सिद्धकूट चैत्यालयमें पहुँची । वहाँको वन्दना कर आयी हूँ, यदि माता भाई तथा अन्य बन्धुओंको देखनेकी तुम्हारी इच्छा हो तो मेरे साथ पुण्डरीकिणी पुरीको चलो, यह सब सुनकर मैंने सुखावतीसे फिर कहा कि अच्छा, यह बतला तू इतनी बूढ़ी क्यों हो गयी है ? कुमारके वचन सुनकर उस बुढ़ियाने हँसते-हँसते कहा कि क्या आप अपने शरीरमें आये हुए बुढ़ापेको नहीं जानते—आप भी तो बूढ़े हो रहे हैं । कुमारने अपने शरीरको बूढ़ा देखकर उससे पूछा कि 'तूने मेरा शरीर इस प्रकार बूढ़ा क्यों कर दिया है ।' कुमारकी यह बात सुनकर वह इस तरह कहने लगी कि जिनका कथन पहले कर आयी हूँ ऐसी पिप्पला और मदनवती नामकी दो कन्याएँ हैं, उन्हें दो प्रसिद्ध

१ कम्बलः । २ कम्बलप्राप्तिमादि कुतश्चेत्यर्थः । कम्बलप्राप्तिस्त--अ०, स०, ल० । ३ कम्बलवन्तं पुरुषम् । ४ पिप्पलाम् । ५ पिप्पलायाः । ६ मुद्रिकायाम् । ७ संस्मृतौ इ०, अ०, स०, प० । ८ कामबाण । ९ सुखावती । १० भवद्देशान्तरगमनकथाम् । ११ विवाहो ल० । विदोषो अ०, स० । १२ अत्रागताहम् । १३ आगच्छ । १४ सुखावतीवचनमाकर्ण्य । १५ श्रीपालः । १६ कुमारवाचमाकर्ण्य इ०, अ०, स० । कुमारवचनाकर्ण्य ल० । १७ धूमवेगहृदिवरभयात् । १८ पुण्डरीकिणीम् । १९ मम जरतीरूपम् भवतश्च वार्द्धक्यमिति द्वयम् ।

विगतक्षुब्धमः शीघ्रं मामाख्य पुरं प्रति । व्रजेति सोऽपि तच्छ्रुत्वा स्त्रियो रूपममामकम् ॥९२॥
न स्पृशामि कथं चाहमासौहामि पुरा^१ गुरोः ।^२ संनिधावाद्दामीहम्यतमित्यवर्षादिदम् ॥९३॥
सा तदाकर्ण्य संचिन्त्य किं जातमिति विद्यया । गृहीत्वा पुरुषाकारमुद्वहन्ती^३ तमित्वरी^४ ॥९४॥
वन्दित्वा सिद्धकूटस्थं तत्र विश्रान्तये स्थिता । तस्मिन्नेव दिने भोगवती^५ शशिनमागमनः ॥९५॥
प्रविश्य भवनं कात्या कलाभिश्चाभिवर्जितम् । निर्वर्त्तमानमालोक्य स्वप्नेऽमंगल्यशान्तये ॥९६॥
तस्मिन्कूटपूजार्थं कान्ता कान्तवती सती । रत्नवेगा सुवेगाऽमितमती रतिकान्तया ॥९७॥
सहिता चित्तवेगाख्या पिप्पला मदनावती । विद्युद्देगा तथैवान्यास्ताभिः सा परिवारिता ॥९८॥
समागत्य महामकथा परीत्य जिनमन्दिरम् । यथाविधि प्रणम्येशं संपूज्य स्तोतुमुद्यता ॥९९॥
ताश्च तासां तदा व्याकुलीभावमपि चेतसः । तस्मिन् शिवकुमारस्य व्रक्ताक्रान्तमाननम् ॥१००॥
^६आदिहसंनिधानेन विष्णोः प्रकृतिं^७ गतम् । सुखावती^८ तदुद्देशादपनीय कुमारकम् ॥१०१॥
स्थानेऽन्यस्मिन्मन्त्रादेन^९ तत्राप्यम्बुनि^{१०} सुव्या^{११} । स्वरूपं कामरूपिण्या^{१२} प्रेक्षमाणं यदृच्छया ।
दृष्ट्वा^{१३} हरिवरस्तस्माद्योत्वा कोपान् स पापमाक् । निक्षिपे^{१४} महाकालगुहायां^{१५} विहितायकम् ॥१०२॥

विद्याधर चाहते हैं, एकका नाम धूमवेग है और दूसरेका नाम हरिवर । ये दोनों ही अत्यन्त बलवान् हैं, उन दोनोंके भयसे ही मैंने आपको छिपाकर नगरमें पहुँचानेके लिए विद्याके प्रभावसे मायामय दो रूप बनाये हैं । हे कुमार, मेरे हाथमें रहे हुए इस सुन्दरके सम्पात्त स्तुतिप्रफलको खाकर आप अपनी भूख तथा थकावटको दूर कीजिए और मुखपर सवार होकर शीघ्र ही नगरकी ओर चलिए यह सुनकर कुमारने कहा कि मेरे सवार होनेके लिए स्त्रीका रूप अयोग्य है, मैं तो उसका स्पर्श भी नहीं करता हूँ, सवार कैसे होऊँ ? क्योंकि मैंने पहले गुरुके समीप ऐसा ही व्रत लिया है वह सुनकर उसने सोचा और कहा कि अब भी क्या हुआ ? वह विद्याके द्वारा उसी समय पुरुषका आकार धारण कर कुमारको बड़ी शीघ्रतासे ले चली । चलते-चलते वह सिद्धकूट चैत्यालयमें पहुँची और वन्दना कर विश्राम करनेके लिए वहीं बैठ गयी । उसी दिन भोगवतीने स्वप्नमें देखा कि कान्ति और कलाओंसे बढ़ा हुआ चन्द्रमा हमारे भवनमें प्रवेश कर लौट गया है । इस स्वप्नको देखकर वह अमंगलकी शान्तिके लिए सिद्धकूट चैत्यालयमें पूजा करनेके लिए आयी थी । वह सुन्दरी कान्तवती, सती रत्नवेगा, सुवेगा, अमितमती, रतिकान्ता, चित्तवेगा, पिप्पला, मदनावती, विद्युद्देगा तथा और भी अनेक राजकन्याओंसे चिरी हुई थी । उन सभी कन्याओंने आकर बड़ी भक्तिसे जिन-मन्दिरकी प्रदक्षिणा दी, विधिपूर्वक नमस्कार किया, पूजा की और फिर सबकी सब स्तुति करनेके लिए उद्यत हुई । स्तुति करते समय भी उनका चित्त व्याकुल हो रहा था । उसी चैत्यालयमें एक शिवकुमार नामका राज-पुत्र भी खड़ा था, उसका मुँह टेढ़ा था परन्तु श्रीपालकुमारके समीप आते ही वह ठीक हो गया, यह देखकर सुखावतीने उसे उसके स्थानसे हटाकर दूसरी जगह रख दिया । उस चैत्यालयमें श्रीपालकुमार अपनी कामरूपिणी मुद्रासे इच्छानुसार जलमें अपना स्नात रूप देख रहा था । उसे ऐसा करते पापी हरिवर विद्याधरने देख लिया और पूर्व जन्ममें पुण्य करनेवाले कुमारको

- १ मम संबन्धिस्वीकर्णं मुक्त्वा अग्यस्त्रीरूपम् । २ पूर्वस्मिन् । ३ गुरोः समीपे ४ स्वीकरोमि ।
५ श्रीपालम् । ६ गमनशीला । ७ पुरा कुमारेण भुजङ्गीत्युक्ता भोगवती । ८ सहागताः कन्यकाः ।
९ आदेशपुरुषसामीप्येन । १० पूर्वस्वरूपम् । ११ तत्प्रदेशात् । १२ स्थापयामास । १३ जले ।
१४ मुद्रिकया । १५ प्रेक्षमाणं इ० । १६ मदनावतीमैधुनः । १७ निक्षिप्तवान् । १८ कृतपुण्यं श्रीपालम् ।

वसंस्तत्र महाकालस्तं गृहीतुमुपागतः । तस्य पुण्यप्रभावेन सोऽप्यकिंचित्करो गतः ॥१०४॥
 गत्र शय्यातले मुक्त्वा शूर्पं मृदुनि विस्तृते । परेषुर्निर्गतं तस्याः संप्रयुक्तैः परीक्षितुम् ॥१०५॥
 आदिप्रपुरुषं मृत्यैर्जाय्वाऽभ्येय निवेदितम् । गृहीत्वा स्थविराकारं कोपपावकदीपितः ॥१०६॥
 तं वीक्ष्य धूमवेगात्^१ श्वाश्चन्द्रपुराद् बहिः । श्मशानमध्ये पाषाणनिशानविविधाशुभैः^२ ॥१०७॥
 'न्यगृह्णात्तानि' चास्यासन् पतन्ति कृसुमानि वा । परोऽपि खेचरस्तत्र नरेशोऽतिबलाह्वयः ॥१०८॥
 स्वदेव्यां चित्रसेनायां मृत्युं दुष्टतरे सति । तं निरुत्त्यादहत्तरिमन्^३ धूमवेगो निधाय तम् ॥१०९॥
 कुमारं चागमत्तत्र महीषध्वजशक्तिः^४ । निराकृतज्वलद्वल्लिशक्तिस्तस्मान् स निर्गतः ॥११०॥
 हतानुचरभार्याश्च काञ्चिन्निरपराधकः । हनो त्रेणेण मद्मर्तेभ्यस्य^५ शुद्धिप्रकाशिनी ॥१११॥
 तत्कुमारस्य संस्पर्शाच्चिशक्तिं सा हुताशनम् । विदित्वा प्राविशद् दृष्ट्वा कुमारस्त्वं सकोतुकः ॥११२॥
 अभ्येयमपि ध्वजेन स्त्रीणां मायाविनिर्मितम्^६ । कवचं दिशिजेशा^७ च नीरन्ध्रमिति निर्मेयः ॥११३॥
 स्थितस्तत्र स्मरन्नेवं सुता तन्नागरेयिनः । राज्ञो विमलसेनस्य वत्यन्तकमलाह्वया ॥११४॥
 कामग्रहाक्षिता तस्यास्तद्ग्रहापजिहीर्षया^८ । जने समुद्रिते^९ सद्यः कुमारस्तमपाहरत्^{१०} ॥११५॥

क्रोधसे उस स्थानसे ले जाकर महाकाल नामकी गुफामें गिरा दिया । उस गुफामें एक महा-
 काल नामका व्यन्तर रहता था वह उसे पकड़नेके लिए आया परन्तु कुमारके पुण्यके प्रभावसे
 अकिंचित्कर हो चला गया—उसको कुछ नहीं बिगाड़ सका । वह कुमार उस दिन उसी गुफामें
 पवित्र, कोमल और बड़ी शय्यापर सोकर दूसरे दिन वहाँसे बाहर निकला, यद्यपि उसने अपना
 धूँकेका रूप बना लिया था तथापि धूमवेगके द्वारा परीक्षाके लिए नियुक्त किये हुए पुरुषोंने
 उसे पहचान लिया, स्वामीके पास जाकर उन्होंने सब खबर दी और पकड़कर श्रीपालकुमार-
 को सामने उपस्थित किया । क्रोधरूपी अग्निसे प्रज्वलित हुए धूमवेग विद्याधरने कुमारको
 देखकर आज्ञा दी कि इसे नगरके बाहर श्मशानके बीच पत्थरपर धिसकर तेज किये हुए अनेक
 शस्त्रोंसे मार डालो । सेवक लोग मारने लगे परन्तु वे सब शस्त्र उसपर फूल होकर पड़ते थे ।
 इसीसे सम्यन्ध रखनेवाली एक कथा और लिखी जाती है जो इस प्रकार है —

उसी नगरमें एक अतिबल नामका दूसरा विद्याधर राजा रहता था ॥६८-१०८॥
 उसकी चित्रसेना नामकी रानीसे कोई दुष्ट नीकर फँस गया था, इसलिए राजा उसे मारकर
 जला रहा था । धूमवेग विद्याधर श्रीपालकुमारको उसी अग्निकुण्डमें रखकर चला गया परन्तु
 कुमारकी महीषध्विकी शक्तिसे वह अग्नि निस्तेज हो गयी इसलिए वह उससे बाहर निकल आया ।
 उस मारकर जलाये हुए सेवककी स्त्रीको जब इस बातका पता चला कि कुमारके स्पर्शसे अग्नि
 शक्तिरहित हो गयी है तब वह स्वयं उस अग्निमें घुस पड़ी और उससे निकलकर यह कहती
 हुई अपनी शुद्धि प्रकट करने लगी कि 'मेरा पति निरपराध था राजाने उसे व्यर्थ ही मार डाला
 है ।' कुमारको यह सब चरित्र देखकर बड़ा कौतुक हुआ, वह सोचने लगा कि 'स्त्रियोंकी मायासे
 बने हुए इस कवचको इन्द्र भी अपने वज्रसे नहीं भेद सकता है, यह छिद्ररहित है' इस प्रकार
 सोचता हुआ वह निर्भय होकर वहीं बैठा था । इधर उस नगरके स्वामी राजा विमलसेनकी पुत्री
 कमलावती कामरूप पिशाचसे आक्रान्त हो रही थी, उसके उस पिशाचको दूर करनेकी इच्छा-
 से बहुत आदमी इकट्ठे हुए थे, श्रीपालकुमार भी वहाँ गया था और उसने उस पिशाचको दूर

१ मुञ्चिषुमित्यर्थः । २ गुहायाः सकाशात् । ३ संप्रयुक्तैः ब० । संप्रयुक्तैः ल०, अ०, प० । ४ पिप्पलायाः
 मेषुनः । ५ निक्षिप्त । ६ निग्रहं चकार । ७ पाषाणायुधानि । ८ हत्वा । ९ चिताग्नी । १० पुरा स्मशाने
 हरिकेतोविशया निर्वाणं पीत्वा जातमहीषध्विशक्तिः । ११ स्वमर्तुः । १२ कपटमित्यर्थः । १३ इन्द्रेण ।
 १४ कामग्रहमहर्तुमिच्छया । १५ एकत्र मिलिते सति । १६ कामग्रहमपसारितवानित्यर्थः ।

सत्योऽभूत् प्राक्तनादेश इति तस्मै महीपतिः । तुष्टा तां कन्यकां^१ हिस्तुस्तस्या^२ निष्ठानं^३ विबुध्य सः^४ ॥११६॥
अभ्यर्णं बन्धुवर्गस्य नेयोऽयं भवता द्रुतम् । धर्मेनेत्यात्मजं स्वस्य वरसेनं समादिशत् ॥११७॥
नीत्वा सोऽपि कुमारं तं विमलादिपुरो बहिः । वने नृणोपसंतप्तं स्थापयित्वा गतोऽभ्युत्ते^५ ॥११८॥
तदा सुखावती कुञ्जा सूत्रा कुसुममालया । परितृप्त्य नृषां नीत्वा^६ कन्यकां तं^७ चकार सः ॥११९॥
धूमवेगो हरिवरश्चेता^८ वीक्ष्याभिलाषिणौ । अभूता बद्धमात्सर्यौ तस्याः स्वीकरणं प्रति ॥१२०॥
द्वेषवन्तौ तदाऽऽलोक्य युवयोर्विग्रहो बृथा । पतिर्मन्वसावस्या यमेवाऽभिलक्षितः ॥१२१॥
इति बन्धुजनैर्दार्यमाणौ बैराद् विरेमन्तुः । स्त्रीहेतोः कस्य वा न ह्यात् प्रतिघातः^९ परस्परम् ॥१२२॥
कन्याकुर्यैव^{१०} गन्धाऽतः कान्तया स सुकान्तया । रतिकान्ताण्यया कान्तवत्या च सहितः पुनः ॥१२३॥
स्थितं प्राक्तरूपेण^{११} काचित्सं वीक्ष्य लज्जिता । रतिं समागमत् काचिन्नैकभावा^{१२} हि व्योषितः ॥१२४॥
प्रसूतवन्तं तं तत्र प्रन्यूषे च सुखावती । धर्मेनोदृष्ट्य गच्छन्ती तेनोन्माश्रितबन्धुषा ॥१२५॥
विहाय मामिदंकाकिनं त्वं क्व प्रस्थितेति सा । पृष्टा न क्वापि यासाद्धं न्यस्तसीपगता सदा ॥१२६॥
^{१३}आदिष्टनितारत्नलामो नैवात्र ते भयम् । इत्यन्तर्हितमापाद्य^{१४} स्वरूपेण समागमः^{१५} ॥१२७॥

कर दिया था । निमित्तज्ञानियोने जो पहले आदेश दिया था वह आज सत्य सिद्ध हुआ । यह देख राजाने सन्तुष्ट होकर वह पुत्री कुमारको देनी चाही परन्तु जब कुमारकी इच्छा न देखी तब उसने अपने पुत्र वरसेनको आज्ञा दी कि इन्हें शीघ्र ही बड़े यत्नके साथ इनके बन्धु वर्गके समीप भेज आओ ॥१०९-११७॥ वह वरसेन भी कुमारको लेकर चला और विमलपुर नामक नगरके बाहर प्याससे पीड़ित कुमारको बैठाकर पानी लेनेके लिए गया ॥११८॥ उसी समय कूबड़ीका रूप बनाकर सुखावती वहाँ आ गयी, उसने अपने फूलोंकी मालाके स्पर्शसे कुमारको प्यास दूर कर दी और उसे कन्या बना दिया ॥११९॥ उस कन्याको देखकर धूमवेग और हरिवर दोनों ही उसकी इच्छा करने लगे । उसे स्वीकार करनेके लिए दोनों ईर्ष्यालु हो उठे और दोनों ही परस्पर द्वेष करने लगे । यह देखकर उनके भाई-बन्धुओंने रोका और कहा कि 'तुम दोनोंका लड़ना व्यर्थ है इसका पति वही हो जिसे यह चाहे' इस प्रकार बन्धुजनोंके द्वारा रोके जानेपर वे दोनों वैरसे विरत हुए । देखो ! स्त्रीके कारण परस्पर किस किसका प्रेम भंग नहीं हो जाता है ? ॥१२०-१२२॥ उस कन्याने उन दोनोंमें-से किसीको नहीं चाहा इसलिए सुखावती उसे कन्याके आकारमें ही वहाँ ले गयी जहाँ कान्ता, सुकान्ता, रतिकान्ता और कान्तवती थीं ॥ १२३ ॥ पहलेके समान असली रूपमें बैठे हुए कुमारको देखकर कोई कन्या लज्जित हो गयी और कोई प्रीति करने लगी सो ठीक ही है क्योंकि स्त्रियोंके भाव अनेक प्रकारके होते हैं ॥१२४॥ श्रीपाल रातको वहीं सोया, सोते-सोते ही सवेरेके समय सुखावती बड़े प्रयत्नसे उठा ले चली, कुमारने आँख खुलनेपर उससे पूछा कि तू मुझे यहाँ अकेला छोड़कर कहाँ चली गयी थी ? तब सुखावतीने कहा कि मैं कहीं नहीं गयी थी, मैं सदा आपके पास ही रही हूँ, यहाँ आपको स्त्रीरत्न प्राप्त होगा ऐसा निमित्तज्ञानीने बतलाया है, यहाँ आपको कोई भय नहीं है । आज तक मैं अपने रूपको छिपाये रहती थी परन्तु आज असली रूपमें आपसे मिल

१ दातुमिच्छुः । २ श्रीपालस्य । ३ कन्यकायामनभिलाषम् । ४ विमलसेनः । ५ जलाय । जलमानेतुमित्यर्थः । ६ ममयित्वा । अपसार्येत्यर्थः । ७ श्रीपालम् । ८ कुतकन्यकाम् । ९ प्रीतिघातः ल०, अ०, प०, स० । १० कन्यकाकारेणैव । ११ पूर्वस्वरूपेण (निजकुमारस्वरूपेण) । १२ अनेकपरिणामाः । १३ आदिष्टो ल०, प०, इ० । १४ इत्यन्तर्हितरूपाद्य-ल० । अन्तर्हितमाच्छादितं यथा भवति तथा । १५ समागममित्यपि पाठः । समागतस्मि ।

इत्याह तद्वचः श्रुत्वा प्रसुप्तैर्न^१ खगाचले । पुरं दक्षिणभागस्थं गजादि^२ तत्समीपगम् ॥१२८॥
 कंचिद् गजपतिं स्तम्भमुन्मूल्यारुढदर्पकम् । द्वात्रिंशदुक्तक्रीडामिः प्रीडित्वा वशमानयत् ॥१२९॥
 ततः समुद्रितं^३ चण्डदीधितं^४ निर्जिताद् गजात् । कुमारगमनं पौरा बुद्ध्वा संतुष्टचेतसः ॥१३०॥
 "प्रतिकेतनमुद्भवचलत्केलुपताककाः । प्रत्युद्गममकुर्वन्ते" तत्पुण्योदयचोदिताः ॥१३१॥
 ततो नभस्यऽर्सा गच्छन् कंचिद्वयपुरे हयम् । स्थितं प्रदक्षिणीकृत्य खं^५ पश्यन्नाभविस्मयः ॥१३२॥
 तत्रापि विदितादेशैर्नागरैः प्राप्तपूजनः । पुनस्ततोऽपि निष्क्रम्य समागच्छन्निजेच्छया ॥१३३॥
 "चतुर्जनपदाभ्यन्तरस्थसीममहाचले" । जने महति संभूय^६ स्थिते केनापि हेतुना ॥१३४॥
 कस्यचिन् कोशतः^७ खड्गं कस्मिँश्चिदपि यानतः । सस्यशक्ते समुत्थातुं तं^८ समुद्गीर्यं^९ हेलया ॥
 कुमारः^{१०} प्राहरद् वंशस्तम्भं^{११} संभृतं^{१२} वंशकम् । तदालोक्य जनः सर्वः प्रमोदादारवं^{१३} व्यधान् ॥१३५॥
 तत्र कश्चित् समागत्य मूकः समुपविष्टवान् । प्रप्रणम्य कुमारं तं जयशब्दपुरस्सरम् ॥१३६॥
 "कुण्डश्च कश्चिद्भुक्त्या प्रसारितकराकुलिः । अञ्जलिं मुकुलीकृत्य समीपं समुपस्थितः ॥१३७॥
 यो वज्रमणिपाकाय समुद्युक्तस्तदा मुदा । तेषां पाके व्यलोकितुं कुमारं विनयेन सः ॥१३८॥

रही हूँ" ॥१२५-१२७॥ उसके यह वचन सुनकर श्रीपाल बहुत ही हर्षित हुआ और वहाँसे आगे चलकर विजयार्ध पर्वतके दक्षिण भागमें स्थित गजपुर नगरके समीप जा पहुँचा ॥१२८॥ वहाँ कोई एक गजराज खम्भा उखाड़कर भदोन्मत्त हो रहा था । उसे कुमारने शास्त्रोक्त बत्तीस क्रीड़ाओंसे क्रीड़ा कराकर वश किया ॥१२९॥ तदनन्तर सूर्योदय होते-होते नगरके सब लोगोंने गजराजको जीत लेनेसे कुमारका आना जान लिया, सबने सन्तुष्टचित्त होकर घर-घर चंचल पताकाएँ फहरायीं और कुमारके पुण्योदयसे प्रेरित होकर सब लोगोंने उसकी अगवान्नी की ॥१३०-१३१॥ कुमार वहाँसे भी आकाशमें चला, चलता-चलता हयपुर नगरमें पहुँचा वहाँ एक धोड़ा कुमारकी प्रदक्षिणा देकर समीप ही में खड़ा हो गया, कुमारने यह सब स्वयं देखा परन्तु उसे कुछ भी आश्चर्य नहीं हुआ ॥१३२॥ जब नगरनिवासियोंको इस बातका पता चला तब सबने कुमारका सत्कार किया, कुमार वहाँसे भी निकलकर अपनी इच्छानुसार आगे चला ॥१३३॥ चलता-चलता चार देशोंके बीचमें स्थित सुसीमा नामक पर्वतपर पहुँचा । वहाँ किसी कारण बहुत-से लोग इकट्ठे हो रहे थे, वे प्रयत्न कर म्यानसे तलवार निकाल रहे थे परन्तु उनमें-से कोई भी उक्त कार्यके लिए समर्थ नहीं हो सका परन्तु कुमारने उसे लीला-मात्रमें निकाल दिया जिसमें बहुत-से बाँस उलझे हुए खड़े थे, ऐसे बाँसके विड़ेपर उसे चलाया यह देखकर सब लोगोंने बड़े हर्षसे कुमारका आदर-सत्कार किया ॥१३४-१३६॥ इतनेमें ही वहाँ एक गूँगा मनुष्य आया और जय-जय शब्दका उच्चारण करता हुआ कुमारको प्रणाम कर बैठ गया ॥१३७॥ वहींपर एक टेढ़ी अंगुलीका मनुष्य आया, कुमारको देखते ही उसकी अंगुली ठीक हो गयी, उसने हाथकी अंगुली फैलाकर हाथ जोड़े और नमस्कार कर पास ही खड़ा हो गया ॥१३८॥ वहींपर एक मनुष्य हीराओंकी भस्म बना रहा था, वह बनती नहीं थी परन्तु कुमारके सन्निधानसे वह बन गयी इसलिए उसने भी बड़ी विनयसे कुमारके दर्शन किये

१ संतुष्य । २ गजपुरम् । ३ उदयं गते सति । ४ सूर्ये । ५ प्रतिगृहम् । ६ सम्मुखगमनम् । ७ चक्रिरे । ८ श्रीपालपुण्य । ९ स्वयं पश्यन्नविस्मयः ल०, इ०, अ०, स० । १० चतुर्दशमध्यस्थितसीमाक्षयमहागिरी । ११ महागिरी ट० । १२ मिलित्वा । १३ खड्गविधानतः । १४ खड्गम् । १५ उत्थातुं कृत्वा । १६ प्रहरति स्म । १७ वेणुगुल्मम् । १८ परिवेष्टितवेणुकम् । १९ -दायरं ल०, प० । २० कुण्डजघ्न अ०, स० । कुणिश्च ल० । विनालः ।

प्रागुक्तकरवालेषः पुरेऽमूद् विजयाङ्गये । सोऽस्य^१ सेनापतिर्भावी मध्विष्यच्छक्रवर्तिनः ॥१४०॥
 तत्पुरं वरकीर्तीष्टकीर्तिमत्यात्मजापते^२ । खड्गोत्पादनमादेशस्तस्य श्रीपालचक्रिणः ॥१४१॥
 मूकः श्रेयः पुरे जातस्तस्य भावी पुरोहितः । शिवसेनमहीपालः श्रीमांस्तन्महेश्वरः ॥१४२॥
 वीतशोकाङ्गया तस्य तनूजा वनजेशणा । मूकभाषणमादेशः कुमारस्य तदापने^३ ॥१४३॥
^४कुण्डः शिल्पपुरोत्पन्नः स्थपतिस्तस्य भाव्यया^५ । नाम्ना नरपतिस्तत्पुरेशो नरपतेः सुता ॥१४४॥
 रत्यादिविमलासार्व^६ तयैतस्य समागमः । अङ्गुलिप्रसरदेशात् स्मरम्यपदमा^७ चिरम् ॥१४५॥
 ॥१४६॥ विमलसेनायाः प्राप्यै^८ । आदेशस्तस्य तद्वज्रमणिपाको महौजसः ॥१४७॥
^९इत्यादेशवरं ज्ञात्वा सर्वे स्वं स्वं पुरं ययुः । तदा कुमारमूढाऽव्याकमोभागे सुखावती ॥१४८॥
 धूमवेगो विलोक्यैवं विद्विषो^{१०} भीषणारब्धः । अभितर्ज्य स्थितो हृत्वा स्त्रे खेदकयुतासिभृत् ॥१४९॥
 तदा^{११} पूर्वोक्ताचार्या देवता याऽस्य^{१२} पारिका^{१३} । सा विद्यावररूपेण समुपेत्य सुखावतीम् ॥१५०॥

॥१३९॥ श्रीपालने जो तलवार म्यानसे निकाली थी उसका स्वामी विजयपुर नगरका रहने-
 वाला था और होनहार इसी श्रीपाल चक्रवर्तीका भावी सेनापति था ॥१४०॥ उसी विजयपुर
 नगरके राजा वरकीर्तीष्टकी रानी कीर्तिमतोकी एक पुत्री थी, उसके विवाहके विषयमें निमित्त-
 ज्ञानियोंने बतलाया था कि इसका वर श्रीपाल चक्रवर्ती होगा और उसकी पहचान म्यानमें-से
 तलवार निकाल लेनी होगी ॥१४१॥ वह गूंगा श्रेयस्पुरमें उत्पन्न हुआ था और इसका भावी
 पुरोहित था, उसी श्रेयस्पुर नगरका स्वामी राजा शिवसेन था, उसके कमलके समान नेत्रवाली
 वीतशोका नामकी पुत्री थी उसके वरके विषयमें निमित्तज्ञानियोंने आदेश दिया था कि जिसके
 समागमसे यह गूंगा दोलने लगेगा, वही इसका वर होगा ॥१४२-१४३॥ जिसकी अँगुली
 टेढ़ी थी वह शिल्पपुरमें उत्पन्न हुआ था और इसका होनहार स्थपति रत्न था । उसी शिल्पपुर
 के राजाका नाम नरपति था उसके रतिविमला नामकी पुत्री थी, निमित्तज्ञानियोंने बताया
 था कि जिसके देखनेसे इसकी टेढ़ी अँगुली फैलने लगेगी उसीके साथ कामक्रीड़ा करनेवाली
 इस कन्याका चिरकाल तक समागम रहेगा ॥१४४-१४५॥ जो हीराओंका भस्म बना रहा
 था वह इसका मन्त्री होनेवाला था और धान्यपुर नगरमें पैदा हुआ था, उसी धान्यपुर नगरके
 राजाका नाम विशाल था उसकी एक विमलसेना नामकी कन्या थी, निमित्तज्ञानियोंने बतलाया
 था कि जिसके आनेपर हीराओंका भस्म बन जायेगा वही महा तेजस्वी श्रीपाल इसका पति
 होगा ॥१४६-१४७॥ इस प्रकार निमित्तज्ञानियोंके आदेशानुसार उस पुरुषको पहचान
 कर वे सब अपने-अपने नगरको चले गये और उसी समय सुखावती श्री कुमारको लेकर
 आकाशमार्गसे चलने लगी ॥१४८॥ चलते-चलते इसे धूमवेग शत्रु मिला, वह कुमारको
 देखकर भयंकर शब्द करने लगा, और डाँट दिखाकर रास्ता रोक आकाशमें खड़ा हो गया,
 उस समय छेदक और तलवार दोनों शस्त्र उसके पास थे ॥१४९॥ उसी समय पहले कही

१ श्रीपालस्य । २ वरकीर्तिनृपतेः प्रियायाः कीर्तिमत्याः सुतायाः आपने परिणयने । ३ 'पन व्यवहारे स्तुती
 च' पुत्रीव्यवहारे त० टि० । ४ रत्यात्मजापतेः इ० । जायते अ०, स०, ल० । ५ वीतशोकायाः परिणयने ।
 ६ कृतिः ल० । ७ कामविशिष्टधर्मप्रदया अथवा कामविबिधगमनप्रदया । ८ वज्रमणिपाक्यस्य ल०, ट० ।
 वज्रमणिपाकी वज्ररत्नपाकवान् । अस्य श्रीपालस्य । ९ मन्त्रिमुख्यः । १० वज्रमणिपाकिनः । ११ उत्पत्तिः ।
 १२ विमलसेनायाः प्राप्यै । १३ आदेशजामातरम् । १४ देशान्तरं ल०, प० । १५ देशान्तरं अ०, स० ।
 १६ शत्रोर्भयंकरवज्रनिः । तद्विषो भीषणारब्धम् इ०, अ०, स० । १७ पूर्वोक्तप्रमदवनस्यवृत्तरोरवस्थितप्रति-
 मामाम् । १८ श्रीपालस्य । १९ रक्षिका ।

सुक्त्वा कुमारमभ्येत्य विभीषिणाधराधमम् । नियुध्य विजयस्वेति निजगाद् निराकुलम् ॥१५१॥
 साऽपि मुक्त्वा कुमारं तं धूमवेगं रणाङ्गणे । धिरं युध्वा स्वविद्याभिन्त्यरौत्सी^१ चौर्यशालिनी ॥१५२॥
 कुमारोऽपि समीपस्थशिलायां धरणोधरे । शनैः^२ समापतत्तस्थं^३ देवश्री जननी पुरा ॥१५३॥
 यक्षीभूता तदागत्य स्वसृशन्ती करेण तम् । अपास्यास्य श्रमं महद्भु कुमारं^४ प्रविश हृदम् ॥१५४॥
 जगादैनमिति श्रुत्वा सोऽपि विश्वस्य तद्वचः । प्रविश्य तं^५ शिलास्तम्भस्थोपरिस्थितवाक्त्रिभिः ॥१५५॥
 कुर्वन् पञ्चनमस्कारपदानां परिवर्तनम्^६ । प्रभाते^७ तदुदग्भागे जिनेन्द्रप्रतिबिम्बकम् ॥१५६॥
 बिलोक्य कृतपुष्पादिसंपूजननमस्त्रियः । सहस्रपत्रमम्भोजं चक्ररत्नं सङ्कर्मकम् ॥१५७॥
 आतपत्रं सहस्रोक्तं फणं च फणिनां पतिम् । दण्डरत्नं समण्डकं नक्तं^८ चूडामहामणिम् ॥१५८॥
 चर्मरत्नं स्फुरद्वक्त्रशृङ्गिकं काकिणीमणिम् । ईक्षाचक्रे स पुण्यात्मा तत्र^९ यक्ष्युपदेशतः ॥१५९॥
 तदा मुदितचित्तः सन् हृद्यमुद्यस्य दण्डवत् । प्रद्योतमानरत्नोपातको^{१०} यक्षीसमर्पितैः ॥१६०॥
 सर्वरत्नमयैर्दिव्यैर्भूषाभैर्देविभूषितः । निर्जगाम^{११} गुहातोऽसौ सर्ववेद्य सुखावती ॥१६१॥
 धूमवेगं विनिर्जित्य प्रतिपद्वा^{१२} हिमधुतिम्^{१३} । वृद्धयै कुमारमापन्ना सकलाऽसिलतान्विता^{१४} ॥१६२॥
 पृथ्वा^{१५} सह गत्वातः संप्राप्तसुरभूधरम्^{१६} । गुणपालजिनाधीनं समामण्डलमाप्तवान् ॥१६३॥
 तत्र तं सुचिरं स्तुत्वा मनोवाक्यायशुद्धिभाक् । मातरं भ्रातरं चोचितोपचारो बिलोक्य तौ ॥१६४॥

हुई प्रतिमापर जो इसकी रक्षा करनेवाली देवी रहती थी वह विद्याधरका रूप धारण कर आयी और सुखावतीको छोड़कर कुमारको ले गयी तथा सुखावतीसे कह गयी कि तू निर्भय हो निराकुलतापूर्वक इस नीच विद्याधरसे लड़ना और इसे जीतना ॥१५०-१५१॥ शूरवीरतासे शोभायमान रहनेवाली सुखावती भी कुमारको छोड़कर धूमवेगसे लड़ने लगी और रणके मैदानमें बहुत समय तक युद्ध कर उसने उसे अपनी विद्याओं-द्वारा रोक लिया ॥१५२॥ कुमार भी समीपवती पर्वतकी एक शिलापर धीरे-धीरे जा पड़ा । वहाँ उसकी पूर्वभवकी माता देवश्री जो कि यक्षी हुई थी आयी । उसने हाथसे स्पर्श कर श्रीपालका सब परिश्रम दूर कर दिया और कहा कि तू शीघ्र ही इस तालाबमें घुस जा । कुमार भी उसके वचनोंका विश्वास कर तालाबमें घुस गया और वहीं रात-भर पत्थरके खम्भेपर बैठा रहा ॥१५३-१५५॥ सबेरे पंच नमस्कार मन्त्रका पाठ करता हुआ उठा, तालाबके उत्तरकी ओर श्रीजिनेन्द्रदेवकी प्रतिमा देखकर पुष्प आदि सामग्रीसे पूजन और नमस्कार किया । तदनन्तर उसी यक्षीके उपदेशसे उस पुण्यात्माने सहस्र पत्रवाले कमलको चक्ररत्नरूप होते देखा, कछुवेको छत्र होते देखा, बड़ी-बड़ी हजार फणाओंको धारण करनेवाले नागराजको दण्डरत्न होते देखा, मेढकको चूडा-मणि, मगरको चर्मरत्न और देदीप्यमान लाल रंगके बिच्छूको काकिणी मणि रूप होते देखा ॥१५६-१५९॥ उस समय उसने प्रसन्नचित्त होकर छत्र धारण किया, दण्ड उठाया, चमकीले रत्नोंके जूते पहने और फिर वह यक्षीके द्वारा दिये हुए मणिमय दिव्य आभूषणोंसे सुशोभित होकर गुहासे बाहर निकला । उसी समय जिस प्रकार चन्द्रमाकी वृद्धिके लिए शुक्लपक्षकी प्रतिपदा आती है उसी प्रकार धूमवेगकी जीतकर तलवार लिये हुए चतुर सुखावती कुमारकी वृद्धिके लिए उसके पास आ पहुँची । श्रीपाल यहाँसे उसके साथ-साथ चला और चलता-चलता सुरगिरि पर्वतपर गुणपाल जिनेन्द्रके समवसरणमें जा पहुँचा ॥१६०-१६३॥ वहाँ मन,

१ शरीर । २ संप्राप्तः । ३ श्रीपालस्य । ४ कुमारं ल० । ५ हृदम् । ६ मुहुर्मुहुर्नुषिन्तमम् । ७ हृदस्थोत्तर-दिग्भागे । ८ चूडामणि तथा ल०, प०, अ०, स०, इ० । ९ हृदे । यक्षत्राण्येव कृपाणि । सहस्रपत्राम्भोजादीनि ईक्षाचक्रे इति संबन्धः । १० मणिमयपादपाणः । ११ गुहायाः सकाशात् । १२ प्रतिपद्दिनशीति । १३ चन्द्रम् । १४ चन्द्रकलान्विता । १५ सुखावत्या । १६ सुरगिरिनामगिरिम् ।

तदाशीर्वावसंतुष्टः संविष्टो मानृसंनिधौ । सुखावतीप्रसावेण युष्मदन्तिकमासवान् ॥१६२॥
 क्षेमेणेति तयोरग्रे प्राशंसतां^३ नृपानुजः^४ । सती स सहजो भावो यस्तुवन्त्युपकारिणः ॥१६६॥
 वसुपलमहीपालप्रश्नाद् भगवतोदितैः । स्थित्वा विद्याधरश्रेण्यां बहुलम्भान्^५ समापिवान् ॥१६७॥
 ततः^६ सप्तदिनैरेव सुखेन प्राविशत् पुरम्^७ । संचितोर्जितपुण्यानां भवेदापश्य संपदे ॥१६८॥
 वसुपालकुमारस्य वारिषेणादिभिः समम् । कन्याभिरभवत् कल्याणविधिर्विधिचिह्निकः ॥१६९॥
 स श्रीपालकुमारश्च जयावत्यादिभिः कृती । तदा चतुरशीतीष्ट^८ कन्यकाभिरलंकृतः ॥१७०॥
 सूर्याचन्द्रमसौ वा तौ स्वप्रभाभ्यासदिव्यतः । पालयन्तौ धराचक्रं चिरं निर्विशतः स्म शम्^९ ॥१७१॥
 जयावत्यां समुत्पन्नो गुणपालो गुणोऽज्ज्वलः । श्रीपालस्यायुधागारे चक्रं च समजायत ॥१७२॥
 स सर्वाश्चक्रवर्त्युक्तभोगाननुभवन् भृशम् । शक्रलीलां^{१०} व्यद्विष्ट लक्ष्म्यां^{११} लक्षितविग्रहः ॥१७३॥
 अभूजजयावतीभ्रातुस्तनूजा जयवर्मणः । जयसेनाह्वया कान्तेस्सा^{१२} सेनेव^{१३} विजित्वरी^{१४} ॥१७४॥
 मनोवेगोऽशनिवरः शिवालयोऽशनिवेगवाक् । हरिकेतुः परे चोच्चैः क्षमाभुजः रत्ननायकाः ॥१७५॥
^{१५} जयसेनाख्यमुख्याभिस्तेषां^{१६} सुग्भिः^{१७} सहाभवत् । विवाहो गुणपालस्य स तामिः प्राप्तसंसदः ॥१७६॥

वचन, कायकी शुद्धि धारण करनेवाले श्रीपालने बहुत देर तक गुणपाल जिनेन्द्रकी स्तुति की, माता और भाईको देखकर उनका योग्य वितय किया और फिर उन दोनोंके आशीर्वादसे सन्तुष्ट होकर वह माताके पास बैठ गया । उसने माता और भाईके सामने यह कहकर सुखावतीकी प्रशंसा की कि मैं इसके प्रभावसे ही कुशलतापूर्वक आपलोगोंके समीप आ सका हूँ सो ठीक ही है क्योंकि सज्जन पुरुषोंका जन्मसे ही ऐसा स्वभाव होता है कि जिससे वे उपकार करनेवालोंकी स्तुति किये-करते-हैं ॥१६७॥ तदन्तर वह सात दिनमें ही सुखसे अपने नगरमें प्रविष्ट हो गया सो ठीक ही है क्योंकि प्रबल पुण्यका संचय करनेवाले पुरुषोंको आपत्तियाँ भी सम्पत्तिके लिए हो जाती हैं ॥१६८॥

नगरमें जाकर वसुपाल कुमारका वारिषेणा आदि कन्याओंके साथ विवाहोत्सव हुआ, वह विवाहोत्सव अनेक प्रकारकी विभूतियोंसे युक्त था ॥१६९॥ उसी समय चतुर श्रीपाल कुमार भी जयावती आदि चौरासी इष्ट कन्याओंसे अलंकृत—सुशोभित हुए ॥१७०॥ अपनी कान्तिसे दिग्दिगन्तको व्याप्त करनेवाले सूर्य और चन्द्रमाके समान पृथिवीका पालन करते हुए दोनों भाई चिरकाल तक सुखका उपभोग करते रहे ॥१७१॥ कुछ दिन बाद श्रीपालकी जयावती रानीके गुणोंसे उज्ज्वल गुणपाल नामका पुत्र उत्पन्न हुआ और इधर आयुधशालामें चक्ररत्न प्रकट हुआ ॥१७२॥ जिसका शरीर लक्ष्मीसे सुशोभित हो रहा है ऐसा वह श्रीपाल चक्रवर्तीके कहे हुए सब भोगोंका अत्यन्त अनुभव करता हुआ इन्द्रकी लीलाको भी उल्लंघन कर रहा था ॥१७३॥ जयावतीके भाई जयवर्मके जयसेना नामकी पुत्री थी जो अपनी कान्तिसे सेनके समान सबको जीतनेवाली थी ॥१७४॥ इसके सिवाय मनोवेग, अशनिवर, शिव, अशनिवेग, हरिकेतु तथा और भी अनेक अच्छे-अच्छे विद्याधर राजा थे, जयसेनाको आदि लेकर

१ कुबेरभोवमुपालयोराशीर्वचन । २ सुखावत्याः सामर्थ्येन । ३ स्तौति स्म । ४ श्रीपालः । ५ कन्याविप्राप्तिः । ६ प्राप्तः सन् । ७ सप्तदिनानन्तरमेव । ८ आत्मीयपुण्डरीकिणीपुरम् । ९ वटवृक्षाधो नृत्यसंबन्धिनी । १० प्रियतरुणीभिः, पट्टार्हाभिरित्यर्थः । ११ सुखमन्वभूताम् । १२ तिरस्करोति स्म । व्यलङ्घिष्ट ल० । १३ लक्ष्म्यालङ्घित अ०, स० । लक्ष्मीलसित प०, ल० । १४ कान्त्या इ०, प०, अ०, स०, ल० । १५ चमूरिव । १६ जयशीला । १७ जयसेनादिपद्यानाभिः । १८ मनोवेगादीनाम् । १९ पुत्रीभिः ।

कदाचित् काललब्ध्याविचोदितोऽभ्यर्णनिवृत्तिः । विलोक्यन्नभोभागसकस्मादन्धकारितम् ॥१७७॥
 चन्द्रग्रहणमालोक्य धिगैत^१स्यापि चेद्विषम् । अवस्था संसृता पापप्रस्तस्थान्यस्य का गतिः ॥१७८॥
 इति निर्विष संजातजातिस्मृतिहृदात्तथीः^२ । स्वपूर्वभवसंबन्धं प्रत्यक्षमिव संस्मर ॥१७९॥
 पुष्करार्द्धेऽपरे भागे विदेहे पद्मकाङ्क्षये । विषये विभ्रुते कान्त पुरार्थीशोऽवनीश्वरः ॥१८०॥
 रथान्तकनकस्तस्य वल्लभा कनकप्रभा । तथोर्भूत्वा^३ प्रभापास्तभास्करः कनकप्रभः ॥१८१॥
 तस्मिन्नन्येषु स्थाने दृष्टा सर्वेण मग्निथा । विद्युत्प्रभाङ्गया तस्या विद्योगेन विषण्णवान् ॥१८२॥
 सार्धं समाधिगुप्तस्य समीपे संयमं परम् । संप्राप्तवानतिस्निग्धैः पित्रुमानृतनानभिभिः ॥१८३॥
 तत्र सम्यक्त्वमुद्भवादिषोडशा प्रत्ययान्^४ भृशम् । भावयित्वा भवस्या^५ जयन्तालयविमानजः^६ ॥१८४॥
 प्राप्ते^७ ततोऽहमागत्य जातोऽत्रैवमिति स्फुटम्^८ । समुद्रदत्तेनादित्यगति^९ वायुरथाङ्गयः^{१०} ॥१८५॥
 श्रेष्ठो कुबेरकान्तश्च लौकान्तिकपदं गताः । शोधितस्त्वैः^{११} समागत्य गुणपालः प्रमुद्रवान् ॥१८६॥
 मोहपाशं समुच्छिद्य तस्यैव तपस्ततः । घातिकर्माणि निर्मूल्य सयोगिपदमागमत् ॥१८७॥
 यशःपालः सुखावत्यास्तनूजस्तेन संयमम् । गृहीत्वा सह तस्यैव गणभृत्प्रथमोऽभवत् ॥१८८॥

उन सब राजाओंकी पुत्रियोंके साथ गुणपालका विवाह हुआ। इस प्रकार वह गुणपाल उन कन्याओंके मिलनेसे बहुत ही हर्षित हुआ ॥१७५-१७६॥

अथानन्तर—किसी समय जिसका मोक्ष जाना अत्यन्त निकट रह गया है ऐसा गुणपाल काललब्धि आदिसे प्रेरित होकर आकाशकी ओर देख रहा था कि इतनेमें उसको दृष्टि अकस्मात् अन्धकारसे भरे हुए चन्द्रग्रहणकी ओर पड़ी, उसे देखकर वह सोचने लगा कि इस संसारको धिक्कार हो, जब इस चन्द्रमाकी भी यह दशा है, अब संसारके अन्य पापप्रसित जीवोंकी क्या दशा होती होगी ? इस प्रकार बेराग्य आते ही उस उत्कृष्ट बुद्धिवाले गुणपालको जाति स्मरण उत्पन्न हो गया जिससे उसे अपने पूर्वभवके सम्बन्धका प्रत्यक्षकी तरह स्मरण होने लगा ॥१७७-१७९॥ उसे स्मरण हुआ कि पुष्करार्ध द्वीपके पश्चिम विदेहमें पद्मक नामका एक प्रसिद्ध देश है, उसके कान्तपुर नगरका स्वामी राजा कनकप्रभ था। उसकी रानीका नाम कनकप्रभा था, उन दोनोंके मैं अपनी प्रभासे सूर्यको तिरस्कृत करनेवाला कनकप्रभ नामका पुत्र हुआ था। किसी दिन एक बगीचेमें विद्युत्प्रभा नामकी मेरी स्त्रीको साँपने काट खाया, उसके वियोगसे मैं विरक्त हुआ और अपने ऊपर अत्यन्त स्नेह रखनेवाले पिता माता तथा भाइयोंके साथ-साथ मैंने समाधिगुप्त मुनिराजके समीप उत्कृष्ट संयम धारण किया था ॥१८०-१८३॥ वहाँ मैं दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाओंका अच्छी तरह चिन्तन कर आयुके अन्तमें जयन्त नामके विमानमें अहमिन्द्र उत्पन्न हुआ ॥१८४॥ और अन्तमें वहाँसे चयकर यहाँ श्रीपालका पुत्र गुणपाल हुआ हूँ। वह इस प्रकार विचार ही रहा था कि इतनेमें ही समुद्रदत्त, आदित्यगति, वायुरथ और हुसेठ कुबेरकान्त जो कि तपश्चरण कर लौकान्तिक देव हुए थे उन्होंने आकर समझाया। इस प्रकार प्रबोधको प्राप्त हुए गुणपाल मोहजालको नष्ट कर तपश्चरण करने लगे और घातिया कर्मोंको नष्ट कर सयोगिपद—तेरहवें गुण स्थानको प्राप्त हुए ॥१८५-१८७॥ सुखावतीका पुत्र यशपाल भी उन्होंने गुणपाल जिनेन्द्रके पास दीक्षा धारण कर

१ चन्द्रस्य । २ रुदारधीः अ०, स०, ल० । ३ कान्त्या निराकृत । ४ कारणानि । ५ आयुवस्यान्ते । ६ अहमिन्द्रः । ७ स्वर्गायुरप्ते । ८ स्वर्गात् । ९ पूर्वभवसंबन्धं प्रत्यक्षमिव संस्मरन्निति संबन्धः । १० प्रियकान्तायाः जनकेन सह । ११ हिरण्यवर्मणो जनकः । १२ प्रभावत्याः पिता । १३ उक्तलौकान्तिकामरैः ।

*प्रियदत्ताका पिता, † हिरण्यवर्मका पिता, ‡ प्रभावतीका पिता, § कुबेरमित्रका पिता ।

राजराजस्तदा भूरिबिभूत्वाऽभ्येत्य तं^१ मुदा । श्रीपालः पूजयित्वा तु श्रुत्वा धर्मद्वयात्मकम् ॥१८१॥
 ततः स्वभावसंबन्धमप्राक्षीत् प्रश्रयाश्रयः । भगवन्श्रेष्ठुवाचेति कुराजं^२ सुलोचना ॥१८०॥
 निवेदितवती पृष्टा मृष्टवाक् सौहृदाम्बिता । विदेहे पुण्डरीकिण्यां यशःपालो महीपतिः ॥१८१॥
 तत्र सर्वसमृद्धाख्यो वणिक् तस्य मनःप्रिया । धनञ्जयानुजाताऽसौ^३ धनश्रीर्धनवर्जिनी ॥१८२॥
 तयोस्तुक् सर्वदयितः श्रेष्ठो^४ तद्भगिनी सती । संज्ञया सर्वदयिता श्रेष्ठिनश्चित्तवल्लभे ॥१८३॥
 सुता सागरसेनस्य जयसेना समाह्वया । धनञ्जयवणीशस्य^५ जयदत्ताभिधाऽपरा^६ ॥१८४॥
 देवश्रीरनुजा श्रेष्ठिपितुस्तस्यां तनूजकौ^७ । जातौ सागरसेनस्य सागरो दत्तवाक्पराः ॥१८५॥
 ततः समुद्रदत्तश्च सह सागरदत्तया । सुतौ^८ सागरसेनानुजायां जातमहोदयौ ॥१८६॥
 जातौ^९ सागरसेनायां दत्तो^{१०} वैश्रवणादिवाक् । दत्ता^{११} वैश्रवणादिश्च दायादः^{१२} श्रेष्ठिनः^{१३} स^{१४} तु ॥
 भार्या^{१५} सागरदत्तस्य दत्ता^{१६} वैश्रवणादिका । सती समुद्रदत्तस्य^{१७} सा सर्वदयिता^{१८} प्रिया ॥१८७॥
 सा वैश्रवणदत्तेष्टा दत्तान्ता^{१९} सागराह्वया । तेषां^{२०} सुखसुखेनैव काले गच्छति संततम् ॥१८८॥
 यशःपालमहीपालमावर्जितसहायनः^{२१} । वणिग्धनञ्जयोऽभ्येतुः सत्रत्नैर्दर्शनकृतैः^{२२} ॥२००॥

उन्हींका पहला गणधर हुआ ॥१८८॥ उसी समय राजाधिराज श्रीपालने बड़ी विभूतिके साथ आकर गुणपाल तीर्थकरकी पूजा की और गृहस्थ तथा भुनिसम्बन्धी-दोनों प्रकारका धर्म सुना । तदनन्तर बड़ी विनयके साथ अपने पूर्वभवका सम्बन्ध पूछा, तब भगवान् इस प्रकार कहने लगे - यह सब बातें मधुर वचन बोलनेवाली सुन्दरी सुलोचना महाराज जयकुमारके पूछनेपर उनसे कह रही थी । उसने कहा कि -

विदेह क्षेत्रकी पुण्डरीकिणी नगरीमें यशपाल नामका राजा रहता था ॥१८९-१९१॥ उसी नगरमें सर्वसमृद्ध नामका एक वैश्य रहता था । उसकी स्त्रीका नाम धनश्री था जो कि धनको बढ़ानेवाली थी और धनञ्जयकी छोटी बहिन थी । उन दोनोंका पुत्र सर्वदयित सेठ था, उसकी बहिनका नाम सर्वदयिता था जो कि बड़ी ही सती थी । सर्वदयितकी दो स्त्रियां थीं, एक तो सागरसेनकी पुत्री जयसेना और दूसरी धनञ्जय सेठकी पुत्री जयदत्ता ॥१९२-१९४॥ सेठ सर्वदयितके पिताकी एक छोटी बहिन थी जिसका नाम देवश्री था और वह सेठ सागरसेनको व्याहो थी । उसके सागरदत्त और समुद्रदत्त नामके दो पुत्र थे तथा सागरदत्ता नामकी एक पुत्री थी । सागरसेनकी छोटी बहिन सागरसेनाके दो सन्तानें हुई थीं - एक वैश्रवणदत्ता नामकी पुत्री और दूसरा वैश्रवणदत्त नामका पुत्र । वैश्रवणदत्त सेठ सर्वदयितका हिस्सेदार था ॥१९५-१९७॥ वैश्रवणदत्ता सेठ सागरदत्तकी स्त्री हुई थी, सेठ समुद्रदत्तकी स्त्रीका नाम सर्वदयिता था और सागरदत्ता सेठ वैश्रवणदत्तको व्याहो गयी थी । इस प्रकार उन सबका समय निरन्तर बड़े प्रेमसे व्यतीत हो रहा था ॥१९८-१९९॥ जिसने बहुत धन उपार्जन किया है ऐसे सेठ धनञ्जयने किसी दिन अच्छे-अच्छे रत्न भेंट देकर राजा यशपालके दर्शन किये

१ गुणपालकेवलिनम् । २ जयकुमारम् । ३ भगिनी । ४ पुत्रः । ५ राजश्रेष्ठो । ६ धनञ्जयनामवैश्यस्य । ७ द्वितीया । ८ सर्वदयितश्रेष्ठिजनकसर्वसमृद्धस्य । ९ पुत्री । १० देवश्रीयोर्भर्तुर्भगिन्याम् । ११ सर्वसमृद्धस्य भार्यायाम् । १२ दत्ता अ०, प०, इ०, स०, ल० । १३ दत्तो ल०, प०, इ०, अ०, स० । १४ जातिः । १५ सर्वदयितश्रेष्ठिनः । १६ वैश्रवणदत्तः । १७ सागरसेनस्य ज्येष्ठपुत्रस्य । १८ वैश्रवणदत्ता । भार्याऽभूदिति सम्बन्धः । १९ सागरसेनस्य कनिष्ठपुत्रस्य । २० सर्वदयितश्रेष्ठिनो भगिनीप्रिया । भार्या जातेति संबन्धः । २१ समुद्रदत्तस्यानुजा सागरदत्ताह्वया । वैश्रवणदत्तस्येष्टा बभूवेति संबन्धः । २२ समुद्रादीनाम् । २३ अकृच्छ्रेण, अत्यन्तसुखेनेत्यर्थः । २४ आनोत । २५ उपायनीकृतैः ।

त्यल्लोकि^१ स भूयोऽपि तस्मै^२ संमानपूर्वकम् । प्रीत्या धनं हिरण्यादि प्रभृतमदितोचितम्^३ ॥२०३॥
 तिलोक्त्य^४ तं वणिक्पुत्राः सर्वेऽपि धनमार्जितुम्^५ । ग्रामे पुरोपकण्ठस्थे संभूय विनिवेशिरे ॥२०४॥
 तन्निवेशादुत्थाऽन्देशुः स^६ समुद्रादिदत्तकः । राशौ स्वगृहमागत्य भार्यासंपर्कपूर्वकम् ॥२०५॥
 केनाप्यविदितो राशवेव^७ सार्थमुपागतः । काले गर्भं विदित्वाऽस्याः^८ पापो^९ बुध्वरितोऽभवत्^{१०} ॥२०६॥
 इति सागरदत्तायस्तथा^{११} भर्तृसमागमम्^{१२} । बोधितोऽप्यपरीक्षयासौ स्वगेहा^{१३} तामपाकरोत्^{१४} ॥२०७॥
 ततः श्रेष्ठिगृहं^{१५} याता तैनापि त्वं दुराचरा^{१६} । नास्मद्गृहं समागच्छेत्पुत्रज्ञानात् सा निवारिता ॥२०८॥
 मर्मापवर्निन्येकस्मिन् केतने^{१७} विहितस्थितिः । तवमात्मावर्था पुत्रमलब्धामरूपपुण्यकम् ॥२०९॥
 तद्विदित्वा कुलस्थैव^{१८} समुत्पन्नः पराभवः । यत्र^{१९} क्वचन नीत्स्नं^{२०} निश्चिपेत्यनुर्जायिकः^{२१} ॥२१०॥
 प्रत्येयः^{२२} श्रेष्ठिना प्रोक्तः श्रेष्ठिमित्रस्य बुद्धिमान् । स्मशाने साधितुं विद्यामागतस्य स्वयायिनः^{२३} ॥२११॥
 बालं समर्वयामास विश्विधौ बुरितोदयः । खगोऽसौ जयधामाख्यो जयभामास्य वल्लभा ॥२१२॥
 तौ^{२४} भोगपुरवास्तव्यौ^{२५} जितशत्रुसमाह्वयम्^{२६} । कृत्वावर्धयतां^{२७} पुत्रमिव मत्पौरवं मुदा ॥२१३॥

राजाने भी उसका सम्मान किया और बड़े प्रेमसे उसके लिए यथायोग्य बहुत-सा सुवर्ण आदि धन वापिस दिया ॥२००-२०१॥ यह देखकर सब वैश्यपुत्र धन कमानेके लिए बाहर निकले और सब मिलकर नगरके समीप ही एक गाँवमें जाकर ठहर गये ॥२०२॥ दूसरे दिन समुद्रदत्त रात्रिमें उन डेरोसे अपने घर आया और अपनी स्त्रीसे संभोग कर किसीके जाने बिना ही रात्रिमें ही अपने झुण्डमें जा मिला । इधर समयानुसार उसका गर्भ बढ़ने लगा । जब इस बातका पता समुद्रदत्तके बड़े भाई सागरदत्तको चला तब उसने समझा कि यह अवश्य ही इसका पापरूप दुराचरण है । समुद्रदत्तकी स्त्री सर्वदयिताने पतिके साथ समागम होनेका सब समाचार यद्यपि बतलाया तथापि उसने परीक्षा किये बिना ही उसे घरसे निकाल दिया ॥२०३-२०५॥ तब सर्वदयिता अपने भाई सेठ सर्वदयितके घर गयी परन्तु उसने भी अज्ञानतासे यही कहकर उसे भीतर जानेसे रोक दिया कि 'तू दुराचारिणी है, मेरे घरमें मत आ' ॥२०६॥ तदनन्तर वह पासके ही एक दूसरे घरमें रहने लगी, नौ महीनेकी अवधि पूर्ण होनेपर उसने एक अतिशय पुण्यवान् पुत्र प्राप्त किया ॥२०७॥ जब सेठ सर्वदयितको यह खबर लगी तो उसने समझा यह पुत्र क्या, हमारे कुलका कलंक उत्पन्न हुआ है, इसलिए उसने एक नौकरको यह कहकर भेजा कि 'इसे ले जाकर किसी दूसरी जगह रख आ' । वह सेवक बुद्धिमान् था और सेठका विश्वासपात्र भी था, वह बालकको ले गया और सेठके एक विद्याधर मित्रको जो कि विद्या सिद्ध करनेके लिए स्मशानमें आया था, सौंप आया सो ठीक ही है क्योंकि पापका उदय बड़ा विचित्र होता है । सेठके उस मित्रका नाम जयधाम था और उसकी स्त्रीका नाम जयभामा था । वे दोनों भोगपुरके रहनेवाले थे उन्होंने उस पुत्रका नाम जितशत्रु रखा और उसे औरस पुत्रके सभास मानकर वे बड़ी प्रसन्नतासे उसका पालन-पोषण करने लगे ॥२०८-

१ ददर्श । २ धनंजयाय । ३ ददौ । ४ धनंजयं राजा पूजितोऽयं दृष्ट्वा । ५ -मर्जितुम् ल० । ६ तन्निवेशिरात् । ७ देवश्रीसागरसेनयोः पुत्रः समुद्रदत्तः । ८ शिबिरम् । ९ सर्वदत्तायाः । १० अशोभनव्यवहारः । ११ दुर्वृतः कश्चिज्जारोऽभवदिति । १२ सर्वदयितया । १३ निजपुरुषागमनम् । १४ मम भर्ता शिबिरादागत्य मया सह सम्पर्कं कृतवानिति निवेदितोऽपि । १५ सर्वदयिताम् । १६ निष्कासितवान् । १७ निशाप्रसर्वदयितश्रेष्ठिगृहम् । १८ बुद्धमाचरसि स्म । १९ नास्मद्गृहं ल०, अ०, प०, स०, इ० । २० गृहे । २१ शिशुः । २२ यत्र कुत्रापि । २३ स्थापय । २४ भृत्यः । २५ विश्वास्यः । २६ विद्याधरस्य । २७ जयधामजयभामेति द्वौ । २८ भोगपुरनिवासिनौ । २९ शिशोजितशत्रुरित्याख्यां कृत्वा । ३० वर्धयतः स्म ।

तदा पुत्रवियोगेन सा सर्वदयिताऽधिरात् । स्त्रीवेदनिन्दनान्मृत्वा संप्रापजन्म पौत्रम् ॥२१२॥

ततः समुद्रदत्तोऽपि सार्धेनामा^१ समागतः । श्रुत्वा स्वमार्गवृत्तान्तं निन्दित्वा आतरं निजम् ॥२१३॥

^२श्रेष्ठिनेऽनपराधया गृहवेशनिवारणात् । ^३अकुप्यजितरां कृत्यं कः सहेताविचारितम् ॥२१४॥

ज्येष्ठे न्यायगतं योग्ये मयि स्थितकैति स्वयम् । श्रेष्ठिस्वमयमध्यास्त इति श्रेष्ठिनि^४ कोपवान् ॥२१५॥

वै^५ वैश्रवणवृत्तोऽपि स सागरदत्तकः^६ । सार्द्धं समुद्रदत्तेन मात्सर्याच्छ्रेष्ठिनि^७ स्थिताः ॥२१६॥

दुस्तर्हे तपसि श्रेयो मत्सरोऽपि कश्चित् नृणाम् । अन्येषुजितशत्रुं तं दृष्ट्वा श्रेष्ठा कुतो भवान् ॥२१७॥

^८समुद्रदत्तसारूप्यं दधत्संसं दमागतः । इति पप्रच्छ सोऽप्यात्मागमनक्रममब्रवीत् ॥२१८॥

नान्यो मन्नाग्निनेयोऽयमिति तद्वस्तसंस्थिताम् । मुद्रिकां वीक्ष्य निश्चिन्त्य निःपरीक्षकतां^९ निजाम् ॥

मैथुनस्य^{१०} च संस्मृत्य तस्मै^{११} सर्वश्रेष्ठं सुताम् । धनं श्रेष्ठिपदं चासौ^{१२} दृष्ट्वा निर्विण्णभागसः ॥२२०॥

जयधामा^{१३} जयभामा जयसेना^{१४} तथाऽपरा । जयदत्तामिधाना च परा सागरदत्तिका^{१५} ॥२२१॥

सा वैश्रवणदत्ता^{१६} च परे खोपज्ञबोधकाः । संजातास्तैः सह श्रेष्ठी संयमं प्रत्यपद्यत ॥२२२॥

मुनिं रत्तिवरं प्राप्य चिरं विहितसंयमाः । एते सर्वेऽपि कालान्ते स्वर्गलोकं समागमन् ॥२२३॥

२११॥ सर्वदयिताने पुत्रके वियोगसे बहुत दिन तक स्त्रीवेदकी निन्दा की और मरकर पुत्र-का जन्म पाया ॥२१२॥ तदनन्तर समुद्रदत्त भी अपने झुण्डके साथ वापस आ गया और अपनी स्त्रीका वृत्तान्त सुनकर अपने भाईकी निन्दा करने लगा । सेठने अपराधके बिना ही उसकी स्त्रीको घरमें प्रवेश करनेसे रोका था इसलिए वह सेठपर अत्यन्त क्रोध करता रहता था सो ठीक ही है क्योंकि जो कार्य बिना विचारे किया जाता है उसे भला कौन सहन कर सकता है ? ॥२१३-२१४॥ कुछ दिन बाद वैश्रवण सेठ सागरदत्तसे यह कहकर क्रोध करने लगा कि 'जब मैं बड़ा हूँ, और योग्य हूँ तो न्यायसे मुझे सेठ पद मिलना चाहिए, मेरे रहते हुए यह सेठ क्यों बन बैठा है' । इसी प्रकार सागरदत्त और समुद्रदत्त भी सेठके साथ ईर्ष्या करने लगे ॥२१५-२१६॥ आचार्य कहते हैं कि कठिन तपश्चरणके विषयमें की हुई मनुष्योंकी ईर्ष्या भी कहीं-कहीं अच्छी होती है परन्तु अन्य सब जगह अच्छी नहीं होती । किसी एक दिन सेठ सर्वदयितने जितशत्रुसे पूछा कि तू समुद्रदत्तकी समानता क्यों धारण कर रहा है — तेरा रूप उसके समान क्यों है ? और तू सभामें किसलिए आया है ? तब जितशत्रुने भी अनुक्रमसे अपने आनेका सब समाचार कह दिया ॥२१७-२१८॥ उसी समय सेठकी दृष्टि उसके हाथमें पहिनी हुई अँगूठीपर पड़ी, उसे देखकर उसने निश्चय कर लिया कि 'यह मेरा भानजा ही है, दूसरा कोई नहीं है । उसे अपनी और अपने बहनोईकी अपरीक्षकता (बिना विचारे कार्य करने) की याद आ गयी और उसे सर्वश्री नामकी पुत्री, बहुत-सा धन और सेठका पद देकर स्वयं विरक्तचित्त हो गया ॥२१९-२२०॥ उसी समय जितशत्रुको पालनेवाला जयधाम विद्याधर, उसकी स्त्री जयभामा, जयसेना और जयदत्ता नामकी अपनी स्त्रियाँ, वैश्रवण-दत्तकी स्त्री सागरदत्ता और वैश्रवणदत्तकी बहन वैश्रवणदत्ता तथा और भी अनेक लोगोंको आत्मज्ञान उत्पन्न हुआ । उन सबके साथ-साथ सेठने रत्तिवर मुनिके समीप जाकर संयम धारण

१ वणिकसमूहेन सह । २ सर्वदयिताय । ३ चुकोप । ४ सर्वदयिते । ५ स वै-ल०, अ०, स०, इ० । ६ सागर-दत्तसहितः । ७ श्रेष्ठिः ल०, प०, इ०, स०, अ० । ८ समुद्रदत्तस्य समानरूपताम् । ९ सभाम् । १० विचार-शून्यताम् । ११ सागरदत्तस्य विचारशून्यताम् । १२ निजभागिनेयजितशत्रवे । १३ सर्वदयितश्रेष्ठी । १४ जितशत्रुवर्धनविद्याधरदम्पती । १५ सर्वदयितस्य भार्या । १६ सागरदत्तस्य भार्या ।

प्राप्ते स्वर्गादिहात्म्यं जयधामा तदातनः^१ । वसुपालोऽत्र संजातो जयभामाऽप्यजायत ॥२२४॥
 'जयवत्यात्तसौन्दर्या जयसेनाऽजनिष्ट सा । पिप्पली^२ जयदत्ता तु वत्स्यन्तमदनाऽभवत् ॥२२५॥
 त्रिशुद्धेगाऽभवद् वैश्रवणदत्ता कलाखिला^३ । जाता सागरदत्तापि स्वर्गादेस्व सुखावती ॥२२६॥
 तदा सागरदत्ताख्यः स्वर्गलोकान् समागतः । पुत्री हरिवरो जातः स^४ पुरुरवसः प्रियः ॥२२७॥
 समुद्रदत्तो ज्वलनवेगस्याजनि विश्रुतः । तन्जो धूमवेगाल्भो विद्याविहितपौरुषः ॥२२८॥
 स वैश्रवणदत्तोऽपि भूतोऽत्राशनिवेगकः । श्रेष्ठी स सर्वदयितः श्रीपालस्त्वमिहामयः ॥२२९॥
 त्वं जामातुर्निराकृत्या^५ सनाभिभ्यो वियोजितः । तदा^६ त्वद्द्वेषिणोऽस्मिंश्च तव द्वेषिण एव ते ॥२३०॥
 तदा प्रियास्तवात्राऽपि संजाता नितरां प्रियाः । अहिं^७ सयाऽर्भक^८ स्यासीद् बन्धुभिस्तथ^९ संगमः ॥२३१॥
 नत्तपःफलतो जातं चक्रित्वं सकलक्षितेः । सर्वसंगपरित्यागान्मङ्क्षु मोक्षं गमिष्यसि ॥२३२॥
 अधोर्दरितर्त्ताथैशवचनाकर्णेन ते । सर्वे परस्परद्वेषाद् विरमन्ति स्म विस्मयान् ॥२३३॥
 जन्मरोगजरामृत्युश्चिह्नं^{१०} सन्ततानुगान् । संनिधाय धियं^{११} धम्योऽधासीद्धर्मासृतं ततः ॥२३४॥
 धिगिदं चक्रित्वाभ्राज्यं कुलालस्यैव जीवितम् ।^{१२} भुक्तिश्चक्रं^{१३} परिभ्राज्य सृष्टुषसफलसितः^{१४} ॥२३५॥

कर लिया । वे सभी लोग चिरकाल तक संयमका साधन कर आयुके अन्तमें स्वर्ग गये ॥२२१-२२३॥ वहाँको आयु पूरी होनेपर स्वर्गसे आकर पदलेका जयभामा त्रिशुद्धेगा वसुपाल हुआ है, जयभामा वसुपालकी सुन्दरी रानी जयावती हुई है, जयसेना पिप्पली हुई है, जयदत्ता मदनावती हुई है, वैश्रवणदत्ता सब कलाओंमें निपुण त्रिशुद्धेगा हुई है, सागरदत्ता स्वर्गसे आकर सुखावती हुई है, उस समयका सागरदत्त स्वर्गसे आकर पुरुरवाका प्यारा पुत्र हरिवर हुआ है, समुद्रदत्त ज्वलनवेगका प्रसिद्ध पुत्र हुआ है जो कि अपनी विद्याओंसे ही अपना पौरुष प्रकट कर रहा है, वैश्रवणदत्त अशनिवेग हुआ है और सर्वदयित सेठ यहाँ श्रीपाल हुआ है जो कि तू ही है ॥२२४-२२९॥ तूने पूर्वभवमें अपने जैमाई (भानेज जितशत्रु) को उसकी मातासे अलग कर दिया था इसलिए तुझे भी इस भवमें अपने भाई-बन्धुओंसे अलग होना पड़ा है, पूर्व-भवमें जो वैश्रवणदत्त, सागरदत्त तथा समुद्रदत्त तेरे द्वेषी थे वे इस भवमें भी तुझसे द्वेष करने-वाले धूमवेग, अशनिवेग और हरिवर हुए हैं । उस भवमें जो तुम्हारी स्त्रियाँ थीं वे इस भवमें भी तुम्हारी अत्यन्त प्यारी स्त्रियाँ हुई हैं । तुमने अपनी बहनके बालककी हिंसा नहीं की थी इसलिए ही तेरा इस भवमें अपने भाई-बन्धुओंके साथ फिरसे समागम हुआ है । तूने उस भवमें जो तपस्वरण किया था उसीके फलसे सम्पूर्ण पृथिवीका चक्रवर्ती हुआ है और अन्तमें सब परिग्रहोंका त्याग कर देनेसे तू शीघ्र ही मोक्ष पा जायेगा ॥२३०-२३२॥ इस प्रकार तीर्थंकर भगवान् गुणपालके कहे हुए वचनोंको सुनकर सब लोगोंने आश्चर्यपूर्वक अपना परस्पर-का सब वैर छोड़ दिया ॥२३३॥

तदनन्तर पुण्यात्मा श्रीपालने सदासे पीछे लगे हुए जन्म, रोग, जरा और मृत्युको नष्ट करनेके लिए बुद्धि स्थिर कर धर्मरूपी अमृतका पान किया ॥२३४॥ वह सोचने लगा कि यह चक्रवर्तीका साम्राज्य कुम्हारकी जीवनीके समान है क्योंकि जिस प्रकार कुम्हार अपना चक्र (चाक) घुमाकर मिट्टीसे बने हुए घड़े आदि वस्तुओंसे अपनी आजीविका चलाता है

१ तत्कालभवः । २ श्रीपालस्याग्रमहिषी जाता । ३ पिप्पली ल०, प०, इ०, अ०, स० । ४ संपूर्णकला । ५ पुरुरवस इति विद्याधरस्य । ६ भगिनीपुत्रस्य निराकरणेन । ७ तत्काले । ८ अहिंसनेन । ९ तव भगिनी-विशोः । १० पुनर्भाग्यैः सह संयोगः । ११ निरन्तरानुगमनशीलान् । १२ पपी । घेद् पाने इति धातुः । १३ भोजनक्रिया । १४ चक्ररत्नम् घटक्रियायन्त्री च । १५ क्षेत्रोत्पन्नफलप्राप्तितः । मुत्पिण्डोत्पन्नप्राप्तितश्च ।

आयुर्वायुरयं^१ मोहो^२ भोगो भङ्गी^३ हि संगमः^४ । वयुः पापस्य दुष्पात्रं विबुधोला विभूतयः^५ ॥२३६॥
 मार्गविभ्रंशहेतुत्वाद् यौवनं गहनं वनम् । या रतिर्विषयेष्वेषा गवेषयति साऽरतिम् ॥२३७॥
 सर्वमेतत्सुखाय स्याद् यावन्मतिविपर्ययः^६ । प्रगुणायां मर्तो सत्यां किं तस्माज्जयमतः परम् ॥२३८॥
 चित्तद्रुमस्य चेद् बुद्धिरमिलाषविषाङ्गुरैः । कथं दुःखकलानि स्युः संभोगविटपेषु नः ॥२३९॥
 मुक्तो भोगो दशाङ्गोऽपि यथेष्टं सुखिरं मया । मात्रामात्रेऽपि नात्रासीत्तुतिस्तृष्णाविधातिना ॥२४०॥
 अस्तु वास्तु समस्तं च संकल्पविषयीकृतम् । इदमेव तथाप्यस्मात्तास्ति^७ स्वस्ताऽपि निर्बुतिः^८ ॥२४१॥
 किल स्त्रीभ्यः सुखावाप्तिः पौरुषं^९ किमतः परम् । दैवमात्मनि संभाव्य^{१०} सौख्यं स्यां परमः^{११} पुमान् ॥
 इति श्रीपालचक्रेशः सत्त्वजन् वक्रतो धियः । अक्रमेणाखिलं त्यक्तुं सत्त्वकं मतिमातनोम् ॥२४२॥
 ततः सुखावर्तापुत्रं नरपालाभिधानकम् । कृताभिवेकमारोप्य समुत्तुङ्गं निजासनम् ॥२४३॥
 जयवत्सादिभिः स्वाभिर्देवीभिर्धरणीश्वरैः । वसुपालादिमिश्रामा संवत्स्रं प्रत्यपद्यत ॥२४४॥
 स बाह्यमन्तरङ्गं च तपस्तप्त्वा यथाविधि । क्षपकश्रेणिसारङ्ग^{१२} मासेन (?) हतमोहकः ॥२४५॥
 यथायमातमवाप्योरुचारित्रनिष्कषाथकम् । ध्यायन् द्वितीयशुक्लेन श्रीचाररहितात्मना^{१३} ॥२४६॥

उसी प्रकार चक्रवर्ती भी अपना चक्र (चक्ररत्न) धुमाकर मिट्टीसे उत्पन्न हुए रत्न या कर आदिसे अपनी आजीविका चलाता है - भोगोपभोगकी सामग्री जुटाता है इसलिए इस चक्रवर्ती-के साम्राज्यको धिक्कार है ॥२३५॥ यह आयु वायुके समान है, भोग मेघके समान हैं, इष्ट-जनोंका संयोग नष्ट हो जानेवाला है, शरीर पापोंका खोटा पात्र है और विभूतियाँ बिजलीके समान चंचल हैं ॥२३६॥ यह यौवन समीचीन मार्गसे भ्रष्ट करनेका कारण होनेसे सधन वनके समान है और जो यह विषयोंमें प्रीति है वह द्वेषको डूँढ़नेवाली है ॥२३७॥ इन सब वस्तुओंसे सुख तभी तक मालूम होता है जबतक कि बुद्धिमें विपर्ययपना रहता है । और जब बुद्धि सीधी हो जाती है - तब ऐसा जान पड़ने लगता है कि इन वस्तुओंके सिवाय छोड़ने योग्य और क्या होगा ? ॥२३८॥ जब कि अभिलाषारूपी विषके अंकुरोंसे इस चित्तरूपी वृक्षकी सदा वृद्धि होती रहती है तब उसकी संभोगरूपी डालियोंपर भला दुःखरूपी फल क्यों नहीं लगेंगे ? ॥२३९॥ मैंने इच्छानुसार चिरकाल तक दसों प्रकारके भोग भोगे परन्तु इस भवमें तृष्णाको नष्ट करनेवाली तृप्ति मुझे रंचमात्र भी नहीं हुई ॥२४०॥ यदि हमारी इच्छाके विषयभूत सभी इष्ट पदार्थ एक साथ मिल जायें तो उनसे थोड़ा-सा भी सुख नहीं मिलता है ॥२४१॥ स्त्रियोंसे सुखकी प्राप्ति होना ही पुरुषत्व है ऐसा प्रसिद्ध है परन्तु इससे बढ़कर और दीनता क्या होगी ? इसलिए अपने आत्मामें ही सच्चे सुखका निश्चय कर पुरुष हो सकता हूँ - पुरुषत्वका धनी बन सकता हूँ ॥२४२॥ इस प्रकार बुद्धिकी वक्रताको छोड़ते हुए श्रीपाल चक्रवर्तीने चक्ररत्नसहित समस्त परिग्रहको एक साथ छोड़नेका विचार किया ॥२४३॥ तदनन्तर उसने नरपाल नामके सुखावतीके पुत्रका राज्याभिषेक कर उसे अपने बहुत ऊँचे सिंहासनपर बैठाया और स्वयं जयवती आदि रानियों तथा वसुपाल आदि राजाओंके साथ दीक्षा धारण कर ली ॥२४४-२४५॥ उन्होंने विधिपूर्वक बाह्य और अन्तरंग तप तपा, क्षपक श्रेणीमें चढ़कर मोहरूपी शत्रुको नाश करनेसे प्राप्त होनेवाला कषायरहित यथाक्यात नामका उत्कृष्ट चारित्र प्राप्त किया, श्रीचाररहित द्वितीय शुक्ल ध्यानके द्वारा आत्मस्वरूपका

१ वायुवेगो । २ मेघो ल० । ३ विनाशो । ४ इष्टसंयोगः । ५ सन्मार्गभ्युतिकारणीत्वात् । ६ सक्चन्ममादि । ७ मतेर्व्यायामः, मोहः । ८ इष्टसक्कामिन्यादिकादन्यत् । ९ अस्यस्वकालेऽपि । १० अस्वापि । ११ सुखम् । १२ कुशलाकुशलसमाशरणलक्षणं पौरुषम् । १३ संकल्पसुखम् । १४ अहं परमपुरुषो भवेयम् । १५ मोहाराति-जयाजितम् ल०, प०, अ०, स०, इ० । १६ एकरवितर्कबीचाररूपद्वितीयशुक्लध्यानेन ।

धातिकर्मत्रयं हृत्वा संप्राप्तमवकेवलः^१ । सयोगस्थानमाक्रम्य त्रियोगो वीतकल्मषः ॥२४८॥
^२शरीरत्रितयापायाद्वाविष्कृतगुणोत्करः । अनन्तशान्तमप्रायमवाप सुखमुत्तमम् ॥२४९॥
 तस्य राश्यश्च ताः सर्वा विधाय त्रिविधं तपः । स्वर्गलोके स्वयोग्योऽवशिमानेष्वभङ्गन् सुराः ॥२५०॥
 आयां चाक्रम्य तं नत्वा गत्वा नाकं निजोचितम्^३ । अनुभूय सुखं प्रान्ते^४ शेषपुण्यविशेषतः ॥२५१॥
 इहागताविति व्यक्तं न्याजहारं सुलोचना । जयोऽपि स्वप्रियाप्रज्ञाप्रमाणादनुषसदा ॥२५२॥
 तदा सदस्सदः^५ सर्वे प्रतीयुस्तदुदाहृतम्^६ । कः प्रत्येति^७ न दुष्टश्चेत् सद्भिनिर्गदितं वचः ॥२५३॥
 एवं सुखेन साम्राज्यभोगसारं निरन्तरम् । भुञ्जानौ रक्षितान्योन्यौ कालं गमयतः स्म तौ ॥२५४॥
 तदा^८ सगमवाचासप्रज्ञप्तिप्रमुखाः श्रिताः । विद्यास्ता^९ च महीशं^{१०} च संप्रीत्या तौ मनश्चतुः^{११} ॥२५५॥
^{१२}तद्वलान् कान्तया सार्द्धं विहर्तुं सुरगोचरात् । बाष्पन् देशान् निजं राज्यं नियोज्य विजयेऽनुजे ॥२५६॥
 यथेष्टं सप्रियो विद्यावाहनः सरितां पतीन्^{१३} । कुलशैलान्दीर्घ्यघनानि विविधान्यपि ॥२५७॥
 विहरन्नन्यदा मेघस्वरः कैलासशैलजे । वने सुलोचनाभ्यर्णादसौ किञ्चिदपासरन्^{१४} ॥२५८॥

चिन्तवन करते हुए ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन घातिया कर्मोंको नष्ट कर नौ केवललब्धियाँ प्राप्त कीं, सयोगकेवली गुणस्थानमें पहुँचकर क्रमसे योगरहित होकर सब कर्म नष्ट किये और अन्तमें, आदारिक, तैजस, कार्माण—तीनों शरीरोंके नाशसे गुणोंका समूह प्रकट कर अनन्त, शान्त, नवीन और उत्तम सुख प्राप्त किया ॥२४६—२४९॥ श्रीपाल चक्रवर्तीको सब रानियाँ भी अनेक प्रकारका तप तपकर स्वर्गलोकमें अपने-अपने योग्य बड़े-बड़े विमानोंमें देव हुई ॥२५०॥ सुलोचना जयकुमारसे कह रही है कि हम दोनों भी ये सब कथाएँ सुनकर एवं गुणपाल तीर्थंकरकी नमस्कार कर स्वर्ग चले गये थे और वहाँ यथायोग्य सुख भोगकर आयुके अन्तमें बाकी बचे हुए पुण्यविशेषसे यहाँ उत्पन्न हुए हैं । ये सब कथाएँ सुलोचनाने स्पष्ट शब्दोंमें कही थीं और जयकुमार भी अपनी प्रियाकी बुद्धिके प्रभावसे उस समय अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ था ॥२५१—२५२॥ उस समय सभामें बैठे हुए सभी लोगोंने सुलोचना के कहनेपर विश्वास किया सो ठीक ही है, क्योंकि जो दुष्ट नहीं है वह ऐसा कौन है जो सज्जनों-के द्वारा कहे हुए वचनोंपर विश्वास न करे ॥२५३॥ इस प्रकार साम्राज्य तथा श्रेष्ठ भोगोंका निरन्तर उपभोग करते और परस्पर एक दूसरेको प्रसन्न करते हुए वे दोनों सुखसे समय बिताने लगे ॥२५४॥ उसी समय पहले विद्याधरके भवमें लक्ष्मीको बढ़ानेवाली जो प्रज्ञप्ति आदि विद्याएँ थीं वे भी बड़े प्रेमसे जयकुमार और सुलोचना दोनोंको प्राप्त हो गयीं ॥२५५॥ उन विद्याओंके बलसे महाराज जयकुमारने अपनी प्रिया—सुलोचनाके साथ देवोंके योग्य देशोंमें विहार करनेकी इच्छा की और इसलिए ही अपने छोटे भाई विजयकुमारको राज्यकार्यमें नियुक्त कर दिया ॥२५६॥

तदनन्तर जिसकी सवारियाँ विद्याके द्वारा बनी हुई हैं ऐसा वह जयकुमार अपनी प्रिया—सुलोचनाके साथ-साथ समुद्र, कुलाचल और अनेक प्रकारके मनोहर वनोंमें विहार करता

१ संप्राप्तध्यायिकज्ञानदर्शनसम्यक्त्वचारित्रदानलाभभोगोपभोगवीर्याणीतितपकेवललब्धिः । २ आदारिकशरीर-कार्माणमिति शरीरत्रयविनाशात् । ३ अनन्तं शान्तमप्राप्तमवाप्तः इ०, अ०, स०, ल०, प० । अप्रायमनुपमम् । 'प्रायश्चानशने सृष्टौ तुल्यबाहुस्ययोरपि' इत्यभिधानात् । ४ यजोचितम् ल०, प०, अ०, स०, इ० । ५ आयुरस्ते । ६ उवाच । ७ सदः सीदन्तीति सदस्सदः । सभां प्राप्ता इत्यर्थः । ८ विश्वस्तवन्तः । ९ सुलोचनावचनम् । १० न श्रद्धाति । ११ हिरण्यवर्मप्रभावतीभवे प्राप्ता । १२ सुलोचनाम् । १३ जयम् । १४ वचितश्रियः ल०, प०, इ०, स० । १५ प्रज्ञप्त्यादिविद्याबलात् । १६ पतिम् ल०, प०, इ०, स० । १७ अपसरति स्म ।

अमरेन्द्रे सभामध्ये शीलमाहात्म्यं^१ वसन्तम् । जयस्य तस्मिन्नायाश्च प्रकुर्वति कदाचन ॥२५६॥
 श्रुत्वा तदादिमे कल्पे रविप्रभविमानजः । श्रीश^२ रविप्रभाख्येन तच्छीलान्धेवणं प्रति ॥२५७॥
 प्रेषिता^३ काञ्चना नाम देवी प्राप्य जयं सुधीः । क्षेत्रेऽस्मिन् भारते खेचराद्रेरुत्तरदिक्कतदे ॥२५८॥
 मनोहराख्यविषय राजारत्नपुराधिपः । अमूर्त् पिङ्गलगान्धारः सुखदा तस्य सुप्रभा ॥२५९॥
 तयोर्विद्युत्प्रभा पुत्री नमोभार्या यदृच्छया । स्वां नन्दने महामेरी क्रीडन्तं वीक्ष्य सोऽसुका ॥२६०॥
 तदा प्रभृति मन्त्रिष्वेभ्यस्तत्र लिखिताकृतिः । स्वस्वमागममेवाहं ध्यायन्ती दैवयोगतः ॥२६१॥
 दृष्टव्यस्मि कान्ता^४ ऽस्मिन्निवेगं^५ सोऽदुमक्षमा । इत्यपास्तोपकण्ठस्थान् स्वकीयान् स्मरविह्वला ॥२६२॥
 स्थानुरागं जये व्यक्तमकरोद् विभूतेश्वरा । तदुद्बुधचेष्टितं दृष्ट्वा मा मंस्थाः पापसीदशम् ॥२६३॥
 सोऽर्वा^६ एवं समादर्यि^७ भया मुनिवराद् व्रतम् । पराङ्मना^८ संसर्गसुखं मे विषभक्षणम् ॥२६४॥
 महीक्षेनेति सम्प्रोक्ता^९ मिथ्या सा^{१०} कोपवेचिनी । उपात्तराक्षसीवेषा तं^{११} समुद्ध्य गन्धरी^{१२} ॥२६५॥
 पुष्पाद्यचयसंसक्तनृपकान्ताभितर्जिता^{१३} । मीत्वा तच्छीलमाहात्म्यात्^{१४} काञ्चनाऽदृश्यतां गता ॥२६६॥
 अविभ्यदेवता चैवं शीलवत्याः परे न के । ज्ञात्वा तच्छीलमाहात्म्यं गत्वा स्वस्वामिनं प्रति ॥२६७॥

हुआ किसी समय कैलाश पर्वतके वनमें पहुँचा और किसी कारणवश सुलोचनासे कुछ दूर चला गया ॥२५७-२५८॥ उसी समय इन्द्र अपनी सभाके बीचमें जयकुमार और उसकी प्रिया सुलोचनाके शीलकी महिमाका वर्णन कर रहा था उसे सुनकर पहले स्वर्गके रविप्रभ विमानमें उत्पन्न हुए लक्ष्मीके अधिपति रविप्रभ नामके देवने उनके शीलकी परीक्षा करनेके लिए एक काञ्चना नामकी देवी भेजी, वह बुद्धिमती देवी जयकुमारके पास आकर कहने लगी कि 'इसी भरतक्षेत्रके विजयार्ध पर्वतकी उत्तरश्रेणीमें एक मनोहर नामका देश है, उसके रत्नपुर नगरके अधिपति राजा पिङ्गलगान्धार हैं, उनके सुख देनेवाली रानी सुप्रभा है, उन दोनोंकी मैं विद्युत्प्रभा नामकी पुत्री हूँ और राजा नमिकी भार्या हूँ । महामेरु पर्वतपर नन्दन वनमें क्रीड़ा करते हुए आपको देखकर मैं अत्यन्त उत्सुक हो उठी हूँ । उसी समयसे मेरे चित्तमें आपकी आकृति लिख-सी गयी है, मैं सदा आपके समागमका ही ध्यान करती रहती हूँ । दैवयोगसे आज आपको देखकर आनन्दके वेगको रोकनेके लिए असमर्थ हो गयी हूँ ।' यह कहकर उसने समीपमें बैठे हुए अपने सब लोगोंको दूर कर दिया और कामसे विह्वल होकर तिरछी आँखें चलाती हुई वह देवी जयकुमारमें अपना अनुराग स्पष्ट रूपसे प्रकट करने लगी । उसकी दुष्ट चेष्टा देखकर जयकुमारने कहा कि तू इस तरह पापका विचार मत कर, तू मेरी बहन है, मैंने मुनिराजसे व्रत लिया है कि मुझे परस्त्रियोंके शरीरके संसर्गसे उत्पन्न होनेवाला सुख विष खानेके समान है । महाराज जयकुमारके इस प्रकार कहनेपर वह देवी झूठमूठके क्रोधसे काँपने लगी और राक्षसीका वेष धारण कर जयकुमारको उठाकर जाने लगी । फूल तोड़नेमें लगी हुई सुलोचनाने यह देखकर उसे ललकार लगायी जिससे वह उसके शीलके माहात्म्यसे डरकर अदृश्य हो गयी । देखो, शीलवती स्त्रीसे जब देवता भी डर जाते हैं तब औरोंकी तो बात ही क्या है ? वह काञ्चना देवी उन दोनोंके शीलका माहात्म्य जानकर अपने स्वामीके पास गयी, वहाँ उसने उन दोनोंके उस माहात्म्यकी प्रशंसा की जिसे सुनकर वह रविप्रभ देव भी आश्चर्यसे उनके गुणोंमें प्रेम करता हुआ उन दोनोंके पास आया । उसने अपना सब

१ रविप्रभविमानोत्पन्नलक्ष्मीपतिः । २ श्रीशो ल० । ३ निरूपिता । ४ भो प्रिय । ५ एतस्मिन् प्रदेशे । ६ कामवेगम् । ७ स्वजनान् । ८ स्वीकृतम् । ९ संसर्ग — ल०, प०, ६०, स० । १० सम्प्रोक्तं ल० । ११ पाप-वेपनी ट० । अशोभनं कम्पयन्ती । १२ जयम् । १३ गदगशीला । १४ सुलोचनातर्जिता । १५ काञ्चनाख्या-मराङ्गना ।

प्राशंसत्^१ सा^२ तथोस्तादृक्माहात्म्यं सोऽपि विस्मयात् । रविप्रभः समागत्य तावुमौ तद्गुणप्रियः ॥२७१॥
 स्ववृत्ताभ्यां समाख्याय युवाभ्यां क्षम्यतामिति । पूजयित्वा महारत्नैर्माकलोकं समीपवान् ॥२७२॥
^३ तथा चिरं विहृत्याप्तसंप्रीतिः कान्तया सभम् । निवृत्य पुरमागत्य सुखसारं समन्वभूत् ॥२७३॥
 अथान्यदा समुत्पन्नबोधिमेषस्वराधिपः । तीर्थाधिनाथ^४ मास्ताप्य बन्दिताऽऽनन्दभाजनम् ॥२७४॥
 कृत्वा धर्मपरिग्रहं धृत्वा तस्माद्यथोचितम् । आक्षेपिण्यादिकाः^५ सम्यक्^६ कथाबन्धोदयादिकम् ॥२७५॥
^७ कर्मनिर्मुक्तसंप्राप्तं शर्मसारं प्रबुद्धधीः । शिवंकरमहादेव्यास्तनूजो^८ जगतां प्रियः ॥२७६॥
 अवार्योऽनन्तवीर्यालयः शत्रुभिः शस्त्रशालवित् । आकुमारं^९ यशस्तस्य^{१०} शौर्यं शत्रुजयावधि ॥२७७॥
 त्यागः सर्वार्थिसंतर्पी सत्यं स्वप्नेऽप्यविप्लुतम्^{११} । विधायाभिष्वं तस्मै प्रदायात्मीयसंपदम् ॥२७८॥
 पदं परं परिप्राप्तुमव्यग्रममिलायुक्तः । विसर्जितसगोत्रा^{१२} दिर्विनिर्जितनिजेन्द्रियः ॥२७९॥
 वितर्जितमहामोहः समर्जितशुभाशयः^{१३} । विजयेन जयन्तेन संजयन्तेन सानुजैः ॥२८०॥
 अन्यैश्च निश्चितत्यागै रागद्वेषाविदूषितैः । रविकीर्त्ति^{१४} रविजयोऽरिन्दमोऽरिंजयाह्वयः ॥२८१॥
 सुजयश्च सुकान्तश्च सप्तमदवाजितंजयः । महाजयोऽतिवीर्यश्च^{१५} वीरंजयसमाह्वयः ॥२८२॥
 रविवीर्यस्तथाऽन्ये च तनूजाश्चक्रवर्तिनः । तैश्च साहं सुनिर्विण्णैश्चरमात्रो विशुद्धिभाक् ॥२८३॥

वृत्तान्त कहकर उन दोनोंसे क्षमा माँगी और फिर बड़े-बड़े रत्नोंसे पूजा कर वह स्वर्गको चला गया । इधर जयकुमार भी प्रिया-सुलोचनाके साथ चिरकाल तक बड़े प्रेमसे विहारकर वापस लौटे और नगरमें आकर श्रेष्ठ सुखोंका अनुभव करने लगे ॥२५९-२७३॥

अथानन्तर-जिसे आत्मज्ञान उत्पन्न हुआ है ऐसे जयकुमारने किसी एक दिन आनन्दके पात्र श्री आदिनाथ तीर्थकरके पास जाकर उनकी वन्दना की, धर्मविषयक प्रश्न कर उनका यथा योग्य उत्तर सुना, आक्षेपिणी आदि कथाएँ कहीं और कर्मोंके बन्ध उदय आदिकी चर्चा की ॥२७४-२७५॥ इस प्रकार प्रबुद्ध बुद्धिको धारण करनेवाले जयकुमारने कर्मोंके नाशसे प्राप्त होने योग्य श्रेष्ठ सुखको प्राप्त किया । तदनन्तर उसने जो लोगोंको बहुत ही प्रिय है, जिसे शत्रु नहीं रोक सकते हैं, जो शस्त्र और शास्त्र दोनोंका जाननेवाला है, जिसका यश कुमार अवस्थासे ही फैल रहा है, जिसकी शूरवीरता शत्रुओंके जीतने तक है, जिसका दान सब याचकोंको सन्तुष्ट करनेवाला है, और जिसका सत्य कभी स्वप्नमें भी खण्डित नहीं हुआ है ऐसे शिवंकर महादेवीके पुत्र अतन्तवीर्यका राज्याभिषेक कर उसे अपनी सब राज्य-सम्पदा दे दी ॥२७६-२७८॥ तदनन्तर जो आकुलतारहित परम पद प्राप्त करनेकी इच्छा कर रहा है, जिसने अपने सब कुटुम्बका परित्याग कर दिया है, अपनी इन्द्रियोंको वश कर लिया है, महामोहको डोट दिखा दी है और शुभासूचका संचय किया है ऐसे चरमशरीरी तथा विशुद्धि-को धारण करनेवाले जयकुमारने विजय, जयन्त, संजयन्त तथा परिग्रहके त्यागका निश्चय करनेवाले और राग-द्वेषसे अदूषित अन्य छोटे भाइयों एवं रविकीर्त्ति, रविजय, अरिन्दम, अरिंजय सुजय, सुकान्त, सातवीं अजितंजय, महाजय, अतिवीर्य, वरंजय, रविवीर्य तथा इनके सिवाय और भी वैराग्यको प्राप्त हुए चक्रवर्तीके पुत्रोंके साथ-साथ दीक्षा धारण की ॥२७९-२८३॥

१ प्रशंसा जकार । २ जयसुलोचनयोः । ३ तथा ल० । ४ मण्डभाजनं कल्याणभाजनं वा । तीर्थादि-ल० । ५ आक्षेपणी विक्षेपणी संवेजनी निर्वेजनीति चेति चतस्रः । “आक्षेपणी स्वमतसंग्रहणी समेक्षी विक्षेपणी कुमतनिग्रहणी यथार्हम् । संवेजनी प्रथयितुं सुकृतानुभावं निर्वेजनीं वदतु धर्मकथाविरक्त्यै ॥” ६ कृत्वा कथा-बन्धोदयादिकाः ल०, प०, इ०, स० । ७ कर्मबन्धविमुक्तैः प्राप्तुं योग्यम् । ८ जनताप्रियः ल०, प०, अ०, स०, इ० । ९ कुमारकालादारम्य । १० अनन्तवीर्यस्य । ११ अविच्युतम् । निर्वर्षि वा । १२ दान्यवादि । ‘सगोत्रबान्धवजातिबन्धुस्त्वजनाः समाः’ इत्यभिधानात् । १३ शुभासूचकः ल० । १४ रविकीर्त्तिनामा । १५ रविजयो ल०, प०, स०, इ० । १६ वरञ्जय ल०, अ०, प०, स० ।

एष पात्रविशेषस्ते संवीक्षुं शासनं महत् । इति विश्वमहीशेन^१ देवदेवस्य^२ सोऽर्पितः^३ ॥२८४॥
 कृतग्रन्थपरित्यागः प्राप्तग्रन्थार्थसंग्रहः । प्रकृष्टं संयमं प्राप्य सिद्धसप्तद्विचर्द्धितः ॥२८५॥
 चतुर्जानामलज्योतिर्हतातमनस्तमाः । अभूत् गणधरो भर्तुरेकसप्तसिंहाकरः ॥२८६॥
 सुलोचनाप्यसंहार्यशोकः पतिवियोगतः । गलिताकल्पवल्लीव^४ प्रमलानामरभूतहेत् ॥२८७॥
 शमिता^५ चक्रवर्तीष्टकान्तयाऽशु सुभद्रया । आह्वीसमीपं प्रयज्य भाविसिद्धिश्चिरं तपः ॥२८८॥
 कृत्वा विमाने साऽनुत्तरेऽभूत् कल्पेऽच्युतेऽमरः । आदितीर्थाधिनाथोऽपि मोक्षमार्गं प्रवर्तयन् ॥२८९॥
 चतुरुत्तरयाऽशीत्या विविधर्द्धिविभूषितैः । चिरं वृषभसेनादिगणेशैः परिवेष्टितः ॥२९०॥
 स्वपञ्चसप्तकारिभिर्मिलपूर्वधरान्वितः । स्वपञ्चैकचतुर्मेव शिक्षकैर्मुनिभिर्भुतः ॥२९१॥
 तृतीयज्ञानसंज्ञैः सहस्रैर्नवनिर्भुतः^६ । केवलवगमैर्विशतिसहस्रैः समन्वितः ॥२९२॥
 स्वतृत्तुल्यपक्षोरुचिक्रियर्द्धिविचर्द्धितः^७ । सप्तसप्तपक्षैकमिततुर्चविदन्वितः^८ ॥२९३॥
 तावज्जिर्वादिभिर्वन्धो निरस्तपरवादिभिः । चतुष्टयवार्द्धगष्टमितैः सर्वैश्च पिण्डितैः ॥२९४॥
 संयमस्थानसंप्राप्तसंपन्नस्त्रिस्तत्रिचरितः । स्वचतुर्लोकैर्द्रव्याग्न्युक्तपूज्यब्राह्मणार्थिकादिभिः ॥२९५॥
 आर्थिकाभिरभिष्टुयमाननानागुणोदयः । दृढप्रतादिभिरलक्षत्रयोक्तैः श्रावकैः श्रितः ॥२९६॥
 श्राविकाभिः स्तुतः पञ्चलक्षभिः सुव्रतादिभिः । मावनादिचतुर्भेददेवदेवीदितक्रमः ॥२९७॥

उस समय भगवान् ऋषभदेवके समीप जयकुमार ऐसा सुशोभित हो रहा था मानो आपके बड़े भारी शासनको धारण करनेके लिए यह एक विशेष पात्र है यही समझकर महाराज भरतने उसे भगवान्के लिए सौंपा हो ॥२८४॥ इस प्रकार जिसने सब परिग्रहका त्याग कर दिया है, सम्पूर्ण श्रुतका अर्थसंग्रह प्राप्त किया है, जो उत्कृष्ट संयम धारण कर सात ऋद्धियोंसे निरन्तर बढ़ रहा है, और चार ज्ञानरूपी निर्मल ज्योतिसे जिसने मनका विस्तीर्ण अन्धकार नष्ट कर दिया है ऐसा वह जयकुमार भगवान्का इकहत्तरवाँ गणधर हुआ ॥२८५-२८६॥ इधर पतिके वियोगसे जिसे बड़ा भारी शोक रहा है और जो पड़े हुए कल्पवृक्षसे नीचे गिरी हुई कल्पलताके समान निष्प्रभ हो गयी है ऐसी सुलोचनाने भी चक्रवर्तीकी पट्टरानी सुभद्राके समझानेपर ब्राह्मी आर्थिकाके पास शीघ्र ही दीक्षा धारण कर ली और जिसे आगामी पर्यायमें मोक्ष होनेवाला है ऐसी वह सुलोचना चिरकाल तक तप कर अच्युतस्वर्गके अनुत्तरविमानमें देव पैदा हुई ।

इधर जो मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति चला रहे हैं, अनेक ऋद्धियोंसे सुशोभित वृषभसेन आदि चौरासी गणधरोंसे घिरे हुए हैं, चार हजार सात सौ पचास पूर्वज्ञानियोंसे सहित हैं, चार हजार एक सौ पचास शिक्षक मुनियोंसे युक्त हैं, नौ हजार अवधिज्ञानरूपी नेत्रको धारण करनेवाले मुनियोंसे सहित हैं, बीस हजार केवलज्ञानियोंसे युक्त हैं, बीस हजार छह सौ विक्रिया ऋद्धिके धारक मुनियोंसे वृद्धिको प्राप्त हो रहे हैं, बारह हजार सात सौ पचास मनःपर्ययज्ञानियोंसे अन्वित हैं, परवादियोंको हटानेवाले बारह हजार सात सौ पचास वादियोंसे वन्दनीय हैं, और इस प्रकार सब मिलाकर तपश्चरणरूपी सम्पदाओंको प्राप्त करनेवाले चौरासी हजार चौरासी मुनिराज जिनकी निरन्तर पूजा करते हैं, ब्राह्मी आदि तीन लाख पचास हजार आर्थिकाएँ जिनके गुणोंका स्तवन कर रही हैं, दृढव्रत आदि तीन लाख श्रावक जिनकी सेवा कर रहे हैं, सुव्रता आदि पाँच लाख श्राविकाएँ जिनकी स्तुति कर रही हैं, भवनवासी आदि चार प्रकारके देव देवियाँ जिनके चरणकमलोंका स्तवन कर रही हैं, क्षीपाये आदि तिर्यग्गतिके जीव जिनकी

१. भरतेश्वरेण । २. वृषभेश्वरस्य । ३. जयः । ४. अष्टादमर-ल०, प०, अ०, स०, इ० । ५. उपशान्ति नीता । ६. मातुं योग्य । ७. -निर्भुतः ल० । ८. अवधिज्ञान । ९. -भिर्भुतः ल० । १०. -राजितः । ११. मनः-पर्ययज्ञानिसहितः ।

चतुष्टयदादिभिस्तिर्यग्जातिभिश्चामिषेवितः । चतुस्त्रिंशदतीशेष^१ विशेषैर्लक्षितोदयः ॥२९८॥
^२आत्मोपाधिविशिष्टाश्चोदयः सुखवीर्यसद^३ । देहसौन्दर्यवासोक्त^४ सप्तसंस्थानसंगतः ॥२९९॥
 प्राप्तिहार्याष्टकोद्दिष्टनष्टधातिचतुष्टयः । वृषभाद्यन्विताथार्ष्टसहस्राह्वयमाषितः ॥३००॥
 विकासितविनेयाम्बुजावलिचंचनाशुभिः । संवृताअलिपङ्केजमुकुलेनाविलेशिना ॥३०१॥
 भरतेन समभ्यर्च्य^५ पृष्टो धर्ममभाषण । श्रियते आस्यस्यै^६ विनेयान्^७ कुगतेस्ततः^८ ॥३०२॥
 धर्म इत्युच्यते सन्निधुर्भेद^९ समाश्रितः । सम्यग्दर्शनचारित्र्यतपोरूपः कृपापरः^{१०} ॥३०३॥
 जीवादिसप्तके तत्त्वे श्रद्धानं यत् स्वतोऽज्ञसा^{११} । परप्रणयनाद् वा तत् सम्यग्दर्शनमुच्यते ॥३०४॥
 शङ्कादिवोधानंमुक्तं भावत्रयविवेचितम्^{१२} । तेषां जीवादिसप्तानां संशयादिशिवर्जनात्^{१३} ॥३०५॥
 याथात्म्यतः परिज्ञानं सम्यग्ज्ञानं समादिशेत् । यथाकर्माश्रयो न स्याच्चारित्र्यं संयमस्तथा ॥३०६॥
 निर्जरा कर्मणां येन तेन वृत्तिस्तपो भूतम् । चत्वार्येतानि मिश्राणि कषायैः स्वर्गहेतवः ॥३०७॥
 निष्कषायाणि नाकस्य मोक्षस्य च द्वितैषिणाम् । चतुष्टयमिदं कर्म मुक्तेर्दुष्प्रापमंगिभिः ॥३०८॥
 मिथ्यात्वमद्यताचारः प्रमादाः सकषायता^{१४} । योगाः शुभाशुभा जन्तोः कर्मणां बन्धहेतवः ॥३०९॥

सेवा कर रहे हैं, चौतीस अतिशय विशेषोंसे जिनका अभ्युदय प्रकट हो रहा है, जो केवल आत्मा-
 स उत्पन्न होनेवाले विशिष्ट ज्ञान, विशिष्ट दर्शन, विशिष्ट सुख और विशिष्ट वीर्यको प्राप्त हो रहे
 हैं, जो शरीरकी सुन्दरतासे युक्त हैं, जो सञ्जाति आदि सात परम स्थानोंसे संगत हैं, जो आठ
 प्राप्तिहार्योंसे युक्त हैं, जिन्होंने चार धातिया कर्म नष्ट कर दिये हैं, जो वृषभ आदि एक हजार
 आठ नामोंसे कहे जाते हैं और जिन्होंने भव्य जीवरूपी कमलोंके बदनको प्रफुल्लित कर दिया है
 ऐसे भगवान् वृषभदेवके पास जाकर मुकुलित कमलके समान हाथ जोड़े हुए चक्रवर्ती भरतने
 उनको पूजा की और धर्मका स्वरूप पूछा तब भगवान् इस प्रकार कहने लगे -

जो शिष्योंको कुगतिसे हटाकर उत्तम स्थानमें पहुँचा दे सत् पुरुष उसे ही धर्म कहते
 हैं । उस धर्मके चार भेद हैं - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य और सम्यक्तप । यह
 धर्म कर्तव्य प्रधान है ॥२९७-३०३॥ अपने-आप अथवा दूसरेके उपदेशसे जीव आदि सात
 तत्त्वामें जो यथार्थ श्रद्धान होता है वह सम्यग्दर्शन कहलाता है ॥३०४॥ यह सम्यग्दर्शन शंका
 आदि दोषोंसे रहित होता है तथा औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक इन तीन भावों-
 द्वारा इसकी विवेचना होती है अर्थात् भावोंकी अपेक्षा सम्यग्दर्शनके तीन भेद हैं । संशय,
 विपर्यय और अनध्यवसायका अभाव होनेसे उन्हीं जीवादि सात तत्त्वोंका यथार्थ ज्ञान होना
 सम्यग्ज्ञान कहलाता है । जिससे कर्मोंका आस्रव न हो उसे चारित्र्य अथवा संयम कहते हैं ।
 ॥३०५-३०६॥ जिससे कर्मोंकी निर्जरा हो ऐसी वृत्ति धारण करना तप कहलाता है । ये
 चारों ही गुण यदि कषायसहित हों तो स्वर्गके कारण हैं और कषायरहित हों तो आत्माका
 हित चाहनेवाले लोगोंको स्वर्ग और मोक्ष दोनोंके कारण हैं । ये चारों ही मोक्षके मार्ग हैं
 और प्राणियोंको बड़ी कठिनाईसे प्राप्त होते हैं ॥३०७-३०८॥ मिथ्यात्व, अश्रुताचरण,
 (अविरति), प्रमाद, कषाय और शुभ-अशुभ योग ये जीवोंके कर्मबन्धके कारण हैं ॥३०९॥

१ अतिशय । २ आत्मा उपाधिः कारणं यस्य । ३ वीर्यगः ल०, प०, इ०, अ०, स० । प्रसस्त-सौन्दर्यवास ।
 शमवसरण । ४ सौन्दर्यवान् स्वोक्तसप्त-ल०, प०, इ०, अ०, स० । ५ अभ्युदयनिःश्रेयसरूपोन्नतस्थाने ।
 ६ भगवान् । ७ दुर्गतेः सकाशात् अपसार्य । ८ ततः कारणात् । ९ दयाप्रधानः । क्रियापरः ल० । १० परोप-
 वेयात् । ११ औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकभावैर्निर्णीतम् । १२ विमर्जनात् ल० । १३ सकषायत्वम् ।

मिथ्यात्वं पञ्चधा साष्टशतं चाविरतिर्मता । प्रमादाः पञ्चदश च कषायास्ते चतुर्विधाः ॥३१०॥

वीर्याः पञ्चदश स्त्रियाः सम्प्रदानेन विहोयन्ते । सङ्कीर्णभेदेन कर्माण्युक्तानि कोविदैः ॥३११॥

बन्धश्चतुर्विधो ज्ञेयः प्रकृत्यादिविकल्पितः । कर्माण्युदयसंप्राप्त्या हेतवः फलबन्धयोः ॥३१२॥

तद्युयं संसृतेर्हेतुं परिष्वज्य गृहाश्रमम् । दोषदुःखजराभृत्युपापघ्नाय मयावहम् ॥३१३॥

शक्तिमन्तस्समासन्नचिनेया^१ त्रिदितागमाः । गुण्यादिषड्विधे^२ सम्यगनुगत्य यथोचितम् ॥३१४॥

प्रेक्षोपेक्षादिभेदेषु वीतरागादिकेषु च । पुलाकादिप्रकारेषु व्यपेतागारकादिषु ॥३१५॥

प्रमत्तादिगुणस्थानविशेषेषु च सुस्थिताः । निश्चयव्यवहारोक्तमुपायं मोक्षमुत्तमम् ॥३१६॥

तथा गृहाश्रमस्थाश्च सम्यग्दर्शनपूर्वकम् । दानशीलोपवासाहंदादिपूजोपलक्षिताः ॥३१७॥

आश्रितैकादशोपासकमताः सुशुभाशयाः^३ । संप्राप्तपरमस्थानसप्तकाः सन्तु धीधनाः ॥३१८॥

इति सत्त्वसंदर्भगर्भवारिषभवात्प्रमोः^४ । सप्तमो^५ सरताधीशः सर्वमेवममन्यत ॥३१९॥

त्रिज्ञाननेत्रसम्यक्प्रवृद्धिभाग् देशसंयतः । स्वधारमभिधन्यायात् कैलासाग्नगरोत्तमम् ॥३२०॥

जगत्त्रितयनायोऽपि धर्मक्षेत्रेऽनारतम् । उपस्था सद्धर्मबीजानि त्र्यविष्टद्धर्मवृष्टिभिः ॥३२१॥

मिथ्यात्व पाँच तरहका है, अविरति एक सौ आठ प्रकारकी है, प्रमाद पन्द्रह है, कषायके चार भेद हैं, और सम्यग्ज्ञानरूपी नेत्रको धारण करनेवाले लोगोंको योगके पन्द्रह भेद जानना चाहिए । विद्वानोंने कर्मोंका निरूपण मूल और उत्तरभेदके द्वारा किया है — कर्मोंके मूल भेद आठ हैं और उत्तरभेद एक सौ अड़तालीस हैं ॥३१०-३११॥ प्रकृति आदिके भेदसे बन्ध चार प्रकारका जानना चाहिए तथा कर्म उदयमें आकर ही फल और बन्धके कारण होते हैं । भावार्थ — पहलेके बंधे हुए कर्मोंका उदय आनेपर ही उनका सुख-दुःख आदि फल मिलता है तथा नवीन कर्मोंका बन्ध होता है ॥३१२॥ तुम लोग भक्तिमान् हो, निकटभव्य हो और आगमको जाननेवाले हो, इसलिए संसारके कारण स्वरूप — दोष, दुःख, बुढ़ापा और मृत्यु आदि पापोंसे भरे हुए इस भयंकर गृहस्थाश्रमको छोड़कर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्र्य इन छहोंका अच्छी तरह अभ्यास करो तथा जिनके उपेक्षा आदि भेद कहे गये हैं ऐसे वीतरागादि मुनियोंमें, जिनके पुलाक आदि भेद हैं ऐसे अनगरादि मुनियोंमें अथवा प्रमत्त-संयतको आदि लेकर उत्कृष्ट गुण-स्थानोंमें रहनेवाले प्रमत्तविरत आदि मुनियोंमें-से किसी एककी अवस्था धारण कर निश्चय और व्यवहार दोनों प्रकारके उत्तम मोक्षकी उपासना करो ॥३१३-३१६॥ इसी प्रकार गृहस्थाश्रममें रहनेवाले बुद्धिमान् पुरुष सम्यग्दर्शन पूर्वक दान, शील, उपवास तथा अरहन्त आदि परमेष्ठियोंकी पूजा करें, शुभ परिणामोंसे श्रावकोंकी ग्यारह प्रतिमाओंका पालन करें और यथायोग्य सज्जाति आदि सात परमस्थानोंको प्राप्त हों ॥३१७-३१८॥ इस प्रकार भरतेश्वरने समीचीन तत्त्वोंकी रचनासे भरी हुई भगवान्की वचनरूप विभूति सुनकर सब समाके साथ-साथ कही हुई सब बातोंको ज्योंकी त्यों माना अर्थात् उनका ठीक-ठीक श्रद्धान किया ॥३१९॥ मति, श्रुत, अवधि — इन तीनों ज्ञानरूपी नेत्रों और सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिको धारण करनेवाला देशसंयमी भरत भगवान् वृषभदेवकी वन्दना कर कैलास पर्वतसे अपने उत्तम नगर अयोध्याको आया ॥३२०॥ इधर तीनों लोकोंके स्वामी भगवान् आदिनाथने भी धर्मके योग्य क्षेत्रोंमें समीचीन धर्मका बीज बोकर उसे धर्मवृष्टिके

१ साष्टशतधाविरति — ल०, प०, अ०, स०, इ० । २ तत् कारणात् । ३ भक्ति—ल०, प०, इ०, अ०, स० ।

४ अस्थासन्नभग्न्याः । ५ गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्र्यभेदैः । ६ सुशु शोभनपरिणामाः । ७ पूर्वोत्तर-तरव । ८ पुरोस्तकाशात् । विभी ल० । ९ सभासहितः ।

सता सत्कलमंप्राप्त्यै विहरन् स्वगणैः समम् । चतुर्दशदिनीपेतसहस्राब्दीनपूर्वकम् ॥३२२॥
 लक्षं कैलासमासाद्य श्रीसिद्धशिखराश्रिते । पौर्णमासीदिने पौषे^१ निरिच्छः समुपाविशत् ॥३२३॥
 तदा भरतराजेन्द्रो महामन्दरभूधरम् । आग्राग्राभारं व्यलोकित्वा स्वप्ने दैर्घ्येण संस्थितम् ॥३२४॥
 तदैव युवराजोऽपि^२ स्वर्गादेव्य महौषधिः । द्रुमश्छिद्य नृणां जन्मरोगं स्वयान्तमैक्षत्^३ ॥३२५॥
 कल्पद्रुमममीष्टार्थं वृत्वा नृभ्यो निरन्तरम् । गृहेट्^४ निशामयामास^५ स्वर्गप्राप्तिसमुद्यतम् ॥३२६॥
 रत्नद्वीपं त्रिविधं^६ नानारत्नकवम्बकम् । प्रादायाभ्रगमोद्यकमव्राक्षीत् सचिवाग्रिमः ॥३२७॥
 यज्ञपञ्जरमुज्जिह्व कैलासं गजवैरिणम् । उल्लङ्घयितुमुद्यन्तं सेनापतिमपश्यत् ॥३२८॥
 आलुलोके बुधो^७ अनन्तवीर्यः श्रीमान् जयात्मजः । यातं त्रैलोक्यभामास्य सतारं^८ तारकेधरम् ॥३२९॥
 यशस्वतीसुतन्दाभ्यां सान्द्रं शक्रमनःप्रिया । शोचन्तीश्चिरमव्राक्षीत् सुभद्रा^९ स्वप्नगोचरा ॥३३०॥
 वाराणसीपतिश्चित्राङ्गदोऽध्यालोकताकुलः । खमुत्पतन्तं भास्वन्तं प्रकाश्य धरणीतलम् ॥३३१॥
^{११} एवमालोकितस्वप्ना राजराजपुरस्सराः । पुरोधसं फलं तेषामपृच्छन्नर्थमोदये^{१२} ॥३३२॥
 कर्मणि^{१३} हृत्वा निःकुलं भुनिभधुमिः समम् । पुरोः सर्वेऽपि संस्रन्ति स्वप्नाः स्वर्गगामिताम्^{१४} ॥३३३॥
 इति स्वप्नफलं तेषां^{१५} भाषमाणे पुरोहिते । तदैवानन्दनामैव्य मर्तुः^{१६} स्थितिमवेदयत् ॥३३४॥
 ध्वनौ भगवता दिव्ये संहते सुकुलीभवत् । कराम्बुजा सभा जाता पूष्णीक^{१७} सरसीत्यसौ ॥३३५॥

द्वारा खूब ही सींचा ॥३२१॥ इस प्रकार सज्जनोंको मोक्षरूपी उत्तम फलकी प्राप्ति करानेके लिए भगवान्ने अपने गणधरोके साथ-साथ एक हजार वर्ष और चौदह दिन कम एक लाख पूर्व विहार किया । और जब आयुके चौदह दिन बाकी रह गये तब योगोंका विरोध कर पीष मासकी पौर्णमासीके दिन श्रीशिखर और सिद्धशिखरके बीचमें कैलास पर्वतपर जा विराजमान हुए ॥३२२ - ३२३॥ उसी दिन महाराज भरतने स्वप्नमें देखा कि महामेरु पर्वत अपनी लम्बाई-से सिद्ध क्षेत्र तक पहुँच गया है ॥३२४॥ उसी दिन युवराज अर्ककीर्तिने भी स्वप्नमें देखा कि एक महौषधिका वृक्ष मनुष्योंके जन्मरूपी रोगको नष्ट कर फिर स्वर्गको जा रहा है ॥३२५॥ उसी दिन गृहपतिने देखा कि एक कल्पवृक्ष निरन्तर लोगोंके लिए उनकी इच्छानुसार अभीष्ट फल देकर अब स्वर्ग जानेके लिए तैयार हुआ है ॥३२६॥ प्रधानमन्त्रीने देखा कि एक रत्न-द्वीप, ग्रहण करनेकी इच्छा करनेवाले लोगोंको अनेक रत्नोंका समूह देकर अब आकाशमें जानेके लिए उद्यत हुआ है ॥३२७॥ सेनापतिने देखा कि एक सिंह वज्रके पिंजड़ेको तोड़कर कैलास पर्वतको उल्लंघन करनेके लिए तैयार हुआ है ॥३२८॥ जयकुमारके विद्वान् पुत्र श्रीमान् अनन्त-वीर्यने देखा कि चन्द्रमा तीनों लोकोंको प्रकाशित कर ताराओं सहित जा रहा है ॥३२९॥ सोती हुई सुभद्राने देखा कि यशस्वती और सुतन्दाके साथ बैठी हुई इन्द्राणी बहुत देर तक शोक कर रही है ॥३३०॥ बनारसके राजा चित्रांगदने घमड़ाहटके साथ यह स्वप्न देखा कि सूर्य पृथिवीतलको प्रकाशित कर आकाशकी ओर उड़ा जा रहा है ॥३३१॥ इस प्रकार भरतको आदि लेकर सब लोगोंने स्वप्न देखे और सूर्योदय होते ही सबने पुरोहितसे उनका फल पूछा ॥३३२॥ पुरोहितने कहा कि ये सभी स्वप्न कर्मोंको बिलकुल नष्ट कर भगवान् घृषभदेवका अनेक मुनियोंके साथ-साथ मोक्ष जाना सूचित कर रहे हैं ॥३३३॥ इस प्रकार पुरोहित उन सबके लिए स्वप्नोंका फल कह ही रहा था कि इतनेमें ही आनन्द नामका एक मनुष्य आकर भगवान्का सब हाल कहने लगा ॥३३४॥ उसने कहा कि भगवान्ने अपनी दिव्यध्वनिका

१ पुष्यमासे । २ पूर्वसिद्धक्षेत्रपर्यन्तम् । ३ अर्ककीर्तिः । ४ स्वर्गं गतम् । ५ गृहपतिरत्नम् । ६ ददर्श । ७ गृहीतु-
 मिच्छुभ्यः । ८ बुद्धिमान् । ९ तारकासहितम् । १० स्त्रीरत्नम् । ११ एवं विलोकित-ल० । १२ सूर्योदये ।
 १३ मोक्षगामित्वम् । १४ भरतादीनाम् । १५ पुरोः । १६ सूर्ये । इत्यसाववेदयदिति संबन्धः ।

तदाकर्णेनमात्रेण सत्वरः सर्वसंगतः । अक्रवर्ती^१ तमभ्येत्य त्रिःपरीत्य कृतस्तुतिः ॥३३६॥
 महामहमहापूजां भक्त्या निरवर्तयभक्त्यम् । चतुर्दश दिनान्येवं भगवन्तमसेवत ॥३३७॥
 माघकृष्णचतुर्दश्यां भगवान् भास्करोदये । मुहूर्तेऽभिजिति प्रातःपक्ष्यङ्को मुनिभिः समम् ॥३३८॥
 प्राग्दिक्षुस्वस्तुतोयेन शुक्लध्यानेन रुद्रवान् । योगत्रितयमन्येन ध्यानेनावतिकर्मणाम् ॥३३९॥
 पञ्चहस्त्रस्वरोच्चारणप्रमाणेन संक्षयम् । कालेन विदधत्यान्तगुणस्थानमधिष्ठितः ॥३४०॥
 शरीरत्रितयापाये प्राप्य सिद्धत्वपर्ययम् । निजाष्टगुणसंपूर्णः क्षणासतनुधातकः ॥३४१॥
 निस्थो निरञ्जनः किञ्चिदूनो वेहादमूर्तिभाक् । स्थितः स्वसुखसाज्जलः पश्यन्निश्चमनारतम्^२ ॥३४२॥
 तदागत्य सुराः सर्वे प्रान्तपूजाधिकीर्षया^३ । पवित्रं परमं मोक्षसाधनं शुचिनिर्मलम् ॥३४३॥
 शरीरं भर्तुस्त्वेति परार्ध्यविशिकीर्षितम्^४ । अग्नीन्द्रक्षमाभासिप्रोत्पुङ्गमुकुटोद्भवा^५ ॥३४४॥
 चन्दनागुरुकर्पूरवारी^६ काश्मीरजादिभिः^७ । घृतक्षीरादिभिश्चासृद्धिना हुतभोजना ॥३४५॥
 जगद्गृहस्य सौगन्ध्यं संपाद्याभूतपूर्वकम्^८ । तदाकारोपमर्देन^९ पर्याप्तान्तरमानयन्^{१०} ॥३४६॥
 अभ्यर्चिताग्निकुण्डस्य गन्धपुष्पादिमिस्तथा । तस्य दक्षिणभागेऽभूद् गणभृत्संस्क्रियानलः ॥३४७॥
 तस्यापरस्मिन् दिग्भागे शेषकेवलिकायगः । एवं वह्निप्रयं भूमा अवस्थाप्यामरेश्वराः ॥३४८॥

संकोच कर लिया है इसलिए सम्पूर्ण सभा हाथ जोड़कर बैठी हुई है और ऐसा जान पड़ता है मानो सूर्यास्तके समय निमीलित कमलोंसे युक्त सरसी ही हो ॥३३५॥ यह सुनते ही भरत अक्रवर्ती बहुत ही शीघ्र सब लोगोंके साथ-साथ कैलास पर्वतपर गए, वहाँ जाकर उसने भगवान् वृषभदेवकी तीन प्रदक्षिणाएँ दीं, स्तुति कीं और भक्तिपूर्वक अपने हाथसे महामह नामकी पूजा करता हुआ वह चौदह दिन तक इसी प्रकार भगवान्की सेवा करता रहा ॥३३६-३३७॥ माघ कृष्ण चतुर्दशीके दिन सूर्योदयके शुभ मुहूर्त और अभिजित् तन्त्रवर्गमें भगवान् वृषभदेव पूर्वदिशाकी ओर मुँहकर अनेक मुनियोंके साथ-साथ पर्यंकासनसे विराजमान हुए, उन्होंने तीसरे-सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामके शुक्ल ध्यानसे तीनों योगोंका निरोध किया और फिर अन्तिम गुणस्थानमें ठहरकर पाँच लघु अक्षरोंके उच्चारण प्रमाण कालमें चौथे व्युपरत क्रिया-निवृत्ति नामके शुक्लध्यानसे अघातिया कर्मोंका नाश किया । फिर औदारिक, तैजस और कामेण इन तीनों शरीरोंके नाश होनेसे सिद्धत्वपर्याय प्राप्त कर वे सम्यक्त्व आदि निजके आठ गुणोंसे युक्त हो क्षण भरमें ही तनुवातवलयमें जा पहुँचे तथा वहाँपर नित्य, निरञ्जन, अपने शरीरसे कुछ कम, अमूर्त, आत्मसुख तल्लीनमें और निरन्तर संसारको देखते हुए विराजमान हुए ॥३३८-३४२॥ उसी समय मोक्ष-कल्याणककी पूजा करनेकी इच्छासे सब देव लोग आये उन्होंने "यह भगवान्का शरीर पवित्र, उत्कृष्ट, मोक्षका साधन, स्वच्छ और निर्मल है" यह विचारकर उसे बहुमूल्य पालकीमें विराजमान किया । तदनन्तर जो अग्निकुमार देवोंके इन्द्रके रत्नोंकी कान्तिसे देदीप्यमान उन्नत मुकुटसे उत्पन्न हुई है तथा चन्दन, अगुरु, कपूर, केशर आदि सुगन्धित पदार्थों और घी दूध आदिसे बढ़ायी गयी है ऐसी अग्निसे जगत्की अभूतपूर्व सुगन्धि प्रकट कर उसका वर्तमान आकार नष्ट कर दिया और इस प्रकार उसे दूसरी पर्याय प्राप्त करा दी ॥३४३-३४६॥ गन्ध, पुष्प आदिसे जिसकी पूजा की गयी है ऐसे उस अग्निकुण्डके दाहिनी ओर गणधरोंके शरीरका संस्कार करनेवाली अग्नि स्थापित की और बायीं ओर तीर्थंकर तथा गणधरोंसे अतिरिक्त अन्य सामान्य केवलियोंके शरीरका संस्कार

१ जिनम् । २ लोकालोकम् । ३ निर्वाणपूजां कर्तुमिच्छया । ४ याते स्थापितम् । ५ मुकुटोद्भूतेन । ६ कर्पूरमणि । ७ कुंकुमादिभिः । ८ पूर्वस्मिन्नजातम् । ९ शरीराकारोपमर्देन । १० भस्मीभावं अकुरित्यर्थः ।

ततो भस्म समादाय पञ्चकल्याणभागिनः । वयं चैवं भवामेति स्वललाटे भुजद्वये ॥३४८॥

ततोऽपि सप्तमादिप्रतिमाओंको धारण करनेवाले सभी ब्रह्मचारियों, तुम लोग तीनों सन्ध्याओंमें स्वयं गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि इन तीन

अग्नियोंकी स्थापना करो, और उनके समीप ही धर्मचक्र, छत्र तथा जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाओंकी

स्थापना कर तीनों काल मन्त्रपूर्वक उनकी पूजा करो । इस प्रकार गृहस्थोंके द्वारा आदर-सत्कार

पाते हुए अतिथि बनो ॥३५१-३५४॥

इधर उस समय इष्टके वियोगसे उत्पन्न हुई और स्नेहसे प्रज्वलित हुई शोकरूपी अग्नि

भरतके प्रबुद्ध चित्तको भी जला रही थी ॥३५५॥ जब भरतका यह हाल देखा तब वृषभसेन

गणधर भरतका शोक दूर करनेकी इच्छासे अपने सब लोगोंके पूर्वभव स्पष्ट रूपसे कहने लगे

॥३५६॥ उन्होंने कहा कि वृषभदेवका जीव पहले भवमें जयवर्मा था, दूसरे भवमें महाबल

हुआ, तीसरे भवमें ललितांगदेव और चौथे भवमें राजा वज्रजंघ हुआ । पाँचवें भवमें भोग-

भूमिका आर्य हुआ । छठवें भवमें श्रीधरदेव हुआ, सातवें भवमें सुविधि राजा हुआ । आठवें

भवमें अच्युतेन्द्र हुआ, नौवें भवमें राजा वज्रनाभि हुआ, दशवें भवमें सर्वार्थसिद्धिमें अहमिन्द्र

हुआ और वहाँसे आकर सब इन्द्रोंके द्वारा वन्दनीय वृषभदेव हुआ है ॥३५७-३५९॥ श्रेयान्-

का जीव पहले भवमें धनश्री था, दूसरे भवमें निर्णामिका, तीसरे भवमें स्वयंप्रभा देवी, चौथे

भवमें श्रीमती, पाँचवें भवमें भोगभूमिकी आर्या, छठवें भवमें स्वयंप्रभदेव, सातवें भवमें केशव,

आठवें भवमें अच्युतस्वर्गका प्रतीन्द्र, नौवें भवमें धनदत्त, दशवें भवमें अहमिन्द्र हुआ और वहाँसे

अतिगृध्रः पुरा पश्चात्तारकोऽनु चमूरकः^१ । दिवाकरप्रभो देवस्तथा मतिवराह्वयः ॥३६३॥
 ततोऽहमिन्द्रस्तस्माच्च सुबाहुर्हमिन्द्रताम् । प्राप्य त्वं भरतो जातः षट्खण्डाखण्डपालकः ॥३६४॥
 आस्यः सेनापतिः पश्चादार्यस्तस्मात्प्रभंकरः । ततोऽकम्पनभूपालः कल्पातीतस्ततस्ततः ॥३६५॥
 महाबाहुस्ततश्चाभूदहमिन्द्रस्ततश्च्युतः । एष बाहुबली जातो जातापूर्वमहोदयः ॥३६६॥
 मन्त्री प्राग् भोगभूमौऽनु सुरोऽनु कनकप्रभः । आनन्दोऽन्वहमिन्द्रोऽनु ततः पीडाह्वयस्ततः ॥३६७॥
 अहमिन्द्रोऽग्निमोऽभूवमहमद्य गणाधिपः । पुरोहितस्ततश्चायौ बभूवामसम्प्रभजनः ॥३६८॥
 धनमित्रस्ततस्तस्मादहमिन्द्रस्ततश्च्युतः । महापीठोऽहमिन्द्रोऽस्मादन्तविजयोऽग्रयत् ॥३६९॥
 उग्रसेनश्चमूरोऽतो भोगभूमिसमुद्भवः । ततश्चित्राङ्गदस्तस्माद् वरदसः सुरो जयः ॥३७०॥
 ततो गत्वाऽहमिन्द्रोऽभूतस्माच्चारागस्थ भूतलम् । महासेनोऽभवत् कर्ममहासेनाजयोजितः ॥३७१॥
 हरिवाहननामाद्यो वराहार्यस्ततोऽभवत् । मणिकुण्डल्यतस्तस्माद् वरसेनः सुरोत्तमः ॥३७२॥
 ततोऽस्माद् विजयस्तस्मादहमिन्द्रो दिवश्च्युतः । अजनिष्ट विशिष्टेष्टः श्रीषेणः सेवितः श्रिया ॥३७३॥
 नागदत्तस्ततो वानरार्योऽस्माच्च मनोहरः । देवश्चित्राङ्गदस्तस्माद्भूत् सामानिकः सुरः ॥३७४॥
 ततश्च्युतो जयन्तोऽभूदहमिन्द्रस्ततस्ततः । महीतलं समासाद्य गुणसेनोऽभवद् गणी ॥३७५॥

आकर दानतीर्थका नागक तथा पंचाश्चर्यकी सबसे पहले प्रवृत्ति करानेवाला राजा श्रेयान् हुआ है ॥३६०-३६२॥ तेरा जीव पहले भवमें अतिगृध्र नामका राजा था, दूसरे भवमें तारकी हुआ, तीसरे भवमें शार्दूल हुआ, चौथे भवमें दिवाकरप्रभदेव हुआ, पाँचवें भवमें मतिवर हुआ, छठवें भवमें अहमिन्द्र हुआ, सातवें भवमें सुबाहु हुआ, आठवें भवमें अहमिन्द्र हुआ और नौवें भवमें छह खण्ड पृथिवीका अखण्ड पालन करनेवाला भरत हुआ है ॥३६३-३६४॥ बाहुबलीका जीव पहले सेनापति था, फिर भोगभूमिमें आर्य हुआ । उसके बाद प्रभंकर देव हुआ, तदनन्तर अकम्पन हुआ, उसके पश्चात् अहमिन्द्र हुआ, फिर महाबाहु हुआ, फिर अहमिन्द्र हुआ और अब उसके बाद अपूर्व महा उदयको धारण करनेवाला बाहुबली हुआ है ॥३६५-३६६॥ मैं पहले भवमें राजा प्रीतिवर्धनका मंत्री था, उसके बाद भोग-भूमिका आर्य हुआ, फिर कनकप्रभ देव हुआ, उसके पश्चात् आनन्द हुआ, फिर अहमिन्द्र हुआ, वहाँसे आकर पीठ हुआ, फिर सर्वार्थ-सिद्धिका अहमिन्द्र हुआ और अब भगवान् वृषभदेवका गणधर हुआ हूँ । अनन्तविजयका जीव सबसे पहले पुरोहित था, फिर भोगभूमिका आर्य हुआ, उसके बाद प्रभंजन नामका देव हुआ, फिर धनमित्र हुआ, उसके पश्चात् अहमिन्द्र हुआ, उसके अनन्तर महापीठ हुआ, फिर अहमिन्द्र हुआ और अब अनन्तविजय गणधर हुआ है ॥३६७-३६९॥ महासेन पहले भवमें उग्रसेन था, दूसरे भवमें शार्दूल हुआ, तीसरे भवमें भोगभूमिका आर्य हुआ, चौथे भवमें चित्राङ्गद देव हुआ, पाँचवें भवमें वरदत्त राजा हुआ, छठे भवमें देव हुआ, सातवें भवमें जय हुआ, वहाँसे चलकर आठवें भवमें अहमिन्द्र हुआ और नौवें भवमें वहाँसे पृथिवीपर आकर कर्मरूपी महासेनाको जीतनेमें अत्यन्त बलवान् महासेन हुआ है ॥३७०-३७१॥ श्रीषेणका जीव पहले भवमें हरिवाहन था, दूसरे भवमें वराह हुआ, तीसरे भवमें भोगभूमिका आर्य हुआ, चौथे भवमें मणिकुण्डली देव हुआ, पाँचवें भवमें वरसेन नामका राजा हुआ, छठवें भवमें उत्तम देव हुआ, सातवें भवमें विजय हुआ, आठवें भवमें अहमिन्द्र हुआ और नौवें भवमें अतिशय पूज्य तथा लक्ष्मीसे सेवित श्रीषेण हुआ है ॥३७२-३७३॥ गुणसेनका जीव पहले नागदत्त था, फिर वानर हुआ, उसके बाद भोगभूमिका आर्य हुआ, फिर मनोहर नामका देव हुआ, उसके पश्चात् चित्राङ्गद नामका राजा हुआ, फिर सामानिक देव हुआ, वहाँसे च्युत होकर

लोलुपो नकुलार्योऽस्मादेतस्मात्समनोत्थः । ततोऽपि शान्तमदनस्ततः सामानिकामरः ॥३७६॥

राजाऽपराजितस्तस्मादहमिन्द्रस्ततोऽजनि । ततो ममानुजो जातो जयसेनोऽयमूर्जितः ॥३७७॥

शादूलयिक्रीडितम्

हृद्यस्मिन्भवसंकटे भवभूतः स्वेष्टैरनिष्टैस्तथा

संयोगः सहसा वियोगचरमः सर्वस्य नन्वीदृशम् ।

त्वं जानन्नपि किं विषण्णहृदयो विविलिष्टकर्माश्रको

निर्वाणं भगवानवापदतुलं तोषे विषादः कुतः ॥३७८॥

मालिनी

वयमपि चरमाज्ञाः संगमाच्छुद्धबुद्धेः

सकलमलविलोपापादितात्मस्वरूपा ।

निरुपमसुखसारं चक्रवर्तिस्तदीयं^१

पद्मविस्तरेण प्राप्तुमोऽनाप्यमन्यैः ॥३७९॥

हरिणी

भवतु सुहृदां मृत्यौ शोकः शुभाशुभकर्मभिः

भवति हि स^२ चेत्तेषामस्मिन्पुनर्जननावहः ।

अपि नृपः । ३७८-३७९ । विविधलक्ष्मणैः प्राप्ते^३ इतिगद् स्वयं समुपागते

कथमयमहो धीमान् कुर्याच्छुचं यदि नो रिपुः ॥३८०॥

यसन्ततिलका

अष्टापि बुधरिपवोऽस्य समूलतूलं^४

नष्टा गुणैर्गुरुभिरष्टमिरंशं जुष्टः^५ ।

किं नष्टमत्र निधिनाथ जहीहि मोहं

सम्बेहि शोकविजयाय धियं विशुद्धाम् ॥३८१॥

जयन्त हुआ, फिर अहमिन्द्र हुआ और अब वहांसे पृथिवीपर आकर गुणसेन नामका गणधर हुआ है ॥३७४-३७५॥ जयसेनका जीव पहले लोलुप नामका हलवाई था, फिर नेवला हुआ, उसके बाद भोगभूमिका आर्य हुआ, फिर मनोरथ नामका देव हुआ, उसके पश्चात् राजा शान्तमदन हुआ, फिर सामानिक देव हुआ, तदनन्तर राजा अपराजित हुआ, फिर अहमिन्द्र हुआ और अब मेरा छोटा भाई अतिशय बलवान् जयसेन हुआ है ॥३७६-३७७॥ श्री वृषभ-सेन गणधर चक्रवर्ती भरतसे कह रहे हैं कि इस संसाररूपी संकटमें इसी प्रकार सब प्राणियोंको इष्ट-अनिष्ट वस्तुओंका संगम होता है और अन्तमें अकस्मात् ही उसका नाश हो जाता है, तू यह सब जानता हुआ भी इतना खिन्नहृदय क्यों हो रहा है ? भगवान् वृषभदेव तो आठों कर्मोंको नष्ट कर अनुपम मोक्षस्थानको प्राप्त हुए हैं फिर भला ऐसे सन्तोषके स्थानमें विषाद क्यों करता है ? ॥३७८॥ हे चक्रवर्तिन्, हम सब लोग भी चरमशरीरी हैं, शुद्ध बुद्धिको धारण करनेवाले भगवान्के समागमसे सम्पूर्ण कर्ममलको नष्ट कर आत्मस्वरूपको प्राप्त हुए हैं और अनुपम सुखसे श्रेष्ठ तथा अन्य मिथ्यादृष्टियोंके दुर्लभ उन्हीं भगवान्के पदको हम लोग भी बहुत शीघ्र प्राप्त करेंगे ॥३७९॥ इष्ट मित्रोंकी मृत्यु होनेपर शोक हो सकता है क्योंकि उनकी वह मृत्यु शुभ अशुभ कर्मोंसे होती है और फिर भी इस संसारमें उनका जन्म करानेवाली होती है, परन्तु जिसने संसारका नाश कर दिया है और निरन्तर जिसकी प्रार्थना की जाती है ऐसा सिद्ध पद यदि स्वयं प्राप्त हो जावे तो इस बुद्धिमान् मनुष्यको यदि वह शत्रु नहीं है तो शोक कैसे करना चाहिए ? भावार्थ—हर्षके स्थानमें शत्रुको ही शोक होता है, मित्रको नहीं होता इसलिए तুম सबको आनन्द मानना चाहिए न कि शोक करना चाहिए ॥३८०॥ हे निधिपते, भगवान् वृषभदेवके आठों ही दुष्ट शत्रु जड़ और शाखासहित बिलकुल

१ वृषभसेनभरतादयः । २ पुरोः सम्बन्धि । ३ अप्रापणीयम् । ४ मृत्युः । ५ संसारे । ६ मृत्यौ । ७ कारण-सहितम् । ८ सेवितः । ९ सम्यग् धारय ।

देहच्युतौ यदि गुरोर्गुरुं शोचसि त्वं

तं^१ भस्मसात्कृतिमवाप्य^२ विबुद्धरागाः ।

प्राग्जन्मनोऽपि^३ परिकर्मकृतोऽस्य^४ कस्मा-

दानन्दनृत्तमधिकं विदधुर्गुणाधाः ॥३८२॥

शादूलविक्रीडितम्

नेक्षे विश्वदृशं शृणोमि न वचो दिव्यं तदङ्घ्रिद्वये

नम्रस्तस्मै^५ विभासिमुकुटं^६ कर्तुं लभे नाधुना ।

तस्मान् स्नेहवशोऽस्म्यहं बहुतरं शोकीति चेदस्त्विदं

किन्तु आन्तरियं व्यसीतविषयप्राप्यै मज्जप्रार्थना ॥३८३॥

वसन्ततिलका

त्रिज्ञानधन्^७ त्रिभुवनैकगुरुगुरुस्ते

स्नेहेन मोहविहितेन^८ विनाशयेः किम् ।

स्वीदासतां^९ शतमखस्य न लज्जसे किं

तस्मात्तव^{१०} प्रथमसुक्तिगतिं न वेत्सि^{११} ॥३८४॥

शादूलविक्रीडितम्

इष्टं किं किमनिष्टमय वितथं संकल्प्य जन्तुर्जडः

किंचिद्दुष्टमपि वष्टि^{१२} किंचिदनयोः कुर्यादपि व्यस्ययम् ।

तेनैवोऽनुशतिस्ततो^{१३} मवचने भव्योऽप्यभव्योपमौ

भ्राम्यत्येष कुमागंबुत्तिरधनो^{१४} वाऽऽतङ्कभीदुःखितः ॥३८५॥

ही नष्ट हो गये हैं और अब वे आठ बड़े-बड़े गुणोंसे सेवित हो रहे हैं, भला, इसमें क्या हानि हो गयी ? इसलिए अब तू मोह छोड़ और शोकको जीतनेके लिए विशुद्ध बुद्धिको धारण कर ॥३८१॥ पूज्य पिताजीका शरीर छूट जानेसे यदि तू इतना अधिक शोक करता है तो बतला, जन्मसे पहले ही उनकी सेवा करनेवाले और बड़े हुए अनुरागको धारण करनेवाले ये देव लोग भगवान्के शरीरको भस्म कर इतना अधिक आनन्द नृत्य क्यों कर रहे हैं ? भावार्थ — ये देव लोग भी भगवान्से अधिक प्रेम रखते थे जन्मसे पहले ही उनकी सेवामें तत्पर रहते थे फिर ये उनके शरीरको जलाकर क्यों आनन्द मना रहे हैं इससे मालूम होता है कि भगवान्का शरीर छूट जाना दुःखका कारण नहीं है तू व्यर्थ ही क्यों शोक कर रहा है ? ॥३८२॥ कदाचित् तू यह कहेगा कि 'अब मैं उनके दर्शन नहीं कर रहा हूँ, उनके दिव्य वचन नहीं सुन रहा हूँ, और उनके दोनों चरणोंमें नम्र होकर उनके नखोंकी कान्तिसे अपने मुकुटको देदीप्यमान नहीं कर पाता हूँ, इसलिए ही स्नेहके वशसे आज मुझे बहुत शोक हो रहा है तो तेरा यह कहना ठीक है परन्तु बीती हुई वस्तुके लिए प्रार्थना करना तेरी भूल ही है ॥३८३॥ हे भरत, तेरे पिता तो तीनों लोकोंके अद्वितीय गुरु थे और तू भी तीन ज्ञानोंका धारक है फिर इस मोहजात स्नेहसे अपनी उत्तमता क्यों नष्ट कर रहा है ? क्या तुझे ऐसा करते हुए इन्द्रसे लज्जा नहीं आती ? अथवा क्या तू यह नहीं समझता है कि मैं इन्द्रसे पहले ही मोक्षको प्राप्त हो जाऊँगा ? ॥३८४॥ इस संसारमें क्या इष्ट है ? क्या अनिष्ट है ? फिर भी यह भूर्ख प्राणी व्यर्थ ही संकल्प कर किसीसे द्वेष करता है, किसीको चाहता है और कभी दोनोंको उलटा समझ लेता है, इसलिए ही इसके पापकी परम्परा चलती रहती है और इसलिए ही यह भव्य होकर भी

१ बहलं यथा भवति तथा । २ देहम् । ३ भस्माधीनम् । ४ नीत्वा । ५ उत्पत्तेरादावपि । ६ परिचर्याकराः । ७ वृषभस्य । ८ तस्य नखकान्त्या भासत इति । ९ भो त्रिज्ञानधारिन् भरत । १० अज्ञानकृतेन । ११ मज्जदु-
दासत्वम् । १२ शतमखात् । १३ न जानासि किम् । १४ वाञ्छति । १५ कारणेन । १६ पापानुगतिः ।
१७ निर्धन इव ।

भव्यस्यापि सखोऽभवद् भवगतः^१ कालादिलब्धेर्विना
 कालोऽनादिरचिन्त्यदुःखनिचितो धिक् धिक् स्थितिं संसृतेः ।
 इत्येतद्विदुषाऽत्र^२ शीघ्रमथवा नीतश्च यदेहिनां
 भव्यत्वं बहुधा महीश सहजा वस्तुस्थितिस्तादृशी ॥३८६॥

उपजाति

गतानि संबन्धशतानि जन्तोस्सन्तकालं परिवर्तनेन
 नावेहि किं त्वं हि विबुध्विधो दृष्टैष मुखेः^३ किमिहंतरो वा ॥३८७॥

अनुष्टुप्

कर्मभिः कृतमस्यापि न स्थास्तु विजगत्पतेः । शरीरादि तत्तस्याज्यं मन्वते तस्मन्नीषिणः ॥३८८॥
 प्रागक्षिगोचरः संप्रत्येष चेतसि वर्तते । भगवांस्तत्र कः शोकः पश्यैनं तत्र सर्वदा ॥३८९॥

मालिनी

इति मनसि यथार्थं चिन्तयन् शोकवह्निं
 क्षमय विमलबोधोऽभोमिरित्यावभाषे ।

गणधरदत्तः स चकी दासहरणो महीधरो
 नवजलदमलैर्वा तद्वचोभिः प्रशान्तः ॥३९०॥

वसन्ततिलका

चिन्तां व्यपास्य गुरुशोककृतां गणेश-
 मानस्य नम्रमुकुटो निकटात्मबोधिः ।
 निन्दितान्तनितरां निजमोगतृष्णां
 मोक्षोष्णकः^४ स्वनगरं व्यविशद् विभूत्या ॥३९१॥

अभव्यकी तरह दुःखी, निर्धन, कुमारांगमें प्रवृत्ति करनेवाला और रोगोंसे भयभीत होता हुआ इस संसाररूपी वनमें भ्रमण करता रहता है ॥३८५॥ काल आदि लब्धियोंके बिना पूज्य भव्य जीवको भी संसारमें रहना पड़ता है, यह काल अनादि है तथा अचिन्त्य दुःखोंसे भरा हुआ है इसलिए संसारकी इस स्थितिको बार-बार धिक्कार हो, यही सब समझ विद्वान् पुरुषोंको इस संसारमें शोक नहीं करना चाहिए अथवा जीवोंका यह भव्यत्वपना भी अनेक प्रकारका होता है । हे राजन्, वस्तुका सहज स्वभाव ही ऐसा है ॥३८६॥ हे भरत, तू तो संसारका स्वरूप जाननेवाला है, क्या तू यह नहीं जानता कि अनन्त कालसे परिवर्तन करते रहनेके कारण इस जीवके सैकड़ों सम्बन्ध हो चुके हैं ? फिर क्यों अज्ञानीकी तरह व्यर्थ ही मोहित होता है ॥३८७॥ तीनों लोकोंके अधिपति भगवान् वृषभदेवका शरीर भी तो कर्मोंके द्वारा किया हुआ है इसलिए वह भी स्थायी नहीं है और इसलिए ही विद्वान् लोग उसे हेय समझते हैं ॥३८८॥ जो भगवान् पहले आँखोंसे दिखायी देते थे वे अब हृदयमें विद्यमान हैं इसलिए इसमें शोक करनेकी क्या बात है ? तू उन्हें अपने चित्तमें सदा देखता रह ॥३८९॥ इस प्रकार मनमें वस्तुके यथार्थ स्वरूपका चिन्तन करता हुआ तू निर्मल ज्ञानरूपी जलसे शोकरूपी अग्नि शान्त कर, ऐसा गणधर वृषभसेनने कहा तब चक्रवर्ती भी जिस प्रकार दावानलसे जला हुआ पर्वत तबीन बादलोंके जलसे शान्त हो जाता है उसी प्रकार उनके वचनोंसे शान्त हो गया ॥३९०॥ जिसे आत्मज्ञान शीघ्र होनेवाला है और जिसका मुकुट नम्रभूत हो रहा है ऐसे भरतने पिताके शोकसे उत्पन्न हुई चिन्ता छोड़कर गणधरदेवको नमस्कार किया और अत्यन्त बड़ी हुई अपनी भोगविषयक तृष्णाकी निन्दा करते हुए तथा मोक्षके लिए शीघ्रता करते हुए उसने बड़े वैभवके साथ अपने नगरमें प्रवेश किया ॥३९१॥

१ संसारानुगतः । २ संसारे । ३ शोकविषयम् । ४ अन्य अज्ञ इवेत्यर्थः । ५ चेतसि । ६ मुक्त्युद्योगे दक्षः ।
 'दक्षे तु चतुरपेशलपटवः । सूत्र्यान् उष्णश्च' इत्यभिधानात् शीघ्रकारी वर्गः । मोक्षोत्सुकः ल० ।

द्रुतविलम्बितम्

अथ कदाचिदसौ वदनाम्बुजं

समभिदीक्ष्य समुज्ज्वलदर्पणे ।

पलितमैक्षतं दूतमिवागतं

परमसौख्यपदात् पुरुसन्तिषेः ॥३९२॥

वसन्ततिळका

आलोच्य तं गलितमोहरसः स्वराज्यं

मत्वा जरत्तृणमिवोद्गातवीथिरुच्यते ।

आदातुमात्महितमात्मजमर्ककैः तै

लक्ष्म्या स्वया स्वयमयोजयदुज्जितैः ॥३९३॥

सालिनी

विदितसकलतत्त्वः सोऽप्यर्गस्थ मार्गं

जिगमिपुरपसत्त्वैर्दुर्गमं^१ निष्प्रयासम् ।

यमसमितिसमग्रं संयमं शम्भुलं^२ वा

ऽदितं^३ विदितसमर्थाः^४ किं परं प्रार्थयन्ते ॥३९४॥

भुजङ्गप्रयातम्

मनःपर्ययज्ञानमप्यस्य सद्यः

समुत्पन्नवर्तं केवलं जानु^५ तस्मात्^६ ।

तदैवाभवद् भव्यता तादृशी सा

विचित्राङ्गिना निर्वृतेः प्राप्तिरत्र ॥३९५॥

स्वदेशोद्भवैरेव^७ संपूजितोऽसौ

सुरेन्द्रादिभिः सांप्रतं वन्द्यमानः ।

त्रिलोकाधिनाथोऽभवत् किं न साध्यं

तपो दुष्करं चेत् समादातुमीशः^८ ॥३९६॥

अथानन्तर भरत महाराजने किसी समय उज्ज्वल दर्पणमें अपना मुखकमल देखकर परम सुखके स्थान स्वरूप भगवान् वृषभदेवके पाससे आये हुए दूतके समान सफेद बाल देखा ॥३९२॥ उसे देखकर जिनका सब मोहरस गल गया है, जिन्हें आत्मज्ञान उत्पन्न हुआ है, जो आत्महितको ग्रहण करनेके लिए उद्युक्त हैं और जिनकी वैराग्यविषयक इच्छा अत्यन्त सुदृढ़ तथा वृद्धिशील है ऐसे भरतने अपने राज्यको जीर्णतृणके समान मानकर अपने पुत्र अर्ककीर्तिको अपनी लक्ष्मीसे युक्त किया अर्थात् अपनी समस्त सम्पत्ति अर्ककीर्तिको प्रदान कर दी ॥३९३॥ जिसने समस्त तत्त्वोंको जान लिया है और जो हीन जीवोंके द्वारा अगम्य मोक्षमार्गमें गमन करना चाहते हैं ऐसे चक्रवर्ती भरतने मार्गं हितकारी भोजनके समान प्रयासहीन यम तथा समितियोंसे पूर्ण संयमको धारण किया था सो ठीक ही है क्योंकि पदार्थके यथार्थ स्वरूपको समझनेवाले पुरुष संयमके सिवाय अन्य किसी पदार्थकी प्रार्थना नहीं करते हैं ? ॥३९४॥ उन्हें उसी समय मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया और उसके बाद ही केवलज्ञान प्रकट हो गया । उनकी वैसी भव्यता उसी समय प्रकट हो गयी सो ठीक ही है क्योंकि प्राणियोंको मोक्षकी प्राप्ति कभी विचित्र होती है ॥३९५॥ जो भरत पहले अपने देशमें उत्पन्न हुए राजाओंसे ही पूजित थे वे अब इन्द्रोंके द्वारा भी वन्दनीय हो गये । इतना ही नहीं, तीन लोकके स्वामी भी हो गये सो ठीक ही है जो कठिन तपश्चरण ग्रहण करनेके लिए समर्थ रहता है उसे क्या-क्या वस्तु साध्य

१ उद्यमानः । २ मनुमिच्छुः । ३ अपगतबलः । ४ मूलगुणसमूहः । ५ पाथेयमिव । ६ स्वीकृतवान् । ७ ज्ञात-
समीचीनार्थः । ८ ज्ञातार्थक्रियासमर्था वा । ९ समुत्पन्नम् । १० पश्चात् । ११ वदन्त्यनेः ।
१२ समर्थः ।

मालिनी

परिचितयतिहंसो^१ धर्मवृष्टिं निषिञ्चन्

नमसि कृतनिवेशो निर्मलस्तुङ्गवृत्तिः ।

फलमविकलमयं भव्यसस्येषु कुर्वन्

भ्यहरदलिलक्ष्मणान् शारदो वा स मेघः ॥३९७॥

पृथ्वी

विहस्य सुचिरं^२ विनेयजनतोपकृत्स्वायुषो,मुहूर्तपरिमस्थितौ^३ विहितसक्रियो विध्युतौ ।

तनुव्रितयबन्धनस्य गुणसारमूर्तिः स्फुरन्

ब्रह्मात्रयशिखामणिः सुखनिधिः स्वधाम्नि स्थितः ॥३९८॥

वसन्ततिलका

सर्वेऽपि तं वृषभसेनमुनीशमुत्सृज्यः

सौख्यं^४ गताः सकलजन्तुषु शान्तचित्ताः ।

कालक्रमेण यमशीलगुणाभिपूर्णा

निर्वाणमापुरमितं गुणिनो गणीन्द्राः ॥३९९॥

शार्दूलविक्रीडितम्

यो नेतेव^५ पृथुं जघान वुरितारातिं चतुस्ताधनोयेनाहं कनकास्मनेव विमलं रूपं स्वसाभास्वरम्^६ ।

आभेजुदचरणौ सरोजजयिनीं यस्यालिको वाऽमरा-

स्तं त्रैलोक्यगुरुं पुहं श्रितवतां श्रेयसि वः स क्रियात् ॥४००॥

शार्दूलविक्रीडितम्

योऽभूत्पञ्चदशी विभुः कुलभूतां तीर्थेऽग्निनां चाग्निमो

दष्टो येन मनुष्यजीवनविधिमुक्तेऽथ मार्गो महान् ।

बोधो^७ रोधविमुक्तवृत्तिरखिली यस्योदपाद्यन्तिमः^८स श्रीमान् जनकोऽखिलावनिपतेराद्यः^९ स दद्याच्छिष्यम् ॥४०१॥

नहीं है अर्थात् सभी वस्तुएँ उसे साध्य हैं ॥३९६॥ भुनिरूपी हंस जिनसे परिचित है, जो धर्म-
की वर्षा करते रहते हैं, जो आकाशमें निवास करते हैं, निर्मल हैं, उत्तमवृत्तिवाले हैं (पक्षमें ऊँचे
स्थानपर विद्यमान रहते हैं) और जो भव्य जीवरूपी घातोंमें मोक्षरूपी पूर्ण फल लगानेवाले
हैं ऐसे भरत महाराजने शरद ऋतुके मेघके समान समस्त देशोंमें विहार किया ॥३९७॥
चिरकाल तक विहार कर जिन्होंने शिक्षा देने योग्य जनसमूहका बहुत भारी कल्याण किया है
ऐसे भरत महाराजने अपनी आयुकी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति बाकी रहनेपर योगनिरोध किया
और औदारिक, तेजस तथा कार्माण इन तीन शरीररूप बन्धनोंके नष्ट होनेपर सम्यक्त्व आदि
सारभूत गुण ही जिनकी मूर्ति रह गयी है, जो प्रकाशमान हैं, जगत्त्रयके चूड़ामणि हैं और
सुखके भाण्डार हैं ऐसे वह भरतेस्वर आत्मधाममें स्थित हो गये अर्थात् मोक्षको प्राप्त हो गये
॥३९८॥ जो समस्त जीवोंके विषयमें शान्तचित्त है, उत्तम सुखको प्राप्त है, यम शील आदि
गुणोंसे पूर्ण हैं, गुणवान् हैं और गण अर्थात् मुनिसमूहके इन्द्र हैं ऐसे वृषभसेन आदि मुख्य भुनिराज
भी कालक्रमसे अपरिमित निर्वाणधामको प्राप्त हुए ॥३९९॥ जिन्होंने नेताकी तरह चार
आराधनारूप चार प्रकारकी सेनाको साथ लेकर पापरूपी विशाल शत्रुको नष्ट किया था,
जिन्होंने सुवर्ण पाषाणके समान अपना देदीप्यमान स्वरूप प्राप्त किया है, भ्रमरोंके समान
सब देवलोग जिनके कमलविजयी चरणोंकी सेवा करते हैं और जो तीन लोकके गुरु हैं ऐसे श्री
भगवान् वृषभदेवकी सेवा करनेवाले तुम सबको वे ही कल्याण प्रदान करनेवाले हों ॥४००॥
जो कुलकरोंमें पन्द्रहवें कुलकर थे, तीर्थंकरोंमें प्रथम तीर्थंकर थे, जिन्होंने मनुष्योंकी जीविका

१ परिवेष्टितयतिमुख्यः । २ भग्नजनसमूहस्योपकारि । ३ मुहूर्तपरिमस्थितौ सत्याम् । ४ सौख्यं ल० ।
५ सेनापतिरिव । ६ चतुर्विधाराधनसाधनः । ७ आ समन्ताद् भास्वरम् । ८ जीवितकल्पः । ९ आवरण-
विमुक्तः । १० उत्पन्नवान् । ११ भरतस्य ।

वसन्तसिलका

साक्षात्कृतप्रथितसप्तपदार्थसार्थः

सबमतीर्थपथपालनमूलहेतुः ।

भय्यात्मनां भवभृतां स्वपरायसिद्धि-

मिक्षाकुबंशवृषभो वृषभो विदध्यन् ॥४०२॥

शार्दूलविक्रीडितम्

यो नाभेस्तनयोऽपि विद्वच्चिदुषां पूज्यः स्वयम्भूरिति

त्यक्ताशेषपरिग्रहोऽपि सुधियां स्वामीति यः शब्धते ।

मध्यस्थोऽपि विनेयसत्त्वसमितेरेवोपकारी मतो

निर्दामोऽपि बुधैरपास्व चरणो यः सोऽस्तु वः शान्तये ॥४०३॥

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टिलक्षणमहापुराणसंग्रहे प्रथमतीर्थ-
करचक्रधरपुराणं नाम सप्तचत्वारिंशत्तमं पर्व परिसमाप्तम् ॥४०॥

को विधि और मोक्षका महान् मार्ग प्रत्यक्ष देखा था, जिन्हें आवरणसे रहित पूर्ण अन्तिम — केवलज्ञान उत्पन्न हुआ और जो समस्त पृथिवीके अधिपति भरत चक्रवर्तीके पिता थे वे श्रीमान् प्रथम तीर्थकर तुम सबको लक्ष्मी प्रदान करें ॥४०१॥ जिन्होंने प्रसिद्ध सप्त पदार्थोंके समूह को प्रत्यक्ष देखा है और जो समीचीन धर्मरूपी तीर्थके मार्गकी रक्षा करनेमें मुख्य हेतु हैं ऐसे इक्ष्वाकु वंशके प्रमुख श्री वृषभनाथ भगवान् संसारी भव्य प्राणियोंको मोक्षरूपी आत्माकी उत्कृष्ट सिद्धिकी प्रदान करें ॥४०२॥ नाभिराजके पुत्र होकर भी स्वयंभू हैं अर्थात् अपने आप उत्पन्न हैं, समस्त विद्वानोंके पूज्य हैं, समस्त परिग्रहका त्याग कर चुके हैं फिर भी विद्वानोंके स्वामी कहे जाते हैं, मध्यस्थ होकर भी भव्यजीवोंके समूहका उपकार करनेवाले हैं और दान-रहित होनेपर भी विद्वानोंके द्वारा जिनके चरणोंकी सेवा की जाती है ऐसे भगवान् वृषभदेव तुम सबकी शान्तिके लिए हों अर्थात् तुम्हें शान्ति प्रदान करनेवाले हों ॥४०३॥

इस प्रकार आर्षनामसे प्रसिद्ध भगवान् गुणभद्राचार्यप्रणीत त्रिषष्टिलक्षण श्रीआदिपुराण

संग्रहके हिन्दी भाषानुवादमें प्रथम तीर्थकर और प्रथम चक्रवर्तीका वर्णन

करनेवाला यह सैतालीसवां पर्व पूर्ण हुआ ।

पुराणविधिरगम्योऽयमर्थदीपिभिभूषितः ।

सर्वथा शरणं मन्ये जितसेनं महाकविम् ॥

पारधामो जन्मभूमिर्यदीथा

गल्लीलालो जन्मदाता यदीयः ।

पत्तलालः क्षुद्रबुद्धिः स चाहं

टीकामेतां स्वक्षुब्धया चकार ॥

आषाढकृष्णपक्षस्य त्रयोदश्यां तिथावियम् ।

पञ्चसप्तधनुर्गुप्तवर्षे पूर्णा वभूव सा ॥

ते ते जयन्तु विद्वांसो वन्दनीयगुणाधराः ।

यत्कृपाकोणमालम्ब्य तीर्णोऽयं शास्त्रसागरः ॥

आचार्य जिनसेनकृत

आदिपुराण

[द्वितीय भाग]

शब्दसूची

पारिभाषिक शब्द-सूची

अक्षीगमहानस- जैन मुनिकी एक ऋद्धि, जिसके द्वारा वयोवृद्धों को इस ऋद्धिप्राप्त मुनिका भोजन होता है वहाँकी भोजन-सामग्री अक्षीण हो जाती है। अर्थात् वहाँ कितने ही लोग भोजन करते जायें, पर भोजन-सामग्री कम नहीं होती। ३६।१५५	है। ये बारह होती हैं - १ अनित्य, २ अशरण, ३ संसार, ४ अज्ञान, ५ अन्यत्व, ६ अशुचित्व, ७ आस्रव, ८ संवर, ९ निर्जरा, १० लोक, ११ बोधिदुर्लभ, और १२ धर्मस्वाध्यातत्त्व। ३६।१५९-१६०	अंतरङ्ग शत्रुओंका समूह है। ३८।२८०
अक्षीणावसथ- जैन मुनिकी एक ऋद्धि, जहाँ इस ऋद्धिका धारक मुनि निवास करता है, वहाँ छोटे स्थानमें भी बहुत बड़ा समूह भी स्थान प्राप्त कर सकता है। ३६।१५५	अनुत्तरौपपादिकदशाङ्ग- द्वादशाङ्गका नौवा भेद। जिसमें प्रत्येक तीर्थंकरके तीर्थमें उपसर्ग सहन कर अनुत्तर निमानोंमें उत्पन्न होनेवाले दश-दश पुण्योंका वर्णन होता है। ३४।१४२	अलो- लोकके बाहरका अनन्त आकाश ३३।१३२
अग्रनिर्वृति- गर्भान्वय क्रियाका एक भेद। ३८।६२	अनुत्तर- चक्रवर्तीका एक सचेतन रत्न ६७।८४	असि- चक्रवर्तीका एक निर्जीव रत्न ३७।८४
अग्निमादिगुण- अग्निमा, महिमा गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व ये आठ सिद्धियाँ अथवा गुण कहलाते हैं। ३८।१९३	अनूचान- अङ्गसहित वेदका अध्ययन करनेवाला ३९।५३	आ
अज्जीव- जानने देखनेकी शक्तिसे रहित। इसके पाँच भेद हैं - १ पृथगल, २ धर्म, ३ अधर्म, ४ आकाश और ५ काल। ३४।१९२	अमुप्रवृद्धकल्याण- एक उपोषित व्रतका नाम ४६।१००	आकिंचम्य- परिग्रहका त्याग करना ३६।१५७
	अन्तकृदशाङ्ग- द्वादशाङ्गका आठवाँ भेद ३४।१४२	आचाराङ्ग- द्वादशाङ्गका पहला अङ्ग, जिसमें मुनियोंके आचारका वर्णन है। ३४।१२५
	अम्बयदत्ति- पुत्रके लिए परिग्रहका भार सौंपना। इसीका दूसरा नाम सकलदत्ति है। ३८।४०	आज्ञात्रिचय- धर्मध्यानका एक भेद ३६।१६१
	अपायविजय- धर्मध्यानका एक भेद ३६।१६१	आतपन्न- चक्रवर्तीका एक निर्जीव रत्न ३७।८४
	अवज- चक्रवर्तीकी एक निधि। इसीका दूसरा नाम शङ्ख भी है ३७।७३	आतपयोम- ग्रीष्म ऋतुमें पर्वत-चट्टानोंपर ध्यान करना ३४।१५४
	अभिषेक- गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।६०	आधान- गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।५५
	अवतार- गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।६०	आवश्यक- अवश्य करने योग्य छह कार्य - १ समता, २ वन्दना, ३ स्तुति, ४ प्रतिक्रमण, ५ स्वाध्याय और ६ व्युत्सर्ग ३६।१३४
	अवतार- दीक्षान्वय क्रियाका एक भेद ३८।६४	आर्जव- मायाचारको जीतना ३६।१५७
	अरिषड्वर्ग- काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य ये छह	आर्य षट्कर्म- इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और तप ये आर्योंके छह कर्म हैं। ३९।२४
		आहंती- बरहन्त सम्बन्धी ३६।११५

आह्वान्य-गर्भान्वय क्रियाका एक

भेद ३८।६२

आहवनीय-वह अग्नि जिसमें गणधरोंका अन्तिम संस्कार होता है ४०।८४

आष्टाहिक- पूजाका एक भेद। कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़ मासके अन्तिम आठ दिनोंमें नन्दीश्वर द्वीप सम्बन्धी ५२ चैत्यालयोंकी पूजा ३८।२६

इ

इज्या- पूजा, पूजाके चार भेद हैं १ सदाचन (नित्यमह), २ चतुर्मुख मह, ३ कल्पद्रुम-मह और ४ आष्टाहिक-मह ३८।२६

इन्द्रत्याग- गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।६०

इन्द्रोपपाद- गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।६०

इम- चक्रवर्तीका एक सचेतन रत्न-हाथी ३७।८४

उ

उत्तमक्षमा- क्रोधपर विजय प्राप्त करना ३६।१५७

उत्तर-गुण- मुनियोंके चौरासी लाख उत्तर गुण होते हैं ३६।१३५

उपधा- धर्म, अर्थ, काम और भयके समूह किसी ब्रह्मनेसे दूसरेके चित्तकी परीक्षा करना उपधा है। ४४।२२

उपनीति- गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।५६

उपयोगिता- दीक्षान्वय क्रियाका एक भेद ३८।६४

उपासकाध्याय- द्वादशाङ्गका सातवाँ भेद जिसमें श्रावका-चारका वर्णन है ३४।१४१

श्रु

श्रुत- स्त्रीकी रजःशुद्धिके दिन-

से लेकर पन्द्रह दिन तकका काल श्रुतकाल कहलाता है। ३८।१३४

श्रद्धि- तपसे प्रकट हुई विशिष्ट शक्तियाँ। ये बुद्धि, त्रिक्रिया आदिके भेदसे अनेक प्रकारकी होती हैं ३६।१४४

ऐ

ऐन्द्रध्वज- इन्द्रोके द्वारा की हुई पूजा। पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठाकी पूजा इन्द्रध्वज पूजा है। इसमें मनुष्यमें इन्द्रका आरोप कर उसके द्वारा पूजा की जाती है।

औ

औषधनि- इसके अनेक भेद हैं आम्रप, खल, जल, मल्ल आदि ३६।१५३

क

कर्मसूत्र- ज्ञानावरणादि कर्मोंका समूह ४३।२

कर्मसूत्र- ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय ४७।२४७

कर्त्रन्वय क्रिया- एक विशिष्ट क्रिया, इसके ७ भेद हैं ३८।५१

कल्पद्रुम- जिनपूजाका एक भेद। इसे चक्रवर्ती ही कर पाता है। ३८।२६

कषाय- क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय हैं ३६।१३९

काकिणी- चक्रवर्तीका एक रत्न जिससे दीवालपर लिखनेसे प्रकाश उत्पन्न होता है, ३२।१५

कारुण्य- दुःखी जीवोंका दुःख दूर करनेका भाव होना ३९।१४५

काल- चक्रवर्तीकी एक निधि ३७।७३

कुल- पिताको वंशशुद्धि ३९।८५

कुलचर्या- गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।५७

कृतयुग- चतुर्थकाल ४१।५

केशवाप- गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।५६

केवलाख्य ज्योति- केवलज्ञान-रूपी ज्योति ३३।१३२

कोष्ठबुद्धि- बुद्धिऋद्धिका एक भेद ३६।१६

क्षपकधेनी- चारित्र्यमोहका क्षय करनेके लिए परिणामोंकी विशुद्धता। यह विशुद्धता आठवेंसे दसवें गुणस्थान तक रहती है ४७।२४६

क्षयोपशम- घातिघात कर्मोंकी एक अवस्था विशेष, जिसमें वर्तमान कालमें उदय आनेवाले सर्वघाति स्पर्शकोंका उदयाभावी क्षय आगामी कालमें उदय आनेवाले सर्वघाति स्पर्शकोंका सदवस्था रूप उपशम और देशघाति स्पर्शकोंका उदय रहता है ३६।१४५

क्रव्याद-मांस खानेवाले व्यक्ति ३९।१३७

ग

गण- समवसरणकी १२ समार्षे ३३।१५७

गणग्रह- दीक्षान्वय क्रियाका एक भेद ३८।६४

गणग्रह- मिथ्या देवी-देवताओंकी अपने घरसे अन्यत्र जिसजित करना, ३९।४५

गणोपग्रहण- गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।५८

गण्यकुटी- समवसरणका वह मूलस्थान जहाँ भगवान् विराजमान रहते हैं ३३।१५७

गर्भान्वय क्रिया— एक विशेष प्रकारकी क्रिया, इसके ५३ भेद होते हैं । ३८।५१

गार्हपत्य— जिस अग्निसे तीर्थंकर के मृत शरीरका ब्राह्म संस्कार होता है वह अग्नि ४०।८४

गुप्तिश्रयी— १ मनोगुप्ति, २ वचन-गुप्ति, ३ कायगुप्ति ३६। १३८

गुरुपूजोपलम्भन— गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।६१

गुरुस्थानाभ्युपगम— गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।५८

गृहत्याग— गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।५७

गृहपति— चक्रवर्तीका एक सचे-
रत्न ३७।८४

गृहमूलगुणाष्टक— गृहस्थके आठ मूलगुण— १ मेघत्याग, २ मांसत्याग, ३ मधुत्याग, ४ अहिसाणुघ्नत, ५ सत्याणु-घ्नत, ६ अचीर्याणुघ्नत, ७ ब्रह्मचर्याणुघ्नत और ८ परि-ग्रहपरिमाणुघ्नत ४६। २६९

गृहीशिता— गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।५७

घ

घातिकर्म— जानावरण, दर्शना-वरण, मोहनीय और अन्त-राय ये चार घातियाकर्म कहलाते हैं । ३३।१३०

च

चक्रधर— चक्रवर्ती भरत । भरत, ऐरावत और विबेह क्षेत्रमें चक्रवर्ती होते हैं । ये षट्-सप्त भूमण्डलके स्वामी होते हैं । इन्हें देवोपनीत चक्ररत्न प्राप्त होता है । ये दश कोड़ाकोड़ी सागरके अवसपिणो तथा उत्-

सपिणो युगमें बारह-बारह होते हैं । भरतक्षेत्रका पहला चक्रवर्ती भरत था जो कि प्रथम तीर्थंकर वृषभदेवका पुत्र था २६।१

चक्रलाभ— गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।६१

चक्रामिषेक— गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।६२

चतुर्गति— नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव ये चार गतियाँ हैं । ४२।९३

चतुर्दश महाविद्या— उत्पादपूर्व आदि चौदह पूर्व ३४।१४७

चतुर्मुखमह— पूजाका एक भेद, महामुकुटबद्ध राजाओंके द्वारा यह की जाती है । इसका दूसरा नाम सर्वतो-भद्र है ३८।२६

चतुर्भेद ज्ञान— मतिज्ञान, श्रुत-ज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान ३६।१४५

चमूपति— सेनापति, चक्रवर्तीका एक सजीव रत्न ३७।८४

चर्म— चक्रवर्तीका एक निर्जीव रत्न ३७।८४

चर्या— मन्त्र, देवता, औषध तथा आहार आदिके लिए हिंसा नहीं करूँगा ऐसी प्रतीक्षा धारण करना ३९। १४५-१४७

चातुराश्रम्य— ब्रह्मचर्य, गृहस्था-श्रम, वानप्रस्थ और संन्यास ये चार आश्रम हैं । ३९।२४

चार आराधना— १ सम्यग्दर्शन, २ सम्यग्ज्ञान, ३ सम्यक्-चारित्र्य और सम्यक् तप ये चार आराधना हैं ४७।४००

ज

जाति— माताकी अव्यय शुद्धि ३९।८५

जातिब्राह्मण— तप और द्युतसे रहित नाम मात्रके ब्राह्मण जातिब्राह्मण हैं ३८।४५

जिनरूपता— गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।५७

जीव— जानने देखनेकी शक्तिसे युक्त जीव द्रव्य ३४।१९२

ज्ञानधर्मकथा— द्वादशाङ्गका छठवाँ भेद ३४।१४०

त

तक्षन्— चक्रवर्तीका एक सचेतन रत्न ३७।८४

तद्विहाय— गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।६२

तप— इच्छाका निरोध करना तप है । इसके बारह भेद हैं— १ अनशन, २ ऊनोदर, ३ वृत्ति परिसंख्यान, ४ रस-परित्याग, ५ विविक्त-शय्यासन, ६ कायक्लेश, ७ प्रायश्चित्त, ८ विनय, ९ वैद्या-वृत्त्य, १० स्वाध्याय, ११ व्युत्सर्ग और १२ ध्यान ३८।४१

तप ऋद्धि— इसके उग्रोपतप, दीप्ततप, घोरतप आदि अनेक भेद हैं ३६।१४९-१५१

तीर्थ— तीर्थंकरका प्रवृत्तिकाल ३४।१४२

तीर्थकुशावना— गर्भान्वय क्रिया-का एक भेद ३८।५७

सिध्वादिपञ्च— तिथि, ग्रह, नक्षत्र, योग और करण ४५।१७९

त्याग— विकार भावोंको छोड़ना ३६।१५७

त्रस— चलने-फिरनेवाले जीव द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय ३४।१९४

त्रिगौरव— १ रस गौरव, २ शब्द-गौरव, ३ ऋद्धिगौरव, गौरव = अहंकार ३६।१३७

अग्न्यसंज्ञिता— सम्प्रदर्शन,
सम्प्रज्ञान और सम्प्रक-
चारित्र सम्बन्धी ३९।११५

व

वक्षिणाग्नि— वह अग्नि जिसके
द्वारा सामान्य केवलियोंके
घरोरका दाह संस्कार
होता है ४०।८४

दण्डकपाटादि— केवलिसमुद्घात-
के भेद— १ दण्ड, २ कपाट,
३ प्रतर और ४ लोकपूरण
३८।३०३

दण्ड— चक्रवर्तीका एक निर्बीज
रत्न ३७।६४

दत्ति— दान, इसके चार भेद हैं—
१ पात्रदत्ति, २ समदत्ति,
३ अन्वयदत्ति और ४
करुणादत्ति ३८।३५-३६

दद्यादत्ति— करुणा दान ३८।३६

दक्षधर्म— १ क्षमा, २ भार्दव,
३ आज्ञा, ४ शौच, ५
सत्य, ६ संयम, ७ तप,
८ त्याग, ९ आकिञ्चन और
१० ब्रह्मचर्य ३६।१३३

दिव्या जाति— इन्द्रकी जाति
दिव्या जाति कहलाती है।
३९।१६८

दिशाञ्जय— गर्भान्वय क्रियाका
एक भेद ३८।६१

दीक्षाद्य— गर्भान्वय क्रियाका एक
भेद ३८।५७

दीक्षान्वय क्रिया— एक विशिष्ट
क्रिया, इसके ४८ भेद होते
हैं। ३८।५१

दीपोद्बोधनसंज्ञिभिः— पूजाके
समय दीपक जलाना। इस
कार्यमें वक्षिणाग्निका प्रयोग
होता है। ४०।८६

दक्षिणाव— द्वादशाङ्गका बारहवां
भेद ३४।१४६

द्रव्यसंगण— समवसरणमें सन्ध-
कुटीके चारों ओर परिक्रमा

रूपसे स्थित बारह सभाएँ
४२।४५

द्वादशाङ्ग— आचाराङ्ग आदि
बारह अङ्ग ३४।१३३

द्विज— ब्राह्मण, क्षत्रिय और
वैश्य ३८।४८

द्वितीय शुक्लध्यान— एकत्व-
वितर्क, यह बारहवें गुण-
स्थानमें होता है ४७।२४७

द्विधाम्नात— अन्तरङ्ग और बहि-
रङ्गके भेदसे दो प्रकारका
माना हुआ ३४।१७२

द्विरष्टौ भावना— सोलह कारण
भावनाएँ १ दर्शनविशुद्धि,
२ विनयसम्पन्नता, ३ शील-
व्रतेश्वरता चार, ४ अभौक्षण
ज्ञानोपयोग, ५ संवेग, ६
शक्तितत्त्वस्थाग, ७ शक्ति-
सत्तप, ८ साधुसमाधि, ९
वैद्यावृत्यकरण, १० अहं-
भक्ति, ११ आचार्यभक्ति,
१२ बहुश्रुतभक्ति, १३ प्रव-
चनभक्ति, १४ आदर्यका-
परिहाणि, १५ मार्गप्रभावना
और १६ प्रवचनवात्सल्य

ध

धर्म्यध्यान— ध्यानका एक भेद,
इसके चार भेद हैं—१
आज्ञाविचय, २ अपायवि-
चय, ३ विपाकविचय और
४ संत्यागविचय ३६।१६१

धूलीसाक— समवसरणका एक
कोट जो कि रक्षमयी धूलीसे
निर्मित होता है ३३।१६०

धृति— गर्भान्वय क्रियाका एक
भेद ३८।५५

न

नामकर्म— गर्भान्वय क्रियाका
एक भेद ३८।५५

निर्गोत— सम्मूर्च्छन जीव विशेष
३८।१८

निःस्वप्नवात्सभावना— गर्भान्वय

क्रियाका एक भेद ३८।५९
निर्जरा— कर्मोंका एकदेश अथ
होना ३६।१३८

निषद्या— गर्भान्वय क्रियाका एक
भेद ३८।५५

निष्क्रान्ति— गर्भान्वय क्रियाका
एक भेद ३८।६२

नैःस्पर्ष— चक्रवर्तीकी एक निधि
३७।७३

नोक्तर्म— औदारिक, वैक्रियिक,
आहारक शरीर ४२।९१

प

पक्ष— एक वृत्तिका भेद—जिन-
धर्मका पक्ष स्वीकृत करना
३९।१४५

पञ्चजनमस्कारपद— पञ्चोक्तार-
मन्त्रः पञ्चो अरहन्तार्थ आदि
३९।४३

पञ्चेन्द्रिय— १ स्पर्शन, २ रसना,
३ घ्राण, ४ चक्षु और ५
कर्ण ये पाँच इन्द्रियाँ हैं
३६।१३०

पञ्चोदुम्बर— बड़, पीपल, पाकर,
ऊमर और अञ्जीर
३८।१२२

पद्य— चक्रवर्तीकी एक निधि
३७।७३

परमनिर्वाण— कर्मन्वय क्रियाका
एक भेद ३८।६७

परमा जाति— अरहन्त भगवान्की
परमा जाति कहलाती है
३९।१६८

परमार्हन्त— कर्मन्वय क्रियाका
एक भेद ३८।६७

परमावधि— अवधिज्ञानका एक
भेद, जो मुनियोंके होता है
३६।१४७

परमेश्विन्— अरहन्त, सिद्ध,
आचार्य, उपाध्याय और
साधु ये पाँच परमेश्वी हैं
३८।१८८

परिवह— समस्त भावसे आगत

विषयिको सहन करना ।
इसके २२ भेद हैं—१ क्षुधा, २ तृषा, ३ शीत, ४ उष्ण, ५ दंशमशक, ६ नाग्य, ७ अरति, ८ स्त्री, ९ चर्मा, १० निषद्या, ११ शय्या, १२ आक्रोश, १३ वध, १४ याचना, १५ अलाभ, १६ रोग, १७ तृणस्पर्श, १८ मल, १९ सत्कार पुरस्कार, २० प्रज्ञा, २१ अज्ञान और २२ अदर्शन, ३६।१२८
पर्णछिन्नी— एक विद्या, जिसके प्रभावसे भारी पत्तों के समान हलका होकर आकाशसे नीचे आ जाता है ४७।२२
पश्यन्— एक आसन—पालकी ३४।१८८
पाण्डुक— चक्रवर्तीकी एक निधि ३७।७३
पात्रदान— मुनि-आयिका, धातक-भ्रातृक आदि चतुःसंघकी विधिपूर्वक दान देना ३८।३७
पारिवर्ज्य— कर्त्तव्य क्रियाका एक भेद ३८।६७
पिङ्ग— चक्रवर्तीकी एक निधि ३७।७३
पुण्यचक्र— दीक्षान्वय क्रियाका एक भेद ३८।६४
पुराकल्प— पञ्चमकाल ४१।३
पुरोधस्— चक्रवर्तीका पुरोहित रत्न ३७।८४
पूजाराध्य— दीक्षान्वय क्रियाका एक भेद ३८।६४
प्रतिमा भोग धारण— पर्वके उपवासके बाद रातमें एकान्तमें प्रतिमाके समान नग्न रहकर ध्यान धारण करना । ३९।५२
अमोह— गुणो मनुष्योंको देखकर

हर्ष धारण करना ३९।१४५
प्रज्ञायाकरण— द्वादशाङ्गका दशवीं भेद ३४।१४४
प्रशान्ति— गर्भान्वय क्रियाका भेद ३८।५७
प्राप्तिहार्य— अरहन्त अवस्थामें तीर्थकरके प्रकट होनेवाले आठ विशिष्ट कार्य — १ अशोक वृक्ष, २ सिंहासन, ३ छत्रवय, ४ भामण्डल, ५ दिव्यध्वनि, ६ पुष्पवृष्टि, ७ चौंसठ चमर, ८ दुन्दुभि बाजा ४२।४५
प्राशन— गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।५५
प्रासुक— निर्भीक ३४।१९२
प्रियोद्भव— गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।५५
प्रीति— गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।५५
ध
वर्णि— ऋद्धि का एक भेद ३६।१५ ।
वर्द्धिर्धान— गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।५५
बोधि— सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र ३९।८५-८६
ब्रह्मचर्य— आत्मस्वरूपमें लीन रहना अथवा स्त्री मात्रका परित्याग करना ३६।१५८
भ
भोगाङ्ग— चक्रवर्तीके भोगके दश अङ्ग होते हैं—१ रत्न और निधियाँ, २ देवियाँ, ३ नगर, ४ शय्या, ५ आसन, ६ सेना, ७ नाट्यशाला, ८ वर्तन, ९ भोजन और १० वाहन— सवारी ३७।१४३
भ
मणि— चक्रवर्तीका एक निर्भीक रत्न ३७।८४
मतिज्ञान— पाँच इन्द्रियों और

मनकी सहायतासे होनेवाला एक ज्ञान ३६।१४२
मनःपर्ययज्ञान— दूसरेके मनमें स्थित पदार्थको जाननेवाला ज्ञान । यह ज्ञान मुनिके ही होता है ३६।१४७
मन्दरेन्द्रामिषेक— गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।६१
महामह— भगवान्की एक विशिष्ट पूजा ३८।६
महाकाल— चक्रवर्तीकी एक निधि ३७।७३
महाव्रत— हिसाबि पापोंका सर्व-वैश त्याग करना । ये पाँच हैं ३९।४
महाचैत्यद्रुम— समवसरणमें विद्यमान चैत्यवृक्ष; इनके नीचे जिन-प्रतिमाएँ विद्यमान रहती हैं । ४१।२०
म्राणव— चक्रवर्तीकी एक निधि ३७।७३
माध्यस्थ्य— विपरीत मनुष्योंपर समभाव रखना ३९।१४५
मानस्तम्भ— समवसरणकी चारों दिशाओंमें विद्यमान स्तम्भ इनके देखनेमें मानो जीवोंका मान नष्ट हो जाता है । ४०।२०
मार्दव— मांसकी जीतना ३६।१५७
मूलगुण— मुनियोंके मूलगुण २८ होते हैं— ५ महाव्रत, ५ समिति, ५ इन्द्रिय दमन, ६ आवश्यक, ७ शेष सात गुण ३६।१३५
मैत्री— किसी जीवको दुःख न हो ऐसी भावना रखना ३९।१४६
मोह— गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।५५
मौनाध्ययन कृतस्व— गर्भान्वय क्रियाका एक भेद ३८।५८

य

यथाश्रयात्- चारित्र्य मोहके
अभावमें प्रकट होनेवाला
चारित्र्य। इसके औपशमिक
और क्षामिकके भेदसे दो
भेद हैं। ४७।२४७

योगस्वाय- गर्भान्वय क्रियाका
एक भेद ३८।६२

योगनिर्वाणसंप्राप्ति- गर्भान्वय
क्रियाका एक भेद ३८।५९

यौवराज्य- गर्भान्वय क्रियाका
एक भेद ३८।६१

योगसम्मह- गर्भान्वय क्रियाका
एक भेद ३८।६२

योजन- चारकोशका एक योजन
होता है परन्तु अकुविम
चीजोंके नापमें दो हजार
कोशका योजन लिमा जाता
है। ३३।१५९

योषित्- चक्रवर्तीका एक सचेतन
रत्न, स्त्री ३७।८४

र

रत्नत्रय- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान
और सम्पक्चारित्र्य ये तीन
रत्नत्रय हैं। ३६।१३९

रसर्द्धि- ऋद्धिका एक भेद
३६।१५४

रहस्- अन्तराय कर्म ३५।१८६

राजविद्या- आन्वीक्षिकी, त्रयी,
वार्ता और दण्डनीति ये
चार राजविद्याएँ हैं।
४१।१३९

ल

लिपि- गर्भान्वय क्रियाका एक
भेद ३८।५६

लेश्या- कषायके उदयसे अनु-
रञ्जित योगोंकी प्रवृत्ति।
इसके ६ भेद हैं-१ कृष्ण,
२ नील, ३ कापीत, ४ पीत,
५ पद्म और ६ शुक्ल।
३६।१८४

लोक- जहाँ तक जीव आदि छह

द्रव्य पाये जायें उसे लोक
कहते हैं। यह १४ राजू ऊँचा
है और ३४३ राजू क्षेत्रफल
वाला है। ३३।१३२

ख

खर्णलाभ- गर्भान्वय क्रियाका
एक भेद ३८।५७

वार्ता- खेती आदिके द्वारा
निर्दोष आजीविका करना
३८।३५

विकथा- राग द्वेषको बढ़ानेवाली
कथाएँ, ये चार हैं-१ स्त्री
कथा, २ राष्ट्र कथा, ३
भोजन कथा ४ और राज
कथा ३६।१४०

विक्रिया- एक प्रकारकी ऋद्धि,
इसके ८ अवान्तर भेद हैं।
३६।१५२

विजयाश्रिता- चक्रवर्तियोंकी
जाति विजयाश्रिता जाति
कहलाती है। ३९।१६९

विधिदान- गर्भान्वय क्रियाका
एक भेद ३८।६०

विपाक विषय-धर्म्यध्यानका एक
भेद ३६।१६१

विपाकसूत्र- द्वादशाङ्गका ग्यार-
हवाँ भेद ३४।१४५

विपुलमति- मनःपर्यय ज्ञानका
उत्कृष्ट भेद ३६।१४७

विमुक्तता- निष्परिग्रहता
३४।१६९

विवाह-गर्भान्वय क्रियाका एक
भेद ३८।५७

वीरासन-आसनका एक भेद,
जिसमें दोनों पगपली अङ्घा-
पर रखकर ध्यानस्थ हुआ
जाता है ३४।१८७

वृत्तलाभ- वीक्षान्वय क्रियाका
एक भेद ३८।६४

व्रत- हिंसादि पाँच पापोंके त्याग-
के प्रकट होनेवाले पाँच
महाव्रत- १ अहिंसा, २

सत्य, ३ अचौर्य, ४ ब्रह्मचर्य
और अपरिग्रह ३६।१३३

व्रतवर्षा- गर्भान्वय क्रियाका एक
भेद ३८।५६

वृत्त-चारित्र्य- पापपूर्ण क्रियाओं-
से विरत होना ३२।२४

व्याख्याप्रज्ञप्ति- द्वादशाङ्गका
पाँचवाँ भेद ३४।१३८

व्युष्टि- गर्भान्वय क्रियाका एक
भेद ३८।५६

श

शक्य- १ माया, २ मिथ्या और
३ निदान ये तीन शक्य हैं।
ब्रह्मी मनुष्यके इनका अभाव
होना चाहिए। ३६।१३७

शुक्लध्यान- ध्यानका सर्वोत्कृष्ट
भेद ३६।१८४

शौच- लोभका त्याग करना
३६।१५७

श्रीमण्डप- समवसरणका मूल
मण्डप जिसमें भगवान्की
मन्थकुटी होती है।
३३।१५९

श्रुत- पाँच इन्द्रियों और मनकी
सहायतासे उत्पन्न होनेवाला
एक तर्कणाशील ज्ञान
३६।१४२

ष

षष्ठकम्- अङ्गतालीस (षण्णा-
मष्टकं षष्ठकम्) ३९।६

स

सञ्जाति- कर्तृन्वय क्रियाका एक
भेद ३८।६७

सत्य- हितमित प्रामाणिक वचन
बोलना ३६।१५७

सदाचर्चन-निश्चयसह- पूजाका एक
भेद घरसे लायी हुई सामग्री-
से जितेन्द्रदेवका प्रतिदिन
पूजन करना ३८।२६

सहस्रद्वित्व- कर्त्तव्य क्रियाका
एक भेद ३८।६७
सप्तभय- १ इस लोकका भय, २ परलोकका भय, ३ वेदनाभय, ४ आकस्मिक भय, ५ मरण भय, ६ अगुप्तिभय और ७ अरक्षा-भय ३४।१७६
सप्तभङ्गी- किसी पदार्थका निरु-
पण करनेके लिए वक्ताकी
इच्छासे होनेवाले सात-भंगों
का समूह । जो इस प्रकार
है- १ स्यादस्ति, २ स्या-
न्नास्ति, ३ स्यादस्तिनास्ति,
४ स्याद् अवक्तव्य, ५ स्याद्
अस्ति अवक्तव्य, ६ स्याद्
नास्ति अवक्तव्य, और ७
स्याद् अस्ति नास्ति अव-
क्तव्य, ३३।१३५
समवाय- द्वादशांगका चौथा-
भेद, ३४।१३८
समानदत्ति- सहधर्मिके लिए
दान देना । ३८।३८-३९
समिति- प्रमादरहित प्रवृत्ति
करना । समितियाँ पाँच
है- १ ईर्ष्या, २ भाषा, ३
एषणा, ४ आदान निक्षे-
पण और ५ प्रतिष्ठापन,
३६।१३५
सर्वरत्न- चक्रवर्तीकी एक निधि,
३७।७३
सर्वाधि- अवभिज्ञानका एक-
भेद जो भुनियोंके होता है
३६।१४७

संख्यानसंग्रह- गर्भान्वय क्रिया-
का एक भेद ३८।५६
संज्ञा- एक प्रकारकी इच्छाएँ ।
ये ४ हैं १ आहार, २ भय,
३ मैथुन और परिग्रह,
३६।१३१
संयम- पाँच इन्द्रिय और मन-
को बण करना तथा छह
कायके जीवोंकी रक्षा करना
३६।१५७
संस्थानविशेष- धर्म्यध्यानका
एक भेद ३६।१६१
साधन- आयुके अन्तमें संन्यास
धारण करना, ३९।१४५
सामाधिक- चारित्रिका एक भेद
जिसका सामान्य रूपसे
समस्त पापोंका त्याग कर
समताभाव धारण करना
अर्थ है ३४।१३०
साक्षाज्य- गर्भान्वय क्रियाका
एक भेद ३८।६२
साक्षाज्य- कर्त्तव्यक्रियाका एक
भेद ३८।६७
सिद्धार्थपादप- समवसरणमें
विद्यमान एक वृक्ष ४०।२०
सिद्धि- १ अणिमा, २ महिमा,
३ गरिमा, ४ लक्षिमा, ५
प्राप्ति, ६ प्रक्षाम्य, ७
ईक्षित्व, और ८ वाञ्छित्व ये
आठ सिद्धियाँ हैं ३४।२१४
सुखोदय- गर्भान्वय क्रियाका
एक भेद ३८।६०
सुप्रीति- गर्भान्वय क्रियाका एक
भेद ३८।५५

सुरेन्द्रता- कर्त्तव्य क्रियाका
एक भेद ३८।६७
सूत्र- यज्ञोपवीत ३९।९४
सूत्रकृत- द्वादशाङ्गका दूसरा भेद
३४।१३६
सूप- समवसरणमें विद्यमान
ऊँची भूमि ४१।२०
स्थपति- चक्रवर्तीका एक चेतन-
रत्न जिसे इंजीनियर कह
सकते हैं ३२।२४
स्थानछात्र- दीक्षान्वय क्रियाका
एक भेद ३८।६४
स्थानाध्ययन- द्वादशाङ्गका
तीसरा भेद ३४।१३६
स्थाध्याय- शास्त्रका अध्ययन
और भावना करना ३८।४१
स्वशुद्धिस्थानसंकल्पित- गर्भान्वय
क्रियाका एक भेद ३८।५९
स्वराज्य- गर्भान्वय क्रियाका
एक भेद ३८।६१
स्वात्मोत्था- मुक्त जीवोंकी
स्वात्मोत्थ जाति कहलाती
है । ३९।१६८
ह
हरितकाय- वृक्ष, लता, फल,
फूल आदि हरी वनस्पतियाँ
३४।१९४
हविष्पाक- नैवेद्य बनाना इसमें
गार्हपत्यअग्निका उपयोग
होता है ३४।८६
हिरण्योत्कृष्टजम्बता- गर्भान्वय
क्रियाका एक भेद ३८।६०

भौगोलिक शब्द-सूची

अ

अङ्ग = एक देश — भागलपुरका समीपवर्ती प्रदेश २९।३८
अलिगम्भीरा = एक नदी २९।५०
अद्रीन्ध्र = सुमेरु पर्वत ३६।५०
अनङ्ग = एक पर्वत २९।७०
अनन्तर पाण्ड्य = एक देश २९।८०
अपरान्त = पश्चिम दिग्भाग ३०।१
अम्बेणा = एक नदी २९।८७
अयोध्या = सम्राट् भरतकी राजधानी उत्तरप्रदेशकी प्रसिद्ध नगरी २६।८३
अरुणा = एक नदी २९।५०
अवन्तिकासा = एक नदी २९।६४
अवन्ती = मालवाका एक भाग — उज्जैनका समीपवर्ती भाग २९।४०
असुरधूपन = एक पर्वत २९।७०
आन्ध्र = एक देश २९।७९
आन्ध्र = आन्ध्र देशके लोग २९।९२
आपाण्डर गिरि = एक पर्वत २९।४६

इ

इक्षुमती = एक नदी २९।८३

उ

उण्डू = एक देश २९।४१
उन्मग्गजला = विजयार्थकी गुफा में बहनेवाली एक नदी ३२।२१
उभयश्रेणी = विजयार्थकी उत्तर और दक्षिण श्रेणी ३५।७३
उशीरवती = गान्धार देशकी एक नदी ४६।१४५
उशीनर = एक देश २९।४२

ऊ

ऊर्जयन्तात्रि = गिरनार पर्वत ३०।१०२
ऊहा = एक नदी २९।६२

ऋ

ऋक्षवत् = एक पर्वत २९।६९
ऋष्यभूक = एक पर्वत २९।५६

ओ

ओङ्ग = ओङ्ग देशके लोग २९।९३
औद्र = दक्षिण भारतका एक देश २९।७९
औदुम्बरी = एक नदी २९।५४

क

कच्छ = एक देश काठियावाड़ २९।४१
कङ्गा = एक नदी २९।६२
कर्णवती = एक नदी २९।४९
कमेकुर = एक देश २९।८०
कम्बलात्रि = एक पर्वत २९।६९
कम्बुक = एक सरोवर २९।५१
करभवेगिणी = एक नदी २९।६५
करीरी = एक नदी ३०।५७
कर्णाटक = कर्णाटक देशके लोग २९।९१
कलिङ्ग = उड़ीसा — भुवनेश्वरका समीपवर्ती प्रदेश २९।३८
कागन्धु = एक नदी २९।६४
काञ्चनपुर = विदेहका एक नगर ४७।७८
काण्डकप्रपात = एक गुफा ३२।१८८
कान्तपुर = पुष्करार्थ द्वीपके पश्चिम विदेह क्षेत्रके एक देशका एक नगर ४७।१८०
कामरूप = एक देश — आसाम २९।४२
काकमही = एक नदी २९।५०

कालकूट = एक देश २९।४८
कालतीथा = एक नदी २९।५०
कालिङ्गक = कलिङ्ग देशके लोग २९।९३
कालिन्द = एक देश २९।४८
काश्मीर = भारतका उत्तर दिशावर्ती एक प्रसिद्ध प्रदेश २९।४२
काशी = वाराणसीका समीपवर्ती प्रदेश २९।४०
किरातविषय = म्लेच्छोंका एक देश २९।४८
किष्किन्ध्र = एक पर्वत २९।९०
कुङ्कुम्भ = एक देश २९।८०
कुङ्गुजा = एक नदी २९।८७
कुरु = उत्तर प्रदेशके अन्तर्गत मेरठका समीपवर्ती प्रदेश २९।४०
कुरुजाङ्गल = मेरठका समीपवर्ती प्रदेश ४५।१६९
कूटात्रि = एक पर्वत २९।६७
कूतमाला = एक नदी २९।६३
कृष्णगिरि = एक पर्वत ३०।५०
कृष्णवेणा = एक नदी २९।८६
केतम्बा-केतवा = एक नदी ३०।५७
केरल = एक देश २९।७९
कैलास = वर्तमान हिमालय ३३।११
कोलाहलगिरि = एक पर्वत ३३।११
कौसल = अयोध्याका समीपवर्ती प्रदेश २९।४०
कौशिकी = एक नदी २९।५०
ख
खरराष्ट्रक = विजयार्थ पर्वत ३७।१९८
ग
गङ्गा = एक प्रसिद्ध नदी २९।४९

गङ्गापात = एक कुण्ड जिसमें हिमवत् पर्वतसे गङ्गा नदी गिरती है ३२।१६३

गङ्गाद्वार = जिस द्वारसे गङ्गा नदी लवणसमुद्रमें प्रवेश करती है ३५।६८

गजपुर = विजयार्ध पर्वतके दक्षिणभागमें स्थित एक नगर ४७।१२८

गदागिरि = एक पर्वत २९।६८

गम्भीरा = एक नदी २९।५०

गान्धारदेश = पुष्कलावती देशके विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण-श्रेणीका एक देश ४६।१४५

गोदावरी = एक नदी २९।८५

गोमती = एक नदी २९।४२

गोरथ = एक पर्वत २९।४६

गोशीर्य = एक पर्वत २९।८९

गौड़ = एक देश २९।९१

गौरी दिव्य = विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक देश ४६।१४७

च

चर्मण्वती = एक नदी - चम्बल २९।६४

चित्रवती = एक नदी २९।५८

छुल्लितापी = एक नदी २९।६५

चूर्णो = एक नदी २९।८७

चेदिककूश = एक देश २९।५७

चेदिपर्वत = एक पर्वत २९।५५

चेदिराष्ट्र = चेदी देश २९।५५

चेदी = एक देश मालवाका एक भाग २९।४१

ज

जगती = लवणसमुद्रकी चेदी २८।६७

जम्बूद्वीप = प्रथम द्वीप ४३।७४

जम्बूमती = एक नदी २९।६२

जाह्नवी = गंगा नदी २६।१४७

त

तत्साङ्ग = वरतनु नामका द्वीप २९।१६६

तमसा = एक नदी २९।५४

तमिसा = विजयार्ध पर्वतकी एक गुफा ३२।६

तापी = एक नदी ३०।६१

ताम्रा = एक नदी २९।५०

तुङ्गवरक = एक पर्वत ३०।४९

तैरक्षिक = एक पर्वत २९।६४

तैला = एक नदी २९।८३

त्रिकलिङ्ग = दक्षिण भारतका एक देश २९।७९

त्रिकूट = दक्षिणका एक पर्वत ३०।२६

त्रिसारीणा = गंगा २८।१९

त्रैराज्य = चोल, केरल, पाण्ड्य ३०।३५

द

दशार्ण = विदिशाका समीपवर्ती प्रदेश २९।४२

दशार्णा = धसान नदी २९।६०

दमना = एक नदी ३०।५९

दक्षुराद्रि = एक पर्वत २९।८९

दाखेणा = एक नदी ३०।५५

देवनिम्नगा = संगा नदी २७।३

ध

धान्यकमाल = विदेह क्षेत्रके पुष्कलावती देश सम्बन्धी विजयार्ध पर्वतके निकट स्थित एक वन ४६।९४

धान्यपुर = विजयार्धका एक नगर ४७।१४६

धैर्या = एक नदी २९।८७

न

नकरवा = एक नदी २९।८३

नन्दा = एक नदी २९।६५

नर्मदा = भारतकी एक प्रसिद्ध नदी २९।५२

नाग = एक पर्वत २९।८७

नागप्रिय = एक पर्वत २९।५८

नामिनील = वृषभावल जिसपर चक्रवर्ती अपनी प्रणति लिखता है ४५।५८

नालिका = एक नदी २९।६१

निबुरा = एक नदी २९।५०

निमग्नजला = विजयार्धकी गुफा-में बहनेवाली एक नदी ३२।२१

निर्विन्ध्या = एक नदी २९।६२

निषध = एक कुलाचल ३६।४८

निष्कुन्दरी = एक नदी २९।६१

नीरा = एक नदी ३०।५६

नीलाद्रि = एक कुलाचल ३६।४८

प

पुष्करार्ध द्वीपके पश्चिम विदेहका एक प्रसिद्ध देश ४७।१८०

पनसा = एक नदी २९।५४

पम्यासरस् = एक प्रसिद्ध सरोवर २९।५५

परजा = एक नदी २९।६३

पाञ्चाल = पंजाब २९।४०

पाण्ड्य = एक देश २९।८०

पाण्ड्य कवाटक = एक पर्वत २९।८९

पारा = एक नदी ३०।५९

पारियात्र = एक पर्वत २९।६७

पुष्क = एक देश २९।४१

पुण्डरीकिणी = विदेहकी एक नगरी ४६।१९

पुन्नाग = एक देश २९।६९

पुष्कलावती = विदेहका एक देश ४६।१९

पुष्पगिरि = एक पर्वत २९।६८

पोदन = पोदनपुर - बाहुबलीकी राजधानी ३४।६८

प्रसृशा = एक नदी २९।५४

प्रवेणी = एक नदी २९।८६

प्रहरा = एक नदी ३०।५८

प्राग् विदेह = पूर्व विदेह ४६।१९

प्राक्माध्यगिरि = एक पर्वत २९।५६

प्रातर = एक देश २९।७९

ब

बङ्ग = बंगाल २९।३८

भौगोलिक शब्द-सूची

५२७

बहुवज्रा = एक नदी २९।६१

बाणा = एक नदी ३०।५७

बीजानदी = एक नदी २९।५२

भ

भरत = जम्बू द्वीपका दक्षिण
दिशावर्ती क्षेत्र ४३।७४

भूतवन = भूतारण्य नामका वन
४७।६६

भीमरथी (भीमरथी) = एक
नदी ३०।५५

भोगपुर = गौरी देशकी नगरी
४६।१४७

म

मदेभ = एक पर्वत २९।७०

मद्र = एक देश २९।४१

मनोरम = एक देश ४७।४२

मलय = दक्षिणका एक पर्वत
३०।२६

मलयकाञ्चन = विजयार्ध पर्वत-
के समीपस्थ एक पर्वत
४६।१२५

मल्लद = एक देश २९।४७

मल्लदेश = एक देश २९।४८

महाकाल = एक गुफा ४७।१०३

महेन्द्र = एक पर्वत २९।८८

महेन्द्रका = एक नदी २९।८४

मागधिक = मगध देशके राजा ।
राजगृही (विहार) का
समीपवर्ती प्रदेश मगध
कहलाता था २९।३८

मानस = एक प्रसिद्ध सरोवर
२९।८५

मालववती = एक नदी २९।५९

माषवती = एक नदी २९।८४

महिष = एक देश २९।८०

मुकुन्द = एक पर्वत ३०।५०

मुररा = एक नदी ३०।५८

मूला = एक नदी ३०।५६

मृणालवती = विदेहकी एक
नगरी ४६।१०१

मेखला नदी = एक नदी २९।५२

य

यमकाद्रि = विदेहका एक पर्वत,
जिसे घेरकर सीता नदी
बहती है ३७।९८

यमुना = एक प्रसिद्ध नदी
२९।५४

र

रत्नावर्त = एक पर्वत ४७।२२

रथास्का = एक नदी २९।४९

रम्या = एक नदी २९।६१

राजत = विजयार्ध पर्वत ३१।१४

राजपुर = जम्बू द्वीपके विदेह
क्षेत्रमें स्थित विजयार्ध पर्वत-
का एक नगर ४७।७३

रुथ्याद्रि = विजयार्ध पर्वत ३७।
१७३

रेयिक = एक पर्वत २९।७०

रेवतक = गिरनार पर्वत ३०।
१०१

रेवा = एक नदी २९।६५

रोहितास्था = एक महानदी
३२।१२३

रौप्य शैल = विजयार्ध पर्वत
३७।८६

ल

लाङ्गल खातिका = एक नदी
३०।६२

लौहिष्य समुद्र = एक सरोवर
२९।५१

च

चङ्गा = एक नदी २९।८३

चरस = प्रयागके पासका एक
देश २९।४१

चरसकावती = जम्बू द्वीपका एक
देश ४७।७२

चसुमती = एक नदी २९।६३

चातपृष्ठ = एक पर्वत २९।६९

चासवत् = एक पर्वत २९।७०

विजयपुर = विजयार्धका एक
नगर ४७।१४०

विजयार्धचल = विजयार्ध पर्वत
३५।७२

चिनीता = अयोध्यापुरी ३४।१

चिन्ध्य = एक पर्वत २९।८८

चिन्ध्याद्रि = भारतका एक
प्रसिद्ध पर्वत ४५।१५३

चिन्ध्यापुरी = चिन्ध्याचलके
निकटमें स्थित एक नगरी
४५।१५३

चिमलपुर = एक नगर ४७।११८

चिबुधापगा = गंगा नदी २६।
१५०

चिवाला = एक नदी २९।६१

चूत्रवती = एक नदी २९।५८

चूषभाद्रि = चूषभाचल, जिसपर
चक्रवर्ती अपनी प्रशस्ति
लिखता है ३५।७७

चेणा = एक नदी २९।८७

चेणी = एक नदी ३०।८३

चेणुमती = एक नदी २९।५९

चैतरणी = एक नदी २९।८४

चैजयन्त = समुद्रका द्वार २५।
१६७

चिदर्भ = बरार २९।४०

चैमार पर्वत = एक पर्वत २९।४६

चैबूर्य = एक पर्वत २९।६७

च्याघ्री = एक नदी २९।६४

श

शतमोगा = एक नदी २९।६५

शर्करावती = एक नदी २९।६३

शिवंकर = मनोरमदेशका एक
नगर ४७।४९

शिवंकर = एक वन ४६।४८

शिल्पपुर = विजयार्धका एक नगर
४७।१४४

शुष्कनदी = एक नदी २९।८४

शुभितमती = एक नदी २९।५४

शीतगुह = एक पर्वत २९।८९

शोण = एक नदी-सोन २९।५२

शोमानगर = विदेह क्षेत्र पुष्कला-
वती देशका एक नगर
४६।९५

श्रीपुर = सुरम्य देशका नगर
४७।१४

श्रीकट = एक पर्वत २९।८९
 श्रीपर्वत = एक पर्वत २९।९०
 श्रेयसपुर = विजयार्धका एक
 नगर ४७।१४२
 श्वसना = एक नदी २९।८३
 स
 सप्तपारा = एक नदी २९।६५
 सतीरा = एक नदी २९।८६
 सप्तगोदावर = एक नदी २९।८५
 समतोया = एक नदी २९।६२
 सरयू = अयोध्याके निकट बहने-
 वाली एक नदी ४५।१४४
 सर्पसरोवर = धान्यकमाल वनका
 एक सरोवर ४६।१०२
 सहाचल = एक पर्वत ३०।२७
 साकेत = अयोध्यापुरी ३७।१
 सिकतिनी = एक नदी २९।६१

सितगिरि = एक पर्वत २९।६८
 सिद्धकूट = विजयार्धका एक
 चैत्यालय ४६।१५८
 सिन्धु = एक नदी २९।६१
 सिन्धु = एक नदी २९।६३
 सिंहल = एक देश (श्रीलंका)
 ३०।२६
 सीता = विदेहकी एक नदी
 ३७।९८
 सीममहाचल = सीम नामका
 पर्वत ४७।१३४
 सुप्रयोगा = एक नदी २९।८६
 सुमन्दर = एक पर्वत ३०।५०
 सुमागधी = एक नदी २९।४९
 सुरम्य = विदेहका एक देश
 ४७।१४
 सुरनिरि = एक पर्वत ४७।६

सुसीमा = विदेहका एक देश
 ४७।६५
 सुसीमानगर = वात्स देशका नगर
 ४६।२५६
 सुहाक = एक देश २९।४१
 सुहाका = एक नदी २९।८७
 स्वःखवन्ती = गंगा नदी २६।
 १४८
 स्वधुंभी = गंगा नदी ३५।७७
 ह
 हयपुर = विजयार्धका एक नगर
 ४७।१३२
 हस्तिपानी = एक नदी २९।६४
 हास्तिनाख्यपुर = हस्तिनापुर
 ४३।७६
 हिमाद्रि = हिमवत् नामका कुला-
 चल ३६।६१

व्यक्तिवाचक शब्द-सूची

अ
अकम्पन— वाराणसीके राजा
 ४२।१२७
अकम्पन— वरसकावती देशके
 विजयार्थपर रहनेवाला एक
 विद्याधर राजा — पिप्पला-
 का पिता ४७।७५
अक्षमाला— सुलोचनाकी बहिन
 लक्ष्मीमतीका दूसरा नाम
 ५२।२१
अक्षिमाला— सुलोचनाकी बहिन
 लक्ष्मीमती, इसके दूसरे
 नाम अक्षिमाला, अक्षमाला
 ४५।६४
अग्निदेव— भगवान् वृषभदेवका
 एक गणधर ४३।४५
अचल— भगवान् वृषभदेवका एक
 गणधर ४३।५७
अजितञ्जय— चक्रवर्ती भरतका
 रथ २८।५८
अजितञ्जय— भरत चक्रवर्तीका
 पुत्र ४७।२८२
अटवीश्री— शोभा नगरके शक्ति-
 वेण सामन्तकी स्त्री ४६।९६
अतिबल— एक विद्याधर ४७।१०८
अतिबल— भगवान् वृषभदेवका
 एक गणधर ४३।६५
अतिवीर्य— भरत चक्रवर्तीका पुत्र
 ४७।२८२
अतिपिक्कल— पिक्कल नामक
 कोतवालका पुत्र ४६।३६१
अधिराट्— भरत चक्रवर्ती
 ३६।१९२
अनवद्यमति— भरत चक्रवर्तीका
 एक मन्त्री, जो कि सुलो-
 चनाके स्वयंवरके समय
 अर्ककीतिके साथ गया था
 ४४।२२

अनन्तमति— एक आयिका
 ४६।४७
अनङ्गपताका— विद्युद्देगाकी सखी
 ४७।३४
अनन्तवीर्य— जयकुमारका पुत्र
 ४७।२७७
अनिलवेग— शिवकरपुरका राजा
 ४७।४९
अनुत्तर— चक्रवर्ती भरतका मिहा-
 सन ३७।१५४
अनुपमान— चक्रवर्ती भरतके
 जमर ३७।१५५
अनुपम— भगवान् वृषभदेवका
 एक गणधर ४३।६६
अन्यमनु— भरत चक्रवर्ती
 ३६।१०३
अपराजित— भगवान् वृषभदेवका
 एक पुत्र ४३।५९
अभेद्य— भरत चक्रवर्तीका कवच
 ३७।१५९
अमितमति— एक आयिकाका
 नाम ४६।४७
अमृत— भरत चक्रवर्तीका पेय
 रस ३७।१८९
अमृतकल्प— भरत चक्रवर्तीके
 खास पदार्थ ३७।१८९
अमृतगर्भ— भरत चक्रवर्तीके
 खाने योग्य लड्डू आदि
 पदार्थ ३७।१८८
अमोघ— चक्रवर्ती भरतके बाण
 ३७।१६२
अयोध्या— चक्रवती भरतका
 सेनापति ३७।१७४
अरिन्दम— भरत चक्रवर्तीका पुत्र
 ४७।२८१
अरिञ्जय— भरत चक्रवर्तीका
 पुत्र ४७।२८१
अर्ककीर्ति— भरत चक्रवर्तीका
 पुत्र ४३।५३

अवतंसिका— चक्रवर्ती भरतकी
 रत्नमाला ३७।१५३
अशनिवेग— एक विद्याधर
 ४७।२१
अशनिवर— एक विद्याधर राजा
 ४७।१७५
अशोकदेव— मृणालवती नगरीका
 एक सेठ ४६।१०६
अष्टचन्द्र— विद्याधरविशेष ४७।
 ११३

आ
आदिगुरु— भगवान् वृषभदेव
 ३४।४५
आदिभर्ता— भगवान् आदिनाथ
 ४१।४
आदिवेश्मन्— भगवान् आदिनाथ
 २५।१०९
आदित्यगति— उशीरवती नगरी-
 का राजा ४६।१४६
आदित्यगति— हिरण्यवर्माका
 पिता ४७।१८५
आद्यवेधा— भगवान् वृषभदेव
 ४२।२
आद्यस्रष्टा— भगवान् वृषभदेव
 ३६।९५
आनन्द— एक राजा ४६।२८०
आनन्दिनी— भरत चक्रवर्तीकी
 भेरी ३७।१८२
आप्त— जिनेन्द्रका नाम ३९।१३
आवर्त— विजयार्थके उत्तरमें
 रहनेवाला एक म्लेच्छ
 खण्डका राजा ३२।४६
उ
उत्पलमाला— एक वैद्या
 ४६।३००
ऐ
ऐश्वराक— इषवाकुवंशी राजा
 भरत ३५।६७

क
कच्छ— भगवान् वृषभदेवका एक
गणधर ४३।६५
कनकरथ— कान्तपुरका राजा
४७।१८१
कनकप्रभ— राजा कनकरथ और
रानी कनकप्रभाका पुत्र
४७।१८१
कनकप्रभा— राजा कनकरथकी
स्त्री ४७।१८१
कनकमाता— राजा प्रजापालकी
रानी ४६।४९
कनकश्री— मृणालवतीके सेठ
सुकंतुकी स्त्री ४६।१०४
कमलावती— विमलसेनकी पुत्री
४७।११४
काकोदर— एक साँपका नाम
४३।९३
काछना— स्वर्गकी एक देवी
४७।२६१
कान्तवर्ती— अनिलवेगकी स्त्री
४७।४९
कामदेव— भगवान् वृषभदेवका
एक पुत्र ४३।६६
कामवृष्टि— भरत चक्रवर्तीके
गृहपति-रत्नका नाम ३७।
१७६
काली— नागीका जीव मरकर
काली नामकी जलदेवी हुई
४३।९५
काशिपालराजा— सुलोचना
४५।१६९
काशिराज— वाराणसीका राजा
अकम्पन ४७।९०
कीर्तिमती— वरकीर्ति राजाकी
प्रिय स्त्री ४७।१४१
कीर्ति— एक देवी ३८।२२६
कुबेरकान्त— कुबेरमित्र सेठ और
घनवतीका पुत्र कुबेरकान्त
४६।३१
कुबेरश्री— वसुपालकी माता
४७।५

कुबेरकान्त— चक्रवर्ती भरतका
अक्षय भाण्डार ३७।१५१
कुबेरमित्र— एक सेठका नाम
४६।२१
कुबेरमित्रा— ममूद्रदन सेठकी
स्त्री ४६।४१
कुमार— अर्ककीर्ति ४५।४२
कुम्भर— भगवान् वृषभदेवका एक पुत्र
गणधर ४३।५४
कुरुराज— हस्तिनापुरके राजा
सोमप्रभका पुत्र जयकुमार
३२।६८
कौरव्य— जयकुमार ४५।७८
कृतमाल— एक देव ३५।७३
कृतमाल— एक देव ३१।९४
क्षितिसार— चक्रवर्ती भरतके
प्राकार-कोटका नाम ३७।
१४६

ग

गङ्गा— गंगा नामकी देवी ३७।१०
गङ्गा देवी— एक देवी ४५।१४९-
१५१
गणशङ्कर— चक्रवर्तीकी आज्ञा-
का पालन करनेवाले एक
प्रकारके देव, जो कि सोलह
हजारकी संख्यामें चक्रवर्ती-
की तिथियों और रत्नोंकी
रक्षा करते हैं ३७-१४५
गम्भीरावर्त— भरत चक्रवर्तीके
शत्रुका नाम ३७।१८४
गान्धारी— एक आशिका ४६।
२३७
गिरिकूटक— चक्रवर्ती भरतका
राजमहल, जिसपर चक्रकर
सब दिशाओंकी शोभा देखते
थे ३७।१४९
गुणपाल— एक मुनिराज ४७।६
गुणपाल— श्रीपालकी जयावती
रानीसे उत्पन्न पुत्र
४७।१७२
गुणपाल— विदेह क्षेत्रके एक
तीर्थंकर ४७।१६३

गुणपाल— राजा लोकपालका पुत्र
४६।२४३
गुणवती— एक आशिका ४६।२१९
गुणवर्ती— राजा प्रजापालकी
पुत्री ४६।४५
गुप्तकल्प— भगवान् वृषभदेवका
एक गणधर ४३।६२
गुरु— भगवान् आदिनाथ
३६।२०३
गृहकूटक— चक्रवर्ती भरतका
वर्षाकालीन महल ३७।१५०
गौतम— भगवान् महावीरके
प्रतिगणधर

घ

चक्रधर— भरत चक्रवर्ती ३४।४६
चक्रपाणि — ,, ३४।७१
चक्रिन्— ,, ३६।५९
चण्डवेग— चक्रवर्ती भरतके चण्ड
रत्नका नाम ३७।१७०
चन्द्रचूल— भगवान् वृषभदेवका
गणधर ४३।६४
चित्ररथ— मनोरथका पुत्र
४६।१८१
चित्रवेगा— वपन्तर देवी ४६।३५५
चित्रसेना— अतिबल विद्याधरकी
स्त्री ४७।१०९
चित्रवेणा— वपन्तर देवी ४६।३५५
चिन्ताजननी— भरत चक्रवर्तीके
काकिणी रत्नका नाम
३७।१७३
चिलाल— विजयार्थके उत्तरवर्ती
खण्डमें रहनेवाला एक
म्लेच्छ राजा ३२।४६
चूडामणि— चक्रवर्ती भरतके
भणिका नाम ३२।४६
ज

जगद्गुरु— भगवान् आदिनाथ
४१।१७
जगन्पाल— एक चक्रवर्ती ४७।९

जगन्माता— भगवान्की माताका

नाम ३८।२२५

जय— जयकुमार ४३।५०

जय— भगवान् वृषभदेवका गण-

धर ४३।६५

जयन्त— जयकुमारका छोटा भाई

४७।२८०

जयधाम— सर्वदयित सेठका एक-

मित्र ४७।२१०

जयदत्ता— सर्वदयित सेठकी

स्त्री ४७।१९४

जयमामा— जयधामकी स्त्री

४७।२१०

जयवती— राजा श्रीधर और

रानी श्रीमतीकी पुत्री

४७।१४

जयावती— श्रीपाल चक्रवर्तीकी

स्त्री ४७।१९४

जयसेना— सर्वदयित सेठकी स्त्री

४७।१९४

जयसेना— श्रीपालके पुत्र गुण-

पालकी स्त्री ४७।१७६

जयवर्मा— जयावतीका भाई

४७।१७४

जयवर्मा— एक राजा ४४।१०६

जितशत्रु— समुद्रदत्तका चाकित

पुत्र ४७।२११

जितदत्ता— मृणालवतीके सेठ

अशोकदेवकी स्त्री ४६।१०६

जिनदेव— धरोहर रखनेवाला

एक पुरुष ४६।२७४

जिनाम्बिका— भगवान्की माता-

का नाम ३८।२२५

जीमूत— चक्रवर्ती भरतका स्नान-

गृह ३७।१५२

ज्योतिर्वेगा— अशनिवेगकी माता-

का नाम ४७।२९

त

तेजोराशि— भगवान् वृषभदेव-

का एक गणधर ४३।६३

द

दिवस्वस्तिका— चक्रवर्ती भरतकी

सभाभूमिका नाम ३७।१४८

दुर्गवर्ण— एक राजकुमार ४४।१

दुर्मुख— भवदेवका दूसरा नाम

४६।१०६

देवकीर्ति— एक राजा ४४।१०६

देवभाव— भगवान् वृषभदेव-

का एक गणधर ४३।५४

देवरस्या— चक्रवर्ती भरतकी

कपड़ेकी चाँदनी ३७।१५३

देवश्री— शोभानगरके राजा

प्रजापालकी स्त्री ४६।९५

देवश्री— एक यक्षी, श्रीपाल

चक्रवर्तीकी पूर्वभवकी माता

४७।१५३

देवश्री— सर्वदयित सेठके पिताकी

स्त्री ४७।१९४

देवशर्मा— भगवान् वृषभदेवका

एक गणधर ४३।५४

देवसत्य— भगवान् वृषभदेवका

एक गणधर ४३।६०

ददरथ— भगवान् वृषभदेवका

गणधर ४३।५४

दक्षप्रत्त— भगवान् वृषभदेवके

समवसरणका प्रमुख श्रावक

४७।२९६

देवाग्नि— भगवान् वृषभदेवका

गणधर ४३।५५

दोर्बली— बाहुबली, भगवान्

आदिनाथका सुनन्दा स्त्रीसे

उत्पन्न पुत्र ३५।१

ध

धनजय— एक सेठ ४७।२००

धनजय— धनश्रीका बड़ा भाई

४७।१९२

धन्वन्तरि— मेरुकदत्त सेठका

मन्त्री ४६।११३

धनदेव— दण्डधर्मान एक पुरुष

४६।२७५

धनपालक— भगवान् वृषभदेवका

गणधर ४३।६३

धनवती— धन्वन्तरि ४७।२५५

धनवती— कुबेरमित्र सेठकी

बत्तीस स्थितिमें एकका

नाम ४६।२१

धनश्री— सर्वसमुद्र त्रिणिकी

स्त्री ४७।१६२

धनश्री— धन्वन्तरदेवकी ४६।३५६

धरनिकम्प— राजपुरका राजा

विद्याधर ४७।७३

धरणीपति— मृणालवती नगरीका

राजा ४६।१०३

धारागृह— चक्रवर्तीका फव्वारा,

जहाँ बैठकर वे गरमीको

शान्त करते थे ३७।१५०

धारिणी— मेरुकदत्त सेठकी स्त्री

४६।११२

धारिणी— राजा सुरदेवकी स्त्री

४६।३५२

धूमवेश— एक विद्याधर ४७।९०

धूर्त— एक देवी ३८।२२६

न

नन्दन— भगवान् वृषभदेवका एक

गणधर ४३।५५

नन्दिमित्र— भगवान् वृषभदेवका

गणधर ४३।६६

नन्दी— भगवान् वृषभदेवका एक

गणधर ४३।६६

नन्द्यावर्त— चक्रवर्तीकी सेनाका

पड़ाव ३७।१४७

नमि— भगवान् वृषभदेवका एक

गणधर ४३।६५

नमि— विद्याधर राजा ३२।१८०

नरपति— शिल्पपुरका राजा

४७।१४४

नागमुख— एक देव ३२।५६

नागामर ,, ४३।९१

नाट्यमाल— ,, ३२।१९१

नाट्यमालिका— नाट्यार्चकी

पुत्री ४६।२९९

निधिपति— चक्रवर्ती भरत

निधिराट्- चक्रवर्ती भरत ४१।४२
 निधीषा ,, ३६।३
 निधीश्वर- ,, ४१।१८
 निधीशिन्- ,, ३६।६५
 निमैल- भगवान् वृषभदेवका
 गणधर ४३।६०
 नृपशार्कुल- चक्रवर्ती भरत
 ३६।६०

प

पद्मजय- भरतचक्रवर्तीके अध्व-
 रत्नका नाम ३७।१७९
 पिङ्गल- राजा सुरदेवका जीव,
 नगररक्षक ४६।३५६
 पितामह- भगवान् आदिनाथ
 ४४।२८
 पिप्पला- सुखावतीकी सखी
 ४७।७५
 पुराणपुरुष- भगवान् आदिनाथ
 ३४।२२०
 पुरु- भगवान् आदिनाथ ४३।४९
 पुष्करावर्ति- चक्रवर्ती भरतका
 खास महल ३७।१५१
 पुष्पवाहिका- एक मालिनकी
 पुत्री ४६।२५२
 पुष्पवती- एक मालिनकी पुत्री
 ४६।२५८
 पृथिवी- राजा सुरदेवकी स्त्री
 ४६।३५२
 पृथिवीश्वर- भरत चक्रवर्ती
 ३६।२०
 पृथुधी- मन्त्रीका पुत्र ४६।३०५
 प्रजापाल- विदेहक्षेत्र सम्बन्धी
 पुष्कलावती देशके शोभा-
 नगरका राजा ४६।९५
 प्रजापाल- पुण्डरीकिणी नगरी-
 का राजा ४६।२०
 प्रजापति- भगवान् आदिनाथ-
 का गणधर ४३।६३
 प्रमञ्जन- एक राजकुमार
 ४३।१८९
 प्रभावती- रतिवेषा कद्रुतरीका
 जीव ४६।१४८

प्रभावती- सुलोचनाके पूर्वभक्के
 वर्णनमें आनेवाला एक नाम
 प्रभास-व्यन्तर देवीका अधि-
 पति ३०।१२३
 प्रियकारिणी- प्रभावतीकी सखी
 ४६।१५५
 प्रियकुम्भी- त्रिज्यपुरीके राजा
 ४५।१५३
 प्रियवृत्ता- समुद्रवत् और कुबेर-
 मित्राका पुत्र
 प्रियरति- एक नट
 प्रियसेन- कुबेरकान्तका एक
 मित्र ४६।३२
 पौरवा- भगवान् वृषभदेव
 सम्बन्धी

फ

फरगुमति- राजा लोकपालका
 मन्त्री ४६।५१

ब

बल- भगवान् वृषभदेवका गण-
 धर ४३।६५
 बाहुबली- भगवान् वृषभदेवका
 पुत्र ३४।६७
 बुद्धिसागर- चक्रवर्ती भरतका
 पुरोहित ३७।१७५
 बृहस्पति- मेरुकदत्त सेठका मन्त्री
 ४६।११३
 बाह्मी- भगवान् वृषभदेवकी
 पुत्री ४५।२८८

भ

भगदत्त- भगवान् वृषभदेवका
 गणधर ४३।६२
 भगदेव ,, ४३।६२
 भगफण्यु ,, ४३।६२
 भवदेव- मृणालवतीके सेठ
 सुकेतुका पुत्र ४६।१०४
 भद्रभुक्त- चक्रवर्ती भरतका
 शिलावट ३६।१७७
 भद्रबल- भगवान् वृषभदेवका
 गणधर ४३।६६
 भरत- भरत चक्रवर्ती ३८।४

भरताधीश- भरत चक्रवर्ती
 ३६।१८६
 भरतेषा- भरत चक्रवर्ती ३४।३१
 भरतेश्वर- ,, ३४।२२३
 भरतेशिन्- ,, ३६।१८८
 भीम- एक मुनि ४६।२६२
 भीमभुज- एक राजकुमार
 ४३।१९०

भुजबली- बाहुबली ३४।८८
 भुजविक्रमी- ,, ३६।५१
 भूतमुख- भरत चक्रवर्तीकी ढाल
 ३७।१६८
 भूतार्थ- मेरुकदत्त सेठका मन्त्री
 ४६।११३
 भोगवती- अनिलदेव और कान्त-
 वतीकी पुत्री ४७।५०

म

मधवान्-भगवान् वृषभदेवका
 गणधर ४३।६३
 मणिनागदत्त- रतिकुल मुनिके
 पिता ४६।३६३
 मदनवती- पिप्पलाकी सखी
 ४६।७८
 मन्मथेया- एक नटी प्रियरति
 नटकी पुत्री ४७।१७
 मनु- भरत चक्रवर्ती ३०।१४
 मनोरथ-प्रभावतीके पिता वायु-
 रथका पुत्र ४६।१७९
 मनोवेग- भरत चक्रवर्तीके एक
 कणप (शस्त्रविशेष) का
 नाम ३७।१६६
 मनोवेश- एक विद्याधर राजा
 ४७।१७७
 महाकच्छ- भगवान् वृषभदेवका
 एक गणधर ४३।६५
 महाकम्पाणक- भरत चक्रवर्तीके
 भोजनका नाम ३७।१८७
 महाकाल- महाकाल गुफामें
 रहनेवाला एक व्यग्रदेव
 ४७।१०४
 महाजय- चक्रवर्तीका पुत्र
 ४७।२८२

महादेवी— भगवान्की माताका नाम २८।२२५

मित्रकण्ठु— भगवान् वृषभदेवका एक गणधर ४३।६२

महाकलिन्— बाहुबलीका पुत्र ३६।१०४

महाबाल— भगवान् वृषभदेवका गणधर ४३।६४

महाभागी— भगवान् वृषभदेवका गणधर ४३।६६

महावीर— „ ४३।६३

महारस— „ ४३।६५

महारथ— „ ४३।६३

महासती— भगवान्की माताका नाम ३८।२२५

महोदधर— भगवान् वृषभदेवका गणधर ४३।५६

महेंद्रदत्त— राजा अकम्पनका कंचुकी ४३।२७८

महेंद्र— भगवान् वृषभदेवका गणधर ४३।५६

मागध— लवण समुद्रका अधिपता एक व्यन्तरदेव २८।६२२

मित्राग्नि— भगवान् वृषभदेवका गणधर ४३।५६

मित्रशङ्ख— भगवान् वृषभदेवका गणधर ४३।६२

मुनिदत्त— „ ४३।६१

मुनिपञ्च— „ ४३।६१

मुनिगुप्त— भगवान् वृषभदेवका गणधर ४३।६१

मुनिदेव— „ ४३।६१

मेघमुख— एक देव ३२।५६

मेघघोषा— एक भेरीका नाम ४४।९३

मेघस्वर— जयकुमारका दूसरा नाम ४३।१९०

मेघप्रभ— एक विद्याधर ४४।१०८

मेनका— इन्द्रकी इन्द्राणी ४६।२५७

मेरुकदत्त— एक सेठका नाम ४६।११२

मेरु— भगवान् वृषभदेवका गणधर ४३।५७

मेरुधन— „ ४३।५७

मेरुभूति— „ ४३।५७

य

यशःपाल— विदेह क्षत्रकी पुण्डरीकिणी नगरीका राजा ४७।१९१

यशःपाल— सुखावतीका पुत्र ४७।१८८

यशस्वती— राजा प्रजापालकी पुत्री ४६।४५

यशोबाहु— भगवान्का एक गणधर ४३।५५

योगिराज— मुनि बाहुबली ३६।२०१

र

रत्निकारिणी— प्रियदत्ताकी चेटी ४६।४२

रत्निकूल— एक मुनि ४३।३६३

रत्निपिङ्गल— एक वैश्याभक्त चोर ४६।२७६

रत्निवर— एक कबूतर ४६।२२

रत्निवर्मा— मृणालवतीका एक सेठ ४६।१०४

रत्निबिमला— शिल्पपुरके राजा नरपतिकी पुत्री ४७।१४५

रत्निपेणा— मृणालवतीके सेठ श्रीदत्तकी पुत्री ४६।१०५

रत्निपेणा— अच्युत स्वर्गके प्रतीन्द्रकी देवी ४६।३५२

रत्निपेणा— रत्निवर कबूतरकी स्त्री ४६।३०

रत्निप्रभा— प्रभावतीकी पुत्री ४६।१८०

रत्निप्रभा— प्रभावतीकी पुत्री ४६।१८०

रत्निवर— एक मुनि ४७।२२३

रत्नेश— भरत चक्रवर्ती ३६।१९५

रथचरण हंति— चक्रायुध-चक्रवर्ती २८।२०७

रथवर— एक राजकुमार ४३।१८९

रत्निकीर्ति— भरत चक्रवर्तीका एक पुत्र ४७।२८१

रत्निप्रभ— स्वर्गका देव ४७।२६०

रत्निवीर्य— भरत चक्रवर्तीका पुत्र ४७।२८२

राजप्रभ— हस्तिनापुरके राजा सोमप्रभका दूसरा नाम ४३।८२

राजराज— भरत चक्रवर्ती ४५।४८

रिपुजय— भरत चक्रवर्तीका पुत्र ४७।२८१

ल

लक्ष्मीबाहु— भरत चक्रवर्ती ३८।२०

लक्ष्मी— एक देवी ३८।२२६

लक्ष्मीमती— वाराणसीके राजा अकम्पनकी पुत्री ४३।१३५

लक्ष्मीवती— जयकुमारकी माता ४३।७८

लोकपाल— राजा प्रजापालका पुत्र ४६।४८

लोल— एक किसान ४६।२७८

लोहबाहिनी— भरत चक्रवर्तीकी छुरीका नाम ३७।११५

व

वज्र— भगवान् वृषभदेवका एक गणधर ४३।६४

वज्रकाण्ड— भरत चक्रवर्तीका धनुष ३७।१६१

वज्रकेतु— एक पुरुष जिसे लोग दण्ड दे रहे थे ४६।२७३

वज्रतुण्डा— भरत चक्रवर्तीकी शक्तिका नाम ३७।१६३

वज्रमय— भरत चक्रवर्तीके चर्मरत्नका नाम ३७।१७१

वज्रसाह— भगवान् वृषभदेवका एक गणधर ४३।६४

वज्रायुध— एक राजकुमार
४३।१८९

वरतनु— व्यन्तर देवोंका स्वामी
२९।१६६

वरकीर्ति— विजयपुरका राजा
४७।१४१

वरधर्मगुरु— एक मुनि ४६।७४

वरुण— भगवान् वृषभदेवका गण-
धर ४३।६३

वर्धमान— चक्रवर्तीका भाई
गृह ३७।१४९

वरसेन— विमलसेनका पुत्र
४७।११७

वलि— एक राजकुमार ४३।१८९

वसन्तिका— राजा सुरदेवकी
एक दासी ४६।३५२

वसु— राजाका साला ४६।३१८

वसुपाल— पुष्कलावती देश-
पुण्डरीकिणी नगरीका

राजा ४६।२८९

वसुपाल— श्रीपाल चक्रवर्तीका
भाई ४७।४

वसुपाल— राजा गुणपालका
पुत्र ४६।३३२

वसुदेव— भगवान् वृषभदेवका
एक गणधर ४३।५६

वसुधारक— चक्रवर्ती भरतका
कोटार— संजयगृह ३७।१५२

वसुन्धर— भगवान् वृषभदेवका
गणधर ४३।५६

वसुन्धरा— राजा सुरदेवकी स्त्री
४६।३५१

वसुमती— लोकपालकी स्त्री
४६।६२

वसुमित्र— भगवान् वृषभदेवका
पुत्र ४३।५९

वसुषेणा— राजा सुरदेवकी स्त्री
४६।३५१

वायुरथ— प्रभावतीका पिता
४७।१८५

वायुरथ— मोगपुरका एक विद्या-
धर राजा ४६।१४७

वायुशर्मा— भगवान् वृषभदेवका
गणधर ४३।५५

वारिषेणा— वसुपालकी स्त्री
४६।३३२

वासव— एक मनुष्य ४७।१८

विचित्राक्ष— अकम्पनका मित्र—
देव ४३।२०४

विजयगुप्त— भगवान् वृषभदेवका
गणधर ४३।५८

विजयगुप्त— भगवान् वृषभदेवका
भाई ४७।२८०

विजयघोष— चक्रवर्ती भरतके
पटह— नगाड़ेका नाम

३७।१८३

विजयपर्वत— भरतका हाथी-
रत्न ३७।१७९

विजयमित्र— भगवान् वृषभदेव-
का एक गणधर ४३।५९

विजयार्थ— नयकुमारका हाथी
४४।१०२

विजयार्थ— विजयार्थ पर्वतका
अधिष्ठाता देव ३१।४२

विजयार्थेश— विजयार्थ पर्वतका
स्वामी देव ३७।१२

विजयार्थकुमार— विजयार्थपर्वत-
का अधिष्ठाता देव

३७।१५५

विजयिष्ठ— भगवान् वृषभदेवका
गणधर ४३।५९

विशुप्रभ— हस्तिनापुरके राजा
सोमप्रभका दूसरा नाम

४३।८४

विशुप्रभ— चक्रवर्ती भरतके
कुण्डल ३७।१५७

विशुप्रभा— गुणपालकी स्त्री
४७।१८२

विशुद्देगा— एक जोर ४६।२९०

विशुद्देगा— एक विद्याधरी
४७।२७

विशुद्धीर— हिरण्यवर्मा और
प्रभावतीपर उपसर्ग करने-
वाला एक जोर ४६।२४८

विनमि— भगवान् वृषभदेवका
गणधर ४३।६५

विनमि— विद्याधर राजा
३९।१८०

विनीत— भगवान् वृषभदेवका
गणधर ४३।६१

विन्ध्यकेतु— विन्ध्यपुरीका
निवासी राजा ४५।१५३

विन्ध्यश्री— विन्ध्यपुरीके राजा
विन्ध्यकेतु और रानी

प्रियङ्गुश्रीकी

पुत्री

४५।१५४

विपुलमति— एक चारण ऋद्धि-
धारी मुनि ४६।७६

विमलसेना— धान्यपुरके राजा
विशालकी पुत्री ४७।१४७

विमलसेन— एक विद्याधर
४७।११४

विमलश्री— मृणालवती नगरी-
के सेठ श्रीदत्तकी स्त्री

४६।१०५

विमला— राजा सुरदेवकी एक
दासी ४६।३५२

विमति— एक पुरुष ४६।२९१

विशाम्पति— चक्रवर्ती भरत
२६।८८

विराग— जिनेन्द्रदेवका नाम
३९।१३

विशामीश— भरत चक्रवर्ती
४१।१९

विशालाक्ष— भगवान् वृषभदेव-
का गणधर ४३।६४

विशाल— धान्यपुरका राजा
४७।१४६

विश्वसेन— भगवान् वृषभदेवका
गणधर ४३।५९

विश्वेश्वर— जगतके ईश्वर तीर्थ-
कर ३९।२७

विश्वेश्वरा— भगवान्की माता-
का नाम ३८।२२५

विश्वामृज— भगवान् वृषभदेव
३४।२२२

विषमाशिका— भरत चक्रवर्तीकी

पादुका ३७।१५८

वीरभोका— श्रेयस्पुरके राजा

शिवसेनकी पुत्री ४७।१४३

वीरभोका— राजा सुरदेवकी

एक दासी ४६।३५२

वीरजय— भरत चक्रवर्तीका

पुत्र ४७।२८२

वीराङ्गद— भरत चक्रवर्तीके

हाथके कड़ेका नाम

३७।१८५

वृषभ— भगवान् आदिनाथ

३४।२१६

वृषभध्वज— प्रथम तीर्थंकर

४३।१

वृषभसेन— भगवान् वृषभदेवका

गणधर ४३।५४

वृषभेशिन्— प्रथम तीर्थंकर

३७।४

वैजयन्त— चक्रवर्ती भरतके

महलका नाम ३७।१४७

वैश्रवणदत्त— सागरसेन और

सागरसेनाका पुत्र ४७।१९७

वैश्रवणदत्ता— सागरसेन और

सागरसेनाकी पुत्री

४७।१९७

श

शकुनि— मेरुकदल सेठका

मन्त्री ४६।११३

शक्तिषेण— शोभानगरके राजा

प्रजापालका एक सामन्त

४६।९६

शम्भी— इन्द्रकी इन्द्राणी ४६।२५७

शतधनु— भगवान् वृषभदेवका

एक गणधर ४३।५४

शातमातुरः— भरत चक्रवर्ती

(शतस्य माता शतमाता,

तस्या अपत्यं पुमान् शात-

मातुरः) ३७।२१

शशिप्रभा— लशीरवती नगरीके

राजा आदिरमणिकी स्त्री

शिव— एक विद्याधर राजा

४७।१७५

शिवंकर महादेवी— जयकुमारकी

रानी ४७।२७६

शिवंकर— पुण्डरीकिणी पुरीका

एक उद्यान ४६।३४९

शिवंकरा— सुलोचनाकी सपत्नी

४६।१०

शिवकुमार— एक राजकुमार

४७।१००

शिवसेन— श्रेयस्पुरका राजा

४७।१४२

शिवघोष— एक मुनि, जिन्हें

सुसीमा नगरमें केवल ज्ञान

उपपन्न हुआ ४६।२५६

शुचिस्नाह— भगवान् वृषभदेव-

का एक गणधर ४३।६४

शीलगुप्त— एक मुनि ४३।८८

शीलगुप्त— ,, ४६।४८

श्री— एक देवी ३८।२२६

श्रीदत्त— मृणालवती नगरीका

एक सेठ ४६।१०५

श्रीधर— एक राजा ४४।१०६

श्रीधर— श्रीपुरका राजा ४७।१४

श्रीपाल— एक मुनि ४६।२१७

श्रीपाल— राजा गुणपालका छोटा

पुत्र ४६।३४०

श्रीपाल— जम्बू द्वीपके पूर्व विदेह

क्षेत्र सम्बन्धी पुण्डरीकिणी

पुरीका राजा ४७।४

श्रीमती— सुलोचनाकी सपत्नी

४६।१०

श्रीमती— राजा सुरदेवकी एक

दासी ४६।३५२

श्रीमती— श्रीपुरके राजा श्रीधर-

की स्त्री ४७।१४

श्रेणिक— राजगृहका राजा, भग-

वान् महावीर स्वामीका

प्रधान श्रोता ३८।३

श्रेयान्स— हस्तिनापुरके राजा

सोमप्रभके छोटे भाई, दान-

तीर्थके प्रवर्तक ४३।८२

स

संजयन्त— जयकुमारका छोटा

भाई ४७।२८०

सत्यगुप्त— भगवान् वृषभदेवका

एक गणधर ४३।६०

सत्यदेव— भगवान् वृषभदेवका

एक गणधर ४३।६०

सत्यदेव— शोभानगरके शक्तिषेण

सामन्तका पुत्र ४६।९६

सत्यमित्र— भगवान् वृषभदेवका

एक गणधर ४३।६०

सत्यवती— एक स्त्री ४६।३०६

सन्मार्गदेशिन्— जिनेन्द्रका नाम

३९।१३

समाधिगुप्त— एक मुनिराज

४७।१८३

समुद्रदत्त— एक सेठ, कुबेरमित्र

की स्त्री धनवतीका भाई

४६।४१

समुद्रदत्त— एक जुआड़ी ४६।२७९

समुद्रदत्त— सागरसेन और

देवश्रीका पुत्र ४७।१९६

समुद्रदत्त— प्रियदत्ताका पिता

४७।१८५

सम्राट्— भरत चक्रवर्ती ३८।११

संवर— भगवान् वृषभदेवका एक

गणधर ४३।६१

सर्वध्वज— भगवान् वृषभदेवका

एक गणधर ४३।५८

सर्वतोभद्र— चक्रवर्ती भरतके

गोपुरका नाम ३७।१४६

सर्वतोभद्र— एक महत्त्वका नाम

४३।२७८

सर्वदेव— भगवान् वृषभदेवका

एक गणधर ४३।५८

सर्ववित्— सर्वश, जिनेन्द्रका नाम

३९।१३

सर्वयश— भगवान् वृषभदेवका

एक गणधर ४३।५७

सर्वयज्ञ— भगवान् वृषभदेवका

एक गणधर ४३।५७

सर्वसमृद्ध- पुण्डरीकिणी नगरी-
का राजा ४७।१९२
सर्वदयित- सर्वसमृद्ध वणिक् और
धनश्रीका पुत्र ४७।१९३
सर्वप्रिय- भगवान् वृषभदेवका
गणधर ४३।५८
सर्वसन्ध- भगवान् वृषभदेवका
गणधर ४३।६३
सर्वगुप्त- भगवान् वृषभदेवका
गणधर ४३।५८
सर्वरक्षित- कोतवालका नाम
४६।३०३
सर्वदयिता- सर्वसमृद्ध वणिक्
और धनश्रीकी पुत्री, सर्वद-
यितकी बहिन ४७।१९३
सर्वदयिता- समुद्रदत्तकी स्त्री
४७।१९८
सागरदत्त- सागरसेन और देव-
श्रीका पुत्र ४७।१९६
सागरदत्त- एक जुआका खिलाड़ी
४६।२७८
सागरदत्त- वैश्रवणदत्ताका पति
४७।१९८
सागरदत्ता- वैश्रवणदत्तकी स्त्री
४७।१९९
सागरसेन- देवश्रीका पति
४७।१९५
सागरसेना- सागरसेनकी छोटी
बहन ४७।१९७
साधुसेन- भगवान् वृषभदेवका
एक गणधर ४३।५९
सार्व- जितेन्द्रका नाम ३९।१३
सिन्धुार्थ- वाराणसीके राजा
अकम्पनका मन्त्री ४३।१८८
सिन्धु- सिन्धु नामकी देवी
७३।१०
सिन्धुदेवी- सिन्धु नदीकी अधि-
ष्ठात्री देवी ३२।७९
सिंहवाहिनी- भरत चक्रवर्तीकी
शय्या ३७।१५४
सिंहाटक- भरत चक्रवर्तीके
भालेका नाम ३७।१६४
सुकान्त- वाराणसीके राजा
अकम्पनका पुत्र ४३।१३४
सुकान्त- हिरण्यवर्माका सेवक
४६।१६४

सुकान्त- भरत चक्रवर्तीका पुत्र
४३।१३४
सुकान्त- मृणालवती नगरीके
सेठ अशोकदेव और जिन-
दत्ताका पुत्र ४६।१०६
सुकेतुश्री- वाराणसीके राजा
अकम्पनका पुत्र ४३।१३४
सुकेतु- एक राजा ४४।१०६
सुकेतु- मृणालवतीका एक सेठ
४६।१०४
सुखावती- अच्युतस्वर्गके प्रतीन्द्र-
की देवी ४६।३५४
सुखावती- धरणिक्मप और
सुप्रभाकी पुत्री ४७।७४
सुजय- भरत चक्रवर्तीका पुत्र
४७।२८२
सुदर्शन- भरत चक्रवर्तीका
चक्ररत्न ३७।१६९
सुनमि- एक विद्याधर ४४।११२
सुप्रभा- धरणिक्मप विद्याधर-
की स्त्री ४७।७३
सुप्रभा- अकम्पनकी स्त्री-
सुलोचनाकी माता ४५।७
सुमगा- अच्युत स्वर्गके प्रतीन्द्र-
की देवी ४६।३५५
सुमद्रा- भरत चक्रीकी पट्ट-
राज्ञी ३२।१८३
सुमति- वाराणसीके राजा
अकम्पनका एक मन्त्री
४३।१९४
सुमती- सुमित्रा-सुलोचनाकी
धाय ४३।१३७
सुमङ्गला- भगवान्की माताका
नाम ३८।२२५
सुमुख- अकम्पनका दूत ४५।३४
सुरदेव- एक राजा ४६।३५१
सुलोचना- वाराणसीके राजा
अकम्पनकी पुत्री ४३।१३५
सुवर्णवर्मा- हिरण्यवर्माका पुत्र
४६।२५२
सुविधि- चक्रवर्ती भरतकी छोटी-
का नाम ३७।१४८

सुप्रता- भगवान् वृषभदेवकी
पुत्री ४३।१३४
सुसीमा- अच्युतस्वर्गके प्रतीन्द्र-
की देवी ४६।३५२
सुरदत्त- भगवान् वृषभदेवका
गणधर ४३।५५
सूर्यप्रभ- चक्रवर्ती भरतके छत्रका
नाम ३७।१५६
सूर्यमित्र- एक राजा ४४।१०६
सोमदत्त- भगवान् वृषभदेवका
गणधर ४३।५५
सोमप्रभ- हस्तिनापुरके राजा
जयकुमारके पिता ४३।७७
सौनन्द्य- भरत चक्रवर्तीकी
तलवारका नाम ३७।१६७
सौम्य- जयकुमार ४३।१२०
सन्नितवेग- अशनिवेगका पिता
४७।२९
स्वयंप्रभा- भोगपुरके राजा
वायुरथकी स्त्री ४६।१४८
स्वयंभू- भगवान् वृषभदेवका
गणधर ४३।६२
ह
हरिकेसु- भोगवतीका नाम
४७।६२
हरिवर- एक विद्याधर ४७।९०
हलभृत्- भगवान् वृषभदेवका
एक गणधर ४३।५६
हिमवदीश- हिमवान् पर्वतका
स्वामी देव ३७।१२
हिरण्यवर्मा- प्रभावसीका पति
४६।१६०
हिरण्यवर्मा- आदिदयगति और
शशिप्रभाका पुत्र, रतिवर
कबूतरका जीव ४६।१४६
हेमवत्- हिमवत् पर्वतके हिमवत्
कूटपर रहनेवाला एक देव
३२।८९
हेमाङ्गद- वाराणसीके राजा
अकम्पनका एक पौत्र
४३।१३४
हेमाङ्गदानुजा- सुलोचना
४६।१४८
ही- एक देवी ३८।२२६

विशिष्ट शब्द-सूची

अकथन = स्वयं अपनी प्रशंसा

करनेवाला ३५।२३

अकामसायक = कामबाण ४७।८०

अकालचन्द्र = अपमृत्यु ३४।११

अकृतकहनेह = वास्तविक प्रेम
३५।२१७

अक्षरपद = अविनाशी पद मोक्ष
३४।१९७

अक्षरम्लेच्छ = हिंसादिमें प्रवृत्ति
करनेवाला ४२।१८४

अक्षसद = शरीरपोड़ा ३६।८७

अग्नेसर = प्रधान ३४।२२३

अगोष्पद = जहाँ गायोंका भी
प्रवेश असम्भव है — अत्यन्त
निर्जन २७।३३

अग्रज = बड़े भाई भरत चक्रवर्ती
३६।९१

अग्रजन्मा = ब्राह्मण ४०।९०

अग्निकार्य = होम ३९।१११

अचेष्टता = नम्रता ३६।१३३

अजयूथ = बकरोंका समूह
४१।६८

अजसा = पथार्थ ३४।१३७

अतन्द्रालु = प्रमादरहित ३९।१००

अतन्द्रित = आलस्यरहित
३८।१५५

अतिक्रम = दोष — अतिचार
३१।१३५

अतिगृन्नुता = अत्यासक्ति
३५।११०

अतितिक्षा = अक्षमा, क्रोध
३४।१२०

अतिरेकिणी = अधिक ३४।२११

अतिबालिश्य = अतिमूर्खता
४१।३२

अद्रीश्वर = मेरुपर्वत ३७।३२

अद्रीश = सुमेरु पर्वत २६।७२

७३

अधित्वका = पक्षता

मैदान ३३।३१

अधीयान = पक्षता

३९।१०३

अधीती = अधपयनकुशल

३६।१०५

अध्यध्यम् = मार्गमें ३१।५

अमगार = मुनि ३८।७

अमन्यज = काम ३५।१९२

अनन्तुकामाः = नमस्कार करने-
के अनिच्छुक ३४।२२०

अनंशुक = किरणरहित, नम
३५।१५७

अनाविल = निर्दोष ३९।९

अनाश्वान् = उपवास करनेवाला
३६।१०७

अनिकेत = निवासरहित मुनि
३४।१७४

अनुदायता = निष्कृष्टता, नीधता
३६।९१

अनुदन्ति = हाथियोंके पीछे
४४।७९

अनुद्विग्न = उद्वेगरहित
३४।१८३

अनुपानक्त = जूतासे रहित
३९।१९३

अनुशय = पश्चात्ताप ३५।१९८

अनुचान = शास्त्रका सांगोपांग
अध्ययन करनेवाले
३४।२१७

अनेकपेक्षित = हाथीकी चेष्टा
४६।३१२

अन्तर = स्थान ३४।१८५

अन्तर = भेद ३५।११

अन्तःप्रकृतिज = मूलवर्गमें उत्पन्न
हुआ ३५।१८

अन्धीय = अनुकूल ३५।२३

ऊपरी

हुआ

अन्युतनतुक = बांधनेकी साँकल
२९।१३७

अन्धतमस = ग्राह अन्धकार
३५।१७१

अन्यपुष्ट = कोयल ३७।१२०

अपक्षपतित = पक्षपातने रहित
४२।२००

अपराग = द्वेषरहित ३५।२३८

अपदान = पराक्रम ३२।७४

अपञ्चान्त = अन्धकारसे रहित
३५।७४

अपचिति = पूजा ४२।२०७

अपवर्ग = मोक्ष ३४।२१६

अपत्रपा = लज्जा ३६।२०५

अपाथ = विघ्न ३४।१९४

अप्रतिष्कश = असहाय-अकेला
३५।६८

अप्रतिकासन = प्रतिद्वन्द्वीसे रहित
शासनवाला ३४।१४

अप्सव्य = जलमें होनेवाला

२८।१९३

अप्सुज = जलमें उत्पन्न होने-
वाला मत्स्य २८।१९४

अवर्काल = वर्षाश्रुतु ३६।२११

अभिगम्य = आराध्य ३६।२०२

अभिचारक्रिया = मारणक्रिया
२६।४

अमिसारिका = व्यभिचारके लिए
पतितके घर जानेवाली वेद्या
३५।१७०

अभ्यग्नि = अग्निके सम्मुख
४४।१८६

अभ्यवकाश = खुला आकाश
३४।१५८

अभवनि = अग्रज २८।१३१

अभिज्ञ = जानकार ३४।३३

अभ्यर्ण = निकट ४१।४७

अमग्न = पात्र ३४।१९८

अमा = साय ४५।७
 असुत्र = परलोकमें ३४।११०
 अमोघपाती = अव्यर्थपाती
 ३५।७२
 अम्बर = आकाश, तन्त्र ३६।२२
 अम्बरमणि = सूर्य ३४।१०
 अरुणि = मुट्टो बंधा हुआ हाथ
 ३५।१३१
 अररीपुट = किवाड़ोंकी जोड़ी
 ३१।१२४
 अरण्यानी = भयंकर अटवी
 ३६।८१
 अर्क = सूर्य ३५।१६९
 अर्ककान्त = सूर्यकान्तमणि
 ३४।४२
 अलक = केश, आगेके बाल
 २६।६
 अलिनी = भ्रमरी ३५।२३५
 अल्पादक = छोड़े फलवाला
 ३५।१४४
 अवष्टम्भयष्टिका = सहारेकी
 लकड़ी ३७।४३
 अवन्ध्य = अव्यर्थ ३५।८६
 अवश्याथ = बर्फ, ओसकी बूँदें
 २७।१०३
 अवस्कराशन = विष्टाका भोजन
 ४६।२८१
 अवाय = परशष्ट्रचिन्ता
 ४१।१३८
 अवारपारीण = दोनों पार, तटों-
 में होनेवाले २९।७४
 अव्यध्या = पीड़ासे रहित
 ३४।१५६
 अशन = आहार ३४।१९२
 अशनीयित = वज्रके समान
 आचरण करनेवाला
 ३७।१६६
 अश्वीय = घोड़ोंका समूह ३६।३
 अंशुमत् = सूर्य ३८।१
 अशाश्वत = भंगुर, नाशशील
 २४।१२१
 अशिव = अमौलिक ३४।१८२

असन = सहजनके वृक्ष २६।५२
 असाध्वंस = निर्भय ३४।१७९
 असंस्कृत = संस्काररहित ३५।६३
 असिपुत्रिका = शूरी ३७।१६५
 असुमति = मूर्ख, दुर्बुद्ध २८।१८२
 अस्मदुपजम् = मेरे द्वारा प्रार-
 म्भित ४१।१२
 अस्त्र = औसू ३५।२३१
 अहः = दिन ३५।१५१
 अंहस् = पाप ४४।६७
 अहिमस्विष् = सूर्य ३५।१६०
 आ

आकम्पनि = अकम्पनके पुत्र
 हेमांगद आदि ४३।२३१
 आकीशवाशि = आकाशरूपी
 समुद्र ३५।१६३
 आकालिकी = अस्थिर २९।१०७
 आकुलाकुल = अत्यन्त आकुल
 २८।१२४
 आगःपराग = अपराधरूपी धूलि
 ३५।१२७
 आगाढ = प्रविष्ट ३६।५३
 आजि = युद्ध ४४।११९
 आजीमुख = रणायभाग ३७।१६८
 आज्ञानेय = उच्चजातिके छोड़े
 ३०।१०८
 आश्रिक = इसलोक - सम्बन्धी
 ३८।२७१
 आधून = बहुत खानेवाला २८।७६
 आध्यानमात्रम् = स्मरण करते
 ही ३६।६६
 आधूति = अकम्पन ३५।१४७
 आधोरण = हाथीके महावत
 ४४।२०५
 आगन्धधु = हर्ष ३४।५५
 आनाय = जाल ३५।११
 आनुषङ्गिणी = गोण ४१।११९
 आपाटल = कुछ-कुछ गुलाबी
 ३७।९०
 आसीय = आप्त-जिनैन्द्र सम्बन्धी
 वचन ३९।२
 आसिष = मांस ३९।२७

आमुत्रिक = परलोकसम्बन्धी
 ३८।२७१
 आमुष्यायण = प्रसिद्ध पितासे
 उत्पन्न पुत्र ३९।१०९
 आयुरालानक = आयुस्वी खम्भा
 ३६।८८
 आयुधालय = शस्त्रागार ३७।८५
 आयुधः = युद्धायुध ४५।३
 आयति = उत्तरकाल ४१।५४
 आयुष्मन् = हे निरंजीव ३५।८८
 आरसित = जल ३४।१७८
 आरट्ट = आरट्ट देशके घोड़े
 ३०।१०७
 आरेका = शंका ३९।१४३
 आर्जुनम् = चाँदीका ३३।९६
 आर्षभी = भगवान् ऋषभदेव-
 सम्बन्धी ३४।२१६
 आलष्ट = कुपित ३४।१८६
 आलान = हाथी बाँधनेका स्तम्भ
 २९।१३६
 आवर्जित = वशीकृत ३७।८७
 आवसथ = स्थान ३४।१२२
 आवान् = आता हुआ २९।१६४
 आविष्ट = प्रविष्ट, बुरा हुआ
 ३५।१०
 आसा = दिशा और अभिलाषा
 २६।२२
 आशितम्भव = सन्तोष, तृप्ति
 ३४।११८
 आश्रुत निष्ठिति = शास्त्रकी
 समाप्ति पर्यन्त ३८।१६१
 आशु = शीघ्र ३९।२१०
 आसन्नमन्थ = निकटमन्थ
 ३९।८२
 आसिस्वादयिषु = स्वाद लेनेका
 इच्छुक ४३।४७
 आसेतुहिमात्रि = सेतुबन्धसे
 लेकर हिमगिरि तक
 ३७।२०३
 आस्माकी = मेरी ३८।५
 आस्वायिका = ममा ४६।२९९
 आह्व = मुद्र ३५।१२९

आहार्य = आभूषण ३३।१२१

इ

इज्या = पूजा ३८।२४

इत = स्वामी ४४।२६५

इम = हाथी ३५।४३

इधुधि = तरकश ३६।१२

इधिम = यका ३६।११६

इह = इस लोकमें

ई

ईडा = स्तुति ३६।९५

ईडित = स्तुत ४१।२६

उ

उङ्गमरप्रिय = युद्धके प्रेमी २९।२३

उत्त्वावच = भाषाप्रकारके

३५।२४८

उरकता = उत्कण्ठा ३५।१८७

उत्कोच = घूस ४६।२९६

उत्सेक = गर्व ३६।१२९

उत्प्रस्त = खेदखिन्न ४१।२

उदगाह = जलप्रवेश ३७।१२६

उदच् = उत्तर दिशा ३०।९५

उदन्यन् = प्याससे युक्त होता

हुआ ३४।१०७

उदन्वान् = समुद्र ३५।१८४

उदर्क = फल ३९।१

उदात्र = काटनेके लिए हैसिया

जैचा उठाये हुए ३५।३०

उदितोदित = एकसे एक बढ़कर

अभ्युदयसे युक्त ४३।१९०

उदेश = स्थान ४०।१७

उद्य = प्रशस्त ३५।२४४

उद्दिष्ट = अपने उद्देश्यसे निमित्त
३४।१९९

उज्जस = नाक ऊपर करनेवाला
अहंकारी ३९।१०९

उपक्षेत्रम् = खेतोंके समीप ३५।३८

उपधि = बाह्य और अभ्यन्तर
परिग्रह ३४।१८९

उपण्न = आश्रयभूत ३०।१७

उपगृह्य = आलिङ्गित ३६।११०

उपबृंहित = वृद्धिको प्राप्त हुआ
३४।१३०

उपनाह = बांधना ३२।२७

उपशब्दभू = गाँवोंको निकट-

वर्तिनी भूमि ३५।४०

उपाक्षिन्न = खणोंके समीप

३६।१६५

उपास्त = स्वीकृत-गृहीत ३८।२१

उपलब्ध = उलाहना दिया हुआ

३९।११३

उपोषित = उपवास करनेवाला

३५।१२५

उत्सुक = जलती हुई लकड़ी

३४।५५

उत्खण = बहुत भारी ३७।१५८

ऊ

ऊर्जस्त्रि = बलिष्ठ ३७।८७

ऊर्जिता = बलिष्ठता २८।१३४

ए

एकतान = मुख्यरूपसे लगे हुए

तन्मय ३४।२२१

एकावली = एक लड़का हार

३७।९६

एणाजिन = मृगचर्म ३९।२८

एनस् = पाप ३५।१५५

एनःप्रकर्षतः = पापकी अधिकता-
से ४१।५

औ

औक्षक = बैलोंका समूह २९।१६२

औत्पातिक = उत्पातको सूचित
करनेवाला ३६।१५

औपासिक = उपासकाचार-
सम्बन्धी ३९।९५

क

कक्षा = तुलना ३५।१०५

कज्ज = कमल २६।११

कङ्कर = बूँस (भूसा) २९।१५६

कणिश = बालें २६।१७

कणिशमञ्जरी = धानकी बालें
३५।३१

कदर्यक = कृपण २९।११०

कवरी = चोटी ३७।१०७

कमलावती = लक्ष्मी ३५।४९

कर = किरण, टैक्स ३५।१५७

करक = ओले ३६।२९

कराल = तीक्ष्ण भयंकर ३६।१६

कर्णजाह = कानोंके पास
३५।२०४

कर्हि = कव ३५।१४९

कलकण्ठी = कोयल ३७।१२१

कलत्र = स्त्री २४।११९

कलम = हाथीके बच्चे ३६।१६८

कलम = धान ३५।३२

कलधौतमय = स्वर्णनिर्मित
४३।२६१

कल्पाधिप = हन्त्र ३९।१५

कादम्बजाया = कलहंसी २६।१०

काञ्चीस्थान = नितम्ब ४३।१४३

कारुण्यविधायिनी = मनचाहा
रूप बना देनेवाली ४६।३१७

कामितसंसिद्धि = दृष्टिसिद्धि
३४।२१६

कामिनीकलकाञ्ची = स्त्रियोंकी
सुन्दर मेखलाएँ ३५।२०३

काम्बोज = काबूली घोड़े ३०।१०७

कायमान = कुटियोंके प्रकार
२७।१३२

काहल = अस्फुट वचन बोलने-
वाले २७।२१

किमीय = किसका २८।१४३

किञ्चक = केसर २६।११

किलासिन् = कुंठो ३३।२२

कुटिमभूतल = फर्स २६।९

कुक्षिवास = जहाँ रस्तोंका
व्यापार होता है ३७।७०

कुटिब = हलमें लगी हुई बीज
बोनेकी नल ३७।६८

कुण्ड = टेढ़ी अंगुलीवाला
४७।१३८

कुण्डोद्गी = कुण्डके समान बड़े-
बड़े धनवाली गर्में २६।४६

कुतव = मकानकी देहरी २९।५७

कुन्त = भाला ३७।१६४

कुम्भक = अन्तःपुरमें रहनेवाले
बोने मनुष्य ३७।१४१

कुपित्व = भूपतिपना, खोटा राजपना ३०।१०	क्षेपीयस् = अत्यन्त शीघ्र ४१।१७	गृहकोकिल = छिपकुल ४६।३३८
कुमार = बालक ४५।४२	क्षेम = प्राप्त हुई वस्तुकी रक्षा करना २९।२८	गोगृष्टि = पहली बार बियानी हुई गाय २६।४४
कुलाल = कुम्हार ३५।१२६	ओर्दीयान् = अत्यन्त क्षुद्र ३४।२४	गोत्रस्खलन = स्त्रीके सामने हृदयमें बसी हुई दूसरी स्त्रीका नाम उन्धरित होना ४६।७
कुलया = नहर ३५।४०	क्षमा = भूमि ३४।७६	गोमतल्लिका = श्रेष्ठगायें २६।४५
कुवलय = पृथ्वीमण्डल, नील-कमल ४३।७७	क्षमाज = वृक्ष ३५।१५३	गामिसग = कुत्ता ३५।१२१
कुसुमर्तु = वसन्त २७।८३	क्षमाध = पर्वत ३७।१६६	घ
कुसुमबाण = कामदेव २७।१९	क्षमात्राण = पृथिवी रक्षा ३७।८३	घनस्तनित = मेघगर्जना ३७।१२१
फूजित = पक्षियोंका कलरव २६।१५	ख = बाण ४४।१२१	घस्मर = विनाशक ४४।१०६
कृतक्षण = कृतोत्साह ४१।१३९	खग = विद्याधर ४७।११	च
कर्मकृत = व्यर्थ-व्यर्थ ३६।६७	खण्डिता = वियोगिनी स्त्री, जिसका पति संकेत देकर भी न आवे ३५।१९३	चक्र = चक्रवर्तिका एक अजीव-रत्न ३७।८४
कृतदेदी = कृतज्ञ ४३।११७	खरष्टणि = सूर्य ३६।२११	चक्राङ्ग = चक्रवा २७।२८
कृतसङ्गर = कृतप्रतिज्ञ ४३।५३	खरांशु = सूर्य २७।९३	चक्रोद्योत = चक्ररत्नका प्रकाश ३६।२३
कृतानुबन्धन = जिनसे आग्रह किया गया ३८।१५	खलकल्पाः = दुर्जनके समान ४४।११८	चक्षुःश्रवस् = साँप ३६।१७६
कृतान्तवाक् = प्रसन्नचन ३९।२२	खेचर = विद्याधर ४६।३१७	चक्षुःपुरुष = तृणका बना पुरुष २८।१३०
कृत्स्न = सम्पूर्ण ४२।२०८	ग	चण्डमस्तु—तेजवायु - अधी ३६।१
केतन = गृह ४७।२०७	गजता = हाथियोंका समूह ३०।४८	चतुष्क = चौराहा २६।३
केतुमालाकुल = पताकाओंके समूहसे व्याप्त ४१।८४	गजप्रवेक = श्रेष्ठ हाथी ३०।१०५	चतुरस्र = समचतुरस्रसंस्थानसे युक्त मनोज्ञ ३७।२८
केरल = केरल देशके लोग २९।९४	गन्धर्व = व्यन्तर देवोंका एक भेद ४१।२६	चमरिख = चमर ३५।२४४
केवलार्क = केवलज्ञान रूपी सूर्य ४१।९	गरुडप्रावसच्छत्रि = नीलमणि-के समान वर्णवाला ३६।४९	चरमाङ्गधर— तद्भवमोक्षगामी ३६।३९
कोक = चक्रवा ३५।२३०	निर्हृति = शारीरिक सुख ३७।१२७	चर्याशुद्धि—चारित्र्यकी शुद्धता ३४।१३५
कोककान्ता = चक्रवा ३५।२२३	गाम्धार = कान्धारके घोड़े ३०।१०७	चातुरन्त—चतुर्दिगन्त ३५।११२
कोर्टा = अग्रभाग, धरम सीमा ३०।१३०	गुणग्राम = गुणोंका समूह ३५।५०	चातुरम्त = सब दिशाओंका स्वामी चक्रवर्ती २८।८५
कोश = म्यान ४७।१३५	गुप्ति = रक्षा ३६।११७	कार्मीकर = स्वर्ण ३६।५०
कौक्षेयक = तलवार ३६।११	गुरु = पिता, भगवान् वृषभदेव ३६।१०४	चारमट = शूरीर ३१।१५
कौबेरी = उत्तर दिशा ३१।१	गुरु = पिता ३८।१३७	चारचक्षुः = गुप्तचररूपी नेत्रसे युक्त ४५।४१
कौशिक = उल्ल ४१।३७	गुरुक्षय = पितृगुह्य ३४।८१	चित्तज = काम ४५।८७
क्रमशः = क्रमको जाननेवाला ३५।७	गुरुसुगृह = गुरुकी कृपा ३९।६५	चित्तजम्भन् = काम ३७।४२
कथकीत = मूल्य देकर खरीदा हुआ ३४।१९९	गुरुफदम = घुटने प्रमाण ३३।७१	चुन्चुक = प्रतीत-प्रसिद्ध २९।९४
क्रमाङ्कज = चरणकमल ३५।२४५	गृन्तु = लोभो ३५।१३३	
कलम = खेद ३४।११७		
क्षत्रिय = एक वर्ण ३८।४६		
क्षीरस्यत् = वृद्धकी इच्छा रखने-वाला २६।४८		

चोलिक = चोलदेशके लोग
२९।९४

ज

जगदजगद्गार = लोक और

अलोकरूपी भवन ३५।२४०

जडप्रिय = मूर्खोंके प्यारे, (पक्ष-
में जलप्रिय, जिन्हें जल प्रिय
है) २६।१९

जयसाधन = विजयी सेना
३५।७५

जयाङ्ग = विजयका साधन
३६।३०

जलवाहिन् = मेघ ३४।१५६

जलाद्रा = पक्ष ३५।१९३

जातकर्म = जन्मसंस्कार २६।४

जातरूप = नग्नमुद्रा ३९।७८

जातरूप = सुवर्ण ४५।१७२

जाति = जन्म ४६।३३५

जात्यश्च = उच्च जातिके होते
३०।१०५

जलाशय = जलका आधार,
जड़बुद्धिवाला २८।१७२

जलोत्पन्न = जलका समूह
२८।११०

जिस्वरी = जीतनेवाली ३४।६१

जिनपूष = जिनेन्द्र ३८।२२३

जिनार्चा = जिनप्रतिमा ३८।७१

जिनास्थानभूमि = समवसरण-
भूमि ४१।१८

जिष्णु = विजयी ३६।५४

जीमूतदन्तिन् = मेघरूपी हाथी
२६।५५

जीवकाय = जीवोंका समूह
३४।१९४

जुह्वति = बुलाना चाहता है
३४।१०३

जैत्र = विजयी ३४।३७

ज्यायम् = अत्यन्त श्रेष्ठ
३०४।१२४

ञ

ञ ५ भुभ = पनया साँप ३५।११३

त

तके = कुत्सिता : ते तके ३४।६३

तके = कुत्सिता : ते तके ३४।६३

२९।१०७

तनुश्राण = कवच ३४।१५९

तनुभूषा = शरीररूपी सौचा
३४।२१२

तनुभूष = कृश ३४।२०८

तनुयक = कवच ३६।१४

तन्त्र = स्वराष्ट्र चिन्ता ४१।१३७

तन्त्रभूयस्त्व = सेनाकी अधिकता
३६।३०

तपस्तनूनपात् = तपरूपी अग्नि
३६।११३

तपास्यय = वर्षा ऋतु ३७।१३१

तमिस्रा = अँधेरी रात ३४।१८४

तमांमुख = रात्रिका प्रारम्भ
३०।७७

तमोऽवगुण्ठिता = अन्धकारसमूह-
में आच्छादित ३५।१७०

तरणि = सूर्य २७।१००

तरणाज्ञोपजीविन् = नाव चला-
कर ६।५७

तके = कुत्सित आजीविका करने-
वाला ३५।१७०

तलवर = कीतवाल ४६।३०४

तार्किक = ताराओंसे व्याप्त

२६।२६

तिलिक्षा = क्षमा ३६।१२९

तिग्मांशु = सूर्य ३५।१५२

तिरीट = मुकुट २८।१५८

तिमिरकरिन् = अन्धकाररूपी
हाथी ३५।२३२

तुज् = पुत्र ४५।६७

तुरुष्क = तुर्की घोड़े ३०।१०६

तेजः = भामण्डल ३५।२४४

तैतिल = तैतिल देशके घोड़े
३०।१०७

तोक = पुत्र ४५।६७

त्वयुपकसम् = तुम्हारे-द्वारा प्रक-
तित ३४।३४

त्वच्यम् = त्वचापर काम देने-
वाली ३५।१४

त्वच्यम् = त्वचापर काम देने-
वाली ३५।१४

त्विष् = कांति ३८।१

त्रिक = नितम्ब ३८।३२

त्रिपथगा = मङ्गा ३७।२५

त्रिदिवीकस् = देव ३५।६९

त्रिधामक युद्ध = १. दृष्टियुद्ध,
२. जलयुद्ध, ३. मलयुद्ध
३६।४२

त्रियामा = रात्रि ३८।१३०

द्व

दक्षिणापरदिग्भाग = मैफृत्य-
दिशा ३०।१

दण्ड = दण्डरत्न अथवा सेना
३५।१२६

दरी = पर्वतकी गुफा ३८।१८६

दरोद्भिन्न = कुछ-कुछ प्रकट
३७।५१

दर्भशय्या = कुशाकी शय्या
३५।१२५

दशनच्छद = ओठ ३५।२१८

दक्षिणास्य = दक्षिणदिशा-
सम्बन्धी २९।७७

दानव = भवनवासी देव ४१।२६

दिशिभवदन = दिग्भजका मुख
३५।२३४

दिधक्षु = जलानेका दृष्टक
४४।११

दिविजनाश = इन्द्र ३५।२३८

दुष्कलप्रवत् = खोटी स्त्रीके
समान ३६।७१

दुःश्रुति = खोटे शास्त्र ४१।४९

दीक्षा = धत धारण करना ३९।३

दुरारोह = जिनपर चढ़ना कठिन
है ऐसे पर्वत २९।७२

दुरापा = दुष्प्राप्य ३४।१६८

दुर्ललित = गवित मस्त ३४।१०४

दूना = दुःखी होती हुई
३५।१९०

दूष्यकुटी = कपड़ेका तम्बू
३७।१५३

दूष्यदाला = कपड़ेकी चाँदी
३७।१५४

दृढसंग = दृढ़प्रतिज्ञा ३७।२०८

दृष्या = गुर्या हुई ३७।१४१

द्वेज = स्वर्गके निवासी देव
४१।२६

देवदत्त = त्रिचिन्ताङ्गद नामक
देवके द्वारा किया हुआ
४३।२७८

देवभूय = देवत्व ३६।१०८

देशसन्धि = दो देशोंके मिलनेकी
सीमार्थ ३५।२७

दोषांत = भुजाओंका आघात
३६।७९

दीर्घञ्च = भृजदण्ड २९।९५

देवज्ञान = ज्योतिष शास्त्र
४१।१४८

द्वैप्य = द्वीपोंमें होनेवाले २९।७४

द्वैराजदुःस्विता = दो राजाओंके
राज्यसे व्यवस्थाहीन
३६।४७

द्वौणामुख = बन्दरगाह ३७।६२

द्वन्द्व = परोपह ३६।११६

द्विजम्भन् = द्विज ३८।४९

द्विजिह्वा = दुष्टता, कुटिलता
३४।८८

द्विषण्यञ्ज = शत्रुओंका समूह
३६।६५

द्विषद् = वारह २८।११५

द्विरद = हाथी ३५।११५

द्युसद् = देव ३५।७०

द्युमणि = सूर्य २९।१०८

ध

धमाया = तृणा ३६।७८

धमोऽननुष्णता = धन इकट्ठा
करनेकी तत्परता ३५।१२२

धम्बन् = धनुष धारण करनेवाले
२७।१११

धव = पति ४३।९८

धमंसर्ग = धर्मसृष्टि ४१।३२

धर्म्या = धर्मयुक्त ३४।१४०

धार्त्राकल्प = धायके समान
४३।३३

धारित = धैर्य-भरे वचन ३६।२१

धुर्य = धुरन्धर ४३।८५

धूर्मत = महावत ३६।१०

धूमध्वज = अग्नि ४४।१०

धृतिप्रावार = धैर्यरूपी ओढ़नी
३४।१५७

धृतिसंवर्धित = धैर्यरूपी कवचसे

३४।१५९

धेनुका = हथिनी २९।१५६

धेनुव्या = बंधानमें दो हुई गायें
२६।४८

धौरित = घोड़ोंकी एक चाल ।

घोड़ोंकी चालको चारा

कहते हैं । इसके पाँच भेद

हैं - आस्कान्दित, २ धौरि-

तक, ३ रेचित, ४ मत्तित

और प्लुत । ३१।१

धौरेव = श्रेष्ठ ३८।८

ध्याति = ध्यान ४५।४

ध्याइक्ष = कोए ४१।३७

न

नद्धा = बँधी हुई २६।८

नन्दधु = आनन्द ३५।२

नभोग = विद्याधर ३५।७३

नर्मदा = क्रीड़ा देनेवाली ३०।८५

नवग्रह = नया पकड़ा हुआ
२९।१२२

नखोडा = नथी विवाहित ४४।२०७

नागमिथुन = नाग-नागीका जोड़ा
४३।९०

नाथवंश = वाराणसीके राजा

अकम्पनका वंश ४४।३७

नार्पत्य = राज्य (नृपतेः कार्यं

नार्पत्यम्) ४३।८६

नालिक = सत्य ३५।१९६

निकार = तिरस्कार ४६।३१६

निगम = गाँव २६।१३४

निगल = बेड़ी ४२।७६

निगलस्थ = बेड़ीमें पड़ा हुआ
४२।७६

निघ्नता = अधोन्ता ३७।१४२

निसुल = बेंतका वृक्ष २७।४६

नितम्बिनी = स्त्री ३५।१९४

निधन = मृत्यु २८।१३४

निधुवन = मैयुन ३५।२१८

निध्यान = अवलोकन ४१।६८

नितृस्तु = नृत्यक इच्छुक
३६।१७४

नियति = ईश, भाग्य ३५।१६७

नियाम = नियम ४५।६

नियुद्ध = बाहुयुद्ध, कुशल ३६।४५

निरारेका = सन्देहरहित ३०।२३

निरुद्ध = प्रसिद्ध ३७।२६

निर्वात = वज्र २६।७७

निर्वात - निर्वाण = वज्रपातका
शब्द २८।१२२

निर्मल = निरतिचार (निर्मम =
ममत्तारहित) ३४।१७१

निर्मूर्च्छ = मोहरहित ३४।१७३

निर्वाणश्रेय = मुक्तिस्थान ४०।८९

निर्विष्ट = उपभूक्त ३७।१९

निर्वृति = सुख ३७।१४

निर्वर्तित = पूर्ण-समाप्त ३७।१

निर्मिक्त = प्रक्षालित ३७।१२६

निविष्ट = बैठे हुए ४२।१

निःश्रेयस = मोक्ष ३९।१

निशात = तोषण ३६।११

निषधात्रि (भौ) = निषध
कुलाचल ३३।८०

निष्प्रवाणी = नवीन शास्त्र,

अभी हाल यन्त्रसे उतारे
हुए २६।५४

निष्ठा = पूजता ४२।१०७

निसर्गसुभग = स्वभावसे सुन्दर
३७।२९

निसृष्टार्थ = राजदूत ४३।२०२

नीरेक = निःसन्देह ३५।१३८

नोत्तुम्बुस्व = नोतिनिगुता
३५।१२

नृपशु = नीच मनुष्य ३५।११४

नृपशार्ङ्ग = श्रेष्ठ राजा ३७।२
नैशात्री = ग्रीष्म ऋतुसम्बन्धी
३७।१३०

नैऋतिक = निष्परिमहता
३४।१८९

नैश = रात्रिसम्बन्धी ३५।१५७
नैःश्रेयसी = मोक्षसम्बन्धी
३२।२

नैऋतिक = तलवार धारण
करनेवाले २७।१११

प

पङ्क = पाप और कीचड़ २६।२२
पङ्कसमाः = पवित्र तल ४६।९९

पञ्चाह = पाँच दिन ३४।१७५
पटविद्या = गाढ़ी विद्या, जिसमें
विषका वेग दूर होता है
३८।२

पट्ट = चतुर ३५।७

पतत् = पड़ी ३५।२३३

पताकिनी = सेना २६।१४०

पशिनू = बाण २८।१२१

पद्माकर = तालाकर ३५।२२३

पयस्विनी = गायें २६।४८

परासु = मृत ४४।१३२

परिमत = व्याप्त ३५।२३५

परिच्छिन्ति = समाप्ति-विनाश
३५।१५१

परिणीति = विवाह ४४।५५

परिफल्गु = अत्यन्त निःसार
३५।१२१

परिभूति = तिरस्कार ३४।११२

परिमा = प्रमाण २८।१७३

परिष्कृत = घिरा हुआ २६।८९

परिष्वक्त = आलिङ्गित
३६।१०५

पलित = वृद्धावस्थाके कारण
प्रकट हुई बालोंकी सफेदी
३६।८४

पल्लव = स्वल्प जलाशय ३३।४९

पाकसत्त्व = सिंह आदि दुष्ट
जन्तु ३३।५४

पाञ्चनद = पंजाबके ३०।९८

पाटल = गुलाब ३७.९०

पाणिगृहीती = कन्या ३४।१२७

पण्ड्य = पाटल देशके लोग
२९।९५

पादात = पैदल सैनिकोंका
समूह ३२।२

पाथ = पैर धोनेका पानी २७।१

पारिपन्थिक = शत्रु ४६।२०१

पार्थिव = वृक्ष, राजा ३४।४३

पार्थिव = धृष्ट, राजा ३५।१२६

पार्थिव = राजा, वृक्ष २९।१०५

पिण्डीखण्ड = खलीका टुकड़ा
३५।१११

पिशिनोक्त्य = मांसका पिण्ड
४७।४४

पीथ = दूधसहित मक्खन २७।२६

पीनापीनाः = स्थूल शनोंवाली
गायें २६।४७

पुत्रकल्प = पुत्रतुल्य ३४।१९१

पुत्रविटपाटोप = पुत्ररूपी
शालाओंके विस्तारसे युक्त
४३।८३

पुराविद् = पूर्व व्यवहारके ज्ञाता
४३।१८८

पुरुषवत् = पौरुष ३७।२६

पुरुषोत्तम = नारायण, श्रेष्ठ
पुरुष ४३।३५

पुरुदंशस् = मार्जार ४६।१४४

पुरुधी = अत्यन्त बुद्धिमान्
३७।१७५

पुष्कर = कमल ३६।१७०

पुष्करोदस्त = सूँडके अग्रभागसे
उठाये हुए ३६।१७०

पुष्पबाण = काम ३७।१०६

पुष्पधन्वनू = काम ३७।४६

पूगीकृत = रागीकृत ३५।४२

पौरस्य = पुरुषसम्बन्धी २९।७७

पौष्टन = पुरुषसम्बन्धी २८।१३०

प्रकीर्णक्यात = चमरोंका समूह
३८।२५५

प्रगेतनभाक्त = प्रातःकालकी
काय २५।२३६

प्रग्रह = रस्सी २८।१०५

प्रणय = स्नेह ३५।१०६

प्रणिधानपरायण = अकाग्रतामें
तत्पर ४२।१३१

प्रणिधि = दूत ३४।२२३

प्रणीत अग्नि = संस्कार की हुई
अग्नि ३८।२१५

प्रणय = संस्कार करने योग्य
४०।८२

प्रतिभू = जामिनदार ४२।१७३

प्रतिच्छन्द = प्रतिबिम्ब, प्रति-
निधि ४१।१४६

प्रतिष्कस = सहायक ३४।४३

प्रतिवृष = प्रतिद्वन्द्वी बल २६।४२

प्रतिसूर्य = दूसरा सूर्य ३४।१०

प्रतीची = पश्चिम दिशा ३०।९५

प्रतीच्य = पश्चिमके राजा
३०।११२

प्रतीक्ष्य = पूज्य २८।१५५

प्रतीक्ष्यता = पूज्यता ४५।६५

प्रतीक्षता = प्रतिकूलता ३५।३

प्रतीली = मंगुर, नगरका प्रधान
द्वार २६।८३

प्रत्यगू = नवीन २६।८६

प्रत्यगूर्संगम = नवीन समागम
३७।५५

प्रत्यगूर्खणिङ्गता = नयी विरहिणी
३५।२०२

प्रत्यनीक = शत्रु ३५।१४६

प्रत्याख्य = जललाकर ४५।११२

प्रत्यासन्ननिष्ठ = निकट कालमें
मोक्ष जानेवाला ३९।८१

प्रत्यय = कारण ४५।११२

प्रत्यर्कम् = सूर्यके सम्मुख ३४।४२

प्रत्युद्यत = अगवानी किया हुआ
३५।२२९

प्रत्याख्याः = विश्वास दिलानेके
योग्य ३४।८४

प्रत्याख्येयत्व = प्रत्याख्यान-तिर-
स्कार ३५।१३३

प्रत्येय = विश्वास दिलानेके
 योग्य ३५।१२४
 प्रथन = युद्ध २८।१३४
 प्रभाय् = प्रकृष्ट कान्तिसे युक्त
 ३०।१२३
 प्रभूत = बहुत भारी ४१।७१
 प्रमथ = भूत ४१।३७
 प्रयुयुष्मा = युद्ध करनेकी
 इच्छा ३६।३७
 प्रवयस् = वृद्ध २७।१२०
 प्रवालवन = मृगैका वन
 ३४।१२३
 प्रसोमुषी = शान्त होती हुई
 २८।१५४
 प्रश्रय = विनय ३५।१०६
 प्रश्रयी = विनयी ३५।७
 प्रष्ट = श्रेष्ठ ४३।३८
 प्रस्थ = शिखर ३५।१५३
 प्रसङ्ग = हठपूर्वक, जबरदस्ती
 ३५।१७२
 प्रहृता = नम्रता ३४।२२३
 प्राकृत = साधारण पुरुष ४३।४५
 प्राकृतनी = पूर्वभव-सम्बन्धिनी
 ३६।१८८
 प्राध्य = पूर्वदिशाके राजा
 ३०।११२
 प्राजितृ = सारथि २८।१०४
 प्राज्य = श्रेष्ठ ३६।२०४
 प्राज्ञ = बुद्धिमान् ३५।७
 प्रातिकूल्य = प्रतिकूलता ३५।५
 प्रातोष्य = शत्रुता २८।१४९
 प्राध्वंकृत्य = बन्धनमें डालकर
 ३५।७०
 प्राबोधिक = जगानेके कार्यमें
 नियुक्त धारण ३५।२२६
 प्रारोहित = अंकुरित २९।१३५
 प्रावृषेय्य = वर्षाऋतु-सम्बन्धी
 ३२।६९
 प्रांशु = ऊँचे ३६।५५
 प्रासुक = जीवरहित ३८।१५
 प्रासिक = माले धारण करने-
 वाला २७।१११

प्रेयस्कर = पतिका हाथ

फ

फालिनीफल = गुमन्तीके फल
 २८।३९

व

वदकक्ष = तत्पर ३४।१४५

वन्ध = बन्धन ३६।९७

वन्धूक = लाल रंगके पुष्पविशेष
 जिन्हें दुपहरियाके फूल
 कहते हैं। २६।२१

वलपरिवृद्ध = सेनापति ३५।२४१

वलाभोधि = सेनारूपी समुद्र
 ३५।१

वाणासन = पुष्पविशेष जिन्हें
 क्षिण्टि कहते हैं २६।२४

वाणासन = धनुष ३६।२४

वालार्क = प्रातःकालका सूर्य
 ३५।२३५

वालिश = मूर्ख ४६।१९२

वाल्हीक = बाल्हीक देशके घोड़े
 ३०।१०७

वाङ्मात्रिकास्थल = खेलका मैदान
 ३७।४७

वृंहित = हाथियोंकी चित्ताङ्ग
 ३४।१८५

व्रजवर्षस = आत्मतेज ३९।१०१

व्रजसूत्र = जनेऊ २६।६३

व्राह्मण = एक वर्ण ३८।४६

भ

भग्नरद = जिसका दाँत टूट गया
 है ३५।११५

भटमुव = अपनेको झूठ-मूठ पोछा
 कहनेवाला २८।१३१

भवदेववर = भवदेवके जीव
 (भूतपूर्वो भवदेवो भव-
 देववरः) ४६।१४४

भर्मकुम्भ = स्वर्णकलश ४३।२१०

भास्वत् = सूर्य ३५।२३३

भिदा = भेद ३५।११५

भूध = पर्वत ३६।२१०

भूभृत् = पर्वत, राजा ३५।१५७

भूति = सम्पत्ति ३५।११४

भृगुपात = पर्वतोंके ऊपरी भागसे
 नीचे गिरकर सरना
 ३०।७०

भेहण्ड = एक पक्षी ४७।४४

भोग = सपिका कन ३६।१०८

भोगिन् = सौंप ३६।१७१

भ्रातृजाया = भाईकी स्त्री
 ३५।१३४

भ्रातृमाण्ड = भाईका मूलधन
 ३४।५९

भ

भकरकेतन = कामदेव ३५।१८४

भकरालय = समुद्र ३५।६८

भगधावास = भगध नामक देव-
 का निवासस्थान ३५।७१

भधु = वसन्त ऋतु ३७।१२०

भधुकरवज = भ्रमरसमूह २६।६

भन्नविद्याचण = भन्नविद्याके
 प्रसिद्ध विद्वान् ३५।१०

भन्दसान = हंस २६।१८

भनोभू = काम ३५।१८६

भन्द्राकाप्ता = भन्द गमन करने-
 वाली २८।१९२

भन्दुरा = घुड़साल २९।१११

भन्यु = क्रोध ३५।१९२

भहामक = बड़े-बड़े नगाड़े ३७।७

महापितृवन = महाप्रमशान
 ३४।१८२

महामिजन = महाकुल ४२।३७

महाहव = महायुद्ध ३७।१५९

महास्थान = सभामण्डप ४१।१५

महीक्षित् = राजा ३७।३२

महीयस् = अत्यन्त महान्
 ३४।२१८

मागधाधितम् = स्तुति पाठकोंके
 समान आचरण किया
 २९।३९

मातृकल्प = माताके समान
 ३४।१९१

माधवी = वसन्तऋतु-सम्बन्धी
 २७।४६

माधवी = एक लता-मधुकामिनी
२७।४७

मुखोन्मुखी = मुखके सम्मुख
३७।१०५

सुमेन्द्रासन = सिंहासन
२१।१५८

मैथुन = साला ४६।३१७

मौज्जी = मौजकी रस्सीसे बनी
हुई मैसला ३८।१०४

य

यधीयान् = अतिशय युवा
३४।४४

यधीयान् = छोटे भाई बाहुबली
३६।५२

यष्ट्याः = पूजा करने योग्य
४१।१३

याचित्रिम = याचनासे प्राप्त
३६।१२२

यादस् = जलजन्तु ३६।७९

यादसां पतिः = समुद्र ३६।७९

याममात्र = प्रहरमात्र ४२।१७४

याष्टीक = यष्टि-लकड़ी धारण
करनेवाले २७।१११

युग्य = वाहन ३५।२१

योग = ध्यान ३८।१७९

योग = अप्राप्त वस्तुको प्राप्त
करना ३७।१७

योगसिद्धि = ध्यानसिद्धि
३६।१५८

योगज = तपके प्रभावसे होने-
वाली ३६।१४४

र

रजःसन्तमस = धूलिकपी गाढ़
अन्धकार ३६।२३

रथकट्या = रथोंका समूह ३६।४

रथाङ्ग = रथका ३५।१६८

रथ्या = रथ चलने योग्य चौड़ी
सड़क २६।३

रह = दांत ३७।२३

रंहस् = रोग ३७।२४

राजवली = कुत्सित राजाकीसे
युक्त भूमि ३४।४७

७४

राजम्बली = उत्तम राजासे युक्त
भूमि ३४।४७

राजीवास्य = कमलके समान
मुखवाले २८।१८७

राजेश = चन्द्रमाके समान
४४।३८

रोगास्तु = रोगरूपी चूहे ३६।८९

रोदसी = आकाश और पृथिवी-
का अन्तराल ३६।१

रैराशि = घनकी राशि ३१।६२

ल

लघु = पीछ ३४।३४

लघीयान् = अत्यन्त छोटा
३४।२४

लाट = लाट देशके राजा
३०।९७

लाक्षा = लार ३५।४३

लाक्षादेक = सैक ४३।१५७

लुब्धक = शिकारी ३७।१३४

व

वचोहर = दूत ३५।१३८

वज्रनाशुम्भु = प्रतारणापटु,
ठगनेमें होशियार ४६।८

वज्रस्तर = वज्रके समान स्थिर
३५।५२

वज्रिजय = हृन्निजय ३७।१६३

वणिज् = वैश्य ३८।४६

वत्सरामसम = एक वर्षका
उपवास ३६।१८५

वत्स्ययुग = आगामी - पञ्चम -
काल ४१।५३

वदाम्यकुल = दानियोंका समूह
२६।१२

वमधि = सरोवर २८।२२

वमसातङ्ग = जंगली हाथी
३४।१८६

वमकमाज = वमके वृक्ष ३६।१२

वमसामज = जंगली हाथी
३०।६३

वमजेक्षणा = कमललोचना
४७।१४३

वनीपकानीक = माषकसमूह
४५।१३७

वन्दारु = वन्दना करनेवाले
४२।२०७

वप्रभूमि = खेतकी भूमि २६।१४

वरत्रा = वमड़ेकी मजबूत रस्सी
३५।१४९

वरिष्ठ = अत्यन्त श्रेष्ठ ४४।३२

वरासेहा = उत्तम नितम्बवाली
स्त्री ३७।९२

वरुथ = रथ ३३।९

वर्क = तरुण हाथी २९।१५३

वर्ध = क्षेत्र ३८।४

वर्मन् = शरीर ३५।५२

वसुवाहन = धन, सवारी ३८।८

वाधुरा = जाल ३७।४८

वाग्देवी = सरस्वती ३५।४९

वाचंयम = मौनी ३८।१६२

वाचंयमस्य = मौनव्रत ३४।२०५

वाचिक = सन्देश ३४।८४

वाञ्छि = धोहा ३५।४३

वात्सक = वछड़ोंका समूह
२६।१११

वावेय = वापी देशके चौड़े
३०।१०७

वामी = थोड़ी ३०।१०१

वायुबीधनुगाभिन् = वायुके
मार्गका अनुसरण करनेवाले,

निष्परिग्रह ३४।१९०

वाकणी = मंदिरा, पवित्रम विश्व
३५।१५५

वारी = हाथी बाँधनेका स्थान
२९।१२२

वार्षिकी = वर्षाकालसम्बन्धी
३४।१५६

वास्तु = घर २८।५१

विकर्षितम् = कम नहीं हुआ
३७।१५

विक्रया = विकार ३५।७

विगाव = प्रविष्ट ३१।१४५

विग्रह = शरीर २६।६

विग्रह = युद्ध ३५।२३

विचक्षण = बुद्धिमान् ३४।१९७
 विजाति = पक्षियोंकी जाति,
 नीच जाति ३०।७२
 वितृष् (वितृष्) = व्याससे
 रहित २७।८
 विवस्त्र = भयभीत २९।१६१
 विदाम्बर = विद्वानोंमें श्रेष्ठ
 ३४।१४३
 विशाधर = विजयार्थ पर्वतके
 निवासी विद्याओंसे सुशो-
 भित मनुष्य ४१।२६
 विद्रुम = मूंगा ३५।१६३
 विधु = चन्द्रमा ३५।१७५
 विधूय = कम्पित करके ३५।२३०
 विधेयता = आज्ञाकारिता,
 ३५।१७३
 विनियोग = कार्य ४०।८६
 विनिपात = बाधा ३६।१७९
 विनियम्त्रण = निरंकुश ३६।२५
 विनीलवस्त्रा = नीले वस्त्र
 धारण करनेवाली ३५।१७०
 विपाश = बन्धनसे मुक्त ४२।७८
 विप्रकृष्ट = दूरवर्ती पदार्थ
 ४२।५६
 विप्रतिपत्ति = सन्देह ४१।४१
 विभावरी = रात्रि ३५।२१२
 विमलाम्बरा = निर्मल वस्त्रवाली,
 निर्मल आकाशवाली २६।५
 विमानता = तिरस्कार ३४।२०४
 विरूपक = विरुद्ध—कष्टकारी
 ३६।२७
 विरूपा = अमूर्ति, कुरूपा
 ३५।२४१
 विलक्षता = आश्चर्य ३६।६३
 विलक्ष्यता = लज्जा, आश्चर्य
 ३३।५९
 विवस्वत् = सूर्य ३५।१६२
 विवृत्सु = जमीनपर लोटनेका
 हल्लुक २९।११२
 विशाश = नखर ४६।१७७
 विशाकट = विशाल ३१।१४

विशाप = जिसका शाप नष्ट हो
 चुका है ३५।२३३
 विशिखावल्ली = बाण पङ्क्ति
 ४४।१२३
 विश्वविन्मत्त = सर्वज्ञमत
 ४१।१४१
 विय = देश ४६।९४
 विध्वग् = स्रम ओरसे ३५।९७
 विष्टपातिग = लोकोत्तर
 ३३।१४९
 विष्टान = भोजन ३६।११२
 विसिनी = कमलिनी ३५।२३०
 विस्मय = निविचिन्त, विश्वासको
 प्राप्त ३६।१६४
 विहितायक = कुतपुण्य ४७।१०३
 वीरुध् = लता ३६।२०८
 वृत्तिभेद = आजीविका भेद
 ३८।४५
 वृष्ट = बँल ४१।७७
 वेपथु = कम्पन ३६।८६
 वेश्म = स्वल्प जलाशय ३३।५०
 वेसर = लज्जर २९।१६१
 वैलक्ष्य = आश्चर्य, लज्जा, सँप
 ३६।९२
 वैवस्वतास्पद = यमपुर ४४।८
 वैशाखस्थान = बाण चलानेका
 एक आसन ३२।८७
 व्यञ्जन = तिल मसे आदि चिह्न
 ३७।२९
 व्याभूदि = मूढता - मूर्खता
 ३५।२३५
 व्युत्थित = विरुद्ध आचरणवाले
 ३४।४०
 व्यूहोरस्क = थोड़ी छातीवाला
 ३१।१४६
 व्यपरोपण = घात करना ३८।१७
 व्युत्पृष्ट = त्यक्त ३६।१२३
 व्रज = गोष्ठ - गायोंके रहनेका
 स्थान ३७।६९
 व्रतव्रत = व्रतोंका समूह ३९।३६

व्याघ्रधेनुका = नवप्रसूता व्याघ्री
 ३६।१६६
 व्यासास्य = जिसने मुख लोल
 रखा है २८।१८०
 व्यानुक्षी = एक दूसरेपर पानी
 उछालना, काग ३६।५३
 व्यावहासी = परस्पर हास्य-
 मजाक २६।३३
 श
 शकृत् = विद्या ४६।२९१
 शतभलेष्वास = इन्द्रधनुष २६।२०
 शताध्वर = इन्द्र ३६।१९६
 शब्दविद्या = व्याकरण शास्त्र
 ३८।११९
 शम्बल-(सम्बल) = मार्गहित-
 कारी भोजन ३५।२२
 शम्बली = दुती ३४।१६
 शरभ्यता = लक्ष्यता २८।९
 शयुपोत = अजगरके बच्चे
 २७।३४
 शक्कसात्कृतात् = खण्ड-खण्ड
 किये ३४।६०
 शरतव्य = बाणोंकी शय्या
 ३५।२११
 शरवात = बाणोंका समूह ३६।८७
 शरभ्य = निशाना ३५।७१
 शर्वरी = रात्रि ३४।१५५
 शाक्तम् = शक्ति समूह (उत्साह-
 शक्ति, मन्त्रशक्ति, प्रभुत्व-
 शक्ति) ३०।७
 शान्तिक = शक्तिनामक शास्त्रको
 धारण करनेवाले २७।१११
 शास्त्रामुग = बाणर ४१।३७
 शाखिन् = वृक्ष ३६।६
 शारीर = शरीर सम्बन्धी ३७।३०
 शारदी = शरद् ऋतु सम्बन्धी
 ३७।१४०
 शार्वर = रात्रि सम्बन्धी ३५।२२२
 शाक्तिगोपिका = धानके खेत
 रखानेवाली गोपियाँ ३५।३६
 शाक्तिव्रम = धानके खेत ३५।३१
 शासन = शिक्षक ३५।८६

शासनहर = हूत ३४।५०

शिल्पिण्डन् = मयूर २६।१९

शिक्षित = नूपुरोंकी जनकांर
२६।१५

शिवा = शृगाली ३४।१८२

शिरस्त्र = शिरका टोप ३६।१४

शीक्यमान = सींचे गये २८।१०९

शुचि = प्रीष्ण क्रतु २७।४९

शूद्र = एक वर्ण ३८।४६

शेमुषो = बुद्धि २८।१५८

श्रमघर्मस्त्रिमुषू = पसीनाकी
बूँदें ३५।३५

श्रावकाचारसुष्ठु = श्रावकाचारसे
प्रसिद्ध ४०।३०

श्रीगृह = खजाना ३७।८५

श्रुतोपासक सूत्र = उपासकाध्य-
यनाङ्गश्रावकाचारका वर्णन

करनेवाला शास्त्र ३८।२४

श्रौत = श्रुति अथवा वेद सम्बन्धी
३५।१०

इलाध्य परिच्छद = प्रशंसनीय
परिकरसे सहित ३४।१२४

श्वेतभानु = चन्द्र ४१।७६

च

चट्कर्मजीविन् = असि, - मषी,
कुबि, शिल्प, वाणिज्य, और
विद्या इन छह कार्योंसे
आजीविका करनेवाले
३९।१४३

चट्स्थी = छह भेदसे युक्त ३८।४२

चङ्ग = हाथी, घोड़ा, रथ, पैदल-
सैनिक, देव, और विद्याधर
ये चक्रवर्तीकी सेनाके ६
अंग कहलाते हैं। ३६।५

चाक्रुण्य = सन्धि, विग्रह, वान,
भासन, द्वेषीभाव, आश्रय,
ये राजाओंके छह गुण हैं।
२८।२८

स

सङ्गर = युद्ध ४३।५२

सङ्गर = प्रतिज्ञा ३४।१७०

संग्रामनिकष = युद्धरूपी कसौटी
३५।१३७

सजयकेतन = विजय पताकासे
सहित ३६।६

सजानि = स्त्रियोंसे सहित
२९।१०८

सत्योद्य = सत्यपदार्थका कथन
करनेवाला ३९।१२

सखोपघात = प्राणिघात ४१।५१

सदोऽबनि = समवसरण भूमि
४१।१९

सधीवी = सखी २६।१४६

सनामि = बन्धु ४५।१२५

सनाभि = सगोत्र, कृदुम्भीजन
३४।२०

सनामिष्व = सगा भाईपना
३५।२

सन्नाह = कवच ३२।६९

सन्निधि = सामीप्य, सन्निधान,
३६।२०३

सन्निधि = एकत्र उपस्थिति
३५।४६

ससच्छद = सप्तपर्ण नामका
एक वृक्ष, जो शरद् ऋतुमें
फूलता है। इसको डण्डल-
में सात-सात पत्ते होते हैं।
२६।६

सभाबनि = सभाभूमि ३६।२००

सभामण्डल = समवसरण
४७।१६३

समरसंघट्टपिशुन = युद्धके
सम्मर्दको सूचित करने-
वाला ३५।१४१

समवाय = समूह ३४।१३८

समवर्ती = यम ४६।१४३

सम्पतन्ती = उड़ती हुई २६।८

संश्रीत = प्रसन्न ३९।४४

संभूत = समुत्पन्न ३४।११२

सुमा = वर्ष ३३।२०२

समाभता = मानसे सहितपना
३५।११७

समांसर्माना = प्रतिवर्ष गर्मिणी
होनेवाली गाय २६।१३६
समितसहस्र = हजारों लकड़ियाँ
३५।११

समिद्ध = प्रचण्ड ४४।३४६

समुत्पिक्त = गवित ४४।६२

समुद्वाह = विवाह २६।६५

सरोजरागरत्न = पद्मरागमणि
३३।६०

सर्जन = सृष्टि ४१।१२

सर्वकृष = सर्वधात्री ३९।२९

सर्वभोगीणा = सबके भोगने
योग्य ३४।११९

सलिलालोडित = पानीमें धुला
हुआ ३९।४३

सख्येण = सारथि २८।५९

सहसान = मयूर २६।१८

सहसारसाः = सारस पक्षियोंसे
सहित २६।१५

संख्यातरात्र = कुछ रातें ३५।२७

संख्याज्ञान = गणित शास्त्र
३८।१२०

संघात = समूह ३६।६

संदंशित = कवच पहने हुए
३६।१५

संप्रेक्षा = आलोकन ३६।२२

संप्लुष्ट = दग्ध ३४।१५४

संयुग = युद्ध ४४।९९

संघर्षित = कवच धारण किये
हुए ३६।१३८

संवाह = पहाड़ोंपर बसने वाले
गाँव ३७।६६

संविद् = ज्ञान ४६।२४५

संवेग = संसारसे भय ३४।१४६

संस्कृत = उत्तम मनुष्य ४३।४५

संहित = इकट्ठे हुए, मिले हुए
४२।१

साकम्पनि = आकम्पनि - अक-
म्पनके पुत्रोंसे सहित
४४।१०५

साधार = गृहस्थ ३८।७

साङ्गामिकी = युद्ध सम्बन्धी ३६।२	सिद्धि = भुक्ति ३६।१५८	स्थपुट = ऊँचे नीचे स्थान ३६।९१
सातोष = वादित्रोंसे सहित ३७।५९	सिति = काले ३६।१७२	स्थलपद्मायित = गुलाबके फूलके समान आवरण करनेवाला ३५।७६
सादिन् = बुद्धसवार ३६।११	सीमन्त = मणि ३५।३४	स्थविराकार = वृद्धका रूप ४७।१०६
साधन = सेना ३६।१८	सीमन्त = गाँवोंकी सीमा ३५।३९	स्फीत = अत्यन्त विस्तृत ३७।२०१
साध्वस = भय ३६।२	सुधाशिनू = देव ३०।२०२	स्मराकाण्डावस्कन्द = कामका असमयमें हुआ आक्रमण ३७।१२१
साध्वाचार = मुनिके योग्य आचारसे सहित ३४।१३५	सुधाशुक्ल = देव ३६।३१	स्मृति = अत्यन्त विस्तृत ३७।२०१
सास्तानिकी = कल्पवृक्षसम्बन्धी ३०।१२४	सुधासित = चूनासे पुता हुआ सफेद ३७।१५१	स्मृति = अत्यन्त विस्तृत ३७।२०१
साम = साम, दान, दण्ड, भेद इन चार उपायोंमेंसे एक उपाय ३५।१००	सुयज्वन् = होम करनेवाले ३४।२१५	स्मृति = अत्यन्त विस्तृत ३७।२०१
सामवाधिक = सहायक ४४।२१	सुमेधस् = बुद्धिमान् ३४।५७	स्मृति = अत्यन्त विस्तृत ३७।२०१
साम्प्रत्यक्ष = युक्त-ठीक ४१।४३	सुरगज = ऐरावत हाथी ३७।२३	स्मृति = अत्यन्त विस्तृत ३७।२०१
सामि = कुछ ३६।१११	सुरदेव = वायुनग ४५।१४२	स्मृति = अत्यन्त विस्तृत ३७।२०१
सायंघातिक = सुबह शामके २८।५५	सुरभिमास = वैश्र मास, वसन्त- मास ३७।१२२	स्मृति = अत्यन्त विस्तृत ३७।२०१
साराम = गीतोंसे सहित ३४।४१	सुरमीकृत = सुगन्धोक्त ३७।१२२	स्मृति = अत्यन्त विस्तृत ३७।२०१
सार्व = सर्वहितकारी ३५।२४४	सुरा = मदिरा ३६।८७	स्मृति = अत्यन्त विस्तृत ३७।२०१
सार्वभौमत्व = चक्रवर्तिन्य ४५।५७	सुरेय = सुन्दर शब्दसे युक्त २८।६	स्मृति = अत्यन्त विस्तृत ३७।२०१
सावनी = सवन-यज्ञसम्बन्धनी ३३।९३	सैकतारोह = रेलीले तटकपी नितम्ब २६।१४८	स्मृति = अत्यन्त विस्तृत ३७।२०१
सावधि = अवधिज्ञानसे सहित ४५।४१	सैन्धव = सिन्धु नदी सम्बन्धी २८।१७२	स्मृति = अत्यन्त विस्तृत ३७।२०१
सावध = पापसहित कार्य ३४।१९२	सैन्धव = सिन्धु देशके घोड़े ३०।१०७	स्मृति = अत्यन्त विस्तृत ३७।२०१
सावधमीह = पापसहित कार्य- से करनेवाले ३८।१४	सोमकवपाक्षिप्र = राजा सोम- प्रभक्षपी कल्पवृक्ष ४३।८३	स्मृति = अत्यन्त विस्तृत ३७।२०१
सितम्बदाबली = हंसोंकी पंक्ति २६।८	सोदर्थ = सगे भाई ३४।४५	स्मृति = अत्यन्त विस्तृत ३७।२०१
सितपक्षिन् = हंस २६।१२	सौराष्ट्रिक = सौराष्ट्र देशके ३०।९९	स्मृति = अत्यन्त विस्तृत ३७।२०१
सिद्ध = अत्यन्त देवोंका एक भेद ४१।२६	सौराष्ट्रिक = सौराष्ट्र देशके ३०।९९	स्मृति = अत्यन्त विस्तृत ३७।२०१
सिद्धार्थविटप = सिद्धार्थ नामक वृक्ष जिसके नीचे जिन- प्रतिमाएँ होती हैं ३३।९९	सौविद्वल = कंचुकी, अस्तःपुरका पहरेदार २७।११८	स्मृति = अत्यन्त विस्तृत ३७।२०१
सिन्धु = नदी ३५।२७	स्कन्धावार = शिविर = सेनाका पड़ाव ४५।१०७	स्मृति = अत्यन्त विस्तृत ३७।२०१
	स्तन्य = दूध ३६।१६६	स्मृति = अत्यन्त विस्तृत ३७।२०१
	स्तनिल = मेघगर्जन ३३।७	स्मृति = अत्यन्त विस्तृत ३७।२०१
	स्तम्भकरिस्तम्ब = धानके पीधे ३५।२९	स्मृति = अत्यन्त विस्तृत ३७।२०१
	स्तम्भेश्वर = हाथी ३६।१७०	स्मृति = अत्यन्त विस्तृत ३७।२०१
	स्तनपिण्ड = मेघ ४६।१७७	स्मृति = अत्यन्त विस्तृत ३७।२०१
		स्मृति = अत्यन्त विस्तृत ३७।२०१